

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

अथर्ववेद का सुबोध भाष्य

चतुर्थ भाग

[काण्ड ११-२०]

पद्मभूषण. ७१७ श्रीपाद दामोदर. सातबलेकर

अधिकृत विक्रेता :

फोन : 62974

आयुर्वेद संस्कृत हिन्दी पुस्तक मंडार

इलाहाबाद का रास्ता, किशनपोल बाजार
जयपुर - 302001



स्वाध्याय मण्डल

पारडी

प्रचारक
बसंत श्रीवास्तव सातबसेकर
स्वाध्याय मण्डल, पारधी
[जि० बजसाठ]



Rs. 150 00

मुद्रक
मेहरा आफसेट प्रेस, नई दिल्ली



अथर्ववेदके सुभाषित

सूक्ति-संग्रह

विभाग ४, काण्ड ११ से १८ तक

इस चतुर्थ भागमें काण्ड ११ से १८ तकके सुभाषितोंका संग्रह है। इसमें कुछ प्रकरण हैं। वस्तुतः इस विभागमें प्रकरण विभागसे ही काण्ड विभाग हैं। इसलिये सुभाषित भी प्रायः वही क्रमसे दिये हैं। कुछ सुभाषित उनके अर्थोंके अनुसार इधर उधर किये हैं। दोष काण्ड विभागके अनुसार ही रखे हैं। प्रथम ईश्वर विषयके सुभाषित देखो—

ईश्वर

उच्छिष्टे चावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितं (११।१।२)— ईश्वरमें घृ, पृथिवी तथा जो बना है वह सब विश्व रहा है।

ऋक्साम यजुश्छिष्टे (११।१।५)— ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इस ईश्वरमें रहे हैं।

नव भूमिः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः (११।१।४)— नौ भूमियाँ, सब समुद्र ईश्वरके आधारसे रहे हैं।

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं धर्मो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले (११।१।१०)— सत्य, ऋत, तप, राष्ट्र, धर्म, धर्म, कर्म, भूत, भविष्य, वीर्य, लक्ष्मी, बलिष्ठका बल यह सब परमेश्वरके आधारसे रहा है।

यथा प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा। उच्छिष्टाञ्जहिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः (११।१।२३)— जो प्राणसे जीवित है, जो आँखसे देखता है, जो छुड़ोकरने या अन्यत्र देव हैं वे सब परमेश्वरसे डरपन्न हुए हैं।

१ [अथर्व. प. भा. ४]

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाञ्जहिरे सर्वे (११।१।२४)— ऋग्वेद, सामवेद, छन्द्, यजुर्वेदके साथ पुराण ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

प्राणापानं चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च श्रितिश्रया। उच्छिष्टाञ्जहिरे सर्वे (११।१।२५)— प्राण, अपान, आँख, कान, भौतिक तथा अर्भातिक पदार्थ ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

आनन्दो मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये। उच्छिष्टाञ्जहिरे सर्वे (११।१।२६)— आनन्द, मोद, विशेष आनन्द, प्रयत्न आनन्द, सुख ये सब परमेश्वरसे ही बने हैं।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये। उच्छिष्टाञ्जहिरे सर्वे (११।१।२७)— देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सराएँ ये सब परमेश्वरसे बनी हैं।

यो रोहितो विश्वमिदं जजान, स त्वा राप्राय सुभृतं विभर्तुं (१३।१।१)— जिस देवने यह सब डरपन्न किया वह तुझे इस राष्ट्रके लिये उत्तम मरण-पौषण-पूर्वक धारण करे।

चावापृथिवी जनयन् देव एकः (१३।२।२६)— घृ और पृथिवीका बनानेवाला एक देव है।

य इमे चावापृथिवी अजान यो द्वापि कृत्या भुवनानि वस्ते (१३।३।१)— जो घृ और पृथिवीको डरपन्न करता है और जो सब भुवनोंको अपना घोला बनाकर पहना है।

यो मारयति प्राणयति, यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा (१३।३।३)— जो जीवित रखता है और मारता है, जिससे सब भुवन जीवित रहें हैं।

य इदं विश्वं भुवनं जजान (११११५)— त्रिने
यह सब भुवन बनाया है ।

य आत्मदा यलदा यस्य विश्व उपासते प्रदिपं यस्य
देवाः (११११२४)— जो आत्मदा देता है और
जो बल देता है, सब देव जिसकी आज्ञा मानते हैं ।

कीर्तिश्च यः श्व नभश्च प्राहणायर्चसं चान्नं चाप्राधं
च, य एतं देवं एकवृत्त वेद (११५५१४)—
कीर्ति यरा, नभदान, प्रहतेज नभ, खानवान यह
सब उसको मिलता है जो इस एक देवको
जानता है ।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते (११५५११)—
वह दूसरा, तीसरा, चौथा नहीं है ।

स एष एक एकवृत्त एक एव (११५५२०)— वह देव
एक है, एकमात्र है, केवल एक ही है ।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृत्तो भवन्ति (११५५२१)—
हममें सब देव एकरूप होते हैं ।

महस्पृशसो असुरस्य धीरा दिवो धर्तार उर्विया
परि रयन् (१०११२)— बड़े ईश्वरके तुल्यका
धारण करनेवाले बौर पुत्र पृथ्वीपर ऐसे कुसंबधका
निषेध करते हैं ।

स्तुति श्रुत गर्तसद् जनाना राजानं भीममुपहन्तु-
मुग्रम् (१०११४०)— शयमें बैठनेवाले भयकर
उग्र शत्रुको समीपसे मारनेवाले लोगोंके राजाकी
स्तुति करो— रुद्रदेवकी स्तुति करो ।

मृडा जरिरे रुद्र स्तवानो अग्नमस्मत् ते नि वपन्तु
सैन्यम् (१०११४०)— हे रुद्र स्तुति करनेपर
स्तुति करनेवालेको सुली कर, हमसे भिन्न दूसरे पर
तेरा सैन्य हमला करे ।

धन

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्य पकं क्षेधात् कामदुघा म
पया । इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु, कृष्य पन्थां
पितृषु यः स्वर्गः (११११२८)— यह मेरा
वसिष्ठ तेजस्वी सुवर्ण है, यह मेरी कामधेनु है,
यह धन मैं ब्राह्मणोंमें बांटता हूँ । यह पितरोंमें
स्वर्गीय मार्ग मैं करवा हूँ ।

एतं शुभ्रम गृह्राजस्य भाग (११११२९)— यह श्रेष्ठ
घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं ।

अथो विद्म निरुतेमार्गधेयम्— और यह विपत्तिका
मार्ग है ऐसा जानते हैं ।

घृतेन गात्रानु सर्वा वि सृष्टिः (११११३१)— धीसे
सब गात्र सुद कर ।

विश्वे देवा अग्नि रक्षन्तु पकं (११११३३)— सब देव
पक नष्टका रक्षण करें ।

धेनुं सदनं रयीणां (११११३४)— गौ घनोंका घर है ।
प्रजामृतत्वमुत् दीर्घमायुः रायश्च पोषैरुप त्या सदेम
(११११३४)— संगान, नमराव, दीर्घ आयु, भन,
पोषणके साधनोंके साथ तेरे पास जाते हैं ।

इपं दधानो, यक्षमानो अश्वैः, आ स पुमां अमघान्
भूयति घृन् (१०११२४)— नष्टकाधारण करने-
वाला, घोड़ोंके वाहनसे जानेवाला, तेजस्वी और
बलवान् दिनोंको (अपने स्वयंभूतसे) सुखीमित
करता है ।

पत्नी

एमा अगुर्योपितः शुभ्रमानाः (११११३४)— वे
स्त्रियां सुखीमित होकर आ गई हैं ।

उत्तिष्ठ नौरि— यस रभस्व— की बट, बलसे भर ।
सुपत्नी परया— पतिके साथ रहकर उत्तम पत्नी बन ।
प्रजया प्रजावती— संगानसे सतानवाली हो ।

अय यक्षो गातुधित् नाघवित्, प्रजाविदुषः पशुविद्
वीरविद् घो अस्तु— (१११११५)— यह
यश भावके लिये मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजा होने-
वाला, पशु देनेवाला, उग्रता देनेवाला, वीर पुत्र-
पौत्र देनेवाला हो ।

शुद्धाः पूता योपितो यक्षिया इमाः (१११११७)—
वे स्त्रिया शुद्ध, पवित्र और पूजनीय हैं ।

अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः— हमें सतान और बहुत
पशु दे देवे ।

ब्रह्मणा शुद्धा, उत पूता घृतेन सोमस्वाशयः तण्डुला
यक्षिया इम (१११११८)— ज्ञानसे पवित्र,
धीसे शुद्ध, सोमके भश के खानके यज्ञके लिये
योग्य हैं ।

उदोहि वेदिं प्रजया घर्षयनां (११११२१)— हे वेदि !
इसको उन्नत कर, प्रजासे इस कोको बढ़ानो ।

नुदस्व रक्षः— राक्षसोंको दूर कर ।

प्रतरं घेहोनाम्— इन कीको विशेष उग्रत कर ।
श्रिया समानानति सर्वान्स्याम— संगतिसे हम सब
समानोंसे विशेष हों ।

अघस्पदं द्विपतस्पाद्यामि— द्वेष करनेवालोंको नीचे
गिराते हैं ।

मा त्वा प्रापत् लपयो मामिच्यारः (११११२२)—
तुसे प्राप प्राप्त न हो और वध भी तेरे पास न आवे ।

अभ्याघर्तस्व पशुभिः सहैनाम् (११११२२)— इस
पत्नीको पशुओंके साथ प्राप्त हो ।

स्वे क्षेत्रे अनमीया वि राज— अपने क्षेत्रमें भीरोग
होकर विराजो ।

असर्द्रां शुशामुप घेहि नारि, तत्रौदनं सादय दैया-
नाम् (११११२३)— शुद्ध न दूरी पाकीको, दे
की ! बूढ़पर रख, उसमें देवीके द्विषे अन्न पकानो ।

ते मा रिपन् प्राशितारः (११११२५)— हम अन्नको
पीनेवाले नष्ट न हों । (अन्नमें दीप न हो ।)

दयाशील स्त्री

अहं पचामि, अहं ददामि, ममेदु कर्मन् करुणेऽपि
जाया, कौमारो लोको अजानिष्ट पुत्रोऽन्वार-
मेयां वय उत्तरावत् (११११२७)— मैं पकाता
हूँ, मैं देता हूँ, मेरी पत्नी दयाके कर्ममें यत्न करती
है, हमें कुमार पुत्र उत्पन्न हुआ है । उक्त भवस्था
प्राप्त कराया हुआ उच्छ जीवन स्वर्गीय करे ।

दान

ददामीत्येव ब्रूयात् (१११११९)— देता हूँ देता ही
कहना चाहिये ।

पापसे बचाव

ते नो मुञ्चन्वंहसः (१११११९-२२)— वे हमें पापसे
बचावें ।

न यत्पुरा चक्रमा कच्च नूनमृतं वदन्तो अमृतं रपेम
(१११११८)— जो पहिले किया नहीं वह अब

कैसा करें, सत्य बोलनेवाले असत्य कार्य कैसे करें ?
न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये
चरन्ति (१११११९)— देवीके पास यहाँ जो चरते
हैं, वे न ठहरते हैं न बोलें बंद करते हैं (वे पापीको
पकड़ते ही हैं ।)

पापमाहुयः स्वसारं निगच्छात् (१११११८)— बहि-
नके पास जाना पाप कहलाता है ।

पुत्रकामना

अहौदनं पचति पुत्रकामा (१११११९)— पुत्रकी इच्छा
करनेवाली माता ज्ञान बढ़ानेवाला अन्न पकाती है ।

अद्रोघायिता वाचमच्छ (११११२)— द्रोह न करने-
वालोंकी रक्षा करनेकी माया बोल ।

पृतनापाद् सुवीरो येन देवा असहन्त शशून्
(११११२)— सेनाका पराभव करनेवाला उन्नत
वीर है, इससे देव शत्रुओंका पराभव करते हैं ।

अजनिष्ठा महते वीर्याय (११११३)— पक्षे पराक्रम
करनेके लिये जन्म हो ।

अस्मी रयिं सर्ववीरं नि यच्छ — सब पुत्रवीरोंके साथ
रहनेवाला धन इसकी दो ।

विद्वान् देवान् यक्षिणां पृह वशुः (११११४)— वृ-
विद्वान् पूजनीय देवोंको यहाँ ले जा ।

न्युञ्ज द्विपतः सपत्नान् (११११५)— द्वेष करनेवाले
सपत्नोंको दूर कर ।

सजातांस्ते यलिहृतः कृणोतु (११११६)— स्वजाति-
की बौद्धों को करनेवाले करे ।

उदुञ्जैनां महते वीर्याय (११११७)— महान् परा-
क्रम करनेके लिये ऊँची प्रार्थना करे ।

गच्छेम सुकृतस्य लोकं (११११८)— पुण्यकर्म करने-
वालेके लोकको हम जायें ।

ऊर्ध्वं प्रजामुद्धरन्त्युदह (११११९)— प्रजाका उद्धार
करनेके लिये ऊपर उठावो ।

श्रिया समानानति सर्वान् स्याम (१११११२)—
धनसे हम सब समानोंसे आगे बढ़ेंगे ।

अघस्पदं द्विपतस्पाद्यामि— शत्रुकी नीचे गिरा
देते हैं ।

पशु पालन

मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः (१११२१)—
हमारे द्विपद, चतुष्पादोंकी हिंसा न करो ।

प्राण

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे (१११२१)— जिसके
अधीन सब है उस प्राणके लिये नमस्कार करता हूँ ।

यो भूतः सर्वस्येभ्यरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्—
प्राण सबका ईंधन है और उसमें सब रहा है ।

यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे (११११९)—
हे प्राण ! तो तेरे भन्दर औषध है वह दीपं जीवनके
लिये मुझे दो ।

प्राणा ह सर्वस्येभ्यरो यच्च प्राणति यच्च न
(१११११०)— जो जीवित है और जो जलनेन है,
उस सबका प्राण ही ईंधन है ।

प्राणो भृत्युः प्राणस्तफमा प्राणं देवा उपासते
(११११११)— प्राण मृत्यु है, प्राण शक्ति है, इस
लिये सब देव प्राणही उपासना करते हैं ।

प्राणमाहुः प्रजापतिम् (१११११२)— प्राण ही प्रजा-
पालक है ।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा (१११११४)—
बाह्य गर्भमें प्राण और अपानके कार्य करता है ।

प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् (११११
१५)— प्राणमें भूत, भविष्य सब प्राणमें रहता है ।

आथर्वणाराहिरसोर्द्वयोर्मनुष्यजा उत । औषधयः
प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि (१११११६)
— सायबंशो, आरिरीसो, देवी और मानवी ये
औषधियां सब कार्य करती हैं अथवा प्रेरणा देता है ।

एकं पादं नोस्त्रिदृति सालिदाहसं उच्चरन् । यद्ब्रह्म
स तमुत्तिषदेत् नैवाद्य न भ्यः स्यात्, न रात्री
नाहः स्यात्, न द्युच्छेत्कदा चन (११११२१)—
हैस अलसे ऊपर उठता हुआ एक पांव भंदर रखता
है, यदि वह दूसरा पांव भी ऊपर उठावेगा तो आज-
कल, रातदिन वृष्ट भी नहीं होगा । अथवा भी नहीं
होगा ।

प्राण मा मत् पर्याषितो न मदन्वो भविष्यासि
(११११२६)— हे प्राण ! तू मुझे दृष्य न हो,
मुझसे दूर न जा ।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारीणन् चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः
संमनसो भवन्ति (१११५१)— ब्रह्मचारी
ब्रह्मतीकी इच्छा करता हुआ दोनों ओहोमें चरता
है, उसके लिये सब देव अनुकूल मनके साथ सहा-
यक होते हैं ।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंपन्ति
सर्वे (१११५२)— ब्रह्मचारीके अनुकूल पितर,
देवजन, देव ये सब रहते हैं ।

प्रयस्त्रिंशत् त्रिंशताः पद सहस्राः । सर्वान् स
देवान् तपसा पिपतिं— ठेठीस, तीन सौ, छः
हजार इन सब देवोंको वह अपने तपसे प्रसन्न
करता है ।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः
(१११५३)— आचार्य उपनयन करके ब्रह्मचारीको
भरणे (विधामाताके) गर्भमें रखता है ।

तं रात्रीस्त्रिंश उदरे विभतिं तं जातं ब्रह्ममभिसंयन्ति
देवाः— उस ब्रह्मचारीको वह आचार्य तीन रात्री-
तक अपने उदरमें रखता है । जब वह बाहर जाता
है तब उसके सब देव देखनेके लिये जाते हैं ।

ब्रह्मचारी... ..लोकान्स्तपसा पिपतिं (१११५४)—
ब्रह्मचारी... ..लोकोंको अपने तपसे पूर्ण करता है ।

स सद्य पति पूर्वसादुत्तर समुद्रं लोकान् संगम्य
मुहुराचरिक्तु (१११५६)— वह ब्रह्मचारी पूर्व
समुद्रसे उत्तर समुद्रतक लोकसंग्रह करता है और
उन्ही सदाचारका उद्देश देता है ।

तत् केचल कृणुते ब्रह्म विद्वान् (१११५१०)— वह
ज्ञानी केवल ज्ञानका प्रचार करता है ।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः (१११५१६)
—तिसक ब्रह्मचारी हों, और प्रजापालक ब्रह्म-
चारी हों ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति (१११५१७)
— ब्रह्मचर्यरूप तपसे राजा राष्ट्रकी सुरक्षा करता है ।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते— आचार्य
ब्रह्मचर्यसे ब्रह्मचारीकी इच्छा करता है ।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पति (१११५१८)
— ब्रह्मचर्य पालन करके कन्या युवा पतिकी प्राप्ति
होती है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाप्रत (१११५१९)—
ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको दूर किया ।

तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्
(१११५२२)— ब्रह्मचारीने धारण किया ब्रह्म
उन सबको रक्षा करता है ।

मातृभूमि

सत्यं बृहत्तममुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं
घारयन्ति (१२।१।१)— सत्य, बृहत्तम, उग्र-
वीरता, दीक्षा, तप, ज्ञान और यज्ञ ये गुण मातृ-
भूमिका रक्षण करते हैं ।

सा नो भूतस्य मध्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः
रुणानु— वह भूत और मध्यकी पालन करने-
वाली मातृभूमि हमारे लिये विशेष विस्तृत कार्य-
क्षेत्र देवे ।

असंवाधं यधयतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः
समं बहु (१२।१।२)— जिस मातृभूमिके मान-
वोंमें ऊंचा-नीचा होनेपर भी समानता बहुत है इस
कारण झगड़े नहीं है ।

पृथिवी नः प्रयतां राधयतां नः— हमारी मातृभूमि
हमारे यज्ञकी वृद्धि करे ।

यस्यामन्नं कृष्टयः संवभूवुः (१२।१।३)— जिस मातृ-
भूमिमें किसान मिलकर खेती करके अन्न उपजाने हैं ।

सा नो भूमिः पूर्वपथे दधातु— वह हमारी मातृभूमि
हमें अपूर्व पथ देवे ।

सा नो भूमिर्गोप्यवप्रे दधातु (१२।१।४)— वह
हमारी मातृभूमि हमें गोपों और अग्निमें धारण करे ।

यस्यां पूर्वं पूर्वजना विचक्रिरे (१२।१।५)— जिस
मातृभूमिमें प्राचीन पूर्वजोंने बहुत पराक्रम किये थे ।

यस्यां देवा ससुरानभ्रवर्तयन्— जिस मातृभूमिमें
देवोंने असुरोंका पराभव किया था ।

गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा मगं वर्चः पृथिवी नो
दधातु— गौं, घोड़ों, और पक्षियोंका जो स्थान है
वह मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे ।

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानो देवा भूमिं पृथिवी
मप्रमादम् (१२।१।७)— जिस मातृभूमिका
संरक्षण देव प्रमाद न करते हुए सदा करते रहते हैं ।

सा नो मधु प्रियं दुहामधो उल्लतु चर्चसा— वह
मातृभूमि हमें प्रिय मधुर रस देवे, और तेजसे
सुक करे ।

यां मायाभिरन्यचरन् मनीषिणः (१२।१।८)—
जिस मातृभूमिकी कौशल्ययुक्त कमौसे बुद्धिमान्
योग सेवा करते हैं ।

सा नो भूमिस्त्वयि वलं राष्ट्रे दधातृत्तमे— वह
हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल
धारण करे ।

विष्णुयस्यां विचक्रमे (१२।१।१०)— विष्णु जिस
मातृभूमिमें पराक्रम करता रहा ।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः— चाकिके
स्वामी इन्द्रने जिस मातृभूमिको अप्रसन्न किया ।

अर्जतोऽहतो अक्षतोऽप्यष्टां पृथिवीमहम् (१२।१।११)
— अश्वराजित, अहत और अक्षत होकर मैं इस मातृ-
भूमिका अपवध्न हीजंगा ।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः (१२।१।१२)—
मेरी माता, भूमि और मैं इस मातृभूमिका पुत्र हूँ ।

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना (१२।१।१३)— वह
हमारी मातृभूमि बढाई जानेपर हमारा संवर्धन करे ।

या नो ह्यवत् पृथिवि, यः पृतन्यात्, योऽभिदासा-
न्मनसा, या वधेन । तं नो भूमं रन्धय पूर्व-
रुत्वरि (१२।१।१४)— हे मातृभूमि ! जो हमारा
रूप करता है, जो हमपर सैन्य भेजता है, जो मनसे
हमें दास बनाना चाहता है, जो वध करता है, हे
शत्रुनाश करनेवाली ! उसका नाश कर ।

त्यज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः स्व विभर्षि द्विपदस्त्वं
चतुष्पदः (१२।१।१५)— तेरसे उत्पन्न हुए
मानव तेरे ऊपर संघात करते हैं । तू द्विपद और
चतुष्पादोंका धारण करती है ।

तथेमे पृथिवि पञ्च मानवाः— ये पाँचों प्रकारके मानव
तेरे ही पुत्र हैं ।

ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणां धृतां । शिवां स्योना-
मनु चरेम विश्वहा (१२।१।१७)— धर्मसे
धारण की हुई शुभकल्याणकारिणी मातृभूमिकी हम
सर्वदा सेवा करेंगे ।

मा नो द्विद्वत कश्चन (१२।१।१८)— हमारा कोई
द्वेष न करे ।

त्विर्यामन्तं संशितं मा रुणानु (१२।१।२१)— मातृ-
भूमि मुझे तेजस्वी और तीक्ष्ण करे ।

भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयाग्नेन मर्त्याः (१२।१।२२)
— भूमिमें मर्त्य मनुष्य धारक पोषक अन्न खानेसे
जीवित रहते हैं ।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदृष्टिं मा पृथिवी
कृणोतु— वह हमारी मातृभूमि मेरे अन्दर प्राण
और दीर्घ आयु धारण करे और मुझे वृद्धावस्थातक
जीवित रहनेवाला करे ।

तेन मा सुगर्भिं कृणु (१२।१।२३)— मातृभूमि उस
सुवाससे मुझे सुगंधयुक्त करे ।

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः (१२।१।२६)—
उस सुवर्ण अपने अन्दर धारण करनेवाले मातृभूमिके
लिये मैं नमन करता हूँ ।

शुद्धा न आपस्तन्ये क्षरन्तु (१२।१।३०)— शुद्ध जल
हमारे शरीरके लिये बहे ।

यो नः सेदुरप्रिये तं नि दधमः— जो दुष्ट है उसको
अप्रिय अपने लिये रखते हैं ।

पवित्रेण पृथिवि मांत् पुनामि— हे पृथिवी ! पवित्रसे
मैं अपने आपको पवित्र करता हूँ ।

स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु, मा नि पतं भुवने
दिश्रियाणः (१२।१।३१)— सब दिशाएँ घूमने-
वाले मुझे सुखदायक हो, भूमिपर रहनेवाले मुझे
कोई न गिरावे ।

स्वस्ति नो भूमे भव (१२।१।३२)— हे मातृभूमि ! तू
हमारे लिये कल्याण करनेवाली हो ।

मा चिदन् परिपन्थिनः— शत्रु हमें न जाने ।

वरीयो यावया वधम्— शत्रु हमसे दूर जाव ।

मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरी
(१२।१।३४)— सपको आश्रय देनेवाली मातृ-
भूमि ! मेरी हिंसा न कर ।

यस्यां पूर्वे भूतरुत ऋषयो गा उदानुचुः (१२।१।३५)—
प्राचीनकाकका इतिहास बनानेवाले ऋषियोंने वाणीसे
वेरी स्तुति गायी ।

सानो भूमिरा दिशतु यद्वनं कामयामहे (१२।१।४०)
— वह भूमि हमें वह धन देवे जो हम चाहते हैं ।

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्यां व्यैलयाः
(१२।१।४१)— विशेष प्रेरित हुए वीर जिस
भूमिमें आनन्दसे गाते और नाचते हैं ।

युष्यन्ते यस्यामाकन्दो यस्यां यदति दुन्दुभिः—
जिस मातृभूमिमें युद्ध किये जाते हैं, और जिसमें
दुन्दुभि बजाता है ।

सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नान्— वह मातृभूमि
हमारे शत्रुओंको दूर करे ।

असपत्नं मा पृथिवि कृणोतु— मातृभूमि मुझे शत्रु-
रहित बनावे ।

यस्याः पुरो देवकृतः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते (१२।१।४३)
— जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये हैं, जिसके
क्षेत्रमें मनुष्य नाना कार्य करते हैं ।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः
कृणोतु— प्रजापालक सब पदार्थोंको अपनेमें धारण
करनेवाली हमारी मातृभूमिको प्रत्येक दिशामें रम-
णीय बनावे ।

निधिं विश्वती यद्गुहा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी
ददातु मे (१२।१।४४)— अनेक प्रकारका धनका
सजाना धारण करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें रान
और सुवर्ण देवे ।

धस्मि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमन-
स्यमाना— धन देनेवाली प्रकाशमाना देवी मातृ-
भूमि प्रसन्नचित्तसे हमें धन देवे ।

जन् विश्वती यद्गुहा विश्वान्सं नानाधर्माणं पृथिवी
यथीकस (१२।१।४५)— अनेक भाषा बोलने-
वाले, नाना धर्मोंवाले लोगोंको जो एक घरमें रहने-
वालोंके समान धारण करती है ।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुदां भुवेव घेनुरनपस्फु-
रन्ती (१२।१।४६)—वह हमारी मातृभूमि, न
हिलनेवाली गौके समान, हमें धनकी सहस्रों
धाराएँ देवे ।

यच्छिवं तेन नो मृड (१२।१।४६)— जो कल्याण
करनेवाला है उससे हमें सुख दे ।

ये ते पन्थानो यद्गो जनायना रथस्य वर्तमानसश्च
यातवे । येः संचरन्ति उभये मद्रपापा तं
पंथानं जयेम अनामित्रमतस्करं (१२।१।४७)—
जो बहुतसे मार्ग जाने-आनेके और रथके हैं जिनपर
सज्जन और दुर्जन जाते हैं, वे मार्ग शत्रुरहित और
चोररहित हों ।

अहमसि सहमान उत्तरो नाम भूम्यां । अमीपाड-
सि विश्वापाडाशां आशां विपासाहिः
(१२।१।५४)— मैं विश्वयी और अपनी मातृ-

भूमिपर श्रेष्ठ हूं। सब प्रकारका पराक्रम करनेवाला,
प्रत्येक दिशामें विजयी हूं।

ये ग्रामा यदर्यं याः सभा अधि भूयाम् । ये
संग्रामाः समितयस्तेषु चारु यदामि ते
(१२।१।५६)— जो ग्राम हैं, जो शरण हैं, जो
समाधि और समितियां होती हैं, जो युद्ध होते हैं
उनमें मैं हे मातृभूमि ! तेरे विषयमें उत्तम भाव
रखनेवाला भावण करूंगा।

यद्ददामि मधुमत्तद्ददामि (१२।१।५८)— जो बोलूंगा
वह नीला ही बोलूंगा।

त्विपीमानस्मि जूतिमान् अवान्यान् हग्निं दोघतः—
मैं तेजस्वी हूँ, और प्रगति करनेवाला हूँ। जो हमारी
भूमिको दुह लेते हैं उन शत्रुओंको मैं मारता हूँ।

यत्त ऊर्नं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा
ऋतस्य (१२।१।६१)— हे मातृभूमि ! जो तेरे
बन्दर न्यून है उसकी परिपूर्णा सत्यका प्रथम प्रव-
र्तक प्रजापति करता है।

उपत्यास्ते अनमीवा बयद्दमा अस्तभ्यं सन्तु पृथिवि
प्रस्ताः (१२।१।६२)— हे मातृभूमि ! तुम्हारे
बन्दर रहनेवाले लोग नीरोग रहें और तुम्हारी सेवा
करनेके लिये तुम्हारे पास उपस्थित रहें।

दीर्घं न आयुः प्रतिशुष्यमानाः— हम शानी हों और
हमारी आयु दीर्घ हो।

वर्यं तुभ्यं बलिहृतः स्याम— हम तुम्हारे लिये अपना
बली देनेवाले हों।

भूमे मातर्नि घोहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् (१२।१।६३)
— हे मातृभूमि ! मुझे कल्याणसे संयुक्त कर।

संविदाना दिवा कवे श्रियां मा घोहि भूत्याम्—
प्रतिदिन जाननेवाली होकर तू मुझे पृथिवीमें संप-
त्तिमें रख (मरुत संपत्ति दो)।

युद्ध

ये वाहवो या इषवो घन्वनां वीर्याणि च । अर्सान्
परदानायुधं चित्ताकृतं च यद्भृदि । सर्वे तद्-
भुंते त्वमभिप्रेभ्यो दृशे कुरु उदारांश्च प्र दर्शय
(११।१।१)— जो वीरोंके बाहु, बाण, धनुष्य,
पराक्रम, ललवारे, कारियां, आयुध, हृदयमें जो

विचार हैं, हे सेनापते ! तू यह सब शत्रुओंको
दिखामो और स्कोटक धम भी दिखामो। (जो देख-
कर शत्रु घबरा जाय और युद्धसे पराङ्मुख हो।)

उत्तिष्ठ सं नद्यध्वं (११।१।२)— उठो, तैयार हो
जाओ।

संहृष्टा गुता वः सन्तु या नो मित्राणि— जो हमारे
मित्र हों वे उत्तम रीतिसे देखें और सुरक्षित हों।

उत्तिष्ठतमा रमेथामादानसंदानाभ्यां, अमित्राणां
सेना अभि घत्तं (११।१।३)— उठो, भादान
संदान करके युद्ध शुरू करो और शत्रुकी सेनाको
पकड़ो।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनावुदे सेनया सह । भञ्जप्रमित्राणां
सेनां भोगेभिः परि वारय व (११।१।५)— हे
देवजन सेनापते ! तू सेनाके साथ उठो। शत्रुकी
सेनाको अपनी पकड़ोंसे पकड़कर नष्ट कर।

उत्तिष्ठ सेनया (११।१।६)— सेनासे उठो।

प्रतिप्रानाधुमुखी कृधुकर्षां च क्रोशतु । विकेशी
पुरुषे हते (११।१।७)— छाती पीरती, भ्रांक्षीमें
अधुवाली, कानमें आभूषण न हों ऐसी, पुरुष मरने-
पर बिखरे बाजवाली शत्रु स्त्री भाङ्गना करें।

अयो सर्वे भ्वापदं मक्षिका तृष्यतु किमिः । पौरुषे-
येऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव (११।१।१०)—
हे सेनापते, तेरा आक्रमण होनेपर जो प्रेत रणक्षेत्रमें
पढ़ेंगे उनपर सब पशु, मक्षियां, किमी वृक्ष होते
रहें।

मुह्यन्त्वेपां वाहवः चित्ताकृतं च यद्भृदि । मैवा-
मुच्छेषि कश्चन रदिते अर्बुदे तव (११।१।१३)
— हे सेनापति ! तेरा आक्रमण होनेपर शत्रुमेंसे
कोई न रहे, उनके बाहु मोहित हो, उनके मनमें
जो हो वह भी भ्रान्त बने।

उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः । जयांश्च जिष्णु-
श्चाभिर्त्रां जयतां (११।१।१८)— शत्रुके सेना-
समूहोंको रूपायमान करो, शत्रुको जीतो, अपने वीर
विजयी हों।

तयावुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरं वरं (११।१।२०)—
प्रेरित हुए शत्रुसेनाके मुख्य मुख्य वीरको मारो।

अमित्रान् नो विविष्यतां (११११२३)— शत्रुओंको
वीचो ।

तेषां सर्वेषामीशाना उत्लिष्टतसं नह्यध्वं (११११२४)
— उन शत्रुओंके तुम स्वामी हो, उठो, तैयार हो
जाओ ।

इमं संग्रामं संजित्य ययालोकं वि तिष्ठध्वम्— इस
संग्रामको जीतकर अपने स्थानपर जाकर सुखसे रहो ।
उत्तिष्ठतसं नह्यध्वं उदारः केतुभिः सह । सर्पा
इतरजना रक्षांस्यनु घावत । (११११०१)—
ठहरो, अपने ध्वजसे तैयार हो जाओ, हे सर्पों और
इतर जनो ! राक्षसोंपर हमला चढ़ाओ ।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनावुदे सेनया सह (११११०५)—
हे देवजन सेनापते ! तू ठठ, सेनाके साथ चढाई कर ।
त्रयामित्रान् प्र पद्यस्व (११११०१८)— शत्रुको जीत
और अपने अधीन कर ।

तमसा त्वममित्रान् परि वारय (११११०१९)— तू
तमसाधसे शत्रुका निवारण कर ।
मार्मीषां मोचि कश्चन— उन शत्रुओंमेंसे किसीको न
छोड़ ।

शित्तिपदी सं पतत्वमित्राणां अमूःसिचः (११११०२०)
— इन शत्रुओंके सेनासमूहपर श्वेत पाँववाली शक्ति
गिरे ।

मुष्टान्त्वधामूः सेना अमित्राणां— शत्रुकी सेनामें
मोहित हों ।

मूढा अमित्रा न्यवुदे जहोषां घरं घरं (११११०२१)—
हे सेनापते ! शत्रुसेना मूढ बनो है, इनके मुखिया
घोरोंको मार ।

अनया जहि सेनया— इस सेनासे जीतो ।
यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाग्मनि । ज्या-
पादौः कवचपादौः अजमना अमिहतः शायाम्
(११११०२२)— जो शत्रु कवचधारी है, जो
कवचसे रहित है, जो रथपर बैठा है, वह शत्रु ज्या-
पादोंसे, कवचपादोंसे तथा रथके आघातसे मरा
होकर सो जाय ।

ये वर्मिणो येऽघर्मिणो अमित्रा ये च वर्मिणः ।
सर्वास्तानवुदे हतान् भवानोऽदन्तु भूमयाम्
(११११०२३)— जो कवचधारी अथवा कवचके

विना शत्रु हैं, ये सब युद्धमें मरें और भूमिमें पड़े ।
उनके प्रेत कुत्ते खावें ।

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः । सर्वा-
नदन्तु तान् हतान् मृश्राः श्वेनाः पतत्रिणः
(११११०२४)— जो रथी, जो रथके विना, जो
घोड़ोंवाले अथवा जो घोड़ोंके विना शत्रु हैं, उन
सबको युद्धमें मरनेपर गीच, श्वेन आदि पक्षी खावें ।

सदृष्टकुणपा शोतामामित्री सेना समरे घघानां ।
विविद्धा कफजाहृता (११११०२५)— युद्धमें
मारी गयी, शस्त्रोंसे धीवी और विह्वल आकारवाली
'होकर शत्रुसेना सदृष्टों प्रेयोंमें युद्धभूमिपर शयन
करे ।

शरीर

इन्द्रादिन्द्रः सोमारसोमो अग्नेरग्निरजायत । त्वष्टा
ए जले त्वष्टुर्धातुर्धाताऽजायत (१११०१९)—
इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे
त्वष्टा और धातासे धावा हुआ । (ये देव पुत्र
शरीरमें आकर रहे हैं ।)

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा । पुत्रेभ्यो
लोकं दद्या कसिस्ते लोक आसते (१११०१०)
— पूर्व समयमें दस देवोंसे दस पुत्र देव टपकर
हुए । पुत्रोंको उन्होंने स्थान दिया और वे किस
कोहमें मला रहने लगे हैं ?

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्सममरन् । सर्व
संसिच्य मर्त्ये देवाः पुरुषमाविशन् (१११०१३)
—सिचन करनेवाले वे देव हैं जिन्होंने सब संभार
इकट्ठा किया । सब मर्त्यको जीवनरससे सिंचित
करके ये सब देव शरीरमें आकर रहे हैं ।

गृहं कृत्वा मर्त्ये देवाः पुरुषमाविशन् (१११०१८)—
मर्त्य घर करके सब देवपुरुष शरीरमें आकर रहे हैं ।
विद्याश्च धाऽविद्याश्च यच्चान्यदुपदेदम् । शरीरं
मह्य प्राविशत्तच्चः सामाथो यजुः (१११०२३)
—विद्या, अविद्या (विज्ञान), और जो उपदेष्ट
करने योग्य है, वह सब ज्ञान शरीरमें प्रविष्ट हुआ,
वही ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हैं ।

रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् (१११०२९)—
रैतका धी बनाकर देव पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं ।

तस्माद्द्वि विद्वान् पुरुषं इदं ब्रह्मेति मन्यते (११।८।३२)
—इसत्रिये ज्ञानी इस पुरुषको यह मन्त्र है ऐसा मानता है ।

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ ह्वासते—सब देवताएं यहां, गोमाझमें जैसी गाँवें रहती हैं, वैसी रहती हैं ।

रोग-निवारण

इदं सीसं भागधेयं तं पट्टि (१२।२।१)—यह सीस तेरा भाग्य है ।

यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमघराह् परेहि—जो क्षयरोग गाँवोंमें और पुरुषोंमें होगा, उसको तुम दूर कर ।

यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि (१२।२।२)—क्षयरोगको और मृत्युको दूर करता हूँ ।
निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निरराति अजामसि (१२।२।३)
—हम मृत्यु, दुःख और शत्रुको दूर करते हैं ।

यो नो द्वेषि तमसि अग्ने—जो हमारा द्वेष करता है, हे अग्ने ! इसे खा ।

त्वा महल्लणस्पतिराघाद् दीर्घायुःत्वाय शतशारदाय (१२।२।६)—ज्ञान पति तुझे सौ वर्षकी दीर्घायु देवे ।

ते ते यक्ष्मं स वेदसो दूराद्दूरमनीनशन् (१२।२।१७)
—वे देव तेरे क्षयरोगको दूरसे दूर करके नष्ट करें ।
शुद्धा भवत यक्षिणाः (१२।२।२०)—शुद्ध और पूजनीय बनो ।

इदमे वीरा बहवो भवन्तु (१२।२।२१)—यहाँचे वीर बहुत हों ।

अमूद् मद्रा देषहृत्तिर्नो-अद्य (१२।२।२२)—हमारी ईश्वर प्रार्थना आज कल्याणकारिणी हो गयी है ।

प्राञ्चो अगाम नृतये हस्ताय (१२।२।२२)—नाचने और हस्तनेके लिये हम आगे बढ़ें ।

सुधीरासो विद्वयमा वदेम—उत्तम वीर बनकर सुदक विचार करेंगे ।

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैर्वां तु गादपरो अर्थमेतं (१२।२।२३)—मानवप्राणियोंके लिये यह आयुर्मर्यादा मैंने दी है, नीच बनकर इस आयु-रूपी घनका कोई नाश न करे ।

शतं जीवन्तः जरदः पुरूर्चास्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन—सौ वर्षोंका दीर्घकाल लोग जीवित रहें और पर्वतके द्वारा (पीठकी रीढ़के द्वारा) मृत्युको दूर रखे ।

आ रोहत आयुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्य (१२।२।२४)—वृद्ध अवस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घायुको प्राप्त करो, एकके पीछे दूसरे सिद्धितक यत्न करो ।

तान् चः त्वष्टा सुजनिमा सजोपाः सधर्मायुर्नयतु जीवनाय—उत्तम जन्मवाला उपाधी त्वष्टा आप सबको दीर्घ जीवनके लिये पूर्ण आयुतक ले जावे ।

यथा न पूर्वं अपरो जहाति, धातराण्यपि कल्पयैयां (१२।२।२५)—जिस तरह पूर्वजन्मके पूर्व पश्चात् जन्मा न मरे इस तरह हे धाता ! इनकी आयुकी योजना कर ।

अश्मन्वती रीयत सं रभश्चं वीरयध्वं प्र तरता सखायः (१२।२।२६)—पथरोंवाली नदी वेगसे चल रही है, हे मित्रो ! संभालो और वीरता धारण करो ।

अत्रा जहीत ये अस्मन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्—जो दुःखदायी पदार्थ हैं उनको यहीं छोड़ दो, हम पार होनेपर रोगरहित भन्न प्राप्त करेंगे ।

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयं (१२।२।२७)—ठहरो और तैरो । हे मित्रो ! यह पथरोंवाली नदी वेगसे बह रही है ।

अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरे-माभि वाजान्—जो बुरे पदार्थ हैं उनको यहीं छोड़ दो, जब हम पार हो जायेंगे तब सुखकारक भोगोंको प्राप्त करेंगे ।

वैश्वदेवो वर्चस आ रभश्चं, शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः (१२।२।२८)—सब देवोंकी उपासना अपना तेज बढ़ानेके लिये प्रार्थन करो, तुम शुद्ध, पवित्र और मकरहित बनो ।

अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सधर्वीरा मदेम—पापके स्थानोंको दूर करते हुए सब वीरोंके समेत सौ वर्षतक आयुर्नष्टे रहेंगे ।

मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन (१२।१।२९)— अपने
आचरणसे मृत्युको दूर करते हैं ।

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं
दधानाः (१२।१।३०)— मृत्युके पावको दूर करके,
दीर्घ आयुको कति दीर्घ करके धारण करके चले ।

आसीना मृत्युं युद्धता सधस्येऽथ जीवास्तो विद्-
धमा वदेम— आसनादि करके मृत्युको दूर करो,
और यदि जीवेंगे, समाप्ति यशकी बात करेंगे ।

इमा नारीरविघवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृ-
शन्तां । अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आरोहन्तु
जनयो योनिमग्रे (१२।२।३१)— ये स्त्रियां उत्तम
पत्नीयां हों, विघवा न हों, मंजन और घी लगावें,
रोगरहित, अश्रुहित, उत्तम रत्न धारण करनेवाली
स्त्रियां प्रथम अपने घरमें ऊंचे स्थानपर चढ़ें ।

दीर्घेणायुषा समिमान् सृजामि (१२।२।३२)—
इनको दीर्घायुसे युक्त करता हूँ ।

प्राद्याः गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन् स्त्रियते पतिः
(१२।२।३९)— जब स्त्रीका पति मरता है तब घर-
पीढाओंसे युक्त होते हैं ।

जीवानामायुः प्र तिर (१२।२।४५)— जीवियोंकी आयु
दीर्घ कर ।

एषां ऊर्जं रयिं अस्मास्तु घेहि (१२।२।४६)— इनका
बल और धन हमें दे ।

दीर्घेणायुषा समिमान्सृजामि (१२।२।५५)— मैं
इनको दीर्घायुसे युक्त करता हूँ ।

इमं जीवं जीवधन्याः समेत्य, तासां भजध्वममृतं
यमाहुः (१२।३।१)— जीवनको धन्य करनेवाली!
इस जीवदशाको प्राप्त होकर वहाँका अमृत प्राप्त करो ।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावत् (१२।३।१०)— श्रेष्ठ राष्ट्र
सुप्राप्ति अधिक श्रेष्ठ होता है ।

वनस्पतिः सह देवीर्न आगन् रक्षः पिशाचानपवाध-
मानः (१२।३।१५)— राक्षस और पिशाचोंको
दूर करता हुआ यह वनस्पति दिव्य शक्तियोंसे हमारे
पास आया है ।

तेन लोकानमि सर्षान् जयेम— उससे सब लोकोंको
जीतेंगे ।

विवाह

इह मियं प्रजायै ते समृष्यतां अस्मिन् गृहे गार्ह-
पत्याय जागृहि (१२।१।२१)— यहाँसेही प्रजाके
रूपसे समृद्धि प्राप्त हो, इस घरमें गृहकी पाठक बन-
कर जागती रहे ।

एना पत्या तन्यं सं स्पदास्य— इस पतिके साथ अपने
शरीरका स्पर्श कर ।

इहैय स्तं, मा वि यौष्टं, विश्वमायुर्व्यंश्नुतम् (१२।
१।२२)— यहाँ रहो, मत धृक् होओ, सब आयु
होनेतक मिश्रकर रहो ।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नन्तुभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ— पुत्रों और
भारतोंके साथ खेलते हुए अपने घरमें आनन्दसे रहो ।

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्यानो— येभिः सखायो
यन्ति नो वरेयम् (१२।१।३९)— कानोंसे रहित
सख मांग हों जिनसे हमारे मित्र कन्याके धर
जाते हैं ।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिं । पत्युर-
नुमता मृत्या सं नहास्य अमृताय कम्
(१२।१।४२)— उत्तम मन, संतान और सौमा-
न्यकी भागा करनेवाली तू पतिके अनुकूल आचरण
करनेवाली होकर अमरत्व प्राप्तिके लिये तू सिद्ध हो ।

एवा त्वं सप्राश्येधि पत्युरस्तं परेत्य (१२।१।४३)—
वैसी तू पतिके घर पहुँचकर वहाँ सप्राप्ती होकर रह ।

सप्राश्येधि श्वशुरेपु सप्राश्यत देवृषु । ननान्दुः
सप्राश्येधि सप्राश्यत श्वश्र्वाः (१२।१।४४)—
शशुर, देवर, नणन्द, सास इनके साथ सप्राप्ती
होकर रह ।

दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु (१२।१।४०)—
सविता तेरी दीर्घ आयु को ।

तेन सृजामि ते हस्तं, मा व्यथिष्ठा, मया सह प्रजया
च घनेन च (१२।१।४८)— तेरा हाथ मैं महान
करता हूँ, मत घबरा, मेरे साथ प्रजा और घनके
साथ रह ।

गृहामि ते सौभागत्वाय हस्तं मया पत्या अरदृष्टि-
यंगासः (१२।१।५०)— मैं तेरा हाथ पकड़ता
हूँ, सुख पतिके साथे वृद्धावस्थातक रह ।

पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव (१४११५१)—
तू मेरी धर्मसे पत्नी है, मैं तेरा गृहपति हूँ।

ममेयमस्तु पोष्या, मद्यं त्वादाद्बृहस्पतिः। मया पत्या
प्रजायति सं जीव शरदः शतम् (१४११५२)
—यह जो मेरे द्वारा पोषण करने योग्य हो, बृहस्प-
तिने तुझे मुझे दिया है। मेरे साथ रहकर, प्रजावाली
हो और सौ वर्ष जीवित रह।

शिवा स्योना पतिलोके वि राज (१४११६४)—
कल्याण करनेवाली सुखदायिनी होकर पतिके घर
विराज।

दीर्घायुरस्याः यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्
(१४११२)— इसका पति दीर्घायु होकर सौ वर्ष
जीवित रहता है।

रत्यं च पुत्रांश्चादाद्भिर्मह्यमथो इमाम् (१४१२४)
—घन और पुत्रोंकी तथा इस स्त्रीकी भक्तिने मुझे
दिया।

या ओषधयो या नद्यो यानि क्षेत्राणि या घना।
तास्त्वा घञु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः
(१४१२७)— औषधियां, नदियां, क्षेत्र और जो
घन हैं, वे सब पतिके लिये प्रजावाली तुझे राक्षसोंसे
सुरक्षित रखें।

यस्मिन्वीरो न रिष्यति, अम्येषां विन्दते घञु
(१४१२८)— वीर पुत्रका नाश नहीं होता और
अम्योंकी अपेक्षा अधिक घन मिलता है।

स्योनास्ते अस्यै घञ्वै भवन्तु मा हिंसिपुर्घहेतुमुष्ण-
मानम् (१४१२९)— इस वपुके लिये छप पदार्थ
सुखदायी हो, कोई स्त्रीया जानेवाले इस रथका नाश
न करे।

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदग्नि दम्पती।
सुगेन दुर्गमतीर्ता अप द्रान्स्वरातयः (१४१२।
११)— जो शत्रु समीप प्राप्त होनेसे इस दम्पतीकी
न जाने, ये वधुवर सुखसे दुर्गम प्रसंगोंके पार जाय,
और इनसे चत्र दूर हों।

संकाशयामि वहतु ब्रह्मणा गृहैरघोरैरेण चक्षुषामिभ्रि-
येण (१४१२१२)— मैं पुकारकर कहता हूँ कि
वपुके दृढ़ज्यो ज्ञानपूर्वक मित्रकी दृष्टिसे देखें।

पर्याणद्धं शिब्यरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता
तत्कृणोतु (१४१२१२)— जो कुछ अनेक रंग-
रूपवाला यहाँ हममें बंधा है वह पतिके लिये सुख-
कर हो ऐसा सविता करे।

शिवा नारीयमस्तमागन् (१४१२१३)— यह कल्याणी
नारी अपने घरको जा रही है।

प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु— प्रजापति प्रजासे इसको
बढ़ावे।

आरमन्वत्पुर्वरा नारीयमान्, तस्यो नरो घपत
यिजमस्याम्। सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो
विध्वतो दुर्घं वृषभस्य रेतः ॥ (१४१२१४)—
यह नारी आरमन्वत्से युक्त, प्रजा उत्पन्न करनेवाली
है, इसमें पुरुष बीज बोये, यह भापके लिये संतान
भवने गामाघयसे उत्पन्न करे, दूध और बौर्यवान्
पुत्रका रेत पारः करे।

अघोरचक्षुरपतिर्ग्री स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा
गृहेभ्यः। वीरसुद्वेषुकामा सं त्वयैधिपीमहि
सुमनस्यमाना। (१४१२१०)— प्रेमपूर्ण दृष्टि-
वाली, पतिका घात न करनेवाली, सुख देनेवाली,
सुन्दर, सेवा उत्तम करनेवाली, घरके लिये सुख-
दायक, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, पतिको भाई
रहे ऐसी इच्छावाली, उत्तम मनवाली ऐसी स्त्रीसे
हम संपन्न हों।

अदेवृष्णी अपतिर्ग्रीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा
सुयचाः। प्रजावती वीरसुद्वेषुकामा स्योने-
ममग्निं गार्हपत्यं सपर्यं। (१४१२१८)— देवरका
नाश न करनेवाली, पतिका घात न करनेवाली,
पशुओंका हित करनेवाली, उत्तम नियमसे चलने-
वाली, तेजस्विनी, संतानवाली, वीर पुत्र उत्पन्न
करनेवाली, घरमें देवर रहें ऐसी इच्छावाली, कल्याण
करनेवाली तू भक्तिकी पूजा घरमें कर।

उत्तिष्ठ, इतः किमिच्छन्तीदमागाः, अहं त्वेडे
अभिभूः स्वाद् गृहात् (१४१२१९)— हे दुर्गति !
तू यहाँसे बठ, यहाँ क्या चाहती है, यहाँ क्यों जा
गई है ? मैं तेरा परामर्श कहूँगी, अपने घरसे मुझे
दूर कहूँगी।

शून्येषां निर्जन्ते याजगन्धोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह
रस्याः— हे दुर्गति ! तू इस परको शून्य करना
चाहती है, यहाँसे उठ, दूर जा, यहाँ न रहमाण हो ।

देवो हन्ति रक्षसि सर्वा (१४।२।२४)— ज़ासि देव
सब राक्षसोंकी मारता है ।

इह प्रजां जनय पत्ये अस्मे सुज्यैष्ठ्या भवत् पुत्रस्त
प्य — यहाँ सत्तान उत्पन्न कर, इस पतिके लिये
यह श्रेष्ठ पुत्र बने ।

सुमगलीं प्रतरणीं महाणा सुशोरा पत्ये श्वशुराय
शभू । स्योना श्वश्वे प्र गृहान् विशोमान्
(१४।२।२६)— उत्तम मगल कामनावाली, घरोंका
दु ख दूर करनेवाली, पतिकी सेवा उत्तम करनेवाली,
श्वशुरके लिये सुख देनेवाली, सासके लिये हितकर
ऐसी अपने घरमें प्रविष्ट हो ।

स्योना भव श्वशुरेभ्य स्योना पत्ये गृहेभ्य ।
स्योनास्य सर्गस्यै त्रिशे स्योना पुष्टयैषा भव
(१४।२।२७)— श्वशुरके लिये, पति और घरके
लोगोंके लिये, सब प्रजाके लिये सुखकर हो और
इतका पोषण करनेवाली हो ।

सुमगलीरिय चधूरिमां समेत पद्यत । सौभाग्य
मस्ये दत्त्वा दीर्घायैर्विपरेतन । (१४।२।२८)
— यह चधू उत्तम कल्याण करनेवाली है, भाजी
और इसे देखो, इसकी सौभाग्य देकर दुर्भाग्यकी
दूर करते हुए वापस जावो ।

या दुर्दाशैर्द्युवतयो पाश्वेह जरतीरपि । वर्चो न्यस्यै
स दत्ताथान्त विपरेतन । (१४।२।२९)— जो
दुष्ट हृदयशाली तथा वृद्ध लियी है, वे इस वधुको
तेजस्वी होनेका माशीवाद दें और अपने घरको जाय ।

आ रोह तल्प सुमनस्यमानह प्रजा जनय पत्ये अस्मै
(१४।२।३१)— बिलोपर चढ, उत्तम मनवाली
इस पतिके लिये सत्तान उत्पन्न कर ।

सूयैव नारि चिद्वरुणा महित्वा प्रजावती पत्या स
भवेत् (१४।२।३२)— हे स्त्री ! तू इस सत्तारमें
सूयैवभाके समान नइहसे अनेक स्वरूपको प्राप्त
होकर समान उ पन्न काके पतिके साथ ज्ञानदत्ते रह ।

मयं इव योषामघिरोह्यैनां प्रजा कृष्णाधामिद्
पुष्यत रयिम् (१४।२।३७)— मर्दक समान
झीके साथ रह, प्रजा उत्पन्न कर, और यहाँ धनही
बढावो ।

प्रजां कृष्णाधामिद् मोदमानो दीर्घं वामायुः सविता
कृष्णोतु (१४।२।३९)— यहाँ प्रजा उत्पन्न करके
ज्ञानदत्ते रहो, भाव दोनोंकी भावु सविता देव लगी
करे ।

अदुर्मगलीं पतिलोकमा विरोम श नो मय द्विपदे
श चतुष्पदे (१४।२।४०)— दुष्ट भाव छोड़कर
पाँके घरमें प्रवेश कर, द्विपाद और चतुष्पादके लिये
कल्याण करनेवाली हो ।

स्योनाद्योनेरधि सुष्यमानां हसामुदौ महसा मोद
मानो । सुगू सुपुत्री सुगृहा तराथो जीवौ
उपसो विभाती. (१४।२।४३)— हालविनोद
करनेवाले, सुष्यदाथो स्थानसे उठनेवाले, उत्तम
हृदियों और माँकेसे युक्त, उत्तम बालबच्चीवाले,
उत्तम घरवाले स्त्रीपुत्रप ये दो जीव यकाशामाद्
उप कालक समान प्रकानते रहें ।

मा चय रिपाम' (१४ २।५०)— इमाता नाश न हो ।
उदाती. कन्यला इमा पितृलोकात् पतिं यती. ।
अय दीक्षामसृक्षत । (१४।२।५२)— पितृके
घरसे पतिके घर जानेवाली ये कन्याएँ सादिच्छा धारण
करें, दक्षतासे रहें ।

इय नार्युप मृते पूल्यानि आवपन्तिका । दीर्घायुरस्तु
मे पति जीवाति शरद शतम् (१४।२।६३)
— यह स्त्री धानका हवन करनी हुई यह कहती
है, कि मेरा पति दीर्घायु हो और सौ वर्ष जीवे ।

चक्राकेश दम्पती । प्रजयैतौ स्वस्तकां विश्वमायुर्व्यं
दनुताम् (१४।२।६४)— चक्रवाक पक्षीके जोड़ेके
समान व दम्पती, वे उत्तम घरवाले प्रजाके साथ
पूर्ण भाव प्राप्त करें ।

अभूम यक्षिया. शुद्धा प्र ण भायूषि तारिपत्
(१४।२।६७)— हम पूज्य और शुद्ध बने और
हमारी भावु दीर्घ हो ।

अंगाङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि
(१४।२।९९)— इसके अंग-अंगसे हम रोग दूर
करते हैं ।

अमोऽहमसि सा त्वं सामाहमसि क्रकव्वं, घौरहं
पृथिवीं त्वं । तानिह सं भवाव प्रजामा जन-
यावहं । (१४।२।१०१)— मैं प्राण हूँ वृ शक्ति
है, गान मैं हूँ और ऋचा वृ है, घु मैं हूँ पृथिवी
वृ है, यहाँ हम इकट्ठे रहें और प्रजा उत्पन्न करें ।

प्र घुपस्व सुवुषाबुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशार-
दाय (१४।२।१०५)— उत्तम ज्ञान प्राप्त करके
घरमें जागती रह, सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये बाल
कर ।

गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासौ दीर्घत आयुः सविता
कृणोतु— घरमें जा, घरकी स्वामिनी होकर १६;
सविता तेरी भाग्य दीर्घ करे ।

व्रात्य

सोऽवर्धत, स महानभवत्स महादवोऽभवत्
(१५।१।४)— वह बढ़ गया, वह बड़ा हो गया,
वह महादेव हुआ ।

स देवानामिशीं पर्यत् स ईशानोऽभवत् (१५।१।५)
— वह देवोंका अधिष्ठाता हुआ, वह ईश्वर हुआ ।

नीलेनैवाभियं आनृच्यं प्रोर्णोति, लोहितेन द्विपन्तं
विष्यतीति ब्रह्मवादिनो पदन्ति (१५।१।८)—
नीले रङ्गके धुएँके घेरता है और लोहितसे
देवोंको भीषता है ऐसा ब्रह्मवादिश्योंका कहना है ।

शिशु दूर करना

पूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृष्टीत
शशून् (१३।१।३)— हे उग्रवीर मरुतो ! तुम
भूमिकी माया माननेवाले इन्द्रसे युक्त होकर अज्ञ-
बोधका नाश करो ।

सं ते राष्ट्रं अनक्तु पयसा घृतेन (१३।१।८)—
तेरा राष्ट्र दूध और घीसे भरकर हो ।

विधि राष्ट्रं जागृहि (१३।१।९)— प्रजामें तथा राष्ट्रमें
जागते रहो ।

गोपोयं च मे वीरपोयं च घेहि (१३।१।१२)— मुझे
गोपालन और वीरपालनका सामर्थ्य दे ।

सर्वा अरातीरवक्रामश्रेहीर्द् राष्ट्रमकरः सूत्रतावत्
(१३।१।२०)— सब अशुभोंपर आक्रमण कर और
इस राष्ट्रको आनन्दपूर्ण कर ।

तया याजान् विश्वरूपां जयेम, तया विश्वा
पृतना अभि प्याम (१३।१।२२)— अनेक प्रकार
के अन्न और बल जीतेंगे और इससे सब तेन्नोंका
परामव करेंगे ।

तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमाद्म् (१३।१।२३)— कवि
प्रमाद न करते हुए उस शक्तिका रक्षण करते हैं ।

सपत्नानधरान् पादयस्मत् (१३।१।३१)— हमारे
अशुभोंको नीचे गिरा दो ।

दुष्पन्न्यं तस्मिन्मलं दुरितानि च नृऽमहे
(१३।१।५८)— दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कल्पना और
पापोंको हम दूर करते हैं ।

सुदृढ शरीर

सर्वांग एव सधंपरः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद्
(११।३।३२)— सब अंगोंसे युक्त, सब पदोंसे
युक्त, सब अवयवोंसे युक्त वह होता है जो यह ज्ञान
आनता है ।

दुःख दूर करना

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः, शिवया तन्वेष
स्पृशत त्वचं मे । मयि क्षत्रं वर्चं वा घत्त
देयोः (११।१।१२-१३)— हे जलदेवता ! शुभ
दृष्टिसे मुझे देखो, शुभ स्पर्शसे मेरी त्वचाको स्पर्श
करो । मुझे तेज और क्षात्रबल प्राप्त करो ।

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् (१६।२।१)—
दुर्गति दूर हो, वाणी मीठी हो ।

मधुमती स्थ, मधुमती वाचमुद्देयम् (१६।२।२)—
मीठी वाणी हो, मीठी वाणी हम बोलें ।

सुश्रुतां कर्णां, भद्रश्रुतां कर्णां, भद्रं श्लोकं श्रूयासम्
(१६।२।४)— मेरे कान उत्तम ज्ञान सुनें, मेरे
कान कल्याणवचन सुनें, कल्याणकारक वचन मैं
सुनूँगा ।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां, सौपर्णं चक्षुः,
अजस्रं ज्योतिः (१६।२।५)— उत्तम ध्वनन

शक्ति और दूरसे सुननेकी शक्ति मुझे न छोड़ें,
गह्वरके समान रहिए और वक्ष तेज मेरे पास रहे ।

मूर्धाहिं रथीणा मूर्धा समानाना भूयासम् (१६१११)
घनेका उच्च स्थान तथा समानोमें मैं बन् ।

रजश्च मा घेनश्च मा हासिष्ठा (१६११२)— तेज
और कानि-त मुझे न छोड़े ।

मूर्धा च मा विधमा च मा हासिष्ठा— उच्च स्थान
और विशेष धर्म मुझ न छोड़े ।

असताप मे हृदय (१६११६)— मेरे हृदयको सताप
न हो ।

प्राणापानौ मा मा हासिष्ठ, मा जने प्र मेपि (१६११५)
— प्राण जपान मुझ न छोड़ मनुष्योंमें मैं घातक
न बन् ।

अजैष्माद्यासनमायाभूमानागसो वय (१६१११) -
आज हम विजय प्राप्त करेंगे, पाह्वरको प्राप्त किया
है, हम निष्पत्त हुए हैं ।

द्विपते तत्परा घट, शपते तत्परा घट (१०११३)—
द्वेष करनेवालेको दूर कर, गाली देनेवालेको दूर कर ।

य द्विष्मो यच्च नो द्वेष्टि तस्मा एनत्तं तमयाम-
(१६११४)— जिसका हम सब द्वेष करते हैं
और जो हमारा द्वेष करता है, उसको नीच
पहुँचाते हैं ।

तऽमुष्मि परा बहन्तु बरायान् दुर्णास्र, सदा-वा
कुम्भीका द्रुविका पीयकान् (१६११७-८)—
वेनिधनता, कष्ट, आपत्तिया, रोग, दोष, विपत्तियोंको
दूर ल जाय ।

तेनेन विध्याम्यभूत्यैने विध्यामि निर्भूत्यैने विध्यामि,
पराभूत्येन विध्यामि प्राह्येन विध्यामि तमस्यैने
विध्यामि (१६११३)— उससे इस पापका बन्ध
करता हूँ। दुर्गति दायिग और रोगसे शत्रुको
वीधता हूँ। परामवसे और अ-धकारसे शत्रुको
पीडित करता हूँ ।

जितस्माकं उद्भिप्रमस्माकं ऋतमस्माकं तेजोऽस्माकं
प्रह्लास्माकं खरस्माकं, यज्ञोऽस्माकं पशवोऽ
स्माकं प्रजा अस्माकं वारा अस्माकम्
(१६१११)— हमारे विजय, उदय, सत्य, तेज,
ज्ञान, आधरतेज, यज्ञ, पशु, प्रजा वीर हों। यह सब
हमें प्राप्त हों ।

स प्राह्या पादान्मा मोचि (१६११३)— वह शत्रु
रोगके पातोंसे न छूटे ।

तस्त्वंद घर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामि, इदमेन
मघराच पादयामि (१६११४)— इसके तेज,
बळ, प्राण, आयुको मैं घेरता हूँ। इस शत्रुको नीचे
गिरावा हूँ ।

यसुमान् भूयास, वसु मयि घोहि (१६११४)— मैं
धनवान् होऊँ, धन मेरे पास रख ।

अभ्युदय

विपारिष्टि सहमानं सासहान सहीयास । सहमान
सहोजित स्वर्जित गोजित सघनाजित । ईड्य
नाम ह इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् । (१०१११)
— सामर्थ्यवान् बलवान्, विजयी शत्रुको दबाने
वाले, शक्तिमान्, दिग्विजयी, स्वसामर्थ्यसे जीतने-
वाले भूमिको जीतनेवाले, धन जीतनेवाले प्रदास
नीच स्तुत्य इन्द्रकी हम मक्ति करते हैं, मैं दोषीयु
बन् ।

प्रियो देवाना भूयास (१०११२)— देवोंको मैं प्रिय
बन् ।

प्रियः प्रजाना भूयास (१०११३)— मैं प्रजाओंको
प्रिय बन् ।

प्रियाः पशूना भूयासं (१०११४)— मैं पशुओंको
प्रिय बन् ।

प्रिय समानाना भूयास (१०११५)— मैं समानोंको
प्रिय बन् ।

द्विषश्च मह्य रथ्यतु, मा स्वाह द्विपते रथ (१०११६)
— शत्रुओंको मेरे हितके लिये वसते कर, परतु मैं
कभी शत्रुके अधीन न बन् ।

सुघाया मा घोहि (१०११७)— अमृतमें मुझे रख ।
स नो मृद, सुमर्ता ते स्याम (१०११८)— वह तु
हमें जानदमें रख, तेरी उन्नत समतिमें हम रहें ।

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् (१०१११)—
हे इन्द्र । तू विश्वको जीतनेवाला और सबको नानने-
वाला है ।

संपत्नान् मह्यं रन्धयन् (१०।१।२४)— मेरे लिये शत्रुओंका नाश कर ।

जरदष्टिः कृतवीर्यो विद्यायाः सहस्रायुः सुकृत-
अदरेयं (१०।१।२०)— बृद्ध अवस्थातक वीर्य-
वान् होकर विविध कर्मोंको करता हुआ सहस्रायु
होकर विचरंगा ।

सरस्वती

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वतीं दाशुपे
घार्यं दात् (१०।१।४१)— देव बननेकी इच्छा
करनेवाले सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, यज्ञ शुरू
होनेपर सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, उत्तम कार्य
करनेवाली सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, सरस्वती-
विद्या-धन देती है ।

अनमीषा इय आ चेह्यस्मे (१०।१।४२)— नीरोग
अन्न हमें दे ।

सहस्रार्धमिदो अत्र मागं रायस्पोपं यजमानाय घेहि
(१०।१।४३)— हजारों प्रकारका अन्नमात्र और
धनके साथ पुष्टि यजमानको दे ।

पितृमेध

अहं य ईयुरवुका ऋतश्नास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु
(१०।१।४४)— जिन हिंसान करनेवाले पितरोंने
प्राणको प्राप्त किया है । अर्थात् जो प्राणधारी पितर
हैं वे सत्य यज्ञको जाननेवाले पितर बुलानेपर हमारी
रक्षा करें ।

इदं पितृभ्यो नमो अस्तु अद्य ये पूर्वांसो अपरास
ईयुः (१०।१।४६)— जो पूर्व और आधुनिक
पितर हैं उनके लिये नमन करते हैं ।

मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन्नो यद्वा आगः पुरुषता
कराम (१०।१।५२)— हमने मनुष्य होनेसे जो
पाप किया हो उसके लिये, हे पितरो ! हमारी
हिंसा न करो ।

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वभ्यः पाथिहृद्भ्यः
(१०।२।२)— मार्ग करनेवाले प्राचीन पूर्वज
ऋषियोंको यह नमन करता हूँ ।

स नो जीवेष्वा यमेहीर्घायुः प्र जीवसे (१०।२।३)—
वह यम हमें इस जीवित लोगोंमें जीनेके लिये दीर्घ
आयु देवे ।

ये मुष्यन्ते प्रघनेषु शूरासो ये तनूत्यजः । ये
वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्
(१०।२।१०)— जो शूर युद्धमें लड़ते हैं, युद्धमें
जो मरना शरीर त्यागते हैं, तथा जो हजारोंका दान
करते हैं उनके पास तू जा ।

स्योनास्मै भय पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी । यच्छासै
शर्म सप्रथाः (१०।२।१९)— हे पृथिवी ! इसके
लिये सुख देनेवाली हो, कांटोंसे रहित, रहनेके लिये
स्थान देनेवाली हो और इसे विस्तृत स्थान और
सुख दे ।

ये निस्त्राता ये परोता ये दग्धा ये चोद्धिताः । सर्वा
स्तानग्र आ वह पितृन् हविषे अत्तवे
(१०।२।३४)— जो गाढ़े गये, जो बहाये, जो
जलाये, जो ऊपर हथामें रखे, उन सब पितरोंको हवि
स्थानके लिये, हे भग्ने ! ले आओ ।

उद्वन्वती घौरवमा, पीलुमतीति मध्यमा । तृतीया ह
प्रथौरिति यस्यां पितर आसते (१०।२।४८)—
जलवाला घुलोक सबसे नीचे है, नक्षत्र जिसमें है
वह मध्य स्थानमें है, प्रद्यु नामक तीसरा घुलोक है
जिसमें पितर रहते हैं ।

इमौ युनक्ति ते वद्वा असुनीताय वोद्वे । ताभ्यां
यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात्
(१०।२।५६)— प्राण जिसका गया है उसको ले जानेके
लिये मैं दो बैल (गाड़ीको) जोड़वा हूँ । उन दोनोंसे
यमके घर जाते हैं, उनके साथ मंडली भी जाय ।

यो ममात् प्रथमो मर्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोक-
मेतम् । वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं
हविषा सपर्यत । (१०।३।१३)— जो मानवोंमें
प्रथम मरा, जो इस लोकमें प्रथम गया, उस वैव-
स्वत यमराजको, जो जनोंका संगमन करता है,
उसको हवि अर्पण कर ।

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिपं, आयुर्दधानाः प्रतरं
नवीयः । आप्यायमानाः प्रजया घनेनाथ

स्याम स्मरमयो गृष्टेपु (१८।१।१०)— ज्ञानसे पवित्र होकर नवीन मायु धारण करके पापको दूर करते हैं। प्रजा तौर धनमे बढ़ते हुए हम घरोंमें सुगंधियुक्त बने ।

वि श्लोकः पति पथेयव स्मरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृ-
तास पतत् (१८।१।११)— जैसा विद्वान् धन-
मार्गसे जाता है वैसा मेरा श्लोक सीधा मुग्धारे पाम
पहुंचता है । यह सब अमर देव सुने ।

रायि घत्त दाशुषे मर्त्याय (१८।१।१२)— दानी
मनुष्यके लिये धन दो ।

पुत्रेभ्यः पितरः तस्य वस्वः प्र यच्छत तं इह ऊर्जे
दधात (१८।१।१३)— हे पिता ! पुत्रोंके लिये
तमका धन दो, वे यहाँ अन्न धारण करें ।

रायि च नः सर्ववीरं दधात (१८।१।१४)— सब
वीर पुत्रोंके साथ हमें धन दो ।

ते गृह्णासो धृतश्च्युतः स्योना विश्वाहास्मि शरणाः
सन्वयत्र (१८।१।१५)— वे घर मुक्तदायी, बीसे
मेरे सर्वदा हमके लिये शरण जाने योग्य हों ।

इहमे वीरा यद्ववो भवन्तु गोमदश्वघ्नमरुपस्तु पुष्टम्
(१८।१।१६)— यहाँ ये वीर पुत्र बहुत हों, गौओं
और घोड़ोंसे युक्त मेरे अन्दर पुष्टि हो ।

परैतु मृग्युरमृतं न पेतु (१८।१।१७)— मृत्यु दूर हो,
अमरत्व हमारे पाम आवे ।

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा विमीतन (१८।१।१८)
— हे ऋषिओ ! उत्तम पुंडोहमें चढो, अचमीत न
होओ ।

मन्योऽपममृतत्वमेनि तस्ते गृहान् कृणुत यावत्स-
यन्पु (१८।१।१९)— यह मर्त्य मनुष्य अमरत्व
प्राप्त करता है, उसके लिये बांधवोंसे युक्त घर करो ।

पत्नो राजाविधानं चरुणां ऊर्जां बलं सह बोजो न
भागन् । आयुर्जावेभ्यो विश्वद् दीर्घायुन्वाप
शतशास्दाय (१८।१।२०)— यह राजा पत्न-
वरूपा रखनेका ढरहन है । यह तेज, बल, बोजके
साथ हमारे पाम आगवा है, यह जीवोंकी आयु
देता है, सौ वर्षोंकी दीर्घायु करता है ।

साक्षाः स्वर्गे पितरो मादवध्वम् (१८।१।२१)— अपने
सब भगोंके साथ पिता स्वर्गमें आनन्द प्राप्त करें ।

जयिम शरदं शतानि त्वया राजन् सुपिता रक्षमाणाः
(१८।१।२२)— हम सौ वर्ष जीवे, हे राजन् !
तेरे द्वारा सुरक्षित होंगे ।

हस तरह ये सुमापित चतुर्षु विभागमें हैं । पाठक इनका
योग्य उपयोग करके अपना काम प्राप्त करें ।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुकोक्ष भाष्य ।

एकादशं काण्डम् ।

▲ ▲

ब्रह्मचर्यसे मृत्युको दूर करो ।



ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाप्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥

(अथर्व० ११।५।१७,—१९)

“ ब्रह्मचर्यरूप तपसे राजा राष्ट्रकी रक्षा करता है, ब्रह्मचर्यसे ही आचार्य ब्रह्मचारीको प्राप्त करता है, ब्रह्मचर्यरूप तपसे ही देवोंने मृत्युको दूर किया, और ब्रह्मचर्यसे ही इन्द्रने देवोंने तेज भर दिया । ”





अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

एकादश काण्ड ।

यह ग्यारहवां काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय विभागका चौथा काण्ड है। इसके अनुवाक, सूक्त, मंत्र और दशति इस प्रकार हैं।

अनुवाक	सूक्त	दशति+मंत्र	मंत्रसंख्या
१	१	३ + ७	३७
२	२	२ + ११	३१
	३	(३ पर्याय)	५६
	४	२ + ६	२६
३	५	२ + ६	२६
	६	१ + १३	२३
४	७	२ + ७	२७
	८	२ + १४	३४
५	९	२ + ६	२६
	१०	२ + ७	२७
५	१०		३१३ कुल मंत्रसंख्या

अब इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द देखिये—

ऋषि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	३७	ब्रह्मा	ब्रह्मीदनः	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्गर्भामूरिकर्पांक्षिः, २, ५ बृहती—गर्भान्विराट्; ३ चतुष्पदा शांकरगर्भो जगती; ४, १५—१६ भुरिक्, ६ षष्पिक्, ८ विराट् गायत्री; ९ शांकरातिजागतगर्भो जगती १० विराट् पुरोतिजगती विराट् जगती; ११ जगती; १७, २१, २४, २६ विराट् जगती, १८ अतिजगतीगर्भो परातिजागता विराट् जगती; २० अतिजागतगर्भो पराशक्ण, चतुष्पदा भुरिजगती; २९, ३१ भुरिक्; २७ अतिजागतगर्भो जगती; ३५ चतुष्पदा ककुभ्मती—ऋष्णिग्, ३६ पुरोविराट् व्याघ्रादि०, ३७ विराट् जगती ।

२	३१	अथर्वी	१३०	<p>त्रिष्टुप्, १ परातिजागता विराट् जगती, २ अत्रुष्टुगमां पंचपदा पथ्या जगती, ३ चतुष्टुपदा स्वराटुःसिक्क; ४, ५, ७, १३, १५, १६, २१ अत्रुष्टुप्; ६ आर्षा गायत्री; ८ महाबृहती; ९ अ.र्षा, १० पुरोहृति त्रिपदाविराट्; ११ पंचपदा विराट् जगतीगमां शकवरी; १२ भुरिक्: १४, १०-१९, २३, २६, २७ विराट् गायत्री; २० भुरिगायत्री; २२ विषमपादरक्ष्म्या त्रि-पदा महाबृहती; २४, २९ जगती; २५ पंचपदातिशरवरी; ३० चतुष्टुपदा उष्णिग्: ३१ ऋक् ० विपरीतशदरक्ष्म्या षट्पदा जगती ।</p>
३	५६	,,	<p>ओदनः (१ वर्षाय: ३१ बाईरूपलौदन)</p>	<p>१, १४ आसुरी गायत्री; २ त्रिपदा समविषमा गायत्री; ३, ६, १० आसुरी पंक्तिः; ४, ८ साम्नी अत्रुष्टुम्; ५, १३, १५, २५ साम्नी उष्णिग्, ७, १९-२२ प्राजापत्यात्रुष्टुम्; ९, १०-१८ आसुरी अत्रुष्टुम्; ११ भुरिगावां अत्रुष्टुम्; १२ याजुषी जगती, १६, २३ आसुरी बृहती; २४ त्रिपदा प्राजापत्या बृहती २६ आर्षा अत्रुष्टुम्; २७ (२८, २९) साम्नी बृहती, [२९ भुरिक्]; ३० याजुषी त्रिष्टुप्; ३१ अन्वापंक्तिः याजुषी ।</p>
	(२ वर्षाय: १८ ,,	नोदनः)		<p>३२, १८, ४१ (प्र०), ३२-३९ साम्नी त्रिष्टुप्; ३२, ३५, ४२ (द्वि०), ३२-४९ (तृ०), ३३, ३४, ४४-४८ (च०) एकपदा आसुरी गायत्री; ३२, ४१, ४३, ४७ (च०) द्वैवी जगती; ३८, ४४, ४६ (द्वि०), ३२, ३५-४३, ४९ [च०] आसुरी अत्रुष्टुम्; ३२-४९ [च०] साम्नी अत्रुष्टुम्, ३३-४९ [प्र०] आसुरी अत्रुष्टुम्; ४२-४९ [च० ; साम्नी अत्रुष्टुम्; ३३-४९ [प्र०] आर्षा-अत्रुष्टुम्; ३७ [प्र०] साम्नीपंक्तिः; ३३, ३६, ४०, ४७, ४८ [द्वि०] आसुरी जगती; ३४, ३७, ४१, ४३, ४५ [द्वि०] आसुरी पंक्तिः ३४ (च०) आसुरी त्रिष्टुप्; ४५, ४६, ४८ (च०) याजुषी गायत्री; ३६, ४०, ३७ (च०) द्वैवी पंक्तिः; ३८, ३९ (च०) प्राजापत्या गायत्री, ३९ (द्वि०) आसुरी उष्णिग्; ४३, ४५, ४९ (च०) द्वैवी त्रिष्टुम्; ४९ [द्वि०] एकपदा भुरिक् साम्नी बृहती ।</p>
	[३ वर्षाय: ० ,,	,,]		<p>५० आसुरी अत्रुष्टुम्; ५१ आर्षा अत्रुष्टुम्; ५२ त्रिपदा-सु-रिवसाम्नी त्रिष्टुप्; ५३ आसुरी बृहती; ५४ त्रिपदा भुरिक् साम्नी बृहती; ५५ साम्नी उष्णिग्; ५६ प्राजापत्या बृहती । अत्रुष्टुप्: १ शंङ्गमती; ८ पथ्यापंक्तिः, १४ त्रिष्टुप्; १५ भुरिक्; २० अत्रुष्टु० गमां त्रिष्टुप्, २१ मन्त्रे उन्नीतजगती; २२ त्रिष्टुप्; २६ बृहती गमां ।</p>
४	२६	भागवतो वैदार्थिः	प्रायः	

५	२६	ब्रह्मा	ब्रह्मचारी	त्रिष्टुभ्; १ पुरोतिजागतविराड्गर्भा; २ पंचपदा बृहतीगर्भा विराट् शकवरी; ६ शाकवर्गर्मा चतुष्पदा जगती ७ विराट्गर्भा; ८ पुरोतिजागता विराट् जगती ९ बृहती गर्भा; १० भुरिक् ११ जगती; १२ शाकवर्गर्मा चतु- ष्पदा विराडितिजगती, १३ जगती; १५ पुरस्ताज्ज्योतिः; १४ १६-२२ अनुष्टुभ्; २३ पुरो बार्हतातिजागतगर्भा, २५ एकावसाना आर्ची उष्णिग्; २६ मथ्ये ज्योतिरुष्णिगर्भा ।
६	२३	चान्दातिः	चन्द्रमाः मन्त्रोक्ताः	अनुष्टुभ्; २३ बृहतीगर्भा ।
७	२७	अथर्वा	अप्यामं वाच्छिष्टः	अनुष्टुभ्; ६ पुरोष्णिग्बार्हतपरा; २१ स्वराट्; २२ विराट् पथ्या बृहती ।
८	३४	कौशपयिः	अध्यामं, मन्त्रुः	अनुष्टुभ्; २३ पथ्यापंक्तिः ।
९	२६	कांकायनः	गर्भुविः	अनुष्टुभ्; १ सप्तपद् विराट् शकवरी त्र्यवसाना; ३ परोष्णिक् ४ त्र्यवसाना उष्णिग्बृहतीगर्भा परात्रिष्टुप् पद्पदाति जगती; ९ ११, १४, २३, २६ पथ्यापंक्तिः; १५, २२, २४, २५ त्र्यव- साना सप्तपदा शकवरी; १६ त्र्यव० पंचपदा विराट् उपरिष्ठा- ज्ज्योतिरिष्टुभ्; १७ त्रिपदा गायत्री ।
१०	२७	भृग्वीरारः	निगान्धिः	अनुष्टुभ्; १ विराट् पथ्या बृहती, २ त्र्यव० षट्प० त्रिष्टु० गर्भातिजगती; ३ विराडास्वारपंक्तिः, ४ विराट्; ८ विराट् त्रिष्टुभ्; ९ पुरोविराट् पुरस्ताज्ज्योतिरिष्टुभ्; १२ पंच पदा० पथ्या पंक्तिः; १३ षट्पदा जगती; १६ त्र्यव० षट्पदा० कुकुंमलनु- ष्टुप् त्रिष्टुभ्गर्मा शकवरी; १७ पथ्यापंक्तिः; २१ त्रिपदा गायत्री; २२ विराट् पुरस्ताद्बृहती; २५ प्रन्वार पंक्तिः ।

इस प्रकार इन दस सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द हैं । इनमें अध्याम और युद्ध ये दो प्रकरण विशेष महत्त्वके हैं, अतः पाठक इनका अधिक मनन करें । इस काण्डके पश्चात् के बारहवें काण्डमें मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगीत है और इस ग्यारहवें काण्डमें उसके पूर्व युद्धकी तैयारीका वर्णन है । इस तरह यह बड़ा मनोरंजक विषय इस काण्डमें है; इसका योग्य अभ्यास पाठक करें ।



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

एकादशं काण्डम्

ब्रह्मौदन-सूक्त

(१)

अग्ने जायुस्वादितिर्नाधिदितेयं ब्रह्मौदुनं पंचति पुत्रकामा ।

सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वां मन्यन्तु प्रजयां सहैह

॥ १ ॥

कृपुत धूमं वृषणः सस्त्रायोऽद्रोधाविता वाचुमच्छं ।

अयमग्निः पृतनापाद् सुवीरो येन देवा असंहन्त दस्युन्

॥ २ ॥

अग्नेऽर्जनिष्ठा महते वीर्यायि ब्रह्मौदनाय पक्तये जातवेदः ।

सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वांजीजनन्स्यै रयिं सर्ववीरं नि र्यच्छ

॥ ३ ॥

अयं—हे अग्ने ! (जायस्व) प्रकट हूँ । (इयं नायिता अदितिः) यह प्रार्थना करनेवाली अदीतः माता (पुत्र-कामा ब्रह्मौदनं पंचति) पुत्रोंकी इच्छा करती हुई शान बढानेवाला अन्न पकाती है । (भूतकृतः सप्त ऋषयः) भूर्भुवो बनानेवाले सप्त ऋषि (इह त्वा प्रजया सह मन्यन्तु) यहां तुझे प्रजाके साथ मंथन करें ॥ १ ॥

हे (वृषणः सस्त्रायः) बलवान् मित्रो ! (धूमं कृपुत) धूम करो, अग्निको प्रदीप्त करो । (अद्रोधा—अविता वाचं अच्छ) श्रौह न करनेवालोंकी रक्षा करनेवाली माया बोधो । (अयं अग्निः पृतनापाद् सुवीरः) यह अग्नि शत्रु-सेनाको पराजित करनेवाला उत्तम वीर है । [येन देवाः दस्युन् असहन्त] जिससे देवोंने शत्रुओंको पराजित किया ॥ २ ॥

हे अग्ने ! हे जातवेद ! तू [महते वीर्याय अजनिष्ठाः] बड़ा पराक्रम करनेके लिये प्रकट हुआ है । [ब्रह्म-भोदनाय पक्त-वे] और ज्ञानवर्धक अन्न पकानेके लिये प्रकट हुआ है । (भूतकृतः सप्त ऋषयः त्वा अजीजनन्) भूर्भुवो तपसि करने-वाले सप्त ऋषियोंने तुझे प्रकट किया है । (रयिं सर्ववीरं रयिं नि र्यच्छ) इस माताके लिये सब प्रकारका धन प्रदान कर ॥ ३ ॥

मावर्ष्यं—माता उत्तम वीर पुत्र होनेके लिये ईश्वरकी प्रार्थना करे, उसके लिये सुयोग्य अन्न पकावे । अग्निके निर्माण करने-वाले सप्त ऋषि उस माताको सुप्रजा प्रदान करें ॥ १ ॥

बल प्राप्त कर, वृष कर, श्रौह करनेवाली माया न बोल, तेजस्वी बन, जिससे समरविजयी सुपुत्र होगा, जो शत्रुओंको दूर भगा देगा ॥ २ ॥

तू बड़ा पराक्रम करनेके लिये उत्पन्न हुआ है । उत्तम अन्न द्वारा पाकवृत्त करके सप्त ऋषियोंके संतोष करनेसे वे सब प्रकारके धन मावर्ष्ये पुत्र सुपुत्र अवश्य प्रदान करेंगे और उत्तम धन देगे ॥ ३ ॥

सर्मिद्रो अग्ने समिधा सर्मिष्यस्य विद्वान् देवान् यज्ञियो एह बंधः ।

तेभ्यो हविः श्रुपयं जातवेद उत्तमं नाकूमर्षिं रोहयेमम् ॥ ४ ॥

श्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितृणां मर्त्यानाम् ।

अंशान् जानीष्वं वि भंजामि तान् वो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ ५ ॥

अग्ने सहस्वानभिभूरमीदंसि नीचो न्युजिज द्विपुतः सपत्नान् ।

इयं मात्रां मीयमाना मिता चं सज्जातांस्तं बलिहृतः कृणोत ॥ ६ ॥

साकं सजातैः पर्यसा सहैघ्यदुंजैनां महते वीर्यायि ।

ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टयं सुगों लोक इति यं वदन्ति ॥ ७ ॥

इयं मही प्रतिं गृहातु चर्मं पृथिवी देवीं सुमनस्पमाना । अयं गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! (समिधा समिद्रः सं इष्यस्य) समिधासे प्रदीप्त हुआ तू प्रदीप्त हो । [यज्ञियात् देवान् इह जायन्तः] यज्ञके योग्य देवोंको तू पहले दे जा । हे जातवेद ! (रोहयः हविः श्रुपयत्) उनके लिये हवि पकाना हुआ, [इयं उत्तमं नाकं अधिरोहय] इसको उत्तम स्वर्गपर चढा ॥ ४ ॥

[यः पुरा श्रेधा भागः निहितः] जो पहले तीन प्रकारका भाग रखा है, वह (देवानां पितृणां मर्त्यानां) देवोंका पितरोंका और मर्त्योंका है । [अहं यः तान् विभजामि] मैं तुम्हें उन भागोंको पृथक् पृथक् अलग करता हूँ । [अंशान् जानीष्वं] उन भागोंको समझो । (यः देवानां सः इमां पारयाति) जो देवोंका भाग है वह इस ऋषीको आर्पितसे पार करेगा ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (सहस्वान् अभिभूः इत् अभि असि) तू बलवान् और शत्रुका पराजय करनेवाला है । अतः [द्विपुतः सपत्नान् नीचः न्युज्ज] द्वेष करनेवाले शत्रुओंको नीचे दबा । [इयं मात्रा मीयमाना मिता च] यह परिमाण भाषा हुआ परिमित प्रमाणमें [ते सज्जातां बलिहृतः कृणोत] सेरे सजातीय बौदोंको तुल्य कर, देनेवाला बनाये ॥ ६ ॥

[पर्यसा सजातैः साकं पृथि] तू पृथके साथ सज्जातियोंके साथ बढ । [महते वीर्याय पुनां उत उज्ज] बड़े पराक्रमके लिये इसको सैपार कर । [ऊर्ध्वः नाकस्य विष्टयं अधि रोह] ऊंचा होकर स्वर्गके ऊपर चढ । [यं स्वर्गः लोकः इति वदन्ति] जिसे स्वर्ग लोक कहते हैं ॥ ७ ॥

[इयं मही पृथिवी देवी] यह बड़ी पृथ्वी देवता [सुमनस्पमाना चर्मं प्रति गृहातु] सुमन विचारवाली होकर यह चर्मकी ढाल अपनी रक्षाके लिये लेवे । इससे [अयं सुकृतस्य लोकं गच्छेम] हम पुण्य लोकको प्राप्त हों ॥ ८ ॥

भावार्थ—अग्नि प्रदीप्त कर, उनमें हविका दहन कर, इससे उत्तम स्वर्ग अवश्य प्राप्त होगा ॥ ४ ॥ देव पितर और मर्त्य इन तीनोंका भाग अलग होता है । अतः उनके वह भाग अलग करना उचित है ॥ ५ ॥ बलवान् और शत्रुका पराजय करनेवाला हो, शत्रुओंको दूर भगा दे और वे तुल्य कर दोगे ऐसा पराक्रम कर ॥ ६ ॥ बड़ा पराक्रम करनेके लिये तैयार हो, दूध पीकर सजातियोंके धाय पुष्ट हो । इस प्रकार पराक्रम करके स्वर्गके योग्य बन ॥ ७ ॥

यह पृथ्वी बड़ी देवी है, अपने मनको सुमनस्कल्पित करके उसकी रक्षाके लिये तैयार रह जिससे पुण्यवानोंका लोक प्राप्त होगा ॥ ८ ॥

एतौ प्रावाणौ सयुजा युद्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून् यजमानाय साधु ।

अवधन्ती नि जहि य इमां पृतन्यवन् ऊर्ध्वं प्रजामुद्गरन्त्युद्दह

॥ ९ ॥

गृहाण प्रावाणौ सकृत्तौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञियां युद्धमंगुः ।

अयो वरा यतमस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि

॥ १० ॥ (१)

इयं ते धीतिरिदमुं ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा ।

परां पुनीहि य इमां पृतन्यगोस्यै रथिं सर्ववीरं नि यच्छ

॥ ११ ॥

उपश्वसे द्रुवपे सीदता युयं वि विन्ध्यष्वं यज्ञियासन्तुपैः ।

श्रिया समानानति सर्वान्तस्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि

॥ १२ ॥

अर्थ- [एतौ सयुजौ प्रावाणौ] ये साथ रहनेवाले दो पत्थर [चर्मणि युद्धि] चर्मपर रहते । [यजमानाय अंशून् निर्भिन्ध्य] यजमानके लिये मोमरसको कूटकर निकालो । [ये इमां पृतन्यवः] जो इस खोपर हमला करते हैं उनका [निजहि] नाश कर । [अयो वरा उद्गन्ती प्रजा ऊर्ध्वं उद्दह] कूटती हुई और भरणपोषण करती हुई प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

हे वीर [सकृत्तौ प्रावाणौ हस्ते गृहाण] उत्तम कर्म करनेवाले ये दो पत्थर हाथमें ले । [यज्ञियाः देवाः ते यज्ञं आ भगुः] पूज्य देव तेरे यज्ञमें आज्ञा दें । [यतमान् एवं वृणीषे] जो तु मांगता है वे [अयो वराः] तीन वर हैं । [ताः समृद्धीः ते इह राधयामि] उन संपत्तियोंको तेरे लिये भिन्न करता हूँ ॥ १० ॥

(इयं ते धीतिः) यह तुम्हारा पानस्थान है, और [इदं उ तं जनित्रं] यह तेरा जन्मस्थान है । [शूरपुत्रा अदितिः] त्वीं गृह्णातु] शूर पुत्रोंवाली अदीन माता तुझे स्वीकार करे । [ये पृतन्यवः इमां परा पुनीहि] जो सेनावाले शत्रु हम खोके कष्ट देते हैं उनको वार कर और [अस्यै सर्ववीरं रथिं नि यच्छ] इसको सर्व वीरोंसे युक्त घन दे ॥ ११ ॥

[युयं द्रुवपे उपश्वसे सीदता] तुम सब उत्तम जीवनके लिये बैठो । हे [यज्ञियासः] यात्रको ! आप [तुपैः विविध्यष्वं] तुपोंको घूमकूँ । हम [समानान् सर्वांश्च श्रिया अति स्वाम] सब समान वनोंसे घनसे श्रेष्ठ बननेगे । और मैं [द्विषतः अजः पदं आपादयामि] शत्रुओंका स्थान नीचे करता हूँ ॥ १२ ॥

भाषार्थ- ये सोमका रथ निघण्टेवाले पत्थर हैं । इनसे सोमका रथ निकालो । जो सेना सेकर तुम्हारा नाश करना चाहते हैं उनका नाश कर और अपनी प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

यज्ञके लिये जो योग्य देव हैं उनको इस यज्ञमें बुजा । जिस विषयमें तुम्हारा प्रयत्न होगा उन वरोंको तुम प्राप्त होंगे और उषधे दयेष्ट समृद्धि मिलेगी ॥ १० ॥

यह जन्मभूमि है, यहाँ यज्ञमें सोमपान होता है, जो शत्रु तुमपर हमला करते हैं उनको पराल कर और धर्म वीरोंसे युक्त घन तुम्हें प्राप्त हो ॥ ११ ॥

जैसे तुपोंको वार फेंक देते हैं वैसे शत्रुओंको भगा दो, क्षत्रियोंके धनक्षयतिथे युक्त करो और शत्रुओंके दबा दो ॥ १२ ॥

परेहि नारि पुनरेहि स्त्रिप्रमुषां त्वां गोष्ठोऽध्यरुहृद् भराय ।
 तासां गृहीताद् यत्तमा यज्ञिया असन् विभाज्यं धीरीतरा जहीतात् ॥ १३ ॥
 एमा अंगुर्थोपितुः शुम्भमाना उचिष्ठ नारि तुवसे रभस्व ।
 सुपत्नी पत्यां प्रजयां प्रजावत्या त्वांऽऽगन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृमाय ॥ १४ ॥
 ऊर्जा भागो निहितो यः पुरा वृ श्रविप्रशिष्टाप आ भरेताः ।
 अयं यज्ञो गांनुभिन्नायवित् प्रजाविद्भ्यः पंज्राविद् धीरविद् वी अरत् ॥ १५ ॥
 अग्ने चरुर्षज्ञियस्त्राऽध्यरुहृच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम् ।
 आप्येया देवा अभिसृक्त्यं भागमिमं तपिष्ठा श्रुतुभिस्तपन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ— हे नारि ! [परा इति] दूर जा और [पुन श्रिमं परि] फिर शीघ्र जा आ [अपि गोष्ठः भराय एवा अग्नि अह-
 अत्] जलोका स्थान भरनेके लिये तेरे लिये तैयार है । [तासां यत्तमा यज्ञियाः असन्] इनमें जो पूजनीय किंवा यज्ञके
 लिये योग्य जल है, उनका [गृहीतात्] स्वीकार कर और [धीरी इतरा विभाज्य जहीतात्] बुद्धिसे इतरोंके पुष्क
 करके छोड़ दे ॥ १३ ॥

[इमा योपित शुम्भमाना आ अगु] ये स्त्रियों सुशोभित होकर यहाँ भागई हैं । हे नारि ! [उचिष्ठ तपस
 रभस्व] बड़ और बलसे प्राप्त हो । त [पत्या सुपत्नी] उत्तम पतिके साथ उत्तम पत्नी हो, [प्रजया प्रजावती] उत्तम
 सत्तासे प्रजावाली हो, [यज्ञ स्वा आ अगन्] यज्ञ तरे पाए पहुचा है, [कुम्भ प्रति गृमाय] घड़ेका ग्रहण कर ॥ १४ ॥

हे [भाय.] जलो ! [यः व ऊर्जा भाग. पुरा निहितः] जो भायका बलवान् भाग पहिले रखा गया है,
 [श्रविप्रशिष्टाः पता आमा] श्रविष्योकी आज्ञासे इसे भरकर ले आ । [अयं यज्ञ व] यह यज्ञ भायके लिये [गांनु-
 वित् मायवित् प्रजावित्] मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजाको देनेवाला, [अग्नः 'श्रुवित् धीरवित् अरत्] इतना देनेवाला,
 पशु देनेवाला, और धीर बढानेवाला होवे ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! [यज्ञियाः शुचि तपिष्ठ एव एवा अग्नि अरुहृत्] यज्ञके योग्य, पवित्र और तप सामर्थ्यसे युक्त जल
 तुम्हें प्राप्त हुआ है, अथः त [एनं तपसा तप] इसको अपनी उष्णतासे तपा । [आप्येयाः देवा तपिष्ठाः] नारियों और
 देवोंसे उत्पन्न तपनसामर्थ्य [इमं भाग अभिसृक्त्यं ऋतुभि तपन्तु] इस अन्नभागके पास जाकर ऋतुओंके अनुकूल
 तपावे ॥ १६ ॥

भावार्थ—स्त्री अपने घरकेपाव धव और घूमकर देल । अलहा स्थान जहाँ हो वहाँसे जल भर आवे । जो जल उत्तम
 हो वही ले आवे । अथ जल दूर रखे ॥ १३ ॥

श्रिया गुरा वज्राभूषणोषि सुशोभित रहें । श्रिया उत्तम पति प्राप्न करें, सुपुत्र उत्पन्न करें, धरका औषधें बढावें और उत्तम
 अक्षय घड़े भर रखें ॥ १४ ॥

जो जल उत्तम बल बढानेवाला हो वही लाया आवे । घर घरमें यज्ञन होता रहे । यही मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, सुप्रजाकी
 उत्पत्ति करनेवाला, जल बढानेवाला, पशुओंकी वृद्धि करनेवाला, धीरभाव बढानेवाला है ॥ १५ ॥

यह अन्न पवित्र निर्मल और तेजसिता बढानेवाला है, यह अन्न देवताओंकी अर्पण किया जावे और इसके अंगठिल होकर
 अपना तपःप्रभाव बढावें ॥ १६ ॥

शुद्धाः पूता योषितौ यज्ञिया इमा आपश्चरुमवं सर्पन्तु शुभ्राः ।
 अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्षीदुनस्य सुकृतमितु लोकात् ॥ १७ ॥
 अक्षया शुद्धा उव पूता घृतेन सोमस्यांश्वस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।
 अपः प्र विंशतु प्रति गृह्णातु वक्षरारिमं पक्त्वा सुकृतमितु लोकात् ॥ १८ ॥
 उरुः प्रयस्य महता मंहिन्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।
 पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्त्वा पञ्चदशस्तं अस्मि ॥ १९ ॥
 सहस्रपृष्ठः श्रुतवारो अक्षितो ब्रह्मोपुनो देवयानः स्वर्गः ।
 अमृन्सु आ देधामि प्रजयां रेपयैनान् बलिहाराय मृदतान्मर्षमेव ॥ २० ॥ (२)
 उदेहि वेदिं प्रजयां वर्षयैनां नुदस्व रवंः प्रतरं धेक्षनाम् ।
 श्रिया संमानानति सर्वान्त्स्यामाघस्पदं द्विपुतर्पादयामि ॥ २१ ॥

अर्थ—[हनाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः] ये शुद्ध पवित्र और पूवनीय स्त्रियाँ [शुभ्राः मायः अदुः अथर्वपन्तु] और स्वच्छ जल इस अक्षके पास आजाये । [नः प्रजां बहुलान् पशून् अदुः] हमें संतान और उत्तम पशु देवें । [सोदुनस्य पक्त्वा सुकृतौ लोके पतु] अक्षका पकानेवाला पुण्यलोकको प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[अक्षया शुद्धाः उव पूतेन पूताः] ज्ञानसे पवित्र और जलसे या भीसे पुनीत हुए [सोमस्य अंशवः तण्डुलाः] ये सोमके भाग जैसे चावल हैं । हे [मायः] जलो ! [प्रविंशतु] तुम अन्दर प्रविष्ट हो जाओ, [वः अदुः प्रति गृह्णातु] तुम्हें यह भक्षण प्राप्त हो, (हमें पक्त्वा सुकृतौ लोके पतु) हमको पकाकर पुण्यवानोंके लोकको जाओ ॥ १८ ॥

[उरुः महता मंहिन्ना प्रयस्य] बड़ा होकर बड़े महत्त्वके साथ फँक जा । [सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके] हजारों पीठवाला होकर पुण्य लोकमें विराज । [पितामहाः पितरः प्रजाः उपजाः] पितामह, पिता, संतान और उनकी संतानें ऐसा बन चले । [अदुः पक्त्वा पञ्चदशः अस्मि] मैं पकानेवाला पञ्चदशों हों ॥ १९ ॥

(सहस्रपृष्ठः श्रुतवारो अक्षितः) हजारों पीठवाला सैकड़ों चारोंवाला अक्षय [ब्रह्मोपुनो देवयानः स्वर्गः] ज्ञान ब्रह्मनेवाले अक्षसे प्राप्त होनेवाला देवयान स्वर्ग है । [ते अमृन् आदयामि] तैरे लिये इनको मैं धारण करता हूँ । [पतान् प्रजयां बलिहाराय रेषय] इनको संतानके साथ कर देनेके लिये सिद्ध कर । ये सब [मर्षं एव मृदतान्] मुझे ही सुला करे । २०

[उदेहि वेदिं] वेदिको उडाओ, [पूर्तां प्रजयां वर्षय] इसकी प्रजासे बरकति कर । [रवंः नुदस्व] शत्रुओंको मगा दो, [पूर्तां प्रतरं धेहि] इनको विनाश रीतिसे धारण कर । [समानान् सर्वान् श्रिया अति स्वाम] सब समानोंसे धनसे अधिक हम हों । [श्रियाः अघः पदं पादयामि] शत्रुओंको नीचे गिराता हूँ ॥ २१ ॥

मावार्थ—ये स्त्रियाँ शुद्ध और पवित्र संमानके लिये योग्य हैं, ये उत्तम अन्न तैयार करें । हमें उत्तम संतान और बहुत पशु प्राप्त हों । उत्तम अक्षका प्रदान करनेवाला पुण्यलोक प्राप्त हो ॥ १७ ॥

यह चावल पवित्र और उत्तम है, जल उनके साथ मिले । सब मिलकर पकाया जाये । सब लोग इससे आनंद प्राप्त करें । बड़ा महत्त्वका स्थान प्राप्त कर और पुण्यलोकमें विराजमान हो । पितामह, पिता पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदिकमसे अक्षर भंडका विदार होता रहे । हरएकको अपने पशु वंशपुत्रोंका ज्ञान हो और वह कहे कि मैं फलानेसे परे हूँ ॥ १९ ॥

यह अक्षही स्वर्ग है इस अक्षसे इस वषट्का धारण पोषण होता रहे । ये सब सुखकी शक्ति करें और उनका संतान अर्थात् कर देनेवाली वरि बने ॥ २० ॥

पशु करो, प्रजाही वृद्धि करो, शत्रुओंको धु मगाओ, शत्रुओंको धारण करो, स्वजातियोंको धनसे समृद्ध करके उनसे भी अधिक बन जाओ और शत्रुओंको दबा दो ॥ २१ ॥

अम्भ्यार्वर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङ्गेनां देवताभिः सहैधि ।
 मा त्वा प्रापच्छुपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज ॥ २२ ॥
 ऋतेन त्वष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मोद्गनस्य विहिता वेदिरत्रे ।
 अमुद्रां शुद्धाशुपं घेहि नारि तत्रोद्गनं सादय देवानाम् ॥ २३ ॥
 आदिनेहस्तां सुचमेतां द्वितीयां सप्तऋष्यां भूतकृते यामकृष्वन् ।
 सा गात्राणि विदुष्योद्गनस्य दर्विवेद्यामध्वेन चिनोतु ॥ २४ ॥
 शूतं त्वा ह्वयमुपं सीदन्तु देवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद ।
 सोमं पृतो जठरे सीद ब्रह्मणामोपेयास्ते मा रिपन् प्राशितारः ॥ २५ ॥
 सोमं राजन्तसंज्ञान्मा वर्षेभ्यः सुब्राह्मणा यत्मे त्वोपमीदान् ।
 ऋषीं ओपेयास्तपोऽधि जातान् ब्रह्मोद्गने सुहवा जोहवीमि ॥ २६ ॥

अर्थ—[एष पशुभि सह अभि भावर्तस्व] हम स्त्रीको पशुओंके साथ पास हो। और [एनां देवताभिः सह प्रत्यङ्घ्रि]
 इस स्त्रीको देवताओंके साथ प्रत्यक्ष मिले। [एषा रापयः मा प्रापन्] तुझे शाय न मिले। [अभिचारः मा] वध न प्राप्त
 हो। [स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज] अपना भूमिमें नारीग होकर प्रकाशित हो ॥ २२ ॥

[ऋतेन त्वष्टा] सत्यसे बनाई, [मनसा हिता] मनसे शस्त्रों, [एषा मद्र-ओद्गनस्य वेदिः] यह ज्ञान बढ़ानेवाले
 अष्टमी वेदी [अग्ने विहिता] आग्ने बनाई है। हे नारि ! [शुद्धां अंसरी उपपेहि] शुद्ध धातुको ऊपर रख, और [तत्र-
 देवानां ओद्गनं सादय] वहाँ देवोंका अन्न तैयार कर ॥ २३ ॥

[भूतकृतेः सप्तऋषयः] भूतमात्रको बनानेवाले सात ऋषियोंने [अग्निनेः हस्तां वा एतां द्वितीयां सुभं
 कृष्वन्] अग्निनिभासाका दूसरा हाथ जैसा यह समन बनाया है। [सा दर्विः ओद्गनस्य गात्राणि विदुषी] वह कड़वी
 अन्नके भागोंको जानती हुई [एनं वेदां आप चिनोतु] इसको वेदीके मध्यमें रखे ॥ २४ ॥

[एषा शूनं ह्वय देवाः उप सीदन्तु] तैयार हुए अन्नके पास देव आ बैठे। [अग्ने निःसृप्य पुनः पुनान् प्रसीद]
 अग्निसे चमकर फिर इन देवोंको प्रसन्न कर। [सोमं पृतः ब्रह्मणा जठरे सीद] सोमसे पवित्र होकर ज्ञानियोंके पेटमें जा,
 [व प्राशितारः ओपेयाः मा रिपन्] तेरा प्राशन करनेवाले ऋषियुक्त दुःखों न हों ॥ २५ ॥

हे [सोम राजन्] राजा सोम ! [यत्मे सुब्राह्मणः एवा उरसीदन्] जो उत्तम ब्राह्मण ठेरे पास आ बैठेंगे, [एषः
 संज्ञानं भावद्] इनको उत्तम ज्ञान दे। [तपसः अविजातान् ओपेयान् ऋषीन्] तपसे उष्ण ऋषियुक्त ऋषियोंको [ब्रह्मो-
 द्गने सुहवा जो हवीमि] ज्ञान बढ़ानेवाले अन्नमें उत्तम बुलाने घोड़ोंकी मी सुगाता हूँ ॥ २६ ॥

मावार्थ-देवता और मी आदि पशुओंके साथ स्त्रीको सुरक्षित रखो, शाय तुम कष्ट न दें। वधसे तुम्हें दुःख न हो, अपनी
 मातृभूमिमें नारीग होकर विराजते रहे ॥ २२ ॥

सत्यसे निर्मित, मनसे सुरक्षित, यह अन्नका स्थान है। यह अन्न शुद्ध पात्रमें रख और देवोंको अर्पण कर ॥ २३ ॥
 जगत् बतनेवाले सप्तऋषियोंने यह कड़वी निर्माण की है। इस कड़वीसे बरबोर अन्न लेकर वेदोंपर रख ॥ २४ ॥
 अन्न तैयार करके देवताओंको समर्पण कर, तससे वे प्रसन्न हों, अग्निके साथ अन्न ब्राह्मण खावें और जानेवाले पुष्ट हों ॥ २५ ॥
 जो उत्तम ब्राह्मण हों, उनको सोम और अन्न दिया जावे। तप करनेवाले ऋषियोंको साक्षात् उत्तम अन्नसे किया
 जावे ॥ २६ ॥

शुद्धाः पुता योषितो यद्विया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।

यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्स ददादिदं मे

॥ २७ ॥

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्कं क्षेत्रात् कामदुघा म एषा ।

इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृष्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः

॥ २८ ॥

अग्रौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्पूकां अपं मृद्वि दूरम् ।

एतं शुश्रुम गृहाराजस्य भागमथो विश्वं निर्ऋतेर्भागधेयम्

॥ २९ ॥

धाम्यतः पचतो विद्वि मुन्वतः पन्थां स्वर्गमार्थं रोहयैनम् ।

येन रोहात् परमापद्य यद् वयं उत्तमं नाकं परमं व्योम

॥ ३० ॥ (३)

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृद्व्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्मान् ।

धृतेन गात्रानु सर्वा वि मृद्वि कृष्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः

॥ ३१ ॥

अर्थ- [इमाः शुद्धाः पुताः योषिताः योषिताः] ये शुद्ध और पवित्र स्त्रियां यज्ञके योग्य हैं । इनको [ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् प्रसादयामि] ब्राह्मणोंके हाथोंमें अलग अलग अर्पण करता हूँ । [यत्कामः इदं मे इदं अभिषिञ्चामि] जिस कामनासे मैं तुम देवताओंके उद्देश्यसे यह देता हूँ, [मरुत्वान्सः इन्द्रः मे इदं ददात्] मरुतोंके साथ रहनेवाला यह इन्द्र मुझे यह देवे ॥ २७ ॥

[इदं हिरण्यं मे क्षेत्रात् पक्कं अमृतं ज्योतिः] यह सुवर्ण मेरे क्षेत्रसे पका हुआ अमर तेजही है । [एषा मे कामदुघा] यह मेरी इच्छाके अनुसार तुम्ही जानेवाली गौ है । [ब्राह्मणेषु इदं धनं निदधे] ब्राह्मणोंको यह धन देता हूँ [यः स्वर्गः पन्थां पितृषु कृष्वे] जो स्वर्गका मार्ग दे उसे मैं पितृगणोंके लिये बनाता हूँ ॥ २८ ॥

[जातवेदसि अग्रौ तुषाना वप] जातवेदअग्निमें तुम्हेंको बाळ, [कम्पूकान् धूरं अमृद्वि] जिहकोंको दूर फेंक दो, [एतं गृहाराजस्य भागं शुश्रुम] यह श्रेष्ठ गृहस्थके घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं । [अथो निर्ऋतेः भागधेयं विश्वं] इनसे विपरीत अथोगणिका भाग है ऐसा हम समझते हैं ॥ २९ ॥

[अथयतः पचतः सुन्वतः विद्वि] परिश्रमी, अन्न पकानेवाले और औषधिस निकालनेवालोंको दू जान । [एतं स्वर्गं पन्थां अविरोहय] इसको स्वर्गके मार्गपर चलाओ । यह [येन परं वयः आपद्य] जिससे परम आयुकी प्राप्ति होकर [उत्तमं नाकं परमं व्योम रोहात्] उत्तम स्वर्गके परम आकाशपर जा पहुँचे ॥ ३० ॥

हे अध्वर्यु ! [बभ्रेः एतत् मुखं विमृद्वि] इस बदनका यह मुख स्वच्छ कर । [प्रविद्मान् भाग्याय लोकं कृणुहि] जानता हुआ धीके लिये स्थान बना । [धृतेन सर्वा गात्रा विमृद्वि] धीसे सब गात्र स्वच्छ कर । [यः स्वर्गः पन्थां पितृषु कृष्वे] जो स्वर्गका मार्ग है उसको मैं पितृगणोंके लिये करता हूँ ॥ ३१ ॥

मात्राये-शुद्ध पवित्र समानयोग्य स्त्रियोंको ब्राह्मणोंके हाथमें अलग अलग दिया जाय । अर्थात् एक एक ब्रह्मण एक एक स्त्रीका पाणिपदम करे । जो जिसकी इच्छा हो वह उसकी पूर्ण हो ॥ २७ ॥

यह सुवर्ण दे और यह खेतमें पका हुआ उत्तम घन्व है । यह मैं ब्राह्मणोंको देता हूँ । यह स्वर्गकाही मार्ग है ॥ २८ ॥

अग्निमें तुम्हेंको रख और छिलकोंको दूर फेंक । शेष उत्तम धान्य घरका राजा है, उसको सुरक्षित रख । अन्यथा विनाशका घनव प्राप्त होगा ॥ २९ ॥

परिश्रम करो, अन्न पकाओ, औषधियोंका रस निकालो, इससे स्वर्गमुख मिलेगा, आयु बढ़ेगी और श्रेष्ठ आनंद प्राप्त होगा ३० बदन स्वच्छ करके उसमें धी भरकर रखो । धीसे सब गात्र स्वच्छ होकर उत्तम सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

वभ्रे रक्षः समद्रमा वपैभ्योऽब्राह्मणा य मे त्वोपसीदान् ।

पूरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादाप्येयास्ते मा रिपन् प्राशितारः

॥ ३२ ॥

आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र ।

अग्निं गोप्तां मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्षम्

॥ ३३ ॥

यज्ञं दुहानं सदुमित् प्रपीनं पुषांसं धेनुं सदनं रयीणाम् ।

प्रजामृतत्वमृत दीर्घमायूं रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम

॥ ३४ ॥

वृषमोसि स्वर्गं अपीनार्षेयान् गच्छ । सुकृतां लोके सीद तत्र नो संस्कृतम्

॥ ३५ ॥

समाचीनुष्वानुसंप्रयाक्षमे पथः कल्पय देवयानान् ।

एतैः सुकृतेरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तर्शमौ

॥ ३६ ॥

येन देवा ज्योतिषा धामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम् ।

तेन गेम् सुकृतस्य लोकं स्वृशिरोहन्तो अभि नार्कमुत्तमम्

॥ ३७ ॥ (४)

अर्थ- हे [वभ्रे] बर्तन [यत्नमें ब्राह्मणा, त्वा उपसीदान्] जो ब्राह्मण तेरे पास आकर बैठते हैं [पश्य, स-मर्षं रक्षां जावप] इन सबसे धमरवाले राक्षसोंको भी दूर कर । [ते प्राशितारः पूरीषिणः] तेरेसे प्राशन करनेवाले अन्नवाले [प्रथमाना, आर्षेयेयाः पुरस्तात् मा रिपन्] पुरस्तादी ऋषियुत्र कभी न नष्ट हों ॥ ३२ ॥

हे [ओदन अन्न] ! [आर्षेयेषु त्वा निदधे] ऋषियुत्रोंमें तुम्हें रखता हू । [नानार्षेयाणां अपि अन्न न अरित] जो ऋषिसंघान नहीं हैं उनका भाग यहाँ नहीं है । [मे गोप्तां अभि] मेरी रक्षा करनेवाला अभि है । [सर्वे मरुत विश्वे देवाः च पक्वं अभि रक्षन्तु] सब मरुत और सब देव हृष परिपक्वकी रक्षा करें ॥ ३३ ॥

(यज्ञं दुहानं प्रपीनं सदे हत्) पश करनेवाला सदा समृद्धः (रयीणां सदनं धेनु) सपत्निका पर प्येती गौ है । (त्वा पुषांसं) शुभ पुशके पास (पोषे प्रजामृतत्वमं उत दीर्घं आयुः) पुष्टिसे प्रजाकी पुष्टि और उनकी दीर्घ आयु (राय, च उप सदेम) और धन केकर आते हैं ॥ ३४ ॥

(वृषमः अग्नि) गू पकवान् हे, न (स्वर्गं अभि) सुखदायक है । (आर्षेयान् ऋषीन् गच्छ) ऋषियुत्रों और ऋषियोंके पास जा, (सुकृतां लोके सीद) पुण्यवानोंके स्थानमें रह । (तत्र नो संस्कृतं) वह हम दोनोंका सुसंस्कृत कर्म फल रहे ॥ ३५ ॥ हे अग्ने ! (सं आ चिनुष्व) सगठन कर, (अनुसंप्रयाहि) अनुकूलताके साथ मिलकर जा । (देवयानान् पथः कल्पय) देवोंके जानेयोग्य मार्गोंको तैयार कर । (एतैः सुकृते सप्तर्शमौ नाके तिष्ठन्तं) इन पुण्यकर्मोंके साथ साथ किरणोंवाले स्वर्गस्थानमें रहनेवाले (यज्ञं अनुगच्छेम) यज्ञके अनुकूल होकर जायेंगे ॥ ३६ ॥

[येन ज्योतिषा देवा, सा उदायन्] निम्न ज्योतिसे देव स्वर्गको पहुँचें, (ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकं) शाप बदलनेवाला अन्न पकाकर पुण्यलोकको प्राप्त हुए [येन स्व-आरोहन्त] उससे स्वर्गपर चढ़ते हुए (उत्तमं मार्कं सुकृतस्य लोकं) उत्तम सुखमय पुण्यलोकको (गेम्) प्राप्त हो ॥ ३७ ॥

भाष्यार्थ- जो ब्राह्मण आवेगे उनसे शत्रुओंको दूर भगा दो । उन ब्राह्मणोंको अन्न समर्पण करो, विशेष से पुष्ट हों ॥ ३२ ॥ ब्राह्मणोंको अन्न दो, यहाँ दूसरोंका काम नहीं है । इससे सबकी रक्षा होगी ॥ ३३ ॥

गौ सब चर्षितियोंका घर है, इससे प्रजाकी पुष्टि और दीर्घायु करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

पकवान् बनो, स्वर्ग प्राप्त करो, ऋषियोंके पीछे चलो, पुण्यलोक प्राप्त करो और अपने आपको सुसंस्कृत करो ॥ ३५ ॥

सगठन करो, अनुकूल बनो, देवमार्गोंसे जाओ, सुकृत करो, स्वर्गकिरणोंके स्थानमें रहो, यज्ञ करो, यही सुखदायक मार्ग है ॥ ३६ ॥ तेलके झाप पुण्यलोक प्राप्त करो, स्वर्गपर चढ़ो, इसीसे कल्याण प्राप्त होगा ॥ ३७ ॥

ज्ञान बढ़ानेवाला अन्न ।

मनुष्य का अर्थ ज्ञान है और भोदनका अर्थ अन्न है। विशेषतः चावलोंका पका अन्न भोदन है। मनुष्यकी ज्ञानशक्तिकी वृद्धि करनेवाला यह अन्न है, इस कारण इसको प्रसिद्धि देने हैं। चावलोंके साथ उत्तम जल उत्तम दूध, सोमादि औषधियोंका रस मिश्रित करके यह अन्न बनता है। बुद्धिवर्धक औषधियोंके रस इसमें संमिश्रित होते हैं, इससे ज्ञानकी वृद्धि और दीर्घ आयुकी प्राप्ति होकर पुष्टिभी मिलती है। गृहस्थियोंके लिये यह अन्न अत्यन्त उत्तम है, क्योंकि इससे दीर्घकी वृद्धि होनेके कारण गृहस्थसूत्रकी प्राप्ति करनेवाला यह अन्न है।

गृहस्थियोंको सुप्रजा निर्माण करनेका मुख्य कार्य होता है। उसके लिये जिनको " सुप्रकामा अदिति " का आदर्श पालन करना चाहिये। सुप्रज उत्पन्न करनेकी इच्छा धारण करके तदनुसार दीनताके सब भाव दृष्टाना चाहिये। घरमें और अपने राज्यमें अदान होकर विराजना चाहिये। अदितिका आदर्श संपूर्ण आर्य-द्वियोंके संयुक्त है। उसमें केवल संपुत्रोंकी ही कामना है। उनके कल्याणके लिये जो अन्न खाना चाहिये वही अन्न वह खाती है, वही अन्न पकाती है। अपने पुत्रोंके कल्याणके लिये ही वह सुयोग्य अन्न पकाती है। सुपुत्रोंके ज्ञानकी वृद्धि हो, उनकी वृद्धि विकसित हो पतदर्थ वह पयात् परिश्रम करता है। यही आदर्श आर्यद्वियोंको अपने सामने रखना चाहिये।

सात ऋषि इस संपूर्ण विश्वकी रचना करते हैं, सात ऋषि आकाशमें हैं, उनमें सात तत्त्व प्रधान हैं, जिनके मेलसे सब जगत् बनता है। सात ऋषि प्राणादि तत्त्वोंके वाचक हैं जो सब विश्वके निर्माता सुप्रसिद्ध हैं। इनकी प्रसन्नतासे संतानकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है। यह एक महत्त्वका विशान है। इन सात ऋषियोंका वर्णन इस सूक्तमें अनेक बार आ गया है। अतः इसकी खोज करके निश्चय करना चाहिये कि ये विश्वकी रचना कैसे करते हैं।

द्विती मंत्रमें कहा है कि पहले लिये अग्नि प्रदीप्त करो, प्रोद्दग्धित भावण करो। यह वायव्य है और दूसरा दहनवक्ष है। इन दोनों बर्षोंसे मानवोंकी उत्पत्ति होती है। प्रोद्दग्धन करना

ही पश्चात्तरी यह है। इन सब प्रकारके यज्ञोंसे सुपुत्र ऐसे बनेंगे कि जो [सुतनापाद् सुवीरः] समरमें विजय करनेवाले और उत्तम वीर हों। जो अपने शत्रुओंको परास्त कर सकते हैं।

शत्रुओंको परास्त करना ।

अपने शत्रुओंको परास्त करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य इस संसारमें है। जिसके बिना मनुष्य क्षणमात्र जीवित रह नहीं सकता। मनुष्यके शत्रु आध्यात्मिक, बौद्धिक, मानसिक, पारो-रिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें होते हैं। उन सबको परास्त करनेसे ही मनुष्य उन्नत हो सकता है। इष्टस्थित वेद यहाँ शत्रुनेर्दलनपर इतना जोर दे रहा है। पाठक इसका विचार करें, और शत्रुको परास्त करनेका महत्त्व जानें।

तीसरे मंत्रमें कहा है (महते वीर्याय अन्ननिष्ठाः) मनुष्य बड़ा पुष्ट्यार्थ करनेके लिये यद्यो उत्पन्न हुआ है। पुष्ट्यार्थ करके अपने सब शत्रुओंको दूर भगा देवे। और (सर्ववीरं रथि) सब प्रकारके वीरताके भावोंसे युक्त धन प्राप्त करे। यहाँ वेदका महत्त्व इस बातमें है कि वह केवल धन कमानेको नहीं कहता, परंतु धनके साथ वीरत्वको प्राप्त करेगी भी कहता है, क्योंकि वीरताके बिना धनकी रक्षा नहीं हो सकती। अतः जिस धनके साथ वीरता न होगी वह धन रिश्चर नहीं रह सकेगा।

आगे चतुर्थ मंत्रमें कहते हैं कि पहले योग्य देवोंको दत्तमें शुलाओ। यहाँ सहायकोंको और सम्मान्योंको बुलाने तथा अपने पास करनेकी सूचना मिलती है। जो सहायता करनेवाले नहीं हैं उनको बुलाना नहीं है। अथ (सातमो देवान् निषेध । अथ वै. ३ । १५ । ५) लामका नाश करनेवाले देवोंका निषेध करनेको कहा है। इससे भी सहायकोंको पास करने और विरोधकोंको दूर करनेकी सूचना मिलती है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि अन्नमें देवों, पितरों और मानवोंका भाग होता है। वह जिसका उसको देना मनुष्यका कर्तव्य है। एकका भाग दूसरेका लेना उचित नहीं, वही अग्न्याय और अघर्म है। मनुष्य अपने अन्नमेंसे इनका भाग उनको देवे और पश्चात्तरी शेषका स्वयं भोग करे।

वृद्ध मंत्रका कथन है कि मनुष्य (सदृश बन्धु) बनवान बने, मरणात् बने, [आत्मिन्] मनुष्यका परामर्श करनेवाला बने । अर्थात् [परानतन नीचाः मनुष्य] मनुष्योंकी नीचे दबाकर रखे, तनकी उठने न दे, इतनाही नहीं परंतु उनको [शान्द] बरामार देनेवाले बनवे । अर्थात् जो पहले शत्रुता करते थे अब इसकी कर देनेवाले बने । इतनी शक्ति इसकी अपने अंदर बशानी चाहिये।

उत्तम मंत्रम [महते वीर्याय] बड़ा पराक्रम करनेके लिये फिर सूचना दी है । तृतीय मंत्रमें वहा बात बही थी, वह फिर वहां दुहराई है । क्योंकि मानवी जीवनमें पर कर्मका स्थान बड़ाही ऊंचा है । [परसा] दूध पीकर बनवान बनना और बड़ा पराक्रम करना इत्यादी उचित है । इसी तरह स्वर्गलोकका मार्ग खुल जाता है ।

आगेके तीन मंत्रोंमें पराशरोंका सोमरस निःशरनेका वर्णन है । यह सोमरस सब प्रकारमें मनुष्योंका रक्षाकर बढानेवाला और तरसाइ बढानेवाला है । वहां मंत्रमें इसका इतना करके सब लोग इनका पान करते हैं । वह मस विदा जग है, दूधके साथ मिलाकर पीते हैं और मुने आटेके साथ मिलाकर भी खाते हैं । अनेक रीतिये इस रसका सेवन किया जा सकता है ।

शूरपुत्रा स्त्री ।

शूरहर्षे मंत्रमें अर्धश्री स्त्री ' शूरपुत्रा ' होती है, ऐसा कहा है । क्रियाका वह बात स्मरण रखनी चाहिये । पुत्र बने शूर होने चाहिये । मीठ और करनेवाले नहीं होने चाहिये । गृहस्थियोंकी इस बातका ध्यान रखना चाहिये । क्योंकि [सर्ववीर एव] सब वीरताके गुणोंके साथ घन प्राप्त करना गृहस्थीका धर्म है । वीर पुत्र होनेपरही सर्ववीर सुक घन प्राप्त होना संभव हो सकता है ।

शूरहर्षे मंत्रमें दो मंत्रमार्ग सुच्य है । [भ्रिया सर्वाञ् अनिदाम] शैवलिसे सबसे बढकर हों और [द्रियतेः पद क्षयः क्षयाः क्षयि] मनुष्योंका स्थान नीचे करता हूँ । आगे २२ वे मंत्रमें भी यही कहा है । संसारी मनुष्योंका यही उपदेश सदा ध्यानमें धारण करने चाहिये । हरएक समय यही मार्ग मनुष्योंको अपने सम्मुख रखना चाहिये ।

सिप्योका कर्तव्य ।

परमें पानी मरणा प्रथम करनेव्य है । उत्तमसे उत्तम पानी परमें मरना चाहिये । यहा केहर जलन जल मरनेका दान

की को, क्रिया मिलकर पानी मरनेके लिये जाय । उत्तम जल परमें मरना यह (वः ऊरुः मागः) बल देनेवाला मार्ग है । संजान, पराशरके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता होती है । यह उपदेश मंत्र ११ तक दिया है ।

सोमहर्षे मंत्रमें (परः) चावल आदि अन्न पकनेकी आवश्यकता करनेका उत्तम उपदेश है । (मनुष्यः) मनुष्यके अनुकूल अन्न तैयार किया जाय । जिसका सेवन करके सब आहुतके लोग सुरह और दीर्घायु बने ।

शूरहर्षे मंत्रमें कहा है कि क्रिया मनुष्य, पवित्र और सुंदर वस्त्र आभूषणदिमें सुक होकर परमें पानी लवे और लक्ष पक्षियों, दहमें उपवेशन हो, सत्का आभिरसंस्कार को, पराशर और संन मोंकी तृण करे और परकी सब सुधवसदा करे । किसी तरह न्यूनता रहने न दे ।

अशूरहर्षे मंत्रमें चावल, पी, सोमरस आदिसे जलन पकर अन्न तैयार करनेका उपदेश है । उतान अन्न पकाना क्रियाका सुचय एहहृत्पदी है ।

सभीसर्वे मंत्रमें कहा है कि विद्यामय, विद्या, पुत्र आदि १५ पुत्रपौत्रक अविच्छिन्न संत हो । परमें ऐसा खानपान रहना चाहिये और ऐसी सुधवसदा होनी चाहिये कि, बंध वीचमें न टूटे, पुत्रप वीर्षयु हों और अदूर बंध हो । पंद्रह पुत्रपौत्रक कर्मसे कम बंध अदूर रहे, आगे जितना रहेगा उतना अच्छाही है, परंतु कर्मसे कम इतना तो अवश्य रहे । यह सब इन्द्रोदन अर्थात् ज्ञान बढानेवाले अक्षय होता है । इन्द्रोदनका अर्थ सुद्विषयक अन्न है । इससे बुद्धि बढती है और बुद्धिसे वह सोचा मार्ग दीखता है । इससे मनुष्य (रक्षः सुररव) रामुमोंके दूर कर सकता है और अपने आपसे काम बढा सकता है ।

आगे आहिसर्वे मंत्रमें कहा है कि (शरयः क्षमिचाः मा प्रा- पत्) शायी और हुनलने यह दूर रहे । शर्यामें गम न हो । सब प्रकारसे कुशलता रहे । पठक जान सकते हैं कि शर्याकी नीरोगिता शरीर सुद रहनेसे होती है । बाणीकी नीरोगिता शान गांसों आदिन होनेसे होती है और समाजकी नीरोगिता बर्षादि- के अभाव न होनेसे हो सकता है । शरार, बाणी और समाज निरोग रहने चाहिये । यदि यह इच्छा है तो सर्वत्र निर्दोषता रखनी चाहिये । कुप्रत्यक्ष शर्यामें रोग होते हैं, अत्यंत ही बनी रोगी होता है और अत्यंत ही दुःखिये समाज रोगी होता है ।

पाठकोंको क्वचित है कि वे अपने इन सब क्षेत्रोंमें स्वास्थ्य रखने का यत्न करें ।

तेईसवें मंत्रमें चावल आदि अन्न तैयार होनेपर उसको परोसनेकी विधि बताया है । चौबीसवें मंत्रमें कच्चीका उपयोग करके चावलको ठीक करनेको कहा है । पचासवें मंत्रमें कहा है कि—

प्राशुतारः सा रिपन् ।

अन्न मक्षण करनेवाले क्रुश या रोगी न हों । अन्न ऐसा उत्तम हो कि जिससे खानेवाले तृप्त होकर पुष्ट होते जाय । पकाने-कालका बही चातुर्य है कि खानेवाले उसे आनन्दसे खाय और हजम करें और पुष्ट हों । ऐसा अन्न पकाकर उत्तम विद्वानोंको खिलाया चाहिये । यह सूचना २६ वें मंत्रमें कही है ।

विवाह ।

सत्ताईसवें मंत्रमें विवाहका विषय संक्षेपसे कहा है । श्रियां (शुद्धाः पूताः योषितः शशियाः) शुद्ध, पवित्र और पूज्य हैं, यह वाक्य यहाँ बहुतही महत्त्व रखता है । श्रियाँकी निर्दिष्ट नहीं करनी चाहिये, उनकी घर घरमें पूजा होनी चाहिये । जहाँ इनकी पूजा होगी वहाँ पवित्रता रहेगी और पवित्रतासे उन्नता साम्य होगी । यह वर्गन श्रियाँका दर्जा समाजमें कैसा उच्च है, इसका स्पष्ट निर्देश कर रहा है ।

इन श्रियाँका विवाह शानियोंके साथ करना चाहिये । (म-ध्यां हृद्येषु प्र पृथक्छादयामि) शानियोंके हाथमें प्रथक् प्रथक् एक एकके हाथमें एक एकछो देना योग्य है । एक पुरुष अनेक श्रियां न करें, एकछो अनेक पुरुषोंके साथ संबंध न करे । एक छी एकछी पुरुषके साथ रममाण हो और एक पुरुष एकछी छीके साथ आनन्दके साथ रहे । यह आदेश गृहस्थाश्रमका वर्गन यहाँ अति संक्षेपके साथ किया है । इस मंत्रका 'पृथक्' शब्द बड़ा महत्त्व है । इसी शब्दके कारण विवाहका नियम स्पष्ट हो जाता है ।

आगे अठ्ठाईसवें मंत्रमें गृहस्थाश्रममें 'कामधेनु' (काम-धुपा) रखनी चाहिये यह आदेश है । घर घरमें गौका पालन होना चाहिये । कामधेनु वह है कि जो इच्छा होनेके समय दूध देती है । पत्तें छोटे बालक, बूढ़ और रोगी हों, उनका पालन इस गौके दूधसे होगा । इस गौमाताका यह महत्त्व है ।

गृहस्थियोंको तीन बातोंका खयाल करना चाहिये । (उद्योतिः अमृतं हिरण्यं) तेजस्वी जीवन, अमरत्व और सुवर्ण । सुवर्ण अर्थात् सोनेका महत्त्व हर एक जानता है, गृहस्थीके हर एक व्यवहारमें इसका काम पड़ता है । सबही दैनिक और सार्वकालिक व्यवहार धनसे साध होते हैं । अमृत नाम मोक्ष है, यही अमरत्व है । सब जगत् मृत्युसे घरा गया है । उस मृत्युके पाशको तोड़कर अमरत्व प्राप्त करना मनुष्यका जीवनोद्देश्य है । सब धर्म कर्म इसी उद्देश्यसे किये जाते हैं । इसी तरह तेजस्वी जीवन यही व्यतीत करना चाहिये । इसी तरह (स्वर्गः पन्थाः कृण्वे) स्वर्गमें मार्ग बनता है । स्वर्ग मार्गके ये तीन पदछह हैं । धन यहाँके सुखके लिये चाहिये, तेजस्वी जीवन यहाँके सम्मानके लिये चाहिये और अमरपन पारमार्थिक उन्नतिके लिये चाहिये । स्वर्गका यह स्वरूप यहाँ पाठक देखें ।

गृहराज ।

सत्तासवें मंत्रमें 'गृहराजस्य भागं' गृहराजके कार्यमा-यका वर्णन है । गृहराज घरका स्वामी है, अथवा घरोंमें जो श्रेष्ठ घर है उसमें भोजन का कार्य होना चाहिये । तुषों और छिलकोंको अलग करके स्वच्छ चावलको अपने पास रखना चाहिये । यही नियम सर्व व्यवहारोंको करनेके समय ध्यानमें रखना चाहिये । छिलकोंको दटना और सारदृश्यको अपने पास रखना चाहिये । पाठक जिस व्यवहारमें देखेंगे उस व्यवहारमें उत्तम शिक्षा यही पृथमात्र नियम है । पढाईमें भी देखिये तत्त्वज्ञानको स्वीकारना चाहिये, कच्चे प्रयोगोंको दूर हटाना चाहिये । एक भाग निर्जडतिका अथवा नाशका होता है और दूसरा उन्नतिके भागका होता है । विनाश करनेवाले भागको दूर करो और उन्नतिके भागको अपने पास रखो, यही सीधा सादा नियम है । जो दूसरी पदके वे उत्पत्त होंगे इसमें संदेहही नहीं है ।

(धाम्यतः, पचतः, सुवतः विद्धि) परिश्रम करनेवाले, पकानेवाले और रस निकालनेवाले कौन हैं, दूसरे जानी । परिश्रम करनेसेही मानवोंकी उत्पत्ति होती है, अतः परिश्रम करनेका स्वभाव मनुष्यको अपनाना चाहिये, परिश्रम बनाना भी चाहिये । हर एककी परिश्रम अदृश्या उत्तम होती है, वहाँ प्राप्त करनी चाहिये, तथा रसमहण करनेका यत्न करना चाहिये । वनस्पतिमें सारभूत रस होता है, उस सारभूत रसका ग्रहण करना चाहिये और अवशिष्ट साररहित भागको फेंक देना चाहिये । यह उपदेश व्यापक

दृष्टिसे विशेषी उपयोगी है । स्वर्गपर चढ़नेके लिये ये तीन उपदेश अत्यन्त महत्त्वके हैं ।

(ध्वनेन गानानु सर्वा विष्णुदे) घोषे सव गात्रोऽथ मालिघ करो । शरीरावदवोको मुञ्चितिके लिये घोषी मालिघ आवश्यक है । घोषी मालिघ प षोडश तर्जोपर करनेसे आद्य उपाग अवस्थामें रहते हैं, संघिश्वाजोर मालिघ करनेसे संघिरोग नहीं होते, सिारवर मालिघ करनेसे मरिस्तम्भ घान्त रहता है और गरमी हटती है, इसी तरह अन्यान्य अवघोर मालिघ करके अनेक लाभ होते हैं । इसके अतिरिक्त ऋषिष्य औषधियोगे पृत्को सुसंरुष्ट करनेसे पीके गुण बढ़ जाते हैं । जैसा माझी घृण बनानेसे उत्तकी मस्तकपर मालिघ कुट्टिमदायक और गर्मी हटानेवाली होती है इसी तरह आगलकपाद घृण तथा अन्यान्य घृत वैद्यशास्त्रमें प्रसिद्ध है । इनकी शरीरपर मालिघ करके लाभ-मयक है । यह बात इवत्तमवे मंत्रमें कही है ।

पोषक अन्न ।

अन्न पर परममें पकाना चाहिये, यह पोषक अन्न होना चाहिये (प्रासितारः मा सिघ्न) उक्त अन्नको खानेवाले कभी दुखी नहीं होने चाहिये, कभी द्विभित नहीं होने चाहिये, कभी क्षीण नहीं होने चाहिये । ऐसा अन्न गृहस्थीके परममें पकाना जेव यह सूचना १२ वे मंत्रमें की है ।

जो अन्न परिपक किया हो वह (अर्षेयेषु निदधे) श्राद्धि-प्रणालीके अनुसार करनेवालाके लिय समर्पित करना चाहिये । न कि (न अनार्येषां) ऋषिप्रणालीको छोड़नेवालोंको कुछ समर्पण काम है ; श्राद्धिप्रणालीको संजोवित रखनेके लिये ही हरएकको प्रदान करना चाहिये ।

घर कैसा हो ।

पर ऐसा हो कि जहाँ (यद्गृहानं) सदा यज्ञ होते रहें,

(सदनं रयीनां) ऐसशोका स्थान हो, (प्रवीनं सदनं) पुष्टि और समृद्धिवा क्षेत्र हो, (पोषेः प्रजाभूमत्वं) अनेक पुष्टिके साधनेके साथ प्रजाभूमती अनूतत्व देनेवाला हो । यहाँ (यिंत्तुं) गी होनी हो और घनसंपत्तिके साथ [दीर्घ आयुः] दीर्घायु लोग हों, पर ऐसा हो । परममें ये बातें रहें । परम घनकी कमी न हो, ऐश्वर्य की समृद्धि हो, गौर्वे रूप देनेवाली हो, हरएक हृष्टपुष्ट हो, हरद्वारसंगतिज्ञानारमक यज्ञ होता रहे, सब लोग आनन्दप्रसन्न रहें, कोई दुखी कष्टी न हो । यहाँ उपदेश १५ वे मंत्रमें है ।

१५ वे मंत्रमें [यूपमः अग्नि] तु बलवान् है, तु विरिक्त नहीं है, तु (स्वर्गः अग्नि) स्वर्गवा अधिचारी है, तु सुखामक स्थानका अधिकारी है । अतः त्रिष मार्गसे श्राविलोग गये और त्रिष मार्गसे ऋषेयोंको सुखसे स्थान प्राप्त हुए उस मार्गसे तु आ । यही सुकृतियोंका लोक है, यहाँ जाकर रह, हमारी संरक्षितिका यही ध्येय है ।

यामेके मंत्रमें कहते हैं कि (देवयानान् पयः कल्पय) देवोंके आनेजानेके मार्गोंको सुरक्ष कर, वे ही मार्ग तुम्हारे लिये आनेजानेके लिये हैं, (एतैः सुकृतैः यज्ञं अनुगच्छेम) इन सुकृतोंके साथ हमको यज्ञकी ओर जाना चाहिये । सुकृत करते करते आगे यज्ञना चाहिये । सुकृत करनेमें पीछे हटना कथित नहीं है । सदा सत्कर्म ही मनुष्यमात्रका मार्गदर्शक हो । मनुष्य सबसे पीछे न रहे ।

आत्र जो स्वर्गमें देव हैं वे इसी मार्गसे तेजस्वी बने हैं । अतः मनुष्यको इसी यज्ञमार्गका अवलंबन करना चाहिये ।

इस तरह अनेक प्रकारका उपदेश इस सूक्तमें किया है, जिसका मनन करनेसे पाठश्रद्धी घरमार्ग सुरक्ष रीतिसे दीख सकता है ।

रुद्र-देव ।

[२]

[ऋषिः— अथर्वा । देवता-भव-शर्व-रुद्र]

मवाशर्वो मूढतं माजमि यातुं भूतपती पशुपती नमो वाम् ।	
प्रतिदिवामार्यतां मा वि स्राष्टं मा नो हिसिष्टं द्विपादो मा चतुस्पदः	॥ १ ॥
शूनं क्रोष्टे मा शरीराणि कर्तमलिङ्गवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये चं कृष्णा अविष्ववः ।	
मक्षिकास्ते पशुपतं वयांसि ते विषुसे मा विदन्त	॥ २ ॥
क्रन्दाय ते प्राणायु याश्च ते भव रोपयः । नमस्ते रुद्र कृमः सहस्राक्षार्यामर्त्य	॥ ३ ॥
पुरस्तात् ते नमः कृम उत्तरार्दधरादुत् । अभीवर्गाद् द्विष्वपर्यन्तारिक्षाय ते नमः	॥ ४ ॥
मुखाय ते पशुपते यानि चक्षुषि ते भव । त्वचे रूपाय सुहृदं प्रतीचीनाय ते नमः	॥ ५ ॥
अङ्गैभ्यस्त उदराय जिह्वार्या आस्यायि ते । दद्भ्यो गुन्धाय ते नमः	॥ ६ ॥

अर्थ— हे [मवाशर्वो] भव और शर्व । हे उत्पादक और संहारक । आर दोनों [मूढते] हम सबको सुखी करे । [माजमिवातं] हमपर हमला न करे । आर दोनों [भूतपती, पशुपती] भूतोंके पालक और पशुओंके पालक हैं । [वामं नमः] आप दोनोंको नमस्कार है । [प्रतिदिवामार्यतां मा वि स्राष्टं] धनुषपर रखे और खींचे गये बाणको हमपर न छोड़े, [मः द्विपादः चतुस्पदः मा हिसिष्टं] हमारे द्विपाद और चतुष्पादोंका हिसा न करे ॥ १ ॥

जो [कृष्णाः अविष्ववः] काले और द्विषक कृमि हैं, उन (शूनं क्रोष्टे) कुत्ते और गीदड़ोंके लिये तथा (मलिङ्गवेभ्यः गृध्रेभ्यः) कहर शब्द करनेवाले गंधोंके लिये (शरीराणि मा कर्तं) शरीरोंको मत कटो । हे [पशुपते] पशुओंके पालक ! [ते मक्षिकाः ते वयांसि] तेरी मक्षिकाएँ और कौवे (विषुसे मा विदन्त) सन्नेके लिये उन कटे शरीरोंको न प्राप्त करें, अर्थात् आप हमारे शरीरोंका इस तरह नाश न करें ॥ २ ॥

हे (भव) . सबके उत्पन्नकर्ता देव ! [ते क्रन्दाय प्राणायु] तेरे शब्दरूपों प्राणिक लिये नमस्कार हो । [ते याः रोपयः] तेरे जो शाकिनभाव हैं, हे [नमस्ते रुद्र] अमर रुद्रदेव ! [सहस्राक्षार्य नमः कृमः] सहस्र नेत्रवाले कुत्त देवके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ३ ॥

(ते पुरस्तात् उत्तरात् उत अधस्तात् नमः कृमः) तुझे आगेसे ऊपरसे और नीचेसे नमस्कार करते हैं । [अभीवर्गाय द्विषः पारि मन्वतारिक्षाय ते नमः] सब आरंभे सुलोह और अन्तारिक्ष लोकरूपी तेरे रूपके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

हे पशुपते ! हे भव ! (ते मुखाय नमः) तेरे मुखके लिये नमस्कार है । (यानि ते चक्षुषि) जो तेरी आंखें हैं, उनकी नमस्कार है । तेरे (त्वचे रूपाय संदृते प्रतीचीनाय नमः) त्वचाएँ, दर्शन और पीठके लिये नमस्कार है ॥ ५ ॥

(ते अंगैभ्यः उदराय जिह्वार्या आस्याय) तेरे अंगों, उदर, जिह्वा और मुखके लिये नमस्कार है, (ते दद्भ्यः गुन्धाय नमः) तेरे दाँतोंके लिये और गर्भके लिये नमस्कार है ॥ ६ ॥

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिनो । रुद्रेणार्धिकपातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥
 स नो भ्रवंः परि वृणक्तु विश्वत् आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भ्रवः ।
 मा नोऽग्नि मास्तु नमो अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥
 चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते ।
 तवमे पञ्च पशवो विभक्त्वा गावो अस्त्राः पुरुषा अजावयः ॥ ९ ॥
 तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्धोर्विश्वतरिक्षम् ।
 तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमर्तु ॥ १० ॥ (५)
 उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः ।
 स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिमाः श्वानः परो यन्त्वप्युदौ विक्रिश्यः ॥ ११ ॥
 धनुर्धिमारि हरितं हिरण्ययं सहस्राग्नि शतवधं शिखाण्डिनम् ।
 रुद्रस्येषुंश्चरति देवहोतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतुतः ॥ १२ ॥

अर्ध(नीलशिखण्डेन वाजिनो अस्त्रा) नील शिखावाले बलवान् अश्वे (सहस्राक्षेण अर्धिकपातिना रुद्रेण) हजारों आर्धो-
 वले श्वक विनाशक रुद्रे (मा समरामहि) हम कभी विरुद्ध न रहें ॥ ७ ॥

(स भव विश्वत् न परिवृणक्तु) यह उत्पतिकर्ता सब अंशे हमें सुरक्षित रखे । (आप इव अग्निः) अरु
 जैसे अग्निदा घेरता है, वैसाही (भव न परिवृणक्तु) उत्पतिकर्ता हमें घेर रखे । (न मा अग्नि मास्तु) हमें नष्ट न करे,
 (अस्मै नम अस्तु) इसको नमस्कार हो ॥ ८ ॥

हे पशुपते ! (भवाय चतु अष्टकृत्व नम) उत्पत्ति करनेवाले देवको चार चार तथा आठ चार नमस्कार हो । [ते
 दशकृत्व नम] तेरे लिये दसवार नमस्कार हो। (इमेपञ्च पदाव- तव विभक्त्वा) ये पांच पशु तेरे लिये रखे हैं, (गाव) गौवें,
 (अस्त्रा) घोड़े, (पुरुषाः) पुरुष, (अजावय) बकरियाँ और भेड़ें हैं ॥ ९ ॥

(तव चतस्रः प्रदिश-) तेरी ये चारों दिशाएँ हैं, (तव द्यौ , तव पृथिवी) तेरा पृथु और पृथ्वी लोक है, (तव ह्यं
 उरु उर अन्तरिक्ष) तेरा ही यह सब तेजस्वी अन्तरिक्ष है । (इद सर्वं मात्मन्वद् तव) तेराही यह सब चेतनवाला है,
 (यत् पृथिवी अन्तु प्राणत्) जो पृथिवी पर जीव धारण करता है, वह सब तेरा ही है ॥ १० ॥ (५)

(यस्मिन् निमा विश्वा भुवनानि अन्त) जिसमें ये सब भुवन हैं, वह (वसुधानः अय उरुः कोशः) वसुओंका
 निवासस्थानरूप यह विश्वरूपी बडा कोश (तव) तेराही है । हे (पशुपते) पशुपालक ! (स नः मृड, ते नम) यह
 तू हमें सुख दे, तेरे लिये नमस्कार हो । (क्रोष्टार अभिमा श्वान परः) धियार, गीदड़, झूते सब दूर हों ।
 (विक्रिश्य विक्रिश्य) दुरे स्वरसे रोनेवाली बालोंको खोलकर चिल्लनेवाली श्रियाँ भी दूर हों, अर्थात् ये लोकके
 प्रसंग हमारे पास न आवें ॥ ११ ॥

हे (शिखाण्डिन्) कलगी धारण करनेवाले ! तू [सहस्राग्नि शतवध हिरण्ययं हरित धनु विमारि] हजारोंका
 नाश करनेवाला, सैकड़ोंका वध करनेवाला, सुवर्णमय धनुका धनुष्य धारण करता है । (रुद्रस्य इपु देवहोति चरति) रुद्रका
 बाण देवोंका शत्रु विचरता है, वह (इत यतमस्यां दिशि) जिस दिशामें हो, (तस्यै नम) उसको नमस्कार हो ॥ १२ ॥

योऽभिधातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति । पश्चादनुपयुङ्क्षे तं विद्वस्य पदनीरिव ॥१३॥

भवाऋतौ सयुजां संविदानाबुभावुगौ चरतो वीर्याप्य । ताम्भ्यां नमो यतमस्यां दिशीऽतः ॥१४॥

नमस्तेस्त्रायते नमो अस्तु परायते । नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥१५॥

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा । भवाप्य च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥१६॥

सहस्राक्षमतिप्रथं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् । मोषाराम जिह्वयमानम् ॥१७॥

श्यावाशं कुष्णमसितं मृणन्तं भीमं रथं क्लृग्निः पादयन्तम् । पूर्वं प्रतीमो नमो अस्त्वस्मै ॥१८॥

या नोऽभि स्तां मृत्यं । देवहेति मा नः कुघः पशुपते नमस्ते ।

अन्यत्रास्मद् दिव्यां शाखां वि धुनु

॥ १९ ॥

मा नो हिंसिराधि नो ब्रूहि परिं णो वृहग्नि मा कुघः । मा त्वया समरामहि ॥२०॥ (६)

मा नो गोपु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषुं । अन्यत्रोग्रं वि वर्तय पियांरूणां प्रजां जहि ॥२१॥

अयं—हे रुद्र ! (यः आभियातः निलयते) जो हमला होनेपर छिप जाता है और (त्वां नि चिकीर्षति) तुझे नीचे करना चाहता है, (विद्वस्य पदनीः इव) घायलके पदक्षरके समान (तं पश्चात् अनु प्रयुङ्क्षे) उसके पीछे तू उसका बदला लेता है ॥ १३ ॥

(भवाऋतौ सयुजौ संविदानौ) अराजित-करनेवाले और संसार करनेवाले देव मिलकर रहनेवाले शानी हैं । (उभौ) उभौ वीर्याप्य चरतो :) ये दोनों तेजस्वी पराक्रमके लिये विचरते हैं । (इतः यतमस्यां दिशि) ये वशासे जिस दिशमें हों वहां (ताम्भ्यां नमः) उन दोनोंको नमस्कार हो ॥ १४ ॥

हे रुद्र [सायते परायते तिष्ठते आसीनाय] आनेवाले, जानेवाले, ठहरनेवाले और बैठनेवाले [ते नमः] तुझे नमस्कार हो ॥ १५ ॥

[सायं प्रातः रात्र्याः दिवा नमः] शामको सवेरे रात्रिके समय और दिनके समय नमस्कार हो [भवाप्य शर्वाप्य च तनाभ्यां नमः अकरं] भव और शर्व इन दोनोंको नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥

[सहस्राक्षं विपश्चितं बहुधा अस्यन्तं रुद्रं] सहस्रनेत्र शानी बहुत प्रकारसे शत्रु छेकनेवाले रुद्रको [पुरस्तात् अपि प्रथं] आगे देखता हूँ । [ईरमानं जिह्वया मा उपाराम] उग्र गतिमानको हम अपनी जिह्वामें घर्षित न करें ॥ १७ ॥

[श्यावाशं कुष्णं असितं मृणन्तं] अशुक्ल, आकर्षक, बन्धनरहित, सुखदायी [भीमं केशिनः रथं पादयन्तं] किरणों-वालोंके बडे भारी रथको भी परास्त करनेवाले [पूर्वं प्रतीमः] पहिले प्रात करते हैं और [अस्मै नमः अस्तु] इसको नमस्कार हो ॥ १८ ॥

हे पशुपते ! [मृत्यं देवहेति नः मा अभिसाः] जानबूझकर फेंका हुआ देवोंका राज हमारे पास न आवे । [नः मा कुघः, ते नमः] हमपर क्रोध न हो, तेरे लिये नमस्कार हो । [अस्मत् अन्यत्र दिव्यां शाखां विधुनु] हमसे दूर दिव्य शाखाको नैक ॥ १९ ॥

[नः मा हिंसिः] हमारी हिंसा न कर, [नः अपि ब्रूहि] हमें उपदेश कर, [नः परिहृग्नि] हमारी रक्षा कर, मा कुघः] क्रोध न कर, [त्वया मा समरामहि] तेरे साथ हम विरोध न करें ॥ २० ॥ (६)

हे [उग्र] उग्रवीर ! [नः गोपु पुरुषेषु अजाविषुं मा गृधः] हमारी गौध, मनुष्य, भेड़, बध्दियोंके विषयमें काटक न कर । (अन्यत्र विवर्तय) दूसरे स्थानपर सबको लेना । [पियांरूणां प्रजां जहि] हिंसकोंकी प्रजाका नाश कर ॥२१॥

यस्य त्वमा कासिका हेतिरेकुमर्षस्येव वृषणः क्रन्द एति ।

अभिपूर्व निर्णयते नमो अस्वस्मै

॥ २२ ॥

योऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टमितोऽयंज्वनः प्रमृणन् देवपीयून् । तस्मै नमो दुशभिः शर्करीभिः २३

तुभ्यमारुण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।

तव यक्षं पशुपते अस्वन्तस्तुभ्यं धरन्ति दिव्या आपो वृषे

॥ २४ ॥

शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जया मत्स्या रजसा येभ्यो अस्पसि ।

न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान् परि

पश्यति भूमिं पूर्वस्माद्धं स्पुत्तरस्मिन्तसमुद्रे

॥ २५ ॥

मा नो रुद्र त्वमना गा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना ।

अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम्

॥ २६ ॥

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पत्रं सुर्वन्तरिक्षम् ।

तस्मै नमो यत्तम यां दिशीऽतः

॥ २७ ॥

अर्धे—[यस्य त्वमा कासिका हेतिः] जिसके हथियार क्षपञ्जर और खोंडी हैं, [वृषणः अथस्य क्रन्दः इव एकं पृति] बल-
वान् घोड़ेके हिनानिके स्वरके समान निःसन्देह एक पुरुषपर जिसका हथियार जाता है, [नाभि पूर्व निर्णयते] जो पहिलेही
निश्चय करता है, [अस्मै नमः अस्तु] इसके लिये नमस्कार है ॥ २२ ॥

[यः अन्तरिक्षे विष्टमितः तिष्ठति] जो अन्तरिक्षमें स्थिर रहता है और [अयंज्वनः देवपीयून् प्रमृणन्] यज्ञ न कर-
नेवाले देवोंके द्रव्योंका नाश करता है, (तस्मै दुशभिः शर्करीभिः नमः) उसको दश शक्तियोंसे हमारा नमस्कार है ॥ २३ ॥

(आरुण्याः पशवः वने हिताः मृगाः) शरणागते उल्लस जंगलमें रहनेवाले गृध आदि पशु तथा (हंसाः सुपर्णाः)
शकुना वयांसि तुभ्यं) हंस गरुड शङ्खिन और अन्य पक्षीगण वे सब तेरेही हैं । हे पशुपते ! [तव यक्षं अस्तु अन्तः]
तेरा पूज्य आत्मा जलोंके अन्दर है, (तुभ्यं दिव्याः आपः वृषे धरन्ति) तेरे लिये दिव्य जल बपाईके लिये गिरते हैं ॥२४॥

[शिंशुमाराः अजगराः पुरीकयाः] शिबियाल, अजगर, कटुए, (जयाः मत्स्याः रजसा येभ्यः अस्पसि)
मछलियाँ और जलजन्तु मछिन प्राणी जिनपर तू अपना शस्त्र चेंकता है । इनमेंसे (न ते दूरं, न ते परिष्ठाः) दूर कोई नहीं
है, न कोई तेरेसे भिन्न स्थानपर है, तू तो (सर्वान् सद्यः परिपश्यति) सबको एकही बार देखता है, और (पूर्वस्माद्धं उत्तर-
रिमन्त समुद्रेभ्यं हंसि) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक ब्यापनेवाली सब भूमिपर आघात करता है ॥ २५ ॥

हे रुद्र ! (त्वमना ना गा संस्राः) जबरसे हमें पीटा न हो, (विषेण मा) विषबाधान न हो, [दिव्येनाग्निना मा]
दिव्य आग्निसे कष्ट न हो । [अस्मात् अन्यत्र एवां विद्युतं पातय] हमसे भिन्न दूसरे स्थानपर इस निजलीकी गिरा ॥ २६ ॥

[भवः दिवः ईशे] भव तुलोकका ईश्वर है, [भवः पृथिव्याः] भव पृथ्वीका स्वामी है । [भवः रुद्र अन्तरिक्षं
आपये] भव बड़े अन्तरिक्षमें ब्यापक है । वह (इतः यत्तमस्यां दिशि तस्मै नमः) यहाँसे जिस दिशामें हो वहाँ हमारा नम-
स्कार उसके लिये है ॥ २७ ॥

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूव ।

यः श्रद्धाति सन्ति देवा इति चतुस्पदे द्विपदेऽस्य मृड

॥ २८ ॥

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः ।

मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्व्यं रुद्र मा रीरियो नः

॥ २९ ॥

रुद्रस्यैलवकारेभ्योऽसंसृक्तगिलेभ्यः । इदं महास्यैभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः

॥ ३० ॥

नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः । नमो नमस्कृताभ्यो नमः संभुजतीभ्यः ॥

नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अमयं च नः

॥ ३१ ॥ (७)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अयं-हे [राजन् भव] उत्पादक देवराज । [यजमानाय मृड] यजमानको सुखी कर, [पशूनां पशुपतिः हि बभूव] पशुओंका स्वामी हो । [यः श्रद्धाति सन्ति] जो श्रद्धा रखता है, [देवाः सन्ति इति] देवताएं हैं ऐसा मानता है, [अस्य द्विपदे चतुस्पदे मृड] उसके द्विपाद और चतुस्पदोंको सुखी कर ॥ २८ ॥

[माः महान्तं मा हिंसीः] हमारे बड़ोंकी हिंसा न कर, [नः अर्भकं मा] हमारे बालकोंकी हिंसा न कर, [माः वहन्तं मा] हमारे धर्मयुक्तोंकी हिंसा न कर, [नः वक्ष्यतः मा] हमारे बलवान बनेवालोंकी हिंसा न कर । [माः पितरं मातरं च मा हिंसीः] हमारे पिता माताकी हिंसा न कर, हे रुद्र [नः स्वां तन्व्यं मा रीरियोः] हमारे धारियोंको सुखी न कर ॥ २९ ॥

[रुद्रस्य ऐलवकारेभ्यः असंसृक्तगिलेभ्यः] रुद्रके भयानक शब्द करनेवाले अस्पष्ट शब्द करनेवाले [महास्येभ्यः श्वभ्यः] बड़े सुखवाले कुत्तोंको [इदं नमः अकरं] यह नमस्कार करता हूँ ॥ ३० ॥

हे देव ! [ते घोषिणीभ्यः केशिनीभ्यः] तेरी बधा शब्दघोष करनेवाली केश रखनेवाली, [नमस्कृताभ्यः संभुजतीभ्यः] नमस्करोसे सृकृत और उत्तम अन्नभोग करनेवाली [ते सेनाभ्यः नमः] तेरी सेनाओंके लिये नमस्कार हो, [नः स्वस्ति अमयं च] हमारा कल्याण हो और हमारे लिये निर्भयता हो ॥ ३१ ॥ ७ ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

भव और शर्वके सूक्तका आशय ।

यह सूक्त ' भव और शर्व ' देवताके वर्णनपर है । कोई यहाँ न समझे कि भव और शर्व ये देवताएं परस्पर भिन्न हैं । ' भवाशर्वा ' ऐसा द्विवचनी प्रयोग है, तथापि एकही देवताके ये दो गुण हैं । सर्व विभ्रमं व्यापनेवाली पृथ्वी देवता है, यह सृष्टिकी उत्पत्ति करती है इसलिये उसका नाम ' भव ' है और यह सबका संहार करती है इसलिये उर्ध्व देवताका नाम ' शर्व ' है ।

गुणोंमें भी भव और शर्व ये दो नाम एकही देवके हैं, यही बात वेदके इस सूक्तमें है और अन्वय भी यहाँ जहाँ भव शर्व आदिनाम भये हैं वही एकाही अर्थ समझना योग्य है । इस सूक्तमें रुद्र, भव, शर्व, मनुष्य, आदि शब्द आये हैं, जो उस एकही परमेश्वरके वाचक हैं ।

प्रथम मंत्रमें इस देवताके दो गुणोंका स्मरण कराया है । यहाँ सूचना मिलती है कि यदि दो गुणोंके कारण एकही देवताके दो देव माने जा सकते हैं, तो अनेक गुणोंके कारण एकही ईश्वरकी अनेक देवताएं मानना संभव है । वैदिक धर्ममें अनेक देवताओंकी कल्पना इस प्रकार एकही परमात्मापर अधिष्ठित है । एक ईश्वरके अनेक गुणोंकी अनेक देवताएं मानी गयी हैं ।

ईश्वरके मारक गुणको शर्व करके यहाँ कहा है, यह देवता अपना मारण, हिंसन अथवा विनाशक कार्य जिन साधनोंसे करती है उनकी गिनती इस सूक्तके अनेक मंत्रोंमें की है — कुत्ते, गीदक, सियार, मक्खियाँ, बौबे, भय, राक्ष, धनुष्य, बाण विद्युत्, अग्नि, उषर, स्य ये मारणसाधन हैं । मक्खियोंकी रुद्रके मारक साधनोंमें रखा है, यह बात पाठक विशेष रीतिसे स्मरण रखें । मक्खियोंके कारण अनेक रोग फैलते हैं और प्राणियोंका संहार होता है । अतः रोगोंसे बचनेके लिये शर्वा और स्वच्छता करनी चाहिये जिससे मक्खियाँ न होंगी, और मनुष्य रोगोंसे बचेंगे । इसी तरह शून्यान्ध मारणसाधनोंके विषयमें जानना चाहिये । [मंत्र २ देखो]

आगे मंत्र ७ तक रुद्रके अंगप्रत्यंगोंको नमस्कार कहा है । यह एक श्राव्य देवताका उपासना प्रकार है । शतवें मंत्रमें रुद्रके निरोधन हो ऐसी इच्छा प्रकट की है । यही भाव आगेके कई

मंत्रोंमें है (मा समरामदि) देही शब्द आयेके कई मंत्रोंमें बारबार आगये हैं ।

नवम मंत्रमें अनेकवार रुद्रके लिये नमन किया है । इसम मंत्रमें कहा है कि इस रुद्रदेवताके आधीनहो संपूर्ण विश्व है । इसी कथनसे त्रिपुनियामक देवही मारकभावके विषये रुद्र नाम से यहाँ कहा है ऐसा स्पष्ट हो जाता है । क्योंकि सब विषय नियंता देव एकही है ।

चौदहवें मंत्रमें भव और शर्व ये दो नाम फिर आये हैं । यहाँ द्विवचन देखनेसे ये दो देव परस्पर भिन्न हैं । ऐसी शर्वाकी संका हो सकती है, परंतु ये दो देव गुणतः भिन्न परंतु स्वरूपतः एक हैं, इसका स्पष्टीकरण इसके पूर्व किया जा चुका है । आगे १९ वें मंत्रतक रुद्रदेवकी नमनहीं किया है । आगे तीन मंत्रोंमें श्राव्य दूर करनेकी प्रार्थना है ।

तेरसवें मंत्रमें रुद्रदेव इस अन्तरिक्षमें स्थापता है ऐसा कहकर देवविश्वेधियोंका नाश करता है, यह भी कहा है । यह सर्वव्यापक देवका ही वर्णन निःसंदेह है । आगेके दो मंत्रोंमें सब प्राणी उर्ध्व एक देवके आश्रयसे रहते हैं, यह देव सबकी समरुछी देखता है और विघातक शत्रुका नाश करता है इत्यादि वर्णन देखनेयोग्य है ।

छत्ताईसवें मंत्रमें यह देव संपूर्ण स्थिरचर जगत्का ईश है यह स्पष्ट शब्दोंसे कहा है । यह मंत्र पठते ही संपूर्ण विश्वका एक प्रभु है, इसमें संदेह ही नहीं रह सकता । आगेके मंत्रमें यह देव (भव) विश्वका राजा है ऐसा कहा है । इसके अतिरिक्त (देवाः सन्ति) देवीशक्तियाँ इस जगत्में कार्य कर रही हैं ऐसा ओ (यः श्रूयति) प्रजापूर्वक मानता है वही सुखी होता है, यह कथन विशेष महत्त्वका है । इस जगत् का प्रभु एक है और उसकी अनंत शक्तियाँ इस विश्वमें कार्य कर रही हैं । यदि यह कल्पना पाठकोंको ठीक तरह हो जायगी, तो मनुष्यके दिव्य बन् जानेमें कोई संदेह ही नहीं है ।

आगेके मंत्रोंमें सर्व साधारण निर्भयताकी प्रार्थना है । इस प्रकार इस सूक्तका आशय है ।

विराड् अन्न ।

[३]

(ऋषिः-- अथर्व । देवता--ओदनः)

(१) तस्योदितनम्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्	॥ १ ॥
घ्रातृपृथिवी श्रौत्रे सूर्याचन्द्रमसौ अक्षिणी सप्तऋषयः प्राणायानाः	॥ २ ॥
चक्षुर्मूलं कामं उल्लसंरुम्	॥ ३ ॥
दितिः सूर्यमदितिः सूर्यम् ही वातोऽपाविनक्	॥ ४ ॥
अद्याः कणा गार्धस्तण्डुला मशकास्तुषाः	॥ ५ ॥
कञ्जु फलीकाणाः शरोऽन्नम्	॥ ६ ॥
इयाममयोऽभ्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम्	॥ ७ ॥
त्रपु मसम् हरिं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः	॥ ८ ॥
खलुः पञ्च स्फपावसांवीपे अन्नकूपे	॥ ९ ॥
आन्त्राणि जत्रवो गुदा वत्राः	॥ १० ॥

अर्थ— (तस्य ओदनस्य बृहस्पतिः शिरः) उप अन्न का बृहस्पति पिर है, [ब्रह्म मुखं] ब्राह्मण मुख है ॥ १ ॥
 (घ्रातृपृथिवी श्रौत्रे) सु और पृथ्वी कान हैं, (सूर्याचन्द्रमसौ अक्षिणी) सूर्य और चन्द्र आँखें हैं, (मसऋषयः प्राणायानाः)
 सात ऋषि प्राण और अगान हैं ॥ २ ॥ (मुखं चक्षुः, उल्लसंरुं कामः) मुखल हाँड़ है और उल्लवल काम है ॥ ३ ॥ (दि-
 तिः सूर्यं) विमय छात्र है, [अदितिः सूर्यमाही] अविमचता सूर्यो परहनवाती है, [वातः अपाविनक्] वायु सुधोरो पृथक्
 करनवला है ॥ ४ ॥ [कणाः अद्याः] अन्न के रूप थोड़ है, [तण्डुलाः गावः] चावल गोन है, [तुषाः मशकाः] तुर
 मसक-मच्छा हैं, ॥ ५ ॥ [फलीकरणाः कञ्जु] तुकड़े से दूर है, [अन्नं शारः] मेष ही ऊरुका छिलका है ॥ ६ ॥ [इयामं
 अयः अहर मांसानि] काला लोहा इनके मांस है, [लोहितं अस्य लोहितं] लाल लोहा इसका रक है ॥ ७ ॥ (त्रपु मसम्)
 टीन-इयिल इसका भस्म है, (हरिं वर्णः) दरा इनका वर्ण है, [पुष्करं अस्य गन्धः] पुष्कर इसका गन्ध है ॥ ८ ॥
 (खलुः पात्र) खन इसका पात्र है, (स्फपा वसांवीपे) दोनों स्फर नामक यज्ञपथन कंधे हैं, [अन्ने अन्नकूपे] ईदा
 नामक वापन इसकी की हड्डी है ॥ ९ ॥ [जत्रवः आन्त्राणि] रासंग आँठें हैं और [वत्राः गुदाः] बेल जोअनेके चर्म गुदा
 है ॥ १० ॥

द्वयमेव पूर्णिया कुम्भी भवति राघवमानस्यौदुनस्य चौरविधानम्	॥ ११ ॥
सीताः पश्याः मिकंता ऊर्ध्वम्	॥ १२ ॥
श्रुत हंस्तारुनेजनं कुलशोषमेचनम्	॥ १३ ॥
श्रुत्वा कुम्भपिहितारिजयेन प्रेषिता	॥ १४ ॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साक्षा पर्शुदा	॥ १५ ॥
बुद्धापर्यन रथन्तरं दग्धिः	॥ १६ ॥
श्रुतयः पृच्छा आर्तयाः समिन्धते	॥ १७ ॥
चक्रुः पञ्चावलमुखं घ्नोःकुम्भी-धे	॥ १८ ॥
ओदुनन यज्ञचः सर्वं लाभाः संमाप्याः	॥ १९ ॥
यामिन्समुद्रो घीर्भूमिस्त्रयोऽमरपर श्रिताः	॥ २० ॥
यस्य देवा अकल्पन्तोऽपि पडशीतयः	॥ २१ ॥
तं त्र्यौदुनस्यं पृच्छामि यो अस्य महिमा मुहान्	॥ २२ ॥
स य ओदुनस्य महिमानं त्रियात्	॥ २३ ॥
नात्य इति म्र्याणानुपसेचन इति नेदं च किं चेति	॥ २४ ॥
यान्द् दानाभिमनस्त्रेत् तन्नाति चदेत्	॥ २५ ॥

अथ [राघवमानस्य ओदुनस्य] पश्या जनेवले च रलोकी [इय एव पृथिवी कुम्भी भवति] एही भूम इगरी शीती है और [घा अविधान] एनोच रकन होता है ॥ ११ ॥ [निता पश्या] इल वसुदेवी और [सिकता ऊर्ध्वम्] रत और मलपान है ॥ १२ ॥ [श्रुत हंस्तारुनेजन] सरय ही हाथ धोनेवाला जल है, [कु पा उपसेचन] महरे जलसिजन है ॥ १३ ॥ [श्रुत्वा कुभी आ गृहीता] श्रावदमय द्वारा इगरी रक्षी गई है, [अगिजयेन प्रेषिता] यन्तु द्वाएर हिलाई गई ॥ १४ ॥ [ब्रह्मणा परिगृहता] ऊर्ध्ववद द्वारा पश्यां गई और [साम्ना पर्शुदा] समवदते डाके गई है ॥ १५ ॥ [बुद्धापर्यन रथन्तरं दग्धिः] श्रुत्वा नाम मिलनेवा है और रथन्तर नाम कहली है ॥ १६ ॥ [श्रुतयः पृच्छा आतन समिन्धते] श्रुत्वा पश्याने है और श्रुत्के दिन काय पदार्थ करते हैं ॥ १७ ॥ [पञ्चावलं उच्यते चर घर्म अम घ] पंच मुखल देग-म रथन्तर चतुर्थो गर्भो उच्यते है ॥ १८ ॥ इय [ओदुनेन यज्ञच सर्वं लोका समाप्या] लक्ष्मी यज्ञाया हिलनेवल सब लोक प्राप्त होते है ॥ १९ ॥ [यामिन्समुद्र घा भूमि श्रय] जितम् सद्द एलोक भूमि यतीनो [अमरपर श्रिता] उच्यते च आश्रित हुए है ॥ २० ॥ [यत्र योऽपि पत्र दान्द-मेवा] जिसने तोय भागते छ दाना आनी देव [अकल्पयन्त, समर्थ बने हैं ॥ २१ ॥ [वा ओदुनस्य त पृच्छाम] तुल्ये ये उच्यते तत्र माहमा को पृच्छता ह [य अ य मरान् माहमा] जो इसका महान् महिमा है ॥ २२ ॥ [स य ओदुनस्य महिमानं त्रियात्] वह जो इस अज्ञानी म दमाको जानता है ॥ २३ ॥ वह [अम इति न दूष्यात्] खोटा न एता न ४४, [अनुपसेचन इति न] जलक अमव है एसा भी न बहे, [इय च किं इति न] यह योडा है एसा भी न कह ॥ २४ ॥ [यान्द् दाना अभिमनस्त्रेत् तदं नाति चदेत्] जिसने दानाकी इच्छा हो उसे कम न करे ॥ २५ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदुनं प्राशीः प्रत्यञ्चाश्मिति ॥ २६ ॥
 त्वमोदुनं प्राशीश्स्त्वामोदुनाश् इति ॥ २७ ॥
 पराञ्चं चेतुं प्राशीः प्राणास्त्वां हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २८ ॥
 प्रत्यञ्चं चेतुं प्राशीरानास्त्वां हास्यन्तीत्येनमाह ॥ २९ ॥
 नैवाहमोदुनं न मामोदुनः ॥ ३० ॥ अेदुन एवोदुनं प्राशीन् ॥ ३१ ॥ (८)

(२) ततश्चैनमुन्वेनं शीर्ष्णां प्राशीर्येनं चैतं पूर्णं ऋषयः प्राश्नन् । ज्येष्ठेनस्ते प्रजा मारिष्यती-
 त्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चु न प्रत्यञ्चंम् । वृद्धस्वर्तिना शीर्ष्णां ।
 तेनैतं प्राशिषं तेनैतमजीगमम् । एष वा ओदुनः सर्वाङ्गः सर्वपरः सर्वतनुः ।
 सर्वाङ्ग एव सर्वपरः सर्वतनुः सं भवति य एतं वेदं ॥ ३२ ॥
 ततश्चैनमुन्वाम्यां श्रोत्राम्यां प्राज्ञीर्याम्यां चैतं पूर्णं ऋषयः प्राश्नन् ।
 चक्षिरो भविष्यमीत्येनमाह ॥ तं वा० । द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राम्याम् ।
 ताम्यामेतं प्राशिषं ताम्यामेतमजीगमम् । एष वा० ॥ ३३ ॥

अर्थ- [ब्रह्मवादिनः वदन्ति] ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि [पराञ्चं ओदुनं प्राशीः प्रत्यञ्चं इति] दूरक चावल तुमने खाया
 थावना समपक्ष खाया । ॥ २६ ॥ [एवं ओदुनः प्राशीः, त्वं ओदुनः इति] तूने अन्नको खाया अथवा अन्नको दूले खाया
 ॥ २७ ॥ [पराञ्चं ओदुनं प्राशीः] यदि तूने परला अन्न खाया है तो [त्वा प्राणाः हास्यन्ति इति एवं आह] तुझे प्राण
 छोड़ देगे ऐसा इसे कहता है ॥ २८ ॥

[पत्यञ्चं च एतं प्राशी] यदि सन्मुख का खाया है तो [जपानाः स्वा हास्यन्ति इति एवं आह] अथवा तुझे
 छोड़गे ऐसा इसे कह ॥ २९ ॥ [न एव अहं ओदुनं] नहीं मैंने अन्नको खाया और [न मा ओदुनः] न मुझे अन्नने खाया
 ॥ ३० ॥ प्रत्युत [ओदुनः एव ओदुनं प्राशीत्] अन्न ही अन्नको खाया है ॥ ३१ ॥ (८)

[ततः च एतं मुन्वेनं शीर्ष्णां प्राशीः] पद्यत् इयहा अन्य सिरसे तू प्राशन करेगा [येन च पूर्णं ऋषयः प्राश्नन्]
 जिसमे पूर्ण ऋषयोने प्राशन किया था अपने न करेगा तो [ज्येष्ठेनः ते प्रजा मारिष्यति इति एवं आह] ज्येष्ठेनो प्राणं काकेतेरी
 कंतल मर जायेगा ऐसा इसे कह । [तं वा अहं न अर्वाञ्चं न पराञ्चं] उसका मैंने न खेचे, उरली और और परल और प्राशन
 नहीं किया, मैंने [वृद्धस्वर्तिना शीर्ष्णां] वृद्धस्वर्तिको मुन्विया बनावर [तेन एवं प्राशिषं] उनमे इम अत्रया प्राशन किया,
 [तेन एवं अजीगमं] उसने इमको प्राप्त किया । अतः [एषः ओदुनः सर्वाङ्गः च] यह अन्न परिपूर्ण है [सर्वपरः सर्वतनुः]
 सब अंगों और सब अवयवोंसे युक्त है । इस तरह [य एव वेद सर्वाङ्गः सर्वपरः सर्वतनुः भवति] ऐसा जो जानना है वह
 सर्वाङ्ग और सब अंगों और अवयवोंसे युक्त होता है ॥ ३२ ॥

[द्यावां च एतं पूर्णं ऋषयः प्राश्नन्] जिससे इमका प्राशन पूर्वकृद्दयोगे किया था उसमे [ज्ञ्याम्यां श्रोत्राम्यां
 ततः एवं प्राशीः] भित्त दूधरे वानोंने प्राशन करेगा तो [चक्षिरो भविष्यास इति एवं आह] चक्षिरे हो जायगा, ऐसा इसे कहे
 [तं वा०... द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राम्यां] उनको मैंने... सुनोके और पृथ्वीकोके कर्णोंसे [ताम्या एवं प्राशिष] उनसे मैंने
 प्राशन किया, [ताम्यां एवं अजीगम] उनसे इच्छो प्राप्त किया ॥ ३३ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्वं ऋषयः प्राशन् ।
 अन्धो भविष्यतीत्येनमाह । तं वा० । सुयज्ञिचन्द्रमाम्भ्यां प्रक्षीभ्याम् । ताम्भ्यामित्त्वं ०।०
 ॥ ३४ ॥ ततश्चैनमन्येन सुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्वं ऋषयः प्राशन् । सुखतप्तैः प्रजा मरिष्यती-
 त्येनमाह । तं वा० । ब्रह्मणा सुखेन । तेनेन प्राशिपुं तेनेन मजीगमम् । एष वा० ॥ ३५ ॥
 ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्वं ऋषयः प्राशन् । जिह्वा तैः मरिष्यतीत्येनमाह ।
 तं वा । अग्नेजिह्वया । तैर्येन प्राशिपुं तैर्येन मजीगमम् । एष वा० । ०।०॥ ३६ ॥
 ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्वं ऋषयः प्राशन् । दन्तास्ते शतस्यन्तीत्येनमाह । तं वा० ।
 क्रतुभिर्दन्तैः । तैरेन प्राशिपुं तैरेन मजीगमम् । एष वा० । ० ॥ ३७ ॥
 ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्वं ऋषयः प्राशन् । प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ।
 तं वा० । सप्तभिः प्राणापानैः । तैरेन ०।०।० ॥ ३८ ॥
 ततश्चैनमन्येन व्यचंसा प्राशीर्येन चैतं पूर्वं ऋषयः प्राशन् । राजपक्ष्मस्तां हनिष्यतीत्येनमाह
 । तं वा० । अन्तरिक्षेण व्यचंसा । तेनेन प्राशिपुं तेनेन मजीगमम् । एष वा० । ०।०॥ ३९ ॥
 ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्वं ऋषयः प्राशन् । विद्युत्वां हनिष्यन्तीत्येनमाह ।
 तं वा० । दिवा पृष्ठेन । तेनेन ०।०।०॥ ४० ॥

अर्थ [याम्भ्यां च एत पूर्वं ऋषयः प्राशन्] जनस्य पूर्वं ऋषयाने प्राशन क्रियायाः, तन्मभिः [ततः च एते अन्ययाभ्यां प्रक्षीभ्यां प्राशीः] दूषो आलोचने तुते इतका सेवन क्रिया तो [अंधः भविष्यति इति एवं आह] अन्धा हो जायगा ऐसा इसे कहे । [तं वा०... सुयज्ञिचन्द्रमाम्भ्यां प्रक्षीभ्यां ताम्भ्यां एतं...] उतका मैंने सुयज्ञिचन्द्रम रूपी आन्धोमे सेवन क्रिया इ० ॥ ३४ ॥ [येन च एत पूर्वं ऋषयः प्राशन्] जिससे इतका पूर्वं ऋषयोंने सेवन क्रिया उनसे भिन्न [ततः च एते अन्येन सुखेन प्राशः] दूसरे सुखसे प्रशान करेगा तो [सुखतः ते प्रजा मरिष्यति इति एवं आह] सुखसे तेरी संतान मरगी ऐसा इसे समझा दो । [तं वा०... ब्रह्मणा सुखेन तेन एन प्राशिप तेन मजीगमं] उतका... मैंने ब्रह्मके सुखसे सेवन क्रिया और उल्लेख इतकी प्राप्त क्रिया ॥ ३५ ॥ [यया एत पूर्वं ऋषयः प्राशन्] जिससे पूर्वं ज्ञानियोंने प्राशन क्रिया या उससे भिन्न [ततः च एते अन्यया जिह्वया प्राशीः] दूसरी जिह्वसे इतका सेवन करेगा तो [जिह्वा तैः मरिष्यति इति एवं आह] तेरी जिह्वा मरगी ऐसा इसे कह । [तं वा०... सप्तभिः प्राणापानैः] उतका मैंने सप्त ही जिह्वसे प्राशन क्रिया ॥ ३६ ॥

जिनसे पूर्वं ऋषियोंने उतका सेवन क्रिया या उससे भिन्न [ततः च एते अन्यैः दन्तैः प्राशीः] दूसरे अन्य दांतोंसे तुते इतका सेवन क्रिया [दन्ताः ते शतस्यन्ति इति] तेरे दांत दूट जायेंगे ऐसा इसे कहे । [तं वा०... क्रतुभिः दन्तैः] उतका मैंने क्रतुरूपी दांतोंसे प्राशन क्रिया या ॥ ३७ ॥ जिससे पूर्वं ऋषियोंने इतका सेवन क्रिया या उल्लेख भिन्न [अन्धैः प्राणापानैः प्राशीः] प्राण अपानोंसे तुते इतका सेवन क्रिया तो तेरे प्राण और अपान लुप्त होट देंगे ऐसा कह । उल्लेख मैंने [सप्तभिः प्राणापानैः] सप्तप्रकारके प्राण अपानोंसे मैंने सेवन क्रिया था ॥ ३८ ॥

जिससे इतको पूर्वं ऋषियोंने सेवन क्रिया या उनसे भिन्न [अन्यया व्यचंसा प्राशीः] दूसरे अन्य प्राणोंसे प्राशन करेगा तो [राजपक्ष्मस्ताः हनिष्यति] राजपक्ष्मा तेरा नाश करेगा ऐसा इससे कह, [तं वा०... अन्तरिक्षेण व्यचंसा तन एन प्राशिपुं...] उससे मैंने अन्तरिक्षरूप अन्तःप्राणसे सेवन क्रिया और उससे प्राप्त क्रिया ॥ ३९ ॥ जिससे पूर्वं ऋषियोंने प्राशन क्रिया उल्लेख भिन्न दूसरे [पृष्ठेन] पृष्ठभागसे तु प्राशन करेगा तो [विद्युत्वां हनिष्यति] बिजलीसे तेरा नाश करेगा, ऐसा इसे कहे । [तं वा०... दिवा पृष्ठेन...] उल्लेख मैंने सुलोक्ष्मदी पीठसे प्राशन क्रिया ॥ ४० ॥

ततश्चैनमुन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्वं ऋषयःप्राश्नन् । कृष्या न रातस्थ्यसीत्येनमाह । तं वा०
पुष्टिच्योरसा ॥ तेनैतं ०।०।० ॥४१॥

ततश्चैनमुन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह ।
तं वा०। मुन्येनोदरेण ॥ तेनैतं ०।।० ॥४२॥

ततश्चैनमुन्येन वृश्चिना प्राशीर्येन चैतं पूर्वं ऋषयःप्राश्नन् । अप्यु मरिष्यसीत्येनमाह॥ तं वा०।
समुद्रेण वृश्चिना । तेनैतं ०।०।० ॥ ४३ ॥

ततश्चैनमुन्याभ्यामरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । ऊरू तै मरिष्यन् इत्येनमाह ।
तं वा ० । मित्रावठंगयोःरुभ्याम् । ताभ्यामिदं प्राशिषुं ताभ्यामिनमजीगमम् ॥ एत
वा ०।०।० ॥ ४४ ॥

ततश्चैनमुन्याभ्यामष्टुविद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । स्त्रामो भविष्यतीत्येनमाह ॥
तं वा० । स्वष्टुष्टुविद्भ्याम् ॥ ताभ्यामिदं ०।०।० ॥ ४५ ॥

ततश्चैनमुन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । बहुचारी भविष्यतीत्ये-
नमाह । तं वा ० । अश्विनोः पादाभ्याम् । ताभ्यामिदं ०।०।० ॥ ४६ ॥

ततश्चैनमुन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्ये-
नमाह । तं वा ० । सविनुः प्रपदाभ्याम् । ताभ्यामिदं ०।०।० ॥ ४७ ॥

अर्थ- जिससे पूर्व ऋषियों ने सेवन किया उससे भिन्न [अन्धेन उरसा] छातीसे सेवन करोगे तो [कृष्या न रातस्थसि इति०...] खेतीमें समृद्ध न होगा । [तं वै०... पृथिव्या उरसा०...] उससे भिन्न पृथ्वीरूप उरसे सेवन किया ॥ ४१ ॥

जिह्वा पूर्व ऋषियों ने जिससे सेवन किया था उससे भिन्न [अन्धेन उदरेण०] दूसरे पेटसे तुम सेवन करोगे तो [उदर-
दाः स्वा हनिष्यति इति] पेटको फाटनवाला अनिभारोग तेरा नाश करेगा ऐसा इक्ष कहें। [तं वा०...सखेन उदरेण०...]
उधे मैंने सखरूप पेटक द्वारा सेवन किया०... ॥ ४२ ॥

पूर्व ऋषियों ने जिससे सेवन किया था उससे भिन्न [अन्धेन वास्त्रिणा प्राशीः०...] दूसरी बस्त्रिसे तुने सेवन किया तो तु
[अप्यु मरिष्यसि] जलेमें मरेगा । [तं वै०...समुद्रेण वृश्चिना०...] उमका मैंने समुद्रकी वृश्चिसे सेवन किया०...॥४३॥

जिससे पूर्व ऋषियों ने सेवन किया था उससे भिन्न [अग्याभ्यां ऊरुभ्यां प्राशीः] दूसरी ऊरुओंसे उरका सेवन काग तो
[ते ऊरू मरिष्यन्] मेरी जंघां] नष्ट हो जायगी, [तं वा०... मित्रावठंगयोः ऊरुभ्यां प्राशिषुः—] उमका मैंने मित्रवठंगकी
ऊरुओंसे सेवन किया— ॥ ४४ ॥ पूर्व ऋषियों ने जिससे सेवन किया था उससे भिन्न [अग्याभ्यां बहुचारी प्राशीः]

दूसरी जानुओंसे सेवन करोगे तो [बहुचारी भविष्यसि] लंगड़ा हो जायगा ऐसा इक्षे कहें। [तं वै०... स्वष्टुः अष्टुविद्भ्यां]
उधे मैंने स्वष्टुकी जानुओंसे सेवन किया०... ॥ ४५ ॥ जिससे पूर्व ऋषियों ने सेवन किया था उससे भिन्न [अग्याभ्यां पादाभ्यां]

दूसरे पावोंसे सेवन करोगे तो [बहुचारी भविष्यसि] तुम्हें बहुत चलना पड़ेगा । [तं वै०... अश्विनोः पादाभ्यां०...] उ-
मका मैंने अश्विनके पावोंसे सेवन किया०... ॥ ४६ ॥ जिससे पूर्व ऋषियों ने सेवन किया था उससे भिन्न [अग्याभ्यां प्रपदा-

भ्यां०] दूसरे पंजोंसे तुने सेवन किया तो [सर्पः स्वा हनिष्यति०] साँप तुझे मारेगा । [तं वै सविनुः प्रपदाभ्यां०...] उधे
सविनुके पंजोंसे मैंने सेवन किया ॥ ४७ ॥

तत्तथैतन्मन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राचीर्षाभ्यां चैतं पूर्णं क्रार्यः प्राशंश्च । ब्राह्मणं हनिष्यतीत्यै—
नमाह । तं वा ० । क्रुतस्य हस्ताभ्याम् । ताभ्यानिर्नं ०।०।० । ४८ ॥

तत्तथैतन्मन्यां प्रतिष्ठया वाशीर्विषां चिं पूर्णं क्रार्यः प्राशंश्च । अतिष्ठानोऽनायत्नो मरिष्यु-
सीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चिं न पराञ्चिं न मन्वञ्चिंम् । मृत्वं प्रीतिष्ठयं । तथैतं प्रा-
शिष्यं तथैतमजोगमम् । एष वा औदुनः सर्वाङ्गः सर्वाङ्गः सर्वाङ्गः । सर्वाङ्ग एष सर्वपङ्कः
सर्वतनुः सं भवति य एषं वेदं ॥ ४९ ॥ (९)

[३] एतद् वै ब्रह्मर्ष्यं त्रिष्टयं यदौदुनः	॥ ५० ॥
ब्रह्मर्षीको भवति ब्रह्मर्ष्यं त्रिष्टयिं श्रयते य एषं वेदं	॥ ५१ ॥
एतस्माद् वा औदुनात् त्र्यस्रिष्टयं लोकान् निरामिषीत प्रजापतिः	॥ ५२ ॥
तेषां प्रज्ञानाय यज्ञममृञ्चत	॥ ५३ ॥
स य एषं त्रिदुर्गं उपद्रष्टा भवति प्राणं रूपादि	॥ ५४ ॥
न च प्राणं रूपादिं सर्वज्यानि जीयते	॥ ५५ ॥
न च सर्वज्यानि जीयते पुरैर्न ज्ञासः प्राणो जहाति ॥ ५६ ॥ (१०)	

अर्थ - त्रिपदे एवं ऋषयोः सेवनं कियत् तस्य भिक्षुः [अन्वयादयो हस्त इति०...] इत्येव ह्यथोने वाः तूने उपवा सवन
रिया तो [ब्राह्मणं हनिष्यति०] तु ब्रह्मणका यात करेगा [तं वै० .. क्रुतस्य हस्ताभ्याम्...] उप येने ऋतवे ह्यथोने
सेवनं किय०... ॥ ४८ ॥ त्रिपदे एवं श्रयणेने इत्यथा सेवनं कियत् वा तस्य [अन्वयात् प्रातष्टया प्राणीः०...] इत्यादी
प्रौढानि तूने सेवनं कियत्, नो, अतिष्ठानः अनायत्नः मरिष्यति] इतिष्टरहित आ-ररहित होकर मरेगा, ऐसा कहो [तं वै...
सत्ये त्रिष्टयाय तया एतं प्राशिरं०] सत्ये प्रतिष्ठा यात होनेके लिये सेवनं कियत् त्रिपदे में सब अंगों और अक्षयवैले युक्त
हुआ । जा यह जानता है वह भी सब अंगों और अक्षयवैले युक्त होगा ॥ ४९ ॥ (९)

[यत् औदुनः एतत् वै ब्रह्मर्ष्यं त्रिष्टयं] जो अन्न है वह सब युक्त स्वर्गपाप है ॥ ५० ॥ [य एषं वेदं] जो ऐग अन्न ।
है वह [ब्रह्मर्षीको भवति] ब्रह्मर्षीके लिये सेवनं होता है, [ब्रह्मर्ष्यं त्रिष्टयिं श्रयते] स्वर्गलोके में र ता है प्र५५॥ [तस्मात्
ब्रह्मर्षीको प्रजापति श्रयति] लोकान् निरामिषीत] उप अन्नमे प्रयत्नेने गैती । लका दोनिर्माण कियत् ॥ ५२ ॥ [तेषां प्रज्ञा-
नाय यज्ञं अमृञ्चत] उनके ज्ञानके लिये ब्रह्मणसे निरामिषीकिया ॥ ५३ ॥ [स य एषं त्रिदुर्गं उपद्रष्टा भवति प्राणं रूपादि] यह जो
इसको जननेवालोका निद्रक होता है वह प्राणका नाम करता है ॥ ५४ ॥ [न च प्राणं रूपादिं सर्वज्यानि जीयते] न केवल प्राण
का ही नाम होता है, प्राण मूत्र अन्नवा नाम देना है ॥ ५५ ॥ [न च सर्वज्यानि जीयते] सर्वजन छ जाता है ये-वाही मरि
पण्डु (अरवाः प्राण एतं प्राणं जहाति) इत्यादि० के पूर्व इसको प्राण छूट जाता है ॥ ५६ ॥ (१०)

अन्नका महत्त्व ।

अन्नके महत्त्वका वर्णन इस सूत्रमें वाग्देवी आलंकारिक नक्षत्रमें किया है। यह देखनेसे पता लगना है कि अन्न भी मनुष्यको स्वर्गप्राप्तिका मुख्य देनेवाले है। संपूर्ण विद्युत् अन्नमय है। यह भी ऊर्जा है वह सब अन्न ही है। यही अन्नका विकार है।

अन्न स्वन करना ही तो व्रिषा ऋषियोग उसका भेदन किया करते थे वैसाही करना चाहिये, अथवा मनुष्यका नाश होगा। यह सूचना इस सूत्रमें विशेष महत्त्वकी है।

पाठक इस दृष्टिमें इस सूत्रका मनन करें। इस सूत्रके प्रारंभ में टपकानका संक्षेप कुछ बातें विचारपाय है। २० वें मंत्रमें एक प्रश्न पूछा है—

सं कीदन् प्राचीः स्यां भोदन् इति ? (२०)

“तूने इस अन्नका प्राचन किया अथवा इस अन्नने मेरा मरण किया ?” यह प्रश्न कहा हा विचारणीय है। हम जो अन्न खा रहे हैं वह हमें खा रहा है अथवा हम उस अन्नको भोग रहे हैं ? हम जो भोग भोग रहे हैं वे भोग हमारा उपभोग ले रहे हैं अथवा हम उन भोगोका उपभोग ले रहे हैं ? कितना संभोग प्रश्न है। हाएह मनुष्यको इसका विचार करना चाहिये। कहा ही रहा है। मनुष्य भोगोको बड़ा रहे। उन भोगोको बड़ा भोग कितना शक्ति व्यय हो रही है ? इन्ही शक्तिका व्यय वरके मनुष्य भोगोको भोग रहे है यावे भोगहा मन्वी जीवनको खा रहे है इसका कोई विचार नहीं करता ! कितना आश्चर्य है !

मनुष्यके अन्न लक्ष्य है की राज्य धन ऐश्वर्य ये भोग मनुष्यको ही का रहे हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इनका भोग करके जानेंद प्राप्त करे। परन्तु होता है यह कि मनुष्यका दुःखही बढ रहा है। क्यों ऐसा होता है, इसका विचार मनुष्यको करना चाहिये। इस मंत्रके प्रश्नमें यह महत्त्वपूर्ण आशय है। पाठक विचार करे कि वेदने ए। हां प्रश्नमें कितनी महत्त्वपूर्ण विचार-परंपराकी चालना की। जो विचार करने और सोचने उनके सिधे यह प्रश्न जीवनका परिचयन करनेवाला है।

इस प्रश्नका उत्तर केना होगा चाहिये, यह बात इसी सूत्रमें पढ ही है। मंत्रही उत्तर देना है—

न एव बहं कीदन् न सं कीदन्ः । (३०)

“न मुझे अन्नने खाया, न मैंने अन्नका खाया।” अर्थात् हम दोनों ऐसे विचारकार मात्रसे एक दूसरेके पास आगवक जितने

दोनोंसे शिथिल दूसरेपर दुःख प्रभाव नहीं हुआ। न मैंने अन्नको खा खाकर नम बिदा, अर्थात् आवश्यक्ताकी अपेक्षा अधिक नहीं खाया और ना ही अपने पास भोग्य वस्तुओका संग्रह करके दूसरोंसे बांचित रखा। और नही अन्नने मुझे खाया, अर्थात् न अन्नही मेरे ऊपर मवार होकर मेरा नाश करने लगा। मैं और अन्न साथमाय रहे, एक दूसरेको सहायक हुए, एक दूसरेकी प्रतिष्ठा करने लगे, एक दूसरेकी मित्रता बढाते हुए जगत का उत्कार करनेमें सहायक हुए।

पाठक इस उत्तरका विचार करें। क्या यह उत्तर पाठकोंके विषय में सार्थक हो सकता है ? पाठकोंके जीवनमें यह उत्तर घट रहा है या नहीं, इसका विचार पाठक ही करें। भोग और भोग लेनेवाला एक दूसरेके पास आगे, नो परस्परके उत्कारक होने चाहिये, यह नियम यहाँ बना जा है, एक दूसरेकी शक्ति घटानेवाले नहीं होने चाहिये। कितना उत्तम उपदेश है, इसका मनन पाठक करें। यही इस जीवनके तत्त्वज्ञानकी समाप्ति नहीं हुई। आगे मंत्र सर्वथे एकात्मता कहता है—

कीदन् एव भोदन् प्राचीत् । (३१)

“अन्ने ही अन्नको खाया है।” अर्थात् भोक्ता और भोग्य एकही तत्त्व है। जैमः मगधूनामि कथा है—

प्रश्न पणं प्रश्न हविर्ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मणा हुतम् ॥ (गी० ४।२५)
अहं कर्तुमिच्छे यज्ञः स्ववासिहमहमोपधत्म् ।

अग्नीदममेवाज्यमहमोग्रहं हुतम् ॥ (गी० १।१६)
“ज्ञानी अर्पणव्य है और ब्रह्मज्ञा अर्पणकर्ता है।”

यह जो गीतामें कहा वह इसी मंत्रके अर्थाने कहा, अथवा हम जो कर्तु सक्षते हैं, वेदके विचार और गीताके विचार यहाँ समान हैं।

हम कामेकले भी अन्तरी है और हम जो खाते हैं वह भी अन्नही है। पाठक विचार करने तो लगेको यह बात समझने का सती है कि मनुष्य भी अन्नही है। मनुष्यका चारों ओर अन्नि-योना अन्न तो है ही, परन्तु उच्छ्वास जो वायु मनुष्यपरि प्रणी बाहर निकले है वह लक्षर वनस्पतियां पुत्र हो सकती हैं। इस तरह यह विचार अनेक गीतय से अनुभवमें आसकता है।

एकतरफका अन्नास इस तरह यही वेदमंत्रन पाठकोंको करा या है। आशा है इस तरह विचार करके पाठक इस सूत्रसे योग्य बोध ले सकते हैं।

प्राणकी विद्या ।

(४)

(ऋषिः-- भार्गवो वैदर्भिः । देवता--प्राणः)

प्राणायु नमो यय्यु सर्षमिदं वये । यो भूतः सर्षस्येशुरो यस्मिन्त्सर्षुं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
 नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्त्वये । नमस्ते प्राण शिद्युते नमस्ते प्राण वर्षने ॥ २ ॥
 यत् प्राण स्तनयिन्नुनाभिक्रन्दुनापंधीः । प्र वीपन्ते गर्भान् दध्नेऽथो ब्रह्मिर्षि जायन्ते ॥ ३ ॥
 यत्प्राण श्रुतायामंतंभिक्रन्दुत्पोपंधीः । मर्षी तुदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामर्षि ॥ ४ ॥
 यदा प्राणो अम्पयर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् । पशुस्तत् प्र मोदन्ते महो ये नो भविष्यति ॥ ५ ॥
 अभिवृष्टा ओषधयः प्राणैर्न समवादिशन् । आयुर्वी नः प्रातीतरः सर्षी नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥
 नमस्ते अम्पयते नमो अम्पु पगयते । नमस्ते प्राण तिष्ठन् आमिनाद्योत ते नमः ॥ ७ ॥

सर्ष (पराय वदा) जिसके आध न (इत सर्व , यह सब जगत् है उस प्राणव नम) प्राणकालय मरा नमस्कार है (य सर्वस्य ईश्वर) यह प्राण सबका ईश्वर (भूयः) है और (यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं) तबमें सब जगत् रहा है ॥ १ ॥
 है प्राण ! (कदापि ते नम) गर्भना बरनवाय तुसदा नमस्कार है (स्तनयित्त्व) मेघमें नाद करनेवाले तुसको नमस्कार है । है प्राण ! (शिद्युतं) चमकनव ल तुसको नमस्कार है और है प्राण ! (वषत) वृष्टि करनेव ले तुसको नमस्कार है ॥ २ ॥

है प्राण ! (यत् स्तनयिन्नुना अपंधी क्रन्दति) जब तू मेघोंके द्वारा औषधियाके सन्तुल्य बड़ी गर्भना करता है, तब औषधिया (प्रबोध ले) तेजस्वा हागी है, (गर्भान् दधते) गर्भधारण करती हैं और (अथो ब्रह्मो विजायन्ते) बहुत प्रकाशे विस्तारको प्राण होती है ॥ ३ ॥

है प्राण ! (श्रुतायामन्ते) वर्षा कर आने ही जब तू (आयुः) समिष्टयति) औषधियोंके संदृग्ने गर्भन करने लगता है, (तदा यत् किं च भूम्यामर्षि तत् सर्वं प्रमादत) तब सब जगत् आनंदत होता है, जो कुछ इस पृथ्वी-पर है त ॥ ४ ॥

(यदा प्राणः) जब प्राण (वर्षेण महीं पृथिवीं अम्पयवर्षते) वृष्टि रा इस बड़ी भूमिपर वर्षा करता है, (तत् पशुः प्रमोदन्ते) तब पशु हर्षित होत हैं [और समस्तते है कि] निधयसे अब (नः वे मह भविष्यति) हम सबकी वृद्धि हो गेय

(अभिवृष्टा ओषधयः) मेघोंकी पर वृष्टि होनेके पश्चात् औषधियों (प्राणैर्न समवादिशन्) प्राणके साथ आयुष करती हैं कि है प्राण ! (न आयुः वे शतीतर) तुने हम रा आयु बढा री है और हम सबको (सुरभी) सुगन्धिदुग् (वक्रः) क्रिया है ॥ ६ ॥

(आयत ले मयः अम्पु) धागमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है, (परायते नम अम्पु) गमन करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है । है प्राण ! (शिधर रहनेवाले और (आसीनाय ते नमः) बैठनवाले प्राणके लिये नमस्कार है ॥ ७ ॥

नमस्ते प्राण प्राणते नमो अस्त्वपानते ।

प्राचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥८॥

या तं प्राण प्रिया तनुर्यो तं प्राण प्रेयसी । अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥९॥

प्राणः प्रजा अतु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् । प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥१०॥

प्राणो मृत्युः प्राणस्तवमा प्राणं देवा उपासते । प्राणो ह सत्यवादिर्नष्टुत्तमे लोक आर्दधत् ॥११॥

प्राणो विराट् प्राणो देष्टीं प्राणं सर्वं उपासते । प्राणो ह सर्वेश्वन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥१२॥

प्राणापानौ ब्रीहियवाव्रंढवान् प्राण उच्यते । यवे ह प्राण आहितोऽपानो ब्रीहिरुच्यते ॥१३॥

अपानतो प्राणानि पुरुषो गर्भे अन्तरा । यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥१४॥

प्राणमाहुर्मातरिस्थानं वातो ह प्राण उच्यते । प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

आथर्वणीराक्षिरसिर्दिर्वर्मिस्तुष्यजा उत । ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥१६॥

अर्थ- हे प्राण ! (प्राणते) जीवनका कार्य कानबाले तुझे नमस्कार है, (अपानते) अगानका कार्य करनेवाले तरे लिये नमस्कार है । (प्राचीनाय) आगे करनेवाले और (प्रतीचीनाय) पीछे करनेवाले प्राणके लिये नमस्कार है (सर्वस्मै त इदं नमः) सब कार्य करनेवाले तरे लिये यह मेरा नमस्कार है ॥ ८ ॥

हे प्राण [या ते प्रिया तनुः] जो मेरा [प्राणमय] शिव शरीर है, [या ते प्रेयसी] और जो तरे [प्राणापानरूप] शिव भाग है, तथा [अथो यद् भेषजं तव भेषजं] जो तेरा औषध है वह [अच्यते नः धेहि] दीर्घजीवनके लिये हमने दे ॥ ९ ॥

[पिता प्रियं पुत्रं ह्व] जिस प्रकार शिव पुत्रके साथ पिता रहता है, उस प्रकार [प्राणः प्रजाः अनुवस्ते] सब प्रजाओंके साथ प्राण रहता है । [यच्च प्राणति] जो प्राण धारण करते हैं और [यच्च न] जो नहीं धारण करते, [प्राणः सर्वस्य ईश्वरः] उन सबका प्राणही ईश्वर है ॥ १० ॥

[प्राणः मृत्युः] प्राण ही मृत्यु है और [प्राणः तवमा] प्राणही जीवनकी शक्ति है । इसलिये [प्राणं देवाः उपासते] सब देव प्राणकी उपासना करते हैं । [प्राणः ह सत्यवादिर्नो प्राणही] सचमे लोकें आभरत ; उतम सो-कमें पढ़ुंछता है ॥ ११ ॥

प्राण [वि-राज्] विशेष तेजस्वी है, और प्राण ही [देष्टीं] सबका प्रेरक है, इसलिये [प्राणं सर्वं उपासते] प्राणकी ही सब उपासना करते हैं । सर्व, अंशमा और प्रजापति मां [प्राणं वाहुः] वागही है ॥ १२ ॥

(प्राण पानौ ब्रीहियवौ) प्राण और अपान ही चावल और जौ हैं । (मनह्वान्) बैल ही (प्राणः उच्यते) मुख्य प्राण है । (यवे ह प्राणः आहितः) जौ में प्राण रखा है और (ब्रीहिः अपानः उच्यते) चावल अपानको कहते हैं ॥ १३ ॥

(पुत्रवः गर्भे अन्तरा) जब गर्भके अंदर (प्राणति अगानति) प्राण और अपानके व्यापार करता है । हे प्राण ! जब तू (जिन्वसि) प्रेरणा करता है तब वह (अथ सः पुनः जायते) जीव पुनः उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

(प्राणं मातरिस्थानं वाहुः) प्राणको मातरिस्था कहते हैं, और (यातः ह प्राणः उच्यते) वायुध नामही प्राण है । (भूतं भव्यं च ह प्राणे) भूत, भविष्य और सब कुछ वर्तमान कालमें जो है वह सब प्राणमें (सर्वं प्रतिष्ठितं) ही रहता है ॥ १५ ॥

हे प्राण ! (यदा) जबतक तू [जिन्वसि] प्रेरणा करता है तबतक ही आथर्वणी, आगिरधी, देवी और मनुष्यरूप [ओषधयः] औषधियां [प्र जायते] उत्पन्न होती हैं ॥ १६ ॥

यदा प्राणो अभ्यर्षोद् चयेण पृथिवीं महीम्। ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः कार्यं श्रीरुषः। १७॥
यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिन्थासि प्रतिष्ठितः । सर्वे तस्मै वलिं हरान्मुनिस्तोक् उक्तमे ॥१८॥
यथा प्राण वलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः। एता तस्मै वलिं हरान् यस्त्वांशुणवत् सुखवः। १९॥
अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उं जायते पुनः।
स भूतो भर्ष्य भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शर्चीभिः ॥२०॥ [१२]
एकं पादं नोत्खिदति सल्लिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छित् कृदाचन ॥२१॥
अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पृथा ।
अर्धेन विश्वं भुवनेन ज्ञानं यदस्यार्धं कृतमः स क्रेतुः ॥२२॥
यो अस्य विश्वजंगमन् ईशे विश्वस्य चेष्टतः। अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राणु नमोऽस्तु ते ॥२३॥

अर्थ[यदा प्राणः मही पृथिवीं अभ्यर्षोत्] जब प्राण इस बड़ी दृष्टीपर शक्ति करता है सब [ओषधयः श्रीरुषः याः कार्यं प्रजायन्ते] अंग धरा और बनर गतिवा बह जाती है ॥ १७ ॥

हे प्राण ! [यः ते इदं वेद] जो मनुष्य तेरी इस शक्तिको जानता है और [यस्मिन् प्रतिष्ठितः थासि] जिस मनुष्यमें तू प्रतिष्ठित होता है, [तस्मै सर्वे वलिं ह्य इत्] उस मनुष्यके लिये उस उक्तम लोके सबही शरकारका समर्पण करते हैं ॥ १८ ॥

हे प्राण ! [यथा] जिन प्रकार ये [पुत्र्यं सर्वाः इमाः प्रजाः वलिहृतः] सब प्रजाजन तेरा शरकार करते हैं कि [यः] जो [सुखवाः] उक्तम यशस्वी है और [रथा] तेरा सामर्थ्य [दृणवन्] सुनता है [तस्मै वलिं हरान्] सबके लिये भी बली देते हैं ॥ १९ ॥

[देवतासु जामृतः] इन्द्रियादिकोमि जो म्यपक प्राण है वह ही [संतः गर्भः चरति] गर्भके अंदर चलता है । जो [मूत्रः] पाहिले हुआ था [सः उ] वह ही [पुनः जायते] फिर उत्पन्न होता है, जो [भूतः] पहिले हुआ था [स] वह ही [अभ्यं भविष्यत्] अब होता है और आगे भी होगा । पिता [शर्चीभिः] अपनी सब शक्तिपोकें साथ [पुत्रं प्रविशेत्] पुत्रमें प्रविष्ट होता है ॥ २० ॥

[सल्लिलात् इंस उद्यान्] जलसे इंस ऊपर उठता हुआ [एकं पादं न उत्खिदति] एक पादको कटता नहीं । [अंग] हे म्रिय [यत् स तं उत्खिदेत्] यदि वह उस पादको उठावेगा [न एव जय स्यात्, न श्वः न रात्रीः न अहः स्यात्, न व्युच्छेत् कदाचन] तो आज, बल, रात्री, दिन, प्रकाश और अंधेरा कुछ भी नहीं होगा ॥ २१ ॥

(अष्टाचक्रं) आठ चक्रोंसे युक्त, (सहस्रारं) अक्षरोंसे म्यक्त (एकनेमि वर्तते) जिसका है, ऐसा यह प्राणवक (य पुरः नि पृथा) आंग और पीछे चलता है । (अर्धेन विश्वं भुवनेन ज्ञानं) आधे भागसे सब भुवनोंको उत्पन्न करके (यत् अद्य मर्षं) जो इसका आधा भाग लेप रहा है (कृतमः सः क्रेतुः) वह जिसका चिह्न है ॥ २२ ॥

हे प्राण ! [अस्य विश्व-जंगमः] सबको जग्न देनेवाले और इस सब (विश्वरप चेष्टतः) उत्पन्न करनेवाले (यः ईति) जगत्का जो ईश है, सब (भन्वेषु) भन्वींमि (क्षिप्र धन्वने ममः) क्षीप्र गतिवाले तेरे लिये नमन है ॥ २३ ॥

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेदृतः । अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो प्राञ्जुं तिष्ठतु ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते । न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।

अर्पा गर्भामिव जीवसे प्राणं च्छामि त्वं मयि ॥ २६ ॥ (१३)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ-(यः अस्य सर्वजन्मनः) जन्म धारण करनेवाले और (अतन्द्रो) हलचल करनेवाले सबका जा (ईशे) स्वामी है, वह धैर्यमय प्राण (अतन्द्रः) आलस्यरहित होकर (ब्रह्मणा धीरः) आत्मशक्तिसे युक्त होता हुआ प्राण (मा) मेरे पास (अनुतिष्ठतु) सदा रहे ॥ २४ ॥

[सुप्तेषु] सब सो जानेपर भी यह प्राण [ऊर्ध्वः] खड़ा रहकर [जागार] जागता है [ननु तिर्यङ् निपद्यते] कभी तिरछा गिरता नहीं । [सुप्तेषु अस्य सुप्तं] सबके सो जानेपर इसका सोना [कश्चन न अनुशुश्राव] किसीने मा सुना नहीं दे ॥ २५ ॥

हे प्राण ! [मत् पर्यावृतः] मेरेसे घूँसकू न होओ । [न मदन्यो भविष्यसि] मेरेसे दूर न होओ । [जीवसे अपां गर्भामिव] पानीके गर्भके समान, हे प्राण ! [जीवसे मयि त्वां च्छामि] जीवनेके लिये मेरे अंदर तुझके बसना है ॥ २६ ॥

प्राणसूक्त समाप्त
द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥



प्राणका महत्व ।

प्राणजी जो विद्या होता है, उसको "प्राण-विद्या" कहते हैं। मनुष्योंके लिये सब अन्य विद्याओंका अपेक्षा प्राणविद्याकी अत्यन्त आवश्यकता है। मनुष्यके शरीरमें भौतिक और अर्थात्मिक अनेक शक्तियाँ हैं। उन सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिका महत्त्व सर्वोपरि है। सब अन्य शक्तियोंके अस्त होनेपर भी इस शरीरमें प्राणशक्ति कार्य करती है, परंतु प्राणका अस्त होनेपर कोई अन्य शक्ति कार्य करनेके लिये रह नहीं सकती। इससे प्राणका महत्त्व स्वयं स्पष्ट हो सकता है।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें "प्राण" शब्दमें परमेश्वरकी विश्व-व्यापक जीवन-शक्ति (Life energy) बड़ी है। इस परमात्माकी ज वनशक्तिके आधीन यह सब समस्त है, इनके व्यापारसे रहा है और इन्हींसे सब संस्कार नियमन भी हो रहा है। समष्टि दृष्टिसे सर्वत्र प्राणका राज्य है। स्थिति दृष्टिसे प्रत्येक शरीरमें भी प्राणका ही आधिपत्य है। प्रायिसमस्तके प्रत्येक शरीरमें जो जो इंद्रियशक्ति शक्तियाँ हैं, तथा विभिन्न अणुव्यवस्था और इंद्रिय हैं, सब ही प्राणके वशमें हैं। प्राणके आधीन ही सब शरीर है। शरीरमें प्राणही सब इंद्रियों और अवयवोंका ईश्वर है, क्योंकि वहाँके आधारसे सब शरीर प्रतिष्ठाको प्राप्त हुआ है। प्राणके बिना इस शरीरकी स्थिति ही नहीं हो सकती। अर्थात् अणुव्यवस्था वगैरेसे सब शरीर सुदृढ़ और नरोग हो सकता है और प्राणके निर्बल होनेसे सब शरीर निर्बल हो सकता है। इसलिये प्राणकी स्वर्धन करनेकी आवश्यकता है।

अपने शरीरमें श्वाभ्युत्थान रूप प्राण चल रहा है और जन्मसे माणव्यतक यह कार्य करता है। सब इंद्रिय और अवयव मरतलके पश्चात्भी कुछ देरतक प्राण कार्य करता है, इसलिये सर्वमें प्राणही मुख्य है और वह सबका आधार है। अपने प्राणकी केवल साधारण श्वाभ्युत्थान ही समझना नहीं चाहिये, परंतु उसको भेद्य दिग्दर्शकता अंश समझना उचित है। मनुष्यी इच्छाशक्तिये प्रेरित प्राण सबही शरीरका आरोग्य संवादन करनेमें समर्थ होता है, इस दृष्टिसे प्राणका महत्त्व सब शरीरमें अधिक है। इसके महत्त्वकी समझना और सदा मनमें धारण करना चाहिये। "अपने प्राणके आधीन मेरा सब शरीर है, प्राणके कारण वह स्थिर रहा है और उसकी सब दलचल शक्तियोंके कारण ही वह इस प्रकारके प्राणकी मैं उपासना करूँगा

और उसको अपने आधीन करूँगा। प्राणदामसे उसको प्रसन्न करूँगा और वर्धाभूत प्रपण्डे अपनी इच्छानुरूप अपने शरीर में कार्य करूँगा।" यह भावना मनमें धारण करके अपने प्राणकी शक्तिका चिंतन करना चाहिए।

यह प्राण जैसा शरीरमें है वैसा बाहर भी है। इस विद्वद्वेद द्वितीय मंत्र देखने योग्य है।

इस द्वितीय मंत्रमें केवल गरजनबाले मेघोंका नाम 'कंद' है, बरान गर्जना और विद्युत्प्राण जिनसे होता है उन दोनोंका नाम 'स्तनविष्णु' है, जिनसे बिजली बहुत समकृती है उनको विष्णु कहते हैं और वृष्टि करनेवाले मेघोंका नाम है 'वर्षा'। ये सब मेघ अंतर्निहित प्राणवायु ही धारण करते हैं और वृष्टिद्वारा वह प्राण भूमिकत पर आता है। और वृष्टिवनस्पतियोंमें संभारित होता है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि अंतर्निहित स्थानका प्राण वृष्टिद्वारा औषधवनस्पतियोंमें आकर वनस्पतियोंका विस्तार करता है। प्राणकी यह शक्ति प्रत्यक्ष देखने योग्य है।

वृष्टिद्वारा प्राप्त होनेवाले प्राणसे न केवल वृक्षवनस्पतियोंका प्रजापन्न होती है, परंतु अन्य जीव जंतु और प्रकीर्ण भी बने हविर्त होते हैं। मनुष्य भी इसका स्वयं अनुभव करते हैं। यह तृतीय मंत्रका कथन है।

अंतर्निहित प्राणका कार्य इस प्रकार चतुर्वर्ष और पंचम मंत्रमें पाठक देखें और जगत्में इस प्राणका महत्त्व चिंतना है, इसका अनुभव करें। पहिले मंत्रमें प्राणका सामान्य स्वरूप वर्णन किया है, उसके अंतर्निहितस्थानीय एक विभूति दर्शा बतला दी है। अब इसीकी वैदिक विभूति उत्तम और उत्तम मंत्रोंमें बतलाई जाती है।

श्वशके साथ प्राणका अंतर समझना होता है और उच्छ्वासके साथ बाहर आना होता है। प्राणायामके पुरक और रोकक दोष "आयत्त, पशायत्त" इन दो शब्दोंसे होता है। स्थिर (स्थित) रहनेवाले प्राणमें कुंभकका दोष होता है। और बाह्य कुंभकका ज्ञान 'आसौम' पदसे होता है। "(१) प्राण, (२) कुंभक, (३) रोक और (४) बाह्य कुंभक के प्राणायामके चार भाग हैं। ये चारों मिलकर परिपूर्ण प्राणायाम होता है।

इनका वर्णन इस मंत्रमें "(१) आयत्, (२) तिष्ठत्, (३) परावत्, (४) भासीन्, " इन चार शब्दोंमें हुआ है । जो अंदर आनेवाला प्राण होता है, उसके " आयत् प्रण " कहा जाता है, वहीं "रुक प्राणायाम" है । आने जने भी गतिहा निरोध करके प्रणको अंदर स्थिर किया जाता है, उसके "तिष्ठत् प्राण" कहते हैं, यही कुंभक अथवा अंतःकुंभक प्राणायाम होता है जो अंदरसे बहर जाता है, उसके "परावत्प्रण" कहते हैं, यहाँ रोक प्राणायाम है । सब प्राण रोकद्वारा बाहर निकालनेके पश्चात् उसको बाहर ही बिठलाना "भासीन्प्राण" द्वारा होता है, यहाँ बाहर कुंभक है । प्रणायामके ये चार भाग हैं । इन चारोंके अभ्यासमें प्राण बसा होता है । यही इस प्राणदेवताको प्रमथना करनेका उपय है । यहाँ प्रणोपामनाकी विधि है ।

प्राण नाम उसका है कि जो नासिकाद्वारा छातीमें पहुँचना है । अपान उसका नाम है कि जो नाभिके निम्न देशसे मुद्राके द्वारतक कार्य करता है । इन्हींके दो अन्य नाम "प्राचान" और "प्रतीचान" प्रण है । प्राणके स्थापन रखनेका लक्ष्य प्राण और अपानके स्थापन करना है । अपानकी स्थापनतामें मल-मूत्रोत्सर्ग उत्तम प्रकारसे होते हैं और प्राणकी स्थापनतामें रुधिर का शुद्ध होना है । इस प्रकार दोनोंके स्थापनमें शरीरकी नारीगता सिद्ध होती है । इस प्रकारकी प्राणकी स्थापनता हीन-प्रसूत प्रजापति का यह प्रण करता है । न केवल प्राण धारण करने-वाले प्राणियोंमें प्राण ही होता है, इसी-प्रकार हीन-प्रसूत प्रजापति भी प्राण धारण करती है । अर्थात् कोई यज्ञ न समझे कि प्राणोंके स्थापन करनेके लिये प्राणियोंमें ही प्राण है, परंतु इसबन्ध-रूपित, पुण्य आदि पुण्योंमें भी प्राण है और इन सब पदार्थोंमें रहकर प्राण सबका संरक्षण करता है । प्राणको पिताकेसमान पूज्य समझना चाहिये और उसको सब पदार्थोंमें व्यापक जानना चाहिये । शरीरसे प्राण चले जानेसे मृत्यु होती है और जबतक शरीरमें प्राण कार्य करता है, तबतक ही शरीरमें सामर्थ्य अथवा सहनशक्ति रहती है, यह अथारहवें मंत्रका कथन है । इस प्रकार एकी प्राण जीवन और मृत्युका कर्ता होता है । 'देव' शब्दसे इस मंत्रमें इन्द्रियोंका प्रदण होता है । सब इन्द्रियों प्राणकी ही उपासना करती है अर्थात् प्राणके साथ रहकर अपने अंदर बल प्राप्त करती हैं । जो इन्द्रिय प्राणके साथ रहकर बल प्राप्त करता है वहही कार्य-क्षम होता है, परंतु जो इन्द्रिय प्राणसे विद्युक्त होता है, वह मर जाता है । यही प्राण उपासना और यही दृढ़ उपासना है । सब देवोंमें महादेवकी शक्ति है ही कार्य करती है, इसका यही अनुभव ही सकता है । प्राणही महादेव, द्र, शंभु आदि नामोंसे

और अपानसे इस शरीरके दो प्रेममय कार्य हैं । प्राणसे शक्तिका संवर्धन होता है और अपानसे विरक्तो दूर करके स्वस्थका संरक्षण होता है । प्राणक अंदर एक प्रकाश "मेघज" अर्थात् अंध है, दोषोंको दूर करनेकी शक्तिका नाम (दंघ-ध) औप-प-ध अथवा मेघज होता है । शरीरके सब दोष दूर करना और वहीं शरीरमें आरोग्यकी स्थापना करना, यह पवित्र कार्य करना, प्राणदाही धर्म है । प्राणका दूसरा नाम "द्र" है और द्र शब्दका अर्थ वैद्य भी होता है ।

इस प्राणमें औषध है, यह वेदका कथन है । इसपर अंध्य विश्वास रखना चाहिये, क्योंकि यह विश्वास अज्ञानविक नहीं है, अपनी निज शक्तिपर विश्वास रखनेके समान ही वह वास्तविक विश्वास है । मानव-चित्तमें यही मूल है । पाठक इस हाथसे इस मंत्रका विचार करे । अपनी प्रणायाममें अपनी ही चिरिष्वा की जा सकती है । "अपनी प्राणशक्तिमें अपने रंगों का निर्वाण अवश्य कहना," यह भाव यहाँ धारण करनेसे बड़ा लाभ होता है ।

दशम मंत्रमें ऐसा कहा है कि जिस प्रकार पुत्रका संरक्षण करनेकी इच्छा पिता करता है उसी प्रकार प्राण सबका संरक्षण करना करता है । सभ प्रजाओंके शरीरोंमें न सनाहिये जाकर, वही रहकर सब प्रजाओंका संरक्षण यह प्रण करता है । न केवल प्राण धारण करने-वाले प्राणियोंमें प्राण ही होता है, इसी-प्रकार हीन-प्रसूत प्रजापति भी प्राण धारण करती है । अर्थात् कोई यज्ञ न समझे कि प्राणोंके स्थापन करनेके लिये प्राणियोंमें ही प्राण है, परंतु इसबन्ध-रूपित, पुण्य आदि पुण्योंमें भी प्राण है और इन सब पदार्थोंमें रहकर प्राण सबका संरक्षण करता है । प्राणको पिताकेसमान पूज्य समझना चाहिये और उसको सब पदार्थोंमें व्यापक जानना चाहिये । शरीरसे प्राण चले जानेसे मृत्यु होती है और जबतक शरीरमें प्राण कार्य करता है, तबतक ही शरीरमें सामर्थ्य अथवा सहनशक्ति रहती है, यह अथारहवें मंत्रका कथन है । इस प्रकार एकी प्राण जीवन और मृत्युका कर्ता होता है । 'देव' शब्दसे इस मंत्रमें इन्द्रियोंका प्रदण होता है । सब इन्द्रियों प्राणकी ही उपासना करती है अर्थात् प्राणके साथ रहकर अपने अंदर बल प्राप्त करती हैं । जो इन्द्रिय प्राणके साथ रहकर बल प्राप्त करता है वहही कार्य-क्षम होता है, परंतु जो इन्द्रिय प्राणसे विद्युक्त होता है, वह मर जाता है । यही प्राण उपासना और यही दृढ़ उपासना है । सब देवोंमें महादेवकी शक्ति है ही कार्य करती है, इसका यही अनुभव ही सकता है । प्राणही महादेव, द्र, शंभु आदि नामोंसे

बोधित होता है। ब्यक्ति के शरीर में प्राण ही उसकी विभूति है। सब जगत् में उसका स्वरूप विद्युत्-धारा के प्राणशक्ति ही है। इस स्थावर प्राणशक्तिके व्याप्यमें अग्नि, वायु, इंद्र, सूर्य आदि देवता-गण रहते हैं और अना कार्य करते हैं। ब्यक्ति में और समाष्टि में एवही नियम कार्य कर रहा है ब्यक्ति में प्राणके साथ इंद्रिया रहनी हैं और समाष्टि में ब्यपक प्राणशक्तिके साथ अग्नि आदि देव रहते हैं। दोनों स्थानों में दोनों प्रकारके देव प्राणकी उपासनासे ही अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे देव समाज और राष्ट्र-में विद्वान् गुरु आदि प्रकारके हैं, वे सत्यव दो, सत्य निष्ठ, सत्य-परायण और सत्याग्रही बनकर प्राणादायक प्राणोपासना करते हैं। प्राणही इनको उत्तम लोकमें पहुँचता है। अर्थात् इनको भेष्ट बनाता है। अर्थात् प्राणोपासनासे ब्यक्ति भेष्ट बनते हैं।

सत्यसे चलप्राप्ति ।

कई लोग यहाँ पूछेंगे कि 'सत्यवादिताका प्राण उपासनाके साथ क्या संबंध है?' उत्तरमें निवेदन है कि सत्यमें मान पवित्र होता है और उसकी शक्ति बढ़ती है। प्राणकी शक्तिके साथ मानसिक शक्तिका विकास होनेसे बड़ा लाभ होता है। प्राणादायसे प्राणकी शक्ति बढ़ती है और सत्यनिष्ठामें मनकी शक्ति विकसित होती है। इस प्रकार दोनों शक्तिसौंधा विकास होनेसे मनुष्यकी योग्यता असाधारण हो जाती है।

द्विजना मंत्रवा अथ विचार करिये । प्राण विद्येय तेजस्वी है । जबतक शरीरमें प्राण रहता है, तबतक ही शरीरमें तेज होता है। प्राणके चले जानेसे शरीरका तेज नष्ट होता है। सब शरीरमें प्राणमें ही प्रेरणा होती है। बोलना, हिलना, चलना आदि सब प्राणकी प्रणाली ही होता है। अर्थात् शरीरमें तेज और प्रेरणा प्राणसे होती है। इसलिये सब प्राणीमात्र प्राणही ही उपासना करते हैं अथवा यों समझिए कि जबतक वे प्राणके साथ रहते हैं तबतक ही उनकी स्थिति है तो ही। जब वे प्राणका साहचर्य छोड़ देने हैं तब उनकी मृत्यु ही होनी है। इच्छा न होनेपर भी सब प्राणी प्राणकी ही उपासना कर रहे हैं। यदि मानसिक इच्छा के साथ प्राणोपासना की जायगी तो निःसंदेह बड़ा लाभ हो सकता है। क्योंकि इस जीवनका जो वैभव है, वह प्राणसे ही प्राप्त हुआ है। इसलिये अधिक वैभव प्राप्त करना है, तो प्रवृत्तिये उसका ही उपासना करनी चाहिये। प्राणावासा यही फल है। इस जगत् में सर्वत्र ये प्राण ही हैं सूर्यकिरणोंके द्वारा वायुमें

प्राण रखा जाता है और चंद्र अपनों किरणोंसे औषधियोंमें प्राण रखता है। मेघ विद्युत् आदि करने अपने कार्यद्वारा जगत् को प्राण दे ही रहे हैं। अंतमें प्राणोंका प्राण जो प्रथम पति परमात्मा है, वही सच्चा प्राण है, क्योंकि जीवन की सब प्राणशक्तिका वह एक मात्र स्रष्टा है। यही कारण है कि वेदमें प्रजापति परमात्माका नाम प्राणही है। मन्व पदाध्यायों में प्राण है उसका वर्णन दे-रहें मंत्रमें इस प्रकार किया है—

सुद्य प्राण एव ही है, उससे बलसे शरीरमें प्राण और अगान कार्य करते हैं। इसी प्रकार क्षेत्रोंमें बैलकी शक्ति मुख्य है, उसकी शक्तिये ही चाल और जो आदि घान्य उत्पन्न होता है। वेदमें "अनट्टान्" यह बैलवाचक शब्द प्राणका ही वाचक है। समझो कि शरीररूपी क्षेत्रमें यह प्राणरूपी बैलही खेती करता है और यज्ञका किसान जीवात्मा है। शरीर क्षेत्र है, जीवात्मा क्षेत्रज्ञ है, प्राण बैल है और जीवनव्यवहाररूप खेती यहाँ चल रही है। वेदमें अनट्टान् शब्दका प्राण अर्थ है, यह न समझनेके कारण कईयोंने बड़ा अर्थका अर्थ किया है।

अनट्टान् दाधार पृथिवीसुत द्याम् ॥ (अथर्व. ७।११।१)
 "प्राणका पृथिवी और पुनःकर्मों आधार है," यह वास्तविक अर्थ न लेकर, बैलका पृथिवी और पुनःकर्मों आधार है, एवा भाव कईयोंने समझा है। यदि पाठक इस अनट्टान् शब्दका अर्थ इस प्राणशक्तिके अर्थके साथ देखेंगे, तो उनको स्पष्ट पता लग जायगा कि वहाँ अनट्टान् अर्थ केवल बैल ही नहीं है, पर्युत्त पण भी है। इसी कारण इस श्लोकमें प्राणका नाम अनट्टान् कहा है। जब प्राण है और चाल अगान है, वह कप-न आलंकारिक है। धान्यमें प्राण और अगान अर्थात् प्राण ही संपूर्ण शक्तिये व्याप्त है; धान्यका योग्य सेवन करनेसे अपने शरीरमें प्राणादिक आते हैं और अपने शरीरके अवयव बनकर कार्य करते हैं।

गर्मके अंदर रहनेवाला जीव भी वही गर्ममें प्राण और अगानके व्यापार करता है। और इसलिये वहाँ उसका जीवन होता है। जब जन्मके समय प्राण जन्म हेतु योग्य प्रेरणा करता है, तब उसको जन्म प्राप्त होता है। अर्थात् जन्मके अनुकूल प्रेरणा करना प्राणके ही आधीन है। इस चतुर्दश मंत्रमें "सः पुनः जायते" यह वाक्य पुनर्जन्म की कल्पनाका मूल वेदमें बता रहा है, जीवात्मा पुनः पुनः जन्म धारण करता है, यह सब प्राणकी प्रेरणासे होता है, यह भाव इस मंत्रमें स्पष्ट है।

१५ वें मंत्रमें ' मातरि-ष्वा ' शब्दका अर्थ ' माता के अंदर रहनेवाला, माताके गर्भमें रहनेवाला ' है। माताके गर्भमें प्राणरूप अवस्थामें जांब रहता है, इसलिये जांबका नाम ' मातरिष्वा ' है। गर्भमें इसकी स्थिति प्राणरूप होनेसे इसका नाम ही प्राण होता है। इस कारण प्राण और मातरिष्वा शब्द समान अर्थ बताते हैं।

' मातरिष्वा ' का दूसरा अर्थ वायु है। वायु, वात आदि शब्द भी प्राणवाचक ही हैं। क्योंकि वायुरूप प्राण ही हम अंदर लेते हैं और प्राणधारण कर रहे हैं। प्राण का विचार करनेसे ऐसा पता लगता है कि उसके आधारसे भूत, मविष्य और वर्तमान का सबही जगत् रहता है। प्राणके आधारसे ही सब रहता है। प्राणके बिना जन्तुमें किसीकी भी स्थिति नहीं हो सकती। पूर्व-जन्म, यह जन्म और पुनर्जन्म ये सब प्राणके कारण होते हैं। अर्थात् मृत, मविष्य और वर्तमान कालमें जो कर्मके संस्कार प्राणमें संचित होते हैं, उनके कारण यथावीर्य रीतिसे पुन-जन्मादि होते हैं।

औषधिवैद्य उपयोग तबतक ही होता है कि जबतक प्राणकी शक्ति शरीरमें है। जब प्राणकी शक्ति शरीरसे अलग होने लगती है, तब किसी औषधिका कोई उपयोग नहीं जाता। इसी सूक्तके मंत्र ९ में " प्राणही औषधि है। क जो जीवनश हेतु है, " ऐसा कहा है, उसका अनुसंधान इस १६ वे मंत्रके साथ करना उचित है।

इस मंत्रमें "(१) आयुर्वंशी; (२) आंगिरसी; (३) देवी; और (४) मनुष्यजाः" ये चार नाम चार प्रकारकी चिकित्साओंके बोधक हैं। इसका विचार निम्न प्रकार है—(१) मनुष्यजाः औषधयः = मनुष्योंकी बनाई औषधियाँ, अर्थात् कषाय, घृण, अजलेह, मसू, कल्प, आदि प्रकार जो वैद्यों, डाक्टरों और हकीमोंके बनाये होते हैं, उनका समावेश इसमें होता है। ये मानवी औषधियोंके प्रकार हैं। इससे श्रेष्ठ देवों विधि है।

(२) देवीः औषधयः-आप, तेज, वायु, आदि देवोंके द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, वह देवीचिकित्सा है। जलचिकित्सा, और चिकित्सा, वायुचिकित्सा विद्युच्चिकित्सा आदि सब देवी चिकित्साके प्रकार हैं। सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके साहाय्य संरक्षणे वह चिकित्सा होती है और आःशब्दकारक गुण प्राप्त होता है, इसलिये इसमें योग्यता बड़ी है। इसके अतिरिक्त देवदत्त अर्थात् इन्हन आदि द्वारा जो चिकित्सा होती है उसका भी

समावेश इसमें होता है। देवदत्तद्वारा देवताओंकी प्रसन्नता करके, उन देवताओंके जो जो अंश अपने शरीरमें हैं, उनका आरोपण संपादन करना कोई अस्वाभाविक प्रकार नहीं है। यह बात युक्तयुक्त और तर्कमय भी है। (३) आंगिरसीः औषधयः = अंगों, अवयवों और इंद्रियोंमें एक प्रकारका रस रहता है, जिसके कारण हमारे अथवा प्राणियोंके शरीरकी स्थिति होती है। उस रसके द्वारा जो चिकित्सा होती है वह आंगि-रस-चिकित्सा कहलता है। मानसिक दुःखाशुक्लकी प्रबल प्रेरणासे इस रसका अंग अंगोंमें संचार करनेसे रोगोंकी निशुक्ति होती है। मानसिक चिन्तकाम्यका इसमें विशेष संबंध है। इस अव-स्थको संबोधित करके नीरोग-के भावकी सूचना देना, तथा रोगोंके निज अंगरम शक्तिकी प्रेरणा करनेके लिये उत्तेजित करना, इस विधिमें मुख्य है। निज आरोपणके लिये बाधा साधनोंकी निरपेक्षता इसमें होनेसे इसको आंगिरस-चिकित्सा अर्थात् अपने निज अंगके रसद्वारा होनेवाली चिकित्सा कहते हैं।

(४) आयुर्वंशीः औषधयः = ' अ-युवा ' नाम है योगीका। मनको विविध श्रुतियोंका निरोध करनेवाला, चित्तश्रुतियोंके स्वाधीन रखनेवाला योगी अर्थात् कहलता है। इस शब्दका अर्थ (अ-युवा) नियन्त्रण, स्थिर, गतिहीन ऐसा है। स्थित-प्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थितमति आदि शब्द इसका भाव बताते हैं। योगी लोग मंत्रमयोगसे जो चिकित्सा करते हैं उसका नाम आयुर्वंशी-चिकित्सा होता है। हृदयके प्रेमसे, परमेश्वरभक्तिसे, मानसशक्तिसे और आत्मवेद्यसे मंत्रसिद्धि होती है। यह आयुर्वंशी-चिकित्सा सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जो कार्य होता है, वह अन्तर्धी शक्तिये होता है, इसलिये अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता है। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। ये सब चिकित्साके प्रकार तबतक कार्य करते हैं कि जबतक प्राण शरीरमें रहना चाहता है। जब प्राण चला जाता है, तब कोई चिकित्सा फलदायक नहीं हो सकती। इस प्रकार प्राणका महत्त्व विशेष है।

प्राणकी वृष्टि ।

जो मनुष्य प्राणकी शक्तिका वर्धन अदासे सुनता है, प्राणके बलके विषयसे जानता है, प्राणका बल प्राप्त करनेमें यशस्वी होता है और जिस मनुष्यमें प्राण उत्तम रीतिसे प्रतिष्ठित और स्थिर रहता है, उसका ही सब सरकार करते हैं बसकी स्थिति

काम लोके में होती है और उसका दश सर्वत्र फैलता है । प्राणवायुद्वारा जो अपने प्राणको प्रसन्न और स्वाधीन करता है, उसका दश सब प्रकारसे बढ़ता है । इस उल्लोचने में प्रथम 'बले' शब्दका अर्थ सत्कार, पूजा, अर्पण, शक्तिप्रदान अदि प्रकारका है । सब अन्य देव प्राणही ही पूजने हैं, इस बातका अनुभव अपने शरीरमें भी आ सकता है । जेज कर्ण नामिका अदि सब अन्य देव प्राणका ही पूजा करते हैं, प्राणही उपमानाम ही प्राणको शक्ति उनमें प्रकट होती है। इसी प्रकार प्राणवायुमही सधना करनेवाले योग्याका सत्कार अन्य सज्जन कांते हैं और उच्च उच्येनसं प्राणोवासन वा मार्ग जानकर स्वयं बलवान बन सकते हैं। यही कारण है कि प्राणवायु करनेवाले योग्याका सर्वत्र प्रसंसा होती है ।

ई सर्वे मंत्रमें कडा है कि स्वयं चंद्र वयु आदि देवताओंके अंग मनुष्यादि प्राणियोंके शरीरमें रहने हैं । वे ही आत्मा, नास आदि अवयव विवा इन्द्रियों स्थानमें रहते हैं। इन देवताओंमें प्राणकी शक्ति व्यक्त है । यही अकारक प्राण पूर्वदेहकी छोड़कर दूसरे गर्भमें प्रविष्ट होता है । अर्थात् प्रकार जन्म लनके पश्चात् पुनः जन्म लेता है । आत्माही शक्तियों का नाम शची है । इन्द्रकी धर्मपत्नीका नाम शची होता है। धर्मपालका भाव यही निर्राशक्ति ही है । इन्द्र जीवात्माका है और उसकी शक्तियों शची नामसे प्रसिद्ध है । पिताका अंग अपनी सब शक्तियोंके साथ पुत्रमें प्रविष्ट होता है । पिताके अंगों, अवयवों और इन्द्रियोंके समानही पुत्रके कई अंग अवयव और इन्द्रिय होने हैं । स्वभाव तथा गुणधर्म भी वही अंगोंमें मिलते हैं । इस बातको देखनेसे पता लग सकता है कि पिता अपनी शक्तियोंके साथ पुत्रमें किस प्रकार प्रविष्ट होता है । यद्यपि लोगोंको इस बातका विशेष विचार करना चाहिए, क्योंकि प्रजा निर्माण करना उनका ही विषय है । मातापिताके अच्छे और बुरे गुणदोष संतानमें आते हैं, इसलिये मातापिताको स्वयं निर्दोष होकर ही संतान उत्पन्न करनेका विचार करना चाहिए । अर्थात् दोषी मातापिताको संतान उत्पन्न करनेका अधिकार नहीं है ।

इहासर्वे मंत्रमें 'हंस' नाम प्राणका है । आत्मा अंदर आनेके समय " स " की शक्ति होती है और उत्सृष्टास बाहर आनेके समय " ह " की शक्ति होती है । ' ह ' और ' स ' मिलकर 'हंस' शब्द प्रगवाचक बनता है। उसीके अन्य रूप 'अ हंसः, सोऽहं' आदि उपासनाके लिये बनाये गये हैं । इनमें 'हंस' शब्द ही मुख्य है । उक्त शब्द बनानेके इच्छा " सोऽहं "

बन जाता है, अथवा ' हंस ' के साथ ' ओ ' मिलानेसे ' सोऽहं ' बन जाता है ।

स-ह ह-स
 ओम् मू-अभो (लः)
 सोऽहं हंसः

पाठक यहाँ दोनों प्रकारके स्वर देख सकते हैं । सांप्रदायिक समाजमें दूर रहकर मूल वैदिक कल्पनाही यदि पाठक देखेंगे तो उनको बडा आश्चर्य प्रतीत होगा । ' ओ ' शब्द आत्माका वाचक है और ' हंस ' शब्द प्राणका वाचक है । आत्माका प्राणके साथ इस कारण संबंध है। अत्मा प्रणाका वाचक है और प्रणाका वाहन हंस है, इस पौराणिक रूपमें अरुण का नामके स यका अक्षर संघटी वर्णन किया है । यह हंस मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। यदा प्राण भी हृदयरूपी अंतःकरणस्थानीय मानवमरोवामें विद्या कर रहा है । हृदयमंत्रमें जीवनाका निवास सुप्रसिद्ध है अर्थात् मन्मान प्रज्ञादेव और उच्छवा व हन हंस, इनकी मूल वैदिक कल्पना इस प्रकार यही स्पष्ट होती है-

प्रज्ञा, प्रज्ञादेव	आत्मा, जीवात्मा, प्रज्ञा
हंस-वाहन	प्राण-वाहन
कमल आसन	हृदय कमल
मानस सरोवर	अंतःकरण (हृदय)
प्रेरक कर्तो देव	प्रेरक आत्मा

वेदमें हंसका वर्णन अनेक मंत्रोंमें आया है, उच्छवा मूल आशय इस प्रकार देखना उचित है। वेदमें ' असी अहं (यजु-४०।१७) " कडा है। " अयु अर्थात् प्राणशक्तिके अंदर रहने व लो में आत्मा हूँ " यह भाव उक्त मंत्रका है। यही भाव उक्त रूपान्वे है। प्राणके साथ आत्माका अवस्थान है। यह प्राण ही 'हंस' है । वह (सतिले) हृदयके मानस सरोवरमें क्रीडा करता है। आस लेनेके समय यह प्राण उस सरोवरमें गीता लगता है और उत्सृष्टास लेनेके समय ऊपर उठता है । यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है, कि जब उत्सृष्टासके समय प्राण बाहर आता है तब प्राणी मरता क्यों नहीं ? पूर्ण उत्सृष्टास लेकर आसको पूर्ण बाहर निकालनेपर भी मनुष्य मरता नहीं । इसका कारण इस मंत्रमें बताया है । त्रिष प्रकार हंस यही एक पाँच पत्नीमें ही रहकर दूसरा पाँच ऊपर उठता है, उसीप्रकार प्राण ऊपर उठते समय अपना एक पाँच हृदयके रकाशमें डकताये रखता है और दूसरे पाँचके ही बाहर उठता है । कभी दूसरे पाँचको दिखाता नहीं ।

तात्पर्य प्राण अपनी एक शक्तिको शरीरमें स्थिर रखता हुआ दूसरी शक्तिके बाहर आकर कार्य करता है । इसलिये मनुष्य मरता नहीं । यदि यह अपने दुसरे पांवको भी बाहर निकालेगा तो आज, कल, दिन, रात, प्रकाश अंधेरा आदि कुछ भी नहीं होगा अर्थात् कोई प्राणी जाँवित नहीं रह सकेगा । जीवनके पयात् ही कालका ज्ञान होता है । इस प्रकारका यह प्राणका संबंध है । प्रत्येक मनुष्यको उत्तम विचार करके इस संबंधका ज्ञान ठीक प्रकारसे प्राप्त करना चाहिए । ' हंस ' शब्दके साथ प्राण उपासनाका प्रकार भी इस मंत्रसे व्यक्त होता है । प्राणके साथ ' स ' कारका श्रवण और उच्छ्वासके साथ ' हं ' कारका श्रवण करनेसे प्राण उपासना होती है । इससे चित्तकी एकप्रता शीघ्रही साध्य होती है। वही " सो " अक्षरका श्रवण स्वासके साथ और " हं " का श्रवण उच्छ्वासके साथ करनेसे ' हंस ' का ही जप बन जाता है। यह प्राण उपासनाका प्रकार है- सांप्रदायिक लोगोंने इनपर विलक्षण और विभिन्न कल्पनाएं रची हैं, परंतु मूलकी ओर ध्यान देकर हाथको धुर रहना ही हमको उचित है । अथ इसका और वर्णन देखिये—

इस शरीरमें आठ चक्र हैं जिनमें प्राण जाता है और विलक्षण कार्य-करता है यह आठवें मंत्रमें कही है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं, क्रमशः गुदासे लेकर निरके उपरले माग तक आठ स्थानोंमें ये आठ चक्र हैं । पीठके मेरूद्धर्म इनकी स्थिति है । इस प्रत्येक चक्रमें प्राण जाता है और अपने अपने नियत कार्य करता है । जो सज्जन प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनको अपना प्राण इस चक्रमें पहुंचा है, इस वाक्का अनुभव होता है, और वहांकी स्थितिका भी पता लगता है । उपर मास्त्रिकमें सहस्रार चक्रका स्थान है । यही मस्त्रिकका मध्य और मुख्य भाग है । प्राणका एक बेंद्र हृदयमें है । इस प्रकार एक बेंद्रके साथ आठ चक्रोंमें सहस्र आरोंक द्वारा आगे और पीछे चलनेवाला यह प्राणचक्र है । प्राण उच्छ्वास तथा प्राण अगान द्वारा प्राणचक्रको आगे और पीछे गति हाती है । पाठकोंको उचित है कि वे इन बातोंको जानने और अनुभव करनेका यत्न करें । प्राण का एक भाग शरीरकी शक्तिकोंके साथ संबंध रखता है और दूसरा भाग आत्माकी शक्तिके साथ संबंध रखता है । शारीरिक शक्तिके साथ संबंध

रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान प्राप्त करना बड़ा सुगम है, परंतु आरिभक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान करना बड़ा कठिन है । प्राणके साथ सब भुवनको बनाना है, जो इसका दूसरा अर्थ है वह किसका चिन्ह है अर्थात् उसका ज्ञान किससे हो सकता है? आत्माके ज्ञानके साथ ही उसका ज्ञान हो सकता है ।

प्राण सबकाही ईसा है इस विषयमें पहिले ही मंत्रमें कहा है । सबमें गतिमान और सबमें मुख्य यह प्राण है । ब्रह्म अर्थात् आत्मशक्तिके साथ रहनेवाला यह प्राण आलस्य रहित होकर शरीर धैर्यके साथ कार्य करनेमें समर्थ बनकर मेरे शरीरमें अनुकूलताके साथ रहे । यह इच्छा उपासकको मनमें धारण करनी चाहिए । अन्य इंद्रियोंमें आलस्य होता है, प्राणमें आलस्य कभी नहीं होता; इसलिये प्राणका विशेषण ' अनेंद्र ' अर्थात् आलस्य रहित ऐसा रखा है । यही भाव पक्षासर्वें मंत्रमें कहा है ।

सब इंद्रियां आराम लेती हैं, आलसी बनती हैं, सो जाती हैं और नीचे गिरजाती हैं; परंतु प्राण हा रतादेन खड़ा रहकर जागता है, अथवा मानो इस मंदिरका संरक्षण करनेके लिये खड़ा रहकर पहरा करता है । कभी सोता नहीं, कभी आराम नहीं करता और अपने कार्यमें कभी पीछे नहीं हटता । सब इंद्रियां सोती हैं परंतु इस प्राणका सोना कभी किसीने सुना ही नहीं । अर्थात् विधाम न लेता हुआ यह प्राण रातदिन शरीरमें कार्य करता है ।

इसलिये प्राण उपासना निरंतर हो सकती है । देखिए- किसी आलस्यनपर दृष्टि रखकर ध्यान करना हो तो दृष्टि थक जाती है । दृष्टि थकनेपर उसकी उपासना नेत्रों द्वारा नहीं हो सकती । इसी प्रकार अन्य इंद्रियां थकती हैं और विधाम चाहती हैं, इसलिये अन्य इंद्रियोंके साथ उपासना निरंतर नहीं हो सकती । परंतु यह प्राण कभी थकता नहीं और कभी विधाम नहीं चाहता । इसलिये इसके साथ जो प्राण उपासना की जाती है वह निरंतर हो सकती है । बिना रुकवट प्राणोपासना हो सकती है, इसलिये इसका अर्थ महत्त्व है । अथ इस सूक्तका अन्तिम मंत्र कहता है कि—

" हे प्राण ! मेरेसे दूर न हो जाओ, दोषों का लतक मेरे अंदर रहो, मैं दोषों जीवन व्यतीत करूंगा, मैं दोष आयुष्यके शुभ होकर ही वर्धसे भी अधिक जीवन व्यतीत करूंगा ।

इसलिये मेरेसे पृथक् न होओ।" यह भावना उपासकको मनमें धारण करने चाहिए। अन्नमय मन है और आत्ममय प्राण है। इसलिये प्राणको पानोका गर्भ कहा है। उपासकके मनमें यह भावना स्थिर रहनी चाहिए, कि मैंने प्राण आमादि द्वारा अपने शरीरमें प्राणको बांधकर रख दिया है। इसलिये यह प्राण कभी वियुक्त होकर दूर नहीं होगा। प्राणायामादि साधनोंपर दृढ़ विश्वास रखकर, उन साधनोंके द्वारा मेरे शरीरमें प्राण स्थिर हुआ है, एसा दृढ़ भाव चाहिए और कभी अज्ञान मृत्यु-का विचारतक मनमें नहीं आना चाहिए। आत्मापर विधाप रखनेसे उक्त भावना दृढ़ हो जाती है। इस प्राण सूत्रमें विभिन्न भाव हैं-

प्राणसूक्तका सारांश ।

(१) प्राणके आधान ही सब कुछ है, प्रणही सबका सुलिया है ।

(२) प्राण पृथ्वीपर है, अंतरिक्षमें है और सुले केंद्र है ।

(३) सुलेका प्राण सूरे किरणों द्वारा पृथ्वीपर जाता है, अंतरिक्षका प्राण शक्तिद्वारा पृथ्वीपर पहुंचता है, और पृथ्वी-परका प्राण यहाँ सदा ही वायुरूपसे रहता है ।

(४) अंतरिक्षस्थ और सुलेस्थ प्राणमें ही सबका जीवन है। इस प्राणमें प्रकृत सबको आनंद होता है ।

(५) एक ही प्राण क्योंकि शरीरमें प्राण अथवा अग्नि रूपमें परिणत होता है। शरीरके आवेक अंग, अवयव और इंद्रियोंमें अर्थात् सर्वत्र प्राण ही कार्य करता है ।

(६) प्राण ही सब औषधियोंकी औषधि है । प्राणके कारण ही सब शरीरके दोष दूर होते हैं । प्राणकी अनुकूलता न होनेपर कोई औषध कार्य नहीं कर सकता, और प्राणकी अनुकूलता होनेपर बिना औषध आरोग्य रह सकता है ।

(७) प्राण ही कार्य आयु देनेवाला है ।

(८) प्राण ही सबका पिता और पालक है। सर्वत्र व्यापक भी है ।

(९) मृत्यु, रोग और बल वे सब प्राणके कारण ही होते हैं। सब इंद्रिय प्राणके साथ रहनेपर ही बल प्राप्त करते हैं। श्रेष्ठ पुरुष प्राणको बधमें बंधे बल प्राप्त कर सकते हैं। अत्यन्त दुर्बल प्राणकी प्रमत्ततासे उत्तम योग्यता प्राप्त करते हैं।

(१०) प्राणके साथ ही सब देखतार हैं। सबको प्रेरणा

करनेवाला प्राण ही है ।

(११) धान्यमें प्राण रहता है। वह भोजनके द्वारा शरीर में जाकर शरीरका बल बढ़ता है ।

(१२) गर्भमें भी प्राण कार्य करता है। प्राणकी प्रेरणासे ही गर्भ बाहर आता है और बढता है ।

(१३) प्राणके द्वारा ही पिताके सब पुत्र कर्म स्वभाव और शक्तिये पुत्रमें आती है ।

(१४) प्राण ही इंद्र है और वह इंद्रके मानस छोड़कर-में प्रकटा करता है। जब यह बलजाता है तब कुछ भी ज्ञान नहीं होता ।

(१५) शरीरके अठ बलमें, अतिशयमें तथा दूरपके केंद्रमें भिन्न रूपसे प्राण रहता है। वह समस्त शक्तिये सब शरीरका भाग करता है और समस्त शक्तिये आत्माके साथ साथ संबन्ध रखता है ।

(१६) प्राणमें आत्मस्थ और यथावत् नहीं होती है। संयत और संकोच नहीं होता। क्योंकि इच्छा मग्न जपका आत्माके साथ संबन्ध है ।

(१७) वह शरीरमें रहता हुआ सबका पररा रखता है। अन्य इंद्रिय पकते, चरते और छोते हैं; परंतु यह कभी चरता नहीं और वही विद्याम नहीं लेता। इसका विभ्रम होनेपर मृत्यु ही होती है ।

(१८) इसलिये सबको प्राणकी स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिये। और उसके शक्तिये बलम न होना चाहिये ।

इस प्रकार इस सूक्तका भाव देखनेके पश्चात् वेदमें अन्यत्र प्राण दिग्बल को जो उपदेश है उसका विचार करते हैं ।

ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश.

ऋग्वेदमें प्राणविषयक निम्न मंत्र हैं, उनको देखनेसे ऋग्वेदका इस विषयमें उपदेश प्राप्त हो सकता है।—

प्राणाद्वायुरजापयत् ॥ १०० १०११३, अथ. ११५१४

“ वायुशरीर प्राण शक्तिये इस वायुकी उत्पत्ति हुई है ।

“ यह वायु हमारा पृथ्वीस्थानीय प्राण है। वायुके बिना अणु-मात्र भी जीवन रहना कठिन है। सभी प्राणी इस वायुको चाहते हैं। परंतु कोई यह न समझे कि यह वायु ही वास्तविक प्राण है, क्योंकि परमेश्वरकी प्राणशक्तिये इसकी उत्पत्ति है।

यह वायु हमारे फेफड़ोंके अंदर जब जाता है, तब उसके साथ परमेश्वरकी प्रणशक्ति हमारे अंदर जाती है, और उसके द्वारा जीवन होता है । यह भाव प्राणायामके समय मनमें धारण करना चाहिये । प्राण ही आयु है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

आयुर्न प्राणः ॥ ऋ. १।१६।१

“ प्राण ही आयु है । ” जबतक प्रण रहता है तब तक ही जीवन रहता है । इसलिये जो दीर्घ आयु चाहते हैं उनको उचित है कि वे अपने प्रणको तथा प्राणके स्थानको बलवान् बनायें । प्राणका स्थान फेफड़ोंमें होता है । फेफड़े बलवान् करनेके प्राणमें बल आजाता है और उसके द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है ।

असु—नीति

राजनीति, समाजनीति, गृहनीति इन शब्दोंके समान “असु-नीति” शब्द है । राज्य चलायनेका प्रकार राजनीतिमें व्यवस्था होता है, इसी प्रकार “असु” अर्थात् प्राण का व्यवहार करने की रीति “असुनीति” शब्दमें व्यवस्था की है Guide to life, way to life अर्थात् “जीवनका मार्ग” इस भावको “असु—नीति” शब्द द्वारा कह सकते हैं, यह श्री० मोक्षमुबार, प्रो. रॉय आदि का ध्यान करिये है । देखिये—

असुनीति पुनरश्वासु सञ्जुः पुन प्राणनिहो धेहिभोग्येण
उपामोक्षयेन सूर्येमुच्चरंमनुभवत मृच्छा नः स्वति ॥

ऋ. १-१५१६

“ हे असुनीति ! यहाँ हमारे अंदर पुनः सञ्जु, प्रण और भोग धारण करो । सूर्यका उदय हम बहुत देरतक देख सके । हे अनुभवते ! हम सबको सुखी करो और हमको स्वास्थ्यके युक्त रक्षो । ”

“ असुनीति ” अर्थात् “ प्राण धारण करनेकी रीति ” शब्दका अर्थ है, तब चञ्चुकी शक्ति हीन होनेपर भी पुनः उत्तम दृष्टि प्राप्त की जा सकती है, प्राण जानेकी संभावना होनेपर भी पुनः प्राणकी स्थिरता की जा सकती है, भोग भोगनेकी अवश्यकता होनेपर भी भोग भोगनेकी अवश्यकता ही रहती है । मृत्यु पाष आनेके कारण सूर्य—दर्शन अवश्यकता होनेपर भी दीर्घ आयुकी प्राप्ति होनेके पश्चात् पुनः सूर्यकी उपासना ही रहती है । प्राण—नीतिके अनुसार मति

रखनेसे यह सब कुछ ही सकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं । तथा—

असुनीते मनो चरमासु धारय जीवतावे सु प्रतिरामु
आयुः ॥

रात्रिं नः सूर्यस्य संदाति पूतेन एवं तन्वं वर्षीयस्व-

॥ ऋ. १५।५१।५

“ हे असुनीते ! हमारे अंदर मनकी धारणा करो और हमारी आयु बड़ी दीर्घ करो । सूर्यका दर्शन हम करें । तुम जैसे शरीर बना । ”

आयुष्य ब्रह्मदेकी रीति इस मंत्रमें वर्णन की है । पहली बात मनकी धारणा की है । मनकी धारणा ऐसी दृढ़ और पक्की करनी चाहिये कि, मैं योगवाधनादि द्वारा अवश्य ही दीर्घ आयु प्राप्त करूँगा, तथा किसी कारण भी मेरी आयु क्षीण नहीं होगी इस प्रकार मनकी पक्की धारणा करनी चाहिये । मनकी दृढ़ शक्ति ही और मनके दृढ़ विश्वासपर ही भिन्न अरुलंबित होती है । सूर्य प्रकाशका दीर्घ आयुके साथ संबंध वेदमें सुन— सिद्ध ही है । प्राणशाम आदि द्वारा जो मनुष्य प्राणका बल बढ़ाना चाहते हैं उनको धीरे धीरे साफ़ अपना शरीर पुष्ट रखना चाहिये । प्राणशाम बहुत करनेपर भी न खनेके शरीर कुल होता है । इसलिये प्राणशाम करनेसे लोहो उचित है कि वे अपने भोजनमें धीरे धीरे अधिक भोजन करें ।

इस प्रकार यह प्राणनीति का शास्त्र है । पठक इन मंत्रोंका विचार करके दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपायोंका साधन प्राणायामादि द्वारा करें ।

यजुर्वेदमें प्राणाविषयक उपदेश ।

प्राणको बुद्धि

प्राणका संवर्धन करनेके विषयमें वेदका उपदेश निम्न मंत्रमें आया है—

प्राणस्त आप्पायताम् ॥

यजु० ६।१५

“ तेरा प्राण संवर्धित हो । ” प्राणकी शक्ति बढ़ानेकी बड़ी ही आवश्यकता है, क्योंकि प्राणकी शक्तिके साथ ही सब अवयवोंकी शक्ति संबंध रखती है, इसकी सूचना निम्न मंत्र दे रहा है—

पुंनः प्राणो भंगे भंगे निरिष्यद्वैद उदानो भंगे भंगे

निधीतः ॥ य० १।२१

(टिप्पणी : प्रणः) आत्मानो शाक्तिं प्रेरित प्राण प्रत्येक अंगमें पहुँचा है, आत्माका शाक्ति प्रेरित उदान प्रत्येक अंगमें रचा है । " इस प्रकार आतिरिक्त शाक्तियों का वर्णन वेदमें किया है ।

प्रत्येक अंगमें प्रण रहता है और यही आत्मानो प्रेरणासे कार्य करता है । इस मंत्रके उपदेशसे यह सूचना मिलती है कि जिस अंग, अवयव अथवा इन्द्रियमें प्राणकी शक्ति स्थूल होगी, वही आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति द्वारा प्राणकी शक्ति बढ़ाई जा सकती है । यही पूर्व सूत्रोंका " आगि-रस—विद्या " है । अपने किस अंगमें प्राणकी स्थूलता है, इसको जानना और वही अपनी आत्मिक इच्छा शक्ति द्वारा प्राणको पहुँचाना चाहिये यही अपना आरोग्य बढ़ानेका उपाय है । वदमें जो " आगिरस विद्या " है वह यही है । प्राणका रक्षण करनेके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखिये—

प्राणं मे वाह्यपानं मे पाहि स्थानं मे पाहि ॥

य० १५१८; १७

" मेरे प्राण, अयान, स्थानका संरक्षण करो । " इनका संरक्षण करनेसे ही ये प्राण सब शरीरका संरक्षण कर सकते हैं । तथा—

प्राणं मे शुंघामि ॥ यजुः ३।१७

प्राणं मे संपंथ ॥ यजुः ६।३१

" प्राणकी पवित्रता करता हू । प्राणकी शक्ति करो । " शक्ति और पवित्रतासे ही प्राणका संरक्षण होता है । अशुद्ध इन्द्रिय होनेसे मनुष्य भोगकी धीर जाता है, और पतित होता है । इस प्रकार भोगोंमें फँसे हुए मनुष्य अपनी प्राणकी शक्ति व्यर्थ खा बैठते हैं । इसलिये प्राणका संवर्धन करनेवाले मनुष्योंको उचित है कि वे अपना जीवन पवित्रतासे और निरालस श्रमसे व्यतीत करें । प्रपवित्रता और अस्तुष्टता से दो दोष प्राणकी शक्ति घटानेवाले हैं । शक्ति घटानेवाला कोई कार्य नहीं करना चाहिये, बल्कि—

प्राणं न क्षीर्यं नसि । य० २१।७९

" नाशमें प्राणशक्ति और क्षीर्यं घटाओ । " प्राणशक्ति नाशिकके साथ संबंध रखती है, और जब यह प्राणशक्ति बलवान् हो । है, तब क्षीर्यं भी बढ़ता है और स्थिर होता है । क्षीर्यं और प्राण दोनों शक्तियों साथ साथ रहती है । शरीरमें क्षीर्यं रहनेसे प्राण बढ़ता है, और प्राणके साथ क्षीर्यं भी रहता है । एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाली ये शक्तियाँ हैं । जो

मनुष्य मद्राश्रयकी रक्षा करके ऊपरवेता बनते हैं, उनका प्राण भी बलवान् हो जाता है, और उनको असातोष प्राण नामकी सिद्धि होती है । तथा जो प्रारंभसे प्राणायामका अभ्यास नियम पूर्वक करते हैं उनका क्षीर्यं स्थिर हो जाता है । यद्यपि क्षीर्यका किसी कारणवश प्रथम आयुमें मद्राश्रय न रहा हो, तो भी वह नियम पूर्वक अनुष्ठानसे उत्तर आयुमें प्राणसाधनसे अपने शरीरमें प्राणशक्तिका संवर्धन और क्षीर्यरक्षण कर सकता है । शिमका मद्राश्रय आदि प्रारंभसे ही सिद्ध होता है उसको श्रम और सहजसिद्धि होती है । परंतु जिसको प्रारंभसे शिद्ध नहीं होता, उसको यह बात प्रयत्नसे शिद्ध होती है । प्राणशक्तिके संवर्धनके उपायोंमें गायन भी एक उपाय है ।

गायन और प्राणशक्ति ।

साम प्राणं प्रपद्ये । ३।११

" प्राणको लेकर सामकी शरण लेता हूँ । " सामवेद गायन और उपासनाका वेद है । ईग उपासना और ईशगुणोके गायनसे प्राणका बल बढ़ता है । केवल गानविद्यसे भी मनकी एकाग्रता और शक्ति प्राप्त होती है । इसलिये गायनसे क्षीर्य आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं । गयक लोग यदि दुर्बलतामें न फँसे तो वे अशुद्धी कोपेक्षा अधिक क्षीर्य आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं, गायनका आरोग्यके साथ अत्यंत संबंध है । उपासनाके साथ भी गायनका अत्यंत संबंध है । मन गायनसे उपासनामें अत्यंत तर्पित होता है और यही तर्पितता प्राणशक्तिको प्रबल करनेवाली है । यह बात और है कि गायनका धंदा करनेवाले आत्मबलके क्षीणतासे अपने आचरण बहुत ही गिरा दिवें हैं । परंतु यह दोष गायनका नहीं है, वह उन मनुष्योंका दोष है । तत्पर्यं यह है कि जो पाठक अपने प्राणको बलवान् करना चाहते हैं, वे सामान्य अवश्य सीखें, अथवा साधारण गायन सीखकर उसका उपासनामें उपयोग करके मनकी तन्मयता प्राप्त करें ।

नाये प्राणायामौ । य० ३६ । १

" मेरे अंदर प्राण और अयान बलवान् रहें । " यह वचन हर एक मनुष्य स्वभावतः धारण करता ही है । परंतु कभी कभी व्यवहार उस इच्छासे विरुद्ध करता है । जब इच्छाके अनुसार व्यवहार हो जायगा, तब सिद्धिमें किसी प्रकारका विघ्न ही नहीं सकता । प्रस्तुत प्राणका प्रकरण है, उसका संबंध बाहरके शुद्ध वायुके साथ है, और अंदरका संबंध नासिका क्षीर्य

स्वानके साथ है इसलिये कहा है—

घातं प्राणेन भगानेन नासिके । य० २५ । २

“ प्राणसे वायुकी प्रसजता और अगानसे नासिकाकी पूर्णता करनी चाहिए। ” बायु शुद्ध और प्रसज वायुके साथ वाग हमारे शरीरमें जाता है, और नासिका ही उसका प्रवेश द्वार है । बायु वायुकी प्रसजता और नासिकाकी शुद्धि अवश्य करनी चाहिए । नाककी मलिनता और अशुद्धताके कारण प्राणकी गतिमें रुकावट होती है । प्राणकी प्रतिष्ठाके लिये ही हमारे सब प्रयत्न होने चाहिए, इसकी सूचना निम्न मंत्रोंसे मिलती है—

प्राणकी प्रतिष्ठा ।

विद्वस्मै प्राणायाणानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै परिप्राय ॥
य० १३१९; १४१२; १५१४

विद्वस्मै प्राणायाणानाय व्यानाय विद्मं ज्योतिर्यच्छ ॥

य० १३२४; १४१४; १५२८

प्राणाय स्वाहायाणाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा ॥

य० २२२३; २३१८

“ प्राण, अपान, व्यान, उदान आदि सब प्राणोंकी प्रतिष्ठा और उनका व्यवहार उत्तम रीतिसे होना चाहिए । सब प्राणोंको तेजस्वी करो । सब प्राणोंके लिये त्याग करो । ”

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि, अपने आचरणसे अपने प्राणोंका बढ रहा है या घट रहा है, अपने प्राणोंकी प्रतिष्ठा बढ रही है या घट रही है; अपने प्राणोंके सब ही व्यवहार उत्तम चल रहे हैं अथवा किसीमें कोई छूटी है; अपने प्राणोंका तेज बढ रहा है या घट रहा है । इसका विचार करना हरएकका कर्तव्य है । क्योंकि इनका विचार करनेसे ही हरएक जान सकता है कि मैं प्राणवियथक अपना कर्तव्य ठीक प्रकार कर रहा हूँ या नहीं । प्राणवियथक कर्तव्यका स्वरूप “ स्वाहा ” शब्दद्वारा व्यक्त हो रहा है । सब अन्य इंद्रिय गौण हैं और प्राण मुख्य है, इस लिये अन्य इंद्रियोंके भोगोंका स्वाहाकार प्राणके संवर्धनके लिये होना चाहिये । अर्थात् इंद्रियोंके भोग भोगनेके लिये जो शक्ति खर्च हो रही है, उसका बहुतसा हिस्सा प्राणकी शक्ति बढ़नेके लिये खर्च होना चाहिए । मनुष्योंके सामान्य व्यवहारमें देखा जायगा तो प्रतीत होगा कि इंद्रियभोग भोगनेमें यदि शक्तिके १०० मेंसे ९९ भागका खर्च हो रहा है, तो प्राणसंवर्धनमें

एक भाग भी खर्च नहीं होता है। मुख्य प्राणके लिये कुछ शक्ति नहीं खर्च होती परंतु गौण इंद्रियभोगके लिये ही सब शक्तिका व्यय हो रहा है ! क्या यह आश्चर्य नहीं है ! वास्तवमें मुख्य-के लिये अधिक और गौणके लिये कम व्यय होना चाहिए । यही वेदने कहा है कि प्राणसंवर्धनके लिये अपनी शक्तिका स्वाहा करो । अपना समय, अपना प्रयत्न, अपना बल और अपने अन्य साधन प्राणसंवर्धनके लिये कितने खर्च किये जाते हैं और भोगोंके लिये कितने खर्च किये जाते हैं, इसका विचार कीजिए । मनुष्योंका उलटा व्यवहार हो रहा है, इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिए । प्रतिदिनका ऐसा विभाग करना चाहिए कि जिसमें बहुतसा हिस्सा प्राणसंवर्धनके लिये समर्पित हो सके ! देखिए—

राजा मे प्राणः ॥ य० २० । ५

“ मेरा प्राण राजा है ” सब शरीरका विचार कीजिए तो आपको पता लग जायगा कि सबका राजा प्राण ही है । आप समझ लीजिए कि अपना प्राण यह सचमुच राजा है । जब आपके चरमें राजा ही अतिथी आता है, उस समय अप राजाका ही आदरातिथ्य करते हैं, और उनके नौकरोंकी तरह ध्यान अवश्य देते हैं, परंतु जितनी राजाकी ओर ध्यान दिया जाता है उतना अन्योके विषयमें ध्यान नहीं दिया जाता । यही न्याय यहाँ है । इस शरीरमें प्राण नामक राजा अतिथी आया है और उसके अनुचर अन्य इंद्रियगण हैं । इसलिये प्राणकी सेवा शुभ्र्य अधिक करनी चाहिए, क्योंकि वह ठीक रहा तो अन्य अनुचर ठीक रह सकते हैं । परंतु यदि राजा असंतुष्ट होकर चलायगा तो एकभी अनुचर आपको सहायता नहीं कर सकेगा ।

आजकल इंद्रियोंके भोग बनानेमें सब लोग लगे हैं, प्राणकी शक्ति बढ़नेका कोई खयाल नहीं करता । इसलिये प्राण अपसन्न होकर शरीर ही इन शरीरको छोड़ देता है । जब प्राण छोड़ने लगता है, तब अन्य इंद्रियशक्तियाँ भी उसके साथ इस शरीर को छोड़ देती हैं । यही अल्पयुक्ताका कारण है । परंतु इसका विचार बहुत ही थोड़े लोग प्रारंभसे करते हैं । तात्पर्य इंद्रियभोग भोगनेके लिये शक्ति कम खर्च करनी चाहिए, इसका संयम ही करना चाहिए और जो बल होगा उसको अर्थान्तरके प्राणकी शक्ति बढ़ानेमें पराकाष्ठा करनी चाहिये । अपने प्राणकी सुरे कर्मोंमें समर्पित करनेसे बड़ी ही हानि होती है । कितने दुर्घटन और कितने कुर्म हैं कि जिनमें लोग अपने

प्राण अर्पण करनेके लिये आनेसे प्रकृत होते हैं !! वास्तवमें
सत्कर्मके साथ ही अपने प्राणको ओढ़ना चाहिये । देखिये वेद
कहता है—

सत्कर्म और प्राण ।

शातुंशेन क्वरता प्राणो वशेन क्वरतां ॥

य० १२१, १८२१; १२१३

प्राणश्च मेऽपानश्च मे ध्यानश्च मे मनुष्य मे

वशेन क्वरंताम् ॥

य० १८२

प्राणश्च मे वशेन क्वरंताम् ॥

य० १८२२

“ मेरो अयु वशसे करे, मेरा प्राण वशसे समर्थ हो । मेरा
प्राण, अपन, ध्यान और साधारण प्राण वद्वारा बलवान
बने । मेरा प्राण वशके लिये समर्थ हो । ”

वद्वका अर्थ सत्कर्म है । जिस कर्मके साथ वद्वका सकार
होता है, सबमें विरोध दृष्टकर एष्टताकी वृद्धि होती है और
परस्पर लपकार होता है वह वद्व दुःखा करता है । वद्व अपने
प्रकारके हैं, परंतु मनुष्यमें सब वद्वों का तत्त्व उच्च प्रकारकाही
है । इसलिये वद्वके साथ प्राणका संबंध अनेके प्रणयमें बल
पढने लगता है । स्वायं तथा सुदगर्भके बर्गमें लगे रहनेसे
प्राणशक्तिका संक्षोभ हाता है, और जनताके हितके व्यापक
कर्म करनेमें प्रवृत्त होनेसे प्राणकी शक्ति विकसित होती है ।
आशा है कि पाठक इस प्रकारके शुभ कर्मोंमें अपने आपगे
समर्पण करके आने प्राणको विशाल करेंगे । वेदमें अग्नि
आदि देवताओंका जहाँ वर्णन आया है वहाँ उनका प्राणशक्त
गुण भी वर्णन किया है । क्योंकि जो देवता प्राणशक्त होगी
उसकी ही उपासना करनी चाहिये । देखिये—

प्राणदाता अग्नि ।

प्राणदा अपानदा ध्यानदा यदोदा वरिवोताः ॥

य० १७१५

प्राणामे अपानपाशुषुष्याः श्रोत्रपादश्च मे ॥

वाचो मे विश्वमेवजो मनतोऽसि विहापकः ॥

य० २०१४

“ तु प्राण, अपान, ध्यान, श्रोत्र और स्वातंत्र्य देनेवाला है ।
तू मेरे प्राण, अपान, शरीर, धोत्र आदिका संरक्षक है, मेरी

वाणीके दोष दूर करनेवाला तथा मनको शुद्ध और पवित्र करने-
वाला है । ”

प्रणदा सत्कर्ममें प्रदान करना, प्राणदा संरक्षण करना, इंद्रि-
योका संभव करना, वाचिक दोष दूर करने और मनकी पवि-
यता करना, यह चार्य सूक्ष्मरूपसे उच्च मंत्रमें कहा है । इतना
करनेमें ही मनुष्यका बेटा पार हो सकता है । मन और वाणी-
की शुद्धता न होनेसे जगत्में कितने अनर्थ हो रहे हैं, इसकी
वर्द्धागतनी नही हो सकती । मन, वाणी, इंद्रियाँ और प्राण
इनकी स्वायंभूता प्रत्य करनेके लिये ही सब धर्म और कर्म
होते हैं । इसलिये अपनी उन्नति चाहनेवालोंको इस कर्तव्यकी
ओर अपना ख्याल सदा रखना चाहिये । अब प्राणकी विभूति
बतानेवाला अगला मंत्र है, देखिये—

कर्म पुरो मुखः रूप प्राणो भौवापनो वसन्तः

प्राणापनः ॥ य० १३५४

“ यह आगे भूखलोक है, उसमें रहता है इसलिये प्राणधे
भौवापन कहते हैं । वसन्त प्राणापन है । ”

भूखलोक पृथ्वी है, और अंतरिक्ष लोक मूललोक है । यह
प्राणका स्थान है, इस अरकाशमें प्राण व्यापक है, वायुका और
प्राणका एक ही रूपन है । अंतरिक्षमें ही दोनों रहते हैं ।
वसंत प्राणका ऋतु है । क्योंकि इस ऋतुमें सब जगत्में
प्राणशक्तिका संचार होकर सब वृक्षोंकी नववर्धन प्राप्त
होता है । यह प्राणका अवतार हरएकको देखना चाहिये ।
प्राणके संचारसे जगत्में कितना परिवर्तन होता है, इनका
प्रत्यक्ष अनुभव यहाँ दिखाई देता है । इस ऋतुमें सब वृक्ष
आदि नूतन पक्षसे सुशीमित होते हैं, फलोंस युक्त होनेके
कारण पूर्णतःको प्राप्त होने हैं । ऋतु, ऋतु और पक्ष ही सब
सृष्टिके नववर्धनकी साक्षी देते हैं । इहाँ प्रकार जिनको प्राण
प्रक्ष होता है उनको भी स—फल—ता—प्राप्त होती है ।
जिनप्रकार सब सृष्टि प्राणको प्रसन्नतासे पुष्पवती और फलवती
होती है, उसी प्रकार मनुष्य भी प्राणको वध करनेसे अपने
जन्मोदमें सफलता प्राप्त कर सकता है ।

प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास ।

सोनेके समय अपने इंद्रिय भेष लीन होते हैं ।
और फिर आशुतिके समय कैसे स्वच्छ होते हैं,
इसका विचार प्रत्येकको करना चाहिये । इससे अपने

आत्मा और प्राणशक्तिके महारवका पता लगता है । इसका प्रकार देखिए—

पुनर्मनः पुनरगुम् आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म
आगन ॥ पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् वैश्वानरो
अद्भरत्तनूपा अग्निः पातु दुर्गिताद्वद्यात् ॥

य० ४।१५

“ मेरा मन, आयुष्य, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि पुनः पुनः प्राप्त हुए हैं। शरीरका रक्षक, सब जनोंका हितधारी आत्मा पापोंसे हम सबको बचावे । ”

शोनेके समय मन आदि सब इंद्रियों लीन हो गईं थी, यद्यपि प्राण जागता था तथापि उसके कार्यका भी पता हमको नहीं था। वह सब बलके समान अज पुनः प्राप्त हुआ है। यह आत्मा ही शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है ? वह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे । प्राणशक्तके साथ इन शक्तियोंका लीन होना और पुनः प्राप्त होना, प्रतिदिन हो रहा है। इसका विचार करनेसे पुनर्जन्मका ज्ञान होता है। क्योंकि जो बात निद्राके समय होती है वह ही वैसी ही सृष्टिके समय होती है। और उसी प्रकार महाप्रलयके समयमें भी होती है। नियम सर्वत्र एक ही है। प्राणके साथ अन्य इंद्रियों कैसी रहती हैं, प्राण कैधे जागता है और अन्य इंद्रियाँ वैसी यत्नकर लीन होती हैं, इसका विचार करनेसे अपनी अरमशक्तिका ज्ञान होता है, और वह ज्ञान अपनी शक्तिको विकास करनेके लिये सहायक होता है। अपने प्राणका विद्वम्बापक प्राणके साथ संबंध देखना चाहिये इसकी सूचना निम्न मंत्र देते हैं—

विश्वव्यापक प्राण ।

सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् ॥ य० ६।१८

सं ते प्राणो वातेन गच्छताम् ॥ य० ६।१०

“ अपना प्राण विश्वव्यापक प्राणके साथ संगत हो । तेरा प्राण वायुके साथ संगत हो । ” तात्पर्य अपना प्राण अलग नहीं है, वह सार्वभौमिक प्राणका एक हिस्सा है। इस दृष्टिसे अपने प्राण ही जानना चाहिये । सब अंतरिक्षमें प्राणका समुद्र बसा है, सबमेंसे मोझासा प्राण मेरे अंदर आकर मेरे शरीरका जीवन दे रहा है, घाघ प्रश्नका द्वारा वह ही सार्वभौमिक प्राण अंदर आ रहा है, हवादि आबना मनमें धारण करनी चाहिये। तात्पर्य यह सार्वभौमिक दृष्टि सदा धारण करनी चाहिये। सबकी

समयमें एकही उचित है, समष्टिकी समयमें वृष्टिकी मलाई है यह वैदिक निदात है। इसीलिये समष्टिकी व्यापक दृष्टि प्रायिके उपायकके अंदर उलभ होनी चाहिये। यह उलभ प्रकारसे हो सकती है। इस प्राणका और बातें निम्न मंत्रमें देखिये—

लडनेवाला प्राण ।

अविनं मेघो नसि वीर्याय, प्राणस्य पंथा जगृणो
प्रहाम्याम ।

सरस्वत्युपवाकैर्यानिं नस्वानि मर्दिभंद्रैर्जज्ञान ॥

य० ११।१०

“ (देव. न) मेरेके समन लडनेवाला (अविः) शिर-
क्षक प्राणव्यु वीर्यके लिये (नसि) नाकमें रखा है। (प्रहाम्या)
घाघ उच्छ्वास कर दोनो प्राणोंसे प्राणका अमृतमय मार्ग बना
है। (वद्रेः उरवाकैः) शिर स्तुतियोंके द्वारा (सरस्वती)
सुपुत्रा नादी (व्यानं) सर्व शरीर व्यापक व्यान प्राणसे
तथा (नर्यानि) नासिका के साथ संबंध रखनेवाले अन्य
प्राणोंके (बाहिः जज्ञान) प्रष्ट करती है । ”

रपथा करनेवाला, शत्रुके साथ युद्ध करके उसका पराजय करनेवाला मेढा होता है। यही प्राणका कार्य अपने शरीरमें है। सब व्याधियों और शरीरके सब शत्रुओंके साथ लड़कर शरीरवा आरोग्य निरय स्थिर रखनेका बड़ा कार्य करनेवत्स महावीर अपने शरीरमें मुख्य प्राण ही है। यह मेढके समान लड़ता है। इसका नाम “ अविः ” है क्योंकि यह अपने अर्थात् सब शरीरका संरक्षण करता है। अपनेके अन्य अर्थ भी यहाँ देखने योग्य हैं—रक्षण, गति चांति, प्रति, लुमि, ज्ञान, प्रवेश, ध्वज स्वामिस्व, प्रार्थना, बर्म, इच्छा, तेज, प्राप्ति, अविगन, हिंसा, दान, भाग और वृद्धि इतने अर्थ धातुके अर्थ हैं। ये सब अर्थ प्राणवाचक “ अवि ” शब्दमें हैं। प्राणके कार्य इन शब्दोंसे व्यक्त होते हैं। पाठक इन अर्थोंको लेखर अपने प्राणके धर्म और बर्म जानेका यत्न करें।

इतने कार्य करनेवाला संरक्षण प्राण हमारी नासिकामें रहा है। नासिका इतनीय एक ही प्राण हमारे शरीरमें उलभ कार्य करता है। यही इसका महत्त्व है। यह प्राणका मार्ग “ अमृत ” मय है। अर्थात् इसमार्गमें मरण नहीं है। इस-
मार्गका रक्षण करनेवाके दो मंत्र हैं। “ श्राघ और उच्छ्वास ”

ये दो प्रह इस मार्गका संरक्षण कर रहे हैं । सबको स्वार्थन रखनेवाले, सबका पटन करनेवाले प्रह होते हैं । श्याम और उपश्रुतोंसे सब शरीरका उत्तम प्रदण हो रहा है इसलिये ये प्रह हैं । इन दो प्रहोंके कार्यसे प्राण का मार्ग मरण रहित हुआ है, जबतक इरास और उपश्रुत चलते हैं, तबतक मरण होना ही नहीं, हृत्काले श्वेद वच्छशासके अर्थात् तत्त्वशरीरमें "अमृत" ही रहता है । परन्तु जब ये दो प्रह दूर हो जाते हैं, तब मरण आता है ।

"इहा, विगता और सुपुम्ना" ये तीन नादिका शरीरमें हैं । इन्हींको क्रमसे "गंगा यमुना और सरस्वती" कहा जाता है । अर्थात् सरस्वती सुपुम्ना है । इनमें प्राणका प्रेरक शक्ति है । स्थिरचित्तसे जो उर सना करते हैं, अर्थात् उच्च विश्वाससे जो परमात्मभक्ति करते हैं, उनके अंदर सुपुम्नाद्वारा यह प्राण विशेष प्रभव करता है । तात्पर्य उपासनाके साथ ही प्राणका बल बढ़ता है । स्थान प्राण वह है कि जो शरीरमें व्यापक है, और अन्य नस्य अर्थात् नासिकाके साथ संबंध रखनेवाला प्राण है । इन सब प्राणोंकी प्रेरणा उक्त सुपुम्ना करती है । परमेश्वर भक्तिका बल इस सुपुम्नामें बढ़ता है और इसके द्वारा प्राणोका सामर्थ्य भी प्रकट होता है ।

सरस्वतीमें प्राण

इस मंत्रमें प्राणायाम साधनकी बहुतसी गुण बातें सरल शब्दोंद्वारा लिखी हैं, इसलिये पाठकोंको इस मंत्रका विशेष विचार करना चाहिए । इस मंत्रमें जिस सरस्वतीका वर्णन आया है उसीका वर्णन शिम्भ मंत्रमें देखिए—

अश्विना तेजसा चक्षुः प्राणेन सरस्वती वीर्ये ॥

वायवेदो बलवेदो व द्युःसिद्धिश्च ॥ पं० २०।८०

"अश्विदेव तेजके साथ चक्षु देते हैं, सरस्वती प्राण शक्तिके साथ वीर्य देती है, इंद्र (इंद्राय) जीवात्माके लिये वाणी और बलके साथ इंद्रियशक्ति अर्पण करता है ।"

इनमें सरस्वती जीवनसंकेतके साथ वीर्य देती है ऐसा कहा है । यह सरस्वती वा द भी पूर्वोक्त सुपुम्ना नाडीका वाचक है । अश्विनी शब्द धन और अन्न शक्तियोंका वाचक है । इस मंत्रमें दो इंद्र शब्द हैं । पहिला परमात्माका वाचक और दूसरा जीवात्माका वाचक है । इंद्रिय शब्द आत्माकी शक्तिका वाचक है । कई लोग सरस्वती शब्दका मदी आदि अर्थ लेकर विलक्षण

अर्थ करते हैं, उनको यह बात रमरण रखनी चाहिए कि वैदिक आरंभिक शक्तियोगके वैदिक मुसयना है, पद्यत् अर्थ पदायोंके वाचक है । अस्तु अथ प्राणविययमें और दो मंत्र देखिए—

मोजन और प्राण ।

धान्यमपि धिमुद्दि देवान् प्राणाय त्वोदानाय त्वा
व्यानाय त्वा ॥ दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धी ॥ पं० १।२०

प्राणाय मे वर्षोद्गा वर्षसे पत्रस्व व्यानाय मे वर्षोद्गा
वर्षसे पत्रस्वोदानाय मे वर्षोद्गा वर्षसे पत्रस्व ॥ पं० १।२७

"तू धान्य है । देशोंको धन्य करो । प्राण, उदान और व्यानके लिये तेरा स्वीकार करता हूँ । आयुष्यके लिये दीर्घ मर्त्यादा ध्यान करता हूँ ॥ मंत्रे प्राण, व्यान और उदानके तेजस्वी श्रुतिके लिये शुद्ध बनो ।"

सांख्यिक धान्यका आहार इंद्रियादिक देशोंको शुद्ध, पवित्र और पसल करता है । सांख्यिक मंत्रनसे प्राणका बल बढ़ता है और आयुष्य बढ़ता है । शुद्धनसे प्राणका शक्ति विकसित होती है । इत्यादि बहुत उतम भव उक्त मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं । तथा और एक मंत्र देखिए—

सहस्राक्ष अग्नि

अग्ने सहस्राक्ष नलमूर्खं उर्ध्वसे प्राणाय सहस्रं व्यानाः ।
त्वं सहस्राक्ष राय इतिपे तस्मै ते विधेम वाजाय
स्वाहा ॥ पं० १७।७।

"हे सहस्र नेत्रवाले अग्ने ! तेरे सैंकड़ों प्राण, सैंकड़ों उदान और सहस्र व्यान हैं । सहस्रों धनोपर तेरा प्रभुत्व है । इसलिये शक्तिके लिये हम तेरा प्रशंसा करते हैं ।"

इस मंत्रका "सहस्राक्ष अग्नि" आत्मा ही है । शतकण्ठ, इंद्र, सहस्राक्ष आदि शब्द आत्मावाचक हैं । सहस्र तेजोंका धारण करनेवाला आत्मा ही सहस्राक्ष अग्नि है । प्राण, उदान, व्यान आदि सब प्राण सैंकड़ों प्रकारके हैं । प्राणका स्थान शरीरमें निश्चित है । हृदयमें प्राण दे, गुहाके अंतमें व्यापक है । नाभियामें समान है, शंठमें उदान है और सर्व शरीरमें स्थान है, प्रत्येक स्थानमें छोटे मोटे अनेक अणव्य हैं, और प्रत्येक अणव्यके सूक्ष्म भेद सहस्रों हैं । प्रत्येक स्थानमें और सूक्ष्म सूक्ष्म भेदमें उस उस प्राणकी अवस्थिति है, तात्पर्य प्रत्येकके प्राणके सैंकड़ों और सहस्रों भेद हो सकते हैं । इस

देखिये वेदका वैसा उपदेश है, और साधारण छोय क्या समझ रहे हैं । जैसे जिसके विचर हमें वैसाही उठघी अवस्था बनेगी । इसलिये अपने विषयमें कदापि कुछ बुद्धि धारण करना उचित नहीं है । प्राणायाम करनेवाले सज्जनको तो सर्वत्र आश्चर्यक है कि अपने शरीरको देवताओंका संविद, ऋषियोंका आश्रय समझे और अपने आपको ब्रह्मा अभिष्ठाता तथा परमात्माका सहचारी समझे । अपनी भाषना जैसे उठ होगी वैसाही अनुभव था सकता है । वेदमें—

पंचमुखी महादेव ।

प्राणायामी स्वामीदात्री ॥ (अ. ११।८।२६)

प्राण, अपज, स्थान, उदान आदि नाम आये हैं । उन-
भागोंके नाम वेदमें दिखाई नहीं दिये । किसी अन्य रूपमें हीये
नो पता नहीं । यदि किसी विद्वान्को इस विषयमें ज्ञान हो तो
उसको प्रकाशित करना चाहिए । पंच प्राणही पंचमुखी दर दे,
एक जिनमें नाम है वे सब प्राणवाचकही हैं । महादेव, मनु
आदि सब रक्षके न म प्राणवाचक है । महादेवके पांच मुख जो
प्राणोंमें हैं उनका इस प्रकार मूल विचार है । मह देव मनु-
ज्य वैसा है, इसका यही निर्णय होता है । पंचपरममें एकाक्षर
स्योवा वर्णन है ।

कथमे यदा हति । दशमे पुरये माया आर्षैःकादशः ॥

(शत० भा० १४।५)

“ कौन्से दर है ? पुरयमें दश प्राण हैं और यशरहकी
आत्मा है । ये मया रक्ष है । ” अर्थात् प्राणही दर है, और
इसलिये अथ, पर्व, पशुपति आदि देवताके सब मूल अपने
कर्मके अर्थमें प्राणवाचक एक अर्थ भी व्यक्त करते हैं । पशु-
पति पदम प्राणवाचक माननेपर पशु पदका अर्थ इति
ऐसा ही होगा इतिदोष घोटि, मैंमें पशु आदि अनेक प्रकार
से वर्णन किया है । इस रीतिके वेदमें अनेक स्थानमें प्राण ही
उपसर्गा दिखाई देते । आशा है कि पाठक इस प्रकार वेदका
विचार करेंगे । इस लेखमें रक्षक सब सुखोंका प्राणवाचक
भाव बतायेंके लिये स्थान नहीं दे, इसलिये इस स्थानपर केवल
दिग्दर्शनही किया है । अग्नि शब्द भी विशेष प्रथममें प्राणवाचक
है । पंचप्राण, पंच अग्नि, प्राणाग्नीन आदि शब्दोंद्वारा
प्राणोंके अतिवृत्तता सिद्ध है । इस भाषका देखनेसे पता लगता
है कि, अग्निदेवताके अर्थमें भी प्राणवाचक वर्णन गौणत्वसे है,

मन्वन्त्यानोय देवताओंमें बापु और इंद्र ये दो देवताएँ प्रमुख
हैं । बापु देवताकी प्राणवृत्ता सुषोभेद्वही है । स्थान साक्षर्य
से इंद्रमें भी प्राणवृत्त का सुझाव है । इस दृष्टिसे इंद्र देवताके
मंत्रोंमें भी वेदमें प्राणका वर्णन मिल सकता है । इस प्रकार
अनेक देवताओं द्वारा वेदमें प्राणवृत्तिका वर्णन है । किसी
स्थानपर उचित दृष्टिसे दे और किसी स्थानपर समष्टि दृष्टिसे
है । यह सब प्राणवाचक वर्णन एक करके प्रेषितकर बहुत ही
सज्जन है, इसलिये यहाँ केवल उतनाही उल्लेख किया जाता है
कि जिन मंत्रोंमें स्पष्ट रूपसे प्राणका वर्णन आया है । अब
प्राणकी सत्ता कितनी व्यापक है उसका वर्णन निम्न मंत्रोंमें
देखिये—

प्राणका मीठा चाबुक ।

महत्सुवो विभरूपमस्याः समुद्रस्य खोत्र रेत
आहुः यव दृष्टि मधुकता राणा तत् प्राणस्य-
दुनुत् निविष्टम् ॥ २ ॥ माणदिरायानां दुदिया
वर्षान् प्राणः प्रजागाममृष्यस्य नाभिः । दिर-
पवर्गो मधुकता सुताथो महानामर्ष्याति
मर्षेणु ॥ ४ ॥ (अथर्व ११)

“ (अर्थाः) इस पूर्ववर्ती और समुद्री बडी (रेतः)
सुखे दु है ऐसा सब कहते हैं । जहासे जमझटा हुआ मीठा-
चाबुक चलता है वही प्राण और वही अमृत है । अदिरवो-
की माता, वसुओंकी दुदिया, प्रजाओंका प्राण और अमृतकी
नाभि यह मंदा—चाबुक है । यह तेजस्वी, तेज उत्पन्न करने-
वाली और (मर्षेणु गर्भः) गर्भोंके अंदर संचार करनेवाली
है ॥

इस मंत्रमें “ मधु—कटा ” शब्द है । “ मधु ” का अर्थ
मीठा, लड्डू है । और “ कटा ” का अर्थ चाबुक है । चाबुक
बोका वही चलानेवलेके पास होता है । चाबुक मारनेसे
पादोंके घोट चलते हैं । उक्त मंत्रमें “ मधु—कटा ”
अर्थात् मीठा—चबुकका वर्णन है । यह मीठा—चाबुक
अग्निमें देवोंका है । अग्निमें देव प्राणरूपसे साक्षिका स्थानमें
रहते हैं, प्राण अग्नय, रक्षा उच्छ्वास, दाने और बाये नाभका
इशान यह अग्निदेवोंका प्राणवृत्त शरीरमें है । इस शरीर-
में अग्निदेवोंका प्राणवृत्त शरीरमें है । इस शरीर-
में और शरीररक्षी रक्षक इंद्रवृत्त चेतकोंका चला रहा है । इस
चाबुकका यह रक्षक देखनेसे वेदके इस अतिथीय और निकलण

अलंकारकी कल्पना पाठकोंके मनमें स्थिर हो सकती है । यह प्राणोंका मीठा चाबुक हम सबको प्रेरणा कर रहा है, इसकी प्रेरणाके बिना इस शरीरमें कोई कार्य होता नहीं है । इतनाही नहीं परंतु सब जगत्में यह 'मीठा-चाबुक' ही सबको यति दे रहा है । सब जगत्में यह प्राणका कार्य देखने योग्य है । मंत्र कहता है कि " इस मीठे चाबुकमें पृथ्वी और जलकी सब शक्ति रहती है, जहाँसे यह माठा चाबुक चलाया जाता है वही प्राण और अमृत रहता है ।" प्राण और अमृत एकत्र ही रहता है क्योंकि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तब तक मरणकी मीति नहीं होती । और सभी जानते हैं कि प्राणियोंके शरीरोंमें प्राणही सबका प्रेरक है, इसलिए उसके चाबुककी कल्पना उक्त मंत्रमें वही है क्योंकि शरीरकी रचके चोखे चरनेका कार्य यही चाबुक कर रहा है । दूसरे मंत्रमें कहा है कि " यह चाबुक शरीरस्थ वस्तु आदि देवताओंका सहायक है, यह प्रजाओंका प्राण ही है, अमृतकी मध्य वही है । यह प्राण मयोंमें तेज और चेतना उत्पन्न करता है, और सब प्राणियोंके बीचमें यह चलता है ।" यह बर्तन उक्त अलंकारसे युक्त है, परंतु स्पष्ट होनेके कारण हरएक इसका उपदेश जान सकता है । तथा—

अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता ।

मनोः प्राणः ॥ (अ. १५।१०)
 ओम् चतुः प्राणोऽपिच्छन्नो नो अस्त्वपिच्छन्नो त्रयमायुषो
 वर्षसः ॥ ५ ॥ (अ. १५।५८)
 आयुतोऽङ्गमयुषो म आरमाऽयुने मे चक्षुरयुते मे
 ओन्नमयुतो मे प्राणोऽयुषो मेऽग्नौऽयुषो मे ध्यानो-
 ऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥ (अ. १५।५१)

"मेरे नाकमें प्राण स्थिरतासे रहे ॥ मेरा कान, नेत्र और प्राण छिन्नभिन्न न होता हुआ मेरे शरीरमें कार्य करे । मेरी आयु और तेज अविच्छिन्न अर्थात् दोष होवे ॥ मैं, अग्ना आरमा, चक्षु ओत्र, प्राण, अग्नान्, ध्यान आदि मेरी सब शक्तियों पूर्ण स्वतंत्र और उन्नत होकर मेरे शरीरमें रहे ॥"

आयु और प्राण अविच्छिन्न रूपसे अपने शरीरमें रहनेकी प्रवृत्ति इच्छा उक्त मंत्रमें है । सब ईशियों तथा सब अन्य शक्तियों अविच्छिन्न तथा पूर्ण उन्नत रूपसे अपने शरीरमें प्रकट होनेकी व्यवस्था हरएकके करनी चाहिये । उक्त मंत्रमें कई शब्द अलंकार महत्त्वपूर्ण हैं—

महं आयुषः

अहं सर्वः आयुषः

"मैं संपूर्ण रूपसे स्वतंत्र, दूसरे शरीरोंके सहायताकी ओझा न करने योग्य समर्थ, किसी कष्टसे अलगकी न मचने योग्य हूँ ।" यह भावना यदि मनमें स्थिर हो जायगी तो मनुष्यकी शक्ति कितनी बढ़ सकती है इसका विचार पाठक भी कर सकते हैं । मेरी ईशियों, मेरे प्राण तथा मेरे अन्य अङ्गवत् ऐसे हूँ और बलवान होने चाहिये कि मुझे उनके कारण कभी झग न हो सके, तथा किसी दुर्मति शक्तिकी ओझा न करता हुआ, मैं पूर्ण स्वतंत्रताके साथ आनंदसे अपने महान महान पुद्गलार्थ का सकुं । कोई यह न समझे कि यह केवल हय लड़ी है परंतु मैं यही कह सकता हूँ कि यदि मनुष्य निश्चय करेगा तो निःसंदेहवे अपने आपको इस प्रकार पूर्ण स्वतंत्र बना सकते हैं और उन्नत शक्तियोंका पूर्ण विकास वे अपने अंदर कर सकते हैं, तथा—

प्राणकी मित्रता ।

इदं प्राणः सख्ये नो दस्तु तं एवा परमेष्ठिन्
 पर्यगिरायुषा वर्षवा दधानु ॥ (अ. १३।१।१७)

"यही प्राण हमारा मित्र बने ! हे परमेष्ठिन् ! हमें यह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो ।" प्राणके साथ मित्रता का तारक्य इतनाही है कि अपने शरीरमें प्राण बलिष्ठ होकर रहे । कभी अन्य अयुमें प्राण दूर न हो । अपने आयुष्यमें परमेष्ठो परमात्माकी ही सेवा और उपसना करना चाहिये । परमात्मा सर्व श्रेष्ठ गुणोंका केंद्र होनेसे प म् अभिन्न द्वारा सभी श्रेष्ठ सद्गुणोंका ध्यान होता है और मनुष्यश्रेष्ठका सदा ध्यान करता है उनके सानन बन जा दे, इस नियमके अनुसार परमेश्वरके गुणोंके चिंतनसे मनुष्य भी श्रेष्ठ बनता है । यह उपासनाका और मानवी उन्नतिका संबंध है । इस प्रकार जो सत्यरूप अपने प्रणयनितकी बढाता है उनके प्राणशक्ति कितनी विस्तृत होती है इसकी कल्पना निम्न मंत्रसे ही सकती है । देखिए—

तस्य प्रायस्य ॥ सत प्राणाः सहायानाः सत ध्यानाः ॥
 योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नाभायै वो अग्निः ॥ योऽस्य
 द्वितीयः प्राणः शैवो न नासौ स आदित्यः ॥ योऽस्य
 तृतीयः प्राणोऽङ्गुली नामासौ स चंद्रमा ॥ योऽस्य चतुर्थः
 प्राणो विमूर्त्तमायै स पवमानः ॥ योऽस्य पंचमः प्राणो
 योनिर्नाम वा इमा आवः ॥ योऽस्य षष्ठः प्राणः त्रियो गाम

त इमे पशवः ॥ योऽस्य सप्तमः प्राणोऽवशिमितो नाम
षा इमाः प्रजाः ॥ (अ १५।५५ १-९)

“उस (प्रजास्य) सैन्य सी मनुष्यके सात प्राण, सात
जवान सात ध्यान हैं। उसके सातों प्राणोंके क्रमशः नाम ऊर्ध्व-
श्रीड, अमृष्ट, विष्, योन, प्रिय और अपरिमित हैं । और
उनके सात स्वरूप मन्दाः अग्नि, अदित्य, चंद्रमा, पशुम, आप
पशु और प्रजा हैं ।” इसी प्रकार इसके अगल और ध्यानका
वर्णन उक्त रूप में ही वेदने किया है । यहांही उसको पाठक
देखें । विस्तार होनेके भयसे उस सचको यहां नहीं लिया है ।
मनुष्य अपनी शक्तिको हम प्रकार बटा सकता है । मनुष्य
अपने सातों प्राणोंको अर्थात् सात रूपमें बटा सकता है वही अपने
आपको सब प्रजाजनोंके हितके बार्धमे अर्पण करना है, जो
अपने प्राणका ऊर्ध्व अर्थात् उच्च करता है वा अग्निके समान
उत्पन्न होता है । इस प्रकार उक्त कथनका भाव समझना
चाहिए । तथा—

समयकी अनुकूलता ।

काले मनः काले प्राण काले नाम समारहितम् ।
कालेन सर्वाभं गत्यागतेन प्रजा इमा ॥६॥ (अ० १५।५३)
“कालकी अनुकूलतासे मन, प्राण और नाम रहता है। काल-
की अनुकूलतासे सब प्रजाओंका आनंद होता है ।”

कालका नियम पालन करना चाहिये । पुरुरोधके सावधान
की अनुकूलता होनेसे सत्ताम फल प्राप्त होता है । शालका
विषकार नहीं करता चाहिये। जो अनुकूलता प्राप्त होती है
उसका उपयोग अवश्य करना चाहिये । प्रणायामादि कायन
करनेसे जो उचित है कि वह योग्य कालमें निरंतर पूर्वक अपना
आवस्य किया करें, तथा जिस समय जो करना योग्य है उसका
अवश्य ही उस समय करना चाहिये । अब प्राणके संरक्षण
रूपकी वर्णन निम्नलिखित मंत्रमें देखें—

प्राणरक्षक ऋषि ।

कपी बोधवतीबोधोपावस्वन्तो यश्च साधुभिः ।
को ते प्राणरक्ष गोप्ताः॥ दिवानकं च साधुतम् ॥

(अ० ५।३०।१०)

“बोध और प्रतिबोध अर्थात् रक्षुंति और साधुभिः ये दो ऋषि
हैं। ये दोनों तेरे प्राणोंको रक्षा करते हुए दिनरात आगते रहे ।”

प्रतीक मनुष्यम में दो प्राण हैं । “सूर्जनं और आगुति”
ये दो प्राण हैं । एक उत्साहकी प्रेरणा करता है और दूसरा

सावधान रहनेकी चेतना देता है। उत्साह और सावधानता ये दो
सदगुण जिम मनुष्यमें जिनने होंगे, उनकी बंधता उस मनुष्य-
की हो सकती है । ये दो प्राण प्राणक संरक्षणका कार्य करते
हैं, और यदि ये दिन रात आगते रहने तो मनुष्यकी मृत्युकी
शंका नहीं हो सकती। जबतक मनुष्यवशमन उत्साहसे परे नहीं
रहेगा और जबतक सवधानपरे प्राण यह अपना व्यवहार
करेगा, तबतक उसको मरणकी भांति नहीं होगी, यह साधारण
नियम समझिये ।

जो लोग असवधानताके साथ अपना दैनिक व्यवहार करते
हैं, तथा जो सदा हीनशील और दुर्बलताके ही विचार मनमें
धारण करते हैं; उनको इस संशका भाव ध्यानमें धरना उचित
है। वेद कहता है कि मनमें उत्साहके विचार धारण करो और
प्रतिक्षण सावधान रहो । जो मनुष्य अपने आपकी वैदिक धर्मा
समझता है उसके उचित है कि वह अपने मनमें वैदिक ही अनु-
कूल भाव धारण करे । वैदिक धर्मा मनुष्यको उचित नहीं कि
वह वेदों विद्वद हीन और हीनताके विचार अपने मनमें धारण
करके मृत्युके घर्ममें पड़े । वैदिक धर्मका विशेष उद्देश्य सर्व-
साधारणजनताका आनुष्ण्यही और आगोष्ण्यही करना है। इसी-
लिये स्वन ध्यानक वैदिक मंत्रमें हीर्षागुणके अनेक उपादेश
आते हैं । पाठक इन बातोंकी ठीक प्रकार अपने मनमें धारण
करें ।

द्वैतताका धन ।

प्र त्रिदशं प्राणायामावनद्वाहाविष ममू । अर्धं अरिण्याः
सोषणिविष्ट इह वर्षताम् ॥ ५ ॥ आ त प्राण सुखामसि
परा वधमं सुखामि ते ॥ आतुर्नो विघ्नो दुषद्वयमग्नि-
संशयः ॥ ६ ॥ (अ० ७।५३)

“जिस प्रकार ब्रह्म अपने स्थानपर वापस आते हैं, उस प्रकार
प्राण और अपान अपने स्थानपर आ जायें । द्वादशवक्ताका जो
संज्ञा है वह यहाँ क्रम न होता हुआ बहता रहे । तेरे अंदर
प्राणको प्रेरित करता हूँ और बीमारीको दूर करता हूँ। यह श्रेष्ठ
अग्नि हम सबको सब प्रकारसे दीर्घ आयु देवे ।”

जैस सामके समय वेगसे अपने स्थानपर आ जाते हैं। उस
प्रकारके बलमूक्त वेगसे प्राण और अपान अपने अपने स्थानमें
रहे । अब प्राण और अपान बलवान बनकर अपना अपना कार्य
करते तब मृत्युका भय नहीं हो सकता और मनुष्य दीर्घ आयु
रूपी धन प्राप्त कर सकता है । अब धर्मोंमें आनुष्ण्यकी अब

है सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि सब अन्य धर्मोंका उपयोग इसके होने-पर ही हो सकता है । उक्त मंत्रमें—

अरिग्नः शंभुभिः इन्द्र वधंताम् ॥ (अ० ७।७।३।५)

ये शब्द मनन करने योग्य हैं । " इन्द्र आयुष्य स्वत्राना यशं बधता रहे ।" अर्थात् इस लोभमें आयु बधता रहे, ये शब्द स्पष्टतासे बता रहे हैं कि आयु निश्चय नहीं, प्रयुक्त बढनेवाली है । जो मनुष्य अपनी आयु बढाना चाहेगा वह उस प्रकार तं आयुष्यवर्धक सुविधमोका पालन करके आयु बढा सकता है । इस प्रकार वेदका उपदेश अर्थात् स्पष्ट है । परंतु कई वैदिक धर्मः समझने ही हैं कि आयु निश्चय है और घट बढ नहीं सकती । विन बातोंमें बेशका कथन स्पष्ट है, उन बातोंमें कभीसे कम भिन्न विचार वैदिक धर्मयोगे धारण करना उचित नहीं है ।

बोध और प्रतिबोध ।

पूर्व स्थानमें बोध और प्रतिबोध ये दो शब्द हैं, ऐसा कहा ही है । वहीं भाव थोड़ेसे फरकसे निम्नलिखित मंत्रमें आया है, देखिये—

बोधश्च स्वा प्रतिबोद्धश्च रक्षतामस्वप्नश्च स्वाऽनवद्राणश्च रक्षतामृगोपायंश्च स्वा जागृविश्च रक्षतामृगं । (अ० ८।१।१३)

"उत्साह और सावधानता तेरा रक्षण करे । स्फूर्ति और जागृति तेरा संरक्षण करे । रक्षक और जागृत तेरा पालन करे ।"

इस मंत्रमें संरक्षक गुणोंका वर्णन है । उत्साह, सावधानता स्फूर्ति, जागृति, रक्षण और स्वशरदारों ये गुण संरक्षण करने-वाले हैं इनके विरुद्ध गुण घातक हैं । इसलिये अपनी अभिवृद्धि-की इच्छा करनेवालेको उचित है कि वह उक्त गुणोंकी वृद्धि करनेमें करे । इस मंत्रके साथ पूर्व मंत्र, जिसमें दो प्रशिक्षणोंका वर्णन है तुलना करके देखे । अब निम्नलिखित मंत्र देखिये—

उन्नति ही तेरा मार्ग है ।

उच्चानं ते पुरुष नात्रयानं जीवानुं ते द्युशर्षाणि कृणोमि ।
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमय जिर्विदिद्यमा वदासि ॥
(अ० ८-१।६)

"हे मनुष्य ! तेरा गति (उत्त यानं) उन्नतिकी ओर ही होनी चाहिये । कर्मों भी (सत्र यानं न) अवनतिकी ओर होनी नहीं चाहिये । तेरा दर्श आयुष्यके दिग्दर्श में बलका विस्तार करता है । इस सुकर्मय शर्षांशु अमृतमय रथपर (आगे) चले । और जब तुम दीर्घ आयुसे युक्त हो जाओगे तब (विदग्धं) समाश्रमों में (आवृद्धि) समाप्य करोगे ।"

अपना अमृतदय करिबेद्य यान करना चाहिये, कर्मों ऐसा कर्म करना नहीं चाहिये कि जिससे अवनति होनकी संभावना हो सके । जीवनके लिये प्राणका बल फैलाना चाहिये । प्राणका बल बढानेमें दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है । यह शरीरका उत्तम रथ है, जिसको इन्द्रियरूपी घोड़े जुंते हैं । इन रथमें प्राण रूपी अमृत है । इसलिये इनको सुवमय रथ कहा जाता है । इस सर्वोत्तम रथपर आरुढ़ हो जाओ और अपनी उन्नतिके मार्गमें आगे बढो । जब तुम बल और दीर्घ आयु प्राप्त करोगे तब तुमको बड़ी बड़ी समाश्रमों अवश्य ही समाप्य करना होगा, क्योंकि दुर्गोका सुधार करनेके लिये तुमको प्रयत्न करना चाहिये । जीवन-रथ युद्धमें सब जनताको उत्तम मार्ग बतानेका कार्य तुम्हारा ही है । तुमको स्वार्थ बनना नहीं चाहिये । प्रशुद्ध जनताकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिये । इस मंत्रसे पता लगता है कि प्राणायामादि साधनों द्वारा दीर्घ आयु, उत्तम आरोग्य, आद्वितीय बल, सूक्ष्म बुद्धि और विद्यालय मन प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यको अपना जीवन सांस्कृतिक हितसाधन करनेमें लगायत चाहिये । समाजसे अलग होकर अपनी ही शक्ति प्रस्त करने-मात्रसे मनुष्य हतधर्म नहीं हो सकता, परंतु जब एक "नर" अपने आपकी उन्नत करनेके पश्चात् "वैश्या—नर" के लिये आत्मसमर्पण करता है, तब ही वह उच्चतम अवस्थाकी प्राप्ति कर सकता है । यही सर्व-मेव-यज्ञ है । अस्तु । इस प्रकार उक्त मंत्रमें योगी मनुष्यके सम्मुख अंतिम उक्त आदर्श रक्ष दिया है । आशा है कि, सब श्रेष्ठ मनुष्य इस वैदिक आदर्शको अपने सम्मुख रखकर अपना जीवन इसके अनुसार दामनेका यान करेगें । अब अन्य बातोंका विचार यहाँ करना है । योगी जनोद्य आधिकार कहातक पहुंचना है, इसका पता निम्न मंत्रसे लग सकता है—

यमके दूत ।

कृणोमि ते प्राणापानौ चरां सृष्टुं दीर्घमायुः स्वगित् ।
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतान्नरोप सेषामि सर्वाश्च
॥ ११ ॥ आराद्राति निर्द्वानि परो प्रदि ऋष्यादः वि-
द्यात्वात् । रक्षो यः सर्वं दुर्मूर्त्तं तप्तम ह्वाप हन्वसिध १२ ॥
आनेष्टं प्राणममृत दायुष्मतो र्वभे ज तन्दसः । यथा न
रिप्या अष्टयः स्यूस्तस्य कृणोमि तदुवे समुष्यताम्
॥ १३ ॥ अ. ८।१

“ मैं तेरे अंदर प्राण और अणुका बल, दीर्घ आयु, (स्थायि) स्थाय्य आदि सब अच्छे भव, वृद्धावस्थाके पश्चात् योग्य समर्थमें मृत्यु अदि स्थपना करता हूँ वैश्वत यमके द्वारा भेजे हुए यमदूतोंके भी हूँ कर दूर करता हूँ ॥ (अर्थात्) अदाय, (निरुक्ति) नियम विरह व्यवहार, (प्राप्ति) शरीर चलनेशाले रोग, (कष्टवाद) मासिकी शीघ्र करनेवाली बीमारी, (पिशाचान्) रक्तका निबल करनेवाले रक्तके छिमे, (रक्षः=शर) सब क्षयके कारण, (सर्वे दुर्भेद) सब बुरा व्यवहार आदि जो कुछ विनाशक है, उस सबको अंधकारके समान मैं दूर करता हूँ ॥ तेरे लिये मैं तेजस्वी, अमर और आयुधमान् जालवेदके प्राण प्रसन्न करता हूँ । जिस प्रकार तेरा अकालमृत्यु न होगा, वृ अमर अर्थात् दीर्घजीवी बनेगा, (सज्जः) निप्रभावसे संतुष्ट रहेगा और तुझे कष्ट न होगा उस प्रकारकी समृद्धि तेरे लिये मैं अर्पण करता हूँ ॥ ”

इन मंत्रोंमें प्राण स्थापन करके जो विलक्षण सिद्धि प्राप्त होती है उसका उल्लेख वर्णन है। प्राणका बल प्राप्त करनेसे सब प्रकारका स्थाय्य, दीर्घ आयु, बल तथा योग्य कालमें मृत्यु हो सकती है । परंतु प्राणका बल न होनेकी अवस्थामें नाना प्रकारके रोग, अल्प आयु, अशक्तता और अकाल मृत्यु होती है । इससे प्राणायामादि द्वारा प्राणकी शक्ति बढानेकी आवश्यकता स्पष्ट सिद्ध होती है । जो विद्वान् आयुको परिमित और निश्चित मानते हैं वे कहते हैं कि यमके दूत सब जगत्में संचार करते हैं, वे आयुकी समाप्तिके समय मनुष्यके प्राणोंका हरण करते हैं । इसलिये आयु बढ नहीं सकती । इस अवैदिक मन्त्रका खंडन करते हुए वेद कहता है कि जो यमदूत इस जगत्में संचार करते होंगे, उनको भी प्राणके अनुष्ठानसे दूर किया जा सकता है । इसमें मनुष्य पराधीन नहीं है । अनुष्ठान की रीतिसे प्राणका बल बढानेसे, तो उषी क्षण यमदूत आपसे दूर हो सकते हैं । प्राणोपासना करनेशालेके ऊपर यमदूत अपना प्रभाव नहीं डाल सकते । इस प्रकारका अमयदान वेद दे रहा है, इसकी ओर हरएक वैदिक धर्मोका ध्यान अवश्य जाना चाहिए । इस विचारको धारण करके निर्भय बनकर प्राणायामद्वारा अपनी आयु हरएकको दीर्घ बनानी चाहिए तथा अन्य प्रकारका स्थाय्य भी प्राप्त करना चाहिए । प्राणायामके अनुष्ठानसे मनुष्य इतना बल प्राप्त कर सकता है कि बिनासे वह यमदूतोंको भी दूर भगा सकता है । इतना सामर्थ्य

प्राप्त होता है इसलिये ही सब श्रेष्ठ पुरुष प्राणायामका महत्त्व वर्णन करते हैं ।

प्राणायामसे सब ही प्रकारके व्याधि-दोष और रोगोंके मूल कारण दूर हो सकते हैं । दुष्टभाव, बुरा आचार, विधिविधियोंके विरुद्ध व्यवहार आदि सब दोष इन अन्धप्राणसे दूर होते हैं । सब प्रकारके रोगोंके बीज शरीरसे हट जाते हैं । जिस प्रकार सर्वे अपनी किरणों द्वारा अंधकारका निर्मूलन करता है, उस प्रकार योगी अपनी प्राणशक्तिके प्रभावसे सब रोगबीजोंको दूर कर सकता है ।

जो सब बने हुए पदार्थोंको यथावत् जानता है वह आत्मा “ जात-वेदभ्रमि ” है । वह आत्मा अमृतरूप तथा आयुधमान है । इसलिये वही सबको अमर और आयुधमान कर सकता है । जो उसके साथ अपनी आत्माको योगस्थापनद्वारा संयुक्त कर सकते हैं वे अपने आपकी दीर्घ आयुसे युक्त और अमरत्वसे पूर्ण बना सकते हैं । इस प्रकारसे प्राणसंयम योगी अकाल मृत्युसे मरते नहीं, अमर बने हैं, सदा संतुष्ट और प्रेमपूर्ण बनते हैं, इसलिये सब प्रकारकी समृद्धिसे युक्त होते हैं । यही सच्ची समृद्धि है । मनुष्यका अधिकार है कि वह इस समृद्धिके प्राप्त करे ।

अर्थार्थिका सिर ।

चित्तश्रुतियोंका विरोध करना और मनकी सब श्रुतियोंको स्वाधीन रखकर उनको अच्छे ही धर्ममें लगाना योग कहलाता है । इस प्रकारका पुरोध जो करता है उसको योगी कहते हैं ।

योगिके अंदर अचलता नहीं रहती और दृढ स्थिरता मनोश्रुतियोंमें शोभा बढाने लगती है । इस प्रकारके योगीका नाम “ अ-चर्या ” होता है । ‘ अचंचल ’ यह अथर्वी शब्दका भाव है । एकाग्रताकी सिद्धि उसको प्राप्त होती है । इस अर्थार्थिका जो वेद दे वह अथर्ववेद है । अथर्ववेद सर्वशान्त्य मनुष्यके लिये नहीं है । योगस्थापनका इसमें मुख्य भाग होनेसे तथा छिद अवस्थाकी बातें इसमें होनेसे यह अथर्ववेदका योगी-योद्धा वेद है । इसमें इसी कारण प्राणायामविषयक उपदेश सब अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है । इस वेदमें अर्थार्थिके सिरका वर्णन निम्न प्रकार किया है—

मूर्धानमस्य संसीध्याधर्मा इदं च यदासद्विष्णुकाकूर्ध्वः
प्रेरपत्यवमानोऽपि शीर्षतः ॥ २६ ॥ उग्रा अर्धवर्णः
शिरो देवकोट्यः समुत्थितः तत्प्रायो अभि रक्षति क्षिति

ब्रह्ममयो मनः ॥ २७ ॥ यो वै सां ब्रह्मणो वेदानुवे-
नाहृतां पुरम् । तस्मै ब्रह्म ऋषाणाञ्च चक्षुःश्राणप्रज्ञा
ददुः ॥ २९ ॥ न वै स चक्षुर्ब्रह्मादि न प्राणो अरसः
पुरा । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पृथक् वक्ष्यते ॥ ३० ॥
ब्रह्मवक्ता नवद्वारा देवानां पुरोयथा । तस्यां हिरण्यमयः
कोशः स्वर्गो उयोत्रिधवृत् ॥ ३१ ॥ तस्मिन् हिरण्यये
कोशे त्वरे त्रिप्रतिष्ठिते । सस्तिन् वषट्कमात्मस्वत्
वद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥ प्रज्ञाजमानां हरिणां
यथासा संपरीवृताम् ॥ पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशा-
पराविताम् ॥ ३३ ॥ (ऋ० १०१२)

“ (ज—यज्ञ) स्थिरचित्त योगी अपने (मूर्त्तानं)
मस्तिष्कके साथ हृदयको सीता है, और सिरके मस्तिष्कके
ऊपर अपने (पञ्चमनः) प्राणको भेज देता है ॥ वहीं अपनी
या सिर है कि जिसको देवोंका कोश कहा जाता है । उसका
रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं ॥ अमृतसे परिपूर्ण इस
ब्रह्मकी नगरीको जो जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव
ब्रह्म, प्राण और ब्रह्मा देते हैं ॥ वृत्तावस्थाके पूर्व चक्षु और प्राण
उसको छोड़ते नहीं, जो इस ब्रह्मपुरीको जानता है, और
जिसमें रहनेके कारण आत्माको पुरुष कहते हैं ॥ अठ चक्र और
नी द्वाराये युक्त यह देवोंकी अवस्था नगरी है, इसमें तेजस्वी
कोश है वही देदीप्यमान स्वर्ग है । तीन आरोंके युक्त और तीन
स्पर्शोंपर रहे हुए उस तेजस्वी कोशमें जो पूज्य आत्मा है उसकी
ब्रह्मज्ञानः लोग जानते हैं । इस देदीप्यमान, मनोहर, वरुणी
और अपराजित नगरीमें ब्रह्म प्रवेश करता है । ”

योगशासन करनेवालोंके लिये यह उपदेश अमूल्य है । इसमें
सबसे पहली बात यह कही है कि हृदय और मस्तिष्कके एक
कर बनाने । हृदयका धर्म मष्क है और मस्तिष्कका धर्म विचार
है । मष्क और विचारका विशेष नहीं होना चाहिये । दोनों एक
ही कार्यमें सम अधिधारण प्रकृत होने चाहिये । जहां ये दोनों
केंद्र विभक्त होते हैं उसमें दोष उत्पन्न होते हैं । धर्ममें विशेषतः
मस्तिष्ककी तर्कना और हृदयकी मष्कके समान स्थान
मिथ्या चाहिये । त्रिध धर्ममें इनकी समान स्थान नहीं होता,
उस धर्ममें बड़े दोष होते हैं । शिक्षानिमागमें भी मस्तिष्क
और हृदयका समविकास होने योग्य शिक्षा होनी चाहिए ।
विद्य शिक्षामें केवल मस्तिष्ककी तर्कनाकी बढती है उस शिक्षा
मनात्मिक मस्तिष्कका उत्पन्न होती है और जिसके केवल मष्क

बढती है उस प्रणालीके अन्वविधास बढता है । इसलिये
तर्क और मष्किका समविकास होनेसे दोनों दोष दूर
होते हैं और सब प्रकारकी उत्पत्ति होती है । योगशासन करने-
वालेको उचित है कि वह अपनेमें मस्तककी तर्कशक्ति और
हृदयकी मष्क समप्रमाणमें विकसित करे । यही भाव “ मूर्त्तानं
और हृदयको सीने ” के उपदेशमें है । दोनोंको धीकर एक करना
चाहिए और दोनोंको मिलाकर आत्मोन्नतिके कार्यमें समर्पित
करना चाहिए ।

ब्रह्मलोककी प्राप्ति ।

“ मस्तिष्कके ऊपर के स्थानमें प्राणको प्रेरित करना ” यह
उपदेश उपदेश उक्त मंत्रोंमें है । मस्तिष्कमें सहस्रार चक्र है और
इसके नीचे पृष्ठबंधके साथ कई चक्र हैं । प्राणायामद्वारा नीचे-
से एक एक चक्रमें प्राण भरनेकी क्रिया साध्य होती है और
सबसे अंतमें इस मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण भेजा जाता है,
इस अवस्थासे पूर्व पृष्ठबंधकी नाडियोंमें प्राणका उत्तम संचार
होता है । तत्पश्चात् मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण पहुँचता
है और ब्रह्मज्ञानक प्राणकी गति होती है । यह प्राणकी सर्वोत्तम
गति है । यहाँ ब्रह्मलोक होनेसे तथा इस स्थानमें प्राणके साथ
एक स्थायी गति होनेसे, इस अवस्थामें मुमुक्षुको ब्रह्मलोक प्राप्त
होता है । इसलिये इस अवस्थाको सबसे उत्तम अवस्था कहते
हैं । यह सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राणायामके नियमपूर्वक अभ्यास-
से प्राप्त होती है, इस कारण यह योगियोंको प्राप्त होनेवाली
अवस्था है ।

देवोंका कोश ।

ब्रह्मणो अर्थात् योगीका उक्त प्रकारका सिर अचमुक्त देवोंका
अज्ञान है । इस प्रकारके अर्थात् सिरमें सब दिव्य भावनाएँ
रहती हैं । सब दिव्य श्रेष्ठ देवी शक्तिशक्ति निवास उसके शरीरमें
होता है इसलिये उसका देह देवताओंका अन्ना मंदिर है । इस
देवोंके मंदिरकी रक्षा करनेवाले जो शीर हैं उनके नाम प्राण,
मन और अन्न हैं । बलवान प्राण सब रोगबीजों और शारीरिक
दोषोंको हटाता है, श्रेष्ठ सङ्गुणी और उत्पन्नित्त मन अपने सुवि-
चारों द्वारा इसको सुरक्षित रखता है । मनकी प्रथम इच्छा
शक्तिद्वारा सब ही दोष दूर हो सकते हैं और आदर्श अवस्था
प्राप्त हो सकती है । शारीरिक अन्नके सेवन करनेसे शरीर निर्दोष
बनता है, मन भी शारीरिक बनता है और प्राणका बल भी
बढता है । इस प्रकार ये तीन शीर—“ प्राण, मन और अन्न ”—

परशुरोच संवर्धन करते हुए, सब मिलकर योगेश्वरी प्रहावता करते हैं । यही प्रजापति का वस है ।

मद्राक्षी नगरी ।

मद्राक्षी नगरी हृदयमें है और उसमें अमृत है । यह अमृत देव प्राप्त करते हैं और पुत्र होते हैं । अर्थात् हृदय स्वामीय रहिये ही सब इन्द्रियों में जाकर वरों का आगत्य स्थिर रहता है । इस अमृतपूर्ण मद्राक्षी नगरी में जो ठीक प्रकार जानता है, इस पुणिक सब सुवर्धनमें जो परिचित होता है, अपने इस हृदय की चकितयों को आ जानता है उसका मद्राक्षी और मद्राक्षी चाकितयों वस्तु, प्राण और प्रजा देती है । वस्तु उपदेश सब इन्द्रिय और अथर्ववेदों सूचना होती है, प्रजापति सुप्रजाय बोध करना है और प्राण-वस्त्रों सामर्थ्यपूर्ण जीवनदायक होता है । तत्पश्चात् इस अपने हृदय की चाकितयों उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेसे उक्त प्रकारके लाभ हो सकते हैं । हृदयकी तथा अपने आंतरिक इन्द्रियों और अथर्ववेदों की जानना, प्राणदायक जो चित्तों एकत्रता होती है तब कई अज्ञान चकितयों का विज्ञान होता है, यही अथर्ववेदों आंतरिक चरकालों का विज्ञान होता है इसी रीतिसे हृदय की अंतर्गोचर पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् वही अपने आत्मा की चाकितयों के अमृत रीतिसे चर्च कर रही है, इसका सुखरश्मि होता है । इस प्रकार अपने आत्म की चाकितयों से होते ही उक्त फल प्राप्त होता है । सुप्रजा निर्माण करनेकी चाकितयों, दीर्घ आयु और बलवान इन्द्रिय ये तीन फल अपने हृदयका तथा वहीकी आत्मचाकितयों का प्राप्त करने-वालेको होते हैं ।

जो पुत्र मद्राक्षी बनना है वह अमृत मृग्युने नहीं मरता, पूर्ण आयुस्वी समारिष के पश्चात् स्वर्ग इच्छासे वह मरता है । आयुस्वी समारिष उक्त अमृत इन्द्रिय, अथर्व और अंग बलवान और चाकितय रहते हैं । यह मद्राक्षी फल है । कई यथां संका करें कि मद्राक्षी नका यह फल कैसा प्राप्त होता है ? इस संकाके उत्तरमें विवेचन है कि मद्राक्षी के आंतरिक चाकितयों होते हैं और उक्त फल उक्त उक्त फल प्राप्त हो सकते हैं । तथा जो मद्राक्षी होता है उक्त आचार-विचार चाकितयों का करनेवाला न होनेके कारण उक्त चाकितयों की क्षीण होने ही नहीं, अतएव उक्त चाकितयों का उक्त फल प्राप्त करनेकी चाकितयों आंतरिक होती है, उक्त उक्त फल प्राप्त करने-वाले ही है ।

अयोध्या नगरी ।

आठनक और नी द्वारे बुध यह देवताओं की नगरी है, इसका नाम " अयोध्या " है । अथर्व देवताओं और आयु-रीमायनाओं का संभव नहीं होगा, अर्थात् यही देवां इति ही सदा चाकितयों का निवास काती है । इसीसे उक्त नाम " अ-योध्या " नगरी है । उक्त उक्त नाम नगरी देवों के आवास होती है उक्त उक्त नाममें चाकितयों का नाम ही जाता है । इन्द्रियों की नी द्वार है और इसमें पृष्ठपंचम मूलाक्षर आदि आठ नक है । इस नगरी में हृदयपानमें मद्राक्षीय स्वर्ग है । वही प्राणदायक चाकितयों का प्राप्त स्वर्ग है । प्राणदायक स्वर्ग स्वर्गीय इच्छासे प्राप्त है, अथर्व वर स्वर्ग सभी प्राणियां के पास है ही, परंतु बहुत ही संकोच लेग हैं कि जो अपनी इच्छासे उक्त चर्च कर सकते हैं । अतएव उक्त का प्रभाव जानते हुए उक्त स्वर्ग की जानना और ज्ञानके साथ उक्त चर्च करना योग्यचर्चसे प्राप्त है ।

अयोध्याका राम ।

इस नगरी में जो पुत्रोंय देव है वही आत्मापन है, उक्त-को मद्राक्षीयों के ही जन्त है । अयोध्या उक्त पदा नहीं लग सकते ।

इस चर्च ही नगरी में विज्ञान मद्राक्षी चर्च करता है । अयोध्या उक्त आयु की माननाओं का विज्ञान प्राप्त करता है तब वह अपनी राजपत्नी विदेहिसे चर्च करता हुआ चर्च करता है । यह राजपत्नी अयोध्या नगरी यद्यपि पूर्व है, दुःखी-य हाण करनेवाली है और तबसे प्रकाशित है । इसका पराक्रम आयु की माननाओं का ही कमी ही ही नहीं सकते । इस-विदेहि उक्त नाम ही " अयोध्या अयोध्या " है । अने हृदयकी इस चाकितयों की जानना चाकितयों में अयोध्या ही । उक्त चाकितयों में कमी पराक्रम नहीं हो सकते । ये सदा विज्ञान ही रहेंगे । अयोध्या नाम ही " विदेहि " है । इत्यदि माय नयायको अपने अंदर धारण करने चाकितयों । " मैं ही-दीन दुर्बल और अथर्व हूँ " इन प्रकारके माय वद्विष मनमें धारण नहीं करने चाकितयों । ये अर्थात् नाम है । इस अर्थमें आत्माका विज्ञान स्वर्ग बलका है, आत्मा है कि चर्च यही सुप्रजा इस मायकी धारण करेंगे ।

अन्य आत्माका ही यह वर्णन है । आत्मा कि उक्त प्रकारके मायसे पराक्रम होती है और कि आत्माके धारण करनेसे

विजयी होती है, इसका सूत्र वर्णन हमें दिया है। आत्मा ही ब्रह्मा है, वह हृदयमूलमें निवास करती है, इस अर्थात् प्राण उसका बहुरूप है, आदि वर्णन पूर्ण स्थलमें आ चुका है। यह ब्रह्मकी नगरी है, यहाँ देवोंकी पुरी अमरावती है, यहाँ सब कुछ है। पाठक प्रयत्न करके अपने अंदर इस शक्तिका अनुभव करें और अपना विजय संपादन करें।

अब चारों वेदोंमें अनेक मंत्रोंद्वारा जो जो उपदेश कार दिया है उसका मारांश नांचे देता हूँ, जिसकी पढ़नेसे पूर्वोक्त सब कथनका भाव हृदयमें प्रकाशित हो सकेगा—

(१) आंतरिक प्राणका बाह्य वायुके साथ नियम संबंध है।

(२) जितना प्राण होता है उतनी ही आयु होती है, इसलिये प्राणशक्तिकी वृद्धि करनेसे आयुष्यकी वृद्धि हो सकती है।

(३) प्राणरक्षणके नियमोंके अनुकूल आचरण करनेसे न केवल प्राणका बल बढ़ता है, प्रत्युत चक्षु आदि सभी इंद्रियों अवयवों और अंगोंको शक्ति बढ़ती है और उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सकता है।

(४) प्राणनामके साथ मनमें शुभ विचारों की धारणा करनेसे बड़ा लाभ होता है।

(५) सर्व प्रकारका सेवन तथा मोक्षमें भीक्षा सेवन करनेसे प्राणनाम की योग्य सिद्धि होती है।

(६) प्राणशक्तिका विकास करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि आत्माकी शक्तिके साथ प्रेरित प्राण शरीरके प्रत्येक अंगमें जाकर वहाँके स्वास्थ्यकी रक्षा और बढकी वृद्धि करता है।

(७) एकही प्राणके प्राण, अपान, व्यान, सदान और समान ये चार हैं तथा अन्य चार प्राणोंकी उर्ध्वके प्रमेद हैं।

(८) संतोषश्रुति और पवित्रतासे प्राणका सामर्थ्य बढ़ता है।

(९) प्राणका बौद्धिके साथ संबंध है। बौद्धिकरणसे प्राणशक्तिकी वृद्धि होती है और प्राणनामसे बौद्धिकी स्थिरता होती है। इसप्रकार इनका परस्पर संबंध है।

(१०) परमेश्वरकी उपासना और संयोजक अभ्यास इन दोनोंसे प्राणका बल बढ़ जाता है।

(११) प्राणशक्तिकी रक्षा और अभिवृद्धिके लिये सब

अन्य इंद्रियोंके सुखोंकी त्यागना चाहिये; अर्थात् अन्य इंद्रियोंके सुख प्राप्त करनेके लिये प्राणकी हानि करनी नहीं चाहिए।

(१२) सब शक्तियोंमें प्राणशक्तिही मुख्य और प्रमुख शक्ति है।

(१३) सत्कर्मके साथ प्राणका पोषण करना चाहिए।

(१४) वाचा, मन और ब्रह्ममें शुद्धता और पवित्रता रखनी चाहिए। इनसे बल बढ़ता है।

(१५) मोक्षके समय अपनी सब इंद्रियशक्तियों किं प्रकाश आत्ममें लीन होनी हैं, और उठनेके समय पुनः किं प्रकाश व्यक्त रूपमें कार्य करने लगती हैं इसका विचार करना और इसमें प्राणके कार्यका अनुभव लेना चाहिए। इस अन्यायसे आत्माकी विलक्षण शक्ति जन्मी जाती है।

(१६) संतुर्ण रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको प्राण ही दूर करता है। जबतक प्राण है तबतक शरीरमें अमृत है।

(१७) मोक्षके साथ, प्राणशक्ति, आयुष्य, आरोग्य आदि सब संबंध है। इसलिये ऐसा उत्तम सत्त्विक मोक्षण करना चाहिए कि जो आयुष्य आरोग्य आदिर्षी वृद्धि कर सके।

(१८) सद्व्रतों सूत्रन रूपोंसे शरीरमें प्राण कार्य करता है।

(१९) प्राण संवर्धनके नियमोंके विरुद्ध व्यवहार करनेसे सब शक्ति क्षीण होकर अद्यात् मृत्यु होती है। इसलिये इस प्रकारकी नियमविरुद्ध आचरण करनेकी प्रवृत्तियों रोकना चाहिये।

(२०) अग्नि, वायु, रश्मि आदि बाह्य देवताएँ अपने शरीरमें वाचा, प्राण, चक्षु आदि रूपसे रहती हैं। इस प्रकार अपनी शरीर देवताओंका मंदिर है और मैं उन सब देवताओंका अधिष्ठाता हूँ। यह भावना मनमें स्थिर करनी चाहिये। और अपने आपकी उच्च भावनारूप ही समझना चाहिये।

(२१) अपने आपकी अग्रगणित विजयी और शक्तिका वैद मानना उचित है।

(२२) प्राण ही ब्रह्म है। कदाचक सब शब्द प्राणवाचक है।

(२३) प्राणके आधारसे ही सब विश्व चल रहा है। प्राणियोंके अंदर यह बड़ी विलक्षण शक्ति है।

(२४) मैं पुरुषार्थसे अवगत ही अपनी सब शक्तियोंका विकास करूँगा, ऐसा बड़ नियम करना योग्य है।

(२५) अपने आपको कमी हीन, दीन, दुर्बल नहीं समझना चाहिये परंतु अपने प्रभावका गौरव ही सदा देखना चाहिए ।

(२६) जगत्में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो मुझे कुछ दे सकेगी । मैं सब कष्टोंको दूर करनेका सामर्थ्य रखता हूँ । यह भाव मनमें रखना चाहिए ।

(२७) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर देवा मित्र है, इस बातपर पूर्ण विश्वास रखना, तथा उसको अपना पिता, माता, माई आदि समझना । उसमें और भेदमें क्यान काम आदि का भेद नहीं है ।

(२८) योग्य कालमें योग्य कार्य करना । कलही अनुकूलता प्राप्त होनेपर उसको दूर न करना । आजका कर्तव्य कलके लिये न रखना ।

(२९) पूर्ण और जायति धारण करनेसे उन्नति होती है ।

(३०) दास आशु ही बड़ा धन है, उनको और भी बढ़ाना चाहिए । निर्दोष बननेसे उस धनकी वृद्धि होती है ।

(३१) उत्साह, भावधानता, श्रुति, जायति, स्वधरक्षण की जायना और योजनासे उन्नतिका स धन दिया जा सकता है ।

(३२) सदा ऊपर उठनेके लिये प्रयत्न होना चाहिए, ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहिए कि जिससे नीचे गिरनेकी संभावना हो सके ।

(३३) इस अमृतमय शरीरमें आकर व्यक्तिकी उन्नति और सब जनतकी उन्नति करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिए । जीवन का यही उद्देश है ।

(३४) अर्पण अनिष्टोंके साथ युद्ध करके अपनी विजय संपादन करनी चाहिए ।

(३५) हृदयकी मोक्ष और मस्तिष्कका तर्क इन दोनों शक्तियोंको एक ही सकार्यमें लगाना चाहिए तथा इन दोनोंका सम विचार करना चाहिये ।

(३६) वैशिकी शिर सचमुच देवोंका वसतिस्थान है ।

(३७) अपने ही हृदयमें ब्रह्मनगरी है, वही स्वर्ग और वही अनारवती है । यही देवोंकी अयोध्या है । ब्रह्मज्ञानी इसको ठीक प्रकार जानते हैं ।

(३८) जो आत्मशक्तिका विधायक करता है वही स्वकीय गौरवके साथ इस अपनी राजधानीमें प्रवेश करता है ।

(३९) प्राणकी अपने स्वाधीन करके मस्तिष्कके ऊपर भेजना चाहिए । जहाँ विचारोंकी गति नहीं है वहाँ पहुँचना

चाहिए, वही आत्माका स्थान है ।

(४०) निवृत्तके साथ पुत्रवार्तिके प्रदानसे उन्नतिके पदपर चलनेवाला योगी अपनी सब प्रवृत्तसे उन्नत कर सकता है ।

इसप्रकार वेदमंत्रोंका आशय है । पाठक इसका आचार विचार करे और अपनी उन्नतिके लिये उपयोगी बोध लेले । तथा प्राप्त बोधके अनुसार आचरण करके अपने और जनताके अशुद्धय और निःश्रेयस प्रातिके साधनमें सदा उत्तर रहे ।

इस लेखमें जोकेसे वेदमंत्र दिये हैं उनमें प्रणविषयक उपदेश विद्यमान गतिसे दृष्ट है । परंतु इसके आन्तरिक अन्वयवृत्ताओंके सूक्तोंमें गुप्त गतिसे जो प्राणविद्याका वर्णन है उसकी भी खोज होनी चाहिए । आशा है कि पाठक स्वयं प्राणविद्याका अन्वय करके नूतन खोज करनेके पवित्र कार्यमें अपने आपसे समर्पित करेंगे ।

स्वयं अनुभव लेनेके बिना उक्त प्रकारकी खोज नहीं हो सकती, इसलिये प्रथम प्राणायामका साधन स्वयं करना चाहिए । जो सज्जन प्राणायामका साधन स्वयं करेंगे और उस भूमिधर्मोंमें जाकर वहाँका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे, उनको ही वैदिक सचेतोका उत्तम ज्ञान होना संभव है । इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे प्रथम अनुष्ठान द्वारा स्वयं अनुभव लेनेका यत्न करें, और पश्चात् वैदिक प्राणायाम की खोज करके पीछेसे आनेवाले सम्बन्धीय मार्ग सुगम करें । इसके लिये जोकेसे प्रदानसे महान कार्य सिद्ध हो सकता है । आशा है कि पाठक उक्तके साथ अपूर्व प्रयत्न करेंगे ।

उपनिषदोंमें प्राण-विद्या ।

वेदमंत्रोंमें जो अध्यात्मविद्या है वही उपनिषदोंमें बतलाई है । अध्यात्मविद्याके अनेक अंगोंमें प्राणविद्या नामक एक मुख्य अंग है । यह जैसा वेदके मंत्रोंमें है वैसा उपनिषदोंके मंत्रोंमें भी है । इससे पूर्व वेदमंत्रोंकी प्राणविद्या सार्वभूत रूपसे बतलाई है, अब उपनिषदोंकी प्राणविद्या देखनी है ।

प्राणकी श्रेष्ठता ।

प्राण सब शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ शक्ति है, इस विषयमें निम्न बचन देखिये—

प्राणो ब्रह्मति इत्यजानान् । प्राणानुदेयं ह्यन्विमानि मूर्ध्नि आपये । प्राणिनः काठानि ब्रवींति । प्राणं सर्वमानि सं

वि संतीति ॥

तै० उ० ३ ३

'प्राणही प्रकृति है, क्योंकि प्राणसे ये सब मूल उत्पन्न होते हैं, प्राणसे जीवन रहते हैं और अंतमें प्राणमेंही जकार मिल जाते हैं।'

यह प्राणशक्तिका महत्त्व है। प्राण सबसे बड़ी शक्ति है, सप अन्व शक्तियाँ प्राणपराही अक्षरबन्धित रहती हैं, जबतक प्राण रहता है तबतक अन्व शक्तियाँ रहती हैं, प्राण जाने लगता है तो अन्वशक्तियाँ प्रथम चली जाती हैं, और पश्चात् प्राणनिकल जाता है। न केवल प्राणियोंकोही प्राणका आघार है, परंतु आविधि वनस्पति तथा अन्य स्थिरचर पदार्थ, इन सबको भी प्राणशक्तिकाही आघार है। प्राणशक्ति सर्वत्र व्यापक है और सबके अंदर रहती हुई सबका घाण पोषण कर रही है। प्रजापति परमात्मान सबसे प्रथम जो दो पदार्थ उत्पन्न किये उनमेंसे एक प्राण है और दूसरी रथि है। इस विषयमें देखिये—

स भियुनमुरादपत्वं । रथि च प्राणं च ॥४४॥ आदित्यो

ह वै प्राणो रथिरेव चंद्रमा रथिर्वा एतत्सर्वं यन्मृतं

पान्मूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रथिः ॥ ५ ॥ इन्द्र, उ० १

"परमेश्वरने सबसे प्रथम छीपुरवका एक जोका उत्पन्न किया उसमें एक प्राण है और दूसरी रथि है। जगतमें आदिज्ञ ही प्राण है और चंद्रमा तथा मूर्तिमान जगत जिसमें दृश्य और अदृश्य पदार्थ मात्र हैं रथि है।"

अर्थात् एक प्राणशक्ति और दूसरी रथिशक्ति सबसे प्रथम उत्पन्न हुईं। इसका भाव निम्न कोटकसे ज्ञात होगा, देखिये—

प्राण	रथि
आदित्य	चंद्रमाः
पुरुष	छी, प्रकृति
Positive	Negative

जगतके ये मातापिता हैं, इनसे प्रकृति उत्पत्ता हुई है। संपूर्ण जगतमें इनका कार्य है। सूर्यमालामें सूर्य प्राण है, अन्य चंद्र आदि रथि है, शरीरमें मुख्य-प्राण प्राण है और अन्य रथूल शरीर रथि है। देहमें सीधी बगल प्राण है और बाईं बगल रथि है। इस प्रकार एक दूसरेके अंदर रथि और प्राणशक्तियाँ व्यापक हैं, किसी स्थानपर ये दोनों शक्तियाँ नहीं हैं ऐसा नहीं है। सर्वत्र रहकर सब स्थिरचरमें इनका कार्य हो रहा है; इसको देखनेसे प्राणकी सर्वव्यापकताका पता लग सकता है। इस प्रकार यह सब देवोंका देव है इसलिये कहा है कि—

कतम एको देव इति प्राण इति ॥ इ. २।१।९

"एक देव कौनसा है ? प्राण है।" अर्थात् सब देवोंमें मुख्य एक देव कौनसा है ? उत्तरमें निवेदन है कि प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ देव है। और देखिये—

प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ छी, ५।१।१। सू. ६।१।१

"प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ है।" सब अन्य देव इसी आघारसे रहते हैं। तथा—

(१) प्राणो वै बल तरप्राणे ऽतिष्ठितम् ॥ सू. ५।१।४।४

(२) प्राणो वा अमृतम् ॥ सू. १।६।३

(३) प्राणो वै सत्यम् ॥ सू. २।१।२०

(४) प्राणो वै यशो बलम् ॥ सू. १।२।६

"(१) प्राणही बल है, वह बल प्राणमें रहता है। (२) प्राणही अमृत है, (३) प्राणही सत्य है, (४) प्राणही यश और बल है।" इसप्रकार प्राणका महत्त्व है। प्राणही श्रेष्ठता इतनी है कि उसका वर्णन शब्दोंसे नहीं हो सकता।

प्राण कहाँसे आता है ?

परमरमाने प्राणकी उत्पत्ति की है, इसका वर्णन पूर्व स्थलोंमें हो चुका है। परंतु इस प्राणशक्तिकी प्राप्ति प्राणियोंको कैसे होती है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखने योग्य है—

आदित्य उदयन् पश्चात्वादिं पश्चिंशति तेन प्राप्यान्

प्राणान् रश्मिपु संनिधत्ते ॥ यदक्षिणो परतोर्षी यदु-

दीर्षी यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाश-

यति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिपु संनिधत्ते ॥ १ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽभिर्मुदयते ॥ सदेत-

त्त्वाभ्युसम् ॥ ७ ॥ विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परावर्णं

पयोतिरेकं तपंतम् ॥ सद्यस्त्रादिनः शतधा वर्तमानः

प्राणः प्रजानामुदयस्यैव सूर्यः ॥ ८ ॥ इन्द्र, उ १।९-८

"सूर्यका जब उदय होता है तब सभी दिशाओंमें सूर्य किरणों के द्वारा प्राण रक्षा जाता है। इसप्रकार सर्वत्र सूर्यकिरणोंके द्वाराही प्राण पहुँचता है। यह सूर्यही प्राणरूप वैश्वानर अग्नि है ॥ यह सूर्य (विश्व-रूपं) सब रूपका प्रकाशक, (हरिणं) अंधकारका हरण करनेवाला (जात-वेदसं) धनोका उत्पानक, एत, श्रेष्ठ तपसे युक्त, तपसे श्रेष्ठसे सज्जों किरणोंके साथ प्रकाशनेवाला यह प्रजाओंका उद्गम इत्येको प्राप्त होता है ॥"

यह सूर्यका वर्णन बना रहा है कि सूर्यका प्राणके माप क्या संबंध है। सूर्यकिरणोंके बिना प्राणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सूर्य मालिधका मूल प्राण यह सूर्य देव ही है। इसी कारण

वेदंजमें आयु, आरोग्य, बल आदिके साथ सूर्यका संबंध बताने किता है। सूर्यकाशका हमारे आरोग्यके मय किन्ना घनिष्ठ संबंध है इसका बड़ा पता लग सकता है। जो लोग सदा अंधेरे स्थानमें रहते हैं, सूर्यकाशमें कीड़ा नहीं करते, सूर्यके प्रकाशसे अपना कपड़े नही संग्रहण करते हैं और अवन आरोग्यके लिये बीमार होकर और टाकरीके घर भरते रहते हैं। विप्लव दबाईया पीते हैं, उनकी अज्ञानताकी लाना कदा है ! परमात्माने अवन दशासे सूर्य और वायु उ पल दिया है, और उनसे पूर्ण आरोग्य संपादन हो सकता है। अथर्व रीतिके प्राणायामद्वारा उनका सेवन किया जायगा तो स्वभावतः ही आरोग्य मिल सकता है इतना सस्था आरोग्य होनेपर भी मनुष्य ऐसी अवस्थातक आ पहुँचे है कि अनंत संपत्तिक शय्य बनपर भी उनके आरोग्य नहीं प्राप्त होता। पाठको, देखिये कि वेदके उपदेशोंसे जनता बितनी दूर गयी है। अस्तु। विश्वेश्वरके प्राण प्राप्त होनेका मार्ग इस प्रकार है। वह प्राण सूर्यमें कैदित हुआ है, वहासे सूर्यकिरणोंद्वारा वायुमें आया है और वायुके साथ हमारे श्वनेमें जाकर हमारा जीवन बटाता है। जो प्राणायाम करना चाहते हैं उनको इस बातका ठीक ठीक पता होना चाहिये। इसी प्राणका और कौन देखिये-

देवोंका घर्मल ।

“ एक समय ऐसा हुआ कि षड्ग्रहमें पृथिवी, आप, तेज, वायु ये देव, तथा शरीरके अंदर वाचा, मन, चक्षु और श्रोत्र ये देव उनक्षने लग कि हम ही इस जगत्को धारण करते हैं, और हमारेसे कोई श्रेष्ठ शक्ति नहीं है। इन देवोंका यह गर्व देखकर प्राण कहने लगा कि, हे देवो ! ऐसी घर्मल न कीजिये, मैं ही अपने आपसे पांच विभागोंमें विभक्त करके इसकी धारणा कर रहा हूँ। परंतु इस कथनसे उन देवोंने माना नहीं, उस समय सुदृढ प्राण वहासे दृष्टने लगा, तब सब देव घबरेलें लगे। फिर जब प्राण आगया तब देव पसक हुए। इससे देवोंको पना लगा कि यह सब प्रणकी शक्ति है कि जिसके कारण हम कार्य कर रहे हैं, हमारी ही कृपल शक्तिस हम इस कार्यको चपलनेमें सर्वथा असमर्थ है।” इसप्रकार जब देवोंने प्राणकी महिमाबिदित की, तब वे प्राणकी स्तुति करने लगे। यह स्तुति निम्न श्लोकमें है-

प्राणस्तुति ।

एषोऽभिलक्ष्येय सूर्यं एष पजंन्यो मघधानेप वायुरेप
पृथिवी रयिद्वैः मद्मन्चामृतं च पर ॥ ५ ॥ अरा
ह्व रयनामो माणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ऋको यजूपि
सामानि यज्ञः क्षत्र ब्रह्म च ॥ ६ ॥ प्रजापतिश्चरसि गर्भे
स्वमेव प्रति जायसे ॥ पुत्र्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलि
ह्रन्ति यः प्राणैः प्रति विप्लसि ॥ ७ ॥ देवानामभि वधि-
ठमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ॥ ऋषीणां चरितं सयम-
यसौगारसानसि ॥ ८ ॥ इंद्रस्व प्राण तेजसा रुद्रो-
ऽभि पारश्रिता ॥ स्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्यो-
तिषो पति ॥ यदा स्वमनि वरैत्यथेमाः प्राण ते प्रजा-
आनंदरूपारितच्छति कामायासं भाव्यथतीति ॥ १० ॥
ब्राह्मस्त्वं प्राणैश्चरपिरत्ता विषस्य सारयोः ॥ वयमाद्यस्य
दातारः पितः एवं मातरिभ्यः ॥ ११ ॥ या ते तनुर्वाचि
प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ॥ या च मनसि
संतना तिसो ता कुक्ष मोक्षमोः ॥ १२ ॥ प्राणस्पदे वदो
सर्वं त्रिदिवं यरभतिष्ठितम् ॥ मातेव पुत्रान् रक्षस्व
शोश्च ब्रह्मं च विधेऽन इति ॥ १३ ॥ ब्रह्म ७ २

“यह प्राण अग्नि, वायु, सूर्य, पजंन्य, इंद्र, पृथिवी, रयि आदि सब है। जिस प्रकार रय नामीमें आरोग्य जुड़े होते हैं, उसी प्रकार प्राणमें सब जुड़ा हुआ है। आवा, श्रु, सान, दम, क्षत्र और शन सबही प्रणके अंगरसे हैं। हे प्राण ! तू प्रजापति है और गर्भमें तू ही जाता है। सब प्रजाये नेरे लिये ही बली अर्पण करती है। तू देवोंका श्रेष्ठ संचालक और पितृकी स्वकीय धारण शक्ति है। अथवा आगिरस षड्देवोंका सब तपाचरण भी तेरा ही प्रभाव है। तू इंद्र, रुद्र, सूर्य है, तू ही तेजसे तेजस्वी हो रहा है जब तू वृष्ट करता है तब सब प्रजाये अनंदिता होता है क्योंकि उनको बहुत अन्न इस दृष्टिये प्राप्त होता है। तू ही माच एक ऋषि और सब विश्वका स्वामी है। हम दाता है और तू हम सबका पिता है। जो तेरा शरीर वाचा, चक्षु, श्रोत्र और मनमें है, उसको कल्याण रूप कर और हमारेसे दूर न हो। जो कुछ दिलीबोमें है वह सब प्राणके वशमें है। माताके समान हमारा संरक्षण करो और शोभा तथा प्रशंसा हमें दो।”

यह देवोंका बनाया प्राणरूप देखनेसे प्राणका महत्त्व ध्यानमें आ सकता है। यह शुक कई दृष्टियोंसे विचार करने योग्य है।

पहिली बात जो हममें कही है वह यह है कि चक्षु ध्रुव आदि इंद्रियों शरीरमें तथा सूर्य, चंद्र, वायु आदि जगतमें देव हैं और ये सब प्राणके वशमें हैं । प्राणकी शक्ति इनके अंदर जाती है और इनके द्वारा कार्य करती है । जिस प्रकार शक्ति आंखमें जाकर आंखको देखनेके लिये समर्थ बनाती है, उसी प्रकार सूर्यके अंदर विश्वव्यापक प्राणशक्ति रहकर प्रकाश कर रही है । इसलिये आंखकी दृष्टि और सूर्यकी प्रकाशशक्ति आंख और सूर्यकी नहीं है प्रत्युत प्राणकी है इसी प्रकार अन्य इंद्रियों और देवताओंके मिश्रणमें जानना उचित है । देव शब्द जैसा शरीरमें इंद्रिय वाचक है उसी प्रकार जगतमें अग्नि वायु आदि देवताओंका भी वाचक है । पाठक इस दृष्टिको धारण करके अग्नि आदि देवताओंके सूक्तोंका विचार करें ।

उक्त सूक्तमें दूसरी बात यह है कि, अग्नि, सूर्य, इंद्र, वायु, पृथिवी, रुद्र आदि शब्द प्राणवाचक होनेसे इन देवताओंके सूक्तोंमें भी प्राणविद्या प्रकाशित हुई है । इसलिये जो सज्जन अग्नि आदि सूक्तोंका विचार करते हैं वे उक्त सूक्तोंमें विद्यमान प्राणविद्याका भी विचार करें । अर्थात् अग्नि सूर्य आदि देवताओंके नामोंका "प्राण" अर्थ समझकर उन सूक्तोंका अर्थ करें । जो सूक्त सामान्य अर्थवाले होंगे उनके अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं । देखिये-

प्राणरूप अग्नि ।

अग्निना रविमन्नवत् पोषमेव दिवं दिवे ॥
यशसं धीरवत्तमम् ॥ ऋ. १।१।३

" (अग्निना) प्राणसे (रविं) सोमा और (पोषं) पुष्टि (दिवे दिवे) प्रतिदिन (अन्नवत्) प्राप्त होती है । और वीर्य-युक्त यश भी मिलता है । "

यह अत्यंत स्पष्ट ही है कि प्राण चला जायगा तो न तो शरीरकी सोमा बंदगी और न शरीरकी पुष्टि होगी, फिर यश मिलना तो दुरापास्त ही है । इस प्रकार बहुत विचार हो सकता है, यहाँ उतना स्थान नहीं है, इसलिये यहाँ केवल दिग्दर्शन ही किया है । वेदके गूढ़ रहस्योंका इस प्रकार पता लग जाता है इसलिये पाठकोंको उचित है कि वे वेदका स्वाध्याय प्रतिदिन किया करें । स्वाध्याय करते करते किसी समय वैदिक दृष्टि प्राप्त होगी और पश्चात् कोई कष्टिनता नहीं होगी ।

उक्त सूक्तोंमें तीसरी बात यह है कि अग्नि आदि शब्दके गूढ़ अर्थसे प्राणविद्याका महत्त्व उसमें वर्णन किया है । इसका योकासा स्पष्टीकरण देखिए-

(१) देवतां वह्निमः अग्नि = प्राण "इंद्रियोंको" चला-नेवाला है, सूर्यादिदेवोंको" चलाता है, प्राणायाम द्वारा "विद्वान्" उचित प्रसन्न करते हैं ।

(२) पितृणां प्रथमा स्वधा अग्नि = संतुष्ट पालक शक्ति-योंमें सबसे श्रेष्ठ और (प्रथमा) पहिले दर्जेकी पालकशक्ति प्राण है और वही (स्व-धा) आत्मस्वरूपी धारणा करती है ।

(३) ऋषीणां सत्यं चरितं अग्नि = सप्त ऋषियोंका सत्य (चरितं) चाल चलन अथवा आचरण प्राण ही करता है । दो आस, दो कान, दो नाक और एक मुख ये सप्त ऋषी हैं ऐसा वेद और उरानियदोंमें कहा है ।

(४) अथर्वागिरसां चरितं अग्नि = (अ-थर्वा, अंगिरसा) स्थिर अंगोंके रसोंका (चरितं) चलन अथवा ध्रमण प्राण ही करता है । प्राणके कारण पीपक रस सब अंगोंमें ध्रमण करता है और सर्वत्र पहुंच कर सर्वत्र पुष्टि करता है ।

इस प्रकार भाव उक्त सूक्तके वाक्योंमें गुप्त रीतिसे है । प्रत्येक शब्दका आशय देखनेसे इसका पता लग सकता है । साधारण सूचना देनेके लिये यहाँ उपयोगी होनेवाले शब्दार्थ नीचे देता हूँ । (१) अग्निः- अग्नि देनेवाला, उष्णता और तेज उत्पन्न करनेवाला; (२) सूर्यः-प्रेरण करनेवाला, प्रकाश देनेवाला; (३) परंजय (पर-जय) पूर्णता करनेवाला; (४) मघ-वान्- महत्त्वसे युक्त; (५) वायुः= हिलानेवाला और अनिष्टको दूर करनेवाला; (६) पृथिवी-विस्तृत, आधार देनेवाला (७) रविः- तेज, संगति, शरीरसंगति आदि; (८) पोषः- कौटका, विजिगीषा, व्यवहार, तेज, आनंद, हर्ष, निद्रा, उरसाह, स्फूर्ति आदि देनेवाला, दिव्य; (९) अ-मृतः = अमरत्वसे युक्त; (१०) प्रजा-गतिः = चक्षु आदि सब प्रजाओंका पालक, प्रजा उत्पन्न करनेवाला; (११) वह्निमः = अत्यंत प्रेरक; (१२) इंद्रः = ऐश्वर्यवान्, भेदन करनेवाला; (१३) रुद्रः = (रुद्र-रः) शब्दका प्रेरक, (रुद्र-रः) दुःखको दूर करके आरोग्य देनेवाला; (१४) मत्स्यः = (मत्) नियमके अनु-सार आचरण करने वाला । इस प्रकार शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगेगा कि उक्त शब्दों द्वारा प्राणकी किछ शक्तिका कैसा उत्तम वर्णन किया गया है । वैदिक शब्दोंके गूढ़ आशय

दक्षिण ही वेदकी गंभीरता व्यक्त होती है । आधा है कि पाठक उक्तप्रकार उक्त सूक्तका विचार करेंगे ।

अस्तु । इसवहार प्राण ही मुख्यता और धृतरा है और यह प्राण सूर्य किरणोंके द्वारा प्राणियों तक पहुंचता है। सूर्य किरणोंके वायुमें जाता है। वायु आसके अंदर जाता है, उससमय मनुष्यके शरीरमें पहुंचता है प्राणायामके समय इसप्रकार इस प्राणका महत्व ध्यानमें धरना चाहिए ।

प्राणका प्रेरक ।

केन उपनिषद्में प्राणके प्रेरकका विचार किया है । प्राणके आधीन संपूर्ण जगत् है, तथापि प्राणको प्रेरणा देनेवाला कौन है ? जिसप्रकार दीवानके आधीन सब राज्य होता है, उसीप्रकार प्राणके आधीन सब इंद्रियादिकोंका राज्य है । परंतु राजाकी प्रेरणासे दिवान कार्य करता है उस प्रकार यहाँ प्राणका प्रेरक कौन है, यह प्रश्नका तात्पर्य है ।

केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ॥ केन उ० १११

“ जिससे नियुक्त होता हुआ प्राण चलता है ? ” अर्थात् प्राणकी प्रेरक शक्ति कौनकी है ? इसके उत्तरमें उपनिषद् कहता है कि—

स उ प्राणस्य प्राणः ॥ केन उ० ११२

“ वह आत्मा प्राणका प्राण है ” अर्थात् प्राणका प्रेरक आत्मा है । इसका और वर्णन देखिए—

व्याघ्रेण न प्रणिधि केन प्राणः प्राणोपते ॥

उदेव मद्रा त्वं विदि नेर्दं यदिदमुपासते ॥ केन उ० ११८

“ जिसका जीवन प्राणसे नहीं होता, परंतु जिससे प्राणका जीवन होता है, वह (मद्रा) अश्वा है, ऐसा तू समझ । यह नहीं कि जिसकी उपासना की जाती है ? ”

अर्थात् आत्माकी शक्तिके प्राण अपना सब कारोबार चला रहा है इसलिये प्राणका प्रेरक शक्ति आत्मा ही है । इस विषयमें ईशोपनिषद्का मंत्र देखने योग्य है—

योऽमावसी पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ ईशा० ११

योऽसावाद्दले पुरुषः सोऽसावहमुः ॥ वा० यजु० १०

“ जो यह (असी) अस्तु अर्थात् प्राणके अंदर रहनेवाला पुरुष है वह मैं हूँ । ” मैं आत्मा हूँ, मेरे चारों ओर प्राण विद्यमान है और मैं उसका प्रेरक हूँ । मेरी प्रेरणासे प्राण चल रहा है और सब इंद्रियोंका उद्योगका उद्योगित कर रहा है। इसप्रकार

विश्राम रहना चाहिए और अपने प्रभावका गौरव देखना चाहिए । इस विषयमें एतौव उपनिषद्का पचन देखिये—

नासिके निशमिच्छंती नासिकाम्पा प्राणः प्राणः प्राणः ॥
ऐ० उ० १११ः४॥ वायुः प्राणो भूवाः नासिके प्राणशक्त ॥
ऐ० उ० ११२ः४

“ नासिका रूप इंद्रिय खुल गये, नासिकासे प्राण और प्राणसे वायु हो गया । ” अर्थात् प्राणसे वायु हो गया । आत्माकी प्रबल इच्छाशक्ति थी कि मैं सुगंधका आस्वाद ले लूँ। इस इच्छाशक्तिके नासिकाके द्वाणमें दो छेद बन गये, ये ही नासिकाके दो छेद हैं । इसप्रकार नाक बनते ही प्राण हुआ और प्राणसे वायु बना है । आत्माकी इच्छाशक्ति कितना प्रबल है उसकी कल्पना यहाँ स्पष्ट हो सकती है । इस प्रकार शरीरमें छेद करनेवाली शक्ति जो शरीरके अंदर रहती है वही आत्मा है, इसको इंद्र कहते हैं क्योंकि यह आत्मा (इंद्र) इस शरीरमें सुराज्य करनेकी शक्ति रखती है । इसकी प्रबल इच्छाशक्तिके विनियोग पटनायें यही सिद्ध हो रही हैं, इसका अनुभव अपने शरीरमें ही देखा जा सकता है । जो ऐसा समय आयाता है वही प्राणका प्रेरक है। इसका सेवक प्राण है यह प्राण वायुका पुत्र है क्योंकि ऊपर दिये मंत्रमें कहा है कि “ वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ है । ” इसलिये वायुका यह प्राण पुत्र है । यहाँ “ मा-रुनी ” है, मारुतीका अर्थ “ मारुत् ” अर्थात् वायुका पुत्र । विश्वमें व्यापनेवाला पवन वायु है उसका एक अंश शरीरमें अवधार लेता है, इसलिये इसको ‘ पवननात्मक ’ कहते हैं । यही हनुमान, मारुती, राम-सखा है । अवनारुधी मूल कल्पना यहाँ उदक ही सकती है। विश्वव्यापक शक्तितया अवताररूपसे वर्मभूमिमें अर्थात् इस देहमें आकर कार्य करती हैं । वायु के पुत्रोंको जो कल्पना पौराणिक साहित्यमें है वह यही है। इसको चिरंजीव कहा है, इसका कारण इस लेखमें पूर्व स्थानमें बताया ही है । प्राणके अमरत्वके साथ इसका चिरंजीवत्व सिद्ध होता है। इसप्रकार यह हनुमान-जीका रूपक है । इसका संपूर्ण वर्णन किछी अन्य स्थानमें किया जायगा । यहाँ संक्षेपसे सूचना मात्र लिखी है। अर्थात् हनुमान-जीकी उपासना मूलमें प्राणोपासना ही है । यह “ दशरथके राम ” का उदाहरण है, दश इंद्रियोंके रथमें जो आनेके रूप आत्मा है उसका यह प्राण नियंत्रणकारी है, तथा “ दशमुखकी संज्ञा ” को जलानेवाला है, दश इंद्रियोंसे मुख्यतया भोगमें जो प्रकृतिप्रायी होती हैं उनका प्राणायामके अन्ध्याससे दहन होता है ।

इत्यादि विचारों से पूर्वोक्त कथन का अधिक स्पष्ट होगा। पठक इसका विचार करे। पूर्वोक्त उपनिषद् में "प्राणका प्रेरक आत्मा" कहा है और उक्त इतिहास में "वयुपुत्रका प्रेरक दशार्थी राम" कहा है, दोनोंका तात्पर्य एक ही है। सूक्ष्म वाचक विचारके द्वारा इसके मूलभावको जान सकते हैं।

पूर्वोक्त ईशोपनिषद् के वचनमें "असौ अहं" शब्द आये हैं, "प्राणके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा" यही मात्र बृहदारण्यक के निम्न वचनमें है—

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादंतरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमंतरा यमयति, एष स आत्मा अतर्कान्मभ्यूतः

श्रु० ३।७।१६०

जो प्राणके अंदर रहता है, प्राणके अंदर रहनेपर भी जिसकी (प्राणः न वेद) प्राण जानता नहीं, जिसका शरीर प्राण है, जो अंदरसे (प्राणं यमयति) प्राणका नियंत्रण करता है, (एषः) यह तब अंतर्धर्मात् अमर आत्मा है।"

प्राणके अंदर रहनेवाला और प्राणका नियंत्रण करनेवाला यह आत्मा है। इस कथनके अनुसार आत्माका प्राणके साथ निज संबंध है यह बात स्पष्ट होती है। मैं आत्मा हूँ, प्राण मेरा अनुचर है और प्राणके आधीन संपूर्ण इंद्रियाँ और शरीर है, यह मेरा वैभव और साम्राज्य है। इसका मैं सचा सम्राट् बनें। और जिसकी तथा दशस्वी बनें, यह वैदिक धर्मकी आदर्श कल्पना है। इस प्राणका वर्णन अन्य रीतिसे निम्न वचन में हुआ है—

प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमते ॥

श्रु० ५।१२।१

प्राणो वा उच्यते प्राणो इन्द्रिं सर्वमुच्यते ॥१॥ प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सुच्यते ॥ २ २ प्राणो के समं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि उच्यते ॥३॥ प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं प्रायते ॥४॥

श्रु० उ० ५।१३

" प्राण ' र ' है क्योंकि सब मृत प्राणमें रमते हैं। प्राण ' उच्यते ' है क्योंकि प्राण सबको उठाता है। प्राण ' यजुः ' है क्योंकि प्राणमें सब मृत संयुक्त होते हैं। प्राण ' समं ' है क्योंकि सब मृत प्राणमें समान रीतिसे रहते हैं। प्राण ' क्षत्रं ' है क्योंकि प्राण ही सत्ता अर्थात् शक्तिसे बचता है।"

इसका प्रत्येक मुख्य शब्द प्राणकी शक्तिका वर्णन कर रहा है। ' साम, यजुः ' आदि शब्द अन्यत्र वेदवाचक होते हुए भी

यहां केवल गुणवाचक हैं। इस शब्दप्रयोगसे स्पष्ट पता लग जाता है कि वैदिक समयमें शब्दोंका विशेष रीतिसे भी उपयोग होता था और सामान्य रीतिसे भी होता था। यहाँ सामान्य रीति का प्रयोग है। जहाँ सामान्य रीतिसे प्रयोग होगा वहाँ उक्त शक्ति अर्थ करना चाहिये और जहाँ विशेष रीतिसे प्रयोग होगा वहाँ योग-सूत्रोंका अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार एक ही शब्द के दोनों अर्थ होनेपर भी अर्थविषयक ठीक व्यवस्था सगई जा सकती है। आशा है कि पठक इस व्यवस्थाको वेदमें प्रामां देखे। यह बात वेदका अर्थ करनेके समय विशेष महत्त्वकी है इसलिये यहाँ लिखी है।

अंगोंका रस ।

शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवनका आधाररूप रस है। इसका वर्णन निम्न मंत्रमें है—

अंगिरसोऽंगानां हि रसः, प्राणो वा अंगानां रसः --- उक्ष्मापस्मात्कस्माच्चोपात् प्राण उल्कामति, तदेव उच्छुष्यति ।

श्रु० १।३।१९

" प्राण ही अंगोंका रस है, इसलिये जिस अंगमें प्राण चला जाता है, वह अंग सूख जाता है।"

श्रुतिमें भी यही बात दिखाई देती है। यह अंग-रसका महत्त्व है। जीवितानकी इच्छासे प्राणके द्वारा यह रस सब शरीरमें सुभाषा जाता है और प्रत्येक अंगमें आराम और बल बढ़ाया जाता है। प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा आरोग्य संपादन करनेका उपाय इससे विदित होता है। इच्छाशक्ति और प्राण इनका बल बढ़ानेसे उक्त सिद्धि होती है। आत्माकी प्रेरणा प्राणमें होती है, प्राणसे मन संलग्न रहता है, मनसे इच्छा शक्तिका नियंत्रण होता है, इच्छासे शरीरमें परिणाम होकर इसके द्वारा संपूर्ण शरीरमें इस कार्य होता है। देखिये—

पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्य देवतायाम् ॥ छां उ० ६।८।६

" पुरुषकी वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, और तेज परदेवतामें संलग्न होता है।" यही परंपरा है। परदेवताका तात्पर्य यहाँ आत्मा है। प्राणविद्याकी परमसिद्धि इस प्रकारसे सिद्ध होती है।

प्राण और अन्य शक्तियाँ ।

प्राणके आधीन अनेक शक्तियाँ हैं, उनका प्राणके साथ संबंध देखनेके लिये निम्न मंत्र देखिये—

प्राणो वायु संवर्गः । स यदा स्वयंपितृ, प्राणमेव
वागपेति, प्राणं वसु, प्राणं भोजनं, प्राणं मनः,
प्राणो ह्यवैद्यान् संवृत्के ॥ ३ ॥ छी० ३३३३

“ जब यह होता है तब वायू, वसु, भोजन, मन आदि सब
प्राणमें ही संन होता है क्योंकि प्राण ही इनका संवर्गक है ।”

जिसप्रकार सूर्य उगनेके समय उससे चिरगै फैलनी है और
अस्तके समय फिर अंदर लीन होती है, इसीप्रकार प्राणरूपी
सूर्यका जागृतिके प्रारंभमें उदय होता है । उस समय उसकी
चिरगै इंदियादिकोंमें फैलनी है और निद्राके समय फिर उभमें
लीन होती है । इसप्रकार प्राणका सूर्य होना सिद्ध होना है ।
इसका सादृश्य एक अंसमें है, वह रात मूलनी नहीं चाहिये ।
सूर्यके समान प्राण भी वर्षा अस्त नहीं होता, परंतु अस्त और
उदय ये दोन्द हमारी अरुधासे उसमें प्रयुक्त हो रहे हैं । इस
विषयमें निम्न वचन और देखिये—

पतंग ।

म यथा प्राकृतिः सूर्येण प्रबद्धो, दिशं दिशं पतिष्वा,
अन्यत्रायत्तनमलम्बत्वा, बंधनमेवोपपन्नवत्, एवमेव
सल्लु, शोभ्य, तन्मनो दिशं दिशं पतिष्वाऽन्यत्रायत्त-
नमलम्बत्वा, प्राणमेवोपपन्नवत्, प्राणबंधनं हि सोम्य
मनः ॥ छी० उ० ६।८।२

“ जिसप्रकार पतंग, डोरीसे बंधा हुआ, अनेक दिशाओंमें
घूम कर, दूसरे स्थानपर आधार न मिलनेके कारण, अपने मूल
स्थानपर ही आजाता है, इसीप्रकार निश्चयसे, हे शिव शिष्य !
वह मन अनेक दिशाओंमें घूम पाम कर, दूसरे स्थानपर आध-
र न मिलनेके कारण, प्राणका ही आधार करता है क्योंकि हे
प्रियशिष्य ! मन प्राणके साथ ही बंधा है ।”

इसप्रकार प्राणका मनके साथ संबंध है, यही कारण है
कि प्राणागमसे प्राण बलवान् होनेपर मन भी बलिष्ठ होता है,
प्राणका निरोध होनेसे मनका संबन्ध होता है । प्राणकी चंचलता
से मन चंचल होता है और प्राणकी स्थिरतासे मन भी स्थिर
होता है । इससे प्राणागमका महत्व और उग्रता मनके संबन्धके
साथ संबंध बिदित हो सकता है ।

प्राणसे मनका संबन्ध होनेके कारण अन्य इंद्रियों भी प्राणके
निरोधसे स्वाधीन होती हैं, यह स्पष्ट ही है; क्योंकि प्राणसे
मनका संबन्ध, और मनके वश होनेसे अन्य इंद्रियोंका वश

होना स्वाभाविक ही है । इसप्रकार प्राणागमसे संबन्ध पक्षियों
वशात् प्राप्त होती है । यही भाव निम्न वचनमें सुग रोतिये है—

वसु रुद्र आदित्य ।

प्राणा वायु वचन, एते हीदं सर्वं वासपंति ॥ १ ॥

प्राणा वायु रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदपंति ॥ २ ॥

प्राणा वावादित्याः एते हीदं सर्वमाददते ॥ ३ ॥

छी० ३।१।६

“ प्राण वसु हैं क्योंकि ये सबको बसाते हैं, प्राण रुद्र हैं
क्योंकि इनके चले जानसे सब रोते हैं, प्राण आदित्य हैं क्यों-
कि ये सबको स्वीकारते हैं ।”

इस स्थान पर “ प्राणा वायु रुद्राः एते हीदं सर्वं रोदन् ब्रह्म-
यन्त्रि ” अर्थात् “ प्राण रुद्र है क्योंकि ये इस सब दुःखच्ये
दूर करते हैं ।” ऐसा वचन होता तो प्राणका दुःख निवारक
कार्य स्पष्ट हो सकता था । परंतु उपनिषद्में “ एते हीदं सर्वं
रोदयन्ति ।” अर्थात् ये प्राण जब चले जाते हैं तब वे सब
को रुलाने हैं, इतना प्राणोंपर प्राणियोंका प्रेम है, ऐसा लिखा है ।
शतपथदिमें भी रुद्रा रोदन धर्मही वर्णन किया है, परंतु
दुःख निवारक धर्म भी उनमें उल्लेख अधिक प्रबल है । इसका
पाठक विचार करे । इसप्रकार प्राणका महत्त्व होनेसे ही रुद्रा
है—

प्राणो ह्यपिता, प्राणो माता, प्राणो भ्राता, प्राणः

स्वसा, प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः ॥

छी० उ० ७।१।५।१

“ प्राण ही माता, पिता, भाई, बहन, आचार्य, ब्राह्मण
आदि है ” ये उग्रद प्राणका महत्त्व बता रहे हैं । [१]
माता-पिता-मान्यहित करनेवाला; [२] पिता-पालक, संर-
क्षक, [३] भ्राता—भरण पीषण करनेवाला; [४] स्वसा—
[सु शसा] उद्यम प्रकार रखनेवाला; [५] आचार्य आत्मिक
गुरु है, क्योंकि प्राणके आगमसे आत्माका साक्षात्कार होता
है इसलिये, [६] ब्राह्मणः—यह शब्दके पास लेजानेवाला
है ।

ये शब्दोंके मूलभाव यही प्राणके गुण बता रहे हैं । यह प्राण
वा वर्णन है, इतना प्राणका महत्त्व है इसलिये अपने प्राणके
विषयमें कोई भी उदासीन न रहे । सब लोग स्वर्ग प्राप्त करने
की इच्छा करते हैं यह स्वर्ग प्राण ही है । देखिये—

तृतीय लोक ।

वागेवायं लोकः मनो अन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥

(६० १।५।४)

“ यह वागो पृथिवीलोक है, मन अंतरिक्षलोक है और प्राण स्वर्गलोक है । ”

इसीलिये प्राणायामके अभ्याससे स्वर्गधामकी प्राप्ति होती है । देखिये प्राणकी कितनी श्रेयता है !! इस प्रकार उपनिषदोंमें प्राणविद्या है । विस्तार करनेकी कोई जरूरत नहीं है । संक्षेपसे आवश्यक बातोंका उल्लेख यहाँ किया है । इससे उपनिषदोंकी प्राणवेद्याकी कल्पना हो सकती है । जो पाठक इनकी और अधिक गहराईदेखना चाहते हैं वे स्वयं उपनिषदोंमें इसको देख सकते हैं । आशा है कि पाठक इस प्रकार इस विद्याका अभ्यास करेंगे ।

प्राणायामसे बहुत प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त होती हैं ऐसा प्राणके विविध शास्त्रोंमें लिखा है । प्राणायामका अभ्यास किए बिना ही उक्त शक्तियोंकी प्राप्ति होना असंभव है । अभ्यासके बिना उन्नति की प्राप्ति सर्वथा ही असंभव है । प्राणायामका अभ्यास करनेके लिये प्राणकी शक्तिही कल्पना प्रथम होनेकी आवश्यकता है । यह कार्य सिद्ध होनेके लिये इस लेखका उपयोग हो सकता है । इस सूक्तके अनेकों प्रकार पढ़नेके पश्चात् मननद्वारा अपनी प्राणशक्तिका आकलन करना चाहिये । अपने प्राणका यह स्वरूप है उसका यह महद्वय है और इसकी उपामनासे इस प्रकार लाभ हो सकता है, इत्यादि विषयकी उत्तम कल्पना इस सूक्तके अभ्याससे होगी । इतनी कल्पना दृढ़ होनेके पश्चात् प्राणायामका अभ्यास करनेसे बहुत लाभ हो सकता है ।

इति द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

ब्रह्मचर्य ।

(५)

(ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—ब्रह्मचारी)

ब्रह्मचारीष्वाश्रति रोदमी उभे तस्मिन् देवाः संमनसा मवन्ति ।

स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यः१ तर्पसा पिपति ॥ १ ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।

गुन्धर्वा एनमन्वापुन् अयास्त्रिंशत् त्रिश्रताः पट्सहस्राः

सर्वान्स देवास्तर्पसा पिपति ॥ २ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी (उभे रोदमी) पृथिवी और सुलोक इन दोनोंको (इत्यन्) पुनः पुनः अनुकूल बनाता हुआ (चारि) ब्रह्मा है, इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव (संमनसः) अनुकूल मनके साथ (मवन्ति) रहते हैं । (स) वह ब्रह्मचारी पृथिवी और (दिवं) सुलोकाका धारण करता है और वह अपने तपसे अपने आचार्यको (पिपति) परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये (सर्वे) सब ब्रह्मचारीको अनुसरते हैं । (त्रयः त्रिंशत्) तीन, तीस (त्रिश्रताः) तीन सौ और (पट्सहस्राः) छः हजार देव हैं । (सधां देवात्) इन सब देवोंका (सः) वह ब्रह्मचारी अपने तपसे (पिपति) पावन करता है ॥ २ ॥

मार्थ—[१] पृथिवीसे लेकर सुलोकापर्यन्त जो जो विविध पदार्थ हैं, उनको ब्रह्मचारी अपने अनुकूल बनाता है, [२] एकसे उन ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल बनकर निवास करते हैं, [३] इस प्रकार वह पृथिवी और सुलोकाको अपने तपसे धारण करता है, और [४] उन्हीं तपसे वह अपने आचार्यको भी परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव, पितर आदि सब ब्रह्मचारीको सहाय- होते हैं । और ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका सहायक बनाता है ॥ २ ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।

तं रात्रींस्तिस्त्र उदरं विमर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ ३ ॥

इयं समित् पृथिवि द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।

ब्रह्मचारी समिधा मेखंलया श्रमेण लोकान्तपसा विपति ॥ ४ ॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी धर्म वसानस्तपनोर्दतिष्ठत् ।

तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाय सर्वे अमूर्तेन साकम् ॥ ५ ॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ण्यं वसानो दीक्षिनो दीर्घर्मश्रुः ।

स सुय एति पूर्वस्मादुत्तरं सनुदं लोकान्तसंगृभ्य मुहुश्चारिक्र ॥ ६ ॥

अर्थ-ब्रह्मचारीको (उपनयमानः आचार्यः) अपने पाप करनेवाला आचार्य टमको (अंतः गर्भ) अपने अंदर करना है । उस ब्रह्मचारीको अपने अंदरमें (तिष्ठः रात्रीः) तीन रात्रि तक रहना है, जब वह ब्रह्मचारी (जातः) द्वितीय जन्म केर बाद जाता है, तब उसको देखनेके लिये सब (देवाः) विश्वात् (अग्नि संयन्ति) सब प्रकारसे इच्छुं टोत टै॥३॥
(इयं पृथिवी) यह पृथिवी पृथिवी (समित्) समिधा है, और (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) एलोक है । इस (समिधा) समिधासे यह ब्रह्मचारी अंतरिक्षको (पृणाति) पूर्णता करता है । ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥

[ब्रह्मणः पूर्वः] ज्ञानके पूर्व [ब्रह्मचारी जातः] ब्रह्मचारी होता है । [धर्म वसानः] उच्छला धारण करता हुआ तपसे (उद-अतिष्ठत्) ऊपर उठता है । उस ब्रह्मचारीसे [ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म] ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञान [आर्ण्यं] नसिद्ध होता है ॥ तथा सब देव अमूर्तेके साथ होते हैं ॥ ५ ॥

(१) (समिधा समिद्धः) देखते पकाशित (कार्ण्यं वसानः) कृष्णचर्म धारण करता हुआ, (दीक्षितः) ब्रह्मके अनुकूल आचरण करनेवाला और (दीर्घ-श्रमश्रुः) बड़ी बड़ी दाढ़ी मूंठ धारण करनेवाला ब्रह्मचारी (एति) प्रगति करता है । (२) (सः) वह (लोकान्त संगृभ्य) लोगोंको इच्छुं करता हुआ अर्थात् कोइसंप्रद करता हुआ और (सुयः) बारंबार उनको (आचरिक्र) उठाइ देता है और (३) पूर्वसे उत्तर समुद्रतक (सपः एति) घोड़ी ही पहुंचता है ॥ ६ ॥

मार्थ्य— [१] जो आचार्य ब्रह्मचारीको अपने पास रखा है, वह उसको अपने अंदर ही प्रविष्ट करता है । [२] मानो वह तप उपाय गुह्यके पेटमें तीन रात्रि रहना है और उन गर्भमें उसका जन्म हो जाता है । [३] जब वह द्विज बन जाता है, तब उसका सम्मान सभी विश्वात् करते हैं ॥ ३ ॥

पृथिवी और सुकोक इनकी समिधाओंसे ब्रह्मचारी अंतरिक्षकी पूर्णता करता है । तथा ब्रह्मचारी धर्म और तप आदि करते सब जनताको अंधार देता है ॥ ४ ॥

ज्ञानमतिके पूर्व ब्रह्मचारी बनना आवश्यक है । ब्रह्मचर्यमें धर्म और तप करनेसे उच्चता प्राप्त होती है । इस प्रकारके ब्रह्मचारिसे ही परमान्माका श्रेष्ठ ज्ञान प्रसिद्ध होता है, तथा देव अमरत्वके साथ संयुक्त होते हैं ॥ ५ ॥

(१) समिधा कृष्णजिन आदिसे सुसंगमित होना हुआ, बड़ी बड़ी दाढ़ी मूंठ धारण करनेवाला तेजस्वी ब्रह्मचारी नियमनु-कूल आचरण करकेके कारण अपनी प्रगति करता है । (२) अत्यन्त समाप्तिके पश्चात् चर्मज्जापति करता हुआ अपने उपदेशोंसे जनतामें अंधाह उन्मत्त करता है और बारंबार उनमें अंधता बढाता है । (३) इस प्रकार चर्मोपदेश करता हुआ वह पूर्व सपुसे उत्तरसमुद्रतक पहुंचता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।

गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योगाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह

॥ ७ ॥

आचार्यस्त्वतश्च नभमी उभे इमे उर्वा गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।

ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनयो मवान्ति

॥ ८ ॥

दुर्गा भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जंमार प्रथमो दिवं च ।

ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरारपिता भुवनानि विश्वा

॥ ९ ॥

अवागम्यः पुरो अ-यो दिवस्पृष्ट द् गुहां निधी निहिंती ब्राह्मणस्य ।

तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्

॥ १० ॥ (१४)

धर्म- जो (अमृतत्व योनी) ज्ञानामृतके केन्द्रस्थानमें (गर्भः भूत्वा) गर्भरूप रहकर ब्रह्मचारी दुर्गा, वही (ब्रह्म)ज्ञान, (वदः) कर्म, (लोकं) जनता, (प्रजा-पतिं) प्रजापालक राजा और (विराज परमेष्ठिनं) विशेष तेजस्वी परमेष्ठी परमात्माको (जनयन्) प्रकट करता हुआ, अब (इन्द्रः भूत्वा) इन्द्र बनकर (ह) निधयसे (अमुगन् ततर्ह) असुरोंका नाश करता है ॥ ७ ॥

[इमे] ये (उर्वा गभीरे) बड़े गभीर (उभे नभमी) दोनों लोक (पृथिवीं दिवं च) पृथिवी और पुनोऽन् आचार्यने [ततश्च] बनाये हैं । ब्रह्मचारी अपने तपसे (ते रक्षति) उन दोनोंका रक्षण करता है । इसलिये (तस्मिन्) उस ब्रह्मचारी-के अन्दर सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं ॥ ८ ॥

(प्रथमः ब्रह्मचारी) पहिले ब्रह्मचारीने (पृथिवीं भूमिं) इस विस्तृत भूमिकी तथा (दिवं) सुलोककी (भिक्षां) भिक्षा और (निधी) भिक्षा प्राप्त की है । अब वह ब्रह्मचारी (ते समिधा कृत्वा) उनकी दो समिधायें करके (उपास्ते) उपासना करता है । क्योंकि (तयोः) उन दोनोंके बीचमें सब सुवन (अर्पिताः) अर्पित हैं ॥ ९ ॥

[अन्यः अर्वाक्] एक पास है और [अन्यः दिवः पृष्ठा परः] दूसरा सुलोकके पृष्ठभागसे परे है । ये दोनों [निधी] कीटा (ब्राह्मणस्य गुहा) ज्ञानीकी बुद्धिमें (निहिंती) रखे हैं । [तौ] उन दोनों कोशोंका संरक्षण ब्रह्मचारी अपने तपसे करता है । तथा वही विद्वान् ब्रह्मचारी [तत् केवलं ब्रह्म] वह केवलं ब्रह्मज्ञान [कृणुते] विस्तृत करता है, ज्ञान फैलाता है ॥ १० ॥

आचार्य-जो एक समय आचार्यके पाठ विद्यामाताके गर्भमें रहता था, वही ब्रह्मचारी विद्यायमके पश्चात् ज्ञान, सत्कर्म, प्रजा और राज क धर्म, और परमात्माका स्वरूप इन सबका प्रचार करता रहा; अब वही शत्रुनिवारक और बनकर शत्रुओंका नाश करता है ॥ ७ ॥

आचार्य ही पृथिवीसे लेकर पुनोक्तक सब पदार्थोंका ज्ञान ब्रह्मचारीको देता है, माने वह अपने शिष्यके लिये ये लोकही बना देता है । ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका संरक्षण करता है । अतः उस ब्रह्मचारीमें सब देवता रहते हैं ॥ ८ ॥

ब्रह्मचारीने प्रथमतः भिक्षामें पुनोक्त और पृथिव्यंशको प्राप्त किया । इन दो लोकोंमें ही सब अन्य सुवन स्थापित हुए हैं, दोनों लोकोंकी प्राप्ति होनेपर वही ब्रह्मचारी अब नष्ट दोनों लोकोंको दो समिधायें बनाकर, उनपश्चात् उपासना करता है ॥ ९ ॥

स्थूल शरीर और मन ये दो कोश अनुभवमें हैं ॥ १० ॥

अत्राग्न्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।
 तयोः श्रयन्ते रश्मयोर्धे दृडास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥११॥

अभिकन्दन् स्तनयंब्रह्मः किंतिज्ञो बृहच्छेषोऽनु भूमौ जभार ।
 ब्रह्मचारी पिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशुश्वर्तसः ॥१२॥

अग्नौ ध्रुवो चन्द्रमसि मातरिभ्यन् ब्रह्मचार्येषु मभिधुमा दधाति ।
 तासां प्रचीपि पृथंगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वृषमार्यः ॥१३॥

आचार्यो मृन्पुर्लंगः सोम आषधयः पयः ।
 जीभूतां आमन्तमत्वांस्तैरिदं स्वंग्रामृतम् ॥१४॥

अमा घृन् कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा चरुणो यद्यदैच्छन् प्रजापतौ ।
 तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छन् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥१५॥

अर्थ—(अत्राहु अन्यः) इधर एक है और [इतः पृथिव्यः अन्यः] इय पृथिवीसे दूर दूरग है । ये [अपि] दोनों
 अग्नि [इमे अंतरा नभसी] इन पृथिवी और आग्नेयके बीचमें [समेतः] मिलत हैं । [तयोः दृडा रश्मयः] उनकी बल-
 वान् किरणें [श्रयि श्रयन्ते] फँसती हैं । ब्रह्मचारी तपसे [तान् आतिष्ठति] उन किरणोंका अभिप्रेक्षण होता है ॥११॥
 [अभिकन्दन् स्तनयन्] गजैवा करनेवाला [ब्रह्मः भित्तिगः] भूँ और कालें रंगसे युक्त [बृहत् शेषः] बड़ा
 प्रभाववाला [ब्रह्मचारी] ब्रह्म अर्थात् उदकको साथ ले जनेवाला मेष [भूमौ अनु जभार] भूमिवा योग्य पोषण
 करता है । तथा [सानौ पृथिव्यां] पदाः और आमपर [रेतः सिञ्चति] जलकी वृष्टि करता है । [तेन] उससे [चतस्रः
 प्रदिशः जीवन्ति] चारों दिशाएँ जीवित रहती हैं ॥ १२ ॥

अग्नि, सूर्य, चंद्रमा, वायु, [अप्सु] जल इनमें ब्रह्मचारी समिधा टाकता है । उनके तेज पृथक् पृथक् [भ्रे] मेषोंमें
 संचार करते हैं । (तासां) उनसे (वषं) वृष्ट (आरः) जल और (आरः) घों और पुरुषकी उत्पत्ति होती है ॥ १३ ॥
 आचार्य ही स्यात्, वरुण, सोम, औरधि तथा पयस्वरुण है । उसके जो (यरुणः) सारिषक भाव हैं, वे (जीभूताः)
 मेषरुण हैं, क्योंकि (तैः) उनके द्वारा ही (इदं सः आमृतं) वह स्वाव रहा है ॥ १४ ॥
 (अमा) एकल, सद्भाव (केवल घृन्) केवल शुद्ध तेज करता है । आचार्य बरुण बनकर (प्रजा-पतौ) प्रजपालकके
 विषयमें (यद् यद् ऐच्छन्) जो जो चाहता है (तद्) उसको निश्च ब्रह्मचारी (स्वात् आत्मनः) अपनी आत्मशक्तिसे
 (अपि प्रायच्छन्) देता है ॥ १५ ॥

आचार्य—दो अम ई आ इस त्रिलोकमें चर्य कर रहे हैं, उनका अधिष्ठाता ब्रह्मचारी है ॥ ११ ॥
 मेष ब्रह्मचारी है वह अपने तपसे भूमि की शानि करता है । ब्रह्मचर्य उससे यह लाभ लेवे ॥ १२ ॥
 ब्रह्मचारीको आग्नेयके समय अग्नि आहुति डालना जगत्को तुल्य करना है ॥ १३ ॥
 आचार्य देवनाभय है वह ब्रह्मचारीके सरयकी उत्पत्ति करता है ॥ १४ ॥
 पुरुषोत्तमके सहवासे ही दिव्य तेज अथवा तेजस्वी ज्ञानका प्रवाह प्रचलित होता है । आचार्य बरुण बनकर जो इच्छा
 करता है, उसकी पूर्ति शिष्य अपनी शक्तिसे अनुसर करता है ॥ १५ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः प्रजापतिर्वि राजनि त्रिराडिन्द्रोऽभवद् वृक्षी ॥१६॥
 ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्र वि रक्षति । आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥
 ब्रह्मचर्येण कन्याश्च युवानं विन्दते पतिम् । अनुड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वी घामं जिगीर्षति ॥१८॥
 ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमनाभवत् । इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवस्यः स्वपुत्रामरत् ॥१९॥
 ओषधयो भूतमुष्पमंदोरात्रे वनसतिः । संवत्सराः सहर्तुमिस्ते ज्ञाता ब्रह्मचारिणः ॥२०॥
 पार्थिवा दिव्याः पृथक् आरण्या प्राम्याश्च ये ।
 अपृथाः पृथिर्णश्च ये ते ज्ञाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

अर्थ— आचार्य ब्रह्मचारी होना चाहिये, [प्रजापति] प्रजापालक भी ब्रह्मचारी होना चाहिये । इस प्रकार प्रजापति [विराजति] विजय सोमता है । जो [वती] सपथी [नि-राह] रात्रा होता है, वही इन्द्र कहलाता है ॥ १६ ॥

ब्रह्मचर्यका तपसे साधनसे राजा राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है । आचार्य भी ब्रह्मचर्यके साथ रहनेवाले ब्रह्मचारी की ही इच्छा करता है ॥ १७ ॥

कन्या ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् तद्वय पतिको (विन्दते) प्राप्त करती है । [अनुड्वान्] बैर और (अश्व) घोडा भी ब्रह्मचर्य पावन करनेसेही प्राप्त जाता है ॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्यके साथ तपसे सब देवोंने मृत्युको (अथ मरण) दूर किया । इन्द्र ब्रह्मचर्यसे ही देवोंको (स्व) स्व (आनन्द) दता है ॥ १९ ॥

औषधियां, वनस्पतियां, (अनुमि सह संवातराः) अनुमोंके साथ गमन करनेवाला संवातर, अहोरात्र, मृत और (अर्भ्य) भविष्य के सब ब्रह्मचारी (ज्ञाता) हो गये हैं ॥ २० ॥

(पार्थिवा) पृथिवीपर उत्पन्न होनेवाले (आरण्या प्राम्याश्च) अरण्य और ग्राममें उत्पन्न होनेवाले जो (अपृथा पृथा) पक्षहीन पशु हैं, तथा (दिव्या पाथिना) आकाशमें संचार करनेवाले जो पक्षी हैं, वे सब ब्रह्मचारी (ज्ञाता) बने हैं । २१ ॥

आचार्य— सब शिक्षक ब्रह्मचारी हैं वे चाहिये, सब राजशासक—एक पलनके साथमें त्रिपुत्र पुत्र्य भा ब्रह्मचारी ही हीने चाहिये । जो योग्य शक्ति प्रजाध पवन करेगे वेही सुशोभित होंगे तथा जो भित्तदेव राजपुत्र्य होने वेही इन्द्र कहलवेंग ॥१६॥
 राजा राजप्रबंधका सब लोगोंस ब्रह्मचर्य पालन करके राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है । अपराध भी ऐसे ब्रह्मचारी की इच्छा करता है कि जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् कन्या अपने योग्य पतिको प्राप्त करती है । बैर और घोडा भी ब्रह्मचारी रहते हैं, इक्षतिके साथ आकर वेले पचा करत हैं ॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्यके पालन करनेके कारण ही सब देव अमर बने हैं । तथा ब्रह्मचर्यके सामर्थ्यसे ही देवराज इन्द्र सब इतर देवोंको स्वयं दे सकता है ॥ १९ ॥

सब विश्व ब्रह्मचर्यके युक्त है ॥ २० ॥

सब पशुपक्षी जन्मसे ही ब्रह्मचारी हैं ॥ २१ ॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु विभ्रति ।

तान्तसर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्

॥ २२ ॥

देवानामितत् परिपूतमनस्यारूढं चरति रोचमानम् ।

तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्

॥ २३ ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्म आज्ञद् विभ्रतं तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।

प्राणापानौ जूनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेघाम्

॥ २४ ॥

चक्षुः श्रोत्रं यज्ञो अस्मासु श्रेष्ठं रेतो लोहितमुदरम्

॥ २५ ॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी संलिलस्यं पृष्ठे तपोऽतिष्ठन् तप्पमानः समुद्रे ।

स स्नानो बभूवः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रौचते

११२७

॥ २६ ॥ [१६]

अर्थ—(सर्वे प्राजापत्याः) प्रजापति परमात्मासे जगत् हुए हुए सब ही पदार्थ पृथक् पृथक् (आत्मसु प्राणान्) अपने अंदर आत्मोको (विभ्रति) धारण करते हैं । (ब्रह्मचारिणि आभृतं) ब्रह्मचारीमें रहा हुआ (ब्रह्म) ज्ञान (तान् सर्वान् रक्षति) उन सबका रक्षण करता है ॥ २२ ॥

देवोंका (पृथक्) वह (परि—पूतं) उ-साह देनेवाला (अन् अम्यारूढं) सबसे अेष्ठ (रोचमानं) तेज (चरति) चलता है । उससे (ब्राह्मणं) ब्रह्मसंबंधी (ज्येष्ठं ब्रह्म) अेष्ठ ज्ञान हुआ है और (अमृतेन साकं) अमर मनके साथ (सर्वे देवाः) सब देव प्रकट हो गये ॥ २३ ॥

(आज्ञद् ब्रह्म) अमकनेवाला ज्ञान ब्रह्मके कारण है । इसलिये उसमें सब देव (अधि समोताः) रहे हैं । वह प्राण, अपान, व्यान, वाचा, मन, हृदय, अस्मासु (आदि) अति श्रेष्ठ (श्रेष्ठं) प्रकट करता है ॥ इसलिये ही ब्रह्मचारी ! (अस्मासु) हम सबमें चक्षुः, श्रोत्रं, यज्ञ, अन्न, (रेतः) शीघ्र, (लोहितं) लोहित और (उदरं) पेट (रोहि) शुद्ध करो ॥ २४-२५ ॥

ब्रह्मचारी [तानि] उनके विषयमें [कल्पत्] योजना करता है । [संलिलस्यं पृष्ठे] जलके समीप तप करता है । इस ज्ञानसमुद्रमें [तप्पमानः] तप होनेवाला यह ब्रह्मचारी [स स्नानः] जब स्नातक हो जाता है तब [बभूवः पिङ्गलः] अत्यंत तेजस्वी होनेके कारण वह इस पृथिवीपर बहुत चमकता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— ब्रह्मचारीका तेज सबकी रक्षा करता है ॥ २२ ॥

ब्रह्मचर्यके तेजसे अमर हुए हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मचारीके तेजसे सबकी पुष्टि होती है ॥ २४-२५ ॥

ब्रह्मचारी अपने तेजसे विराजता है ॥ २६ ॥

ब्रह्मचर्य-सूक्त ।

इस सूक्तका प्रथम मंत्र ब्रह्मचारीका कर्मव्यवस्था ब्यक्त कर रहा है। ब्रह्मचारी वह होता है कि जो (ब्रह्म) ब्रह्मा होनेके लिये (चरी) पदार्थ करता रहता है। " ब्रह्म " शब्दका अर्थ-वृद्धि, मरुत, बढापन, ज्ञान, अमृत आदि है। " चारा " शब्दका भाव-आचारण करना, नियमपूर्वक योग्य व्यवहार करना है। इन दानो पदोंके भाव निम्न प्रकार ब्यक्त होते हैं- " अभिवृद्धिके लिये प्रयत्न करना, सब प्रकारसे श्रेष्ठ बननेका पुढार्या करना, सत्य और शुद्ध ज्ञान बढ़ानेका यत्न करना, अमरत्वकी प्राप्तिके लिये पाम पुढार्या करना । यह सुव्यय भाव " ब्रह्मचारी " शब्दमें है। उक्त पुढार्या करनेकी एक शारीरमें कीर्षणी शिथिलता होनेसे ही प्राप्त हो सकती है- इसलिये ब्रह्मचारीकी धीरधरुण करनेकी अत्यन्त आवश्यकता है।

उक्त मंत्रका पहिला कथन यह है कि " ब्रह्मचारी उभे रेदसी इण्यु चरति । " अर्थात् " अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवाला पुढ्य पृथिवी और पुनोकेको अनुकूल बनाकर अपना व्यवहार करता है। " पृथिवीसे लेकर पुनोकरावत जो जो पदार्थ हैं, उनको अपने अनुकूल बनानेसे अत्युदयका मार्ग गुप्त होता है। यह अत्यन्त स्पष्टही है कि, यदि हम सृष्टिके पदार्थोंके साथ विरोध करेंगे, तो उनकी सत्ता बढी होनेके कारण हमाराही घात होगा। परंतु यदि हम पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थोंको अपने अनुकूल बनायेंगे; हम उनके नियमानुकूल अपना व्यवहार करेंगे और इस प्रकार आपसकी अनुकूलताके साथ परस्परके व्यवहार होंगे, तब हम सबका अत्युदय हो सकता है। यही भाव इस मंत्रभागमें कहा है।

जब ब्रह्मचारी सृष्टिका निरीक्षण करता है, तब उसको विदित होता है कि, पृथिवी सबकी आधार देती है; यह देखकर, वह निराश्रितका आश्रय देनेका स्वभाव अपनेमें बढाता है। अलदेवता सबको शांति प्रदान करनेके लिये उच्चैः नोच स्थानमें पहुँचती है, यह देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है, कि मुझे अपनी उच्चताके धर्ममें रहना उचित नहीं है, इसलिये मैं नोच नोच अरह्योमें रहनेके पतित जनोंके

उद्धारके लिये तथा उनके आमाश्रितोंको शांति करनेके लिये अवश्य यत्न करूँगा। अग्निदेवताकी ऊर्ध्व ज्योति देखकर ब्रह्मचारी उपदेश लेता है कि, स्वर्गको प्रकाश देनेके लिये मुझे इस प्रकार अलना चाहिये और संघा होना चाहिये। वायुदेवताकी हलचल देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है कि, मैं भी हलचल द्वारा जनताकी सुखता संपादन करूँगा। सूर्यका तेज अवलोकन करके ब्रह्मचारी संकल्प करता है कि, मैं ज्ञानसे इसी प्रकार प्रकाशित हो जाऊँगा। चंद्रकी शांति अनुभवकी प्रमत्त निरीक्षण करके वह बोध लेता है कि, मैं भी इसी प्रकार अमृतत्वका शक्ति प्राप्त हो जाऊँगा। इसी दंगसे अन्य देवताओंका निराक्षण करके वह अपने अंदर उनके गुणधर्मोंको धारण करने और बढानेका यत्न करता है। मानो अग्निदि देव उसके लिये आदर्श बन जाते हैं और उक्त प्रकार उसको उपदेश देते हैं।

वेदमंत्रोंमें जो अग्नि, वायु, आदि देवताओंके गुणवर्णन किये हैं उनका यही तात्पर्य है। ब्रह्मचारी एक एक सूक्तको पढ़ता है और प्रारंभमें उक्त गुण उन देवताओंमें देखकर अपने अंदर उनका धारण करनेका यत्न करता है। इन देवताओंमें परामर्शके विविध गुणोंका आविर्भाव होनेके कारण वह परंपरासे परामर्शके गुणोंकोही अपने अंदर बढाता है।

इसी प्रकार हर एक देवताके प्रशंसनीय सद्गुण देखनेका उक्त ब्रह्मचारीको अभ्यास होता है, दोष देखनेकी दृष्टि दूर होती है और सद्गुण स्वीकारनेका भाव बढ जाता है। हर एक मनुष्यकी उत्पत्तिका यही वैदिक मार्ग है। आजकल दोष देखनेकी भय बढ गया है, इसलिये प्रतिदिन मनुष्य गिरत ही जाता है। इस कारण मनुष्यमात्रको इस वैदिक धर्मके मार्गमें ही अग्रर सब जगत्में शांतिस्थापना अपने अपने आत्माकी शांति बढानो चाहिये। शांतवचन ब्रह्ममें कहा है कि—

यदेश अजुषंशकावणि । (वात० ब्रा० १।३।२६)
अर्थात् " जो देव करते आये हैं वह मैं करूँगा । " यही वात उक्त स्थानपर कही है। इस प्रकार ब्रह्मचारी देवोंका अनुकरण करने लगता है, देवोंके विषयमें आदरभाव धारण

करता है, और अन्य प्रकार देवोंको प्रसन्न करनेका दरज करना है, इस तथ्यको देव भी अनुभूत और प्रपन्न होकर उसके माथ अथवा वास्तुविक रीतिमें उपरक शरीरमेंही निवास करने लगते हैं। इसका वर्णन आगेके मंत्रभागमें है —

देवताओंकी अनुकूलता ।

जो ब्रह्मचारी उक्त प्रकार देवताओंका निरीक्षण और मुग्ध-प्रदूय करता है, उसमें अंशरूपमें निवास करनेवाले देवता उसके साथ अनुकूल बनकर रहते हैं। मंत्र कहना है कि—

“तस्मिन् देवाः सं-मनसोः भवन्ति ।” अर्थात् “उप ब्रह्मचारीमें सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं।” उसके शरीरमें जिन जिन देवताओंके अंश हैं वे सब उस ब्रह्मचारीके मनके अनुकूल अपना मन बनाकर उसके शरीरमें निवास करते हैं। अपने शरीरमें देवताओंका निवास मानव प्रकारसे होता है, दृष्टव्य—

- १ अग्निवाग्भूत्वा मुखं प्राविशान्,
- २ वायुः प्राणो भूत्वा नासिक प्राविशान्,
- ३ अद्दित्यश्चक्षुभूत्वाऽक्षणीं प्राविशान्,
- ४ दिशः शत्रु भूत्वा कर्णौ प्राविशान्,
- ५ श्रोत्रधिगन्त्यतयो लोमानि भूत्या त्वचं प्राविशान्,
- ६ चंद्रमा मना भूत्या हृदयं प्राविशान्,
- ७ मृत्युरप नो भूत्या नाभिं प्राविशान्,
- ८ आपो रेतो भूत्या शिश्नं प्राविशान्.

(ऐनरेय उ० २१४)

(१) अग्नि वक्त्रभूत्वा शीघ्र बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, (२) वायु प्राण बनकर नासिकामें संचार करने लगा, (३) सूर्यने चक्षुष्य रूप धारण करके आँसूके स्थानमें निवास किया, (४) दिशः शत्रु बनकर कानमें रहने लगी, (५) श्रोत्र धि गन्त्यतयो कंग बनकर त्वचमें रहने लगी, (६) चंद्रमा मन बनकर हृदयस्थानमें प्रविष्ट हुआ, (७) मृत्यु अगणना रूप धारण करके नाभिस्थानमें रहने लगा, (८) जलदेवता रेत बनकर शिश्नमें रहने लगी ।”

इस ऐनरेय उपनिषद्के कथनानुसार अग्नि, वायु रवि, शिवा, आंधांध, चंद्र मृत्यु, ऋण इन आठ देवताओंका इनकम उक्त आठ स्थानमें हुआ है। पाठक जान सकते हैं कि, इमी प्रकार अन्य देवत, जा आँसूके जगत्में हैं, और जिनका वर्णन

१०(अ.सू. भा. का० ११)

वेदमें सर्वत्र है, उनके अंश मनुष्यके शरीरमें विविध स्थानोंमें रहते हैं। इस प्रकार हमारा एक एक शरीर सब देवतायाका दिव्य साम्राज्य है और उसका आधिष्ठान आत्मा है, तथा इमी आत्माका शक्ति उक्त सब देवताओंमें प्रविष्ट होकर कार्य करती है; इसका अधिक विचार करनेके पूर्व अथर्ववेदके निम्नलिखित मंत्र देखनेयोग्य है—

- १ दश साकम्भजायत देवा देवेभ्यः पुरा ।
- यो च तान्विद्यात्प्रत्यक्ष स चा अद्य महद्ब्रह्म ३
- २ ये त आभन् दश जात देवा देवेभ्यः पुरा ।
- पुत्रभ्या लोकं दद्यात् स्मिन्न लोक आःसने १०
- ३ संसिचां नाम ते देवा ये संभारान्तसमभन् ।
- सर्वं सन्निध्य मर्ये देवाः पुरुषमाविशन् २३
- ४ यदा त्वष्टा ऋतुणान् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।
- गृहं कृत्या म यं दया पुरुषमाविशान् १८
- ५ अस्थि क्रन्वा समिध तदष्टुपा अमांयन् ।
- रतः कृत्याऽऽऽऽऽ दवा पुरुषमाविशान् २९
- ६ याः प्रापः यश्च त्वत् या चिराद् धरुणा सह ।
- ज्ञानं ब्रह्म प्रविशच्छरीरंश्चि प्रज पतिः २०
- ७ सूर्यश्चक्षुर्वीतः प्राण पुरुषस्य विभाजर ।
- अथाःस्तरमात्मानं द्याः प्र यत्तुत्रत्ये ३१,
- ८ तस्माद् अघ्नान् पुरुषमिदं ब्रह्मनि मन्यते।
- सर्वा ह्यासन् देवता गाधो गाठ ह्यासते ३२

(अथर्व. १३१८)

“(१) सबसे प्रथम (देवेभ्यः दश देवः) देवोंके दस देव रूपन ही गये। जो इनमें अत्युत्तम (विद्युत्) जनेगा, वह (अघ्न) अजडा (महत् ब्रह्म) महत् ब्रह्मके विद्युत्में अंगला। (२) जो पाहेंले देवामें दस देव रूप में, सर्वोंको स्थान देकर स्वयं किम नाममें रहने लगे हैं ! ३) शिष्यन करनेवाले वे देव हैं कि, जो सब सामझी एकत्रिा करत है। (देवाः) ये सब सब (मर्ये) मरणधर्म शरीरको निश्चित करके पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं। (४) जो (रातुः पिता) कारीगर जीवका पिता (उत्तरः त्वष्टा) अधिक उत्तम कारीगर है, वह इस शरीरमें छेद करता है, तब मरणधर्मवाला (गृहं) घर बनाकर सब देव इस पुरुषमें प्रविष्ट होते हैं। (५) शत्रुशेकी समिधसे बनाकर, रेतका धी घनाकर (अष्टुः प्राणः) आठ प्रकारके रेशोंको लेकर सब देवोंने; पुरुषमें प्रवेश किया है। (६) जो आप तथा अन्य देवताएँ

है, और मन्त्रके मन्त्र वर्णमन्त्र जो विराट् है मन्त्रही उन सबके साथ (शरीर वाचक) शरीरमें प्रविष्ट हुआ है और प्रजापति शरीरमें अधिष्ठान हुआ है । (७) सुग वज्र बना, व यु प्राल हुआ और व देव इव पुष्टयमें रहने लग, पश्चात् इसके द्वारा आत्मिका टबेन भूमिक लिये अर्पण किया । (८) इस-लिये इस पुष्टयम् (विद्वत्) ज्ञानवाता शानो (इदं मन्त्र कृति) वट मन्त्र द एम (मन्त्रते) मानता है । क्योंकि इसमें सब देवताएँ उस मन्त्र (इष्ट) रहने हैं, कि जैसे गाँव गोशालाम रहती है ।

इन मंत्रों का उक्त कथा है कि, अग्नि वायु आदि देवताएं इस शरीरमें निवास करती हैं । अर्थात् अथर्ववेद देवताका योग बोधा बोधा इस शरीरमें निवास करता है । यही देवताओं का अर्पण-रूप है । जो इस प्रकार अग्नि शरीरमें देवताओंके अर्पण जानता है, वह अपनी आत्माको गति जान लता है । और जो शरीरमें अन्वेषण देवताओंके समेत अपनी आत्माको जानता है, वह शरीरमें परमात्माको जानता है । इस विषयमें निम्न मंत्र देखें—

ये पुरो मन्त्र विदुस्तु विदुः परमेष्ठिनम् ।
 यो वेद परमे ह्य वयं नैव प्रजापतिम् ।
 वयस्य मे प्राज्ञाय विदुस्तु इह भमनुवायिदुः ॥

(अथर्व १०।७।१७)

“जो पुरुषोंमें मन्त्र जानते हैं, वे परमेष्ठानों जानते हैं । जो परमेष्ठीको जानता है, और जो प्रजापतिको जानते हैं, तथा जो (पर्येष्टं प्रज्ञानं) धिष्ठ मन्त्रको जानते हैं, वे स्वर्गको उत्तम प्रथम जानते हैं ।”

अग्ने शरीरके अंदर मन्त्रण अनुभव करनेका यह कल है । परमात्माके सहायका यही मार्ग है । इस लिये अपने शरीरमें देवताओंके अर्पणका ज्ञान प्राप्त करने उन देवताओंका अधिष्ठान जो एक आत्मा है, उसका अनुभव प्रथम करना चाहिये। पूर्वके एतरेय उपनिषद्के वचनमें प्रत्येक देवताका मिश्र मिश्र स्थान कहा है । उद्य उद्य स्थानमें उद्य देवताके अंशका ध्यान सम-झना चाहिये।

बाहरीकी सृष्टिमें अग्नि वायु आदि देवता निगाल रूपमें हैं । उनके अंश प्रत्येक शरीरमें आकर रहते हैं और इस प्रकार वह जीवामाका साम्राज्य अर्थात् शरीर बन जाता है । यहाँ प्रथम ही सञ्चाल है कि ये सब देवता मनुके साथ हैं, प्रा

मनविह्वल हैं । इस प्रकार उक्त मन्त्रण-मन्त्रोंके मंत्रों ही दिया है, कि “ त स्वर देवः मननवो भवन्ते ” अर्थात् “ उक्त मन्त्र-वाणीमें उक्त मन्त्र देव अनुकूल मन धारण करके रहना है ।” इस मंत्रके “म-मनवः दवा” दो उक्त विशेष लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य हैं । इनका अर्थ देखिये—

म-मने हुए, अनुकूल, मनवः-मनसे युक्त,
 दवाः— अग्नि आदि देव, तथा शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके अंश ।

“जो मन्त्रवाणी मन्त्रणमें अग्नि वायु आदि विगाल देवताओंका निवास शरीर अनुकूल करके उद्गमन करे, उनको अनुकूल बनाकर स्वयं उनके अनुकूल व्यवहार करता है । उस मन्त्रवाणीके अर्थात् वही देव अर्थात् उनके अंश अनुकूल बनकर रहते हैं । तब ही यह कि मन्त्रवाणीके मन्त्र साथ अपना मन मिलानकर उक्त देव निवास करते हैं।”

प्रत्येक ईद्वयमें एक एक देव है, और वह देव इस मन्त्रवाणीके अनुकूल हाकर रहता है । इस सबका तात्पर्य मन्त्रवाणीके सब ईद्वयवाचिका उनके वचनमें रहती हैं, इत्यादि है । प्रत्येक देवताका मन भिन्न भिन्न ही होता है । अर्थात् प्रत्येक ईद्वय स्थानीय उन देवताके अंश भी मन भिन्न भिन्न भाग है। अग्नि, वायु, मूल, हृदय, जामो, शिर, हृष, पाँच आदि प्रत्येक ईद्वय और अवयवका मन भिन्न है, परन्तु मन्त्रवाणीके मंत्रोंमें अग्नि अग्नि स्थानवाला “ जीवामाका सुचर मन ” होता है । मन्त्रणपूर्वक नियमनुसार अग्नि आचरण करके मन्त्रवाणी बनता है। उक्त शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके अर्थात् अंश मन्त्रवाणीके मनुके अनुकूल अपना मन धारण करके उसके अनुकूल ही अग्नि कार्य करनेमें तत्पार होते हैं । परन्तु जो नियम छोड़कर जैसा चाहे व्यवहार करता है उस स्व-छंद पुष्टयके ईद्वयस्थानवा देवता मनुका स्वच्छानागी होता है । और प्रत्येक ईद्वय स्वच्छन्द होनेमें इस मनुष्यका ही नाश होता है । इसलिये मन्त्रवाणीके वचन है कि यह नियमनुसार आचरण करके उद्गमन योग्य सब देवताओंको अपने अधीन रखें और अपनी इच्छानुसार उनसे योग्य कार्य लेता रहें ।

देवताओंका साम्राज्य

अग्ने शरीरके इय प्रकार “ देवताओंका साम्राज्य ” समझना और सब देवताओंका अधिष्ठाना है। इस विचारको करने मनुमें रह करना चाहिये । अपनी मनुकी शक्ति शरीरकी

प्रत्येक इंद्रियमें आकर बर्ण किया विलक्षण कार्य करती है, वह विचारपूर्वक देखनेमें अपनी आरंभिकका अनुभव हाएकछो प्राप्त हो सकता है। इस अनुभवस हांत्रयमन और हांद्रयदमन स.प्य होता है।

प्रत्येक इंद्रिय भिन्न देवताके अंगका बना है। इन देवताओंमें भूमिनीय, अग्निस्त्वानीय तथा धूम्रनीय एमें देवताओंके तीन वर्ग हैं। सभी दूरताओं का निवृत्त शरीरमें है, एंवा कहने मात्रमें एक त्रिलोकीका ही निवास इन शरीरमें है, यह बात स्पष्ट ही हो गई। क्योंकि भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक इन तीन स्थानोंमें ही सब देवता रहने हैं। जब तक तीनों लोकोंक एक एक पदार्थका प्रेश शरीरमें आता है, तो माने श्रौंगिकका ही प्रेश करे यह मानवदेह बनाया गया है। इस विषयका स्पष्टकरण निम्न स्थानमें दिने कोष्टकमें हो सकता है—

इस प्रकार आदरकी त्रिलोकीका अंश शरीरमें आया है। इसी कारण कहा जाता है कि यह त्रिपदात्री प्रयोगका आधार है। दक्षिण — " स दाधर पृथिवी दिवं च" अर्थात् पृथु लोक संवमी त्रिपदात्री पृथिवी और धुनोक तथा तदन्तर्गत बीचके अंतरिक्ष लोकका भी आधार देना है। यह बात एकत कष्टसे अब स्पष्ट हो चुकी है। इस प्रकार मंत्रका प्रत्येक भाग अनुभवकी बात हा बता रहा है। यहाँ किमी अलंकारकी कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। प्रत्येक मनुष्य विचारकी दृष्टिसे संशोधित बनने अर्थात् अंदर ही देख सकता है। केवल कल्पित बातें बेदमें नहीं हैं, प्रत्यक्ष हेतुवाली बातें ही वेद वर्णन करता है। परंतु उसकी प्रत्यक्ष देखनेकी शक्ति ही देखना चाहिये। जो शक्ति यहाँ बताई है, उसमें प्रत्येक मनुष्य अपने अंदर ही संशोधित बातें प्रत्यक्ष देख सकता है।

त्रिलोकीका कोष्टक ।

लोक	देवता		मनुष्यके हांद्रिय
स्वर्ग लोक [भूलोक] स्वः	सौः स्यं दिशा अग्नि	— विचार —	सिर आंख कान मुख, श्राणिन्द्रिय
भुवर्लोक [अंतरिक्षलोक] भुवः	इंद्र चंद्र वायु और मरुत	कंठ फेफड़े, धृत्वन	आत्मा मन मुख्य और गौण प्राण
भूलोक [पृथिवी लोक] भूः	सृष्ट्यु आप, जल भूमि	मांस, शिश्न, पांशु, पेशाब	अपान रंत, धीरे पांव

काष्ठा स्थानका त्रिलोकी (समाधि)

शरीरका त्रिलोकी (स्वाधि)

अथ मंत्रवा अंतिम माग रहा है। वह यह है " स आचार्ये सप्रसाद निदिनि । " अर्थात् उक्त प्रकारका " प्रद्वारागी अपने तन्मये धरने आचार्यक पालन और पूर्णत्व करना है । " जो तब प्रद्वारागीकी कमानाई उसका स्वरूप मंत्रव नीन वाणोंमें कहा ही है। मृष्टक अमि मद् देवताओंक निरीक्षण करना, उनको अपने अनुरूप बनाया, उनके अनुकूल स्वयं प्रकट र काना, तथा अपने शरीरमें जो उनके अंश रहने हैं, उनको धरने मनके अनुकूल चलाना, यह सब मंत्र ही है। इस उक्तका तब जो प्रद्वारागी करता है, वही आचार्यकी परिपूर्ण कला है। अर्थात् निदम विरक्त आचरण करनेवाले तब भी गुहमीकी पूर्णता तो कदा धरिये, परंतु वे तन्मये न्यूनता ही उत्पन्न करते हैं, यह बात स्पष्ट ही है।

उक्त मंत्रमागमें " विदिनि " पर है। इसका अर्थ "(१) पालन करना है और (२) परिपूर्ण करता है " यह है। तात्पर्य यह कि आचार्यके पालनयोग्यता मार विद्याधिगोपर [निवा विद्याधिकेक पालकोपर] हुंता है, तथा आचार्यकी इच्छा पूर्ण करनेका मर भी विद्य विगोपर ही रहता है।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि देव, पितर, गंधर्व और मनुष्य ये चारों वर्णोंके लोग प्रद्वारागीका अनुकरण करते हैं। यह मंत्रका प्रथम वचन है। प्रद्वारागी ऐसा आचरण करता है वैसे ही स्ववश इतर लोग करने लगते हैं। यह बात प्रद्वारागीकी कवच ध्यानमें रखनी चाहिए। अपने प्रद्वारागीपर एक विशेषण जिम्मेवारी आजाती है। दाँट कई दोष प्रद्वारागीके आचरणमें होगा, तो उसका अनुकूल या अन्य लोग करेगे।

विशेषतः गुणोंकी अपेक्षा दोषोंका अनुकरण अधिक होता है। श्रेष्ठ मनुष्य जैसा आचरण करना है, वैसे अन्य लोग करते हैं ऐसा कहते हैं। परंतु यह नियम स्थापनाके अनुकरणको अपेक्षा दुःखोंके अनुकरणके विषयमें अधिक सत्य प्रतात हुंता है। यदि बड़ा आदमी अच्छा आचरण रगा, तो उसके अनुसर छोटे आदमी आचरण करेगे, यह निश्चय नहीं है, परंतु यदि बड़ा आदमी दुर्ग कार्य करेगा, तब बहूधा उसका अनुकरण अन्य लोग करने लगेंगे। इसलिये बड़ आदमीको अपना आचरण विचारपूर्वक सुद रखना चाहिये। वही जिम्मेवारी प्रद्वारागीपर भी रहती है, क्योंकि अपने अपने स्थानपर प्रद्वारागीकी प्रमत्ता होगी, वहाके छोटे मोटे लोग उनकी उक्तक उक्तके समान बननेका दख करेगे। जो बाहरसे विशेष विद्य प्राप्त करता है,

उत्पन्न इसी प्रकार जिम्मेवारी होगी है, इसलिये नवधिसिती-को अपनी जिम्मेवारी समझना ही स्ववश करना उचित है।

प्रत्येक प्राणिमात्रमें जो चातुर्वर्ण्य है, वह प्रद्वारागीके देहमें भी है। अर्थात् इसके देहमें चार वर्ण एक दूसरेके साथ मिल जुलकर रहते हैं, अनुकूल होकर रहते हैं। शरीरके अंदर कान प्राण आदिके समन्वय कानिबने जो भग है उनका देव विश्व प्रद्वारा समक्ष है। देहमें विरेधी होंगे ही। एतनेवाले जो सुदम संसृष्टयभोग होंते हैं, उनका संश्रय मानिये। जो वे पक्ष अंध होते हैं उनको वेदव कर सकते हैं, और जो मूख भावावाहक अंध एगो उनका सुद वधि है। शरीरमें मज्जा प्रद्वारा है, नीच क्षत्रिय है, स वैश्य है और अधि सुद ई इनको आप चाहे अन्य शब्द भी प्रयुक्त कर सकते हैं। एहा केवल उक्त कथनका भाव एतानमें रखना चाहिये। चातुर्वर्ण्यके चार शब्द जो हम मंत्रमें आगे हैं, वे भी गुणधर्मावक तथा भावबोधक ही हैं।

प्रथम कहा है कि देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये सब प्रद्वारागीके अनुकूल होकर चलने हैं अर्थात् अनुकूल बनकर अपना अपना कार्यकवहार करते हैं। यह प्रितना बड़ा समान अर्थ सत्य है, उसमें बड़े गुना अधिक शरीरके शक्तियोंके अंदर सच है। शरीरके अर्थ-सत् कार्य-मज्जा आदि मूल-भू आधा तब प्रद्वारागीके अनुकूल टाकर रहते हैं। प्रद्वारागीके शरीरकी सब शक्तियाँ उसके अनुकूल रहनी हैं। क्योंकि वह संतमी गुह्य होता है। शरीरमें अंगों, अवयवों, इंद्रियों और तत्त्वोंका चतुर्वर्ण्य है, वह सभी उसको अनुकूल होता है। यह बात अथ पठनेके समय असाई हुंगी। तब शक्तिके विच्छा करनेपर इस वैदिक भावका प्रकाश पाठकोंके मनमें पक सक्त है और वैदिक विचारकी सुप्रमता भी ज्ञात हो सक्ती है।

तीन और तीस देव ।

अग्नि वायु इर आदि चार देवत जमें चतुर्वर्ण्य है, इतना कहनेमात्रसे शरीरके अंदरके देवताओंमें चतुर्वर्ण्य है, यह बात निश्च हो ही चुकी है, क्योंकि सपूर्ण देवताओंके अंध अपने शरीरमें विद्यमान हैं। अर्थात् जो उनके गुणधर्म बाहर हैं, वे ही अंध हैं; इतने विज्ञान नहीं हो सक्त। अथ इन देवताओंकी संख्या चितनी है इसका उत्तर इस मंत्रमें निम्नप्रकार दिया है।

त्रयः	—तीन	३
चिद्युः	—तीस	३०

त्रिधाता: —तीन सौ ३००

पद् हज़र: —छः हजार ६०००

पहिले मंत्रके स्पर्शक्रमणके छे प्रक्रमे बनाया ही है कि, नामिते निचला भाग श्रुतिवा स्थानाय, न. भिस गलेतक का भाग अंत-रिद्धत्यान्वाय औ भिस द्युम्यन्वाय है। अर्थात् शरीरके अंदरके इन तीनों अंगमें बाह-क तीनों अंगमें रहनेवले सब देव हैं। वेदमें अत्र कहा है कि, प्रत्येक स्थानमें उषरह उषरह देवता है, उनमें भी दस गौण और एक मुख्य है।

छिमें मस्तिष्क है अमकी देवता सूर्य है। हृदयमें मन और उसकी देवता चंद्र किवा इंद्र है। तप अठारमें अग्निदेवता है। इस प्रकार तनों स्थानोंमें ये तीन देवताएं मुख्य है। प्रत्येक देवताके अधून दस गौण देवताएं हैं। तीन मुख्य और तीस गौण मेशर उषरदेवता होती है। प्रत्येक देवता एक एक अंगमें रहती है। अर्थात् ३३ देवताओंके आर्धान ३३ अंग हैं। इस मात्रको लेक निम्नमंत्र देखियं—

(१) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे सनादिताः ॥ १३ ॥

(२) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे गात्रा विभेदित ॥

तावन्ने त्रयस्त्रिंशद्देवानेकं ब्रह्मविदो विदुः ॥ २० ॥

(३) यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधि रक्षन्ति सर्वदा

निधितनय को वेदं सं देवा भूमि-स्थ ॥ २३ ॥

(अथर्वं १०१०)

“(१) त्रिषके अंगमें तैत्तिरीय देव रहे हैं। (२)

त्रिषके अंगोंके मात्रमें तैत्तिरीय देव विशेष संज्ञा करते हैं, उन तैत्तिरीय देवोंकी ब्रह्मज्ञाना पुरुष ही बचल जानते हैं। (३) तैत्तिरीय देव त्रिषका कोषा सर्वदा रक्षण करते हैं, उस निधि को आज कौन ज नता है ? ”

यह वर्णन परम तमामें पूर्णरूपमें और जीवात्मामें अंशरूपमें अपना है। क्योंकि यह बान पूर्व स्थानमें कर्मा ही है कि अग्नि, इन्द्र और सूर्य आदि देवता पूर्णरूपमें परमात्मके साथ जगत्में हैं और अंशरूपमें जीवात्मके साथ शरीरमें हैं। परमात्माका व्यापकत्व और महत्त्व तथा ज आत्मका व्यापकत्व और अणुत्व छेद दिया जाय, तो तत्त्वरूपमें कोलोंका वर्णन एक जैसा ही हुआ करता है। वेदमें इस प्रकारके वर्णन महत्को स्थानोंमें हैं।

तीन और तीस देवोंका यह स्वरूप है। ये तैत्तिरीय देव मेशरचरनमें रहते हैं। “ मेशरचरन ” वृष्टांग ही है, त्रिषको रीड मेशरचर आदि कहा जाता है। इस वृष्टांगमें छोटी छटी

छट्टियां एकके ऊपर दूसरी ऐसी लगी हैं और बीचके संधि-पर्वमें एक एक ग्रंथि है, जिस ग्रंथिमें इन देवताओंका स्थान है। यंगमें जिस “ ग्रंथिमदन ” का माहात्म्य वर्णन किया है, वे ग्रंथियां ये ही हैं। प्राणायामादि साधनद्वारा प्राणकी इनमेंसे जाने होता है। योगसाधनमें इन प्रत्येक स्थानका अर्थन महत्त्व है। इन सब देवताओंकी ग्रंथियोंमें गुंजाकर मेशरचरन अथवा मेशरचरके सबसे ऊपरके भागमें, मेशरचरके मध्यमें जब आत्माके साथ प्राण पहुंचता है, तब उस स्थिति को “ ब्रह्मलोककी प्राप्ति ” कहते हैं।

ये तैत्तिरीय देवताएं अथवा तीन और तीस देवताएं ब्रह्म-चारिके आर्धान होती हैं, क्योंकि ब्रह्मचर्याधनमें शरीरक्षण-पूर्वक योगाभ्यासद्वारा इन सबको स्वर्धान ही बनना होता है। इसलिए इस ब्रह्मचर्ये सुक्तमें बारबार कहा है कि, ये सब देव ब्रह्मचर्याके अनुकूल रहते हैं। ब्रह्मचारी इन सब देवोंको पूर्ण तन और स्वर्धान करता है। पूर्ण चरनेका तात्पर्य प्राणसे भरना और पूर्ण विकसित करना है।

उक्त तैत्तिरीय वर्णन भिन्न (त्रिधाताः) तीन सौ देव हैं। तीन अंगोंमें सौ मस्तिष्कका तीन सौ होते हैं। मस्तिष्कके स्थानमें सौ, हृदयक स्थानमें सौ और नाभिमथानमें सौ, इस प्रकार ये “ शिवशोक त्रि-शतगण ” होते हैं। साथ साथ (पद् महत्ताः) छः हजार भी हैं। पृष्ठवंशके साथ साथ छ-चक्र हैं— (१) गुदाके स्थानमें मूलाधारचक्र, (२) नभि-स्थानके पाम स्वाधिगानचक्र और (३) मणूरुचक्र (४) हृदयस्थानके पाम अनामचक्र, (५) अंठस्थानमें विशुद्धिचक्र और (६) दोनों अंहोंके बीचमें आज्ञाचक्र है। प्रत्येक चक्रमें सहस्रों शक्तिशोक अथ केन्द्रित हुए हैं। इस प्रकार छः स्थानों छः हजार शक्तियां बंट गयी हैं। यहाँ “ तीन सौ ” और छः हजार ” यह संख्या गिनतीयां है अथवा बहुत्वदर्शक ही है। इस विषयमें मुझे स्वयं कोई ज्ञान नहीं है। अनुभवभी योगी ही इस विषयमें कह सकता है। इन लिये इन विषयमें आधिक लिखना उचित भी नहीं है।

यह देवताओंका संख्या वेदों और ब्रह्मगणमें ३: ३३; ३३० इमां प्रकार बटाई है। सहस्रों, शकों और करोड़ों तक यह गिनती गई है। मस्तिष्क मजजातनुशोका मुख्य केन्द्र है, उसके आर्धान महत्त्व, हृदय और नाभि ये तीन स्थान हैं; प्रत्येक स्थानमें दस दस गौण विभाग मिलकर तीस उषरके और स्थान सौ सौ विभाग मिलकर तीस, इस प्रकार

रूपमें सुप्त विमग्न अगणित हुए हैं। इनके करोड़ों बांटना अथवा लखों बांटना यह केवल कल्पनामय ही होगा, प्रत्यक्ष गिनतीका कदाचित न होगा। परंतु इस विषयमें सत्यासत्य निर्णय विशेष आधिकारी पुरुष ही कर सकता है।

इस प्रकार (१) तीन, (२) तीन, (३) तीन सौ और (४) छः हजार देवताओंका स्वरूप, स्थान और माहुर्य है। प्रदान होने आधीन ये सब देव रहते हैं। जा प्रदान नहीं रहता और योगादे सधन नहीं करता उसके आधीन उक्त देव रह नहीं सकते। जा वे देव स्वामी नहीं रहते, होरुके भयना उपवेश करन लगते हैं, तब बड़ी भयानक भवरा हो जाती है। प्रत्येक इन्द्रिय स्वच्छंद होनेमें मनुष्य की अस्वस्थ किंता गिर सकती है, इसकी कल्पना पठक स्वयं कर सकते हैं।

ब्रह्मर्षि, वैश्वदेव, सूर्यव्यवहन, मारुतमग्न, उच्च विचारोंका धारण यम नियम, ईश्वरगोपयना अदि सब वाचना से यही कथना है कि, अपने सामने विद्यमान देवताओंके भंग अपने आधीन हो जाय, अर्थात् अपने अदृश्या से हुए शक्तिदा स्वाधीन होकर अस्वच्छंद शक्ति प्रतीताने प्रवृत्त हो जाय।

इस प्रकार ब्रह्मर्षि परम भिक्षुका वर्णन इस मंत्रमें हुआ है। पठक इस मंत्रके अर्थकी आधिक खोज करे और ज्ञानक हो सके तब तक प्रयत्न करके इस दृष्टि पर अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करे।

अब हमने तृतीय मंत्रमें, ब्रह्मर्षिधर्ममें करने योग्य "तीन प्रकारके अज्ञानोंका निवारण" बताया है। साधारण मनुष्य तीन प्रकारके अज्ञानके अंधकारमें रहता है, उन तीनों अज्ञानोंका निराकरण करना और तीनों ज्ञानोंकी प्राप्ति करना इस आश्रममें होता है।

गुरुशिष्य-संबंध।

इस तृतीय मंत्रके पहिले अर्थभागमें कहा है कि, "जब आचार्य ब्रह्मर्षिोंका शिष्य मनकर अपने नाम रचना दे तब वह तपकी अपने अंदर कर लेता है।" यही अंदर करनेका तारार्थ केवल अपने परिवारमें अथवा कुलमें संमित करना इतना ही नहीं है, यग्य उप विद्यापत्रोंके अग्न हृदयमें रखना है। हृदयमें अथवा अपने गर्भमें रखनेका अर्थ यह है कि, अपने शिष्यके कुटुंबी नहीं रहना है। शिष्यका प्रवेश अपने घरमें अथवा परिवारमें होता है, अपने कोई बात छिपी नहीं रहती। परंतु इस ब्रह्मर्षिधर्म प्रवेश की अंदरके गर्भमें होता

है, इससे ही हृदयकी कोई बात उसमें छिपी नहीं रहती। यही गुरुशिष्यका संबंध है। गुरु अपने शिष्यमें कोई बात छल कपटव्य डिगारर दूर न रखे, जो विद्या स्वयं प्राप्त की है, उसे पूर्ण तिते शिष्यका पठक, तथा शिष्यकी आचार्यके पेटमें रहकर भाट-गुदोंके द्विती प्रकाश करवाने देवे।

तीन रात्रिका निवास।

इस मंत्रका दूसरे अर्थमें है कि "यह आचार्य अपने पेटमें उप ब्रह्मर्षियोंके तीन रात्रिका समय स्थानी होनेके कारण करता है।" उदरमें ब्रह्मर्षियोंके धारण करनेका तारार्थ पूर्व-स्थलमें बताया ही है। यही तीन रात्रिका भाव देखना है। मंत्रमें "तीन दिन" ऐसा नहीं कहा है, परंतु "तिष्ठः रात्राः (तीन रात्रिका)" ऐसा कहा है। रात्रि शब्द अंधकारका भाव बताता है और अंधकार अज्ञानका बोधक शब्द है ही अर्थात् तीन रात्रियोंका तारार्थ तीन प्रकारका अज्ञान है। इस शिष्यके तारार्थ गुरुक पास रहनेके आशय एव चिंतन होता है, कि तीन प्रकारका अज्ञान दूर होनेके गुरुके पास निवास करना है। एक अज्ञान यग्यवृद्धन मुष्टिशिष्यक होता है, दूसरा अज्ञान आराधके विषयमें होता है और तीसरा अज्ञान आराधके संबंधके विषयमें अज्ञान होता है। इन तीनों अज्ञानोंका दूर करना ही शिष्यक धर्मका उद्देश्य है। उक्त तीनों अज्ञानके गण अज्ञान अंधकारकी रात्रिमें अज्ञान होते हैं। अन्धकारकी रात्रिमें ज्ञानसूर्यका उदय होनेके कारण वह प्रमुद शिष्य रात्रिका समय समीप करके स्वच्छ और पवित्र प्रकाशमें आता है।

यह तीन रात्रियोंका विषय ब्रह्मर्षिधर्ममें ही आया है। पाठक विज्ञानपूर्वक वही देखे। वही घोडासा दिग्दर्शन किया जाता है।

तिष्ठो रात्रार्थदेवास्तौगृहे मेडनसन् ब्रह्मन् अनिधिनैमस्वया (षडउ० १।१।)

यह नबिनेतासे कहता है कि "तू मरुतधार करने योग्य ब्रह्म अतिथि भरे घरमें तीन रात्रि रहा है।" इससे-
ज्ञान् वगन् वृगीवर ॥ (षड १।१)

"तीन वा मंत्र यह।" तत्र ब्रह्मन् नबिनेतासे तीन वा मांग लिये। उदरमें यम मद्राग्न (१) आ-मदिद्या, (२) अ द्विजा आ-देनोका संबंध बतानेवाली (३) कर्षवेद्या ही बनती है। इन त्रानिधर्ममें नबिनेता ही शिष्यक धर्मसे गुरुका नाम 'यम' है, इस ब्रह्मर्षि-रूपके १४ वें मंत्रमें भी "आचार्यो यमुः" अर्थात् "आचार्य यमु है" ऐसा

पान्त्रै मधु विद्वाो चान्त्रस्यादुमुदुंवाम् ।
सुर्यस्य पयः श्रेयाणो यो न तद्व्यपत्ते चरन् ॥
चरिवात् चरिवात् ॥ ५ ॥

(वृत्त० प्रा० ० ०१११)

“ (१) धम किये विना श्रीकी प्राप्ति नहीं होती । सुस्त मनुष्य ही पापी है । पुत्रार्थिका मित्र ईश्वर है । इसलिये प्रथम करो पुत्रार्थ करो ॥ (२) जो चलता है उसकी अर्धे पुष्ट होती है, फल लिये तब प्रयत्न करनेवाला अन्तः प्रयासवाला होता है । प्रथम करनेवालेके पारमात्र मार्गमें ही भर जाते हैं । इस कारण प्रथम करो और धम करो ॥ (३) जो बैठना है, उसका देव बैठता है; जो खड़ा होता है उसका देव खड़ा होता है, जो साता है उसका देव सो जाता है, तथा जो चलत है उसका देव भीगाम आ जाता है । इसलिये प्रथम धर्म, परिधम करो ॥ (४) जो जना कलियुग है, आत्म्य छोड़ना द्वापरयुग है, तृतीया त्रेतायुग है और पुत्रार्थ कर्मा कृत्ययुग है । इसलिये पुत्रार्थ करो ॥ (५) मधुक्ली चलकर मधु प्राप्त करनी है, पक्षी प्रजन करनेके ही भीडा फल प्राप्त करते हैं । सर्वथी जो शोभ है, वह उसके निरालय प्रमगके कारण ही है । इसलिये प्रथम करो, परिधम करो ॥”

इस प्रकार परिधम करनेका उपदेश ब्राह्मणकार करते हैं ।
हरएक मनुष्यके लिये वह उपदेश स्मरण रखने योग्य है । तथा—
अमयुवः पदस्वी विषेधात्तायुः पदे परमे चारंभे ॥

(शु० १।७२।२)

“ (अम-युवः) परिधम करनेवाले, (पद-स्वीः) मार्गपर चलनेवाले, (विषे-धाः) धाणावती युद्धको धारण करनेवाले पुत्रार्थार्थ लोण ही (अमनः परमे पदे) आत्मिकके सुंदर परम स्थानके प्राप्त करते हैं ।” तथा—

आन्वाय सुम्नत्रे वरुणमस्ति । (ऋ० ८।६।१६)

“ परिधम करके यज्ञ करनेवालेके लिये ही [ईश्वरका] संरक्षण प्राप्त होता है ।” इस प्रकार परिधमका महत्त्व वेद वर्णन करता है । परिधम करनेवाला पुत्रार्थ, प्रथम करनेवाला मनुष्य अपना तथा जनताका अशुभद्वय दूर रखता है । अब तपके विषयमें योहावा लिखना है । देखिये, तपका स्वरूप कितना व्यापक है—

कर्तं तपः, सत्यं तपः, धूर्तं तपः, शान्तं तपो दमस्तपः,
धमस्तपो, दानं तपो, यज्ञस्तपो, मृत्युं तपः सुवर्णस्तपुपादये

तपसः ॥ (तै० ब्रा० १।७।८)

“अन, मध्य, अश्वयन, शानि, इंद्रियदमन, मनोवाचरोध गयन, दान, यज्ञ, (भूः) धर्मतप (भुवः) ज्ञान (स्वः) आनंद आदि सब तप हैं ।” इत्यार करनमें यथा अम जाय गा कि अन्यमें लेख मनेनेक हरएक यंत्र प्रयत्न तप ही है । तपसे ही हम सब अर्पित रहने के, तपमें उन्नति करते हैं, तपसे ही उच्च अवस्थामें पहुँचते हैं और तपम ही अपना तथा जनताका अशुभद्वय नाश करता जाना है इत्यादि लिये वेदमें इय मंत्रमें कहा है कि, “ब्रह्मचारी धम और तपमें सब लोगोंको पूर्ण उन्नत करता है।” यदि ब्रह्मचारी धम न करेगा और तप न आचारेगा, तो न उसकी उन्नति ही हो सानी है और न वह दृग्गीय मला है। कर सकता है । (१) आत्मशांति ममिधा अर्पित करनी है, (२) यदा कठिणद रइकर जनताके दितने लिये परम पुत्रार्थ करना है, (३) अनेकसे पारधम करके प्रार्थन किया हुआ पुत्र कर्म समाप्त करना है, तथा (४) मलमिष्टा-पूर्वक सब योग्य श्रुत कार्य करते हुए जो अष्ट होमे, उसकी शान्तिके साथ सदन करना और फल प्राप्त होनेके प्रार्थन किये हुए शुभ कार्यको बचमें ही न छोड़ना, ये योग्य इष्ट मंत्रद्वारा प्राप्त हो रहे हैं ।

मृत्यु स्वीकारनेकी सिद्धता ।

इय मंत्रके विचार करनेके अवसरपर निम्न मंत्र देखिये—
मृत्योर्हं ब्रह्मचारी यदोस निशचत् मृत्युदो यमाय ।
यमः ब्रह्ममा तपसा अमणानर्षं मेरुत्तवा विनामि ॥
(अथर्व० १।१३३।३)

“ (मृत्योः ब्रह्मचारी) मैं मृत्युको समर्पित हुआ हुआ ब्रह्मचारी हूँ । इसलिये (मृत्यु) मनुष्योके यमके लिये और एक पुत्र-परी (याचन) इच्छा करता हूँ । [जो पुत्र्य भागेगा] उसकी भी मैं (ब्रह्ममा) जन्मे, तपसे, परिधमसे और इस मेरु-त्तव (विनाम) बांधता हूँ ।”

ब्रह्मचारीका संबंध मृत्यु अथवा यमसे है, इस बातका कथन इस मंत्रमें भी है । ब्रह्मचारी भी समझता है कि मैं अब मातापिताका नहीं हूँ, परन्तु मृत्युको समर्पित हो चुका हूँ अर्थात् यमके पलायन दूर हो चुके हैं । पहिले अन्तमें प्राप्त शरीरका मृत्यु होनेके पृथक् पृथक् जन्म प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिये जो “ दि-जन्मा ” होते हैं, उनकी “ द्विज ”

होनेके पूर्व एक बार मृत्युके वश होना ही चाहिये । इस प्रसंगमें आवर्षकी मृत्युका कार्य करना है । मातापिताने पण्डित शास्त्रिक और मानसिक शिष्यामें यश परिवर्तन करना तथा उसको सुयोग बनना आचार्यका कार्य है । कठोर नियमोंमें भी इस दृष्टिसे गुणके स्थानमें मृत्युके ही माना है । ब्रह्मचर्यमूलकमें भी " अचर्यको मृत्यु " ही कहा है । तथा इस मंत्रमें स्वयं ब्रह्मचारी कहता है " मैं अब मृत्युको समर्पित हुआ हूँ । इस प्रकारका मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी गुरुकुलमें विद्याभूषण पान करता हुआ आनन्दसे कह रहा है कि " मैं जननापे और भी पृथग्-इभी पचार मृत्युको (जावर्षिक) समर्पित करने की इच्छा करता हूँ । " अर्थात् ब्रह्मचारीकी यह मनना चाहिये कि, वह अपने गुरुकुलमें और और ब्रह्मचारी आश्रित रहे । इतना योग्य बने कि उसको देखकर अन्य विद्यार्थी बड़ी आँखें ब्रह्मचारीकोका परस्पर संबंध भी " ज्ञान, तप, परिश्रम, " आदि उच्च भावोंका ही होना चाहिये । एक ब्रह्मचारीका दूधरे मट्ठाटोपे यही संबंध है । अर्थात् एक ब्रह्मचारी दूधरेको ज्ञान देवे, जो स्वयं जानना है, वह दूधरेको समझावे । दूधरेको हितार्थ परश्रम करे और दूधरेका हित करनेके विषय स्वयं क्लेश भी महन करे ।

एक ब्रह्मचारी अपने आरोग्य मृत्युकेछिये समर्पित समझे, तथा ब्रह्मचारीकोके मातापिता भी समझे कि हमने अपने पुत्रको मृत्युके लिये ही समर्पित किया है । क्योंकि गुरुकुलमें प्रविष्ट हुआ ब्रह्मचारी अब संपूर्ण जनताका ही ही 'बुका है ! वह अब केवल माता पिताओंका ही नहीं रहा । वह अब संपूर्ण जनताका पुत्र है, जनता उसकी माता है, गुरु उसका पिता है ! इतनाही नहीं पंगु अब वह ब्रह्मचारी ही स्वयं अपने आपको मृत्युको समर्पित समझने लगा है ! जो आनन्दसे मृत्युको ही स्विकारनेके लिये कांठबद्ध होता है, जो अपनी आस्थियोंकी समिधा बनाने के लिये सिद्ध हो चुका है, जो अपने वीर्य, बल, पराक्रमके अलासे एष्ट्य नरमेधमें अहुतिर्था देनेके लिये तन्मुख है, तथा जो आत्मसर्वस्वकी पूर्णाहुति हाथमें लेकर तैयार है, उसका अन्य क्लेश क्या नहीं सकता, परिश्रमोंके मन्वसे वह स्वकार्यसे परावृत्त नहीं हो सकता । यह है ब्रह्मचारीका पराक्रम ।

तपसे उन्नति ।

पंचममंत्रमें तपसा महत्तर कहा है । ब्रह्मचर्यमें " धर्म और

तप 'का जीवन व्यतीत करना चाहिये । गर्भी-उत्पन्नःका नमः धर्म है और योग्य व्यवहार करनेके समय जो क्लेश होते हैं, उनको आनन्दसे सहन करनेका नाम तप है । इन दोनोंही सहायतासे ही हर्षक का उच्छत होना है । शीत उष्ण सहन करनेसे शारीरका आयुष्य बढ़ता है, हानिलाभका ध्यान छाड़कर कर्मव्यवहार होनेसे कर्मव्यवहार कार्य करनेका उत्साह कायम रहता है । इधो प्रकार अन्य ब्रह्म सहन करनेमें अपना बल बद्ध जाता है । शारीरिक, मानसिक, वैदिक और आध्यात्मिक बल बढ़ानाही उच्चता प्राप्त होनेका फल है । यही बात " धर्म ध्यानः तपसा उदात्तिष्ठत् । " अर्थात् " उन्नतता धारण करनेके लिये सहन करनेसे उत्पन्न होता है । " इस मंत्रभागमें स्पष्टता से कही है ।

ब्रह्मचारी ही श्रेष्ठ जनका प्रचार करता है । पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्मचर्यके सुनिष्ठाका पाठन करनेके पश्चात् जब वह, ज्ञानी बनता है, और अपनी योग्यता उच्च बनाता है, तब उससे श्रेष्ठ जनका प्रचार होता है वह भाव " तस्मत् उपेतं ब्रह्म ज्ञानं " इ । मंत्रभागमें कहा है । ज्ञानका प्रचार होनेके पूर्व जिस प्रकारकी योग्यता चाहिये, उस प्रकारकी योग्यता इस मंत्रमें कही है । सत्य धर्मज्ञानके प्रचारक, वैज्ञानिक हों अथवा भौतिक हों, पंगु वे एक प्रकारसे ब्रह्मचर्यका पूर्णता स्मरणार्थक चाहिये । एक प्रकार ब्रह्मचर्य समाप्त करके धर्म और तपमें अपनी उत्तमता सिद्ध करने प्रसन्न हो तब प्रचारके धर्मोद्देशोंमें ही ब्रह्मचर्यकी श्रेष्ठ जनका प्रचार हो सकता है । अन्य उपदेशक सत्यधर्मके प्रचारके लिये योग्य नहीं हैं ।

तथा यही ज्ञानी और अनुष्ठानी ब्रह्मचारी " देवः अमृतैः सार्द्धं " सब देवोंको अमरपन्नके साथ मिला देता है । यहाँ देव ' शब्दसे व्यवहार करनेवाले मनुजम लेना सुक्त है । " भूदेव " ब्रह्मणो दे, वीर्यका नाम " क्षात्रदेव " है, वेदोंको " धर्मदेव " कहते हैं, तथा शूद्रोंको " कर्मदेव " कहते हैं । ये चारों प्रकारके तथा निवाह आदि पंचम " वनदेव " भी एक ब्रह्मचारीके उपदेशसे अमरपन्न प्राप्त करते हैं । इस प्रकार सबको अमृत प्रदान करना, इस प्रकार सुयोग्य सत्य धर्मज्ञानी उपदेशककी ही साध्य हो सकता है, इस लिये नेदमें अन्यत्र दृष्टा है-

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुत्कृष्टम् । तां पुंरं प्रणयामि वः ।
तामा विगतं, तां प्राविशत । सा वः शानं च वर्मं च परत्तुषी ।

“महाचारियोसे ही ज्ञानकी उत्पत्ति होती है । उस ज्ञानकी नगरीमें आपको में ले जाता हूँ । उसमें प्रवेश श्रमिये, उसमें सुख अ इये । यह ज्ञानकी नगरीही आपको सुख और संरक्षण देवे ।”

यह ज्ञानका महार है । पूर्वोक्त प्रकारके सत्ये महाचारीही इस ज्ञानकी उत्पत्ति करते हैं । अन्य बतने-सुख उपर्यथाको ये यह पवित्र कार्य नहीं हो सकता । यह ज्ञानकी नगरी ज्ञानियोके विचारक्षेत्रमें हुआ करती है । जो सज्जन उस विचार क्षेत्रमें पहुँच जाते हैं, उसमें सुख आते हैं और वहाँ निवास करते हैं । उन्हेंही सच्चा सुख और सच्चा संरक्षण प्राप्त हो सकता है । इस ज्ञानकी नगरीका मार्ग महायैद आश्रम ही है । कोई दूसरा मार्ग इस नगरीतक नहीं जाता ।

वास्तविक रीतिले हरएकको इस पवित्र भूमिमें जाना चाहिये । जो इसमें प्रवेश होता है वह देवताका अंग बन जाता है, देखिये—

महाचारी चरीत वैश्वद्विपः न देशानो मयैयैकमहम्पु
(श्लो० १०११-११५, अथ० ५११-१०५)

“महाचारी (विपः) सारुभोको (वैश्विपु चरीत) काता हुआ चलता है, इसलिये वह देवताका एक अंग बन जाता है ।”

महाचारी निरमानुकुच व्यवहार करता है तथा शकर्म दसतापूर्वक करता है, इसलिये वह देवताका अंग बन, भाग हिंसा अंग सम्प्राप्त जाता है । कोई इसको साधन मनुष्य न समझे । महाचारी साधारण मनुष्य नहीं है वह देवताका अंग है । परंतु जो निरमानुकुल चलनेवाला होता है वही इस प्रकार भ्रष्ट है, न कि नरको महाचारी भ्रष्ट होता है ।

पुरु मंत्रके प्रारंभमें महाचारीका रहना सहना अर्थात् सीधा पाया होनेकी सूचना दी गई है । शालोकैकल अथवा वृष्णाजिनकी उसका ओहनेका वक्ष है, सीत निवाणार्थं अग्नि जल नेवा साधन समिधायै शिष्ट है, इजापत आदिका संश्लेष नहीं है । इस प्रकारका सीधा सीधा महाचारी होना चाहिये । अर्थात्क एविलेसाधेयनका स्वर्णचन होना संभव है, जतना होना आवश्यक है । खादीका लगेट, सादीकी घोती, उपासीय और सुकता, काका कंधल यही महाचारीका पोशाक है । इसप्रकार सादीकी साथ महायैद नियमोंका उपाय प्रकारसे पालन करता हुआ, अपने आपमें पवित्र बननेके कर्ममें दृष्टिगत होकर,

विद्याधयन वही महानतमे करता है और सुकलताके साथ एक सता प्राप्त करता है । इस रीतिले विद्याधयन समाप्त करनेके पश्चात् वह अनपद्वे प्रमण करता है और लोकप्रथम करता है । एकविचारसे लोगोंको एंग्रित करके, उनको महान् कर्ममें प्रेरण करना “लोक-मंत्र” का तात्पर्य है । जनता की उत्पत्ति करनेके लिये इस प्रकार यह कार्य करता है, वारंवार प्रमण करके व्याख्यानदि द्वारा यह संवेत आगृहीत कर देता है । पूर्वमें उपाय सुगुप्तक यह प्रचार करता करता पहुँच जाता है, अर्थात् पूर्व अवस्थाले उच्चतर अवस्थालक वह लक्ष्य पहुँचना है और जनताको पहुँचना है । इस प्रकार महायैदधर्मरूपी पूर्व अवस्था से गृहस्थाधर्मरूपी उत्तर अवस्थाको वह प्रसन्न करता है ।

“समुद्र” (सं-उत्पत्तु) शब्द हलचलवा वाचक है (सं) एक होकर (उत्) उत्कर्षके लिये (इ) गने अथवा हलचल करनेका नाम समुद्र है । इस समुद्रमें अब वह अपनी नौका-वहाने को सिद्ध होता है । जनताकी उत्पत्ति करनेके लिये जो जो हलचल करल, आदर्शक है वह हलचल अब वह करने लगता है ।

महाचारीकी हलचल ।

उपनयन मंत्रमें कहा है कि प्रथम अवस्थामें महाचारी माता-पिता और परवारके मोहजालको तोड़कर, अपने आपकी मृग्युके लिये समर्पित समस्त कर, सब प्रकारके कष्ट और क्लेश सहन करनेके दृढ निश्चयके साथ, गृहहस्तुष निवासकर विद्याधयन प्राप्तिके कार्यामें लगा हुआ था । इसी अवस्थामें वह विद्याधयनप्रतिष्ठक रहा, सीधासाधा रहना सहना और उच्चविचार करना यही समाधि उपाय बन गया था । अब वह विद्याके गर्भसे बाहर आगया अर्थात् अब वह द्विज बना, तब वह (ब्रह्म) सत्यतया प्रचार करने लगा, सत्यज्ञानके प्रचारसे लोगोंको (अयः) सारुभोका उपदेश उतने दिया । सत्यज्ञान तथा सारुभोका ज्ञान जनतामें और होनेसे जनतामें स्वर्णव्य आगृहीत उपाय हो गई इसका परिशिष्टतरी आगृहीतसे (लोक) लोगोंको अपने वास्तविक स्थानका पता लगा । हमारा अन्तसिद्ध अधिकार यह है, यह हमारी योग्यता है, इसीकी उत्पत्ति इस रीतिले हो सकती है, इसीदि जातीका ज्ञान जनतामें हुआ । इतनाही बोके यह महाचारी सुप न रहा, पंगु उतने (प्रजा-पति) प्रजाके पालन करनेवालेके धर्म सी बताये । रामाको इस

प्रकार बनाय करना चाहिये, अधिकारियों के कर्तव्य हैं, इत्यादि सब उक्त प्रकारसे बताया। साथ साथ परमेश्वर परमेश्वरका स्वरूप भी लोगोंको बताया। जगत्का सत्त्वः निरंता वर एक ही परमेश्वर है, उसके सम्मुख राजा और प्रजाके प्रत्येक मनुष्यको खड़ा रहना है, वही सबका भद्रचा न्यायकारी है, इत्यदि उसीको सर्वोपरि मानना उचित है, इत्यादि सत्य व धर्मावुल्लसर्वोका उन्हांने उपदेश किया।

इस प्रकार ब्रह्मचारीके द्वारा जो जाग्रति हो गई, उससे राष्ट्रके सब लोगोंको पता लगा कि, वे सुख हैं और ये अशुख हैं। अशुखोंको दूर करन और सुखोंके अधिष्ठात्वमें राष्ट्र रहे बिना सत्य धर्मकी स्थिरता नहीं हो सकती। ऐसा निश्चय होंने ही सब जनताने उसी की अपना इंद्र अर्थत् प्रमुख बनाया। और अब वह अशुखोंको दूर करनेकी तैयारीमें लगा है। पहिले जो केवल ज्ञान प्रसारके कार्य करता था, वही अब क्षात्रधर्मका पुद्गार करने लगा है। "इन्द्र" शब्द "(इन्) शत्रुभोका (इन्द्र) विदारण कामेवाला" इस अर्थमें यहाँ है। इस मंत्रमें ज्ञात होता है और अनुमान होता है कि, ब्रह्मवर्ष अवधामें जो अध्ययन होता है, उसमें ब्रह्मवर्षमें के साथही क्षात्रतन्त्रका भी संवर्धन होना आवश्यक है। हरएक मद्रवारीको मद्र-क्षत्रधर्मका पूर्ण अध्ययन करना चाहिये। जनताके हित करते समय जो जो कार्य आश्चर्य होगे, उनको तत्पराके साथ क्रमिक बल और शक्ति उसमें चाहिये। यह आशय यहाँ इस मंत्रमें प्रतीत होता है,

अब वही ब्रह्मचारी इंद्र अर्थात् क्षात्र दलका मुख्या बन कर (असुरान ततई) असुरोंको भगा देता है। "ततई" शब्द विनाश करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। असुर वे होते हैं कि, जो संपूर्ण जनताके उपर देनेवाले होते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें अ० १६.श्लो० ६ से १८ तक असुरोंके लक्षण कहे हैं। "निराश्रवादी, नगरीक गर्विष्ठ, पंचमी, स्वार्थी, दुष्ट, भोगी, कामी, क्रोधी आश्रयचारी, क्रू" आदि असुरोंके लक्षण वही दिये हैं। सब धानक प्रकृतिके लोग असुर होते हैं। सब जनत इनसे प्रत्य ही है, इसीसे उक्त ब्रह्मचारी जनताका मुखिया बनकर इस प्रकारके असुरोंको दूर करके जनताको शान्ति देता है। यही ब्रह्मचारीका आत्मव्यय है।

आठवें मंत्रमें कहा है कि, "आचार्य तत्सु" अर्थात् "आचार्य आकर बनाता है।" "तसु" धातुका अर्थ तर्जानके द्विपारोधि काम करना, आकार बनाना, लकड़ीसे विविध

पदार्थ बनाना, कल्पनासे नरीन यंत्रादि को रचना योग्य रीतिसे बनाना " है। इन धातुय 'तसु, तसु-न्'वे शब्द बने हैं, जिनका अर्थ "बर्द्ध, लकड़ीका काम करनेवाला, लकड़ीमें विविध आकार बनानेवाला " ऐसा होता है। " तसुग" शब्दका भाव बटना ही है, तथा बर्द्धके औजार द्विपार आदि का नामही 'तसुग' है। इसमें पाठकोंकी विदित होगा कि, " तसु" शब्दका भाव " आकार पड़ना है। " गुठ आचार्य का भाव " परमेश्वर " भा है, योगदर्शन में भगवान् परंजली महामुनेने कहा हा है कि—

स पूर्वैरामपि गुरुः कलिनानवच्छेदात् ॥ (यो, द.)

- बर्द्धेश्वर प्राचीनोका भी आचार्य है क्योंकि वही कालकी कोई सर्वोदा नहीं है। " इस कल्पमें आचार्योका आचार्य और गुरुभोका गुरु परमेश्वर है। और वह पृथिवीमें ऊँकर गुणोके तत्के संपूर्ण पदार्थोंके आकार बनाता है। भाव स्पष्ट ही है। जो कर्म परातर गुरु परमेश्वर करता है, वही कार्य यही शिष्य-वर्ग मानसिक सृष्टिमें गुरु करता है। संपूर्ण सृष्टि ही यथावत् कल्पना शिष्यके मनमें उत्पन्न करना, यह काम आचार्यका ही है इस दृष्टिमें कहा जा सकता है कि गुरु शिष्यके लिये पृथ्वी और गुणोके बनाता है। सृष्टिको कल्पना हमारे ज्ञानमें ही है, सृष्टिके लक्षण जितना ज्ञान हमें होता है, उनको ही सृष्टि हमारे लिये होती है। जिन पदार्थोंका ज्ञान हमको नहीं होता, उन पदार्थोंका अस्तित्वही हमारे लिये नहीं होता। अर्थात् ज्ञानपूर्वक ही सृष्टिका अस्तित्व हमारे लिये हुआ करता है। इस हेतुसे भी कहा जा सकता है कि आचार्य जिन जिन पदार्थोंका ज्ञान देता है, साथ साथ वे पदार्थ भी देता है। आचार्य पृथ्वीमें ऊँकर गुणोके पदार्थ सभी पदार्थोंका ज्ञान देता है इसलिये उक्त लोकही शिष्यको समर्पित करता है।

जो इस समय आचार्य है, वही एक समय शिष्य तथा ब्रह्मचारी था। उस समय उसके गुणने त्रिभुवनविषयक जो जो ज्ञान उसको दिया था, उसका संरक्षण करके उसने आचार्य बननेके पश्चात् वही ज्ञान अपने शिष्यको दिया। ज्ञान देनेके श्रवण उतर जाना है। इसी प्रकार इस शिष्यकोभी उचित है की वह गुण प्राप्त त्रिभुवन और उपका ज्ञान अपने पास रखिन रहे। इसी मंत्रमें कहा है कि "ते रक्षात तपसा ब्रह्मचारी" अर्थात् "ब्रह्मचारी अपने तपसे उनका रक्षण करता है" आचार्य जो जो बत शिष्यके लिये पबटा है, बनाता है तैयार

कर देता है अथवा ज्ञानरूपे देता है, उसका संरक्षण शिष्य करता है अथवा प्राप्त ज्ञानका संरक्षण शिष्यको करना चाहिये। ज्ञानरूपसे शिष्यजनकी स्थिति गुरुशिष्यके मन्त्रमें है, वह बात जो जान लेंगे, वे इस मंत्रका आशय ठीक समझ सकते हैं।

मंत्रके आत्म भागमें कहा है कि, उक्त प्रकारके " मन्त्रचारीमें उसके मन्त्रके साथ अनुकूल मन धारण करके सब देव रहते हैं।" प्रथम मंत्रके स्वर्णकरणमें इसका विचार हाही युगा है। इस प्रकारके सुयोग्य मन्त्रचारीकी सब इच्छाओं और अवश्य उचित मनकी इच्छाओं अनुकूल रहने हैं, यह संयम ही जाता है। मन आदि आत्मिक इन्द्रियोंका दमन और सब बाह्य इन्द्रियोंका दमन होनेसे यह दाम्भ और शान्त होता है। यही संयम है। जिसको पूर्ण 'रितिसि' सं-यम" सिद्ध होता है, उसका नाम " यम " है और उत्तम यमवा नामही "सं-यम" है। इससे पाठक जान सकते हैं कि, ज्ञान प्रदान कायरण मन्त्रचारी दाता है, यही भागे आकर वाचार्थ बननेसे पूर्व " यम " अथवा " सं-यम " बनता है। वाचार्थका ही नाम "यम" होता है।

मन्त्रचारीकी शिक्षा ।

मन्त्र चारणा कथन बन दसव मन्त्रचारी गुरुके पास जाता है और उससे दोनों लोकों का मन्त्रज्ञान लेता है। मन्त्रोक्तकी शिक्षासे उसको सब भोगोंकी प्राप्ति होती है और धर्मोक्तकी शिक्षासे उसको आत्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार शारीरिक और आत्मिक पुत्रिबह मन्त्रचारी प्राप्त करता है। पृथिवी और बुलोक का संबंध शारीरिक और आत्मिक अभिप्रायके साथ है, यह पूर्व स्वप्नमें बात दी है, तथा इन लोकोंके अंश अपने शरीरमें कक्षा रहते हैं, यह भी पहिले पत वा हां है। आचार्यके पाससे यह ज्ञानमय शिक्षा प्राप्त करता है और आचार्य अपने शिष्यको पूर्णतः कर चुनौतियुक्त संपूर्ण मन्त्रकी शिक्षा अर्पण करता है। पृथिवी और बुलोकके अंदर संपूर्ण विश्व आगया है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नतिके संपूर्ण साधन इस शिक्षासे उस मन्त्रचारीको प्राप्त होते हैं।

मन्त्रचारीका आत्मयज्ञ ।

जब इस प्रकार परिपूर्ण साधनोपे संयम हो जाता है, तब वह मन्त्रचारी उक्त दोनोंसे भोगोंकी दो समिधायें बन कर रहने करता है। इस ज्ञानवशमें उस मन्त्रचारीको

अपनी सब शिक्षा अर्पण करनी होती है। यही उसका स्वर्ण-रसाग है। जो प्राप्त हुआ था, वह सबकी मलाईके लिये अर्पण करनेका नाम ही आत्मयज्ञ है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक कृत्तियोगका समर्पण करके अंतमें अपनी पूर्णोद्भूति देकर, इस स्वर्णयज्ञ ही समाप्ति होती है।

जो कुछ प्राप्त किया जाता है, उसका समर्पण समष्टिकी मलाईके लिये करनेका नामही यज्ञ है। समष्टिका एक अंग व्यर्थ है। समाजका एक अंग एक व्यक्ति है। इस कारण व्यक्तिही अंतिम धकलता, संपूर्ण समाजकी पूर्णताके लिये अपने आपकी समर्पित करना ही है। यही यज्ञ है, यही पूजा और उपासना है। जो जिसके पास पाप है, उसका स्वयं संपूर्ण समाजके उद्वेगके लिये करनाही उस दायित्वा सबसे उत्तम उपयोग है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ मन्त्रचारी करता है।

दो कोश ।

दसवें मंत्रमें दो कोशोंका वर्णन है। एक बुलोक का कोश है और दूसरा बुलोक का कोश है। दोनों बोधा मन्त्रकी बुद्धिमें रहते हैं। मन्त्रानु-यायित गुरु अपने शिष्यको जो उक्त दोनों लोकोंकी शिक्षा देता है, वह अपनी बुद्धिसे ही देता है। विद्वान् ही बुद्धिमें पृथिवी, अंतरिक्ष और बुलोक तथा सब अन्य विश्व रहते हैं और वह ज्ञान अपने शिष्यको उपदेशद्वारा उनका प्रदान करता है। इस मंत्रसे यह बात स्पष्ट हो गई है कि पृथिवी और बुलोक वस्तरमें ज्ञानीकी बुद्धिमें हैं, बुद्धिमें ही संपूर्ण जगत् का निवास है। ज्ञानी अपनी इच्छापूर्वक बुलोकका उक्त विश्वका दान करता है।

कोशरक्षक मन्त्रचारी ।

आचार्यके पाससे उक्त दोनों कंदा शिक्षाकी बुद्धिमें आते हैं, अर्थात् पृथिवीसे लेकर स्वर्गपर्यन्त संपूर्ण ज्ञान उसको प्राप्त होता है। अब विचार करना है कि, इन दोनों खजनोंका किस रीतिसे संरक्षण होता है। मंत्रमें हा कहा है कि, "तपसे" संरक्षण किया जाता है। जो मन्त्रचारी तप करता है, शीत, उष्ण आदि दंड सहन करनेको शाप बढाता है, यही उक्त कोशोंका संरक्षण कर सकता है। तपके बिना, ब्रह्म सहन करनेके बिना उनका संरक्षण नहीं हो सकता, यह बात इस मंत्रमें स्पष्टतासे बही है।

दो अग्नि ।

ग्यारहवें मंत्रमें अग्निर्गोत्रा वर्गन है । पृथिवीपर एक अग्नि है और सुनोत्रमें दूसरी अग्नि स्वरूपमें है । ये दोनों प्रकाश किरणोंके बीचमें अर्थात् अंतरिक्षमें मिल जाती है । इनकी धरिमें सर्वत्र फैलती हैं, और ब्रह्मचारी उनका अधिकारी होता है । पूर्व दोनों मंत्रोंके साथ इस मंत्रके कथनकी तुलना करनेसे बोधित होगा कि- (१) दोनों लोकोंकी भिक्षा, (२) बुद्धिमें रहनेके लिये दोनों कोश, (३) तथा दो लोकोंकी दो आत्मिये सब एकही मुख्य बतलाता रहे हैं ।

शरीरमें मूल्यानाय जाठर अग्नि और घृष्मनाय मस्तिष्क निवासी सूर्य अग्नि है । जाठर अग्नि और मस्तिष्कना चेतन्य कामिन इनका मिलान बीचमें हृदयके स्थानमें होता है । वहांसे ही सब स्थानोंमें किरणें फैलती हैं । इस प्रकार ये दोनों अग्नि हैं ।

ऊर्ध्वरेता मेघ और ब्रह्मचारी ।

बारहवें मंत्रमें मेघोंका ब्रह्मवर्ष कहा है । वृष्टि करनेवाले मेघ बड़ी गर्जना करते हुए वृष्टि करते हैं और सबको जीवन देते हैं । दूसरे कई मेघ होते हैं वे जलहान होते हैं परंतु बड़ी गर्जना करते हैं; इनकी गर्जनासे जनताका केवल बहदही होने है । इसका कारण पड़िले प्रकारके मेघ (ऊर्ध्वरेताः) जलमें भरपूर होते हैं और दूसरे प्रकारके मेघ (निर्वाय) जलहान होते हैं ।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरेता तेजस्वी ब्रह्मचारी मेघनादेक समान अपनी बड़ी विशाल आवाजमें ब्याख्यान देकर अपने ज्ञानामृतकी वृष्टि करता है और जनतामें " नवजीवन " फैलाता है । परंतु दूसरे कई निर्वाये उपदेशक ऐसे होते हैं कि जो स्थानस्थानोंका घट टोप करत हैं, परंतु उनके सोखने ब्याख्यानोसे किसीका भी लाभ नहीं होता । इसका कारण पढ़नेमें सीधेके साथ तप हाँता है और दूसरेमें दोनों नहीं होते ।

बड़े ब्रह्मचारीका कार्य ।

तेरहवें मंत्रमें सबसे बड़ा ब्रह्मचारी परमात्मा है । वह अग्नि, सूर्य, चंद्र, वायु, जल आदि देवताओंमें विशेष प्रकारकी समिधयें डल देता है । उस समिधसे उत्पन्न देव अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं । अग्नि, सूर्य आदि देव परमात्मके तेजसे प्रकाशते हैं, वायु परमात्मके बलसे बहता है, जल सधोकी धारिसे दूसरोंको शांति दे रहा है । अर्थात् परमात्मा अपनी शक्तिसे समिधा इनमें रचता है, उस कारण अन्योदि देव अपना

कार्य करते हैं । प्रत्येक देवतासे मिल मिल तेज उत्पन्न होता है और वह तेज अंतर्निक्षेप इन्द्रा होता है । इससे वृष्टि और जल होता है, जलमें वृक्षरक्षणतिथी, उसमें अन्न, अन्नसे बीर्य और बीर्यसे पुष्टय चिक मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है । यह बड़े ब्रह्मचारीका अग्रतम कार्य होता है ।

छोटे ब्रह्मचारीका कार्य ।

अब छोटे ब्रह्मचारीका कार्य देखिये । छोटा ब्रह्मचारी वह है, जो कि गुरुके घरमें जाता है और यमनिदमादिकोका पालन करके विद्यध्ययन करता है । परमात्मा में जो (१) अग्नि, (२) सूर्य, (३) चंद्र, (४) वायु (५) जल आदि देवता हैं, उनके अंश इस ब्रह्मचारीमें कमशः (१) वाक् (२) नेत्र, (३) मन, (४) प्राण, (५) बीर्य आदि है । यह छोटा ब्रह्मचारी अपना समिधा इनमें जालता है और इनको प्रयत्नित करता है । वक्तृत्वशास्त्र, दृष्टि, विचारशास्त्र जीवनकी कला, और बीर्य तथा अन्योन्य सन्निधोका विद्वत्स कामना इस छोटे ब्रह्मचारीका कार्य है । अपनी सबकी आत्मिक शक्तिकी समिधा वह अपनी सक्त अग्निमें डालता है और उनको प्रयत्नित अर्थात् अधिक तेजस्वी करता है । जब तक शक्तियां बट जाती हैं, तब मनगी उबलकर अंतर्निक्षेप अर्थात् अंत कारणमें रिखा हृदयमें मिल जाती है । धाम्नी, नेत्र, कर्ण, मन, प्राण आदिका संबन्ध अंतःकणमें री जाता है, उससे एक प्रकारका विलक्षण तेज उत्पन्न होता है, जिसेते पुष्टयको प्राप्ति है होती है, उससे ज्ञानकी वृष्टि हमेंसे स्वप्न शांति फैलती है ।

छोटे और बड़े ब्रह्मचारीके ये कार्य देखने योग्य हैं । इन कार्योंकी देखनेसे दोनोंके कार्यक्षेत्रोंकी समानता स्पष्ट होती है । यही समानता देखने योग्य है । आराम परमात्माका कार्यक्षेत्र और गुणवाचक्य इस प्रकार देखने योग्य है ।

आचार्यका स्वरूप ।

बौद्धमें मंत्रमें आचार्यको ही मृत्यु कहा है । क्योंकि उसकी कृपासे दुष्टता जन्म प्राप्त होता है और शिष्य, 'दि-ज' बनता है । पहिला जन्म मातापितृसे मिलता है । पहिले जन्मसे प्राप्त शरीरका मृत्यु अथवा मरण उपनयन-संस्कारके समय होता है, तत्पश्चात् उस ब्रह्मचारीका आत्मा विद्यादेवीके गर्भमें रहता है । विद्या और आचार्यके गर्भमें निवृत्त समय अर्थात् १२, २४, ३६, ४८ वर्षोंतक रहकर उस गर्भसे बाहर आता है वह उसका दुष्टता जन्म है । परमात्मका नाम मृत्यु है । इससे कि वह पहिले की शरीरको पुनर्वाकर दुष्टता कार्यक्षेत्र नवने शरीर

देता है। आचार्य भी वही कार्य संस्काररूपसे करता है इत्यन्तये आचार्य भी मृत्यु ही है।

आचार्य ब्रह्म है। यद्यपि निवारकको कहते हैं। यन्त्रसे निवारण करता है, और पुण्यभारमें प्रवृत्त करता है, इस लिये आचार्य ही ब्रह्म है। ब्रह्म दान्द वान्म अर्थात् प्रेक्षावदकी भी है। स्वार्थीको प्रेक्षा स्थापित ही है। आचार्यका अर्थ ही वह है कि (आचार्य प्राइदति) जो सदाचारकी शिक्षा देता है।

आचार्य सोम अर्थात् चंद्र है, चंद्रके समान शक्ति और अद्भुत देनेका कार्य आचार्य करता है। अचार्यसे जो विद्या प्राप्त होती है, वह शिक्षके श्रेष्ठःवरुणे शक्ति और अद्भुत विद्यार करनेके लिये कार्यात्मक होती है। "साम" शब्दका दूसरा अर्थ (स-उमा) यनी एवा भी है। "उमा" शब्द अरुणके विद्या अथवा ज्ञान शिवा मूलशक्ति का वाचक केन उपनिषद् (३।१२) में आया है। वही उमा शब्दका "इष्टाद्य" अथवा "मूलशक्ति" ऐसा अर्थ होता है। (श्रवत इति उमा) जो रक्षक निद्या विद्या शक्ति होती है, उसका नाम "उमा" है। उम प्रकारको स शक्त विद्या जिसके पास होती है (उमया सहितः क्षीमः) उसको ज्ञानी अथवा समर्थ कहते हैं।

अचार्य औषधि है। औषधि शब्द "दोषघ्नी" शब्दसे निष्पन्न (निष्ठा ० दे० ३।३।२८) बनाते हैं। दोषोंको दूर करनेका और स्वार्थ्य प्राप्त करनेका काम अंधेका है। वही कार्य आचार्य करता है शिक्षके दोष दूर करके उसके अंदर (स्व-स्य-त्वा) सवर्त्मन अर्थात् अपनी शक्तिमें खड़ा रहनेका बल आचार्य देता है, इस कारण आचार्य ही औषधि है।

आचार्य दूष है। "पयः" शब्दका अर्थ "दूष, जल, धार्य, अन्न, बल, उसाह" इत्यादि हैं। इन सब अर्थोंका भाव "गुणिका साधन" इत्यादि हैं।

पंद्रहवें मंत्रमें गुरुशिवके सहवासका महत्त्व कहा है। जो काम विशेषतः शिक्षकी होता है वह गुरुसहवाससे ही होता है। मंत्रमें "अमा" शब्द सहवास, अर्थात् सत्य रहने का भाव बता रहा है। सूर्यके सहवासके अंतरात्तका नाम "अमा" अथवा "अमावास्या" है। यहाँ सूर्य स्वयं प्रकाश ही होनेसे गुरु शिवा आचार्य है और चंद्र परमकृपा शिवा सूर्यके तेजसेही अकाश-वैशाणा होनेसे उपका शिव है। वह जो सूर्यचंद्रका सहवास "लमा-वास्या" के दिन होता है, वही सहवास गुरुशिवके विषयमें वहाँ "अमा" शब्दसे बताया गया है। आचार्य-

रूपी सूर्यके विद्यानेत्रसे शिक्षकी चंद्रमा प्रकाशित होता है और ये सूर्यचंद्र विद्यापदमयी समाहितक पृथग्रही रहते हैं। इतनाही नहीं पातु वहाँ का "अमा" शब्द सूचित कर रहा है कि गुरुशिवका सहवास विद्यापदमका सत्य किनक व्यवस्था ही होना चाहिये। निजत समस्त पदार्थोंके लिये गुरुका ज्ञान और पदार्थोंके पदान् बल जना, अद्भुतका वह वंग ठीक नहीं है। गुरुके निरंतरके सहवाससे ही शिक्षकी अर्थात् साम पटुषणा है। इसी अर्थमें गुरुज्ञानवाची प्रणाली बनने लगी है। गुरुके यों अर्थके पुत्रके समान शिक्षा रहता है, इस समय में वह गुरुके सब गुण देखता है और उनका अनुकरण करता है। गुरु शब्दके निष्पन्न सहवाससे अर्थात् ज्ञान है और इस समय उन लोगोंको सबही मानने लगे हैं।

इस मंत्रमें "पृत्" शब्द है। "पृ-रक्षण-दीप्ती" इस धातुमें बहु शब्द बनना है। (१) प्रवाह चलना आर (२) तेज फैलना ये दो अर्थ "पृ" धातुके हैं। पृत् शब्दमें भी ये दोनों अर्थ हैं। गुरु-शिवका सहवास पृत् करता है, यह मंत्रका अर्थ है अर्थात् गुरुशिवके सहवाससे विद्याका प्रवाह चलता है और ज्ञाननेत्र फैलना है। इस समयके ज्ञानका प्रवाह गुरु-शिवसंबंधसे ही हमारे पास पहुँच है। और वहाँ ज्ञान मनुष्योंका तेज बढ़ा रहा है, इसमें विवाद नहीं हो सकता।

अब वहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि, गुरु अपने शिक्षके किस प्रकारको गुरुदक्षिणा मागता है? गुरुदक्षिणाका स्वरूप बताने-वाला शब्द इस मंत्रमें "प्रत्रा-पनी" यह है। यह गुरुदक्षिणा "प्रजके पालन करनेके विषयमें" होती है। प्रजके पालनके विषयमें अथवा जानताके दितके संबंधमें ही दक्षिणा होती है। अर्थात् गुरु अपने स्वार्थका साधन करनेके लिये दक्षिणा नहीं मागता, अथवा आचार्य ऐसी दक्षिणा मागता है कि जिससे सब जनताके पालनमें वही कुछ भाग बन सके। यह आचार्यका सार्वजनिक हित करनेका निःस्वार्थी भाव देखने योग्य है। उस प्रकार आचार्य स्वयं शिक्षकी बना रहा है कि मूलमें प्रजाजनोंके पालनके विषयमें उचित हर्षव्यय करनेमें अपने आपकी समर्पित करना ही मनुष्यका अनुष्ठान है, और राष्ट्रीय शिक्षाका यहाँ लक्ष्य है। गुरुके समान शिक्ष्य भी प्रज पालनार्थके हर्षव्यय अपना हिसाब करके अपने आरको उत्तम नागरिक सिद्ध करे।

स्वराज्यमें संपूर्ण नागरिक जन प्रजापालनार्थक कार्य कर-
नेवाली " प्रजा-पति संस्था " के अंशभूत ही होते हैं, इसलिये
प्रत्येक अंशभूत नागरिकको संपूर्ण अंशों राष्ट्रके लक्ष्यपुद्गलके
लिये अपने कर्तव्यपालनकी पराकृष्ठा करना अत्यंत आवश्यक ही
है।

सोलहवें मंत्रमें कहा है कि "आचार्यः ब्रह्मचारी" अर्थात्
"राष्ट्रमें जो अध्यापक होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने चाहिये।"
ब्रह्मचारीका अर्थ यहाँ विवाह न किये हुए सज्जन, ऐसा नहीं
समझना चाहिये। विवाह करनेके पश्चात् भी श्रुतुगामी होनेसे
तथा अन्य नियमोंका परिपालन करनेसे ब्रह्मचारी रहना संभव
है। छोटे मोटे सबही अध्यापक तथा अन्य सज्जन जो कि
नागरिक कार्य करनेमें लगे होते हैं, वे सब ब्रह्मचारी होने
चाहिये। कामी, भोगी, लोभी तथा स्वार्थी नहीं होने चाहिये। जब
ब्रह्मचर्यका महत्त्व सब अध्यापकोंको ज्ञात होगा, तभी वे
अपने शिष्योंको उसकी दीक्षा दे सकते हैं। और इस प्रकार
जो बात अध्यापकों द्वारा राष्ट्रके युवकोंके मनमें रिपर की
जाती है, वह राष्ट्रमें दृढमूल ही जाती है।

आदर्श राज्य शासन।

क्षत्रिय भी ब्रह्मचारी होने चाहिये। राजा, महाराजा,
सम्राट्, प्रधान, मंत्री, सेवानायक, सेनिक, प्रसाधिकारी तथा
सब अन्य ओहदेदार स्वयं ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले ही
होने चाहिये। यहाँ ब्रह्मचारी होनेका तात्पर्य केवल बाल्य
अवस्थामें ब्रह्मचर्य पालन करनेसे नहीं है, परंतु आगे गृहस्थी
बननेके पश्चात् भी ब्रह्मचर्यके नियमोंका पालन करनेवाले सब
राजशाधिकारी होने चाहिये। जहाँ ऐसे अधिकारी ब्रह्मचारी
न होंगे वहाँका प्रबंध ठीक धर्मानुसार नहीं हो सकता। प्रजा-
पालनका कार्य जो जो अधिकारी करता है, उसे सचित है कि
वह ब्रह्मचर्यके पात्रके साथ संयमी बनकर अपना कार्य करे।
राज्यके प्रथम अधिकारियोंको भी यहाँ सूचना मिलती है कि
आहूदेदार निवृत्त करनेके समय वे उसका अन्य योग्यता देखने-
के साथ यह भी बात अवश्य देखें कि वे ब्रह्मचारी और धार्मिक
हैं या नहीं।

जिस राज्यमें ज्ञानप्रचार करनेवाले विद्याधिकारी और
संरक्षणका कार्य करनेवाले शाखाधिकारी उत्तम ब्रह्मचारी होंगे
यहाँ की राज्यप्रवृत्तिका कृपा कहना ही यही " आदर्श राज्य-
व्यवस्था " सेवकां हाँसे है। इस समय में राज्य इस

मूर्खदलपर चलाने जा रहे हैं, वे भोगी लोग चला रहे
हैं। भोगी लोग ही आधुनो संपात्तिवाले हुआ करते हैं। भोगी
अधुरोंसे प्रजाको कष्टही पष्ट पहुंचते हैं। इसलिये मंत्र ७ में
कहा है कि, " ब्रह्मचारीने इंद्र बनकर अधुरोंको दूर किया।"
भोगी अधुरोंको दूर करके योगी संयमी जिर्णोदय ब्रह्मचारी-
योको ही अधिकाररर लाना ब्रह्मचारीका राजकीय हलचलका
कार्य होता है।

ब्रह्मचर्यसे राष्ट्रका संरक्षण।

राजा, राजपुरुष आदि क्षत्रिय, तथा आचार्य और अध्यापक
आदि ब्राह्मण, स्वयं ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले होने चाहिये,
इस विषयका उपदेश मंत्र १६ में दिया है। अब इस १७ वें
मंत्रमें कहा है कि राजप्रबंधमें तथा पाठशाला, ग्रहकुल आदिके
प्रबंधमें राष्ट्रके ब्रह्मचर्यका पालन होवे।

राजा अपने राज्यमें ऐसा शासनका प्रबंध रखे कि सब
अधिकारी ब्रह्मचर्यपालन करनेवाले ही और वे अपने अधि-
कार क्षेत्रमें रहनेवाली जनतासे ब्रह्मचर्यका पालन करावें। इस
प्रकार प्रत्येक अधिकारी व्यवस्था करेगा तो संपूर्ण राज्य
ब्रह्मचर्यपालन करनेवाला बन सकता है। ब्रह्मचर्यका ता-पर्य
यहाँ संयम है। राज्यमें बाणविवाह न हो, विवाह योग्य
समयमें हो, विवाह होनेपर इंद्रिय विषयक अत्याचार और
अभिचार न हो, संयम और त्यागवृत्तिसे व्यवहार किया जावे
इस प्रकार मरनेतक ब्रह्मचर्य पालन हो सकता है। इस प्रकार-
का ब्रह्मचर्य राज्य-शासनके द्वारा सब लोगोंसे पालन कराके
राजा राष्ट्रका विशेष हीतिसे संरक्षण कर सकता है।

सर्वसाधारण जनता अज्ञानी होनेके कारण सुनियमोंका
पालन स्वयं नहीं करती। परंतु जब राज्यशासनके प्रबंधमेंही
सुनियमोंका पालन होता है, तब वे लोग भी उन नियमोंके
पालन करनेका लभ प्राप्त कर सकते हैं। समाजकी उत्थति
अवनति की अवस्थाके अनुसार नियमोंमें परिवर्तन हो सकता
है। परंतु यहाँ ब्रह्मचर्य, वीर्यरक्षण, बलसंवर्धन, योग्यशिक्षा,
ज्ञानसंपादन, उपासना आदिवा संबंध है। राजप्रबंधमें ही
सब लोग इनको कर और राजा सबसे इनका पालन कराके
जनताका संरक्षण करे। यह इस मंत्रका तात्पर्य है।

कन्याश्रमिका ब्रह्मचर्य।

पूर्व मंत्रमें सूचित हो गया है कि राजा प्रबंधद्वारा सब जनता-
से ही ब्रह्मचर्यका पालन कराके प्रजाका विशेष पालन करता है।

एव जननामें जेने पुत्रोंका वैपरी कन्धाओंका भी प्रज्ञावर्ष पालन होना चाहिये । पुत्रों क प्रज्ञावर्षके विषयमें किमाको संघर्ष नहीं हो सकनी, क्योंकि प्रज्ञावरी शब्द पुत्रिगमें होनेसे पुत्रोंके प्रज्ञावर्षकी आशा वैपरी भेद हो गई है । इस अन्तः रहने मंत्रमें 'कन्धा' शब्दमें आत्मनिके प्रज्ञावर्षकी सूचना हो गई है । अर्थात् बालक और बालिकाओंके लिये समानही प्रज्ञावर्ष है और पूर्व मंत्रके अनुसार दोनोंक प्रज्ञावर्षका पालन राजप्रबंधद्वारा ही होना चाहिये ।

पशुओंका प्रज्ञावर्ष ।

ये ठे दैल आदि पशु पंचमुष प्रज्ञावर्ष ही रहते हैं । अति काममात्र उनमें नहीं हैना । कामुक मनुष्योंके समान पशुओंमें क्रिया नहीं होती । मनुष्योंकी अवेक्षा पशुओंमें स्वार्थसे न्यूनही होता है, इसलिये व आधुमर प्रज्ञावर्षका पालन करते हैं । उनको देखकर मनुष्योंको बहुत बोध लेना उचित है ।

अपमृत्युको हटानेका उपाय ।

उच्चसे मनुष्य कहा कि अपमृत्यु का कनेका उपाय प्रज्ञावर्ष ही है । प्रज्ञावर्ष आधुन्य शक्ति करनवला और रोग दूर करनेवला है । जो प्रज्ञावर्षका पालन करता है, वह मृत्युको दूर कर सकता है । इसी रीतिसे देव अमर बने है । जो दलोंको शाप हुआ वह तपस्यासे मनुष्य भी शाप कर सकते हैं । देवोंका राजाधिराज इंद्र भी अपने अधिक तेजस्वी है, क्योंकि उनसे सबसे अधिक प्रज्ञावर्षका पालन किया था । जो इसवशात प्रज्ञावर्षका अधिक पालन करेगा वह सब आधिक तेजस्वी हो सकता है । प्रज्ञावर्षका तेज उषके मुखपर ही दिख ई देता है । प्रज्ञावारा जिन्दिब पुष्टका मुख कमलक समान तेजस्वी, उत्साही और शूर्वीयुक होता है । इसलिये हरएकको प्रज्ञावर्षका पालन अवश्यमें करना चाहिये ।

औषधि आदिकोंका प्रज्ञावर्ष ।

सर्व प्रज्ञावर्ष है क्योंकि वह प्रज्ञाके सय सवार करता है किंवा तेजके साथ रहता है । इस प्रज्ञावर्षके पूर्वमें संवत्सर अर्थात् वर्ष, ऋतु, मास, दिन, रात्रि तथा भूत वर्तमान और भविष्य वे तीनों काल प्रगट हो रहे हैं । यह पूर्वके प्रज्ञावर्षकी महिमा है ।

औषध वनस्पति भी ऊर्ध्वरेता होनेके वाण प्रज्ञावर्षिकी है । औषधि वनस्पतिद्वारा जनक मेघ बिना पर्वन्ध है । वह

मेघ भी ऊर्ध्वरेता है, वदोकि यह " ऊर्ध्व-रेताः " है । 'ऊर्ध्व' अर्थात् ऊपर धारण किया है, 'रेतः' अर्थात् उदक जियने, एवा मेघ है, इसलिये वह " ऊर्ध्व-रेत " है और हमी हेतुमें प्रज्ञावर्ष भी है । हमी प्रज्ञावर्ष-सूचकके मंत्र १२ में मेघ प्रज्ञावर्षका वर्णन का सुना है । वही कह है कि यह " प्रज्ञावरी मंगलवर्षना करता हुआ पदाश्रयपर और भूमिवा (रतः) उदकका शिवन करता है, उनसे सब दिशायें जीवित रहती हैं । " ऊर्ध्वरेता होनेके वाण मेघमें साष्टका पालन करनेकी शक्ति आगई है, इस प्रकार जे ऊर्ध्वरेता रोग उनमें भी पालन करनेका शक्ति प्रा मकनी है । पूर्व में अपनी दिशायें उदरक्षी रेतके ऊपर खोचना है । मनुष्य भी प्राणके आकर्षणसे बीदके अपने ऊपर खोच सकता है । इस प्रकार मंत्र और मूर्तिके उदाहरणसे प्रज्ञावर्षका माहा म्य वर्णन किया है ।

पशुशक्तियोंका प्रज्ञावर्ष ।

पारिके नैल और चोटेके विषयमें मंत्र १८में कहा ही है कि वे प्रज्ञावर्षी हैं । प्रायः सभी पशुशक्ती प्रज्ञावर्षी है । बंदर आदिमें बीदके नाच करनेका आचाम दिखाई देता है, परंतु साधारणतः पशु शत्रुगामी होते हैं । शत्रुकल्प मित समयमें न तं वे ही के पाम जाते हैं और न छा उनको अपने पास आने देती है । सिद्ध म्य प्र आदि पूर पशुओंमें तो यह प्रज्ञावर्ष और एकपत्नीजन विरोध ही तीत्र है । परमत्मानसे उनमें कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनको शत्रुहानिको छोड़कर अन्य समयमें शत्रुहानिजन भी नहीं होता । बई पशुशक्ती इस निदममें अर्थात् भी हैं, परंतु यह अर्थ व पूर्वके निदम ही सिद्ध कर रहा है । पशुशक्तिको प्रज्ञावर्ष देखकर उनसे मनुष्योंको इस विषयमें बाध लेना चाहिये । पूर्व मंत्रमें कहा है कि औषध वनस्पति आदि भी शत्रुगाम्य ही पुष्टवर्षी होनेके कारण शत्रुगामी होनेसे प्रज्ञावर्षी हैं । संवत्सर तो शत्रुओंमें ही गमन करता है, इसलिये वह भी शत्रुगामी होनेसे प्रज्ञावर्षी है ।

प्रज्ञावर्षीका ज्ञान सबका संग्रहण करता है, यह मंत्रका कथन स्पष्ट ही है । कथे कि ज्ञानसे ही सबका संरक्षण होता है, वह बईसे मंत्रमें कहा है ।

देवीका तेज ।

तेजमें मंत्रमें देवीके तेजका वर्णन है। जो वाचाय और स्तुत्य देना है, जो सबसे श्रेष्ठ मन्त्र ब्रह्मण्य करता है और जो स्वयं तेजसुक्त होकर दूसरोंको भी तेजस्वी करता है वह देवीका तेज है। एतन्मै विद्वान् देव हतै ह्ये और वे कथ्य प्रहारका वैद्वान्मूर्धं तेज्यं आने एतन्मै वपय भरते हैं। शरीर में ज्ञान-इंद्रिय तथा अंतःकरण आदि देव है कि, जो जब शरीरमें रहकर वपये भी विवक्ष्य रतूर्तिका कार्य करा रहे हैं। तदा सूर्या अमूर्तं सूर्यवर्गादेव देव अना विवक्ष्य तेज्यं कलाहर सब अमूर्तकी अन्ना दे रहे हैं। तत्पर्य यह कि सर्वत्र सही नियम है कि जो देव होने हैं, वे श्रेष्ठ तेजका प्रसार करके विवक्ष्य वपय वारा करते हैं।

वही तेज, ज्ञान और रतूर्तं ब्रह्मचरिण कैलनो है और इन्में कार्य करते है तथा अनापन भी देती है ।

उपदेशका अधिकारी ।

कौशिक और पञ्चमने मंत्र में ब्रह्मचरीक विषय ज्ञानका उल्लेख है। ब्रह्मचरी विवक्ष्य ज्ञान प्रसार करता है और इस विधि वपका अद्भुत तेज फैलता है। इन हेतुमें वपके अंदर सब देवतार अतिशय होकर रहती हैं। वपके कोई देवता और वपकी शक्त अत्यन्त नही होती। अर्थात् सब देवताओं की पूर्ण शक्तिके साथ वह अना कार्य बचना है। प्राणायामादि योगसाधन द्वारा वह अपने प्राण, वायु, मन आदि सब प्राणोंको अपने अधीन करता है। प्राण वश होनेके वपकी मन बस होता है, क्योंकि प्राण और मन शरीरमें एकत्र मिलेचुके रहते हैं। यदि प्राण निर्बल रहा तो मन निर्बल रहता है और मन स्थिर होनेपर प्राणकी संबलता भी दूर हो जाती है। प्राण और मन स्थिर होनेके हृदयकी दिश

शक्ति प्रकट होती है, तथा हृदय और मन नियमबद्ध होनेमें मेधयुक्तिमें ज्ञानका संचय होने और बढ़ने लगता है। जब वपकी योग्यता ठीक है कि वाणीद्वारा वह अपने ज्ञानका प्रचार करे। इन् प्रसारके सुयोग्य उपदेशके वक्तृत्वमें जनना प्रभावित होती है। क्यों कि वपका कथन अद्भुतमंत्रके अद्भुत होना है।

इस कारण लोग चाहुने है कि अपने उद्धारका कोई उपदेश वपके पास हो। जहां वप ब्रह्मचारी पंडुवना है वशमें सज्जन वपके कहते हैं कि हे ब्रह्मचारी ! हने उपदेश दो। वसु, श्रव आदि इंद्रियोंकी शक्ति बढ़ाने तथा उनको नरोप आर प्रभावशाली करनेका गति बताओ। कोई कहते है कि अन्तकी न्यूनता बड़ा कष्ट दे रही है, इसलिये कहे कि विद्वान् अन्त कैसे प्राप होगा ? कई मन्त्रान पृच्छते है कि ऐत हक करनेका उपाय क्या है ! हाजना ठीक नही है, इनका कोई उपाय कहे। वे पूछते हैं कि हमारा वीर्य स्थिर नही रहता और स्त्रु भी छोड़ हो गया है; इसके लिये क्या उपाय काने च हिये।

पूर्वोक्त प्रकार जो जो प्रश्न लोग पूछते हैं, उनका यथायोग्य-उत्तर ब्रह्मचारी देता है, योजना और मुक्तिपूर्वक सबकी सोचा ओका निरसन करता है और उनको ठीक मार्गपर लजता है। इतनी योजना होनेपर भी अमनो आदिभक्त शक्ति वपनेके लिये वह पवित्र स्थानमें रहना हुआ तप करता है और अमन-सक्तिका विधास करता ही रहता है। इस प्रकारका तपस्वी जब अपने तपकी समाप्ति करता है और तपस्वके प्रभावसे जब प्रभावित आत्मन लिये मुक्त होता है, तब अत्यन्त तेजस्वी रहके इस पृथ्वीपर वपकी सीमा अत्यन्त बढ़ती है। यह ब्रह्मचरीके तेज है, इसलिये हर एककी ब्रह्मचर्यके सुनियमोंका पालन करके अपनी आत्मशक्तिको विकस्य करना चाहिये।

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान् । समुद्रा नद्यो विद्वान्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥
सप्तर्षिन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् । पितृन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ११ ॥
ये देवा दिविपदो अन्तरिक्षसदश्च ये । पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १२ ॥
आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः । अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥
यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा । यजूंषि होत्रो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥
पञ्चं राज्यानि वीरुषां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः । दुर्मो भ्रूतो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥
अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितृन् । मृत्यूनेकंशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १६ ॥
ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनान्वानुन हांयान् । समाः संवत्सुरान् मासास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १७ ॥
एतं देवा दक्षिणतः पथात् प्राञ्च उदेत ।
पुरस्ताद्दुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १८ ॥
विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृषः चिथामिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १९ ॥

अर्थ. (दिवं) एलोक, नक्षत्र, भूमि, (यक्षाणि) यक्ष, 'पर्वत, समुद्र, नदियां, (विद्वान्ताः) जलजय, ॥१०॥ सप्तर्षिणः, (भापः देवो) जल, प्रजापति, (यमश्रेष्ठान् पितृन्) पितर और उनका अधिपति यम ॥ ११ ॥

(ये दिविपदः देवा) जो एतौकमें रहनेवाले देव हैं, (च ये अन्तरिक्षसदः) और अन्तरिक्षमें रहनेवाले हैं (ये शक्राः) जो समर्थ देव (पृथिवीं श्रिताः) पृथिवीका आश्रय किये हैं (ते नः भंससः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १२ ॥

सादित्य. रुद्र, वसु. (दिवि अ-यर्वाणः देवाः) एतौकमें जो निश्चल देव हैं, तथा (मनीषिणः अंगिरः) मन्त्रशास्त्र अंगिरस हैं (ते नः भंससः मुञ्चन्तु) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १३ ॥

यज्ञ, यजमान, [कचः] ऋग्वेद, साम, [भेषजा] वैद्यके साथ [यजूंषि] यजुर्वेद, [होत्राः] होमहवन कर्म ॥ १४ ॥
[वीरुषां सोमश्रेष्ठानि पञ्चाग्न्यानि] जिसमें सोम अष्ट. है. एसा औषधयोगे पाच राज्य, दर्म [मङ्ग] भाग [यवः] नी, और [सहः] बलशाली धान को [ब्रूमः] हम कहते हैं कि [ते] वे हम सबको पापसे बचवें ॥ १५ ॥

[अरायान् रक्षांसि] अराजक राक्षसों, सर्पों, पुण्यजनों और पितरों [एकशतं मृत्यून्] एक सौ मृत्यूओंको ॥ १६ ॥
ऋतुओं, ऋतुओंके पतियों, [आनान् हायनान्] ऋतुओंसे बननेवाले अयनों [समाः संवत्सुरान् मासान्] सम वर्ष, संवत्सरों और महिनोको हम कहते हैं कि वे हमको पापसे बचावें ॥ १७ ॥

हे (देवाः) देवो! (दक्षिणतः पथात्) दक्षिण दिशासे आओ, पयात (प्राञ्चः उदेत) पूर्व दिशामें उदयको प्राप्त होओ. (विश्वे शक्राः देवाः) सब समर्थ देव (पुरस्ताद् दुत्तरात् समेत्य) समस्त उत्तर दिशामें इकट्ठा होकर (ते नः) हम सबको पापसे बचाओ ॥ १८ ॥

(सत्यसंधान्) सत्यप्रतिज्ञ (ऋतावृषः) सत्यको बढानेवाला (विश्वान् देवान्) सब देवोंको (इदं ब्रूमः) यह कहते हैं कि वे (विश्वामिः पत्नीभिः सह) अपनी सब पत्नियोंके साथ आकर (नः) हम सबको पापसे बचावें ॥ १९-२० ॥

सर्वान् देवानिदं ब्रह्मः सन्यमंघानृतानृषः । सर्वाभिः पत्नीभिः मुह ते नो मुञ्चन्त्वंहंसः ॥ २० ॥
मृत ब्रह्म ॥ भूतपतिं भूतानांभूत यो वृशी । भूतानि सर्वां संगम्य ते नो मुञ्चन्त्वंहंसः ॥ २१ ॥
या दुर्षाः पञ्च प्रदिशां ये देवा द्वादशवर्षः । सन्त्वरस्य ये दष्टाम्भे नः मन्तु सदां शिवाः ॥ २२ ॥
यन्मातृली रथक्रीतममृतं वदं भेषजम् । तदिन्द्रो अप्सु भ्रविंशत् तदापो दत्त भेषजम् ॥ २३ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुराकः ॥

(य वृशी) जो मन्त्रे वश करनेवाला है उस (भूतानां भूतपतिं) भूतोंके अधिपतिको तथा (मृत) मृतको हम (ब्रह्म) कहते हैं कि (सर्वां भूतानि संगम्य) सब भूत मिलकर हम सबको पपय बचावें ॥ २१ ॥

(या पञ्च देवी प्रदिशां) जो दिग्घ वाक् दिशाएँ हैं, (ये द्वादश ऋषय देवा) जो बारह ऋषु देव हैं, [ये संवासर-रथ दंष्ट्रा] जो वर्षके वाट द - म न ह [ते न सदा शिवा सन्तु] वे हम सबको सदा शुभ रहें ॥ २२ ॥

[मातृली] मातृलि [यत् रथक्रीत भेषज वदं] जिस रथके द्वारा प्राप्त भ्रमरपन देनेवाले भेषजको जानता है [इन्द्र सन्त्वरसु भ्रविंशत्] इन्द्र उस भेषजको जलोंमें प्रविष्ट किया है, ह [अप्सु] जला [तत् भेषजं दत्त] उस भेषजको हमें दायित्व ॥ २३ ॥

भावार्थ—इन सब देवताओंको सहायतासे मनुष्यमान पपये बच जावे ॥ १-२३ ॥

इस सूक्तका विचार ।

इस सूक्तमें मानवोंकी पारोधि दूर करनेके लिये अर्थात् उनके निष्पाप करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना है ।

इस प्रार्थनाका विशेषता यह है कि यह प्रार्थना सर्वज्ञविद् अर्थात् सापिक है । सब लोगोंके मिलकर की जानेवाली यह प्रार्थना है, अतः इसमें 'ने नो मुच्यन्तु अहम' - वे हम सब प्रार्थना करनेवालोंको पपये मुक्त करें, ऐसा बहुबचन प्रयोग किया है । सापिक प्रार्थनाका महत्त्व वैदिक स रस्वतमें विशेष है, क्योंकि उससे सध्याः क बढती है ।

सब इस सत्तमें जिन देवताओंका नामनिर्देश आया है उनका वर्णोद्धार इस तरह है—

पृथ्वीस्थानीय देवता ।

- १ अग्नि १
- २ वनस्पति १
- ३ भोवधि १
- ४ वीरुध १
- ५ अहोरात्र ५,

- ६ उपप्य ७
- ७ उषा ७
- ८ पार्ष्णिनाः पक्षय ८
- ९ आरण्यः ऋगाः ८
- १० अग्नि १०

- ११ यज्ञ १०
 १२ पर्वत १०
 १३ समुद्र १०
 १४ नदी १०
 १५ वेदान्तः १०
 १६ वृषिर्ष्यां शक्राः श्रिताः १२
 १७ वनवः [अष्टौ] १३
 १८ अथर्वानः १३
 १९ अङ्घ्रिणः १३
 २० यज्ञ १४
 २१ यज्ञमानः १४
 २२ ऋचः १४
 २३ सामानि १४
 २४ भेषजनि १४
 २५ यजु १४
 २६ होत्राः १४
 २७ षोडशो वन्द्य राज्यानि १५
 २८ सोम (वनस्पति) १५
 २९ दर्शन १५

- ३० मंग १५
 ३१ यज्ञः १५
 ३२ सहः १५
 ३३ अराय १६
 ३४ रक्षांसि १६
 ३५ सर्प १६
 ३६ पुण्यजन १६
 ३७ मृत्यु (एकघनं मृत्यवः) १६
 ३८ क्रतु (द्वादश) १७, २०
 ३९ ऋतुपति १७
 ४० आर्तव १७
 ४१ हायन १७
 ४२ समाः १७
 ४३ संवत्सर १७
 ४४ मासाः १७
 ४५ विभेदेवाः १८, १९
 ४६ देवतस्यः १९
 ४७ मृत २१
 ४८ मृतानां, मृतगति २१
 ४९ भेषज २३

अन्तरिक्ष स्थानीय देवता

- १ गंधर्व ४
 २ अप्सराः ४
 ३ चन्द्रनाः ५
 ४ वायु ६
 ५ पर्वत्य ६
 ६ अन्तर्गिह ६
 ७ दिशः ६
 ८ सर्वाः आशाः ७
 ९ सोमः ७
 १० पश्चिम ८

- ११ शक्रन्त ८
 १२ मव ९
 १३ शर्व ९
 १४ रुद्र ९
 १५ पशुपतिः ९
 १६ इषु ९
 १७ यम ११
 १८ रितर ११, १६
 १९ अन्तरिक्षसदः देवाः १२
 २० रुद्राः (पञ्चदश) १३

धुस्यानीय देवता ।

- १ इन्द्र १
 २ वृहस्पति १

- ३ सूर्य १, ५
 ४ शशा बध्नाः २

५ मित्र २	१५ अद्भुतस्वपि ४
६ विष्णु २	१६ अर्षमा ४
७ भग २	१७ विषं आदिवाः (इन्द्राद्य) ५, १३
८ अंश २	१८ दिग्धाः पदवः (पश्चिमः) ८
९ विवस्वान् २	१९ द्युः १०
१० सदितादेव २	२० नक्षत्राणि १०
११ घाता ३	२१ सत्सर्वः ११
१२ पूता ३	२२ देवीः आतः ११
१३ स्वष्टा ३	२३ राजापाणिः ११
१४ धामिनी ४	२४ द्विविपदः देवाः १२, १३

यहां तीन स्थानोंमें देवताओंको संदिग्ध रखा है । देवतानामके भागें जित्त मंत्रमें वे देवता जाये हैं उनके अंक रखे हैं। और कई देवताएं अन्वगिह स्थानमें अथवा द्युस्थानमें अथवा योग्य होने परभी उनको पृथ्वी स्थानीय मानवोंके साथ संबंध लाके कारण पृथ्वीस्थान में रखा है । इतना भेद विचार की सुबोधतासे लिखे किया है यह पाठक ध्यानमें रखें।

पृथ्वीस्थानमें ४८

अन्तरिक्षस्थानमें २०

द्युस्थानमें २३

मिलकर कुल ९१ इतनी देवताएं हुईं ।

इनमें ८वसु, ११रुद्र, १२आदित्य, ७अश्विगण, १००ऋषय, १२नाम, १२ऋतु, ६ऋतु, २भयन, ६ऋतुपति, सदिवा, ४ अद्विधा, ये १८४ देवताएं आधिक होती हैं । इनमेंसे १२ पुनरुक्त होनेसे कम बिये जायें तो बाक १७२ रह जाती हैं। इनके साथ पूर्वोक्त ९१ देवताओंको मिलानेसे २६३ देवताएं होती हैं ।

इन देवताओंका मानवोंके साथ कैसा संबंध जाला है यह देखकर पाएसे बचनेका धन साधक को जाना उपरि है ।

इसमें कई देवताएं पावके लिये साधनी होती हैं । जैसे भूमि, अरु, धनस्वती, पद्म, पत्नी, इनके कारणही मनुष्य युद्ध करते जाये हैं, आपसमें झगड़ते रहे हैं, भूमिके कारण कितने दुष्ट हुए हैं और कितने भाग्य कष्ट गये हैं, यह इतिहास में देखने योग्य है । मानवोंमें राजसभाव इनके कारण ही जाता है । चक्रवा तो इसी राजसभावसे है । व्यवहार देखा करना चाहिये कि मानवोंका राजसभाव दूर हो जाय और उनमें देवी भव स्थिर हो जाय । इसीलिये कहा है कि—

ते ऽः सन्तु सदा शिवाः । २२ । २

' ये सय देव हमारे लिये सदा अनुभारों बनानेवाले हों । ' इस प्रार्थनामें मनुमण्टपी होनेकी संभावना सूचित होती है । मन वचन में रहकर किसी ऋतुकी अनुभारकी मनमें न उठे ऐसा प्रबंध करना चाहिये ।

इसतरह मनुष्य पादल बच सकता है । मन वीला रहेगा तो पाव होगा, यदि मन बलवान होगा तो मनुष्य पापसे दूर रहेगा ।

इसतरह विचार करके मानव पापसे बचनेका साधक करे और पवित्रतामा होकर गृहस्थी बने ।

उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त ।

(७)

(ऋषिः—अभर्वा । देवता— अध्यात्मं, उच्छिष्टः)

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः । उच्छिष्टे इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वंमन्तः सुमाहितम् ॥१॥

उच्छिष्टे धारापृथिवी विश्वं भूतं सुमाहितम् । आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥२॥

समुच्छिष्टे अर्सेचोमौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः । लोक्या उच्छिष्टे आर्वाचा ब्रह्म द्रव्यापि श्रीमरिषि ॥३॥

इदो इदस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वमृजो ददथ । नामिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥४॥

ऋक् साम यजुहोच्छिष्ट उद्गीयः प्रस्तुतं स्तुतम् ।

द्विक्रार उच्छिष्टे स्वरः सात्रो मेदिश्च तन्मरिषि ॥५॥

पेन्द्राग्निं पांवमानं महानांज्ञामिहाव्रतम् । उच्छिष्टे यजुस्याज्ञान्यन्तर्गमि इव मातरि ॥६॥

अर्थ— (उच्छिष्टे नाम रूपं) उच्छिष्ट अर्थात् अवशिष्ट आत्मामे नाम और रूप, (उच्छिष्टे लोकः आहितः) उच्छिष्टमें लोकलोकान्तर स्थित है । (उच्छिष्टे इन्द्रः च आग्निः च) उच्छिष्टमें इन्द्र और अग्नि तथा (अन्तः विश्वं समाहितं) उनके अन्दर सर्व विषय समाया है ॥ १ ॥

(उच्छिष्टे धारापृथिवी) उच्छिष्टमें युक्त और मूलक (विश्वं भूतं समाहितं) सब भूतमात्र ठहरे है, (उच्छिष्टे आपः समुद्रः चन्द्रमा वातः आहितः) ऋक्, समुद्र, चन्द्रमा, वायु, ये सब उसमें स्थिर हुए हैं ॥ २ ॥

(समुच्छिष्टे अर्सेचोमौ) समुद्र और अस्तु ये दोनों उच्छिष्टमें हैं, (मृत्युः वाजः प्रजापतिः) मृत्यु, अक्ष अथवा ब्रह्म और प्रजापलक, (लोक्याः मः च द्रव्यं च) लोकिक संबंधमें सब धन तथा स्वांकारने योग्य और माद्य करने योग्य सभी पदार्थ (उच्छिष्टे आर्वाचाः) उच्छिष्टमें ही संबंधित हुए हैं । (श्रीः मरिषि) श्रीभा मुझमें है ॥ ३ ॥

(इदो इदं स्थिरो न्यः) इदं, इदंस्थि स्थिर इहमेव का और यत्किमात् (ब्रह्म विश्वमृजोः ददथ देवताः) ज्ञान, विद्वान् अत्यन्त करनेवाली दस शक्तियां धारण करनेवाली देवताएं (नामिं ऋक् इव सर्वतः) नामिचक्रके चारों ओर रहनेके समान सब ओरसे (उच्छिष्टे श्रिताः) उच्छिष्टमें ही स्थित है ॥ ४ ॥

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, उद्गीय, (प्रमृत्तं न्येनं) स्तुति और स्तवन, द्विक्रार, स्वर, (साम्नो मेदिः) सामगानके साठवां मंत्र सब उच्छिष्टमें हैं, (तन्मरिषि) यह सब मुझमें रहे ॥ ५ ॥

(पेन्द्राग्निं पांवमानं) इन्द्र, अग्नि और पवमान, वायुके सूक्त, (महानांज्ञोः महाव्रतं) महानाम और महाव्रतवाले मंत्र—नाम ये सब (यजुस्य संगानि उच्छिष्टे) यजुके अंग उच्छिष्टमें स्थित है जैसे (मातरि अन्तः गर्भं इव) माताके अन्दर गर्भ रहता है ॥ ६ ॥

राजस्यै वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः । अर्कश्चभेषाबुच्छिष्टे जीवर्चाहिंमदिन्तमः ॥७॥
 अग्न्याघेषमथः दीक्षा कामप्रच्छन्दसा सह । उत्सन्ना यज्ञाः सत्राग्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥८॥
 अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः । दक्षिणं पूर्वं चोच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥९॥
 एकुरात्रो द्विरात्रः संघः क्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः ।
 ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विद्यया ॥ १० ॥ (१९)
 चतुरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।
 षोडशी मत्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जिरे सर्वे ये यज्ञा अमृतं हिताः ॥११॥
 प्रतीहारो निघनं विश्वजिचाभिजिच्च यः ।
 साहातिरात्राबुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥१२॥
 सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहैः ।
 उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामिन तादृषुः ॥१३॥
 नवभूमिः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः । आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥१४॥

अर्थ- राजस्यै, वाजपेय, अग्निष्टोम, (तत् अन्वः) यह हिंसाहित यज्ञ, अर्क-अध्वमेध, (मदिन्तमः जीवर्चाहिः) आगन्तु देवैवाला जीवोका रक्षक यज्ञ ये सब उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ७ ॥

(अग्न्याघेष अथो दीक्षा) अग्न्याधान, दीक्षा, (छन्दसा मह कामयः) छन्दोके कामोकी पूर्णता करनेवाला यज्ञ, उत्सन्नाः यज्ञाः सत्रागि) उत्सन्न यज्ञ और सब सत्र ये सब उच्छिष्टमें स्थित हैं ॥ ८ ॥

अग्निहोत्र, अर्क, वषट्कार, मत, तप, दक्षिणा, रष्ट, पूर्व ये सब उच्छिष्टमें रहते हैं ॥ ९ ॥

एकुरात्र, द्विरात्र, संघ क्री, प्रक्री- उक्थ्य ये सब यज्ञ और (यज्ञरप अणूनि) यज्ञके अन्व अंश (विद्यया उच्छिष्टे ओते निहित) विद्याके साथ उच्छिष्टमें अंतर्गोत हुए हैं ॥ १० ॥

चार रात्रो, पांच रात्री, छः रात्रो, (उभयः) नभय अर्थात् अन्न, दम और बारह रात्रीवाला, (षोडशी) सोलह, (सप्तरात्र और नान रात्रीवाला ये सब यज्ञ उच्छिष्टमें बन हैं क्षा / अमृत हिताः) ये अमृतमें रहते हैं ॥ ११ ॥

प्रताहार, निघन, विश्वजित्, आमाजव, यह अतिरात्र, द्वादशाह ये सब उच्छिष्टमें रहें हैं । यह सब ज्ञान मुसमें रहे ॥ १२ ॥

(सूनृता समतिः) मन्व प्राधन, नम्रमाव, (क्षेम स्वधा ऊर्ज) कल्पान, स्वधा बल (अमृत सह) अमरपन, छन्द चार्क, य (सर्वे कामा कामिन तादृषु) सब काम जा कामनाय प्राप्त करनेवाला हैं, (उच्छिष्ट प्रत्यञ्च) उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ १३ ॥

नव भूमि, सब समुद्र और (दिवः) शुनोके भी (उच्छिष्टे अर्घ्यभिताः) उच्छिष्टमें आर्घ्यभित हैं । सूर्य उच्छिष्टमें ही (आ भाति) प्रकाशता है, जिससे अहारात्र होते हैं । यह सब ज्ञान (मयि) मुसमें रहे ॥ १४ ॥

उपह्वयं विष्वन्तं ये च यज्ञा गुहां हिताः ।

विमर्ति मृतां विश्वस्योच्छिष्टो जनिवुः पिता

॥ १५ ॥

पिता जनिवुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पिता महः ।

स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यांमतिघ्न्युः

॥ १६ ॥

ऋतं सुत्यं तपो राष्ट्रं श्रपो धर्मश्च कर्म च । भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लिङ्गमीवले बले ॥ १७ ॥

समृद्धिरोन आकृतिः क्षत्रं राष्ट्रं पदुर्व्युः । संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडां प्रैषा ग्रहां हविः ॥ १८ ॥

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः । उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुवन्धास्तदिष्ट्यः ॥ १९ ॥

अर्धमासाच्च मासांश्चातुर्वा ऋनुभिः सह ।

उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्तुः श्रुतिर्मही

॥ २० ॥ (२०)

शर्कराः मिकंता अदमान् ओर्षधयो वीरुधस्तृणां ।

अत्राणि त्रिद्युतो वर्धमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता

॥ २१ ॥

रादिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्महं पृथुः । अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥

यद्यं प्राणानि प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।

उच्छिष्टाज्जाज्ञे सवे दिवि देवा दिविश्रितः

॥ २३ ॥

अर्थ-उपह्वय, विपुत्रान् और (ये च गुहा हिताः) जो गुहामें आश्रित यज्ञ हैं, उनको (विश्वस्य मर्तां जनिवुः पिता) विश्वका पेशक और पिताका भो पिता (उच्छिष्टः विमर्ति) उच्छिष्ट संज्ञक परमात्मा धारण करता है ॥ १५ ॥

(उच्छिष्टः जनिवुः पिता) उच्छिष्ट पिताका भी परम पिता है यह (असोः पौत्रः पितामहः) प्रणका पौत्र है, परंतु वह सबका पितामह ही है, (सः विश्वस्य ईशानः श्रियते) वह विश्वका ईश्वर होकर संवत् रहता है वह (वृषा भूम्यां आतिघ्न्यः) बलवान् और भूमिमें सबसे अष्ट है ॥ १६ ॥

ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, धर्म, कर्म, मृत, भाविष्यत्, वीर्य, लक्ष्मी, (बले बलं) बलिष्टमें रहनेवाला बल यह सब उच्छिष्टमें रहता है ॥ १७ ॥

समुद्दि, (ओजः) शक्ति, (आकृतिः) संकल्प, क्षात्र, राष्ट्र, (पदुर्व्युः) छः भूमिया, संवत्सर, (इडा) अन्न, (पेषाः मर्दाः) प्रेष ग्रह और हवि यह सब उच्छिष्टमें रहा है ॥ १८ ॥

चतुर्होता, कर्मप्रियं, चातुर्मास्य, नीविद, दक्ष, होत्रा, पशुबन्ध और उनको इष्टियों उच्छिष्टमें रहती है ॥ १९ ॥

(अर्धमासाः) पक्ष (मासाः) मदिने, (आतुर्वाः ऋनुभिः सह) ऋतुओंके साथ ऋतुबंधी पदार्थ, (स्तनयित्तुः) मेघ (महीद्युतिः) वर्षाकी गर्जना और (घोषणी भापः) घेष करनेवाले जलप्रवाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ २० ॥

(शर्कराः सिक्ताः अदमानः) पयसीकी बाज, बाज, पत्थर (ओषधयोः वीरुधः तृणा) औषधियां वनस्पतियां और घास, [अत्राणि विद्युतः वर्धं] मेघ बिजलियां और वृष्टि [उच्छिष्टे संश्रिताः श्रिताः] उच्छिष्टमें आश्रित हुए हैं ॥ २१ ॥

[रादिः प्राप्तिः समाप्तिः] विदि, प्राप्ति और समाप्ति, [व्याप्तिः महः पृथुः] व्याप्ति, महत्त्व और वृद्धि, [अत्याप्तिः, भूतिः] अतिशय प्राप्ति, ऐश्वर्य यह सब उच्छिष्टमें [आहिता निहिता हिता] रखे हैं ॥ २२ ॥

[यच्च प्राणेन प्राणिति] जो प्राणसे प्राण धारण करता है और [यच्च चक्षुषा पश्यति] जो आंखसे देखता है, यह सब उच्छिष्टसे [जज्ञेरे] निर्माण हुआ है [दिवि-श्रितः देवा दिविः] जो देव युलोकमें हैं वे सब युलोकमें रहे हैं और उच्छिष्टमें ही हैं ॥ २३ ॥

ऋचः सामानि उन्दासि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाञ्जलिरे सर्वे दिवि देवा दिविभिरतः ॥२४॥

प्रणापानौ चक्षुः श्रोत्रमार्धैरिदश्च शिर्विश्च या । उच्छिष्टाञ्जलिरे० ॥२५॥

आनुन्दा मोदाः प्रमुदोऽमीमोदुमुदश्च ये । उच्छिष्टाञ्जलिरे० ॥२६॥

देवाः पितरौ मनुष्याऽगन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

उच्छिष्टाञ्जलिरे सर्वे दिवि देवा दिविभिरतः ॥ २७ ॥ (२१)

अर्धं— ऋचा, साम, छन्द, पुराण और यजुर्वेद, प्राण अग्नि, चक्षु, श्रोत्र, [कृतिः अक्षितिः] मौनिक और अमौनिक पदार्थ आनन्द, माद, प्रमोद, [अमीमोदः मुद] शान्त अनेक, देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा, दुर्लभमे रहितरूपे सन् देव वे सन् [उच्छिष्टञ्जलिरे] उच्छिष्टम उग्रम दुर द ॥ २४-२६ ॥



उच्छिष्ट सूक्तका आशय ।

इस सूक्तको माया अर्थात् सरल होनेके कारण इसका मायायं पृथक् लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

उच्छिष्टका अर्थ ।

“ उच्छिष्ट ” अर्थात् ‘ ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट,’ जो उच्च स्थानमें अवशिष्ट रहा है। विष बननेके पश्चात् जो भाग अवशिष्ट रहा है उसका नाम ‘ उच्छिष्ट ’ है। पुरुषसूक्तमें कहा है—

त्रिपादूर्ध्व उदैयुरवः पादोऽस्मेहाभवपुनः ।

(ऋ. १०।१०।४)

‘त्रिपात् पुरुष उच्च स्थानमें उदित हुआ है, और उसका एक अंश यहाँ इस विश्वमें पुनः पुनः होता है।’ एक अंशका वह विश्व बनता और बिगड़ता है, परंतु जो त्रिपात् पुरुष अवशिष्ट ऊर्ध्व भागमें रहा है वह वैसा ही एकरूपमें रहता है। इस तरह परब्रह्मका एक अलगसा भाग विश्वरूपाकार होता रहता है और शेष सब मूल स्थितिमें अवशिष्ट रहा है। इयंका नाम उच्छिष्ट है। यहाँ ऊर्ध्व भागमें अवशिष्ट रहा है।

(उच्छिष्टे नाम रूपं) इषी परब्रह्ममें नामरूप रहा है, इतना कहनेसे सब कुछ उसीमें है ऐसा कहा है, क्योंकि जो कुछ इस विश्वमें है वह रूपवाला है और नामवाला भी है। जिसका रूप नहीं और जिसका नाम नहीं ऐसा यहाँ कुछ भी नहीं है। संपूर्ण विश्वही नामरूपात्मक है। हम किसीका नाम लेते हैं और नाम लेते ही आँसू के सामने वह रूप आता है, यही नामरूप है और यह सब नामरूप इस उच्छिष्ट परब्रह्ममें रहा है।

नाम भी उच्छिष्टमें है और रूप भी उच्छिष्टमें है इतना कहनेसे उस उच्छिष्ट परब्रह्ममें नामरूप रहा है ऐसा अर्थ हुआ। जैस घडा यह नाम और घडेका रूप यह सब मिट्टीमें रहता है। अर्थात् यह मिट्टी ही नामरूपात्मक पटाकार होकर हमारे सामने आती है। इसी तरह उच्छिष्ट परब्रह्म नामरूप धारण करके विशाकार होकर, विद्वरूपी बनकर हमारे सामने आता है। यही परमात्माका बिम्बरूपदर्शन जो मगधज्ञाताके ११वें अध्यायमें कहा गया है और यजुर्वेदके द्वादश्यादमें वर्णित हुआ है ।

उच्छिष्टमें रूप ।

‘उच्छिष्टमें नामरूप रहें हैं,’ यही मंत्रभाग सुस्पष्ट है; अंगे इसी का स्पष्टीकरण ही है, जैसा—उच्छिष्टमें लोक, इंद्र, अग्नि विश्व, याज्ञप्रथिवी, सब भूतमात्र, जल, समुद्र, चन्द्र, वायु, (मंत्र १—२) नौ भूमियाँ, सूर्य (मं० १४), बालु, पत्थर, गिल, ओषधिवनस्पतियाँ, घास, अन्न, विद्युत्, बुद्धि, (मं० २१), जो प्राणसे जाँवित रहता है, जो आससे देखता है, जो आमासमें है (मं० २३), देव, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अक्षरा (मं० २७) विश्व उत्पन्न करनेवाले दस देव (मं० ४)। यह सब उच्छिष्टमें है, ये सब रूपवाले पदार्थ हैं। इनका आश्रय उच्छिष्ट—परमात्मा ही है ।

उच्छिष्टमें नाम

अब नामका वर्णन देखिये—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, उद्गीथ, स्तवन, द्विकार, स्वर, घागके आलाप, (मं० ५), इन्द्राग्निके सूक्त, पवमानसूक्त, महाव्रतदिव्युक्त, (मं०—६) छन्द, पुराण, (मं० २४) ये सब नाम हैं, ये सब शब्द हैं। शब्दसृष्टीका यह विस्तार है और ये सब नाम उच्छिष्टके आधारपर रहते हैं ।

इस रीतिसे नाम और रूप उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहते हैं, जो रूप है वह उच्छिष्टका ही रूप है और जो नाम है वह भी उसी का नाम है। इसीलिये ये नामरूप उसमें रहते हैं ।

उच्छिष्टमें कर्म ।

नाम और रूप इस रीतिसे उच्छिष्ट ब्रह्ममें हैं यह बात देखनेके पश्चात् ‘ कर्म ’ कहाँ रहता है यह प्रश्न उपस्थित होता है, उसका उत्तर भी इस सूक्तने दिया है कि सब कर्म सब यह उच्छिष्ट ब्रह्ममेंही रहते हैं, देखिये—‘ राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अश्वमेध (मं० ७) अग्न्याधान, दीक्षा, यज्ञ, घ्न, (मं० ८) अग्निहोत्र, व्रत, तप, दक्षिणा; इष्ट्यापूर्त (मं० ९), एकरात्र, द्विरात्र, सयःक्रीडा, प्रकाः उक्थ, (मं० १०) चतुरात्र, पंचरात्र, षट्तरात्र, सप्तरात्र, अष्टरात्र, दशरात्र, द्वादशराह, षोडशी, (मं० ११), विश्वजित्, अतिगत्र, (मं० १२) आदि सब यज्ञकर्म ही हैं और ये सब

उसी उच्छिष्टमें रहते हैं, उषी उच्छिष्ट प्रद्वके आधारपर इस सपूर्ण कर्ममार्गका व्यवस्था रची गयी है। अर्थात् सब कर्मोंका आधार मन्त्र ही है।

उच्छिष्टमें काल।

'काल' भी उच्छिष्ट मन्त्रों आधारसे रहता है, अतः कहा है कि— 'अर्घ मास (पक्ष), म स (मदिना), ऋतु (म० २०), अयन, वर्ष, सक्षर (म० १८) यह सब उच्छिष्ट मन्त्रमें रहा है। भूत, भविष्यत् (म० १७) संपूर्ण काल और कालके अवयव इस तरह उच्छिष्ट मन्त्रके आधारसे रहे हैं ऐसा यहा कहा है।

कालके साथ कर्मका संबंध है, एकरात्र, द्विरात्र आदि अनेक यज्ञ कालमर्यादा के साथ संबंध रखते हैं। कई इष्टिया छे उ कालखंड के साथ संबंधित हैं और कई सत्र दोषकालके हैं। तथापि सब यज्ञ इस तरह कालसे मर्यादित होते हैं। अर्थात् जैसा न मरूपका परस्परसंबंध है उसी तरह काल और कर्मका परस्परसंबंध है। पाठक इसका अच्छी तरह विचार करें, और इसका अनुभव करें।

श्रद्धा, तप, व्रत, दौडा (म० ९), सूनृत, नम्रभाव, कल्याण, स्वधा—अर्थात् अपनी धारणाशक्ति, बल, अमृतत्व, अहनसामर्ष्य, कमाना, वाचना (म० १३), अयन, सत्य,

धर्म, धर्म, वीर्य—पराक्रम, लक्ष्मी शोभा, (म० १७), समृद्धि, सत्त्व, सात्रबल (म० १८), सिद्धि, प्राप्ति, समाप्ति, व्याप्ति, महत्त्व, इष्टि (म० २२) आनंद, मोद, प्रमोद (म० २५) ये सब जो कर्मके साथ संबंध रखनेवाले गुण हैं वे भी मानवकी उत्पत्तिके लिये अत्यंत आवश्यक हैं। वे सब उच्छिष्ट मन्त्रके आधारपर रहते हैं।

जो प्राणसे सर्वांग रहते हैं और जो आसने देखते हैं वे सब प्राणिमात्र उच्छिष्ट मन्त्रसे आश्रय पाकर रहते हैं अर्थात् वह उच्छिष्ट मन्त्रसे पृथक् नहीं है। (म० २३)

सत्, असत्, जीवन मृत्यु, व और द (वरण और क्षयण), यह सब इन्द्र उच्छिष्ट मन्त्रमें ही रहता है अर्थात् जो कुछ यही है उस सबका संबंध परब्रह्मसे है, परब्रह्मसे पृथक् अस्तित्व किसीका नहीं है।

इसमें अनेक यज्ञोंके नाम आये हैं, इनका स्वरूप यजुर्वेदकी व्याख्याके प्रसंगमें विस्तार किया जायगा। क्योंकि कर्मकाण्ड यजुर्वेद का विषय है।

जो विश्वरूपदर्शन का विषय यहाँ कहा है वही श्रीमद्भूगवद्राताके ११ वे अध्यायमें विस्तारसे कहा है, और यजुर्वेदके द्वादश्यायमें भी अधिक ही विस्तारसे कहा है। पाठक तुलना करके वेदका तरव जानें।

शरीरकी रचना ।

(८)

(ऋषिः—कौरुपथिः । देवता—अध्यात्मं, मन्युः)

यन्मन्युर्जायांमावंहत् संकल्पस्य गृहादधि । क आसं जन्याः के वराः क उं ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥१॥

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्पुणिवे । त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥२॥

दशं माकर्मजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा । यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥३॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षित्विच्च क्षितिश्च या । व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकृतिमावंहन् ॥४॥

अजाता आसन्नृतवोऽर्थो धाता बृहस्पतिः । इन्द्राग्नी अग्निना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥५॥

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्पुणिवे । तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥६॥

अर्थ- (यत् मन्युः संकल्पस्य गृहात्) जब तत्साहने संकल्पके घरसे (जायां अधि भावहत्) अपनी स्त्रीको प्राप्त किया, विवाह करके अपने घर ले आया, उस समय (के जन्याः) कौन कन्या - पक्षके लोग थे और (के वराः) कौनसे वरपक्षके लोग थे, और उनमें (कः उ ज्येष्ठवरः अभवत्) कौन श्रेष्ठ वर माना गया था ॥ १ ॥

(महति अर्णवे अन्तः) बड़े महासागरके अन्दर (तपः कर्म च आस्तां) तप और कर्म ये दो पक्ष थे, (ते जन्याः ते वाः आसन्) वे ही ऋणापक्षके और वरपक्षके लोग थे, और उस समय (ब्रह्म ज्येष्ठवरः अभवत्) ब्रह्म ही सबमें श्रेष्ठवर था ॥ २ ॥

(देवेभ्यः दश देवाः साकं अजायन्त) देवोंसे दस देव साथ साथ बने हैं, (यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात्) जो बिश्वयसे उनको प्रत्यक्ष जानता है (सः वै अद्य महद् वदेत्) वही निश्चयसे आजही महत् ब्रह्मका ज्ञान कह सकता है ॥ ३ ॥

(प्राणापानौ, चक्षुः श्रोत्रं, या अक्षितिः च क्षितिः च) प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अमौक्तिक और मौक्तिक शक्ति, (व्यान-दानौ वाच्यनः) व्यन उदान और वाणी तथा मन, (ते वै आकृतिं भावहन्) वे ही निश्चय संकल्पशक्तिको धारण करते हैं ॥ ४ ॥

(ऋतवः अयो धाता बृहस्पतिः इन्द्राग्नी अग्निना) ऋतु, धाता, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, अग्निनी ये देव (अजाताः आसन्) नहीं बने थे, (तर्हि ते कं ज्येष्ठं उपासत) तब वे किस श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते थे ॥ ५ ॥

(तपः कर्म च एव) तप और कर्म (महति अर्णवे आस्तां) बड़े संसार सागरमें थे । (कर्मणः तपः इ जज्ञे) कर्ममें तप उत्पन्न हुआ, (ते तद् ज्येष्ठं उपासते) वे सब उस श्रेष्ठकी उपासना करते थे ॥ ६ ॥

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामञ्जातय इद् विदुः ।

यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥७॥

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निर्नजायत । कुतस्वष्टा सममवत् कुतो घाताऽजायत ॥८॥

इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत । त्वष्टां ह जज्ञे स्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥९॥

ये त आसन् दर्श जाता देवा देवेभ्यः पुरा । पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥१०॥

यदा केशानस्थि स्नात्र मांसं मज्जानमाभरत् ।

शरीरं कृत्वा पादेषु कं लोकमनु प्राविशत् ॥११॥

कुतः केशान् कुतः स्नात् कुतो अस्थीन्प्राभरत् ।

अह्ना पूर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् ॥१२॥

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् । सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१३॥

ऊरु पादांश्चीवन्ती शरीरं हस्तावथो मुखम् । पृष्ठीर्विर्जहोपार्धे कस्तत् समदघादार्पः ॥१४॥

(या इतः पूर्वा भूमि आसात्) जो इससे पूर्वकी भूमि थी, (यां अद्भ्याम् इत् विदुः) जिसको बुद्धिमान् लोगोंने जान लिया था, (ये वै तां नामथा विद्यात्) जा तबे अलग अलग नामधे जानता है, (स पुराणवित् मन्येत) तबे पुराणवित् कटा जाता है ॥ ७ ॥

(कुतः इन्द्रः, कुत सोमः कुतः अग्निं नजायत) किससे इन्द्र, घोम और अग्नि उत्पन्न हुआ? (कुत स्वष्टा सममवत्) नामधे स्वष्टा उत्पन्न हुआ और (कुत घाता नजायत) किससे घाता बना है ॥ ८ ॥

(इन्द्रात् इन्द्र, सोमात् सोम) इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे घोम, (अग्नेः अग्निं नजायत) अग्निसे अग्नि उत्पन्न हुआ (स्वष्टा ह स्वष्टुः जज्ञे) त्वष्टासे त्वष्टा उपधा हुआ तथा (घातुः घाता नजायत) घातासे घाता हुआ है ॥ ९ ॥

(ये ते ददा देवा) जो वे दस देव (पुरा देवेभ्य जाता आसन्) पूर्व समयमें देवोंसे उत्पन्न हुए थे, वे (पुत्रेभ्यः लोकं दत्त्वा) अपने पुत्रोंको स्थान देकर, (ते कस्मिन् लोके आसते) किस लोकमें रहने लगे? ॥ १० ॥

(यदा केशान् अस्थि स्नात्) जब केशों हड्डियों, स्नायुओं [मांसं मज्जानं प्राभरत्] मांस और मज्जाको इस देहमें भर दिया, और [शरीरं कृत्वा पादेषु कृत्वा] शरीरको पाँववाला किया, तब वह भरनेवाला [कं लोकं मनुमाविशत्] किस लोकमें अनुकूलत के साथ प्रविष्ट हुआ? ॥ ११ ॥

[कुतः केशान् कुतः स्नात्] किससे केशोंकी और किससे स्नायुओंको [कुतः अस्थीनि प्राभरत्] कहासे हड्डियोंको इसमें भर दिया? [कं भंग पर्वानि मज्जानं] जिसने अवयवों पर्वों और मज्जाको तथा [मांसं कुतः प्राभरत्] मांसको कहाँसे भर दिया? ॥ १२ ॥

[ते देवा संसिचः नाम] वे देव 'संसिच्य' अर्थात् सँचनेवाले इस नामके है [ये संभारान्त्समभरन्] जो संभारको भर देते हैं, [सर्वं मर्त्यं संसिच्य] सब मरण धर्मवाले शरीरोंमें सँच कर [देवाः पुरुषं आविशन्] ये देव पुरुषके प्रति प्रविष्ट हुए हैं ॥ १३ ॥

(कः अग्निः) कौनसा ऋषि है जिसने (ऊरु अष्टीवन्ती पादौ) जाँधों और जानुवाले पाँवोंको (शिरः हस्तौ मुख) शिर हाथ और मुखको (पृष्ठीं वज्रहो पार्धे) पीठ हँसली और पथलियोंको (घत् समदघात्) वह सब जोड़ दिया है? ॥ १४ ॥

शिरो हस्तावयो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।

त्वचा प्राशृत्य सर्वं तत् संघा समदधान्मही

॥१५॥

यत्तच्छरीरमद्यत् संघया संहितं महत् । येनेदमद्य रोचते को अस्मिन् वर्णमामरत् ॥१६॥

सर्वे देवा उपाशिस्तु तदजानाद् बभूः सती । ईशा वशस्य या जाया सास्मिन् वर्णमामरत् १७

यदा त्वष्टा व्यतणत् पिता त्वष्टुर्य उचरः । गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥१८॥

खमो वै तन्त्रीनिर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः। जरा खालस्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन् ॥१९॥

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सुत्यं यज्ञो यज्ञो बृहत् । चलं च क्षत्रमोजेश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२०॥

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः । क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥२१॥

निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च । शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन् २२

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् । शरीरं ब्रह्म प्राविशद्वचः सामाद्यो यजुः ॥२३॥

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये । हसो नरिष्टां नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन् ॥२४॥

(शिरः हस्तावयो मुखं) शिर हाथ और मुख, (जिह्वां ग्रीवाः च कीकसाः) जीभ गर्दन और हड्डियां (तत् सर्वं त्वचा प्राशृत्य) इस सबपर चर्मका घेदन करके (मही संघा समदधात्) बही जोडनेकी शक्तिने जोडा दिया है ॥ १५ ॥

(यत् तत् महत् शरीरं) जो यह बडा शरीर (संघया संहितं) संघा नाम जोडनेकी शक्तिद्वारा जोडा गया, (येन इदं पाप रोचते) जिससे आज यह प्रकाशता है, (अस्मिन् कः वर्णं आमरत्) इसमें किसने वर्णको भर दिया है ? ॥ १६ ॥

(सर्वे देवाः उपाशिस्तु) सब देवोंने शिष्टा दी, (तत् सती बभूः अजानात्) उसने सती बचने-अर्थात् बुद्धिने जान लिया । (या वयास्य ईशा जाया) जो सबको वशमें रखनेवाले की ईश-शक्ति नाम भाव्या है (या अस्मिन् वर्णं आमरत्) उसने इसमें वर्णको भर दिया है ॥ १७ ॥

(यः त्वष्टुः पिता उचरः त्वष्टा) जो त्वष्टाका पिता उचरतर श्रेष्ठ त्वष्टा है उसने (यदा व्यतणत्) जब इस शरीरमें छिद्र दिये, (मर्त्यं गृहं कृत्वा) तब मरणपर्यन्तवाला घर करके (देवाः पुरुषं आविशन्) देवोंने पुरुषमें प्रवेश किया ॥ १८ ॥

(स्वप्नः तन्त्रीः निर्ऋतिः) निद्रा, आलस्य, पापभावना ये (पाप्मानः देवताः वै नाम) पापी मनकी देवताएं हैं तथा (जरा खालस्यं पालित्यं) वृद्धावस्था, संज्ञापन और श्वेत बाल होना ये सब (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए ॥ १९ ॥

(स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं) चौरां, दुराचार और कुटिलता (सत्यं यज्ञः बृहत् यज्ञः) सत्य, यज्ञ और बडा यज्ञ (चलं-च क्षत्रं जोगः च) बल, क्षात्रतेज और सामर्थ्य ये सब (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरके अन्दर प्रविष्ट हुए ॥ २० ॥

(भूतिः च अभूतिः च) ऐश्वर्य और दारिद्र्य, (रातयः याः अरातयः च) दान और कंजूसी, (क्षुधः च सर्वाः-गृष्णा च) मूख और सब प्रकारकी तृष्णा (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुईं ॥ २१ ॥

(निन्दाः च वै अनिन्दाः च) निन्दा और स्तुति (यत् च हन्त इति न इति च) जो हां और ना करते हैं, (श्रद्धा दक्षिणा अश्रद्धा च) श्रद्धा, दक्षता और अश्रद्धा ये सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २२ ॥

(विद्याः च वै अविद्याः च) विद्या और अविद्याएं (यत् च अन्यत् उपदेश्यं) जो अन्य उपदेश करने योग्य है, वह (ऋचः साम जयो यज्ञः ब्रह्म शरीरं प्राविशत्) ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और ब्रह्मवेद शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २३ ॥

(आनन्दाः मोदाः प्रमुदः ये अभीमोदमुदः च) आनन्द, मोह, प्रमोद और हास्यविमोह ये सब (हसो नरिष्टां नृत्तानि) हसल, चेष्टा और नृत्य (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हो गए ॥ २४ ॥

आलापाथ प्रलापाथामीलापलपथ ये । शरीरं सर्वं प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥२५॥
 प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च श्रितिशिश्च वा । व्यानोदानौ वाह मनः शरीरेण त ईयन्ते २६
 आशिषं प्रशिषं संशिषो भिशिषंश्च याः । चित्ताग्निं सर्वं संकल्प्याः शरीरं प्राविशन् ॥२७॥
 आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः । गुह्याः शुक्रा स्थूलः अस्ता वीभृत्सावसादयन् २८
 आस्थि कृत्वा समिधं तदृषापो असादयन् । रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुष्पमाविशन् ॥२९॥
 या आपो याश्च देवता या विराट् ब्रह्मणा सह । शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥३०॥
 सूर्यश्चक्षुर्वीर्यः प्राणं पुष्पस्य वि भेजिरे । अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नमयं ॥३१॥
 तस्माद् वै विद्वान् पुष्पमिदं ब्रह्मोति मन्यते । सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवास्ते ॥३२॥
 प्रथमेन प्रमारणं त्रेधा विप्लव् वि गच्छति ।
 अद् एकैन् गच्छत्यद् एकैन् गच्छतीहैकैन् नि पवते ॥३३॥
 अप्सु स्त्रीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् । तस्मिन्त्वोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥३४॥
 ॥ इति चतुर्थोऽनुवाक ॥ ८

(आलापाः च प्रलापाः च ये अमीलापलपथः) आलाप प्रलाप और वार्तालाप, तथा (आयुजः प्रयुजः युजः) अमीजन प्रयोग और योग ये (सर्वं शरीरं प्राविशन्) सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २५ ॥

(प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रं) प्राण, अपान, चक्षु और श्रोत्र (अक्षितिः च वा श्रितिः) अमौतिक और मौतिक शक्ति (व्यानोदानौ वाहमनः) व्यान, उदान, वाणी और मन (ते शरीरेण ईयन्ते) ये शरीरके साथ चलते हैं ॥ २६ ॥

(आशिषः च प्रशिषः च) आर्षावाँद और पोषण, (संशिषः च विशिषः च याः) संमतिदा और विशेष अनुपादन (चित्ताग्निं सर्वं संकल्प्याः) चित्त और सब संकल्प (शरीरं अनुप्राविशन्) शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २७ ॥

(आस्तेयीः वास्तेयीः च) बैठना और रहना, (त्वरणाः माः कृपणाः च) स्वता और कृपणता, (गुह्याः शुक्राः स्थूलाः, वाः अपः बीभर्षा) गुह्य, शुक्र, स्थूल, जलरूप तथा बीभर्ष भाव ये सब शरीरके साथ (असादयन्) रहे हैं ॥ २८ ॥

(तत् अस्थि समिधं कृत्वा) उस हड्डी की समिधा बनाकर (अद् आपः असादयन्) अद् प्रक्षारके जलने सब शरीर-को बनावट की है, (रेतः कृत्वाज्यं कृत्वा) रेतका पी बनाकर (देवाः पुष्पं आविदयन्) सब देव पुष्पमें पुष्प गये हैं ॥ २९ ॥

(याः आपः याः च देवताः) जो जल और जो देवताएं (या विराट् ब्रह्मणा सह) जो ब्रह्मके साथ विराट् है वह सब (ब्रह्म शरीरं प्राविशन्) ब्रह्म शरीरमें प्रविष्ट हुआ है, (शरीरं अधि प्रजापतिः) शरीरमें वही प्रजापति नामक अधिपति है ॥३०॥

(पुरुरस्य चक्षुः सूर्यः) पुरुरकी आंख सूर्य (प्राणं वाठः वि भेजिरे) और प्राण वायु विशेष रीतिसे विभक्त करके बनाये गये हैं (अप्सु अस्या हृत् अस्मानं) और इसकी अन्य आत्मा (देवाः अप्रये प्रायच्छन्) देवोंने अग्निके पास दी ॥ ३१ ॥

(तस्माद् वै विद्वान्) इसलिये निम्नसे ज्ञानी विद्वान् (पुरुरस्य इदं ब्रह्म इति मन्यन्ते) पुरुरके यह ब्रह्म ऐसा मानता है । (हि सर्वाः देवता अस्मिन् आसते) क्योंकि सब देवताएं इसमें निवास करती हैं (इव गावः गोष्ठे) जैसे गौ के गोचालामें रहती हैं ॥३२॥

(प्रथमेन प्रमारणं) प्रथम मृत्युसे (त्रेधा विप्लव् विगच्छति) तीन प्रकारसे भंग्न जाता है । (अद्ः एकैन् गच्छति) वहां एकसे जाता है, (अद्ः एकैन् गच्छति) वहां एकसे जाता है और (इह एकैन् ब्रह्मणोति) वहां एकसे ब्रह्मण करता है ॥३३॥

(स्त्रीमासु अप्सु वृद्धासु) गौरीय करनके जलके वृद्ध होनेपर उसमें (अन्तरा शरीरं हितं) अन्दर शरीर रखा गया है । (तस्मिन् अन्तरा अधि शवः) शवके बीचमें यह शवरूपी शरीर रहता है (तस्मात् शवः अधि उच्यते) इसलिये उसे शव कहते हैं ॥३४॥

चतुर्थं अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

(सूचना-यद् सब अर्थ सरळ है इसलिये भावार्थ नहीं दिया है ।)

शरीरकी रचना और योग्यता ।

सब प्राणियोंके शरीरकी रचना विशेष अद्भुत है । उसमें मानवी शरीरकी रचना तो विशेषी विरक्षक है । मानवी शरीरकी रचनाको परमात्माकी कारीगरीकी परमावधि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं । इस मानव शरीर की रचना और उसमें आत्माका निवास तथा संपूर्ण देवताओंका स्थान आदिका रहस्यमय वर्णन इस सूक्तमें किया है, इस दृष्टिसे यह सूक्त विशेष महत्त्वका है ।

एक संकल्प था, उसके चन्दा 'संकल्पशक्ति' थी । इस-शक्तिसे विवाह होना था । दूसरा आत्मा था उसका मनुष्य अर्थात् उत्साइरूप सामर्थ्य था, इसका विवाह संकल्पशक्तिसे साय करकेका निश्चय हुआ । इसमें वरपक्ष और वधूपक्षके बहुतसे लोग थे और इसमें जो वरपक्षमें चुनकिया था, उसीका नाम 'ज्येष्ठवर' था, यही 'मनुष्य' भी कहा जाता था । (मंत्र १)

इस महान् अनर्थाद संघ-रसागरमें तप और कर्म ये दो पक्ष थे । एक पक्ष तप करनेवाले संवत्सिद्धोंका था और दूसरा पक्ष कर्म करनेवालोंका था । कर्म करनेवालोंमें भी एक एक कर्म करनेवाले और दूसरे निष्काम कर्म करनेवाले थे । इस-प्रकार ये दो पक्षके लोग थे । इनमें वधूपक्षमें कई थे और दूसरे वरपक्षमें थे । इनमें ब्रह्मर्षी सबसे मुखिया वर था । (मंत्र २)

दस बड़े देव हैं, उनके छोटे पुत्र दस होते हैं । ये देव सैन हैं और उनके पुत्र सैन हैं इस तत्त्वका जो जन्त है उनको ही बड़े ब्रह्मर्षी ज्ञान होता है और वेही संवत्स उपदेश कर सकते हैं । ज्ञानः इष्ट तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके लिये अत्यंत आवश्यक है । (मंत्र ३)

प्राण, अणन, स्थान, उदान, आँख, धन (स्थितिः = स्मृति-तत्त्व-से उत्पन्न) नाक, वाणी, मन और (अ-स्थितिः = अमौक्तिक) बुद्धितत्त्व ये दस देव हैं जो मानवी शरीरमें निवास करते हैं, येही संकल्प विविध प्रकारके करते हैं । और सुरेजने विचार मनुष्य करता रहता है । (मंत्र ४) इनमें प्राण, अणन, स्थान और उदान ये प्राण हैं और ये तप करनेवाले देव हैं, अर्थात् ये निराहार रहकर भोग न करते हुए अन्तर्गते लक्ष्मण यत्नपूर्वक कर्म करते हैं । इस कारण इनका तप करनेवाले

कवि कह सकते हैं । दूसरे देव आँख, नाक, कान, वाणी और मन हैं, ये काम करनेमें दक्षिण रहते हैं, कर्म करते हुए ये थक जाते हैं तब इनको विभ्रम देना पड़ता है, ये भोग भी भोगते हैं, ज्ञान भी प्राप्त करते हैं और कुछ कर्म भी करते हैं । इनको अन्न देनेसे ये समर्थ रहते हैं और कार्यक्षम होते हैं, अन्न न मिला तो ये क्रुध होते हैं और अन्तमें अति क्षीण होते हैं । प्राणोंके समन ये भूखे रहकर तपस्या ही नहीं कर सकते । आँख, नाक अदिको विभ्रम चाहिये, निद्रा चाहिये और भोग भी चाहिये । यहाँ 'संकल्पशक्ति' नामक एक देवशक्ति है, जिसका विवाह होना है । इस वधूपक्षके साथ ये आँख, नाक, कान आदि भोगवालासी लोग हैं और वरपक्षके साथ प्राण, अणन आदि तपस्वी लोग हैं । इसतरह विवाह करनेके लिये इस शरीररूपी मंडपमें ये इकट्ठे हुए हैं और यहाँ यह बड़ी धूमधामसे विवाहसंस्कार होना है ।

सूर्य, चन्द्र, वायु आदि दस बड़े देव इस विश्वमें हैं । इनकी शक्ति बड़ी भारी है । इन बड़े देवोंसे अंशरूप छोटे देव, आँख, मन, प्राण आदि बने और इस शरीरमें आकर बसे हैं । इनमें कई वधूपक्षके और कई वरपक्षके हैं । दोनोंका यहाँ मेल हुआ है । इसीका नाम विवाहका मंगल कार्य है ।

ऋतु, घाता, नृहरपति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी ये देव अपने ही स्थानमें लक्ष रहते थे और जब इनके छोटे अंश यहाँ विविध रूपमें नहीं उतरे थे, तब वे कहाँ रहते थे ? अर्थात् किस अंश देवके साथ रहते थे ? इसी अंश देवताका नाम 'ज्येष्ठ ब्रह्म' है । इस ज्येष्ठ ब्रह्मके साथ ये सब देव रहते थे, इस बड़े विश्वमें कार्य करते थे । परंतु वहाँसे इस छोटे विश्वमें अर्थात् शरीरमें आकर इनका निवास नहीं हुआ था । (मंत्र ५) अर्थात् यह समय शरीररचनाके पूर्वका है । शरीररचनाके समय सब देवताओंके अंश यहाँ इस पिण्ड-रूपमें उतरे और निवास करने लगे, कई अणन तप करते रहे और कई अपने कर्म करने लगे । इसतरह यहाँका संसार चलने लगा । इसीका नाम शरीरनिर्मिति है ।

तप और कर्म करनेवाले देव हैं, ऐसा कहा गया । यहाँ स्थानमें रचना चाहिये कि कर्मवेही तप होता है, कर्म न

किया जाय तो सप बनता ही नहीं, अतः कर्म सुष्ठु है, छेष्ट मन्त्रही उपासना भी एक पवित्र कर्म है । (मं० ५) सभी संसार इस कर्मसे ही चल रहा है । कर्मके बिना कुछ भी नहीं होता । यह देखकर मनुष्य को शुभ कर्म करने चाहिए ।

इस शरीरकी रचनी होनेके पूर्व एक विस्तृत भूमि थी, इसका नाम प्रकृतकी भूमि है । इसी भूमिपर इन शरीरकी रचना होती है और इस रचनाके करनेके लिये ये दस देव अंशरूपमे यहाँ आते हैं औलं शरीरकी निर्मितिकरने हैं । इन स्थान, आदिके नाम तथा उनके धर्मों को ज्ञानता दे, उसको 'पुराणवित्' कहते हैं । (मं० ७) जो पहले ध और जो फिर गया बनता है उसको पुराण (पुरा ऋषि नवं) कहते हैं । इसको यथाशक्य ज्ञानना चाहिए ।

ये जो देव इन पिण्डशरीरमें आकर बसे हैं वे कहलिये आये हैं ? मू-देव कहाँ वे और वे कहाँसे यहाँ आये और किछ स्थानपर आकर बने ? इसकी खोज करनी चाहिये । (मं० ८) इन्द्र, सोम, अग्नि, इन्द्र, यथा इन बडे देवोंने छोटे अंशरूप देव उपास हो गये, उनके भी ये ही नाम हैं । जो पिताका नाम है वही पुत्रका होता है, क्योंकि नाम किसी न किसी गुणका बोधक होता है और पिताका ही गुण पुत्रमें अता है । इसलिये पिताका नाम पुत्रको दिया जाता है, अतः यहाँ इन्द्रकी हुआ ऐसा कहा है । (मं० ९) इनमेंसे एक इन्द्र 'बिषम'माके विष्कर्त्ता देहमें रहनेवाला है और दूसरा समका पुत्ररूपी इन्द्र पिण्डमें रहनेवाला है । इधीतरह अन्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये ।

ये देव दस हैं और प्रत्येक बडे देवका एक एक अंशरूप पुत्र हैं । इसतरह दस बडे देवोंके रूप पुत्र इस पिण्डमें आकर बने हैं । पिण्डमें वे ये दस देव रूप रचनामें रहे हैं । इन दस देवोंने अपने दस पुत्रोंका इत्यर्थ किया और उनही इस पिण्डमें यथाशक्य स्थान दिया और वे अपने मूल स्थानमें आकर रहे । (मं० १०) निशमं ऋषि सुयं है, इसका अंशरूप पुत्र 'नेत्रेद्रिय' बडे नेत्रके स्थानमें रखकर सुयं देव अपने सुलोकके स्थानमें ही विराजता है । इधी तरह अन्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये हर एक देवके नामका लक्षण करके यहाँ आकर बड़ी बात लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है । जो देवोंके अंश बनकर की बलना पुत्र का स्थानमें है वह यही है । हर एक देवका अंशरूप अवतार मानव-देहमें

(अथवा प्रयोजित देहमें) हुआ है । इस अंशरूप देवको ही अवतार कहा जाता है । बडे देवका एक छोटासा अंश यहाँ उतरा है और इस परमप्राय देवका तारण करनेके लिये यहाँ रहा है । जब ये अंशरूप उतरते चले जाते हैं तब इस देहका पतन होता है, फिर वह देह उठता नहीं, जलाया जाता है अथवा त्यागा जाता है । देवोंने पावन होनेकी अवस्थामें यह देह पवित्र माना जसा दे, देवोंके अभाव होनेके समय इस कोई हस्ता भी नहीं ।

जब इस शरीरमें विविध देवोंने आकर यहाँ बिरा, इन्द्रियाँ, रसायु, पाँच, यज्ञा आदि भर दिया और शरीरको इच्छावादि अथययोंसे युक्त किया, तब वे देव कहाँ गये ? (मं० ११) अर्थात् देव अपना कार्य करनेके पचास वे यहाँ रहे अथवा यहाँसे चले गये ? इसका उत्तर यही है कि वे यहीं निवास करने रहते हैं, क्योंकि मृत्युके समय ही वे जाते हैं । इस देहमें केना देव कहाँ रहता है इसका ज्ञान उभिनिकके आचारसे इस तरह है—

विष्कर्त्ता देव	शरीरमें देवताएँ
परमपुत्र	और, आत्मा
सुयं	नेत्र (आँख)
भूमि	मासिका (नाक)
आयः	रचना (निष्क)
अग्नि	बाणी (वाक्), मुख
दिवा (आकाश)	कान
वायु, इन्द्र	ग्रन्थ, लज्जा
औषध वनस्पतयः	दृष्ट (बाँह)
लोहणीः आयः	रक्त, दूधिर
धीः	मस्तिष्क, म स्तब्ध
अन्तरिक्ष	नाभि, उदर, पेट, शरीर
पृष्ठी	पाय (पाँव)
पर्वत (पर्वतशृङ्ग)	पर्व (ओठ, लंपी)
मृत्यु-आयः	वीर्य [रज]
अधिपति	स्नाय-संस्पर्शाद्य

इसतरह अनेक देवोंके अंश यहाँ शरीरमें आकर बसे हैं । ये ही देवताओंके अंश अवतार हैं । इसका वर्णन उपनिषद्में विस्तारमें किया है-विद्योत्पत्तः ऐतरेय उपनिषद्में यह वर्णन अधिक स्पष्ट है । वेद्य, रसायु, इहा मज्जा, पर्व-भौंड, मीठ

कहासि किममे और किम तरह भा दिये गये, एवा यत्र [मंत्र २२ मे] पृष्ठा गया है । पूर्वोक्त छोटकठे देखनेसे इसका स्तर मिन सकता है ।

इन देवताओंका नाम 'सैमित्' है । मध्यकू मित्चन काने वाले, मित्चनेवाले अर्थात् अपना स्थान मन्वीव करनेवाले, जोवन-मय कानवाले ये देव हैं । इन सब देवोंने (सर्व मर्त्य ममिष्य) सब मरणपर्यन्तके अंगोंको अथवा देहको जीवनपर्यन्त सुख किया है । इसी कार्यके लिये ये सब देव (पुरुष अविशान्) मानवदेहमें आकर बसे हैं, इन शरीरमें आकर अपने अपने स्थानमें रहे । (मं० १३)

किम ऋषेण ऊन गांव जनु, मिर, हाय, मुष्, पीठ, हैसली पसलियो, जिह्, गर्दन, गदनेकी हाडुंगी, त्वचा ये सब भाग बनाये और जाड दिये ? (मं० १४-१५) अन्त्याय देवोंने अपने अपने कार्य किये, अपने अपने अवयव बना दिये और 'संघा' नामक देवता है जिन्ने इनको जाड दिया और त्रिप जोहनेमें यह शरीर अस्मत् एक कैषा बन गया है । इष्टमे रंग, गोभा और कान्ति भरनेवाली भी एक देवता है । (मं० १६)

ये सब देव संमिश्रित हुए, इन देवोंका यही संमेलन हुआ, यह बात एक सती देवीने जान ली । यही सती देवी सब अवयवोंको अपने चरणों रखनेवाले अन्त्यदेवकी भावी है । यही माया यहाँका कान्ति, गोभा और रमणयता रखने वाली है । (मं० १७) इसी वयू और परकी छाया होनेका वर्णन ह्य सुक्तेके पहले दो मंत्रोंमें है ।

ये सब देव ऋते कारीगर हैं । अतः स्वष्टा नाम कारीगर देवताका ह्यका है । जो छोटे अंशरूप देव इस शरीरकी कार-गरी करनेके लिये यहाँ आये होते हैं, उनमें जो सबका अधि-ष्ठता देव होता है, उसको सब कारीगरोंका कारीगर होनेसे 'स्वष्टा' कहते हैं । इसका पिता, परमात्म, सब देवोंका देव, सब कारीगरोंका कारीगर सर्वोपरि विराजमान है, वह ही बड़ा 'स्वष्टा' ही है । उसने शक्ति पाकर जब छोटे कारीगर इस शरीरमें प्रवेश करते हैं, तब एक एक सुगन्धसे एक एक देव शरीरमें प्रवेश करता है और अपने अपने स्थान-में विराजण है । ह्य [मर्त्यं पृष्टं कृत्वा] मर्त्य घरकी सुशोभ्य रचना करके [देवाः पुरुषं अविशान्] सब देव मनुष्यके देहमें घुसकर अपने स्थानमें रहते हैं । [मं० २८] यह घर वास्त-

विक मानेवाला है, परंतु यहाँ देवोंकी अमर शक्तियाँ रहनेके कारण वह मरनेवाला यह अमरमा बना है । जब देव यहाँका यज्ञ समाप्त करके चल जाते हैं, उस समय यह देह मर जाता है । देवोंका अमर शक्त इस तरह अनुभवमें आती है ।

इम शरीरमें निद्रा-जाग्रति, तन्द्रा (सुहती) - उषा मितः, निष्पन्त वायवामना - पुण्य भावना, पाप-पुण्य, जरा- (इत्यव) - तादृश्य सखिय (संज्ञापन) - बहुकेश होना, पलित्य (श्वेतम्, - कृष्णत्व, बालोंका खन होना और काले होना, ह्य (चोरी) - अस्तेय, दुःकृत-सुकृत, वृजने (कुटिलता) सख्यता, सख्य- अथवा यज्ञ-अयज्ञ, यश-अयश, बल-बलहीनता, सात्र-निर्बलता, भोज (शरीरशक्ति) अशक्ति, भूति एष्य (अभूमि (निर्धनता), (राति) दान (अराति) कंजुषी, क्षुधा (भूख) - भूख न लगना, पृष्ठा-प्रास न लगना, जिन्द्रा-दृष्टि (अन्-दा), हाँ और ना करना (हन्त इति न इति), प्रदा-अप्रदा, दसना-अदा-सिग्ग, विद्या-अविद्या, ज्ञान-अज्ञान, आनन्द-दुःख, मोद-वष्ट, शश्व-रीदन्, नगिष्ट (अनाद्य) - नाश, नृज-अनृज्य, सहाय प्रलाप-मीन, प्रयोग-वियोग, ये सब भाव शरीरमें होने लगे हैं । ये भाव शरीरमें प्रायश्च दिखाई देते हैं । (मं० २९-२५)

प्राण, अगल, वृगल, उगल, चक्षु श्रोत्र, क्षिति, अक्षिति, वाणी, मन ये दम हा शक्तिवा शरीरमें रहती हैं और उक्त कार्य करती हैं । (मं० २६)

आर्शावीद-कायिक शब्द, अनुवूल- प्रीवूल शब्द, संवह्य- विकल्प, स्थिता-चचलता, त्वगा-शक्ति, वृषणता- उदारता, गुष्ठा-प्रकट, शुक्र-तन्वीय, रथूव-कृश, बीभत्स- सभ्य ये सब भाव शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं । (मं० २७-२९) इन यज्ञोंके इवनके लिये रेतका धी बनाकर उस रेतकी आहुति छोके गमोशयमें डलीकी जाती है । उन रेतके साथ सब देव शरीरमें पुन जाते हैं । नैषिक प्रत्येक अणुमें पिताके सपूर्ण शरीरका अर्थसे उस शरीरके हाएक इंद्रिका सखाया रहता है और उस सखायाके साथ पिताके शरीरके देवताका संघ भी रहता है, अर्थात् देवताशको ही सखाया समस्त नैषिय । पिताके सहाय पुत्रके शरीरके अंग प्रत्येक होते हैं, इसका यही कारण है । इन रेतमें शरीरका सब सब होता है, इस लिये पुत्र बटकर पिता कैषा होता है । इष्टमे रेतका धी बनाकर

सब देव शरीरमें किन रीतिसे पूजते हैं, इस बातका पता पाठकी ओर लग सकता है ।

जो सब देवताएं हैं और जो पना है, जो ब्रह्मके साथ विराट् पुरुष है, ये सब देव रेतके मास शरीरमें पुजते हैं । [मं० ३०] अल तो प्रवाही पदार्थ-कृपण गर्भाशयमें रहता है । उसमें बीजके साथ सब देवतायां पहुंचते हैं, सब विराट् पुरुष का मस्त्र वगैरे पहुंचता है, स्वयं ब्रह्मका अंग बंधन बंधे वहां पहुंचता है । इस ब्रह्मके अंगके साथ सब अन्य देव अपने अपने स्थानमें रहते हैं और वहांके अवसर अपने रहने योग्य बना देने हैं । हर एक स्थानमें योग्य सुगन्ध बनाते हैं और वहां ठाक शीतल रहते हैं । जो ब्रह्मका अंग जाहम बंधे शरीरमें आता है वहां इस शरीरमें प्रजापति-रक्षक अंबुषणा हाकर सबका पालन करता है । जब तक यह इन शरीरमें रहता है, तभीतक अन्य देवोंका विश्राय यथा रहता है । जब यह ब्रह्मका शरीरक छेद होता है, तब अन्य देव भी छेदकर उसके साथ

पने जाते हैं । इसलिये इनका पाठक होनेसे शरीरमें वही प्रजापति कहनाता है ।

मनुष्यके शरीरमें सूर्य अंध बना है, वायु प्राण बना है और अन्य देव अन्य इंद्रियाणोंमें रहते हैं । यही सबको तपस्या देवेका कार्य आदि कर रहा है । [मं० ३१] जब अग्निदेव अपना कार्य समाप्त करता है, तब वह शरीर छोड़ने जाता है और अग्नाग्नि देव वहां रहनेमें असमर्थ हो जाते हैं ।

जैसी गौरीं गोशालामें दय क्रम रहती है, उसी तरह सब देवताएं इस शरीरमें दयक्रम रहती हैं । जहां जिस देवतासे रहना योग्य है वही वह देवता रहती है । ये सब देवताएं मानो गौरीं हैं और ये सब गौरीं इस शरीरका गोशालामें रहती हैं । इन सब देवताओंकी गौरींका एक मकालेदा है, उसका नाम अरना है, जो ब्रह्मका अंग वहां रहता है । इसका चित्र इस तरह हो सकता है—

ब्रह्म
इन्द्र, चण्डण, सूर्य, वायु, आग्नि आदि
सब देव ।

जीवात्मा
देवतांश मन, आंख, प्राण, वाणी
आदि देवोंके संश ।

बड़ी गोशाला-विश्व-विराट् ।

इस तरह यह गोशाला वर्णन है । यह गोशाला अपना शरीर ही है । इसमें सब इंद्रियोंके स्थानके देव गोकर्षी हैं और उनका अधिष्ठाता का मा उनका सब भिदा, गोदान, भगवन् दे । वही अंगरूपसे यथा आता है और सबका चरण कर रहा है । इसी कारण इस पुरुषको [इन्द्र ब्रह्म] 'यह ब्रह्म है' ऐसा कहते हैं । क्योंकि सब देवताएं इसके आधीन रहती हैं । [मं० ३२] वहां गो और गापालका विशार पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं ।

इस पुरुषमें तीन भाग हैं । एक भागसे यहाके पार्थिव भाग मोगे जते हैं, दूसरे भागमें दिव्य सुख गम किदा जाता है और तीसरे भागमें इन्द्रो ग सबष क्रोडा जाता है । [मं० ३३] ये तीन भाग स्थूल सूक्ष्म कारण नामसे प्रसिद्ध हैं ।

छोटी गोशाला-देह ।

जब गर्भाशयमें बीजबिन्दु चला जाता है, तब वहां रहनेमें वह स्थिर होकर गम बढन लगता है । वहां पुत्रपुत्रपत्न्या होनेसे जलमें सब तरफके समान वहां गर्भ बढने लगता है । उसके चारों ओर एक प्रकाश का जल रहता है । इस जलसे उसको रक्षा होती है, इस जलमें यह रहनेके कारण ही इसका सब अथव [के-सब] उदकमें शवस्वरुप बहा जाता है । [मं० ३४]

इस तरह यह शरीररचन देवोंका एक विश्वरूप कार्य है । यह अद्भुत रचना है, यह आश्चर्यमयी घटना है, यही देवाका अग्नि है और यही सत्य कथिप्रेष आश्रय है । हर एक मनुष्यको यह प्राप्त हुआ है । इसको अपनी तपस्यासे उद्यत करें और साधक अपना जीवन सकल करें ।

युद्धकी तैयारी ।

[९]

(ऋषि—कांकायनः । देवता-अर्बुदिः)

ये बाहवो या इर्षयो घन्वर्ना वीर्याणि च । अमीन् परंशानुग्रुषं चित्ताकूतं च यद्धुदि ॥
 सर्वं तदर्बुदु त्वमामित्रैर्म्यो हृशे कुरुदारांश्च प्र दर्शय ॥१॥
 उत्तिष्ठत सं नक्षत्रं मित्रा देवजना युग्म ! संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥२॥
 उत्तिष्ठतना भेधामादानसंदानाम्याम् । अमित्राणां मेनां अमि घत्तमर्बुदे ॥३॥
 अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः । याम्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
 ताम्यामिन्द्रं मेदिम्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥४॥
 उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे मेनया सह । भञ्जन्मित्राणां मेनां भोगोभिः परि वारय ॥५॥
 सप्त ज्ञातान् न्यर्बुद उदारानां समीक्षयन् । तेभिष्ट्वमाज्ये हुने सर्वैरुत्तिष्ठु सेनया ॥६॥

अर्थ—हे (अर्बुद) शत्रु-! नाश करनेवाले ! (ये बाहवः) जो ब हुए हैं, (याः इषवः) जो बाण हैं, जो (घन्वर्ना वीर्याणि) शस्त्र-शक्ति के पराक्रम हैं, तथा (अमीन् परंशानुग्रुषं) तलवारा फरसों और आयुधोंको तथा (यत् हृदि चित्ताकूतं च) जो हृदयमें संरक्षित हैं, (तत् सर्वं) उस सबको (एवं अमित्रम्यः इतो कुरु) तू शत्रुओंको भीति दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) बड़े बड़े इतिहास अथ शत्रुओंको दिखा ॥ १ ॥

हे (मित्राः देवजनाः) मित्रो ! और हे देवजनो ! (युग्मं उत्तिष्ठत) तुम ठठ, (सं नक्षत्रं) तैयार हो जाओ । हे (अर्बुदे) शत्रुके नाश करनेवाले ! (या नः मित्राणि) जो हमारे मित्र हैं, उनको तुम ध्यानमें रखो और (वः संदृष्टा गुप्ताः सन्तु) तुम्हारे सब सैनिक देखे हुए और सुरक्षित हों ॥ २ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुघ्न शक ! (उत्तिष्ठतं अमिघत्तं) उठे, युद्धका प्रारंभ करो, (आदान-संदानाम्याम्) धरपकड़ करके (अमित्राणां सेनाः अमिघत्तं) शत्रुओंकी सेनाओंको घेर ले ॥ ३ ॥

(वः अर्बुदिः नाम देवः) जो अर्बुदि नामक मेनाश्वर है, और (यः न्यर्बुदिः ईशानः) जो न्यर्बुदि नामक सेनाका मुखिया है । (याम्यां अन्तरिक्षं आवृतं) किन्हीं अन्तर्गत्त घेरा हुआ है, (इयं च मही पृथिवी) यह बड़ी पृथिवी भी अन्तर्गत्त हुई है । (ताम्यां इन्द्रमेदिम्यां सेनया जित इति अहं अन्वमि) उन इन्द्र और मेदिके द्वारा सेनाके शत्रुको जीत लिया, अतः उनके पयात् मैं जाता हूँ ॥ ४ ॥

हे (देवजन अर्बुदे) देवजन-शत्रुघ्न-शक ! (एवं सेनया सह उत्तिष्ठ) तू सेनाके साथ ठठ । (अमित्राणां सेनां) शत्रुओंके सेनाके (भोगोभिः सञ्जन् परिवारय) अपनी पकड़ोंसे घेर करके नष्ट कर ॥ ५ ॥

हे (न्यर्बुदे) शत्रुघ्नशक ! (उदारानां सप्त ज्ञातान् समीक्षयन्) स्फोटक अश्लोकें साथ प्रकारोंको देखकर (आज्ये हुते) घृष्टकी आहुति देते ही (यमिः सर्वैः सेनया एवं उत्तिष्ठ) उन सबको साथ लेकर अपनी सेनाके साथ चूठ ॥ ६ ॥

प्रतिष्ठानाभुंमुखीं कृषुकर्णीं च क्रोशतु । विकेशीं पुरुषे हृते रदिते अर्बुदे तव ॥७॥

संकरपन्ती कुरूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती । पतिं आतरंमास्त्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥८॥

अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्वेनाः पतत्रिणः ।

ध्वाक्ष्णाः शकुनैवस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥९॥

अयो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः । पौरुषेयस्ये कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥१०॥(२५)

आ गृहीतं सं बृहतं प्राणापानान् न्यर्बुदे ।

निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥११॥

उद् वैषय सं विजन्तां भियामित्रान्तं सृज । उरुग्राहैर्वाह्वैर्विष्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥१२॥

मुहान्त्वेवां बाह्वर्षिताकृतं च यद्दि । गैपामुच्छैपि किं च न रदिते अर्बुदे तव ॥१३॥

प्रतिष्ठानाः सं घावन्तूरः पट्टावाधनाः ।

अचारिणीर्विकेशयो रुद्रुत्ययुः पुरुषे हृते रदिते अर्बुदे तव ॥१४॥

अर्थ- ८ (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (पुरुष हृते) शत्रुके वार मरनेपर, उन्मत्ता आ (विकेशी कृषुकर्णी) बाणोंको खोलकर आभूषणरहित कर्णोंसे (अभुमुखी प्रतिष्ठाना) आँसुओंसे भरे हुए मुखसे छती पीटती हुई, क्रोशतु) बर्षा आकाश करे ॥ ७ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (कुरूकरं संकरपन्ती) हाथ पैर चितती हुई, (मनसा पुत्रं इच्छन्ती) मनसे पुत्रकी कामना करनेवाली, (पतिं आतरं मात् रवान्) पति, माई और अपने बाहवोंका हित चाहनेवाली शत्रुका पत्नी खूब रोवे ॥ ८ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (अलिक्लवाः जाष्कमदाः) मयानक बड़े बड़े मौस खानेवाले पक्षी (गृध्राः श्वेना पतत्रिणः) गीब, श्वेन आदि पक्षी (ध्वाक्ष्णाः शकुनयः) कौबे और शकुनि पक्षी (अमित्रेषु तृप्यन्तु) शत्रुकी मृत सेनाका मौस खाकर तृप्त हों, यह तू (समीक्षयन्) देखता रह ॥ ९ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुपातक वीर ! (तव रदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होनेपर (पौरुषेये कुणपे अयि) शत्रुके पुरुषके मुँहपर (अयो सर्वं श्वापदं) सब जानवर (मक्षिकाः क्रिमिः तृप्यतु) मक्षिकयाँ और कीड़े सब तृप्त हो जाय ॥ १० ॥

हे [अर्बुदे, न्यर्बुदे] शत्रुपातक वीर ! [तव रदिते] तेरे शत्रुपर आक्रमण होनेपर [समीक्षयन्] और देख देखकर हमला होनेपर, [प्राणापानान् बृहन्तं सं आगृहीतं] शत्रुके प्राणोंको पकड़ो और बड़ा हमला करो । उच्छे [अमित्रेषु निवाशाः घोषाः सं यन्तु] शत्रुओंसे बड़ा कोलाहल मच जावे ॥ ११ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुपातक वीर ! (अमित्रान् उद् वैषय) शत्रुओंको ग्यभीत करो । (सं विजन्तां) शत्रु मच्छे अपने हाथ जाय । (मिया संसृज) शत्रु मयभीत हो । (उरुग्राहैः बाह्वैः अमित्रान् विष्य) बड़े पकड़वाले बहुओंसे छेड़ने-पौरय शत्रुओंका मार ॥ १२ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुपातक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (एषां बाहवः मुद्रन्तु) इनकी बहुरं शिविल हो जाय, (यद्दि ह्यिषाकृतं च) जो हृदयके संरक्षक हों वे निःशरय बनें, (एषां विंघन मा ह्यर्षेवि) इन शत्रुओंसे कोई भी न बच ॥ १३ ॥

हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रदिते) तेरे आक्रमण होनेपर (पुरुषे हृते) शत्रुके वीर पुरुष मरनेपर उनकी विधवा (उरः प्रतिष्ठानाः) छाती पीटती हुई, (पट्टरी भावनाः) जंघाओंका संदेहती हुई (अचारिणी विकेशयः रुद्रः) तीव्र व आकाश बाणोंका न घमेरती हुई रोती रह ॥ १४ ॥

अन्वितरिप्सरसो रूपका उतावुदे । अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैपिणीम् ।

सर्वास्ता अर्बुदे त्वमभिन्नैभ्यो दृष्टे कुरुदाराश्च प्रदर्शय ॥१५॥

सुहृदोऽधिचक्रुमां खर्विकां खर्ववासिनीम् । य उदारान् अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

सुर्पा इतरजना रक्षसि ॥१६॥

चतुर्दंष्ट्रांछयावदतः कुम्भघुङ्गां असृहमुखान् । स्वभ्यसा ये चोद्भवसाः ॥१७॥

उद् वैषय त्वमर्बुदेऽमित्राणाम्भूः सिचः । जयांश्च जिष्णुष्यामित्रां जयतामिन्द्रमेदिनी ॥१८॥

प्रन्लीनो मृदितः शयां हतोऽुमित्रो न्यवुदे ।

अग्निजिह्वा धूमशिक्षा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥१९॥

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु र्वरम् । अमित्राणां शचीपतिर्माभीषा मोचि कश्चन ॥२०॥ (२६)

उत्कंसन्तु हृदयान्युर्ध्वः प्राण उदीपतु । शोऽकास्यमनु वर्तताममित्रान् मोत मित्रिणः ॥२१॥

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो यधिराश्च ये । तमसा ये च तूपरा अथो वस्तामिवासिनः ।

सर्वास्तां अर्बुदे त्वमभिन्नैभ्यो दृष्टे कुरुदाराश्च प्रदर्शय ॥२२॥

अर्थ-हे (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (अन्वितः) कुतोको नाथ लेकर चलनेवाली शिवा, (उत) और (अन्तः पात्रे रेरिहतीं रिशां) बर्तनेके अन्दर चाटनेव ली हिंसक स्वभाववाली (दुर्णिहितैपिणी) दुष्ट दृष्टिवाली कुतियां (सर्वाः) पाः एवं अभिन्नैभ्यः रवो क्रुह) ये सब तू शत्रुओंको दिखानेके लिये तैयार कर और (उदारान् च प्रदर्शय) रफोटक अन्न भी दिखा ॥ १५ ॥

(ज- हूरे अग्नि चंकरा) आधाचमै धूमनेवाली (खर्विकां खर्ववासिनीं) छोटी और छोटे स्थानपर रहनेवाली हिंस पक्षिकाको दिखा । (ये अन्तःपात्राः उदारानः) जो छिपाकर रखे हुए रफोटक अन्न हैं उनका प्रयोग कर । (ये गन्धर्व-प्सरसाः च सर्वाः इतरजनाः रक्षसि) गंधर्व, अप्सरा, छर्प, राक्षस और इतर लोग हैं, तथा जो (चतुर्दंष्ट्रान् चयावदतः) चार दाँवों ले, काले दाँतोंवाले, (कुम्भघुङ्गान् असृहमुखान्) घड़ेके समान अण्डहवने और मुँहसे रक्त गिरानेवाले, (ये स्वभ्य-साः ये च उद्भवसाः) जो भयभीत होनेवाले और बरानेवाले हैं, उन सबको शत्रुओंको दिखा ॥ १६ १७ ॥

हे अर्बुदे ! (एवं अभिमित्राणां चमूः सिचः उद्देपय) तू इन शत्रुओंके सेनासमूहोंको धंषायमान कर । (जिष्णुः अभिमित्रान् चयान्) जयशील वीर शत्रुओंको जाँते और (इन्द्रमेदिनी जयतां) राजा और मित्र दोनों विजयी हों ॥ १८ ॥

हे अर्बुदे ! (अभिमित्रः प्रन्लीनः मृदितः इतः शयां) शत्रु घेरा जाकर काटा हुआ मर जाय । अपनी (सेनया अग्नि-जिह्वाः धूमशिक्षाः जयन्तीः यन्तु) सेनाके साथ अग्निभी उवालाएँ और धूमकी शिक्षाएँ विजय करती हुई चले ॥ १९ ॥

हे अर्बुदे ! (तया प्रणुत्तानां अभिमित्राणां) उस सेनासे भगाए गये शत्रुओंके (वरं वरं शचीपतिः इन्द्रः हन्तु) मुख्य वीरोंको समर्थ वीर मार डाले (जमीयां कः चन मा मोचि) उनमेंसे कोई भी न बचे ॥ २० ॥

(हृदयानि उत्कंसन्तु) शत्रुओंके हृदय उखल जाय, (प्राणः ऊर्ध्वः उदीपतु) शत्रुका प्राण ऊपर ही ऊपर चला जाय, (अभिमित्रान् शोऽकास्यं अनुवर्ततां) शत्रुओंके मुख सुल जाय । परंतु (मित्रिणः मा उत) हमारे मित्रोंको यह कष्ट न होय ॥ २१ ॥

हे अर्बुदे ! (ये च धीराः ये च अधीराः) जो धैर्यवाले और जो भाँसू हैं, (ये पराञ्चः ये च यधिराः) जो दूर सामनेवाले और जो बाधिर हैं, (तमसा ये च तूपराः) अन्धकारसे जो घेरे हुए हैं, (अथो वस्तामिवासिनः) और जो बकरोंके समान गुजारा करनेवाले हैं (सर्वांन् तान् एवं अभिन्नैभ्यः रवो क्रुह) उन सबको तू शत्रुओंको दिखानेके लिये आगे कर, और (उदारान् च प्रदर्शय) रफोटक अन्नको शत्रुओंक प्रति दिखा ॥ २२ ॥

अर्धुदिश्च त्रिपन्धिश्चामित्रान नो वि विध्यताम् ।

यथैषामिन्द्र वृत्रहन् इनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रस्यः

॥ २३ ॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोपंघीहृन् वीरुषः ।

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजानान् पितृन् ।

सर्वास्ताँ अर्धुदे त्वममित्रैर्यो ह्ये क्रूराग्रांश्च प्र दर्शय

॥ २४ ॥

ईशां चो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः ।

ईशां च इन्द्रश्चाग्निश्च घ्राता मित्रः प्रजापतिः ।

ईशां च ऋषयश्चक्रुर्मित्रेषु नभीक्ष्यन् रदिते अर्धुदे तव

॥ २५ ॥

तेषा सर्वेषामीशाना उर्चिष्ठतु ये नह्यध्वं मित्रा देवजना युयम् ।

इमं संग्रामं संजित्य यथात्वेकं वि तिष्ठध्वम्

॥ २६ ॥ (२७)

अर्थ- (अर्धुदिः च त्रिपन्धि च, अर्धुद और त्रिपन्धि ये हमारे वीरन यर, (न अमि-ान् 'विविधपती) इनारे शत्रुओंके मर दे । (वृत्रहन् शचीपते इन्द्र) हे इन्द्र राक राच पते इन्द्र प्रभो ! [यथा एषा अमित्राणां सहस्रस्यः इनाम] इन शत्रु-ओंके सरसों की संख्यामें हम मार दे ॥ २३ ॥

हे अर्धुदे ! वनस्पतियों और वनस्पतिये बने पदार्थों औषधियों, लताओं, पंघर्व, अप्सरा, सर्प, देव, पुण्यजन और पितरोंकी वृ [अमित्रैर्यो ह्ये क्रूरा] शत्रुओंको दिखा और [वदामान् च प्रदर्शय] रफेटक अज्ञोंको प्रदर्शित कर, बिसधे शत्रु हर जाय ॥ २४ ॥

हे अर्धुदे [तव रदिते] तुम्हारा ठाकमण हेनेपर [अमित्रेषु नभीक्ष्यन्] शत्रुओंका भिक्षण करनेके पदार्थ हमारे शत्रुओंके ऊपर [मरुतः देवः आदित्य ब्रह्मणस्पतिः] आदित्य देव, बृहस्पति और मरुत [ईशां चक्रुः] अधिहार करे । इन्द्र, अग्नि, घ्राता, मित्र, प्रजापति ये देव [वः । ईशां चक्रुः] तुम शत्रुओंपर शासन करे । (ऋषयः) ऋषि-योग [ईशां चक्रुः] शासन करे ॥ २५ ॥

हे [मित्राः] मित्रो, हे [देवजना.] देवजनों ! [युयं तेषां सर्वेषा ईशानाः] तुम उन सब शत्रुओंके अधिगति हो [उर्चिष्ठतु सं नह्यध्वं] उठो, तैयार हो जाओ । [इम संग्रामं संजित्य] इस युद्धमें उत्तम प्रकार जय प्राप्त करके [यथात्वेकं वि तिष्ठध्वम्] अपने अपने देश जाकर सुखसे रहो ॥ २६ ॥



युद्धकी नीति

वेदमें युद्ध—विययक अनेक सूक्त हैं और अनेक सूक्तोंमें युद्धविययक निर्देश हैं। इसी प्रकारका यह सूक्त है। इसका वेदमा " अर्बुद " है। " अर्बुद " शब्द संख्यावाचक है, वैशाही न्यर्बुद भी है।

अर्बुद १०,००,००,०००

न्यर्बुद १,००,००,००,०००

इस तरह यह संख्या मानी गयी है। अर्बुदसे दस गुना न्यर्बुद है। दस कोटी संख्या अर्बुदमें और सी कोटी न्यर्बुदमें होता है। कईयोंके मतसे दोनों संख्याका समान अर्थ दसकोटी ही होता है। कुछ भी हो दस कोटी संख्यावाचक ये शब्द हैं; इसमें संदेह नहीं है।

इतनी सेना किसी सेनापतिके आधीन रहेगी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। दस बीस लाख सेनाको सेनापति चलाता है, ऐसे उदाहरण इतिहासमें हैं। अतः वहाँतक इस संख्याको मर्यादित समझना चाहिये ऐसा कई कहते हैं। इनके मतसे ' अर्बुद ' शब्दसे ' एक लाख सेना ' समझी जाय और " न्यर्बुद " शब्दसे " दस लाख सेना " मानी जाय। परंतु यह एक मत है, इसके लिये कोई विशेष प्रमाण नहीं है।

जिस सेनापतिके आधीन त्रितनी सेना होती है, उसको वैशा नाम मिलता है। अर्थात् जिसके पास अर्बुद सेना हो उसका नाम " अर्बुदी " और जिसके पास न्यर्बुद सेना हो उसका नाम " न्यर्बुदी " होना स्वाभाविक है। अतः ये नाम सेनापतिके वाचक हैं। श्री० सायणाचार्य कहते हैं कि, ये नाम सर्प के वाचक हैं—

अर्बुदः कादधेयः सर्पैः ऋषिर्मन्त्रकृत् ।

(ए० शा० १।१।)

इस ऋषिके अनुष्ठार अर्बुद कद्रुका पुत्र सर्पजातिका ऋषि है, उसके दो पुत्र थे, एक अर्बुदि और दूसरा न्यर्बुदि। ऐसा माननेपर भी ये सेनापति थे, ऐशाही मानना पड़ता है।

अर्थात् अर्बुदि और न्यर्बुदि ये नामस्वपक्षके सेनापतियोंके हैं, इसमें संदेह नहीं है। हमारे विचारसे इन शब्दोंके निश्चित अर्थोंके विषयमें अभी बहुत खोजकी आवश्यकता है। तबतक सूक्तके

पूर्वापर संबंधसे हम इनकी विशेष अधिकारके शूर सेनापति ही समझते हैं। इस सूक्तका अर्थ ध्यानमें आनेके लिये ऐसा समझ लीजिये कि, एक राजा है, उसके पास दस तरहके सैनिक और सेनापति हैं और शत्रुमें युद्ध छिड़ गया है। इस अवस्थामें क्या करना चाहिये यह उपदेश यहाँ है।

" अपने सैनिकोंका जो बाहुबल है, उसके पास जो धनुष्य, बाण, परशु, तलवार आदि आयुधसमूह है, उन सबकी ऐसे ढंगसे रचना करो कि उनको देखकर ही शत्रु भयभीत हो जाय। " [मं. १] अपने सैन्यकी आँर अपने शलाखोंकी सुभज्जता एसी करनी चाहिये और उसका प्रभाव शत्रुपर ऐसा पड़ना चाहिये कि शत्रु युद्ध करनेके लिये कष्ट तक न रहे। जो आनेमनके संकटा हैं, जिस कारण युद्धके क्षेत्रमें उतरना पड़ता है, वह सब ऐसी योजनासे जगत्में उद्घोषित करना चाहिये कि, जिससे जनताको पता लगे कि शत्रुके पक्षमें ही बड़ा भारी दोष है और अपना पक्षनिर्दोषी है, परंतु धर्मरक्षाके लिये ही हमें युद्ध करना आवश्यक हुआ है। इस ढंगसे जनताके मनमें शत्रुका पक्ष अत्यंत निर्बल होता है और अपने पक्षको जनताकी अनुकूल समति मिलती है। युद्धमें जय मिलनेके लिये इसकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

पाण्डवोंका सैन्यबल कम था और कौरवोंका अधिक था। शलाखबल भी पाण्डवोंका अपेक्षा कौरवोंका ही अधिक था। तथापि कौरवोंकी निंदा जनतामें इतनी हो चुकी थी कि वे जनताकी दृष्टिमें मर चुके थे। इसका लाभ पाण्डवोंको मिल गया। यहाँ युद्धनीतिकी बात इस मंत्रमें सूचित की है। जिसको परास्त करना है, उसपर अपने शलाखसाधनोंका प्रभाव जमाना चाहिये और मनके संकल्पोंसे भी उसे जीतना चाहिये। इस प्रकारकी नीति होनेके पश्चात् युद्धमें प्रत्यक्ष रणक्षेत्रपर जीत होनेकी संभावना हो सकती है।

शत्रुको अपने " उदारों " का प्रदर्शन कराना चाहिये। उदारनामक वे अन्न हैं कि जो शत्रुपर दूरसे फेंके जाते हैं और वे वहाँ गिरकर शत्रुका भयंकर नाश करते हैं। जैन बह्दक पात्र होते हैं, उनको आग छगानेसे ब्राह्मण बलती है और

अभिर्मे उय वाह्वके ज्यलनथा पया वृषवा बाहर बाता
 है। इसका नाम है उदार [उत्—आर], अंदरसे ऊपर
 फेंकना, अंदरसे एकदम बाहर आना और चारों ओर
 फेंका जाना। जो अन्दरसे बाहर और ऊपरकी ओर फेंका
 जाता है, उसका नाम " उत्—आर " है। इस अर्थकी
 शत्रुके ऊपर फेंका जानेपर वह बड़ा फटना है और उससे अन्द-
 रके विनाशक पर्याप्त वेगसे बाहर फेंके जाते हैं, जिससे शत्रुका
 नाश हो जाता है। इस तरह के उदार अनेक प्रकारके अपने
 पास हैं और युद्ध होनेपर इनके द्वारा शत्रुका नाश अतिशीघ्र
 करना हमें सुलभ है, यह बात शत्रुके हृदयमें जैसी हो वैसी
 स्थिर करनी चाहिये। जिससे शत्रु चरगा और युद्धके लिये खड़ा
 ही नहीं होगा। इस दिखानेसे भी बहुत नार कार्यमात्र हो
 सकता है।

जितना दिखावा करना होगा, उतनाही करना, परंतु अपने
 गुप्त साक्षात् शत्रुको नहीं दिखाने चाहिये। क्योंकि अपने
 सब शत्रुनाहोका पूर्ण पता शत्रुको लगाना नहीं चाहिये। अपने
 पास शत्रुसूत शरणाग्र हैं, उनसे शत्रुका विनाश ही ही सकता
 है, इतना ही प्रमान शत्रुके मनपर स्थिर करना चाहिये। युद्ध-
 के विना शत्रुका नाश करनेकी यह योजना है। इन अपने
 उदार नामक शत्रुनाहोका प्रदर्शन करनेका उपदेश भंश १,
 १५, २०, २४ में किया है। इसका ठीक अर्थ समझना चाहिये।
 नहीं तो अर्थका अन्वय होनामें विलंब नही लगेगा। यहां कंचन
 प्रदर्शन अपात् 'दिखावा' करना है, यह दिखावा केवल शत्रु-
 पर अपनी शक्ति का प्रमात्र जमानेके लिये ही है। जो अपनी
 अहंता सामर्थ्य है, वह इस दिखानेमें प्रदर्शन नहीं होनी चाहिये।
 अर्थात् दिखावा ऐसा ही कि शत्रु इस दिखानेसे ही दब
 जावे।

पदात् एव सेनाको सजक कर्के सब सेनापति तैरार रहें।
 जिस समय लड़ना पड़े इसका पता नहीं होता है, अतः
 सर्वदा सजक रहना चाहिये। अपने जो मित्र राजा हैं, उनकी
 शक्तिका भी विचार करना चाहिये। सुरक्षितताके साथ वे अपने
 नेके यथासमय मिले इस विषयमें सदा दख होकर कार्य
 करना चाहिये। (म० २) अपने विजयकी निश्चितता होनेके
 लिये यह सब इधी तरह करना योग्य है।

बाहर अपनी शक्ति बढी है ऐसा प्रभाव फैलाना, उठी
 तरह अपनी तैराई करना, सदा अपनी सेनाकी सजकता रखनी

और अपने मित्रदलोंकी सुरक्षितता स्थिर करनी, वे कार्य
 युद्धके पूर्व करनेके हैं।

जब युद्ध छिड़ना अपरिहार्य हो जावे, तब अपनी तैराई
 करके लड़ना और युद्धका आरंभ करना। इसमें शत्रुको खोजने
 की भी गुरुरत नहीं देनी चाहिये, वह विशेष ध्यान मनन
 करने योग्य है। शत्रुके साथ जो युद्ध करना है, उसमें 'लादान
 और संदान' वे दो प्रकारका युद्धविधि हैं। एकसे शत्रुको एक-
 दम चारों ओरसे घेरकर बरकना होता है और दूसरेमें मिलकर
 शत्रुपर एकदम दबा करना होता है। इस तरहके युद्धसे
 शत्रुकी बड़ी सेना हुई तो भी युद्धमें विजय संपादन किया
 जा सकता है। जब इस तरह विजयकी संभावना हो सभी
 शत्रुके सामने जाकर [अनिघण्ट] उधर चढाई करनी
 चाहिये। (म० २) इस धैर्यके शक्रेका मनन करनेसे युद्धकी
 नीति का पता लग सकता है।

एक बड़ा सेनापति है और दूसरा उसके नीचे कार्य कर-
 नेवाला है। वे दोनों मिलकर पृथ्वी और आकाशमें ऐसा परा-
 क्रम करें कि वहके शत्रु पूर्णतया लखक नावे। पृथ्वीके
 ऊपर पैदल, पुष्टसवार और राध गंधे युद्ध होगा, आकाशमें
 विमानोंसे युद्ध होगा और पहाडोंपर तथा पर्वतशिखरोंपर तो-
 पोंसे युद्ध होगा। जहां जिसका युद्ध करना हो, वहां उसका
 युद्ध अत्यंत कुशलताके साथ करके अपनी विजय और शत्रुकी
 पराजय करनी चाहिये। इस तरहसे विजय प्राप्त करनेके पदचाल
 राजा अपनी सेनाके साथ शत्रुस प्राप्त किये प्रदेशमें प्रवेश करें।
 (सेनाका अर्ध अन्वेषि) सेनासे मैं राजा सब स्थानमें प्रवेश
 करता हू। राजा ऐसा ही करे। पूर्ण विजय होनेके पूर्व कभी
 शत्रुके प्रदेशमें राजा प्रविष्ट न हो। (मं० ४) क्योंकि राजा-
 पर ही राष्ट्र का हीमाग्न अवलंबित होता है। यदि राजा
 व्यवधानीय शत्रुके प्रदेशमें गया और वहां संभ्रममें फंस गया
 तो सब सेनाका परामर्श और राष्ट्रकी मानहानि होना संभव है।
 इसलिये अपनी पूर्ण जय होनेपर, वह शत्रुप्रदेश अपने अधि-
 धारमें पूर्णतः आ चुकनेपर और कोई कर न रहे तभी राजाने
 अपनी सुरक्षितताके लिये अपनी विजयाद रक्षने योग्य सेना अपने
 साम निकर उस विजित प्रदेशमें प्रवेश करना चाहिये। राजा-
 की सुरक्षिततापर ही सब कुछ अवलंबित है। वहां राजा का
 अर्थ मुख्य राज्यशासक समझना चाहिये।

योग्य समयपर सेनाका (संभ्रान्त) उठाकर, बढाई की

तैयारी करके उठना और शरहकी सेनाको ऐसा घेरना कि जैसा सांप या भ्रजगर किसीके लिपट जाता है । और इस तरह शरहको घेर घेरकर, चिपटकर, छपटकर, मारना चाहिये । सेनाको चारों ओरसे घेरना, अपनी सेना इनकी अधिक रखनी कि जिससे शत्रु फिर जाय । अपने सेनारूपी सांपसे शरहको घेरना करना और उसका हलचल बेद करना, उसका अन्य जगत्से संबंध तोड़ना और उसको हूरान करना । [मं० ५]

जो उदार नामक स्फोटक अस्त्र हैं, वे सात प्रकारके होते हैं, एक भूमिमें [अन्तर्हिताः उदारः] गाढकर रखे जानेवाले, दूसरे पानीके अन्दर रखे जानेवाले, तीसरे हाथसे फेंके जानेवाले, चौथे आकाशमें जाकर फेंके जानेवाले, पाँचवे बाणपर रखकर शरहपर फेंके जानेवाले, छठे नदी तालाब आदि छोटे जलाशयोंमें रखे जानेवाले और सातवें पहाड़ोंपर काम देनेवाले । ये सात प्रकारके महाघातक विस्फोटक नदर होते हैं । जहाँ ये रखे जाते हैं वहाँ शरहको घेर कर लाया जाता है और शरह वहाँ आया तो इनका विस्फोटक द्रव्य फट जाता है, इनसे उद्धार निकलते हैं जो शरहको एकएक छिन्नभिन्न कर देते हैं । इन सातों प्रकारोंके उदारोंको अपने पास लेकर अपनी सेनासे शरह वचाई करनी चाहिये । हथनामिमें घृतीकी आहुतिय देकर सभ सेनिकोंको सिद्ध होना चाहिये और एकदम शरहपर हमला प्रारम्भ होना चाहिये [मं० ६] यह प्रायः सबेरे का ही हवन है जो चढाईका सूचक है ।

इस तरह सिद्ध होकर शरहपर हमला करनेसे शरह मारा जायगा, परास्त होगा, भाग जायगा अथवा ऐसा नष्ट होगा कि उसके राज्यमें वित्रयोंको रोने और आक्रोश करनेके विषय दुसरा कोई कार्य रहेगा ही नहीं । [मं० ७—९] शरहकी सेनाके पुरुष मर जाय और झर जानवर उनके प्रेत खा जाय । (मं० १०) उनका वित्रयों छ ती पीट पीटकर आक्रोश करें [मं० १४] शरह मारे जाय और उनमें सेने पीटनेका बडा कोलाहल मच जाय [मं० ११] ऐसा हमला किया जाय कि शरह भयभीत होकर भाग जाय अथवा पकडा और मारा तथा काटा जाय [मं० १२] शरह मोहित हो जाय धीर बनका कोई शेष न रहे [मं० १३] शरहको मुँदें धानेवाले पशुपक्षी वीक्षते रहें, कुत्ते इनके मुँदोंका खाते रहें, हिंस्रक चरकर श्वापद इनके स्थानमें घूमते रहें [मं० १५]

[ख—दूरे] आकाशमें दूर ऊपर अपनी सेना जाकर शरहपर हमला करे [खर्ष—वासनी] निम्न स्थानमें रहनेवाली शरह—सेनाको ऊपरसे मारा जाय, [अन्तर्हिताः उदारः] भूमिमें अथवा जलमें अदृश्य करके जो उद्धारणशील अस्त्र हैं उनका स्फोट होकर शरह मारे जाय, गंधर्व, अप्सरा, सर्प, राक्षस व इतर लोगों की सहायता लेकर शरहको उखाडा जाय । इस तरह शरहका पूर्ण पराभव किया जाय [मं० १६—१७] ।

उक्त रीतिमें शरहका पूरा नाश किया जाय । अपनी सेनाका सर्वत्र विजय हो । [मं० १८]

शरहको घेरकर मारा जाय । अपनी सेना के साथ आम्बिकी ज्वालाएं और धूमकी शिखाएं हों । अर्थात् ऐसे अस्त्र हों कि जिससे आम्बिकी ज्वालाएं निकले और धूँवेसे शरह घेरा जाय इस तरह शरहका नाश हो । [मं० १९]

शरहसेनाके [चरं वरं हन्तु] बड़े बड़े वीरोंको चुनचुनकर मारा जाय और उनमें नेता कोई न रहे । उनमें कोई नेता न बचे (मं० २०) । इस तरह पराजित होनेपर शरह के हृदय उखल जाय, प्राण चले जाय, मुख सूख जाय, ऐसा शरह न बचने तक इमला होता रहे । परंतु ध्यान रहे कि अपने पक्षके लोगोंको [मित्रिणः मा] इनमेंसे कोई कष्ट न हों । [मं० २१]

धैर्यवान् और भीरु जो भी हों, जहाँ कहीं रहनेवाले हों, इन सबको परास्त किया जाय । शरहसेनाके हमारों वीर कांड जाय । वनराति औषधि स्फोटक पदार्थ आदि हरएक पदार्थसे शरहको परास्त किया जाय । [मं० २२—२४]

हमारे अग्नि, सूर्य, घाता, प्रजापति आदि तथा हमारे अग्नि और हमारे वीर शरहोंपर अधिकार करें, अर्थात् हमारी सम्पत्ताके अन्दर शरहकी सभ जनता आका आश्रय लेवे । अर्थात् शरहपर हमारा केवल भौतिकीक साम्रज्य ही न हो प्रत्युत हमारी आर्य सम्पत्ताका भी राज्य उनपर हो—और वे पूर्णतया हमारी सम्पत्तामें आ जाय । [मं० २५]

सब हमारे सैनिक इतनी विजय संघ दन करके पदचात अपने अपने स्थानमें जाकर विश्राम करें । उनका शरहोंपर स्वाभिन्व बना रहे । [मं० २६]

यह आशय इस सूक्तका है । आगे भी इसी प्रकार का सूक्त है, अब यह देखिये—

युद्धकी रीति ।

[१० (१२)]

(ऋषिः—मृगंगिराः । देवता—त्रिपन्विः)

उत्तिष्ठन् सं नख्यन्मुदांराः केतुभिः सह । सर्पा इतरजना रक्षास्यमित्राननुं घावत ॥१॥	
ऽद्यां यो वेदु राज्यं त्रिपन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।	
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ॥	
त्रिपन्धेस्ते चेतामि दृर्णामान उपांसताम् ॥२॥	
अयोमुखाः सूचीमुखा अयो विकट्कृतीमुखाः ।	
ऋष्यादो वातरहसु आ संजन्तुमित्रान् वच्रेण त्रिपन्धिना ॥३॥	
अन्तर्वेदि जातवेदु आदित्य कृणपं वृहु । त्रिपन्धेरियं सेना सुहिंवास्तु मे वशे ॥४॥	
उत्तिष्ठ स्वं देवजनाबुदे सेनया सह । अयं वलिर्न आहुतस्त्रिपन्धेराहुतिः प्रिया ॥५॥	

१०— हे (उदांरा) अपने बँतनपर उदार हुए बँर घेनिको । (केतुभिः सह इतिवृत्त, सं नख्यन्) अपनी प्यत्राओंके घाव उठो और संघार हो जावो । हे (सर्पा इतरजना) सर्पो और हे अन्य लोगो । हे (रक्षासि) रक्षाओ ! हमारे (अमित्रान् अनुपावत) शत्रुओंपर चढाई करो ॥ १ ॥

१ (त्रिपन्धे) त्रिपन्धि वज्रयुग वीर ! (अरुणै केतुभिः सह) लाल कण्ठोंके साथ (इत्तां यः राज्यं वेदु) आप सब अधिधारयोंका यह राज्य हे ऐसाही मैं मानता हूँ । (ये अन्तरिक्षे, ये दिवि, पृथिव्यां ये च मानवा) जो अन्तरिक्षमें, जो शुलोकमें और जो पृथ्वीपर मनुष्य हैं उनमें जो (दुः-नामानः) दुष्ट नामवाले हैं, ये सब (ते त्रि संधे. वेतसि उपासतां) त्रिपन्धि वीरके चित्तमें रहें, अर्थात् वह वीर उनका योग्य विचार करे ॥ २ ॥

(त्रिपन्धिना वज्रेण) तान संधिषेनाले वज्रके साथ (अयोमुखाः सूचीमुखाः) लोहेके मुखवाले, सुईके समान नोकवाले, (अयो विकट्कृती मुखा) बजोर कंधेके समान मुखवाले (ऋष्यादः वातरहसः) माँव खानेवाले और बाघके वेगसे जानेवले वाण (अमित्रान् आ अनुपावत) शत्रुओंपर जाकर गिरे ॥ ३ ॥

हे जातवेदु आदित्य ! (वृहु कृणप अन्त वेदि) तू शत्रुबलाके बहुत मुँदें भूमिमें गिरा दे । (त्रि-पन्धेः इयं सेना) त्रिपन्धेवज्र धारण करनेवाली यह सेना (मे वशे सुहिता अस्तु) मेरे वशमें तत्काल प्रकाशमें रहे ॥ ४ ॥

हे (देवजन अहुते) दिव्य जन शत्रुनाशक वीर ! (स्वं सेनया सह उत्तिष्ठ) अपनेके साथ उठ । (वः अयं बलिः आहुतः) तुम लोगोंके लिये यह शररस्त्री बली लाया गया है । (त्रिपन्धे. आहुति. प्रिया) त्रिपन्धे नामक वज्रके लिये इस बलिही आहुति अर्पित प्रिय है ॥ ५ ॥

शिविपदी सं घृतु शरव्येद्रुयं चतुष्पदी । कृत्येऽमित्रैर्म्यो भवु त्रिपन्धेः सह सेनया ॥६॥

प्रसाक्षी सं पंततु कृषुर्णवां च क्रोशतु । त्रिपन्धेः सेनया जिते अहणाः संन्तु केतवः ॥७॥

अवापन्तां पुक्षिणो ये वर्यास्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति
स्वार्पदो मक्षिकाः सं रमन्तामामादो गृध्राः कृष्णपे रदन्ताम् ॥८॥

यामिन्द्रेण संघां समघत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते ।
तयाहमिन्द्रसंघया सर्वां देवानिह ह्रुव इतो जयत मामुतः ॥९॥

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः । असुरक्षयणं वृधं त्रिपन्धि दिव्यार्थयन् ॥१०॥ (२८)
येनासौ गुप्त आदित्य उमाविन्द्रश्च तिष्ठतः ।

त्रिपन्धि देवा अमजन्तौजसे च घलां च ॥११॥

सर्वीक्षोकान्तसमजयन् देवा आहृत्यानया ।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वृधम् ॥१२॥

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वृधम् ।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान् हुन्म्योजसा ॥१३॥

अर्थ—(शिविपदी चतुष्पदी इयं शरव्या) शिव पावकला और चार पावकला यह बाणोंकी पंक्ति शत्रुघ्न (सं घृ) नाश करे । हे (कृत्ये) विनाश करनेवाले ! (त्रि-पन्धेः सेनया सह) त्रिपन्धि नामक वज्र धारण करनेवाली सेनके साथ (कामिन्द्रेणः भव) शत्रुके नाश करनेके लिये तैयार हो ॥ ६ ॥

(प्रसाक्षी सं पंततु) धैर्यसे आंस पंक्ति होकर शत्रुसेना गिर जावे, (कृषुर्णवां च क्रोशतु) कानोंमें ह्रुघ्न होकर शत्रु रोगा रहे । (त्रिपन्धेः सेनया जिते) त्रिपन्धिकी सेनाका जय होनेपर (अहणाः वेतवः संन्तु) लाल रंगके ध्वज खड़े हो जाय ॥ ७ ॥

(ये दिवि अन्तरिक्षे च चरन्ति) जो धुलोक और अन्तरिक्षलोकमें संचार करते हैं वे (वर्यासि अच-अपन्तां) पक्षी इस और आ जाय । (स्वार्पदः मक्षिकाः सं रमन्तां) दिख पशु, मक्षिखयां शकके मुँहें खाने लग जाय । (आम्रादः गृध्राः कृष्णपे रदन्तां) बहू, मांस खानेवाले गीब मुँहोंको खा जाय ॥ ८ ॥

हे बृहस्पते ! (इन्द्रेण ब्रह्मणा च यां सेषां) इन्द्र और ब्रह्मके द्वारा जिस संघिको (समघत्थाः) किया था । (तया इन्द्र संघया बहू सर्वां देवान्) उध इन्द्रकी संघिके में सब देवोंको (इह ह्रुवे) यहाँ बुलाता हूँ और कहता हूँ कि (इतः जयत मा अमुतः) यहाँ जीत लो, वहाँ नहीं ॥ ९ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः) आंगिरस बृहस्पति और (ब्रह्मसंशिताः ऋषयः) ज्ञानसे तीक्ष्ण हुए सब ऋषि, (असुरक्षयणं त्रि-पन्धि वधं) असुरनाशक त्रिपन्धि नामक वज्रका (दिवि आश्रयन्) धुलोकमें आश्रय लेते रहें ॥ १० ॥

(येन जसो आदित्यः गुप्तः) जिसके द्वारा यह सर्वं सुदक्षिण हुआ है, (उमौ इन्द्र च विप्रधः) और दूसरा इन्द्र ये दोनों सुदक्षिण रहते हैं । उध (त्रिपन्धि अमजसे ब्रह्मण च) त्रिपन्धि नामक वज्रको अमज और बलके लिये (देवाः अमजन्तु) देवोंने स्वीकृत किया है ॥ ११ ॥

(आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं) आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरविनाशक वज्रको [अविचय] सींच कर तैयार किया, [अयया आहुत्या] उध वज्रके स्वीकारसे देवाः सर्वां लोकान् अजयन्] सब देवोंने सब लोकोंको जीत लिया ॥ १२ ॥

[आंगिरसः बृहस्पतिः यं असुरक्षयणं वधं वज्रं अविचय] आंगिरस बृहस्पतिने जिस असुरविनाशक वज्रको सींच-

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्रन्ति वर्षट् कृतम् ।

इमां जुषध्वमाहुतिमितो जंयत मामुतः

॥१४॥

सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिपन्धेराहुतिः प्रिया । संधां महतीं रक्षत ययाग्ने असुरा जिताः ॥१५॥

वायुरमित्राणामिष्वप्राण्याञ्चतु । इन्द्र एषां वाहून् प्रति भनक्तु मा शकन् प्रतिधामिषुषु

आदित्य एषामुखं त्रि नांशयतु चन्द्रमा युतामर्गतस्य पन्थाम्

॥१६॥

यदि प्रेषुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।

तनुपानं परिपाणं कृष्णाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृषि

॥१७॥

कृष्यादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् । त्रिपन्धे मेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥

त्रिपन्धे तमसा त्वमामित्रान् परि वारय । पुषुदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

शितिपदी सं पंतत्वमित्राणाम्पूः सिचंः । मुक्षन्त्वद्यामूः सेनां अमित्राणां न्यर्षुदे ॥ २० ॥

मूढा अमित्रा न्यर्षुदे जहोषां वरंवरम् । अनयां जहि सेनया ॥ २१ ॥

अर्थ— हर तैयार किया, [तेन अमू सेनां नि लिपामि] उस दृष्टिसे इस शरदसेनाका नष्ट करता हूँ । हे बृहस्पते ! [अमित्रान् इन्मि] सामर्थ्यसे शरदसेनाका नाश करता हूँ ॥ १३ ॥

[ये वर्षट् कृतं अश्रन्ति] जो वर्षट्कारके अश्र मक्षण करते हैं, वे [सर्वे देवाः अति-मायन्ति] सब देव शरदसेनाके अतिक्रमण करते हैं । हे देवो ! [इमां आहुतिं जुषस्व] इस आहुतिके स्वीकार करो, और [इतः जयत, मा अमुतः] यहसे शरदसेना जीत लो, वहसे नहीं ॥ १४ ॥

[सर्वे देवाः अति मायन्तु] सब देवगण शरदसेनाके अतिक्रमण करें [त्रिपन्धेः आहुतिः प्रिया] त्रिपन्धि ब्रह्मदेवकी अतिप्रिय है । [यया अग्ने असुराः जिता] जिससे प्रारम्भमें असुरोंका पराभव किया था, उस [महतीं संधां रक्षत] बड़ी संधिकी तुम सब मिलकर रक्षा करो ॥ १५ ॥

[वायुः अमित्राणां इष्वप्राणि अश्रतु] वायु शरदसेनाके शत्रुओंके अग्रभागोंको नष्ट करे । [इन्द्रः एषां वाहून् प्रतिभनक्तु] इन्द्र इनकी वाहुओंको शरद दे । ये शरद [इषु प्रतिघां मा शकन्] बाण धनुषोंपर जगानेके लिये समर्थ न हों [आदित्यः एष अखं विनाशयतु] सूर्य इनके अश्रोंका नाश करे । [चन्द्रमा अगतस्य पन्थां युतां] चन्द्रमा अगत शरदसेनाके मार्ग रोक देवे ॥ १६ ॥

(यदि दशपुराः प्रेषुः) यदि पूर्व देव अर्थात् वायुरूप राक्षस यहाँसे दूर भाग गये हैं और उन्होंने (ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे) शरदसेनाके कर्षणोंके तैयार किया है, और (तनुपानं परिपाणं कृष्णानाः) शरीरके रक्षण और प्रामादिका सब रक्षण करते हैं और जो (यपोचिरे) संघटन कर रहे हैं (तदु सर्वं अरसं कृषि) इस सबको नीरस बनाओ ॥ १७ ॥

हे त्रिपन्धि ! (कृष्यादा अनुवर्तयन्) मांसमक्षकोंको चरकर (मृत्युना च पुरोहितं) मृत्युके आगे रक्षकर (सेनया मेहि) सेनाके साथ आगे बढ़ । (अमित्रान् जय प्रपद्यस्व) शत्रुओंको जीत लो और उनका प्राण कर लो यहाँ तक अपने आधीन कर ॥ १८ ॥

हे त्रिपन्धि ! (तमसा अमित्रान् परि वारय) तु शत्रुओंको अन्धकारसे घेर, (पुषुदा- अज्य- प्रणुत्तानां अमीषां) पृषदाज्यसे प्रेरित हुए इन शत्रुओंमेंसे (कश्चन मा मोचि) किसीको भी मत छोड़ ॥ १९ ॥

(शितिपदी अमित्राणां अमूः सिचंः संपठतु) श्वेत पाँववाली शक्ति शत्रुओंकी इस सेनाके ऊपर पड़े । हे न्यर्षुदे ! (मूढा अमित्राणां सेनाः मुक्षन्तु) भाग ये शत्रुओंको सेनाएं मोक्षित हो जाय ॥ २० ॥

हे न्यर्षुदे ! (अमित्राणां मूढाः) शत्रु मूढ हो जाय । (एषां वरं वरं जहि) इनके मुखेवाओंका पराभव कर । और उनको (अनया सेनया जहि) इस सेनासे जीत ले अथवा मार डाल ॥ २१ ॥

यश्च क्वचि यश्चाक्वचोऽभित्रो यश्चाज्मनि । ज्यापाशैः क्वचपाशैरज्मनाभिर्हतः शयाम् ॥२२॥

ये वर्मिणो येऽवर्मिणोऽभित्रा ये च वर्मिणः । सर्वास्तौ अर्धुदे हताच्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥२३॥

ये रुधिनो ये अरथा असदा ये च सादिनः ।

सर्वानदन्तु तान् हतान् गृध्राः श्येनाः पंतत्रिणः ॥२४॥

सुहृत्कृणपा शेतामभित्री सेना समरे वधानाम् । विविद्धा कृजाकृता ॥२५॥

मर्माविधं रोहवतं सुपर्णेदन्तु दूधितं मृदितं शयानम् ।

य इमां प्रतीचीमाहुतिमित्रो नो युयुत्सवि ॥२६॥

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम् ।

तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषंघिना ॥२७॥ (३०)

॥ इति पंचमोऽनुवाकः ॥

॥ एकादशं काण्डं समाप्तम् ॥

सर्व- (यः च क्वचः) जो क्वचधारी है, (यः च अक्वचः अभित्रः) और जो क्वच न धारण करनेवाले शत्रु है, (यः च अज्मनि) और जो रथमें है, वह सब शत्रु (ज्यापाशैः क्वचपाशैः अज्मना अभिहतः शयाम्) जबके पाशसे और क्वचके पाशसे तथा रथके आघातसे घायल होकर गिर जाय ॥ २२ ॥

(ये वर्मिणः ये अवर्मिणः) जो क्वचधारी और जो क्वच न धारण करनेवाले और (ये च वर्मिणः अभित्रिणः) जो क्वचधारी शत्रु है, हे अर्धुदे ! (तान् सर्वांन् हतान्) उन सब मारे हुआओ (भूम्यां श्वानः अदन्तु) भूमिपर कुत्ते खावें ॥ २३ ॥

(ये रुधिनः ये अरथाः) जो रथवाले और जो रथहीन (ये सादिनाः ये च सादिनः) जिनके पास घोड़े नहीं हैं- और जो घोड़ोंपर सवार हैं, (सर्वान् तान् हतान्) उन सब मारे हुए शत्रुओंको (गृध्राः श्येनाः पंतत्रिणः अदन्तु) गंध रथेन आदि पक्षी खाएं ॥ २४ ॥

(समरे वधानां अभित्री सेना) युद्धमें मारी गयी शत्रुओंकी सेना (विविद्धा कृजा . वा शेताम्) शस्त्रोंसे विद्ध हुई और विद्धत आकार होकर गिरे ॥ २५ ॥

(यः अभित्रः) जो शत्रु (नः इमां प्रतीचीं आहुतिं युयुत्सवि) हमारी इस पूर्वाभिमुख आयी हुई ऐश्वकी आहुतिके साथ युद्ध करना चाहता है, (सुपर्णेः मर्माविधं रोहवतं) बाणोंसे मर्मोंका छेदन होनेके कारण रोनेवाले (दुधितं मृदितं शयानं अदन्तु) दुःखी खिलवाले मर्दित होनेके कारण भूमिपर पड़े उस शत्रुको दिख पशु खावें ॥ २६ ॥

(यां देवाः अनुतिष्ठन्ति) जिसका देव अनुष्ठान करते हैं (यस्या विराधनं नास्ति) जिसका विरोध नहीं होता है, (तया त्रिषंघिना वज्रेण) उसके द्वारा तथा त्रिषंघ वज्रसे (वृत्रहा इन्द्रः हन्तु) वृत्रनाशक इन्द्र शत्रुका हनन करे ॥ २७ ॥



भयानक युद्ध ।

युद्ध दे बड़ा भयानक, परंतु जबतक मानव जातिके हृदय परिशुद्ध नहीं होते, तबतक युद्ध अपरिहार्य ही है। जब युद्ध टलनेकाला नहीं है, कमसे कम आतिशय युद्ध टल नहीं सकता, तब उसे परिणामकारक बनाना चाहिये। अतः युद्धको परिणामकारक बनानेके लिये और क्षाय मानकी वृद्धि करनेके लिये वेदमें कई सूक्त रिये हैं, उनमें यह सूक्त विशेष महत्त्व रखता है। पाठक इस दृष्टिसे इस सूक्तका अध्ययन करें।

लक्ष्मणबाले वीर अपने जीवनकी पूर्णतया समर्पण करके युद्धके लिये तैयार रहें, (उदाराः) जीवनपर उदार हो जायें। विलकुल अपने जीवन की चिन्ता न करें। सब सेनाके वीर अपने अपने झन्डे लेकर खड़े हैंके लिये उन्हें और तैयार हो जायें। अपने झन्डेकी रक्षा करना सैनिकोंका कर्तव्य है। सब सैनिक अर्थात् अपने साथ अपनी सहायता करनेके लिये आये सब वीर निकलकर शत्रुपर धावा करें। (मं० १) यहाँ सर्व, राक्षस और अन्य लोगभी शत्रुपर हमला करनेके लिये आये रोज़ते हैं। जो भी अपना मित्रदल ही वह सब एक विचारसे चढ़ाई करे, आपसमें फूट न हो, प्रत्येकका विचार भिन्न भिन्न न हो, सब एकही विचारसे एक योजनमें संमिलित होकर शत्रुसे लड़ें और शत्रुकी पूर्णताके साथ परास्त करें।

वज्रनिर्माण ।

त्रिबंधि नामक एक प्रकारका वज्र है। यह बड़ा प्रखर होता है। तीन स्थानोंमें इस वज्रमें संधि किया होता है, इसलिये इसका नाम त्रिबंधि रखा गया है। त्रिबंधि वज्र है, यह अत निम्न लिखित मंत्रमें कहा है—

वज्रं त्रिपान्चिना । (मं० ३, २७)

ये वज्रं चासिचत् । (मं० १२, ११)

यह त्रिबंधिनाका वज्र है, तबमें तीन जोड़ होते हैं और यह पानीमें सिंचित करके बनाया जाता है, अर्थात् यह ज़ालाद का ही होना चाहिये, जो तपाकर पानीमें लथवा देखादि द्रव पदार्थोंमें भिगाकर बनाया जाता है। इसके निर्माणके विषयमें इस सूक्तमें जोड़ेके निर्देश हैं। जो पाठक वज्रनिर्माण की विषा

जानना चाहते हैं, उनकी इस तरहके निर्देश ध्यानमें रखना योग्य है।

लाल झण्डे ।

अरण गंगवले झण्डे सेकर तथा करने वज्र साथ रखकर सब सैनिकोंको तैयार होना चाहिये। इस रीतिसे सब सैन्य सज्ज होकर राजा सैनिकोंको संबोधित करके ऐसा भाषण करे—“ हे सूर्य सैनिकों! आज सभी इस राज्यके सभे स्वामी हैं, आप ही इस राज्यके रक्षक हैं और आपही इसके बड़नेवाले हैं। जो इस भूमिदल पर मनुष्यमान है, उनमें जो दुष्टरिज अथवा दुष्ट हैं, [दुः- नाम] दुष्टताके साथ अिनद्या नाम प्रसिद्ध हुआ है, उनको दण्ड दना आप सब वीरोंका कर्तव्य है। इस भूमिदल का राज्य निर्वन्धक करनेके लिये आप सुसज्जित हुए हैं। आपके हाथमें त्रिबंधि नामक बड़ा शक्तिशाली वज्र है। उसको सहायतासे आप हरएक शत्रुको जीत सकते हैं, अतः दुष्ट लोगोंकी दंड देना यह एवमत्र आपका कर्तव्य है, यह बात अपने चित्तमें आर [चेतसि उपासत] रखें और इसे कभी न भूलें। [मं० २] जिस कारण आपका कर्तव्य दुष्टोंकी दंड देना है, सब कारण आपके हाथसे ऐसा कोई कर्म नहीं होना चाहिये कि जो दोषयुक्त हो। इस कारण आपको अपना आचरण बरंबार देखना चाहिये।” ऐसा भाषण करके राजा अपने सैनिकोंको उत्साहित और सावधान करे।

चाणोंका स्वरूप ।

त्रिबंधि वज्र के साथ बाणधारी सैनिक भी रहें। दोनोंकी चढ़ाई शत्रुपर एक साथ हो। बाण अनेक प्रकार के होते होंगे, परंतु तृतीय मंत्रमें निम्नलिखित चाणोंका उल्लेख है—
अयोमुखा— जिनके अग्रभागमें फौलाद लगा है, जिससे बाणकी नोक तीक्ष्ण रह सकती है—

२ सूचीमुखाः— सूईके समान अग्रभागवाले बाण । ये बाण शत्रुके शरीरमें घातुरासे पुष्ट सकते हैं।

३ विंक्करीमुखाः— कंगरेके समान काटेदार मुखवाले

अथवा कंचपक्षीके मुखके समान मुखवाले । इससे विशेष मार-
कला सूचित होती है ।

‘वातरंहनः’ और ‘हृदयदाः’ ये शब्द बाणोंका वेग
और उनकी मारकता सूचित करते हैं । इस प्रकारके बाण
शास्त्रपर फेके जाने हैं और माघ साय त्रिंशंधि वज्रका भी
प्रयोग होता है । [मं० ३]

त्रिंशंधि वज्र प्रयोग करनेवाली सेना जिसके पास रहेगी
वह शत्रुको जीतनेमें निःसन्देह समर्थ होगा, क्योंकि इस
सेनाके वीर अपने जीवनका बलिदान करनेके लिये तैयार रहते
हैं और युद्धमात्रण भी इनके पास सर्वोत्तम रहते हैं । अतः
इस सेनाके द्वारा समाभूमिमें शत्रुके बहुत मुँदें गिराना संभव
हो सकता है । [मं० ४]

मेरागोन आनी एना येन के माय लडे और चडाई करे ।
युद्धमें अपने जीवनका आहुति देनेवाले सैनिक चाहिये । अन्यथा
त्रिंशंधि वज्रको सपाद्यान नहीं होता । (त्रिंशंधिः आहुतिः
प्रिया) त्रिंशंधि वज्रको इस तरहकी आहुति प्रिय होती
है । (मं० ५)

इसमें पता लगता है कि त्रिंशंधि नामक वज्रका चलाना
मुश्किल नहीं है, शत्रुसैन्यमें घुमकर उसका उपयोग किया
जाता होगा और इसलिये अपने जीवनकी आहुति देनेवाले
वीर ही त्रिंशंधि वज्रके लिये प्रिय समझे जाते हैं ।

पूर्वोक्त तीसरे मंत्रमें बाणोंके ३ प्रकार बताये हैं । अब यहाँ
दो प्रकार और बताते हैं—

४ छितपदी— तीसरे पदवाले बाण, जो बाणका भाग
फैलाव का होता है वह अत्यंत तीक्ष्ण होवे । यह विशेषण
हरएक बाणके लिये प्रयुक्त हो सकता है ।

५ चतुष्पदी— चार पदवाले बाण । इसमें काटनेवाली
बारण चार हुआ करती हैं । पूर्वोक्त बाणोंके वर्णनके साथ इन
दो प्रकारोंका विचार भी पाठक करें ।

वे सब पाण्य शत्रुसेनाको पर्याप्त प्रमाणमें काटे । इस मंत्रमें
‘हृत्वा’ नामक किसी विनाशक प्रयोगका उल्लेख है । ‘हृत्वा’
का अर्थ काटनेवाली । इस हृत्वाका अर्थ अथर्ववेद में अनेक
स्थानोंपर आया है । इस प्रयोग का ठीक पता नहीं लगता
कि वह क्या है । यहाँ त्रिंशंधि वज्र धारण करनेवाली सेनाके
साथ इस हृत्वाका प्रयोग होकर शत्रुसेनाका नाश होता है ।
अतः यह एक सन्नविशेष ही होगा । परंतु हृत्वा प्रयोगकी
विशेष खोज करना चाहिये । (मं० ६)

धूर्वका प्रयोग

धूर्वके प्रयोगसे शत्रुसेनाको पीठित करनेका अर्थन ‘धूर्वाशी’
शब्दद्वारा सातवें मंत्रमें किया है । यह धूर्वा किस तरह किया
जाता है इसका पता नहीं चलता । परंतु शत्रुसेना खुले
भेदानमें होनेपर इस धूर्वसे पीठित का जती है, इसमें भेद
नहीं । धूर्वाप्रयोग ही यह है । धूर्वका कुल अन्न शस्त्रपर
फेका जाता है, एसा यथा प्रतीत होता है । शत्रुको सेनामें बंद
जाता है, गिरता है, फटता है और उसका धूर्वा वहाँके सैनिकों
में फैलता है और वे चबरा जाते हैं । इस धूर्वसे (संतपन्)
शत्रुसैन्य तप जाता है, संभवतः ज्वर चढ़ता होगा,
केवल मानसिक संताप यथा अपेक्षित नहीं है । परंतु शारीरिक
ज्वरही अपेक्षित है ।

इस धूर्वसे जैसा ज्वर होता है वैसा ही कर्णशूलभी
(कृष्णकूर्ण) होना होगा और वह शूल इतना भयानक होता
होगा कि सैनिक (कांशु) आक्रोश करने लगते हैं । इतनी
भयानक वेदना होती है । इतना प्रबल यह धूर्वप्रयोग है । इस
धूर्वके प्रयोग आस, फेकने आदिको कष्ट, शरीरको ज्वर,
कानमें वेदना और सबका परिणाम शत्रुसेना का आक्रोश है ।
इतने प्रबल शस्त्राग्न जिसके पास होंगे वह विजयी होगा उसमें
कोई संदेह ही नहीं है । इस प्रकार विजय प्राप्त होनेपर सैनिक
अपने लाल रंगमान शस्त्र कूट कर देते हैं और विजयानंद
प्रकट करते हैं । (मं० ७)

उक्त रोगिणैः शत्रुसेना काटी जानेपर उक्त सेनाके मुँदोंको
हिंस्र पशुगणों काये । उनके मुँदोंकी व्यवस्था करनेके लिये
शत्रुके पास कोई न बचे । यह आशय यहाँ है । इसका आशय
यहाँ है कि शत्रुसैन्य इतना पराभव हो । (मं० ८)

संधि किये हुए मित्र राजाओंके सैनिक इन्हें ही जाय और
निश्चित किये मार्गसे शत्रुपर आक्रमण करके शत्रुको परास्त
करें । शत्रुसेना का नाश करनेके लिये त्रिंशंधि वज्रका प्रयोग
किया करें । (मं० ९-१०)

त्रिंशंधि वज्रसे सैनिकों में विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होना
है । देव भी इसी वज्रका आश्रय करते हैं फिर मनुष्य उसका
आश्रय क्यों न करे ? (मं० ११) शत्रुनाशक इस वज्रसे
देवोंने सब लोगोंको जीत लिया था, अतः उस वज्रका प्रयोग
मनुष्य करें और विजय प्राप्त करें । (मं० १२-१५) इन
मंत्रोंमें इतना ही कहा है कि इस त्रिंशंधि नामक वज्रका उपयोग

देवभी करते हैं। इसमें सूचित होता है कि मानव भी इसका प्रयोग किया करें।

शास्त्रकी सेनाके बायींकी भाग खराब करना, उनके सहाय निश्चय बनाना, उनके बाहुओं को बाटना अथवा ऐसा अदक बनाना कि वे बाण न चला सकें। उनके अर्धको निकटमा बनाना, उनका मार्ग अशुद्ध करना। इस तरह शास्त्रका कार्य असफल करना चाहिये। (सं० १६)

शास्त्रके (तनुपानं) कवन तोड़ने या पाहने, उनके (परिपामं) किले अथवा इसी प्रकारके संरक्षक साधन माम-रथेहान बनाने और उनको सब योजन में असफल करके उनको जतना चाहिये। (सं० १७)

शास्त्रसेनाके सामने मनुष्य ही खड़ा रहे, हिमक दायामोंक आपत उनपर होता रहे, इस तरह अपनी सेनाका हमला शक्य करना चाहिये और शास्त्रमें परास्त करना चाहिये। (सं० १८)

तमसास्त्र का प्रयोग।

उत्तमसे अंशमें भी शास्त्रपर (तमसा परिचारय) संशकार का प्रयोग करनेका सूचना है। वह भी धुँकेका ही प्रयोग होगा जिससे अंधेरेमें गिरनेके समान शास्त्रको वृष्ट भी दीखता नहीं होगा। यह बड़ाई ऐसी मदानक है कि इससे शास्त्रका कोई चौर बचता ही नहीं। (सं० १९)

समोहनस्त्र का प्रयोग।

आगे घोसवे मंत्रमें (सुपटु) समोहन करनेका उल्लेख है। शास्त्रसेना सबको सब मोहित हो जाय। उनको कुछमा न सुझे। वहा कुछ चाकि शास्त्रपर चेंवनी है, जिसके शास्त्रसेना में गिरनेसे शास्त्रसेना की मति मोहित हो जाती है। जब सब ऐतिवीर चित्त भ्रात हो जायगे तब उनके पास जाकर उनको

कोई काटे। (सं० २०) शास्त्र (मूलाः) मोहित होकर मूढ़ बन जाय। उनको कर्तव्य करनेकी बुद्धि न रहे। इस तरह मोहित होनेपर (वरं वरं जदि) उनके वीरोंको काटा जाये। क्योंकि मोहित अवस्थामें कोई उनके पास पहुँचा तो उसको कोई भय नहीं हो सकता। परंतु यह सब उपनिशक्त साथ करना चाहिये, क्योंकि मोहनस्त्रका परिणाम कुछ समय तक ही रहता है, अतः उतनी ही देरीमें अरना कार्य मनस करना चाहिये। (सं० २१)

शास्त्र कवचधारी हो अथवा बिना कवच घाण करके आया हो, उनको पापोंमें बाधकर नाश करना चाहिये। इस तरह नाश हुई शास्त्रकी सेना भूमिमें गिर जाय और उन सुदोषो कुत्त खा जाय। (सं० २२-२३) रथी, पशानी तथा अन्य प्रकारकी शास्त्रसेना भी इसी तरह नष्ट हो जाय। (सं० २४-२५) युद्ध ऐसा करना चाहिये कि जिनमेंकुर्मों दानु न बचे। दानुको निःशेष पराजित करना अथवा कट डालना चाहिये। क्योंकि शास्त्र घोटा भी अवशिष्ट रहा तो वह फिर उठता और कष्ट देता रहेगा। अतः युद्धमें उनका पूरा नाश करना चाहिये।

शास्त्रका पूर्ण पराजय होवे। बाणोंसे शास्त्रके मर्म काटे जाय वह शोचित होने और रोनेके सिवा उसे दूसरा कुछ भी न सुझे। [सं० २६] त्रिंशदिवस ही बटा भारी प्रभावशाली दानुनाशक द्रव्य है, उसके प्रयोगसे दानुको पूर्णतया नष्ट किया जावे। (सं० २७)

इस तरह इस काण्डमें इन सुक्तोंमें युद्धविद्यावा उपदेश दिया है। पाठक इसके अध्ययनसे वेदकी सुदनीति ज्ञान और उनमें जो प्राय भाग हो उसका मद्दन करें।

अथर्ववेदके एकादश काण्डकी विषयसूची

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
१ ब्रह्मचर्यसे मृत्युको दूर करो	२	प्राणका मंडा चाबुक	५०
२ अनुवाक, सूक्त और मन्त्र	३	अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता	५१
३ ऋषि—देवता—छंद	४	प्राणकी मिश्रता	"
४ ब्रह्मौदन—सूक्त	७	समयकी अनुकूलता	५२
५ धान बढ़ानेवाला अन्न	१५	प्राणरक्षक ऋषि	"
शत्रुओंको परास्त करना	"	वृद्धताका घन	"
दूरपुत्रा स्त्री, स्त्रियोंका कर्तव्य	१६	बोध और प्रतिबोध	५३
प्राशितारः मा रिपन्, विवाह	१७	उन्नतिही तेरा मार्ग है	"
गृहराज	"	यमके दूत	"
पोषक अन्न, घर कैसा हो	१८	अयशांका सिर	५४
६ रुद्र—देव	१९	ब्रह्मलोककी प्राप्ति	५५
७ भय और शर्षका सूक्त	२४	देवोंका कोश,	५५
८ विराट् अन्न	२५	ब्रह्मकी नगरी, अयोध्या नगरी	५६
९ अन्नका महत्व	३१	अयोध्याका राम	"
१० प्राणकी विद्या	३२	उपनिषद्में प्राणविद्यां	५८
११ प्राणका महत्त्व	३६	प्राणकी श्रेष्ठता	"
सत्यसे बलप्राप्ति	३८	प्राण कहाँसे आता है ?	५९
प्राणकी वृष्टि	३९	देवोंका घमंड	६०
प्राणसूक्तका सारांश	४२	प्राणस्तुति	"
ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश	"	प्राणरूप अग्नि	६१
असु—नीति	४३	प्राणका प्रेरक	६२
यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश	४४	अंगोंका रस	६३
गायन और प्राणशक्ति	४५	प्राण और अन्य शक्तियां	"
प्राणकी प्रतिष्ठा	"	पतंग	६४
सन्कर्म—प्राण, प्राणदाता अग्नि	४६	यज्ञ, रुद्र, आदित्य	"
प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास	"	तीन लोक	६५
विश्वव्यापक प्राण	४७	१२ ब्रह्मचर्य	६६
लड़नेवाला प्राण	"	१३ ब्रह्मचर्य सूक्त	७२
संरस्वर्तमें प्राण	४८	देवताओंकी अनुकूलता	७३
भोजन और प्राण, सहस्राक्ष अग्नि	"	देवताओंका साम्राज्य	७४
अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश	४९	तीन और तीस देव	७६
में विजयी हूं	"	गुरुशिष्य—संबंध	७८
पंचमुखी महादेव	५०	तीन रात्रिका निवास	"

श्रमका तत्त्वज्ञान	७१	१४ पापसे चक्रनेकी प्रार्थना	९०
मृत्यु स्थीकार्गनेकी सिद्धना	८०	१५ इस सूक्तका विचार	९२
तपस उन्नति	८१	पृथ्वीस्थानीय देवता	"
ब्रह्मचारीभी दलचल	८२	अन्तरिक्षस्थानीय देवता	९३
ब्रह्मचारीकी भिक्षा	८४	सुःस्थानीय देवता	"
ब्रह्मचारीका आत्मन्यस	"	१६ उच्छिष्ट प्रस सूक्त	९५
दो कोश, कोशरक्षक ब्रह्मचारी	"	१७ उच्छिष्ट सूक्तका आशय	९९
दो अग्नि	८५	उच्छिष्टका अर्थ	"
ऊर्ध्वरेता मेघ और ब्रह्मचारी	"	उच्छिष्टमें रूप, उच्छिष्टमें नाम	"
घडे ब्रह्मचारीका कार्य	"	उच्छिष्टमें कर्म,	"
छोटे ब्रह्मचारीका कार्य	"	उच्छिष्टमें काल	१००
आचायका स्वरूप	"	१८ शरीरकी रचना	१०१
आदर्श राज्यशासन	८७	१९ शरीरकी रचना-योग्यता	१०५
ब्रह्मचयसे राष्ट्रका भंरक्षण	"	२० युद्धकी तैयारी	१०९
कन्याओंका ब्रह्मचर्य	"	२१ युद्धकी नीति	११३
पशुओंका ब्रह्मचर्य	८८	२२ युद्धकी रीति	११६
अपमृत्युको हटानेका उपाय	"	२३ भयानक युद्ध	१२०
बीषधि आदिकोंका ब्रह्मचय	"	वज्रनिर्माण	"
पशुपाक्षियोंका ब्रह्मचय	"	लाल झण्ड, शानोंका स्वरूप	"
देवोंका तज	८९	धूर्वका प्रयोग	१२१
उपदेशका अधिकारी	"	तमनास्त्रका प्रयोग	१२२
		समोदनास्त्रका प्रयोग	"

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

द्वादशं काण्डम् ।

राष्ट्रका धारण ।

सुत्यं बृहद्भुतमुग्रं दीक्षा तपो जज्ञं सृजः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लंकां पृथिवी नः कृणातु ॥ १ ॥

[अधर्घ० १२१११]

“आपमत्, सगळता, उग्रता, दक्षता, तप अर्थात् इंद्रियहनशीलता, ज्ञान, यज्ञ अर्थात् धाम-समर्पण ये सात गुण मातृभूमिची धारणा करते हे । अर्थात् जिन लोगोमें ये सात गुण विशेष प्रमाणमें रहने हैं, वे लोग अपनी मातृभूमिची कत्तम रक्षा कर सकते हैं । और जो लोग इन गुणोंसे विरहित होते हैं, वे अपनी मातृभूमिची रक्षा नहीं कर सकते । मातृभूमि लोगोके भूत, वर्तमान और भविष्यकी सुरक्षा करनेवाली होती है । ऐसी यह हमारी मातृभूमि हमारे लिये हर एक दिशामें विस्तृत कार्यक्षेत्र उत्पन्न करे । ”



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

द्वादश काण्ड ।

इस बारहवां काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय महाविभागका पांचवां काण्ड है। इसमें पांच सूक्त हैं, इनके अनुवाक, सूत्र और मंत्रसंख्या निम्नलिखित प्रकार हैं :

अनुवाक	सूक्त	श्लोकि	मंत्रसंख्या
१	१	५५(१३)	६३
२	२	५५(५)	५५
३	३	६	६०
४	४	५५(१३)	५२
५	५	५(पंचोप)	७३

इन सूक्तोंके ऋषि देवता छन्द अथ देखिये—

३०४ कुत-मंत्रसंख्या

ऋषि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	६३	अथर्व	भूमि	त्रिष्टुप्; २ भुविलि; ५-६, १०, ३८, श्वव० षट्पदा जगतो ७ प्रस्तावपोक; ८, ११ श्वव० षट्पदा विराहश्लि. ९ पदाशुभुम्; १२, १३, १५, पंचपदा शकरो (१२, १३, श्ववसाना); १४ गद्गद्दृहती; १६, २० एकावसाना शक्री त्रिष्टुप्, १८ श्वव० षट्पदा विष्टु अनुष्टुभगर्मातिशकरो; १९, २० उपोशुहती (२० विराट्); २२ श्वव० षट्पदा विराहतिजगती, २३ पंचप० विराहतिजगती; २४ पंचपदा अनुष्टुभगर्मा जगती, २५ श्वव० छतपदा उष्णिगनुष्टुभगर्मा शकरी; २६—२८, ३३, ३५, ३९, ४०, ५०, ५१.

५४, ५९, ५९, ६१, अनुष्टुभः (५३ पुरो बार्हता)
 ३० विराट्गायत्री; ३२ पुरस्तात्पञ्चोदितिः; ३४
 ऋक्० षट्पदा त्रिष्टुप्श्रुतीगर्मातिजगदी; ३६
 विपरीतपाददन्ती पंक्तिः; ३७ ऋक्० पंचपदा गहरी;
 ४१ ऋक्० षट्पदा ऋक्मती साक्षरी; ४२ स्वरादनुष्टुप्;
 ४३ विराटास्तारपंक्तिः; ४४, ४५, ४९ अगस्त्यः; ४६
 षट्पदा अनुष्टुभ्यर्मा पराचक्षरी; ४७ षट्पदा ताम्बि-
 गनुष्टुभ्यर्मा पराचक्षरी; ४८ पुरोनुष्टुप्; ५१ ऋक्०
 षट्पदा अनुष्टुभ्यर्मा ऋक्मती चक्षरी; ५२ पंचपदा
 अनुष्टुभ्यर्मा परातिजगती; ५७ पुरोतिजगता अगती;
 ५८ पुरस्ताद्बृहती; ६१ पुरोबार्हता; ६२ परविराट् ।

२	५५	ऋग्युः	जितिः मन्त्रोक्त देवता २१—३३ ऋग्युः	त्रिष्टुप्;	२—५, १२, २०, ३४—३६, ३८—४१, ४३ ५१, ५४ अनुष्टुभः (१६ ऋक्मती पराबृहती; १८ निचूटः; ४० पुरस्ताद्ऋक्मती) ; ३ आस्तारपंक्तिः; ६ सुरिगर्भा पंक्तिः; ७, ४५ अगती, ८, ४८, ४९ सुरिज; ९ अनुष्टुभ्यर्मा विपरीतपाददन्ती पंक्तिः; ३७ पुरस्ताद्बृहती; ४२ निपादेद्यावसाना सुरिगर्भा गायत्री; ४४ एद्यावसाना द्विपदा भार्या बृहती। ४६ एद्या० द्विपदा० साम्नी त्रिष्टुप्; ४७ पंचपदा बार्हतवैराजगर्मा अगती; ५० उपरिष्टद्विराट् बृहती, ५२ पुरस्ताद्विराट् बृहती; ५५ बृहती गर्मा ।
३	६०	यमः स्वर्गाः;	भोदना आग्निः	त्रिष्टुप्;	१, ४२, ४३, ४७ सुरिजः; ८, १२, २१, २२, २४ अगस्त्यः; ३३, १७ स्वरागर्भा पंक्तिः; ३७ विराट्- गर्मा; ३९ अनुष्टुभ्यर्मा; ४४ पराबृहती; ५५—६० ऋक्० षट्पदा० ऋक्मत्यतिजायत् चक्षरराति चक्ष- रघाल्यगर्मातिषृष्टिः (५५, ५७—६० कृतिः ५६ विराट् कृतिः) ।
४	५३	ऋक्पदः	वधा	अनुष्टुप्;	-७ सुरिज; २० विराट्; ताम्बिः बृहतीगर्मा; ४२ बृह- तीगर्मा ।
५	७३ १ पर्वोप ६	अथर्वाचार्यः	महागविः		१ ग्राजापलाअनुष्टुप्; २, ६ सुरिक्रिष्णान्दनुष्टुप्; ३ चतु- ष्यदा स्वरादनुष्टुप्; ४ आसुरी अनुष्टुप्; ५ सती पंक्तिः ।
२	,,	५			७ साम्नी त्रिष्टुप्; ८, ९ भार्या अनुष्टुभ्यः (८ सुरिज्) ; १० ताम्बिज् (७—१० षट्पदा) ; ११ भार्या निचूटपंक्तिः ।

३	पर्याय	१६	१२ विराट्विषमा गायत्री; १३ आसुरी अनुष्टुभ्; १४, २६ साम्नी उष्णिक; १५ गायत्री; १६, १७, १९, २० प्राजापत्यानुष्टुभः; १८ याजुषी जगती; २१, २५ साम्बनुष्टुभौ; २२ साम्नी बृहती; २३ याजुषी त्रिष्टुप्; २४ आसुरी गायत्री; आर्षा उष्णिक ।
४	„	११	२८ आसुरी गायत्री; २९, ३७ आसुर्यनुष्टुभौ; ३० साम्नी अनुष्टुभ्; ३१ याजुषी त्रिष्टुप्; ३२ साम्नी गायत्री; ३३, ३४ साम्नी बृहती; ३५ सुरिकसाम्नी अनुष्टुप्; ३६ साम्नी उष्णिक; ३८ प्रतिष्ठा गायत्री ।
५	„	८	३९ साम्नी पंक्ति; ४० याजुषी अनुष्टुभ्; ४१, ४६ सुरिकसाम्बनुष्टुप्; ४२ आसुरी बृहती; ४३ साम्नी बृहती; ४४ विगीलिकमथ्यानुष्टुप्; ४५ आर्षा बृहती ।
६	„	१५	४७, ४९, ५१-५३, ५७-५९, ६१ प्राजापत्या- ऽनुष्टुभः; ४८ आर्षा अनुष्टुप्; ५० साम्नी बृहती; ५४, ५५ प्राजापत्योष्णिक; ५६ आसुरी गायत्री; ६० गायत्री ।
७	„	१२	६२-६४, ६६, ६८-७० प्राजापत्याऽनुष्टुभः; ६५ गायत्री; ६७ प्राजापत्या गायत्री; ७१ आसुरी पंक्ति; ७२ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ७३ आसुरी उष्णिक ।

इस तरह इन सूक्तोंके ऋषि, देवता और छन्द हैं । यहाँ प्रत्येक सूक्तकी देवता विभिन्न है । अतः प्रत्येक सूक्तका अर्थ और आचार्य देकर उसका विवरण छाप छाप ही दिया जायगा । इसमें पहिला सूक्त मातृभूमिका सूक्त है, यह बड़ा मनोरंजक और शोच प्रद है, यह अब देखिये—





अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

द्वादशं काण्डम् ।

मातृमूमिका सूक्त

[१]

सत्यं बृहदृतमुग्रं द्रीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो मृतस्य मर्त्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोत

॥ १ ॥

वार्थ— (बृहद् सप्तम्) बड़ी या बड़क सत्यनिष्ठा (ऋतम्) मर्याद ज्ञान, (ब्रह्मम्) ज्ञान तेज, (तपः) धर्मा-
नुष्ठान या धर्मका पालन, (द्रीक्षा) हरएक कामके करनेमें धनुराई—दृढ़ता, (ब्रह्म) बड़ा ज्ञान, (यज्ञ) यज्ञ ज्ञान
अथवा स्वयं वे गुण (पृथिवीम्) भूमि देस या राष्ट्रका (धारयन्ति) पाठन पोषण और रक्षण करते हैं । [सा पृथिवी]
वह मातृमूमि (मृतस्य) प्राचीन और (मर्त्यस्य) मरिच्यके तथा बीचमें आ जानेवाले वर्तमान समयके सब पदायोंकी
[बड़ी] पाठन करनेवाकी, ऐसी वह हमारी मातृमूमि (नः) हमको (उरं) बधा भारी (लोकं) रथान (कृणोत)
करे ॥ १ ॥

भावार्थ— जो मूल्य्य यह चाहता हो कि राष्ट्रपर अपनी छात्रा, अधिकार, बना रहे उसमें निम्नलिखित गुणोंका होना
आवश्यक है, सत्यनिष्ठा, तपोमधीच्छता, महत्वाकांक्षाके साथ कार्य आरम्भ करने और उसको सिद्ध करनेका उरसाह, वस्तुस्थिति-
का उत्तम ज्ञान, धैर्य, साहस और तेजसिता, धर्मनिष्ठा, ईद्रियोंका निग्रह, प्रबोधका पडना और स्वास्मान सुनना, शान्त स्वभाव
और अचावस्थ, परोपकारिता, ईश्वरभक्ति, अर्थीकार किये हुए कार्यमें दृढ़ता, निदमातुधार चलनेका अभ्यास, सब धनसंचय,
सर्व बहावक पदायोंका विपुल संग्रह, आपसमें एक दूसरेका उत्कार करना, एकठासे रहना, दुःख और आशतिमें पडे हुए
कोयोंको सहायता करना, यह अर्थोत् स्वार्थलाग करना, मातृमूमिपर बड़क निष्ठा इत्यादि । जिन मनुष्योंमें ये गुण होते हैं वेही
अपने राज्यको संभाल सकते और नया राज्य प्राप्तकर सकते हैं । इस पहिले मन्त्रमें राष्ट्रसंरक्षक मनुष्योंके लिये आवश्यकगुणों
का स्पष्ट उल्लेख कर यह प्रार्थना की गयी है कि— हे मातृमूमि ! हम पूर्वोक्त सर्व गुणोंका युक्त हो तेरा संरक्षण करतें
और सदा देखा करनेको तैयार हैं; तू अपने आकारसे मृत, वर्तमान और मरिच्य तीनों कालोंके सम्पूर्ण पदायोंका उत्तम
मददसे पोषण करनेमें समर्थ है । जब कि हम रात दिन तेरा संक्षण करते हैं, तू भी हमारी प्रति बहानेका कारण है ॥ १ ॥

असंवाधं बंध्यतो मानवानां यस्यां उद्धतः प्रवर्तः समं बहु ।

नानावीर्या ओषधीर्या विभंति पृथिवी नः प्रयतां राध्वंतां नः

॥ २ ॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामश्रं कृष्टयः संबभूवुः ।

यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेयं दधातु

॥ ३ ॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामश्रं कृष्टयः संबभूवुः ।

या विभंति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यनै दधातु

॥ ४ ॥

अर्थ- (यस्याः) जिस हमारी मातृभूमि (मानवानां) मनुष्यों (म[-ब-] प्यतः) मध्यमें (प्रवतः) मोलता उल्लसता रहनेपर भी परस्पर (बहु) बहुतही (समं) समता (असंवाधं) और ऐक्य वा मैत्रीभाव है ; (वा) जो (नः) हमारी (पृथिवी) मातृभूमि (नानावीर्याः) लोगोंको दूर करनेवाली अनेक उत्तम गुणयुक्त (ओषधीः) वनस्पति (विभंति) धातन करती हैं, वह मातृभूमि (नः) हमारी (यस्यां) कोटि या यथाही - इतिहा (तावतां) साधन करे ॥ २ ॥

(यस्यां समुद्रः) जिस हमारी मातृभूमिमें महासागर (उत) और (सिन्धुः) अनेक नद नदी, (वासः) घरने शीघ्र और ताक ठहलेंवा बहुत हैं, (यस्याम्) जिस मातृभूमिमें (अश्रम्) सब आंतिके अन्न और फल तथा द्राक इत्यादि बहुत पठले उपजते हैं, (यस्यां इदं प्राणत्) जिसमें सजीव, (पृथ्वि जिन्वति) प्राणी चढते फिरते हैं, अश्रुमें, (कृष्टयः) कृषोवल खेती करनेवाले मनुष्य, शिल्पकर्मादिगारद कारीगर तथा उद्योगशील जन (संबभूवुः) बहुत संगठित हुए हैं, (सा) इस तरह की (भूमिः) हमारी मातृभूमि (नो) हमको (पूर्वपेये) मनुष्य लोग ऐश्वर्य (दधातु) दे ॥ ३ ॥

[यस्याम्] जिस हमारी मातृभूमिमें [कृष्टयः] उद्यमशील तथा शिल्पकारादीमें निपुण निज परिश्रमसे खेती करनेवाले [संबभूवुः] हुए हैं, [यस्याः पृथिव्याः चतस्रः प्रदिशः] जिस भूमिमें चार दिशाएँ और चार विदिशाएँ (अश्रम्) चावल, गेहूँ आदि उपजाते हैं, (या बहुधा) जो अनेक प्रकारसे, [प्राणत् एजत्] प्राण धातन करनेवालों और अश्रुमें फिरनेवालोंका [विभंति] धारण-पोषण करती हैं (सा नः भूमिः) वह हमारी मातृभूमि हम सब के लिये (गोषु अति अन्ने दधातु) गौओं और अश्वारिमें रहकर धारण-पोषण करे ॥ ४ ॥

भावार्थ- जिस हमारे राष्ट्र या देश के मनुष्यों में परस्पर दोस्ती है, प्रत्युत उनमें पूर्ण ऐक्यभाव है । विशेषकर हमारे अगुआ लोगों में अर्थात् हमारी सब प्रकारकी रक्षा करनेवाले लोकप्रणियों में परस्पर ऐक्य मत है और वे एकर हो निकल सब काम करते हैं । जिस भूमिमें उत्तम प्रकार की पृथिवीकारक रोगविनाशक अनेक औषधियाँ, और सब तरह की वनस्पतियाँ पैदा होती हैं, वह हमारी जिस मातृभूमि हमारी कोटि और यथाही दिग्गतरमें फैलनेके लिये धारणीयता हो ॥ २ ॥

जिस हमारी मातृभूमि में सागर, महासागर, नद, नदी, तालव, झर, बावली, नहर, झीलें इत्यादि खेतीके प्राणी मिलनेके बडे बडे साधन हैं और जिस भूमि में सब तरहके विपुल अन्न पैदा होकर सबको खानेको मिलता है । जिससे सब प्राणी मात्र सुखी हैं तथा जिसमें कारीगर लोग कलाकौशलमें प्रसक्त हैं, अज्ञान लोग खेतीके काम में प्रवीण हैं और अन्य लोग भी उद्योगी हैं, वह हमारी मातृभूमि हमें सर्वैव उत्तम उत्तम भोग्य पदार्थ और ऐश्वर्य देनेवाली होती ॥ ३ ॥

जिस हमारा मातृभूमिमें अत्यन्त उद्योगी तथा कलाकौशल, खेती वारिमें प्रवीण और परिश्रमी लोग होते जाते हैं, और जिस भूमि की चारों दिशा और विदिशाओं में सर्वत्र उत्तम पत्र धान्य लक्ष अत्यन्त होता है, जिसके कारण सम्पूर्ण पशु पक्षी आदिक वनस्पति और अन्य जीवधारियों को उत्तम प्रकार पालन, पोषण और संरक्षण होता है, वह हमारी मातृभूमि हमें सर्वैव भाग्य, मोह और अन्न इत्यादि देनेवाली होती ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरान्म्यवर्तयन् ।

गत्रामश्वानां वयसश्च विष्टा भगं वचः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

विश्वंमरा वंसुधानीं प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।

वैश्वानरं विभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रंऋषामा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

यां रक्षन्त्यस्वमा विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमग्रमादम् ।

सा नो मधुं प्रियं दुहामथो उक्षतु वचैसा ॥ ७ ॥

वचं—(यस्याम्) जिस हमारी मातृभूमिमें पुराने समयके कार्य लोग (पूर्व जनाः) बल, बुद्धि, वीर्य, ऐश्वर्यसे प्रसिद्ध सब भाँति पूर्णवीर पुरुष [विचक्रिरे] विक्रम, पराक्रमरूप कठेय्य अच्छी तरह करते रहे हैं, [यस्यां देवाः] जिसमें विद्वान् और धीर (असुगान्) ईशानिरत्त शल्ल अर्थात् राक्षसी खभाववाले लोगोंको [अम्यवर्तयन्] जीतते रहे हैं। जो [गवां अश्वानां वयसः च] गौं, घोड़े और पशुपक्षियोंको [वि-ष्टाः] विशेष सुख देनेका स्थान है, [सा नः पृथिवी] वह हमारी मातृभूमि हमको [भगम्] ऐश्वर्य और [वचः] तेज, वीर्य, शौर्य, विज्ञान (दधातु) दे ॥ ५ ॥

ओ (विश्वंमरा) सबकी पोषण करनेवाली [वसुधानि] सोना, चाँदी, हीरा, पत्था आदि अनेक रत्नोंकी खान है, [प्रतिष्ठा] सब वस्तुओंकी आधारभूत [हिरण्यवक्षा] सुवर्ण आदिकी खान जिसके वक्षस्थलमें है, [जगतोः] जितने जंगम जीव या पदार्थ हैं उनकी [निवेशनी] यक्षानेशी (वैश्वानरम्) सब भाँतिके मनुष्योंके समूहसे मरा हुआ राष्ट्र या देश (विभ्रती) धारण करती हुई हमारी (भूमिः) मातृभूमि (अग्निम्) अग्रगामी, नेता (इन्द्र-वृषभौ) शरदोंको नाश करनेवाले शूरवीर और ज्ञानियोंको तथा [नः] हमको (द्रविणे) घन [दधातु] धारण करनेवाली हो ॥ ६ ॥

वचं—[अस्वप्नाः] निद्रा, तन्द्रा, आकस्म्य आदि रहित [देवाः] विद्वान् धीर और कुशल धन [वां विश्वदानीम्] सब प्रकारके पदार्थोंकी देनेवाली और जो हमारे लिये [मधुप्रियं च दुहाम्] मधुर प्रिय द्रव्यकर पदार्थोंको दुहनेपर देती है, [पूर्वीं भूमिम्] बची या विस्तृत हमारी मातृभूमिकी [अग्रमादम्] प्रमादरहित हो [रक्षन्ति] रक्षा करते हैं, [सा] वह भूमि [नः] हमको [वचैसा] शूरता, वीरता, ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे [उक्षतु] हमें पूर्ण करे ॥ ७ ॥

भाषार्थ— जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने—आर्योंने अपने ज्ञानद्वारा, क्षत्रियोंने अपनी वीरताद्वारा और वैश्योंने अपनी वाणिज्य—कुशलता द्वारा और कारीगरोंने अपनी कारीगरोंसे अनेक बड़े बड़े पराक्रम किये थे, जिस हमारे देशके विद्वान्, शूर वीर व्यापारी और धारंगर लोगोंने मिलकर सम्पूर्ण इसक, आततायी, घातकी और दुष्ट लोगोंको नष्ट किया था और ओ सुन्दर भूमि सब पशुपक्षियों को भी उत्तम निवास-स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमारा ज्ञान, विज्ञान, शौर्य, तेज, वीर्य और ऐश्वर्य पूर्ण रूपसे बढ़ानेवाली होवे ॥ ५ ॥

सबका पोषण करनेवाली, रत्नोंकी धारण करनेवाली, सब पदार्थोंको आधार देनेवाली, सुवर्ण आदिकी खान रखनेवाली, नाशक स्वभाव जंगम जीवों या पदार्थोंको स्थान देनेवाली, सब प्रकारके मनुष्योंसे युक्त राष्ट्र या देशकी उन्नतिमें सहायता देनेवाली, मातृभूमि है वह हमारे नेता, ज्ञानियों और वीर पुरुषों तथा हमको सब प्रकारके ऐश्वर्य देनेवाली हो ॥ ६ ॥

निद्रा, तन्द्रा, आकस्म्य, अज्ञान आदि दोषरहित सब बातोंमें चतुर और उद्यमी, परोपकारी, विद्वान्, शूर और धनिक लोग सब पदार्थोंकी देनेवाली जिस विस्तृत भूमिकी प्रमादरहित हो रक्षा करते हैं, वह हमारी मातृभूमि सब उत्तम और प्रिय तथा द्रव्यकारी पदार्थोंसे हमें पूर्ण सुवर्ण करे, और हममें ज्ञान, शूरता और धन उत्पन्न कर हमारी रक्षा करे ॥ ७ ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरेन्वर्चरन् मनीषिणः ।

यस्या हृदयं परमे व्योमन्स्तत्येनाशृतमभूत् पृथिव्याः ।

सा नो भूमिस्त्रिषिं वलं राष्ट्रे दधात्तु चमे

॥ ८ ॥

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्षसा

॥ ९ ॥

यामुक्षिनावर्षिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे । इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शुचीपतिः ॥

सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राप मे पयः

॥ १० ॥ १

अर्थ—[या] जो भूमि [अग्ने] पहले [सलिलं अधि] जलके भीतर [अग्ने] समुद्रमें (आसीत्) थी, [यस्याः पृथिव्याः हृदयम्] जिस पृथ्वीका अन्तर्भाग [अमृतं ह्य] अमर स्थानके सदृश [मारयेन] सत्य संकल्प के बलसे [आ-शृतम्] श्याल है, जो भूमि [परमे व्योमन्] महत् आकाशमें है, [याम्] जिसकी [मायाभिः] कृपालताओंके साथ [मनीषिणः] मननशील विद्वान् [अश्रुतम्] अदृष्टी तरह सेवा करते आये हैं, [सा नः भूमिः] यह भूमि हमको [उचते राष्ट्रे] उच्छ्रेयस्त्रयसे [त्रिषिम्] तेज वा दीप्ति, [वलम्] शूरता, वारता, पारोरीक बल किंवा सेन्धबल [दधात्] धारण कर ॥ ८ ॥

[यस्याम्] जिस भूमिमें [परिचराः] रात्र और ज्ञानेवाके परित्रासक मन्वासी [भावाः] जलकी भाँति [समानीः] समदृष्टि हो, [अहोरात्रे] रात्र दिन [अप्रमादम्] सावधान रह [क्षरन्ति] परिभ्रमण करते हैं, [अयो] शौर भी जो [भूरि-धारा] अनेक तरहका [पयः] छात्रे तथा पीनेकी वस्तु-भोग्य या देव आदि दूध, घी इत्यादि [दुहाम्] देती है, [सा नो भूमिः] यह हमारी मातृभूमि [वर्षसा] तेज, प्रताप, बल, वीर्य आदि [उक्षतु] दबावे ॥ ९ ॥

[याम्] जिस भूमिका [अविधो] अविगण मतां और इन्ता शूर वीरने [अमितामाम्] मापन किया, [यस्यां विष्णुः] जिसमें पाठकने [विचक्रमे] भाँति भाँति ११ प्रकार दिसाया है, [इन्द्रः] शक्तिविनाशक [शुचीपतिः] शशिपति कर्मकुशल ज्ञानवान् पुत्रपने [यां] ज्ञानम अनमित्राम्] जिसको शत्रुदृष्टि किया है, [सा नः माता भूमिः] यह माताके समान हमारी मातृभूमि [पुत्राय पयः] ज्ञान पुत्रको दूध देती है वैसेही [पुत्राप मे] हम सब पुत्रोंको [विचक्राम] खानेपीनेकी वस्तु प्रदान करे ॥ १० ॥

भावार्थ— जो भूमि पश्चिमे समुद्रके गर्भमें था । जिसके बाहर, भीतर परमेश्वर ब्रह्मा है, जो आकाशमें अक्षर है और जिध-रही सेवा विचारवान् लोग विशेष प्रसंगमें, गुण प्रयत्नसे तथा कृपालतासे करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें वैजसिता, विद्वान्, शूरता, शक्तिमत्ता इत्यादि गुण सदैव बढानेवाली हो ॥ ८ ॥

जैसे मेघोंका जल-प्रणिमात्रको एक समान मिश्रता है, वैसै जिनका उपदेश सबके लिये एक समान होता है वैसे परोप-काररत संन्यासी जिस भूमिमें रात्र दिन सफल व्याख्यान न छोड़ते हुए सदैव एक समान संचार करते रहते हैं और जो भूमि हमें सय प्रकारके अन्न-जल देती रहती है, वह हमारी मातृभूमि हमारी वैजसिताके द्वारा हमारी रक्षा करे ॥ ९ ॥

लोगोंका बोधन करनेवाले और शत्रुओंका हनन करनेवाले लोग जिधकी सदैव भलाई किया करते हैं, जिधके लिये पावन कर्त्तव्य लोग बड़े बड़े पराक्रम करते हैं और ज्ञानी शूर पुत्र जिधे अपना मित्र समझते हैं, वह हमारी भूमि जिध प्रकार माता अपने बच्चोंको दूध पिलाती है, उसी प्रकार हमें संपूर्ण उपबोधके पदार्थ देवे ॥ १० ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्यानमस्तु ।

बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रं गुह्याम् ।

अजीतोऽहंतो अक्षतोऽघ्नं घ्नां पृथिवीमहम्

॥ ११ ॥

यत् ते मर्ष्यं पृथिवि यच्च नम्यं यास्तु ऊर्जेस्तन्वः संवभूवुः ।

तासु नो घेषमि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।

पुर्वन्यः पिता स उं नः पिपर्तु

॥ १२ ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति मूर्ध्यां यस्यां युञ्जं तन्वते विश्वकर्माणः ।

यस्यां मीयन्ते स्वर्गवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।

सा नो भूमिर्वर्षयद् वर्षमाना

॥ १३ ॥

अर्थ— हे [पृथिवि ते गिरयः हिमवन्तः पर्वताः अरण्यं च ते] मातृभूमि ! पहाड, बर्षसे बडे पर्वत और वन तुझे [रबीमम्] सुसजे देनेवाले [अरुम्] हों, उन पर्वतोंमें झारू न रहें, वे झारू रहित हों, इसलिये तुम [बभ्रुम्] सबका मरक-पोषण करनेवाली हो, [कृष्णाम्] कृषिकर्मके उपयुक्त हो, [रोहिणीम्] वृषादिकोंको उपजनेवाली हो, [विश्व-रूपाम्] सब तरहका रूप धारण करनेवाली, [पश्वान्] स्थिर [पृथिवी] बडी विस्तृत लम्बी चौड़ी [इन्द्र—गुह्याम्] शीरोसे रक्षित [भूमिम्] मातृभूमिकी [अजितः] जिसे घातनेमें नहीं आता, [अहः] युद्ध आदिमें जिसे हानि नहीं पहुँचा, [अघ्नः] कहींपर किसी अंगमें जिसे घाव नहीं हुआ, [अहं अघ्नयाम्] ऐसा रहकर मैं इसका अधिष्ठाता या स्वामी होऊँगा ॥ ११ ॥

हे [पृथिवि यत् ते मर्ष्यम्] भूमि! जो तेरे मर्ष्यमें है [यत् च नम्यम्] जो नामित्थान है, (ते याः ऊर्जाः) जो तुम्हारा बलयुक्त या अन्न आदि पोषणयुक्त [तन्वः] क्षीरधारी अर्थात् [मनुष्य संवभूवुः] आपसमें संगठित हुए अर्थात् एका किये हुए हैं, [तासु] उस उनके समानमें (नः) इनकी [अमिधेदि] स्थापित कर और इस तरह [नः पवस्व] हमारी रक्षा कर, [भूमिः] भूमि! तुम हमारी [माता] माता हो [अहम्] हम उस [पृथिव्याः पुत्रः] पृथिवीके पुत्र हैं, [नरकसे वा दुःखसे जो प्राण या रक्षा करे वह पुत्र है । भूमि, हम तेरे दुःखको दूर करेगें इससे पुत्र हैं] [पुर्वन्यः] अन्नकी वृद्धिसे पोषण करनेवाले मेघ हमारे पिता अर्थात् वास्तवपत्तिले पाठन करनेवाले हैं [स उ नः] वह हमें निश्चय [पिपर्तु] पाठन करे ॥ १२ ॥

(यस्याम् मूर्ध्याम् वेदिं परिगृह्णन्ति) जिस भूमिमें सब ओरसे वेदीका स्वीकार करते हैं । (यस्यां विश्व-कर्माणः) जिसमें दक्षतिके साधन करनेवाले सब लोग । यज्ञं तन्वते) परोपकारका ऐसा यज्ञकार्य करते हैं, जिसमें सब लोगोंका सहकार हो या ऐसे लोगोंका सहसंग हो, [यस्यां च पृथिव्यां पुरस्तात्] जिस पृथिवीमें पहले [ऊर्ध्वाः] उन्नति करनेवाले, [शुक्राः] शीघ्रयुक्त (आहुत्याः) आहुतिके साथ (स्वर्गवः) यज्ञीय यूप होते हैं, जहाँ अच्छे अच्छे जादेस [मीयन्ते] कहे जाते हैं, [सा नो भूमिः वर्षमाना] वह पृथ्वी हम लोगों द्वारा बर्षाई गई हो, हम लोगोंकी [वर्षयद्] उन्नति करे ॥ १३ ॥

भावार्थ— हे मातृभूमि! तुझपर जो पहाड और बरफ़से ढके हुए पर्वत हैं तथा जो छोटे बड़े अंगल हैं, उनमें तेरे शक्त कर्म न रहें, वृष्ट्यरहित होकर सदैव सबका पोषण करनेवाले उपयुक्त लक्ष्य इत्यादिके युक्त, स्थिर और बरोंद्वारा रक्षित हो ऐसी सर्वप्रथमव्यक्त अन्नपर हम शक्तों द्वारा रक्षित न होते हुए तथा मृत अथवा घायल न होते हुए आनन्दसे रहें और बर्षान् पर्वतोंसे प्राप्त हों, शक्तोंके अपने अधिष्ठातमें रहें ॥ ११ ॥

यो नो द्वेषतृ पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासांनमनसा यो वधेन ।

तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरी

॥ १४ ॥

त्वज्जातास्त्वयिं चरन्ति मर्त्यास्त्वं विंमार्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।

तवमे पृथिवि पञ्च मान्वा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो

रश्मिर्मिरातनोति

॥ १५ ॥

ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा घ्राचो मधुं पृथिवि घेद्वि मद्यम्

॥ १६ ॥

अर्थ- हे [पृथिवि यः ग द्वेषत्] मातृमूमि ! जो हमसे द्वेष करता है, (यः पृतन्याद्) जो सेनासे हमारा पराभव करना चाहता है, (यः मनसा) जो मनसे हमारा अनिष्ट चाहता है (अभिदासात्) जो हमें दास या गुलाम बनाना चाहता है, (वधेन) जो वध कर हमें कष्ट पहुँचाना चाहता है, हे (पूर्वकृत्वरी) पहिलेसे ही धारणा करनेवाली मातृमूमि ! (त रन्धय) उसका नाश कर ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) हमारी मातृमूमि ! जो (मर्त्याः) मनुष्य (त्वज्जाताः) तुम्हारे ही में पैदा हुए हैं, (त्वि चरन्ति) तुम्हारे ही में चलते फिरते हैं, जिन (द्विपदः) दो पाववाले जर्णत् मनुष्योंको (चतुष्पदः) चौपायोंको [त्वं विमार्षि] धारण पोषण करत हो, [येभ्य मर्त्येभ्य] जिन मनुष्योंके लिये [मसृणम्] जीवनका हेतुमूल [ज्योति] तैज [उद्यन्त्सूर्यं, रश्मिभिः] उदित हुआ सूर्यकिरणोंसे [आतनोति] विश्वास करता है, [हमे] ये हम लोग [पंच मानवाः] पाच प्रकारके मनुष्य [तव] तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे [न पृथिवि या] हमारी मातृमूमि ! हम सब लोग तुम्हारी [प्रजा] प्रजा [समग्राः] सब [घ्राचः] घ्राणी [मधु] मधुर प्रेमपूर्ण [संदुहाम्] पकड़ हो बोलें, [मद्यम्] हमको भी मधुर वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

भावार्थ- हे मातृमूमि ! तेरे अंतर और ऊपर जो जो पदार्थ हैं उन सबकी और तेरी, शरबोंके हावसे रक्षा करनेके लिये जो विद्वान्, बलवान् और धनवान् मनुष्य एकत्र होकर दक्ष करते हैं, उनके उस संपन्न होने स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि तुम्हारी माता और हम तेरे पुत्र तु ससे लुकानेवाले हैं, इस पञ्चन्य (मिथ) द्वारा धानादिदिग् उत्पन्न होते हैं, इसलिये हम सबका वह पिता (पालक) है, यथार्थमें वह नियमित समयमें वर्षा कर हमारी रक्षा करे ॥ १२ ॥

जिस मूमिके लोग दक्षकी देदीके पास जाकर हवन करनेके लिये तैयार रहते हैं, जिस मूमिके लोग सदैव परोपकार और चरुतिके काम करते रहते हैं और जिसमें विशेष कर उत्पत्तिकारक तथा बलेश्वरक दक्ष लिये जाते हैं, इसी प्रकार वरकाह देनेवाले मापण और उपदेश सब धिये जाते हैं । हमारे द्वारा चरुति पानेवाली वह हमारी मातृमूमि हमारे लिये सब प्रकारसे उत्पत्तिकारण हो ॥ १३ ॥

हे हमारी मातृमूमि ! जो हमसे शब्दोंद्वारा द्वेष करते हैं, जो हमारे वैरी सेना से हमपर चढ़ाई कर हमें अतना चाहते हैं, जो हमारा नाश करनेके लिये उपे बैठे हैं, जो हमें परतन्त्र और गुलाम बनाना चाहते हैं, जो मनसे हमारा अनिष्ट सोचते रहते हैं, हमारे उन सब शरबोंका पूर्णरूपसे सत्यानाश कर ॥ १४ ॥

हे हमारी मातृमूमि ! जो हम लोग तेरेसे उत्पन्न हो, तेरेही आधारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; जो सम्पूर्ण पशु, पक्षी, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रको दे आधार देकर पालती पोषती है; जिस हमारे जीवनके लिये वह देदं प्यमान सूर्य अपनों अमृतमय क्षिरणोंको बारी और फैलाता रहता है; वे हम पंच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, शूरवीर, व्यापारी, शरीरगर और सेवाश्रितिकाले मनुष्य तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे हमारी मातृमूमि ! हम सब लोग आपसमें जो बातचाँत करें वह सत्य, हितकारी, मधुर और परस्पर प्रेमयुक्त हो, उक्त अहितकारी तथा कृद न हो; हम सब लोगोंको पकड़ हो आपसमें प्रेमसे मीठा वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

विश्वस्वर्वा मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा घृताम् ।

शिवं स्योनामर्तुं चरेम विश्वहा

॥ १७ ॥

महत्सघस्यं महती बभूविथ महान्वेगं एजयुर्वेषुष्टे मुहांस्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ।

सा नो भूमे प्र रौचय हिरण्यस्वेव संघशि मा नो द्विषत कश्चन

॥ १८ ॥

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वामिभापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।

अग्निरन्तः पुंषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः

॥ १९ ॥

अर्थ—(विश्वस्वम्) सब (ओषधीनाम्) वनस्पति, वृक्ष, लता आदि की [मातरं ध्रुवां पृथिवीम्] यह माता विश्वीर्ण, लम्बी, चौड़ी, स्थिर पृथिवी (धर्मणा) सत्य, ज्ञान, सूरता, वीरता आदि धर्मसे (घृताम्) पालित पोषित (शिवाम्) कल्याणमयी, स्योनाम्) सुख की देनेवाली (भूमिम्) मातृभूमिकी [विश्वा] सदा [मनुचरेम] हम सेवा करें ॥ १७ ॥

हे मातृभूमि ! तुम हम सबका [महत्सघस्यम्] एक साथ मिलकर रहनेका स्थान हो, इस तरह तुम [महती बभूविथ] बड़ा होती रही हो । [ते] तुम्हारा [एजयुः वेपुः] दिखना बोलना [महान्] बड़ा [वेगः] वेग या गतियुक्त होता है । इस प्रकारकी [स्वाम्] तुमको [महान् इन्द्रः] शरके नाश करनेवाले बड़ा ज्ञान, बल, उरसाह, ऐश्वर्य, संपत्तियुक्त शूर वीर [अप्रमादम्] चौकसीके साथ [रक्षति] तुम्हारी रक्षा करते हैं । [भूमिं] हे मातृभूमि ! [सा] सो तुम [हिरण्यस्य इव] सोनेकी तरह [संघशि] चमकती हुई [नः] हमको [कश्चन] कोई भी आपसमें [मा द्विषत] वैरभाव न रखे ॥ १८ ॥

[भूम्याम्] पृथिवीके मध्यभागमें [अग्नि] अग्नि है, [ओषधीषु] औषधियोंमें (अग्निः) अग्नि है, जिन औषधियोंके सेवनसे अन्न पचता है, क्षीण अर्थात् भूख लगती है, [आपः] जल (अपि) जब मेघरूपमें होता है तब वह अग्नि (बिभ्रति) विद्युत्के रूपमें अग्निको घागण करता है । (अश्मसु) पत्थरोंमें चकमक इत्यादिमें (अग्निः) अग्नि है, (पुंषेषु) मनुष्योंमें (अन्तः) भीतर जाठराग्निके रूपमें (अग्नि) अग्नि है, (गोषु अश्वेषु अपि) गऊ घोड़े आदि पशुओंमें (अग्निः) अग्नि है जिससे उनका भोजन पचता है ॥ १९ ॥

भावार्थ— जिसमें सब तरहकी उत्तम औषधियां और वनस्पतियां उपजती हैं; जो बड़ी लम्बी चौड़ी और स्थिर हों; विद्या, सूरता, सत्य, ज्ञेह आदि सदाचार और सद्गुण युक्त पुरुष जिसकी रक्षा करते हैं; जो कल्याणमयी और सब प्रकारके सुखसाधन हमें देती है; उस मातृभूमिकी हम सदा सेवा करें ॥ १७ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबको एजत्र रहनेका स्थान देती है; हम सब लोगोंका समवेश होनेयोग्य तेरा विस्तार है; तू जाठराग्निमें दिहते बोलते जिस वेगसे आती है वह वेग बहुतही बड़ा है; ज्ञान, शूरता, बल, उरसाही और ऐश्वर्यशाली, शरके नाश करनेवाले वीर पुण्डरीकी चौकसीके साथ तेरी रक्षा कर सकते हैं; अनाड़ी, भेष्ट और विगतधैर्य नहीं कर सकते; तू स्वयं धीनेके समान तेजस्वी है; हमें भी तेजस्वी कर और ऐसा कर कि हममेंसे कोई भी परस्परका द्वेष न करे, सब एक मतसे व्यवहार करें ॥ १८ ॥

सब पदार्थ अग्निमय हैं । उस अग्निद्वारा भूमि, औषधि, वनस्पति, जल (मेघादिक), पत्थर, मनुष्य, गाय, घोड़े इत्यादि प्राणियोंके शरीर जोड़े तेजस्वी दीजते हैं, उठी प्रकार हम मनुष्य जो उन सब पदार्थोंके भोजी हैं, अपने ब्रह्मत्व की रक्षा कर और वीर्यरूपी अग्नि को शरीरमें प्रवेश कर सब अधिक तेजस्वी हों ॥ १९ ॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वीन्तरिक्षम् । अग्निं मर्तास इन्धते हन्युवाहं घृतमिर्यम् ॥ २० ॥ २]

अग्निर्वासाः पृथिव्यसितञ्जस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोत ॥ २१ ॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् ।

भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयात्तेन मर्त्याः ।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदाष्टि मा पृथिवी कृणोत ॥ २२ ॥

यस्तै गन्धः पृथिवि संवभूव यं विभ्रत्योपधयो यमार्षः ।

यं गन्धुर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विषत कश्चन ॥ २३ ॥

अर्थ- (दिवः) आकाशमें (अग्नि) सूर्यके रूपमें अग्नि है । (आटपति) जो सब ओर प्रकाश देता हुआ तप रहा है । (देवस्य अग्नेः) प्रकाशमय उस अग्निके प्रकाशसे (उरु) बड़े (अन्तरिक्षं) आकाशमें प्रकाशित होता है, इस तरह अनेक रूपमें अग्नि विद्यमान है । (हन्युवाहन्) होम की हुई आहुति का छे जानेवाला (घृत-मिर्यं) घी को प्यार करनेवाला (अग्निं) भौतिक अग्नि ऋतुअधिके बदलनेपर रोगोंके नाशके लिये (मर्तासः) मनुष्य लोग (इन्धते) हीनित करते हैं ॥ २० ॥

[अग्निवासाः] अग्निसे व्याप्त [अग्निवज्रः] काले कज्जलसे जो जाना जाय वह अग्नि (पृथिवी अग्नि) पृथिवीके रूपमें हो (नो) मुझको (विषीमन्तं) प्रकाशयुक्त (कृणोतु) करे ॥ २१ ॥

मनुष्य जिस भूमिमें (भूम्यां अरंक्षन्) बल्लेकृत सुसंकृत (हव्यम्) आहुतियुक्त (यज्ञं) यज्ञ (देवेभ्यः) देवताओंको (ददाति) देते हैं । इससे जिस भूमिमें (स्वधया अत्तेन) उत्तम अन्न खानेपीने की वस्तुसे (मर्त्याः) माणवधर्मा मनुष्य (मनुष्याः जीवन्ति) जीते हैं । (सा नो भूमिः प्राणं आयुः) वह भूमि हमें बल आयु (दधातु) दे और वही भूमि (मा) मुझे (जरदाष्टि) अर्धछो हृदि या उदरलि (कृणोतु) करनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे (पृथिवि !) यस्तै गन्धः संवभूव) पृथिवी जो तेरेमेंसे गन्ध पैदा होती है, (यं) जिस गन्धको (जोपधयोः विभ्रति) जोपधियों धारण करती है, (यः) जिसे (आपः विभ्रति) जल धारण करता है, जिसे (गन्धुर्वा) सूर्य धारण करते, (अप्सरसः च) किरणें धारण करती हैं, (यं गन्धं) जिस गन्धका (भेजिरे) सुस भोगा (तेन) सुगन्धिसे (मा) मुझको [सुरभिं] सुगन्धियुक्त [कृणु] करो । [नः] हम लोगोंमें [कश्चन] कोई भी [मा द्विषत] किसीसे द्वेष न करे, सब लोग आपसमें वित्रतासे रहें ॥ २३ ॥

भावार्थ—आकाशमें चारों ओर अपना प्रकाश फैलानेवाली सूर्य नामकी एक बड़ी मारी अग्नि है । उससे उत्पन्न हुए इन्द्रको हव्यद्वारा चारों ओर फैलाने के लिये तथा सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्तिके लिये मनुष्य घृत आदिसे होम करते हैं । उस अग्निमें हम भी दिन रात हवन करते हैं ॥ २० ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें चारों ओर अग्नि व्याप्त है और जिस भूमिका वर्ण काला है, वह भूमि हमारे ज्ञान कीर्ति और यशसे बढानेवाली हो ॥ २१ ॥

जिस हमारी भूमिमें मनुष्य यज्ञ करते हैं और उसमें उत्तम उत्तम पदार्थोंका हवन करके बायु और अन्न आदिको शुद्ध करते हैं, जिस भूमिमें यज्ञोंके कारण उत्तम वृष्टि होकर विपुल अन्न उपजता है, जिसकी खाकर मनुष्य आनन्दसे निवास करते हैं वह मातृभूमि हमको उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य देनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे मातृभूमि ! जो तुम्हारेमें उत्तम सुगन्धि है, वह जोपधि और वनस्पतियोंमें प्रगट होती है, उसी सुगन्धिसे सूर्य अपनी किरणोंसे उद्दीपन करते हैं । हमें उस उत्तम सुगन्धिसे भूषित करो और हमारे बीच कोई आपसमें विधेय भी न करे, सब लोग परस्पर मैत्रीभावसे रहें ॥ २३ ॥

यस्ते गन्धः पुष्करमात्रिवेशु यं संजन्तुः सूर्याया विवाहे ।

अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभि कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन

॥ २४ ॥

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः ।

यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषु दृष्टिपुं ।

कन्यायां वचो यद् भूमि तेनास्मा अपि सं संज मा नो द्विक्षत कश्चन

॥ २५ ॥

शिला भूमिरसमा पांसुः सा भूमिः संघृता घृता

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः

॥ २६ ॥

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वाहा ।

पृथिवी विश्वाघायसं घृतामन्त्रावदामसि

॥ २७ ॥

अर्थ-हे [पृथिवि यः ते गन्धं पुष्करं] जो तुम्हारी गन्ध कमळमें [आविवेश] प्रविष्ट हुई है, [अग्रे] पाहिले [ये गन्धं अमर्त्याः] जिस गन्धको वायु आदि देवता [सूर्यायाः] उपाके [विवाहे] विवाहके समय [संजन्तुः] धारण करते हैं, [तेन मां सुरभि कृणु] उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो ! [कश्चन] कोई भी [नः] हम लोगोंसे [मा द्विक्षत] द्वेष न करे ॥ २४ ॥

हे [भूमि] भूमि, [यः ते गन्धः वीरेषु पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगः] वीर पुरुषोंमें, स्त्रियोंमें, साधारण पुरुषोंमें सेजो-मद्य कास्तिरूप है, [यः अश्वेषु दृष्टिपुं] जो घोड़ोंमें, बाघावोंमें, हाथियोंमें, [यद् वचः] जो तेज रूप है, [कन्यायां] विना स्वाही कन्याओंमें जो तेज है, [तेन] दिव्य तेजसे [अस्मान् अपि] हममें भी वही तेज (संजन्तु) पैदा कर दे। [कश्चन मा द्विक्षत] हममें कोई किसीसे द्वेष न करे ॥ २५ ॥

जो (शिला अस्मा पांसुः) शिला, पर्वत, पत्थर और घट्टिपुक्त (भूमिः) भूमि है (सा भूमिः) वह भूमि हम लोगोंसे विद्या, अनेक विज्ञान और धीरतासे (घृता) मन्दीमांति रक्षित हुई, [संघृता] अच्छी तरह योग्यताके साथ सुसजित हुई कहलावेगी, (तस्यै हिरण्यवक्षसे) उस भूमिको जिसमें सोनेकी खान है, (नमः अकरं) नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥

(यस्या) जिसमें (वानस्पत्याः) वनस्पति (वृक्षाः) पेठ और ल । आदि (विश्वाहा) सदा [पृथिव्याः] स्थिर (तिष्ठन्ति) रहते हैं, (विश्वाघायसं) पूर्वोक्त गुणोंसे जो सबको धारण करेवाली है, [घृताम्] धारण की गई अर्थात् मन्दीमांति सुसजित रही गईं, [पृथिवीं अच्छ] उस पृथिवी की हम सुदृढतर [आवदामसि] प्रशंसा गाते हैं ॥ २७ ॥

मातृभूमि- हे मातृभूमि ! जो सुगन्धि तुम्हारे कमळोंमें है, सूर्योदयके समय जिसे वायु ले जाती है, उस सुगन्धिसे हमें सुगन्धित करो। हममें कोई किसीसे द्वेष न करे। हममें सबका एक दूसरेके साथ स्नेह बंधे और सब समाजके ऋणोंसे रहित हों ॥ २४ ॥

हे मातृभूमि ! वीर पुरुषों तथा साधारण स्त्री पुरुषोंमें, हाथी घोड़े चौपाये आदिमें, ब्रह्मचरियों ब्रह्मचारिणी कन्याओंमें जो तेज है, वह हममें भी बचपनसे ही हो। हममें कोई भी किसीसे द्वेष न करे ॥ २५ ॥

जिस हमारी मातृभूमिके ऊपर शिला, पत्थर और घूल है और जिसके भीतर सुवर्ण रत्नादिक अनन्य पदार्थ बहुतसे हैं, उस मातृभूमिको हम नमस्कार करते हैं। जबतक ज्ञान, शौर्य आदि गुण हममें बने रहते हैं तभी तक हमारी मातृभूमिका धररक्षण है, इसलिये हमको इस प्रकार आचरण करना चाहिये कि ये गुण हममें सर्वदा बने रहें और हमसे सदा मातृभूमिकी रक्षा होती रहे ॥ २६ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें वृक्ष और वनस्पति बहुतायतसे हैं और सब स्थिर हो रहते हैं, जो अपने अनेक ऊपर कहे हुए

उदीराणा उतासीनास्तित्छन्तः प्रकामन्तः ।

पद्भ्यां दक्षिणसम्प्याम्पां मा व्यधिष्महि भूम्याम्

॥ २८ ॥

विमृश्वरीं पृथिवीमा वंदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।

ऊर्जं पुष्टं विभ्रंतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि पीदेम भूमे

॥ २९ ॥

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दंष्मः ।

पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि

॥ ३० ॥ (३)

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्तं भूमे अधराद् याश्च पश्चात् ।

स्योनास्ता मद्यं चरंते भवन्तु मा नि पंसं भुवने शिश्रियाणः

॥ ३१ ॥

अर्थ- [उदीराणाः] चलते किरते [उग आसीनः] बंटे हुए [तित्छन्तः] खंडे हुए [प्रकामन्तः दक्षिणसम्प्याम्पां पद्भ्यां] दाहिने या बायें पीतसे टहलते हुए [भूम्यां मा व्यधिष्महि] भूमिमें हम किसीको दुःख न दे ॥ २८ ॥

[विमृश्वरी] विशेष सौजन्यके योग्य [इक्ष्णु] परमात्मासे [वावृधानां] बडाई गई [उर्जं] बल बढानेवाली [पुष्टं] पुष्ट करनेवाली [पृथं अन्नभागं च] धी और खानेके पदार्थ अन्न आदि [विभ्रती] घारण करनेवाली [पृथ्वीं] लम्बी चौड़ी [क्षमां] प्राणिमात्रके निवास योग्य [भूमिं] मातृभूमिसे [आदशामि] प्रार्थना करते हैं । दे [भूमे] हमारी मातृभूमि । [स्यां] तुम्हारा [अभिनेपीदेम] हम आसरा करें ॥ २९ ॥

हे [भूमि] नः तन्वे] हमारे शरीरको शुद्धिके लिये [शुद्धाः आपः] निर्मल जल, [क्षरन्तु] बहा को; [यः नः] जो हमको [अप्रिये] अनिष्ट दे या प्रिय नहीं है [सेदुः] उसे अलगकर [पवित्रेण] पवित्र जो हमारा कर्तव्य करने है [मा उप्युनामि] उससे सुखे पवित्र करता हूँ ॥ ३० ॥

हे [भूमे !] मातृभूमि ! [याः ते प्राचीः] जो तुम्हारी पूर्व दिशा है, [याः उदीची] जो उत्तरकी दिशा है, [याः ते प्रदिशः] जो तुम्हारी उपदिशा आग्नि, नैऋत्य, वायव्य, ईशान ये चार कोनेकी दिशाएँ हैं, [याः ते अपश्चात्] जो तुम्हारे पीछे हैं, [याः ते पश्चात्] जो तुम्हारे पृष्ठभागमें या पीछे है [साः] उन सब दिशाओंमें [चरंते] लोग चलते किंगते हैं; [मद्यं स्योनाः भवन्तु] सुखे सुख की देनेवाले हों, [सुवने] जिस देशमें हम [शिश्रियाणः] रहें [मा निपंसं] कहीं हमारा भयःपात न हो ॥ ३१ ॥

गुणोंसे भरी पूरी है, और सबका आधार है, हमसे अछड़ा तरह मुरझित रखी गई उस पृथिवीकी हम प्रेमशक्ति स्तुति गति हैं ॥ २७ भाषार्थ— हम किसीके दुःखका कारण न बनें ॥ २८ ॥

विषयों ऊपर की सतहको तलाश करनेसे अनेक लाभ हो सकते हैं, जिसे अनन्त शक्तिमान् परमेश्वरने अपनी शक्तिये घारण किया है, बल बढानेवाले घृत और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ अन्न आदिको जो उपरक्ष करती है, लंबी चौड़ी और प्राणिमात्रके रहनेके योग्य है, उस भूमिसे हम प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमि ! तुम हमें सहारा दो ॥ २९ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम चारों ओरसे हमारी शुद्धिके लिये निर्मल जल बहाती हो । जो कोई हमारा अप्रिय करनेकी इच्छा करे अथवा हमारा अनिष्ट करे, उसके साथ हम भी बैठा ही बर्ताव करें और उत्कृष्ट उद्योग करके हम अपनी हर प्रकारसे उत्पत्ति करें ॥ ३० ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारी जो जो दिशाएँ और उपदिशाएँ हैं, उनमें सब मनुष्य तुम्हारे हित करनेवाले हों— इसी प्रकार तेरे हितके लिये बल करते हुए हम भी उन सबका कल्याण करें, हम जहाँ कहीं रहें अपनी योग्यता बढाते रहें, सुखसे रहें और हमारा भयःपात कभी न हो ॥ ३१ ॥

मा नः पृथान्मा पुरस्ताद्भुदिष्टा मोत्तराद्दधरादुत् ।

स्वस्ति भूमे नां भव मा विन्दन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥ ३२ ॥

यावत् तेऽभि त्रिपथ्यामि भूमे स्वर्णेण मेदिना । तारंभु चक्षुर्मा मेष्टोत्तरास्तुत्तरां समांम् ॥ ३३ ॥

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यनाभि भूमे पार्श्वम् ।

उत्तानाम्त्वां प्रतीचीं यत् पृष्टीभिर्गधिष्ठमहे । मा हिंसीस्त्रं नो भूमे सर्वेभ्य प्रतिशीरि ३४

यत् ते भूमे विखनामि क्षिपं तद्विं रोडतु । मा ते मर्धं विमृगरी मा ते ह्यंयमर्षिपम् ॥ ३५ ॥

अर्थ— हे । भूमे ! पश्चात् नः मा बुदिष्टा) मातृभूमि ! जो तुम्हारे पृष्ठभाग हैं वे हमारा नाश न करें, [मा पुरस्तात् मा उत्तरात् उत पश्चात् मा बुदिष्टाः] जो तुम्हारा पूर्व है, उत्तर है या नीचे है, वः भी हमारा नाश न करे, [स्वस्ति] हमारा कल्याण हो । [परिपन्थिनः] शक लोग हमें [मा विन्दन्] न जानें [किञ्च] उन शत्रुओंके [वधं] वधके लिये [वरीयः] जो हम लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ हो [यावया] वह आय ॥ ३२ ॥

[भूमे मेदिना] हे हमारी मातृभूमि !—अपने प्रकाशसे आनंद देनेवाले [स्वर्णेण] स्वर्णसे [यावत् ते अभि विप- ह्यामि] अर्थात् सब ओर हम तुम्हारे आवन्तारका देखे हैं, [तावत् उत्तरां उत्तरा मना य चक्षुः मा मेष्ट] वडाँतक ज्यों ज्यों मेरा डमर बढ़ती जाय मेरा हृदियों नत्र आनंद अपना अपना काम करनेमें शायिल न हों, जयाव् कहसि उनमें कमी न हो, अपना पूरी डमरतक हन सब उतम कर्म करते रहें ॥ ३३ ॥

हे [भूमे] हमारी मातृभूमि ! [यत्] जब [जयानः] सोते हुए [दक्षिणं मध्यं पार्श्वं] दाहिने और बाँचे [अभिपथावर्ते] करवट लें [यत् त्वा] जब तुमपर [प्रतीचीं] पश्चिम की ओर पार्श्व कर [उत्तानः पृष्टीभिः] पीठ नीचे कर [आचिंतामहे] जयन करें, उच दशानमें [तंदा प्रतीःशरीर] सब लोगोंको सदा देनेवाला [भूमे नः मा हिंसिः] हे हमारी मातृभूमे हमारा नाश न कर ॥ ३४ ॥

हे [भूमे] हमारी मातृभूमि [ते] तुम्हारेमें [यत् विखनामि] जो इससे जोतकर हम बोधें [सत् क्षिपं रोडतु] यह अस्त्र उगं और बड़े [विमृगरी] विशेष शत्रुनेके योग्य हमारी मातृभूमि [ते] तुम्हारे [मर्धं] नाजुक स्थानोंमें छिपी तरह की क्षति या चाँट न पहुँचे और [ते मर्धं] तुम्हारे मर्धं [ह्यंयं] मन या चित्त [मा] दुःखित न हो ॥ ३५ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! हमें किसी प्रकारसे हानि न पहुँचे, सब तरफसे हमारी रक्षति ही हो । हमारी बालोंको हमारे छाट न समझ सकें और हमारे अग्रभा लोम सदा हमारे सन्मुखोंके नाश करनेका प्रयत्न करते रहें ॥ ३२ ॥

हे मातृभूमि ! जबतक हम प्रसाध और ज्ञानकी सहायतासे तेरी बाहरी भीतरी श्रियति सूक्ष्म दृष्टिसे देखते रहें, तबतक हमारी बाहरी इन्द्रियाँ और आतरा बुद्धि अपना अपना काम करनेमें मग्न रहें ॥ ३३ ॥

हे हमारी मातृभूमे ! जिस समय हम तेरे मूल विश्राम करनेके लिये दाएँ, बाएँ अथवा धिधे तेरे ऊपर सोवें उस समय तुम हमें आश्रय दो, जिसमें कि हम बेछटके सोवें और कोई हमारा पात न कर सके ॥ ३४ ॥

हे हमारी मातृभूमे जहाँ तुम ऊँची नीची हो उसे सम समान कर जो हम बोधें वइ अन्द उगे और बड़े । तुम्हारे ऊँच नीचा रहनेव हनर भवःगान और गिर जानेकी संभवना है, जो तुम्हारे लिये वन करने हुए नरनेश्वर नमें बोट का क्षति न पहुँचे और तुम्हारे लिये जो हम अपना तन, मन अर्पित किये हैं कि तुम्हारी रक्षति करें सो दुःखित न हों, हम सदा प्रसन्न रहें ॥ ३५ ॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धैमन्तः शिशिरी वसन्तः ।

ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्

॥ ३६ ॥

यापं सपं विजमाना तिमृग्री यस्यामामंक्ष्मरो ये अप्सर्वन्तः ।

परा दम्प्यन् ददती देवपीयूभिन्द्रं वृणाना पृथिवी न घृत्रम् ।

॥ ३७ ॥

शुक्राय दध्न ऋषभाय वृष्णे

यस्यां मदोहविर्धाने यूगो यस्यां निमीयते ।

ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यग्निः साज्ञा यजुर्विदः ।

युज्यन्ते यस्यामृत्वियुः सोमनिन्द्राय पातये

॥ ३८ ॥

अर्थ है (पृथिवी भूमे) शिशिर मातृभूमि । (त प्राच्यः ऋषणि दात् इमन्तः शिशिरः वसन्तः) तुम्हारे में ओ गरमी, बरसात, गरम इमन्त, शिशिर, वसन्त (ऋषवः ते हायना.) ये छ. ऋतु वर्षाणाम् (शिशिराः) स्थापित ओ गई है और (अहोरात्रे) दिन तथा रात (न. दुहाताम्) हमको सुख देनेवाले पदार्थ दे ॥ ३६ ॥

(या तिमृग्री) जो विशेष सौम्यके योग्य है, (विजमाना अपसर्प) जो शिकरी हुई चकती है, (ये अप्सु) ओ मेघोंमें (अन्तः अक्षय.) विशिष्टीके आकारमें अग्नि है वे (यस्यां आसम्) जिसमें है, वह हमारी मातृभूमि (देव-पीयून्) देवोंके हितके (दम्प्यन्) ज्ञानमार्गके उच्छेदके अनावृत्तोंका नाशकना (गक्राय) समर्थ (वृष्णेन) शीतगुण (ऋषभाय) सिंचन करानेवालेका (दध्ने) धारण करती है और (परादृती) दूर जाता हुई [घृत्रम्] शकका [इन्द्र] नाश करनेवाले दूर बीरयो [वृणाना] वरण करनेवाली अर्थात् अपनेमें मिलानेवाली हमारी मातृ-भूमि है ॥ ३७ ॥

(यस्यां सपे) अथ भूमिमें धर है (हविर्धाने) जिसमें हविष्य अर्थात् हवनके पदार्थ सुखित रह सकते हैं (यस्यां यूपः निमीयते) जिसमें यज्ञसंजन रखे जाते हैं, (यस्यां यजुर्विदः साज्ञा यजुर्विदः) जिसमें यजुर्विदके करनेवाले साक्षण पत्र करने या करनेवाले (यथा ब्रह्माण. ऋषिभिः सामना च अर्चन्ति) जिसमें ऋषिदेव और सामवेदके जाननेवाले साक्षण ब्रह्मा वन परमात्मता पूजन करते हैं और (सोमं पातये) सोमपानके विषे (इन्द्राय युज्यन्ते) इन्द्रका पूजन करते हैं ॥ ३८ ॥

हे मातृभूमि ! छः ऋतु होनेका उत्तम गुण तुम्हारे ही में है और किसी देशमें भूमिमें छः ऋतु नहीं होती। वो वर्षोंके छे छः ऋतु अपने अपने समयमें अपने फल फूल आदिके हमें सुख देती रहें, वन वन ऋतुके रात और दिन सब माति इन्हें सुरावने हैं ॥ ३६ ॥

जो हमारी भूमि देवी है कि इसे जिनना ही सोजते रहो इसमें त्यागदासक सार वस्तु मिलती रहें, दितते, बोजते, बजते भेषोंमें विशिष्टीके आकारमें अग्नि जिसमें है वह हमारी मातृभूमि अक्षयोंको सुख देनेवाले दुष्टोंका हानी बाराके हितके लिये नाश करती है, वह हमारी मातृभूमि शकनाशक बाराको ही अपनेमें धारण करती है ॥ ३७ ॥

जहां नरके जाननेवाले ब्रह्मर्षिने बार बार दण्ड किया है, इसके विरुद्ध हुआ कि वह हमारी मातृभूमि पवित्र दण्ड-भूमि है ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वं भूतकृत् श्रयंया गा उदानृचुः । सुप्त सुत्रेपं वेधयो यजेत् सपसा सह ॥३९॥

सा नो भूमिगा दिंशु यद्वनं कामयामहे । मगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥४०॥

यस्यां गार्थन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलयाः ।

युष्पन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वर्दति दुन्दुभिः ॥

सा नो भूमिः प्र पुंरतां सपत्नानसपन्नं मां पृथिवी कुंगोतु ॥ ४१ ॥

यस्यामर्षं व्रीडिष्वी यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः । भूम्यै पुत्र्यैपत्न्यै नमोऽस्तु वृषमैदसे४२

धर्म- (यस्यां पूर्वं भूत कृतः) त्रिषु भूमिमें पहिले बहुत कान करनेवाले (श्रयः वेधयः) अठान्द्रिगर्धर्मों और ज्ञानों (सप्त मत्रेय) सात प्रकारके मंत्र आदि (यजेत्) यजने या सरकार दान मान आदि उत्तम कामोंके (सपसा) धर्मके धारणके (गाः उदानृचुः) उत्तम वाणीके द्वारा स्तुति करते रहें ॥ ३९ ॥

[सा नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [यत् धर्मं] जो धर्म हम [कानयामहे] इत्यादि करते हैं कि हमें निन्दे का हमें [आदिनातु] दे, [मगः] पृथ्वीपर सब करने देखनेमें शूर और पुण्योंके [अनुप्रयुक्तान्] सहायक हो, [इन्द्रः] शक्ति का करनेवाले वीरोंके [पुरोगवः] अगुवा होकर [एतु] सरदार बहाई करे ॥ ४० ॥

[यस्याम् नृत्यां मर्त्याः] त्रिषु भूमिमें मनुष्य [गायन्ति] गाते हैं, [नृत्यन्ति] नाचते हैं, [व्यैलयाः] विद्वेष प्रेरित और लोग करनेवाले शक्ति के [युष्पन्ते] सप्त करते हैं [यस्यां माक्रन्दः] त्रिषुमें घंटोंके दिन हमनेका काम होता है, [दुन्दुभिः च वर्दति] नगाडा बजता है [या नो भूमिः] वह हमारी मातृभूमि [मर्त्याम्] शक्तिमें ही [प्रयुक्तान्] दूर मगा दे, वह [इषिवो] भूमि [मां] हमें [अययानं] साक्षात् [कुंगोतु] करे ॥ ४१ ॥

[यस्यां व्रीडिष्वी] त्रिषुमें चालक, जो, गेहूँ आदि सब बहुत उपजते हैं, [अर्षं] खानेके पदार्थ जहाँ अधिकतासे हैं, [यस्यां इमा पञ्च कृष्टयः] जहाँ पंच प्रकारके लोग (इन्द्रान्, शूरवीर, व्यैगरी, कारीगर और नाकर) रहने हैं, तथा [वृषमैदसे] ब्रह्मादि होनेसे जहाँ सब आदि सबके उपजते हैं, [पुत्र्यैपत्न्यै] पुत्र्यैपत्न्यै वर्यानि त्रिषु भूमिमा पावन होता है, उस [भूम्यै नमः अस्तु] मातृभूमिको नमस्कार है ॥ ४२ ॥

सागर्थ- हमारी मातृभूमि देवी है त्रिषुमें अठान्द्रिगर्धर्मों सजनोंके रक्ष के लिये बड़े बड़े कान करनेवाले धर्मोत्तम और ज्ञानधर्मके सुसोचित सत्पुत्र हुए हैं, उस मातृभूमिकी हम स्तुति करते हैं ॥ ३९ ॥

त्रिषुमें सुबकी हम इच्छा करें तबना मातृभूमि हमें दे। पृथ्वी और पृथ्वीपर लोग आने देखने और धर्मों वीरोंकी सहायता करें और वीर पुण्य सुवीर होकर धर्मके साथ शक्ति का नाश करनेके लिये आने बडे ॥ ४० ॥

त्रिषु भूमिमें आनन्द बचावर्षा सब रही हैं, जहाँ लोग प्रसन्न रह नाचते हैं, गाते हैं और वीर लोग वीरताके उत्साहमें आने आने शक्ति शक्ति के लिये युद्ध करते—बड़े बड़े दिनहुँना रहे हैं, नाचते बजते हैं, वह हम ही मातृभूमि हमारे शक्ति का नाश कर हमें शक्ति करते व ४१ ॥

जहाँ चालक, गेहूँ, औ आदि नया और और खानेके पदार्थ बहुत होते हैं, जहाँ विद्वान्, शूर, व्यैगरी, कारीगर तथा वेचक लोग बड़े धर्म प्रकारके मनुष्य प्रसन्नये बजते हैं, त्रिषु भूमिमें नियमित समयमें वृष्टि हो सम्पूर्ण धान्यादिक उत्पन्न हो लोगोंका जीवन पावन होता है, उस मातृभूमिकी नमस्कार है ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरां देवकृताः क्षेत्रे यस्यां विकृतैः ।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वमर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

निधिं विश्वं वहुधा गुहा वसुं मणिं हिरण्यं पृथिवीं ददातु मे ।

वसूनि नो वसुदा राममना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥ ४४ ॥

जनं विश्वं वहुधा त्रिंशत्सु नानाभर्मिणं पृथिवीं यथाकृत्स्नम् ।

मृदस्रं धारां त्रिंशत्सु मे दुहां ध्रुवं धनुनप-फुरती ॥ ४५ ॥

यस्तैः सर्पां वृथिकस्तुष्टं दशा हेमन्तजन्त्रो भूमलो गुहा शयैः ।

क्रिमिजिन्त्रैः पृथिवीं पृथ्व्यं जनि प्रापिं तन्नः सर्प-मांषं सृष्ट् यच्छिपं तेनो मृद ॥ ४६ ॥

अर्थ- [यस्या देवकृ पुरा] जिन मानुषीके नगर देवाक बनाय या बसाय दे. [यस्या क्षेत्र विकृतैः] त्रिके प्रयेक प्रायतमैः पृथिव्य अपन अपन काम अर्थात् तरहमे का स्रष्ट है, प्रजापति [वजाका वालक उस भूमिको जं [विश्वगर्भ] सब पदाशोका पैदा करनवाला है, [पृथिवी] उस हमारी मत्भूमिको [आशां आशां] प्रत्येक दिशाओमें [रण्यां] रक्षणाय करे ॥ ४३ ॥

[बहुधा गुहा] बहुत तरह की खानेमें [वसु] धन, [मणि] रत्न हीरा पद्मा आदि [हिरण्यं] सोना चांदी आदि [निधि] सचय [विश्वतो] धागण कानेवाला हमरी पृथिवी [म] हमको वह सब [ददातु] दे, [वसुरा] धनकी देनेवाली [राममना] दान कामवाली [देवी] देवस्वरूप हमारा सब काम साधनेवाली [सुमनस्यमाना] जो हमसे सुमानस्य होकर [न] हमको [वसुनि ददातु] धन दे ॥ ४४ ॥

(बहुधा नाना धर्माण) बहुत तरहके धर्मके माननेवाले (त्रिंशत्सु) अनेक भाषा बोलनेवाले (जनं) जनमसुदायका (यथा शोक्तं) जैसा एक धर्ममें कीटं रगे उप तरह (विश्वं) धागण कानेवाले (जनपस्तुन्ता) त्रिकका नाश न हो हवसे (पृथ्वी पृथ्वी) स्थिर भूमि, त्रिबणव्य धाराः) हजारों तरह पर (मे) सुमकी (धनुः हव गुहा) धनु जैसा दूध देती है उसा तरह हमें धन दे ॥ ४५ ॥

हे (पृथिवी ते) हमारा मातृभूमि तुम्हारे (य. सर्पः पृथिकः) जो साँप या बिलू (तुष्टं दशमा) ऐसे जीव कीड़े आदि जिनके काटनेमें प्याय अधिक लगती हो (हेमन्त जट.) । मित्रिनाशक अथर्व उव के पैदा कानेवाले (भूमलः) या जनस्य अन्तसे सुमा पैदा हो (क्रिमिः) पृथ्वीका (गुडशयै) जो त्रिकोंमें पड़े सोया करते हैं (प्रापिं) बरसात के मालिममें (यत् जिन्त्रं यत् पृजतिं) जो संवत् हुए चलते हैं या रंगत हैं (तत् सर्पान्) जो रगा करते हैं, ये सब (न मा उपसृग्) हमारा पास न आवे, (यत् जिन्त्रम्) जो हमारे लिये कष्टदायका हो (तेन न. मृद) उससे हमें सुजा कर ॥ ४६ ॥

सांख्य । तम मत्भूमिमें देवेदारा बचये आक नगर हैं, जिनके प्रत्येक प्रान्तमें समुद्र अनेक वजारक अ-छे अ-छे तरहों में सौर नगे रहते हैं, अर्थात् जो घनी बनी है, कई भय जिनका सूना और उत्राद नहें हैं, जहां सब तरहके पदार्थ पैदा होते हैं, उस मत्भूमिको प्रजापति पलक पूर्ण करे अर्थात् वहा विशाखा अधिक प्रचार करे और वह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा औन्दर्भिक सुवपन्न ॥ ४३ ॥

जिनमें रत्न और सुवर्ण आदिकी बहुतसी खाने हैं और जो हमें उत्तम धन रत्न आदि देती हैं, वह मातृभूमि सदा हमें धनकी देनेवाली हो ॥ ४४ ॥

ये ते पन्थानो बृहवो जनायना रथस्य वर्तमानमश्च यातवे ।

यैः संचरन्त्यमयं मद्रपापास्तं पन्थानं जगदानमिद्यथतस्करं यच्छ्रियं तेन नो मृड ॥४७॥

मूलं विभ्रं गी गुरुमृद् भद्रपापस्य निधनं नितिष्ठुः ।

ब्राह्मणं पृथिवी संविदाना संक्राम्य वि जिहति मृगायं ॥ ४८ ॥

ये त आग्न्याः पशवो मृगा वनं द्विताः सिंहा व्याघ्राः पुंलादुधरन्ति ।

उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामि त क्रक्षां कां श्क्षो अपं बाधयास्त ॥ ४९ ॥

अर्थ- ह भूमि ! (ये त बृहव पन्थानः जनयनाः मनुष्यों के चरने के लिये जो तुम्हारे बहुतने मार्ग हैं, (रथस्य वर्तनं) रथके चलने योग्य [जनमः यातने] एकदोके जानेजाने लयक अथवा अच्छे दोकलं जानेलयक जो मार्ग हैं, [यैः संचरन्ति मद्रपापाः] जिनसे पापका मल लोग या जिन पक्षे दुष्ट संचरत लोगभी चलते हैं [तं] उनसे [मद्रपाप] शकृदित [अस्करं] शय और चोरी के पक्षे रहित कर । [जयन] हम जय प्राप्त करें, (यच्छ्रियं) जो बचपानां हैं (तेन नो मृड) हमसे हमें सुख दो ॥ ४७ ॥

(गुरु मृद्) भारी पदार्थको भरने और लचनेवाली और (मूलं) धारण करनेकी शक्ति (विभ्रतो) धारण करनेवाली (मद्रपापस्य) पापोंना और पक्षपात मनुष्यों (विभ्रं) मरण (नितिष्ठु) मरती हुई वह (पृथिवी) भूमि (ब्राह्मणं) उच्च जल देवताके माय (संविदाना) अच्छी तरह पाकर अर्थात् अच्छा बरपातवाली होकर (मृगायं) अग्नि किरणाले (नृगायं) अपनी किरणोंसे अरविताको पवित्र करनेवाले सूर्यके चारों ओर (सिंहादिभ्यः) विविध जाती हैं ॥ ४८ ॥

(पृथिवी ये ते वने द्विताः) हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारे वनमें खले गये हैं (सिंहाः व्याघ्राः पुंलादाः) सिंह, बाघ और दुष्टे पशुओंको सिंहा करनेवाले मायावासी जीव (आग्न्याः पशवः मृगाः) वनके रहनेवाले अनुष्णात् तृणभोजी मृ-पिदक (चाम्बि) च ते किरते हैं उनको और (उलं वृकं दुच्छुनां) वनपशु, पाण्ड कुत्ते [पक्षीणां] जाल कारि में डेरे [इतः अस्मात् अथवाय] यदा हमने दूर रती ॥ ४९ ॥

भावार्थ- अनेक प्रकार के उर्वरित वनोंको पावनवान, विविध माय बालनेवाल लोग का अथवा देनेवाले हमारी अविषयी मातृभूमि अथवा मूल दूष देने है, उन तरह हमसे पदार्थों देनेवाली थी तथा वनकी देवते लो ॥ ४७ ॥

हे मातृभूमि ! लो सिंहा और बंदू या ऐसे जीव जिनके काटनेसे दह पैदा होती है, या जो राय उत्पन्न करते हैं, वे सर्वकार विधेय और कभी हमें सारी भी न करें, या पशुओं इनके लिये हिन्दु हैं और अग्नि करनेवाले हैं वे सदा हमारे पास आ रहे हैं सुख देने ॥ ४८ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारा रक्षा-विषयमनुष्य करने फिरने हैं-अप और एकदोके करने योग्य है, जिनपर मले और दुष्ट देनेवाले तरहके लय करने दें, अब आदि पशुओं विचार लिये जने हैं, लह मार्ग बिना शक और चोरीदित अर्थात् निर्मय और पुत्रप्रेत कर हम विद्यो हों उन बटार चले । जो हमारे लिये अगई हो उनम हमें सुखी करो ॥ ४७ ॥

शुद्ध पशुओंकी अपनी और भी वने तथा पशु कानकी एक जिनसे है, अने और लुग दोकके जो धारण करे है, दोनों के मरणको जो मर लेती है । अच्छा जब बरमानेवाले मेषने शुद्ध सूर्य विजयी अरविताका अपनी किरणोंसे दह देता है, पशु-हमारी मातृभूमि विविध प्रकारसे सूर्यके लय साथ जाते हैं ॥ ४८ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारे सिंह और, सिंहारी जानवर, बाघ, भेड़, पाण्ड कुत्ते, जाल इत्यादि हैं, उन सबको हमसे दूर रती ॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अम्बरसो ये चारायाः किभीदिनः ।

पिशाचान्त्ववा रक्षांसि तानुसद् भूमे यावय

॥ ५० ॥ (५)

यां द्विपादं पृक्षिणं संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शुकुना वपांसि ।

यस्यां वातो मातरिभ्येते रजामि कृष्णश्च्युवपेक्ष वृषान् ।

वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यासिः

॥ ५१ ॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोगुत्रे विहिते भूम्यामधि ।

वृषेण भूमिः पृथिवी वृषावृता सा नो दधातु भद्रयां प्रिये धामनिधामनि

॥ ५२ ॥

पृथ्वी म इदं पृथिवी चान्तरिक्ष च मे व्यचः । अग्निः सूर्य आपो मेघां विश्वे देवाश्च सं ददुः५३

अर्थ- हे [भूमे ये गन्धर्वा] मातृभूमि जो एक जातवायी हमारे वध करनेको उद्यत है [अम्-सास] अम्बरगत एक जातवायी है, [ये चाराया] जो निर्धन हैं किभीदिन] पर धनके इरनेवाचे है [पिशाचान्] नीस खानेवाले हैं, [रक्षांसि] राक्षसी स्वभाववाले हैं [सुपर्ण कृष्णत यावय] मरुको हमस दूर दृष्टाने ॥ ५० ॥

हमारा वह मरुभूमि है [वा द्विपाद हंसा, सुपर्णा शुकुना वपांसि पक्षिण मंत्रान्ति] जहां दो पांखवाले वीर्य हंस, गरुड आदि पक्षी उड़ते हैं, [यस्यां मातरिभ्या वात] आकाशमें उड़नेवाली वा संस्कार करनेवाली हवा [रजामि कृष्णमरुणं] धूल उड़ाने हुई [वृषान् वृषावयन्] पर्वतको जइसे उखाड़ता हुई [वृषते] बहती है । [तस्य वातस्य यथा वयसां] उस वायुकी गतको [अग्नि] तेज वा प्रकाश [अनुवाति] अनुगण काटा हुआ बहता है ॥ ५१ ॥

[यस्यां भूमिं कृष्णमरुण च] जिन भूमिमें तनोमय अंधकार और प्रकाशमय दिन [संहिते] रक्ते हो [अहोगुत्रे] दिन और रात [विहिते] होत है [सा पृथिवी भूमि] वह विस्तृत भूमि [वृषेण वृता वृषा] वृष्टिसे ढकी हुई [मद्रया] कल्याणक साथ [प्रिये धामनि-धामनि] सुहृत्कारी रमानोमें [नः] हमको [दधातु] पर ॥ ५२ ॥

(५३) अकाशमय आकाश [पृथिवी] भूमि [अन्तरिक्षम्] आकाश और पृथ्वीका बीच [अग्नि सूर्यः] अग्नि और सूर्य [विश्व देवाः च] सब प्रकाश करनेवाले देव तथा विद्वान् लोग, विजया, वा इत्यद्वारचन्द्र [इदं] वह सब [मे] मुझको [मेघां] धारणासाक्षिवाली गुह्ये [म व्यच] हमारी तरफे प्यास वा आकलनवादि [सरदुः] बरानी उरह है ॥ ५३ ॥

मातृभूमि-हे हमारी मातृभूमि ! जो हिंसक, आलसी, निर्धन, परधन इरनेवाले, नीचाहाती, अमानवादी, अमानवादी, अमानवादी और अठगार है, उनको दूर करो ॥ ५० ॥

पिष भूमिमें सर्वदा आकाशमें हव आदि पक्षेक कामन्देव उड़ते हैं, जहां धूलिके उड़ते देहोंको उखाड़ते वयु के रोक रोक सगडेवे बहती है और जगलकी अग्नि जहां जे रोमें समकली है, वह हमारी प्रिय मातृभूमि है ॥ ५१ ॥

जिस भूमिमें ठेक प्रमाणवे रात और दिन हात है और उनकी सदा एहसी इववस्य रहती है वह हमारी विस्तृत मातृभूमि हमें दिनकरा स्थ नोमें सुखसे रखे ॥ ५२ ॥

सब देव वा जंगम, पवन वा अकलन सब पदार्थको सहान्तरसे हमारी सुदि बडे और कर्तव्यसे वापी और न्यायक हो ५३

अहमस्मि सहमान् उत्तरो नाम भूम्यां।अभीपादाम्बि विद्यापाडाशामाशां विद्यासुहिः॥५४॥

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्षो महित्वम् ।

आ त्वां सुपुत्रमविशत् तदानीमकरयथाः प्रदिशश्चंसः ॥ ५५ ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अघि भूम्याम् । ये संग्रामाः समितयुक्तेषु चारुं वदेम ते ॥५६॥

अश्वं इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षिपन् पृथिवीं यादजांयत ।

मन्द्राप्रैत्वंरी भुवंतस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिराबंधीनाम् ॥ ५७ ॥

अर्थ- [अहं सहमानः] गामी, सररी, सुख, दुःख मह जेनेवाळे [नाम] यश और प्रतिशस्ते [उत्तरः] उत्कृष्टतर [भूम्यां मलि] भूमिमें [अशां आशान्] हरएक दिशाओमें [विद्यासुहिः] विशेष विजयो [अमापाद्] सब और पराक्रम करनेवाला [विद्यापाद्] सब शास्त्रोंका नाम करनेवाला [अग्नि] हूं ॥ ५४ ॥

दे [देवि] विशेष मातृभूमि तुम (यद्) जब [पुरस्ताद्] पहले (देवैः) देवों और विद्वान् विभिन्नोषु या म्ब्रह्मांडका लोगोंने [प्रथमाना] प्रकृत होकर [उक्ता] प्रणीत हो गईं सब [व्यसर्षो] विशेष डाकपैकी पहुंची [तदानीम्] तब इसको [अतस्यः प्रदिशः] चारों दिशाओमें [सुभूमम् महारम्] बड़ी प्रतिष्ठा [अकल्पयथाः] प्राप्त हो गई, हे भूमि वह तुम्हारे प्रतिष्ठा [या] तुममें [अविशत्] अब भी पहले थी सी हो ॥ ५५ ॥

[ये ग्रामाः] जो गांव या नगर [यद् अरण्यं] जो वन [याः सभाः] जो राजसभा न्यायसभा घर्मसभा आदि [ये संग्रामाः] जो युद्ध [याः च समितयः] जो बड़ी बड़ी परिपत्र [अघिभूम्याम्] हमारी भूमिमें [सन्ति] हैं [तेषु] तब सबको [त] तुम्हारे बारेमें [चाह वदेन] अपना कहें ॥५६ ॥

[अश्वं] जब [गृभिवाम्] भूमिमें कोई युद्ध आदिसे [आक्षिपन्] आकर बसे या बसाया जाय तब [तान् जनान्] उन राजनेवाळें मनुष्योंको [यः रजः] जो सेनाक आनेसे उठा धूलि [अश्वः इव वि दुधुवे] घोड़ोंसे चलनेके समान बड़ो बड़ [मन्द्रा] प्रसन्न करनेवाली [अप्रैत्वंरी] मद्रमागमें अद्द जनेवाली [मुत्रतस्य गोपा] संसार की रक्षा करनेवाली [वनस्पतीनां जोषधीनां च गृभिः] वनस्पति और औषधियोंका प्रहण करनेवाली है ॥ ५७ ॥

भावार्थ- मैं अपनी मातृभूमिके लिये तथा उसके दुःख निवारण करनेके लिये हर तरहके कष्ट सहन करनेको तैयार हूं । और प्रयत्नसे सब शास्त्रोंको पाल्य करूंगा । एक भी शास्त्र रहने नहीं दूंगा ॥ ५४ ॥

हे मातृभूमि पहलेके लोभ जब तुम्हारी स्तुति करते थे तब समस्त तुम्हारा महत्त्व और कीर्ति चारों दिशाओंमें फैल जाती थी, बड़ी तुम्हारा महत्त्व अब भी बैसाही फेंके ॥ ५५ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तुम्हारेमें जहां जहां नगर, वन, घमा, परिषद्, संग्राम दिशा मनुष्य एकत्र हों वहां वहां हम तुम्हारी प्रशंसा करें । अर्थात् कभी तुम्हारे अहितकी बात न करें ॥ ५६ ॥

तुममें बिजरी हो जाओपर सेनाके बांझोंके चबनेसे धूलि उठकर मनुष्योंके चित्तोंको प्रसन्न करती है । अथवा जब किसी विशेष घटनाके लिये मनुष्य अपना संघट्टर एकत्रित होत हैं तब उस संघट्टे को फल स्वरूपमें एक विप्लव लक्षित उत्पन्न होती है, वह लक्षि सब को आनन्द देनेवाली, सब देश का संग्रहण करने वाली और औषध आदि मध्य पदार्थ देनेवाली होती है । अक्षय्ये तबे मातृभूमिके अर्पण अथ वंदन कावने ॥ ५७ ॥

यद् वदामि मधुमन् तद् वदानि यदाश्रे तद् वनन्ति मा ।

स्त्रिर्षमानस्मि जूतिमानान्यान् हन्मि दाषतः

॥ ५८ ॥

शान्तिवा सुग्भिः स्वोना कीलालोष्ठी पर्यन्वती।भृत्रिर्गधिं त्रीतु मे पृथिवी पर्यसा म॥५९॥

चामुवैच्छद्विषां विश्वकं नन्तरण्ये रजमि प्रविष्टाम् ।

भुजिर्ष्वृ पात्रं निहितं गुहा यद्वाग्भिर्भोगं अभवन्मातृमद्भृयः

॥ ६० ॥

स्वर्भन्व्यारषन्ती जनानामदिनिः कामदुषा पप्रथाना ।

यत् तं ऊनं तत् तु आ पूंयाति प्रजापतिः प्रथमजा प्रनस्ये

॥ ६१ ॥

अर्थ [यत्] हम अपने राष्ट्र या देशके सदाशरमें जो [वदानि] करते हैं [तत् मधुमन् वदामि] वह दितहर और मधुर इतरीते करते हैं [यद् ईक्षि] जो करते हैं [तत्] वह सब [मा] हमको सहायक हो [मद् स्त्रिर्षामान्] हम प्रदानमान, सज्जा, दक्षिमान् मा [जूतिमान] ज्ञानवान हो इससे [न-वान्] दूसरे जो हमारा भूमिको दुहे लते हैं [नवहन्मि] उनका नाश करत हैं ॥ ५८ ॥

[शान्तिवा] शान्तिकारक [सुग्भिः] सुगन्धियुक्त [स्वोना] सुख देनेवाली [कीलालोष्ठी] अन्न की देनेवाली [पर्यन्वती] गूहा बहुत जड़ हाथीकी [मे पृथिवी भूमि पर्यसा सह] हमारा भूमि सोप्य पदार्थ जो पानीके काममें जाय उन्से हमें । अथि यगीतु] ऊ॥ ५९ ॥

[यत्] जय [विश्वकर्मा] सब काम कर-वाले [रजमि कर्णवे] अन्तरीक्षमें [मन्त्र-प्रविष्टां चाम्] मीतर प्रविष्ट भिन्न भिन्नो [हविषा] अर्घ्यादि पदार्थोंसे [नवैच्छत्] संग करने की इच्छा करता है तब [गु-निहितं] गुप्तस्थानमें रखना हुआ [स्त्रिर्षां पप्रथ] भोजनके योग्य अन्न आदि [मातृमद्भृयः मातृनकीट] भागे] स्वभोगके लिये [क्षमिः अमवत्] प्रगट होता है ॥ ६० ॥

हे मातृभूमि [स्व जगती आगतः] तुम लोगोंको दुःख न देनेवाली [कामदुषा] उच्छिन्न पदार्थोंकी देनेवाली [पप्रथना] मृतक योग्य [मावचना] क्रिसमें न छोड़ताइ जानेसे बहुत अन्न उपजत है [नवि] एसा तुम हो [यत् ते जम्] जा तुम हमें कमी है [तस्ते अतस्य] जो तुममेंमें जो यज्ञ दिये जात हैं [प्रथमजाः] सृष्टक आदिमें प्रगट हुआ [प्रजापति] परमेश्वर [आपुरयति] पूजा कर देत हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थ— हम जो कुछ भी भयण वरग वह सब हमारी मातृभूमिके लिये दितभाग होगा, जो कुछ हम आसोसे देखे वह सब भी मातृभूमि ही के लिये सहायक होगा, इसी प्रकार हमारे सब काम मातृभूमि हीके अर्पण होंगे । हम तैजसवी और सुद्धमान हो, जो हमारे शत्रु हमारी मातृभूमिका दोहन करेगे उनका हम नाश करेगे ॥ ५८ ॥

शान्ति, स्व, अन्न, पना आदि की देनेवाली हमारी मातृभूमि हमें सब भोगके पदार्थ और एदर्य देनेवाली ही इस तरह और हमारी रक्षा करती रहें ॥ ५९ ॥

जहां सब तरफ के उपाग करनेवाले कुशल पुष्ट्य मत्त भूमि की सेवा करने के लिये कटिबद्ध होते हैं वहां मातृभूमिक गुणस्वयनमें सबका हुआ तथा परमा हुआ थाल (जा केवल भयों हीके लिये है) अहर उनक सामन प्रगट होता है । अर्थात् उनके स्वभोगके सारे पदार्थ उगद सहज ही मिल सकते हैं ॥ ६० ॥

हे हमारी मातृभूमि तू हम सबका सुख देनेवाली है, उच्छिन्न पदार्थोंकी देनेवाली है इसलिये जो तेरे में कमी हो उसे परमेश्वर पूरा करे ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयुक्ष्मा असम्यं सन्तु पृथिवि प्रसृताः ।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥

भूमे मातृनि वैदि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।

संविदाना दिवा कवे त्रियां मां धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे [पृथिवि ते प्रसृतः] भूमि ! तुम्हारेमें उत्पन्न सब लोग [अनमीवाः] रोगग्रहित [अयुक्ष्माः] क्षयरोगरहित [असम्यं उपस्थाः] हमारे पास रहनेवाले [सन्तु] होँ [नः आयुः दीर्घं भवतु] हमारी उमर घटती हो, हम बहुत दिन जीवें [वयं प्रतिबुध्यमानाः] हम ज्ञान विज्ञानयुक्त होँ [तुभ्यं बलिहृतः स्याम] तुम्हें बलि, करभार देनेवाले होँ ॥ ६२ ॥

हे [मातृ भूमे] मातृभूमि ! [भद्रया] कल्याणकी बढ़ानेवाली बुद्धिसे हमें [सुप्रतिष्ठितम्] सुस्थिर या युक्त कर, [मा] मुझको [निधाह] रक्खो [दिवा] प्रतिदिन (संविदाना) सब बातकी जाननेवाली करो [कवे मां] हे कान्तद-
होनी ! हमें [भूत्यां त्रियं धेहि] पृथिव में संपत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ—हे हमारी मातृभूमि जौ हम लोग तुम्हारेमें उत्पन्न हुये हैं वे निरोग, क्लेश, दीर्घायु बुद्धिमान, जागृतसंपन्न रहें और मातृभूमिके हितके लिये अपने निजके स्वार्थ का बलि देनेमें तैयार रहें, सब मांति तुम्हारा हित करनेमें तैयार रहें ॥ ६२ ॥

हे मातृभूमि ! मुझे बुद्धिवान कर और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले सूक्ष्म विचारी और दूरदर्शी मनुष्य को तथा मुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त कर देनेवाली हो ॥ ६३ ॥

प्रथम सूक्त समाप्त ॥३॥



मातृभूमिका वैदिक गीत ।

जिस देश में जो लोग रहते हैं वह उनकी मातृभूमि कहलाता है। जैसे भारतीयोंकी मातृभूमि, चीनी लोगों की चीन-भूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लैंडभूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे लोगोंकी अलग अलग मातृभूमि है। जिस तरह माता ऊँरचकारा आदि बच्चेका देह बनता है उसी तरह मातृभूमि में उत्पन्न होनेवाले अनाज, पानी, वहाँकी हवा और वनस्पतियों में उस देश के मनुष्योंके देह बनते हैं। इसलिये उस देश को अपनी मातृभूमि समझना उस देश के निवासियों का स्वभाव होता है।

परमेश्वर का नियम ही है कि माता के दुग्धपर बच्चे का ही अधिकार रहना चाहिये, क्योंकि माताके स्तनों में जो दूध परमेश्वर अपने अद्वैत नियमों से उत्पन्न करता है, वह उस माता से उत्पन्न होनेवाले बच्चे के लिये ही रहता है। बच्चे का पालन उसही माता के दूध से ही होना चाहिये। माता का दूध पीना बच्चेका जन्मभेद अधिकार है और वह उसका धर्म भी है। यदि कोई अबरदस्त बालक अपनी माताका दूध पीकर दूसरे बालककी माताका भी दूध अबरदस्तमें पियेगा और दूसरे बच्चेकी भूख रहेगा, तो उसका वह कार्य परमेश्वरके नियमोंके विरुद्ध होगा और वह अबरदस्त बच्चा ईश्वर के नियमोंके अनुसार अपनी ही समझा आवेगा। इसी तरह एक देशके मनुष्योंके बालक दूसरे देशके मातृभूमिके बालकोंके अल्पज्ञ बनाये और उस देशमें उत्पन्न होनेवाले उपभोगके पदार्थ उस देशके निवासियों को न देकर अपने ही सुखके लिये उपयोग करें, तो वह बन्धक बहुत बड़ा अराजक होगा। किशोरों की मूलना न चाहिये कि जो स्थिति माता और बच्चेकी है वही मातृभूमि और उसके बच्चोंकी है।

प्रत्येक मनुष्य जानता है कि जिस घरमें वह रहता है उस घरपर उसका जितना प्रेम रहता है। राष्ट्रिके समय कोई चोर आता है और उस घरमें कोई वस्तु अपने भोगके लिये ले जाता है। मन्थी सरकार ऐसे चोरों पर बुरकार सजा देती है क्योंकि स्वयंका सुख ही वह है कि किशोरों की परकी उसके पूर्वजोंके चली आई वस्तुपर लक्षिका अधिकार होना चाहिये। चोरका उसपर अधिकार नहीं है, इसलिये वह सजा देनेके योग्य होता है। जिस तरह एक छोटाछा पर किसी

एक छोट्टुबका रहता है, उसी तरह देश वह एक बड़ा घर और वह घर सब देशवासियोंका है। यदि वह राष्ट्रभक्त घर पर दूसरे देशोंके बलवान लोग मिलकर हमला करें और वहाँकी वस्तुभाषा अपना अधिकार बनाये तो वास्तवमें व अपराध एक घरपर हमला करनेवाले छोट्टुके समान। उसीके समान किन्तु उससे कुछ कम स्वच्छका यह अपराध है। यह निन्द करनीकी उपादा जल्दतर नहीं है। इस छंटा रहे रहे तरवशानों लोग यहाँ कहते हैं। सैद्धिन संघारदा राज कारमार तरवशानियोंके शपथें न होनेसे बलवान लोग इस ताहशी राष्ट्रीय छट्टमारकी अपराध नहीं समझते और इस से उपराधाकी इधी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वर नियमोंमें इस ताहका पक्षपात नहीं ही सकता।

हमें यह देखना नहीं है कि अपराधीको दण्ड मिलना ब्याधक है या नहीं है। हमें सिर्फ यहाँ विचारना है कि माताके दुग्धपर उसके बच्चेका, परपर उस परके अधिकार, राष्ट्रका उस राष्ट्रके लोगोंका और मातृभूमिके उपभोगी मनुष्योंका उस मातृभूमिके बच्चेका अधिकार है।

बच्चा अपनी माताका दूध पीता है इसलिये उसका अपराध पर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य अपनी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले अनाज, फल, ऊँर, मूल इत्यादि खाते हैं और पु बनते हैं। इसलिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है। इसलिये कवि जिस तरह मातृभूमिके माने बनते हैं, उसी तरह लोग माता के नामे गाते हैं और दूसरों को अराजक करते हैं।

पाठकों को यह बात पुनः पुनः बतलाने की आवश्यकता नहीं है कि माता और मातृभूमिके विषयमें लिखे हुए काव्य अत्यन्त प्रेम उत्पन्न करते हैं। काव्यके निम्न निम्न रत्नों में प्रेमरस अग्र है। मातृभूमिके काव्य में ऐसा प्रेमरस मगता है जैसा अन्य किसी काव्यमें हो नहीं सकता। माता क्या है ? अतीत प्रेम की मूर्ति है। उसके प्रेमको अन्य किसी बात की उपमा ही नहीं है। उसका प्रेम वाम्बनमें अनुपम है। यदि माताके प्रेमको कोई उपमा देनी ही हो तो वह मातृ-प्रेमकी ही हो सकती है, दूसरी नहीं।

वह मनुष्य विरला ही होता है जिसे माताके प्रति आदर न हो। माताके प्रेम में ही प्रत्येक मनुष्य का पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्यका प्रेम हाता है। यह देशप्रेम भी असीम होता है। कौसी भी आपत्ति, कैसा भी संकट क्यों न हो, मनुष्य मातृभूमिका त्याग करनेको तैयार नहीं होता। माता के वा मातृभूमिके यश के कारण शरीर निछावर करने तक को मनुष्य तैयार रहता है।

यही असीम प्रेम है जिससे सब देश के लोगोंने अपनी जन्मभूमि के गीत मन्त्रिमार प्रयत्न करके उत्तम उत्तम बनाए हैं। मातृ-भूमि के लिये लोगोंने काव्य बनाये हैं। सभी देशों में यह प्रथा है कि आनन्दोत्सव में, विजयोत्सव में देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीत का गान करते हैं।

इस प्रकार का कोई राष्ट्रगीत या मातृभूमिगीत भारतवा-
सियों में है या नहीं इस के विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान यह बतलाते हैं कि भारतवासियोंका एक राष्ट्र कर्मी भी नहीं था, इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होना असम्भव है। मध्यकालमें अपने विस्तृत देशके बहुतेरे छोट छोट राज्य बन गये थे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रियत्व की बलना न थी तो यह सच हो सकता है। परन्तु हम में आरंभमें राष्ट्रीयताकी कल्पना है, यह ऋषियोंके कालमें चली आयी है और इसका निदर्शक राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसीका समर्थन करनेके लिये इस लेखमें मातृभूमिके वैदिक सूक्तका विचार किया है। यह सूक्त अथर्ववेदके १२ वें काण्डका पहला सूक्त है।

सूक्तका उपयोग

जिस सूक्तके विषयमें हम यहाँ लिख रहे हैं उसका महत्त्व राष्ट्रीय है या नहीं यह हम उसके उपयोगसे जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहाँ किया जाता है देखो—

१ आमपत्तनादिरक्षणार्थम्० (शादनमाध्य)

(अथर्व० १२।१।१)

“आम, पत्तन, नगर आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये।” अर्थात् आम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, स्वदेश आदि की रक्षाके समय इसका उपयोग करना चाहिये। स्वदेश की रक्षाके लिये जब कोई काम करना हो तब यह सूक्त कहना चाहिये। इससे यह सिद्ध है कि स्वराष्ट्र रक्षा से इस सूक्तका निकट संबंध है। सब लोग जानते हैं कि राष्ट्र-

गीतका यही उपयोग है। सब देशोंमें राष्ट्रगीतका उपयोग इसी कामके लिये किया जाता है। परन्तु इसका विशेष विचार करना चाहिये, इसलिये नीचे और प्रमाण दिये हैं।

२ पार्थिवो भूमिकामस्य । (नक्षत्ररत्न १७)

“पृथ्वीकी इच्छा करनेवाला पार्थिवी महाशक्ति करनेके समय इसका उपयोग करे।” देशमें या राष्ट्रमें जब अशांति उत्पन्न होती है तब उस अवस्थाको दूर करनेके लिये जो यत्न किया जाता है उसे ‘पार्थिवो महाशक्ति’ यह वैदिक नाम है। इसमें कई महत्त्वपूर्ण बातें करनी पड़ती हैं। ऐसे समय यह सूक्त कहना चाहिये। यह नक्षत्र-रत्नकर्ताका कहना है। “भूमिकामः अर्थात् भूमिकी इच्छा करनेवाला या अपनी मातृभूमिमें शांति करने की इच्छा करनेवाला जो मनुष्य है, उसने वह काम करते समय यह सूक्त कहना चाहिये इस सूक्तके कहनेसे मातृभूमि के शिक्का काम करनेके लिये उत्साह मिलता है। इसी प्रकार—

भौमस्य दतिकर्मणि । (कौशीतकी सूत्र. ५। २)

“(भौम) प्रदेशके वा राष्ट्रके (दतिकर्म) आदरके लिये जो काम करना है, उस काममें इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये।” “दति” का अर्थ ‘आदर’। “दतिकर्म” का अर्थ है आदरके लिये किया हुआ काम। राष्ट्रीय महोत्सव विजयारोहके समय इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। सायणाचार्यजीने अपने माध्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्तका उपयोग कौन कौन कर सकते हैं। ८२ अब उसीकी देखेंगे।—

१ पुष्टिकामः ।

२ श्रीह्रियवाचकामः ।

३ मणिदिरण्यकामः ।

(सायनभाष्य अथर्व० १२। १)

“पुष्टीकी इच्छा करनेवालेको, अन्नकी इच्छा करनेवाले को, रत्न, सुवर्ण आदि की इच्छा करनेवालेको इस सूक्तका पाठ करना चाहिये।” उत्तरमें यह है कि इस सूक्तका अभ्यन उस समय करना चाहिये जब हम राष्ट्रीय उत्सवके काम करते हों। इतिवाचक विचार कि राष्ट्रगीत ऐसे ही अवसरपर गाये जाते हैं, तो वे सूत्रधार एवं माध्यकारके अभ्यनका रहस्य समझ सकते हैं।

इस सूक्तका विचार करते समय हमें देहना चरिये कि यह सूक्त किस गल्पमें है। पूर्व के ऋषियोंने अथर्ववेदके कुछ गण बना दिये हैं। उनमेंसे " वास्तोष्पति " नामका जो गण है उसमें यह सूक्त है। ' वस्तु ' पर पतिवृद्धा वा मत् द्विदत्ता इह बतलानि वा सिद्ध वरनेव ले सूक्त ' वास्तोष्पति ' गल्पमें है। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्त उद्युधमय वृद्धेना है जब किष्ठी देशके निवाडी मातृभूमिपर पना हक बतलाने हों। इसलिये यह सूक्त " वास्तोष्पति " गल्पमें शामिल किया गया है।

यदि हम उक्त बातोंपर ध्यान दें, तो हमें उक्त सूक्त की महत्ता दिखाई देगी, और विशेषरूपसे विदित होगा कि मातृभूमिका यह वैदिक गीत विशेष प्रकारका राष्ट्रीय गीत ही है, तथा यह राष्ट्रीय अवसरपर ही गाना चाहिये।

मातृभूमि की कल्पना।

इन बाहरी प्रमाणोंका विचार करके ही अथर्ववेदके हमने मातृभूमिके सूक्तका स्वरूप देखा। अथर्ववेदके प्रमाणोंका विचार करके और देखेंगे कि इसके विचार कदातक राष्ट्रीयमहत्त्वन है। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्तमें जो मातृभूमिका कल्पना है, वह किस प्रकार की है। जो लोग समझते हैं कि हम लोगोंमें " मातृभूमि " की कल्पना तब नहीं हुई, वे इन वचनोंका विचार अच्छी तरह करें और प्रत्यक्ष देख लें कि हमारे अति प्राचीन साहित्यमें मातृभूमिके विचार विद्यमान है, तब यह भी मिल्न होगा कि मातृभूमि की कल्पना सर्वप्रथम ऋषियों की है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। (अथर्व० १२।१।२)

" मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमिका पुत्र हूँ। "

हम ही वेदभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृभूमिके पुत्र हैं। अर्थात् हम सब देवताओंकी एकही माताके पुत्र हैं, अतएव हम सब सब देवताएँ हैं। स्पष्ट ही है कि प्रत्येक देवताके लिये जो भी वाक्य मनमें लाना चाहिये। मातृभूमिके भावोंके गौरवके विषयमें ऋग्वेदका यह मंत्र पढ़ने योग्य है।

वे अथर्ववेदका अथर्ववेदका उद्दिष्टोऽमध्यमासो महसा वि वायुषः।

सुजातायो अनुया श्रिभमातरो दिवो मर्त्या वा नो अच्छा निगमन ॥ ६ ॥

(ऋग्वेद ५।५९।६)

अथर्ववेदामो अथर्ववेदका पते सं आतरो वायुषः मीमगाय।
(ऋग्वेद ५।६०।५)

" धृष्यं (श्रिभ-मातरः) मातृभूमि को माता माननेवाले सब (मर्त्याः) मनुष्य सबके कुलीन हैं। उनमें न कोई (उद्दिष्ट) श्रेष्ठ है न कोई वनिष्ठ है और न कोई मध्यम है। उन सबका दर्जा समान है। वे सब (उद्दिष्ट-मिदः) अपने ऊपरके देव को भेदकर ऊपर उठनेवाले हैं। सबका विचार एका है अर्थात् वे (आतरोः) वन्य ही हैं। वे अपने (मीमगाय) बचक बडानेके लिये (सं-वायुः) सब मिलकर प्रयत्न करते हैं। "

इस मंत्रमें " श्रिभ-मातरः " अर्थात् भूमिको माता माननेवाले सगुरुओंका वर्णन देखने योग्य है। मातृभूमिके मर्त्य एकाही विचारवाले रहते हैं। उनमें उच्छ्रान्तत्व मात्र नहीं रहता। उन सब लोगोंका दर्जा एका ही रहता है और वे सब मिलकर एक विचारसे मातृभूमिके उदारार्थ कार्य करते हैं। वे आपसमें वैपुत्रेण रहते हैं और अपनी उन्नति कर लेते हैं। मातृभूमिकी जपनी सबकी माता माननेसे आचरणमें जो फरक पड़ता है, वह इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे बताया गया है। अपने व्यवहारोंका केन्द्र मातृभूमि है यह माननेवाले और न माननेवाले लोगोंके व्यवहारमें यह भेद होता है। वेदोंमें यह बात इतनी साफ तौरसे बतलाई है, इसका कारण यह है कि वैदिक धर्मियोंमें यह बतलाना है कि इसका विचार करके उन लोगोंमें मातृभूमिकी मक्ति बढ़े और अपनी उन्नति कर लें। उन्हीं तरह-

इत्या सरस्वती महो तिष्ठो देवीर्नयोमुवः।

बहिः शीघ्रन्वसिधः।

(ऋग्वेद १।१३।९)

" (महो) मातृभूमि, (सरस्वती) मातृभूमिकी और (इत्या) मातृभूमि या तीन सुख देनेवाली देवताएँ हैं। वे सर्वकाळ अन्तःकरणमें रहें। "

इस मंत्र की तीन देवताओंमें मातृभूमिको स्थान दिया है। तीन देवताओंका संबंध स्पष्ट करके बतलाने की वहाँ आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वह इतना स्पष्ट है कि वह एकदम मातृभूमि ही जायगा। उन सब मंत्रोंका विचार करनेसे मध्यम होगा कि हमारे धर्मग्रंथोंमें मातृभूमिका महत्त्व और श्रेष्ठत्व बितना वर्णन किया हुआ है, इसके बारेमें और बातें देखनेके पहिले यह मंत्र देखिये—

मूमे मातृनिषेहि मा मद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्वं १२।१।६३)

“ हे (मातः मूमे) मातृमूमि । मुझे कल्पण अथवापि युक्त कर ” अर्थात् मेरा सब प्रकारसे कल्याण कर । इसमें “ मूमे मातः ” आदि पदोंसे मातृमूमि की योग्यता जान सकते हैं । इसी तरह—

सा नो मूमिः पूर्वपेयं दधातु ॥ ३ ॥

सा नो मूमिर्गोव्यप्यन्ते दधातु ॥ ४ ॥

सा नो मूमिर्भूरिघारा पयो दुहाम् ॥ ५ ॥

सा नो मूमिर्वर्धयद्र्धमाना ॥ १३ ॥

सा नो मूमिरादिसातु यद्वनं कामयामते ॥ ४० ॥

सा नो मूमिः प्रपुत्रतां सप्ततानसप्तानं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

(अथर्ववेद १२।१)

“ वह हमारी मातृमूमि हमें अपूर्व पेय पदार्थ देवे । वह हमारी मूमि हमें गोयें और सज देवे । वह हमारी मूमि हमें बहुत दूध देवे । वह हमारी मूमि हमारा संवर्धन करे । वह हमारी मूमि हमारी दन्तानुसार घन देवे । वह हमारी मूमि हमारे शस्त्रोंको दूर करे और मुझे शरहाहित बनावे । ”

चिह्ने संश्लेषा ध्यान रखनेसे विदित होगा कि इन सब मंत्रोंमें ‘ मूमि ’ शब्द ‘ मातृमूमि ’ के अर्थमें आया है । ‘ मातृमूमि हमारे लिये यह करे, वह करे ’ आदि रचना काव्यमय अलंकार है । इसका अर्थ वास्तवमें यह है कि ‘ मातृमूमि की कृपासे हमारे हाथसे यह कार्य हावे या यह कार्य होकर वह फल मिले । ’ क्योंकि ब्रह्मेक काव्यमें इस तरह की अलंकारिक याचना रहती है । उन सब प्रार्थनाओंका शाब्दिक अर्थ भिन्न रहता है और अंदरका भाव भिन्न रहता है । इस विषयमें वह मननयोग्य मंत्र देखिये—

सा नो मूमिर्विष्वज्जवां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

(अथर्ववेद १२।१)

“ वह हमारी मातृमूमि मुझे अर्थात् अन्न पुत्रको बहुत दूध देवे । ” यह मंत्र कितना अच्छा है और अलंकारिक है देखिये । माता और पुत्रका संबंध दूध पानेसेही शुरू होता है । माताका दूध पुत्र पीता है, वह सब जानते हैं । गायका दूध हम सब पते हैं, इसलिये गाय हमारी माता है । मूमिका अनाज रस आदि दूध हमें मिलता है, इसलिये वह हमारी

माता है । वह सर्वश्राधारण और सीधा व्यवहार है । इसका वर्णन करते समय उपरोक्त मंत्रका जो भाग अर्थात् “ मेरी माता मुझेही दूध देवे ” और इसी तरहके वर्णनसे हमारी मातृमूमिमें पैदा होनेवाले उपभोगके पदार्थ हमें ही मिले और दूसरा कोई उन्हें हमसे दूर न ले जावे ” आदि अर्थका जो भाग है, वह बहुत अच्छा है और बोधप्रद है । इस तरह पाठकगणोंको अवश्य ध्यान देना चाहिये ।

सब कोई यह भी कह सकता है कि “ मूमि या हमारी मूमि ” आदि शब्दोंसे “ हमारी राष्ट्रमूमि ” यह भावार्थ नहीं निकल सकता और इस बातको बिना सिद्ध किये हम यह भी नहीं कह सकते कि मातृमूमिके बारेमें हमारे धर्मग्रंथोंमें पूर्णरूपसे वर्णन दिया हुआ है । यह संदेह योग्य है और उसको निवारणके लिये हम यह मंत्र पाठकोके सम्मुख रखते हैं—

सा नो मूमिस्त्विहि बलं राष्ट्रं दधातुत्तमे ।

(अथर्वं १२।१।८)

“ वह हमारी मातृमूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें (उत्तम राष्ट्र) तेज और बल बढ़ावे । ”

इसमें “ उत्तम राष्ट्र ” का अर्थ और “ हमारी मूमि का अर्थ एकही है । हमारे उत्तम राष्ट्रमें अर्थात् “ हमारा मातृमूमि में ” तेज और बल को बढ़ा देवे । “ हमारा मातृमूमि में ” या “ हमारे राष्ट्र में ” आदि शब्दों का अर्थ यही है कि “ हम लोगों में ” या “ हमारे देशवासियों में ” और यह बात साधारण विचार करनेवाला जान सकता है । परन्तु “ हम लोगों में ” या “ देशवासियों में तेज और बल बढ़े ” कहने से यह कहना कि “ हमारे राष्ट्र में य हमारी मातृमूमि में तेज और बल बढ़े ” उचित मानना प्रदर्शित करता है । इसी दृष्टि से “ मातृमूमि, हमारा राष्ट्र, हमारा देश ” आदि शब्दों में कितना गूढ़ रस भरा हुआ है ।

अब इसी मंत्र के “ उत्तम राष्ट्र ” (हमारे अच्छे राष्ट्रमें) शब्द और भी एक उचित भाव प्रदर्शित करते हैं । उसका अब विचार करना चाहिये । राष्ट्रमूर्तियों की दृष्टि से राष्ट्र किस दशा में होना चाहिये वह इन शब्दों से स्पष्ट है । इन शब्दोंसे सूचित होता है कि राष्ट्रमूर्तियों को महत् असाक्षात्कारी चाहिये कि “ हमारा राष्ट्र मज राष्ट्रों में उत्तम हो । ” “ तर, नम, तुलनात्मक उच्चता अतलानेवाले प्रत्यय हैं । “ उन् ” उन्

और उक्त 'उच्चता' की सीन सीदियाँ बतलाते हैं । "उक्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है । राष्ट्रमूर्तों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में अति उत्तमशामं हो । इस इच्छा से प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रकी अत्युच्च कोटि का ध्यान में शक्ति भर प्रयत्न करें । उक्त शब्दका यहाँ भाव है कि राष्ट्रके किसी भी दशा में स्वतंत्र या परतंत्र होनेसे संतोष न होना चाहिये, अपितु देशवासियों का लक्ष्य होना चाहिये कि किसी निश्चित उच्चतम कोटि को पहुँचें और वे उस लक्ष्य की पूर्ति करनेमें भरसक प्रयत्न करें ।

इस मंत्र का विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि इस वैदिक सूक्त में केवल मातृभूमि की ही कल्पना नहीं है, बल्कि राष्ट्र के बारे में स्पष्ट भाव है और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रों के आगे रहें यह उच्च महत्वाकांक्षा इसमें व्यक्त है । वाचका स्मरण रहें कि अपना धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाला है और यह इस आदर्श को स्पष्ट शब्दों में जनता के समुच्च रखता है । त्रिषु विधीषु की सन्देश हो यह ऊपर लिखे वचनों को पढ़कर उसे दूर कर ले ।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मवचनों में होते हुए भी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना यथावधि रीति से जागृत नहीं है । यद्यपि यह बात सच है तो भी इसका कारण धर्म अव्यय होना नहीं है, परंतु धर्म की ओर ध्यान न देना और दूसरी अव्यय बातों की ओर ध्यान देना है । त्रिषु वेद में यह उच्च राष्ट्रीय भावना जागृत करनेवाले वचन हैं, उस के प्रति लोगों में जो श्रद्धा या विश्वास है, वह केवल दिखावटी है । लोग आधुनिक प्रयोगों की अधिक विश्वास करते हैं । इसलिये सथा होना दूर रह गया और मिट्टी हाथ लगी है ।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्रके बारेमें इस तरह स्पष्ट विधान अप्रवृत्त मातृभूमिके गीतों में हैं । उन गीतोंको देखनेसे छिद्र होगा कि हमारा धर्मसूक्त ही राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाला और उसकी शक्ति करनेवाला है । यह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रके संबंधमें जो कर्तव्य है, वह अपने धर्मक सुषय भाग है ।

अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रमूर्ति ।

हम लोगोंने धार्मिक बातोंकी ओर कितना दुर्लक्ष हो रहा है, यह उदाहरण देकर बतलाना अव्यय नहीं होगा । अध्यात्म-

ज्ञानका और मातृभूमिकी भाँकिका एक दूसरे से संबंध है, ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सत्य नहीं समझगा । इतना दुर्लक्ष उसकी ताक हो रहा है । अध्यात्मविचार करनेवाले वेदान्ती सब संवारकी छेड़कर किसी मुक्त में जाकर बैठने का प्रयत्न करते हैं और जिनको सब लोग राष्ट्रमूर्त कहते हैं वे लोग धाक कहते हैं कि धर्मका राजद्वारण में कोई संबंध नहीं है । इस विरोध के देखते यदि कोई कहे कि 'अध्यात्मविद्या और राष्ट्रमूर्ति का निकट संबंध है, तो उसे कौन सच कह सकता है ?' वास्तविक दशा देखने के पहले हम इतिहासके एक दो उदाहरणसे देखेंगे कि यह विषय कैसा होना चाहिये ।

अर्जुन युद्धभूमि में उतरा था और शत्रुको जीतने की महत्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारी की थी । पर युद्ध को प्रारम्भ होने के समय ही वह मोह में पड़ गया और जंगल में जाकर तपस्यवा करने के लिये तैयार हो गया । वह सोचने लगा कि युद्ध बरके स्वराज्य लेनेसे तपस्यवा करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है । तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको वैदिक अध्यात्मविद्याका उपदेश किया । यह भगवद्गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया, उसे तपकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रुको मारने के लिये तैयार हो गया । इसके बाद उसने युद्ध किया और निश्चिंत स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया ।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचंद्रजीका है । रामचंद्रजीका विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें यह भ्रम हुआ कि "सब बातें देवाधीन हैं और पुरुषार्थ से कुछ नहीं हो सकता ।" इस भ्रमके कारण उन्होंने पुरुषार्थ के काम करना छोड़ दिया । तब वशिष्ठ ऋषि ने उन्हें वेदान्तशास्त्र-अध्यात्मशास्त्र-उपदेश किया । इस उपदेश के बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रबल पुरुषार्थी बन गये । इसके बाद उन्होंने लंकाद्वीपके राक्षसों का नाश किया, संपूर्ण भरतखंड के १३ काठी देवोंको बलिदान से मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र बना दिया और आर्य क्षत्रियोंका यश उज्ज्वल बना दिया ।

इन दोनों उदाहरणोंमें यह बतलाया है कि अध्यात्मज्ञानके बाद प्रबल पुरुषार्थ करके लगानेके शत्रुओंका पूर्णतासे नाश करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर लेनी चाहिये ।

श्रीशिवजी महाराज को भी एक दो समय उदासीनतासे धा घेरा था और वह रामदासश्यामी और संत तुकारामके

सपदेश से दूर हुई । ये बातें महाराष्ट्रके इतिहास में हैं । इन सब बातोंका विचार करनेपर हमें यह कहना पड़ता है कि अध्यात्मज्ञान या वेदान्तज्ञान राष्ट्रीय इच्छा के विरोधी नहीं है । यह इतिहास देखने के बाद हम जिस मातृभूमिके वैदिक गीत के बारेमें विचार कर रहे हैं, उसके आंग के और पीछे के सूक्तों में कौन से विषय आये हुए हैं, देखो—

यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगीत अपर्ववेदके १२ वें वाङ्क का प्रथम सूक्त है । इसके पूर्व ओ सूक्त हैं वे सूक्त और उनके विषय क्रमसे आगे दिये हुए हैं—

दशम वाङ्क

सूक्त दूसरा देनसूक्त (देन उपनिषद् का विषय) ब्रह्मविद्या ।

सूक्त ३ से ६ तक शत्रु का नाश करना

सूक्त ७ और ८ ज्येष्ठ ब्रह्मसूक्त (ब्रह्मज्ञान)

सूक्त ९ शत्रुपर सख्यारहार करना

सूक्त १० गौमाताका रक्षण । गौको दुःख देनेवाले शत्रुका नाश करना ।

एघादश वाङ्क

सूक्त १ ब्रह्मौदन सूक्त (अन्नसूक्त)

” २ रुद्रसूक्त (पशुपतिसूक्त)

” ३ आदनसूक्त (मात, अन्न)

” ४ प्रागसूक्त (प्राणशक्तिका वर्णन)

” ५ ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचर्यपालन करना)

” ६ कालशकवर्णन

” ७ उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त (संपूर्ण जगत् पारण करनेवाले ब्रह्मका सूक्त)

” ८ ब्रह्मसूक्त (शरीर में प्रविष्ट होनेवाले ब्रह्मका सूक्त ।)

” ९ और १० सुदकी तैयारीका सूक्त ।

द्वादश वाङ्क सूक्त १ मातृभूमि का वैदिक गीत ।

इन सूक्तों के क्रम में सुद, शत्रुनाश आदि विषयोंके पहले ब्रह्मज्ञानके सूक्त आये हुए हैं । ब्रह्मज्ञानके बाद शत्रुका नाश करनेका विषय आया है । अपर्ववेदके दशमवाङ्क में ऐसा दो बार निर्देश है । ग्यारहवें वाङ्क में अन्न, प्राण, ब्रह्मचर्य, काल आदि के बाद ब्रह्मज्ञान है, उसके बाद सुद का तैयारीका वर्णन है और उसके बाद मातृभूमिका वैदिक गीत है । सूक्तोंका यह क्रम देखनेसे स्पष्टतासे मालूम होता है कि “ ब्रह्मज्ञान-

के बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध होता होगा । ” वाचकोंको यह विधान कदाचित् आश्चर्यकारक मालूम होगा । इसलिये ऊपर दिये हुए सूक्तोंका अर्थ समझने के लिये और यह जाननेके लिये कि हमने किया हुआ विधान योग्य है या नहीं, प्रत्येक सूक्तमें नमूनेके लिये एक एक मंत्र यहाँ दिये हैं ।

अष्टचक्रा भवद्वारा देवानां प्रयोष्या ।

तस्यां द्विरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥

तस्मिन्निदरण्यये कोशे ध्येरे त्रिप्रतिष्ठिते ।

तस्मिन्पञ्चशमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥

(अपर्ववेद वाङ्क १० सू २)

“ अष्ट चक्र और नौ द्वारोंके युक्त देवोंकी अयोध्या नगरी है । उस नगरमें तेजयुक्त स्वर्गकोश है । उस कोशमें जो पूज्य देव हैं, उधे ब्रह्मज्ञानीही जानते हैं । ” यह हृदयस्थानीय ब्रह्मका वर्णन देखनेके बाद अगले सूक्तमें शत्रुका छिन्नमिन्न करनेके मंत्र देखो—

तेनारमस्व त्वं शत्रून् प्रमृणोहि हुरस्यतः ।

(अर्षव० १०।३।१)

अरातीर्थो भ्रातृभ्यस्यदुर्हादौ द्विपतः शिरः ।

अपिवृश्वाभ्योजता ॥

अर्षव० १०।४।३

“ दुष्ट शत्रुओंका नाश करना शुरू करो । दुष्ट शत्रुका शिर मैं तोड़ता हूँ । ” इस तरह ये सूक्त देखनेके बाद ७ और ८ सूक्तोंका वेदान्तवर्णन देखो—

यस्य सूर्यश्चक्षुर्धृशंश्रमाश्च पुनर्गवः । अग्निं यश्चक आस्यं तस्मै ज्वहाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

(अर्षव० १०।७)

पुंढरीकं भवद्वारं त्रिमिगुणामिरावृतम्

तस्मिन् यद्यश्मात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३४ ॥

अर्षव० १०।८

“ चंद्रमा और सूर्य जिसरी आँखें हैं, अग्नि जिसका मुख है, उस ज्येष्ठ ब्रह्मकी नमन करता हूँ । नौ दलके कमलमें जो देव हैं, उधे ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं । ” यह ब्रह्मवर्णन देखनेके बाद उधोके आगेके सूक्तका पहला मंत्र देखो—

अघायतामपि नद्या मुखानि सपत्नेषु धन्नमर्षयत्वम् ॥

(अर्षव० ११।१।१)

“ पापी लोगोंका मुह बंद करो और यही राज शत्रुपर रहे। ” इसी तरह तीसरे प्रकारके सूक्तका क्रम है । उन सूक्तोंका विषय यहाँ नहीं बतलते । वेदक ११ वें कांडमेंके आठवें सूक्तका एक मंत्र यहाँ दंत है और बाकीके प्राण और ब्रह्मचर्यके सूक्तोंमें का वर्णन विरतामभवसे छोड़ देते हैं ।

तदमर्द्धं पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।

मर्ना द्वास्मिन्देवा गावो गोष्ठ इवास्ते ॥ ३२ ॥

(अधर्व० ११।८)

“ इसलिये इस (पुरुष) पुरुषको ब्रह्म कहते हैं । क्योंकि जिस तरह गायें अपने बांधनेकी जगहमें रहती हैं, उसी तरह सब देवताएँ इसीके आश्रयमें रहती हैं । ” इस ब्रह्मज्ञानके सूक्तके अंगिका सूक्त देखो—

तेषां सर्वेषामीशाना उत्सिष्ट संनद्धाभ्यं मिश्रा देवजना
सूयम् । इमं संग्रामं संजित्य यथा लोकं वितिष्ठिष्वम् ॥ २६ ॥

(अधर्व० ११।९)

“ मिश्रा [तैयरां करो, उठो] इस युद्धमें जीतनेके बाद अपने अपने देशको जाओ । ” उसी तरह—

सहस्रकुणया शेतामामित्री सेना समरी वधानाम् ।

विबिधा ककजा क्रुता ॥ २५ ॥ (अधर्व० ११।१०)

“ शत्रुकी सेनामेंसे हजारों सुरदे युद्धभूमिमें पड़ें ” । इस तरहका वर्णन अध्यात्मज्ञानके बाद कई बार आ चुका है ।

इसे अचानक कावतालीय न्यायसे आया हुआ नहीं कह सकते, क्योंकि वह तीन जगह इसी तरह आया है । राम और अर्जुनके उपदेशके समय भी यही हुआ है । इसलिये “ अध्यात्मज्ञानके बाद स्वातंत्र्यके लिये युद्ध ” होना स्वाभाविक है । इन सब सूक्तोंके बाद वैदिक राष्ट्रगीत आया हुआ है । इससे यह समझ सकते हैं कि जिस सूक्तके बारेमें यह लेख लिखा गया है, वह सूक्त वास्तवमें राष्ट्रीय महत्त्वका है क्योंकि वह युद्धके समय आया हुआ है ।

उस सूक्तके बारेमें विचार करनेके पहिले हमें यही देखना चाहिए कि अध्यात्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान आदि विषयोंका युद्धादि राष्ट्रीय बातोंसे क्या संबंध है ।

[१] अध्यात्मज्ञान ।

बुद्धि, मन, अहंकार, प्राण, इन्द्रिय और शरीरके सब अंगों-

को आत्माका आधार है । ये सब बड़ी शक्तियाँ हैं। इन शक्तियोंका ज्ञान होना अध्यात्मज्ञान कहलाता है ।

ये सब शक्तियाँ हममें हैं। हम बिल्कुल छुद्र नहीं हैं। हमारे अर्थात् मन में बड़ी बड़ी शक्ति है । उनको चलावेवाले हम हैं । यह अपनी शक्ति अध्यात्मज्ञानसे मात्र ही होती है। अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेके पूर्व जो मनुष्य अपनेको छुद्र और निर्बल समझता है, वह यदि अध्यात्मज्ञान प्राप्त करनेपर स्वतःकी सुबल और समर्थ समझने लगे तो तबमें कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिये रामचन्द्रजी जो अपनेको देवार्थन और परतंत्र समझते थे, वे ही अध्यात्मज्ञान प्राप्त होनेपर देव की भी अपने अर्थात् समझने लगे और अपने पुरुषार्थसे विपरीत देव की भी अपने मनके अनुसार बनाने में समर्थ समझने लगे । यह शक्ति अध्यात्मज्ञान से प्राप्त हो सकती है ।

[२] ब्रह्मज्ञान ।

विद्युष्वाग्नी सत्त्वदानंदं शक्ति या अद्वैतत्व स्थिर और चर सब में एकठा है । इस ज्ञान से सब संसार की तरफ देखने की दृष्टि बदल जाती है ।

उसे अपने अंदर की शक्ति का और जगत् की शक्तियोंका ज्ञान रहता है, इसलिये उसे योग्य काम करते समय शोक या मोह का होना असम्भव है । वह अच्छे अच्छे लोगोंकी रक्षा करता है और दुष्ट लोगों का नाश करता है । वह धर्म का अच्छी तरह पालन करके लोगोंमें शांति रखाता है । जगत् की और देखने की उसकी दृष्टि उच्च होती है, इसलिये उसे लोभ और बालबच्चों का मोह नहीं होता, पर या दौलत का लोभ नहीं होता, या प्रेमभारतमेंके कारण वह अपने कर्तव्य का छोड़ नहीं सकता ।

इसके बिना इस ज्ञानसे दूसरा एक लाभ ही सकता है। वह यह है कि पृथ्वीपर जितने युद्ध स्वार्थके लिये होते हैं, वे नहीं होंगे और उनसे जिन सज्जनों को कष्ट पहुँचते हैं, वे नहीं पहुँचेंगे। क्योंकि ब्रह्मज्ञानके कारण उसकी दृष्टि पवित्र हो जाती है । और फिर वह स्वार्थके कारण दूसरे को परतंत्र करे या द्यूटे, यह बात असम्भव है । जगत् के सज्जनों को दुःख देनेवालों का नाश करने के लिये ही उसकी तलवार म्यान के बाहर निकलेगी । आजकल जिस तरह स्वार्थसे लड़ाई होती है, दूसरे राष्ट्र को विचारण द्यूटनेके लिये संगठित राष्ट्रीय अन्याय

हो रहे हैं, केवल अपनी सेनामें तोपें हैं इसलिये दुश्मनों को कष्ट देना और दुश्मनों का उच्छेद कम करनेके जो राक्षसों के समान सर्वशर काम हो रहे हैं; यदि हाएक देशमें अध्यात्म-ज्ञान और ब्रह्मज्ञान ही जावे तो वे सब बंद हो जायेंगे; राष्ट्र की जो क्षात्रशक्ति है वह बहुत बड़ी महाशक्त है, उस शक्ति को ब्रह्मज्ञान ही मनुष्य ही अच्छी तरह समझाल सकता है । ब्रह्मज्ञानहीन रवार्थी लोग इस राष्ट्रीय क्षात्रशक्ति का उपयोग करके जगत् में जबरदस्ती का पाप साधन प्रकृत करते हैं । इन सब बातोंका विचार करनेसे मज्जम होगा कि पहले ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके दृष्टि उच्च बनानी चाहिये और उसके बाद राष्ट्रीय महाशक्तिका उपयोग करना चाहिये । यहाँ वेदों की आज्ञा है और यहाँ उनकी अपूर्व बुरदाराताका बतलाती है । यह बात हमारे वैदिक धर्ममें ही । पहले पहले सब जगत् की प्राचीन कालमें बतलाई । यह बात यद्यपि आतिप्राचीन काल में मरतखंडमें जारी थी तथापि वह बादमें लुप्त हो गई और फिर वह कहीं भी शुरू नहीं हुई । यह बात फिर शुरू करनेके लिये हमें स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिये और यह बात जगत् में प्रचलित करनेपर जगत् में शांति रखनेका महामंत्र सबको बतलाना चाहिये ।

इस तरह ब्रह्मज्ञान युद्धके पूर्व वर्षों सेना चाहिये और उसका महत्त्व क्या है, यह साराधर्म बतलाया है, व स्तवमें यह बात विस्तृत करके लिखनी थी । पान्थु वैशा करनेके लिये जगह नहीं है । इसलिये यह विषय साराधर्म दिया है । अब इसके लिये वैदिक राष्ट्रीय गीतका स्वरूप बतलाना है ।

यहाँ तकके लेखमें मातृभूमिके वैदिक राष्ट्रीयतेके संबंधमें सामान्य परिचय होनेके लिये अतिनी बात आवश्यक है उतनी ही है । उच्छेद वाचकोंकी मातृभूमि हो जायगा कि इस राष्ट्रीयतेका विचार राष्ट्रपुष्टि की दृष्टिसे गिनना महत्त्वक है । अब हमें यह देखना है कि इस राष्ट्रीयतेके मंत्र कौन कौन महत्त्वपूर्ण बातोंका उपदेश करते हैं । इसलिये प्रथम पढ़लाई मंत्र देखना चाहिये ।

नार्यं कृत्स्नमुर्धे दीप्ता ततो ब्रह्मपद्मः पृथिवीं

धारयन्ति ।

मा नो मृतस्य मध्वस्य पान्थुर्धे लोकं शृण्वी नः

कृणोत ॥

(म० १२।१।१)

' सत्य, धीमान्, उदार, उदारता, धन, ज्ञान और यश

५ (अ. द्. मा. कां १२)

अदि गुण मातृभूमि को धारण करते हैं । वह हमारे मूत्र, मवि-
कृत और वर्तमान स्थिति का पालन करनेवाली इन्हीं मातृभूमि
हमें कार्य करनेके लिये विस्तृत स्थान देव !'

इस मंत्रके पहले आधे भगमें यह सच तौरसे बतलाया
है कि मातृभूमिको कौन कौनसे लोग धारण कर सकते हैं ।
यह सब लोगोंके याद रखनेके लयक बात है । यह मनुष्य
अपने राष्ट्रको धारण नहीं कर सकते और न उसका पोषण
ही कर सकते हैं । जो लोग बंधन गुणोंसे युक्त हैं, वे
ही राष्ट्र की उन्नति कर सकते हैं । दूसरे लोग धिक् संख्या
बढ़ानेके लिये कामयाब है । यह बात पहले मंत्रसे स्पष्ट
है और उसे वाचकोंको देखना चाहिये ।

सर्वप्रथम राष्ट्रीय गुण ' सत्य ' है । जिन मनुष्योंमें सत्य-
श्रियता, सत्य-पालनमें आत्मसर्वस्व अर्पण करने की तत्परता
है, वे ही राष्ट्रका उदार कर सकते हैं । जिनमें सत्याग्रह है
अर्थात् जो सत्यका अग्रगण्य पालन करते हैं, वे ही स्वगण्टा
उदार कर सकते हैं । सत्यका अर्थमही ' सत्य ' शब्दसे हुआ
है । सत्यका अर्थमही शब्द मंगलार्थक और सबसे अधिक मह-
त्त्वका होता है । इस विचारसे ही सिद्ध होता है कि वैदिक
राष्ट्रीयतामें ' सत्य ' अर्थतः महत्त्वका गुण है । अब यह
बात सब पर प्रकट है कि सत्यप्रार्थना शक्ति निःशुद्ध
प्रकाश अन्ध-धारा राजके विरुद्ध काममें ना सकती है । और
विश्व मा पा सकती है । सत्यके व्यक्तिगत सत्य, सामाजिक
सत्य और राष्ट्रीय सत्य असादृश्य हो सकते हैं । हिंदासी
व्यक्तिगत सत्यका पालन करनेमें संभावके अन्य लोगोंकी तुलना-
में अधिक तत्पर एवं दक्ष है, किन्तु वे सामाजिक और राष्ट्रीय
सत्य अर्थात् समुदायिक सत्यका पालन नहीं कर सकते ।
समुदायिक सत्यपालनके अन्वेष ही से स्वगण्टाका कार्य
सफल हो सकता है । यदि भारतवर्षी जान लें कि समुदायिक
सत्य क्या है और उसका पालन किस प्रकार हो सकता है,
साथ ही उचित रीतिसे उसका पालन करें, तो केवल इसी
गुण से ही उसका महत्त्व कल्याण होगा ।

उसके अर्थका गुण कृत अर्थात् धीमान् है । वह भी
सत्यके समान महत्त्वपूर्ण है और उसका आचरण सत्यके बाद
होता है । जो मनुष्य सत्यका पालन नहीं करते और जिनका
आचरण भीषा नहीं है, उनको सचची उन्नति होना अममभव
है । वे हृद अवगत होंगे इतनी ही नहीं बल्कि उनसे जिनका

संबंध है, वे भी गटे में गिरते।

समता शून्य शीतल गुण है। इस गुणसे मंदित जो क्षत्रिय है, वे सत्याग्रहके लोभ मार्गसे अपने राष्ट्रका धन बढा सकते हैं। दसता अमला गुण है और वह दाहिण्यको बतलाता है, जो प्रत्येक कार्यमें आवश्यक है। दसताके सिवा किंधी भी कार्यमें थप प्राप्त नहीं हो सकता, यह सब लोग जानते हैं। अतः उसके बारेमें अधिक लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है।

तप उसके श्रांगका गुण है। यह गुण राष्ट्रीय महत्त्वका है। करनेके कार्यमें शीत उष्ण, हानि लाभ, सुख दुःख आदि द्वन्द्व अनिपर भी तन्हे सहकर आगे पैर बढाना ही तप का अर्थ है। यदि किसीके मूलमें योर्का देर मूलनेसे गर्मी होगी, ठंढमें काम करनेसे बाधिरता आवे, तो ऐसे कौमल मनुष्यसे राष्ट्रका कोई भी काम हो नहीं सकता, अतः यह बात निर्विवाद है किठंकी और गर्मी रहना आदि तप राष्ट्रीय सद्वृत्तोंमें धामिल है। पाजकल अपने देशमें लोग तपके नामपर जिसका आचरण करते हैं, वह वैयक्तिक महत्त्वका है। राष्ट्रीय महत्त्वका तप दूसराही है और उसे लिये बिना राष्ट्रीय दृष्टिसे अपनी उन्नति नहीं होगी।

अमला राष्ट्रीय गुण "ब्रह्म" अर्थात् "ज्ञान" है। "ज्ञानान्मोक्षः" इस सूत्रकी सब लोग जानते हैं। पर वह राष्ट्रीय दृष्टि में नहीं है, यह बात बहुत बड़े लोग जानते हैं। ज्ञानसे जिन तरफ दिशा च्यकिंधी आत्मा संबंधसे मुक्त हो जाती है और वह व्यक्ति भी मुक्त हो जाती है, वही प्रकार ज्ञानसे राष्ट्र भी दुःखोंकी आधानतासे मुक्त होता है और इस तरह राष्ट्र स्वतंत्र हो सकता है। आजकल की बरतसंघकी परार्थनताका कारण अधिकतर भौतिक विज्ञान दार्शनिके ज्ञानका अभाव है। यह इस विज्ञानकी प्रातिके बिना दूर नहीं हो सकती और यदि दूर हो गई तो भी स्वतंत्रताकी रक्षा करना कठिन रहेगा। यह बात सूत्रप्रकाशके समान सिद्ध है। जगुत राष्ट्रको चाहिये कि वह अपना ज्ञान संसारके ज्ञानके बराबर रखे, या संसारके ज्ञान अपने राष्ट्रका ज्ञान आवे, इसके लिये प्रयत्न करना चाहिये। तभी राष्ट्रकी स्वतंत्रता की रक्षा हो सकती है। स्वतंत्रता के दानका संबंध अन्यासिद्ध है।

इसके अगेरा गुण यज्ञ है। " यज्ञ " से आत्मसमर्पणका भाव प्रगट होता है। राष्ट्रीयतिके लिये आत्मसमर्पण करने की

तैयारी लोगोंमें होनी चाहिये, तभी राष्ट्रीयतिके होना सम्भव है, उसके अभावमें बढावि नहीं हो सकती।

वैदिक राष्ट्रगतिके पहले मंत्रने यह महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया है। अपने राष्ट्रकी उन्नतिके लिये गुणोंके बढनेसे हांगी और जिन गुणोंके अभावसे अपने राष्ट्रका अक्षय्य होगा, यह सब मंत्रने स्पष्ट गीतिसे बतलाया है और उसका उपरोक्त आशय हीने लायक है।

राष्ट्रीय उन्नतिके करनेवाले गुण " सत्याग्रह, धीमा बर्ताव, समता या चौदंड, दक्षता या तपस्वता, सहाई करनेके लिये लगनेवाले परिश्रम करनेका सामर्थ्य या वह करते समय समनेशाले शीत और उष्णतासे सहनेका सामर्थ्य, ज्ञान और बड़े कार्य के लिये आत्मसमर्पण करनेकी इच्छा। " यदि ये गुण जनतामें वा जनताके मुखियोंमें हों, तो उस राष्ट्रका उदार हो सकता है और यदि न हों तो नहीं।

अब उन अवगुणोंकी देखिये जो राष्ट्रकी जनरति करते हैं-

" सत्याग्रही तैयारी न रहना अथवा सत्यकी पराई न कर मनमाना आचरण का देनकेम प्रयोग जीवन स्थिति करनेकी प्रथा रहना, कष्टका आचरण, कायरता या चौदंडका अभाव, दसताका अभाव, परिश्रम करनेकी शक्ति न रहना, अज्ञान, आत्मसमर्पणके लिये तैयार न रहना। " पठक गण स्वयं ही विचार करे कि हम लोगोंमें उपरि उक्त राष्ट्रीय गुणोंकी अधिकता है या अवगुणोंकी। इस बातका विचार करने ही से जनपर प्रकट होगा कि आज हमें क्या करने की आवश्यकता है ?

इस प्रकार मंत्रके प्रथम अर्थमें राष्ट्रकी धारण करनेके लिये आवश्यक गुणोंकी वृद्धि करनेका उपदेश है। उपरोक्त उत्तर अर्थमें एक महत्त्वपूर्ण आधीला जनताके सम्मुख रखी गई है। वह इस प्रकार है— " हमारी मातृमूर्ति हमारे मूल—मभिष्यत वर्तमान कालकी परिस्थिति की देवता है। वह हमें अपने देशमें विस्तृत कार्यक्षेत्र देवे। "

राष्ट्रमत्त मातृमूर्ति के उपासक हैं। उनके सब काम मातृमूर्ति की अपने उद्देशों का केन्द्र अमलकर हो सकते हैं। अतएव स्पष्ट ही है कि राष्ट्रमत्तके मूल—मभिष्यत—वर्तमान काल की नियामक देवता मातृमूर्ति ही रहेगी। मूलकल में

उन्होंने मानुसूक्ति को जैसी सेवा की होगी वैसी ही उनकी वर्तमान कालकी स्थिति होगी । वर्तमान काल में वे जैसी उपासना करेंगे, उधके अनुसार भविष्यतमें उनकी स्थिति होगी । अतएव राष्ट्रमोक्ष सदैव मानुसूक्ति की उपासना उत्तम रीतिसे करें । वे कोई भी ऐसा पातक बर्ताव न करें जिससे उनकी अवगति होगी ।

प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह ऐसी आकांक्षा धारण करे कि ' मेरे राष्ट्रमें मुझे विस्तृत कार्यक्षेत्र प्राप्त हो । ' यदि मनुसूक्ति परिस्थिति न हो तो उसे प्राप्त करनेमें कठिन परिश्रम की आवश्यकता है । अपने को अपने घरमें व्यवहार करने में जैसी पूर्ण स्वतंत्रता रहती है, उसी प्रकार स्वदेश में भी स्वायत्त न होनी चाहिये । लोगों को अपने अपने देशमें पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिये । दूसरे हस्तक्षेप कदापि न करें और देशवासियों की उन्नति में विघ्न बाधाएं न डालें । अपने अपने घर में हर एक आश्रित्यार हो । हमारे देशमें हरे विस्तृत कार्यक्षेत्र मिलना ही चाहिये । दूसरों को हमारे देश में विस्तृत कार्यक्षेत्र मिले और हमारा कार्यक्षेत्र प्रतिदिन पटना जाय यह पराधीनता वितर्क ही जल्द ही सके, बदलनी चाहिये । ऊंचे बंदूक देना ही हमारा प्रथम आवश्यक कर्तव्य है ।

पाठक गण प्रथम मंत्रके इस आशय की विचारें और वैदिक राष्ट्रमोक्षके उच्च ध्येयका अनुभव करें ।

यदि राष्ट्रीय उन्नति साधना है, तो राष्ट्रमोक्षमें आवश्यकता है एकता की । बिना ऐक्यके सामुदायिक कार्यका सिद्ध होना असंभव है । सब लोग इस बात की मानते हैं । किन्तु लोग यहाँ नहीं समझते कि यह राष्ट्रमें एकता अपने देशमें किस प्रकार साध्य होगी । लोगों का कथन है कि हमारे देशमें मित्र मित्र धर्मके लोग हैं, अनेक भाषाएं और विविध जातियाँ हैं । रीति-रिवाजों में भी अनेक भेद हैं । ऐसी दशाने एकता हो ही कैसे सकती है ! यह कहकर लोग निराश हो चुप बैठ जाते हैं । ऐक्यके लिये जहाँ जहाँ प्रयत्न करते हैं, वहाँ वहाँ फूट ही होती जाती है । एकता के लिये जो प्रयत्न या उपाय किया जाता है, वह अधिकाधिक फूट का ही फल देता है । इसी कारण राष्ट्रमोक्ष सबको प्ये है । ऐसेही समय मित्रमित्रोक्त वैदिक राष्ट्रमोक्ष का मंत्र बहुत ही विचारणीय एवं बोधप्रद होगा । देखिये—

। अहं विभक्तौ बहुधा विभाचसं नानाचर्मानं दृषिषी

सयौकसम् ।

सद्व्यपारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनं—

पस्कुन्वी ॥

(अर्थ— १२।१।१५)

“ [वि—वाचसं] अनेक भाषा बोलनेवालों और [नानाचर्मानं] नाना धर्मोंसे युक्त जो जनता है उसे [यथा यौकसं] एकही धर्मके समान धारण करनेवाली मानुसूक्ति धन के हजारों प्रवाह मुझे दे, जिस प्रकार लछलकूद न करनेवालों गाय दूध देती है, उसी प्रकार । ”

राष्ट्र की प्रगति तभी हो सकती है जब कि विविध भाषा बोलनेवाले, विविध धर्मोंकी माननेवाले एवं विविध रीतियोंमें पालनेवाले लोग एक ही कुटुंबके एकही घरमें रहनेवाले भाइयोंके समान एकही देश में रह सकें । [वि—वाचसं जन्] अनेक भाषा-भाषा लोगोंके रहते भी और [नानाचर्मानं जन्] विविध धर्मके अनुयायी होते हुए भी उन सबकी एक माता-पिता की आदि माता-पिता मानुसूक्ति है, इससे सबको चाहिये कि आपसी भेदभाव मूलका टूटके समुत्सुक होकर मानुसूक्ति की उपासना करनेमें भाषाका भेद, प्रोतका भेद, धर्म का भेद या जाति का भेद आदि न आना चाहिये । सब लोगोंको चाहिये कि वे सब मिलकर यहाँ समझें कि सब [यथा यौकसं] एकही घर में रहनेवाले एकही कुटुंबके लोग हैं । और सब लोग अन्य किसी भेदके प्रथा नता न देख अपनी लभये एकता यताने ।

एकही घरके लोगोंमें कुछ बड़े, कुछ छोटे, कुछ मध्यम, कुछ गौरे, कुछ सवले, कुछ न गौरे न सवले, कुछ बूटे, कुछ युवा, कुछ पुरुष और कुछ स्त्रियाँ रहती हैं । एकही घरके लोगोंमें हलने भेद रहते हैं!! इनमें स प्रत्येक यदि कहे कि ' मैं अन्य सबसे मित्र हूँ, ' तथा अपनी मित्रताके कारण सबसे कुटुंबके हितकी ओर दृष्टि न दे, तो सब घरका, उस कुटुंबके नाम से रोने देर ही ' क्या ' इसके विषय यदि नस घरके निचसी उच कुटुंबके घटक छुद मेदोंके मूल जाँव और अपने मनमें यही मूल्य विचार रखे कि सारे कुटुंबका हित ही, तो वहाँ पर नन्दनवनके समान आनंदधे मेरा हुआ दिखेगा । जहाँ कहीं मनुष्य है वहाँ भेद आवश्यक ही होगे । किन्तु मनुष्य को भय प्रदी है कि छुद भेदोंके नाम समझकर सब मिलकर अपने घरके, अपने देशके, अपने राष्ट्रके हित साधने के लिए ।

यही बात बतलाई गई है। राष्ट्रके पटक जिन समय आपसी छुद्र भेदोंको प्रधानता दकर आपसमें लड़ते झगड़ते हैं, उस समय राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। परन्तु जब भेदभावोंको मिटाकर वे सब मिलकर देशहितका कार्य करनेमें लग जाते हैं, तब उनकी शक्ति बढ़ती है और उनकी उन्नति होती है।

किसी भी देशको या किसी भी राष्ट्रको देखिये। भाषा, जाति, वंश, धर्म आदि अनेक कारणोंसे जसमें अनेक भेद होते ही हैं। आज संसारमें एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं जिसमें उपर्युक्त भेदोंका नामानशान न हो। परन्तु विचारशील राष्ट्रके धर्मज्ञ लोग इन भेदभावोंको और ध्यान नहीं देते। वे यही समझते हैं कि राष्ट्रहित ही उनका लक्ष्य है। सब अपने लक्ष्यपर दृष्टि रख वे एकतासे उर्ध्वकी प्राप्तिमें लग जाते हैं। आपसमें लड़ाई घमसा करनेवाली बातों भी जब देखनी है कि सारे राष्ट्रपर आगति आगई है, तो वे आपस झगड़ छोड़ देती हैं, आपसमें मिल जाती हैं और राष्ट्रिय भाव सेका सामना करती हैं। परिणाम यही होता है कि उस आपसमें वे सब जोते हैं। परन्तु इसके विपरीत जो लोग अपने भेदभावोंको और ही दृष्टि रखते हैं, जो राष्ट्रिय हित की ओर नहीं देखते, जिन्हें राष्ट्रकी अपेक्षा अपने भेद ही अधिक महत्वके मालूम होते हैं, वे छुद्र भेदभावोंको ही फसे रहते हैं और अपनी उन्नति कभी भी नहीं कर पाते। भेदोंके रहते भी जो सर्तमें अभेदका अनुभव प्राप्त करने को तैयार रहते हैं, वे ही कुछ राष्ट्रहित साधन कर सकते हैं।

हमारे हिंदुस्थानमें ही सब मनुष्य भेदभावोंसे विभक्त हैं, यह नहीं। परन्तु अन्य देशोंका भी यही हाल है। तब क्या इस देशमें निवासियोंको संश्लिष्ट है कि वे ही अपने भेदोंका क्या बचाते रहें और इससे अपने छुद्रको मरद दे दें? क्या मातृ-तन्त्रात्मक इस महत्त्वकी बातका विचार न करेंगे जो लोग सबैव यही चिन्तित रहते हैं कि "प्रथम आपसी भेदभावोंको मिटा दो" उन्हें मरण रक्षना चाहिये कि ऐसा समाज जिसमें भेद-भावोंका बिलकुल अभाव हो, न कभी इस पृथ्वीतल पर था, न अब जायज न है और न भविष्यत्में भी होनेको संभव बना है। किसी भी देशमें किसी भी समय जो बात कभी न हुई, वह इस देशमें कैसे हो सकती है? सब देशोंमें एक बात साध्य हुई है और वह है आपसी भेदोंको सर्वथा उल्लङ्घन न करने देना। यह नहीं बाल हमारे देशमें भी साध्य हो सकती है। अध-

एय उचित यही है कि लोग अमाध्यको साधनेके प्रयत्नमें न लगें, परन्तु साध्य बातोंको ही करें और अपनी उन्नति कर लें।

भारतवर्ष में तीन धर्म विद्यमान हैं, (आर्य) हिंदु, मुसलमानों और ईसाई। यह समझ कि जबतक वे तीन धर्म हैं, सबतक स्वराज्यके लिए प्रयत्न न करना, अपवा ये तीन भेद नष्ट होकर जब सबका मालुकर कोई नया धर्म बनेगा, तभी स्वराज्यप्राप्ति प्रयत्न करना, निगम अस्मन् है। इन तीन भिन्न धर्मोंके रहते भी सबको मिलकर मातृभूमि को उपासना के लिए तैयार होना चाहिये। यह तो असंभव है कि तीनों धर्म सदाके लिये नष्ट हो जाय। इन भिन्न धर्मोंके रहते भी सबको चाहिए कि अपना 'अभिन्न राष्ट्रधर्म' देखें। जातिभेद, भ्रातृभेद, वर्णभेद आदि अनेकानेक भेद अवश्य ही रहेंगे। इन भेदोंका सदाके लिए नष्ट होना यदि संभव माना जाय, तो उसे इतना अधिक समय लगेगा कि उसके साथ हीनेतक स्वराज्यको पूरा रखनेसे हमारी बड़ी भारी हानि ही होगी। अतएव ट्राएकमनुष्यको, ट्राएक व्यक्तिको यही संज्ञा आवश्यक है कि अनेक भेदोंके रहते भी उन्हें भूलकर एक धारके, एक कुटुंबके भाइयोंके समान एकतासे रहें। इस मंत्रका यही उपदेश है और हरएक राष्ट्रभक्त उसपर ध्यान दे। अब आगेका मंत्र देखिए—

अ-संधि मध्यतो मानवानां परया उद्भूतः एतः सर्वं बहु।
नानावीर्या औपचीर्या विभिर्नि पृथग्बी नः प्रथलां
राष्यलां नः ॥ (अथर्व० १२।१२)

'जिंह मातृभूमिके मनुष्योंमें उन्मत्ता, नीचता और समताके संघर्षमें (बहु अ-संधि) बहुत ही निर्बलता है अर्थात् झगड़े नहीं हैं और जो नाना गुणोंसे युक्त औपचीर्य उत्पन्न करती है, वह हमारी मातृभूमि हमारी (प्रथलां) कीर्ति या स्वार्थि बचवै।'

यह मंत्र बतलाता है कि विषमता होते हुए भी राष्ट्रीय हितका साधन कैसे करना चाहिये। मनुष्यका भेदभाव पूर्णतया मिटानेकी चेष्टा भले ही की जाय, पर शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आत्माके न्यूनताधिक विकासके कारण तथा उनकी व्यवहारकुशलताकी न्यूनताधिकतासे उनमें ऊँच, नीच, मध्यम आदि भेद रहना स्वाभाविक है। अतएव संभव नहीं कि सब मनुष्य समान योग्यताके, बिलकुल एकत्रे बनें। ऐसी अवमानता

रहनेपर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि उनके अन्दरकी ओर ही ध्यान देकर सबका उत्थान हो।

मंत्रमें 'अ-सं-बाध' शब्द है। वह अतीव महत्त्वका है। गौण भेदोंको प्रधानता दी जाय तो एक समाजके मनुष्योंका दूसरे समाजसे विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरेको प्रतिबंध करने लगेगा। दूसरेको मिटाकर स्वयं ही जीवित रहनेका प्रयत्न करने लगेगा। एम' होनेसे जातिधर्मों 'संबाध' उत्पन्न होता है। जातिगतिके झगड़े, विरोध आदि बातें इस शब्दसे बतलाई जाती हैं। परस्पर बाधा करने ही वा नाम 'संबाध' है। संबाधका अर्थ है आपसी युद्ध। जब युद्ध होने लगते हैं, तब राष्ट्रकी शक्ति क्षीण होती है। जब एक समाज दूसरे समाजको बाधा पहुंचाता है, एक जाति जब दूसरी जातिको कष्ट पहुंचाने लगती है, तब राष्ट्र क्षीण होता है। इच्छालिये राष्ट्रहितकी दृष्टिसे जाति—जातिमें, समाज—समाजमें एकताका होना परम आवश्यक है। यही बात बतलानेके हेतु मंत्रमें कहा है—

'घर्याः मानवानां मरणतः बहु असंबाधम् ।'

'जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें बहुत निर्बन्धभाव रहता है।' यही मातृभूमि अपने सुपुत्रोंको उत्तम घन दे सकती है। परंतु जिस भूमिके लोग आपसी वैरभाव रखते हैं, बहानेकी जनता आधा पेट रहता है। कोई ऊंचा हो, कोई शहीद हो, कोई अज्ञानी, पर शरीरसे हटपुष्ट हो। सबको चाहिए कि वे जो कुछ करें मातृभूमिके लिये करें। अपने शुणाधिक्यके घण्टहमें उन्हें गुणहीनोंको वा न्यून गुणवालोंको न दखाना चाहिये। कुछ लोग गृह्ये ही और कुछ बाचाले ही, तो दोनों मिलकर, अपसर्में न लड़कर दोनोंकी अपनी शक्तियोंका मेल करना चाहिये और उन्हें मातृभूमिकी वेदीपर चढ़ा देना चाहिए। तर्मा राष्ट्रकी उन्नति होगी। मनुष्यमें जो (उद्धतः) उच्चता, (समं) समता, और (प्रवतः) नीचता रहती है, वह एक दूसरेका घात करनेके लिए नहीं रहती है। एक मनुष्य यदि किसी एक बातमें ऊंचा है, तो वह दूसरी बातोंमें नीचा होगा। बड़ा विद्वान् ज्ञानमें ऊंचा होगा, तो शक्तिमें उसका दर्जा कम हो सकता है। कोई शक्तिशाली पहलवान हो तो ज्ञानमें उसका हलका होना संभव है। विद्वान् मातृभूमिकी दोनों प्रकारके मनुष्योंकी आवश्यकता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञानके चमकण्डे और बलवान् शक्तिके घनकण्डे एक दूसरेके धिर न काटें, बल्कि

दोनोंको चाहिए कि वे मेलकर देशके शत्रुओंको दूर करें और अपनी उन्नति करें।

मानवोंका कर्तव्य यही है कि अनेक भेदोंके रहते भी अन्ध-भावसे अपना मार्ग निकाएँ। जो मनन करनेमें समर्थ है उसीको मानव कहते हैं। मनन करनेवाला झगड़े उत्पन्न नहीं करता, वह सोच विचार कर झगड़े कम करता है और उन्नतिके मार्गसे आगे जाता है। जो अपना परिस्थितिका विचार नहीं करते, अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आपसके झगड़े ही बढ़ाते हैं, वे दो पैरवाले हूँपर भी मानव या मनुष्य नहीं कहे जा सकते।

इस मंत्रका उपदेश हम लोगोंकी वर्तमान दशामें अरुओ तरह उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त मंत्रोंके पढ़नेसे ज्ञात होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगोत्रके द्वारा देशवासियोंमें एकता बढ़ानेके लिए जो कुछ कहा जा सकता है, कह दिया गया है। अब हम चाहें तो उसका उपयोग करें, चाहें तो न करें। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो उसमें चर्मप्रयत्न क्या दोष ? दोष है अनुयायियोंका। ऐक्यका उपदेश सुन लेनेपर प्रत्येकको जान लेना चाहिए कि हमारे देशके प्रति हमारा पुत्रत्वका नाता किध प्रकार है। इस संबंधको जानकर उसे सदैव अपने मनमें जागृत भी रखना होगा। निम्नलिखित मंत्रको अब देखिए—
त्वज्जागारत्सवि घग्निं मारुत्सर्वं विमर्षिं शिपुत्सर्वं
चतुष्पदः । तथेमे पृथिवि पंच मानवा देव्यो ज्योतिरमृतं
मर्येम्य उद्यन् सूर्यो रश्मिभिरातनोति १५ ॥

'हे मातृभूमि! तेरेसे उत्पन्न हुए हम सब मनुष्य तुझपर ही घूम रहे हैं। तू ही द्विपाद और चतुष्पादका पोषण करती है। हम पांचों प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं। हम मानवोंकी प्रतिदिन उगनेवाला सूर्य अपनी किरणोंसे तेज और अमृत देता है।'

इस मंत्रमें सर्वप्रथम यही बतलाया गया है कि 'हम मनुष्य भूमातासे [त्वत्-जाताः] हैं। उत्पन्न हुए हैं और तुझपर ही घूमते हैं। तेरे ही हैं।' यह भाव स्पष्ट एवं असंदिग्ध है। प्रत्येक राष्ट्रमर्क अपने मनमें यही भाव रखता है। यदि नहीं रखत तो उसे अवश्य ही रखना चाहिए। सभी वह राष्ट्रकी उन्नतिके योग्य कार्य कर सकेगा मातृभूमि हमारी अलंकारिक वा काव्यनिक मत्ता नहीं, वास्तविक माता है। यह अनुभव जितना जीवित होगा, उतनी ही दृढ भावनासे वह मनुष्य मातृभूमिकी सेवा करेगा।

यदि वाचक विचार करेंगे तो वे जानगे कि हमारे देशमें जो जातीय झगड़े होते हैं उनका कारण यह है कि इस देशके निगामी नहीं समझते कि सबसुख हम सब मातृभूमिके पुत्र हैं। लोग अपने अपने पंथक हितकी दृष्टि रखते हैं। सब रामिलकर जो राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इसके सबको एक राष्ट्रधर्मका रक्षण नहीं रहता। प्रत्येकको अपना पद ही अधिक प्रिय होता है। सार्व-राष्ट्रीय धर्मक पालनकी कोई फिर ही नहीं करता। ऐसे प्राक्तक विचार किभी भी देशके निवासियोंमें किछी भा जातिके लोग न रखें। इसी मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है कि ' हम सब मातृभूमिके बालक हैं । ' वाचक यदि इस अनुभव मात्रपर विचार करें तो उन्हें विदित होगा कि आपकी फूट की वष अक्षय्यार दवा है। मनुष्य किछी भी धर्म के या पंथके - उनमें जाते और धर्मके कारण कैसी भी भिन्नता कशों न आई हो, यदि वे एक राष्ट्र-धर्मस बंधे जायेंगे, ता परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

हमारी मातृभूमि हम द्विपदोंका और अन्य अनुष्वादेका उत्तम प्रकारसे पावग करता है। इस स्वर्मा दृष्टिसे भी यदि देखें तब भी हरएक मनुष्यके लिए उत्तम बात यही होगी कि वह हृदयमें मातृभूमिकी आत्मा रख धौर उधकी रक्षाक लिए सदैव तैयार रह। हम अपने मकानही रक्षा करते हैं, अपनी जमीन की रक्षा करते हैं, यह सब हम इसीलिए करते हैं कि स्वसं हमारा हित होना है। हमारा हित मातृभूमिमें भी होता है। क्योंकि वही मातृभूमि मनुष्योंको और पशुपक्षियोंको अन्न, उद्रक आदि देती है और उनका रक्षा करती है। यदि हम मातृ-भूमिक रक्षा न करेंगे ता वह किछी दुर्भरके आधीन हो जावेगी और तब हमारा आकन होगी, हमें भूखी मरनेकी नौबत आवेगी।

इस समय भारतीयोंका यही हाल है। उन्होंने योग्य-मय मातृभूमिकी रक्षा न की अतएव अब हमें कष्ट सहने पडते हैं। इस आपत्तिके समय भी हमें आपसी झगड़ोंका नहीं भूलते, और एकतासे मातृभूमिकी सेवा करमेको तैयार नहीं होते। गत कालमें हम लोगोंने जो गत्रतियोंका सा तो हो सुना। उनके बारेमें अब कोई किनना ही क्षम्येन कहे, व बदल नहीं सकता। परंतु उन गत्रतियोंका फल भोगते समय भी उनस उचित शिक्षा न लेकर पुनः पुनःवेही भूके करमा और प्रतिदिन आपसी भेदग वों को बढ़ाना भयंकर भाभी आपत्तिका चिह्न है। क्या भारतवासी

इसपर विचार न करेंगे ?
 इस विचारको मनमें न रख कि ' ' है मातृभूमि । हम तेरे बालक हैं । ' ' हम समझते हैं कि हम अपने मित्र मित्र पंथोंक हैं। इसके समान दूसरी भयंकर भूल नहीं है। सर्वप्रथम हम अपने राष्ट्रक हें, तत्पश्चात् अपने पंथके हैं। यही शाना हरएक मनुष्यको रक्षना उचित है। यदि मनुष्य यह धाना न रखें तो राष्ट्रहानि होना टाल नहीं सकते। वाचक देश सकते हैं कि अर्थात्बरके इस वैदिक राष्ट्र-गोतक प्रत्येकमंत्रमें कैसे महत्त्वका उपदेश किया है। हमारी वर्तमान गिरा दशामें ये अनमोल उपदेश-रत्न हैं। हमारा उत्थान कर सकते हैं। इतना ही नहीं है हमारा यश चारों दिशामें फैला सकते हैं। प्रिय वाचक । आप इसी दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करें और उसके उपदेशों-को कार्यमें परिणत करें।

यहाँतकके लेखमें बतलाया गया कि मातृभूमिके वैदिक गीतकी साधारण बातें क्या हैं, तथा यह भी दिखाया गया कि जनतामें भिन्नता रहते हुए भी एकताका साधन कैसे करना चाहिए और मातृभूमिकी सेवाके लिये सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें। पिछले लेखोंमें वाचकोंको निम्न्य हुआ होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतमें राष्ट्रकी उन्नतिके जैसे उत्तम तरवोंका समावेश हुआ है, जैसे तत्पव अन्य किछी देशके राष्ट्रगीतमें नहीं है। तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीतपर और भी कई दृष्टियोंसे विचार किया जाय।

जनतामें मातृभूमिके लिये प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। वह प्रेम तभी हो सकता है जब कि देशक नगरी, पहाड़ों एवं अन्यान्य स्थानोंके प्रति आदर हो। आदर किछी विशेष महारके कारण से ही हो सकता है। यदि हम वहाँ कि इसका आदर करें, तो हमारे कदनेसे कोई आदर न करेगा। किछी स्थानके प्रति आदर तभी हो सकता है जब उसका किछी महारकी पुण्यमयी घटनासे संबंध हो, या उसका किछी महारके संबंध हो, या अन्य किछी विशेष घटनासे उसका संबंध हो। अतएव हमें यह देशना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी सूचना किछ प्रकार देता है-

देवींद्वारा वसाएः हुए स्थान ।
 परयाः श्रो देवैः कः क्षेत्रे मरुता-विजुर्वते ।
 प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भोमादासां रणधो-नः ।
 छणोत्त । (अथर्व. २३।१।३४)

हमारी जिस मातृभूमिके नगर देवीं द्वारा बनाए गए हैं और जिसके खेतोंमें सब मनुष्य विविध काम करते हैं, उन सब पदार्थोंका अपने गर्भमें धारण करनेवाली मातृभूमिकी पर-
मेश्वर सब दिशाओंमें हमारे लिये रमणीय बनावे।"

अब इसके (यस्याः देवकृतः पुरः) 'जिसके नगर देवीं द्वारा बनाये गए हैं' वाला भाग देखिए। जनताको विश्वास होना चाहिये कि हमारी मातृभूमिके नगर देवीने बसाए हैं, हमारे नगरोंसे देवींका संबंध है, देवींका देवत्व हमारे नगरोंमें देखा है। इस प्रकारका अविज्ञ विश्वास यदि जनताके मनमें स्थान बना ले, तो निश्चय ही है कि अपने देशके बारेमें मनमें जाग्रति होगी।

इतिहासमें उल्लेख है कि हमारी इतिहासिक विविध नगरोंका संबंध देवीसे हुआ है। भगवान श्री रामचंद्रजीका संबंध अयोध्यासे और रामेश्वरमें है। श्रीकृष्णजीका संबंध गोवर्द्धनवाहन, तथा द्वारकासे है। इन्द्रका संबंध इंद्रस्थसे है। हमारे देशके आबालवृद्ध जानते हैं कि इस प्रकार अनेक नगरोंसे देवींका संबंध है। नदियां, तालाब, खेतों, पर्वत-शृंग, गुफाएं आदि स्थानोंमें देवदेवताओंका वा उग्र पुरुषोंका संबंध रहा है। इसका हाल प्रयोगों में भी पाया जाता है और सब छीपुठियोंकी भी कथा-पुराण आदि सुननेसे मालूम हुआ है। गौरीशंकर और कैलाशके पर्वत-शिखरोंका संबंध साक्षात् भगवान् शंकरके साथ है। श्रीशंकराचार्यके अभ्रमका संबंध नर-नारायण ऋषि-मुनिसे है। मातृभूमिकी दृष्ट भक्तिके लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब आंगुष्ठोंको विदित होवे।

कुछ अधिक शिक्षित लोग कहेंगे कि 'यह अंधविश्वास किस लिए? बिल्कुल व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे भी मातृभूमिके प्रति भक्ति हो सकती है।' बात बिल्कुल ठीक है। पर व्यावहारिक कामके साथ ही यदि लोगोंके हृदयमें ऊपर लिखे संबंधोंका भी विचार आवे तो भी नुकसान कुछ न होगा। बल्कि अपनी मातापर प्रेम करता है। पर इस लिए नहीं कि माता सुदूर है, माता दूध देती है। वह प्रेम करता है क्योंकि मातृदेवी मनुष्यके अनुभार माता एक देवता है। बालकको माताके प्रति प्रेम इसी दिव्य भावनाके कारण रहता है। बालकका माताके प्रति और माताका बालकके प्रति अत्यंत प्रेम रहता है। बदलेकी आशा न कर जो प्रेम किया जाता है, वही दिव्य प्रेम है वही निरपेक्ष अहं प्रेम है। इसीलिए मातृभूमिके व्यावहारिक प्रेम नहीं है। मातृभूमिकी प्रेम भी इसी प्रकार अत्यंत, निःस्वार्थ, अस्वार्थिक

और दिव्य होना चाहिए। अत्यंत प्रेम उत्पन्न होनेके हेतु उपयुक्त मंत्रमें लिखा है कि अपने देशके नगरोंसे संबंध देशमें है यह बात सब लोगोंको मालूम रहनी चाहिए और सब लोग यही सोचें कि हमारे नगर देवीने बसाए हैं।

जो ज्ञानी लोग आर्थिक या व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे मातृभूमि की भक्ति करते हैं, वे भले ही वैषा करें। ससमें किम्वंकी रुकावट नहीं। परंतु सब जनता उभर के टोटे ही ज्ञानी नहीं हो सकती। अतएव साधारण लोगोंमें विशेष प्रेम उत्पन्न होवे इसी गरजसे सबको मालूम होना आवश्यक है कि हमारे देशके स्थानोंका संबंध देवीसे वा ऋषियोंसे है।

प्रनापगडसे तथा सिंहगडसे शिवाजी महाराजका संबंध, उदयपुरसे मद्यारण प्रतापसिंहका संबंध झांसीसे रानी लक्ष्मीबाईका संबंध, गढ़ मंडलासे रानी दुर्गावतीका संबंध पर-
लसे स्वामी रामदासका संबंध और इधरी प्रकार भिन्न भिन्न इति-
हासप्रसिद्ध स्थानोंमें ऐतिहासिक व्यक्तियोंका संबंध मालूम होना परम आवश्यक है। सिंहगडका या अन्य किसी स्थानक उद्य-
स्थानका जिससे शिवाजी महाराजका संबंध रहा है, यदि कोई मंग करे या अन्य इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तिके स्थानका कोई अपमान करे तो उस दुष्ट कार्यसे संपूर्ण भारतीय हृदयमें खेद पहुंचती है। संपूर्ण भारत उस दुष्टकृत्यका जवाब पूटनेकी तैयार हो जाता है। इसीमें राष्ट्रीय उन्नतिकी बीज है।

इसीलिए जब विदेशी सरकार दूसरे देशपर अपना अधिकार जमाती है, तब उस देशके ऐसे इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंको मुलनेमें दखल रहती है। वह तत्पर रहती है कि ऐसे स्थानोंका लोगोंको पता भी न रहे। इसका भी मर्म यही है। मुसलमानोंने प्रयागका नाम जलदाशोध रखा, घटशंकरोंका नाम इलामाबाद रखा, मालवेमें मेटने कहा, बाबा महर्षिदासोंको मोइदिनगढ़ कर डाला, श्री शंकराचार्यके स्थानोंको तेलत-
ई-मुलेमान कहा और इसी प्रकार हजारों संदर्भिके और स्थानोंके नाम बदल दिये। इसका रहस्य हमें ऊपर बतला चुके हैं। अब अंग्रेजोंका राज हुआ तब उन्हें हीने घबलोगरीके गौरी-
शंकरको नाम मोइ एरेस्ट रख दिया और घिमिला, महाबलेश्वर आदि पर्वतराजोंके स्थानोंके अंग्रेजों नामें बना दिये। इसी प्रकार अनेक कई स्थानोंका अंग्रेजोंकरण हुआ।

मुसलमानोंने मंदिरों और मूर्तियोंका विध्वंस किया और बलाकारसे लोगोंको अपने धर्ममें मिलाया। अब ईसाई लोग

धर्मात्तर करा रहे हैं । वे प्रायः प्रत्येक देवस्थान और तीर्थ-स्थानमें बहक रहकर लसकी निंदा करते हैं । इसका भा कारण यहाँ है जिससे कि हमारा हमारे देशके स्थानोंका अभिमान नष्ट हो जाय ।

विजेता मुसलमान रहें, अंग्रेज रहें या जापानी रहें, उनका सबका स्वभाव एकहीसा होता है । जिन लोगोंके हृदयमें मातृ-भूमिको मफि नष्ट करनेके लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करनेमें बूझते नहीं । मातृभूमिके विषयमें प्रेम और मफि उत्पन्न होनेके लिए अपने देशके तीर्थस्थानोंका प्रेमपूर्ण इतिहास जनताके हृदयमें सदैव जागृत रहना चाहिये । जबतक जनतामें मातृभूमिका प्रेम जागृत रहेगा तबतक विदेशी जंतुओंके पैर बम नहीं सकता । यही सार्वत्रिक नियम होनेसे सब जेतो जाती हुई पादाक्रांत बनताही मातृभूमिके प्रेमके सब चिह्न जलदी मिटानेका प्रयत्न करते हैं । संसारके इतिहासमें वाचक इसकी पुष्टिके उदाहरण स्पष्टतया देख सकते हैं । पुष्टि देखनेपर ही उन्हें ऊपरके मंत्रके उपदेशका रहस्य बिंदित होगा ।

यह तो स्वाभाविक ही है कि लोगोंको मातृभूमि ही हमारे देशके नगर देवोंके बनाए हैं, हमारे पूर्वजोंका जनसंघ जो संवेद्य है उसका स्मरण रहे, बड़े बड़े महात्माओंके चरणरजका स्पर्श होनेसे वे स्थान तारक हो गये हैं । वेदमंत्रण ऊपरके राष्ट्र-गीतके इन भावोंका साध परिचय करा दिया है । अतएव पाठक इस मंत्रका जिनका अधिक विचार करेंगे उतना ही उनके लिए अच्छा होगा ।

ऊपरके मंत्रमें श्रीम दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) लोग अपने अपने क्षेत्रमें ध्यानसे काम करें । और (२) देशके निवासीको चारों दिशाएं रमणीय मालूम हो । अर्थात् ही देशकी चारों दिशाएं हमको रमणीय नहीं मालूम होती, इसका कारण हमारा पराधीनता है । स्वतंत्र लोगोंको सब दिशाएं रमणीय मालूम होती हैं । यह कहना कि ' सब दिशाएं हमें रमणीय दिखें ' हम स्वतंत्र रहें, कहनेके बराबर है । वर्तमान पराधीनताके ही कारण यदि हम पश्चिममें आस्ट्रेलिया, दक्षिणमें आस्ट्रेलिया, पूर्वमें अफ्रीकामें जाते हैं, तो हमें रहनेके भी स्थान नहीं मिलता ! तब फिर वे देश हमारे लिए रमणीय कैसे हो सकते हैं ! इसका कारण यही कि हम पराधीन हैं । स्वतंत्र देशके लोगोंका यह हाल नहीं है । स्वतंत्र देशके लोग यहाँ लगे बहो उनके लिए रमणीय स्थान तैयार रहते हैं ।

स्वातंत्र्य और पारतंत्र्यका यह भेद ध्यानमें रखना चाहिये । देशके नगरोंके प्रति अपनेपनका भाव मातृभूमि होनेका महत्त्व जो ऊपरके मंत्रमें बतलाया गया है वह केंद्र भागो महत्त्वका है, सो अपने देशकी जन स्थितिसे सहज ही समझ सकते हैं । आज जो मातृभूमि मारतीय मुसलमान हैं, वे सब प्रति-दान हिंदू ही हैं । पर धर्मात्तरके कारण वे हिंदुओंके बाहर हैं । इभीलिए बनारस, रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थस्थानोंके प्रति उनमें अपनेपनके जन्म नहीं है और विदेशके मन्त्र, मदीनोंसे उन्होंने नाता जोड़ लिया है । इससे उन्हें भारतदेश कपती मत्तुभूमि नहीं मालूम होना । वाचक देख सकते हैं कि राष्ट्र-की उन्नतिको दृष्टिसे इस देशका कंठा भारी मुकामान हुआ है । धर्मात्तरके बारेमें यदि प्राचीन आर्य हिंदुओंके अपनी नैति उचित रही होती, तो आज यह देशान होजा । हमारा इस वर्तमान दशाको ध्यानमें रखकर एक मंत्रपर विचार करना चाहिये, तब उस मंत्रकी महत्ता और उसके अमोल उपदेशका रहस्य मालूम होगा ।

श्रुति-श्रृण ।

पत्न्या पूर्व मृतकृत श्रद्धो ग्वा उदात्तुः ।
 सप्त स्रेण वेद्यतो यत्नेन तपसा सह ॥ ३५ ॥
 " जिस मातृभूमिमें पूर्वके जनें, देशका मृतकाल बनाने-वाले श्रुतिधर्म और दण्ड करके तथा तप करके लष्ट (गाः) भूमियोंका उद्धार किया " यह हमारी चेतन मातृभूमि है । (मृतकृतः श्रद्धाः) हमारे देशका मृतकालका इतिहास बनानेवाले तपस्वी श्रद्धा थे । देशवासी यदि इस बातका विचार स करें तो उन्हें प्राचीन कालके दिग्ग सम्यका निबध होजा । पूर्वकालके दिग्गवाका एवं उत्तमताका निबध ही जानेपर उन्हें इच्छा होगी कि मन्त्रिशक्तता भी ऐसा ही उज्ज्वल होवे और इस इच्छासे प्रयत्न भी करेंगे । जिनका मूलकाल तपस्वी है, उनका मन्त्रिशक्तता भी तपस्वी होनेका निबध जानो ।
 हमारे प्राचीन पूर्वज जिन्होंने हमारे प्राचीन इतिहासमें बड़े बड़े बृहत् कार्य किये, अत्यंत तपस्वी और बड़े थे । हमारा इतिहास जंगली लोगोंका कार्यवाहीसे मलिन नहीं है, किन्तु महान् तपस्वी ऋषिमुनियोंके प्रशस्तताम कार्योंसे उज्ज्वल हुआ है । यह विचार कैसा भारी उत्तेजना देनेवाला है ! हमारी राष्ट्रभूमिके सब लोगोंका एक मत होकर वे सब राष्ट्रभूमिके प्रति प्रेम दर्शाने समें प्रेरणा होनेके लिए आश्चर्यकह कि ऊपरकी

भावना मनमें स्थिर हो आवे । हमारे विचारसे इसमें दो मत हो नहीं सकते ।

जिन्होंने धर्मांतर किया वे लोग भी अपने ही हैं । वे उन्हीं प्राचीन ऋषियोंके वंशज होते हुए भी धर्मांतरके कारण उन्हें अपने प्राचीन देहोत्पन्न इतिहासके विषयका अभिमान नष्ट हो गया । इससे इनकी बात छेड़ दे तब ऊपरके सिद्धान्तका कोई रुझान नहीं कर सकता ।

ऊपरके विवेचनसे विदित होता है कि यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रगत विद्वानोंके कानके दृष्टिसे वाचकोंके मनमें अपनी मातृभूमिके प्रति आदर बढाता है । इस अति प्राचीन राष्ट्रगीतके प्रति वाचकोंके मनमें निःसंदेह आदर उत्पन्न होगा ।

ऋषि लोग सत्र और यज्ञसे राष्ट्रकी उत्पत्ति और राष्ट्रकी आवृत्ति करते थे । वर्तमान संक्षिप्त यज्ञपद्धतिसे कोई भी प्राचीन सत्र और यज्ञकी कल्पना नहीं कर सकता । इस पद्धतिके स्वरूप इस स्तंभ लेखनालिखने दिखाने, अतएव यज्ञ उसके बारेमें विशेष न लिखेंगे । पहलेके वैदिक कालके यज्ञ और सत्र व्याजकालके समान छोट्टेसे मंडपोंमें नहीं हो सकते थे । उनके मंडपका विस्तार चहुँ कोनों तक रहा करता था । यह एक ही बात बतला देगी कि प्राचीन कालके यज्ञोंका स्वरूप बिलकुल भिन्न था । राष्ट्रीयताका विचार ऋषियोंके अथक परिश्रमसे जनतामें जागृत हुआ । इसलिए ऊपरके मंत्रोंमें " भूतकाल बनानेवाले ऋषि " कहकर उनका सम्मान किया है । इन्हींके संक्षेपका निम्नलिखित अर्थवैदिक मंत्र देखिये—

अग्निमरुच्छन्त ऋषयः स्वर्गद्वेषोद्गीषामुपनिषेदुग्मः ।

उषो राष्ट्रं बलमोत्रश्च जातं तदस्मि देवा उपसंनमन्तु ॥

(अथर्ववेद ११।४१।१॥)

" लोगोंका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले आरमज्ञानी ऋषियोंने प्रारंभमें तप किया, उससे राष्ट्र, बल और भोज हुआ अतएव देवोंको चाहिए कि इसे नमन करें । "

इसमें बतलाया है कि राष्ट्रीयताकी कल्पना ऋषियोंके प्रयत्नसे कैसे उत्पन्न हुई । वाचक देखें कि ऋषि ' भूतकाल बनानेवाले ' किस प्रकार थे । राष्ट्रीय भाव ऋषिक्रमण है । उसे सुझानेका प्रयत्न हरएकको करना चाहिए । ऋषियोंने राष्ट्रनिर्माणमें जैसे प्रयत्न किये वैसे ही अन्य पूर्वजोंने भी किये । उसका स्मरण करना भी आवश्यक है । आगेके मंत्रमें उन पूर्वजोंका स्मरण है—

६ (अ. घ. मा. अं. १५)

देव-प्रदण ।

यस्यां पूर्वं पूर्वजना विचारंर यस्यां देवा असुरानभ्यवयेयन् ।

गवामथानां वयसश्च विष्णु भगं वचः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

" हमारी जिस मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने पराक्रम किया और जिनमें देवोंन असुरोंका भगा दिया; जो यौने, धीरे और पक्षियोंको अच्छा स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे । "

हमारे प्राचीन कालके पूर्वजोंने इस भूमिमें बड़े बड़े प्रयत्न किये, अनेक लड़ाइयाँ की, अनेक घडाइयाँ कीं, गनोंकी नीतिके युद्ध किये और खुले मैदानमें लड़ाइयाँ कीं, इतना सब काम करके अपनी मातृभूमिका यश उज्ज्वल किया । वह हमारी मातृभूमि आज हमने कैसी रखी है ? हमारे पूर्वजोंका प्राचीन इतिहास हमारी दृष्टिके सामने है । क्या हम लोगोंका बर्ताव उस इतिहासके योग्य है ? उन समरविजयी पूर्वजोंके वंशज होनेका हमें कुछ तो अभिमान चाहिए । उनकी कीर्तिके शोभा देने योग्य हमें कुछ भी तो जान करना चाहिए । पाठक गण ! विचार कीजिये । हमारा वैदिक राष्ट्रगत क्या कहता है जरा देखिये तो ।

जिन देशमें प्राचीन समयमें देवोंने असुरोंको युद्धमें पराजित कर भगा दिया और हम लोगोंके लिये यह देश स्वतंत्र रखा, उसी देशमें हम लोगोंने पराधीनताकी कालिमा लगा दी ! कैसे शोक की क्या ! वाचक ही विचार करें कि राष्ट्रगत हमें किन बातोंका स्मरण दिलाता है । प्राचीन पूर्वजोंने यों किया और यों किया । ये बातें केवल दख अभिमान और गर्वके लिए नहीं कहें जाती । इनके करनेका उद्देश्य यह होता है कि उन पूर्वजोंके उज्ज्वल कार्योंसे हमें प्रेरित मिले और हम भी कुछ वैसा ही कार्य करें । हम लोगोंकी चाहिए कि उन उद्देश्य की पूर्ति हम लोगोंके कर्ता तक हो सके है यह देखें और उस नव-नशाको पूरा करनेका निश्चय करें ।

हमारा यह वैदिक राष्ट्रगत हमारे धर्ममयोंमें लिखा हुआ है । इसके जैसा राष्ट्रगत दूसरे देशोंके धर्ममयोंमें तो है ही नहीं, पर उन लोगोंके अन्य किसी ग्रंथमें भी नहीं है । ऐसा होते हुए भी हमारे देशके लोग राष्ट्रकी उन्नतिके विषयमें लापरवाह हैं और अन्य बहुतसे देशोंके लोग राष्ट्रके शिष्टके लिये तत्पर हैं । इस दृश्य को देखकर कैसा मारी अर्थ होता है ! हमारा राष्ट्रगत इतना विस्तृत है। उसमें उदात्त विचारोंके

अन्तिम निवारणे म्बाहव मो हुए दिव्य मंत्र है। ऐसा होते हुए
 ओ इमारे सर्वाङ्गमे राष्ट्रीयतावा म्ब द्वा नदी और वद भाव
 हमारे लिए पारधीय है इस प्रव रवा म्मस्य म्कनेशक्ति हरके
 गत हममे है। अम्बु, वातुद्विगति ऊनी है वही हमने जनताके
 सम्मुख रख दी है। "छाी उपजता द्वा वहा विद्वता नदी और
 जहा विद्वता है वहा उपजता नदी" की वद वत दहा परिवर्तन
 होती है। और देखिये-

यामत्रिनाशमिनातां विष्णुर्वस्या विक्रमे ।

इन्द्रो यी चक आम्बरेऽन मत्रा गोपयिरे ॥ १० ॥

सा नो मूर्तिर्विसृजतां माता पुत्रप म पय ॥ १० ॥

"जिस मूर्तको नाश अश्विना कुमराने की, जिस मूर्तमे
 मयवन् विष्णुने पराक्रम किया, साक्षात्ता इन्द्रने त्रिवे अग्ने
 लिए शत्रुद्विगत किया, वही हमारी मातृभूमि, जैसे माता अपने
 बालकको दूध देती है वैसे ही, मुझे उपयोगके पदार्थ देवे।"

इस मंत्रमे स्पष्ट शब्दोंमे बहुराया है कि देवोंने इस मातृ-
 भूमिके लिये क्या क्या किया। अश्विनाकुमर ने दग्धेरातीके
 क्षेत्रोंकी जाप की, देवोंको सोमए निष्कन भी जमान नय की
 और इस प्रकार मातृभूमिकी सेवा की। मयव न विष्णुने जो
 पराक्रम किये थे सबके विदित ही हैं। इन्द्रने इसमें युद्धभिये
 और इस मातृभूमिकी शत्रुके कर्ममे दुःख। इस प्रकार अम्बा-
 न्य देवताओंमे भी इस मातृभूमिके लिए अ कुश बन सज्जा
 है किया। उभमे कुश कसर न रखी। दश और प्रभुओंके युद्धमे
 हजारों देववर्गमे हुए मयभूमिके उद्धारके लिए युद्धक्षेत्रमे अपना
 बलि-दान किया और इन मूर्तका स्वयंभवाद्य संमन्वय प्राप्त
 किया। वही देवोंका प्रव हमें भी अपना चाहिए। देवोंने निष्कन
 किए हुए मागंधा ही निषव हम कोय भी करे। यह जानकर
 कि हम मागंधेके लिये दशोंने तथा उष समकके पुत्रोंके क्या
 क्या किया, हमें उनके अग्रेष्ठ सुदृष्टारा पनेका प्रदान करना
 चाहिए।

अथ वदय मंत्रमा है जो बतला दियाया, देवकाय के नवा है
 जो मा बतला दिया गया। इन अर्थोंके सुक्त होनेके लिए हमें
 प्रयत्नशाल बनना चाहिए। प्रत्येकके उपायना चाहिए, एक हम
 अहमसुक होनेकी क्या कर रहे हैं या नहीं। इस दृष्टिकोके
 वारिमे एक-ओर मंत्र दहन योग्य है-

यौ शकनवस्तुना शकनानौ देवा भूमि शुचिबीम मादम् ।

सा नो मनुष्येय दुशामयो उरुतु सर्वसा ॥ ७ ॥

"दिव जिस मातृभूमिकी रक्षा गमती न करके और अहम

न करके करते आए हैं, वह मातृभूमि हम लोगोंकी तेज और
 मंडा शत्रु अ देवानेके पदार्थ देवे।"

(अ स्वामा दवाः) आत्मन्य न करने हुए देव इस भूमिकी
 रक्षा करते आए हैं। आत्मन्य न कर करके काम करनेवाले उन
 देवका मनुष्य सबके होनेमे अस्वामी लोगोंको दामन भी चाहिए।
 न चकते हुए विभ्रंति म लेते हुए हम लोगोंके निरुत्थिन देवोंने
 ऐसे भारी परिश्रम किए, उनके उस पवित्र कार्यके बरतमें हम
 सांगने क्या किया ? उनका स्वागतकराया कार्य क्या हम
 लोगोंके बहाता है ? और कुश नहीं तो क्या हम लोगोंके राष्ट्रीय-
 सतिहा कार्य सदैव जारी रखनेका भी निश्चय किया है ? बावजू
 न भूले कि इन बातोंका विचार करनेका समय आ गया है।

स्वयंके मंत्रमें वद भी कहा है कि (देवा अम्बारे रक्षन्ति)
 देव गमती न करके रक्षा करते हैं। गमती न करके रहस्य
 किया हीने तो दव अंधनमे सुदृष्टारा पा सके। अमुर्वि
 अनेक बार देवोंको विरथातकी परधीनताकी बेहोमी अहम
 देना बाधा। राधा, बली और इनके सहाय अम्बराएँमे इस
 प्रकारमें कुश भी कसर न रखी। किन्तु ऐसे सब अहमत्तोंका
 देवोंने पुत्र्य वैधीपराकृष्ठा कीपी, अपनी स्थापना बनाए रखी
 और अमुर्वि मग दिया। गमती न कर दृष्टतमे अहम
 कनेछ ओ हीहा देवोंने हमें दी। क्या हमें उसका अम्बन
 सावधानाने न करना चाहिये ? स्वदेशके कार्यमें हम लोगोंकी
 दृष्टता क्या वैधी है, वैधी हानी चाहिये ? हम लोग मिले
 ठठके काज पय पय पा क्या जारी भूमें नहीं कर रहे ?
 वास्तवमें राष्ट्रीयके लिये काजसर्वपय करनेको हमें सदैव
 तैयार रहना चाहिये। किन्तु आत्मसमर्पण समय अनेक
 उषकी और अहान्य न देनेवाले वितने ही लोग हममें हैं।
 यदि बावजू स्वयं ही इस बातको सोचने तो उन्हें विदित हो
 जायिगा कि हमें क्या करनेको अ बरकरा है।

विद्वानोंका श्रम ।

किसीका या राष्ट्रीय हम देख कुंके। देखने क्या भिया
 हो मा देख लिया। हमें अर देखना है कि जो कवि नहीं
 उन मननशील बुद्धिमान पुरवने कौनका कार्य करके राष्ट्रीय
 सेवा की—

पादपर्ववशिष्य स हेलमम्य कापीर्तां मावाभिराभ्यकरमतीदिनाः ।
 या नो मूर्तिस्तथैव बहं राष्ट्रे वहायुधमे ॥ ८ ॥

“ हमारी जो मातृभूमि प्रथमार्थमें समुद्रके नीचे थी और त्रिवेदी सेवा मनमानी विद्वानोंने अनेक प्रकारके कौशलके काम करके की, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल प्राप्त करे । ”

इस मंत्रका ' यो मायाभिः अन्वचरन् मनीषिणः ' यह भाग प्रस्तुत लेखके प्रतिपाद्य विषयकी दृष्टिसे अतिशय महत्त्व रखता है। इसका ' माया ' शब्द अतीव महत्त्वका है। इस माया शब्दका अर्थ अद्वैतमतका मायावाद नहीं है; माया शब्दके कई अर्थ हैं— (१) कुशलता, कामकी कुशलता, कौशलके विधा हुआ कारीगरका काम, चतुर्थ, (२) कपट दास्यके चित्रकी आवश्यक्ता राजनीतिमें है चतुर्थो चक्रमा देनेकी विधा। ” ये सब अर्थ माया शब्दके ही हैं। इन तीनों अर्थोंसे माया शब्द मंत्रमें आया है। (मनीषी) मन्वन्तकी लोच समझके देखकर कुशलतामें, चतुर्थाईसे, कपट-से, वा राजनीतिके नियमोंसे मातृभूमिकी सेवा करते हैं। यही इस मंत्रका आशय है।

इस प्रकार देव, ऋषि, और अन्य विद्वानोंने हमारी मातृभूमिकी सेवा की है। जो मार्ग ऋषि, देव और अन्य बड़े बड़े ज्ञानी लोगोंने दिखा दिया, उन्हींमें हमें आश्रय करना चाहिए, उसी रास्तेमें हमें जाना चाहिए। तभी हमारी मजहू होगी। हमपर तीन ऋण हैं; ऋषि-ऋण, देव-ऋण और अन्य ज्ञानियोंका ऋण। हमें इन ऋणोंको देखना चाहिये और उनसे मुक्त होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

इस लेखके वैदिक राष्ट्रीयके मंत्र हमारे राष्ट्रीय कर्तव्यका संबंध ऋषि-ऋणकी बड़ी विभूतियोंसे मिश्रित है। “हमारा अक्षय्य राष्ट्रीय कर्तव्य ऋषियोंने आरंभ किया, देवोंने उसकी पुष्टि की और अन्य विद्वानोंने उसे बढ़ाया। इस त्रिवेणी-संघममेंसे, यह हमारे पास आया है। इसीमें हमें उतसे आश्रय लेना चाहिए। उसे चलाना हमारा आवश्यक कर्तव्य ही है। यदि हम उस कामकी नहीं चलाते तो ऋषि और देव हमें अक्षय्य पछेंगे। हरएकको यह बात अच्छी तरह स्मरण रखनी चाहिए।

बाबक विचार करें, इस मंत्रके उपदेशपर अच्छी तरह ध्यान दें और देखें कि हमारा धर्म कैसे बिलक्षण और उत्कृष्ट राष्ट्रीय धर्मका उपदेश करता है; और वे उसके अनुभार आचरणके लिए तत्पर हों। हमारे राष्ट्रको संसारके राष्ट्रोंमें उत्कृष्ट

उत्तम स्थानपर पहुँचानेकी जवाबदेही हमपर ही है। उसे निभानेके लिए हमें सदैव तैयार रहना चाहिए।

मंत्रोंकी संगति ।

यहाँ इस विषयको समाप्त करते हुए हमें इस सूक्तके मंत्रोंकी संगति देखनेका विषय थोड़ासा बयान करना चाहिये। इस सूक्तमें कुल ६३ मंत्र हैं। इनमें सबसे प्रथमके मंत्रमें मातृभूमिकी घाणना किन गुणोंसे होती है यह बात बर्ना है, इसलिए यह मंत्र सबसेअधिक महत्त्वका है। प्रत्येक राष्ट्रमन्त्रको उचित है। कब इस मंत्रको देखे, विचारे, मनन करे और इन गुणोंको अपने अंदर बढाकर अपने आपकी मातृभूमिकी सेवा करनेके लिये सुधेयय बनावे।

द्वितीय मंत्रमें राष्ट्रके लोगोंके अन्दर आपसकी अभिरुचि प्रता चाहिये, तथा आपसी झगडे नहीं चाहिए, इत्यादि जो महत्त्वपूर्ण उपदेश कदा है वह सदा स्मरण करने योग्य है। तृतीय और चतुर्थ मंत्रमें सामान्यतया भूवर्णन है, परंतु उनमें (कृषयः संभ्रमुः) किसानोंकी संघटनाका जो वर्णन है वह समाप्त महत्त्वका विषय है।

पंचम मंत्रमें पूर्वजके पराक्रमों (पूर्वं पूर्वजना विचकिरे) का स्मरण करनेकी जो सूचना मिली है वह आबालवृद्धोंकी कमी मूलना चारय नहीं। जो अपने पूर्वजोंका महत्त्वपूर्ण इतिहास नहीं जानते वे निःसंदेह आगे बढ नहीं सकते। इस कारण यहाँ यह उपदेश किया है। साथसे मंत्रमें मा- (अस्वप्न भूमि अप्रभातं गहनं) आन्तरिकहीत होकर मातृभूमिकी रक्षा करनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश है। इनका पंचम मंत्रके साथ संबंध देखकर पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सकते हैं।

मंत्र ६ और ७ में मातृभूमिका मनोहर वर्णन है। नवम मंत्रमें तद्द्वारचरित संन्यायियोंके संचारसे सर्वत्र ज्ञानप्रसार होकर सब प्रजाजनोंके अन्तःकरण ज्ञानविज्ञानके द्वारा शान्तिसे भग्य होनेका बोधप्रद वर्णन है। दशम मंत्रमें इन्द्र और ऋषिभ्युके पराक्रमोंका जो बयान है, वह ५ वें और ७ वें मंत्रसे साथ मिल कर पढ़ना चाहिए, तब उसकी संपूर्ण गंभीरता ध्यानमें आ सकती है। ११ वें मंत्रमें (अजीता अहं पृथिवीं अधृष्टां) ' मैं अजिह्व होकर मातृभूमिका अधिष्ठाता ' यह उत्कृष्टपूर्ण महत्वाकांक्षी राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यमें उत्पन्न होनेकी चाहिये, ऐसा जो सूचित किया है वह विशेष ही उत्तम संदेश है।

१३ वें मंत्रमें ' माता भूमि और उसका भैं पुत्र हूँ ' यह मातृभूमि और वरसका प्रेम सूचित करनेवाला वाक्य पठकर प्रत्येक पाठक प्रेमसे सन्तुष्ट होगा इसमें संदेह नहीं है । १३ वें मंत्रमें यज्ञका संदेश पाठक देखे । १४ वें मंत्रमें वीरोचित भाषा बड़ी क्षाम्बतेज बढ़ानेवाली है । ' जो हमारा माता करेगा उसका नाश हम करेंगे और आपि बडेगे ' इस पठकर किममें वीरता न बढेगी ? १५ वें मंत्रमें एकही मतासे उत्पन्न हुए पांच मानवजातियोंकी अभेद्य एकताका सुंदर वर्णन है । १६ में १८ तकके मंत्रोंमें ' भूमि विश्वहा अनुचरंम] हम मातृभूमि-की प्रतिदिन सेवा करेंगे ' यह प्रतिज्ञा सबके अपने मनमें धारण करने योग्य है । क्या कभी ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले मातृभूमि-की उपेक्षा करेंगे ?

१९ वें मंत्रमें ३१ वें मंत्रतक मातृभूमिका सुंदर वर्णन अलंकारसे भरपूर भरा हुआ है । अग्नि, यज्ञमें हवन, पृथ्वीका गन्धगुण, वनस्पतियोंकी उत्तमता, जलकी महत्ता आदि वर्णन देखनेसे सचमुच हृदयका आनंद बढता है । मंत्र ३० वें में (परिधायिनी वध) बटमारोंका वध आदि द्वारा शासन करनेकी सूचना है । मंत्र ३३ वें में सूर्यप्रकाशसे जेवादि वृद्धियोंकी उत्तम पालना करनेका महत्त्वपूर्ण संदेश दिया है । ३४ वें मंत्रमें ' अहिता ' और ३५ वें मंत्रमें मर्मरुद्धेद न करनेका उपदेश विलक्षण युक्तिके साथ दिया है ।

३६ वें मंत्रमें छः ऋतुओं, दो अथनों और अष्टांगयज्ञका उल्लेख संव सार्वककी परिपूर्ण बन्पना बता रहा है । ३७ वें मंत्रमें इन्द्रहृत्पुत्रके मिथसे अपनी मातृभूमिके सब शत्रुओंको टट करनेकी सूचना बड़ी मननीय है । ३८ वें मंत्रमें शोषयज्ञका बडाही मनोरञ्जक वर्णन है । सत्र और यज्ञसंस्थाके चलाने-वाले ऋषियोंके अर्पण उत्कर्ममार्गका प्रशंसापूर्ण उल्लेख ३९ वें मंत्रमें है ।

४० वें और ४४ वें मंत्रमें धनकी कामना प्रमुख स्थान रखती है । ४१ वें मंत्रमें जनतका गायन, नर्तन और आनन्दके साथ नगरवर्तिका उल्लेख है । यह राष्ट्रीय जीवनकी तेजस्वि-

ता बता रहा है । ४२ वें मंत्रमें मातृभूमि-को नमन किया है ।

४३ वें मंत्रमें अपने राष्ट्रमें देवोंद्वारा बनाये, बचाये और बढाये गरीके विषयमें पूज्यभाव धारण करनेका उपदेश है । अपने लिये जगत्की सब दिशाएं रमणीय होनेका महत्त्वपूर्ण भाव इसमें पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं ।

४५ वां मंत्र ' नानाधर्मोश्चाले और नानामाषावाले विविध जनोंकी एकता राष्ट्रमार्गसे होगी ' यह महत्त्वपूर्ण उपदेश देता है, इसलिए यह मंत्र अनेक भेदोंसे विभक्त रहनेवाले और कारणके बिना आपसी झगडे बढानेवाले लोगोंको बडाही बोधप्रद है । ४६ वें मंत्रमें जहरीले जीवोंके साथ मानवोंमें न आये, ऐसा कटकर उद्ग्रह बढानेका उपदेश अर्पण रीतिसे किया है ।

४७ वें मंत्रमें सार्वजनिक स्थानपर सबका समान अधिकार होनेकी घोषणा की है । सुराचारी और सदाचारी मार्गपर समान अधिकारसे चलते हैं । इस सार्वजनिक स्थानमें हर एक मनुष्य जा सकता है । यहाँ एकके आजा और दूसरेको प्रति-बंध नहीं हो सकता ।

मातृभूमि-की वर्षा और सदाचारी पुत्ररूपेण समान है, यह भव मंत्र ४८ में देखनेयोग्य है । ४९ से ५१ के तीन मंत्रोंमें पशुओं, पशुआदिषु और पक्षियोंका वर्णन है । मंत्र ५२ और ५३ में प्रिय घाम और मेधा की शान्तिका कथन है ।

५४ वें मंत्रमें अपने दिग्विजयकी महत्त्वपूर्णता है । ५५ वें मंत्रमें वारों दिशाओंमें उत्तरार्ध फैलानेका संदेश है । और ५८ वें मंत्रोंमें सार्वजनिक समाजोंमें मातृभूमिके विषयमें श्रुत भावसे साधन करनेका उपदेश है । ५७ वें मंत्रमें सेनाकी तैयारीका वर्णन है । मंत्र ५९ से ६१ तक उषसधारण उपदेश है । ६२ वें मंत्रमें मातृभूमिके हितके लिए आरमभमर्षण करनेका आदेश है और ६३ वें मंत्रमें सब प्रजाओंकी सुप्रतिष्ठा रियर करनेका संदेश देकर सुवतकी पूर्णता की है ।

पाठक यह धर्मगत देखकर इस सूक्तका मनन करें और बोध प्राप्त करके यथाके भागी बनें ।

यक्षमरोगनाशन ।

[२]

(ऋषिः—भृगुः । देवता—अग्निः, मंत्रोक्ताः २१-३३, मन्त्रः)

नृदमा रोह न ते अत्रं लोक इदं सीसं मागधेयं तु एहिं ।
 यो गोपु यक्षमः पुरुषेषु यक्षमुस्तेन त्वं साकर्मघराह परीहे ॥१॥
 अघुशंसदुःशंसाम्भ्यां कुरोणानुकुरेण च । यक्षमं च सर्वं तनेतो मृत्युं च निरंजामसि ॥२॥
 निरितो मृत्युं निश्कृतिं निररातिमजामसि ।
 यो नो द्वेष्टि तमद्वयमे अकल्प्याद् यष्टुं द्विष्मस्तमुं ते प्र सुवामसि ॥३॥
 यद्यग्निः कृत्वाद् यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविशेद्याभ्योकाः ।
 तं मापाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुपदोऽप्यग्नीत्र ॥४॥

अर्थ— (नहं आरोह) नहर वर, (तं अत्र लोकः न) तरे लिये यहाँ स्थान नहीं है । (इह सीसं ते मागधेयं) यह सीस तेरा माग्य है । (यदि) तू हथर था । (यः गोपु यक्षमः) जो गौतमों क्षयरोग है, (इत्येषु यक्षमः) जो मनुष्योंमें रोग है, (तेन साकं त्वं अघराह परा इहि) उस रोगके साथ तू नीचेकी ओरसे जा ॥ १ ॥

(अघशंस-दुःशंसाम्भ्यां तेन कर्णं अनुकरणं च) पापी और दुष्टके साथ वग कृति और अनुकरणके द्वारा (सर्वं यक्षमं मृत्युं च) सब रोग और मृत्युको भी (इतः निरंजामसि) यहाँसे दूर करते हैं ॥ २ ॥

(इतः मृत्युं निः) यहाँसे मृत्युको (अरतिं निः अरातिः निः अजामसि) दुःखको और शत्रुको दूर भगा देते हैं । हे अग्ने ! (यः नः द्वेष्टि) जो हमारा द्वेष करता है (तं न द्विष्टि) उसको खो अर्थात् उसका नाश कर । (ये उ द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं (तं उ ते प्रसुवामः) उसको तरे पान पर देते हैं ॥ ३ ॥

(यदि कश्चाद् अग्निः) यदि मान्य खानेवाला अग्नि और (यदि वा अग्नि—शोकः इत्यादिः) यदि घरवारसे रहित व्याघ्र—हिसक— (इमं गोष्ठं प्रविशेद्य) इस गोष्ठालमें प्रविष्ट हुआ हो (तं मापाज्यं कृत्वा) उसे माप—घी—शुद्ध बनाकर (दूरं प्रहिणोमि) दूर भगा देता हूँ, (सः अप्सुपदः अग्नीन् गच्छतु) वह जलोमें रहनेवाले अग्निपौके पाल जाये ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस रोग मनुष्योंके स्थानमें न रहे । किसी दूरके स्थानपर यह चला जाया जो रोग मनुष्यों और पशुओंमें हो, वह एकदम दूर होये । सब मनुष्य और पशु नोरोग और स्वस्थ हों ॥ १ ॥

सब रोग पापियों और दुराचारियोंके साथ दूर बके जायें । वैधी ही कृति और अनुकृति होये कि जिससे सब रोग दूर हो सकें ॥ २ ॥

यहाँसे मृत्यु, दुःख, दरिद्रता और शत्रु दूर हों । हम सब इसका द्वेष करते हैं, इसलिये ये हमारे पास न रहे ॥ ३ ॥
 प्रतदाहक अग्नि यदि विशुद्धि के धर्ममें प्रविष्ट हुआ हो अर्थात् यदि विशुद्धि के धर्म विशुद्धि मृत्यु हुई हो, तो वहाँ मापाज्यविविधि होनेके पश्चात् उस बरका वह मृत्युवग दूर होये अर्थात् मृत्यु फिर यहाँ न आवे ॥ ४ ॥

यत् त्वां क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मनुना पुष्टये मृते । सुकल्पमग्ने तत् त्रुया पुनस्त्वोर्हीपयामसि ॥५॥
 पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने ।
 पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुताय शतशारदाय ॥६॥
 यो अग्निः क्रुव्यात् प्रत्रिवेशं नो गृहामिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम् ।
 तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं तं धर्माभिन्धां परमे सुधस्ये ॥७॥
 क्रुव्यादग्निं प्र हिणोमि दूर यमराज्ञो गच्छतु रिपराहः ।
 इहायमितरो जातवेदा देवो देवेभ्यो हव्यं बहंतु प्रजानन् ॥८॥
 क्रुव्यादग्निमिपितो हरामि जनान् इहन्तं वज्रेण मृष्युम् ।
 नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितृणां लोकऽपि भागो अस्तु ॥९॥

अर्थ—(मृते पुष्टये) मनुष्य मानेपर, यत् क्रुद्धा मनुनात्वा प्रचक्रुः) जा बरुद्ध ठोकर क्रोधसे तेरा मनुष्य करत है दे मने । (त्रुया तत् सुकल्पं) तेरे द्वारा वह अन्याय ठीक होनेयोग्य है । अतः (पुन त्वा उक् दीपयामसि) फिसे तुझे प्रदीप्त करते हैं ॥ ५ ॥

हे अग्ने ! (आदिप्या, रुद्रा, वसव) अदित्य रुद्र और वसु, (वसु—नीति ब्रह्मा ब्रह्मणस्पति) धन देने-वाला ब्रह्मा और ब्रह्मणस्पति (शतशारदाय दीर्घायुताय शतपुन अथात्) सौ वर्षकी दीर्घ आयुके लिये तुझे पुन दियापित करते हैं । ६ ॥

(य क्रुव्यात् अग्निं) जो मांभभक्त अग्नि (इतरं जानवेदम पश्यन्) हमारे जातवेदम् अग्निको देखना हुआ (यः गृह प्रविवेश) हमारे घरमें प्रविष्ट हुआ है, (त पितृयज्ञाय दूर हरामि) उस अग्नि को पितृयज्ञके लिये दूर ले जाया हूँ, (स परमे सुधस्ये धर्म इन्धा वद परम धाममे दण्डना बढावे ॥ ७ ॥

[क्रुव्यात् अग्निं दूर अहिणोमि] मांसभक्त अग्निको दूर ले जाना हूँ । वह [रिपराहः यमराज गच्छतु] दीप दूर करनेवाला यमराजके पास चला जावे । [इह वज्रेण इतरं जातवेदं] परां यः दुसरा जातवेद अग्नि है वह [प्रजानन् देव देवेभ्य हव्यं बहंतु] जानना हुआ देव सब देवोंके लिये हवनीय भाग ले जावे ॥ ८ ॥

[जनान् वज्रेण मृष्यु इहन्तं] लोगोंको वज्रेके द्वारा मृष्युके प्रति ले जानेवाले [क्रुव्यात् अग्निं इपितः हरामि] मांभभक्त अग्निको इच्छापूर्वक ले जाता हूँ । (विद्वान् गार्हपत्येन त निशास्मि) जानता हुआ मैं गार्हपत्य अग्नि-द्वारा उसका शासन करता हूँ । उसका (पितृणां लोकः) भाग अपि अस्तु । पितरोंके लोकमें भाग अवश्य रहे ॥ ९ ॥

अर्थात्—दिही घरपर कोई मनुष्य मर गया तो वहा उसको जलानक लिये अग्नि कथित तत्र अर्थात् प्रज्वलित करत है । उससे आगे किसी प्रकार भय न हो । फिसे अग्नि प्रदीप्त करनेपर सर्वत्र शांति हो जावे ॥ ५ ॥

घरमें यज्ञदि कानेके लिये जो अग्नि स्थापित करते हैं उससे उन घरवालाका लो वषकी दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है ॥६॥ एक प्रेतमांसभक्त अग्नि है और दूसरा यजनका अग्नि है । प्रेतदाहक अग्नि पितृयज्ञ करे और उद्य यज्ञकी पितरोंके परले स्थानमें ले जावे ॥ ७ ॥

प्रेतमांसभक्त अग्नि मनुष्यस्थानमें दूर रहे अर्थात् प्रेतोंका दहन मनुष्यस्थानमें दूर होवे । परंतु जो यह दूसरा जातवेद नामक अग्नि यजन करनेके लिये स्थापन किया जाता है, वह हवनद्वारा दवतारां तृप्ति करता रह अर्थात् वह मनुष्योंके घरोंमें रहे ॥ ८ ॥

मनुष्योंके पेटोंका दहन करनेवाले अग्निके कार्यकी शांति गार्हपत्य अग्निसे अर्थात् विवाहके समयके अग्निसे करते हैं । अर्थात् इनका कार्य परस्परभिन्न है । एकसे वधका नाश और दूसरेसे वधशक्ति होती है ॥ ९ ॥

ऋष्यादमग्निं शशपानमुक्थ्यं १ प्रहिणोमि पथिभिः पितृपाणैः ।

मा देवयानैः पुनरा गा अत्रैवेधि पितृपुं जागृहि त्वम् ॥१०॥ (७)

समिन्घते सङ्कसुकं सुस्तयं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।

जहाति रिप्रमत्पेन एति समिद्धो अग्निः सुपुनां पुनाति ॥११॥

देवो अग्निः संकसुको दिवम्पृष्ठान्यारुहत् । मूच्यमानो निरेणसोऽमोऽस्माँ अशस्त्याः ॥१२॥

अस्मिन् वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृजमहे ।

अभूम यज्ञियांः शुद्धाः प्र ण आयुषि तारिपत् ॥१३॥

संकसुको विकसुको निरुक्तो यश्च निस्वरः । ते ते यक्षं सर्वेदसो द्राद् दूरमनीनशन् ॥१४॥

यो नो अक्षेपु वीरपु यो नो गोष्वजाविपु । ऋष्यादुं निर्णुं दामसि यो अग्रिर्जनोपेन ॥१५॥

अर्थ— (उद्धृतं शशपानं ऋष्यादं अग्निं) प्रमोसनाय गतिमान् मासमक्षक क्षान्तिको (पितृपाणः पथिभिः प्रहणानिम्) पितृपाणके मार्गसे दूर भगाता हूँ । देवयानैः पुनः मा आताः) देवयानके मार्गसे पुनः यहाँ मत आ । (अत्र एव पथि) यहाँ रह (एवं गितुपु ज. गृह) ए पितृगोमि जागत रह ॥ १० ॥

(शुचयः प वकाः शुद्धाः भवन्तः) शुचि, चित्र और शुद्ध होकर (स्वस्थये संवसुर्दं सं इन्धने) कल्याणके लिये विदेशक क्षान्तिको प्रदीप्त करते हैं । वह (अत्रं जहाति) दुष्टको त्यागता है और (एनः अति एति) पपका क्षतिकमण करता है । (अग्निदः सुपुना अग्निः पुनाति) प्रदीप्त हुआ पवित्रता कनेनाला अग्नि सबको पवित्र करता है ॥ ११ ॥

(संकसुकः देवः अग्निः) विदेशक अग्नि देव (दिग् पृष्ठानि आरुहत्) गुणोक्तके ऊपर चढ़ा है, वह (अस्मान् पुनसः विमुच्यमानः) हम सबको पापों छुड़ाना हुआ (अ-पारत्याः अमोक्) अन्वशततासे मुक्त कर देता है ॥ १२ ॥

(अग्निम् संकसुके अग्नी) इस विदेशक अग्निमें (वयं रिप्राणि मृजमहे) हम सब अपन दोषोंको शुद्ध करते हैं । इससे (यज्ञियाः शुद्धाः अभूम) हम पवित्र और शुद्ध होते हैं । वह [नः आयुषि अतारिपत्] हमारे आयुष्य बढ़ाये ॥ १३ ॥

(संकसुकः विकसुकः) संपातक और विपातक [निरुक्तयः यः च निस्वरः] विनाशक और घातकहित अग्नि (ते ते यक्षं) तारे रोगको, (सर्वेदसो द्राद् दूरमनीनशन) ज्ञान गले प्राणक द्वारा दूरसे दूरकर नाश करे ॥ १४ ॥

(यः नः अक्षेपु यः वीरपु) जो हमारे घोड़ों भार वीरोंमें, (यः नः गोपु जजाविपु) जो हमारी गौबोमें और भेड़करीयोंमें, (जनोपेनः अग्निः) लोगोंको कष्ट देनेवाला अग्नि है, उच [ऋष्यादं निः पुनामसि] मांसमक्षक क्षान्तिको हम दूर करत है ॥ १५ ॥

भावार्थ— पितृ-पथके जानेके मार्गपर (स्पृशानमे) यह मांसमक्षक क्षान्तिके और देवोंके मंगल मार्गपर द्वारा यजनका काम है ॥ १० ॥

मनुष्य शुद्ध पवित्र और मंगलहित होकर अपने कल्याणके लिये इस अग्निको प्रदीप्त करते हैं । इससे सब दोष दूर होते हैं, पाप दूर होता है और पवित्रता बढ़ती है ॥ ११ ॥

यह अग्नि पर्वत होकर लक्षकी प्वालार्थे आकाशतक, जाती है, और हमें पापसे बचाती है और अपशुस्तमार्गसे हमारी रक्षा करती है ॥ १२ ॥ इस अग्निमें हम सबको शुद्ध करते हैं और हम अपने दोषोंको शुद्ध करते हैं । इससे हम शुद्ध, पवित्र और यज्ञके योग्य बनकर अपनी आयुको बढ़ाते हैं ॥ १३ ॥

यग्निमें संपातक, विपातक गुण हैं, इनका ज्ञानपूर्वक प्रयोग करनेसे, ज्ञानी योग्य इनको सदावस्थासे रोगोंको दूर कर सकता है १४ इस तरह घोड़े, वीर, गौबे भेड़, बकरीयों आदिको बीरोग करना समभव है ॥ १५ ॥

अन्यैर्म्यस्त्वा पुर्णैर्म्यो गोम्यो अक्षैर्म्यस्त्वा ।

निःश्रुत्यादं नुदाममि यो अग्निर्जीवितुपोपनः

॥१६॥

यस्मिन् देवा अमृजन् यस्मिन् मनुष्या उव । तस्मिन् घृत्स्त्रावो मृत्वा स्वमग्ने दिवो रुह ॥१७॥

सर्पिदो अत्र आहुत न नो माभ्यपक्रमीः । अत्रैव दीदिहि घृति ज्योक् च सूर्ये दृष्टे ॥ १८ ॥

सीसे मृद्द्वं नडे मृद्द्वमग्नौ संकसुके च यद् । अयो अयो रामायो श्रीपुक्तिमुपवर्हेण ॥१९॥

सीसे मलं सादयित्वा श्रीपुक्तिमुपवर्हेण ।

अव्यामसिक्न्यां मृत्वा शुद्धा भवत यत्रियाः

॥ २० ॥ (८)

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्त एष इतरो देवयानाद् ।

चक्षुष्मते शृण्वते ते त्रयीमीहमे वीरा वृहवी भवन्तु

॥ २१ ॥

अर्थ- (यः जीवपीनः अग्निं सं श्रुत्यादं) जो जीवनादक कृपाद् अग्नि है उक्तको (अन्नेनः पुष्टयेनः योग्यः अर्थेन्यः) अन्य मनुष्यों गोम्यो अक्षैर्म्यो (नि नुदाममि) नि-दोष रीतिसे दूर हटाये है ॥ १६ ॥

हे अग्ने ! (यस्मिन् देवाः मनुष्यः) तिममें देव गुप्त हुए, (उव यस्मिन् मनुष्याः) और विद्वाने मनुष्य भी शुद्ध हुए, (यस्मिन् घृत्स्त्रावः मृत्वा) उसमें मृत-आहुति देकर, गुप्त होकर [एवं दिवो रुह] वृ स्वर्गतर चर ॥ १७ ॥

(आहुत अग्ने !) आहुति दिये हुए अग्नि ! (समिद्धः सः नः मा अग्नि अरक्षमीः) प्रदीप्त होकर दू इनका अतिक्रमण मत कर । (अय एव घृति दीदिहि) यहां पुष्टयानमें प्रकाश हो । (सूर्ये ज्योक् दृष्टे) सूर्यको नितंवर इन देखे ॥ १८ ॥

(यद् सीसे मृद्द्वं) जो सीसेमें लगा, जो (नडे मृद्द्वं) नदमें लगा, जो जो [संकसुके अग्ने] विनाशक अग्निमें उपकर लगा है, (अयो अयो रामायो उपवर्हेण सीपेहि) और जो अक्षमें काष्ठे रंगवालीमें तथा सिर रखनेके सिरानेमें लगा है, तम मलको गुप्त करो ॥ १९ ॥

(सीसे मलं सादयित्वा) सीसेमें मल गुप्त करके, (उपवर्हेण सीपेहि) विनाशकर सिर रखकर, (अक्षिक्न्यां अग्नां मृत्वा) काली अक्षमें गुप्त करके (यत्रियाः शुद्धाः भवत) पवित्र और शुद्ध हो जाओ ॥ २० ॥

हे मृत्यो ! (देवयानाद् इतः यः ते एव) देवयानसे निष्पन्न जो देवा यह नाम है, उस (परं पन्थां अनुपरा दृष्टि) परते मार्गसे दूर चला जा । (चक्षुष्मते शृण्वते ते त्रयीमि) आँखवाले और सुननेवाले तुझमें यह कहना है । (हमे वीराः बहवः भवन्तु) वे वीर बहुत हों ॥ २१ ॥ (अ० १-११८१, पञ्च० ३५७)

भाषार्थ— इनके प्रेमादक अग्निको दूर करना योग्य है ॥ १६ ॥
दक्षसे देवताओंको बुद्धि हुई, राजक भी दक्षसे गुप्त बने । इस तरह दक्षमें घृतकी आहुतिदा देनेसे मनुष्य गुप्त होकर उत्तम स्थान प्राप्त कर सकता है ॥ १७ ॥

दक्षकी अग्नि प्रदीप्त होकर पादादके ऊपर न आवे । अपनी दक्षकालमें प्रदीप्त होकर रहे । उदात्तक सूर्यको अतीतरेन देखे । ८
जदा जहां मल लगा हो वह स्थान गुप्त और पवित्र करना चाहिये ॥ १९-२० ॥
मनु इन सबसे दूर रहे, हमारे पास न आवे । हमारे सबकसे दृष्टदृष्ट और नीरोग तथा दीर्घजीवी बनें ॥ २१ ॥

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभृद् भद्रा देवहृतिर्नो अद्य ।
 प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदधमा वदेम ॥२२॥

इमं जीवन्म्यः परिधिं दधामि मैपां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
 मृतं जीवन्तः शरदः पुरुचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥२३॥

आ रौह्तायुर्जैसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्य ।
 तान् वृस्त्वष्टी सुजनिमा सजोपाः सर्वमार्युर्नयतु जीवनाय ॥२४॥

ययाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्वं ऋतुभिर्यन्ति साकम् ।
 यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा घातरायुषि कल्पयैषाम् ॥२५॥

अर्थ—इमे जीवाः मृतैः आ ववृत्रन् (ये जीविण लोग मरे हुआसे धिरे हुए हैं । (नः देवहृतिः अय मद्रो अमृत) हमारी ईश्वरप्रार्थना आज कल्याणमयी हो गयी । (नृतये हसाय धान्धः अगाम) नृत्य गौर हास्यके लिये हम सब आगे बढ़ें और हम (सुवीरासः विदधं आ वदेम) उत्तम वीर होकर युद्धका विचार करेंगे ॥ २२ ॥ (ऋ० १०।१८।१)

(जीवन्म्यः इमं परिधिं दधामि) जीवोंके लिये मैं यह मर्यादा देता हूँ । (एपां अपरः एतं अर्थं मा नु गात्) इनमेंसे कोई एक भी इस अर्थके पार कभी मत जावे । (दातं शरदः पुरुचीः जीवन्तः) अतिदीर्घ सौ वर्षोंका जीवन अनुभव करते हुए (पर्वतेन मृत्युं तिरो दधतां) पर्वतके द्वारा मृत्युको परे रखें ॥२३॥ (ऋ० १०।१८।२; यजु० ३।५।५)

(आरसं वृणानाः आयुः आरोहत) वृद्धावस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घ आयुको प्राप्त करो । [अनुपूर्वं यतमानाः यति स्य] एकके पीछे दूसरा सिद्धि तक प्रयत्न करता रहे, चलनें रहे । [सुजनिमा सजोपाः स्वष्टा] उत्तम जन्मवाला उत्साहवाला स्वष्टा [तान् वः जीवनाय सर्वं आयुः न्यतु] आप सभको दीर्घजीवनके लिये संपूर्ण आयुतक ले जावे ॥२४॥ [ऋ० १०।१८।१]

[यथा अहानि अनुपूर्वं भवन्ति] जैसे दिन एकके पीछे दूसरा ऐसे आते हैं । [यथा ऋतवः ऋतुभिः साकं यन्ति] जैसे ऋतु ऋतुओंके साथ चलते हैं । [यथा एवं अपरः न जहाति] वैसे पहिलेको दूसरा नहीं छोड़ता, हे धाता ! [एवा एपां आर्युषि कल्पय] इनकी आयुकी योजना कर ॥ २५॥ [ऋ० १०।१८।५]

साधारण—यहो जी लोग जीवित हैं वे चारों ओरसे मृतोसे धिरे हैं अर्थात् उनके चारों ओर मृत जीव हैं। हम ईश्वरप्रार्थना करके कल्याण प्राप्त करें। हम हास्यमें और नृत्यमें अपना मंगल समय व्यतीत करें। हम सब उत्तम वीर बनें और युद्धमें अपना शौर्य प्रकट करें ॥ २२ ॥

जीवोंके लिये आयुष्यकी मर्यादा निश्चित हुई है। कोई मनुष्य इस दीर्घजीवनकी मर्यादा न तोड़े अर्थात् अल्पायुमें न मरे । सब लोग अतिदीर्घ आयुतक जीवित रहें और मृत्युको दूर करें ॥ २३ ॥

वृद्धावस्थाको प्राप्त होकर दीर्घ आयुका स्वीकार करें। एकके पीछे एक अर्थात् वृद्धके पश्चात् तरुण चले, वृद्धके पूर्व तरुण न मरे । दीर्घ आयुष्यको प्राप्त करनेका यत्न प्रत्येक करे । ईश्वर सब यत्न करनेवालोंको दीर्घायु देवे ॥ २४ ॥

जैसे दिनके पीछे दिन, ऋतुके पीछे ऋतु और जैसे पहिलेके पीछे दूसरा जाता है वैसे ही वृद्धके पीछे तरुण चले जावें, वृद्धोंके पूर्व कोई न मरे अर्थात् सब लोग वृद्ध होकर ही पूर्ण आयुकी समाप्तिपर मरे ॥ २५ ॥

अश्मन्वती रीयते सं रमध्वं वीर्यध्वं प्र तरता सखायः ।
 अत्रां जहीत ये असन् दुरेवां अनमीयानुचरैमाभि वाजान् ॥२६॥
 उचिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम् ।
 अत्रां जहीतु ये असुक्ष्मिवाः शिवान्त्स्योनानुचरैमाभि वाजान् ॥२७॥
 वैश्वदेवीं वर्चस आ रमध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ॥
 अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥२८॥
 उदीचीनैः पथिभिर्वायुमाङ्गिरातिक्रामन्तोऽवैरान् परैभिः ।
 त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परैता मृत्युं प्रत्यैहन् पदुयोर्पनेन ॥२९॥

अर्थ—[अश्मन्वती रीयते] " धरौवाली नदी वेगसे चल रही है । [संरमध्वं] समालो, [वीर्यध्वं] धीरता धारण करो, और [सखायः प्रतरत] हे मित्रो ! तैर जाओ । [ये दुरेवा अनमीयानुचरैमाभि वाजान्] जो दुस्सहायी हों उनको यहा हार फेंक दो । [उत्तरेम अनमीयानुचरैमाभि वाजान्] यदि हम पार हो जायगे तो जीरोम मद्य प्राप्त करेगे ॥ २६ ॥ [ऋ० १०।५३।८। यजु० २।५।१०]

हे [सखाय] मित्रो ! [उचिष्ठत प्रतरत] उठो और तैरो । [इयं अश्मन्वती नदी स्यन्दते] यह पायरोवाली नदी वेगसे चल रही है । [ये अश्विवा असन् मद्य जहीत] जो अशुभ है उसको यहा हो फेंक दो । [उत्तरेम शिवान्त्स्योनानुचरैमाभि] यदि हम तैर जायगे तो हम मद्य और सुसुहायक अश्वोंको प्राप्त करेगे ॥ २७ ॥ [ऋ० १०।५३।८]

[शुद्धा शुचय पावका भवन्तः] शुद्ध पवित्र और मलरहित होकर [वर्चसे वैश्वदेवीं आरमध्वं] कृपायके श्रेष्ठ विश्वदेवकी उपासना आरम करो । [दुरिता पदानि अतिक्रामन्तः] पापके स्थानोंको दूर करने हुए [सर्ववीरा-शतं हिमाः मदेम] सब धीरोंके समेत हम सौ वर्ष तक आनन्दसे रहेंगे ॥ २८ ॥

[वायुमाङ्गिरा उदीचीनैः परैभि पथिभिः] वायुवाले ऊपरके श्रेष्ठ भागोंसे [अवैरान् अतिक्रामन्तः] नीचोंका अतिक्रमण करते हुए [परैता ऋषयः त्रिः सप्त कृत्व] दूर पशुके हुए ऋषि तीन बार सात समय, नगरका काले [पदुयोर्पनेन-मृत्यु पर्योहन्] अपने पदभिन्वासे मृत्युको दूर करते रहें ॥ २९ ॥

भावार्थ यह सखार एक बहामारी पर्यरोवाला नदी है, अर्थात् इसमें दु-सोंके और बड़ोंके बड़े बड़े परवर हैं। इस नदीका वेग भी बड़ा भारी है । इसलिए इस नदीसे पार करनेके लिए सावधानीसे धारनायुक्त समूहन करना चाहिये । इस तरह मिलकर चलोगे तो पार कर सोगे, आपसमें फूट बड़ाभोग तो इस नदीमें बह जाओगे । जो चीजें आपके पास अनावश्यक हैं उन सबको यहा फेंक दो, जब आप तैरकर पार हो जाओगे तब यहाँ उसमें उगम चीजोंको प्राप्त कर सकेगे । परंतु यदि अनावश्यक चीजोंका भार अपने ऊपर रखोगे, तो तुम उस भारके कारण ही हार जाओगे ॥२६-२७ ॥

शुद्ध पवित्र और मलरहित बनो और ईश्वरकी भक्ति करो । पापके स्थानमें अपना पद न रखो । इस तरह निर्दोष बनकर आनन्दसे ही अर्थ रहो ॥ २८ ॥

प्राणाश्रमका अभ्यास करके प्राणकी स्थानीयता करनेवाले योगी शूद्र धरौरको निकाल बनाकर अपने आधीन करते हैं । ये ही श्रेष्ठ तपस्याके द्वारा मृत्युको दूर करके दीर्घजीवी बनते हैं ॥ २९ ॥

मृत्योः पदं योपयन्त एतु द्राघीय आयुः प्रतरं दर्शानाः ।
 आसीना मृत्युं रुदता सधस्थेऽथ जीवासीं विदध्ना वदेम ॥३०॥ [९]
 इमा नारीराविध्वाः सुपत्नीराङ्गनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
 अनश्रवो अनमीवाः सुरन्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥३१॥
 व्याकरोमि हविषाहमेतौ ब्रह्मणा व्यभृहं कल्पयामि ।
 स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिभान्तृजामि ॥३२॥
 यो नो अग्निः पितरो हृस्ववृन्तराविविशामृतो मर्त्येषु ।
 मय्यहं सं परि गृह्णामि देवं मा सो अस्मान् द्विक्षतु मा वयं तम् ॥३३॥
 अपाश्रुत्य गार्हपत्यात् क्रुष्यादा प्रेतं दक्षिणा ।
 प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मम्यः कृणुता प्रियम् ॥३४॥

अर्थ- (स्यायाः पदं योपयन्तः) मृत्युको पांवको दूर करते हुए (एतव आयुः द्राघीयः प्रतरं दर्शानाः) यह आयु दीर्घ और अश्रुत बनाकर धारण करते हुए (आसनाः मृत्युं रुदत) मासनादि करते हुए मृत्युको दूर करो । (अथ जीवासः सध-स्थे विदयं आश्रयेम) और यदि जीवोगे तो अपने घरमें यज्ञकी बात करोगे ॥ ३० ॥ (ऋ० १०।१।२)

(इमाः नारीः सुपत्नीः अविधवाः) ये स्त्रियां उत्तम धर्मरिनीयां बनें और कमी विधवा न बनें । (आङ्गने-न सर्पिषा संस्पृशन्तां) तथा अङ्गन और घृत शरीरको लगावैतथा (अनमीवाः अनश्रवः सुरन्ताः) रोगरहित अश्रुरहित होकर उचम रत्नोंसे युक्त हों । ऐवी (जनयः अग्ने योनिं आरोहन्तु) स्त्रियां प्रथम अपने घरमें ऊँचे स्थानपर चढ़ें ॥ ३१ ॥

[अहं एतौ हविषा व्याकरोमि] मैं इन दोनोंको हविसे विशेष उचम करता हूँ । [ब्रह्मणा अहं विकल्पयामि] ज्ञानसे मैं इसकी विशेष कल्पना करता हूँ । [पितृभ्यः अजरां स्वधां कृणोमि] पितरोंके लिये मैं अविनाशो स्वकीय धारक-धाक बढाता हूँ । [इमान् दीर्घेण आयुषा संस्पृशामि] इनको दीर्घ आयुसे युक्त करता हूँ ॥ ३२ ॥

हे [पितरः] पितरों ! [नः यः अमृतः अग्निः] हमारा जो अमर अग्नि (मर्त्येषु ह्यसु अमृतः आविवेश) मर्त्य हृदयमें आवेश डालकर करता है, [तं देवं अहं मयि परिगृह्णामि] उव दिव्य अग्निको मैं अपनेमें धारण करता हूँ । [सः अस्मान् मा द्विक्षतु] वह हमारा द्वेष न करे, तथा [तं वयं मा] उसका हम द्वेष न करें ॥ ३३ ॥

[गार्हपत्यात् अपाश्रुत्य दक्षिणा क्रुष्यादा प्रेतं] गार्हपत्य अग्निसे हटकर दक्षिणकी ओर प्रेतमांभक्षक अग्निके प्रति चलो । और [पितृभ्यः आत्मने ब्रह्मम्यः प्रियं कृणुता] पितरोंके लिये अपने लिये तथा ब्रह्मणोंके लिये प्रिय करो ॥ ३४ ॥

माद-यै- इष रीतिसे मृत्युका पांव अपने सिरपरसे दूर करने हुए अपनी आयुको अतिदीर्घ बनाकर आसन प्रणयामादिद्वारा मृत्युको दूर करते और दीर्घ जीवन प्राप्त करके उत्तम स्थानमें विराज कर अपना जीवन यक्षरूप बनाओ ॥ ३० ॥

स्त्रियां उत्तम धर्मरिनीयां बनें, ये कमी विधवा न बनें । वे श्रीमामयुक्त होकर अपने शरीरको अङ्गन आदि द्वारा सुशोभित करें । नीरोग बनें, शोकरहित होकर अश्रुरहित रहें और उत्तम आभूषणोंसे सुशोभित रहें । अपने घरमें ये स्त्रियां सुशुभित होती हुई महत्त्वका स्थान प्राप्त करें ॥ ३१ ॥

हवन द्वारा घृत और जीवितोंको अर्घ्यात् दोनोंको काम पहुँचता है । शानसे ही इसकी विशेष कल्पना हो सकती है । हवनसे मृतोंको स्वरूपधारक बल प्राप्त होता है और जीवितोंको दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

यह अमरधर्मयुक्त अग्नि मनुष्योंका हितकर्ता होनेसे सबको प्रिय है । इसको मनुष्य प्रशंसित करें और सबकी सहायतासे वसति प्राप्त करें ॥ ३३ ॥

मनुष्योंको ऐसा आचरण करना चाहिये कि अश्वसे आपना हित हो, शानियोंका समाप्त हो और पितरोंका यज्ञ रुदितग

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्पर्वतर्पा । अग्निः पुनस्य ज्येष्ठस्य यः कृष्यादनिराहितः ॥३५॥

यत् कृषते यद् वनुते यच्च वलनं विन्दते । सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति कृष्याद्येदनिराहितः ॥३६॥

अयज्ञियो हवर्चवा भवति नैनैव हविरर्चवा । हिनचित् कृष्या गोर्धनाद् यं कृष्यादनुवर्ते ॥३७॥

सुहृर्गोष्यैः प्र वंदुत्यात्तं मर्त्यो नित्यं । कृष्याद् यानामिरेन्तिक्कादनुविद्वान् विवावांति ॥३८॥

ग्राह्याः गुहा सं संज्यन्ते खिया यन्त्रियते पतिः ।

ब्रह्मैव विद्वानेप्योऽं यः कृष्यादं निरादधत्

॥३९॥

अर्थ— (५. अनिराहितः कृष्याद् अग्नि) जो न दुहाया हुआ प्रेतनाममक्षक अग्नि होता है, वह अग्नि [ज्येष्ठस्य पुत्रस्यदिनागं धनं कृष्याय] बड़े मार्गको धनके दो भाग प्राप्त होनेपर भी [अर्चवां प्रक्षिणाति] दारिद्र्यसे बचकी क्षीणता धरता है ॥ ३५ ॥

[कृष्याद् अनिराहितः वेत्] प्रेतनाममक्षक अग्नि यदि न दुहाया जाय, तो वह [मर्त्यस्य तद् सर्वं न अस्ति] मर्त्यका वह सब नष्ट करता है कि जो [यत् कृषते] जो खरीसे मिळता है, [यत् वनुते] जो बनने संविभागसे प्राप्त होता है और [यत् च वस्नेन विन्दते] जो कारीगरीसे मिळता है ॥ ३६ ॥

वह मनुष्य [अयज्ञिय हवर्चवा भवति] अयज्ञिय और निस्तेज होता है. [एनेन हविः अर्चये न] इसका दिया हुआ अन्न खाने योग्य नहीं होता, [कृष्याः गोः धनत् हिनति] कृषिये गौ और धनसे वह क्षीण जाता है, [यं कृष्याद् अनुवर्ते] जिसके साथ दारनाममक्षक अग्नि चलता है ॥ ३७ ॥

[यान् अन्तिक्काद् कृष्याद् अग्निः] जिसको यह उपनामदाहक अग्नि [विद्वान् बहु विवावांति] जानकर पीछे पीछे परता है, वह [नयः शान्तिं नीष्य] मनुष्य कष्टको प्राप्त होकर [गृष्यैः सुहुः प्रवदति] प्रदोमर्तक माय वारंवार पुकारता रहता है अर्थात् रोता रहता है ॥ ३८ ॥

[यतः खियाः पतिः श्रियेत] जब कीटा पति मर जाता है, तब [गृह्याः ग्राह्याः सं संज्यन्ते] घर पीडाकोसे मुक्त होते हैं । उस समय [विद्वान् मक्षा एव वैष्य] ज्ञानी ब्राह्मण ही दुहायने योग्य है, [यः कृष्यादं निरायाद्] जो दारनाममक्षक अग्निकी हटा सकता है ॥ ३९ ॥

भाषार्थ— हेवे । गृह्यधर्मसे सर्वकारसे अंत्येष्टिक मनुष्य दही करता रहे ॥ ३५ ॥

प्रेतदाहक अग्निको अन्न तारा विधिपूर्वक दान्त न किया तो ज्येष्ठ पुत्रको विधुधनके दो भाग प्राप्त होनेपर भी बचकी दारिद्र्यके कष्ट भोगने पड़ते हैं, इसलिये अन्त्येष्टिके अग्निको विधिपूर्वक दान्त करना चाहिये ॥ ३६ ॥

कृषिये, कारीगरीसे तथा पौष्टिक विभागसे प्राप्त हुआ धन भी नष्ट होता है, यदि अन्त्येष्टिकी अग्निकी दान्ति न की जाय ॥ ३७ ॥

अंत्येष्टिकी अग्नि कठन मनुष्यके साथ रहनेसे मनुष्य अयज्ञिय और निस्तेज होता है । उसका अन्न अनल्प होता है, उष्णकी दृष्टि, गौं और धन नष्ट होती हैं । इसलिये उसको दान्त करके मनुष्यको स्नानादिसे पवित्र बनना चाहिये ॥ ३७ ॥

जिनके घरमें अथवा जिन मनुष्योंमें यह अन्त्येष्टिकी अग्नि बार बार प्रकम्पित होता है अर्थात् जिनमें वारंवार स्तब्ध होती है उनके बहुत कष्ट होते हैं और वे लोग वारंवार रोते पड़ते हुए मरें हुओंके सामोहा बर्षन करते हुए पुकारते रहते हैं ॥ ३८ ॥

जब किसी ज्ञांका पति मर जाता है तब उस घरमें बर्षा पड़ता होती है । उस समय विद्वान् ब्राह्मणको दुहाकर उस प्रेतदाहक अग्निकी दान्ति करनी चाहिये ॥ ३९ ॥

यद् रिप्रं क्षमलं चकूम यद्यं दुष्कृतम् । आपो मां तस्माच्छुम्भन्वग्नेः संकसुकाच्च यत् ४० [१०]
ता अंधरादुदीचीराववृत्रन् प्रजानुतीः पथिभिर्देवयानैः ।

पर्वतस्य वृषभस्याधिं पृष्ठे नवाश्रयन्ति सरितः पुराणीः ॥ ४१ ॥

अग्नें अक्रव्याग्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह ॥ ४२ ॥

मं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात् । व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं ह्यरामि शिवापरम् ॥ ४३ ॥

अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणां परिधिर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥ ४४ ॥

जीवानामायुः प्र तिर त्वर्मभे पितृणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः ।

सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ ४५ ॥

अर्थ—[यत् रिप्रं क्षमलं] जो पाप और मङ्गलता [यत् च दुष्कृतं चकूम] जो दुराचार हमने किया है, [तस्मात् संकसुकाच्च अग्नेः] उस विघातक अग्निसे [आपः मां शुभन्तु] जल मुझे पवित्र करे ॥ ४० ॥

[ताः अंधरात् उदीचीः] वे नीचे उपरकी ओरसे जाती हुई (प्रजानुतीः देवयानैः पथिभिः आववृत्रन्) ज्ञान प्राप्त कर देवयानके मार्गसे वांरवार चलती हैं, [वृषभस्य पर्वतस्य अधिपृष्ठे] वृष्टि करनेवाले पर्वतके ऊपर [पुराणीः सरितः नवाः चरन्ति] पुरानी नदियां नवीन होकर चलती हैं ॥ ४१ ॥

हे अग्ने ! तू [अ-क्रव्याद् क्रव्यादं निः शुद्ध] मांसभक्षक न बनकर मांसाहारीको दूर कर । और [देवयजनं वह] देवोंका पालन करनेवालेको पास कर ॥ ४२ ॥

[इमं क्रव्यात् आविवेश] इसके पास मांसभक्षक आ गया है । और [अयं क्रव्यादं अन्वगात्] यह मांसभक्षकके पास चला गया है । [व्याघ्रौ नानानं कृत्वा] इन क्रूर व्याघ्रोंको विभिन्न बनाकर [तं शिवापरं ह्यरामि] उस अनुभक्तो मैं दूर करता हूँ ॥ ४३ ॥

[देवानां अन्तर्धिः] देवोंको अपने अन्दर रहनेवाला [मनुष्याणां परिधिः] मनुष्योंका संरक्षणकर्ता [गार्हपत्यः अग्निः] गार्हपत्य अग्नि [उभयान् अन्तरा श्रितः] दोनोंके मध्यमें रहता है ॥ ४४ ॥

हे अग्ने ! [त्वं जीवानां आयुः प्रविर] तू जीवोंकी आयु निर्विघ्नताके साथ पार कर दे, तथा [ये मृताः पितृणां लोकं अपि गच्छन्तु] जो मर चुके हैं वे पितृलोकमें चले जायें । [सुगार्हपत्यः अराती वितपन्] उत्तम गार्हपत्य अग्नि मनुष्योंको तप देवे । [तथा उष अस्मै श्रेयसीं धेहि] प्रत्येक उषःकाल इसके लिये कल्याणमय कर देवे ॥ ४५ ॥

भावार्थ— जो पाप, दोष और दुराचार प्रेतदाहक अग्निके कारण होता है, उससे शुद्धि जलस्नानसे होती है ॥ ४० ॥ नदियां पर्वतोंपरसे नीचेकी ओर चलती हैं, वे गर्मीके दिनोंमें ऊँच होती और शुष्कके दिनोंमें नवीन होकर चलती हैं । (इषी तारह) मनुष्य मरनेके पश्चात् दूसरा शरीर धारण करके नवीनसा बनकर विचरता है ॥ ४१ ॥

अग्निमें देवोंके रहनेसे हवन होता है, वह अग्नि प्रेतदाहक अग्निको दूर करे, अर्थात् घर घरमें इष्टियां हों और मनुष्य वीर्यायु हों ॥ ४२ ॥

एक अग्नि प्रेतदाहक है और दूसरा देवयाजक है । दोनोंमें भक्षक भाव है, परंतु एक शिव है और दूसरा अशिव है । मनुष्य ऐसा आचरण करे कि जिससे शुभ अग्नि घटा प्रदीप्त रहे और अशुभ कमी प्रदीप्त करनेका अवसर न आवे ॥ ४३ ॥

देवोंके - अन्दर रहनेवाला मनुष्योंका रक्षणकर्ता गार्हपत्य अग्नि दोनों जन्म और मृत्युके अग्निधर्मों रहता है ॥ ४४ ॥

अग्निमें हवन करनेसे मनुष्योंकी आयु दीर्घ होती है । इषी हवनसे मृतोंको पितृलोक प्राप्त होता है । गार्हपत्य अग्नि मनुष्योंको दूर करता है, और प्रतिदिन कल्याण प्राप्त कर देता है ॥ ४५ ॥

मवीनमे सहमानः मपत्नानपामूर्जं रपिमस्मासु धेहि ॥४६॥
 इममिन्द्रं वधि परिमुन्वारमघं म वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
 तेनापं हत् ग्रहमापतन्त्यं वेनं रुद्रस्य परिं पातास्ताम् ॥४७॥
 अमुद्वहं ऋवमुन्वारमघं म वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
 आ रोहन् सवितुर्नविमेतां पृदमिहूर्वाभिरमतिं वरम ॥४८॥
 उहोगत्रे अन्वेषि विप्रत् क्षेम्पस्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः ।
 अनातुरगन्मुमनसमन्वत्यु विप्रज्ज्योतेव नः पुरुषगन्धिरोषि ॥४९॥
 नेदुवेम्य आबुधन्ते पापे जीवन्ति सर्वदा । कव्याद् यानिरेन्विकादुषं इवानुवर्षते नडम् ॥५०॥

अर्थ—हे अग्ने ! [सर्वदि मन्वारान् सहमान.] मय्यं रुद्रभोजी परास्त करता हुआ तू (पर्यां तपे ऊर्ध्वं बल्यमु
 खं) इनका धन और बल हमारे अंदर स्थानित का ॥ ४६ ॥

[इमं इन्द्रं वधि परि अन्वारमघं] इम ऐश्वर्ययुक्त पाण्डुको अनुहृत्कारकं युक्त करो । [सः वः अद्वयाद्
 दुरिताद् नि बधन्] वह हमें निन्दनीय पापसे छुटावे । [तन आनन्त शर्षं अयदत्] उसके द्वारा इमका कलेवाले पत्तक
 का नाश करो । [तेन रुद्रस्य अता परिपात्] उषकी सहायतासे रुद्रके मन्त्रसे सब बीरसे अपने भागको सुरक्षित
 करो ॥ ४७ ॥

(अमद्वहं ऋधं अन्वारमघं) बलवान् नौकाको वैचार करो । (सः व अद्वयाद् दुरिताद् निर्वक्षद्) वह
 नौकाको गिर पावसे बचावे । (एतां सवितुः नावं आरोहत्) इय सवितोकी नौकापर चढो । (वदमिः अन्वेषि
 अन्वे) छ बधी विद्याल नौकाभोजी दुष्टदुष्टि चारके मयसे पात होवेगे ॥ ४८ ॥

वृ [अतो रात्रे क्षेम्पः प्रथण.] दिनरात सुख देख कर दुःखसे पात करनेवाला [सुवीरः विप्रत् विदुद् अन्वेषि]
 उत्तम बीरसे युक्त धनादिका धारण करनेवाला स्वयं स्थिर होकर अनुहृत् रहता है । हे [उत्तर] पक्ष्य, हे विद्योने ! तू
 [मुमनस. अनातुरात् विप्रत्] उत्तम मन्त्राले भीरीग मनुष्योंको धारण करता है, ऐसा तू [उषोह् एव प्रतरणंभि नः
 पृधि] सदा मनुष्योंके सुगंधसे युक्त होकर हमारे पास रह ॥ ४९ ॥

[त दुवग्गः आ॥५०] जो देखोते अपने भागको भङ्ग काठे हैं वे [सर्वदा पापे जीवन्ति] सदा पापका
 जीवन व्यतीत करते हैं । [यान् कव्याद् अग्नि आन्तिकात् अनुवर्षते] जिनका मांसमशक अग्नि पावसे ही नाश करता है
 [अथः इव नडं] वैसा पीटा पापका नाश करता है ॥ ५० ॥

भावार्थ—आग्ने सब रुद्रभोजी परास्त करे और उनके धन और बल हमारे पास लाकर रखे ॥ ४६ ॥

वह अग्नि धनदाता, सुखके पाप पहुंचानेवाला और सब कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है । उसके मनुष्य पापसे बचना
 है । इच्छे पत्तक का नाश करना योग्य है और उषीसे घातपातके शत्रुओंसे बचाव भी होसकता है ॥ ४७ ॥

बलवती नौका वैचार करो और उषसे मयनक बलदायके पात हो जाओ । इस नौकापर चढो, ऐसी छः
 नौकाओंकी सहायतासे दुर्मति रुद्रका परामर्श करोगे । (अर्थात् यज्ञरूपी नौकासे मनुष्योंको दूर करने ॥ ४८ ॥

पर परमं पतंगं रहता है, सब उषपर छोटे हैं, उषसे सुख प्राप्त करते हैं, चार पुत्रोंका पालन उनपर होता है । सदा,
 सर्वदा ऐसे पक्षीपर उत्तम विद्योने रखकर मनुष्य धोवें और आनंद प्राप्त करें (यज्ञरूप विभ्रामदायी पतंग सब परमि
 हो ।) ॥ ४९ ॥

जो अपने आपसे देवीसे अलग करते हैं वे पापमार्गमें प्रवृत्त होते हैं और उनका वैसा नाश होता है वैसा पीटा खेदका
 नाश करता है ॥ ५० ॥

येध्रद्धा धनकाम्या क्रुव्यादां समासते । ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा ॥५१॥

प्रेवं पिपतिपति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः । क्रुव्याद् यानभिरन्तिकार्दनु विद्वान् वितावति ॥५२॥

अविः कृष्णा मांगधेयं पशुनां सीसं क्रुव्यादपि चन्द्रं तं आहुः ।

माषाः पिष्टा मांगधेयं ते हृष्यभरण्यान्या गह्वरं सचस्व ॥५३॥

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिलिपञ्जं दण्डनं नडम् ।

तमिन्द्रं हुषमं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥५४॥

प्रत्यञ्चमुकं प्रत्यर्पित्वा प्रविद्वान् पण्यां वि ह्यविषे ।

परामीषामर्धन् द्विदेशं दीर्घिणायुषा समिमान्तसृजामि ॥५५॥ (१२)

अर्थ—[ये अश्रद्धा धनकाम्याः] जो अश्रद्धावान् परंतु धनकोमी हैं [क्रुव्यादा सं आसते] मांसमक्षक के लिये एकत्र बैठते हैं, [ते वै अन्येषां कुम्भीं सर्वदा पर्यादधति] वे निधयसे दूसरोंकी हंडीपर सदा मन रखते हैं ॥ ५१ ॥

[मनसा प्र पिपतिपति हव] वे मनसे मानो गिरना चाहते हैं, [पुनः मुहुः आवर्तते] और फिर लौटना चाहते हैं, [यान् विद्वान् क्रुव्याद् अग्निः अन्तिकार्दनु वितावति] जिनकी ज्ञानता हुआ मांसमक्षक अग्नि पास जाकर पीठे पड़ता है ॥ ५२ ॥

हे [क्रुव्याद्] मांसमक्षक जनों ! (पशुनां कृष्णा अग्निः ते मांगधेयं) पशुओंमें काली भेड़ ठेरा भाग्य है । तथा [सीसं चन्द्रं अपि ते आहुः] सीस और लोहभी ठेरा ही कहते हैं । [पिष्टाः माषाः ते हृष्यं मांगधेयं] पिसे उबद ठेरा हृष्यभाग है । अतः तू [अरण्यान्वा गह्वरं सचस्व] वनके गहरे भागमें रह ॥ ५३ ॥

हे इन्द्र ! [जरती इषीकां] अतिजीर्ण मूत्रको [तिल् पिञ्जं दण्डनं नडं इषु] तिलोंका पुंज, समिधा और नरकी आहुति देकर अर्थात् [तं दधम कृत्वा] इसको हंधन बनाकर [यमस्य अग्निं निरादधौ] यमकी अग्निका आधान करे ॥ ५४ ॥

[प्रत्यञ्चं मुकं प्रत्यर्पित्वा] अस्त होनेवाले सूर्यको सकार समर्पण करके [पण्यां प्रविद्वान् हि वि ह्यविषे] अन्तर्गता ज्ञाननेकाका धर्मपरमें विशेषे रीतिसे दृष्टि होता है । [अमीषां अस्तु परादिदेश] यह सूर्यको प्राणोंको परम गतिको भेजना है और [हनान् दीर्घेण आयुषा सं सृजामि] मैं इन जीवितोंको दीर्घ आयुसे संयुक्त करता हूँ ॥ ५५ ॥

भावार्थ— जो अश्रद्धावान् और धनलोभी होते हैं, वे सदा दूसरोंके पक्षय अथपर अपनी दृष्टा रखते हैं, वे दुर्गति पाते हैं और वे शवदाहक अग्निके भक्ष्य होते हैं, अर्थात् अन्त्यायु होते हैं ॥ ५१ ॥

जिनके पास सदा शवदाहक अग्नि रहता है अर्थात् जिनके घरमें बांबार मृग्य होता है, वे बांबार दुःखी कष्टी और मर्दान होते हैं । इनको उचित है कि वे प्रयत्न करके अपना बचाव करनेका उपाय करें ॥ ५२ ॥

पिसे उबद का हृष्य बनाकर उबछा हवन अग्निमें किया जाये । काली भेड़का दूध या शृत इषमें हवन किया जावे । इष्ट ठेराहका शवदाहक अग्नि मनुष्य स्थानसे दूर वनमें प्रदीप्त किया जावे । अर्थात् प्रेतका दहन नगरसे दूर हो ॥५३॥

इस शवदाहक अग्निमें जोयें इषिका, तिक्की पुंज, समिधा और घरकंडेकी आहुतियां दी जावे । इष्ट आधानसे इष्ट समयकी अग्निका आधान किया जावे ॥ ५४ ॥

अन्तर्गता ज्ञाननेवत्त मनुष्य अस्तंगत सूर्यकी अर्चना करके अपने आपको धर्ममार्गके योग्य पवित्र बना सकता है । सूर्यको परम गतिकी ओर हवनद्वारा प्रेरित करके जीवित मनुष्योंको उछी हवनसे दीर्घायु करना योग्य है ॥ ५५ ॥

यक्ष्मरोगको दूर करना ।

इस द्वितीय सूक्तमें मुख्य विषय यक्ष्मरोगके दूर करनेका है। इस रोगका दूर करना परमेश्वरकी प्रार्थनासे मुख्यतः करनेका उक्तम उपदेश यहाँ किया है। ईश्वरप्रार्थनामें बड़ा भाग बल है। जो मन एकाग्र करके प्रार्थना करते हैं और अपना हृदय ईश्वरके सामने खोल देते हैं, अनन्य होकर ईश्वरको आत्मनिवेदन करते हैं, उनको ही। इस बलका अनुभव हो सकता है। अतः कोई पाठक इस बलसे वंचित न रहे, इतना ही यहाँ कहना है।

नीचेके मार्ग ।

पहले मंत्रका कथन यह है—जैसे बाण दूर चला जाता है, वैसे मनुष्यमें जो रोग है वह नीचेके मार्गसे क्षीण चला आवे। अर्थात् दूर चला आवे, मनुष्यके पास न रहे। नीचेके मार्गसे (अथवात्) जन्मेका तात्पर्य यह है कि सब रोगबल दूर करनेका उपाय ही नीचेके मार्ग खुले रखना है। मूत्रमार्ग, पुरीषमार्ग (पाहाना अपना चौच होनेका मार्ग), पक्षितिका मार्ग (अर्थात् संपूर्ण रोमरंजिका मार्ग), नासिका मार्ग (शिशुमें क्लेम्माद्वारा मल दूर होते हैं) ये सब मार्ग परमेश्वरने किये हैं। शरीररूपी मंदिरकी ये सब मंत्रियाँ हैं, जिनमेंसे मल त्यागे आते हैं। पाठकोको उचित है कि वे विचार करें कि ये मार्ग अपना अपना कार्य ठीक प्रकार कर रहे हैं या नहीं। यदि कर रहे हैं तो उत्तम है। यही तो उनको ठीक कार्य करनेके लिये प्रवृत्त करनेका बल करना आवश्यक है, अन्यथा मृत्युकी भेंट हो जायगी।

पापाचार और दुष्ट विचार ।

द्वितीय मंत्रमें ' अघसंघ और दुःसंघ ' अर्थात् पापाचारी और दुष्टविचारी ये दोनों मृत्युके दारुणात्क पहुँचानेवाले हैं, ऐसा स्पष्ट सूचित किया है। अतः मनुष्योंको पापसे और दुष्टविचारसे बचना चाहिए। दुष्टविचार और पापाचार ये परस्पर सार्थ हैं। दुष्ट विचार पढ़िके आता है और पथापपापका आवरण होता है। इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधान-साके साय रहना और इनसे बचना चाहिये।

मनुष्य जो पतित होता है वह ' कृति और अनुकृति ' के द्वारा ही होता है। मनुष्य प्रथम बुरेके दुष्ट विचार छनता है और इन विचारोंकी अनुकृति (अनुकरण) करता है। पहिले केवल अनुकरणकी ही इच्छा होती है, परंतु अनुकरण करते करते जैसे ही विचार करने लगता है। इसी तरह पापके आवरण पहले देखता है और वैसा करनेकी चेष्टा करता है। इसमें प्रथम केवल अनुकरण इच्छा ही प्रबल रहती है। परंतु अन्तमात्र होनेपर बड़ी स्वभाव बनता है। इसलिये अनुकरण करनेके विषयमें भी बड़ी सावधानता घारण करनी चाहिए।

सुखदुःखोंकी, अच्छे आचारविचारकी अनुकृति और कृति करनी योग्य है, इससे मनुष्यकी सक्ति होगी। परंतु मनुष्य अच्छी बातोंका अनुकरण नहीं करता, प्रत्युत मनुष्यके बुरेका ही अनुकरण करना पसंद होता है। इसलिये वेद सावधान करता है कि देखो ऐसा बुरेका अनुकरण करोगे तो मृत्युका वर है। सावधान रहो ! यदि मनुष्य इस विषयमें सावध रहेगा तो मृत्युका मय दूर होगा।

कंजूसी, दारिद्र्य और मृत्यु ।

मृत्यु, दरिद्रता और कंजूसी इनको दूर करनेकी सूचना तीसरे मंत्रमें है। कंजूसीसे दरिद्रता आती है और दारिद्र्यसे आने मृत्युका मय होता है। ये एकदूसरेको साधक हैं। उदाहरण संपन्नता और अखंड जीवन यह मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। यही अखंड जीवन अमरण है, जो सबको प्राप्त करना चाहिये।

यदि किसी स्थानपर व्यापके समान सबका अज्ञानकर्ता प्रेतदा-हक अग्नि पहुँचता है अर्थात् यदि किसीके कुटुंबमें मृत्यु हो गई है, तो वहाँसे उस मृत्युके हर प्रकारसे दूर करना चाहिये वह चतुर्थ मंत्रका उपदेश है। इस स्थानपर ' माहाज्य ' विधिका उल्लेख है। मापका रस लेकर उसको पीके सब कान्ने-से मायाज्य बनता है। एकदिन पूर्व माप बहुत जलमें मिगी लेवे। उसमें जल पर्वत बालना चाहिये, तीन बार चन्दे बूरे

दिन पचाकर उनका जल लेवे और उसमें घृत नमक आदि बालकुर सेवन करे यह बलवृद्धि करनेवाला होता है । इसमें अन्वान्य पदार्थ भी डाले जा सकते हैं । यह माषाज्य पेय है । यह सेवन करनेसे दुर्बल मनुष्य भी सबल हो सकता है । इसकी संपूर्ण विधि उपम वेद्योंकी खोजकर निकलनी चाहिये । यह एक ऐसा विषय है कि जिससे अनेक मनुष्योंकी काम हो सकता है । यह पेय तो बड़ा सरता, मधुर और बड़ा पौष्टिक है । ज़मीनी वेद्य इसकी खोज करके निर्णय करें ।

घरमें किंहीं मनुष्यकी मृत्यु होनेके पश्चात् घरमें दुःखके कारण हवन बंद रहता है । परंतु प्रेतान्निहा घमन करके हवनान्निहा प्रदर्शन करना चाहिये, क्योंकि यही हवनान्नि आरोग्यवर्धन करनेवाला है । यह पंचम मंत्रका उपदेश है । अर्थात् खानेमें माषाज्य मिला और हवनके लिये अग्नि प्रदीप्त रहा, तो मृत्यु दूर हो सकता है ।

घृत्त मंत्रमें सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये हवनान्नि घरमें स्थापित करनेका विधान है, वह प्रत्येक गृहस्थोंको देखने योग्य है ।

पितृपूजा

किञ्चिन् घरमें मृत्यु हो गयी तो उस प्रेतका दाहसंस्कार [पितृपूजाय दूर इरामि] अर्थात् पितृ-पूजा करनेके लिये दूर स्थान निवृत्त करना चाहिये । परके या ग्रामके, मानवोंकी बस्तीके समीप प्रेतदाहसंस्कार करना नहीं चाहिये । क्योंकि इस दाहसे जो दुर्गन्धयुक्त विषमय वायु बाहर आती है, वह अवित मनुष्योंको अनेक रोग उत्पन्न करती है । इसलिये सप्तम और अष्टम मंत्रमें प्रेतदाह बस्तीसे दूर करनेका आदेश दिया है ।

जो प्रेतका दहन करता है उस अग्निका वैदिक नाम है 'कृष्णान्द्र' अर्थात् मांस खानेवाला अग्नि । इसका अग्नि है 'आतोवेदाः' यह घरमें प्रदीप्त रहता है, जिसके हवनके घ्राय वेदार्समसंस्कार विधा जाता है, वह हवनीय वस्तु सब देवताओंको पहुँचाता है और हवनकर्ताको आरोग्य देता है । सब दोष दूर करके सबको आनंद देनेवाला यह अग्नि है । जो प्रेतदाहक अग्नि है वह मृतकको यमात्मके आधीन करता है और हवनान्नि देवताओंके घ्राय संबंध जोड़ देता है । इस तरह इन दोनों अग्निोंके कार्य हैं । पाठक इसका विचार करके अपना आरोग्य संग्रहणकरा काम चला सकते हैं ।

यही बात नवम मंत्रमें कहा है । प्रेतदाहक अग्नि और गार्हपत्य अग्नि ऐसे दो अग्नि हैं । इनका अर्थ मिश्र है । प्रेतदाहक अग्नि प्रेतको जलाकर मृतको पितरोंके स्थानमें पहुँचाता है और दूसरा जो गार्हपत्य अग्नि है, वह वहाँके निवृत्तियों को आरोग्य प्रदान करता है । इसलिये प्रेतदाहक अग्निका कार्य सतत नहीं चलता रहना चाहिये । देवतामिदो मनुष्योंके घरोंमें प्रतिदिन प्रदीप्त होना चाहिये । नवम मंत्रका भी यही भाव है ।

इसी आशयको दशम मंत्रमें प्रवृत्त करते हुए कहा है कि प्रेतदाहक अग्नि पुनः पुनः यहाँ न आवे । वह पितृत्वाकर्म प्रदीप्त होता रहे । मनुष्योंके स्थानमें तो यही जातवेद अग्निही प्रदीप्त होना चाहिये । जातवेद अग्निका मार्ग देवधान है और प्रेतदाहक अग्निका मार्ग पितृधान है ।

हवन-अग्नि ।

यदाहक मंत्रमें कहा है कि शुद्ध, पवित्र और निर्मल होकर इस हवनान्निको लोग प्रदीप्त करते हैं । इन हवनसे सब दोष दूर होते हैं और यह हवनान्नि सब प्रकारकी पंचमता करता है, लोगोंको आरोग्य देता है और दीर्घायु करता है । वैदिक धर्मियोंके चरका यह अग्नि एक महत्त्वका स्थान रखता है । इसको केन्द्र करके वैदिक धर्मियोंके सब संस्कार होते हैं ।

बाइसे मंत्रमें कहा है कि यह हवनान्नि [एनसः सुच्यमानः] पापसे छुटता है, दोषको दूर करता है, [अतस्त्याः अनोक्तु] अपराधसे अवस्थाको हटता है और सब प्रकारकी [आहृत] उन्नति करता है । तैरहवें मंत्रमें कहा है कि इसी अग्निमें हम [अग्निम् अग्नौ रिगाणे मृजने] संपूर्ण दोषोंको हवन करते हैं । अर्थात् हमारे संपूर्ण दोष, इस अग्निमें हवन समझीका हवन करनेसे दूर भाग जावगे । और हम (शुद्धाः पूताः) बहारेसे शुद्ध और अन्दरसे पवित्र होनेगे जिसका परिणाम (प्रण आयुषि तरिषत्) हमारी आयुषी शुद्ध होगी, क्योंकि दोष रहनेसे ही श्रांश्र मृत्यु होती है और पवित्रता होनेसे ही मृत्यु दूर होती है ।

चाइसे मंत्रमें कहा है कि यही हवनान्नि यक्ष्मरोगियोंको दूरसे दूरतक छे जाता है अर्थात् हवनकर्ताके घरमें रोजखान नहीं रहते इसलिये उनको आरोग्यता और दीर्घायु प्राप्त होती है । इस तरह घोर, गौबे, बालबन्ध, मेढबन्धरियो आदिमें जो रोगबीज और मृत्युका मय रहता है वह सब इस हवनान्निके द्वारा दूर किया जा सकता है । यह आशय पंदरहवें और सोलहवें मंत्रका है ।

सुतरहके मंत्रमें भी यह विषय पुनः अन्वयितेव आया है। विम अ मंत्रे (घृतस्तावः मूष्या) घृतीका घृतेकारक आहुताया वला जाती है, उसी हवनमन्त्रकी सहायतासे (हह) उच्यते प्राप्त करना संभवनीय है। अठारहवें मंत्रमें कहा है कि जहां ऐसा हवन होता है, वही स्वर्गलोक है। मनुष्य हवनसे ही इस भूमिकी स्वर्गप्राप्त बना सकता है।

सूर्यप्रकाशका महत्त्व ।

आरोग्यकी दृष्टिसे सूर्यक घटा अत्यंत महत्त्व है। सूर्य प्रकाशसे ही संपूर्ण आरोग्यकी प्राप्ति होती है। इसलिये भेदमें (उर्वेक्ष्व सूर्य इवे) निरंतर सूर्यदर्शन होता रहे, ऐसी प्रार्थनाएं जाती हैं। सूर्यदर्शन करना ही मनुष्यकी लक्ष्मणिका रक्षण है। प्रत्यक्ष सूर्यदर्शन करनेसे आंखोंके रोग दूर होते हैं, पुष्पसे सूर्यदर्शनका अभ्यास बढानेसे आवनक लगनेका कारण भी नहीं रहता। संपूर्ण शरीर सूर्यातिवह्नानसे अर्थात् सब शरीरकी सुव्यवस्था सम जानेसे संपूर्ण शरीरका तेज बढ जाता है, आरोग्य बढता है और रक्तसंचार यथायोग्य होकर बहुतसे रोग दूर होते हैं। सूर्यमहापा ही आरोग्यदाता है।

सुद्धिका उपाय ।

मंत्र १९ और २० में कुछ सुद्धिका उपाय कहा है। परंतु [सुद्धाः यज्ञियः भवत] सुद्ध और यज्ञिय बनो इतने धेनुसे ये मंत्र सुद्धिके विषयमें आदेश दे रहे हैं ऐसा पता लगता है, परंतु जो सुद्धिके साधन इन मंत्रोंमें दर्ज किये गये हैं वे क्या हैं और उनका उपयोग कैसा करना चाहिये यह बात अनेकवार विचार करनेपर भी अत्यंत हमारी समझमें नहीं आती है। इन मंत्रोंमें जो सुद्धिके साधन कहे हैं वे [धीव] धीवा, [मध] मध, [संक्षुध] हवनार्थ अग्नि, [रामा = धानकनी अर्वा] काली भेड़ [उपवर्द्ध] चिरोना गेहूँ हैं। इनमें हवनमन्त्रसे सुद्धता होनेका कुछ ज्ञान हमें है। परंतु अन्य साधनिक विषयमें हमें इस समझक कोई पता नहीं लगता। जो पाठक इस विषयकी खोज करते हैं वे इस आवश्यक विषय की खोज करें और प्रकाशित करें। मनुष्य के रोग और दीर्घजीवी होनेके लिये इन सुद्धियोंकी आवश्यकता है, अतः इस विषयका महत्त्व बहुत है। इन शब्दोंके वैदिक अर्थ है अथवा दूसरे कुछ अर्थ हैं, इसका भी खोज हमें चाहिये।

१ अग्नि = अग्नि शब्दका अर्थ ' कुम्भिय,' कुम्भी है। यह अनुभव अर्थात् नेत्रके दोष दूर करनेवाली बनरपति है, ऐसा रश्मि का नावक वैद्यक मंत्रमें कहा है।

२ (नह) = मन्, देवनल यह एक प्रकारका बड़ा बाघ है। हमने गुण वैद्यमंत्रों में दिये हैं—[कर्चकाः] मुक्की रवि बडानेबल [मधुः] मीठा, [रक्तापेगमः] रक्तदीप दूर करनेवाला [दीनः] छुपा प्रदीप करनेवाला, [बधरः] शक्ति देनेवाला, [दधः] दीर्घ बडानेवाला, [दीर्घाधिः] दीर्घ अधिक करनेवाला। [देखो राजनिघण्टु व० ८]

३ नक्ष- नील, पीला, पीला, पीला। इसके गुण [मह- नाशन] मह रोगका नाश करनेवाला, [मागगतनुःकबल- दधति] जो हाथियोंके समान शक्ति देता है, [वगाधे माशयति] रोग दूर करता है, [जीविर्न अतनोति] दीर्घ- जीवी बना देता है। [वधि प्रदीपयति] छुपा प्रदीप करता है, [कामबलं करोति] कामका बल करता है, [मूः] च माशयति] मृग्युको दूर करता है [वेदनाहः] पीना हरता है, [रक्तरोषकः] रक्त- छाव बंद करता है। कुष्ठ, गुग्गु, पण्डु, प्रमेह, अग्निमाष, सूजन, भगन्दर आदि रोगोंको दूर करता है ॥ [माष० पू० १ म० धा० व० देखो]

४ रामा- एक औषधी है जिसके गुण राजनिघण्टु व० ४, १०, १२ और १३ में दिये हैं।

५ अग्नि- एक औषधि है जो नेत्रकी सामदायी है।

६ दीर्घ [दीर्घाधि]- अगुहरक, जिसके ललाटेसे शत्रु- सुद्धि होती है।

इन मंत्रोंमें आये सुद्धिपाठनोंके ये वैद्यशास्त्रोक्त अर्थ हैं। इनका उपयोग कैसा करना और इनसे सुद्धि किस रीतिसे करनी चाहिये इसका निश्चय सुविज्ञ वैद्य ही कर सकते हैं, बह कार्य अनभिज्ञोंका नहीं है। यह खोजका विषय है, करनेवाले खोज करें।

इसकीधरें मंत्रमें प्रार्थना है कि इस तरह मृग्यु दूर होये और अपने घरके बालबच्चे हृष्टपुष्ट, आनंदित और उल्लाही हों, अर्थात् कोई न मरे। यह उपदेश (चक्षुष्मते मृग्यते) देवने और सुननेवालेके लिये कहा है। अर्थात् जो विचारसे देखना है और सुनकर समझना है उसीके लिये यह सब कहा है। जो देखने नहीं और सुनने नहीं उनके लिये यह- नेसे क्या लाभ होगा ?

नृत्य और हास्य ।

बार्सर्वे मंत्रमें कहा है कि ये जो हमलोग यहां जीवित हैं, उनके चारों ओर [मृतैः आवृत्तम्] मृत जीव हैं, अर्थात् वे इस अंतरालमें प्रसन्न करते हैं । हमारे चारों ओर आते हैं, परंतु उनका स्पर्श देह नष्ट हो जानेसे वे हमें दिखाई नहीं देते । वे तो मृत हो चुके हैं । जो जीवित है उनके [नृतये ह्यस्य] नाचने और हंसनेके लिये अर्थात् उनको आनन्दप्रसन्नताके लिये ही दत्त करना चाहिये ।

मनुष्यके आरोग्यके लिये नृत्य और हास्यकी अत्यंत आवश्यकता है । हास्यसे मनकी प्रसन्नता रहती है और शारीरिक पुष्टिमें वरसाह बढ़ता है । नाच एक बड़ा उत्तम व्यायाम है और आनंददे छाया किया जाता है । शायोंकी नाच संकलना चाहिये और उससे बड़ा लाभ प्राप्त करना चाहिये । आजकल नाचको बुरा मानते हैं, परंतु नाच कोई बुरी चीज नहीं है, नाच करनेवालोंमें कई लोग बुरे होंगे । परंतु नाच आरोग्यवर्धक होनेसे बड़ा लाभकारी है ।

[सुधीरागः निश्चयं आवर्द्धेन] हम उत्तम वीर बने और घनुको दूर करनेका ही विचार करें । इस तरह जो जिस क्षेत्रका शत्रु होगा उसको दूर करना चाहिये । ऐसे सब शत्रु दूर होपये तो पूर्ण आरोग्य, स्वाम स्वस्थ, अतुल्य आनंद और पूर्ण सुख प्राप्त होगा । यही मनुष्यका साध्य है । जबतक किसी स्थानपर शत्रु रहेगा तबतक किसी प्रकार सुख प्राप्त नहीं हो सकता । इसलिये घनुके साथ एका बर्ताव करना चाहिये कि वह दूर हो और उससे हम स्वंत्र रहें । यही [मदा देवदूतिः] वल्यलक्षणाक प्रार्थना हम करते हैं । अर्थात् हाएक मनुष्यको उचित है कि वह इस वस्थानमयी प्रार्थनाको करे और अपना कल्याण प्राप्त करे ।

मनुष्यकी आयुष्यमर्यादा ॥

तेरिष्वे मंत्रमें कहा है कि मनुष्यकी [आर्षेभ्यः परिधिः] आयुष्यकी मर्यादा, जीविकी आयुष्यमर्यादा, प्रत्येक योनिमें वरसाह होनेवाले प्राणियोंकी आयुष्यमर्यादा निश्चित है । मनुष्यकी आयुष्यमर्यादा (शतं शब्दः) ही वर्षकी है । वह निश्चित मर्यादा है अर्थात् सुनियमके पालनसे यह बड़ सकती है और अनियमोंके अवनतन कामसे घट भी सकती है । वह मनुष्यके आचरण है मनुष्य चाहे योगादि साधनोंके

अनुष्ठानसे अपनी आयुष्यमर्यादा बड़ा सकता है अथवा घटाने-कारणद्वारा घटा भी सकता है । इस तरह दोनों बातें संभव हैं । इसलिये मंत्रमें उद्दिष्ट है कि (मृत्यु अन्तर्-दीर्घता) मृत्युको अन्तर्दिष्ट करो, अर्थात् मृत्युको अवसर न दो, वह छिपा पड़ा रहे, वह उठकर किसीको अपने वश न कर सके । तुम एसा व्यवहार करो कि जिससे वह मृत्यु दूर हो सके ।

बौद्धोंमें मंत्रमें कहा है कि वृद्धावस्थाका स्वीकार करते हुए दीर्घायु (आरोग्य आयुः) धारण करो । अर्थात् अल्प आयुमें न मरो । ब्रह्मचर्यादि सुनियमपालन करने हुए मृत्युको दूर करो । [यतमानाः यति स्य] दीर्घायुप्राप्तका यत्न करते हुए अपने सुनियममें रहो । उन धर्मनियमोंका उल्लंघन न करो । ऐसा करोगे तो तुमको [जर्जरायुः सर्वं आयु नयद्] दीर्घजीवनके लिये पूर्ण अशुभक जानेकी संभावना होगी ।

यहां दीर्घजीवन कैसे प्राप्त होता है इसकी कुंजी है । पहिला नियम ' सुप्रजिना ' शब्दद्वारा प्रकट हुआ है । सुप्र-जिनाक्ष [युजेनिकस] का यथायोग्य पालन होना चाहिये । जननशास्त्रके नियम जानकर और उनका यथायोग्य पालन करके संतान उत्पन्न करनी चाहिये । मातापिता वैयधिक आशुचारसे अपने व्यवहार बचावें । गुणवत्ता निर्माणद्वारा राष्ट्रका यथा वृद्धिगत करना अपना कर्तव्य है, यही मनमें धारण करें और सुप्रजा-जनन करें । दूसरा नियम ' ट्योबाः ' शब्दद्वारा प्रकट हुआ है । प्रतिक साय, वरसाहके साथ, एक जीवनके मावके साथ क्रीडणका संबंध होना चाहिये । इसी तरह राष्ट्रमें सबका प्रेमसे संबंध हो, सबका जीवन एक हो और सब लोग वरसाहके साथ अपना कर्तव्य उत्तम प्रकार करते रहें । यह परस्पर व्यवहारका उपदेश है । तीसरा नियम ' त्वष्टा ' शब्दद्वारा बताया है । त्वष्टाका अर्थ है कारीगर, कुशल कर्म करनेवाला, कर्ममें कुशल । मनुष्य जो दीर्घजीवन प्राप्त करना चाहता है, वह किसी कारीगरमें नियुक्त होवे । क्योंकि कारीगरोंसे मनकी तल्लीनता प्राप्त होती है और इसी कारण जागतिक दुःखोंसे मुक्तता होगी है और दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है । दीर्घजीवन प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको किस तरह बर्ताव करना चाहिये, इसका निर्देश इन तीन

घबरोड़ा। इस मंत्रसे यहाँ दिया है । पाठक इसका उत्तम मनन करे और योग्य बोध प्राप्त करके उससे अपने आचारमें उल्लेखी दान करे ।

पदचोसवै मंत्रमें यथाक्रम मनुष्यको मृत्यु प्राप्त होवे ऐसा कहा है, अर्थात् वृद्ध मनुष्य पहिले मरे, उनके पीछे आयुके क्रमसे मनुष्य मरे । वृद्धके पूर्व सद्यः अथवा बालक न मरे । सब लोगोका यथायोग्य जनन, पालन और पोषण होता रहेगा तब अकालमृत्यु दूर होगी और यथाक्रम मृत्यु होगी ।

नदीका प्रचंड वेग ।

आगेके [२६ और २७ इन] दो मंत्रोंमें संसारका प्रचंड वेगवती महाजनक उत्तम कालप्रथम वर्णन है । ये मंत्र सबके स्थानमें धारण करने चाहिये । इस प्रचंड वेगवती नदीसे ही हम सबको पार होना है । यह [अदमन्वती] पाप-रोधनी मदानक नदी है । इसमें स्थानस्थानपर पत्थर है, अतः मार्ग अच्युत प्रचारा नहीं मिलता । चलने लगे तो पत्थरोंपर टकर लगती है, गर्भमें पकनेकी संभावना है । यह नदी [रुन्दते, रीचते] बड़े प्रचंड वेगसे चल रही है, इस वेगके कारण पार होनेवाला किन्हीं स्थानपर पथ नहीं उतरता । यहाँ बड़ा भय है । इनसे पार हुए बिना कार्य नहीं चलेगा । पार तो होना ही चाहिये । अतः हरएकको पार होनेके लिये बाटबद्ध होना चाहिये ।

कैसे पार हो सकते हैं ? क्या अडेला अडेला मनुष्य इस नदीसे पार हो सकता है ? बर्मा नहीं । इस नदीसे पार होनेके लिये बड़ा है कि (उभिष्टत, संमध्यं) उठो, माई ! अपनी अपनी खाँको संमालो, अपने जीवनके संमालो । अस्वास्वपाणतासे ही सर्वस्वनाश होगा, ध्यान रखो । समय बड़ा ही बड़ी है, सबको बड़ी सावधानी धारण करके तैयार होना चाहिये । (वीरदध्यं, प्रतरत) माई ! बीरता धारण करो, करनेसे कोई प्रयाजन नहीं होगा । माईजी ! लोगे तो भी मरना है और न करोगे तो भी मरोगे, परंतु संभलकर मिलकर दुर्घटसे उपाय करोगे तोही पार हो सकते हो । यहाँ रहकर रीतेपीठते आभोगे तब कोई काम नहीं होगा । रोना पोटना कामा छोड़ दो, (प्रतरत) तैरिका यत्न करो, मिलकर तैरिका यत्न बड़ी सावधानीसे करो, तभी कुछ बन सकता है । नहीं तो कोई दूसरा उपाय नहीं है ।

परंतु आगेके पाठ स्वर्धो खोजोहा भार बहुत ही है । यह सबभार अपने पास रखोगे तो निश्चय हीचम ही दूब मरोगे । ये स्वर्धोकी खोजें आपने अपने पास क्यों रखी हैं ? (अत्र जहात वे असत्र दुरेवा अर्धावः) माईजी ! इनमेंसे जो खोजें अनावश्यक हैं, स्वर्ध हैं, तिनका कोई उपयोग नहीं है, उनको यहाँ फेंक द जिंघे । इतना भार नदीके बीचमें संभाला नहीं जायगा । अतः वे अनावश्यक पदार्थ आप यहाँ छोड़ दीजिये । जो पदार्थ ऐसे हैं कि जो फेंक दिये तो भी कुछ पर्याह नहीं है उनको यहाँ फेंक दो । इसके अपने पासका बोझ कम होगा और हम आनंदसे पार हो सकेंगे । अतः अनावश्यक पदार्थोंका भोग छोड़ दो ।

यदि हम [उत्तरेम] नदी पार हो जायगे तो उस परले-तीरपर बड़ा होश है, वहाँ जो जो अनावश्यक वस्तुएं हैं, वे लेंगे । तबकी चिन्ता यहाँ करनेकी क्या अनावश्यकता है ? यहाँ उत्तरेम पर (अनमिवात्त शिवान् स्थानान् वात्रान् आभि) नीरोग, द्रुम, सुखदायी भोग अवश्य प्राप्त करोगे । परंतु इन अनावश्यक पदार्थोंका भार सिरपर रखोगे तो परले तीरपर पहुँचना अशुभवभाव है ।

यहाँ वाय्यमया माघ से बड़ा मनोहर उपदेश दिया है । जो इसका मनन करेगे वे बहुत बोध प्राप्त कर सकेंगे । हर-एक स्थानपर बटुका समय दूर करनेके लिये यही उपदेश अत्यंत उपयोगी है । पाठक इसका मनन करे और अनावश्यक बोध प्राप्त करे और उससे अपने जीवनमें परि-वर्तित कर दे ।

सौ वर्षोंकी पूर्ण आयु ।

अह्वाइसवै मंत्रमें [शतं दिवाः सर्वनीग मयेम] की वर्णित सब बातबोधके समस्त हम आनंदसे रहेंगे, ऐसा कहा है । कैसे सौ वर्षोंकी दीर्घ आयु प्राप्त कर सकेंगे ? अपमृगुधो विधि तरह दूर कर सकेंगे ? इसका उत्तर यह है कि [दुरिता पदानि अतिक्रमन्तः] पापके स्थानोंका अतिक्रमण करनेसे यह सब हो सकेगा । पापके स्थान अनेक हैं, उनको गिनती नहीं हा सकेगी । परंतु जो पापका स्थान होगा, वहाँ जाना नहीं, उस कार्यमें भाग नहीं लेना और पापमार्गपर पथ नहीं रखना यहाँ एक उपाय है कि जिससे निश्चयसे दीर्घायु प्राप्त हो सकेगी ।

प्राणके मार्गसे न जानेसे ही [शुद्धाः शुद्धयः पावकाः] शुद्ध, पुनर्न और पवित्र होना संभव है। और शुद्ध और पवित्र होनेसेही दीर्घायु होना संभव है। इसकी साधनाके लिये [वर्षसे वर्षदेवीं आरामधरं] सब देवताओं की अपने अन्दर धारणा करनी चाहिये, प्रार्थना करनी चाहिये। सब देवताएं तो अपने शरीरमें हैं ही, उनको जानकर उनका यथायोग्य स्वागत करना चाहिये। सब देवताओंका निवास वेद-धर्मोंमें ही है, उस देवी बाणीका धारण करनेसे मनुष्य पवित्र और शुद्ध हो सकता है।

यदि उन्नतिकी साधना करनेकी इच्छा है तो २९ वें मंत्रमें कहा है उसमें अनुसारा [अथान् अतिक्रमन्तः] नीचे मार्गोद्यो अतिक्रमण करना चाहिये। कमी नीचमार्गसे एक भी बह्य आगे बढ़ाना नहीं चाहिये। यहाँ बड़ा इतिशब्द समझा है, शरीरिक नीच मार्गसे गिरना बड़ा आपत्त है। ऊँचे मार्गपर चढ़ना ही प्रयागसे साध्य होनेवाली बात है। [सर्वधीनैः पवित्रैः] उच्च स्थानके मार्गोंसे जाना चाहिये, तभी उन्नति होगी। [कृत्स्नः परोठाः] इसी तरह अपना उन्नति करके हुए अविभोग उच्च भोगको पशुं चतुर्षु हैं। उन्होंने बड़े बड़े यत्न करके तीन तीन बार और सत सत बार तप [त्रिः षण्णकृत्वः] करके अपनी उन्नतिकी साधन किया। इसी साधनासे (मृत्युं प्राशौदन्) वे मृत्युको दूर करनेमें सफल हुए। यहाँ मार्ग दीर्घजीवन प्राप्त करनेका है। अतः पठक अपने आपको इसी मार्गसे ले जाय और निश्चय पूर्वक उन्नतिकी प्राप्ति करें।

(मूर्ध्निः पदं योपचन्दः) अपने चिरपर को मृत्युका पाँव है, उसको अपने प्रदलसे दूर करो। तुम प्रयत्न करोगे तो वह पाँव दूर हो-सकता है। तुमने प्रयत्न न किया तो उस पाँवके नीचे तुम्हारा चिर दह जायगा। अतः अन्मृत्यु दूर करनेके लिये तुम्हें प्रतिदिन प्रयत्न करना चाहिये। (शोभायं आनुः प्रतरं दक्षानः) यह ही वर्षकी पूर्ण आयु अधिक दीर्घ बनाकर-जाय करो। पड़ेके तुम्हारी ही वर्षकी आयु है, यह तो स्वाभाविक मर्यादा है। इस मूल धनकी वृद्धि करना तुम्हारे आधीन है, तुम्हारे प्रयत्नसे ही इस आयुकी धनकी वृद्धि हो सकती है। (आशीनाः मृत्युं नुदत) असर्वादि योगप्रचन टटारतके साथ करते हुए तुम सब अगमृत्युको दूर करो। कम नियम आसन प्राणायाम आदि योग

साधन करनेसे शरीरस्वच्छ उन्नत प्राप्त होता है, ध्यान धारणासे उन्नत मानसिद्धि स्वास्थ्य मिलता है, इस तरह मानसिक और शरीरिक स्वास्थ्य प्राप्त होनेसे मनुष्यकी आयु बढ़ती है। मनुष्य इस तरह जिनित रहें तो ही वे (विदमं आवेदम) ज्ञानके बढौनका विचार कर सकते हैं।

आगे ३१ वें मंत्रमें कहा है कि " श्रियां विधवा न ह्यं " अर्थात् उनके पति अल्प आयुमें न मरें। श्रियां शोचनयसे युक्त हों और (अन्ननेन) आँखों पर अन्न- अन्न लगाकर, तेल आदि सिरमें मलकर आभूषण धारण करके सुंदर रहें। वे धरके मृगण हैं। वे देवियां हैं, अतः इनकी पूजा या धरमें होती रहें। श्रियां किहीमी धरमें न (अन्-अश्रव) रोती रहें वे आनन्दप्रसन्न रहें तथा वे (अन्-अमीशाः) नीरोग रहें और (सुखानाः) उत्तम रसोंके आभूषण धारण करके अपना सौंदर्य बढ़ाती रहें। अर्थात् धरमें श्रियोंको उदास नहीं रहना चाहिए। ऐसी श्रियां पतिके साथ आनन्दप्रसन्नतापूर्वक गृहस्थधर्म पाठन करें।

धरमें रहनेवाले सभी लोग हवन करते रहें। प्रतिदिन आनन्दप्रसन्न होकर हवन करें। इस हवनमें पितृगणोंके स्वभावित मिलेगी और जीवित मनुष्योंकी दीर्घायु प्राप्त होगी। (मंत्र ३२)

३३ वें मंत्रमें इतना ही कहा है कि हवनान्तिके साथ कीर्त द्वेषमव अथवा विष्ट भव न रखे। सब लोग आदरके साथ हवन करें। ३४ से ३६ तकके तीन मंत्रोंमें कहा है कि शत्रुदहक अग्नि सतत जलता न रहे, इसके लिये दहन करना चाहिये। अर्थात् मनुष्योंकी अपनी दीर्घायुके लिये दहन करना चाहिये। दहएक मनुष्यका कर्तव्य है कि वह (गित्यन्तः) पितरों के लिये अपने (मद्गन्तः) जलाने विद्वान्तिके लिये आ- (आत्मने) अपने लिये को दित्तधारक होगा, वही को- (नका अदित्त कभी न करे। आगेके ३ मंत्रोंमें भी वही कथ्याद अग्निदीर्घी बात कही है। अन्तिके धरमें मृत्यु होती है, वे पर (अ-यश्रियाः) अविद्य होत हैं, (हतवर्षाः) निस्तेज होते हैं शोभाहित होते हैं। कृष, गौ और धनके हीन होने हैं। [प्राज्ञाः गृहाः] वे पर पीछासे दुक्त होते हैं। सब लोग श्रेष्ठसे दुक्त होते हैं। यहाँ कीर्त भी मनुष्य आनन्दप्रसन्न नहीं रहता है यहाँ पुरुषकी मृत्यु होती है, यहाँ ही विधवा होती है और वह पर दुःखदायक नहीं रहता है। इसीलिये। दहएक

वीर्यजीवन प्राप्त करनेका ध्यान करना चाहिए। ३१ वे मंत्रका विचार इन मंत्रोंके साथ करनेसे प्रतीत होता है कि विषया विषय न अशन आत्ममें शान्ती है, न मायपर तेल मलती है, न अदृष्ट वपदे पहनती है, न ज्वर पहनती है, व तो सदा गौरी रहती है, आसु महती है और दुःखके कारण कृषा होती है और रोगी भी होती है।

आगे ५० वे मंत्रमें कहा है कि जो (रिं) पाप और [शपत्] दोष मनुष्य करता है, जो [दुष्कृत] कृत्य मनुष्य करता है, उसकी शुद्धि जलसे होगी। अलप्रयोग शुद्धता कारकशाल है। सब रोगबीज जलके प्रयोगसे दूर होते हैं, शरीर निर्मल होनेसे दोषकादी होता है। ५१ वे मंत्रमें पर्वतशिखरपर (पर्वतेश्वर अधिभूषे) पाप करनेसे बड़ा काम होता है ऐसा कहा है। पर्वतके शिखरपर वायु युद्ध होती है और इसके सेवनसे मनुष्य नीरोग हो जाता है। यह अणुमयकी बात है। यहाँ 'पर्वत' को 'वृषभ' कहा है, यहाँ वृषभका अर्थ बल बढ़ानेवाला है। पर्वतशिखरपर शुद्ध वायु बल बढ़ानेवाला ही होता है। वायु ही प्राणका रूप धारण करके मनुष्यमें अधिभूषण के बढाता है। यहाँ पर्वतस (नवाः सतिः) नृपन सन्ने चलते हैं, उनका जलभी आरोग्यवर्धक होता है। व्यायाम, शुद्ध वायु, बलम अल और परिशुद्ध वायुमंडल इतनी बातें पर्वत शिखरपर होती हैं, इसलिए पर्वतशिखर दैर्घ्यायु देनेवाला होता है। पाठक अपने दिग्में देखें कि ऐसे उत्तम आरोग्यसंपन्न पर्वतशिखर कौनसे हैं। यहाँ शंभु और महाशुभुम वायुसे अधिभूषण अधिष्ठ काम उठावें।

मंत्र ५३ और ५३ में ऋष्याद् अग्निरो रक्षनेहा हीविधान है। ऋष्यद् अग्निरो दूर करनेका ही शयं मृत्युको दूर करना है। आगेके तीस मंत्रोंमें गुणधरता यह कहा है कि गृहस्थी लोग घर घरमें अग्नि प्रदीप्त करके हवन करें। इस हवनसे मनुष्योंको दार्ढ्य आयु प्राप्त हो। जो मर चुके हैं वे पितृलोभमें पले लें और जो जीवित हैं उनके कल्याण, धन और दण्ड प्राप्त हो और वे दार्ढ्यभीवी बनें। सब शत्रु दूर हो जाय और जनताको सुख और शान्ति मिले।

आगेके ६३ से ५९ तकके मंत्रोंमें कहा है कि गृहस्थी लोग अपने घरमें हवनान्न प्रदीप्त करें। यह अग्नि उनछं शुभ अवस्थाको प्राप्त करा देगा। गृहस्थी लोग-यज्ञरूप नीचके द्वारा अपने दुःख दूर करें, पूर्वजकायसे काम बढावें, अपने

रोग और ब्याधी दूर करें और नरोगता प्राप्त करके आनंदके साथ दीर्घायुका आनंद भोगें।

जो लोग पापमें अपना जीवन व्यतीत करते हैं, वे अपमृत्युके दुःख भोगते हैं। अतः मनुष्योंको उचित है कि वे पाप न करें और शत्रु पुण्यभागमें ही दण्ड खाए रहें। यह आशय ५० वे मंत्रका है। एककावनवे मंत्रमें कहा है कि जो धर्माहीन, धनलोभो, पतिमहती लोग हैं और जो दूसरोंके शिष्यर चक्षुर उनको खाने हैं, या छटते या उनको दुःख देते हैं, वे सदा पापभागो होते हैं। उनके पाप अनगिनत होते हैं और उस कारण उनके दुःख भी बहुत ही होते हैं। अतः मनुष्य पापसे बचे रहे जिससे वे सुखी हो सकते हैं। बचनेमें मंत्रमें ऐसा कहा है कि जो धारंवार पाप मार्गसे ही चलते हैं, उनको दुःख भोगना ही पडता है। अतः दुःख और मृत्युसे बचनेका एक मात्र उपाय यह है कि वे पापसे बचे रहें। पापसे बचनेसे ही केषल दुःखसे और अपमृत्युसे बचना संभव है।

आगे प्रेपनवे मंत्रमें कहा है कि [कृष्णा अग्निः] शक्ति भेद अथवा कुलधी [शीघ्रं] शीघ्र, [चन्द्रं] लोहा, [वाषा पिष्टा] पिसे उबद यह सब मन्त्रका साधन है। वंश लोग इन शब्दोंका विचार करें और इनसे किधतरह भाव्य प्राप्त हो सकता है, इसकी विधि निश्चित करें। यह मंत्र बड़ा महत्त्वका है और शीघ्र करने योग्य है। आगे ५५ वे मंत्रमें भी [श्वोर्ष] हविषा, मंत्र, [तिस्रिज] तिरुके बंठल नद, आदि शब्दों द्वारा कुल महत्त्वका प्रयोग कहा है। यह भी अन्येषणीय है। इसका विचार सुविज्ञ भेद करें। यह यज्ञशास्त्रका विषय है और आरोग्यके साथ इसका यथिष्ठ संबंध है। अतः इसकी पद्धति सुविज्ञ वैद्याद्वारा निश्चित होनी उचित है।

आगे ५५ वे मंत्रमें कहा है कि सर्वदैन्य आदरपूर्वक मनुष्य करें। यह तो आरोग्यका एक साधन अपूर्वतिके साथ मनुष्यके पाप आया। मनुष्य इसका उत्तम उपयोग करे और लाभ उठवे। जो मनुष्य मर चुके हैं वे तो पितृ लोभके मार्गके पथिक बन चुके हैं। परंतु जो जीवित हैं उनके यहाँ रहकर ऐसा कार्य करना चाहिये कि जिससे उनके शीघ्र आयु प्राप्त हवे।

इस शब्द इस सूक्तमें केवल प्रार्थनाएँ ही हैं, परंतु उनमें भी बड़ा बोधप्रद उपदेश दिया है। जो लोग इसका मनन करेंगे और आवश्यक बातें अपने आचरणमें लावेंगे, वे बहुत काम प्राप्त करते हुए हृष्टपरलोकमें सुखके भागी हो सकते हैं।

स्वर्ग और ओदन ।

(३)

(श्रुतिः—यमः । देवता-स्वर्गः, ओदनः, अग्निः)

पुमान् पुंसोऽधि तिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्यस्व यत्प्रापिया तै ।
 यावन्तावग्रे प्रथमं संभेयधुस्तद् वां वधौ यमराज्ये समानम् ॥१॥
 तांश्च वां चसुस्तर्हि श्रीर्षोणि तावत् तेजस्ततिथा वाजिनानि ।
 अग्निः शरीरं सचते यदैधोऽघां पुत्रान्निधुना सं भवायः ॥२॥
 सर्भसिद्धोके समुं देव्याने सं स्मा समेतं यमराज्येषु ।
 पुतौ प्रवित्रैरुप तद्भवेथां यद्यद् रेतो अधि वां संभूय ॥३॥

अर्थ—(पुंसः पुमान्) मनुष्यमें तापरात्र् पुष्वत् (अतिविष्ट) अर्घ्योका अधिष्ठाता बनकर विराज । (चर्मे हि) आसनपर बैठ । (तत्र ते यत्प्रापिया ह्यस्व, वधौ जो ठेरे विष्टोऽधि हैं इनको युवा । (अग्ने यावन्तौ प्रथमं सं भवेयुः) पहिले जो सबसे प्रथम मिल गये थे (तद् वां वधः) वह आपका सामर्थ्य (यमराज्ये समानं) यमराज्यमें समान है ॥ १ ॥

(तावत् वां वधुः) बेसी बलवान् आपकी दृष्टि है, (त्वि वीर्षोणि) जैसे आपके पराक्रम हैं । (तावत् तेजः) वैया आपका तेज है, (ततिथा वाजिनानि) और जैसे आपके बल हैं । (यद्वा अग्निः एवः शरीरं सचते) जब अग्नि समिधाके समान रूप शरीरको प्रदीप्त करता है (अथा) तब है (निधुना) पतिवत्नी (यत्रात् संभवायः) परिपक्व होनेके पक्षत् तुम उत्पन्न होते हो ॥ २ ॥

(आग्निम् लोके सं एतं) इस लोकमें मिलकर रहो । (देव्याने उ सं एतं) देवमार्गमें मिलकर चलो । (यमराज्येषु सं समेतं) नियन्ताके राज्यमें भी मिलकर जाओ । (यत् यत् वां रेतः) जो जो तुम दोनोंका शीर्ष पराक्रम आदि (सं भूय) मिलकर होनेवाला है, (तद्) वह (पुतौ) स्वयं पवित्र होते हुए तुम दोनों (उप ह्वयेथां) प्राप्त करो, अपने पास बुलाओ ॥ ३ ॥

भावार्थ— मनुष्योंमें जो सबसे अधिक बलवान् होगा, वही सबका अधिष्ठाता होने योग्य है । वैया मनुष्य अधिष्ठाता बने । वह मुख्य आसनपर बैठे । वह अपने हितकारी अनुयायियोंको बुलावे, सबको एकत्र मिलावे । यह मिलाप ही अग्नि उत्पन्न करता है । और इसीसे राज्यका नियंत्रण होता है । राष्ट्रमें यह अग्नि समान रीतिसे बाँटी जावे, अर्थात् किसी एकमें यह अत्यधिक रीतिसे केंद्रित न होवे ॥ १ ॥

ऐसा होनेसे ही सबकी दूरदृष्टी होगी, सबसे पराक्रम होगा, सबका तेज फैलगा और बल बढ़ेगा । जैसा अग्नि सक्तियोंका तेज बढ़ाता है, वैया यह सक्ति बल मनुष्योंका तेज बढ़ाता है, इसीसे सब प्रकारकी शक्तियोंकी परिपक्वता होती है और इसीसे युद्ध भी हाँ सचती है ॥ २ ॥

दोनों मिलकर रहें, आपसमें कभी विरोध न रहें । इस लोकमें करनेके कार्यमें, देवमार्गके प्रयासमें और यमराज्यमें भी मिलकर रहनेसे लाभ होंगे । आपसकी फूट होनेसे ही दुःख होगा । जो कुछ शीर्ष पराक्रम करना हो, वह सब स्वयं पवित्र होकर अपना संगठन करके करो ॥ ३ ॥

आपंस्पृश्यासो अग्निं सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य ।	
तासां भजध्वममृतं यमाहुर्मर्मादुनं पचति वां जनित्री ।	॥४॥
यं वां पिता पचति यं चं माता रिप्राभिर्मुक्त्यै शर्मलाच वाचः ।	
स औदुनः शतधाराः स्वर्ग उभे व्यापि नमसी महित्वा	॥५॥
उभे नमसी उभयांश्च लोकान् यं यज्वनामुभिर्जिताः स्वर्गाः ।	
तेषां ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे तस्मिन् पुत्रैर्जसि सं श्रेयेथाम्	॥६॥
प्राचीं प्राचीं प्रदिशमा रंभेथामेतं लोकं श्रद्धधानाः सचन्ते ।	
यद् वां पक्कं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तं ये दम्पती सं श्रेयेथाम्	॥७॥

धर्म- दे (पुत्राय) पुत्रो ! (मायः अभिर्भवेत्सर्वं) जलोंमें चुलो । दे (जो रक्षयः) जीवको धन्य करनेवालो । (इमं जीवं समेत्य) इस जीवदशासे गल होकर (तासां अमृतं भजध्वं) उन जीवदशासे अमृतको प्राप्त करो । (यं ओदनं वां जनित्री पचति) तिस अमृतवाद्यको आपकी जननी-प्रकृति—पका रही है इयका सर (मातुः) वर्णन करते हैं ॥ ४ ॥

(वां पिता माता च) आपके माता और पिता (रिप्राय रामलाय च वाचः त्रैमुक्त्यै) पापयुक्त जाँर मलिनता मुक्त वाणीसे मुक्त होनेके लिये (यं पचति) जिसको परिपक्व कर रहे हैं, (सः शतधाराः स्वर्गः ओदनः) वह सैकड़ों प्रवाहोंसे सुख देनेवाला स्वर्गद्वाराक अन्न (मन्दिशा उभे नमसी व्यापि) अपने महिमासे दोनों लोकोंको व्यापता है ॥ ५ ॥

(ये यज्वनां अभिर्जिताः स्वर्गाः) जो याजकोंको प्रसन्न होनेवाले स्वर्गलोक हैं, उन (उभे नमसी, उभयात् च लोकान्) उन दोनों लोकोंको प्रसन्न हीरो । (तेषां यः मधुमान् ज्योतिष्मान्) उनमें जो मीठा और तेजस्वी स्वर्ग है, वह प्राप्त करो । (तस्मिन् अग्रे) उनमें मुख्य स्थानपर (पुत्रैः जसि सं श्रेयेथाम्) पुत्रोंके साथ बृद्ध अवस्थामें आश्रय करो ॥ ६ ॥

(प्राचीं प्राचीं प्रदिशं आरभेयां) पूर्व दिशाकी ओर भागे बढो, (एतं लोकं श्रद्धधानाः सचन्ते) इस लोकको अर्थात् वात् लोग प्राप्त करते हैं । (यद् वां पक्कं अग्नौ परिविष्टं) जो तुम्हारा परिपक्व होकर अग्निमें दहन किया गया है, हे (दम्पती) कीपुत्रयो ! (तस्य गुप्तं संश्रेयेथम्) उसकी रक्षाके लिये गृहस्थापनका आश्रय करो ॥ ७ ॥

भाषार्थ— हे अपने अरमाको धन्य कानवाले साधको ! तुम अपने जीवनमें शुद्ध रहो, कभी अशुद्ध न बने । इस जीवनको प्राप्त करके अमर बने, तुम्हारे लिये अमृत प्रदान करनेके लिये ही तुम्हारी प्रकृतिमाता दूध अर्द्ध अमृतवाद्यसे तैयार कर रही है ॥ ४ ॥

पापप्रशुति और मलेन वर्णके दोषोंसे मुक्त होना चाहिये । यही माता पिता और पुत्रोंको भी करना चाहिये ! सब लोग वर्णोंको शुद्ध करें । इसीसे सौगुना स्वर्गमूल प्राप्त हो सकता है, जो इह-पर लोकमें मिलनेवाला है ॥ ५ ॥

यज्ञकर्तारोंको जो शुभलोक प्राप्त होते हैं उनमें जो अग्रप्रे अग्र स्थान है, जो अधिक सुखदायी और अधिक तेजस्वी है, उसको प्राप्त करके बृद्ध अवस्थामें पुत्रोंके समेत वहाँ आनंदसे रहो ॥ ६ ॥

धर्मासे प्रकाशकी दिशासे भागे बढो, धर्मासे ही उन्नति प्राप्त होती है । जो कुछ परिपक्व फल हुना है उसको रखा करनेका यत्न मिलकर करो ॥ ७ ॥

दाक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् ।
 तस्मिन् वा यमः पितृभिः संविदानः पृक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात् ॥ ८ ॥
 प्रतीचीं दिशामियमिद् वरं यस्यां सोमो अधिपा मृद्धिता च ।
 तस्यां श्रयेथां सुकृतैः सचेयामर्घा पृक्वाभियुना सं भवायः ॥ ९ ॥
 उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद् दिशामुदीची कृणवन्नो अग्रम् ।
 पाङ्क्तं छन्दः पुरुषो बभूव विश्वैर्विश्वाङ्गैः सह सं भवेम ॥ १० ॥ (१३)
 ध्रुवेयं विराणमो अस्त्वस्यै शिवा पुत्रेभ्यं उत मर्हामस्तु ।
 सा नो देव्यदिते विश्ववार इयं इव गोपा अभि रक्ष पृक्म् ॥ ११ ॥

अर्थ—(दाक्षिणां दिशं अभिनक्षमाणौ) दाक्षिण दिशाकी ओर अपना कदम बढाते हुए (एतत् पात्रं अभिपर्यावर्तेथां) इस पात्रके चारोंओर भ्रमण करो । (तस्मिन् वा) तममें तुमको (पितृभिः संविदानः यमः) पितरोंके साथ हरनेवाला यम (पृक्वाय बहुलं शर्म नियच्छात्) परिपक्व होनेके लिये बहुत सुख प्रदान करे ॥ ८ ॥

इयं प्रतीची) यह पश्चिमदिशा है, (इत् दिशां वरं) यह दिशाओंमें श्रेष्ठ दिशा है । (यस्यां सोमः अधिपा मृद्धिता च) जिन दिशामें सोम अधिराजि और सुखदाता है, (तस्यां श्रयेथां) उसमें आश्रय करो और (सुकृतैः सचेथां) सुकृतको प्राप्त होवो । (इ मिथुनौ अथा पृक्वात् सं भवायः) हे श्रीपुरुषो ! पश्चात् परिपक्व होनेपर मिलकर उद्यतिको प्राप्त होवो ॥ ९ ॥

(उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावत्) श्रेष्ठ राष्ट्र सुप्रजासे अधिक श्रेष्ठ होता है । (उदीची दिशां नः अग्रं कृणवत्) यह उत्तर दिशा हमको आगे बढावे । (पुरुषः पृक्कं छन्दः बभूव) मनुष्य पचविध छन्दवाला होता है । हम सब (विश्वैः विश्वानिः सह सं भवेम) सर्व अंगोंके साथ परिपूर्ण उद्यत होंगे ॥ १० ॥

(इयं पृथा विराट्) यह पृथ्वी दिशा वही शोभादायक है । (अस्यै नमः अस्तु) इसके लिये नमस्कार हो । (पुत्रेभ्यः उत मर्हो शिवा अस्तु) यह पुत्रोंके लिये और मेरे लिये छुम हो । हे (विश्वं र अदिते देवि) विश्वका हित करनेवाली अन्न देनेवाली देवी ! (सा नः इयं इव) वह तू हमें अच्छे समान (गोपा पक्वं अभिरक्ष) सुरक्षित करती हुई परिपक्व करके सुरक्षित कर ॥ ११ ॥

भावार्थ— गृहस्थाश्रममें दक्षताकी दिशासे आगे बढ़ते हुए अपनी पात्रताके केन्द्रके साथ रहो । वहां तुम्हारी परिपक्वता होनेके लिये नियामक देव तुम्हारी सहायता करेगा । वही तुम्हें सुख देता हुआ आगे ले जायगा ॥ ८ ॥

पश्चिमदिशा विश्रामकी दिशा है, यहां सोमदेव सुख देता है । इसमें—गृहस्थाश्रममें—विश्राम करके अच्छे कर्म करो और अपने आपको परिपक्व करते हुए उद्यत हो जाओ ॥ ९ ॥

पश्चात्क उद्यतसे राष्ट्र अधिक उंचा होगा है । अधिक उंचा होना ही उत्तर [उद्यत] दिशाका संदेश है । मनुष्योंके पांच भेद हैं और उनका सर्वांगीण उद्यति संगठनसे ही हो सकती है ॥ १० ॥

यह पृथ्वीदिशा है, यह अन्न देनेवाली पृथ्वी है, इस मातृभूमिके लिये मेरा नमस्कार है । यह मुझे और मेरी संतानोंके लिये छुम होवे । यह हमारी रक्षाम रक्षा करे ॥ ११ ॥

पितृवै पुत्रानभि सं स्ववस्व नः शिवा नो वाता इव वान्तु भूमौ ।

यमोदुर्न पर्वतो देवते इह तं नुस्वपं उत सत्यं च वेत्तु ॥१२॥

यद्यत् कृष्णः संकुन एह गत्वा त्सरन् विषक्तं बिलं आसत्ताद ।

यद्वा दास्या इर्द्रैस्ता समृक्क उल्लंछं सुसलं शुम्भतापः ॥१३॥

अयं प्रावा पृथुबुधो वयोधाः पूतः पवित्रैरपं हन्तु रक्षः ।

आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दम्पती पौत्रंमर्घं नि गाताम् ॥१४॥

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचो अप्पाघमानः ।

स उच्छ्रयातै प्र वंदाति वाचं तेन लोकौ अभि सर्वान् जयेम ॥१५॥

अर्थ—(विता इव पुत्रान् नः अभि सं स्ववस्व) जैसे विता पुत्रोंको जैसे धूम हम सबको मिछो । (इह भूमौ नः वाताः शिवाः वान्तु) इस भूमिमें हमारे लिये धूम वायु बहये रहे । हे देवते ! (इह तं नुस्वपं पञ्चतः) यहाँ जिस अङ्गको ये दो पंक्तियाँ हैं (तं नः तपः सत्यं च वेत्तु) वह हमारे तप और सत्यको जाने ॥ १२ ॥

(यत् यत् कृष्णः संकुनः इह आगता) यदि हाथा पक्षी-कौवा-यहाँ आकर (तस्य विसक्तं बिलं आसत्ताद्) छिछटा हुआ छिपछिपकर अपने बिलमें-घरमें-सुलकर बैठ जाय, (यद् वा दास्या इर्द्रैस्ता दासी) अथवा यदि गीठे हानों-पासी दासी (उल्लंछं सुसलं समं) छलछल और मूँसलको मीका करे, (शुम्भतापः) वह अट हर्षे पवित्र करे ॥ १३ ॥

(अयं प्रावा पृथुबुधः वयोधाः) यह पत्थर बिछाछ आचारवाटा अङ्ग देता है- अङ्ग कूटकर ठेंकार कर देता है (पवित्रैः पूतः रक्षः अपं हन्तु) पवित्रता करनेवाले साधनोंसे पुनीत होता हुआ यह दुष्टोंका नाश करे । (गाताम् चर्म) चर्मपर बैठ, (महि चर्म यच्छ) चका मुँस दे । (दम्पती पौत्रं अर्घं मा निगाता) बिपुत्रपौर पुत्रका पान न जाये ॥ १४ ॥

(वनस्पतिः सह नः आगन्) वृक्ष सब देवदाकियोंके साथ यहाँ हमारे पास आगता है । (रक्षयः पिशाचान् अप्पाघमानः) वह राक्षसों और पिशाचोंको दूर करता है । (स उच्छ्रयातै वाचं प्रवदाति) वह लंका उठता है और लौपणा करता है, कि (तेन सर्वान् लोकां अभिजयेम) उससे सब लोकोंको जीतिये ॥ १५ ॥

भावार्थ—विता पुत्रोंको प्यास करता है वैसा प्यास सब परस्पर करे । हमें चर्मवायु हितकारी हों । बड़दे लिये अङ्गना शिवाङ्ग करणवाले तप और सत्यका महत्त्व जानें ॥ १२ ॥

यदि कौवा आकर एकदम अपने बिलमें घुसे अथवा गीठे हाथसे दापी छलछलमूँसलको मीका करे, तो वह दोनों अङ्ग नहीं है, अर्थात् गीठे हाथसे कोई इनकी स्पर्श न करे ॥ १३ ॥

पृथुबुधः अत्यन्त और मूँसल घान स्वच्छ फर्मेक लिये भरछा है । पहिले पानी लादिसे स्पर्श करे और उपयोग करो पिच्छी चर्म आदिपर रखो और कूटो । कूटनेसे सब देव दूर होंगे और वह घान हितकारी होगा । इससे अप्पाघमानोंके पुत्रके नाशका दुःख सहना न पड़े, अर्थात् पुत्र धीम्र नहीं मरेगे ॥ १४ ॥

वनस्पति सब रोगबीजकरी राक्षसों और पिशाचोंको दूर करती है, उसकी घोषणा है कि उसके बलसे सब अङ्ग प्राप्त हति ॥ १५ ॥

सप्त मेघान् पशुवः पर्येगृहन् य एषां ज्योतिष्मो जुत यक्षकर्मै ।
 प्रयस्त्रिंशत् देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नैप लोकम् ॥१६॥
 स्वर्गं लोकमामि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम ।
 गृह्णामि हस्तमनु गैत्वत्र मा नस्तारीर्निर्भ्रतिर्भो अरातिः ॥१७॥
 ग्राहिं पाप्मानमति तां अयाम तमो व्यस्य प्र वंदाति वृत्सु ।
 वानस्पत्य उर्ध्वतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देव्यन्तम् ॥१८॥
 विश्वव्यंथा धृतपृष्ठो भविष्यन्त्सर्षोर्निर्लोकमुप याहोतम् ।
 वर्षपृष्ठमुप यच्छ शूर्पं तुपं पलावानप तद् विनक्त ॥१९॥

अर्थ—(पशवः सप्त मेघान् परि अगृहन्) पशु सातों यज्ञोंको घेरते हैं । (प्रयः त्रिंशत् देवताः तां सचन्ते) छत्तीस देवताएँ उनका सेवन करते हैं । (यः एषां ज्योतिष्मान् जुत यः यक्षकर्मै) जो इनमें तेजस्वी और जो इनमें सूक्ष्म होता है : सं : न. स्वर्ग लोकं अभिनैप) वह लोग हमें स्वर्गलोकको प्राप्त करावे ॥ १६ ॥

(नः स्वर्गं लोकं अभिनयसि) हमें तु स्वर्गलोकमें पहुँचाता है, (जायया पुत्रैः सह स्याम) जो और पुत्रों से साथ हम यहाँ सुखसे रहें । (हस्तं गृह्णामि) जिसका मैं पाणिप्रदण करूँ वह सी (मा अन्न भुज्यतु) मेरी यहाँ भुज्यता है । (निर्भ्रतिः अरातिः नः मा तासीव) दुर्गति और शत्रु हमें कष्ट न दें ॥ १७ ॥

(तां पाप्मानं ग्राहिं) उस पापसे उत्पन्न होनेवाले रोगको (मति अयाम) पार करेंगे । (तमो व्यस्य वदसु प्रवृत्सु) संघर्षोंको दूर करके मनोहर वचन बोलेंगे । हे (वानस्पत्य) यनस्पतिसे बने हुए । तु (उच्यतः मा जिहिंसीः) उठकर मत हिंसा कर । (मा तण्डुलं) चावलका नाश न कर । (देव्यन्तं मा वि शरीः) देव बननेकी इच्छा करनेवालोंका नाश न कर ॥ १८ ॥

(विश्वव्यंथाः धृतपृष्ठः भविष्यन्) वारों और कैला हुआ धी जिसपर डाढा है पला होता हुआ (सधोभिः एषां लोकं उपयाहि) एक स्थानमें उत्पन्न हुआ तु इस लोकको प्राप्त हो । (वर्षपृष्ठं शूर्पं उपयच्छ) एक वर्षका सूय पास है और (तद् एवं पलावान् विनक्त) वह सूय और तिनकोंको दूर करे ॥ १९ ॥

भावार्थ—सातों यज्ञोंमें गौ आदि पशुओंके घृत आदि पदार्थोंका उपयोग होता है । छत्तीस देवताओंका इनयज्ञोंमें संबंध आता है । शुकपर्वमें तेजस्वी होनेवाला और कृष्णपर्वमें क्षीण होनेवाला योग अर्थात् यज्ञ एवं स्वर्गलोकः पहुँचावेगा ॥ १६ ॥

सूर्यको पीछे हम स्वर्गको प्राप्त होंगे, तबतक यहाँ श्री और पुत्रोंके साथ आनंदसे रहेंगे । मैं जिस क्षीका पाणिप्रदता करूँगा वह श्री मेरे साथ मेरी अनुगामिनी होकर रहे । हमें कोई दुर्गति और शत्रु कभी कष्ट न देवे ॥ १७ ॥

दीन आचारसे रोग उत्पन्न होते हैं, उनको दूर करना चाहिये । अज्ञानान्धकार दूर करना चाहिये । मनोहर भाषण बोलना चाहिये । इच्छे बना उल्लसमुख क्लिष्टिका नाश न करे, उसमें चावलका भी नाश न हो । दैवी शक्ति प्राप्त करनेके इच्छुकका कमी नाश न हो ॥ १८ ॥

अर्थकः कैला हुआ छात्र हाथमें लेकर धानसे दूध और तिनकोंको दूर करके उत्तम धानका संभार करे ॥ १९ ॥

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन धारैवासौ पृथिव्युन्तरिक्षम् ।
 अंशुन् गृभीत्वान्गारंभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम् ॥२०॥ (१४)
 पृथग्रूपार्णि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या ।
 एतां त्वच्च लोहिनीं तां नुदस्व प्रावां शुम्भाति मलग इव वक्षा ॥२१॥
 पृथिवीं त्वां पृथिव्यामा वंशयामि तनूः समानी विकृता त एषा ।
 यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्षेणन तेन मा सुन्नोर्भक्षणापि तद् वषामि ॥२२॥
 जनित्रीव प्रति हर्षासि सुतुं सं त्वां दधामि पृथिवीं पृथिव्या ।
 उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुषैराज्येनातिपक्ता ॥२३॥

अर्थ—(ब्राह्मणेन त्रयः लोकाः संमिताः) ब्राह्मणके ज्ञानसे तानों लोक प्राप्त हुए हैं । (असी घोः एव, पृथिवी अन्तरिक्षं) यह द्यु, यह अन्तरिक्ष और यह पृथ्वी है । (अंशुन् गृभीत्वा मनु भारमेधां) धान्यके भंशोंको केकर अनुकूलतासे पटकना आरंभ करा और (आप्यायतां) वृद्धिको प्राप्त हो तथा [पुन. शूर्पं भायन्तु] फिर छात्रपर शुद्ध होनेके लिये धान लिया त्रये ॥ २० ॥

[पशूना पृथक् बहुधा रूपाणि] पशुओंके पृथक् पृथक् अनेक रूप हैं, तथापि [समृद्ध्या एकरूपः भवसि] अपनी महिमासे सोम एकरूप होता है । [एतां तां लोहिनीं एवचं नुदस्व] इस छाल खचाको दूर कर । [मलगः वक्षा इव] जैसा घोबी वक्षोंको शुद्ध करता है, वैसा ही घोनेका [प्रावा शुम्भाति] पर्यर भी शुद्धण करता है ॥ २१ ॥

[एषा पृथिवीं पृथिव्यां आवेशयामि] पृथ्वीतरवको पृथ्वीमें ही स्थापित करता हूँ । [एष ते विकृता तनूः] यह तेरी । सृष्टिरूपी विकृत हुई तनू है । दूसरी तेरी समानी समानी अर्थात् न बिगड़ी हुई (प्रकृतिरूप) तनू है । (यद् यद् द्युत्तं लिखितं) जो कुछ पहिनेसे पिसा या खर्चा गया है, (तेन मा सुन्नोः) उस कारण वह न खरे । [तन् प्रक्षणा अपि वषामि] वह क्षामद्वारा ठीक करता हूँ ॥ २२ ॥

[जनित्रीं सुतुं इव] जननी जैसे अपने पुत्र को लती है वैसे ही [एषा प्रति हर्षासि] तुझे प्यार करती है । [पृथिवीं पृथिव्या दधामि] पृथ्वीतरवको पृथ्वीके साथ मिलाता हूँ । [उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठाः] घट और बर्तन आगपर न टूटें, [यज्ञायुषैः आज्येन अतिपक्ता] वे यज्ञसाधनों और घृत आदसे सिंचव हुए हैं ॥ २३ ॥

भाषार्थ— ब्राह्मणके ज्ञानसे भूमि, अन्तरिक्ष और सुलोककी प्रति होती है। वैसे ही छात्रसे धान्य स्वच्छ होता है, दुप दूर होता है और उत्तम स्वच्छ धान मिलता है । इस तरह बारंबार धान्य स्वच्छ करना योग्य है ॥ २० ॥

पशुओंमें अनेक रंगरूप हैं परंतु औषधि एक होती है । यही औषधि लाख चमड़ीको ठीक करती है । घोबी रूपके राफ करता है, उस प्रकार घोनेका पर्यरभी वषणोंको साफ करता है ॥ २१ ॥

पृथ्वीमें पृथ्वीतरव है, इसी तरह अन्य तरव अन्योमें हैं । मूल प्रकृति गुणसाम्या है, उससे बिगड़कर यह सृष्टि बनी है, अतः यह विकृत है । उपयोगसे इसमें विगाड होता है । ज्ञानसे यह विकृत कम की जा सकती है ॥ २२ ॥

माता पुत्रको जैसे प्यारसे पकड़ती है वैसे ही बर्तनोंको बर्तना चाहिये । बर्तनोंको अशुभवस्थासे तोड़ना नहीं चाहिये । घटके टुकड़ों आदि बर्तनोंमें घी भरा होता है और यज्ञसाधनोंका उससे संवध आता है ॥ २३ ॥

अग्निः पचन् रक्षतु त्वा पुरस्तादिन्द्रो रक्षतु दक्षिणतो मरुत्वान् । वरुणस्त्वा दंहाद्भरणे प्रतीच्या उत्तरात् त्वा सोमः सं ददाते	॥२४॥
पूताः पवित्रैः पचन्ते अत्राद् दिवं च यन्ति पृथिवीं च लोकान् । ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यगिरिन्धाम्	॥२५॥
आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अभ्यन्तरिक्षम् । शुद्धाः सतीस्ता उ शुभ्रमन्त एव ता नः स्वर्गमामि लोकं नयन्तु	॥२६॥
उतेर्व प्रम्बीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः । ता औदुनं दम्पतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिथन्तीः पचता सुनाथाः	॥२७॥
संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः । असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम्	॥२८॥

अर्थ—[पचन् अग्निः पुरस्ताद् त्वा रक्षतु] पकानेवाला अग्नि तेरी आंगसे रक्षा करे । [मरुत्वान् इन्द्रो दक्षिणतः रक्षतु मरुत्वोके साय इन्द्र दक्षिणकी ओरसे रक्षा करे । [प्रतीच्याः वरुणः धरणे त्वा दंहात्] पश्चिमसे वरुण तुझे आषारोंके रथानमें सुदृढ धरे । [सोमः स्वा उत्तरात् संददाते] सोम तुझे उत्तर दिशासे जोड़कर सुरक्षित रखे ॥ २४ ॥

जलधाराएं [पवित्रैः पूताः अत्रान् पचन्ते] पवित्रसे पुनीत होकर मेघोंसे आकर पचको पवित्र करते हैं । [दिवं पृथिवीं च लोकं यन्ति] पृथ्वी और पृथिवीको प्राप्त होते हैं । [ताः जीवलाः जीवधन्याः प्रतिष्ठाः] वह जीवण देनेवाली और जीवको धन्यता देनेवाली तथा सबको आषार देनेवाली [पात्रे आसिक्ताः] पात्रमें ढाकी गई जलधाराओंको [अग्निः पति इन्धो] अग्नि चारों ओरसे तपावे ॥ २५ ॥

[दिवः आयन्ति] जलधाराएं सुलोकसे आती हैं, [पृथिवीं सचन्ते] पृथ्वीपर एकत्रित होती हैं, [भूम्याः अन्तरिक्षे अधिमचन्ते] भूमिसे वाष्परूपसे अन्तरिक्षमें जमा होती हैं । वे (शुद्धाः सतीः धाः उ शुभ्रमन्त एव) शुद्धहुए जल सबको पवित्र करते हैं । (ताः नः स्वर्गं लोकं अभिनयन्तु) वे हमें स्वर्गलोकको प्राप्त करावे ॥ २६ ॥

(उत एव प्रम्बीः, उत संमितासः) जल निश्चयसे प्रभावयुक्त है और मंगल, [उत शुक्राः शुचयः अमृतास च] और वह बलवर्धक, पवित्र और अमृत है । [ताः प्रशिष्टाः सुनीथाः आपः] वह उत्तम शिष्टमंगल, उत्तम कायाहुआ जल [दम्पतीभ्यां औदुनं पचत] श्रीपुरुषके लिये चावल अन्न पकाता है ॥ २७ ॥

[संख्याताः-स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते] गिनेसुने जलबिंदु पृथ्वीपर आते हैं । वे [प्राणापानैः ओषधीभिः संमिताः] औषधियोंके साथ मिलनेसे प्राणापानके गुणोंसे युक्त होते हैं । [असंख्याताः ओप्यमानाः सुवर्णाः शुचयः] असंख्यात बिखरे हुए उत्तम रंगवाले शुद्ध जलाब्जि [सर्वं व्यापुः शिथन्तुः] सब पवित्रको व्यापते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ— अग्नि, इन्द्र, वरुण और सोम ये देव पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशासे सबको रक्षा करें ॥ २४ ॥ मेघसे वृष्टिद्वारा पृथ्वीपर आया जल पात्रोंमें भरकर रखा जाता है । यह जल जीवोंको जीवन देता, तृप्त करता और धन्य बनाता है । इसको अग्निद्वारा तपण किया जावे ॥ २५ ॥

जल वाष्परूपसे ऊपर जाता है और वहांसे वृष्टिरूपसे नीचे पृथ्वीपर आता है । यह शुद्ध अवस्थामें सबको शुद्ध करता हुआ सुख पहुंचाता है ॥ २६ ॥

जल प्रभावशाली, प्रशंसनीय, बलवर्धक, पवित्र, रोग दूर करनेवाला है । ऐसा उत्तम जल परिशुद्ध रीतिसे लाये हुए अन्नका पाक करनेमें प्रयुक्त हो । २७ ॥

कुछ पौधे जलके बिंदु औषधियोंसे मिश्रित होकर प्राणियोंके प्राण धारण करते हैं । परंतु अशुद्धतात सुंदर जलबिंदु हृत्तर तथर बिखर आते हैं । ये ही सर्वत्र फैले रहते हैं ॥ २८ ॥

उद्योषन्त्यमि वलन्ति तुषाः । फेनमस्यान्ति बहुलांश्च विन्दन् ।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्विषयार्थैस्तस्तुलैर्भवेत्ता समापः ॥२९॥

उत्थापय सीदतां च भ्रम एनान्निद्रात्मानमभि मं स्पृशन्ताम् ।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तेषुतुलाः प्रदिशो यक्षीमाः ॥३०॥ (१५)

प्र यच्छ पशु त्वरया ईरापमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन् ।
यासां सोमः परि राज्यं वभूवामन्वयुता नो वीरुषो भवन्तु ॥३१॥

नवैर्बहिरोदनाय स्तुणीत प्रियं हृदश्शुषो वल्ग्वस्ति ।
तस्मिन् देवाः सह देवीर्विशन्त्रिभ्रमं प्राश्रन्त्वृतुभिर्निपथं ॥३२॥

वर्नस्पत स्तुणीमा सीद बहिर्भिष्टोमैः संमिता देवताभिः ।
त्वष्ट्रेष रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददश्राम् ॥३३॥

अर्थ—[तप्तः उद्योषन्ति, अभिव्यन्ति] तथा जल युद्ध करता है, पुनराता है [फेनं बहुलांश्च विन्दन् प
अस्यन्ति] फेन और बुद्बुदवो फेनवा है । इ [आय] जलो ! [योषा पति दृष्ट्वा अस्मिन्मा संभवति] जैसी जमुक
को पतिको देखकर क्रतुस्मृते लिये एक होती है, उयी प्रकार [पतिः नशुलैः संभवत] इन चावलके साथ पर
जल मिल जावे ॥ २९ ॥

[हुनि सीदत. एनान् उथापय] नीचे बैठे हुए इन चावलको ऊपर उठाओ । [अमासिः अमानं अभिसंस्तुताम्]
जलके साथ वह स्वयं अच्छी तरह संयुक्त हो जाय । [यत् एतद् उदक पात्रैः अमासि] यह जल पात्रोंसे मैंने साथ लिय
है । [इहाः प्रदिशः तपुतुला. मिताः] तथा ये चारों दिशाओंमें जानेवाले चावल भी साथ हुए हैं ॥ ३० ॥

[पशुं प्रयच्छ] फरसा दो, [त्वरया] तीव्रता कर और [ओषं हर] यहाँ ले जा । [अहिमन्तः ओषधीः
पर्वन् दान्तु] हिंसा न करते हुए दाकड़ो पर्वोंको काटा जावे । (यासां राज्यं सोमः परि बभूव) इन औषधियोंके राग्य
का राजा सोम है । [वीरुषः नः अमन्वुता भवन्तु] औषधिया हमारे साथ जोघरहित हों ॥ ३१ ॥

[नवैर्बहिः ओदनाय स्तुणीत] नवीन चटार्ह इस चावलके लिये फैलाओ । [हृदः प्रियं चक्षुषः वक्षु अन्तु]
यह सब हृदयके लिये प्रिय और देखनेके लिये सुंदर हो । [तस्मिन् देवाः देवीः सह विशन्तु] वहाँ देवियों समेत सब
देव आ जावें । [निपथ इमं क्रतुभिः प्राश्रन्तु] बैठकर हम भद्रको अश्रुतोंके अनुसर लावें ॥ ३२ ॥

[वनस्पते स्. णं बहिं आसीद] हे वनस्पतिसे शपथ स्तंभ । इस फैले आसनपर बैठ । नू [अग्निष्टोमैः देवताभिः
समिव] अग्निष्टोम शक्य देवोंसे संमामित हो । [एहा स्वधित्या रूपं सुकृतं] त्वहा अपने उच्छले घरे रूपको सुंदर बनाता
है । [एहा एहाः पात्रे परि ददश्रां] ये साथवाले इस पात्रमें रहें ॥ ३३ ॥

अर्थात्— जल तप जानेपर उछलता है, शब्द करता है, बूंद और बुद्बुदोंको ऊपर फैलता है, युद्ध करके समान
हलचल करता है । जैसी जमुक को पतिके साथ मिलनी है, वेधा ही वह जल चावलके साथ मिल जाता है ॥ २९ ॥

चावल पकानेके समय जांचे पकनेपर नीचेसे ऊपर करने चाहिये, जिससे वे सब जलके साथ मिल जावें । पकानेके
पात्रमें चावल और जल भी मिलने चाहिये ॥ ३० ॥

आमासी कटानेके लिये शीघ्र अच्छा परसा हाथमें लो, शीघ्रतासे जोर जोरपर काटो, परंतु औषधियोंका नाश न करो ।
ये सब चाक सोम राजाके राज्यमें हैं । इनसे ही हमारा पोषण होता है ॥ ३१ ॥

चावल पकनेपर वनकी रखनेके लिये नई चटार्ह फैलाओ । वह ऐसा हो कि जो दीखनेके लिये सुंदर और हृदयके
लिये प्रिय हो । यहाँ सब देव आकर बैठें और यथेच्छ छवन करें ॥ ३२ ॥

यज्ञस्तेम अपने रथानपर रखा जावे । वह स्तंभ तर्षाणके हथियारोंसे बना है । कारीगरोंसे इसका रूप सुंदर बनाया
गया है । इसके साथ पात्रमें यह धान रहे ॥ ३३ ॥

पृष्टपां धृत्स्नु निधिषा अमीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्यश्रवाते ।

उपैनं जीवान् पितरंश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तंमग्नेः

॥३४॥

धृता धियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवतांश्चयाधयन्तु ।

तं त्वा दंपती जीवन्तो जीवपुत्राबुद् वासयातः पर्यभिधानात्

॥३५॥

सर्वान्समागा अभिजित्य लोकान् यावन्तुः कामाः समतीवृपुस्तान् ।

वि गार्हियाम्नायधनं च दर्विरेकस्मिन् पात्रे अभ्युद्धरैनम्

॥३६॥

उप स्तुणीहि प्रययं पुरस्ताद् धृतेन पात्रमभि धारयैत् ।

वाश्रेवोस्त्रा तरुणं स्तनस्युमिमं देवासो अभिहिङ्कुणोत्

॥३७॥

अर्थ— [निधिषाः पृष्टपां शरत्सु] अन्नका पालक दाता साठ वर्षोंमें [पक्वेन अन्नवाते स्वः अमीच्छात्] पके अन्नके दानसे स्वर्गागतिही इच्छा करे । [पितरः पुत्राः च एतं उपजीवान्] पिता और पुत्र हृषपर जिवित रहें । [एतं अग्रे अन्तं स्वर्गं गमय] इसको अग्निसे पाससे स्वर्गके प्रति पहुंचाओ ॥ ३४ ॥

[धृता धियस्वः धरुणं धियस्व] धारण करनेवाला तु अग्नि पृथिवीके आचारपर स्थिर रह । [अच्युतं त्वा देवताः यथाधयन्तु] न हिलनेवाले तुझे देवताएँ हिला दें । [जीवपुत्रो जीवन्तो दम्पती] जिनके पुत्र जिवित हैं ऐसे जिवित जीपुत्र [तं त्वा अभिधानात् परि बद् वासयातः] तुझे अभिधानके स्थानसे उठा दें ॥ ३५ ॥

[एतं सर्वान् लोकान् अभिजित्य] उन सब लोकोंको भीतरकर [समागाः यावन्तः कामाः समतीवृपुः] संगत हुए जिन काममाओंको तुमने उछ किया है । [अभ्युद्धं च दार्वः विगार्हियां] कठची और चमस अंदर डाल दो और [एकस्मिन् पात्रे एतं अग्नि उद्धर] एकही पात्रमें इसको रख ॥ ३६ ॥

[उपस्तुणीहि, पुरस्ताद् प्रयय] नी डालो, आगे फैलाओ, [धृतेन एतत् पात्रं अभिधारय] धीसे यह पात्र भर दो । हे [देवासः] देवो ! [स्तनस्युं तरुणं वाश्रे वस्त्रा इव] स्तन पीनेवाले बछड़ेको जैसी गौ चाहती है वैसे ही देव हूँ [अभि हिङ्कुणोत्] प्रसन्नताका शब्द करते हुए स्वीकार करें ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—जो अन्नका उपग्रह करके उसको पकाकर दान करता है, वह साठ वर्षतक दान करता रहेगा, तो वह स्वर्गका अधिकारी होता है । इसी अन्नसे सब परिवारिक जन जीवित रहते हैं । और वह अन्नका हवन अग्निमें करता है, जो अग्नि इसको स्वर्गमें पहुंचाता है ॥ ३४ ॥

अग्नि सबका धारण करता है, वह अग्निपर स्थिर रहे । देवताएँ उसे अपने स्थानसे उठा दें । जिनके पुत्रजैवित हैं, ऐसे जीपुत्र अग्निस्थानसे अग्निको उठाकर हवनस्थानमें रहें ॥ ३५ ॥

स्वर्गादि सब लोकोंको बहूद्वारा भीतरकर अपनी सब मनकामनाओंको तुष्ट करनेके लिये इस अन्नमें चमस डालकर उछका योका भाग हृष पात्रमें ले लो ॥ ३६ ॥

पात्रमें धी डालो, उसे फैलाओ, धीसे पात्र भर दो, चारों ओर लगाओ । उग्रमें अन्न रककर वह देवताओंको दो, वे इसका स्वीकार करें । जैसे स्तन पीनेवाले बछड़ेको गौ स्वीकार करती है ॥ ३७ ॥

उपास्तरिकरो लोकमेतमूहः प्रथतामसमः स्वर्गः ।	
तस्मिंल्लयाते महिषः सुपुर्णो देवा एनं देवताभ्यः प्र यच्छान्	॥३८॥
यद्यज्ञाया पचति त्वत् परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः ।	
सं तत् संजेयां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम्	॥३९॥
यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते असत् पुत्राः परि ये संवभृवुः ।	
सर्वास्तौ उप पात्रे ह्येथां नामिं जानानाः शिशवः समायान्	॥४०॥
वसोर्वा धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नात्रयः ।	
सर्वास्ता अव रूधे स्वर्गः पृथ्यां शरत्सु निधिपा अमीच्छात्	॥४१॥

अर्थ- एने [एत लोकं भकरः] इस लोकको बनाया और [उप अस्तरी] उसको व्यवस्थित किया है। [असम स्वर्गः उहः प्रथता] सितके सदा कोई नहीं है ऐसा यह स्वर्ग खूब फँले। [तस्मिन् महिषः सुपुर्णः भ्रयाते] उसमें बलवान् सुपुर्ण -सूर्य-भाष्य करता है। [एनं देवाः देवताभ्यः प्र यच्छान्] इसको देव देवताओंके लिये देते हैं ॥ ३८ ॥

(यत् वत् त्वत् परः परः जाया पचति) जो कुछ तेरेमे बलम ठेरी धर्मपानी पकती है, है (जाये) ही ! (त्वत् तिरः पतिः वा) तेरेसे भिन्न छिपकर पति जो कुछ करता है, (तत् संवभृवः) वह तुम दोनों मिलाओ, (तव वां सह अस्तु) यह तुम दोनोंका साथ साथ किया हुआ हो, (एकं लोकं सह संपादयन्तौ) तुम दोनों एक ही लोकको साथ साथ प्राप्त करते हो ॥ ३९ ॥

(यावन्त अस्मत् अस्याः पुत्राः) जितने मुझसे इस स्त्रीमें उत्पन्न हुए पुत्र (ये परि संवभृवुः) जो यहाँ चारों ओर हैं और जो पृथिवीं सचन्ते) मातृभूमिकी सेवा करते हैं, (तान् सर्वांन् पात्रे उपह्वयेथां) उन सबको पात्रमें भोजनके लिये बुलाये। (शिशवः जानाना नामिं समायान्) पुत्र भी जानते हुए इस एक ही केन्द्रमें आ जायें ॥ ४० ॥

(याः मधुना प्रपीनाः घृतेन मिश्राः) जो मधुसे भरपूर और घीसे मिश्रित (अमृतस्य नामयः वसोः धाराः) अमृतके केन्द्रमूल धनकी धाराएँ हैं, (ता सर्वाः स्वर्गः अवरूधे) उन सबको स्वर्ग भूपने प्राप्त रखें। (निधिपाः वसोर्वा शरत्सु अमीच्छात्) निधिका रक्षक साठ वर्षोंकी आयुमें इसकी इच्छा करे ॥ ४१ ॥

भावार्थ-— ईश्वरने इस लोकको और स्वर्गको बनाया और विस्तार करके फैलाया है। उसमें प्रकाशमान सूर्य विराजता है। सब देव इसके प्रकाशमे सुप्रकाशित होते हैं ॥ ३८ ॥

पत्नी जो करे भयवा पति जो करे, वह सब मिलाया जावे; दोनोंका मिलकर एक संसार हो। दोनोंमें भेद न हो। दोनों मिलजुल कर रहें और एक ही एहस्यधर्मकी गोमा बढावें ॥ ३९ ॥

पतिपत्नीको जितने पुत्र हों अथवा संतान हों, भोजनके समय सबको एकत्र बुलाया जावे। क्योंकि एक केन्द्रमें आना सबको योग्य है। सब मातृभूमिकी सेवा करें ॥ ४० ॥

जो ऐश्वर्यके ब्याह शब्द और धीसे मिले हुए अमरत्व देनेवाले स्वर्गमें हैं, इनकी इच्छा यजमान अपनी आमुष्य साठ वर्ष होनेके पश्चात् करे ॥ ४१ ॥

निधि निधिष्या अम्येनिमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येदुन्ये ।

अस्मार्भिर्दुतो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्स्वर्गानरुक्षत्

॥४२॥

अग्नी रक्षस्तपतु यद् विदेवं क्रव्यात् पिशाच इह मा प्र पांस्त ।

नुदाम एनमपं रुष्मा असदादित्या एनमाङ्गिरसः सचन्ताम्

॥४३॥

आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि ।

शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहर्येवं स्वर्गं सुकृतावपीतम्

॥४४॥

इदं प्रापमुत्तमं काण्डंसस्य यसांल्लोकात् परमेष्ठी समापं ।

आ सिंरुच सर्पिर्धृतवत् समहन्क्येष भागो आङ्गिरसो नो अत्रं

॥४५॥

अर्थ—(निधिष्याः पूर्णं निधिं अभीच्छात्) निधिष्या रक्षक यज्ञमान इस निधिषी इच्छा करे । (ये अम्ये अनीश्वरा अभितः सन्तु) जो दूसरे ऐश्वर्यहीन हैं वे चारों ओर भटकंद रहें । (अस्माभिः दत्तः स्वर्गः निहितः) हमारा द्वारा दानसे प्राप्त हुआ स्वर्ग सुरक्षित रखा है । वह (त्रिभिः काण्डैः त्रीन् स्वर्गान् अरुक्षत्) तीनों विभागोंसे तीन स्वर्गोंके उपर चढ़े ॥ ४२ ॥

(यद् विदेवं रक्षः अग्निः तपतु) जो ईश्वरके विरोधी राक्षस हैं उनको अग्नि ताप देवे । (क्रव्यात् पिशाचः इह मा प्रपास्त) रक्तमांसभक्षक लोग यहाँ जलपान भी न करें । (एनं नुदामः) इस दुष्टको हम दूर करते हैं, (अस्मात् अपरुषमः) अपनेसे इसको पास आने नहीं देते । (आदित्याः अंगिरसः एनं सचन्तां) आदित्य और अंगिरस इस दुष्टको पकड़ लें ॥ ४३ ॥

(इदं मधु घृतेन मिश्रं) यह मधु घीसे मिश्रित हुआ (आदित्येभ्यः अंगिरोभ्यः प्रतिवेदयामि) आदित्यों और अंगिरसोंके लिये है, ऐसा कहतां हूँ । (शुद्ध-हस्तौ ब्राह्मणस्य अनिहर्य सुहृत्तौ) जो शुद्ध हात ज्ञानी मनुष्यका अहित नहीं करते, वे पुण्यवान् होते हैं । वे (एतं स्वर्गं अपि हृतं) इस स्वर्गको प्राप्त हों ॥ ४४ ॥

(यसां लोकात् परमेष्ठी समाप) जिस लोकसे परमेष्ठी परमेश्वर प्राप्त होता है, (अस्य हृद् उत्तमं काण्डं प्रापं) इसका यह उत्तम भाग मैंने प्राप्त किया है । (घृतवत् सर्पिः आसिद्ध, समहन्) घीसे युक्त मद्य यहाँ रख और मिला, (नः एष भागः अत्र अंगिरसः) हमारा यह भाग अंगिरसोंका है ॥ ४५ ॥

भावार्थ— निधिष्या रक्षक यज्ञमान दानद्वारा श्रेष्ठ ऐश्वर्यकी इच्छा करे । जो दूसरे शक्तिहीन हैं वे चारों ओर भटकने रहें । हमारे दानसे प्राप्त हुआ स्वर्ग ही यह है, जो तीनों विभागोंसे, तीनों स्वर्गोंसे श्रेष्ठ है ॥ ४२ ॥

जो ईश्वरका विरोध करते हैं, जो रक्ष या मांस खाते हैं, उनको पाप आने न दो, दूर रखो । वे समाजके शत्रु हैं ॥ ४३ ॥

शुद्ध और घी सब देवताओंको दिया जावे । जो शिष्टांकी हिंसा नहीं करते उनको पानत्र हाप कहते हैं । वे ही स्वर्गको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ४४ ॥

जहासे परमेश्वर प्राप्त होता है, उसका उत्तम स्थान मनुष्य प्राप्त करे । घी और मधु मग्नूर सेवन किया जाने और देवताओंके उद्देश्यसे अर्पण किया जावे ॥ ४५ ॥

मत्यायं च तपसे देवताभ्यो निधिं श्रेयधिं परि दध एतम् ।

मा नो द्युतेऽर्वा गान्मा समित्प्यां मा म्मान्यस्मा उत्सृजता पुग मत्

॥४६॥

अहं पंचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया ।

कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽश्वारमेथां तप उत्तरायत्

॥४७॥

न किलिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः समममान् एतं ।

अनूतं पात्रं निहितं न एतत् पक्कारं पक्वः पुत्रो विशाति

॥४८॥

प्रियं प्रियाणां कृणवाम् तमस्ते यन्तु यतुमे द्विपन्ति ।

धेनुर्नद्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमर्षं मृत्युं सुदन्तु

॥४९॥

ममृष्यो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः मर्चते यश्च सिन्धून् ।

यावन्तो देवा द्विव्याडुतर्पन्ति दिरेण्यं ज्योतिः पर्वता बभूव

॥५०॥(१७)

अर्थ— (मत्याय तपसे देवताभ्यः) सत्य, तप और देवताओंके लिये (एवं श्रेयधिं निधिं परि दधः) इस सजानेरूपी निधिको देते हैं । (एते समिपा नः मा भव गाः) गेल और घसमें वह हमसे दूर न होने और (मत् पुग अन्यस्मै मा उत्सृजत) मुझे छोड़कर दूसरेको भी न मिले ॥ ४६ ॥

(अहं पंचामि, अहं ददामि) मैं पकाता हूँ, मैं दान देता हूँ । (गम जाया करणे कर्मन् कधि) मेरी धर्मपत्नी द्यामाय कर्ममें प्रथम करती है । (कौमारः पुत्रः लोकोः अजनिष्ट) कुमार पुत्र हम लोकेके लिये हुआ है । (उत्तरायत् तप सन्वारमेथा) उच्च अवस्था प्राप्त करनेवाला अपना जीवन उत्तमतासे व्यतीत करे ॥ ४७ ॥

(मत्र न किलिष) यहाँ अर्थमें कोई पाप नहीं, (न नाधारः अस्ति) न कोई आधारमें पात्र रचना है । (यत् मित्रैः सम-सममानः न एतं) जो मित्रोंके साथ मिल जुलकर भी जाता नहीं । एतत् पात्र न नूनं निहितं) यह पात्र परिपूर्ण रखा है । (पक्वः पक्कारं पुत्रः आदिजाति) पका हुआ पकानेवालेके पास फिर भा जाना है ॥ ४८ ॥

(प्रियाणां प्रिय कृणवाम) मित्रोंका प्रिय हम करें । (यतमे द्विपन्ति ते तमः वभूवु) जो देव करते हैं वे अग्नेमें जाय । (धेनुः अनन्वान् वयोवयः आयन् एत) गौ और गेलके बल ही लाने हैं । ये (पौरुषेयं मृत्युं अय सुदन्तु) मनुष्यकी मृत्यु दूर करें ॥ ४९ ॥

(अग्रयः अन्यो अन्यं सं विदु) अग्नि परंपराको जानते हैं । (यः ओषधीः सचय, यः च सिन्धून्) जो ओषधीयोंके भाग रहता है और जो दूसरा जलमें रहता है । (यावन्तः देवाः दिवि सावपन्ति) जितने देव श्लोकमें प्रकृत हैं, उनको (दिरेण्यं ज्योतिः पर्वतः बभूव) तेजस्वी ज्योति अथ पकानेवाले दाताके लिये मिले ॥ ५० ॥ (१७)

भावार्थ— सत्य, तप और देवताओंके लिये यह हम समर्पण करते हैं । यह सब हममें किसी प्रकार दूर न हो, न सेलमें दूर हो और न सभमें दूर हो अर्थात् तावदा हमारे पास रहे ॥ ४६ ॥

मनुष्य अन्न पकावे और दान नरे । जो गो धर्मकर्ममें दक्षतासे यान करे । इस तरह होना पुत्रको उत्पन्न करे और उच्च अवस्था प्राप्त करे ॥ ४७ ॥

दान करनेमें कोई पाप नहीं, न दानमें कुछ पोछे रखा है, वह दूध मित्रोंके साथ मां जाता नहीं । यह दानपात्र भरकर पूर्ण रखा जावे, जो परिपक्व होनेपर फिर पक रूपसे दाताके पास पहुँचेगा ॥ ४८ ॥

मनुष्य अपने मित्रका दित करे । देवी अग्निको दूर दूटा देवे । गौ अपने दूधमें मनुष्यको आगेव्य, भागु और बल देवी है और मृत्युको दूर नरती है ॥ ४९ ॥

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवान्मनाः सर्वे पशुत्रो ये अन्ये ।

क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोऽमोतं वासो मूर्धमादनुसं

॥५१॥

यदक्षेपु वदा यत् समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाभ्या ।

समानं तन्तुमभि संवसानी तस्मिन्सर्वं धमलं सादयाधः

॥५२॥

वर्षं वनुष्वार्षि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयामि ।

विश्वव्यचा घृतपृष्ठो मविष्यन्सर्पोनिलोकमुप यास्येत्

॥५३॥

तन्वंस्विर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मजन्मवर्णाम् ।

अपानैव कृष्णां रुशती पुनानो या लोहिनी तां ते अमौ जुहोमि

॥५४॥

मर्ष- (पुरुषे एषा त्वचां संवभूव) मनुष्यमें यह त्वचा अन्य त्वचाओंसे उत्पन्न होती है । (ये अन्ये सर्वे पशवः क्ष-त्रमाः) जो दूसरे पशु हैं वे ना नहीं हैं । (क्षत्रेण आत्मानं परि धापयाधः) शौर्यसे अपने भापको मोड़नेके लिये ना । (अना — उतं वायः मोड़नस्य मुखं) मित्रका बुना गन्ध चाखेगा बान्धने योग्य मुख पन्न है ॥ ५१ ॥

(यत् वक्षेपु वदाः) जो खेडोंमें तुम मोलते हो (यत् समित्यां) जो समामें मोलते हो, (यत् वा वित्तकाभ्या अनृतं वदाः) जो धनकी इच्छासे असत्य भाषण क्रिया हो, उभय (मर्षं धमलं तरिमन् सादयाधः) सब दोष उसीमें रक्त हो और (समानं तन्तुं समिभवसानी) समान वस्त्रका पड़नाय तुम कर दो ॥ ५२ ॥

(वर्षं वनुष्व) ऋषि की प्राप्ति करो, (देवान् अपि गच्छ) देवोंके पास जाओ, (त्वचः परि धूमं उत्पातयामि) त्वचः के ऊपरका धूनां उड़ा दो । (विश्वव्यचाः घृतपृष्ठः मविष्यन्) विश्वमें विस्तृत, घृतसे युक्त होनेकी इच्छा करनेवाला (सगो मिः एनं लोकं उपयाधि) सजातीय होकर इस लोकको प्राप्त हो ॥ ५३ ॥

(स्वर्गः बहुधा तन्वं विचक्रे) शुलोक ही वहु प्रकारसे अपने शरीरको बनाता है (यथा आत्मन् अन्यवर्णं विद्) आत्मवत् दूसरे वर्णकी भी देखता है । (वपती पुनानः) तेजस्वी साकारको पवित्र करता है, (कृष्णां अपानैव) काले रूपको दूर करता है, (या लोहिनी तां ते अमौ जुहोमि) जो लाल रूप है उसको अमीमें हवन करता हूँ ॥ ५४ ॥

भावाय-अमिषोका परस्पर संबंध हो एक औषाधमें और दूसरा जन्ममें रहता है । आकारमें प्रकाशनेवाले देव अना प्रकाश वदन् हाताके देवें ॥ ५० ॥

सब अन्य पशु नंगे नहीं हैं, वेनको ईश्वरनिर्मित वस्त्र है । परंतु मनुष्यके लिये ओढ़नेको वस्त्र चाहिये, ऐसीहाः त्वचा मनुष्यको स्वभावमें मिली है । इसलिये मिलजुगकर वस्त्र बुनो और पहनो । यही वस्त्र चावल आदियग भी टांगनेके लिये रखो ॥ ५१ ॥

जो खेडोंमें गणव्य मोलते हैं, जो समामें और जो धनकी इच्छासे असत्य मोलते हैं, उसके सब दोषको दूर करो समानता धारण करो और समानताके लिये समान ही वस्त्रका पड़नाय करो ॥ ५२ ॥

ऋषिका योग्य उपयोग करो, जल ध्यर्षं जाने न दो । देवताका उपासना करो, अपनी निर्मलता करो । जगत्में प्रसिद्ध होओ; पृथिव्यकर पदार्थ प्राप्त रखो, इस मूलोक्तमें मानवजातिको सेवा करो ॥ ५३ ॥

शुलोकने ही अनेक रूप भाषण करके इस विश्वको बनाया है । ज्ञानी सबको आत्मवत् ही देखता है । मनुष्य तमोगुणको दूर करे, सत्वगुणको बढ़ाये और रजोगुणका त्याग करे ॥ ५४ ॥

प्राच्यै त्वा दिशेभ्योऽधिपतयेऽसितायै रक्षित्र आदित्यायेषुमते ।

एतं परिं दक्षस्त नो गोपायतास्माकर्मतोः ॥

दिष्टं नो अत्र जग्मे नि नैपञ्जरा मत्पत्रे परिं णो ददात्वर्थं पक्वेन सह सं भवेम ॥५५॥

दक्षिणायै त्वा दिशे इन्द्रायार्धिपतये निर्गक्षिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते । एतं ०।० ॥५६॥

पृथीच्यै त्वा दिशे वरुणायार्धिपतये पदाकत्रे रक्षित्रेऽन्नायेषुमते । एतं ०।० ॥५७॥

उदीच्यै त्वा दिशे सोमायार्धिपतये स्वजायं रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै । एतं ०।० ॥५८॥

ध्रुवायं त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कृत्वापग्नीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः ॥ एतं ०।० ॥५९॥

उर्ध्वायै त्वा दिशे बृहस्पतयेऽधिपतये क्षित्राय रक्षित्रे वर्षायेषुमते ।

एत परिं दक्षस्त नो गोपायतास्माकर्मतोः ॥

दिष्टं नो अत्र जग्मे नि नैपञ्जरा मत्पत्रे परिं णो ददात्वर्थं पक्वेन सह सं भवेम ॥६०॥ (१८)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ-- (प्राच्ये दिशः) पूर्व दिशामे (अग्नेये आधिपतये) अग्नि अधिपति, (रक्षित्रे असिताय) रक्षणकर्ता अग्नि, (इषुमन् आदित्याय) पृथ्वी आदित्य, (दक्षिणायै दिशे) दक्षिण दिशामे इन्द्र अधिपति, रक्षणकर्ता त्रिरक्षिगात्रो यम इषुमान (प्रगाधये दिशः) पश्चिम दिशामे वरुण अधिपति, रक्षणकर्ता पृथाक, इषुवाला अथ, (उदीच्ये दिशः) उत्तर दिशामे सोम अधिपति स्वर्ग रक्षणकर्ता और अशनी इषुवाली है, (पृथ्वीयै दिशः) पृथ्वी दिशामे विष्णु अधिपति कृत्वापग्नीव रामिता और औषधिया इषुवाली है, (उर्ध्वायै दिशे) ऊर्ध्व दिशामे बृहस्पति अधिपति, अथ रक्षिता और वर्षा इषुमान् है । इनके लिये (एष परिदम) हम इतका दान करते हैं । (त न गोपायत) हमका रक्षोकार करके हमारी रक्षा करो । (अस्माक मा एते) हमारी रक्षतिके लिये सहस्रक हो । (अत्र न असे दिष्ट निवेत्) यहाँ हमारी वृद्ध आण होनेके लिये योग्य अग्नेसे हमें ले जाव । (अत्रा न. मत्पत्र परि ददातु) वृद्धावस्था हमें मृत्युतक पहुँचावे । (न। पक्वेन सह संभवेम) और परिपक्व फलके माप हम पुन उत्पन्न होंगे ॥ ५५-६० ॥

आवायं-- प्रथम दिशामे अधिपति, रक्षक और इषुमान् बोद्धा हैं, वे सबकी रक्षा करें । उनको हम योग्य दान देंगे । ५५ अत्र असे दिष्ट हमें दत्तवितक पहुँचावे । वे हमें वृद्धावस्थातक सुरक्षित पहुँचावे और वरसे मृत्युतक ले जावे, मृत्युके पश्चात् परिपक्व फलके माप हम फिर जन्म लेंगे और वहाँ दत्तवितके प्राप्त करेंगे ॥ ५५-६० ॥

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

स्वर्गका साम्राज्य ।

स्वर्गका साम्राज्य सब मानव जातिके लिये खुला हुआ है। उसको प्राप्त करना और वहाँ दीर्घकालतक रहना हर एकके लिये योग्य है। परंतु वह सुकृतका लोक होनेसे बड़ उत्तम धर्म किये बिना प्राप्त नहीं हो सकता, यह बात सबको मनमें रखनी चाहिये। यह स्वर्ग इस भूलोकमें भी है और परलोकमें भी है। परलोकका स्वर्ग प्राप्त करनेके लिये भी यही प्रयत्न करना पड़ता है। इससे स्पष्ट होगा कि, यहाँ अथवा परलोकमें स्वर्गसुख प्राप्त करना मनुष्यके पुरुषार्थपर अवलंबित है। इस सुखका संक्षेपसे यह तात्पर्य है। अथ क्रमशः इन मंत्रोंमें जो मुख्य मुख्य उपदेश कहे हैं उनका निरीक्षण करते हैं—

बलका महत्त्व ।

स्वर्ग प्राप्त करनेमें बलका महत्त्व है, बलके बिना कोई उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। वह बल हर एकको प्राप्त करना चाहिये। मनुष्योंमें जो सबसे अधिक सामर्थ्यवान् और प्रभावशाली होगा, वही राष्ट्रका अधिपति बने। कोई दुर्बल राजघराना न रहे। क्योंकि राष्ट्रकी उन्नति प्रबल राजशक्तिपर ही अवलंबित रहती है। निर्बल राजाके कारण संपूर्ण राष्ट्र दुर्बल हो जाता है। अतः सुख प्राप्तिकी इच्छा करनेवालोंको उचित है कि वे सामर्थ्यवान् पुरुषको राष्ट्रधिपतिके स्थानपर नियुक्ति करें। वह अधिपति अपने सुयोग्य सामर्थ्यवान् अनुपायियोंको इकट्ठा करे और उनकी सहायतासे राष्ट्रका शासन चलावे। सबका उत्तम नियंत्रण करे और सबकी उन्नति होने योग्य व्यवस्था रखे। इसका नाम यमराज्य अर्थात् नियमके अनुसार चलनेवाला राज्य है। [१]

इस तरहका राज्यशासन होनेके पश्चात् आपको उचित है कि आप अपनी दृष्टि सूक्ष्म और परिशुद्ध करें अर्थात् सुयोग्य ज्ञान प्राप्त करें, कीर्त्य अर्थात् अनेक बलोंको प्राप्त करें। आपके राष्ट्रमें दूरदृष्टि और सामर्थ्य जितना अधिक होगा उतना ही आपका उत्कर्ष होनेवाला है। अतः तेज, बल, सामर्थ्य, ज्ञान और दूरदृष्टि प्रधान आपका मुख्य कर्तव्य है। परिपक्व होनेपर ही मिठास उत्पन्न होती है, अतः आपको

उचित है कि आप अपने आपको परिपक्व करें जिससे आपका कल्याण होगा। [२]

एकताका संदेश ।

इस लोकमें तुम सब मिलजुलकर एकमात्र रहे, परमेश्वर उपासना भी मिलकर करो, राज्यव्यवस्था भी मिलकर चलाओ, जो कुछ पराक्रम करना हो वह मिलकर ही हो सकता है। मिलनेसे ही बल बढ़ता है। मिलनेके लिये अपनी पवित्रता और निर्दोषता संपादन करनी चाहिये। जितना संगठन होगा, उतना बल बढ़ेगा और जितना बल बढ़ेगा, उतना प्रभाव विशेष होगा। इस तरह यह एकताका संदेश मानवी उन्नतिके लिये यहाँ कहा है। [३]

सब लोगोंसे यह कहना है कि वे अपने जीवनको धन्य बनानेके लिये प्रयत्न करें। यह प्रयत्न जितना मिलकर होगा उतना यश सुख प्राप्त होगा। आपसमें फूट रखो तो वही नाशका बीज बढ़ेगा। तुममेंसे प्रत्येकको अमृत प्राप्त करनेका अधिकार है। धर्म ही, पुत्र और गृहपति मिलकर रहते हैं, यहाँ एकताका उपदेश मिलता है और यहाँ सुखकी प्राप्ति हो सकती है इस गृहस्थाधर्ममें माता अन्न पकाती है, पिता अन्न खाता है, पुत्र अन्याय्य कार्य करते हैं। इस तरह परस्परकी सहायता करनेसे सबको अत्यधिक सुख प्राप्त हो सकता है। इस तरह विचार करके पाठक एकताका बोध प्राप्त करें और उसका आचरण करके उन्नत हो जायें। [४-५]

धर्म पुत्रपौत्र बड़े हुए हैं, वे कार्यभार संभाल रहे हैं, वृद्धोंकी दयायोग्य सेवा हो रही है, तरुणोंका आश्रय यथायोग्य रीतिसे वृद्धोंको मिल रहा है, यहाँ इस लोकका तेजस्वी स्वर्ग है, जो प्रत्येक गृहस्थोंको प्राप्त करना चाहिये। [६]

चारों दिशाओंमें हलचल ।

उन्नतिके लिये हलचल तो चारों दिशाओंमें शुरू करनी चाहिये। पूर्व दिशा ज्ञानकी दिशा है, सब प्रकारका इसी

दिशासे प्राप्त होता है। अथावा न लोग ज्ञान प्राप्त करने ज्ञानका प्रसार करे। जैसा सूर्य सबको प्रकाश देता है वैसा प्रकाश सबको मिले। ज्ञानका उपयोग अपनी रक्षाके लिये किया जाने। स्वपुत्र मित्तर कार्य करें और सब लोग ज्ञानसे मुक्तनाशन हों। [७]

ज्ञान प्राप्त करनेके पथान् दक्षतासे उपयोग करने चाहिये। दक्षता न रही तो सब बान विफल हो जाते हैं। यह उद्देश दक्षिण दिशा दे रही है। यहाँ यम अर्थात् नियामक देव है। यह कहता है कि ' नियमोंमें रहो। नियम छोड़कर चलोगे, तो मरना दुःख उद्यत है। तपसे सुदृढ़ता नहीं हो सकती। इस नियामकसे साय पितर भी है। वे सबके रक्षक हैं। रक्षा करना और नियमविहिन आचरण न करना ही यहाँ का उद्देश है। जो यह उद्देश लेकर तदनुसृत चलेंगे, वे ही उन्नत हो सकते हैं। [८]

पथिम दिशा विश्रामकी सूचना देती है। योग्य पुरुषार्थ करनेके पथान् विश्राम अवश्य लेना चाहिये, निष्ठसे आत्म और प्रदान करनेका बल प्राप्त होता है। अर्थात् विश्राम अधिक पुरुषार्थके लिये होना चाहिये। यहाँ सोमादि औषधियाँ हैं जिनका सेवन करनेसे बल, पुष्टि और आयु बढ़नी है। [९]

उत्तर दिशा उत्तम अवस्था प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है। अपने राष्ट्रकी अवस्था उत्तम करो, श्रेष्ठ करेंगे, सब प्रकारसे अगे बढ़ो, पांच जनोंका समुदाय उत्तम हो, सर्वोपयोग नश्वरि करो, किसी भी अंगमें पीछे न रहो। यह उद्देश यहाँ मिलता है। [१०]

भ्रुवदिशा स्थिरताका उद्देश दे रही है। अपने बचनपर स्थिर रहो, अपनी प्रतिज्ञापर स्थिर रहो, पुत्रमें अपने स्थानपर स्थिर रहो, व्यर्थ बंचल न हो। अपनी रक्षा करनेके लिये, पुत्रोंका योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये, बनेक सुप्त कर्म करनेके लिये स्थिर होनेकी सूचना इस दिशासे मिलती है।

इस तरह ये सब दिशाएँ मनुष्यको वे उद्देश दे रही हैं। यह उद्देश सुनकर मनुष्यको उचितका साधन करनेका मार्ग विदित हो सकता है। इस मार्गसे मनुष्य जाय और अपनी उन्नतिका साधन करे [११]

ऊत्तर और मूसल

पुत्रोंका पालन उन्नत रीतिसे किया जाये। जनस्यु सर्वथ सुद और कन्यापुत्रकी रक्षा जाये। उत्तरी श्रुति और तपकी इति मनुष्यमें बड़े और सबको अन्न भी पर्वोत् प्राप्त हो। धर्म उत्तम और मूसल पानीसे कोई न भिगाये, क्योंकि यह मूला रहा तो ही अच्छा कार्य कर सकता है। यह पावित्र स्थानमें रहे और धान्य आदि स्वच्छ करके बड़ी बर्तों जाये [अर्थात् यहाँ वेदका उपदेश यह है कि [मशान] संश्रद्धा शाक किये न चल, भाटा आदि कोई न खाये। परंतु पर परमें उत्तम मूसल रखकर हाथसे पीया अथा और उत्तम मूसल द्वारा हाथसे शाक किये जायक मनुष्य खाये। पशु-पशु इसका विचार करे। क्योंकि इस कार्यके लिये बर्तों और यम ग्रह हुए हैं। संश्रुते स्वच्छ कर्मसे धान्यके जीवनकाल नष्ट होते हैं और हाथसे शाक करनेसे वे जीवनकाल क्षुण्णित रहे जाते हैं। वेद उद्देश द्वारा बताना चाहता है कि संश्रद्धा बनाया अथा कोई न खाये और संश्रुते निर्मित वायक भी कोई न लेये। इसके परिपूर्ण जीवनानु प्राप्त होंगे और उत्तम आरोग्य रहेगा। कौनसा वैदिकधर्म देता है कि जो आर्यसे ऐसा होगा और कर्मसे कर्म करनेमें तो वेदका उद्देश मानेगा? [१२-१४]

यहाँ लकड़ीसे बना उत्तम और मूसल देवों पाकियावा दे, जो राशुओं और पिशाचोंको दम लोगोंसे दूर कर सकता है। यह इस उत्तमकी घोषणा है। जनता इस घोषणे सुने। जो लोग पर परमें उत्तम मूसलसे धान्यको शाक करके उधोका सेवन करेंगे उनपर राशुओं और पिशाचोंका हमला नहीं हो सकता। [अर्थात् जो मशान-संश्रुत-द्वारा सबे वायक आदि खायेगे उनका नाश ये ही राशुस और पिशाच करेंगे। अतः लोग समलकर रहे] [१५]

पशुपालन।

पर परमें गौ आदि पशुओंका पालन हो। पर परमें यज्ञभाग होते रहें। पर परमें देवताओंका स्तोत्र होता रहे। जल वायु आदि देवता किसी भी परमें अपसक्त न रहे। कर्षा भी अपसक्तता उत्पन्न न होवे। [१६]

गृहव्यवस्था ॥

श्री और पुत्र तथा गृहपति मिलकर पर होता है। ये सब परमें मिल जुलकर रहें। इस एकताके विषयमें अवशिष्ट

कां० ३ सू० ३० में जो उपदेश आया है वह पाठक यहाँ देखे । वह उक्त उपदेश है और हर एक गृहस्थाश्रमियों को सदा ध्यानमें धारण करने योग्य है । पुण्य जिस स्त्रीका प्राणिप्रहण करे, वे दोनों परस्पर अनुकूलताके साथ रहें, आपसमें झगडा न बढावें, आपसमें झगडा करेंगे तो दुर्गति और नाशकी प्राप्ति होगी, यह हर एक गृहस्थोंको स्मरण रखना चाहिये । परके सब लोग आनन्द-प्रसन्न और मिलजुलकर रहें और प्रयत्न करके अपनी सञ्चितिका साधन करते रहें । [१०]

सब मिलकर दसताछे सब रोगोंको दूर करें, अज्ञान और अन्धकार दूर करें । घरमें अन्धकार न रहे, क्योंकि अन्धकारमें रागजन्तु बढते हैं और रोग होते हैं । अतः घरमें बहुत अन्धरा न रहने पावे ऐसा घर बनाया जाय । घरघरमें लकड़ोका बना कखल और मूसल हो और उसमें चावल साफ करके उनका ही सेवन करने लगे रहें । [१०]

कखल मूसलछे धाक किये धान्यके द्रुप आदि दूर करनेके लिये सुप घरमें रहे । इस सुप-छाजमें चावल आदि धाक किये जाय, द्रुप दद्याया जाये और लकड़ चाल लिये जाय । इनका ही सेवन गृहस्थी करे । (११)

जिनसे चीनी कोकोका आनन्द और स्वास्थ्य प्राप्त होता । पृथक् सुद्ध चावल इसी तरह स्वच्छ होते हैं । [यंत्र-मशीन द्वारा साफ किये चावल तो राक्षसों और विषाक्त अर्थात् अनेक रोगोंकी बुलावेवाले हैं ।] ये चावल जो कखल और मूसल द्वारा तथा छाजसे धाक होते हैं वे तो आयायन करनेवाले अर्थात् सब प्रकारकी पुष्टि करनेवाले हैं । (२०)

छाजमें पुनः पुन लेकेकर इस तरह धान्य स्वच्छ किया जावे । चावलीपर जो लाल रंगकी खनाधी होती है उसका मूसलसे कूट कूटकर हटायो जावे । जेसा धोबी वस्त्रको स्वच्छ करता है वैसा ही कखल मूसलद्वारा ये चावल स्वच्छ किये जाय और इनका सेवन गृहस्थी करे । पशुओंमें विविध रंग होते हैं, परंतु एक ही घास खाकर वे पारेपुष्ट होते हैं । इसी प्रकार विविध रंगरूपवाले मनुष्य इन चावलोंका सेवन करके इष्ट, पुष्ट और दीर्घजीवी बने । (२१)

पशुनाशका कार्य ।

अब पशुनाशका समय आता है । इसके लिये बहुत प्रकारके बर्तन होते हैं । ये बर्तन मिर्चसे ही अनेक प्रकारके बनाये जाते हैं । ये कूटे टूटे न हों, चूनेवाले न हों । किसी स्थानपर सुरास

हो तो उसको ज्ञानद्वारा बंद किया जावे । जैसी माता पुत्रको प्यासे भंगाल कर लेती है, उस प्रकार ये बर्तन बर्त जाय । ऐसे बर्तन जाय कि वे न टूटें । डेककी, बटलोई, पतला आदि बर्तन चूलेपर संभालकर रखे जाय । इनमें चमस रखे जाय और ये पात्र धून आदिसे भिंचित रहें । (२२—२३)

इन पात्रोंका रक्षा चारों ओरसे होवे । आग्निसे रक्षा हो ल-थाने पात्र अच्छी तरह पकी हुआ हो; वस्त्रदेवताके जलसे इसकी रक्षा हो अर्थात् पानीमें गल जनेबाला न हो, वनस्पतियों द्वारा इसके टूट जानेका संभव न हो । (२४)

जलका महत्त्व ।

पशुनाशके जलकी माप बनकर मेघमंडलमें जाती है, वहाँ मेघ बनते हैं, उनसे वृष्टि होकर फिर वह जल पृथ्वीपर आता है । यह जल प्राणियोंकी जीवन देनेवाला और जीवनकी धन्यता करनेवाला है । यह पशुनाशके मरकर रखना और पशुनाशके समय वह पात्र चूनेद्वारा रक्षना चाहिये । यह परिशुद्ध जल मनुष्योंको सुख देनेवाला है । (२५—२६)

यह जल मनुष्योंमें बल लाता, प्रसन्नता उत्पन्न करता, धीर्य बढाता, पवित्रता करता और रोगादि मृत्युदुःखोंको दूर करता है । यही जल गृहस्थियोंके अन्न पकानेमें प्रयुक्त देवे । [२७]

योजना जल वृष्टिद्वारा भूमिपर गिरकर औषधबनकर पति-वोंमें जाकर-उसका गुणकारी औषधिपस बनता है । यह मनुष्योंका हित करता है । इसके अतिरिक्त इतना हितकारी दुसरा जल मेघोच्छेद बहुत ही गिरता है, वह सब जगत् को व्यापता है । [२८]

अब बर्तनमें जल साठकर तपाया जाता है, तब जलके अणु एक दूसरेपर उछलते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे परस्पर युद्ध करते हैं, बारांताप करते हैं, या झगडा करते हैं । जैसी स्त्री पतिको देखकर उसके माथ प्रेमसे मिलना चाहती है, वैसा ही जल पशुनाशके समय पशुनाशके साथ मिलता है, जिससे चावल पकते हैं । [२९]

पशुनाशके समय बर्तनमें कचड़ी डालकर नीचेके चावल ऊपर लोकर ऊपरके नीचे करने चाहिये । अर्थात् अच्छी तरह चावल हिलाने चाहिये । जिससे अन्न हर एक चावणके साथ अच्छी

तरह मिल जायें जाता है और चावल उत्तम रीतिमें पक जायें । [३०]

शाकभाजी ।

जैसे चावल पकने होते हैं उसी प्रकार शाकभाजी पकानेकी भी रीति है । उत्तम परशु, छुरा भाजी फाटनेके लिये लो । उसकी घारा ठाँक करो । औषधिवाी शाकभाजी आदि हाथमें लो । उसको ऐसा फाटो कि जिससे उनका छत्र न बिगड़े । औषधियोंकी हिंसा न हो और उनका क्रोध हमपर न हो । [३१]

पकनेपर ।

चावल पकनेपर उनको बतैनसे निकालना चाहिये । उनका रखनेके लिये उत्तम नई चटाई [बासकी बनी] शुद्ध भूमि-पर फैलाना चाहिये और उसपर बतैनसे सब चावल रखने चाहिये । यह इतना करना चाहिये कि जो आँखको प्रिय और हृदयको मनोरह प्रतीत हो । देवताएँ बर्षा ऋषिनी धर्म-पत्नियोंके समेत आजाय और इस अन्नका सेवन करें । (३२)

इस तरह यज्ञ करनेसे यजमान स्वर्गको प्राप्त करता है । साठ वर्ष कोई गृहस्थी इस रीतिसे यज्ञ करेगा तो उसका स्वर्ग मिलेगा । परमें पिता माता पुत्र आदि संतुष्ट रहें तो वही भूलोकका स्वर्ग है और अन्नदानसे परलोक मिलता है । (३३-३५)

संपूर्ण सुखोपभोग विजय प्राप्त होनेसे ही प्राप्त होने हैं । विजयके बिना भोग मिलना असंभव है । यह एक उन्नतिके लिये बड़ी महत्त्वकी सूचना यज्ञा दी है । शुद्ध अन्न, उत्तम घी, मधु (शहद) आदि पदार्थ हितकारी, पौष्टिक और बलवर्धक हैं । इनका स्थय भवन करना, दूसरोंको देना और देवताओंके उद्देशसे समर्पण करना चाहिये । यह लोक अर्थात् इस मूलोपमें स्वयं पुरुषार्थक ही जो कुछ होगा सो होगा । इसलिये यह लोक पुरुषार्थप्रधान है । जो पुरुषार्थ करता है, उसको सब देवताओंका सहाय्य होता है । (३६- ३८)

कुटुंबमें एकता ।

औ कुछ करतो है, पुरुष भी कामधेयमें लगा है, पुत्रक अपने कार्य करते हैं । ये सब जो भी कुछ करें कुटुंबकी रक्षा और उन्नतिके लिये करें । संमेलनसे ही घरमें स्वर्गसुख प्राप्त हो सकता है, अतः भोजनके समय कमसे कम सब पुत्रों, पुत्रियों और परिवारिक अनेको बुलाना चाहिये और साथ

साथ बैठकर भोजन करना चाहिये । सब बालकोंको इससे एकताका पाठ मिल जायगा और इस एकतामें ही सब सुखका बीज है । (३९-४०)

मधु घृत आदिसे मिश्रित अन्न हो, धनके प्रवाह चलते रहें, आयुके साठ वर्षतक इनका दान होता रहे, सर्वत्र मरपूरता हो, किसी प्रकार न्यूनता कहीं भी न हो । यही स्वर्ग देनेवाला है । अन्य लोग वित्तों में कंजूस हों, उनको यह आनंद नहीं मिलेगा जो इस प्रकारके दाताको प्राप्त हो सकता है । (४१-४२)

देवनिंदकको दूर करो ।

कई लोग देवताओंकी निंदा करनेवाले होते हैं, उनको समाजसे बाहर करना चाहिये । उनको कोई अधिकार नहीं देना चाहिये । सब राज्याधिकार ऐसे लोगोंके हाथमें रहे कि जो देवोंके अनुकूल चलनेवाले हों । देवप्रोहियोंको सब मिलकर एकमतसे बहिष्कृत करें । जो ज्ञानी, दूर इस कार्यमें सहायक होंगे, उनको मधु और घी तथा अन्न मरपूर मिलना चाहिये । (४३-४४)

परमेष्ठी प्रजापति ।

परमेष्ठी प्रजापति परम उच्च स्थानमें विराजमान है, इधी लिये उसे (परमें-स्थि) परमेष्ठी कहते हैं । इसको प्राप्त करनेके लिये ही सब कुछ धर्मधर्म किये जाते हैं । अन्न जो दान करते हैं, धीका दान हो, मधुका दान, या अन्य किसीका ही वह सब इस एक ही कार्यके लिये होता है । सत्य और तप मुख्यतः इसकी प्राप्तिके लिये हैं । सत्यका अवलंबन करनेसे बड़ा फल प्राप्त होता है, तप बड़ी पवित्रता करनेवाला है । यैही सत्य और तप बड़ा आध्यात्मिक ऐश्वर्य तथा ऐहिक धन देते हैं । मनुष्यको यदांतक सावधान रहना चाहिये कि खेलमें भी वह सत्यसे दूर न हो, समाजमें सदा सत्य ही का अवलंबन करना चाहिये । जो सत्य और तपको छोड़ेंगे उनकी उन्नति कभी नही हो सकती । इसलिए मनुष्यके कार्यमें उन्नतिकी इच्छा होगी, तो इनका अवलंबन करना अनिवार्य है । (४५-४६)

आदर्श गृहस्थाश्रम ।

यें अन्न पकाता हूं, मैं दान देता हूं, मेरी धर्मपत्नी धर्मधर्ममें सहायता करती है, मेरे-पुत्र जनाहृत करनेके कार्य करते हैं,

त्रं दीर्घ जीवन प्राप्त करके उसका उपयोग धर्मकार्य करनेके लिये करूँगा । ऐसा हर एक गृहस्थीको कहनेका सौभाग्य प्राप्त हो । यही एक बड़ा ऐश्वर्य है । जिसका ऐसा कुटुंब हो वह धन्य है । इसी तरह यहाँ हमारे घरमें पाप करनेवाला कोई न रहे, दान देनेके समय सभमेंसे कुछ पीछे रहनेवाला कंजूस कोई न हो, चारों ओर मित्र बढ़े, दानके पात्र सदा भरपूर हों और सब शुभ कर्मका परिपक्व फल ऐसे गृहस्थीको प्राप्त होता रहे । यह है आदर्श गृहस्थाश्रम । गृहस्थी मित्रोंका प्रिय करे, सतत प्रयत्न करता रहे, गौका दूध पीये, बैलोंका उपयोग खेतीके लिये होता रहे, रोग और मृत्यु दूर होता रहे । (५०-५९)

परस्परका हृदय जानना चाहिये । मित्रताके लिये इसकी आवश्यकता है । हृदयके ज्ञानके बिना संगठन भी नहीं हो सकता । जोभी पृथिवी आदि देव हैं, वे सब योग्य मनुष्यको सुवर्ण और तेज देनेके लिये बैठे हैं । परंतु उनसे लेनेके लिये भी तो यत्न करना चाहिये । अपने अन्दर साप्रतेज बहाना और लक्ष्मण अपनाकर रखनी चाहिये । यह आत्म-रक्षा करनेका कार्य तो प्रत्येकका है । अतः कोई इस क्षात्र-तेजके बिना न रहे, सब लोग तेजस्वी बने । (५०-५१)

जो किसी कार्यके लिये असल्य बोलना है, वह सब पापका हेतु है । फिर वह असल्य भाषण खेलमें हो, या धनलोभसे हो । सबकी उन्नतिका एक ही तन्तु है और वह केवल एक-मात्र सत्य है । सत्यके बिना किसीकी उन्नति होनी नहीं है । [५२]

जो वृष्टि होती है उसका उत्तम उपयोग करो, अर्थात् जल व्यर्थ न जाने दो । सब पदार्थ स्वच्छ रखो, किसीभी स्थानमें

मलिनता न रहे । अपना प्रभाव चारों ओर फैलाओ, गृह आदि पदार्थ भरपूर रहें, अन्नकी न्यूनता न रहे । [५३]

सब विश्व इष्ट स्वर्गधामके ही तत्त्वसे विविध रूपमें बना है । इस विश्वमें सत्त्व, रज और तम गुण हैं, जिनकी तेज-स्वित्ता, रक्षिता और मलिनता सुवर्णित है । मलिनता दूर करनी चाहिये, तेजस्वित्ताको अपनायना चाहिये और रजोगुणका दान - करना चाहिये । यह एक उन्नतिका नियम सर्वसाधारण है । [५४]

हर एक दिशामें अधिपति, रक्षणकर्ता, शाखाधारी सैनिक रखकर अपने राष्ट्रकी सुरक्षा उत्तम करनी चाहिये । ये रक्षणका कार्य करे और सुरक्षित हुए लोग इनका योगक्षेम चला-नेके लिये उनको योग्य दान देवें । इनकी रक्षासे सुरक्षित हुए लोग वृद्धावस्थातक अपनी उन्नतिका कार्य करें । इस तरह करनेसे यही स्वर्गधाम होगा और मृत्युके पश्चात् स्वर्गलोक भी प्राप्त होगा । [५५-६०]

यहाँतक इस सूत्रमें मंत्रोंका सरल आशय खुली भाषासे दिया है । मंत्रोंका ह्रस्वभाव इससे पाठक जान सकेंगे । इस सूत्रमें वेदने इस भूलोकको ही स्वर्गधाम बनानेकी विधि बतायी है । जो लोग ऐसा करेंगे वे न केवल इस संसारमें जिते जाँ स्वर्गमुख प्राप्त करेंगे, परंतु मरणोत्तर मिलनेवाले स्वर्गलोक भी निःसन्देह प्राप्त करके वहाँ बहुत समय अपूर्व सुख प्राप्त करके उत्तम कुलमें जन्म लेकर फिर भी आगेकी उन्नति संपादन करेंगे ।

आशा है कि यह उपदेश वैदिक धर्मियोंके आचरणमें शास्त्राय और सब संसारका स्वर्गधाम बन जाय ।

वशा गौ ।

[४]

(श्रापिः—कश्यपः । देवता-वशा)

ददामीत्येव त्रूयादतुं चिनामभुत्सत । वशां ब्रह्मभ्यो याचंद्ब्रह्मस्तत् प्रजावृदपत्यवत् ॥१॥

प्रजया स वि क्रीणाति पशुभिर्धोपं दस्यति ।

य आप्येभ्यो याचंद्ब्रह्मो देवानां गां न दित्सति ॥२॥

कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणयां क्राटमर्दति । वृण्डया दहन्ते गृहाः काणया दीयते स्वम् ॥३॥

विलोहितो अधिष्ठानाच्छकनो विन्दति गोपतिम् ।

तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना क्षुञ्च्यसे ॥४॥

अर्थ— (ददामि इति एव चरुयात्) देवा हू ऐसा ही कहे । (च एनां मनु मभुरसत) और इसके विषयमें अनु-
मूल भाव रहे । (याचंद्ब्रह्मः ब्रह्मभ्य एनां) मांगनेवाले ब्राह्मणोंको इस गौको दे, (सत् प्रजावत् अपत्यवत्) यह दान
प्रजा और सतन देनेवाला है ॥ १ ॥

(य याचंद्ब्रह्म आप्येभ्य देवानां गां न दित्सति) जो मांगनेवाले ऋषियुओंको देवोंकी गौ नहीं देता (सः प्रजया
विक्रीणीत) वह अपनी प्रजाको ही बेचता है, (पशुभि च उपदस्यति) पशुओंके साथ गायशको प्राप्त होता है ॥ २ ॥

(वृण्डया अस्य म शीर्यन्ते) चिना सींक पशुसे भी इस अदानी मनुष्यके डोग मारे जायगे और [श्लोणया क्राटं
मर्दति] लकड़ीके लकड़ीके द्वारा भी गदेमें इसके डोग गिराये जायगे । (वृण्डया गृहाः दहन्ते) चिकल गौसे इसके घर
जलाये जायगे और (काणया स्व दीयते) एक आखसे हीन गौ द्वारा इसका धन नष्ट किया जायगा ॥ ३ ॥

(विलोहितः शकनो अधिष्ठानात् गोपाति विन्दति) रक्तज्वर गोबरके स्थानसे गौके कंगूस स्थानोंको पक-
रता है । (तथा वशायाः संविद्यं) वैसी गौका नाम है (दि दुरदभ्ना उच्यसे) इसी कारण वह दमन करनेके लिये
कठिन है, ऐसा कहा जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ— हरएक घटस्थो अथवा मनुष्य 'दान देता हू' ऐसा ही सदा कहे । दानके विषयमें तथा गौके विषयमें मनमें
अनुमूल भाव धारण करे । ज्ञानी मनुष्योंको गौवांछा दान करनेसे दाताका भाग्य बढ़ता है ॥ १ ॥

जो गौका दान विद्वानोंके मांगनेवर भी नहीं करता, उसको कष्ट प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥

जह से भयका समव नहीं बढ़ाये, उसको मय प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

गौके गोबरसे रक्तज्वर उत्पन्न होकर वह कंगूस मालिकका नाश करता है । अर्थात् उसे अनेक वधाधियां सताती हैं ।
अन गौके विषयमें सदा आदर रखना चाहिये । क्योंकि गौका अपमान क्षमा नहीं किया जाता ॥ ४ ॥

पदोरस्या अधिष्ठानाद् विक्लिन्दुर्नाम विन्दति । अनामनात् सं शीर्यन्ते वा मुखेनोपजिघ्रति ॥५॥

यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते ।

लक्ष्मं कुर्व इति मन्यन्ते कनीयः कृणुते स्वम् ॥६॥

यदस्याः कस्मै चिद् भोगाय बालान् कार्ष्णत् प्रकृन्तति ।

ततः किशोरा त्रियन्ते वृत्सांश्च घातुको वृकः ॥७॥

यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिदत् ।

ततः कुमारा त्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात् ॥८॥

यदस्याः पल्पूलनं शकृद् दासी समस्यति । ततोऽपरूपं जायते तस्मादव्येप्यदेनसः ॥९॥

जायमानाभि जायते देवान्त्सव्राह्मणान् वशा ।

तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम् ॥१०॥ (१९)

अर्थ-(अस्याः पदोः अधिष्ठानात्) इस गौके पाँच रखनेके स्थानमें (विक्लिन्दुःनाम जा रते)विक्लिन्दु नामक रोग होता है। (याः मुखेन उपजिघ्रति) जिनकी मुँहसे सूँघती है वे(अनामनात् संशीर्यन्ते)न जानते हुए ही क्षीण होकर नष्ट होते हैं ॥५॥

(यः अस्याः कर्णो आस्कुनोति) जो इस गौके कानोंको दुःख देता है, (सः देवेषु आवृश्चते) वह मानो देवोंपर धापात करता है, जो गायपर (लक्ष्मं कुर्व इति मन्यते) चिह्न करवा हूँ ऐसा मानता है, वह (स्वं कनीयः कृणुते) अपना धन न्यून करता है ॥ ६ ॥

(यत् कश्चिद् कस्मैचिद् भोगाय) जो किसी भोगविशेषके लिये (अस्याः बालान् प्रकृन्तति) इस गौके बालोंको काटता है, उससे (ततः किशोराः त्रियन्ते) उसके बालक मरते हैं तथा (वृकः वासान् च घातुकः) भेड़िया बच्चोंका घात करता है ॥ ७ ॥

[यत् अस्याः सत्याः गोपतौ] यदि इसके साथ गोरक्षक रहते हुए भी यदि [ध्वाङ्क्षः लोम अजीहिदत्] कौवा-बाळोंको नोचगा, तो (ततः कुमाराः त्रियन्ते) उससे बच्चे मर जाते हैं और (अनामनात् यक्ष्मः विन्दति) सहजहीसे क्षय-रोग पकड़ लेता है ॥ ८ ॥

(यत् अस्याः पल्पूलनं शकृत्) इस गौका मूत्र और गोबर (दासी समस्यति) मौकरानो फेंक देगी, तो उससे (ततः तस्मात् एनसः अ-व्येपत्) उस पापसे न छूटनेके कारण (अप रूपं जायते) विरूप होता है ॥ ९ ॥

(जायमाना वशा स-ब्राह्मणान् देवान् अभिजायते) उत्पन्न होते ही गौ ब्राह्मणोंके साथ देवोंके लिये होती है । (तस्मात् एषा ब्रह्मभ्यः देया) इसलिये यह गौ ब्राह्मणोंको देनी चाहिये । [तत् स्वस्य गोपनं भाहुः] वह अपनी सुर-क्षित्वा दे देना कहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ- गौके पाँचके स्थानमें विक्लिन्दु नामक रोग फैलता है। जिसे गाय सूँघती है उसे बह होता है और वह मरता है ॥५॥ गौके कर्णोंपर चिह्न करनेसे जो गौको घेदना होती है, उससे गौके स्वामीका धन कम होता है ॥ ६ ॥

यदि कोई मनुष्य अपनी सजाबटके लिये गौके बाल काटेगा, तो उसके बालबच्चे मर जायेंगे ॥ ७ ॥

यदि गवालिया गौकी रखवाली करता हुआ, गौकी कौवा कष्ट देवे, तो उस गवालियेके बच्चे मर जायेंगे ॥ ८ ॥

यदि गौकी परिचारिका गौका मूत्र और गोबर उत्पर उत्पर फेंक देवे तो उस पापसे उसका रूप बिगड़ जायगा ॥ ९ ॥

गौ जो उत्पन्न होती है वह ब्राह्मणोंके लिये ही देवोंके उत्पन्न की होती है । इसीलिये उसका दान ब्राह्मणोंको देना बचित है । उससे दाता की ही रक्षा होती है ॥ १० ॥

य एनां बनिमायन्ति तेषां देवकृता वृशा । ब्रह्मज्येयं तदंभुवन् य एनां निप्रियायते ॥११॥	
य आप्येभ्यो यार्चद्भ्यो देवानां गां न दिव्यति ।	
आ स देवेषु वृथते ब्राह्मणानां च मन्वये ॥१२॥	
यो अस्य स्याद् वंशाभोगो अन्यामिच्छेत् तर्हि सः ।	
हिंस्ते अर्द्धत्वा पुरुषं याचितां च न दिव्यति ॥१३॥	
यथा शेषधिनिहितो ब्राह्मणानां तथा वृशा ।	
तामेतदृच्छायन्ति यस्मिन् कस्मिन् जायते । ॥१४॥	
स्वमेतदृच्छायन्ति यद् वृशां ब्राह्मणा अभि ।	
यथैतानन्यस्मिन् जिनीयादेवाभ्यां निरोधनम् ॥१५॥	

अर्थ— [य एनां बनि मायन्ति] जो ब्राह्मण इस गौको मांगने जाते हैं [देव देवकृता वृशा] उनके लिये ही यह गौ देवोंने बनाई है । [य एनां नि प्रियायते] जो इसको अपनी प्रिय है करके अपने ही पास रखता है, अपना दान नहीं देता, (तद् ब्रह्मज्येयं अम्भुवन्) वह उमदा रूप ब्राह्मणोंपर अत्याचार जैसा ही है ॥ ११ ॥

[य. आप्येभ्यः यार्चयेभ्यः] जो मांगनेवाले ऋषिपुत्रोंको (देवानां गां न दिव्यति) देवोंकी गौ देता नहीं, (सः ब्राह्मणानां मन्वये) वह ब्राह्मणोंके कोपके लिये [देवेषु आवृथते] देवोंमें आघात करता है ॥ १२ ॥

[यः अस्य वंशाभोगो स्याद्] जो इस गौका उपभोग लेना है, [सः तर्हि अन्नां हृच्छेत्] वह वो दूसरी गौसे प्राप्त करे । [अर्द्धत्वा पुरुषं हिंस्ते] दान न दी हुई गौ उस पुरुषकी हिंसा करता है, कि [याचितां च न दिव्यति] जो याचना करनेपर भी नहीं देता ॥ १३ ॥

(यथा निहित शेषधि) जैसा सुरक्षित खजाना होता है, [तथा ब्राह्मणानां वृशा] वैसी ही ब्राह्मणोंकी यह गौ है । [यस्मिन् कस्मिन् च जायते] जहां कहीं उग्रह हुई हो [एतम् अरुध् आदन्ति] उसके पाम वे ब्राह्मण पहुंचाने ही हैं ॥ १४ ॥

[यत ब्राह्मणाः वशा अभि] यदि ब्राह्मण गौके पास जाते हैं तो [एतत् स्वं अरुध् आदन्ति] वे अपने धनके पाम ही जाते हैं । [असया निरोधनं] इस गौको मतिबंध करना मानो [यथा एनाद् अन्याभिन् जिनीयात्] जैसा इनकी दूसरे अर्थमें वक्ष्य देना है ॥ १५ ॥

भाषार्थ— ब्राह्मण याचना करनेके लिये आनेपर उनको गौ प्रदान न करना, उनपर अत्याचार करनेके अनान है । क्योंकि देवोंने ही उनके लिये वह बनाई होनी है ॥ ११ ॥

अतः जो मांगनेपर भी ब्राह्मणोंकी गौ नहीं देता वह मानो देवोंपर ही आघात करता है । उसके उधर ब्राह्मणोंका कोप और देवोंका संताप होता है ॥ १२ ॥

यदि गौसे किसीको त्याग होता हो, तो वह दूसरी गौसे वह प्राप्त करे । क्योंकि जो गौको मांगनेपर भी नहीं देता, वह गौ ही उसकी नाशक बनती है ॥ १३ ॥

यह गौ ब्राह्मणोंकी ही है जैसा सुरक्षित खजाना होता है वैसी ही यह है । कहीं किसीके पास भी उग्रह हुई हो जिसकी वह होगी वे ब्राह्मण उसके मांगने आवेंगे ॥ १४ ॥

ब्राह्मण जिस गौको मांगते हैं वह उनकी ही होनी है । अतः उनको उस गौका दान न करना अवरोध है ॥ १५ ॥

चरेद्विवा त्रैहायणादर्विज्ञातगदा सती । वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्यभ्याः ॥१६॥
 य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम् । उभौ तस्मै भवाश्रवां परिक्रम्येपुमस्यतः ॥१७॥
 यो अस्या ऊधो न वेदार्थो अस्या स्तनानुत् ।
 उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद् वशाम् ॥१८॥
 दुर दम्नैन्मा शये याचितान् च न दित्सति ।
 नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदस्त्रा चिकीर्षति ॥१९॥
 देवा वशामयाचन् मुखं कृत्वा ब्राह्मणम् ।
 तेषां सर्वेषामददद्वेदं न्येति मानुषः ॥ २० ॥ (२०)
 हेडं पशूनां न्येति ब्राह्मणेभ्योऽददद् वशाम् ।
 देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते ॥२१॥

अर्थ- [आविज्ञात—गदा मती वा त्रैहायणात् चरेत् एव] अज्ञातनामवाली गौ तीन वर्ष होनेतक माताके साथ घूम करे । हे नारद ! [वशां विद्यात्, ताहें ब्राह्मणः एभ्याः] गौ देने योग्य होनेपर, तो उसके लिये ब्राह्मण हूँचे जाय ॥ १६ ॥

[यः देवानां निहितं निधिं एनां अत्रशां आह] देवोंके निश्चित खजाना रूप इस गाँवके न देने योग्य कह, [तस्मै भवाश्रवां उभौ परिक्रम्य इपुं अस्यतः] उसे भव और शर्व दोनों घेरकर बाण मारते हैं ॥ १७ ॥

(यः अस्याः ऊधः अथो उत अस्याः स्तनान् न वेद) जो इसके दुग्धादायको और इसके स्तनोंको नहीं जानता, (चेत दातुं अशकत्) वह यदि दान देनेमें समर्थ हुआ तो [उभयेन अस्मै दुहे] वद गौ उसे उक्त दोनोंसे दूध देती है ॥ १८ ॥

[याचितान् न दित्सति] मांगनेपर भी ब्राह्मणको जो नहीं दी जाती वद गौ (दुः—अदम्ना एनं आशये) वश होने में कठिन होकर इसके साथ रहती है । (अस्मै कामाः न समृध्यन्ते) इसके मनोरथ सफल नहीं होते [यां अदस्या चिकीर्षति] जिसे न दान करके कमाना चाहता है ॥ १९ ॥

(ब्राह्मणं मुखं कृत्वा) ब्राह्मणरूपी मुख करके (देवाः वशां अयाचन्) देव गौकी याचना करते हैं । [अददन् मानुषः] न देनेवाला मनुष्य (तेषां सर्वेषां हेडं नि एति) उन सबके क्रोधको प्राप्त करता है ॥ २० ॥

[मर्त्यः देवानां निहितं भागं निप्रियायते चैव] मनुष्य देवोंका निश्चित भाग अपने पाम यदि रखेगा और [ब्राह्मणेभ्यः वशां अददत्] ब्राह्मणोंको गौ न देगा तो [पशूनां हेडं नि एति] पशुओंके क्रोधको भी प्राप्त होता है ॥२१॥

भावार्थ—तीन वर्षतक गौको उसका स्वामी पाले, पचात् कोई मांगने न आवे तो सुयोग्य ब्राह्मणकी खोज करे और उसे देवे ॥ १६ ॥

गौ देवोंका खजाना है । जो उसे नहीं दान करता, उसका नाश भव और शर्व करते हैं ॥ १७ ॥
 जो गौको दान करता है उसको दूध आदि पशुनि मिलता है ॥ १८ ॥

जो मांगनेपर भी गौका दान ब्राह्मणोंको नहीं करता, उसके घरमें गौ वशमें नहीं रहती । गौ न देनेवालेकी कामना तृप्त नहीं होती ॥ १९ ॥

देवोंका मुख ब्राह्मण है । ब्राह्मणके मुखसे ही देव मांगते हैं । अतः दान न देनेवाला मनुष्य देवोंके क्रोधको अपने ऊपर लेता है ॥ २० ॥

कोई मनुष्य इस देवोंके भागको ब्राह्मणोंको दान न देगा तो पशुओंके क्रोधको प्राप्त होगा ॥ २१ ॥

यदुन्ये शतं याचंयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम् । अर्थेनां देवा अंशुवन्नेवं हं विदुषीं वशाम् ॥२२॥

य एवं विदुषेऽदुरमाथान्येभ्यो ददंद् वशाम् ।

दुर्गा तसां अपिष्ठानि पृथिवी सहदैवता ॥२३॥

देवा वशामयाचन् यास्मिन्नग्रे अजायत । तामेतां विद्यान्वारदः सह देवैरुदाजत ॥२४॥

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति परुषम् । ब्राह्मणैश्च याचितामर्थेनां निप्रियायते ॥२५॥

अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च ।

तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत् ॥२६॥

यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम् ।

चरंदस्य तावद् गोपु नास्यं श्रुत्वा गृहे वसेत् ॥२७॥

अर्थ—(यत् गोपतिं शतं अन्ये वशा याचयुः) यदि गौके स्वामीके पास दूसरे सौ जाकर गौके मति, (अथ एनां देवा एनं बहुवन्) इस विषयमें देवोंने ऐसा कहा है कि (विदुषः वशा ह) विद्वान्की ही गौ है ॥ २२ ॥

(य एव विदुषे अददात्) सो इस तरह विद्वान्की गौ न देकर (अन्येभ्यः वशां ददत्) दूसरे अविद्वानोंको गौ देवे, (तस्मै अधिष्ठाने सह देवता पृथ्वी दुर्गा) उसके लिये उसके स्थानमें सब देवताओंके साथ पृथ्वी दुःखदायी होनी है ॥ २३ ॥

(यास्मिन् अग्रे अजायत) जिसमें गौ पाहिले हुई, (देवाः वशां अयाचन्) देवोंने उसीके पास गौकी याचना की । (नारदः विद्यात्) नारद समझे कि (तां एतां देवैः सह उदाजत) उस गौकी देवोंके साथ उदाजति होती है ॥ २४ ॥

(ब्राह्मणः याचिता एनां नि प्रियायते) ब्राह्मणोंके द्वारा याचना होनेपर भी जो उसको प्रिय समझकर अपने पास रखता है वह (वशा पुरुषं अनपत्यं अल्पपशुं कृणोति) गौ उस मनुष्यको संतानहीन और अल्पपशुवाला करती है ॥ २५ ॥

(अग्नी-सोमाम्यां मित्राय वरुणाय कामाय तेभ्यः) अग्नि, सोम, मित्र, वरुण और काम इनके लिये ही (ब्राह्मणाः याचन्ति) ब्राह्मण गौकी याचना करते हैं, अतः (यददत् तेपु आवृश्चते) न देनेवाला उन देवोंपर आघात करता है ॥ २६ ॥

(यावत् अस्याः गोपतिः) जबतक इस गौका स्वामी (स्वयं ऋचः न उपशृणुयात्) स्वयं ऋचाएँ नहीं सुनेगा, (तावत् अस्या गोपु चरेत्) जबतक इसकी गौघरेमें गौ चरा करे, परंतु (श्रुत्वा अस्या गृहे न वसेत्) सुननेके पश्चात् वह गौ सके घरमें न रहे ॥ २७ ॥

भावार्थ— गौके स्वामीके पास संकटा याचक गौके लिये आजाय, परंतु देवोंकी आज्ञा है कि विद्वान् ब्राह्मणकी ही गौ देनी चाहिये ॥ २२ ॥

जो विद्वान् ब्राह्मणकी गौ न देकर, दूसरेकी देता है, उसकी बटे कष्ट प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

जहा गौ उपजत होती है, मानो वही देव उसकी याचना करते हैं । और देवोंको वह देनेसे सबकी उजलति होती है ॥२४॥ ब्राह्मणोंकी याचना होनेपर जो मनुष्य गौका दान नहीं करता, उसको संतान नहीं होती और उसके पास पशु भी कम होते हैं ॥ २५ ॥

ब्राह्मण जो गौकी याचना करते हैं, वे केवल अग्नि आदि देवताओंके लिये ही याचना करते हैं, अपने लिये नहीं, अतः उनको न देना देवताओंका अपमान करना है ॥ २६ ॥

जब तक गौका स्वामी यज्ञना मंत्रपौष नहीं सुनता, जबतक उसके पास गौ रहे । मंत्रपौष सुननेके पश्चात् उसके घरमें गौ न रहे ॥ २७ ॥

यो अस्या ऋचं उपश्रुत्याथ गोष्वचीं चरत् ।
 आयुश्च तस्य भूर्ति च देवा वृश्नन्ति हीडिताः ॥ २८ ॥
 वशा चरन्ती बहुधा देवानां निर्हितो निधिः ।
 आविष्कृषुष्व रूपाणि यदा स्थाम् जिघांसति । ॥ २९ ॥
 आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम् जिघांसति ।
 अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याञ्च्याय कृणुते मनः ॥ ३० ॥ (२१)
 मनसा सं कल्पयति तद् देवा अपि गच्छति ।
 ततो ह ब्रह्मणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥ ३१ ॥
 स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।
 दानेन राजन्यो वशायां मातुर्हेङ् न गच्छति ॥ ३२ ॥

धर्म—(पः अस्याः गोवतिः ऋचः उपश्रुत्य) जो इस गौका स्वामी ऋचाएँ सुनकर (अथ गोपु अचीं चरत्) पश्चात् जो गौत्रोंमें ही अपने गौको चराया करता है, (देवाः हीडिताः तस्य जायुः च भूर्ति च वृश्नन्ति) देव क्रोधित होकर उसकी आयु और संपत्तिको विनष्ट करते हैं ॥ २८ ॥

(वशा बहुधा चरन्ती देवानां निधिः निर्हितः) गौ बहुत स्थानोंमें भ्रमण करती हुई देवोंका सुरक्षित सजाना ही है। (यदा स्थाम् जिघांसति) जब वह रहनेके स्थानके पास जाना चाहती है, तब (रूपाणि आविष्कृषुष्व) अनेक रूप प्रकट करती है ॥ २९ ॥

(यदा स्थाम् जिघांसति) जब रहनेके स्थानके पास जाना चाहती है, तब (आविरात्मानं कृणोति) अपने आपको प्रकट करती है। (अथो ह ब्रह्मभ्यः याञ्च्याय मनः कृणुते) ब्राह्मणोंकी पाचनाके लिये वह गौ अपना मन करती है ॥ ३० ॥

वद् गौ (मनसा संकल्पयति) मनसे संकल्प करती है, (तद् देवान् अपि गच्छति) वह संकल्प देवोंके पास पहुँचता है, (ततः ह ब्रह्मणः वशां याचितुं उप प्रयन्ति) उसके पश्चात् ही ब्राह्मण गौकी पाचना करनेके लिये आते हैं ॥ ३१ ॥

[पितृभ्यः स्वधाकारेण] पितरोंके लिये स्वधाकारसे, [देवताभ्यः यज्ञेन] देवताओंके यज्ञसे, तथा [दानेन] दानसे [राजन्यः वशायाः मातुः हेङ् न गच्छति] क्षत्रिय गौकी माताका क्रोध प्राप्त नहीं करता ॥ ३२ ॥

मात्रार्थ—मंत्रधीय सुननेके पश्चात् यदि गौके स्वामिने गौ अपने धरमें रेखी तो उसके ऊपर देवोंका क्रोध होता है ॥ २८ ॥ गौ यह देवोंका सुरक्षित सजाना है। जब वह अपने स्थानपर जाना चाहती है तब वह अनेक भाव प्रकट करती है ॥ २९ ॥ जब वह गौ अपने स्थानके पास जाना चाहती है तब अपने मावको प्रकट करती है अपना वह करने लिये ब्राह्मणोंकी गचना हो ऐसा भाव मनमें लाती है ॥ ३० ॥

गौ यह संकल्प मनमें लाती है, वह संकल्प देवोंके पास पहुँचना है, देव ब्राह्मणोंको प्रेरणा करते हैं, और ब्राह्मण गौको माँगनेके लिये आते हैं ॥ ३१ ॥

स्वधाकारसे पितरोंकी तृप्ति, यज्ञसे देवोंकी सन्तुष्टता, और दानसे अन्धोंकी तृप्ति होती है इषलिये गौका दान करनेसे उसकी माताका क्रोध क्षत्रियपर नहीं होता है ॥ ३२ ॥

वृशा माता राजन्यस्य तथा संभूतमग्रशः । तस्या आहुरनर्षणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते ॥३३॥
 यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्बेत् सूचो अग्रये ।
 एवा हे ब्रह्मभ्यो वृशमग्रय आ वृश्चतेऽददत् ॥३४॥
 पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति ।
 सास्मै सर्वान् कामान् वृशा प्रवृदुषे दुहे ॥३५॥
 सर्वान् कामान् यमराज्ये वृशा प्रवृदुषे दुहे ।
 अर्थहृनारिकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥३६॥
 प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वृशा ।
 वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्पताम् ॥३७॥
 यो वेहतं मन्यमानोऽमा च पचते वृशाम् ।
 अप्यस्य पुत्रान् पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः ॥३८॥

अर्थ—[वृशा राजन्यस्य माता] गौ क्षत्रियकी माता है, [तथा अग्रशः संभूतं] ऐसा पहिलेसे ही हुआ है । [यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते] जो गौ ब्राह्मणोंके लिये दी जाती है [तस्या अनर्षणं आहुः] उसका वह दान ही नहीं है [क्योंकि वह गौ ब्राह्मण की ही हो] है ॥ ३३ ॥

[यथा अग्रये प्रगृहीतं आज्यं सूच आलुम्बेत्] जैसा अग्निके लिये लिया हुआ घी स्रुवासे गिरता है, [एवा वृशा ब्रह्मभ्यः अददत्] ऐसे ही गौ ब्राह्मणोंको न देनेवाला [अग्रये अवृश्चत्] अग्निके लिये अपराधी होता है ॥ ३४ ॥

[पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोके अस्मै उपतिष्ठति] अन्नरूपी बच्चा जिसके पास है उसी रक्तम दूध देनेवाली गौ परलोकम इस दाताके पास आकर खड़ी रहती है । (मा वृशा अस्मै प्रवृदुषे सर्वान् कामान् दुहे) वह गौ इस दाताके लिये सब कामनाएं पूर्ण करती है ॥ ३५ ॥

[यमराज्ये वृशा प्रवृदुषे सर्वान् कामान् दुहे] यमराज्यमें गौ दाताके लिये सब कामनाएं देती है; [अथ याचितां निरुन्धानस्य नारिकं लोकं आहुः] और याचना करनेपर न देनेवालेको नरक लोक है, ऐसा कहते हैं ॥ ३६ ॥

[प्रवीयमाना वृशा गोपतये क्रुद्धा चरति] मनमान उत्पन्न करनेवाली गौ अपने स्वामीके लिये क्रुद्ध होकर विचरती है । वह कहती है कि [मा वेहनं मन्यमानः मृत्योः पाशेषु बध्पतां] मुझे गर्भपातिनी कहनेवाला मृत्युके पाशोंसे बांधा जावे ॥ ३७ ॥

[यः वृशां वेहतं मन्यमानः] जो गौको गर्भ गिरानेवाली मानकर [अमा च वृशां पचते] घरमें गौको पकाता है [अस्य पुत्रान् पौत्रान् अपि बृहस्पतिः याचयते] इसके पुत्रों और पौत्रोंको बृहस्पति भीख मंगवाता है ॥ ३८ ॥

भाषार्थ— गौ क्षत्रियकी माता कही जाती है, इसका ब्राह्मणोंको प्रदान करना दान नहीं है, क्योंकि वह ब्राह्मणोंकी ही होती है ॥ ३३ ॥

जैसा स्तुत्राद्ये भी अग्निये गिरता है । ऐसा ही गौका दान न करनेवाला गिरता है ॥ ३४ ॥

दान दी हुई गौ दाताकी परलोकमें हरएक प्रकारकी अमना सफल करती है ॥ ३५ ॥

गोदान करनेवालेका समस्त कामनाएं यमराज्यमें सफल होती हैं, परंतु दान न देनेवालेको तो नरक ही प्राप्त होगा ॥ ३६ ॥

गौका अपमान करनेवालेको गौ क्रुद्ध होकर शाप देती है, कि वह मृत्युके पाशोंसे बांधा जावे ॥ ३७ ॥

जो गौको वैथ्या मानकर अपने घरमें पकाता है, उसके पुत्र-पौत्रोंको ईश्वर भीख मंगवाता है ॥ ३८ ॥

महदेषाव तपति चरन्ती गोषु गौरपि । अथो ह गोपंतये वशाददुषे विपं दुहे ॥ ३९ ॥

प्रियं पशुनां भवति यद् ब्रह्मर्ष्यः प्रदीयते

अथो वशायास्तत् प्रियं यद् देवत्रा हविः स्यात् ॥४०॥(२१)

या वशा उदुकल्पयन् देवा यज्ञादुदेत्य । तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः ॥ ४१ ॥

तां देवा अमीमांसन्त वशेया ३ मन्त्रशेति । तामन्त्रवीचारद् एषा वशानां वशतमेति ॥ ४२ ॥

कति तु वशा नारदु यास्त्वं वेत्यं मनुष्यजाः ।

तास्त्वां पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्रीयादन्नाक्षणः ॥ ४३ ॥

विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा ।

तस्या नाश्रीयादन्नाक्षणो या आशंसेत भृत्याम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—(गोषु गौ चरन्ती अपि) गौभूमिं गौ चरती हुई भी (एषा महत् अवतपति) यह बड़ा ताप देती है । (अथो आदुषे गोपतये विषं दुहे) मानो दान न करनेवाले गौके स्वामीके लिये यह विष देती है ॥ ३९ ॥

(यद् ब्रह्मर्ष्यः प्रदीयते) जो ब्राह्मणोंके लिये दी जाती है वह (पशुनां प्रियं भवति) पशुओंको भी हितकारी होता है, (अथो वशायाः तत् प्रियं) और गौके लिये वह प्रिय है (यद् देवत्रा हविः स्यात्) जो देवोंके लिये हवि होवे ॥ ४० ॥

(याः वशाः देवाः) जिन गौओंको देवताओंने (यज्ञात् उदेत्य उदकल्पयन्) पशुसे आकर संकल्पित किया था (तासां भीमां विलिप्त्यं नारदः उदाकुरुत) इनकी भयानक, अधिक घीवाली गौको नारदने अनुभव किया ॥ ४१ ॥

(तां देवाः अमीमांसन्त) इस विषयमें देवोंने विचार किया, (वशा इयं भवशा) यह गौ अपने वशमें रहने योग्य नहीं है । (नारदः तां अन्ववीत्) नारदने उसके विषयमें कहा कि (एषा वशानां वशतमा इति) यह गौओंमें अधिक वश होनेवाली है ॥ ४२ ॥

हे नारद ! (याः त्वं मनुष्यजाः वेद्य) जिनको तू मनुष्यमें उत्पन्न जानता है वे (कति तु वशा) गौवें कितनी मला हैं । (स्वा विद्वांसं पृच्छामि) तुम विद्वान्से मैं पूछता हूँ कि (कस्याः अन्नाक्षणः न भक्षीयात्) किसका नाक्षण-भिन्न अतिथि न खावे ! ॥ ४३ ॥

हे बृहस्पते ! (यः भृत्या आशंसेत) जो ऐश्वर्य चाहता है, वह (विलिप्त्याः या च सूतवशा वशा) अधिक घी देनेवाली गौ है, जो सूतको ही वश होती है, और जो सबको वश है (अन्नाक्षण तस्याः नाश्रीयात्) अन्नाक्षणने उत्साह अन्न न खाना चाहिये (यः भृत्या आशंसेत) जो ऐश्वर्य चाहे ॥ ४४ ॥

भावार्थ— जो गौका दान नहीं करता उसके लिये उसकी गौ विष दुहती है ॥ ३९ ॥

गौका दान करनेसे पशुओंका हित होता है, गौओंका हित होता है । क्योंकि गौसे हृष्यपराध देवताओंके लिये मिलते हैं ॥ ४० ॥

यज्ञसे आकर सब देवताओंने मिलकर गौकी रचना की, इनमें जो अधिक घी देनेवाली है उसकी योग्यता विशेष है ॥ ४१ ॥ देवोंने निश्चय उहाराया कि वह स्वामीके वशमें रहने योग्य नहीं है, क्योंकि वह उत्कृष्ट गौ है, अतः वह दानके योग्य है ॥ ४२ ॥

मनुष्योंके पाप जो गौवें होती हैं उनमेंसे कौनसी गौका अन्न अन्नाक्षण स्वामी न खावे ! ॥ ४३ ॥

निश्चय यह हुआ कि अधिक घी देनेवाली, सर्वदा वशमें रहनेवाली और नौकरके वश रहनेवाली, ये तीन गौवें दानके योग्य हैं, अतः इनका अन्न अन्नाक्षण स्वामी न खावे ॥ ४४ ॥

नमस्ते अस्तु नारदानुष्टु विदुषे वृशा । कृतमार्सा भीमर्तमा यामर्दखा परामर्षेत् ॥ ४५ ॥

विलिप्ती या वृहस्पतेऽर्थो सूतवशा वृशा ।

तस्या नाश्रीयादत्राक्षणो य आशंसित भूत्पाम् ॥ ४६ ॥

श्रीणि वै वंशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वृशा ।

ताः प्र वच्छेद् ब्रह्मभ्यः सेऽनाग्रस्कः प्रजापतौ ॥ ४७ ॥

एतद् वां ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः ।

वृशां चेदेनं याचेयुषा भीमार्ददुपो गृहे ॥ ४८ ॥

देवा वृशां पर्यवदन् न नोऽट्टादिति हीडिताः ।

एताभिर्ऋग्भिर्भेदे तस्माद् वै स परामवत् ॥ ४९ ॥

अर्थ— दे मारद ! (ते नमः अस्तु) तेरे लिये नमस्कार है । (अनुष्टु विदुषे वशा) अनुष्टुछासे विद्वान्को गौप्रदान कानो चादिवे । (मार्सा कृतमा भीमर्तमा) इनमें कौनसी भवान्क है (यां अर्दखा परामवेत्) जिनका दान न करनेसे परामव होगा ? ॥ ४५ ॥

हे वृहस्पते ! (या विलिप्ती यपो सूतवशा वशा) जो अधिक धी देनेवाली और सूतको वश करनेवाली और सबको वश रहनेवाली गौ है, (अमालग्नः तस्याः न अभीयान्) अमालग्न उसका अन्न न खावे (यः भूत्यां आशंसत्) जो ऐश्वर्य-सम्पत्तिकी इच्छा करता है ॥ ४६ ॥

[श्रीणि वै वंशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा] गौधी तीन जातिवां हैं—एक अधिक धी देनेवाली, दूसरी गौकरके वश होनेवाली और तीसरी सबको वश होनेवाली, [ताः यः ब्रह्मभ्यः प्रवच्छेत्] उनको जो ब्राह्मणोंको देगा, [तः प्रजापतौ अनाग्रस्कः] वह प्रजापतिके पास निरपराधी होता है ॥ ४७ ॥

हे ब्राह्मणो ! [एतद् वः हविः] यह आपका हवि है [इति याचितः मन्वीत] ऐसा याचना करनेपर गौछा स्वामी कहे । [वशां चेन् एनं याचेयुः] गौकी जब इसके पास याचना की जाती है तब [या भीमा अर्ददुषः गृहे] वह अर्दकर गौधी हे अदाताके घरमें रखना ॥ ४८ ॥

[नः न अदात् इति हीडिताः देवाः] हमें हसने दिया नहीं इस कारण क्रोधित हुए देव [वशां] गौसे [एताभिर्भेदं पर्यवदन्] इन मंत्रोंसे भेदके विषयमें कहने लगे [तस्माद् वै सः परामवत्] इस कारण उसका परामव हुआ ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जिस गौका दान न करनेसे अधिक हानिकी संभावना है, वह कौनसी गौ है ? ॥ ४५ ॥

गौओंमें तीन जातिवां है, एक अधिक धी देनेवाली, दूसरी सबके वशमें रहनेवाली और तीसरी गौकरके वश होनेवाली ये तीन प्रकार की गौं हैं जिनका अन्न गौना स्वामी न खावे । स्वामी के गौएं ब्राह्मणको दान देके, जिससे वह निर्दोष होता है ॥ ४६-४७ ॥

मांगनेपर गौका स्वामी कहे कि ' हे ब्राह्मणो ! यह आपका अन्न है । ' मांगनेपर गौ जो न देने लगेके घरमें वह गौ अर्दकर हानि करनेवाली होती है ॥ ४८ ॥

गौका दान न करनेसे देव क्रोधित होकर उसके घरमें भेद करते हैं और इस कारण उसका परामव होता है ॥ ४९ ॥

उत्तैर्ना भेदो नार्ददाद् वशाभिन्द्रेण याचितः । तस्मात् तं देवा आगतोऽवृश्नहमुत्तरे ॥ ५० ॥

ये वशाया अदानाय वर्दन्ति परिरापिणः ।

इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आ वृश्न्ते अर्चिच्या ॥ ५१ ॥

ये गोपतिं पराणीयायाहुर्मा ददा इति । रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परिं यन्त्यर्चिच्या ॥ ५२ ॥

यदि हुतां यद्यहुताममा च पचते वशाम् ।

देवान्त्सत्राक्षपानृत्वा जिज्ञो लोकाभिर्रच्छति ॥ ५३ ॥ (२३)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अर्थ— [उक्त पदां वशां इन्द्रेण याचितः भेदः] और इस गौको इन्द्रसे याचना करनेपर भी भेदने [न अर्ददात्] नहीं दिया [तस्मात् आगतः देवाः तं अहमुत्तरे अवृश्न्] उस पापके कारण देवोंने उसे युद्धमें काट डाला ॥ ५० ॥

[ये परिरापिणः वशायाः अदानाय वर्दन्ति] जो कुछ लोग गौका दान न करनेका भाषण कोलते हैं, वे [जाल्माः अर्चिच्या इन्द्रस्य मन्यवे अवृश्न्ते] कुछ मनुष्य मतिहीनता के कारण इन्द्रके क्रोधकेलिये काटे जाते हैं ॥ ५१ ॥

[ये गोपतिं परानीय] जो गौके स्वामीको दूर ले जाकर [अथ आहुः सा दाः इति] कहते हैं कि मत दान कर [ते आर्चिच्या रुद्रस्य अस्तां हेतिं परि यन्ति] वे न समझते हुए रुद्रके फेंके हुए हथियारको प्राप्त होते हैं ॥ ५२ ॥

[यदि हुतां यदि अहुतां] यदि हवन की गई अथवा न की गई [वशां अमा च पचते] गौको अपने घरमें जो पकता है, वह [स त्राक्षपानृत्वा] माक्षणिके साथ देवोंका अपराधी बनकर [जिज्ञः] कुटिल होकर [लोकात् निर्रच्छति] इस कोरसे गिरता है ॥ ५३ ॥

चतुर्थं अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

भावार्थ— गौ की याचना करनेपर भी जो नहीं देता उसके राज्यमें भेद उत्पन्न होकर युद्धमें उसका पराभव होता है ॥ ५० ॥

जो गौका दान न करनेके विषयमें उपदेश करते हैं उनका भी इन्द्रके क्रोधसे नाश होता है ॥ ५१ ॥

जो लोग गौके स्वामीको दूर ले जाकर गौ दान न करनेका उपदेश करते हैं, उनका नाश रुद्रके शस्त्रसे होता है ॥ ५२ ॥

जो गौके अन्नको घरमें पकाते हैं उनपर देवों और त्राक्षणोंका क्रोध होता है और वे गिरते हैं ॥ ५३ ॥

चतुर्थं अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

ब्राह्मणकी गौ ।

[५]

(ऋषिः— अथर्वाचार्यः । देवता—ब्रह्मगविः)

(५११)

ध्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा विचरें श्रिता	॥ १ ॥
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीश्रिता ॥ २ ॥	
स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्युहा दीक्षया गुप्ता यत्रे प्रतिष्ठिता लोको निघनम्	॥ ३ ॥
ब्रह्मं पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥ ४ ॥	
तामाददानस्य ब्रह्मगर्वा जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियंस्य	॥ ५ ॥
अप क्रामति सूनृता वीर्येण पुण्या लक्ष्मीः	॥ ६ ॥ (२४)

(५१२)

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेंन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च	॥ ७ ॥
ब्रह्मं च क्षत्रं च राष्ट्रं च विश्वं च त्विषिंश्च यशश्च वचंश्च द्रविणं च	॥ ८ ॥

अर्थ— (ध्रमेण तपसा सृष्टा) धर्म और तपसे उत्पन्न हुई (ब्रह्मणा विचिता) ज्ञानसे प्राप्त हुई और (ऋते श्रिता) सत्यके आश्रयपर रही है ॥ १ ॥ (सत्येन आवृता) सत्यसे आवृत्यहित (श्रिया प्रवृता) श्रिते भरी हुई और (यशसा परीश्रिता) यशसे परिशी है ॥ २ ॥ (स्वधया परिहिता) अपने- धारणसे सुरक्षित हुई (श्रद्धया पर्युहा) धर्मात्मकिये युक्त (दीक्षया गुप्ता) दीक्षाक्रमसे सुरक्षित हुई (यत्रे प्रतिष्ठिता) यत्रमें प्रतिष्ठित हुई और (लोके निघनम्) इस से कर्म आश्रयकी प्राप्त हुई है ॥ ३ ॥ जो (ब्रह्म पदवायं) ज्ञानरूप पदधर्म है उसका (अधिपति ब्राह्मण) स्वामी ब्रह्मण है ॥ ४ ॥ जो ब्रह्म-गर्वा आददानस्य) उस ब्राह्मणकी गौको लेनेके लिये (ब्राह्मणं जिनतोः क्षत्रियस्य) ब्राह्मणका नाम करनेवाले क्षत्रिय को ॥ ५ ॥ (सूनृता वीर्येण पुण्या लक्ष्मीः) अपक्रामति) उद्योग वीर्यवती पुण्यमयी लक्ष्मी दूर होती है ॥ ६ ॥ [२४]

(५१२)

ओज, तेज (सहः) सहनशामर्थ्य, बल, वाणी, इन्द्रियशक्ति, (श्रीः) शोभा, धर्म ॥ ७ ॥ (ब्रह्म) ज्ञान (क्षत्र) शौर्य, राष्ट्र, (विश्व) प्रजा, (त्विषिं) तेज, दया (वचं) पराक्रम, (द्रविणं) धन, ॥ ८ ॥ आद्यु, रूप, नाम

आपुंथ रूपं च नामं च क्लीतिथं प्राणथापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च ॥ ९ ॥
 पर्यश्च रसश्चात्तं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशुवश्च ॥ १० ॥
 तानि सर्वाण्यप्यं क्रामन्ति ब्रह्मणवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ११ (२५)

(५१३)

सैषा भीमा ब्रह्मणव्याः षर्विषा साक्षात् कृत्या कृत्वञ्जमावृता ॥ १२ ॥
 सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः ॥ १३ ॥
 सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः ॥ १४ ॥
 सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मणव्याः प्रीयमाना मृत्योः पङ्क्तेश्च आ धति ॥ १५ ॥
 मेनिः श्रुतवशा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा ॥ १६ ॥
 तस्माद् वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता ॥ १७ ॥
 वज्रो धार्वन्ती वैश्वानर उद्धीता ॥ १८ ॥
 हेतिः शुफानुस्त्रिदन्ती महादेवो ह्येक्षमाणा ॥ १९ ॥
 क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानामि स्फूर्जति ॥ २० ॥

अर्थ- क्लीति, प्राण, अग्न, चक्षु, श्रोत्र ॥९॥ (पर्यः) दूध, रस, अन्न, (अन्नाद्यं) खाद्य पदार्थ, ऋत, सत्य, (ईष्टं च पूर्तं च) इष्ट वस्तु, पूर्णता, प्रजा, पशु ॥१०॥ (तानि सर्वाणि) ये सब ३४ पदार्थ (ब्रह्मणं आदानस्य ब्राह्मणं जिनतः क्षत्रियस्य अपक्रामन्ति) ब्राह्मणकी गौकी छाननेवाले और ब्राह्मणका नाश करनेवाले क्षत्रियके दूर होते हैं ॥ ११ ॥ [२५]

(५१३)

(सा पूषा ब्रह्मणवि भीमा) वह वह ब्राह्मणकी गौ अमालक है, यह (अन्न-विषा, साक्षात् कृत्या) विषैकी और साक्षात् घात करनेवाली (कृत्वञ्जं आवृता) विनाशक पदार्थके ब्याप्त है ॥१२॥ (अस्यां सर्वाणि घोराणि) इसमें सब भयंकरता है (सर्वे च मृत्यवः) इसमें सब मृत्यु है ॥ १३ ॥ (अस्यां सर्वाणि क्रूराणि) इसमें सब क्रूरता है (सर्वे पुरुषवधाः) सब पुरुषोंके वध है ॥ १४ ॥

(सा ब्रह्मणवी आदीयमाना) यह ब्राह्मणकी गौ पट्टी जानेपर (ब्रह्मज्यं देवपीयुं मृत्योः पङ्क्तेश्च आधतिः) ब्रह्मणकी देवपशुकी मृत्युके पाशमें बाल देती है ॥ १५ ॥ (सा श्रुतवशा मेनिः) वह सौका घात करनेवाली हथियार ही है (सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिः हि) वह ब्रह्मज्यकी क्षति विनाश ही है ॥ १६ ॥ (तस्माद् वै विजानता ब्राह्मणानां गौः दुराधर्षा) इसलिये ही ज्ञानीको समझना चाहिये कि ब्रह्मणकी गौ धर्मग करनेके लिये कठिन है ॥ १७ ॥ (धार्वन्ती वज्र, उद्धीता वैश्वानरः) वह जब दौधती है तब वज्र बनती है, जब उठती है तब वह आग जैसी होती है ॥ १८ ॥ (शुफानुस्त्रिदन्ती हेतिः) क्षुरसे मारती हुई वह हथियारके समान है और (वाश्यमाना महादेवः) देखती हुई महादेवके समान होती है ॥ १९ ॥ (इक्षमाणा क्षुरपविः) क्षुरके समान टाँसने होती है और (वाश्यमाना अमिस्फूर्जति) धमक करनेपर गर्जना करनेके समान बनती है ॥ २० ॥ (इक्षमाणा क्षुरपुः) हिंकार करनेपर मृत्यु होती है, और (पृष्टं पर्यस्यती वज्रः देवः) पृष्ठ

मृत्युर्हिङ्कृष्वत्युः१ ग्रो देवः पुच्छं पुर्यस्यन्ती	॥ २१ ॥
सर्वज्पानिः कर्णो वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती	॥ २२ ॥
मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा	॥ २३ ॥
सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा	॥ २४ ॥
शरव्या ३ मुखेऽपिनक्षमान् श्रतैर्हन्वमाना	॥ २५ ॥
अधविषा निपतन्ती तमो निपतिता	॥ २६ ॥
अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य	॥ २७ ॥ (२६)

(५४)

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना	॥ २८ ॥
देवहेतिर्हियमाणा व्युद्धिर्हृता	॥ २९ ॥
पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना	॥ ३० ॥
विषं प्रयस्यन्ती त्वमा प्रयस्ता	॥ ३१ ॥
अग्रं पच्यमाना दुष्वप्यं पक्वा	॥ ३२ ॥
मूलवर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता	॥ ३३ ॥

अर्थ— ऊपर करनेवाली उम्र देवके समान भयंकर होती है ॥ २१ ॥ (कर्णो वरीवर्जयन्ती सर्वज्पानिः) कान ऊपर करनेपर सबका नाश करनेवाली होती है और (मेहन्ती राजयक्ष्मः) मूत्र करनेपर हृद्यरोग ही बनती है ॥ २२ ॥ (दुह्यमाना मेनिः) दुष्टों द्वारा दुही जाते समग्र शत्रुरूप होती है (दुग्धा शीर्षक्तिः) दुही जानेपर शिर्षाका स्वरूप बनती है ॥ २३ ॥ (उपतिष्ठन्ती सेदिः) पाष खड़ी होनेपर विनाशक होती है और (परामृष्टा मिथोयोधः) स्पर्श होनेपर दन्त्युद्ध करनेवाले शत्रुके समान होती है ॥ २४ ॥ (मुखे अपिनक्षमाने शरव्या) मुखमें बांधी जानेपर शरोंके समान और (हन्वमाना श्रतिः) ताड़ित होनेपर विनाशक होती है ॥ २५ ॥ (निपतन्ती अधविषा) बैठती हुई भयानक विषरूपी और (निपतिता उमः) बैठती होनेपर साक्षात् मृत्युरूपी अन्धकारके समान होती है ॥ २६ ॥ (ब्रह्मगवी अनुपगच्छन्ती) ब्राह्मणकी गौ—(ब्रह्मज्यस्य प्राणान् उपदासयति) ब्राह्मणपातकोंके प्राणोंका नाश करती है ॥ २७ ॥

(५४)

(विकृत्यमाना वैरं) गौके काट देनेपर वैर करती है और (विभाज्यमाना पौत्राद्यं) काटकर विभक्त करनेपर पुत्रादिकोंके क्षानेवाली होती है ॥ २८ ॥ (हियमाणा देवहेतिः) ले जानेपर देवोंका वध बनती है और (व्युद्धिः) हरण होनेपर विपत्ति बनती है ॥ २९ ॥ (अधियाना पाप्मा) कायुमें रखनेपर पापघटा होती है और (अवधीयमाना पारुष्यं) तिरस्कृत होनेपर कठोरता बनती है ॥ ३० ॥ (प्रयस्यन्ती विषं) बर्छी होनेपर विष होती है और (प्रयस्ता त्वमा) सतनेपर उबरके समान होती है ॥ ३१ ॥

(पच्यमाना अग्रं) पकानेपर पाप रूप बनती है और (पक्वा दुष्वप्यं) पक जानेपर दुष्ट स्वप्नके समान दुःखदायिनी बनती है ॥ ३२ ॥ (पर्याक्रियमाणा मूलवर्हणी) घुमाई जानेपर मूलका नाश करनेवाली और (पर्याकृता क्षितिः) परोधी हुई तो विनाशक बनती है ॥ ३३ ॥

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्भ्रियमाणाशीविष उद्धृता	॥ ३४ ॥
अभूतिरुपद्वियमाणा पराभूतिरुपहृता	॥ ३५ ॥
शुर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता	॥ ३६ ॥
अर्वातिरिश्यमाना निर्नीतिरशिता	॥ ३७ ॥
अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमसाच्चामुष्माच्च	॥ ३८ ॥ (२७)
(५१५)	
तस्या आहननं कृत्या भेनिराशसनं वलग ऊर्ध्वध्वम्	॥ ३९ ॥
अस्वगता परिहृता	॥ ४० ॥
अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति	॥ ४१ ॥
सर्वास्याह्ना पर्वा मूलानि वृश्चति	॥ ४२ ॥
छिनस्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु	॥ ४३ ॥
विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वांनपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना	॥ ४४ ॥
अवास्तुमेनमस्वंगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते	॥ ४५ ॥
य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते	॥ ४६ ॥ (२८)

अर्थ (गन्धेन असंज्ञा) वह गंधसे बेहोपी करती है, (उद्भ्रियमाणां शुक्) उठाई जानेपर शोक पैदा करती है और (उद्भृता आशीविषः) उठाई गयी सांपके समान होती है ॥ ३४ ॥ (उपद्वियमाणा अभूतिः) पास ली गई विपत्ति बनती है, (उपहृता पराभूतिः) पास रखी पराभवरूप होती है ॥ ३५ ॥ (पिश्यमाना क्रुद्धः शर्वः) पीसी जाते समय क्रोधित रुदके समान और (पिशिता शिमिदा) पीसी हुई सुखका नाश करनेवाली होती है ॥ ३६ ॥ (अश्यमाना अवतिः) खाया जाती हुई विपदा होती है और (अशिता निर्नीतिः) खाई जानेपर-गिरावट बनती है ॥ ३७ ॥ (अशिता ब्रह्मगवी) खाई हुई ब्राह्मणकी गौ (ब्रह्मज्यं अस्मान् अमुष्मात् च लोकात् छिनत्ति) ब्राह्मणघातकीको इस लोकसे और परलोकसे उखाड़ देती है ॥ ३८ ॥

(५१५)

(तस्याः आहननं कृत्या) उषका वध घात करनेवाला है (आशननं भेनिः) उसके टुकड़े करना वज्रघातसमान है। और (उर्ध्वध्वं वलगः) उषका पक्व अन्न विनाशक होता है ॥ ३९ ॥

वह (परिहृता अस्वगता) ली जानेपरभी अपने पास नहीं रहती अर्थात् अपना धात करती है ॥ ४० ॥ (- ब्रह्मगवी क्रव्याद् अग्निः भूत्वा ब्रह्मज्यं प्रविशति अस्ति) ब्राह्मणकी गौ मांसभक्षक आग बनकर ब्राह्मणघातकीमें प्रवेश करके उषे सा जाती है ॥ ४१ ॥ (अस्य सर्वां अंगान् मूलानि वृश्चति) इसके सब अंगों और मूलोंको काट बालती है ॥ ४२ ॥ (अस्य पितृबन्धु छिनत्ति) इसके पिताके बन्धुओंको छेदती है और (मातृबन्धु परामावदति) माताके बन्धुओंको परास्त करती है ॥ ४३ ॥ (क्षत्रियेण अपुनर्दीयमाना ब्रह्मगवी) क्षत्रियके द्वारा पुनः वापस न दी गयी ब्राह्मणकी गौ (क्षत्रियस्य विवाहान् सर्वांन् ज्ञातीन् क्षापयति) क्षत्रियके सब विवाहों और सब जातावालोकोंका नाश करती है ॥ ४४ ॥ (पुनर् अवास्तुमेनमस्वंगमप्रजसं करोति) इसे घरके विना, आश्रयरहित और प्रजारहित करती है, (अपरापरणः भवति, क्षीयते) सहायकसे रहित होता है और नष्ट होता है ॥ ४५ ॥ (यः क्षत्रियः विदुषः ब्राह्मणस्य गौं एवं आदत्ते) जो क्षत्रिय विद्वान् ब्राह्मणकी गौको इसी तरह छीनता है ॥ ४६ ॥ [२८]

(५१६)

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलवम्	॥ ४७ ॥
क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराज्ञानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलवम्	॥ ४८ ॥
क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलवम्	॥ ४९ ॥
क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत् तदासीं ३ दिदं नु ता ३ दितिं	॥ ५० ॥
छिन्ध्या छिन्धि प्र छिन्ध्यापि क्षापय क्षापय	॥ ५१ ॥
आददानमाक्षिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय	॥ ५२ ॥
वैश्वदेवी ह्यु च्यसे कृत्या कृत्वज्जमावृता	॥ ५३ ॥
ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः	॥ ५४ ॥
धुरपविर्मुत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम्	॥ ५५ ॥
आ दत्से जिनतां वधे ह्ये पूर्त चाशिपः	॥ ५६ ॥
आदार्य जीतं जीताय लोकेभ्यमुग्मिन् प्र यच्छसि	॥ ५७ ॥
अध्वये पदवीभ्य ब्राह्मणस्याभिर्शस्त्या	॥ ५८ ॥
मेनिः शरण्या मवाघादुघविषा भव	॥ ५९ ॥

(५१६)

अर्थ— (तस्य आहनने गृध्राः क्षिप्रं वै ऐलवं कुर्वते) उस दुष्टके हनन होनेपर गीध घोष ही कोलहल मचाते हैं ॥ ४७ ॥

(तस्य आदहनं) उसकी जलती चिताको देखकर (केशिनीः पाणिना तरसि ब्रह्मणाः पापं ऐलवं कुर्वाणाः परिनृत्यन्ति) बाल छोड़कर हाथोंसे छातियोंपर मार मार सुरा चन्द करती हुई शिपों इतस्तवः नाचती हैं ॥ ४८ ॥ (तस्य वास्तुषु वृकाः ऐलवं क्षिप्रं कुर्वन्ति) उसके परीमें आदिये शीघ्र ही अपना शब्द करने लगते हैं ॥ ४९ ॥ (क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति) शीघ्र ही उसके विषयमें पूछते हैं कि (यत् तद् आसीत्) ऐसा यह या (इदं नु तद् इति) क्या वह वही है ५० ॥ (छिन्धि अछिन्धि प्रच्छिन्धि) उसके काटो, काट डालो और टुकड़े करो । (अपि क्षापय क्षापय) नाश करो, उसका नाश करो ॥ ५१ ॥ हे (आगिरसि) अंगरसकी राक्षि ! (आददानं ब्रह्मज्यं उपदासय) ब्राह्मणकी गौको छीगनेवाले घातकीषा नाश करो ॥ ५२ ॥ तू (वैश्वदेवी हि कृत्या) सब देवोंकी विनाशक राक्षि (बृहज्जं आहृता उच्यते) विनाशिनी है ऐसा कहते हैं ॥ ५३ ॥ (ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणः वज्रः) तापदायक ऋत करनेवाली यह ब्राह्मणकी वज्ररूप राक्षि है ॥ ५४ ॥ (एवं धुरपविः मृत्युः भूत्वा विधाव) तू क्षुरके समान तक्षिण बनकर उसका मृत्यु करनेके लिये दौड ॥ ५५ ॥ (जिनतां वधेः ह्ये पूर्त च आशिपः आदरं) विनाश करनेवालेका तेज हृष्टपूर्तता और आशियोंको तू छीनती है ॥ ५६ ॥

(जीतं आदार्य भमुग्मिन् लोके) जिसका घातकी प्रत्यक्षी पकड़कर परलोकमें (जीताय प्रयच्छसि) रखके घातके लिये तू देती है ॥ ५७ ॥ हे (अध्वये) अध्वय गौ ! तू (ब्राह्मणस्य अभिर्शस्त्याः पदवीः भव) ब्राह्मणपरशंघावे सबकी प्रतिष्ठा करनेवाली हो ॥ ५८ ॥ तू (मेनिः शरण्या मय) विनाशक राज बन, [अघात् अघविषा भव] पापके पावरूपी बन ॥ ५९ ॥

अध्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागंसो देवपीयोरंराधसः ॥ ६० ॥

त्वया प्रमूर्णं मृदितमभिर्देहतु दुश्चितम् ॥ ६१ ॥ (२९)

(५१७)

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र देह सं देह ॥ ६२ ॥

ब्रह्मज्यं देव्यध्न्य आ मूलादनुसंदह ॥ ६३ ॥

यथायाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥ ६४ ॥

एवा त्वं देव्यध्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागंसो देवपीयोरंराधसः ॥ ६५ ॥

वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥ ६६ ॥

प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥ ६७ ॥

लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय ॥ ६८ ॥

मांमान्यस्य ज्ञातय स्नावान्यस्य सं वृह ॥ ६९ ॥

अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि ॥ ७० ॥

सर्वास्याङ्गा पर्वानि वि श्रेथय ॥ ७१ ॥

अभिरंनं क्रव्यात् पृथिव्या सुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिष्णः ॥ ७२ ॥

सूर्यं एनं दिवः प्र पुंदतां न्योषतु ॥ ७३ ॥ (३०)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

॥ द्वादशं काण्डं समाप्तम् ॥

हे [अध्न्ये] अध्न्य गी ! तू [ब्रह्मज्यस्य कृतागसः देवपीयोः भ्राधसः शिरः प्रजहि] ब्रह्मपातकी पापी देवनिदक भ्रान्ती पापीका शिर फाट डाल ॥ ६० ॥ [त्वया प्रमूर्णं मृदितं दुश्चितं अग्निः दहतु] तेरे द्वारा मारा गया नष्ट भ्रष्ट हुअे दुष्टदुष्टि शरको आगि जला दे ॥ ६१ ॥

[वृश्च प्रवृश्च संवृश्च] काट, अधिक काट, अच्छीतरसे काट, [देह प्रदेह संदेह] जला, अधिक जला, अच्छी तरसे जला ॥ ६२ ॥ हे [अध्न्ये देवि] अहिंसनीय गी देवि ! [ब्रह्मज्यं आमूलात् अनुसदह] ब्रह्मपातकीको समूल जला डाल ॥ ६३ ॥ [यथा यमसादनात् परावतः पापलोकान् अयात्] जैसा यमसदनेसे परले पापी लोकोंके प्रति बढ़ जावे [एवा कृतागसः देवपीयोः भ्राधसः ब्रह्मज्यस्य] इस तरह पापी देवशत्रु कंत्रुस ब्रह्मपातकी मनुष्यका [शिरः स्कन्धान्] शिर और कंधे [शतपर्वणा क्षुरभृष्टिना तीक्ष्णेन वज्रेण प्रजहि] सौ नोकवाले क्षुरके समान धारवाले तीक्ष्ण वज्रेसे काट डाल ॥ ६४-६७ ॥ [अस्य लोमानि सं छिन्धि] इसके लोम काट डाल, [अस्य त्वचं वि वेष्टय] इसकी त्वचको उधेष्ट, [अस्य मांसानि ज्ञातय] इसके मांसको काट डाल, [अस्य स्नावानि संवृह] इसके स्नावानको कुचल, [अस्थीनि पीडय] इसकी हड्डियोंको पीडा दे, [अस्य मज्जानं निर्जहि] इसकी मज्जाको नाश कर, [अस्य सर्वा पर्वानि विश्रेथय] इसके सब पर्वोंको अलग कर ॥ ६८-७१ ॥ [एनं क्रव्यात् अग्निः पृथिव्याः सुदतां] इसकी मांसमक्षक अग्नि पृथिवीके बाहर निकाले और [उत्पू ओषतु] जला देवे ॥ [वायुः महतः वरिष्णः अन्तरिक्षात्] वायु बड़े भारी अन्तरिक्षसे दूर करे ॥ [सूर्यः एनं दिवः प्र पुंदतां] सूर्य इसे धूलोहसे दूर कर देवे और [नि ओषतु] जला देवे ॥ ७२-७३ ॥ [१०]

गौका महत्त्व ।

इस सूक्तमें और अगले सूक्तमें गौका महत्त्व वर्णन किया है इस दृष्टिसे ये दोनों सूक्त मनन करने योग्य हैं। पांडले ही मंत्रमें कहा है कि (दशमिं शति एव ऋष्यात् ॥ १ ॥) मैं दान देता हूँ ऐसा ही यज्ञमान बोल, दान देनेमें संकोच न हो, न देनेकी और किया प्रकार विचार न हो, घटा उपहार करनेका ही विचार मन में रहे ।

ब्राह्मण क्यों याचना करते हैं ?

ब्राह्मणोंका घर एक गुरुकुल होता है, वहाँ अंक छान होते हैं, उनका पोषण करना और उनको शिक्षा पढ़ाना उस ब्राह्मणका कर्तव्य होता है। यज्ञयाग करनाभी उसका कर्तव्य है इस सबके लिये विद्वान् ब्राह्मणोंको प्रेरित आवश्यकता होती है। इस परोपकार और जगदुदारके कार्यके लिये ब्राह्मण लोग गौओंको प्रायना करते हैं और अन्य लोग उनका न मानने पर भी सत्पात्र ब्राह्मण देखकर गौदान करते हैं।

गौका दान तो एम सत्पात्र ब्राह्मणको रखने करना चाहिये। जो ऐसा नहीं करता, परंतु माननेपरमा नहीं देता, उनसे न समझते हुए बड़ा सावजन्यक पात्र होता है। ब्राह्मणोंको जिस राष्ट्रमें माननेकी आवश्यकता होता है अर्थात् उनका सहायताकी न्यूनता रहता है, उस राष्ट्रमें बड़ा पात्र हाता है। क्योंकि मनुष्यात्मनि विद्यापचारसे ही राष्ट्रमें सभ्यता और सन्ध्यास्थिर रह सकना है। इस तरह प्रचार करनेमें विदित हागा कि ब्राह्मणोंके मागनेपर माँ न देना कितना रामाय पानक देना ही सकता है।

दानका अधिकारी ब्राह्मण ।

हर एक ब्राह्मण माननेका भी अधिकारी नहीं है और गौका दान लेनेका भी अधिकारी नहीं है। हम विषयमें वेद न स्पष्ट दानके अधिकारी ब्राह्मण वा लक्षण बताया है—

यदभ्ये शत पांचयुर्नाक्षरा गोपति वशात् ।

अथना दवा अनुवचन इ विदुषो वशा ॥ (मं० १२)

“सकड़ो ब्राह्मण लोग गौका याचना करते हैं, परंतु उनमें केवल विद्वान्को ही गौ देनी चाहिये।” यह वेदका आदेश सदा स्मरण रखनेयोग्य है। जो चाहे सो ब्राह्मण दानका अधिकारी नहीं है, जो विद्वान् ब्राह्मण होगा वही दान लेनेका अधिकारी

होगा। वहाँ वेदने ब्राह्मण जातीका पशुपाल नहीं किया है, केवल विद्वान् तत्पश्चात् आचारसेपत्र ब्राह्मण जो कि अपने अध्यापन अध्यापनमें मग रहते हैं, जिनसे अपने लिये धन कमानेका व्यवसाय नहीं हो सकता, जो कि अपना जीवन ज्ञानवृद्धिके लिये समये हुए हैं, जिनके सत्संगमें रहते हुए अनेक छात्र ज्ञानरूप हो रहे हैं, ऐसे सुयोग्य विद्वान् को ही गौ दान देनी चाहिये। यह आदेश सब दानोंके लिये है और गौके दानके लिये विशेष है।

वहाँ पाठकोंको विदित हुआ कि ऐसे ब्राह्मणका ही गौपर अधिकार है और ऐसा यह अधिकार है यह बात (देवाः अनुवन्) देवाने रखी है। अतः इधमें कोई किसी प्रकारका पक्षपात नहीं है।

मंत्र १ और ३ में ऐसे विद्वान् ब्राह्मणको गौ न देनेसे कंडी दुर्गात होवी है यह बात कही है। विद्वान् ब्राह्मण राष्ट्रमें न रहे तो ज्ञानवृद्धि नहीं होगी, और राष्ट्रमें ज्ञान न रहा तो सब प्रकार की उन्नति होना असंभव है, यह बात स्पष्ट हो सकता है।

चौथे मंत्रमें “दिलोहित” उवा और पाँचवें मंत्रमें “विद्वन्दु” नामक रोगका वर्णन है। (या मुखेन उपजिप्रति) गौ जिधे मुखसे धूपती है उसे यह रोग होता है और वह मरता है। इस लक्षणसे यह रोग कौनसा है, इसका पता आजकल के वैद्य भी लगा सकते हैं। वैद्य और पशुचिकित्सक इसकी खोज करें।

उठे मंत्रमें कहा है कि कई लोग गौके दारारपर चिह्न करनेकी इच्छासे दानपर अथवा किसी अन्यभागपर चिह्न करते हैं। यह भी लोगोंको परिपाटी बहुत घुरी है, क्योंकि इससे गौ गौकी बंधे हुए होते हैं। गौही ऐसे क्रोध देना योग्य नहीं है। गौही ऐसी उत्तमतासे रखना चाहिये कि उसको किसी जगह भी कोई कष्ट न हो, यह आनन्दप्रसन्न रहे। ऐसा आनन्द प्रसन्न गौ रहेगी तो ही उसके सब गुण प्रकट होते हैं और वही गौ उत्तम गौरव देती है, जो कि मनुष्यमात्रके लिये दितका ही सबका ही।

गौकी रक्षा ।

कई लोग गौके बाल काटते हैं। ऐसा करना भी उचित नहीं है ऐसा धार्मिक मंत्रमें कहा है। आठवें मंत्रमें गौकी रक्षा करनेके संवधमें एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है। गवत्रिये

गौकोंको केकर गोबर भूमिमें जाते हैं और गौनोंको चरनेके लिये छोड़ देते हैं और स्वयं इधर उधर भटकते रहते हैं । ऐसी दशामें कौंचि गौके शीछे पककर उनको छताते हैं । ऐसा न हो यह सूचना मंत्र ८ वेंमें है । गजालिया गौकी योग्य रखा करे, कौंचि आदिसे गौकी पीटा तो नहीं होती है इस विषयमें श्रवणालता रक्षे । रघुवंशमें दिलीप राजा जैसी वसिष्ठजी गौकी रक्षा करता था, वैसी रक्षा हरएक गौरक्षक करे । कोई जीवजन्तु गौकी पीटा न देवे । ऐसी रक्षा करनेवाला ही सुयोग्य गौरक्षक कहलावेगा ।

गोबर और मूत्र ।

नवम मंत्रमें गौका गोबर और मूत्र इधर उधर न फेंकनेकी आज्ञा कही है । किर्धा विद्येय स्थानमें उनको अर्पात् गोबरको और मूत्रको सुरक्षित रखना चाहिये । क्योंकि यह उत्तम खाद है, जिससे धान्य फल फूल छाग आदि उत्तम पैदा हो सकती है । इधर उधर नौकारानो फेंक देगो और छप्पे बढी हानि होगी । ऐसी अवस्था किर्धीमी गृहस्थोंके घरमें न हो इसलिये यह आज्ञा दी है, गोबर और मूत्र इधर उधर फेंक देना [एतसः] पाप है, यह पतनका हेतु है । यह पाप कोई न करे ।

अग्रे अध्यायसे द्वादशतक के मंत्रोंमें फिर कहा है कि यह गौ विद्वान् सुयोग्य सदाचारी ब्राह्मणकी होती है । [अर्घ्ये] ऋषिप्रणालके अनुष्णर आचरण करनेवाले को ही इसका दान करना चाहिये ।

त्रैहर्वे मंत्रमें कहा है कि जो भोग्य पदार्थ गौमें प्राप्त होता है उसका विचार दाता गौका दान करनेके समय न करे । क्योंकि उसको वह भोग अथ्य रीतिसे ही प्राप्त होगा । यदि कोई दाता दान देनेके समयमें यह विचार आवे कि " अरेरे, मुझे तो ईश्वरसे यह भोग मिलेगा, और मैं इस भोगसे ऐसे सुख प्राप्त करूँगा, इसका दान करनेसे मुझे ये दुःख उठाने पडेगें इ० इ० । " कोई दाता ऐसे कर्तृमतिके विचार मनमें न लावे । इस प्रकार विचार मनमें आनेसे दान का सब मङ्गल नष्ट हो जायगा । दानसे जो भनकी उच्छता होती है, वह हम प्रकारके विचारोंसे समूल दूर होगी ।

सौलह्वे मंत्रमें फिर कहा है कि " गौ तो ऐसे संपात्र ब्राह्मणोंका ही धन है । " गौके स्वामीके पास ही वह हीन वर्षवर्षत रहें, उसके पश्याव, वह सुविद्य संपन्न ब्राह्मणकी ही

जाम । योग्य ब्राह्मण प्रार्थना करनेके लिये न आवे तो बेश्च ब्राह्मणको दंडना चाहिये, परंतु कमी अवयवको दान देना नहीं ।

आगे २१ वें मंत्रतक दानका ही महत्त्व वर्णन किया है । २२ वें मंत्रमें विद्वान् ब्राह्मणको ही गौका दान करना चाहिये यह बात फिर कही है । शैक्यों अविद्वान मणि तो उनको दानो नहीं चाहेगें । केवल विद्वान ही दान लेनेका अधिकारी है, यह बात हरएक दान देनेवालेको स्मरण रखनी चाहिये । इस तरह दान हीने रहेंगे, तो जगत्का हट्टार होगा । पुण्यत्रमें दिये दान ही अपोगति करनेवाले होने हैं ।

आगे तेईछवे मंत्रमें विद्येय ही बलसे कहा है " क यदि कोई मनुष्य ऐसे विद्वान्को दान न देकर अन्य अविद्वानोंको देगा, तो उसको बड़ा दुःख होगा ।

आगेके तीन मंत्रोंमें कहा है कि ब्राह्मण अथवादि देवताओंके वरंशसे गौके दूतदुग्धादिकी आहुतिया देते हैं और देवताओंका संतोष करत हैं, इसलिये उनको गौ दान करना चाहिये । यदि दान न किया तो यज्ञमानकी बड़ा कष्ट भोगना पडेगा । आगे ३२ वें मंत्रतक यही विषय कहा है ।

क्षत्रियकी माता ।

३३ वें मंत्रमें कहा है कि " गौ क्षत्रियकी माता है " (यथा राज्ञस्य माता) इसीके क्षत्रियकी उक्ति है कि वह गौको माता मानकर उसका सरकार पश्यायोग करे । गौके यदि कोई मनुष्य कष्ट देवे, तो क्षत्रिय अपनी माताके कष्ट देनेवाला समझकर पश्यायोग दण्ड देवे ।

आगे ५३ वें मंत्रतक अर्थात् मूलकी समाप्ति तक गौका दान सुयोग्य ब्राह्मणको देना चाहिये, दान न देनेका भाव कोईभी मनमें न धारण करे, दान देनेसे कन्याग और न देनेसे दुःख होता है यही वर्णन है ।

इन मंत्रोंमें कई स्थानोंपर गौदान न देकर जो स्वयं अपने लिये [पचते भथा] गौका पश्याता है " ऐसे वाक्य हैं । जिनकी बेश्चकी भाषाका परिचय नहीं है वे इससे ऐसा अनुमान करेगें कि " गौका पश्याना, अर्थात् गोमांसका पश्याना ही यही अर्थात् है । " जो लोग ऐसा विचार मनमें रखेगें उनके निकम्पके निरासके लिये यहाँ चौंढासा लिखनेकी आवश्यकता है ।

वेदमें सुप्रसिद्ध शब्दप्रयोग होते हैं जिससे 'गौ' शब्द 'गौसे उत्पन्न हुए पशुओंका वाचक' होता है । अर्थात् ' वशां पचति' का अर्थ 'गौसे उत्पन्न दूध, घृत, दही, छाछ' आदि पकाता है, गौदुग्धसे । क्रिया पावस तैयार करता है । ऐसा है । इसी प्रकार 'गौ' या ' वशा ' के अर्थ जैसे 'दूध, दही, छाछ, घृत' आदि पदार्थ हैं वैसे ही इस शब्दके अर्थ 'माँस, रक्त, दही, चमड़ा, बाल, गोबर, गोमूत्र,' आदि भी हैं । हमारे विचारसे 'दूध, दही, छाछ, घृत' आदि अर्थ ही यहा लेना चाहिये । पाठक इसका विचार करें और इन मंत्रोंका आशय समझें ।

चतुर्थे अनुवक्तु समस ।

पंचम अनुवाक ।

इस पंचम अनुवाकमें ७ पर्याय (विभाग) और ७३ मंत्र हैं । इस संपूर्ण सूक्तमें गौकी महिमा कही है और ब्राह्मणकी गौ योर्द्धि न छीने, ब्राह्मणको गौ दानमें दी जावे, जो ब्राह्मणों-अर्थात् विद्वान् ब्राह्मणोंको सताते हैं, उनको गौ चुगाकर ले आते हैं, उनके सर्वस्वका नाश होता है, इत्यादि वर्णन है ।

विषय यहाँ हीनेसे इस सूक्तका विशेष रपट्टिकरण करनेकी आवश्यकता नहीं है । जो पाठक मंत्रका अर्थ पढ़ेंगे उनको समझमें उनका आशय सहजहीमें आ सकता है । वर्णन इति कल्पनासे पूर्ण है और उचित दृष्टिसे यह सूक्त देसना चाहिये ।

पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

द्वादश काण्ड समाप्त ॥ १२ ॥



द्वादश काण्डकी विषयसूची ।

राष्ट्रका धारण	२	सौ वर्षोंकी पूर्ण आयु	६०
ऋषि देवता छन्द	३	स्वर्ग और ओदन	६३
मातृभूमिका सूक्त	७	स्वर्गका साम्राज्य	७७
मातृभूमिका वैदिक गीत	२६	बलका महत्त्व	"
सूक्तका उपयोग	२७	एकताका संदेश	"
मातृभूमिकी कल्पना	२८	चारों दिशाओंमें हलचल	"
अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति	३०	ऊखल और मूसल	७८
अध्यात्मज्ञान	३२	पशुपालन	"
ब्रह्मज्ञान	"	गृहव्यवस्था	"
देवों द्वारा वसनाय हुए स्थान	३८	पकानेका कार्य	७९
ऋषि-ऋण	४०	जलका महत्त्व	"
देव-ऋण	४१	शाकभाजी	८०
विद्वानोंका ऋण	४२	पकनेपर	"
मंत्रोंकी संगति	४३	कुटुंबमें एकता	"
यक्ष्मरोगनाशन	४५	देवनिंदकको दूर करो	"
यक्ष्म रोगको दूर करना	५६	परमेष्ठी प्रजापति	"
नीवेके मार्ग	"	आदर्श गृहस्थाश्रम	"
पापाचार और दुष्ट विचार	"	वशा गौ	८२
कंजूसी, दारिद्र्य और मृत्यु	५७	ब्राह्मणकी गौ	९२
पितृयज्ञ	५९	गौका महत्त्व	९८
दहन अग्नि	"	ब्राह्मण क्यों याचना करते हैं ?	"
सूर्यप्रकाशका महत्त्व	५८	दानका अधिकारी ब्राह्मण	"
शुद्धिका उपाय, नृत्य और हास्य	"	गौकी रक्षा	"
मनुष्यकी आयुर्धर्मर्यादा	५९	गोबर और मूत्र	९९
नदीका प्रचंड वेग	६०	क्षत्रियकी माता	"





ॐ

अथर्ववेद

का

सुसोक्त भाष्य ।

त्रयोदशं काण्डम् ।



राष्ट्रधारक ।

ये देवा राष्ट्रमृतोऽमितो दन्ति सूर्यम् ।
वैष्टे रोहितः संविद्वानो राष्ट्रं दधातु सुमनुस्यमानः ॥

बृहदेव १३/११२५

" (ये राष्ट्रमृत देवाः) जो राष्ट्रका धारणपोषण करनेवाले देव [सूर्य कर्मितः दन्ति] सूर्यदेवके धारों को घूमते हैं, [वैः संविदानः सुमनुस्यमानः रोहितः] उनके साथ रहनेवाला ब्रह्म संवत्सवाला रोहित अर्थात् सूर्य [ठे राष्ट्रं दधातु] ठे राष्ट्रका धारणपोषण करे ।"

राष्ट्रका धारणपोषण करनेवाले ज्ञानदेव, बलदेव, धनदेव, कर्मदेव और वरदेव ये पंच जन सूर्यदेवको अपना भादश माने, जैसा सूर्य सब जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ये अपने राष्ट्रको ज्ञान बल धन कर्म आदि द्वारा प्रकाशित करें। इनकी अंगणसे कार्य करनेवाला राष्ट्रका पुत्रीण हमारे राष्ट्रका ब्रह्म रीतिसे धारणपोषण करे।





अथर्ववेदका सुबोध

भाष्य ।

त्रयोदश काण्ड ।

यह त्रयोदश काण्ड अथर्ववेदके तृतीय महाविभागका पहिला काण्ड है । पहिला महाविभाग १ से ७ तक के सात काण्डोंका है । दूसरा महाविभाग ८ से १२ तक के पाँच काण्डोंका है और तीसरा महाविभाग १३ से १८ काण्डतक के छः काण्डोंका है । इस तृतीय महाविभागका यह तेरहवां कांड पहिला है । इस काण्डमें चार सूक्त हैं और चारों सूक्तोंमें ' अश्वत्थं रोहितं आदित्य ' का वर्णन है । इस काण्डकी मंत्रसंख्या इस प्रकार है—

सूक्त	अनुवाक	दशति	मंत्रसंख्या
१	१	६	६०
२	२	४+३ मंत्र	४६
३	३	२+६ "	२६
४	४	६ पर्याय	५६
४ सूक्त	४ अनुवाक		१८८ कुल मंत्रसंख्या

अथ इनके ऋषि, देवता और छन्द देखिये—

ऋषि देवता और छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	६०	अश्वत्थं रोहितः आदित्यः,	अश्वत्थं	विष्टुप् । ३ ५, ९, १२ अगस्त्यः। १५ अतित्रयतीगर्भा अपती; ८ मुनिः; १७ पंचपदाकडुंभती(त्रयती);

३ मदन ,
२८, ३१ आग्नि
३१ बृहदेवत्य ।

१३ अतिशक्वरगर्भातिजगती, १४ त्रिपदा पुरा परशाङ्करा
विपरागवादलक्ष्म्या पति, १८, १९ कर्तुमन्विजगती
(१८ परशाङ्का मुनिक्,) २१ आर्षो निवृत्तधरा,
२२, २३, २७ प्रकृता, २६ विराट् परोपिक, २८ ३०,
३२ ३९, ४०, ४५-१०; ५१-१६, ५७ ५८ अनु
ष्टुमः (२८ मुनिक्, ५२-५५ पद्मपति, ५७ कद्रुम-
ती बृहतीगर्मा, ५७ कर्तुमती), ३१ पचपदा कद्रुमती
शाङ्करगर्मा जगता; ३५ उपरिष्टाद्बृहती, ३६ निवृत्तमहा
बृहती, ३७ परशाङ्का विराट् अतिजगती, ४२ विराट्
जगता, ४३ विराट् महाबृहता, ४४ परोपिक्, ५ -
६० गादन्वी ।

४१ " अष्यारम्
रोहित
आदित्य

.. १, १२-१५, ३९-४१ अनुष्टुम्, २, ३, ८, २३
जगत्य, १० आस्तारपति, ११ बृहतीगर्मा, १६-२४
आर्षो गायत्री, २५ कद्रुमती आस्तारपति, २६ पुरी
द्वयतिजगता मुनिजगती, २७ विराट्जगती; २९
बाह्वतगर्माऽनुष्टुम् ३० पचपदा षष्मिगर्माऽतिजगती,
३४ आर्षो पतिः ३७ पचपदा विराट्गर्मा जगती,
४४, ४५ जगती [४४ चतुष्पदा पुरा शाङ्करा मुनिक्
४५ अतिजगत्गर्मा] ।

२६ " "

.. १ चतुरवसानाष्टपदा आहृति, २-४ त्र्यवसाना
पट्पदा [२, ३ अष्टि. २ मुनिक्, ४ अतिशक्वरगर्मा-
ष्टि] , ५-७ चतुरवसाना सप्तपदा [५ ६ शाङ्क
रातिशक्वरगर्मा प्रकृति, ७ अनुष्टुगर्मानि धृति], ८
त्र्यवसाना पट्पदा अल्यष्टि, ९-१९ चतुरवसाना
[९-१२, १५, १७ सप्तपदाऽमृगतिधृति, १५ निवृ
त्, १७ हृति, १३, १४, १६, १८, १९ अष्टपदा,
१४, १४ विहृति, १६, १८, १९, आहृति, १९
मुनिक्] , २०, २२ त्र्यवसाना अष्टपदा अल्यष्टि ; २१
२३ २५ चतुरवसाना अष्टपदा [२४ सप्तपदा हृति,
२१ आहृति, २३, २५ विहृति.]

४ (१) १३ " "

.. १-११ प्राजापत्याऽनुष्टुम्, १२ विराट् गायत्री, १३
आसुरी षष्मिक् ।

(२) ८ " "

.. १४ मुनिक् शास्त्री त्रिष्टुप्, १५ असुरी पति, १६
१९ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, १७, १८ आसुरी गायत्री ।

(३) ० " "

.. २२ मुनिक् प्राजापत्या त्रिष्टुप् ; २३ आर्षो गायत्री,
२५ एकपदा आसुरी गायत्री, २६ आर्षो अनुष्टुप् ; २७
२८ प्राजापत्याऽनुष्टुप् ।

(४)	१०	„	„	„ २९, ३३, ३९, ४०, ४५ आसुरीगायत्रीः; ३०, ३२, ३५, ३६, ४२ प्राजापत्याऽनुष्टुभः; ३१ विशङ् गायत्री; ३४, ३७, ३८ साम्नुष्णिहः; ४१ सान्ना बृहती; ४३ आर्षा गायत्री; ४४ साम्नुष्टुप्।
(५)	६	„	„	„ ४६ आसुरी गायत्री; ४७ दवमन्वा गायत्री; ४८ सान्ना लणिक्; ४९ निचूषात्री बृहती; ५० प्राजापत्याऽनुष्टुप्; ५१ विराङ् गायत्री ।
(६)	५	„	„	„ ५२, ५३ प्राजापत्यानुष्टुप्। ५४ आर्षा गायत्री ।

इस प्रकार इन सूक्तोंके ऋषि, देवता और छंद हैं । इन सब सूक्तोंकी देवता एक ही है, इसलिये चारों सूक्तोंका अर्पण समाप्त होनेपर सबका मिलकर इकट्ठा ही स्पष्टीकरण किया जायगा ।

वह निःसन्देह एक है ।

स एष एकं एकवृदेकं एव ॥ २० ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृत्तो भवन्ति ॥ २१ ॥

अथर्ववेद २३ । ४

"वह एक है, वह अकेला एक अखंड स्थापक है, निःसन्देह एक ही है, सब अन्य देव उसमें एक रूप होते हैं ।"

यह परमेश्वर केवल अकेला एक ही है, निःसन्देह उसके समान दूसरा कोई नहीं है ।



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

त्रयोदशं काण्डम् ।

अध्यात्म—प्रकरण ।

(१)

उदेहि वाजिन् यो अप्स्वन्तरिदं राष्ट्रं प्र विंश सुतृषावत् ।
 यो रोहितो विश्वमिदं ज्ञानं स त्वा राष्ट्राय सुमृतं विभर्तु ॥ १ ॥

उद्वाज आ गन् यो अप्स्वन्तर्विश आ रोह त्वद्यौनयो याः ।
 सोमं दर्शनोऽप ओषधीर्गाथर्तुपदो द्विपद् आ वैशयेह ॥ २ ॥

अर्थ— हे (वाजिन ! उल् एहि) सामर्थ्यवान् आत्मदेव ! त् उदयको प्राप्त हो । (यः अप्सु जन्तः) जो त् आपो-
 मय प्राणिके परे है, यह त् (इदं सुतृषावत् राष्ट्रं प्रविश) इय त्रिय राष्ट्रमें प्रविष्ट हो, (यः रोहितः इदं विश्वं ज्ञानं) जिस
 देवने यह सब शपथ किया है, (सः त्वा राष्ट्राय सुमृतं विभर्तु) यह तुझे इस राष्ट्रके लिए उत्तम भरणपोषणपूर्वक धारण
 करे ॥ १ ॥

(यः अप्सु जन्तः) जो आपोमय प्राणिके अन्दर विद्यमान है यह (वाजिनः उल् आगन्) सामर्थ्य ऊपर आगया है।
 (याः एवढ- योनयः विश्वः) जो तेरी जातिकी पञ्चापुं हैं, उनमें त् (आरोह) उर्ध्व स्थानमें विराजमान हो । (इह
 सोमं वधानः) इस राष्ट्रमें सोमादि वनस्पतियोंका पोषण करते हुए (अयः ओषधीः गाः चतुष्पदः द्विपदः) जंतु,
 औषधियाँ गौर्षे, चतुष्पाद और द्विपाद प्राणियोंके (भावेण) निवास करानो ॥ २ ॥

भावार्थ— प्रत्येक आत्मा अमृतदय और निश्रेयस प्राप्त करे । प्रत्येक मनुष्य राष्ट्रकी उन्नतिके साथ अपनी उन्नति करे ।
 अपने राष्ट्रपर प्रेम करे और उधरकी उन्नति करनेका प्रयत्न करे । इस सुर्वदेवने इस जगत् की उत्पत्ति की है, वही तुम्हें राष्ट्रीय
 उन्नति करनेके लिये दृष्टपुष्ट करेगा ॥ १ ॥

मनुष्यका सामर्थ्य बढ़ी है जो उसके आगमें विद्यमान है । उस सामर्थ्यसे युक्त होकर अपनी सजातीय प्रजामें— अर्थात्
 अपने राष्ट्रमें रहकर अमृतदय प्राप्त करना चाहिये । वही अपने राष्ट्रमें रहकर वनस्पतियाँ, असंस्थान, औषधियाँ, गौर्षे और अनेक
 द्विपाद तथा चतुष्पाद पशुओंका धारण करे ॥ २ ॥

यूयमुग्रा भरुतः पृथिमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शश्रून् ।
 आ वो रोहितः शृणवत् मुदानवस्त्रिपत्सो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥ ३ ॥
 रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां तनुषामुपस्यम् ।
 ताभिः संरंभन्व विन्दन् पटुर्विर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः ॥ ४ ॥
 आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्पाद् व्यास्थुन्मृधो अभयं ते अभूत् ।
 तस्मै ते धावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथाभिह शकरीभिः ॥ ५ ॥
 रोहितो धावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी तंतान ।
 तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽहहृद् धावापृथिवी वलेन ॥ ६ ॥

अर्थ- हे (मरुतः) मरुतेतक लडनेवाले वीरो । (यूयं उग्राः पृथिमातरः) तुम सब बहुत दूर और भूमिको अपनी मातृ माननेवाले हो, तुम (इन्द्रेण युजा शश्रून् प्रमृणीत) इन्द्रके साथ रहकर शत्रुओंका नाश करो । हे (मुदानवः रोहितः आ शृणवत्) उत्तम दान देनेवाले वीरो । वह सूर्यदेव तुम्हारी बात सुने । (त्रि-सप्तः सः मरुतः स्वादुसंमुदः) आप तीन गुणा सात अर्थात् इककीस प्रकारके वीर उत्तम आनंद देनेवाले हैं ॥ ३ ॥

(रोहितः रुहः रुरोह) प्रकाशवान सूर्यदेव उच्च स्थानमें विराजमान हुआ है, अर्थात् (जनुषां जनीनां उपस्यं गर्भः आरुहो) खीरोंकी गोदमें यह गर्भ बैठ गया है । (पटुः उवाः ताभिः संरंभन्व विन्दन्) छः दिशाओंमें उनके द्वारा बढ़ाये गर्भको प्राप्त किया । वह (गातुं प्रपश्यन् इह राष्ट्रं आहाः) उद्यतिकी मार्ग जानता हुआ यहाँ राष्ट्रको उन्नत करता है ॥ ४ ॥

(ते राष्ट्रं इह रोहितः आहार्पात्) तेरे राष्ट्रको यहाँ उसी सूर्यदेवने लाया है । (मृधः वि अभयत्) शत्रुओंको दूर किया, और (ते अभयं अभूत्) तेरे लिए निभयता हो गयी है । (तस्मै ते रेवतीभिः शकरीभिः धावापृथिवी इह कामं दुहाथा) उम तेरे हितके लिए धन और शक्तिपौद्राया ये द्युलोक और पृथिवीकी यहाँ इस राष्ट्रमें पयेच्छ उबभोग देवे ॥ ५ ॥

[रोहितः धावापृथिवी जजान] इस सूर्यदेवने इस द्युलोक और पृथ्वीकीकड़ी उरपन्न किया है । [तत्र परमेष्ठी तन्तुं तंतान] वहाँ परमात्माने सूत्रात्माकी फैलाया है । [तत्र एकपादः अजः शिश्रिये] वहाँ एकपाद आत्माने आश्रय लिया है । उसीने [वलेन धावापृथिवी अहहृत्] अपने बलसे द्युलोक और पृथ्वीको सुदृढ बनाया ॥ ६ ॥

भावार्थ- सब लोग अपनी मातृभूमिकी रक्षा अपने उम शौर्यसे करें । मातृभूमिके शत्रुओंका नाश करें । मनमें उदारतायुक्त दानृत्वका भाव धारण करें । जो वीर मरुतेतक लडनेवाले होते हैं, वे ही उत्तम आनंद देनेवाले होते हैं ॥ ३ ॥

यह सूर्य उदयको प्राप्त हुआ है, मानो यह अपनी माताकी गोदमें बैठा है । इस समय मानो छहों दिशाओंमें उस गर्भका धारण किया है । यह गर्भ आग उन्नत होता है, स्वयं उद्यतिकी मार्ग जानता है और राष्ट्रको भी उन्नत करता है ॥ ४ ॥
 इस सूर्यदेवने ही तेरे राष्ट्रको उन्नत स्थितिमें लाया है । उसीने शत्रुओंका दूर किया और तुझे निभय किया है । इस राष्ट्रमें रहनेवालोंके लिए इस भूमिसे धन और शक्तिपौद्राया हैं ॥ ५ ॥

इस सूर्यदेवने द्युलोक और पृथ्वीकीकड़ी बनाया है । यहाँ परमात्माने सूत्ररूप आत्माको फैलाया है । वहाँ जीवामाने आश्रय लिया है । उसीने अपने बलसे इस पृथ्वीको सुदृढ बनाया है ॥ ६ ॥

रोहितो घावापृथिवी अंहहत् तेन स्वस्तिभितं तेन नाकः ।

तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वाविन्दन्

॥ ७ ॥

वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च ।

दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं तं राष्ट्रमनक्तु पर्यसा घृतेन

॥ ८ ॥

यास्ते रुहः प्ररुहो यास्तं आरुहो याभिरापणासि दिवमन्तरिक्षम् ।

तासां ब्रह्मणा पर्यसा नावृधानो विशि राष्ट्रं जागृहि रोहितस्य

॥ ९ ॥

यास्ते विशस्तपसः संवभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः ।

तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वरसा अभ्येतु रोहितः ।

॥ १० ॥ (१)

ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाकं अस्थाद् विश्वा रूपाणि जनयन् युवा कविः ।

तिग्मेनाग्निज्योतिषा वि भाति तृतीयं चक्रे रजांसि प्रियाणि

॥ ११ ॥

अर्थ— (रोहितः घावापृथिवी अंहहत्) सूर्यदेवने द्युलोक और पृथिवी लोकको सुदृढ बनाया । (तेन तेन स्वः नाकः स्तभितं) उसीने स्वर्गनामक सुखपूर्ण लोक ऊपर धाम रखा है । (तेन अन्तरिक्षं रजांसि विमिता) उसने अन्तरिक्ष लोकको बनाया और (तेन देवाः अमृतं मन्वाविन्दन्) उषीके द्वारा सब देवोंको अमरत्व प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

(रोहितः प्ररुहः रुहः च समाकुर्वाणः विश्वरूपं वि अमृशत्) सूर्यदेवने ऊँने और नीचे सब दिग्गर्भोंको दृक्छा करके सब विश्वके रूपको बनानेका विचार किया । वह (महता महिम्ना दिवं रूढ्वा) अपने बड़े सामर्थ्यसे द्युलोकपर आरूढ होकर (तं राष्ट्रं पर्यसा घृतेन सं अनक्तु) तैरे राष्ट्रको घी और घृतसे भरपूर करे ॥ ८ ॥

(याः ते रुहः प्ररुहः याः ते आरुहः) जो तुम्हारे आगे, पीछे और ऊपर बटनेके मार्ग हैं (याभिः दिवं अन्तरिक्षं आपृणासि) जिनके द्वारा तू द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकको भरपूर करता है, (तासां ब्रह्मणा पर्यसा नावृधानः) उनके बलवर्धक रससे बढता हुआ तू (रोहितस्य विशि राष्ट्रं जागृहि) सूर्यदेवकी प्रजामें और राष्ट्रमें जाग्रत रह ॥ ९ ॥

[ते तपसः याः विशाः संवभूवुः] तैरे प्रकाशसे जो प्रजाएं उत्पन्न होगयीं हैं, [ताः इह वरसं गायत्रीं अनु मनुः] वे प्रजाएं यहाँ संतान और अपने प्राणप्राणबंधी व्यागारके अनुकूल होकर चञ्चली हैं । [ताः शिवेन मनसा एवा विशान्तु] वे प्रजाएं शुभसंकल्पयुक्त मनसे तैरे अन्दर प्रविष्ट हों । (संमाता रोहितः वरसा अभ्येतु) माता और सूर्य रूपी ब्रह्म मिलकर आगे बढ़ें ॥ १० ॥

(युवा कविः विश्वा रूपाणि जनयन्) तरुण ज्ञानी सब जगत् के रूपको प्रकाशित करता हुआ (रोहितः ऊर्ध्वः नाकं अधि अस्थाद्) सूर्य ऊपर स्वर्गमें ठहरा है । यह (अग्निः तिग्मेन ज्योतिषा विभाति) अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशसे प्रकाशता है । यह (तृतीयं चक्रे रजांसि प्रियाणि) तीसरे अन्तरिक्ष लोकमें प्रिय पदार्थोंको बनाता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—सूर्यदेवने ही पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक को सुदृढ बनाया है उसीसे सब देवोंको अमरत्व प्राप्त हुआ है ॥७॥ सूर्यके कारण ही सब जगत् को सुंदर रूप मिला है । वह अपनी मरिमासे स्वर्गलोकपर चढ़कर इस राष्ट्रको दूध और घीसे भरपूर करता है ॥ ८ ॥

जो अनेक मार्ग स्वर्गधामको प्राप्त करनेके हैं, उनके ज्ञानसे तथा घृतदुग्ध आदिये हृष्टघृष्ट होने हुए इस राष्ट्रमें और इस प्रजामें सतत जाग्रत रहो ॥ ९ ॥

सूर्यसे ही ये सब प्रजाजन-सब प्राणिमात्र-उत्पन्न हो गये हैं, ये सब प्राणप्राण के प्रयत्नमें सदा दत्तचित रहते हैं । ये सब को सब प्रजाएं उत्तम शिवसंकल्पयुक्त मनसे ईश्वरमें आश्रय लेकर रहें । माता और पुत्र मिलकर ब्रह्मतिको प्राप्त हों ॥ १० ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः ।

मा मां हामीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपेषं च मे वीरपोषं च धेहि ॥ १२ ॥

रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।

रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमाना स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु ॥ १३ ॥

रोहितो यज्ञं व्यदिधाद् विश्वकर्मणे तस्मात् तेजांस्युपं मेमान्यागुः ।

वोचेयं ते नाभिं भूवंतस्याधि मज्जमि ॥ १४ ॥

आ त्वां रुरोह वृहस्पतुस्त पङ्क्तिरा ककुब् वर्षसा जातवेदः ।

आ त्वां रुरोहोष्णिहाक्षरो वषट्कार आ त्वां रुरोह रोहितो रेतसा सह ॥ १५ ॥

अर्थ-यह (जातवेदा सहस्रशृङ्ग वृषभः)बने हुए सब पदार्थोंको जाननेवाला हकारों किरणोंसे युक्त वृष्टि करनेवाला [घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः] घृतकी आहुतियाँ स्वीकारनेवाला, सोमका दहन जिसपर होता है ऐसा उत्तम वीर यह है । यः [नाथितः मा मां हामीत्] याचना करनेपर मेरा त्याग न करे । तथा [र्वा इत् न जहानि] तुझे निश्चयसे मैं नहीं छोड़ूँगा । [मे गो-पोषं वीर-पोषं च धेहि] मुझे गोपालनका तथा वीरोंके पालनका सामर्थ्य दे ॥ १२ ॥

[रोहितः यज्ञस्य जनिता मुखं च] सूर्य यज्ञका उत्पन्नकर्ता और यज्ञका मुख है । [वाचा श्रोत्रेण मनसा च रोहि-ताय जुहोमि] वाणीसे, कानसे और मनसे इस सूर्यके लिये दहन करता हूँ । [सुमनस्यमानाः देवाः रोहितं यन्ति] दहन संकल्प करनेवाले देव सूर्यको प्राप्त होते हैं । [स. सामित्यै रोहैः मा रोहयतुः] यह समाके लिये अनेक उद्यतियोंसे मुझे उत्तम करे ॥ १३ ॥

[रोहितः विश्वकर्मणे यज्ञव्यदिधात्] सूर्यने विश्वकर्मके लिए यज्ञ किया । [तस्मात् इमानि तेजांसि मा वप मा गु] उस यज्ञसे ये तेज मेरे पास प्राप्त हुए हैं । [सुवनस्य मज्जमि अथि ते नाभि वोचेयम्] अतः इस सुवनके महत्त्वके बीच तेरा सुदृढ भाग है, देवा मैं बहता हूँ ॥ १४ ॥

हे (जातवेद) सब उत्पन्न हुएको जाननेवाला ! (त्वा वृहती मा रुरोह) तुझपर वृहती चढ़ी है, [उद पंक्तिः आ, ककुब् वर्षसा आ] पंक्ति और ककुब् अपने तेजके साथ चढ़े हैं । (उष्णिहाक्षरः त्वा आरुरोह) उष्णिकु छंरके आस भी तेरे उपर चढ़े हैं । तथा (रोहितः रेतसा सह) सूर्य अपने हीयंके साथ है ॥ १५ ॥

मावार्थ- यह सदा तरुण सब देखनेवाला सूर्य सबके रूपोंको प्रकाशित करता हुआ द्युलोकमें रहा है । सब अपने परर तेजके साथ प्रकाशता है और तीसरे लोकमें रहकर सब का धिय करता है ॥ ११ ॥

यही सूर्य अग्नि है, जिसमें घृत और सोमकी आहुतियाँ होनी जाती हैं । यह मेरा कमी त्याग न करे और मैं उसका बन्धी त्याग न करूँ । इससे हमारी गाँवें तथा संतानें हृष्ट पुष्ट हों ॥ १२ ॥

इसी सूर्यसे यज्ञ बने है, यज्ञमें अग्नि रूपसे यही मुख्य है । दहन करने के समय वाणी, कान और मनका साथ साथ उप-योग होना चाहिये । अग्नि संकल्प करनेवाले सब इसीको प्राप्त होते हैं । यह सुसपर कृपा करे और समाभोंद्वारा जो मानवी उद्यति देना संभव है, वह मुझे प्राप्त करावे ॥ १३ ॥

सूर्यदेवके द्वारा ही सब अग्नि कर्मोंका स्रोतरूप यज्ञ बना है । इससे जो सामर्थ्य प्राप्त होता है, वह सब मुझे प्राप्त हो । इस सब संसारके मध्यमें महत्त्वकी दृष्टिसे यही मुख्य है ॥ १४ ॥

वृहती, पंक्ति, ककुब्, उष्णिकु, वषट्कार आदि सब उषी एक देवका वर्णन कर रहे हैं, मानो वह इनमें रहा है ।

अयं वस्ते गर्भे पृथिव्या दिवं वस्तेऽयमन्तारिक्षम् ।

अयं नृभस्यं विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे

॥ १६ ॥

वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तत्त्वा नः सुशेवा ।

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यामिरायुषा वर्चसा दधातु

॥ १७ ॥

वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्माणाः परि ये संबभूवुः ।

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् परि रोहित्वा आयुषा वर्चसा

दधातु

॥ १८ ॥

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः ।

इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि

॥ १९ ॥

परि त्वा धातु सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा ।

सर्वा अरातिरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सुनतावद

॥ २० ॥ (२)

अर्थ- (अयं पृथिव्याः गर्भे वस्ते) यह पृथिवीके गर्भमें बसता है । (अयं दिवं अन्तरिक्षं वस्ते) यह द्युलोक और अन्तरिक्ष लोकमें बसता है । (अयं नृभस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे) यह प्रकाशलोकके शिरोभागपर स्वर्गलोकमें स्थापता है ॥ १६ ॥

हे (वाचस्पते) वाणीके स्वामिन् । (नः पृथिवी स्थोना) हमारे लिए पृथिवी सुखकर होवे । (योनिः स्योना) हमारे लिए हमारा घर सुखदायी हो । (नः तस्या सुशेवा) हमारे लिए बिछोने सुखदायी हों । (इह एव नः सख्ये प्राणः अस्तु) यहाँ ही हमारे सख्यमें प्राण रहे । हे परमेष्ठिन् ! (तं त्वा अग्निः आयुषा वर्चसा परि दधातु) तुझको यह अग्नि आयु और तेजसे धारण करे ॥ १७ ॥

हे वाचस्पते ! (ये नौ वैश्वकर्माणाः पंच ऋतवः परि संबभूवुः) जो हमारे संपूर्ण कर्मों का पालन करनेवाले पांच ऋतु उत्पन्न हुए हैं । यहाँ ही प्राण हमारे सख्यमें रहे । हे परमेष्ठिन् । उस तुझको यह (रोहितः) सूर्य आयु और तेजके साथ धारण करे ॥ १८ ॥

हे वाचस्पते ! हमारा (मनः सौमनसं) मन उत्तम शुभसकलव्युक्त हो । (नः गोष्ठे गाः जनय) हमारी गोशालामें गौको उत्पन्न कर और (योनिषु प्रजाः) घरोंमें संतानोंको उत्पन्न कर । यहाँ हमारे सख्यमें यह प्राण रहे । हे परमेष्ठिन् । उस तुझको (सर्वा) मैं आयु और तेजके साथ (दधामि) धारण करता हूँ ॥ १९ ॥

(सविता देवः स्वा परि धातु) सविता देव तेरे चारों ओर रहे । (अग्निः वर्चसा, मित्रावरुणां स्वा अभि) अग्नि अपने तेजसे और मित्र तथा वरुण तेरी चारों ओरसे रक्षा करें । (सर्वाः अरातीः अवक्रामन् एहि) सब शत्रुओंके ऊपर चढ़ाई करते हुए भागे बच तथा (इदं राष्ट्रं सूनुतावत् अकरः) इस राष्ट्रकी जानदपूर्वक कर ॥ २० ॥

भावार्थ-यह एक देव पृथ्वी अन्तरिक्ष और द्युलोकके अंदर विद्यमान है। यह द्युलोकके उत्तम स्थानपर रहता हुआ सर्वमें स्थापता है ॥ १६ ॥

हे वाणीके स्वामी ! हमारे लिए पृथ्वी, घर, बिछोना आदि सब पदार्थ सुखदायक हों । हममें प्राण दीर्घकालतक रहे और हमें वह दीर्घ आयु और तेजके साथ प्राप्त हो ॥ १७ ॥

जो विविध कर्म करनेवाले ऋतु हैं, वे हमें सहायक हों, उनसे हमें दीर्घ आयु और तेजस्विता प्राप्त हो ॥ १८ ॥ हमारा मन शुभसंकल्प करनेवाला बने, हमारी गोशाला में विपुल गौएँ और घरमें और संतान हों । मैं परमात्माका धारण दीर्घायु और तेजस्विताके साथ करता हूँ ॥ १९ ॥

यं त्वा पृथ्वी रथे प्रष्टिर्वहति रोहित । शुभा यासि रिणन्नपः	॥ २१ ॥
अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा वृहती सुवर्चाः ।	
तया वाजान् विश्वरूपां जयेम तथा विश्वाः पृतना अभि प्याम	॥ २२ ॥
इदं सद्यो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्याः पृथ्वी येन याति ।	
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति क्वयोऽप्रमादम्	॥ २३ ॥
सूर्यस्याद्वा हरयः केतुमन्नुः सदा वहन्त्यमृताः सुरां रथम् ।	
पृतपावा रोहितो आजमानो दिवै देवः पृथ्वीमा विवेश	॥ २४ ॥
यो रोहितो वृषभास्तिग्मशृङ्गः पर्यधि परि सूर्यं वभूव ।	
यो विष्टनाति पृथिवीं दिवै च तस्माद् देवा अधि सृष्टिः सृजन्ते	॥ २५ ॥

अर्थ—हे (रोहित) सूर्य ! (य एवा पृथ्वीः पृष्टिः चक्षति) जिस तुलसी विविध रंगवाली घोड़ी छ जाती है, वह तू (अपः रिणन् शुभा यासि) पानीको चखाता हुआ प्रकाशके माध शुभ रीतिसे चलाता है ॥ २१ ॥

(रोहितरथ अनुव्रता) सूर्यके अनुवृत्त चलनेवाली (सूरिः सुवर्णा सुवर्चाः वृहती रोहिणी) ज्ञानी, उत्तम रंगवाली, तेजस्विनी बड़ी रोहिणी है । उससे (विश्वरूपां वाजान् जयेम) हम अनेक प्रकारसे भल प्राप्त करेंगे और (विश्वा पृतना अभिप्याम) सब वाजुओंकी सेनाओंको परास्त करेंगे ॥ २२ ॥

(इदं रोहितस्य सद्यः रोहिणी) यह सूर्यका घर रोहिणी है । (असी पन्या येन पृथ्वी याति) यह मार्ग है जिससे उसकी विवेधरंगवाली घोड़ी जाती है । (तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति) उसको गंधर्व और कश्यप उन्नत करते हैं, (क्वयो तां अप्रमाद रक्षन्ति) ज्ञानी प्रेम दूरहित होकर उसकी रक्षा करते हैं ॥ २३ ॥

(केतुमन्न अमृताः हरय अथा सूर्यस्य रथ सदा सुख वहन्ति) प्रकानयुक्त अमर गतिमान् घोड़े सूर्यके रथको सदा सुखपूर्वक चलाते हैं । (पृतपावा आजमान् देवः रोहित इमा पृथ्वी दिव विवेश) पृथ्वीसे पवित्र कानेवाला तेजस्वी सूर्यदेव इस विविध रंगवाली प्रमा समेत सुलोकमें प्रविष्ट होता है ॥ २४ ॥

(यः तिग्मशृङ्ग वृषभ रोहित) जो तीक्ष्ण लींगवाला बलवान् रोहित (अधि परि, सूर्यं परि वभूव) अधि और सूर्यके चारों ओर होता है । (य पृथिवीं दिव च विष्टनाति) जो पृथ्वी और द्युलोकको धाम रक्षता है [तस्माद् देवाः सृष्टिः अधिसृजन्ते] उससे देव सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ—सब देव हमें सहायक हों । सब शक्ति प्राप्त हो और यह हमारा राष्ट्र आनन्दप्रसन्नतासे युक्त हो ॥ २० ॥ सूर्यके विविध रंगवाली किरणें सूर्यरथकी यशोतक लाती हैं, जिससे हमें प्रकाश मिलता है ॥ २१ ॥ सूर्यप्रकाशमें बदनिकी शक्ति है, उससे हमें अनेक प्रकारके भल और बल प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥ सूर्य ही इस अद्भुत शक्ति का घर है, सब विविध रंगवाली किरणोंसे वह शक्ति फैलती है । जनी लोग विशेष दक्षतासे उसकी अग्नि अन्दर धारण करते हैं ॥ २३ ॥

ये प्रकाशमान अद्भुत अमर शक्ति युक्त सूर्यकिरण सदा सुखदायक हैं । इन पुष्टिकारक किरणोंसे युक्त सूर्य इष्ट द्युलोक में प्रकाशता है ॥ २४ ॥

यह तीक्ष्ण शिरणव न बलवान् सूर्य चारों ओर घूमकर सब अणुके पदार्थोंका धारण करता है ॥ २५ ॥

रोहितो दिवमारुहन्महतः पर्यर्णवात् । सर्वां रुरोह रोहितो रुहः	॥ २६ ॥
वि मिमीष्व पर्यस्वती घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा ।	
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व	॥ २७ ॥
समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः ।	
अमीषाद् विश्वापाद्भिः सपत्नान् हन्तु ये मम	॥ २८ ॥
हन्त्वैनान् प्र दहत्वग्निर्नः नः पृतन्यति ।	
ऋष्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि	॥ २९ ॥
अवाचीनानव जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान् ।	
अधा सपत्नान् मामकान्ग्रेस्तेजोभिरादिपि	॥ ३० ॥ (६)
अग्ने सपत्नानधरान् पादयासद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते ।	
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्युयमानाः	॥ ३१ ॥

अर्थ—(महतः अर्णवात् रोहितः दिवं परि आरुहत्) बड़े समुद्रसे सूर्य द्युलोकसे भी ऊपर चढा है । (रोहितः सर्वाः रुहः रुरोह) यह सूर्य सब उच्चताओंपर चढा है ॥ २६ ॥

(पर्यस्वती घृताचीं वि मिमीष्व) दूधवाली और घीवाली गौको सिद्ध करो, [एषा देवानां धेनुः अनपस्पृक्] यह देवीकी गौ हलचल न करनेवाली है । (इन्द्रः सोमं पिबतु) इन्द्र सोम पीवे, (क्षेमः अस्तु) सबका क्षेम हो, (अग्निः प्र स्तौतु) अग्नि स्तुति करे, (मृधः विनुदस्व) शत्रुओंको दूर कर ॥ २७ ॥

(अग्निःसमिद्धः घृतवृद्धः घृताहुतः समिधानः) अग्नि उत्तम प्रदीप्त होनेपर घीकी आहुतियां ढालकर बनाया हुआ अच्छी प्रकार जलने लगा है। वह (अमीषाद् विश्वापाद् अग्निः ये मम सपत्नान् हन्तु) सर्वत्र विजय करके शत्रुओंको दूर करनेवाला अग्नि जो मेरे शत्रु हैं, उन सबका नाश करे ॥ २८ ॥

(यः अग्निः नः पृतन्यति) जो शत्रु हमपर सेना चलाकर हमला करता है (एनान् हन्तु, प्रदहतु) इन शत्रुओंको मारे, अच्छी प्रकार भस्म करे । (ऋष्याद् अग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि) मांभक्षक अग्निद्वारा हम शत्रुओंको भस्म करते हैं ॥ २९ ॥

हे इन्द्र! (वज्रेण बाहुमान् अवाचीनान् अवज्रि) वज्रसे बहुत सामर्थ्यवान् होकर शत्रुओंको नीचे दबाकर मार दे । (अथा मामकान् सपत्नान् अग्नेः तेजोभिः आदिपि) और मेरे शत्रुओंको अग्निके तेजोसे अपने वशमें कारता हूँ ॥३०॥

हे अग्नि ! (सपत्नान् अस्मद् अधरान् पादय) हमारे शत्रुओंको हमारे सम्मुख नीचे गिराओ । हे बृहस्पते ! (उत्पिपानं सजातं व्यथय) कष्ट देनेवाले सजातीय शत्रुको व्यथया कर । हे इन्द्राग्नी ! हे मित्रावरुणो ! (अग्नि-मन्युयमानाः अधरे पद्यन्ताम्) हमारे शत्रु निष्फळ शोधवाले होकर नीचे गिर जाय ॥ ३१ ॥

भावार्थ— सूर्य उदय होनेपर आकाशके मध्यतक ऊपर चढता है, और वहासे सबके ऊपर प्रकाशता है ॥ २६ ॥ उत्तम दूध और घी देनेवाली गौवें पाली आँध, उनके दूध घी का यज्ञमें हवन किया जावे । दही दूध आदिके साथ सोम रस पिया जावे । इससे सबका कल्याण हो और यह यज्ञ द्वारा उपासना सबका मला करे ॥ २७ ॥

अग्निमें घीका हवन हो, अग्नि उपासनासे समाज की संघटना हो और सब मिलकर आगे शत्रुओंको दूर भगा देंगे ॥ २८ ॥ यदि बाहरका शत्रु सेना लेकर आगे ऊपर आया तो धीर लोग उसको परास्त करके भगा देंगे । अपने अंदरके जो शत्रु होंगे, उनको भी वशमें रखना चाहिए । कोई शत्रुतिर ऊपर न कर सके ॥ २९-३१ ॥

उद्यंस्त्वं देवं सूर्यं सप्तन्नामव मे जहि ।

अवैन्नानामना जहि ते यन्व्यधुमं तमः

॥ ३२ ॥

वत्सो विराजो वृषभो मतीनामा रुरोह शूक्रपृण्डोऽन्तरिक्षम् ।

धृतेनाकमुभ्यर्चिन्ति वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति

॥ ३३ ॥

दिवं च रोहं पृथिवीं च रोहं राष्ट्रं च रोहं द्रविणं च रोह ।

प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वंसें स्पृशस्व

॥ ३४ ॥

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ।

तैष्टे रोहिता संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः

॥ ३५ ॥

उत् त्वां यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगता हरयस्त्वा वहन्ति ।

तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम्

॥ ३६ ॥

अर्थ— हे सूर्यदेव ! (त्वं सप्तम् मे सप्तानाम् अवजहि) तू उगला हुआ मेरे सप्तभोंका नाश कर । (यन्व्यध्वन्नाम अवजहि) इन सप्तभोंका पत्थरसे नाश कर । (ते तमधमं तमः यन्तु) वे गहरे अंधेरमें जावे ॥ ३२ ॥

(विराजः वरसः मतीनां वृषभः शूक्रपृण्डः अन्तरिक्षं वा रुरोह) विराट्का बच्चा, मतिभोंको बड़ानेवाला बट्टाही पीठवाला होकर अन्तरिक्षपर चढा है । (धृतेन वत्सं ब्रह्मं जनि बर्धन्ति) पीले बच्चासपी सूर्यकी पूजा करते हैं । वरं स्वयं (मत्त सन्ते ब्रह्मणा वर्धयन्ति) ब्रह्म होता हुआ भी उसीको ब्रह्म नाम रतुतिथीसे बढाते हैं ॥ ३३ ॥

(दिवं च रोहं, पृथिवीं च रोहं) द्युलोक पर चढ और पृथ्वीपर चढ । (राष्ट्रं च रोहं, द्रविणं च रोहं) राष्ट्रपर चढ और धनपर चढ । (प्रजां च रोहं, अमृतं च रोहं) प्रजा और अमरपनपर चढ, (रोहितेन तन्वंसें स्पृशस्व) अपने छालवर्गसे मेरे शरीरकी पूर्ण कर ॥ ३४ ॥

[ये राष्ट्रभृत देवाः सूर्यं अभितो यन्ति] जो राष्ट्रपीठक देव सूर्यके चारों ओर घूमते हैं, (तैः संविदानः रोहित सुमनस्यमानः ते राष्ट्रं दधातु) उनके साथ मिला हुआ रोहित सुमनस्य होकर ठेरे राष्ट्रका धारण करे ॥ ३५ ॥

[ब्रह्मपूता यज्ञाः स्वा उत् वहन्ति] मनसे पवित्र हुए यज्ञ तुम्हे ऊपर उढाते हैं । [अध्वगताः हरयः स्वा वहन्ति] मारसे जानेवाले घोडे तुझे छे चलते हैं । [समुद्रं अर्णवं तिरः जति रोचसे] समुद्र महासागर तू अति प्रकाशित करता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ— परमेश्वर हुआ करे और हमारे राष्ट्रभोंका बल कम करे । शत्रु नीच स्थानमें भाग जावे ॥ ३२ ॥

सूर्य बलवर्धक, सुखवर्धक है । उसीका बच्चा आम है । आममें पीके दहन करनेमें उगनी पूजा होती है । सूर्य स्वयं ब्रह्मका दत्तवस्तु है और वही ब्रह्म नाम मंत्रसे रतुतिथी द्वारा बढाया जाता है ॥ ३३ ॥

स्वयं, पृथ्वी, राष्ट्र, धन, प्रजा, अमरपन आदि विषयमें प्रगति मेंरादन करना चाहिये । इस कार्य करनेका बल प्राप्त करना हो ता सूर्य प्रक शोध करने शरीरका संबंध जोड़ दे, जिससे बिलक्षण बल प्राप्त होकर उक्त कार्य सिद्ध होगा ॥ ३४ ॥

राष्ट्रका अर्थशोध करनेवाले देव सूर्यकी उपासना करते हैं, इसलिये सूर्यके प्रशोधनमें रहते हैं । वे बल प्राप्त करते हैं, मन उभेसृष्ट करते हैं, राष्ट्र धारण करने योग्य बनते हैं ॥ ३५ ॥

सूर्य उदय होते ही मंत्रशोध और यज्ञ प्रारंभ होते हैं । सूर्यकिरण सर्वत्र फैलते हैं और समुद्रतक सब भूमिपर प्रकाश होता है ॥ ३६ ॥

रोहिते द्यावापृथिवी अधि श्रिते वसुजिति गोजिति संघनाजिति ।

सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वेचेयं ते नाभिं भुवन्स्याधिं मृज्मनिं ॥ ३७ ॥

यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पञ्चानामुत चर्षणीनाम् ।

यशाः पृथिव्या आदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः ॥ ३८ ॥

अमुत्र सन्निह वैत्थेतः संस्तानि पश्यमि ।

इतः पश्यन्ति रोचनं द्विवि सूर्यं विपश्चितम् ॥ ३९ ॥

देवो देवान् मर्चयस्पन्तर्धरस्यर्णवे ।

समानमभिर्मिन्धते तं विदुः क्वययः परे ॥ ४० ॥ (६)

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं विभ्रंती गौरुदंस्थात् ।

सा कद्रीची कं स्विदधं परागात् क्वस्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ ४१ ॥

अर्थ— [वसुजिति गोजिति संघनाजिति रोहिते द्यावापृथिवी अधिश्रिते] धन, गौव और ऐश्वर्य प्राप्त करनेवाले सूर्यके आश्रयसे द्युलोक और भूलोक उदरे हैं [यस्य सहस्रं सप्त च जनिमानि] जिस तरे हजार और सात जन्म हैं। [भुवन्स्याधिं मृज्मनिं] अधि ते नाभि धोचेयं] इस जगत् की महिमामें तेरा ही केन्द्र है, ऐसा मैं कहूंगा ॥ ३७ ॥

[प्रदिशः दिशः चः यशाः यासि] दिशा और उपदिशाओंमें यशस्वी होकर तू जाता है । (पञ्चानां उत चर्षणीनां यशाः) पशु और प्रजाओंमें यशस्वी होकर तू जाता है । [पृथिव्याः आदित्याः उपस्थे यशाः] पृथ्वीके ऊपर और आदित्यकी गोद में यशस्वी होकर [अहं सवितो इव चारुः भूयासं] मैं ऐसे सवित्याके समान सुंदर बनूँ ॥ ३८ ॥

[अमुत्र सन्निह वैत्थेत्य, इतः सन् तानि पश्यसि] यहाँ रहकर यहाँ का ज्ञान प्राप्त करते और यहाँ रहकर उनको देखते हैं । [इतः द्विवि रोचनं विपश्चितं सूर्यं पश्यन्ति] यहाँसे द्युलोकमें प्रकाशमान ज्ञानी सूर्यको देखते हैं ॥ ३९ ॥

[देवः देवान् मर्चयसि, अर्णवः भन्तः चारुसि] प्रकाशमान होकर अन्य प्रजासकोंको सुख करता है, समुद्रके अन्दर संघार करते हैं [समानं अभि मिन्धते] समान तेजस्वी अभिको प्रदीप्त करता है । [क्वययः तं परे विदुः] ज्ञानी उसको परे जानते हैं ॥ ४० ॥

[एना गौः अवः परेण, परः अनावरेण पदा वत्सं विभ्रंती] यह गाय निम्न स्थानवालेको दूरके पदसे और परवाशेको पासवाले पदसे बछड़ेकी धारण करती हुई [उत् अस्यात्] ऊपर उठती है । [सा कद्रीची कं स्विदधं परागात्] वह कहाँसे जाती है और किस अर्धभागके पास जाती है? वह [क्व स्विन् सूते] कहाँ प्रसूत होती है ? [अस्मिन् यूथे न] इस संघमें तो नहीं होती ॥ ४१ ॥ (ऋ० १११६४१७; ऋथै० ११११७)

भाषार्थ— धन, गौव और ऐश्वर्य सूर्यसे संबंधित है । इसके द्वाराय प्रकार हैं, उन सबका मध्य केन्द्र सूर्य ही है ॥ ३७ ॥ दिशा, उपदिशा, पशु, प्रजाजन, भूमि, आदि सबका यश केवल सूर्य है । सूर्यको आदरी मानकर सब लोग सूर्यके समान सुंदर बनें ॥ ३८ ॥

सूर्य दूरदूरका भी देखता है । द्युलोकमें रहता हुआ सर्वत्र प्रकाशता है ॥ ३९ ॥

सूर्य सब अन्य प्रकाशकेन्द्रोंको भी प्रकाशित करता है । उसके उदयसे आश प्रदीप्त होता है । ज्ञानी लोग सूर्यको ही अंध मानते हैं ॥ ४० ॥

यह गौ अपने दूरके पदसे पासवाले और पासवाल पदसे दूर बछेको धारण पोषण करती है । वह कहाँसे आगई, कि लगे भागके पास पहुंचती है, कहाँ प्रसूत होती है, इसके जानना चाहिए । वह इस संघमें तो नहीं रहती ॥ ४१ ॥

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभ्रुवर्षी ।	
सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति	॥ ४२ ॥
आरोहन् घाममृतः प्रावं मे वचः ।	
उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरंयस्त्वा वहन्ति	॥ ४३ ॥
वेद तत् तै अमर्त्य यत् त आक्रमणं दिवि ।	
यत् तै सुधस्थं परमे व्योमन्	॥ ४४ ॥
सूर्यो घां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति ।	
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम्	॥ ४५ ॥
उर्वीरासन् परिधयो वेदिभूमिरकल्पत् ।	
तत्रैतावग्नी आर्षत्त हिमं प्रंसं च रोहितः	॥ ४६ ॥

अर्थ—[सा एकपदी द्विपदी चतुष्पदी अष्टापदी नवपदी बभ्रुवर्षी] यह एक दो चार आठ और नौ पादावाली तथा बहुत होनेकी इच्छा करनेवाली [सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिः] हजारों अक्षरोंवाली भुवनकी पङ्क्ति है। [तस्या. समुद्रा. अधि विक्षरन्ति] उससे सब समुद्रके रस बहते हैं ॥ ४२ ॥ (अ० १११६-४१; अर्थ० १११-०१२१)

(अमृतः घां आरोहन् मे वचा म ब्रह्म) वह अमर देव द्युलोक पर आरूढ़ होकर मेरे भाषण की रक्षा करा। (त्वा ब्रह्मपूताः यज्ञा ब्रह्मपूता) तुझे मंत्रसे पवित्र हुए पशु बडाते हैं, यथा (अध्वगतः हरयःत्वा वहन्ति) मार्गस्य घोडे तुझे ले चलते हैं ॥ ४३ ॥
हे (अमर्त्य) देव ! (यत् ते दिवि आक्रमणं) जो तेरा द्युलोकमें आक्रमण है और (यत् ते परमे व्योमन् सधस्थं) जो तेरा परले आकाशमें स्थान है (तत् ते वेद) तेरा वह तुझे विदित है ॥ ४४ ॥

(सूर्यः घां, सूर्यं. पृथिवीं, सूर्यं. आपः अति पश्यति) सूर्य द्युलोक पृथ्वी और जल की अत्यंत पूर्णतासे देखता है। (सूर्यः भूतस्यैकं चक्षुः महीं दिवं आरोह) सूर्य सब भुवनका एकमात्र नेत्र है, वह बडे द्युलोक पर आरूढ़ हुआ ॥ ४५ ॥

(उर्वीः परिधयोः आसन्) बडी परिधियों थीं, (भूमिः वेदि अकल्पयत्) भूमि वेदी बनायी गयी। (तत्र रोहितं हिमं प्रंसं च पूर्ता अग्नी आर्षत्त) वहाँ सूर्यने शीत और उष्ण ये अग्नि रखे ॥ ४६ ॥

भावार्थ— यह वाणीएकी गौ अर्थात् काव्यमयी वाणी एक, दो, चार, आठ अथवा नौ पादोंवाली छन्दोंमें विभक्त हुई है। यह अनेक प्रकारकी है और हजार अक्षरों तक इसकी मर्यादा है। मानो यह सब भुवनोंकी पूर्ण करनेवाली है और इससे विविध वाद्य रस स्रवते हैं ॥ ४२ ॥

सूर्य वणीका रक्षक है, आकाशमें चढ़कर सबको सामर्थ्य देता है। सब पशु उषीका महिमा बडाते हैं, उसके क्रियण उसको सध जगत्में पहुंचाते हैं ॥ ४३ ॥

सूर्यका द्युलोकमें स्थान, उसका महत्त्व यह सब ज्ञानी लोग जानते हैं ॥ ४४ ॥

सूर्य द्युलोक, आकाश, पृथ्वी, आप आदिको देखता है। सूर्य ही सबका प्रकाशक है। वह पृथ्वी और आवासको प्रकाशित करता है ॥ ४५ ॥

इस यज्ञका प्रारंभ भूमिकी वेदीपर हुआ। इसकी परिधियों बडी विस्तृत थीं। शीतकाल और उष्णकाल ये दो अग्नि इस यज्ञमें थे ॥ ४६ ॥

हिमं प्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान् ।
 वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वविदः ॥ ४७ ॥
 स्वविदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते ।
 तस्माद् प्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ४८ ॥
 ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ ।
 ब्रह्मेद्वावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वविदः ॥ ४९ ॥
 सत्ये अन्यः समार्हितोऽप्स्वऽन्यः समिध्यते ।
 ब्रह्मेद्वावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वविदः ॥ ५० ॥ (५)
 यं वार्तः परि शुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।
 ब्रह्मेद्वावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वविदः ॥ ५१ ॥
 वेदं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम् ।
 प्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वृषेणाज्येन रोहितः ॥ ५२ ॥
 वर्षमाज्यं प्रंसो अग्निर्वेदिभूमिरकल्पत ।
 तत्रैतान् पर्वतान्निर्गाभिर्ध्वो अकल्पयत् ॥ ५३ ॥

अर्थ—(हिमं प्रंसं च आधाय, पर्वतान् यूपान् कृत्वा) शीत और उष्ण क्रतु बनाकर, पर्वतोंको धूप बनाकर, (वर्षाज्याः अग्नी स्वविदः रोहितस्य ईजाते) वर्षारूप घृतको प्राप्त करनेवाले ये दोनों अग्नि आत्मन् रोहित देवके लिये यज्ञ करते हैं ॥ ४७ ॥

(स्वविदः रोहितस्य ब्रह्मणा अग्निः समिध्यते) आत्मज्ञानी सूर्यके मंत्रोंसे अग्नि प्रदीप्त किया जाता है । [तस्माद् प्रंसः तस्माद् हिमः, तस्माद् यज्ञः अजायत] उससे उष्णता, उससे सर्दों और उससे यज्ञ होता है ॥ ४८ ॥

[ब्रह्मणा वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ अग्नी] ज्ञानसे बड़नेवाले, मंत्रके साथ प्रदीप्त होनेवाले मंत्रसे हवन किये गये, दो अग्नी हैं । (स्वविदः रोहितस्य ब्रह्मेदौ अग्नी ईजाते) आत्मज्ञानी सूर्यके प्रकाशमें मंत्रसे प्रज्वलित हुए ये दो अग्नी प्रदीप्त होते हैं ॥ ४९ ॥

[अन्यः सत्ये समार्हितः] एक सत्यमें स्थिर है, [अन्यः अप्सु समिध्यते] दूसरा जलमें प्रदीप्त होना है । [स्वविदः रोहितस्य ब्रह्मेदौ अग्नी ईजाते] आत्मज्ञानी सूर्यके प्रकाशमें ये मंत्रसे प्रदीप्त हुए दोनों अग्नि प्रदीप्त होते हैं ॥ ५० ॥ [५]

(वार्तः इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः वा यं परि शुम्भति) वायु, इन्द्र और ब्रह्मणस्पति ये त्रिपदेके लिए प्रकाश फैला रहे हैं, उस (स्वविदः) आत्मज्ञानी सूर्यदेवके लिए ये अग्नि प्रकाशित हो रहे हैं ॥ ५१ ॥

(भूमिं वेदिं कृत्वा, दिवं दक्षिणां कृत्वा) भूमिमी वेदी बनाकर, दक्षिणको दक्षिणा करके, (प्रंसं तदग्निं कृत्वा वृषेणाज्येन रोहितः विश्वं आत्मन्वद् चकार) उष्ण क्रतुको वहाँका अग्नि करके वृष्टिरूप धीसे सूर्यने सब जगत् को आत्मवान् बना दिया है ॥ ५२ ॥

[वृषेणाज्यं, प्रंसः अग्निः, भूमिः, वेदिः अकल्पयत्] वृष्टिकी धी, उष्णताको अग्नि, भूमिीको वेदी बनाया गया । (यत्र अग्निः गीर्भिः एतान् पर्वतान् ऊर्वात् अकल्पयत्) वहाँ अग्निने गर्दोंसे ये इन पर्वतोंको ऊँचा बना दिया है ॥ ५३ ॥

गीर्भिरूष्वांन् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवात् ।	
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भ्रान्व्यम्	॥ ५४ ॥
स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत ।	
तस्माद्द जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणामृतम्	॥ ५५ ॥
यश्च मां पदा स्फुरति प्रत्यह् सूर्यं च मेहित ।	
तस्य वृशामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्	॥ ५६ ॥
यो मांभिच्छायमत्सेपि मां चाग्निं चान्तरा ।	
तस्य वृशामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्	॥ ५७ ॥
यो अद्य देव सूर्यं त्वां च मां चान्तरायति ।	
दुष्पण्यं तस्मिन्मूलं दुरितानि च मृज्महे	॥ ५८ ॥

अर्थ—(गीर्भिः ऊष्वांन् कल्पयित्वा, रोहितः भूमिं अब्रवीत्) दग्धोति पर्वतोंको ऊँचा बनाकर सूर्यं भूमिसे बोला कि (यद् भूतं यच्च भ्रान्व्यं सर्वं त्वयीदं जायताम्) जो हो चुका और जो होनेवाला है, वह सब तेराही बनकर रहे ॥ ५४ ॥

(सः प्रथमः यज्ञः भूतः भव्यः अजायत) यह पहिला यज्ञ भूत और भविष्यके लिए बना । (तस्मात् इदं सर्वं जज्ञे, यत् किं च इदं विरोचते) उससे यह सब उत्पन्न हुआ, जो कुछ यह विराजता है, यह (ऋषिणा रोहितेन आर्षुतं) रोहित ऋषिने—सूर्यदेवने मरण किया हुआ है ॥ ५५ ॥

(यः मां च पदा स्फुरति) जो गीको पांवसे टुकराता है, (सूर्यं च प्रत्यह् मेहिति) किंवा सूर्यके सन्मुख मुख तरता है, (तस्य ते मूलं वृशामि, पर छायां न करवः) उस पुश्यका मूल काटा हूँ, उसके पश्चात् तू अपनी छाया नहीं करेगा ॥ ५६ ॥

(यः मां भाभिच्छायं अत्सेपि) जो तू मुझे अपनी छायामें रखकर चलता है, (मां चाग्निं च अन्तरा) मेरे और आग्निसे बीचमें गुजरता है, उस तेरा मूल मैं काटा हूँ, जिससे तू इस तरह आगे छाया न कर सकेगा ॥ ५७ ॥

हे देव सूर्य ! (यः अद्य त्वां च मां च अन्तरायति) जो आज तेरे और मेरे बीचमें जाता है, (तस्मिन् दुष्पण्यं तस्मिन्मूलं दुरितानि च मृज्महे) उसमें दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कल्पना और पाप जमा होते हैं ॥ ५८ ॥

भावार्थ—पर्वत युग बनाये गये, श्रेष्ठ धीका कार्य करने लगी, और मंत्रपाठपूर्वक यह यज्ञ प्रारंभ हुआ । इसमें बायु प्रदग्गत्पति होकर कार्य करने लगा । स्वर्ग की दक्षिणा याजकों के लिये रखी गयी । इस यज्ञसे सबमें आत्मिक बल आगता ॥ ४७-५३ ॥

जो भूत, भविष्य और वर्तमान है, वह सब इसीसे संबंधित है ॥ ५४ ॥

यही यज्ञ भूत भविष्यके लिए आदरी हुआ । इसी यज्ञसे सब कुछ बना ॥ ५५ ॥

जो गायको लात मारता है, सूर्यके सन्मुख मूत्रादि मल त्याग करता है, वह दण्डनीय है ॥ ५६ ॥

जो अपनी छायामें दूसरेको रखता है, अग्नि तथा सूर्य और उपासक के बीच खड़ा रहता है, वह भी दण्डनीय है ॥ ५७-५८ ॥

मा प्र गाम् पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।

मान्त स्युर्नो अरातयः

॥ ५९ ॥

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तु देवेष्वारतः ।

तमाहुतमशीमहि

॥ ६० ॥ (६)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अर्थ—(वयं पथः मा प्रगाम्) हम मार्गको न छोड़ें, हे इन्द्र ! (सोमिनः यज्ञात् मा) हम सोम यागसे नी दूर न जावें, (नः अरातयः भन्तः मा तस्युः) हमारे शत्रु हमारी उच्चतिके बीचमें न खड़े रहें ॥ ५९ ॥ [ऋ० १०। ५७। १]
(यः यज्ञस्य प्रसाधनः तन्तुः देवेषु आरतः) जो यज्ञका साधक ज्ञानतन्तु देवोंमें फैला है, (तं आहुतं अशीमहि) उसका सेवन हम करें ॥ ६० ॥

(५) ऋ० १०। ५७। २

भावार्थ— हम अपना शुद्ध मार्ग कभी न छोड़ें । यज्ञसे दूर न हों । हमारे शत्रु कभी प्रथल न हों ॥ ५९ ॥

जो यज्ञ सब देवोंमें देवत्वका लक्षण होकर रहा है, वह हम सबमें रहे ॥ ६० ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

॥ २ ॥

उदस्य केतवो द्विवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते ।

आदित्यस्य नृचक्षसो महिषतस्य मीढुपः

॥ १ ॥

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमार्चिषां सुपक्षमाशु पतयन्तमर्णवे ।

स्त्वाम् सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिशं आमाति सर्वाः

॥ २ ॥

अर्थ—(मीढुपः महिषतस्य नृचक्षसः अत्य आदित्यस्य) सिंचन करनेवाले, बड़े ब्रत करनेवाले, मनुष्योंके निरीक्षक इस सूर्यके । (शुक्राः भ्राजन्तः केतवः उद ईरते) शुद्ध तेजस्वी किरण उदित होकर चमकते हैं ॥ १ ॥

(आर्चिषां प्रज्ञानां दिशां स्वरयन्तं) प्रकाशसे श्लाघक दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले, (अर्णवे सुपक्षं आशु पतयन्तं) समुद्रमें उच्चम किरणोंके साथ चलनेवाले, [भुवनस्य गोपां सूर्यं स्वाम्] त्रिभुवनके रक्षक सूर्यको हम प्रणाम करते हैं ।

(यः रश्मिभिः सर्वाः दिशाः आमाति) जो अपने किरणोंद्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सूर्य से शक्ति होती है, वह बड़ा ब्रत है, मनुष्योंका निरीक्षण करता है, पृथिवी आदिवा धारण करता है इसके उदय होनेपर चारों ओर स्वच्छ प्रकाश होता है ॥ १ ॥

यह सूर्य अपने प्रकाशसे दश दिशाओंको प्रकाशित करता है, अन्तरिक्षमें संचार करता है, वह सब भुवनको रक्षा करने-वाला है, इसकी स्तुति करना योग्य है ॥ २ ॥

यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीमं नानारूपे अहनी कर्षि मायया ।
 तदादित्यु मट्टि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे ॥ ३ ॥
 विपश्चितं तराणि भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बृह्नीः ।
 सुताद् यमस्त्रिर्दिवमुच्छिनायु तं त्वां पश्यन्ति परियान्तंमाजिम् ॥ ४ ॥
 मा त्वां दमन् परियान्तंमाजिं स्त्रास्ति दुर्गा अतिं याहि शीमम् ।
 दिवं च सूर्यं पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेपि ॥ ५ ॥
 स्वप्ति ते सूर्यं चरसे रथाय येनोभावन्तीं परियासिं मयः ।
 यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बृह्नीः ॥ ६ ॥
 सुखं सूर्यं रथमंशुमन्तं स्योनं सुवाहिमधिं तिष्ठ वाजिनम् ।
 यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बृह्नीः ॥ ७ ॥

अर्थ—(यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया सीम यासि) जो तू पूर्व और पश्चिम दिशामें अपनी चारक शक्तिके साथ सीम जाग
 है, (मायया नानारूपे अहनी कर्षि) अपनी शक्तिके अनेक रूपवाले दिन और रात बनाता है । हे आदित्य । (यत् ते मरि
 महि श्रवः) वह तेरा ही बरा महिमा है । (यत् एक विश्व भूम परि जायसे) जो अट्टेला तू सब संसारके उत्तर
 प्रभाव करता है ॥ ३ ॥

(बृह्नीः सप्त हरितः) बड़ी सात किरणें, (यं भ्राजमानं तराणि विपश्चितं वहन्ति) जिस तेजस्वी तारनेवाले
 ज्ञानी देवको ले जाती हैं । (य अजिः रराताद् दिवं उच्छिनाय) जिसको अत्ता आत्माने खवनेवाले अट्टसे द्युलोक
 तक पहुंचाया है, (त त्वा वाजिं परियान्तं पश्यन्ति) उस तुझको चारों ओर घूमते हुए देखते हैं ॥ ४ ॥

(परियान्तं आजिं रथा मा दमन्) चारों ओर घूमनेवाले तुझको शत्रु न दबा देव । (स्वप्ति, दुर्गा अतिं याहि) अति
 याहि)सुखरूपतासे कठिन स्थानोंके पार शीघ्रतासे चल । हे सूर्य । (दिवं च देवीं पृथिवीं च अहोरात्रे विमिमान्) पद पधि)
 द्युलोक और दिव्य पृथिवीको, अहोरात्रको निर्माण करता हुआ तू जाता है ॥ ५ ॥

हे सूर्य । (ते चरसे रथाय स्वप्ति) तेरे चलनेवाले रथके लिए शुभमंगल हो । (येन उभौ अन्वी सयः परि वासि)
 जिससे दोनों सीमाभौतिक त्रकाल जाता है । (सप्त बृह्नी यदि वा वहिष्ठा हरिता शतं अश्वाः यं ते वहन्ति) सात
 किरणें बिना चलनेवाली सौ अक्षरूप किरणें जिस तुझको चलाती हैं ॥ ६ ॥

हे सूर्य ! (अंशुमन्तं स्योनं सुवाहिं वाजिनं सुखं रथं अधितिष्ठ) तेजस्वी सुखदायी चलानेवाले गतिवाले बचन
 रथपर चढ । (सप्त =) उस तुझको सात किरणें अपनी सेकड़ों किरणें ले चलती हैं ॥ ७ ॥

भाषार्थ— जो पूर्व दिशामें उदय होकर पश्चिम दिशामें अस्त होता है, जो अपने प्रकाशसे दिन और अप्रकाशसे राति
 निर्माण करता है, अष्टम महिमा बड़ा है, बड़ी संसारमें बड़ा प्रभावशाली है ॥ ३ ॥

सात तेजस्वी किरणें सूर्यका प्रकाश प्रभावयुक्त बनाती हैं । ज्ञानी लोग इसका महत्त्व जानते हैं । वह सूर्य पुण्ड्रिकमें
 चढकर सर्वत्र अपना तेज फैलाता है ॥ ४ ॥

तू चारों ओर प्रकाश को फैलाता है, तेरी किरणें ही प्रगतिवाला हैं, तेरे प्रकाशसे सबका कल्याण होता है । तू पुण्ड्रिक
 और पृथ्वीको प्रकाशित करता हुआ दिन और राति को निर्माण करता है ॥ ५ ॥

तेरा रथ कल्याणरूप है, इसीसे तू उदयसे अस्ततक आक्रमण करता है । सात किरणें और अनंत प्रकाश तेरा प्रभाव बड़ा
 रहे हैं ॥ ६ ॥

सप्त द्वयीं हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीर्युक्त ।
 अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद् विध्वं देवस्तमो दिवमारुहत् ॥ ८ ॥
 उद् केतुना बृहता देव आगन्नर्पावृक् तमोऽभि ज्योतिरश्रैत् ।
 दिव्यः सुपूर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवंगानि विश्वा ॥ ९ ॥
 उद्यन् रुदमाना तंसुपे विश्वा रूपाणि पुष्यसि ।
 उमा समुद्रौ कर्तुना वि मासि सर्वाँल्लोकान् परिभूर्त्राजमानः ॥ १० ॥ (७)
 पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशु क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
 विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरुपैरन्यं हरितौ बहन्ति ॥ ११ ॥

अर्थ-(सूर्यः हिरण्यत्वचसः बृहतीः सप्त हरितः यातवे रथे अयुक्त) सूर्यने सुवर्णके समान चमकनेवाले बड़े सात किरण चक्रनेके छिद्र अपने रथमें जोड़े हैं । (शुक्रः देवः तमो विध्वं रजसः परस्ताद् अमोचि दिवं मारुहत्) शुक्र देवने अर्ध-कारको स्वाम्यने हथकर रजोछोचसे परे छोड़ दिया और स्वयं द्युलोकपर चला ॥ ८ ॥

(देवः बृहता केतुना उद् आगन्) सूर्यदेव बड़े प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हुआ है, (तमः अपावृक् ज्योतिः अश्रैत्) उलने अन्धकार दूर किया और तेजका लाभ किया है । (सः दिव्यः सुपूर्णः अदितेः वीरः पुत्रः विश्वा सुवतानि व्यक्यत्) उक्त दिव्य प्रकाशमान अदितिके वीर पुत्र सूर्यने सब सुवर्णको प्रकाशित किया है ॥ ९ ॥

(उद्यन् रुदमान् वा तंसुपे) उदय होनेपर किरणोंको टूँटैला है । (विश्वा रूपाणि पुष्यसि) सब रूपोंको पुष्ट करता है । (उमा समुद्रौ कर्तुना विमासि) दोनों समुद्रोंको चपसे प्रकाशित करता है और (परिभूर्त्राजमानः सर्वाँल्लोकान्) सबका प्रभाव करता हुआ तेजस्वी तू सब लोकोंको प्रकाशित करता है ॥ १० ॥ (७)

(पूर्वौ शिशु क्रीडन्तौ मायया पूर्वापरं चरतः) ये दो बालक अर्थात् सूर्य और चन्द्र खेलते हुए, स्वशक्तिये आगे पीछे चलते हैं । और (अर्णवं परिवातः) समुद्रतक नमन करते हुए पहुँचते हैं । [अन्यः विश्वा सुवतानि विचष्टे] उनमेंसे एक सब सुवर्णको प्रकाशित करता है और (अन्यः कर्तुन् विदधत् नमः जायसे) दूसरा कर्तुनोंको बनाता हुआ नया नया बनाता है ॥ ११ ॥ (अर्थ- ७१८१ (८९) ११; १४११२३)

भावार्थ—सौर रथ तेजस्वी, सुखदायी, गतिमान् बलवान् है । उसकी किरणें तेष प्रभाव बना रही हैं ॥ ७ ॥
 सूर्य अपने चमकनेवाली किरणोंके साथ अपने रथमें विराजता है । यह प्रकाशमान देव अन्धकारको दूर करके उसको दूर भगा देता है और द्युलोकमें विराजता है ॥ ८ ॥

सूर्य उदय होता है, उससे अन्धकार दूर होता है, उसके प्रकाशसे संपूर्ण विश्व प्रकाशित होता है ॥ ९ ॥
 सूर्य उदय होनेपर उसका प्रकाश फैलता है, समुद्रतकके संपूर्ण भूमिपर सब लोक यज्ञार्थं शुरु करते हैं, इस तरह सब जगत् देदीप्यमान होता है ॥ १० ॥

संसारकी धके छोटे बड़े (चंद्र और सूर्य) बालक अपनी शक्तिये खेलते हुए समुद्र तक पुरस्कार्य करते हुए जाते हैं । उनमें से एक जगत्को प्रकाशित करता है, और दूसरा कर्तुनोंको बनाता है । इसी तरह सब दृश्याद्योंके पुत्र अपने पुरस्कार्यसे जगत् को प्रकाशित करें ॥ ११ ॥

दिवि त्वात्रिंरधारयत् सूर्या मासाय कर्त्तवे ।	
स एषि सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत्	॥ १२ ॥
उभावन्तौ समर्पसि वत्सः संमातराविव ।	
नन्वेडुतादितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः	॥ १३ ॥
यत् समुद्रमनु श्रितं तत् सिंषासति सूर्यः ।	
अप्वास्प विततो महान् पूर्वश्चापरश्च यः	॥ १४ ॥
तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नापं चिकित्सति ।	
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नावं रुघते	॥ १५ ॥
उदु त्थं जातवैदसं देवं वहन्ति केतवः ।	
इदो विश्वाय सूर्यम्	॥ १६ ॥

अर्थ—हे सूर्य (मासाय कर्त्तवे अत्रि. त्वा दिवि अधारयत्) महिने बनानेके लिए अग्निने तुझे द्युलोकमें धारण किया। (सः तपन् विश्वा भूता अवचाकशत् सुदृष्टः एषि) वह तपता हुआ सब भूतोंको प्रकाशित करता हुआ त्वयं सुखिए होकर बसता है ॥ १२ ॥

[वत्सः मातरो इव उभौ अन्तौ सं अर्पसि] जैसा ब्रह्मा मातापिताओंको प्राप्त होता है वैसा तू दोनों जन्मन मार्गोंको प्राप्त होता है । (ननु इतः पुरा अमी देवाः एतत् मया विदुः) नियमपूर्वक इससे पूर्व ही ये देव इस मन्त्रको जानते हैं ॥ १३ ॥

(यत् समुद्रं अनुध्रितं तत् सूर्यः सिंषासति) जो समुद्रमें आधरसे रहता है वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है । (अप्स्य यः पूर्वः अपरः च महान् अप्वा विततः) इसका यह पूर्व पश्चिम बड़ा मार्ग फैला है ॥ १४ ॥

(तं जूतिभिः समाप्नोति, ततो न अपचिक्रसति) उस मार्गको वह वेगोंसे समाप्त करता है, उस मार्गसे वह इधर उधर मनको नहीं जाने देता, (तेन देवानां अमृतस्य भक्षं न अवहन्धते) उस कारण देवोंके अमृत भक्षण में भागसे दूर नहीं होता ॥ १५ ॥

(केतवः स्वं जातवैदसं देवं सूर्यं) किरण उस बने हुएको जाननेवाले सूर्य देवको (विश्वाय इति) समस्त संसार के दर्शनके लिए (उदु त वहन्ति) उरुच स्थानमें प्रकाशित करते हैं ॥ १६ ॥ (ऋ० १ । ५० । १, वा० ऋ० ७ । ४१, अथर्व० २-१४७ । १३)

भावार्थ— सूर्य महिने बनानेके लिए द्युलोकमें प्रकाशित होता है, वह प्रकाशता है, सबका धारण भी करता है ॥ १२ ॥ जैसा ब्रह्मा माता पिताओंको प्राप्त करता है, वैसाही सूर्य उदय और अस्तके प्रान्तको प्राप्त होता है । इतना सब तत्त्व सब देव यथायत् जानते हैं ॥ १३ ॥

जो समुद्रमें रतगिरे है वह सूर्य प्राप्त करता है, इस सूर्य का यह पूर्वसे पश्चिमतकका मार्ग बड़ाभारी है ॥ १४ ॥ वह अपने मार्गको सीप्रतासे समाप्त करता है, अपना मन इधर उधर होने नहीं देता । इस कारण उसको अमृताणकी भाग नियमसे प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

सूर्यदेवकी किरणें संपूर्ण विश्वको प्रकाशित करनेके लिए ही प्रकाशती हैं और उसकी उच्च भागमें धारण करती हैं ॥ १६ ॥

अप॒ स्ये ता॒यवो॑ यथा॒ नक्ष॑त्रा यन्त्य॒क्तुभिः॑ ।

सूरा॑य वि॒श्वच॑क्षसे

॥ १७ ॥

अर्द॑भ्रक्षस्य के॒तत्रो॑ वि र॒श्मयो॑ जनाँ॒ अनु॑ । आ॒जन्तो॑ अ॒ग्रयो॑ यथा

॥ १८ ॥

तरा॑र्णिवि॒श्वदर्श॑तो ज्योति॒ष्कृद॑सि सूर्य॑ । वि॒श्वमा॑ भा॒सि रोच॑न

॥ १९ ॥

प्र॒त्यह् दे॒वानां॑ वि॒श्वः प्र॒त्यह् दु॑र्दे॒षि मा॒नुषीः॑

प्र॒त्यह् वि॒श्वं स्व॑र्दि॒शे

॥ २० ॥ (८)

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भुर॒ण्यन्तं॑ जनाँ॒ अनु॑ ।

त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि

॥ २१ ॥

वि द्या॑र्मे॒षि रज॑स्पृ॒ध्वहृ॑र्मि॒मानो॑ अ॒क्तुभिः॑ ।

पश्य॑न् जन्मानि सूर्य॑

॥ २२ ॥

अर्थ— (यथा स्ये तायवः, नक्षत्रा अक्तुभिः अप धान्ति) जैसे वे चोर वैसे नक्षत्रगण रात्रिके साथ दूर भाग जाते हैं और (विश्वचक्षसे सुराय) संसारके प्रकाशित करनेवाले सूर्यके लिए स्थान करते हैं ॥ १७ ॥ (ऋ० १ । ५० । २; अथर्व, २० । ४० । १४)

(यथा आजन्तः अग्रयः) जैसे चमकनेवाले अग्नि होते हैं, (अस्य केतवः रश्मयः जनान् अनु वि अर्दभ्रन्) इसके पञ्चरूपी किरण लोगके प्रति जाते हुए दीखते हैं ॥ १८ ॥ (ऋ० १ । ५० । ३, वा० य० ८ । ४०; अथर्व, २० । ४० । १५)

हे (रोचन सूर्य) प्रकाशक सूर्य ! तू (तरणिः विश्वदर्शतः ज्योतिष्कृत् असि) तारक विश्वको दर्शानेवाला और प्रकाश करनेवाला है (विश्वं आ भासि) सब जगत् को प्रकाशित करता है ॥ १९ ॥ (ऋ० १ । ५० । ३)

[देवानां विश्वः प्रत्यह्] देवोंकी प्रजाओंके प्रति और (मानुषीः प्रत्यह् दुर्देषि) मानवी प्रजाओंके प्रति तू सादित होता है तथा (स्वः दिवो विश्वं प्रत्यह्) प्रकाशके दर्शनके लिए सब विश्वके प्रति आता है ॥ २० ॥ (८) [ऋ० १ । ५० । ५]

हे (पावकवरुण) पवित्र करनेवाले श्रेष्ठ देव ! [येन चक्षसा त्वं जनान् भुरण्यन्तं अनु पश्यसि] जिस नेत्रसे तू मनुष्योंमें भरणपोषण करनेवाले मनुष्यको देखता है, उससे मुझे देख ॥ २१ ॥ [ऋ० १ । ५० । ६]

हे सूर्य ! [अक्तुभिः अहः मिमानः] रात्रियोंसे दिनको मापता हुआ [पृथु रजः धां ऐषि] विस्तृत अन्तरिक्ष लोकको और द्युलोकको प्राप्त होता है और [जन्मानि पश्यन्] सब जन्म खेनेवालोंको देखता है ॥ २२ ॥ [ऋ० १ । ५० । ७]

आदर्श— जैसे चोर स्वार्थके आनेसे भाग जाते हैं, वैसेही सूर्यके आनेसे सब नक्षत्र भाग आते हैं और सूर्यदेवके लिए स्थान छुला छोड़ देते हैं ॥ १७ ॥

चमकनेवाले अग्निके समान इसके किरण अत्यंत तेजस्वी और सबको प्रकाश देनेवाले हैं ॥ १८ ॥

सूर्य तेजस्वी है, तारक है, सबको रूप दर्शानेवाला है, कान्तिको फैलानेवाला है, उद्योते सब जगत् तेजस्वी होता है ॥ १९ ॥

देवी और मानवी प्रजाओंके हितार्थ यह सूर्य सादित होता है । सब विश्वको यह तेजका मार्ग दर्शाता है ॥ २० ॥

सूर्य जिस प्रेममय नेत्रसे पुराणार्थी मनुष्यको देखता है, उसी नेत्रसे वह मुझे देखे, अर्थात् वह मुझपर प्रेम करे ॥ २१ ॥

सप्त त्वां हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।

श्रोचिष्केशं विचक्षणम्

॥ २३ ॥

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवुः स्रो रथस्य नुप्युः ।

तार्भिर्याति स्वयुक्तिभिः

॥ २४ ॥

रोहितो दिवमारुहत् तपसा तपस्वी ।

स योनिमैति स उं जायते पुनः स देवानामधिपतिर्वभुव

॥ २५ ॥

यो विश्वर्चर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृयः ।

सं बाहुभ्यां भरति सं पतर्त्र्यावापृथिवी जनयन् देव एकः

॥ २६ ॥

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पथात् ।

द्विपाद् पदपदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं १ समासते

॥ २७ ॥

अर्थ- हे सूर्यदेव ! [सप्त हरितः शोचिष्केशं विचक्षणं त्वा रथे वहन्ति] सात किरण सुद करनेवाले दसवें देते हुएको रथमें चलाते हैं ॥ २३ ॥ (ऋ० १।५०।८)

(सूरः रथस्य मप्यः सप्त शुप्युवः अयुक्त) ज्ञानमय रथको सात सुद किरण जोके है (वाभिः स्वयुक्तिभिः दाभि) इनसे अपनी योजनाओंसे यह जाता है ॥ २४ ॥ (ऋ० १।५०।९)

(तपसः तपस्वी रोहितः दिवं आरुहत्) प्रकाशसे तेजस्वी बना सूर्य द्युलोकपर चढा है । [सः योनिं पति] यह मूलस्थानको प्राप्त होता है, [सः उ पुनः जायते] यह पुनः पुनः उत्पन्न होता है, [सः देवानां अधिपतिः बभूव] यह देवोंका रचामी हुआ है ॥ २५ ॥

[यः विश्वर्चर्षि उत विश्वत-मुखः] जो सब प्राणिमात्रके रूपवाला और सब ओर मुखवाला है, [यः विश्वत-पाणि उत विश्वतः पृथः] जिसके हाथ और सुजा सब ओर हैं, [बाहुभ्यां पतर्त्रैः सं सं भरति] जो अपने बाहुओं और चरणों द्वारा भरणपोषण करता है, ऐसा [दावा-पृथिवी जनयन् देवः एकः] भूलोक और द्युलोकका निर्माण करनेवाला देव एक ही है ॥ २६ ॥ [ऋ० १०।८३।३; वा० य० १७।१९ पाठान्तस्युक्त]

[एकपाद् द्विपदः भूयो विचक्रमे] एक पांववाला दो पांववालेसे अधिक चलता है, [द्विपात् त्रिपाद् पथाद् अभ्येति] दो पांववाला तीन पांववाले के पीछेसे आकर मिलता है । (द्विपात् ह पदपदः भूयो विचक्रमे) दो पांववाला निम्नपसे छः पांववालेसे भी अधिक चलता है, [त एकपद-तन्वं समासते] वे एक पांववालेके शरीरका आश्रय करते हैं ॥ २७ ॥ [ऋ० १०।११७।८; अथर्व. १३।३।२५ पाठान्तरस्युक्त]

मावाधे- सूर्य अन्तरीक्ष लोकेमें संचार करता हुआ, और सब लोगोंके व्यवहारोंका निरीक्षण करता हुआ, दिन और रात्रिके विभाग करता हुआ, द्युलोकमें विराजता है ॥ २२ ॥

सूर्यदेवकी सात किरणें उसको रथमें चलाती हैं, वह पवित्र किरणोंवाला और हामी है ॥ २३ ॥

ज्ञानमय सूर्यके रथमें सात किरणें जोड़ी हैं, वे शुद्धता करनेवाले हैं । वे अपनी योजनाओंसे चलते हैं ॥ २४ ॥

प्रकाशमान सूर्य द्युलोकमें आकर देकर पथात् अपने स्थानमें पहुँचता है और फिर उदयको प्राप्त होता है, इस तरह वह सब अन्य देवोंका अधिपति हुआ है ॥ २५ ॥

सब प्राणिनोंकी रूप देनेवाला सूर्य है । इसका मुख सर्वत्र है, वंशे ही हाथ और सुजाएं सर्वत्र हैं । वह अपने हाथों द्वारा सबका पोषण करता है । वह एक ही देव पृथ्वीसे द्युलोक तकके सब पदार्थ मानके उत्पन्न करता है ॥ २६ ॥

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।
 केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो विं भांसि ॥ २८ ॥
 चणमहोऽसि सूर्यं वडादित्य महो असि ।
 महास्ते महतो महिमा त्वमादित्य महो असि ॥ २९ ॥
 रोचसे द्विवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्सवन्तः ।
 उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवांसि महिषः स्वजित् ॥ ३० ॥ (९)
 अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः ।
 विष्णुर्विचित्रः शर्वसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥ ३१ ॥
 चित्रश्चिक्त्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम् ।
 अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥ ३२ ॥

अर्थ— (अतन्द्रः यास्यन् हरितः यदास्थाद्) आलस्य न करनेवाला जब जानेकी इच्छा करता है तब वह अपने
 अक्षोंपर आरुढ़ होकर (रोचमानः द्वे रूपे कृणुते) प्रकाशित होकर दो रूप बनाता है । हे आदित्य ! (केतुमान् उद्यन्
 विश्वा रजांसि सहमानः) किरणोंसे युक्त होकर उदयको प्राप्त होनेवाला सब लोकोंको जीतनेवाला तू (प्रवतः विभांसि)
 उच्च स्थानसे चमकता है ॥ २८ ॥

हे सूर्य ! हे आदित्य ! (यद् महान् भसि) तू सबसे बड़ा है (ते महतः महिमा महान्) तुझ महान् देवता
 महिमा बहुत बड़ा है ॥ २९ ॥ [अ० ८:१०:१११; वा. यजु० ३३:२९; अथर्व० २०:५:३]

हे (देव पतंग) चालक देव ! तू (द्विवि अन्तरिक्षे पृथिव्यां अन्तु अन्तः रोचसे) सुलोक, अन्तरिक्षलोक, मूलोक
 और जलोंके अन्दर प्रकाशित होता है । (रुच्या उभौ समुद्रौ व्यापिथ) तू अपने तेजसे दोनों समुद्रतक व्यापता है ।
 ऐसा तू (स्वः-जित् देवः महिषः असि) प्रकाशको प्राप्त करनेवाला देव महासामर्थ्ययुक्त है ॥ ३० ॥ ९ ॥

[आशुः विपश्चित् पतंगः व्यध्वे प्रयतः] श्रीप्रगामी ज्ञानी संचालक विशेषतः मार्गमें शुद्ध [परस्तात् अर्वाङ्] ऊपरसे
 यहाँ तक [विष्णुः विचित्रः शर्वसा अधितिष्ठन्] व्यापक और विशेष चिन्तनशक्तियुक्त अपने बलसे अधिष्ठाता होता
 हुआ (केतुना पृजत् विश्वं प्र सहते) प्रकाशसे गतिमान् विश्वका धारण करता है ॥ ३१ ॥

[चित्रः चिक्त्वान् महिषः सुपर्णः] विलक्षण ज्ञानी, समर्थ, और उच्चम गतिमान् [अन्तरिक्षं रोदसी आरोचयन्]
 अन्तरिक्ष, पृथिवी और द्युलोकको प्रकाशित करनेवाला सूर्य है । ऐसे [सूर्यं अहोरात्रे परिवसाने] सूर्यपर दिन और रात
 बसते हुए [प्रास्य विश्वा वीर्याणि प्र तिरतः] इसके सब वीर्य फैलाते हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ— यह एक पाँववाला होनेपर भी अनेक पाँववालोंसे आगे बढता है । सब अनेक पाँववाले इसी एक पाँववाले
 के आग्रयसे रहते हैं ॥ २७ ॥

यह आलस्य छोड़कर सदा अपने कर्तव्यमें तत्पर रहता है । यह प्रकाश और अंधेरा तदनश करता है । यह किरणोंसे
 सबको प्रभावित करके उच्च स्थानमें विराजता है ॥ २८ ॥

सूर्य सबसे बड़ा है, उसकी महिमा भी बहुत बड़ी है ॥ २९ ॥

यह सूर्य पृथ्वी जल अन्तरिक्ष तथा द्युलोकमें प्रकाशता है, पृथ्वीपर और अन्तरिक्ष के दोनों जलस्थानोंमें अपना प्रकाश
 यह फैलाता है । यही सबमें अधिक सामर्थ्यशाली है ॥ ३० ॥

यह श्रीप्रगामी देखनेवाला संचालक शुद्ध मार्गका दर्शक वहाँसे यहाँतक सब विश्वको अपने प्रकाशसे प्रकाशित
 करता है ॥ ३१ ॥

तिग्मो विभ्राजन् तन्वं १ शिशानोजरंगमासः प्रवतो रराणः ।	
ज्योतिष्मान् पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थाद् प्रदिशः कल्पमानः ॥ ३३ ॥	॥ ३३ ॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्यं उद्यन् ।	
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वावारीद् दुरितानि शुक्रः । ॥ ३४ ॥	॥ ३४ ॥
चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।	
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्यं आत्मा जगत्स्तस्थुपश्च ॥ ३५ ॥	॥ ३५ ॥
उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मर्ष्यं दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।	
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्दुदरित्रः ॥ ३६ ॥	॥ ३६ ॥

अर्थ— (तिग्मः विभ्राजन् तन्वं शिशानः) तीक्ष्ण प्रकाशवाला अपने दारीरको तीक्ष्ण करनेवाला, [जरंगमासः प्रवतः रराणः] पचास गतिवाला अर्ध स्थानपर रमनेवाला [ज्योतिष्मान् पक्षी महिषः वयोधाः] तेजस्वी आकाशमें संचार करनेवाला बलवान् और बल धारण करनेवाला (विश्वा, प्रदिशः कल्पमानः आस्थाद्) सब दिशाओंमें सामर्थ्ययुक्त होना हुआ स्थिर रहता है ॥ ३३ ॥

[देवानां केतुः चित्रं अनीकं] देवोंका ध्वज, विलक्षण मूळ आधाररूप (ज्योतिष्मान् सूर्यः प्रदिशः उद्यन्) तेजस्वी सूर्य दिशाओंमें उड़ित होता हुआ [शुक्रः विश्वा दुरितानि तमांसि द्युम्नैः ववारीद्] शुद्ध सूर्य सब पापरूप अंधकारोंको अपने तेजसे पार करता है, और [दिवा करोति] दिनका प्रकाश करता है ॥ ३४ ॥ [अथर्व. २०१००१३३]

(देवानां चित्रं अनीकं, मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः चक्षुः) देवोंका अद्भुत धारक बल, मित्र वरुण और अग्नि की आँख (द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं आत्मा) द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवीको व्यापता है ऐसा [सूर्यः जगत्ः तस्थुपः च आत्मा] सूर्य जंगम और स्थावरका आत्मा है ॥ ३५ ॥ [अ० १ । ११५ । १, वा० यशु० ६ । ४२, १३ । ४६; अथर्व २०१००११४]

(उच्चा पतन्तं सुपर्णं दिवः मर्ष्यं भ्राजमानं तरणिं) अर्ध स्थानसे गमन करनेवाले पक्षी जैसे आकाशके गत्यमें तेजस्वी होकर तेरनेवाले [यं अजस्रं उयोतिः आद्वाः तं सवितारं त्वा पश्याम] जिसे बिदोष तेजस्वी करके कहते हैं उस तुस सूर्यको हम देखते हैं, (यव अग्निः अविन्दुर्) जिसे भोका प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

भाषार्थ— यह विलक्षण सामर्थ्यशाली इस त्रिलोकको प्रकाशित करता है । यह दिन और रातको निर्माण करके सबमें पराक्रमशक्तिको समर्पित करता है ॥ ३२ ॥

यह तेजस्वी और सीधा सूर्य, पचास गतिसे युक्त और सदा उच्च स्थानमें विराजनेवाला पक्षीके समान आकाशमें संचार करता हुआ सब दिशाओंको तेज देना हुआ ठहरा है ॥ ३३ ॥

यह देवोंके आगमनकी सूचना देता है, यह विचित्र अद्भुत बलसे युक्त है यत्र जब उदयको प्राप्त होता है, तब सब स्थानका अंधेरा दूर करके सर्वत्र प्रकाश करता है ॥ ३४ ॥

यह सब देवोंका बल और सबकी आँख ही है । यह अपने प्रकाशसे विश्वको भर देता है । यही सूर्य मानो सब स्थावर जंगम जगत् का आत्मा है ॥ ३५ ॥

यह शोभ्रगामी पक्षीके समान आकाशमें तेरता है । इसका विलक्षण तेज है, जो हम देखते हैं । जो इस तेजका स्वीकार करना चाहे उसको यह प्राप्त हो सक्ता है ॥ ३६ ॥

दिवस्पृष्टे धारमानं सुपूर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उर्षं यामि भीतः ।

स नः सूर्यं प्र तिरे दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमर्तौ ते स्याम

॥ ३७ ॥

सहस्राह्वयं विपतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।

स देवान्सर्वानुरस्सुपदधं संपश्यन् याति सुव्रनानि विश्वा

॥ ३८ ॥

रोहितः कालो अमवद् रोहितोऽग्नें प्रजापतिः ।

रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्वधुरामरत्

॥ ३९ ॥

रोहितो लोको अमवद् रोहितोऽत्यंतपद् दिवम् ।

रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत्

॥ ४० ॥ (१०)

सर्वा दिशः समचरद् रोहितोऽधिपतिर्दिवः ।

दिवं समुद्रमाद् भूमिं सर्वं भूतं त्रि रक्षति

॥ ४१ ॥

अर्थ- (दिवः पृष्ठे धारमानं सुपूर्णं अदित्याः पुत्रः) द्युलोकके पीठपर दौडनेवाले पक्षीके समान अदित्रीके पुत्र-को [नाथकामः भीतः उपयामि] नाथ की दृष्ट्या करनेवाला भयभीत हुआ मैं क्षण जाता हूँ । हे सूर्य ! (सः नः दीर्घं आयुः प्रतिरे) वह तू हमें दीर्घ आयु दे, (ते सुमर्तौ स्याम, मा रिषाम) तेरी उच्चम बुद्धिमें हम रहें और हमारा नाश न हो ॥ ३७ ॥

(हरेः हंसस्य सहस्राह्वयं स्वर्गं पततः अस्य पक्षौ विपतौ) हारणशील हंसके समान गतिशील, हजार दिनके मार्ग पर स्थित द्युलोक पर चलनेवाले इस सूर्यके दोनों ओर किरण फैले हैं । (स सर्वान् उरसि उपदधं) वह सब देवोंको अपनी छातीपर धारण करता हुआ, (विषा सुव्रनानि सं पश्यन् याति) सब सुवर्गोंको देखता हुआ चलता है - ॥ ३८ ॥ (अययं २० । ८।१८, १३।३।१४)

(रोहितः कालः अमवद्) यह सूर्य ही काल हुआ है, (अग्ने रोहितः प्रजापतिः) आगे सूर्यही प्रजापालक बना है, (रोहितः यज्ञानां मुखं) यही सूर्य यज्ञोंका मुख्य होकर (स्वः अमरत्) प्रकाश प्रदान करता है ॥ ३९ ॥

(रोहितः लोकोः अमवद्, दिवं अतपत्) सूर्य ही सब लोक बना और द्युलोक को प्रकाशित करने लगा । (रोहितः रश्मिभिः भूमिं समुद्रं अनु सं चरत्) सूर्यही अपने किरणोंसे भूमि और समुद्रमें संचार करता है ॥ ४० ॥ (२०)

(दिवः अधिपतिः रोहितः सर्वाः दिशः समचरत्) द्युलोकका स्वामी सूर्य सब दिशाओंमें संचार करता है । (दिवं समुद्रं आद् भूमिं सर्वं भूतं त्रि रक्षति) द्युलोक समुद्र भूमि सब प्राणी आदि सबकी वह रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

भाषार्थ-आकाशके पृष्ठभागपर दौडनेवाले पक्षीके समान यह सूर्य है । मैं दुःखोंसे पीड़ित होकर भयभीत हुआ इसकी प्रार्थना करता हूँ कि यह हमें दीर्घ आयु देवे और हमें सुरक्षित रखे ॥ ३७ ॥

इस तेजस्वी सूर्यके किरण सब ओर हजार दिनतक प्रवास करते हुए दूरीतक जाते हैं । यही सब देवोंका आधार है, यह सबका निरीक्षण करता हुआ चलता है ॥ ३८ ॥

यह सूर्य काल, प्रजापालक, यज्ञ, तेज, सब लोकको बनाता है, यही अपने प्रकाशसे सब जगत् को परिपूर्ण करता है ॥ ३९-४० ॥ यह द्युलोकका स्वामी सर्वत्र संचार करके सब जगत् की रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

आरोहन्छुको वृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।

चित्रश्रिकित्वान् महिषो चार्तमाया चार्ततो लोकान्मि यद् विभार्ति

॥ ४२ ॥

अभ्ययान्यदेति पर्यन्यदेस्यतेऽहोरात्राभ्यां महिषः कल्पमानः ।

सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गानुविदं हवामहे नार्धमानाः

॥ ४३ ॥

पृथिवीप्रो महिषो नार्धमानस्य गातुरदेव्यचक्षुः परि विश्वं वभूव ।

विश्वं संपश्यन्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि

॥ ४४ ॥

पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन् परि धामन्तरिक्षम् ।

सर्वं संपश्यन्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि

॥ ४५ ॥

अथोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुर्मिवायतीमुपासम् ।

यद्वा ह्वं प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ

॥ ४६ ॥ (११)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

धर्म- (अतन्द्रः शुक्रः रोचमानः वृहतीः आरोहन्) आलस्यरहित बलवान् तेजस्वी सूर्यं बढी दिसाभोतिं आरूढ होकर (द्वे रूपे कृणुते) दो रूप बनाता है । वह (चित्रः चित्रित्वान् महिषः) मिलक्षण ज्ञानी और समर्थ (चार्त मायाः) बाहुने प्राप्त होता है, और (यद् वावतः लोकान् अभि विभार्ति) जितने लोक हैं उन सबको वह प्रकाशित करता है ॥ ४२ ॥

(अहोरात्राभ्यां कल्पमानः महिषः) दिन और रात्रिसे समर्थ होता हुआ यह सूर्य (अभ्यय अभि एति, अत्यय अभि आस्यते) एक भागके सम्मुख होता है और दूसरा भाग दूसरी ओर फेंका जाता है । [वयं नार्धमानाः गानुविदं रजसि क्षियन्तं सूर्यं हवामहे] हम सब ग्रहण हुए मार्गदर्शक और अन्तरिक्षमें निवस करनेवाले सूर्यकी स्तुति करते हैं ॥ ४३ ॥

(महिषः पृथिवी प्रः) बलवान् पृथिवीको पूर्ण करनेवाला (नार्धमानस्य गातुरा, अदन्वचक्षुः विश्वं परि वभूव) दुखी मनुष्यका मार्गदर्शक, जिसका आलस्य न दबा है ऐसा सूर्य इस विश्वपर है । यह [विश्वं संपश्यन् सुविदत्रः यजत्रः] सब विश्वको देखनेवाला ज्ञानी याज्ञक [इदं शृणोतु यद् अहं ब्रवीमि] यह सुने जो मैं कहता हूँ ॥ ४४ ॥

[अस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं परि] इस का महिमा पृथिवी और समुद्रके चारों ओर फैला है । [ज्योतिषा विभ्राजन् परि अन्तरिक्षं परि] तेजसे प्रकाशता हुआ द्युलोक और अन्तरिक्षमें चारों ओर फैला है । (सर्वं संपश्यन्) सब को देखता हुआ यह ज्ञानी याज्ञक यह सुने कि जो मैं कहता हूँ ॥ ४५ ॥

[जनानां समिधा अग्निः प्रति अथोधि] जनोको समिधाभोतिं अग्नि जाग उठा है । (धेनुं ह्वं उपसामिधा) गौ जैसी उपा आनेके समय जागती है । (वयं प्र उज्जिहानाः यद्वा ह्वं) शास्त्रानोको ऊपर फेंकनेवाले पौधोंके समान (भानवः नाकं अच्छ प्र सिस्रते) क्रिण स्वर्गधामकी ओर पहुँचते हैं ॥ ४६ ॥ [११]

भावार्थ- आलस्य छोड़कर समर्थ और तेजस्वी यह सूर्य सबसे ऊँचे स्थानपर आरूढ होता है । अन्वकार और प्रकाश इच्छी उत्पन्न होते हैं । जहाँतक लोक हैं वहाँतक इसका प्रकाश फैलता है ॥ ४२ ॥

यह सूर्य दिन और रात बनाता है, जिस समय यह जिस भूभागके सम्मुख होता है वहाँ दिन होता है और दूसरे भूभागमें रात्रि होता है । इस अन्तरिक्ष लोकमें विराजमान तेजस्वी सूर्यकी हम स्तुति करते हैं, यह हमें मार्गदर्शक होते हैं ॥ ४३ ॥

यह सूर्य सामर्थ्यशाली है, दुःखी मनुष्यको यही सुखका मार्ग बताता है । सब विश्वपर इसकी प्रसुता है । यह वर्णन यह अर्थ ॥ ४४ ॥

इसकी महिमा पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोकमें फैली है । ॥ ४५ ॥

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते ।

त्वं तान् वैत्थ यदि ते जातवेदः स्वधया यज्ञं स्वर्धिति जुषन्ताम् ॥ ३५ ॥

शं तप मातिं तपो अग्ने मा तन्वैः तपः ।

वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्भरः ॥ ३६ ॥

ददाम्यस्मा अवसानमेतद्य एव आगन् मम चेदभूदिह ।

यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैव राय उर्ष तिष्ठतामिह ॥ ३७ ॥

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासाति । श्वे श्वरत्सु नो पुरा ॥ ३८ ॥

प्रेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासाति । श्वे श्वरत्सु नो पुरा ॥ ३९ ॥

अपेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासाति । श्वे श्वरत्सु नो पुरा ॥ ४० ॥ (१०)

अर्थ—(ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्निद्वारा जलाए गए और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा न जलाए गए पितर (दिवः मध्ये) शु लोके कीचमें (स्वधया) स्वधा द्वारा (मादयन्ते) तुल हो रहे हैं, (तान्) उन्हें (जातवेदः) वे जातवेदस् अग्नि (श्वं यदि वैत्थ) तू निश्रयसे जानती है । वे (स्वधया) स्वधाके साथ (स्वधिति यज्ञं) स्वधावाले यज्ञका (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ ३५ ॥

हे अग्नि ! (त्वं) इस मृत शरीरको (शं तप) सुखसे तथा अर्थान् इसे कष्ट हो इस प्रकारसे मत तपा । (मा अति तपः) बुरी तरहसे इसे मत तपा । तेरा जो उपानेका—जलानेका—(शुष्मः) बल है वह (वनेषु अस्तु) वनोंमें होवे । और (यद्) जो (ते हरः) तेरा हरण करनेवाला तेज है वह (पृथिव्यां अस्तु) पृथिवी पर होवे ॥ ३६ ॥

(अग्ने) इस मृत पुरुषके लिये (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूँ । क्योंकि (एवः यः) यह जो है वह (आगन्) यम लोकमें आया है और (इह) यहाँपर आकर (मम चेत्) मेरा ही (अभूत्) हो गया है, अर्थात् क्योंकि यह यहाँ आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूँ । अपने राक्षसे नहीं निकालता । इस उपरोक्त प्रकारसे (चिकित्वान् यमः) जानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त ' ददाम्यस्मै ' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोकमें आए हुएके प्रति कहता है । और यह भी कहता है कि (एवः) यह आगन्तुक (मम रायं) मेरे धनके लिये (इह) यहाँ यमराज्यमें (उपतिष्ठताम्) उपस्थित होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे धनका भाग मिले अथवा यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे लिये दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे ॥ ३७ ॥

(इमां मात्रां) इस सर्वोदा-परिमाण-को इस प्रकारसे (मिमीमहे) हम नापते हैं । (यथा) जिस प्रकारसे कि (अपरं) अन्य कोई (पुरा) आगामी (श्वे श्वरत्सु) सौ वर्षोंमें भी (न मासाति) नहीं माप सकता ॥ ३८ ॥

(प्र मिमीमहे) अच्छी प्रकारसे मापते हैं । दोष पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

(अप) जिसमें से दोष निकल गए हैं इस प्रकारसे अर्थान् पूर्ण शुद्ध रूपसे (मिमीमहे) मापते हैं । दोष पूर्ववत् ॥ ४० ॥

भावार्थ— पितरोंके लिए यज्ञमाग प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

प्रेत रहनेके समय मृतात्माको कष्ट न हो ॥ ३६ ॥

यमराज्यमें पितर गये तो यम उनकी योग्य व्यवस्था करता है ॥ ३७ ॥

यम उसको कर्मपर्यायको नापता है ॥ ३८ ॥

मृतात्माके कर्मको मात्रा अर्थात् प्रमाण यम मापता है और तदनुसार उसको फल देता है ॥ ३९-४० ॥

वीक्ष्मा मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासाति । श्वेते श्वरत्सु नो पुरा	॥ ४१ ॥
निरिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासाति । श्वेते श्वरत्सु नो पुरा	॥ ४२ ॥
उदिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासाति । श्वेते श्वरत्सु नो पुरा	॥ ४३ ॥
सभिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासाति । श्वेते श्वरत्सु नो पुरा	॥ ४४ ॥
अमांसि मात्रां स्वरगामायुष्मान् भूयासम् ।	
यथापरं न मासाति श्वेते श्वरत्सु नो पुरा	॥ ४५ ॥
प्राणो अपानो च्चान आयुश्चक्षुर्दृश्ये घर्षाय ।	
अपरिपरेण पया यमराज्ञः पितृन् गच्छ	॥ ४६ ॥
ये अग्रवः शशमानाः परेयुहित्वा द्वेषास्पनेपत्यवन्तः ।	
ते घामुदित्याविदन्त लोकं नार्कस्य पृष्ठे अधि दीप्यानाः	॥ ४७ ॥
उदन्वती घौरवमा पीलुमतीति मध्यमा । तृतीया इ प्रघौरिति यस्यां पितर आसते ॥४८॥	॥ ४८ ॥

(वि मिमीमहे) विशेष रङ्गसे मापते है । रोष पूर्ववत् ॥ ४१ ॥

(निः मिमीमहे) निश्चिन् रूपसे वा निः दोष रूपसे मापते है । रोष पूर्ववत् ॥ ४२ ॥

(इत् मिमीमहे) उत्तम रूपसे मापते है । रोष पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

(इत् मिमीमहे) अच्छी तरह से—मही मांति मापते है । रोष पूर्ववत् ॥ ४४ ॥

(मात्रां अमांसि) मैं मात्राको मां भौर इससे (स्व अगाम्) सुखको प्राप्त होऊँ । (आयुष्मान्) दीर्घायु—वाला (भूयासम्) होऊँ । रोष पूर्ववत् ॥ ४५ ॥

(प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (च्चानः) श्चान, [आयुः] आयु और (चक्षुः) आँक (घर्षाय उच्छरे) सूर्यके दर्शानके छिये अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके लिए होवें । और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करनेपर हे मनुष्य । त् (अपरिपरेण पया) अकूटिल मार्ग द्वारा (यमराज्ञः पितृन्) यम जिनका राजक है ऐसे पितरोंको [गच्छ] जा— प्राप्त हो ; { ' अपरिपरेण'—परि परिः सर्वतः परः पराभवः कुटिलभावः अथवा शत्रुः न विद्यते कस्मिन् सः अपरिपरेण अर्थात् जिसमें सर्वथा कुटिलता वा शत्रु नहीं है वह अपरिपरेण है ॥ ४६ ॥

(ये) जो (अग्रवः) अग्रगामी, (शशमानाः) प्रसंता प्राप्त किए हुए अथवा उद्यमशील, (अनपत्यवन्तः) अर्थात् संतान रहित अथवा ऐश्वर्यवाले पुत्रव (द्वेषांसि हिंसा) द्वेष भावका त्याग करके (परेयुः) मरे हैं (ते) उन पुत्रवर्षेनि (घा उदित्य) गुलोकको प्राप्त करके (अधिदीप्यानाः) अत्यन्त दीप्यमान होकर (नार्कस्य पृष्ठे लोकं अविदन्त) स्वर्गमें स्थान पाया है ॥ ४७ ॥

[अथवा घीः उदन्वती] सबसे नीचे की घी ' गुलोक ' यह है जिसमें कि ऊँच रहता है । जिस गुलोकमें जादू रहते हैं वह सबसे नीचेका गुलोक है । [पीलुमती इति मध्यमा] और जिसमें प्रह नक्षत्रादि स्थित हैं वह बीचका गुलोक है । (६) निश्चय से (तृतीया) तीसरी (यवीः इति) मध्य नामक गुलोक है [यस्यां] जिसमें कि [पितरः आसते] पितर स्थित होते हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थ— हे मनुष्य तैरे प्राण अपानादि आजीवन उत्तम बने रहें तथा मरने पर त् उत्तम मार्गसे अमलोकस्थ पितरोंको प्राप्त हो । यम पितरोंका राज है यह इससे पता चलता है ॥ ४६ ॥

जो लोग अग्रगामी, प्रविद्ध तथा द्वेषोंका त्याग करते हैं वे मरने पर गुलोकस्थ स्वर्गमें जाते हैं ॥ ४७ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविबिभ्रुर्वीं न्तरिक्षम् ।

य आश्रियन्ति पृथिवीमुत धां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ ४९ ॥

इदमिदं वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।

माता पुत्रं यथा सिचाम्ये न भूम ऊर्जुहि ॥ ५० ॥

इदमिदं वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम् ।

जाया पतिमिव वाससाभ्ये न भूम ऊर्जुहि ॥ ५१ ॥

अग्नि त्वोर्षोमि पृथिव्या मातुर्वैष्ण मद्रथा ।

जीवेषु मद्रं तन्मार्यं स्वधा पितृषु सा त्वार्यं ॥ ५२ ॥

अर्थ— (ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह हैं, (ये) जो कि (उह अंतरिक्षं आविबिभ्रुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवी उव धां) पृथिवी तथा धुलोकमें (आश्रियन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए (नमसा विधेम) नमस्कारपूर्वक-पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

हे नन्द पुत्र (इदं इत् वा उ) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है । (दिवि सूर्यं पश्यसि) जो धुलोकमें तू सूर्य देखता है । (यथा पुत्रं माता सिचा) जिस प्रकार पुत्रको माता अपने आंचलसे बाँपती है उस प्रकार है (भूमि) पृथिवी तू (पुत्रं) इस सून पुत्रको (अग्नि ऊर्जुहि) चारों ओरसे ढाँप ॥ ५० ॥

(जासि) बुढ़ापेके बादमें (इदं इत् वा उ अपरं) यही दूसरा समघानोचित कार्य है (अन्यत् इतः अपरं न) दूसरा इसके निश्च कोई कार्य नहीं । अतः हे (भूमि) भूमि ! (जाया पतिं वाससा इव) जिस प्रकार पत्नी पतिको बछले बाँपती है उस प्रकार तू (पुत्रं) इस पुत्रको (अग्नि ऊर्जु हि) रूपसे ढाँप ॥ ५१ ॥

हे प्रेत ! (सा) तुझे (मातुः पृथिव्याः) माता पृथिवीके (मद्रथा वक्षेण) कक्षबाणकारी बक्षसे (अग्नि ऊर्षोमि) अग्निदिव करता हूँ अर्थात् अग्निमें तुझे गाढ़ता हूँ । (जीवेषु मद्रं तत् मयि) जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो और (पितृषु स्वधा) जो पितरोंमें स्वधा है (सा त्वयि) वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो । यहाँ पर स्वध शब्दमें प्रेतके गाढ़नेका निर्देश है ॥ ५२ ॥

मातार्यं— धुलोक तीन प्रकारका है । एक ती वह जो कि तीनों प्रकारके धुलोकोंमें से सबसे नीचा है और उसमें मेघमण्डल स्थित है । दूसरा इसके ऊपर है और उसमें पालु अर्थात् प्रदन्तश्रादि स्थित हैं । वह बीचका धुलोक है । तीसरा इसके ऊपर है जो कि प्रदोके नामसे प्रख्यात है और यहाँ धुलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं ॥ ४८ ॥

जो हमारे पितरदि पूर्व अंतरिक्ष, तु तथा पृथिवीमें रहते हैं उनकी हम ' नमः ' द्वारा पूजा करते हैं ॥ ४९ ॥

हे प्रेत ! यही सब कुछ है जो कि धुलोकमें सूर्य दिख रहा है । हे भूमि ! तू इस प्रेतके इस प्रकारसे उह के विषय प्रकारसे कि माता पुत्रको अपने आंचलसे बाँपती है । (इस अंगके पूर्वार्धका भाग कुछ विशेष रूपसे स्पष्ट नहीं होता । और अदृश्य वस्तुओंके उलट्टी संश्लेष कर्मान्नी जरा विचारणीय है । वस्तुओं स्पष्ट ही है) ॥ ५० ॥

बुढ़ापेके अनन्तर देखके लिए शिकं समानकार्य ही बाकी रह जाता है दूसरा कोई नहीं । अतः हे भूमि ! उस कार्यके भाग गए इस शब्दके देखे जानके जैसे कि पत्नी अपने बच्चे पतिको बाँप लेती है ॥ ५१ ॥

हे प्रेत ! तुझे पृथिवी माताके कल्याणकारी बक्षसे ढकटा हूँ । संसारमें जो कल्याण है उसका मैं मागी बनूँ और जो पितरोंमें स्वधा है वह तुझे प्राप्त हो अर्थात् पितृलोकेमें जाकर तुझे स्वधा मिले । इस प्रकार हम दोनों सुखी हों । तू परलोकमें सुखी हो; मैं इस लोकमें सुखी होऊँ ॥ ५२ ॥

अग्नीषोमा परिष्कृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधुर्वि लोकम् ।

उप प्रेष्यन्तं पषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पृथिभिस्तत्र गच्छतम् ॥ ५३ ॥

पूषा त्वेतश्च्योऽयम् प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।

स त्रैतेभ्यः परिं ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदात्रिभ्यः ॥ ५४ ॥

आर्युर्विष्यायुः परिं पातु त्वा पूषा त्वां पातु प्रपथे पुरस्तात् ।

यत्रासंते मुक्तो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः संविता दधातु ॥ ५५ ॥

इमौ युनज्मि ते बहो असुनीताय वोढंवे ।

ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चार्यं गच्छतात् ॥ ५६ ॥

अर्थ—(पथिष्टा) माग-वनानेवाले (अग्निषोमा) अग्नि व सोम (देवेभ्य) देवोंके लिए (स्योनं) सुखकर (रत्न) रमणीय-सुन्दर वा रत्नोंवाला (छोके) स्थान (विद्ध्युः) देवें । (यः) जो कि स्थान (उप प्रेष्यन्तं पूषण) समीप में जाते हुये पूषा—सूर्य-का (वहाति) वहन करता है । (तत्र) ऐसे ठम स्थानमें (अजोयानैः) सीधा चलनेवालेसरल (पथिभिः) मार्गोंसे (गच्छतम्) विचरण करो । अथवा (गच्छत-गमयत्) विचरण कराओ ॥ ५३ ॥

(अनष्टपशु सुवनस्य गोपा पूषा) देव न मनुष्य । निरन्तर प्रकाशमान माणिमात्रका रक्षक पूषा, (विद्वान् एव इतः प्रख्यावयत्) जानता हुआ अपनी रक्षितों द्वारा तेरी आत्माको इस पृथिवी लोकसे प्रकृत मार्गोंकी ओर ले जावे । (स अग्नि) वह अग्नि [त्वा] तुझे [एभ्यः पितृभ्य] इन पिताओंके लिए या [सु विदात्रिभ्यः देवेभ्यः] उन्नत धनवाले देवोंके लिए [परि ददत्] देवे । [ऋ० १०१२७३८] ॥ ५४ ॥

[आयु विष्यायु] आयु और विष्यायु (त्वा परिपातु) तेरी रक्षा करे । और (पूषा) पोषक आदित्य [त्वा] तेरी (मयथे) प्रकृत मार्गमें [पुरस्तात्] सामनेसे (पातु) रक्षा करे [यत्र] जहाँपर—जिस स्थानमें [सुकृतः जासंते] उन्नत कर्म करनेवाले स्थित हैं, [यत्र] जिस स्थानमें [ने] वे सुकृत लोक [ईयुः] गए हुए हैं [तत्र] उस स्थान में [त्वा] तुम्हें [देवः संविता] प्रकाशमान आदित्य [दधातु] स्थापित करे ॥ ५५ ॥

हे मनुष्य ! [वही] वहन करनेवाले इन दो बैलोंको [ते वोढंवे] तेरे वहन करनेके लिए [युनज्मि] बैलगाड़ीमें जोड़ता हूँ । किस लिए ? [असुनीताय] जिसमेंसे प्राण निकाल लिए गए हैं उस अनु-नीत बर्षाद गत प्राण देहके वहन करनेके लिए । अथवा अ-सु-नी का अर्थ है जो कि सुखपूर्वक न ले जाया जाके । जिसके ठठाने से त-लीक होती हो । [ताभ्यां] उन बैलोंसे [यमस्य सादनं इति] यह यमका घर है इस प्रकार [सं अगच्छतात्] भली भाँति जान ॥ ५६ ॥

आचार्य— हे मार्ग बनानेवाले अग्नि सोम ! तुम देवोंके लिए उन्नत स्थान दो । जिस स्थानमें कि सूर्य विचरण करता रहता है । ऐसे स्थानमें तुम दोनों घरल मार्गोंसे जाए हुए की चलाओ । (अगले मंत्र ५४ से ऐसा पता चलता है कि अग्नि सूर्यमाको पितरोंके पाष पहुँचाती है) ॥ ५३ ॥

संसारका पोषक आदित्य तुम प्रेतकी आत्माको यह संसार छोड़कर उत्कृत मार्गोंकी ओर ले जावे व अग्नि तुझे पितरों व देवोंके पाष पहुँचावे ॥ ५४ ॥

हे प्रेतात्मा ! तेरी आयु व विष्यायु रक्षा करे । मूत्र तेरा रक्षा करे, व सुकृतोंके लोकमें ले जाकर स्थापित करे ॥ ५५ ॥ सरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर दो बैलोंकी गाड़ीमें रक्षकर इसजान भूमिमें ले जाना योग्य है ॥ ५६ ॥

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतद्दह यदिहाविमः पुरा ।

इष्टापूर्वमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विभंघुषु ॥ ५७ ॥

अग्नेवर्म परि गोभिर्ययस्व सं प्रोणुंष्व मदसा पीवसा च ।

नेस्वा घृष्णुर्हरसा जर्हपाणो दृधग् विचक्षन् परीङ्ख्यातै ॥ ५८ ॥

दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।

अत्रैव त्वामिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥ ५९ ॥

घनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

सुमागृभाय वसु भूरि पृष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥ ६० ॥ (१२)

अर्थ— हे मृत पुरुष! [एतत् प्रथमं वासः] यह स्मशानोचित मुख्य वस्त्र [त्वा नु आ अग्नः] तुझे प्राप्त हुआ है। [यत् इह पुरा आविमः] जिस वस्त्रको पहिले यहाँपर तू पहिना करता था [तत्] उस वस्त्रको [अप ऊर्] छोड़ दे। [यत्र] जहाँ [ते बहुधा विबन्धुषु दत्तं] तेरा प्रायः विबन्धुओंमें जो दान है उसको [विद्वान्] जानता हुआ [इष्टापूर्वं] इष्टापूर्वको अर्गात् तज्यम् फलको [अनुसंक्राम] प्राप्त हो। विबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् अनाय, गरीब आदि ॥ ५७ ॥

हे प्रेत ! [गोभिः] घृषसे डरपन्न हुई हुई [अग्नेः वर्म] अग्निकी ज्वाला रूपी कवचसे [परि व्ययस्व] अपनेको चारों ओरसे ढक के अर्थात् अग्निकी ज्वालाओं के भीचमें तू हो जा, जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके। [सः] यह तू [पीवसा मेदसा] अपने अन्दर विद्यमान स्थूल वर्चसे [प्रोणुंष्व] अपने आपको आच्छादित कर। इस प्रकार करनेसे, [हरसा घृष्णुः] अपने तेजसे धर्षण करनेवाला, (दधक्) प्रसन्न, [जर्हपाणः] अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अत-एव। विचक्षन्] तुझ प्रेतको विविधरूपसे अटाता हुआ अग्नि [स्वां] तुझे [नेत्] नहीं [परीङ्ख्यातै] धर उधर बसेगा, अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर भस्मावेश्य कर ढालेगा ॥ ५८ ॥

[गतासोः] जिसके प्राण चले गए हैं अर्थात् जो मर गया है ऐसेके [हस्तात्] हायसे [दण्डं आदानः] दण्ड को छेला हुआ [श्रोत्रेण] श्रवण सामर्थ्यसे [वर्चसा] तेजसे तथा [बलेन सह] बलके साथ। स्व] तू [अत्रैव] इसी संसारमें स्थित हो। [इह] इस संसारमें [वयं] हम [सुवीराः] उत्तम वीर बने हुए [विश्वाः मृधः] संपूर्ण संग्रामों को तथा (अभिमातोः) अभिमानी शत्रुओंको (जयेम) जीतें ॥ ५९ ॥

(मृताय) मृत राजाके (हस्तात्) हायसे प्रजाक्षयार्थं (घनुः आदानः) घनुष लेता हुआ (क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह) क्षात्र तेज व बलके साथ (पृष्टं) पृष्टिकारक (भूरि वसु) बहुत धन (सं भा गृभाय) संग्रह कर। और फिर [स्वं] तू [जीवलोकं उप] जीवलोक अर्थात् हम प्रजाजनको छद्म करके [अर्वाङ् पृष्टि] हमारे सामने आ ॥ ६० ॥

भावार्थ— मरनेपर पुराने वस्त्रोंको त्यागकर शवको मधीन स्मशानोचित वस्त्र पहिनाना चाहिये ॥ ५७ ॥
सुरदेको जलाते हुए धी परोत मात्रामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले।
बचका कोई भी भाग अके बिना रहने न पावे ॥ ५८ ॥

मृतके हाथसे दण्ड लेकर तू अपने इन्द्रियादि सामर्थ्यों व साहस, तेज, बल आदिसे युक्त हो। हम सुवीर होकर शत्रु-बोपर विजय लाभ करें ॥ ५९ ॥

मृत राजाके हाथसे शयार्थ अन्न शब्द लेकर अपने क्षात्रतेज व बल द्वारा बहुतसा धन प्राप्त कर व उस धनसे प्रजाको पृष्ट बना। प्रजामें धन बाँट। प्रजाके लिए उध धनका व्यय कर ॥ ६० ॥

[३]

इयं नारीं पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्यं प्रेतम् ।

॥ १ ॥

धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं त्वह घेहि

॥ २ ॥

उदीर्ष्व नार्यमि जीवलोकं गुतासुभेतमुपं शेष एहिं ।

हस्तश्रामस्य दक्षिणेस्तदेदं पत्युर्जनित्वममि सं वैभूथ

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां भूतेभ्यः परिणीयमानाम् ।

॥ ३ ॥

अन्धेन यन् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदैनाम्

प्रजानत्यर्धे जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।

॥ ४ ॥

अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमर्षि रोहयैनम्

धर्म- [इयं नारी] यह स्त्री [पतिलोकं वृणाना] पति कुलकी कामना करती हुई [मर्त्यं] हे मनुष्य ! [प्रेतं] मृत पतिको (भोकर) [पुराणं धर्मं अनुपालयन्ती] पुराण धर्मका अनुपालन करती हुई अर्थात् धर्ममें स्थित हुई हुई (त्वा उप निपद्यते) तेरे पास आई है । तस्यै तस धर्ममें स्थित नारीके लिए (इह) इस संसारमें (प्रजां) संततिको (द्रविणं य) और धनको [घेहि] दे ॥ १ ॥

(नारी) हे स्त्री ! (गतासु एनं उपनेषे) जो तू गत प्रण अर्थात् इस मृत पतिके पास भो रही है वह तू (वा इह) उस मृत पतिके पाससे चली जा, और [जीवलोकं अमि] इन जीवलोक अर्थात् संसारके प्रति (उदीर्ष्व) उदकर गमन कर अर्थात् संसारमें चली जा । संसारमें आकर (हस्तश्रामस्य) विवाहमें तेरा वाणिप्रदण करनेवाले (दक्षिणेः) व दैरा रखण पालनादि रूपसे धारण करनेवाले (तत्र पत्युः) तेरे पतिकी (जनितं) सतानको (वैभूथ) प्राप्त हो ॥ २ ॥

(जीवां) जीवित (नीयमाना) समझानकी ओर ले आई गई, व (भूतेभ्यः) मरे हुए मनुष्योंसे (परिणीयमानाम्) पुनः वापिस धरकी लेआई गई (युवतिं) जवान स्त्रीको (अपश्यं) मैंने देखा है । (यत्) क्योंकि वह को (अन्धेन तमसा) शोकजन्य गहरे अंधकार से प्रावृता आसीत्) बंधी हुई थी अर्थात् अन्धगत शोकपूर्ण थी । (तत्) इसलिये (पुनः) इस (अपाचीं) पीछे की तरफ अर्थात् परकी ओर जानेवाली को (प्राक्तः) वहाँ सामने (अन्धम्) ढाया हू ॥ ३ ॥

(अयं) हे मारनेके अयोग्य स्त्री । (जीवलोकं प्रजानती) संसारको भली भाँति जानती हुई स्त्री (देवानी पन्थां अनुसंचरन्ती) देवोंके मार्गका अनुसरण करती हुई अर्थात् देवोंके मार्गपर चलती हुई (अयं) यह जो (ते) तेरा (गोपतिः) गोपति है (तं जुषस्व) इससे प्रीति कर । और इस प्रकार (एनं) इस गोपतिको (स्वर्गलोकं अपि रोहय) स्वर्गलोकमें पहुँचा ॥ ४ ॥

भाष्य— पतिके मर जानेपर सन्तानकी कामना करनेवाली स्त्री धर्मात्तुल्य दुखेरे पुढ्यकी पति बनाकर धन व सन्तान भी प्राप्ति करे । यह पुत्र ही उसे पत्नी बनाकर संतान व धनके लक्षका पालन पोषण करे ॥ १ ॥

हे नारी ! तू इस मृत पतिके लिये शोक करना छोड़ दे और संसारमें आकर यथावत् रह । तेरे वाणिप्रदण करनेवाले पतिकी संतानका प्राप्त कर ॥ २ ॥

मृत पुरयके पीछे पीछे समझान भूमिमें जाती हुई स्त्रीको वापिस लौटा लाया हूँ । यह शोधसे ब्याकुल स्त्री मनः इसे यहाँ पर (पर पर) ले जाता हूँ ॥ ३ ॥

हे स्त्री ! तू संसारको भली प्रकारसे जानती हुई तथा देवजनोंके मार्गका अनुसरण करती हुई इस तेरे पतिके प्रीति कर लक्षकी संतान त्यागदि कर्मोंमें चहायक होकर उसे स्वर्गलोक प्राप्त करा ॥ ४ ॥

उप धामुपं वेतसमवर्त्तरो नदीनाम् । अग्रे पित्तमपामंसि	॥ ५ ॥
यं त्वमग्रे सुमदहस्तमु निर्वापया पुनः ।	
क्याम्बुरत्र रोहतु श्राण्डदूर्वा च्यस्त्रिक्षा	॥ ६ ॥
इदं तु एकं पर ऊं त एकं तृतीयं ज्योतिषा सं विश्वस्व ।	
संवेक्षणे तन्या इ चारुगेधि प्रियो देवानां परमे सुहृन्मै	॥ ७ ॥
उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवीकं कृणुष्व सलिले सघस्ये ।	
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमं मदस्व सं स्वधामिः	॥ ८ ॥

अर्थ— (वहीनां) शब्द करते हुए—अर्थात् करते हुए (अर्थात्) जलोत्थी संवाम्बिनी (यां उप) युके समीप, वहाँ यो शब्द अवका का बाची है। जलके, ऊपर उगी हुई जमीनके स्थान से सहित (काई) का नाम अवका है। तथा (वेतसं उप) वहाँ के समीप (नदीके किनारे उगनेवाले लहोका नाम वेतस है) समीप, अथवा उप शब्द सप्तम्यर्थ प्रतिपादक है। अवकायें तथा वेतस में [अवचरः] अत्यन्त रक्षक सारपूर्तांच है। वेतस य अवका का जलीय सार होना तैचिरीय में कहा गया है। 'अर्थात् या पतल पुष्पं यद् वेतसः। अर्थात्तरोऽर्वाका। वेतसद्यास्त्रया चावकाभिश्च विकर्षति' इति (तै० सं० ५।१।१२) (अग्रे) हे अग्नि ! तू भी (अर्थात् पित्तम्, जल सन्ध्यां पित्त भातु है ॥ ५ ॥

[अग्रे] हे अग्नि ! [सं] जिन प्रेत को तुने [समदहः] जलाया है। [सं उ] उसे [पुनः] फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर [निर्वापय] बुझा डाल। [अत्र] इस सुदें * जलनेके स्थान पर [क्य म्युः] कितना जल छिड़कना चाहिए कि जिससे [च्यस्त्रिक्षा] विविध शाकाभोवाली [चाण्डदूर्वा] दुःखनाशक दुर्वा घास [रोहतु] बगो ॥ ६ ॥

[ते] तेरे लिए [इदं एकं] पर एक उच्योति है (उ) और [परः] आगे [ते एकं] तेरे लिए एक उच्योति है। ए [तृतीयं ज्योतिषा] तीसरी उच्योति से [सं विश्वस्व] अच्छी प्रकार प्रविष्ट हो। अर्थात् उस तीसरी उच्योतिमें प्रविष्ट हो। और उस तीसरी उच्योतिमें [संवेक्षणे] अच्छी प्रकार प्रविष्ट होनेपर [परमे सघस्ये] उस उतम संबके रहनेके स्थान में [देवानां प्रियो] देवोंका प्यारा हुआ हुआ [तन्या चाण्ड] क्षीरसे शराम हुआ हुआ [एधि] बघ ॥ ७ ॥

[वद् विष्ठ] वठ, [प्रेहि] जा, (प्रत्रव) दौड़, (सघस्ये) जहाँ सब दूकट्टे रहते हैं ऐसे (सलिले) अंतरिक्षमें (बोका) पर [कृणुष्व] बना। (तत्र) वहाँ अंतरिक्षमें [त्वं] तू [पितृभिः संविदानः] मन्व्य पित्रोंके साथ मिला हुआ देवमत्पकी मातृदुभा बना [सोमं] सोमसे (समदहस्व) अच्छी तरह जामंदित हो और [स्वधामिः] स्वाधामोसे [सं] अच्छी प्रकार तृप्त हुआ हुआ जामंदित हो ॥ ८ ॥

भावार्थ— हे अग्नि ! क्योंकि तू जलोत्थी संवाम्बिनी है अतः तुझे जलके सन्ध्यां रखनेवाली अवका वेतस आदि औषधियोंसे शीत करता हूँ ॥ ५ ॥

शब्दके सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर आगको बुझा डालना चाहिए वहाँपर जलना पानी छिड़कना चाहिए कि जिस से किरसे वहाँपर दूर्वा घास निकल आवे ॥ ६ ॥

मनुष्य अपने अन्दर तेजस्विता कमावे और आत्मज्योति की प्राप्ति करनेका साधन करे ॥ ७ ॥

पितर अंतरिक्षमें भी रहते हैं अर्थात् अंतरिक्ष में पितरोंके लोकोंमें से एक लोक है जहाँ पितर निर्वाण करते हैं ॥ ८ ॥

प्र च्यवस्व तन्नं १ सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम् ।

मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमैर्जुपसे तत्र गच्छ ॥ ९ ॥

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अर्जन्तु देवा मधुना धृतेन ।

चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ॥ १० ॥ (१३)

वर्चसा मां समनक्त्वग्निमैधां मे विष्णुर्न्यनक्त्वामन् ।

रायं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापुः पवनैः पुनन्तु ॥ ११ ॥

मित्रावरुणा परि मामधातामावित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु ।

वचो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु ॥ १२ ॥

अर्थ— (प्रच्यवस्व) आंग वर उच्यते वर । (तन्व शरीरका) (स भरस्व उतमतया पालन पोषण कर । (ते गात्रा) मेरे हाथ पैर आदि गात्र (मा विहाय) मन छूट्टे दुःख छोड़कर मत चले जावें । [मो शरीरं] और तेरा शरीर भी मत छूटे । [मनः निविष्टं] जहाँ तेरा मन निविष्ट हो अर्थात् जहाँ तेरा मन चाहे वहाँ (अनु सं विश्वस्य) मन की इच्छानुसार प्रवेष्ट कर— जा । और (यत्र) जहाँ (भूमैः जुपसे) भूमि से प्रीति करता है अर्थात् जिस देवसे तेरा मन प्यार करता है (यत्र) उस देवसे (गच्छ) जा ॥ ९ ॥

(सोम्यासः पितर मां वर्चसा अर्जन्तु) सोमसपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें । (देवाः मधुना धृतेन) देव मुझे माधुर्योपित दृढसे व्यक्त करें । (चक्षुषे मां प्रतर तारयन्तः) देखनेके लिए मुझे अच्छी तरह चराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, (जरदष्टिं मां) जिसका खानपान निषिद्ध हो गया है उसे मुझसे (जरसे) बृद्धावस्था तक (वर्धन्तु) बढ़ावें अर्थात् जिस सुधापेमें खाने पीने की शक्ति जीर्ण हो जाती है उस सुधापंकक मुझे पहुंचाए । यथा संभव दीर्घायुवाला मुझे बनाए, उससे पूर्व मैं हीन न होऊँ ॥ १० ॥

(अग्निः) अग्नि (मां) मुझे (वर्चसा) तेजसे (समनक्तु) अच्छी प्रकार से युक्त करे । (विष्णुः) व्यापक परमात्मा (मे आसन्) मेरे मुझमें (मैधां नि अन्नन्तु) शुद्धिको उतमतया स्थापित करे । (विश्वे देवाः) सब देव (मे रायं) मेरे लिये धन (नियच्छन्तु) प्रदान करें । (स्योनाः मापुः) सुप्रकारी जल (मा) मुझे (पवनैः) पवित्र पवनोंके साथ (पुनन्तु) पवित्र करें ॥ ११ ॥

[मित्रावरुणौ] रात व दिन (मा) मुझे (परि अघाताम्) चारों ओरसे धारण करें अर्थात् मेरी सब ओरसे रक्षा करें । (वरुणः) दानुओंको उपजाए पहुंचानेवाले अथवा जयशब्द करते हुए (आदित्याः) अद्विधिके पुत्र देव— गण (मा वर्धयन्तु) मुझे बढ़ावें । (इन्द्रः) ऐश्वर्याशाली (मे हस्तयोः) मेरे दोनों हाथोंमें [वचैः अन्नन्तु] तेज स्थापित करें । और [सविता] सर्व श्रेष्ठ वा सबका उत्पादक देव (जरदष्टिं कृणोतु) मुझे दीर्घायु बनावे ॥ १२ ॥

भाषार्थ— हे मनुष्य तू उन्नति कर । अपने शरीरका ठीक ठीक पालन कर जिससे तेरी आकाशिक श्रुति व वाग्म मूल्य न हो । संसारके बिध भूमिभागमें तेरा मन जलिको करे वहाँ तू आनंदसे जा । जो देव तुझे अच्छा मात्स्य दे बहातु जा ॥ ९ ॥ दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्था तक पहुंचाना पितरों का कार्य है ॥ १० ॥

अग्नि से मुझे तेज प्राप्त हो । विष्णु परमात्मा मुझे अत्यन्त बुद्धिमान् बनावे । देवगण मुझे धनधान्य सम्पन्न करें तब जलमिश्रित पर्वत मुझे सदा पवित्र करावा रहे जिससे कि मैं सुखपूर्वक जीवन बिताऊँ ॥ ११ ॥

रात व दिन मेरी सब ओरसे रक्षा करें । अन्य अक्षय्य शक्तिमान् देवगण मेरी दृष्टि करें । इन्द्र मेरे हाथोंमें धन देने व सविता देव मुझे दीर्घायु प्रदान करे । इस प्रकार सर्व देव मेरेपर अत्युग्र करें जिससे कि मैं सुखसे जीवन व्यतीत कर सकूँ ॥ १२ ॥

यो ममारं प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयार्यं प्रथमो लोकमेतम् ।
 वैवस्वत्वं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत । ॥ १३ ॥
 परां यात पितर आ चं यातायं वो यज्ञो मधुना समक्तः ।
 वृत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह मद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दघात ॥ १४ ॥
 कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोमर्यंचिनानाः ।
 विश्वामित्रोऽयं जमदग्निश्चिरन्वन्तु नः कृदयपो वामदेवः ॥ १५ ॥
 विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम चामदेव ।
 श्रद्धिर्नो अत्रिरप्रभीक्ष्मोभिः सुसंशासः पितरो मृदता नः ॥ १६ ॥

अर्थ— (यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्योंमें सबसे प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र ईयाय) इस लोक यमलोक को सबसे पहिले गया उस [जनानां संगमनं] जनों के संगमन [वैवस्वत्वं यमं राजानं] विवस्वान् के पुत्र यम राजाकी [हविषा सपर्यत] हवि द्वारा पूजा करे ॥ १३ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [परायात] यज्ञ समाप्ति पर वापस लौट जाओ । (च) और फिर [आयात] आओ क्योंकि [अयं यज्ञः यः] यह यज्ञ तुम्हारे लिये [मधुना समक्तः] मधुर आज्यसे तैयार किया हुआ है । [इह] इस यज्ञमें [द्रविणा] धनों को [वृत्तो] दो । [मद्रं सर्ववीरं रयिं च] और कल्याणकारी तथा सर्व वीरतासे युक्त रयि अर्थात् सम्पत्ति— सम्पत्ति से [नः] हमें [दघात] पुष्ट करो । [मधु का अर्थ है मधुरसंपूर्ण आज्य । दंक्षो, ऐ. भा. १। २— एतद् वै. मधु वैभ्यं यद् आज्यम्] ॥ १४ ॥

[कण्वः] बुद्धिमान्, [कक्षीवान्] शासन करनेवाला, (पुरुमीढः) बहुधनवाला (अगस्त्यः) पापका नाश करनेवाला, (श्यावाश्वः) काले घोड़ोंवाला या ज्ञानी, (सोमरी) ऐश्वर्यवाला, (अर्चिनानाः) पूजनीय रथवाला या उत्तम वीरनवाला, (विश्वामित्रः) सबका मित्र तथा (अयं जमदग्निः) यह यज्ञ, हे जिसकी सदा अग्नि प्रज्वलित रहती ऐसा, (कृदयपः) सुहृदवर्धी तथा (चामदेवः) उत्तम व्यवहारवाला, ये सब [नः] हमारी [अयन्तु] रक्षा करें ॥ १५ ॥

हे [विश्वामित्र] सबके मित्र (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, [भरद्वाज] हे भस्वत्प्रकारक, [गोतम] हे उत्तम रथोता, [चामदेव] हे प्रशंसनीय व्यवहारवाले, [सुसंशासः] उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरो ! तुम [नः मृदत] हमें सुखी करो, क्योंकि [श्रद्धिः अग्निः] बलविशिष्ट अग्निसे [नमोभिः] अर्द्धोत्ते हमें [अमरीच] प्रहण किया है अर्थात् वह हमें अन्न देता है ॥ १६ ॥

माथार्यं मनुष्योंमें से सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले यमलोकमें गया, अतः उस लोकका नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पड़ा ॥ १३ ॥

पितरों को यज्ञमें मधुर आज्य देना चाहिए जिससे कि वे आज्यदाताओं को धनधान्य दें व उत्तम वीर सतान से युक्त करें ॥ १४ ॥

मंत्रोक्त नाना गुण विशिष्ट पितर हमारी खर्वा रक्षा करें ॥ १५ ॥

हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो, हमें सुखी करो ॥ १६ ॥

कस्ये मुजाना अतिं यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।

आप्यायमानाः प्रजया धनेनार्घं स्यान् सुरमयो गृहेषु ॥ १७ ॥

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते क्रतुं रिहन्ति मर्धुनाभ्युञ्जते ।

सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमांसु गृह्वते ॥ १८ ॥

यद् वीं मुद्रं पितरः सोभ्यं च तेनो सचध्वं स्वयंशसो हि मृत ।

ते अर्वाणः कवय आभृणोत सुविदुत्रा विदये ह्यमानाः ॥ १९ ॥

ये अत्रयो आङ्गिरसो नवंग्वा इष्टावन्तो रानिपाचो दधानाः ।

दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्यासद्याभिमन् वृहर्षि मादयध्वम् ॥ २० ॥ (१४)

अर्थ—[कस्ये] ज्ञानमें [मुजाना] पवित्र होते हुए [प्रतरं] दीर्घ [नवीयः] नवीन [आयुः] आयुको (दधानाः) धारण करत हुए (रिडुं) पापका (अतिवन्ति) अतिक्रमण करते हैं, पापसे बचते हैं । और इस प्रकार पापसे बचकर (प्रजया) प्रजा द्वारा व (धनेन) धनद्वारा (आप्यायमानाः) बरते हुए (गृहेषु) घरमें (सुरमयः) सुन्दर मन्थवाले अर्थात् प्रद्योतनोप गुणोवाले (स्यान्) होयें ॥ १७ ॥

(क्रतुं) यज्ञको (मधुना) मधुर भाष्यसे [अञ्जते] संयुक्त किया जाता है । [वि अञ्जते] विभुद किया जाता है, [सं अञ्जते] मिलकर प्राप्त किया जाता है [अभि अञ्जते] चारों ओर विस्तार किया जाता है तथा सब मिलकर उसकी [रिहन्ति] अर्चना करते हैं । अथवा यज्ञरूप [रिहन्ति = छिहन्ति] खाते हैं । [हिरण्यपावाः] सुवर्णादि धनके रक्षक वा हिरण्यसे पवित्र करनेवाले, [सिन्धोः उच्छ्वासे] समुद्री वृद्धिसे समन (पतयन्तं) खाते हुए [उक्षणं] वृद्धि करनेवाले वा सिंचन करनेवाले [पशुं] सबको देखनेवाले को [आयु] इनमें [गृह्वते] लेते हैं ॥ १८ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः यत्सुदं सोम्यं च] तुम्हारा जो हर्षयद् व सोम्य कार्य है [तेनो] उस द्वारा (सचध्वं) हमें सेवित करो अर्थात् युक्त करो । (हि) निश्चयसे तुम (स्वयंशसः) अपने पदासे ही पदास्वी [मृत] होते हो । [अर्वाणः] गतिवाले अर्थात् निराश्रयी, [कवयः] कान्तदर्शी तथा [सुविदुत्राः] उत्तम धनवाले, (ह्यमानाः) बुद्धये गए [वे] वे तुम (विदये) यज्ञमें हमारी इपरोक्त प्रार्थनायें [आश्रगोत] आकर सुनो ॥ १९ ॥

[ये] जो तुम [अभयः] सदा प्रातिके योग्य, [आङ्गिरसः] ज्ञानी, [नवंग्वाः] नवंग्वा, [इष्टावन्तः] दर्शपोर्जमास आदि करनेवाले, [रानि पाचः] दान देनेवाले, [दधानाः] पाठन पोषण करनेवाले [दक्षिणावन्तः] दान युक्त, [सुकृतः] उत्तम कर्म करनेवाले [य] हो वे तुम (अरिमन् वृहर्षि) इस यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वम्] जानन्दित होओ । हवि खाकर मृत होओ । नवंग्वा—नव मासका सत्रयाग करनेवाले ॥ २० ॥

भावार्थ— हम ज्ञान द्वारा अपनेको शुद्ध करते हुए पपसे बचे व दीर्घ जीवन प्राप्त करें । हम प्रजा संपत्ति आदि से संपन्न हुए हुए सुन्दर गुणों से पूर्ण होयें ॥ १७ ॥

किया हुआ कर्म मीठा फल देनेवाला बने ॥ १८ ॥

पितरोंके कामपूर्ति करानेके लिए यज्ञोपासन भूत है ॥ १९ ॥

जिनके दीनों तप नष्ट हो चुके हैं ऐसे ज्ञानी, अत्रयाग करनेवाले, इष्टापूर्त करनेवाले, दानी, उत्तम कर्म करनेवाले पितर, हमारे यज्ञमें आये व हवि खाकर मृत होयें— आनन्द मनवि ॥ २० ॥

अथा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अथ ऋतमांशुशानाः ।
 शुचीर्दयन् दीर्घ्यत उक्थशासः क्षामां भिन्दन्तो अरुणीरपं व्रन् ॥ २१ ॥
 सुकर्मिणः सुरुचीं देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
 शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुवां गव्यां परिपदं नो अक्रन् ॥ २२ ॥
 आ युथेवं क्षुमर्ति पश्यो अल्पद् देवानां जनिमान्त्युग्रः ।
 मर्त्तीसश्चिदुर्वशीरक्रुप्रन् वृधे चिदुयं उपरस्यायोः ॥ २३ ॥
 अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवसन्नपसो विभातीः ।
 विश्वं तद् मद्रं यदवन्ति देवा वृहद् वदेम विदथे सुवीराः ॥ २४ ॥

अर्थ— [यथा नः परासः प्रत्नासः पितरः] जैसे हमारे श्रेष्ठ पुराने पितरोंने (ऋतं आशुशानाः) सत्य वा यज्ञको स्वास करते हुए [शुचि इत् अयन्] प्रकाशमान-दीप्तस्थान को ही प्राप्त किया व [दीर्घ्यतः] दीर्घमान होते हुए, [उक्थशासः] उक्थयसि प्रशंसा-स्तुति करते हुए [क्षामा = क्षाम] क्षयकारी अंधकारको [भिन्दन्तः] नष्ट करते हुए (अरुणीः) उषाभौ-की किरणोंको [अपमन्] प्रकाशित किया था उसी प्रकार हे अग्नि ! तू भी उषाको प्रकाशित कर ॥ २१ ॥

[सुकर्मिणः] उत्तम कर्म करनेवाले [सुरुचः] उत्तम काण्डिवाले [देवयन्तः] देवत्वकी कामना करते हुए [अयो न] जिस प्रकार कि सुवर्णकार तथाकर सोनेको शुद्ध करते हैं उसी प्रकार [जनिमा धमन्तः] अपने जन्मोंको तपस्वी तप से तथाकर शुद्ध करते हुए [देवाः] देवगण [अग्निं] अग्निको [शुचन्तः] दीप्त करते हुए, [इन्द्रं वावृधन्त] इन्द्रको अपाव माना ऐश्वर्योंकी श्रद्धा कमि हुए [नः] हमारे लिये [उवां] यद्यो मारी विस्तृत [गव्यां] गौमीक समूह-वाली [परिपदम्] परिषद् [अक्रन्] बनाते हैं ॥ २२ ॥

[उग्रः] तजस्वी [अग्नि] [देवानां जनिमा] देवोंके जन्मोंको उत्पत्तिमे [अश्लि] समीपसे [आ अकवत्] देखवा है । अर्थात् देवोंकी उत्पत्तिके विषयमें अग्निकी अच्छी तरहसे मालूम है । इसमें दृष्टान्त दंत हैं कि [क्षुमति परवः यूया इव] अर्थात् जिस प्रकार घामादि अश्वयुक्त स्थानमें चरते हुए पशुओंके समूहोंको उलका चरानेवाले गवाडा जानते हैं । [मर्तामः चित्] मनुष्य भी [उर्वशीः अक्रुप्रन्] विस्तृत क्रियाओंको करते हैं और [अयः] स्वामी [उपरस्य आपोः] समीपस्थ मनुष्यकी श्रद्धिके लिए किया करता है ॥ २३ ॥

[ते] वेरे लिए [अग्निंके लिए] हमने [अकर्म] पूजा, स्तुति आदि उत्तम कर्म किए हैं इसलिये (स्वपसः) मेह कमोवाले [अभूम] हुए हैं । इस वास्ते हमारे लिए [विभातीः] विविध प्रकारसे प्रकाशित होती हुईं [उषसः] उषायें (ऋतं अवसन्) सत्यमें निवास करती हैं अर्थात् सत्य नियमोंमें आश्रित हुईं हुईं नियमपति बाकायदा वदित होती रहती है । [यत् देवाः अकन्ति] जिस जिसकी देवगण रक्षा करते हैं (तत् विश्वं) वह सब हमारे लिए [मद्रं] यक्षयणकारी हो । हम [सुवीराः] उषाम बलशाली हुए हुए (विश्वे) यज्ञमें [वृहद् वदेम] सुनने लायक बहुत बोलें ॥ २४ ॥

भावार्थ— जिस प्रकार वज्रादिसे तेज प्राप्त करके प्रकाशित होते हुए हमारे पुरातन पितरोंने अंधकारका विनाश करके उषाको प्रकट किया था, उसी प्रकार अग्नि तूमी हमारे लिये उषा प्रकट कर ॥ २१ ॥

उत्तम कर्म करनेवाले देवगण प्रथम अपने जन्मको तपस्विके शुद्ध करके अनन्तर अग्निको प्रदीप्त करते हैं । अग्निअग्निप्राय तीनों प्रकार की अग्निसे है । इस तीनों प्रकार की अग्निको प्रदीप्त करके ऐश्वर्यकी बढ़ाति है व हमें सांसारिक लोगोंके लिए गौओंके समूहवाली परिषद् बनाते हैं । गौओंके समूहवाली परिषद् का मतलब यह है कि हमारे लिए अनेक प्रकार की गौवें प्रदान करते हैं ताकि सांसारिक सुख बढ सके तथावा गौका अर्थ है वाणी तदनुसार इसका अग्निप्राय यह है कि

- इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्यां दिशः पातु वाहुच्युतां पृथिवी धामिन्नोपरि ।
 लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्य ॥ २५ ॥
- घाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु वाहुच्युतां पृथिवी धामिन्नोपरि ।
 लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्य ॥ २६ ॥
- अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्यां दिशः पातु वाहुच्युतां पृथिवी धामिन्नोपरि ।
 लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्य ॥ २७ ॥
- सोमो मा विश्वेदेवैरुदीच्या दिशः पातु वाहुच्युतां पृथिवी धामिन्नोपरि ।
 लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्य ॥ २८ ॥
- धृता ई त्वा घुरुणो धारयाता ऊषं भानुं संजिता धामिन्नोपरि ।
 लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्य ॥ २९ ॥
- प्राच्यां त्वा दिशि पूरा संमृतः स्नुघायामा दधामि वाहुच्युतां पृथिवी धामिन्नोपरि ।
 लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्य ॥ ३० ॥ (१५)

अर्थ— (मरुत्वान् इन्द्र) मरुतोवाला इन्द्र [मा] मेरी (प्राच्या दिशः) पूर्व दिशासे कर्पाद पूर्व दिशासे कानेवाली आपत्तिघोसे (पातु) रक्षा करे । (वाहुच्युता पृथिवी) वाहुओसे हो गई अथवा वाहुओमें प्राप्त हुई कर्पाद हाथोसे धी-गई वा हाथोसे लो गई पृथिवी (हव) जिम प्रकार से ' उपरि) ऊपर (घा) घुबो रखा काती है । (लोककृत) लोकके बनानेवालों तथा (पथिकृत) मार्गोको बनानेवालों की हम (यजामहे) पूजा करते हैं (ये) जो कि तुम [इह] यहाँपर [देवानां] देवों के सोचने (हुतभागा) जिनके लिए कि भाग दिया गया है उसे (स्य) हो ॥ २५ ॥

(घाता) सबका धारण करनेवाला (दक्षिणाया दिशः) दक्षिण दिशाकी (निर्ऋत्याः) निर्ऋति से कर्पाद कष्ट आपत्तिघोसे (मा पातु) मेरी रक्षा करे । दोष पूर्ववत् ॥ २६ ॥

(अदिति) अखण्डनीय शक्ति, अदीन शक्ति (मादित्यैः) मादित्यों द्वारा (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशासे कानेवाली विपत्तिघोसे (मा पातु) मेरी रक्षा करे । दोष पूर्ववत् ॥ २७ ॥

(सोमो) सोम (विद्वैः देवै) सब देवोंके साथ (उदीच्या दिशः) उत्तर दिशासे कानेवाली आपत्तिघोसे (मा पातु) मेरी रक्षा करे । दोष पूर्ववत् ॥ २८ ॥

मावर्ष्यं-समाप्तं भर भरके हमें नाना प्रकार के उपदेश देते हैं । देवताग हमारे लिए क्या करते हैं उसका यहाँ पर दिग्दर्शन कराया गया है ॥ २२ ॥

देवोंके कल्याण होनेका कर्म रहस्य जानकर उन्नतके अनुसार शुभ कर्म करना चाहिये ॥ २३ ॥

आदि के लिए कर्म करने से ही हम श्रेष्ठ कर्मवाले हो सकते हैं व तभी हमारे लिए तथा आदि प्रदायमान पदार्थ^१ प्राप्त नियम में स्थित होकर प्रकाशित होते रहते हैं । देवोंके रक्षित पदार्थ भी उद्यो हालतमें हमारे लिए कल्याणकारी होते हैं । हमें चाहिये कि हम निरवप्रति स्तुति स्वाध्याय आदि प्रभूत मात्राओं करते रहें ॥ २४ ॥

मरुतो ये तुक् इन्द्र मेरी पूर्व दिशासे कानेवाली आपत्तिघोसा निवारण करके रक्षा करें जिस प्रकारसे कि पृथिवी पु की । उमारे जिये लोहो व मार्गोके बनानेवाले देवजनों की हम पूजा करते हैं व हाविदान करते हैं जो कि देवजन इष्ट संस्कारमें विद्यमान हैं ॥ २५ ॥

सब स्थानोंमें हमारी रक्षा होवे और हमें श्रेष्ठ मार्ग प्राप्त होवे ॥ २६-२५ ॥

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी धामिन्वोपरि ।	
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ	॥ ३१ ॥
प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी धामिन्वोपरि ।	
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ	॥ ३२ ॥
उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी धामिन्वोपरि ।	
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ	॥ ३३ ॥
ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी धामिन्वोपरि ।	
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ	॥ ३४ ॥
ऊर्ष्यायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी धामिन्वोपरि ।	
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ	॥ ३५ ॥
घूर्तासि ध्रुणोऽसि वंसगोऽसि	॥ ३६ ॥
उदपूर्सि मधुपूर्सि वातपूर्सि	॥ ३७ ॥

अर्थ- (६) निश्चयसे (यरुणः घर्ता) सबसे धारण किया जानेवाला धारक (एवा) तुझे (ऊर्ष्वे धारयाते) ऊंचा धारण करे । [सविता] सूर्य (मानुं वा इव उपरि) प्रकाशमान तुको जिस प्रकारसे कि ऊपर धारण किये हुए है । दोष पूर्ववत् ॥ ३९ ॥

[पुरा संवृतः] शरीरसे बका हुआ अर्थात् सशरीर में अथवा सर्व प्रकारकी पूर्वसे परिपूर्ण में [प्राच्यां दिशि] पूर्व दिशामें [स्वधायाम्] स्वधामें [एवा] तुझे (आदधामि) रखता हूँ—स्थापित करता हूँ । किस प्रकारसे । जिस प्रकारसे कि बाहुच्युत पृथिवी ऊपर पु लोकको स्थापित करती है । दोष पूर्ववत् ॥ ३० ॥

[दक्षिणायां दिशि] दक्षिण दिशामें... इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३१ ॥

[मदीच्यां दिशि] पश्चिम दिशामें... इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३२ ॥

[उदीच्यां दिशि] उत्तर दिशामें... इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

[ध्रुवायां दिशि] स्थिरनीचकी दिशामें... इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३४ ॥

[ऊर्ष्यायां दिशि] ऊपरकी दिशामें... इत्यादि पूर्ववत् ॥ ३५ ॥

हे परमात्मन् । तू [घर्ता असि] सबका धारण करनेवाला है । तू [यरुणः] सबसे धारण किया जानेवाला है ।

तू [वंसगः] संभजनिय पदार्थोंका मास करनेवाला है । ॥ ३६ ॥

तू [उदपूः असि] सूर्य संसारकी जल पट्टुचानेवाला है । तू [मधुपूः असि] माधुर्षुगणोपेत रसोंका पट्टुचानेवाला है व तू [वातपूः असि] सबको प्राणवायु पट्टुचानेवाला है ॥ ३७ ॥

भावार्थ- परमेश्वर सबका आधार है ॥ ३६ ॥

हे परमात्मा तू ही सबको जल, मधुर रस तथा प्राणवायु, जिसके बिना संसार की स्थिति कठिन है, देता है ॥ ३७ ॥

६ (अ. सु. मा. कां १८)

इत्तश्च मासुर्तश्चावतां यमे इव यतमाने यद्वैतम् ।

प्र वां भरन् मानुषा देव्यन्तो आ सीदतां स्वमुं लोकं विदानि

॥ ३८ ॥

स्वासस्थे भवतुमिन्देवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्वं नमोभिः ।

वि श्लोकं एति पृथ्व्येऽसि सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतांस एतत्

॥ ३९ ॥

श्रीणि पदानि रूपो अन्वरोहश्चतुष्पदीमन्वैतद् व्रतेन ।

अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नामां वभि सं पुनाति

॥ ४० ॥ (१६)

अर्थ— [एव] क्योंकि हे हविर्धाने । तुम दोनों [यमे इव] युगलौघ्य संतान की तरह [यतमाने] संसार-पोषण करनेके लिए साथ साथ प्रयास करनेवाले होकर [ऐतम्] विधान करते हो, इसलिये (मां) मेरी [इत्तश्च अमृतम्] इस लोकसे व परलोकसे अर्थात् इन दोनों लोकोंमें जानेवाली विपत्तियोंसे [अवतां] रक्षा करो । [मानुषा.] मनुष्यगण (देवयन्त) देव बनने की इच्छना करते हुए (वां) तुम दोनोंका प्रमत्त, अच्छी प्रकारसे भरण पोषण करो । तुम दोनों [एव लोक विदानि] अपने स्थानको जानते हुए [आसीदतां] उस स्थानपर बैठो ॥ ३८ ॥

हे हविर्धाने ! (२ : इन्द्रे) हमारी पृथ्व्यवृद्धि के लिए तुम दोनों (स्वास्थे) सुखासन—उत्तमान पर बैठने—वाले [भवतुम्] होओ । मैं [नमोभि] नमस्कारके साथ (वां) तुम दोनोंके [पूर्वं ब्रह्म युजे] पुरातन स्तोत्रकी करता हूँ । अर्थात् नमस्कारपूर्वक मैं वेदमंत्रोंसे तुम्हारी स्तुति करता हूँ । [श्लोकः] यह किया हुआ स्तुतिसमूह (वि एति) तुम दोनोंको विशेष रूपसे प्राप्त होता है । इसको दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं कि [पृथ्या मृति इव] जिस प्रकारसे कि उत्तम धर्ममार्गसे विद्वान् दृष्टेष्ट पदार्थको प्राप्त होता है उसी प्रकारसे यह हमसे की गई स्तुति तुमको प्राप्त होती है । [एतत्] इस हमारे द्वारा किए गए उपरोक्त स्तोत्रको (विश्वे अमृतांसः) सर्वे अमृत लोक (चतुष्पदी) सुनें ॥ ३९ ॥

[रूप] रूप [श्रीणि पदानि अन्वरोह] तीन स्थानोंपर चढ़ता है क्योंकि [व्रतेन] अपने ब्रह्मादि कर्मद्वारा [चतुष्पदी अनु ऐतत्] चतुष्पदीका अनुसरण करता है । और [अक्षरेण] अपने अक्षय कर्मद्वारा (अर्कं प्रति मिमीते) सूर्यके सरस प्रकाशमान अपने को बनाता है । अथवा अपने अविनश्वर कर्मद्वारा पूजनीय बनता है । उसकी कीर्ति प्रलय तक बनी रहती है । यह अपने आपको [कृतस्य नामो] उसके मन्त्रमें अथवा सत्य नियमों के बीचमें [प्रति सपुनाति] चारों ओरसे अच्छीप्रकार शुद्ध करता है ॥ ४० ॥

भावार्थ—मेरी दोनों लोकोंमें जानेवाले विधियोंसे रक्षा हो । क्योंकि दोनों हवि श्रेणी कार्यके लिए इधर उधर विचारण करते रहते हैं । तुम्हारा भरणपोषण हम करते रहें व तुम दोनों अपने कर्तव्यके ध्यानमें रकते हुए कार्य करते रहो ॥ ऋ० १-११३२ ॥ ३८ ॥

हे हविर्धाने ! तुम दोनों हमें ऐश्वर्य दिलानेवाले होओ । मैं उसके बदलने तुम्हारी वेदमंत्रोंसे स्तुति करूँ । मेरी स्तुति तुमको ऐसे पहुँचे जैसे कि विद्वान् सम्मार्गसे अपने अभिलषित स्थानको पहुँचता है । अर्थात् जिस प्रकार विद्वान् सम्मार्गसे ऽ वश्य ही वांछित फल प्राप्त करता है उसी प्रकार यह स्तुति भी तुम्हें अवश्यमेव प्राप्त होती है । मेरी इस स्तुतिको सर्वे अमृत-गण सुनें अर्थात् वे भी स्तुति के लिए साक्षीभूत होंगे ॥ ३९ ॥

यज्ञ करके वा सत्य नियमोंसे अनुसार आचरण करके वह मनुष्य अपने आपको शुद्ध करता है ॥ ऋ० १-११३३ ॥ ४० ॥

देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
 बृहस्पतिर्यज्ञमवलुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वमा रिरेच ॥ ४१ ॥
 त्वमंग ईदितो जातवेदोऽवाद्बृहव्यानिं सुरभीणिं कृत्वा ।
 प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अशुभ्नाद्धि त्वं देव प्रयता हवीषिं ॥ ४२ ॥
 आसीनासो अरुणीनामपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्थाय ।
 पुत्रेभ्यः पितरस्त्वस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ४३ ॥
 अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदाःसदः सदत सुप्रणीतयः ।
 अचो हवीषि प्रयतानि चाहिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ॥ ४४ ॥

अर्थ- (देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं न आवृणीत) देवोंमेंसे कौन मरता न या । अर्थात् देव भी सब मरते थे । तब (बृहस्पतिः ऋषिः यज्ञं अवलुत) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए [अमृतं आवृणीत] अमरता को प्राप्त किया, पर [प्रजायै] प्रजाके लिए [किं अपि अमृतं] कोई भी अमरता न प्राप्त की, अतएव [यमः] प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे [प्रियां तन्वमा] उनकी प्यारी देह [आरिरेच] छीन लेता है अर्थात् प्रजाकी मृत्यु होती है ॥ ४१ ॥

दे (आत्वेदः अग्ने) आत्वेदस् अग्नि । (ईदितोः एवं) स्तुति किया गया त् [बृहव्यानिं] हवीषोंको (सुरभीणिं कृत्वा) सुगंधित बनाकर (अवाद्) बन् कर [पितृभ्यः] उन हवीषोंको पितरोंके लिये (प्रादाः) दे । (ते) वे पितर [स्वधया अशुभ्] उन हवीषोंको स्वधाके साथ लावे । (देव) हे प्रकाशमान अग्नि ! [एवं] तू भी [प्रयता हवीषिः] दी गई हवीषोंको [अद्धि] खा ॥ ४२ ॥

[अरुणीनां अपस्थे आसीनासः] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी छाछ ज्वालानोंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरों ? (दाशुषे मर्थाय) दानी मनुष्यके लिए (रयिं धत्त) धनको दो । [तस्य] उस दानीके [पुत्रेभ्यः वस्वः प्रयच्छत] पुत्रोंके लिए धनका दान करो । (ते) वे तुम (इह) यहांपर उस दानी व दानीके एत्रोंके लिए (उर्जं) अशुभसे (दधात) पुष्ट करो ॥ ४३ ॥

हे [सुप्रणीतयः] उत्तम प्रकारसे के जानेवाले (अग्निष्वात्ताः पितरः) अग्निष्वात्त पितरों । [इह] यज्ञमें [अप्यच्छत] आओ [सदाः सदः सदत] धरधरमें स्थित होओ । [अचो] और । अहिषि प्रयतानि हवीषि अत्त] यज्ञमें दी गई हवीषोंको आओ । और हमें (सर्ववीरं रयिं दधातन) सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन देकर पुष्ट करो ॥ ४४ ॥

भावार्थ- देव अमर हैं और मनुष्य मरते हैं ॥ ४१ ॥

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिये हवीषी सुगंधित बनाकर ले जाती है । और पितरोंको ल जाकर देती है ताकि वे खावें ॥ ४२ ॥

हे पितरों ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अशुभका दान करके उन्हें पुष्ट करो । यज्ञवेद (१५। ६३) ॥ ४३ ॥

हे अग्निष्वात्त पितरों ! धर धरमें आओ । यज्ञमें तुम्हारे चंद्रवसे दी गई हवीषोंको आओ तथा उसके बदलेमें वारं वारं अति बड़ा प्रदान करो ॥ ४४ ॥

उपहृता नः पितरः सोम्यासौ बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ।

॥ ४५ ॥

त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वर्धिषु भ्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अन्वृद्धिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।

॥ ४६ ॥

तेभिर्धमः सराणो हवीष्युशुशुङ्गः प्रतिक्राममत्तु

ये तातृपुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमंतप्रासो अकंः ।

॥ ४७ ॥

आग्नें याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कृषिभिर्ऋषिभिर्धर्ममाद्रिः

चे सत्यासौ हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण ।

॥ ४८ ॥

आग्नें याहि सुविदत्रेभिर्वाहू परैः पूर्वर्ऋषिभिर्धर्मसाद्रिः

अर्थ- [ते] वे [सोम्यास] सोमसंपादन करनेवाले [पितरः] पितर (प्रियेषु बर्हिष्येषु) पीठिकारक यज्ञसंरक्षी निधिषो में [उपहृता] घुलाए गए हैं । [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [आपनन्तु] आव । (ते अधिभ्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनासे ध्यान देकर सुने, [अधिभ्रुवन्तु] हमें उपदेश करें तथा (एवन्तु ते भ्रुवन्तु) हमारी वे रक्षा करें ॥ ४५ ॥

(ये) जिन [नः] हमारे [पूर्वं सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः] पुरातन सोमसंपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् यज्ञम घनवाले पितरोंने (सोमपीथ) सोमपानको यज्ञमें [अन्तु आहिरे] प्राप्त किया था, [तेषां] उन [उपाद्रिः] यज्ञके साथ सोमपान करने का हवि खानेकी कामना करते हुए वासिष्ठ पितरोंके साथ [उपाद्रः] पितरोंके साथ सोमपान करने का हवि खानेकी कामना करता हुआ, [संराणो] पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ [धमः] धर्म (हवीषि) हविषोंको [प्रतिक्राम] इच्छानुसार [अत्तु] खावे ॥ ४६ ॥

[देवत्रा जेहमानाः] देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए [होत्राविदः] यज्ञोंके जाननेवाले [स्तोमंतप्रासः] श्लोमोंके खानेवाले [ये] जो पितर [अकंः] अर्चनीय स्तोत्रोंसे (तातृपुः) इस संसारसागरसे सर्वथा तर गए हैं ऐसे [सहस्रं देववन्दैः] हजारों आ देवोंसे स्तुति किए गए [सत्यैः कृषिभिः ऋषिभिः] सत्यवचनी, ऋषिदक्षी तथा ज्ञानी व [धर्मसाद्रिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अग्ने] हे अग्नि ! तू [आपादि] यज्ञमें आ ॥ ४७ ॥

[ये] जो पितर [सत्यासः] सत्यवचनी, [हविरदः] हविके खानेवाले, [हविष्पाः] हविकी रक्षा करनेवाले तथा [तुरेण इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः] वेगवान् इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आरूढ होते हैं ऐसे [सुविदत्रेभिः] उत्तम धनवाले अथवा बहुधाणकारी विद्यावाले [पूर्व परैः] पुरातन व अर्वाचीन [कृषिभिः] ज्ञानी [धर्मसाद्रिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अवाहू] हमारे प्रति [अग्ने] अग्नि ! तू [आपादि] आ ॥ ४८ ॥

भाषार्थ- वाशिक कर्तव्य पितर हमारे घुलाए जनिपर आये । आकर हमें उपदेश दें, हमारे प्रार्थनासे सुने तथा हमारी रक्षा करें ॥ ४५ ॥

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हवियोंको खाए । हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्वत मात्रामें हवि देनी चाहिए ॥ ४६ ॥

देवत्वको प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें घुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं ॥ ४७ ॥

देवोंके साथ समान रथारूढ अर्थात् देवोंके साथ एक ही रथपर विचरण करनेवाले पितरोंको यज्ञमें हे अग्नि ! तू ले आ । अग्नि पितरोंको यज्ञमें ले आती है ऐसा इस मंत्रसे जान पड़ता है ॥ ४८ ॥

यसमुद्रमनुभितं तत् सिपासति सूर्यः ॥ १४ ॥

अ० १३।२

“शुद्धि करनेवाले नियमोंसे चलनेवाले मानकोंका निरीक्षण करनेवाले सूर्यके तेजस्वी किरण उदयको प्राप्त होनेके पश्चात् बहुतही चमकते हैं ॥ जो अपने तेजस्वी किरणोंद्वारा सब दिशाओंको प्रकाशित करता है, उस सूर्यदेवकी प्रशंसा हम करते हैं, उसके गुण गाते हैं ॥ ऋते प्रभाषयायी सात किरण तेजस्वी ज्ञानी सूर्यदेवको उठाकर ले जाते हैं ॥ द्युलोक, भूलोक तथा अधो-राजको निर्माण करके, हे सूर्य ! तू जाता है ॥ जिससे दोनों धीमाओं तक तू जाता है, उस चलनेवाले रथके लिये स्वस्तित हो ! बड़ी सात किरणें किंवा गतिमान् सौ किरणें तुमको चला रहीं हैं ॥ हे सूर्य ! तू ऐसे सुखदायी गतिमान् उत्तम रथपर चढ़ ॥ सूर्यने सुवर्णके समान चमकनेवाले तेजस्वी किरण वेगके लिये अपने रथको जोते हैं । उदय होनेपर तू किरणोंको फैलाता है और सब रूपोंको प्रकाशित करता है ॥ मंहिनेका विनाश करनेके लिये तुझे द्युलोकमें रखा है । जो समुद्रके व्याघ्रपक्षे रहता है, वह सूर्य प्राप्त करना चाहता है ॥”

यहाँतकके सब मंत्र प्रायः सूर्यपरक ही हैं । जो मंत्र यहाँ आधूरे दिये हैं, उनके वैष माग पाठक पूर्वस्वल्पमें देखें और उनके अर्थका मनन करें । इससे यहाँतकके सब मंत्र सूर्यके गुणगान करनेवाले हैं, ऐसा स्पष्ट हो जायगा । इसके (१६ से २४ तक) आगेके ९ मंत्र ऋग्वेदमें मंडल १।५० में आये हैं और वहाँ भी इनको सूर्यदेवताही है । अतः ये सूर्यका गुणवर्णन कर रहे हैं, इसमें कोई छेदेहही नहीं । इनमेंसे कुछ मंत्र यजुर्वेद और अथर्ववेदमें भी इसरे स्थान पर आये हैं और सर्वत्र सूर्यदेवताकेही मंत्र हैं । इस कारण इनके संबंधका अधिक विचार करनेकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है । इसके आगेके मंत्रोंमें सूर्यविषयक मंत्र देखिये—

अतन्द्रो यास्यन्हरितो यदास्याद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः ।

केतुमानुषान्सहमानो रजसि बिधा आदित्य प्रथतो विमासि ॥ २८ ॥

बणमहो ऋसि सूर्य बहादित्य महा ऋसि ।

महास्ते महतो महिमा स्वमादित्य महा ऋसि ॥ २९ ॥

रोचसे त्रिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतंग प्रापिष्वा रोचसे रोचसे अस्वस्तः ॥ ३० ॥

अहोरात्रे परि सूर्य यमाने० ॥ ३२ ॥

धित्रं देवानां केतुरनीकं उषोतम्भान् प्रदिशः सूर्य उषान् ।

दिवा करोति द्युयनेस्तमासि बिधा वारीद् दुरितानि शुक्रः ॥ ३४ ॥

सूर्य आत्मा जगत्तल्लक्षुष ॥ ३५ ॥

उच्चापतन्वमरणं सुपर्णं मध्ये त्रिबस्तरणि आजमानम् ।

पद्माम खा सवित्रारं यमाह्वजलं ज्योतिर्मन्दिन्द्राग्निः ॥ ३६ ॥

स नः सूर्यं प्रतिर दीर्घमायुः ॥ ३७ ॥

रोहितः काको अमचरोत्तितोऽग्ने प्रजापतिः ॥ ३९ ॥

रोदितो रमिभिर्मूर्तिं समुद्रमनु सं चरेत् ॥ ४१ ॥

सूर्यं यमं रजसि शिषन्तं गातुविद्ं हवामहे नावमानाः ॥ ४३ ॥ अ० १३।२

“कमी आत्मस्य न करनेवाला यह सूर्यदेव अपने किरणरूप अधोपर आरुह होकर जाता है और इस जगत्में छाया और प्रकाशमय हो रूप बनाता है । किरणोंसे युक्त होनेवाला यह विजयी सूर्य उच्च स्थानसे चमकता है ॥ सूर्य सबसे बड़ा है, सूर्यका महिमा बहुत ही बड़ा है ॥ सूर्य द्युलोकमें, अन्तरिक्षलोकमें, पृथ्वीमें, समुद्रमें प्रकाशता है ॥ सूर्यके ऊपर दिन और रात्रि अल्प-लंबित है ॥ देवोंका संधा जैसा अत्यंत प्रकाशमान यह सूर्य अंधकारको हटाता है और सर्वत्र प्रकाश फैलाता है ॥ यह सूर्यही रथपर अंगम पदायोंका जीवन है ॥ आकाशमें उच्चसे उच्च स्थानसे गमन करनेवाले पक्षीके समान आकाशमें तैरनेवाले इसी

तेजस्वी सूर्यका प्रकाश हम सर्वत्र देखते हैं ॥ यह सूर्य हमें दीर्घ आयु देता है ॥ सूर्यही समय है और सूर्यही प्रजाका पति है । इस सूर्य देवने अपने विरगोषे भूमि और ससुद्रको प्रकाशित किया है ॥ सूर्य हमारा मार्गदर्शक है, हम उसीके गुणगान करने हैं ॥”

ये सब मंत्र स्पष्टतया सूर्यके वर्णनपरक हैं । यदि यह निश्चय हो जावे कि इनमें सूर्यका वर्णन है, तो इनके बीचके मंत्रोंमें सूर्यस्तुतिही है, इसमें कोई संदेहही नहीं हो सकता । अब तृतीय सूक्तमेंसे कुछ मंत्र लेविये-

वृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो यताना दिवमुपतन्ति ।

त आववृत्रन्मदनादतस्य ॥ १ ॥

यत्तं चन्द्र इदमप रोचनावयसंहितं पुष्कलं चित्रमातु । आसीत्सूर्या अपिषाः साकं ॥ १० ॥

स सविता भूरवान्तरिक्षेण याति स हृद्रो भूवा तपति मरुतो दिवम् ॥ १३ ॥

शुकं वहन्ति हरयो रपुष्यदो देवं दिवि वचसा भ्राजमानम् ।

वस्योर्वा दिवं तन्वस्तपन्त्यर्वात् सुपणे । पृथिवीं भाति ॥ १६ ॥

सप्त युजन्ति रयमेकचक्रमेदो अघो वहति सप्त नामा ॥ १८ ॥

वृष्णायाः पुषे अर्जुनः रावदाः वस्योऽजायत ।

सह चामग्नि रोहति ॥२६॥ अ० १३।३

“जलका धरण करनेवाले सूर्यकिरण नीलवर्णवले आकाशकी दिशासे ऊपर जाते हैं, वे जलके अर्थात् मेघोंके स्थानको पहुँचने हैं ॥ वे सूर्य । जो आनन्द देनेवाला चन्द्रप्रकाश है, उसमें सूर्यके सात किरण ही समर्पित हुए हैं (अर्थात् सूर्यके किरण चन्द्रमें जाकर वहासे जो प्रकाश हमें प्राप्त होता है, वह चन्द्रमा कहकर प्रसिद्ध है ॥) वही सूर्य जब अन्तरिक्षमें होता है, तब उसको सविता कहते हैं और जब मरुवाहमें तपता है, उस समय उसको इन्द्र कहा जाता है (अर्थात् ८ ब्रह्मेण १०। ब्रजतकके सूर्यका नाम 'सविता' है और ११ षे १ ब्रजतकके सूर्यका नाम 'इन्द्र' है ॥) सूर्यकी पवित्र देवका प्रकाश आकाशमें फैला है, जिनके किरण एक ओर द्युलोककी प्रकाशित करते हैं और दूसरी ओर भूमिजमी और वही विविध प्रकाश के साथ चमकता है । सूर्यके रयको सात अश्व जोते हैं (अर्थात् सात किरण हैं) ॥ वृष्णा नामक काले रंगवाली रात्रिका पुत्रही यह प्रकाशमान सूर्य है, वह द्युलोकपर चढ़ता है ॥”

इस तरह तीनों सूक्तोंमें जो मंत्र हैं वे सब सूर्यका वर्णन कर रहे हैं । इनमें कई मंत्र अर्थात् स्पष्ट हैं, कई अज्ञेयके मिथ्ये सूर्यका वर्णन करते हैं, कई विद्युतके मिथ्ये सूर्यकाही वर्णन करते हैं और कई स्पष्ट रूपसे सूर्यकाही वर्णन करते हैं । पाठक इन मंत्रोंका पढ़ने पर जो पूर्व स्थलमें दिया है, बारंबार देखें, मनन करें और मंत्रोंके आशयों जानें और देखें कि यहाँ सूर्यकी स्तुति किस तरह है ।

इस काण्डकी देवता आदित्य, रोहित और अश्विन है । आदित्य और रोहित ये नाम सूर्यके हैं । रोहित नाम अग्निका भी है, परंतु अग्नि परंपरया सूर्यका भी हानेध सूर्यके साथ संबंधित है । अश्विन पक्षमें यही सूक्त आश्विनके पक्षमें देवता चाहिये । इसका तात्पर्य व्यक्तिगत आत्मके विषयमें विचार करनेपर : व्यक्ति भी सूर्यका ही अंश है इसलिये जो प्राकृतिक अंश सूर्यमें है और ब्रह्मा अथवा सूर्यमें है वह अंशरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें आया है, क्योंकि इस सूर्यमालामें जो अणुएणु है वह सूर्यकेही आया है इस तरह विचार जो इसके पूर्व बताया ही है, वह ध्यानमें लानेसे व्यक्तिगत सूर्यकी सत्ताका अनुभव प्राप्त होता है यही सूर्यका अत्यात्म-विज्ञान है :

परमात्मा सर्वव्यापक और पूर्ण निराकार है, उसकी उपासना निर्विषयध्यानपद द्वारा होती है । परंतु हरएक मनुष्य प्रारंभमें अन्ततक अमूर्त ब्रह्मकी उपासना यथायोग्य रीतिसे कर सकता है, ऐसी बात नहीं है । उदाहरणके लिये सद्य उपनात्र बालक ब्रह्मचारी ६ या ८ वर्षकी आयुमें अमूर्त ब्रह्मका ध्यानकैसा करे ? इसके लिये यह असंभव है । ध्यानधारणाकी सिद्धिके पश्चात् यह उपासना होना संभव ही सचती है । यह निरालंबोपासना सञ्जातिही अवस्थामें संभवनीय है । तब तक सालंबोपासना करनेकी आवश्यकता रहती है, उसमें आश्रीतशक्ति आश्रिते बढता हुआ और सुषोपस्थान करता हुआ उपासक अपनी प्रगति कर सकता है । यह सालंब उपासना इस काण्डके इन सब सूक्तोंमें बताई है और इस उपासनाके लिये 'सूर्य' का निर्देश यहाँ किया है ।

निरुक्तादि ग्रंथोंमें जहां देवताओंका निरूपण किया है, वहां भी सब वेदके देवताओंके नाम सूर्यपर घटानेका ही यत्न किया है । और देवशारु असुरोंके नाम मेघोंपर घटानेका यत्न किया है । यदि वह प्रकार पाठक सूक्ष्म विचार के साथ यहां अनुसंधान करके देखेंगे, तो उनके वही बात यहां दीख सकती है ।

इस सूक्तमें भी सूर्यके नाम जो गिनाये हैं, उनमें रद्र, इन्द्र, चन्द्र, महेंद्र, मविता, आदित्य, धाता, विधाता, विधाता, पतंग, अर्धमा, वरुण, यम, महायम, देव, महादेव, एक, एकद्वार, रोहित, सुपर्ण, अरुण इत्यादि नाम गिनाये हैं । अर्थात् इन नामोंके अनेक देवताओंके सूक्तोंमें एक ही सूर्यदेवका वर्णन होता है, यह बात इस रीतिसे स्पष्ट हो जाती है । सब अन्य देव एक ही सूर्यमें मिल जाते हैं इस तरहके वर्णनसे अनेक देवोंका भेदभाव सूर्यमें नष्ट होता है यह स्पष्ट है, अर्थात् अनेक देवताओंके मंत्रोंमें वेदमें सूर्यका ही वर्णन है और वह उपासना के लिये ही है ।

पुराणोंमें भी सूर्यपर ही 'विष्णु' का रूपक करके अनेक अवतारोंका वर्णन और अनेक त्रयाओंके प्रसंग वर्णन किये हैं । श्री-मद्भागवतमें भी प्रातःकालके सूर्यका नाम ब्रह्मा, मध्याह्नके सूर्यका नाम विष्णु और रात्रिके समयके सूर्यका नाम शिव ब्रह्मकर त्रिमूर्तिके सूर्यमें ही बताया है । इस तरह सूर्यके रूपकपर ही ब्रह्मा विष्णु शिवकी अनंत कथाएं कल्पित हैं, यह बात यहां स्पष्ट हो गयी है । ब्रह्मा की पुत्री सावित्री, विष्णुकी पत्नी लक्ष्मी और शिवकी पत्नी काली यह सब इस तरह सूर्यपर ही रूपक है । इसका संपूर्ण विवेचन करनेसे सहस्रों पृष्ठोंका महाग्रंथ बनेगा, वैसा यहां बनाने का विचार नहीं है और वैसी यहां आवश्यकता भी नहीं है । यहां जितना दिग्दर्शन किया है उतना इस वैदिक विषयके ज्ञानके लिये पर्याप्त है । वेदके अन्यान्य वर्णन जैसे सूर्यपर घटते हैं वैशेष द्वैपायन ग्रंथकी कथाएं और इतिहास पुराणकी कथाएं भी सूर्यपर रूपकालंकार से रचित हैं यहां बात यहां संक्षेपसे बताना है । इसका अर्थ कोई यह न समझे कि प्रत्येक पंक्ति सूर्यपरक है । परंतु इतनाही समझे कि मुख्य कथाप्रसंग सूर्यपर अलंकार मानकर रचा गया था । उपपदोंमें विविध संचार हुए ही होंगे । इस तरह सब ग्रंथोंके वर्णन मुख्यतया सूर्यपरक है । इतना कहनेसे सबकी उपास्य देवता सूर्य है यह बात सूचित होती है । इसका विस्तारपूर्वक वर्णन किसी स्वतंत्र ग्रंथ में करेंगे इतनाही यहां बताना इस काण्डका विवेचन यहां समाप्त करते हैं ॥

बोध वाक्य ।

इस काण्डमें कई वाक्य अन्यान्य रीतिसे विशेष उपदेश देते हैं, उनका विचार अब संक्षेपसे करेंगे-

प्रथम सूक्त ।

- १ उदेहि वाजिन् (१) = हे बलवान् ! अभ्युदयको प्राप्त हो । अपना अभ्युदय करो, कदापि अवनत न हो ।
- २ इदं राष्ट्रं प्रविश सनुनावद्व = इस सल्लयिष्ठ राष्ट्रमें आवेश उत्पन्न कर, इस प्रिय राष्ट्रमें प्रविष्ट होकर कार्य कर ।
- ३ स रवा राष्ट्राय सुभृतं विभर्तु = वह तुझे अपने राष्ट्रकी उन्नतिके हेतु उत्तम भरणपोषणके साधनोंसे युक्त करे । तू अपने राष्ट्रमें राष्ट्रिय उन्नतिके लिये उत्तम भरणपोषणके साधनोंसे युक्त होकर विराजमान हो ।
- ४ उद्गात्र भागन् (२) = अपना बल उन्नतिके लिये प्रकट कर, उन्नतिके ही कार्यमें अपना सामर्थ्य लगा दो ।
- ५ विश भारोह रथोवनयो याः = प्रजाजनोंमें उन्नत हो, जिनमें तुम्हारी उत्पत्ति है । तू अपनी जातिमें उन्नत हो, उन्नत स्थान प्राप्त कर ।
- ६ अप बोधघोमाश्रतुषदो द्विपद् आवेशयेह = जलस्थानों, औषधियोंके उद्यानों, गाँवों, चतुष्पादों और द्विपादोंकी वहां अपने देशमें उत्तम रीतिसे रहने दो । ये रहे और उन्नत होवें ।
- ७ यूयमुद्राः पृथ्निमातरः (३) = तुम बड़े उग्रवीर भूमिके माता माननेवाले हो । शूरवीर सब अपने मातृभूमिको संरक्षक करें ।
- ८ प्रमणीत धारून् = शरदोंका नाश करो ।
- ९ रहो शरोह (४) = बटनेवाले बटें । जो उन्नति प्राप्त करना चाहते हैं, वे न रुकें उनके मार्गमें रुकावट घेन हो ।

१० गातुं प्रपद्यसिह राष्ट्रमाहाः = उन्नतिके मार्गको देखता हुआ तू यहाँ राष्ट्रको उन्नति के मार्गपर रख ।

११ आ ते राष्ट्रमिह रोहिणोऽऽहार्षिक् (५) = तेरे राष्ट्रको इस (परिस्थितिमें) उधो बीरने लाया है, उधोका सम्मान करना तुझे योग्य है ।

१२ क्यास्थन्मूधो अभयं ते भभूत् = उधने शत्रु दूर भया दिये और तेरे लिए भिर्भयता काँ है ।

१३ से ते राष्ट्रमनक्तु पयसा धृतेन (८) = तेरे राष्ट्रमें दूध और धी भरपूर हो, ये पौष्टिक पदार्थ विपुलतामें प्राप्त हों ।

१४ ब्रह्मणा पयसा वाकृभानो विधि राष्ट्रं जागृदि (९) = ज्ञान और दूध से पुष्ट होता हुआ तू अपने प्रजाजनोंमें और राष्ट्रमें जागता रह, कमी न हो जा । राष्ट्रमें जाग्रत रहकर राष्ट्रको उन्नत करनेका यत्न कर ।

१५ यास्ते विशस्त्वपसः संभभूतुः (१०) = जो प्रजाएं तपके लिये संघटित होती हैं (उनही उन्नति होती है ।)

१६ तारसा विशन्तु मनसा शिवेन = वे प्रजाजन शुभ मनोभावनाके साथ तेरे साथ सत्कार्यमें प्रविष्ट हों, सब मिलकर शुभ कार्य करें ।

१७ विश्वा रूपाणि जनयन्पुत्रा कविः (११) = तदन कवि अनेक काव्य के रूपक बनाता है, अनेक रूपक निर्माण करता है ।

१८ तिमिनाग्निर्ज्यातिषा विमाति = अग्नि तीक्ष्ण प्रकाशके साथ प्रकाशता है ।

१९ नोपोयं च मे वीरपोयं च वेदि (१२) = मेरे गौओंका और वीरोंका पोषण होता रहे ।

२० वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि (१३) = वाणी, कान और मनके साथ हवन करता हूँ, (वाणीसे मंत्रोच्चारण, कानसे मंत्रश्रवण और मनसे मनन करता हुआ हवन करता हूँ ।)

२१ स मा रोहेः सामिष्यै रोहवतु = वह तुझे उन्नतियोंके साथ सम्यतिके लिए उन्नत बनावे ।

२२ तस्मात्तेजोऽयुव मेमान्यागुः (१४) = उस (यज्ञ) से अनेक तेज तुझे प्राप्त हो गये हैं । यज्ञसे विविध तेज प्राप्त होते हैं ।

२३ आ त्वा दरोह रेवता सह (१५) = धीर्यके साथ वह तुझे उन्नत करे, पराक्रम के साथ वह (यज्ञ) तुझे बनावे ।

२४ वाचस्पते पूषीवी नः स्योना योनिस्त्वल्पा नः सुतोवा (१७) = हे वाणीके पति ! प्रृष्वी हमारे लिए कल्याण करनेवाली होवे, पर हमारे लिए सुखदायक होवे, विछोने हम सबके लिए कल्याणकारी होवें ।

२५ इद्वैव प्राणः सख्ये नो अस्तु = यहाँ ही प्राण हमारी मित्रतामें रहे, हम दोषायु हों ।

२६ तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्षांसा दधातु = हे परमारमन् ! अग्नि तुझे आयु और तेजके साथ युक्त करे ।

२७ वाचस्पते सौमनसं मन्त्रश गोष्ठे नो गा जनय योनित्तु प्रजाः (१९) = हे वाणीके अधिष्ठाता ! मेरा मन सुविचार युक्त हो, गोशालामें गैंधे हों और हमारे घरमें संतान हो ।

२८ सर्वा अरातीरवकामसेदि (२०) = सब शत्रुओंपर चढाई करता हुआ आगे बढ़, सब शत्रुआका नाश कर और उन्नत हो ।

२९ इदं राष्ट्रमकरः सन्वृतात्त्वं = इस राष्ट्रको संरक्षित तथा आनन्दप्रसन्न बनाओ ।

३० अनुमया रोहिणी सूरिः सुवर्णा वृष्टी सुवर्चाः (२२) = विदुधी उत्तमवर्णवाली तेजस्विनी बढनेवाली अनुकूल को वृष्टिका कारण होती है ।

३१ तथा वाजान् विश्वरूपान् जयेम = वैधी विदुधी अनुकूल स्त्रीके साथ सब प्रकारके अन्न तथा बल प्राप्त करेंगे ।

३२ तथा विश्वाः प्रतना अभिष्याम = उधेसे सब शत्रुवनाओंको परास्त करेंगे ।

३३ तां रक्षन्ति कचयोऽपमादम् (२३) = कविलोग प्रमाद रहित होकर उसकी रक्षा करते हैं ।

३४ अथा हरयः केतुमन्तः सदा वहनपयुता सुखं रथं (२४) = वेगवाले तेजस्वी घोड़े सदा उत्तम सुखदायी रथको उत्तम रीतिसे ले चलते हैं ।

३५ बि मिमीश्व पयस्वतीं घृतावीं धेनुनगरश्लेषा (२७) = दूध और घी देनेवाली गौको विशेष रीतिध तैयार कर, यह दोहनेके समय हलचल न करनेवाली उत्तम गौ है ।

३६ सेमे अस्तु, विमृषो सुदुस्व = सबका कल्याण हो, शत्रु दूर हो जाय ।

३७ अमीशाद् विघ्नाशाद् सगत्याद् हन्तु ये मम (२८) = जो मेरे शत्रु हैं उन सबका नाश विजयी वीर करे ।

३८ हन्त्वेनान्मद्दृष्टवरियो नः पृथग्यति (२९) = जो शत्रु हमपर सेनाके साथ हमला करता है, उसको मारा जाये ।

३९ वर्षं सगत्यान् प्रदहामसि = हम सब शत्रुओंको जलावेगे ।

४० अवाचीनावव जहि अथा सगत्यान्नामकाद् (३०) = हमारे शत्रुओंको नीचे करके दबा दे ।

४१ सगत्याववात्याद्दपस्वास्मद् (३१) = हमारे शत्रुओंको नीचे गिरा दो ।

४२ अस्मद्वयया सजातमुत्पिनानि = हमारे सजातीय शत्रुको व्यथासे युक्त कर, दुःखी कर ।

४३ अघो पयन्तामप्रतिमन्यमानाः (३३) = हमारे शत्रु निष्फलकौघवाले होकर नीचे गिर जाय ।

४४ सगत्याव मे जहि, अवेनामइदना जहि, ते यन्त्रघर्म तमः (३४) = मेरे शत्रुओंका नाश कर, शत्रुओंका पत्थरसे नाश कर, मेरे शत्रु अधिरेमें जावे ।

४५ वसं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मया वर्षयन्ति (३३) = बरखेको ज्ञानवायु वायुहुए भी ज्ञानके साथ बडाते हैं ।

४६ पृथिवीं च रोह, राष्ट्रं च रोह, द्रविणं च रोह, प्रजां च रोह, अमृतं च रोह (३४) पृथ्वी, राष्ट्र, धन, प्रजा और अनरण की वृद्धि कर ।

४७ ये राष्ट्रानः, तैरे राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानाः (३५) = जो राष्ट्रप्रापक वीर हैं, उनके द्वारा मेरे राष्ट्रका उत्तम मनके साथ धारण होवे ।

४८ मूनिमवीद्, त्वदीये सर्वं जायतां यद्मूर्तं यच्च मात्वन् (५७) - उसने मातृभूमिसे कहा कि 'जो हुआ और जो होनेवाला है, वह सब तेरे लिये अर्पण हो जाय ।'

४९ स वज्रः प्रथमो मृतो मृत्यो अत्रायत । तस्माद् वज्र इदं सर्वं यत्किंचेद् विरोधते । (५९) = वह पहिला बना हुआ और बननेवाला यज्ञ हुआ, उससे बना यह सब जो कुछ चमकता है ।

द्वितीय सूक्त ।

५० स्ववान सुवनस्य गोपानं (२) = सुवनके रक्षक की प्रशंसा करते हैं ।

५१ मा त्वा दमन्परिधान्तमामि (५) = मुझमें आनेवाले तुझे शत्रु न दखावे ।

५२ स्वस्ति दुर्गा अति बाहि शीघ्रं = कुशलतापूर्वक शीघ्र कठिन स्थानोंके परे जा ।

५३ रथममुमुन्ते स्पेने सुवन्दिमपि तिष्ठ वामिने (७) = तेजस्वी, सुखदायी, बलवान्, उत्तम चक्रनेवाले सुंदर रथर चड ।

५४ अवावृषित्री जनपन्देव एकः (२६) = एक ही ईश्वरने द्युलोक और मूलोक बनाये हैं ।

५५ अतन्तो वात्स्य (२८) = आलस्य छोड़नेपर ही प्रपति करता है ।

इस तरह अनेक उपदेशपर वाच्य इस काण्डमें हैं, जो मुख्य देवताका वर्णन करते हुए अन्यान्य गोच पाठयोंकी देते हैं । पाठक इस रीतिसे इस काण्डका अभ्यसन करें ।

अथर्ववेद ।

त्रयोदश काण्डकी विषयसूची ।

विषय	पृष्ठ
१ राष्ट्रोद्धारक ।	१
२ ऋषि, देवता और छन्द ।	३
३ वह निःसन्देह एक है ।	६
४ त्रयोदश काण्ड । अध्यात्म—प्रकरण । प्रथम सूक्त ।	७
५ " " द्वितीय सूक्त ।	१९
६ " " तृतीय सूक्त ।	२९
७ अथर्ववेद-तेरहवें काण्डका मनन ।	३८
१ रोहित देवता ।	३८
२ " सूर्य ।	"
३ " अग्नि ।	१९
४ तीन अग्नि ।	३९
८ बोध-वाक्य ।	४७

त्रयोदश काण्ड समाप्त ।

ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य ।

चतुर्दशं काण्डम् ।

दम्पती वियुक्त न हो ।

इद्वेव स्तं मा वि यौष्टं विशुमायुर्व्यश्रुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नमृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥

(अथर्व० १४ । १ । २२)

“ हे पर व पथू ! हे विवाहित श्रीपुरुषो ! (इह एव स्तं) तुम दोनों इह गृहस्थाश्रममें रहो
(मा वि यौष्टं) तुम कभी वियुक्त न हुआ करो । [पुत्रैः नमृभिः क्रीडन्तौ] पुत्रों और नाति-
योके साथ खेलते हुए और [मोदमानौ] उनके साथ आनन्द करते हुए [सु-जगतौ] उतम
परदारसे युक्त होकर [बिधं जायुः स्वस्तुतं] पूर्ण आयु तक उपभोग करते रहो ”



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।



चतुर्दश काण्ड ।

यह चतुर्दश काण्ड अथर्ववेदके तृतीय बृहदिभागमें द्वितीय है । इस काण्डमें ' विवाह-संस्कार ' यही एक महत्त्वपूर्ण विषय है । अतः जो पाठक इस काण्डका विशेष मननपूर्वक अध्ययन करेगे, उनको ' वैदिक विवाह-पद्धति ' का यथायोग्य ज्ञान हो सकता है ।

इसमें दो अनुशाक हैं । प्रथमानुशाकमें १३ मंत्रोंका एक सूक्त है और द्वितीयानुशाकमें ७५ मंत्रोंका एक सूक्त है । सब मिलकर १३९ मंत्र इस काण्डमें हैं । ये दोनों सूक्त दशतिविभागसे विभक्त हुए हैं, प्रथम सूक्तमें १० मंत्रोंकी ५ दशतियां हैं और छठी दशति १४ मंत्रोंकी है, इसी तरह द्वितीय सूक्तमें ७ दशतियां दस मंत्रोंकी हैं और आठवी दशति ५ मंत्रोंकी है । परंतु यह दशतिविभाग केवल मंत्रोंकी संख्याके अनुसार है, इसका अर्थके साथ विशेषज्ञा संबंध नहीं है । अब इस काण्डके ऋषि, देवता और छंद देखिये—

ऋषि, देवता और छन्द ।

सूक्त ऋषि मंत्रसंख्या

देवता

छन्द

प्रथमोऽनुशाकः ।

१ सावित्रीसूया	६४ आत्मदैवत्वं (स्वयं)
	१-५ सोम; ६ स्व-
	विवाहः, २३ सो-
	मार्का, २४ ऋत्नमा,
	२५ विवाहमंत्रशियः,
	२५, २७ बधूवास-
	संस्वर्गमोचनं,

अनुष्टुभ्	१४ विराट् प्रस्तारपंक्तिः; १५ गार्गस्तार पंक्तिः
	१९, २०, २३, २४ ३१-३३, ३७, ३९, ४०
	४५, ४७, ४९, ५०, ५३, ५६, ५७, (५८,
	५९, ६१) त्रिष्टुभः (२३, ३१, ४५ बृहत्सो-
	गर्गा त्रि०) २१, ४६, ५४, ६४; जगलः
	(५४, ६४ भुक्ति-त्रिष्टुभौ); २९, ५५ पुरस्ता-
	दृष्टदशो; ३४ प्रस्तारपंक्तिः; ३८ पुरोबृहती
	त्रिपदा पुरोष्णिक्; (४८ पद्यापंक्तिः) ६० परा-
	वृष्टुम्

द्वितीयोऽनुवाकः ।

= सावित्रीस्तुथां ०५

आमदैवत्व (स्वयं)

१० यमनाशनं,
११ देवलोः परिशेषि-
नाशनं; ३६ देवा

अनुष्टुप्, ५, ९, १३, ३१, ३७, ३९, ४० अगलः;
(३७, ३९ मुरिक् द्विष्टुमीः) ९ उदवधाना वृ-
पदा विराहलक्षिः; १३. १४. १७-१९ (३४,
३६, ३८) ४१, ४३, ४९, ६१, ७०, ७४, ७५
त्रिष्टुमः; १५, ५१ मुरिजौ; २० पुरस्ताद्बृहती
१३, २४, ३५, ३२, ३३ पुरोबृहती; (२६
त्रिपदा विराहाम्नाम गायत्रीः) ३३ विराहास्तार
पंकितः; ३५ पुरोबृहती त्रिष्टुप्; ४३ त्रिष्टुभ्यर्मा-
पंकितः; ४४ प्रस्तारपंकितः; (४७ पय्याद्बृहती)
४८ सनः पंकितः; (५० उपरिष्टाद्बृहती)
त्रिष्टुप्;) ५२ विराट्पुरोष्णिक्; ५९, ६०, ६२
पय्यापंकितः; (६८ पुरोष्णिक्ः) ६९ प्रद-
पट्प० अतिरक्षरीः ७३ बृहती ।

इयं सूक्तमे ' अत्मादेवता ' का अर्थ जो श्रेष्ठि है वही देवता है । अर्थात् सावित्रीसूक्तानि अपनेही विवाहका वर्णन, वेंका विवाह हुआ, ऐसा किया है । इस विवाहका स्पर्शाकरण इस कण्डके अन्तमें दिया जावगा । इस अनुष्टुप कण्डके दोनो सूक्त विच हप्रकरण का वर्णन करनेवाले होनेके कारण इन दोनों सूक्तोंका अर्थ करनेके पश्चात् हम इस वैदिक विवाहका स्पर्शाकरण करेंगे । प्रथम पाठक इन दोनों सूक्तोंका अर्थ देखे—

ॐ

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

चतुर्दशं काण्डम् ।

विवाह—प्रकरण ।

(१)

सत्येनोत्तमिता भूमिः सूर्येणोत्तमिता द्यौः । ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अग्निं श्रितः ॥ १ ॥
सोमेनादित्या बालिनः सोमेन पृथिवी मही । अथो नक्षत्राणामेपामुपस्थे सोम आहितः ॥ २ ॥

अर्थ—(सत्येन भूमिः उत्तमिता) सत्येन भूमिको उठाया है । और (सूर्येण द्यौः उत्तमिता) सूर्येण दुलोक उठाया है । (ऋतेन आदित्याः तिष्ठन्ति) ऋतेन आदित्य रदते हैं । और (सोमः दिवि अग्निं श्रितः) सोम दुलोकमें आश्रित हुआ है ॥ १ ॥

(सोमेन आदित्याः बालिनः) सोमसे आदित्य बलवान् हुए हैं । तथा (सोमेन पृथिवी मही) सोमसेही पृथ्वी बड़ी हुई है । (अथो एषां नक्षत्राणां उपस्थे) और इन नक्षत्रोंके पास (सोमः आहितः) सोम रखा है ॥ २ ॥

भावार्थ— सत्यसे मातृभूमिका उदार किया जाता है, सूर्यके प्रकाशसे आकाश तेजस्वी होता है, सारलता के कारण आदित्य अपने स्थानमें स्थिर रहते हैं और सोम दुलोक के प्रकाशमें आश्रय लेकर रहा है । (इसी प्रकार ये बधुवर सत्य, सूर्यप्रकाश, सारलता और दुलोक अथवा स्वर्ग के आधारसे अपना जीवनक्रम चलावें) ॥ १ ॥

सोमसे आदित्यमें बल आया और पृथ्वीका विस्तार हुआ है, और नक्षत्रों में भी सोम ही तेज बटा रहा है । इसी तरह ये बधुवर सोम जादि वनस्पति भक्षण कर अपने बल, महत्त्व और तेज की वृद्धि करें ॥ २ ॥

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संविपन्त्योपांथिम् । सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्यांश्नाति पार्थिवः ॥३॥
 यच्चा सोम प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः। वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मासु आर्कृतिः॥४॥
 आच्छाद्विधानैर्गुणितो वाहेतैः सोम रक्षितः । ग्राव्यामिच्छुष्वान्विष्टसि न तै अश्नाति पार्थिवः॥५॥
 चिचिरा उपबर्हणं चक्षुरा अम्यञ्जनम् । धौर्भूमिः कोश आर्क्ष्यद्यदात्सूर्या पतिम् ॥६॥
 रैम्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योर्चनी । सूर्याया भद्रमिद्रासो गार्थयैति परिष्कृता ॥७॥

अर्थ— (यत् सोमार्थं सविपन्ति) जब सोम नामक जोषधिको पीसते हैं, तब (पपिवान् सोमं मन्यते) सोमपान करनेवाला सोमरस विषा देषा मानता है । (ब्रह्माणः यं सोमं विदुः) ज्ञानी लोग जिसको सोम करके समझते हैं, (तस्य पार्थिवः न अश्नाति) उसका भक्षण कोई पृथ्वीवर रहनेवाला मनुष्य नहीं करता ॥ ३ ॥

हे (सोम) सोम ! (यत् त्वा प्रपिबन्ति) जब तुझे पीते हैं, [ततः पुनः आप्यायसे] उसके पश्चात् पुनः तू इन्द्रिको प्राप्त करता है । [वायुः सोमस्य रक्षिता] वायु सोमका रक्षक है, और [समानां आर्कृतिः मासः] वर्षोंकी आर्कृति महिमा ही है ॥ ४ ॥

हे सोम । [आप्यत् विधानैः गुणितः] आच्छादनोत्तै सुरक्षित [वाहेतैः रक्षितः] बहोतै रक्षित हुआ तू [प्राण्यां इत् नृपयन् विष्टसि] इस रस निकालनेवाले पत्थरोंका तन्त्र सुनता हुआ रहता है । [पार्थिवः ते न अश्नाति] कोई मनुष्य तेरा रस भक्षण नहीं करता ॥ ५ ॥

[यत् सूर्यां पतिं जयात्] जब सूर्यां अपने पतिके पाम गयी, तब [चिचिः उपबर्हणं वाः] संकल्प विरोधा हुआ, [चक्षुः अभि अञ्जनं वाः] आंख अञ्जन बना तथा (धौः भूमिः कोशः आसीत्) धौ और पृथिवी अज्ञाना वा ॥ ६ ॥

[रैमी अनुदेयी आसीत्] रैमी ऋषि विदायीकी भाषा हो गई, [नाराशंसी न्योर्चनी] नाराशंसी मंत्र स्वागतका भाषण करने, [सूर्यायाः यासः भद्रं इत्] सूर्याका वष बहुत कल्याणकारी है। वह सूर्यां [गायया परिष्कृता पति] गायामोत्तै सुशोभित होकर जाती है ॥ ७ ॥

भावार्थ— जब यज्ञमें सोमका रस निकालने लगते हैं, तब सोमरस पीनेका निश्चय सबको होता है । परंतु जिसको ज्ञानी सोम जन समझते हैं, वह भिन्नही है, कोई साधारण मनुष्य उसका रस पी नहीं सकता । (ये वधुवर उभी सोमरसको पीनेका पुरुषार्थ करें) ॥ ३ ॥

यह सोम जब विषा जाता है, तब पुनः इन्द्रिको प्राप्त होता है । यह नष्ट नहीं होता है । क्योंकि प्राण ही इसका रक्षक है । जैसे क्रममें महिने आनेसे वर्ष होता है, (इसी तरह नये पते आनेसे सोम बड़ी पूर्ववत् हरिमरी हो जाता है, ऐसे ही वधुवर सांसारिक आपत्ति आनेपर हताशा नहीं, परंतु द्विगुणित उत्साहमें अपना जीवन न्यतीत करें) ॥ ४ ॥

सोम सब प्रकारसे सदा सुरक्षित है, आंतरिक और बाह्य रक्षण साधनेसे यह सुरक्षित हुआ है । इस सुरक्षित हुए दिव्य सोमका भक्षण कोई साधारण मनुष्य नहीं कर सकता । [ये वधुवर इसी तरह अपने आपको सुरक्षित रखें और अपने आपको किछीका भक्ष्य होने न दें] ॥ ५ ॥

जब वधुवरके घर जाती है, तब उसका मनही उसका विरोधा और आंख ही अञ्जन होता है, (अर्थात् बाह्य साधक उसके मुखके कारण नहीं होते, उसके मनके भावही उसके मुख देते हैं) मानो उसके लिये यह सब आच्छाद का आवरण अज्ञानके समान प्रतीत होता है, क्योंकि पृथिवी पर ही उसका सब मुख होता है । ॥ ६ ॥

वेदमंत्रोंसे उस वधुकी पितृपृथुसे बिचारें होती है और उभी मन्त्रोंसे ही उसका पतिपृथुमें स्थापत होता है । मंत्रोंद्वारा पुनीत हुआ पतिके घरका वध उस वधुका कल्याण करनेवाला होता है ॥ ७ ॥

स्वोमां आसनप्रतिघर्षः कुरीरं छन्दं ओपशः । सूर्यायां अश्विनानां वराधिरासीत्पुरोगवः ॥८॥
 सोमो वधुयुरभवदश्विनास्तामुमा वरा । सूर्या यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादंदात् ॥९॥
 मनो अस्या अर्न आसीद् घौरासीदुत् च्छदिः । शुक्रावन्द्वाहावास्तां यदयात्सूर्यां पतिम् ॥१०॥
 ऋक्नामाम्यामभिहितौ गावौ ते सामुनावैताम् श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां द्विवि पन्याश्चराचरः ॥११॥
 शुचीं ते चक्रे यात्या व्यानो अह आहतः । अनो मनसयं सूर्यारोहत्प्रयती पतिम् ॥१२॥

अर्थ—[स्वोमाः प्रतिघर्षः आसन] स्तुतिके मंत्र अक्ष बना या, [कुरीरं छन्दः ओपशः] कुरीर नामक छन्द उसके सिरके मूयक बने । [अश्विनौ सूर्यायाः वरौ] दोनों अश्विदेव सूर्यके साथे ये और [अग्निः पुरोगवः आसीत्] अग्निदेव अग्रेसर या ॥ ८ ॥

[सोमः वधुयुः यभवत्] सोम वधुकी हठ्ठा करनेवाला या, [उमौ अश्विनो वरौ आस्तां] दोनों अश्विदेव साथी थे । [यत् सविता मनसा शंसन्तीं सूर्यां पत्ये अदात्] जब सविताने मनसे स्तुति करनेवाली सूर्यकी पतिके हाथमें दान किया ॥ ९ ॥

[अस्या मनः अर्नः आसीत्] इसका मन रथ बना या, [उत घौः छदिः आसीत्] और सुकोक छत हुआ । [शुक्रौ अन्द्वाहावौ आस्तां] दो बलवान् बैल जोते थे । [यत् सूर्यां पतिं अयात्] जब सूर्या पतिके पास गयी ॥ १० ॥

(ऋक्— सामान्यां अभिहितौ ते गावौ) ऋग्वेद मंत्रों और सामवेदके मन्त्रोंद्वारा प्रेरित हुए वे दोनों बैल (सामनौ ऐवौ) शान्तिसे चलेते हैं । (श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां) दोनों कान तरे रथके दो चक्र थे । (द्विवि पन्याः चराचरः) सुकोकमें ठेरा मार्ग चर और अचर रूप समस्त संसार है ॥ ११ ॥

(ते यात्याः चक्रे शुची) तरे जानेके रथके दोनों चक्र शुद्ध हैं । (अश्वे व्यानः अहतः) उसके अक्षके स्थानपर व्यान नामक प्राण रखा है । (पतिं प्रयती सूर्यां) पतिके पास जानेवाली सूर्या इस (मनः-मयं वा रोहन्) मनोमय रथ पर चढ़ती है ॥ १२ ॥

साधारण-पतिके घरके दक्ष ही वधुके लिये भोग और वेदमंत्रही उसके भूषण होते हैं । जो वधुकी मंगनी के लिये जाते हैं, वे मानो अश्विदेव होते हैं । और जो पहिले बातचीतके लिये जाता है, वह सबका प्रकाशक अश्विदेव ही है ॥ ८ ॥

जो घर है वह मानो सोम है, मंगनी करनेवाले अश्विनीदेव हैं और वधुका पिता सूर्य है, जो अपने पुत्रीकी घरके हाथमें दान करता है । वधु भी पतिके विधयमें मनमें प्रसंगाके भाव रखती है । [वधुवरकी परिस्थिति ऐसी होनी चाहिये ।] ॥ ९ ॥

जब वधु अपने पतिके घर जाये तब वह रथमें बैठकर जाये । उसको दो उत्तम बैल (या घोडे) जोते हुए हों । संभव हुआ तो ये उत्तम श्वेतवर्ण के हों । (वस्तुतः वधुका मनही यह रथ है, बाधा रथकी अपेक्षा वधुका मनही ऐसा चाहिये कि जिस में ये रथ आदि बाधा आटम्बर कल्पनासेही पूर्ण हों ।) ॥ १० ॥

इस वधुके रथके वाहक वेदमंत्रों द्वारा चलाये जाय, साथसाथ सामवेद मंत्रोंका गायन होता रहे । यह वधु इसलिये गृह-स्वाग्राम स्वीकारने के लिये पतिके घर जाती है, कि इसका स्वर्णका मार्ग सुगम हो अर्थात् पतिपत्नी मिलकर ऐसा आचरण करें कि जिससे उनको सद्गन स्वर्ग प्राप्त हो जाय ॥ ११ ॥

यह वधु पतिके घर जाते समय जिस मनोमय रथपर बैठती है, उसके चक्र शुद्ध हों । (यहां बालचलनकी शुद्धता और मनोरथों की पवित्रता वधु धारण करे यह बात सूचित की है ।) ॥ १२ ॥

सूर्यायां बहत्तुः प्रागांस्तस्त्रिता यमवासृजत् । मघासुं हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु ध्युंसते ॥१३॥
 यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण बहत्तुं सूर्यायाः ।
 वनेकं चक्रं वामासीत्क्व [द्वेष्यायं तस्यधुः ॥१४॥
 यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप ।
 विश्वे देवा अनु तद्दामजानपुत्रः पितरमवृणीत पूषा ॥१५॥
 द्वे तं चक्रे सूर्यो ब्रह्माणं ऋतुधा विदुः । अथैकं चक्रं यद्गुहा तद्देहात्पु इद्विदुः ॥१६॥
 अर्धमणं यजामहे सुवन्धुं पतिवदेनम् । उर्वारुकमिव बन्धनात्प्रेतो मुञ्चामि नामृतः ॥१७॥

अर्थ- (य सविता ऋवासृजत्) जिसको सविता ने भेजा था वह (सूर्यायाः बहत्तुः प्रागात्) सूर्याका दहेज भागे गया है । (मघासु गावः हन्यन्ते) मघा नक्षत्रोंमें गाँवें भेजीं जाती हैं । और (फल्गुनीषु ध्युंसते) फल्गुनी नक्षत्रोंमें विवाह होजा है ॥ १३ ॥

हे (अश्विनी) अश्विदेवो ! (यत् सूर्यायाः बहत्तु) जब सूर्याका दहेज लेकर (पृच्छमानो त्रिचक्रेण अयातं) तुम दोनों पृछने हुए तीन चक्रोंवाले रहसे चले, तब [वां एकं चक्रं] तुम्हारा एक चक्र (क जासीत्) बहो या, और तुम दोनों द्वेष्याय क तस्यधुः) दशानेके लिये कहा रहरे थे ? ॥ १४ ॥

हे [शुभस्पती] शुभ करनेवाले ! तुम दोनों (यत् वरेयं सूर्या उप अयातं) जब चक्रे द्वारा पृछने योग्य सूर्यके समीप गये, [वां तत् विश्वे देवा अन्वजानत्] तुम्हारा वह कर्म तब देवोंने पमंद किया था, (पूषा पुत्रः पितरं अवृणीत) पूषाने पुत्र पिताको रबीकार करनेके समान तुम्हारा रबीकार किया ॥ १५ ॥

हे (सूर्ये) सूर्या ! (ते द्वे चक्रे ब्रह्माणं ऋतुधा विदुः) तेरे दोनों चक्रों को ज्ञानी लोग ऋतुके अनुसार जानते हैं । (अथ यत् एकं चक्रं गुहा) और जो एक चक्र गुप्त है, (तत् अज्ञातय इत् विदुः) उसको विशेष ज्ञानी ही जानते हैं ॥ १६ ॥

(सुवन्धुं पतिवदन्) उसम बन्धुबंधोंसे युक्त पतिका ज्ञान देनेवाले (अर्धमणं यजामहे) छोट ममवालेका हम साकार करते हैं । (उर्वारुकं बन्धनात् इव) खरवृजा जैसा बेलके बन्धनसे दूर होता है, उस प्रकार (इतः प्र मुञ्चामि) इस पितृकुलसे तुझे सुझाता हूँ, (न ममृतः) परंतु पतिकुलसे नहीं मरता करता, अर्थात् पतिकुलसे जोड़ता हूँ ॥१७॥

भावार्थ- बधुका पिता वरको समर्पण करनेके लिये गौहृषी दहेज पहिले वरके स्थानपर पहुंचाने। वह पहिले वहां पहुंचने और पश्चात् विवाह हो। जैसा मघा नक्षत्रमें गाँवों भेजा जाय, तो फल्गुनी नक्षत्रमें विवाह होवे ॥ १३ ॥

बधुको औरसे जो दहेज वरके पास लेजाना हो वह कोई दो अश्विन (यहां दो अश्विनी देव) अपने रथमें बैठकर ले जावे। पृछ पृछ कर ठीक वरके स्थानपर पहुंच जाय। ये ही बधुके रथके वरके स्थानका मार्ग दशानेवाले होंगे, इसलिये ये किसी योग्य स्थानपर ठहरें ॥ १४ ॥

वरकी ओरसे मंगनी करनेवाले (दोनों अधिनीकुमार) दो वैध बधुके पितके पास कन्याको मंगनी करनेके लिये जाय, अन्य सब लोग उनको संभवि देखें। जैसा पुत्र पिताका आदरके साथ स्वागत करता है, वैसा उन मंगनी करनेके लिये जावे हुआका स्वागत बधुका पिता करे ॥ १५ ॥

सूर्या नामक सविताकी पुत्री तीन चक्रोंवाले रथपर बैठकर अथ पतिक घर गई थी। इसी तरह बधु रथमें बैठकर पतिके घर जाये। रथके व्यक्त और पुत्र चक्रोंको ज्ञानी लोग जानें ॥ १६ ॥

अथ मनवाला बन्धुबंधोंसे युक्त सज्जनही वरका पता देखें। वरका पता किसी हीन मनुष्यसे कमी न किया जाय। जैसा फल अपने बंधनसे मुक्त होता है, उस प्रकार बधु अपने पितृकुलसे अपना संबन्ध छोड़ देने, परंतु पतिकुलसे बधुका संबन्ध कमी न हटे ॥ १७ ॥

प्रेतो मुञ्चामि नामृतः सुवद्वाप्तमृतस्करम् । यथेयमिन्द्र मीद्वः सुपुत्रा सुभगासति ॥ १८ ॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाऽवभ्रात् सविता सुशेवाः ।

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं तं अस्तु सइसंभलाये ॥ १९ ॥

भर्गस्त्वेतो नपतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र ब्रह्तां रथेन ।

गृहान् गच्छ गृहपरत्नी यथाऽसौ वशिनी त्वं विदयमा वदासि ॥ २० ॥ (२)

इह मियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गुहे गार्हपत्याय जागृहि ।

एना पत्यां तन्वं [सं स्पृनुस्वाथ जिर्विदयमा वदासि ॥ २१ ॥

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यं श्रुतम् । क्रीडन्तौ पुत्रैर्नृभिर्मोदमानौ स्वस्तौ ॥ २२ ॥

अर्थ- (दत्तः प्रमुञ्चामि न अमृतः) यदा [पितृकुल] से तुल्यं मुक्त करता हूँ, परंतु वहां (पतिकुल) से नहीं । (अमृतः सुवद्वा कर्) वहासे तो मैं उत्तम प्रकार बंधी हुई करता हूँ । हे (मोदः इन्द्र) दत्ता इन्द्र ! [यथा इयं] त्रिरेके यह वधू (सुपुत्रा सुभगा भवति) उत्तम पुत्रवाली और उत्तम भगवसे युक्त होवे ॥ १८ ॥

(स्वा वरुणस्य पाशाद् प्र मुञ्चामि) तुल्यको मैं वरुणके पागसे मुक्त करता हूँ (येन स्वा सुशेवाः सविता अवभ्रात्) जिससे तुल्य सेवा करनेयोग्य सविताने बांधा था । (ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके) सदाचारीक धर्ममें और धर्ममें कठोरके लोकमें (सह-संभलाये ते) पतिके सहवर्तमान तुल्य (स्योनं अस्तु) युक्त होवे ॥ १९ ॥

(भगः स्वा हस्तगृह्या इतः नपतु) भग तुल्ये हाथ पकड़कर यांसि चलावे, भागे (अश्विनी तथा अथेन प व्रह्तां) श्राधे-देव तुल्ये रथमें बैठलाकर पहुंचावे । अरने पतिके (गृहान् गच्छ) घरको जा । (यथा इयं गृहपरतो वशिनी भवः) वहां तू घरको स्वामिनी और सबको बशमें रखनेवाली हो । वडा (एवं विदयं आवागमि) हूँ उत्तम विवेकका भाग्य वर ॥ २० ॥

(इह ते प्रजायै मियं पत्न्यवनां) यदां तेरे संगतनके लिये मिय को बृद्धि हो, (श्रादेमन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि) इस घरमें गृहस्थधर्मके लिये जागतो रह । (एना पत्या तन्वं संस्पृनुस्व) इस पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श कर (अय जिर्वः) और तू बृद्ध होनेपर (विदयं आ वदासि) उत्तम उपदेश कर ॥ २१ ॥

(इह एव स्तं) यहाँटा रहो (मा वि यौष्टं) कभी वियुक्त न हो । [पुत्रैः नृभ्यामेः क्रीडन्तौ] पुत्रों और नानि-पौंसि खेलते हुए [मोदमानौ स्वस्तौ] आनंदित होकर अपने चारदारसे युक्त होते हुए [विश्वं आयुः स्पृनुतं] पूर्ण आयुका भोग करो ॥ २२ ॥

भावार्थ- वधूका संबंध पितृकुलमें छूट, परंतु पतिके कुलमें न छूट, पतिकुलसे संबंध सुष्टु होवे । परमेश्वर इस वधूको पति-कुलमें उत्तम पुत्रोंसे युक्त-और उत्तम भाग्यसे युक्त करे ॥ १८ ॥

विवाह होते ही कन्या वरुणके बन्धनसे मुक्त होती है । सविता देवनेही कन्याको वरुणके धर्मपाशसे बांधा होता है । कन्याका विवाह होते ही वह पतिके घर सदाचारी और सत्कर्म करनेवालोंके घरमें पहुंचती है । पतिका घर वधूको धर्मशिक्षा देनेवाला बने ॥ १९ ॥

वधूका हाथ पकड़कर भाग्यका देव उसको पहिले चलावे, अश्विनीदेव रथमें बैठलाकर विवाहके पश्चात् पतिके घर पहुंचावे इस तरह वधू पतिके घर पहुंचे । वहां पतिके घरकी स्वामिनी और सबको अपने बशमें रखनेवाली होकर रहे । ऐसी स्त्री ही योग्य प्रबंधमें उत्तम संमति दे सकती है ॥ २० ॥

इस धर्मपत्नीके संतान उत्तम सुखमें रहें । यह धर्मपत्नी अपना गृहस्थाश्रम उत्तम रीतिसे चलावे । यह धर्मपत्नी अपनेपतिके साथ सुखसे रहे । जब इस तरह धर्ममार्गीसे गृहस्थाश्रम चलाती हुई यह स्त्री बृद्ध होगी, तब यह योग्य संमति देने योग्य होगी ॥ २१ ॥

श्री पुरुष अपनेही घरमें रहें, कभी विमर्ग न हों । अरने बालबच्चोंके साथ खेलें, अरने घरमें आनंद मनावे और धर्म-कुशल गृहस्थाश्रम चलाते हुए संपूर्ण आयुका उपभोग लें ॥ २२ ॥

पूर्णापर चरतो माययैर्तां शिशुः क्रीडन्तौ परिं यातोऽर्णवम् ।

विश्वान्यो भुवना विचर्षं ऋतूरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ २३ ॥

नवीनयो भवसि जायमानोऽह्वा कृतरूपसामिष्यप्रम ।

भाग देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥ २४ ॥

परां देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भंजा वसु । कृत्यैषा पृथ्वीं भूत्वा ज्ञाय विंशते पतिम् ॥ २५ ॥

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते । एषन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्वन्धेषु वधयते ॥ २६ ॥

अश्लाला तनूर्भवति रुग्णती पापयामुया । पतिर्यद् वध्वोऽङ्गे वासंसुः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते ॥ २७ ॥

अर्थ- [एतौ शिशुः क्रीडन्तौ] ये दोनों बालक खेलते हुए [माय या पूर्णापर चरत] शक्तिसे जागे पीछे चढते हैं और [अर्णव परि यात] समुद्रतक भ्रमण करते हुए पहुचते हैं । [अन्य विधा भुवना विचर्षे] उनमेंसे एक सब भुवनोंको प्रकाशित करता है और [अन्य कृतरूप विदधन् नव जायते] दूसरा कृतुर्गोंको बनाता हुआ नया नया बनता है ॥ २३ ॥

[जायमान नव नव भवसि] प्रकट होता हुआ नया नया होता है । [अह्वां देतुः उपसां अम्र पति] दिनोंको बतानेवाला और उपाओंके अम्र भागमें होता है । [आयन् देवेभ्य भाग विदधासि] जाता हुआ देवोंके छिपे विभाग समर्पण करता है । तथा दे चन्द्रमा ! [दीर्घ आयु प्र तिरेसे] तू दीर्घ आयु देता है ॥ २४ ॥

[शामुल्य परा देहि] यह उत्तम वस्त्र दान कर । [ब्रह्मभ्य वसु विभज] ब्राह्मणोंको धन दे । अथ [एषा पृथ्वी कृत्या जाया भूत्वा] यह पांववाली कृत्या अर्थात् विनाशक स्वभाववाली स्त्री बनकर [पतिं विशते] पतिके पास भाती है ॥ २५ ॥

[नीललोहित भवति] नीला और लाल बनता है, क्रोधयुक्त होता है तब [कृत्यासक्तिः व्यज्यते] विनाशकी दृष्टा बढती है, [अस्या ज्ञातय एवमे] इससे जातिके अनुधर बढते हैं । और [पतिः बन्धेषु वधयते] पति वधनमें बाधा जाता है ॥ २६ ॥

[यत् वध्व वासस] जब स्त्रोके वधसे [पति स्व अग अभि उर्णुते] पति अपने शरीरको बाधलाहित करता है, तब [अमुया पापया] इस पापी रीतिसे [एतवी तन्] सुन्दर शरीर हुआ तो भी [अश्लाला भवति] क्षोभरहित होता है ॥ २७ ॥

भावाय-इन गृहस्थियोंके बालक छोटी बडी आयुवाले अपनी शक्तिके लोके कूदते हुए बढे होकर समुद्रतक पुरचार्य करते हुए वलें । एवम सब जगत् को प्रकाशित किया, तो दूसरा कृतुके अनुधर नवीन नवीन होकर उदयको प्राप्त है । अर्थात् गृहस्थियोंके पुत्र अपने पुरर यैसे जगत् को प्रकाशित करें ॥ २३ ॥

गृहस्थी लोग नव नये ऽ सारसे पुरचार्य करने हुए उपाओंको प्रकाशित करनेवाले सूर्यके समान सबके मार्गदर्शक बनें । यज्ञमें देवोंका भाग उनको समर्पण करें और ऽ यम्यम जीवन स्वर्गीय करते हुए सपूर्ण आयुका उपभोग लें ॥ २४ ॥

विनाशक समय उत्तम उत्तम वस्त्र विद्वान् ब्राह्मणोंको दान दिये जाये, और उनको धन भी बांटा जाये । (ये ब्राह्मण बधूके सुशिक्षा दें । यदि बधूको उत्तम शिक्षा न मिली) तो यह बधू पतिके पर प्रवेश करके सब कुलका विनाश कर सकती है । (बधूके अथर्माचरण कुलका नाश होता है) ॥ २५ ॥

[पति कुलमें बधूका अथर्माचरण होन लया, तो] सब सखाय होता है, उस दुष्टचारी बधूकी विनाशक बुद्धि बढ जाती है, उसके पिताके सबधी लोग जमा हो जाते हैं, और इस प्रकार विचारा पति बन्धनमें फसता है । [एषासि कृत्याको सुशिक्षा देनी चाहिये] ॥ २६ ॥

स्त्रीका वस्त्र पुरव कमान पढ़ने । यदि किसीने पहना तो उससे पतिका तेजस्वी शरीर भी क्षोभरहित होजाता है ॥ २७ ॥

आश्रसनं विश्रसनमयो अधिविकर्तनम् । सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुभमति ॥२८॥
 तुष्टमेतत् कर्तुं कर्मपाष्टवद्विपवृत्तैतदत्तवे । सूर्या यो ब्रह्मा वेदु स इद् वाधुयमर्हति ॥ २९ ॥
 स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम् । प्रापथितिं यो अध्येति येन जाया न रिप्यति
 युवं भगं सं भरतं समृद्धमुतं वर्दन्तावृत्तेषु ॥३०॥
 ब्रह्मणस्पते पतिमस्य रोच्य चारुं संभलो वेदतु वाचमेवाम् ॥ ३१ ॥
 इहेर्दसाथ न पुरो गंमाथेमं गावः प्रजयां वर्धयाथ ।
 शुभं यतीकृत्स्नियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्विह वो मनांसि ॥ ३२ ॥

अर्थ—[आश्रसनं विश्रसन] धारीवाला बख, सिरका बख तथा । [अयो अधिविकर्तनं] और सतीगपर रहनेवाला बख इनमें [सूर्यायाः रूपाणि पश्य] सूर्यके रूप देख । [उन ठामि ब्रह्मा शुभमति] इनको ब्राह्मण तेजस्वी करता है ॥ २८ ॥

[एतत् वृष्टं] यह तथा उपपन्न करनेवाला है, [कर्तुं] यह कर्तुवा है, [अपाष्टवत् विपवत्] यह घृणित और यह विपयुक्त बख है अतः [एतत् अत्तवे न] यह खानेके योग्य नहीं है । [यः ब्रह्मा सूर्या वेद] जो ब्राह्मण सूर्याको इत एव सिखाता है, [सः इत् वाधुं अर्हति] यह निःसंदेह वधुकी भोरसे बरा खेनेयोग्य है ॥ २९ ॥

[सः इत्] वही नियमसे (तत् सुमंगलं स्योनं वासः हाति) उस मंगल और सुखकर बखको खेता है । [यः प्रापथितिं अध्येति] जो प्रायश्चित्त प्रकरण अर्थात् चित्त शुद्ध करनेका अभ्यसन कराता है (येन जाया न रिप्यति) जिससे पत्नी नष्ट नहीं होती ॥ ३० ॥

(युवं ऋत-उद्युत भवतं वदन्तौ) तुम दोनों सत्य व्यवहारोंमें रह कर सत्य बोलते हुए (समृद्धं भगं संभरतं) समृद्धियुक्त भाग्य प्राप्त करो । हे ब्रह्मणस्पते । (पतिं अस्य रोच्य) पतिके विषयमें इस स्त्रीके मनमें रुचि उत्पन्न कर । (संभरतः पूर्णं वाचं चारु वदतु) पति इस वाणीको सुंदरतासे बोलें ॥ ३१ ॥

हे (गावः) गौवो ! (इह इत् असाथ) तुम यहाँ ही रहो । [न परः गमाथ] मत दूर जाओ । (इमं प्रजया वर्धयाथ) इसको उत्तम संततिके साथ बढ़ाओ । हे [उत्सियाः] गौवो ! आप [शुभं यतीः सोमवर्चसः] शुभको प्राप्त करानेवाली और चन्द्रके समान तेजस्वितासे युक्त होवो । [विश्वे देवाः यः मनांसि इह क्रन्] सब देव तुम्हारे मनोको यहाँ स्थिर करें ॥ ३२ ॥

भावार्थ— एक बख धारीवाला होता है, दूसरा दुगाला जैसा चमकदार होता है, तीसरा ओदनका बख होता है । इन बखोंसे बधुके रूपको सुंदरता लायी जावे । इन बखोंमें सर्वथा योग्य ज्ञान ब्राह्मण गृहस्थियोंको देवे, जिससे बखोंके दोष दूर हो जाय ॥२८॥

एक अन्न लम्बाको बढानेवाला, दूसरा कडुवा, तीसरा सभा हुआ और चौथा विषयुक्त होता है । इस प्रकारके अन्न गृहस्थियोंकी खानेयोग्य नहीं हैं । इस तरह की शिक्षा देनेवाले ब्राह्मणकी वधुकी औरसे बख दिया जावे ॥ २९ ॥

जो ब्राह्मण पितृ शुद्ध करनेका ज्ञान जानता है, जिस ज्ञानके प्राप्त होनेसे स्त्री का विषाद नहीं होता, इस प्रकारकी शिक्षा देनेवाले ब्रह्मणको ही मंगल और सुंदर बख देना योग्य है और ऐसा ब्राह्मण ही बखका दान लेवे ॥ ३० ॥

गृहस्थी स्त्रीपुरुष सीधे व्यवहार करें, सदा सत्य बोलें, और धनसंपत्ति कमावें । पत्नीके मनमें पतिके विषयमें बधा आदरभाव रहे और पति मी सुंदर और मधुर भाषण करे ॥ ३१ ॥

गृहस्थोंके घरमें गौवें रहें, गौवें माग न जावें । गौवें बलदे देती रहें । उनकी संख्या बढ जाय । गौवें सुखभाववाली और तेजयुक्त हों और गौवें मी परयाप्तपर प्रीति करें ॥ ३२ ॥

इमं गावः प्रजया सं विंशथायं देवानां न मिनाति भागम् ।

अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वीं धाता संविता सुवाति ॥ ३३ ॥

अनूक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् ।

सं भगेन मर्मयन्मा सं धाता सृजतु वर्चमा ॥ ३४ ॥

यश्च वर्चो अक्षेपु सुरायां च यदाहितम् । यद्गोषुश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसाञ्चतम् ॥ ३५ ॥

येन महानूध्या जघनमश्विना येन वा सुरा । येनाक्षा अभ्यविच्यन्त तेनेमां वर्चसाञ्चतम् ॥ ३६ ॥

यो अनिष्मो दीदयदुष्वंशन्तर्यं विप्रांस ईडंते अध्वरेपु ।

अपां नपान्मधुमतीरपो द्वा याभिरन्द्रो वावृधे वीर्यावान् ॥ ३७ ॥

अर्थ है [गावः] गौवें ! [इमं प्रजया सं विंशथायं] इसक घरमें अपनी सतानके साथ प्रवेश करो । [अयं देवानां भागं न मिनाति] यह देवोंके भागका छाप नहीं करता है । [पूषा सर्वे मरुतः] पूषा और सब मरुत [धातासविता] विधाता और सविता [अस्मै अस्मै व वः सुवाति] इसी मनुष्यके लिये तुमको उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

[पन्थानः अनूक्षराः ऋजवः सन्तु] सब मार्ग कण्टकाहित और सरल हों । [येभिः नः सखायः वर्यं यन्ति] जिनसे हमारा सब मित्र कन्याके घरके प्रति पहुँचते हैं । [धाता भगन मर्मयन्मा वर्चसा सं सं सृजतु] विधाता, भग और अर्थमाके द्वार तेजसे हमसे संयुक्त करे ॥ ३४ ॥

हे [अधिगौ] बचेरोगे ! [यन् वर्चं अक्षेपु] जो तेज आँखोंमें होता है और [वात् सुरायां आदित्यं] जो संपत्तिमें रखा होता है, [यन् च वर्चं गोपु] जो तेज गौबोंमें है, [तेन वर्चसा इमां भवतं] उस तेजसे इसकी रक्षा करो ॥ ३५ ॥

हे [अधिनौ] अधिदेवो ! [येन महानूध्याः जघनं] जिससे बड़ी गौका जघन अर्थात् निचला दुग्धाशयका भाग, [येन वा सुरा] जिससे संपत्ति, [येन अक्षाः अभ्यविच्यन्त] जिससे आँखें भरपूर रहती हैं [तेन वर्चसा इमां भवतं] उस-तेजसे इस वधूरी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

[यः शप्सु जन्तः अनिष्मः दीदयत्] जो जलोंमें इन्धनोंके बिना चमकता है, [यं विप्रांसः अध्वरेपु ईडंते] जिसकी ज्ञानी लोग यज्ञोंमें स्तुति करते हैं । हे [अपां नपान् ! मधुमतीः अपः दाः] जलोंको न गिरानेवाले देव ! बैसा मधुर जल हमें दे । [याभिः वीर्यावान् इन्द्रः वावृधे] जिससे वीर्यवान् इन्द्र बचता है ॥ ३७ ॥

भावार्य-गौने अपने बछड़ोंके साथ घरमें प्रवेश करे । गृहस्थ देवयज्ञ प्रतिदिन करे, कमी यज्ञका छाप न हो । सब देव इस गृहस्थीके घरमें गौवेंकी संख्या बढायें ॥ ३३ ॥

वर्चके तथा वधूके घर जानेके मार्ग कंटकाहित और सरल हों । परमेश्वर इन गृहस्थियोंको तेजस्वी करके सृष्ट करे । यौ जो तेज आँखोंमें, ऐश्वर्यमें और गौबोंमें होता है, उस तेजसे यह वधू युक्त हो । यह स्त्री तेजसिनी हो ॥ ३५ ॥ जिस तेजसे गौका दुग्धाशय तेजस्वी हुआ है, जो तेज ऐश्वर्यमें और आँखोंमें होता है, उस तेजसे यह स्त्री युक्त होवे और यह स्त्री धर्माचरणमें सुसंश्रित रहे ॥ ३६ ॥

जलोंमें इन्धनोंके बिना चमकनेवाला तेज है, यज्ञोंमें द्विजोंका ज्ञानरूप तेज है, और जलोंमें मधुरता है और वीर्य भी है । इन तेज, ज्ञान, माधुर्य और वीर्य से ये गृहस्थी युक्त हों । इन इन्द्रोंके आधिक्यसे सबसे महान् हुआ है ॥ ३७ ॥

इदमहं रुशन्त ब्राभं तनुदूपिमपोहामि । यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥ ३८ ॥

आस्यै ब्राह्मणाः स्नपर्नीर्हरन्त्वर्वीरिस्त्रीरुदंजन्वापः ।

अर्धम्णो अग्निं पर्यंतु पूषन् प्रतीक्षन्ते शशुरो देवरंश्च ॥ ३९ ॥

शं ते हिरण्यं शर्म सुन्त्वापः शं मेयिर्भवतु शं युगस्य तर्षं ।

शं त आपः शतपावित्रा भवन्तु शम्पु पत्यां तन्वं १ सं स्पृशस्व ॥ ४० ॥ (४)

खे रथस्य खे खेऽनंसः युगस्य शतक्रतो । अगलामिन्द्र त्रिपुण्ड्रवाऽकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ ४१ ॥

आशासना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रथिम । पत्युरनुद्रता भुन्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥ ४२ ॥

अर्थ- [इदं अहं तनुदूपि रुशन्तं ब्राभं जापोहामि] यह मैं शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले विनाशक रोगको दूर करता हूँ । और [यः भद्रः रोचनः सं उदचामि] जो कल्याणमय तेजस्वी है, उसको पास करता हूँ ॥ ३८ ॥

[ब्राह्मणाः अर्धं स्नपर्नीः आपः ब्राह्मन्तु] ब्राह्मण लोग इसके लिये स्नानका जल ले आवें । [अवीरिणीः आपः उद्वन्तु] वीरका नाश न करनेवाला जल वे लावें । [अर्धम्णः अग्निं पर्यंतु] वह अर्धमाधी अग्निकी प्रदक्षिणा करे । [इ [पूषन्] पूषा ! [शशुरः देवरः च प्रतीक्षन्त] ससुर और देवर प्रतीक्षा करें ॥ ३९ ॥

[ते हिरण्यं शं] तेरे लिये सुवर्ण कल्याणकारी होवे, [उ आपः शं मन्तु] और जल सुखकर होवे, [मेयिः शं भवतु] मैं बोधनेका स्तंभ सुखदायी हो । तथा [युगस्य तन्न शं] युगका छिद्र सुखकर हो, [ते शतपावित्राः आपः शं भवन्तु] तेरे लिये सौ प्रकारसे पावित्रता करनेवाला जल सुखदायी होत । [पत्यां तन्वं शं सं स्पृशस्व] पतिके साथ अपने शरीरका स्पर्श सुखकारक रीतिसे कर ॥ ४० ॥

हे [शतक्रतो इन्द्र] सैकड़ों कर्म करनेवाले इन्द्र ! [रथस्य खे] रथके छिद्रमें, [अनसः खे] गाड़ेके छिद्रमें और [युगस्य खे] युगके छिद्रमें [अगलां त्रिः पूषा] अयोग्य रीतिसे पाली हुई युवतीको तीन बार पावित्र करके [सूर्यत्वचं अकृणोः] सूर्यके समान तेजस्वी स्वचावाली तुने किया ॥ ४१ ॥

[सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रथि आशासना] उत्तम मन, संतान सौभाग्य और धन की आशा करनेवाली तू [पत्युः अनुद्रता भुन्वा] पतिके अनुकूल भावण करनेवाली होकर [अमृताय कं सं नह्यस्व] अमरत्वके लिये सुखपूर्ण रीतिसे सिद्ध हो ॥ ४२ ॥

भावार्थ- शरीरमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगवाजिको दूर करना चाहिये और जिससे शरीर मीरोगी और आनन्दप्रसन्न होता है, उनको पास करना चाहिये ॥ ३८ ॥

ब्राह्मण लोग बतावें कि यह उ ज स्नान करनेयोग्य है, यह जल भीरता का नाश करके बल बढ़ानेवाला है । वधुवर श्रेष्ठ मन धारण करके अग्निको प्रदक्षिणा करें । श्रेष्ठ गुणवाली वधुकी प्रतीक्षा पतिशुद्धमें ससुर और देवर करते रहते हैं ॥ ३९ ॥

सुवर्ण, जल, गाँका बंगनस्तंभ, जुगके भाग आदि सब पुटुंबके कल्याण करनेवाले हैं । जल तो सौ प्रकारसे पावित्रता कर-
नेवाला है । गृहस्थके घरमें धर्मपत्नी पतिके साथ मिल जमाकर रहे ॥ ४० ॥

गृहस्थ तथा स्त्री अपनी तीन प्रकारकी शुद्धता प्रभुकी कृपासे कराके सूर्यके समान तेजस्वी बनकर यहाँ बिराजे ॥ ४१ ॥
गृहस्थके घरमें स्त्री उत्तम मन, संतान, सौभाग्य व धन की इच्छा करती हुई, पतिके अनुकूल कर्म करती हुई, अमरत्व प्राप्तिके श्रेष्ठ सुखदायी मार्गका अनुसरण करे ॥ ४२ ॥

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुपुत्रे वृषा । एवा त्वं सम्राश्वेधि पत्सूरस्त्वं परेत्य ॥४३॥
 सम्राश्वेधि शशुरेषु सम्राश्वुत देवृषु । ननान्दुः सम्राश्वेधि सम्राश्वुत शशुवाः ॥४४॥
 या अकृन्तन्नवयुन् याश्च तत्तिरे या देवीरन्तां अभितोऽर्दन्त । ॥४५॥
 तास्त्वां जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परिं धरस्व वासः ॥४५॥
 जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीधुर्नरः । ॥४६॥
 वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिध्वजे ॥४६॥
 स्योनिं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे । ॥४७॥
 तमा तिष्ठानुमाघा सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोत ॥४७॥

अर्थ— [यथा वृषा सिन्धु] जैसा बलदाही समुद्र [नदीनां साम्राज्यं सुपुत्रं] नदियोंवा साम्राज्य बलदाहा है, [एव एव पत्युः अस्त्वं परेत्य] वैसी तू पतिके घर पहुंचकर [साम्राश्वी पधि] सम्राश्वी होकर बहा रह ॥ ४३ ॥

[शशुरेषु सम्राश्वी पधि] समुद्रोंमें स्वामिनीके समान होकर रह । [उत देवृषु सम्राश्वी] देवोंमें भी महाशानीके समान आदरसे रह । [ननान्दुः सम्राश्वी पधि] ननक्के साथ भी रानीके समान रह और [उत शशुवा सम्राश्वी] सावके साथ भी सम्राट्की खाक समान होकर रह ॥४४॥

[या देवोः अकृन्तन्] जिन देवियोंने स्वयं सूत्र काठा है, [या च अथयन्] जिन्होंने बुना है, [याः च धरिरे] जो धारा धारणी है, [याः च अभितोः अन्ताः र्दन्त] और चारों ओर अन्तिम भागोंको ठीक रखती हैं, [ता एवा इत्से सं व्ययन्तु] वे तुझे इत्यावस्थातक रहनेके लिये पुनें । त [आयुष्मती इदं वासः परि धरस्व] दीर्घ आयुवाली होकर इस बन्धको धारण कर ॥ ४५ ॥

[जावं रुदन्ति] जीवित मनुष्यके विदाई पर खोग रोते हैं, [मध्वरं विनयन्ति] यज्ञको साप छे जाते हैं, [नः दीर्घां प्रसितिं अनु दीधुः] मनुष्य दीर्घ मार्गका विचार करते हैं । [ये पितृभ्यः इदं वामं समीरिरे] जो खोग अपने मातापिताके लिये यह सुन्दर कर्म करते हैं, वह [पतिभ्यः मयः जनये परिध्वजे] पतिके लिये सुखदायी है, जो जीको आछिगन करना है ॥ ४६ ॥

[देव्या पृथिव्या उपस्थे] पृथ्वी देवीके पास [ते प्रजायै स्योनिं ध्रुव अश्मानं धारयामि] तेरी संतानके लिये सुखदायी स्थिर पर्यार जैसा आधार करता हूं । [तं आविष्ट] इसपर खडा रह, [मनुमाघाः] आनंदित हो, [सुवर्चाः] उत्तम तेजसे युक्त हो । और [सविता ते आयु दीर्घं कृणोत] सविता तेरी आयु लंबी बनावे ॥ ४७ ॥

भावार्थ— जैसा महासागर नदियोंका सम्राट् है, इस प्रकार पतिके घर पहुंचकर यह बधु गृहस्थको सम्राट् और अपनेकी उमकी सम्राश्वी बनाकर व्यवहार करे ॥ ४३ ॥

वह्मर, देवर, ननद और घास आदि सबके साथ रानके समान बतान कर और सबको सुख देने ॥ ४४ ॥

घरमें देवियों सूत्र काते, कपडा पुनें, ताना तानें, कपडेके अन्तिम भाग ठीक करें । ऐसा उत्तम कपडा पुनें कि वह आवस्थातक काम देवे । जो दीर्घायु बनकर इस कपडेको पहने ॥ ४५ ॥

विदाईपर मनुष्य रोया करते हैं । परंतु यह कन्या यद्यपि पितृकुलसे विदा होती है, तथापि पतिके घरमें गृहस्थ करनेके लिये जा रही है, अतः इस गृहस्थाश्रमके दीर्घ मार्गका खोग विचार करें और न रोयें । पितृपरके लोगोंको तो यह सुख का दिश है, क्योंकि यह बधुके यज्ञका प्रारंभ है । वह बधु पतिके सुख देती है और पति इसको आछिगनसे सुख देता है । परस्पर सुख-शक्ति करानाही गृहस्थका यज्ञ है ॥ ४६ ॥

इस भूमिपर तेरी संतान सुखपूर्वक दीर्घ काल रहें इत्यालय यह परयाका आधार रखता हूं । इसपर बड, आनंदित और लैजस्वी हो । इस तरह गृहस्थाश्रममें सुख रहनेसे तेरी आयु दीर्घ होगी ॥ ४७ ॥

येनाभिरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम् ।

तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजयां च धनेन च

॥४८॥

देवस्तं सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु ।

अग्निः सुभगां ज्ञातवेदाः पत्ये पत्नीं जुरदंष्टिं कृणोतु

॥४९॥

गृह्णामि ते सौमगत्वाय हस्तं मया पत्यां जुरदंष्टिर्यथासः ।

मगो अर्थमा सविता पुरंधिर्महं त्वादुर्गाहपत्याय देवाः

॥५०॥(५)

मगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् । पत्नी त्वमसि धर्मणाऽहं गृहपतिस्तव

॥५१॥

ममेयमस्तु पोष्या महं त्वादुर्गाहस्पतिः । मया पत्यां प्रजावति सं जीव श्रुदः श्रुतम्

॥५२॥

अर्थ- [येन अग्निः] जिससे अग्निने [आस्थाः भूम्याः दक्षिणं हस्तं जग्राह] इस भूमिका दायां हाथ ग्रहण किया, [तेन ते हस्तं गृह्णामि] उसी उद्देश्यसे तेरा हाथ मैं पकड़ता हूँ, [मा व्यथिष्ठाः] दुःख मत कर, [मया सह प्रजयां च धनेन च] मेरे साथ प्रजा और धनके साथ रह ॥ ४८ ॥

[सविता देवः ते हस्तं गृह्णातु] सविता देव तेरा पाणिग्रहण करे । [राजा सोमः सुप्रजसं कृणोतु] राजा सोम उचम सन्तानयुक्त करे । [ज्ञातवेदाः अग्निः पत्ये सुभगां पत्नीं जुरदंष्टिं कृणोतु] ज्ञातवेद अग्नि पतिके लिये सौमार्थ युक्त की वृद्धावस्थातक जीनेवाणी करे ॥ ४९ ॥

[ते हस्तं सौमगत्वाय गृह्णामि] तेरा हाथ मैं सौमगदके लिये पकड़ता हूँ । [मया मया पत्यां जुरदंष्टिः अतः] जिससे तू मुझ पतिके साथ वृद्धावस्थातक जीनेवाणी होकर रह । मग, अर्थमा, सविता, पुरंधि । और सब देवोंने [त्वा महं गार्हपत्याय अदुः] तुझको मेरे हाथमें गृहस्थाश्रम चक्रानेके लिये दिया है ॥ ५० ॥

[मगः ते हस्तं अग्रहीत्] मगने तेरा हाथ पकड़ा है, [सविता हस्तं अग्रहीत्] सविताने हाथ पकड़ा है, [त्वं धर्मणा पत्नी असि] तू धर्मसे मेरी पत्नी है, [अहं तव गृहपतिः] मैं तेरा गृहपति हूँ ॥ ५१ ॥

[इयं मम पोष्या अस्तु] यह की मेरी पोषण करनेयोग्य हो । [वृहस्पतिः त्वा महं अदात्] बृहस्पतिने तुझे मुझको दिया है । हे [प्रजावति] संतानवाणी की । [मया पत्यां श्रुदः सतं संजीव] मुझ पतिके साथ तू सब वर्ण-सक जीवित रह ॥ ५२ ॥

भार्य-बैसा अग्नि और भूमिका संबंध है, वैशे संबंधके लिये मैं इस बधूछ पाणिग्रहण करता हूँ । बधूको कष्ट न हों । यह बधूमेरे साथ प्रजा, धन और ऐश्वर्यसे युक्त हो ॥४८॥

सविता बैसा तेजस्वी बनकर पति जीका पाणिग्रहण करे, और सोम बैसा कलायुक्त होकर धर्मपत्नीमें संतान उत्पन्न करे । पतिपत्नीमिलकर दोनों इस गृहस्थाश्रममें वृद्धावस्थातक आनन्दधे रहें ॥ ४९ ॥

हे की ! मैं पति तेरा पाणिग्रहण सौमार्थप्रसक्तिके लिये करता हूँ । मुझ पतिके साथ तू वृद्धावस्थातक रह । सब देवोंने तुझको गृहस्थाश्रम चक्रानेके लिये मेरे हाथमें सौंप दिया है ॥ ५० ॥

मग अर्थात् भनवान होकर और सविता बैसा धर्म और तेजस्वी होकर तेरा पाणिग्रहण मैं करता हूँ । अबसे तू धर्मके अनुचार मेरी धर्मपत्नी हो और मैं तेरा गृहपति हूँ ॥ ५१ ॥

यह धर्मपत्नी मेरे (पतिके) द्वारा पोषण होने योग्य है । परमेष्ठिने मग मेरे हाथमें दी है । वहाँ यह सन्तानोत्पत्ति हो और मुझ पतिके साथ सौं वर्ण रहे ॥ ५२ ॥

त्वष्टा वासो व्यदिधाच्छुभे क वृहस्पतेः प्रशिषां कृतीनाम् ।	
तेनेमां नारीं सविता भगंध सूर्यामिन् परिं घत्तां प्रजयां	॥ ५३ ॥
इन्द्राग्नी द्यावापृथिवीं मोतुरिषां मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा ।	
वृहस्पतिर्मरुता ब्रह्म सोमं इमां नारीं प्रजयां वर्धयन्तु	॥ ५४ ॥
वृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशौ अकल्पयत् ।	
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि	॥ ५५ ॥
इदं तद्रूप यदवन्तु योषां ज्ञायां जिज्ञासे मनसा चरन्ताम् ।	
तामन्वर्तिष्ये मखिभिर्नग्मैः क इमान् विद्वान् वि चर्चन् पाशान्	॥ ५६ ॥
अहं वि ध्यामि मयि रूपमस्या वेदुदित् पश्यन् मनसः कुलायम् ।	
न स्तेयमास्मि मनुसोर्दमुच्ये स्वयं श्रन्तानो वरुणस्य पाशान्	॥ ५७ ॥

अर्थ—[त्वष्टा वास] त्वष्टाने वस्त्र [शुभे क] कल्याण और स्व होनेके लिये [वृहस्पत कृतीना पीताषा] वृहस्पति और कवियोंके आशीर्वादके साथ [व्यदिधाश्च] बनाया है । [तेन इमां नारीं] उससे इन् वस्त्रोंको [सविता भग. सूर्या इव] सविता और भग सूर्याको जैसा पतिनाता है, उस प्रकार (प्रपया परिघत्तां) सतानके साथ समुक्त करे ॥ ५३ ॥ (इ द्वाग्नी इन्द्र अग्नि, (द्यावापृथिवीं) सुनोक भूमि, (मातुरिषा वायु मित्र, वरुण भग (उभौ अश्विनौ) दोनों अश्विनो कुमार, वृहस्पति, मरुत ब्रह्म सोम ये सब (इमा नारीं प्रजया वर्धयन्तु] इस स्त्रीको सतानके साथ बढ़ावें ॥ ५४ ॥ (वृहस्पति प्रथम.) वृहस्पतिने सबसे प्रथम (सूर्याया शीर्षे केशौ) सूर्याके सिरपर बर्तोंको बढ़ाया । [तन] उस तरह (आश्विनौ) अश्विनो कुमार (इमां नारीं पत्ये सं शोभयामसि) इस स्त्रीको पतिके लिये सुशोभित करे ॥ ५५ ॥

[यत् योषा अवात् तत् रूप इदं] जो स्त्रीने वस्त्र धारण किया उसका रूप यह है । [मनसा चरन्तां ज्ञाया जिज्ञासे] मनसे भ्रमण करनेवाली स्त्रीको मैं जानता हू । (नवगवैः मखिभि तां अन्वर्तिष्ये) पशुओं और जैवजनोंके साथ उनका मैं अनुसरण करता हू । (क विद्वान् इमान् पाशान् वि चर्चन्) कौन ज्ञानी इन पाशोंको काट सकता है ? ॥ ५६ ॥

(अहं वि ध्यामि) मैं खोलता हू (अस्या मयि रूप) जो इसका रूप मुझमें है । (मनस कुलाय पश्यन् इत् वेदत्) मनका घोंपका देखकर ही ज्ञान होता है । (न स्तय आश्र) मैं चोरिके कष्ट नहीं खाता हू । मैं (स्वय वरुणस्य प्राशान् श्रन्तान) स्वय वरुणके पाशोंको शिथिल करना हुआ । मनस उत अमुच्ये । मनसे मुक्त होता हू ॥ ५७ ॥

भावार्थ— इस कारीगरन इसके लिये बनाया यह वस्त्र है, ज्ञाना प्राणियोंन इसका आशर्वाद दिया है । यह धर्मपत्नी इसके पहने औ ईश्वरकी कृपास उत्तम सतानास युक्त होव ॥ ५३ ॥

इन्द्राग्नादि सब देवी शक्तियां इस नारासे उत्तम सतानों के साथ बढ़ावें ॥ ५४ ॥

कन्याके सिरपर उत्तम बाल हों और वह नारी पति की प्रातिके लिय सुशोभित हो ॥ ५५ ॥

श्रीश्रा उत्तम वस्त्रधारण करनेसे जो रूप बनता है, वही देखनेयोग्य है । मनका चालचलन वैसा है, यही स्त्रीके विषयमें देखना चाहिये । पति वस्त्रधर्मोंमें धर्मपत्नीको अपने साथ सदा रखे । विषयोंके पाशोंको कौन विद्वान् काट सकता है ? ॥ ५६ ॥

मैं इन बन्धनोंको खालता हू । इस मेरी धर्मपत्नीका रूप देखल मेरे लिये है । इसके मन की पराक्षा करके ही मैंने यह ज्ञान लिया है । मैं जो भोग करता हू यह स्त्रकण्ठे कमाये घनका भोग करता हू, चोरिके घनका भोग मैं नहीं करता । मैं मन्त्रके पाशोंको शिथिल करता हूमा मनके बन्धने मुक्त होता हू ॥ ५७ ॥

प्र त्वां मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाज्यंभ्रात् सविता सुशेवाः ।

उरुं लोकं सुगमन्न पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपरन्वै वधु ॥५८॥

उर्ध्वच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दंघात ।

धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ॥५९॥

भर्गस्ततश्च चतुरः पादान् भर्गन्ततश्च चत्वार्युष्पलानि ।

त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सानो अस्तु सुमङ्गली ॥६०॥

सुकृिंशुकं वहतुं विश्वरूपं द्विरण्यवर्णं सुवृत्तं सुचक्रम् ।

आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥६१॥

अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं वृहस्पते । इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणींमाम्भ्यं सवितर्वह ॥६२॥

अर्थ- हे । वधु) स्त्री ! [त्वा वरुणस्य पाशात् प्रमुञ्चामि] तुझको वरुणके पाशसे मुक्त करता हूँ । [येन सुशेवाः सविता त्वा जघन्नात्] त्रिपसे सेवा करनेयोग्य सविताने तुझे बांध दिया था । [तुभ्यं सहपरन्वै] तुझे सहधर्मचारिणीके लिये (अत्र उरुं लोकं सुगं पन्थां कृणोमि) यहाँ विस्तृत स्थान और उत्तम गमनयोग्य मार्ग करता हूँ ॥ ५८ ॥

[उर्ध्वच्छध्वं] अपने शशिको ऊपर ठठामो । (रक्षः अपः इनाय) राक्षसोंको मागो । (इमां नारीं सुकृते दंघात) इस स्त्रीको पुण्य कर्ममें रखो । (विपश्चित् धाता अस्मै पति विवेद) ज्ञानी विधाताने इसके लिये पति प्राप्त कराया है । (भग राजा प्रजानन् पुरः पतु) राजा भग जानता हुआ आगे चढे ॥ ५९ ॥

(भगः चतुरः पादान् ततश्च) भगने चार पावोंको बनाया, उनपर (भगः चत्वारि उष्पलानि ततश्च) भगने चार कमलोंको बनाया । [त्वष्टा मध्यतः वर्ध्रान् अनु पिपेश] त्वष्टाने मध्यमें कमरपट्टीको बनाया । (साः नः सुमङ्गली अस्तु) यह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ ६० ॥

हे । (सूर्ये) सूर्ये ! (सुकृिंशुकं विश्वरूपं द्विरण्यवर्णं सुवृत्तं सुचक्रं वहतुं आरोह) तमम पुरोंसे युक्त, अनेक रूपवाला, सोनेक रंगक समान चमकनेवाला, उत्तम बेटनोंसे युक्त, उत्तम चकौसे युक्त इस रथपर चढ । (अमृतस्य लोकं आरोह) अमृतक लोकपर चढ । (त्वं वहतुं पतिभ्यः स्योनं कृणु) तू इस विवाह दहेज या रथको पतिपेट लिये सुखदायी करा ॥ ६१ ॥

हे(वरुण वृःस्पते इन्द्र सवितः)देवी! (अभ्र तृघ्ना) यह वधू भाईयोका वध न करनेवाली,अपतिमो,पुत्रिणी अस्मभ्यं वध)पशुका वध न करनेवाला पतिका नाश न कानेवाली आर पुत्र उत्पन्न करनेवाली हमारे लिये प्राप्त करो ॥६२॥

भावार्थ- सवितने तुझे इस समयक त्रिं पाशोंसे बाध रखा था, उन वरुणके पाशोंका मैं से लता हूँ । तुझे जैसी सुशेवाय धर्मपत्नीके लिये यहाँ विस्तृत लोक प्राप्त हुआ है और दक्षतिष्ठा मार्ग सुगम हुआ है ॥ ५८ ॥

इस धर्मपत्नीको कष्ट देनेवाले राक्षसोंका नाश करनेके लिये तुम लोग दधिगर सदा सुमज्जित रहो । सदा इस स्त्रीके पुण्यकर्ममें लगाओ, ज्ञानी विधाताकी संमतिसे इसके यह पति प्राप्त हुआ है, राजा भी यह जानता हुआ विवाहमें अग्रगामी हुआ था ॥ ५९ ॥

भगने पावोंके चार आभूषण और शरीरपर धारण करनेके चार फूल बनाये और कर्ममें धारण करनेमें सब कर्मरपशु बनाया है । इनको धारण करके यह स्त्री उत्तम मंगलमयी बने ॥ ६० ॥

यह वधु तमम फूलोंसे युक्त, सुंदर, सोनेके नक्की कामसे सुशोभित तमम चक्रवाक रथपर चढकर अमर पदके मार्गमें आक्रमण करे । यह धर्मपत्नीका विवाहमंगल पतिके घरवालोंके लिये सुखदायक होवे ॥ ६१ ॥

यह स्त्री पतिके धर्ममें पतिके भाई, पशु आदिघोषोंसुख देवे । पतिको सुख देवे । पुत्रोंके उत्पन्न करे । और सबका आनन्द बढ़ानेवाली बने ॥ ६२ ॥

मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि । शालाया देव्या द्वा रं स्योनं कृष्णो वधूपयम् ॥६३॥
 ब्रह्मपरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः ।
 अनाव्याधां देवपूरां प्रपद्यं शिवा स्योना पतिलोके त्रि गंज ॥६४॥
 ॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

[२]

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्सूर्यां वहंतुना सह । स नः पतिभ्यो ज्ञायां दा अग्नें प्रजया सह ॥१॥
 पुनः पत्नीमग्निरेद्रादायुषा सह वर्चसा । दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥२॥
 सोमस्य ज्ञाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः । तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥३॥

अर्थ- हे (स्थूणे) दोनो स्तंभो ! (देवकृत पथि) देवोके बनाय मार्गपर (कुमार्यं मा हिंसिष्टं) इस कुमारी वधुकी
 प्रीसा न कर । (देव्या शालायाः द्वा रं उच्यते स्योनं कृष्णः) घररूप देवताके द्वा रमें वधु जानेके मार्गको हम सुखकर
 करते हैं ॥ ६३ ॥

(अग्रं पूर्वं अन्ततः मध्यतः सर्वतः ब्रह्म युज्यतां) अग्रे पीछे अन्ततः बीचमें अग्र्यात् सर्वत्र ब्रह्म अर्थात्
 [सामर्थ्याके मंत्रोक्त प्रयोग किया करो । दे वधु' नू (ब्रह्मप्रायां देवतां यथा) अग्नि द्विज देवताकी प्राप्ति होकर
 (पतिलोके शिवा स्योना वि राज) अपने पतिके स्थानमें कल्याणकारीणी और सुख देनेवाली होकर प्रकाशित हो ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

अर्थ- हे अग्ने ! (अग्ने तुभ्यं) आरंभमें तेरे धिये (वहंतुना सह सूर्या पर्यवहत्) इदंके साथ सूर्याको ले जाते
 हैं । (सः) वह नू (नः पतिभ्यः) हम सब पतिवर्गको (भनया सह ज्ञायां दाः) संज्ञानसहित पत्नीको प्रदान कर ॥ १ ॥

(आयुषा वर्चसा सह) दीर्घायुष्य और वर्चके साथ (अग्निः पत्नीं पुनः अदात्) अग्निने पत्नीको पुनः प्रदान
 किया । (अस्याः यः पतिः) इसका जो पति है, वह (दोषायुः शरदः शतं जीवाति) दीर्घायु बनकर सौ वर्ष जीवित
 रहता है ॥ २ ॥

(प्रथमं सोमस्य ज्ञाया) सबसे प्रथम सोमकी स्त्री है, (ते अपरः पतिः गन्धर्वः) तेरा दूसरा पति गन्धर्व है । (ते
 तृतीयः पतिः अग्नि) तेरा तीसरा पति अग्नि है और [ते तृतीयः मनुष्यजाः] तेरा चतुर्थ पति मानव है ॥ ३ ॥

भावार्थ- यह वधु देवोके मार्गसे जा रही है, अतः इसको किसी तरह कष्ट न हो । इसके पतिके घरका मार्ग और इसके
 पतिके घरका द्वार इसके लिये सुखदायी होते ॥ ६३ ॥

इस वधुके चारों ओर ज्ञान और ईश्वरार्थनाथ वायुमंडल हो । जहाँ व्याधि नहीं है ऐसी पतिके घररूप देवताकी यह
 वधु प्राप्त हो । पतिके घरमें सुखयुक्त और कल्याणयुक्त बनकर यह विराजे ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

दंडज पतिके घर भेजनेके पूर्व कन्या अग्निही उपपत्तना प्रथम करती है, जिससे उस कन्याको पतिके घर सुख और उत्तम
 ज्ञान प्राप्त होता है ॥ १ ॥

अग्नि उपपत्तना अर्थात् यजन अथवा हवन करनेसे दीर्घ आयुष्य, और धार्मिक चर्चित प्राप्त होता है । कन्याका पति जो
 व हवनसे दीर्घजीवा अर्थात् शतायु हो सकता है ॥ २ ॥

सोम, गन्धर्व, अग्नि ये अथर्वनामें कन्याके तीन पति हैं । और पश्चात् उस कन्याका विवाह मनुष्य पतिके साथ होता है ॥

सोमो ददद् गन्धर्वीयं गन्धर्वो दददुप्रये । रयिं च पुत्रांश्चादादुभिर्मद्यमथो हुमाम् ॥४॥

आ वामगन्धर्वतिर्वाजिनीवसू न्यक्षिना हत्सु कामा अरंसत ।

अभूतं गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्प्य्मो दुयी अशीमहि ॥५॥

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं घेहि सर्ववीरं वचस्यम् ।

सुगं तीर्यं सुप्रपाणं शुभस्पती स्याणुं पथिष्ठामपं दुर्मति हंतम् ॥६॥

या ओषधयो या नद्योऽे यानि क्षेत्राणि या वना । तास्त्वां वधु प्रजावर्तिं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥७॥

एमं पन्थामरुधाम सुगं स्वस्तिवाहनम् । यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसुं ॥८॥

अर्थ- विमको [सोमः गन्धर्वीय ददद्] सोमने गन्धर्वो द्यो(गन्धर्वः अत्रये ददत्)गन्धर्वेन अग्निं को दी, [अयो हुमा] और इसी कन्याको तथा [रयिं च पुत्रान् च अग्निः मद्ये अदान्] धन और पुत्रोंको अग्निने मुझ प्रदान किया ॥ ४ ॥

[वामं मुमतिः आगन्] आरकी उत्तम मति प्राप्त हुई है । हे [वाजिनीवसू अश्विनी] बल और धनयुक्त अश्विनी-देवी ! [कामाः हत्सु नि अरंसत] हमारी शुभ रूपायें हृदयमें स्थिर हो गई हैं । हे [शुभस्पती] शुभके पाठको । [मिथुना गोपा अभूतं] तुम दोनों इन्द्रियोंके पाठक बनो । [अर्प्यः अयोः दुयीन् अशीमहि] आर्य मनवाले अष्ट देवके मिय होकर हम उत्तम धर्मोंको प्राप्त हों ॥ ५ ॥

[सा मन्दसाना] वह आनन्दित रहनेवाली तू खो [शिवेन मनसा] शुभ भावनायुक्त मनसे [सर्ववीरं वचस्य रयिं घेहि] सर्व वीरोंसे युक्त प्रसंसनीय धनकी धारणा कर । हे [शुभस्पती] शुभके पाठको । हमारी लिये (तीर्यं सुगं), ऐतरेका स्थान सुगम हो, (सुप्रपाणं) उत्तम जल पीनेका स्थान हो, तथा । पथिष्ठां स्याणुं) मार्गमें प्रतिबंध करने-वाले स्त्रिय बेसी (दुर्मति) दुष्ट बुद्धिवाले शत्रुको (हतं) मार कर दूर करा ॥ ६ ॥

हे वधु ! , याः ओषधयः) औषधियां, वो (या नद्यः) वो नदियों, (यानि क्षेत्राणि) वो क्षेत्र, और (या वना) वो वन हैं (तां) वे सब पदार्थ (पत्ये प्रजावर्ती त्वा) पतिके लिये संवत्सयुक्त तुझको (रक्षसः रक्षन्तु) राक्षसोंसे सुरक्षित रखें ॥ ७ ॥

(हुमं पन्थामरुधाम) इस मार्गसे चलें, यह [सुगं स्वस्तिवाहनं] सुगम और गाढीके लिये भी सुलभ है, (यस्मिन् वीरो न रिष्यति) जिसमें वीरका नाश नहीं होगा और (अन्येषां वसुं विन्दते) दूसरोंकी अपेक्षा यहाँ धन अधिक मिलता है ॥ ८ ॥

भावार्थ- सोम गन्धर्वोंको देता है, गन्धर्व आग्नेके हाथमें समर्पण करता है और अग्नि पुत्रोत्पादनार्थिके साथ मनुष्यके साथमें अष्ट कन्याको देता है ॥ ४ ॥

उप देवीके आधिपत्यमें कन्याओंके उत्तम बुद्धि प्राप्त होती है । पथान् उसके हृदयमें कामको स्थान मिलता है । उस समय अश्विनी देव इन वधुवरोंके रक्षक होते हैं । अष्ट समय अपना मन अष्ट विचारोंसे युक्त करके अपने धर्मोंके रक्षको वाध करना उचित है ॥ ५ ॥

अपने पतिके धर्ममें आनन्दसे रहनेवाली धर्ममाली अपने मनमें शुभलक्षण धारण करे और वीरभावयुक्त संतान और प्रसंशा देकर धनकी सम्पत्ति बने । इस दीपतीके मार्ग सुगम हों, इनको पश्चात् खानपान प्राप्त हो, और इनके उत्पत्तिके मार्ग निष्कष्टके हों और दुष्ट बुद्धि इनसे दूर हो ॥ ६ ॥

औषधियां, नदियां, जंगल, वन आदि सब स्थानोंमें संतानोत्पत्ति और पतिके धर्म करनेवाली अष्ट लक्ष्मी रक्षा हो, पश्चात् कोई अशुभ रूपायें न पड़ें ॥ ७ ॥
 जो मार्ग सुगम और निर्भय हो उससे जाने बसो। और अष्ट मार्गसे जानो कि जिसमें उत्तम विचारके साधन मिलते हों ॥ ८ ॥

इदं सु मे नरः गृणुत ययाऽऽसिपा दम्पती वाममधुनः ।

ये गन्धर्वा अंप्रमथ देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तम्युः ।

स्योनास्ते अस्यै वृधै भवन्तु मा हिंसिषुर्हन्तुमुत्तमानम् ॥९॥

ये वृष्टाश्चन्द्रं रंहन्तु यक्ष्ना यन्ति जनां अनुं । पुनस्तान् यजिष्यां देवा नपन्तु यत् आगताः ॥१०॥

मा विंदन परिपन्थिनो य श्रामीदन्ति दंपती । सुगेन दुर्गमनीनामप द्रान्त्वरातयः ॥११॥

सं काशयामि वहन्तु ब्रह्मणा गृहैर्घोरिण चक्षुषा मित्रिणेण ।

पर्याणद्धं त्रिभ्ररूपं यदस्ति स्योन पतिभ्यः सन्निता तत् कृणोतु ॥१२॥

श्रिवा नरीयमस्तमार्गक्षिमं धाता लोकमभ्यै दिदेश ।

तमर्थमा भर्गो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥१३॥

अर्थ- हे (नर) मनुष्या ! (मे इदं सुतामृत्) मे। यह माया सुने । यथा ब्रह्मणा) जिन आतीर्षादसे (दम्पती वाम मधुन) ये वर और वधु सुबधा प्राप्त होत हैं । (पुन वानस्पत्येषु) हम वनमें (ये गन्धर्वा देवीः । अंप्रमथ अधि तम्यु) जो गन्धर्व और अंप्रमथ ठहरो हैं, (ते अन्ये वधै स्योना मधन्तु) वे हम वध के लिये सुखदायी हों और (उल्लमान वहन्तु मा हिंसिषु) दहेज ले जानेवाले इन रथका नाश न करें ॥ ९ ॥

(य यक्ष्मा जनान् हन्तु) जो योग मनुष्यों के मरवन्तसे (बध्ना चन्द्र यक्षु पाप्मि) वधू के तेजस्वी दहेज रथके पाप पदुचते हैं, (तान् आता यजिष्या देवा) उन रोगियों को यज्ञों काये यज्ञ देव (पुन यतः आगता नपन्तु) जिससे जड़से भाप ये वधों ले जावें ॥ १० ॥

(ये परिपन्थिन श्रामीदन्ति) जो लुटेरे वनीर यात्रे होते, वे (दम्पती मा विदन्) हम पतिपत्नीको न जानें । ये वधू (सुगेन दुर्गमनीनां) सुगमतासे कठिन प्रसंगसे पार हों जाय । और इनके (बरातव भय दान्तु) घट्टे दूर हों ॥ ११ ॥

(वहन्तु) वधू के दहेजुक रथको (गृहैर्घोरिण मित्रिणेण चक्षुरा) चारों ओरके घरवाले लोग ज्ञानपूर्वक दाव और मित्रताको आससे देखें, ऐसा मैं । सं काशयामि) इनको प्रकाशित करता हूँ । यत् त्रिभ्ररूपं पर्याणद्धं कर्तिव) जो विविध रूपवाला बन्धा हुआ है, उनको (मन्थिना पतिभ्य स्योन कृणामु) देव पतिके लिये सुखदायी बनावे ॥१२॥

(इयं श्रिवा माती ब्रह्म आगन्) यह ब्रह्माकारिणा स्त्रा पतिके घर आगयी है । (धाता अर्थै इम लोके दिदेश) ईश्वरने हम पतिको कृपा मार्ग दर्शाया है । (अर्थमा भग उमा अश्विना प्रजापतिः) ये सब देव (या प्रजया वर्धयन्तु) उनको प्रजाके साथ बढ़ावें ॥ १३ ॥

भाषार्थ - सब लोग इस पाषणोको सुने, कि यह विवाहित स्त्रीरथ हम सेभारमें सुखपूर्वक रहे । वन्धाओं तथा प्रामवाओं कोईभी इनको दुःख न देवे । ये प्रामान्तरमें चलन लगे, तो भी किसी प्रकार इनको दुःख न हो ॥ ९ ॥

जनममृशयमें जानेसे जो रोग सधर्मके कारण होते हैं, और वधूको मार्गमें भी जो रोग होना संभव है, वे सब रोग दहसे दूर होंगे ॥ १० ॥

मगधर जो लुटेरे होंगे, उनसे इस दम्पतीको बच न हों, ये पतिपत्नी सुगमतासे कठिन प्रसंगोंके पार हो सके । और इनके सब शत्रु दूर हों ॥ ११ ॥

जब दहेजका रथ या पत्नीका पतिके घर जानेवा रथ मार्गमें चल जावे, तब वनों औरके घरवाले उध बन्धाओं केमयी मित्रताके देखें । जो भी कुछ विविध रंगरूपवाले पदार्थ हों, वे सब ईश्वरकी कृपा से हम पतिपत्नीके लिये सुखदायी हों ॥ १२ ॥

यह सुखभाववाली स्त्री पतिके घर जाती है, बरा कि विधातने वही स्थान इसके लिये निर्दिष्ट किया था । सब देव इसके उत्पन्न उत्पान दें ॥ १३ ॥

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमाम्नु तस्यां नरो वपत् वीजमस्याम् ।

सा वः प्रजां जनयद् वृक्षणाभ्यो चित्रेनी दुग्धमृषम-य रेतः

॥१४॥

प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति । मिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥१५॥

उद् वं ऊर्मिः शम्पा हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत । मादुक्त्रा व्येनसावृक्षयावशुनमारताम् ॥१६॥

अघोरचक्षुरपतिम्नी स्योना शम्मा मुशेवां सुयनां गृहेभ्यः ।

वीरुद्धेष्टुर्कामा सं त्वर्यैधिपीमहि सुमनस्यमाना

॥१७॥

अर्थ— (आत्मन्वती ऊर्वरा हयं नारी आगन्) आरिभक्त बलसे युक्त तथा सुपुत्र उत्पन्न करनेवाली यह नारी पतिके घर भागई है । (नर. तस्यां अस्यां बीजं वपत्) हे प्रनुषयो ! तब खीमें बीज बोमो, बीर्यका आधान करो । (या वः) यह तुम्हारे लिये (अरुभस्य दुग्धं रेतः चित्रेनी) बीर्यवान् पुष्टका वार्य धारण करती हुई (वृक्षणाभ्यः प्रजा जनयत्) अपने गर्भाशयसे संतान उत्पन्न करे ॥ १४ ॥

हे स्त्री ! तू (प्रति तिष्ठ) यों प्रतिष्ठित हो, तू (विराट् अमि) विनायक तैमरी है । तुम्हारा पति (विष्णुः इव इह) विष्णुके समान यहाँ है । हे (सरस्वति, यिनावालि) विद्या देवता और अन्नदात्री देवता ! इन्से (प्रजायतां) संतान हो और यह (भगस्य सुमतावसत्) भार्यके देवता सुनतिमें रह ॥ १५ ॥

(वः ऊर्मिः शम्पाः उद् हन्तु) आपकी कट्टर दाम्निता-रिपयताका भंग करे । हे (आयः) जनों (योक्त्राणि मुञ्चत) युगोंको छोड़ दो । (मादुक्त्रा व्येनसावृक्षयावशुनमारताम्) हुट् कर्म न करनेवाले, गाडासे छोड़ हुए ज्यों बिल [अशुनं मा आरतां] अशुभको न प्राप्त हों ॥ १६ ॥

[गृहेभ्यः] अपने घरोंके लिये [अघोर चक्षुः अपतिम्नी स्योना] क्रूर दृष्टि न करनेवाली, पतिहरया न करनेवाली, सुखकारिणी [शम्मा मुशेवा सुयना] कल्याणकारिणी, सेवा करने योग्य, सुनियमोंसे चलनेवाली ! [वीरुद्धेष्टुः देवकामा] बीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, देवकी हृष्टता पूर्ण करनेवाली, और [सुमनस्यमाना] उत्तम अन्तःकरणसे युक्त [स्वया पधिपीमहि] तुझसे हम संपन्न हों ॥ १७ ॥

भावार्थ— यह स्त्री आरिभक्त बलसे युक्त है और पुत्र उत्पन्न होनेकी शक्तसे युक्त है अर्थात् यह वं ही है । पति इस स्त्रीमें अपने बीर्यका आधान करता है और पश्चात् यह स्त्री उस वीर्यको धारण करती हुई अपने गर्भाशयसे संतानोत्पत्ति करता है ॥ ० ॥

आ अपने पतिगृहमें प्रतिष्ठाको प्राप्त हो, स्त्री घरकी सज्जकी है, उसका पति देव है और यह ससकी देवी है । इस पतिपत्नीको उत्तम संतान प्राप्त हो और ये दोनों उत्तम बुद्धि धारण करें ॥ १५ ॥

प्रवासमें जब दाम्निताका भंग होवे, अर्थात् मनको चष्ट प्रतीत हो, उस समय वाहनके बिल छोड़ि जाय और उनको उत्तम स्थानमें सुगक्षित रखे ॥ १६ ॥

यह स्त्री पतिके घरमें आकर आनन्दसे रहे, आँखें कोषयुक्त न कर, पतिकी हितकारिणी बने, धर्मनियमोंका पालन करे, घरको सुख दवे, अपनी संतानोंको वास्ताकी शिक्षा दवे, देवर आदिकों संतुष्ट रखे, अन्तःकरणमें शुभ भाव रखे । ऐसी स्त्री घर सुखेपन्न होता है ॥ १७ ॥

अदेवुधन्यपतिष्ठीहैषिं शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।

प्रजावती वीरसुद्वेषकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्यं

॥१८॥

उत्तिष्ठतः किमिच्छन्तीदमागां अहं रवेडे अभिभूः स्वाद् गृहात् ।

शून्यैषी निष्क्रेते याजगन्धोत्तिष्ठागते प्र पंतु मेह रंसाः

॥१९॥

यदागार्हपत्यममंपयैत् पूर्वमग्निं वृधूरियम् । अध्या सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुह ॥२०॥ (८)

शर्म चर्मैतदा हंरास्यै नार्या उपस्तरं । सिनीवालिं प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥२१॥

यं बल्वजं न्यस्वध चर्म चोपस्तृणीयनं । तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥२२॥

[अद्वेषो अपतिष्ठी] देवराका नाश न करनेवाली, पतिहा घात न करनेवाली, [पशुभ्यः शिवा] पशुओंका हित करनेवाली, [सुयमा सुवर्चाः] उत्तम नियमोंसे चलनेवाली और उत्तम तेजसे युक्त [प्रजावती वीरसुः] संतानयुक्त, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली [द्वेषकामा रथोना] पतिके घरमें दवर रहे ऐसी कामना करनेवाली सुधदायिनी त् [इम गार्हपत्यं अग्निं सपर्यं] इस गार्हपत्य अग्निकी पूजा कर ॥ १८ ॥

हे [निष्क्रेत] दरिद्रते ! [अ व तिष्ठ] ठह, कहे कि [किं इच्छति] तू क्या चाहती हुई [इद भागः] यहाँ भाग है । [अहं अभिभूः] मैं तेरा पराभव करनेवाला [स्वात् गृहात् त्वा हंते] अपने घरसे तुझे हरा देगा हूँ । [या शून्य-पयि] जो घरको शून्य करना चाहती हुई तू [आजगन्धाः] यहाँ आग है हे, हे [अ-राते] शून्यमूल दरिद्रते ! [उतिष्ठ] यहाँसे उठ और [प्र पंतु] दूर भाग जा । [इह मा रंसाः] यहाँ मत रममाण हो ॥ १९ ॥

(यदा इयं ययु) जब यह स्त्री (गार्हपत्यं अग्निं पूर्व मसपयैत् ; गार्हपत्यअग्निकी पतिसे पूजा करे, (अया) वरपश्चात् हे (नारि) स्त्री ! त् (परस्वत्यै पितृभ्यः च नमस्कुह) सरस्वतिकी और पितरोंको नमन कर ॥ २० ॥

(अयं नार्यै) इस स्त्रीके लिये (उपरतरे एतव चर्मं यमं) बिछानेके लिये यह सुध और संरक्षण (आदर) ले-गा । हे (सिनी-वालि) अन्न देनेवाली देवी ! (प्र जायतां) यह स्त्री उत्तम रीतिसे संवति उत्पन्न करे और (भगस्य सुमतावसत्) भगवान्की उत्तम मतिमें रहे ॥ २१ ॥

(यं बल्वजं न्यस्वध) जो चटाई नीचे बिछाते हैं (च चमे उपस्तृणीयन) और चर्म उपर बिछाते हैं । (या कन्या पतिं विन्दते) जो कन्या पतिके प्रसन्न करती है, वह (सुप्रजा त्व आतोहस्तु) उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली उठ पर चडे ॥ २२

भावार्थ — स्त्री पतिगृहमें आकर देवर और पतिहा हित करे, पशुओं का उत्तम पालन करे, धर्मनियमोंके अनुसार रहे, तेजस्विनी बने, अपनी संतानोंको वीरताकी शिक्षा देवे और अग्निकी दहनद्वारा उपासना करे ॥ १८ ॥

गृहस्थोंके घरमें दरिद्रता न रहे । गृहस्थ अपने प्रयत्नसे दारिद्र्य दूर करे । जो घर पुराणसे शून्य होता है, उसमें दारिद्र्य रहता है । अतः प्रयत्नद्वारा दरिद्रताको दूर करना योग्य है ॥ १९ ॥

स्त्री पतिघरमें प्रतिदिन सबसे पहिले गार्हपत्याग्निकी दहनद्वारा उपासना कर, पश्चात् विद्यादेवीकी और पश्चात् पितरोंकी पूजा करे ॥ २० ॥

पति अपनी स्त्रीके लिये हरएक प्रकारसे सुध देवे, और उसकी उत्तम रक्षा करे । यह स्त्री उत्तम अन्न सेवन करके उत्तम संतान उत्पन्न करे और ऐसा आचरण करे कि ईश्वर का आशीर्वाद इसके प्राप्त हो ॥ २१ ॥

पहिले चासकी चटाई बिछाई जाये, उसपर कृष्णाग्नि बिछाया जावे । जो स्त्री पतिके प्राप्त करती है, वह सुप्रजा उत्पन्न करनेवाली स्त्री इस बिलोनेपर चडे ॥ २२ ॥

उप स्तृणीहि चर्चमधि चर्मणि रोहिते । तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं संपर्यतु ॥२३॥

आरोह चर्मोप सीदाम्निष देवो हन्ति रक्षंसि सर्वा ।
इह प्रजां जनय पत्ये असौ सुज्यैष्ठ्यो भवतु पुत्रस्त एषः ॥२४॥

वि विष्टन्तां मातरस्या उपस्थानानारूपाः पशवो जायमानाः ।
सुमङ्गल्युर्प सीदेममग्निं सर्पत्नी प्रति भूपेह देवान् ॥२५॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः ।
स्योना श्वश्रे प्र गृहान् विशमान् ॥२६॥

स्योना भवतु श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः । स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना गुष्टायैषां भव ॥२७॥

सुमङ्गलिरियं वधूरामां सुमेत पश्यत । सौभाग्यमस्यै दुश्चा दौर्भाग्यैत्रिपरंतन ॥२८॥

* धी— (बध्वज उपस्तृणीहि) पहिले चटार्ड फैला दो, पश्चात् (अधि चर्मणि रोहिते) स-चर्मके ऊपर (तत्र सुप्रजा उपविश्य) वहां सुप्रजा उत्पन्न करनेवाली यह स्त्री (इमं अग्निं संपर्यतु) इस अग्नि की उपासना करे ॥ २३ ॥

(चर्म आरोह) इस चर्मपर चढ़, (अग्निं उप आसीद्) अग्नि के समीप बैठे । (एषः देवः सर्वाः रक्षंसि इति) यह देव सब राक्षसों का नाश करता है । (इह अस्मै पत्ये प्रजां जनय) यहां इस पतिके लिये संतान उत्पन्न कर । (ते पत्यः पुत्रः सुज्यैष्ठ्यः भवतु) तेरा यह पुत्र उत्तम श्रेष्ठ बने ॥ २४ ॥

(अस्याः मातुः उपस्थात्) इस माताके पास (जायमानाः नाना रूपाः पशवः । वि विष्टन्तां) उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रकारके पशु उड़ें । (सुमङ्गली संपत्नी इमं अग्निं उपसीद्) उत्तम मंगल कामनावाली और उत्तम पतिके साथ यह स्त्री इस अग्नि की उपासना करे । और (इह देवान् प्रतिभूय) यहां देवोंकी सेवा करे, योग्य बढावे ॥ २५ ॥

(सुमङ्गली) उत्तम मंगल भावपूर्ण धारण करनेवाली (गृहाणां प्रतरणी) घरोंको दुःखसे दूर करनेवाली (प्रायेः सुशेवा) पतिकी उत्तम सेवा करनेवाली (श्वशुराय शंभूः) श्वशुरको सुख देनेवाली, (श्वश्रे स्योना) सासकी आनंद देनेवाली तु (इमान् गृहान् प्रविश) इन घरोंमें प्रविष्ट हो ॥ २६ ॥

(श्वशुरेभ्यः स्योना भव) श्वशुरोंके लिये सुख देनेवाली हो, (प्रायेः गृहेभ्यः स्योना) पति और घरके लिये हितकारिणी हो, (अस्यै सर्वस्यै विशे स्योना) इस सब प्रजासमूहको सुखदायिनी, (स्योना एषां पुष्टाय भव) सुखदायक होकर इन सबकी पुष्टिके लिये हो ॥ २७ ॥

(इयं सुमङ्गली वधुः) यह मङ्गल्युक्त वधु है । (स ऐत, इमां पश्यत) इन्हें होमो और इसको देखो । [अस्यै सौभाग्यं ददाति] इसको सौभाग्यका भागीबंद देकर [दौर्भाग्यं वि परेतन] दुष्ट भाग्यको दूर करते हुए आपस आओ ॥२८॥

भावार्थ—पहिले चटार्ड फैलाओ, उपपर चर्म बिछा दो, वहां उत्तम संतान उत्पन्न करनेवाली स्त्री बैठकर अग्नि की उपासना करे २३ उस चर्मपर चढ़, अग्नि की पूजा कर । यह अग्निसे सब दुष्ट राक्षसोंका नाश करता है । इस संवसारमें अपने पतिके लिये संतान उत्पन्न कर । यह तेरा पहिला पुत्र उत्तम श्रेष्ठ बने ॥ २४ ॥

अब यह स्त्री माता होगी, तब उसके साथ विविध रंगरूपवाले गौ आदि पशु रहेंगे । यह स्त्री उत्तम मंगल धारणा की कामना करके अग्नि की उपासना करे और देवोंको सुभूषित करे ॥ २५ ॥

उत्तम मंगल कामनावाली, गृहवालोंको दुःखसे मुक्तानेवाली, पतिकी सेवा करनेवाली, श्वशुरको सुख देनेवाली, सासका हित करनेवाली स्त्री अपने घरमें प्रविष्ट हों ॥ २६ ॥

यह स्त्री श्वशुरोंका हित करे, पतिकी सुख दे, सब अरवालोंका हित करे और सबको पुष्ट रखे ॥ २७ ॥

सब भाईबंधु इच्छते देखे यहाँ आये और इस वधुका दर्शन करें । यह वधु बहुत कल्याण करनेवाली है । अतः वे इस वधुको शुभाशीर्वाद देकर, इसके जो दुष्ट भाग्य हैं, सबको दूर करके भाग्य अपने पर लावें ॥ २८ ॥

या दुर्हादीं युञ्जन्थो याश्चेद् जरतीरपि । वृक्षो न्युपुष्यै सं दुत्ताधास्तै विपरंतन ॥२९॥

रुक्मप्रस्तरंगं वृक्षं विश्वा रूपाणि विभ्रतम् । आरोहन् सूर्या सावित्री बृहते सौमगायु कम् ३० ।

आ रोहं तल्पं सुमनस्यमानिह प्रजां जैनयु पत्यं अस्मै ।

इन्द्राणीषं मुबुधा बुध्वमाना ज्योतिप्रो उपमः प्रति जागरासि ॥३१॥

देवा अग्ने न्युपचन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तिनूभिः ।

सूर्येवं नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावन्ती पत्या सं भवेह ॥३२॥

उत्तिष्ठतो विश्वायसा नममडामहे त्वा ।

जामिभिच्छ पितृपदं न्यक्तां स तं भागो जनुषा तस्यं विद्धि ॥३३॥

अर्थ—[या दुर्हादं, युञ्जन्थो] जो दुष्ट हृदय गलः खिगां है और [या च इह जगतः नारि] जो यहाँ वृद्ध खिया हैं, ये [अर्यं यु वचः सं दत्त] हमको निश्चयपूर्वक तेज दें, [अथ मस्त विपरतन] और अपने घरको वापस जाँ ॥ २९ ॥

[रुक्मप्रस्तरंगं] मोनेक बिठोनेमे युक्त (विधा रूपाणि । अत्रं) अनेक सुदूर तजावटोको धारण करनेवाले, [कं वृक्षं] सुलदायक रथप [रूपा सावित्रा वृद्ध सौमगायु आराद्धत्] सूर्या सावित्रा बट सौभाग्यकी वास्तिके लिये चढी है ३० ॥

[सुमनस्यमाना तलां जागोह] उत्तम मनस भाव धारण करता हुई स्त्रा विरतेपर चढे । [इह अर्यं पापे प्रजा जयय] यहाँ हम पाप लिये सतान उरग्न कर । [इन्द्राणीष इव मुबुधा] इन्द्राणीके समान उत्तम ज्ञानवाली होकर [ज्योतिः अग्राः उपस बुध्वमाना] जिसके बाद सूर्यकी ज्योति आनेवाली है ऐसी उपानोंके पूर्व जगकर [प्रति जागरासि] निद्रा छोडकर उठ ॥ ३१ ॥

[अग्ने देवाः पत्नी नि अचन्त] पूर्व समयमें देव लोग अपनी खियाँके साथ लेते थे । [तन्वः तनूभिः सं अर्यु-शन्त] अपने शरारोंसे रित्रयोक शरीरको रक्षा करते थे । उक्त प्रकार है [नारि] कां! तू [इह] इस समयमें सूर्या इव] सूर्यप्रभाक समान [माहित्वा विश्वरूपा] महारक्षसे अनेक रूपवाली होकर [प्रजावन्ती पत्या संभव] प्रजायुक्त होकर पारद पाट बनाउ उपन कर ॥ ३२ ॥

हे [विश्वायसो] मर धनके युक्त वर । [इह उत्तिष्ठ] यहाँसे उठ, [एव नमसा इंडामहे] तेरी नमस्कारोंसे पूजा करते हैं । [नितृपदं न्यक्तो जामि इच्छ] पिताके घरमें रहनेवली सुशोभित बधूको तू प्राप्त करनेको इच्छा कर । [सः ते भागः] वह तारा भाग है । [तस्य जनुषा विद्धे] उतका जन्मसे ज्ञान प्राप्त कर ॥ ३३ ॥

भाषार्थ— जो दुष्ट हृदयवाली और बूढ़ी रित्रया है, वे भी सब रित्रयां इस बधूको अपना तेज अर्पण करें और अपने घरको वापस चली जावें ॥ २९ ॥

जिसका अर्थके कलावतूरा : : किया है ऐसे गढ़े जगमें लगे हैं आर विविध हुनरीसे जिसकी शोभा बडाई है, ऐसे हुनर रथपर यह बधू चढ और पतिके घर गत होकर बडा सौभाग्य प्राप्त करे ॥ ३० ॥

यह स्त्री मर उत्तम भाव धारण करती हुई विस्तेरेपर चढे, और धार्तिक लिये उत्तम मन्त्रान निर्माण करे । उत्तम ज्ञान संपादन करके उक्त कालके पूर्व जागकर निद्रामे निश्चन होकर उठे ॥ ३१ ॥

पूर्व समयमें देव भी अर्यों धर्मपत्नीयोंके मग भोत रहे, अपने शरारसे खिने शरारोंको आलिंगन देते रहे । उर्छा प्रकार यह स्त्री भी अनेक प्रकार अपने रूप ही सजावट करती हुई, उत्तम प्रजा निर्माण करनेकी इच्छामे पतिके साथ मिलकर रहे ॥ ३२ ॥

हे धनकाते पुहय । वहागे उठकर यहाँ आ, हम आपका स्वागत करने हैं । यह बधू इस समयतक पिताके घर रहती थी, आध इस बधूकी प्राप्ति करने में इच्छा करते हैं, तो यह आपका माय हो सनता है । इस आपके भाग के- इस स्त्रीके -जन्मसे मर उरान्त भाव चाहे मो जान सकते हैं ॥ ३३ ॥

अप्सरसः सध्मादं मदन्ति हविर्धानंमन्तरा सूर्यं च ।
 तास्तै जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि ॥३४॥

नमो गन्धर्वस्य नमसे नमो भामाय चक्षुषे च कृणमः ।
 विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोऽभि जाया अप्सरसः परेहि ॥३५॥

राया वयं सुमनसः स्यामोदितो गन्धर्वभावीवृताम् ।
 अगन्तस देवः परमं सन्नस्थमगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ॥३६॥

सं पितरावृत्तिये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः ।
 मर्यं इव योपामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुण्यतं रयिम् ॥३७॥

अर्थ—[हविर्धानं अन्तरा सूर्यं च] हविर्धान और सूर्यके मध्यमें [अप्सरसः सध्मादं मदन्ति] अप्सराएं साथ साथ मिलकर आनन्दित होनेवाले कर्ममें आनन्दित होती हैं । [ताः जनित्रं] वह वेदा जन्मस्थान है । [ताः अभि परेहि] उनके पास जा । [गन्धर्व-ऋतुना ते नमः कृणोमि] गन्धर्वके ऋतुभौके साथ तुझे मैं नमन करता हू ॥ ३४ ॥

[गंधर्वस्य नमसे नमः] गंधर्वके नमस्कारको हम नमस्कार करते हैं । उसकी [भामाय चक्षुषे च नमः कृणमः] तजस्वी आंखके लिये हम नमन करते हैं । हे (विश्वावसो) सध घनसे युक्त ! (ते ब्रह्मणा नमः) तुझे हम शानके साथ नमन करते हैं । [अप्सरसः जायाः अभि परेहि] अप्सरा जैसा स्त्रियोंके साथ परे जा ॥ ३५ ॥

[वयं राया सुमनसः स्याम] हम घनके साथ उत्तम मनवाले हों । (इतः गंधर्व उक्त्वावीवृतां) यहाँसे गंधर्वको घेरे, स्वीकार करें, प्राप्त करें । (सः देवः परमं सधस्थं अगन्) वह देव परम श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त हुआ है । (यत्र आयुः प्रतिरन्तः अगन्म) जहाँ आयुको दीर्घ बनाते हुए हम पहुंचते हैं ॥ ३६ ॥

हे [पितरौ] मातापिताओ ! [ऋत्विजे संयुज्यां] ऋतुकाष्ठमें संयुक्त होवो ! [रेतसः माता च पिता च भवाथः] वीर्यके योगसेही तुम माता और पिता बनोगे । [मर्यं इव एनां वीर्यां अधिरोहय] मर्दके समान इस स्त्रीके साथ विस्तरेपर चढ़ । [इह प्रजां कृण्वायां] यहाँ संतान उत्पन्न करो और [रयिं पुण्यतं] धनको पुष्ट करो अर्थात् बढ़ाओ ॥ ३७ ॥

भावार्थ— इस यज्ञस्थानभूमि और सूर्य इनके बीच अन्तरिक्षमें अप्सराएं [सूर्य प्रभाएं] एक घरमें आनन्दो रहकर बहुत आनन्द प्राप्त करती हैं । इस प्रकार मृदस्थ अपने घरमें आनन्दसे रहे । स्त्रियां ही सबकी उत्पत्तिका स्थान है, अतः उनके साथ उरुष रहे । और ऋतुके अनुसार आदरपूर्वक ऋतुगामी होवे ॥ ३४ ॥

दुबरेके नमस्कार करनेपर उसको नमन करना उचित है, उसकी तेजस्वी आंखके साथ अपनी आंख मिलाकर नमन करना उचित है । इस तरह परस्परको जानकर नमस्कार किया जावे । और युवती स्त्रीके साथ पुरुष दूर जाकर एकान्त करे ॥ ३५ ॥

मनुष्यको जैसा जेठा धन मिले वैसा वीरा वह मनके शुभ संस्कारोंसे युक्त बने । और वे ईश्वरको माननेवाले हों । वह ईश्वर परम उच्च स्थानपर विराजमान है, जहाँ हम आयुको दीर्घ करते हुए पहुंच सकते हैं ॥ ३६ ॥

हे स्त्री पुरुषों! तुम अपने रजवीर्यके बलसेही मातापिता बन सकते हो, अर्थात् सन्तान उत्पन्न कर सकते हो । अतः ऋतु-कालमें संयुक्त होवो । मर्दके समान स्त्रीसे युक्त होवो, सन्तान उत्पन्न करो और धन भी प्राप्त करो और बढ़ाओ ॥ ३७ ॥

तां पूर्वेच्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्याद्भु वपन्ति ।
 या न ऊरू उंशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरैम शेषः ॥३८॥
 आ रोहोरुमृष धत्स्व हस्तं परिं ध्वजस्व जायां सुमनस्यमानः ।
 प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ द्वाघं वामायुः सविता कृणोतु ॥३९॥
 आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहोरात्राम्यां समनस्त्वयमा ।
 अर्दुर्मङ्गली पतिलोकमा विशेम शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥४०॥ (१०)
 देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद् वाधुयं वासो वृष्यश्च वस्त्रम् ।
 यो ब्रह्मणं चिकितुषे ददाति स इद् रक्षासि तल्पानि हन्ति ॥४१॥
 यं मे दुत्ता ब्रह्मभागं वधूयावर्वाधुयं वासो वृष्यश्च वस्त्रम् ।
 युवं ब्रह्मणोऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकामिन्द्रश्च दुत्तम् ॥४२॥

अर्थ- हे [युवन्] युवा । [तां] निवतमा देवस्व] इस ब्रह्माण्डकी स्त्रीको प्राप्त कर । [यस्यां मनुष्याः बीजं वपन्ति] जिसमें मनुष्य बीज बोते हैं । [या उंशती नः ऊरू विश्रयाति] जो इच्छा करती हुई हमारे लिये अपना शरीर देती है । [यस्या उशन्तः शेष प्रहरैम] जिसकी कामना करनेवाले हम विषय-सेवन करें ३८ ॥

[वरु भारोह] ऊपर की ओर चर, [हस्तं उप धत्स्व] हाथ लगा दो । [सुमनस्यमानः जायां परि ध्वजस्व] उत्तम मनसे युक्त होकर स्त्रीको आलिङ्गन कर । [इह मोदमानो प्रजां कृण्वाथा] यही आनंद भोगते हुए प्रजाको उत्पन्न करो । [सविता वा दीर्घ आयु कृणोतु] सविता भाग दोनोंकी दीर्घ आयु करे ॥ ३९ ॥

[प्रजापति वां प्रजां जनयतु] प्रजापति ईश्वर तुम दोनोंकी संतान उत्पन्न करे । [अयंमा अहोरात्राम्यो समनस्य] अयंमा तुम दोनोंको दिनरात संयुक्त करे । [न-नुर्मंगली ह्यं पतिलोकं आविषा] अनुमन्यमानो न धारण करनेवाली वृक्षी इस पतिलोकको प्राप्त कर । [न द्विपदे चतुष्पदे शं भव] हमारे द्विपाद् और चतुष्पादके लिये सुखदायी हो ॥४०॥

[देवै दत्तं] देवोंद्वारा दिया हुआ [मनुना साकं] मनुके साथ प्राप्त हुआ [एतद् वाधुयं वासः] यह विवाहके समयका वस्त्र [वृष्य च वस्त्र] और जो वधूका वस्त्र है, यह [यः चिकितुषे ब्रह्मणे ददाति] जो ज्ञानी ब्राह्मणको दान करता है । [स इव तल्पानि रक्षासि हन्ति] यह निश्रयसे बिलोपर रहनेवाले राक्षसोंका नाश करता है ॥४१॥

हे [बृहस्पते] बृहस्पति और [साक इन्द्र. च] साथ रहनेवाले इन्द्र । तुम दोनों [वधूयो. वाधुयं वासः] वधूका विवाहके समयका वस्त्र और [वृष्य च वस्त्रं] जो वधूका वस्त्र है । [य ब्रह्मभाग मे दत्त.] इस ब्राह्मणके भागको तुम दोनों सुझको देते हो । [युवं ब्रह्मणे अनुमन्यमानौ ब्रह्मणे दत्त] तुम दोनों ब्राह्मणको प्रदान करनेकी संमति देनेवाले ब्राह्मणको उत्क वस्त्र प्रदान करते हो ॥ ४२ ॥

भावार्थ- शुभ संस्कारोंसे युक्त वधूको पुरुष प्राप्त करे । मनुष्य उत्तम स्त्रीमें ही बीज बोते हैं । पुरुषप्राप्तिकी इच्छासे स्त्री अपना शरीर पुरुषको समर्पण करती है, जिसमें पुरुष बीबीघान करे ॥ ३८ ॥

पुरुष स्त्राके साथ प्रेमसे मिले, उसे अदरके साथ अलिङ्गन देवे, दोनों स्त्रीपुरुष आनन्दसे रममाण हों और सन्तान उत्पन्न करें । इन स्त्रीपुरुषोंकी आयु सविता ऋषि दीर्घ बनावे ॥ ३९ ॥

प्रजापालक ईश्वर इन स्त्रीपुरुषोंमें संतान उत्पन्न करे । यही दिन रात इनको प्रेमके साथ इच्छे रखे । वधूमें कोई दुष्ट दुर्युग न हो और उर म शुभगुणवाली स्त्रीही पतिको प्राप्त करे । इस स्त्रीसे पारके सब द्विपाद चतुष्पादका कल्याण हो ॥ ४० ॥

वधूके पहननेके लिये लाया वस्त्र विद्वान् ब्राह्मणको दान देनेसे शयनस्थानमें उत्पन्न होनेवाले कुप्रेकार दूर हो सकते हैं ॥४१॥ वधूके पहननेके लिये लाया वस्त्र ब्राह्मणका भाग है । वह अनुमतिपूर्वक ब्राह्मणकी दिया जावे ॥ ४२ ॥

स्योनाघोनेरधि सुर्ध्वमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।

सुगु सुपुत्री सुगृहौ तरायो जीवावुपसो विभातीः

॥४३॥

नवं वसानः सुरभिः सुवासो उदागो जीव उपसो विभातीः ।

आण्डात् पतत्रीवांशुक्षि विश्वस्मादेनसुस्परि

॥४४॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिर्वते । आपः सप्त सुसुवुद्वेवीस्ता नो सुश्वन्वहंसः ॥४५॥

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च । ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः

॥४६॥

य ऋते चिदाभिधिषः पुरा जन्म्य आतृदः ।

संघाता संधि-सुघवा पुरुवमुनिर्नक्तुं विहृतं पुनः

॥४७॥

अर्थ—[हसामुदौ महसा मोदमानौ] हास्यविनोद करनेवाले, महसके विचारसे आनन्दित होनेवाले [स्योनात् योनेः अधि सुप्यमानौ] सुखदायक शयनमंदिरसे जागकर उठनेवाले, [सुगु सुपुत्री सुगृहौ] उत्तम इंद्रियों और गौत्रोंसे युक्त, उत्तम वाक बन्धुवाले, उत्तम घरवाले [जीवा] दो जीव अर्थात् स्त्री और पुरुष [विभातीः] उपसः तरायः] प्रकाशमय उपःकाल-वाले दोषों आयुष्यके दिनोंको सुखके साथ ठौर आओ ॥४३॥

मैं [नवं वसानः सुरभिः सुवासः जीवः] नवीन वस्त्र पहनना हुआ सुगंध धारण करके उत्तम वस्त्र पहननेवाला जीवधारी मनुष्य [विभातीः उपसः उदागो] उत्तमसे उप-कालोंमें उठता हूँ । [अण्डात् पतत्रो इव] अण्डसे निकलने-वाले पक्षीके समान मैं विश्वस्मात् पुनसः परि अमुक्षि] सब पापसे मुक्त होऊँ ॥ ४४ ॥

[द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिर्वते शुम्भनी] पृथ्वी और पृथिवी ये दोनों लोक समीपसे सुख देनेवाले, बड़े नियम पाकन करनेवाले, और द्योभावाले हैं । [देवीः सप्त आः सुसुवुः] दिव्य तापों अत्रववाह चक्र पडे हैं । [ताः भंसः नः सुश्वन्तु] वे अठप्रवाह पापसे हम सबका बचाव करें ॥ ४५ ॥ [अथर्व] ७।१।२।१।

[सूर्यायै देवेभ्यः मित्राय वरुणाय च] उषा, अग्नि आदि देव, सूर्य वरुण तथा [ये भूतस्य प्रचेतसः] जो मूर्तोंके ज्ञानदाता देव हैं [तेभ्यः इदं नमः अकरं] तुमके लिये यह नमस्कार मैं करता हूँ ॥ ४६ ॥ [ऋ. १०।८५।१७]

[यः ऋते चिदाभिधिषः] जो चिरकतेके विना तथा [चिद जन्म्यः आतृदः] गर्दनकी हड्डीमें सुरास्य करनेके विना [संधि संघाता] जोड़को जोड़नेवाला और [विहृतं पुनः निनक्तुं] फटे हुएका पुनः ठीक करनेवाला ऐसा [पुरुवसुः सुघवा] उत्तम पर्याप्त धन देनेवाला धनवान् ईश्वर है ॥ ४७ ॥ [ऋ० ८।१।१२]

भाचार्य-स्त्रीपुरुष हास्यविनोद करते हुए, आनंद मनाते हुए, सुखदायक शयनमंदिरमें सोकर योग्य समयमें जागते हुए, उत्तम गौत्रोंसे युक्त, उत्तम पुत्रोंसे युक्त, उत्तम घरवाले हीकर, दार्घ्य आयुके सब दिन आनंदपूर्वक व्यतीत करें ॥ ४३ ॥ मैं उत्तम वस्त्र पहनकर, सुगंध धारण करता हुआ, शरीरको सुगोभित करके, ऐसा सदाचारसे रहूंगा कि जिससे सब प्रकारके पाप दूर हो जायेंगे ॥ ४४ ॥

शुलोक और पृथ्वी लोक ये सबको सुख देनेवाले हैं, वे अपने नियमसे चलते हैं । इनके मध्यमें सात प्रवाह बह रहे हैं । ये हम सबको पापसे बचावें ॥ ४५ ॥

सूर्य, अन्य देव, मित्र वरुण आदि सबको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ४६ ॥ जो ईश्वर माननी शरीरमें दो हड्डियोंका विना चिपकाये और विना सुरास्य किये जोड़ता है, वही सबको जोड़नेवाला है । यह सब दूटे हुएकी मरम्मत करता है ॥ ४७ ॥

अपासत् तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत् ।

निर्दुहनी या पृषातकपु० सिन् तां स्थाणावध्या संजामि

॥४८॥

यावतीः कृत्याः उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः ।

व्यूद्धियो या अर्ममृद्धयो या अस्मिन् ता स्थाणावधि सादयामि

॥४९॥

या मे प्रियतमा तनुः सा मे विभाय चाससः ।

तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीनिं कृणुष्व मा वयं रिपाम

॥५०॥(११)

ये अन्ता यावतीः सिन्धो य ओतवो ये च तन्तवः ।

वासो यत् पत्नीभिर्लुतं तन्नः स्प्योनमुप स्पृशात्

॥५१॥

उशतीः कन्यला हमाः पितृलोकात् पतिं यतीः । अव दीक्षामसृक्षत् स्वाहां

॥५२॥

अथ—[यत् नील पिशंग उत लोहित तम] जो नीला, पीला अथवा लाल रंगका मैलापन है, वह [अस्मिन् अप उच्छतु] हम सबसे दूर होवे । [या निर्दुहनी पृषातकी अस्मिन्] जो खजनेवाली दोपस्मिति इसमें है, (तां स्थाणां अथि वा सनामि) उसको इस स्तम्भमें लगा देता हू ॥ ४८ ॥

[यावती कृत्या उपवासने] जो हिंसाकृत्य उपवसने हैं, [यावन्त राज वरुणस्य पाशाः] जितने राजा वरुणके पाशा हैं, [या० व्यूद्धय या अस्मिन्] जो दरिद्रताएँ और दुखवस्थाएँ हैं, [ताः अस्मिन् स्थाणां अथि सादयामि] उन सबको मैं इस स्तम्भमें स्थापन करता हू ॥ ४९ ॥

[या मे प्रियतमा तनुः] जो मेरा अलूत मिय शरीर है, [सा मे चासस विभाय] वह मेरे वसने बरता है । इसलिये हे [वनस्पते] वृक्ष ! [अमे एव तस्य नीनिं कृणुष्व] पहिले तू उसकी प्रियो बना, जिससे [वय मा रिपाम] हम तुझा न हों ॥ ५० ॥ [११]

[य अन्ता यावती सिन्धो] जो क्षात्रे हैं और किनारियाँ हैं, [ये ओतव ये च तन्तव] जो बाने हैं और जो धागे हैं, [यत् वास पत्नीभिर्लुतं] जो वस्त्र सिन्धियोने तुना है, [तत् व. स्प्योनं उपस्पृशात्] वह हमारे शरीरको सुख करने करनेवाला बने ॥ ५१ ॥

[उशतीः हमाः कन्यला] पहिली इच्छा करनेवाली ये कन्याएँ [पितृलोकात् पतिं यतीः] पिताके स्थानसे शक्तिसे घर जावो हुईं [दीक्षां अवसृक्षत्, सु-ब्राह्म] दीक्षामतको भागन करे, यह उत्तम उपदेश है ॥ ५२ ॥

मावायं—जो सब प्रकारका हमारा अज्ञान है वह हम सबसे पूर्णतासे दूर हो जावे । जो हृदयको जलानवाली दोषस्मिति है, वह हम समे दूर हो ॥ ४८ ॥

जो कुछ हिंसा और पातपातके वृक्ष हैं, जो दरिद्रताएँ और दुष्ट स्थितियाँ हैं, वे सबको सब हमसे दूर हों ॥ ४९ ॥

मेरा शरीर सुखी और हृष्टपुष्ट है । वस्त्रधारणसे उसकी रोमा घटती है । तथापि जोड़कर हम वस्त्र भागन करते हैं, जिससे हमें कोई कष्ट न हों ॥ ५० ॥

जो हमारे स्त्री वर्गने उत्तम वस्त्र तुना है, जिसको सुदर किनारियाँ और क्षात्रे सगो हैं, वह वस्त्र हमें सुख देनेवाला हो ॥ ५१ ॥

ये कन्याएँ उपवर होनेके कारण पतिको कामना करती हैं और पतिसे पास पहुँचती हैं । अर्थात् एतत्सुधर्मकी दीक्षा स्वीकारती हैं ॥ ५२ ॥

बृहस्पतिर्नावसृष्टां विश्वे देवा अंधारयन् । वसूँ गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५३॥
 बृहस्पतिर्नावसृष्टां विश्वे देवा अंधारयन् । तेजो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५४॥
 बृहस्पतिर्नावसृष्टां विश्वे देवा अंधारयन् । भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥५५॥
 बृहस्पतिर्नावसृष्टां विश्वे देवा अंधारयन् । यज्ञो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५६॥
 बृहस्पतिर्नावसृष्टां विश्वे देवा अंधारयन् । पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥५७॥
 बृहस्पतिर्नावसृष्टां विश्वे देवा अंधारयन् । रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥५८॥
 यदीमे केशिनो जना गृहे तं समनर्तिषु रोदेन कृण्वन्तोऽघम् ।
 अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥५९॥
 यदीयं दुहित्वा तव विक्रेयस्यदद् गृहे रोदेन कृण्वन्त्यंघम् ।
 अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६०॥(१२)
 यज्ञामयो यद्युवतयो गृहे तं समनर्तिषु रोदेन कृण्वन्तीरघम् ।
 अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६१॥
 यत् तं प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिर्दुषं कृतम् ।
 अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥६२॥
 यं नार्युषं ऋते पूल्यान्यावपन्तिका । दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति सुरदः शतम् ॥६३॥

अर्थ- [बृहस्पतिना अवसृष्टां] बृहस्पतिने रची हुई [इत्य दीक्षाको [विश्वे देवाः अंधारयन्] सब देवोंने धारण किया है ।
 [यत् वसूँ गोषु प्रविष्टं] जो बल गाँवोंमें प्रविष्ट हुआ है, [तेन इमां सं सृजामसि] उससे इसको संयुक्त करते हैं ॥५३॥
 बृहस्पतिने रची हुई इत्य दीक्षाको सब देवोंने धारण किया है । जो [तेज ... भगः ... यज्ञः ... पयः ... रसः]
 तेज, भाग्य, यज्ञ, दूध और रस गोवर्तिमें प्रविष्ट हैं, उससे इसको संयुक्त करते हैं ॥ ५४-५८ ॥

[यदि इमं केशिनो जनाः] यदि वे लंबे बालवाले लोग [ते गृहे समनर्तिषुः] तेरे घरमें नाकटे रहे और [रोदेन
 अघं कृण्वन्तः] रोदेने पाप करते रहे ॥ [यदि इयं दुहिता] यदि यह पुत्री [विक्रेयी तव गृहे अघदत्] बाळोंको खोल-
 कर तेरे घरमें रोटी रही और [रोदेन अघं कृण्वती] रो रोकर पाप करती रही ॥ [यत् जामयः यत् युवतयः] जो बहिनें
 और जिघांतेरे घरमें रोटी रहीं और रोकर पाप करती रहीं ॥ [यत् ते प्रजायां पशुषु यत् वा गृहेषु निष्ठितं] जो तेरी
 प्रजायें, पशुओंमें और जो तेरे घरमें [अघवाजः अघं कृतं] पापियोंने पाप किया है, [अग्निः सविता च] अग्नि और
 सविता [तस्माद् एनसः स्वा प्रमुञ्चतां] उस पापसे मुझे बचावें ॥ ५९-६२ ॥

[इयं नारी पूर्यानि अघवन्तिका] यह स्त्री पूने हुए धान्यकी आहुति देती हुई [उप ह्ये] कहती है कि मैंने
 पतिः दीर्घायुः अस्तु] मेरा पति दीर्घायु होवे, वह [धारदः शतं जीवाति] सौ वर्ष जीवित रहे ॥ ६३ ॥

भावार्थ- यह गृहस्थाश्रमकी दीक्षा बृहस्पतिने शुरू की है । जो बल, तेज, भाग्य, यज्ञ, दूध और रस गोवर्तिमें है, यह सब
 इस गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंको प्राप्त हो ॥ ५३-५८ ॥

जो बाळोंको खोल कर, जो कुनारिकाएँ, जो रिचवाँ रोते पीटते पाप करती हैं, जो बाल खोलकर जिघांती हैं, इस प्रकारका
 जो पाप यज्ञों, संतानों और पशुओंके संबंधमें हो रहा है, यह सब पाप दूर होवे ॥ ५९-६२ ॥

यह नारी धान्य अन्न करती हुई ईश्वरकी प्रार्थना करती है कि मेरा पति दीर्घायु बनकर सौ वर्ष जीवित रहे ॥ ६३ ॥

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकैश्च दम्पती । प्रजेयैनौ स्वस्तकौ विध्मायुर्वर्ण्यश्रुताम् ॥ ६४।
 यदासुन्द्याभुंषधाने यद् वीपुवासने कृतम् । विवाहे कृत्वां यां चक्रुरास्नाने तां नि दंघ्मसि ६५।
 यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे बद्धौ च यत् । तत् संमलस्य कम्बले मूज्महै दुरितं वृषम् ॥ ६६।
 संमले मलं सादायित्वा कम्बले दुरितं वृषम् । अभूम युजियाः शुद्धाः प्रणु आयुषि तारिषत् ६७।
 कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एयः । अपास्याः केरयं मलमपं शीर्षण्यं लिखात् ॥ ६८।
 अङ्गादङ्गाद् वृषमस्या अप् यक्ष्मं नि दंघ्मसि ।
 तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वैश्रुन्तरिक्षम् ।
 अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितृंश्च सर्वान् ॥ ६९।

अर्थ- हे इन्द्र! [चक्रवाक इव] चक्रवाक पक्षीके जोकेके समान (इमौ दम्पती इह सं नुद) ये पतिवती इस संघात प्रेरित कर । [एनौ सु-भाग्यनौ प्रजया] ये दोनों उत्तम घरवाले होकर संघातके साथ [विधं आयुः स्वदनुतां] सब जात का उपयोग ले ॥ ६४ ॥

[यत् भासयो] जो बैठकर, कुर्मापर, [यत् उपधाने] जो विस्तारपर, सिरहनेपर, (यद् वा उपवासने कृतं जो उपवस्त्रपर किया था, तथा [विवाहे यां कृत्वां चक्रुः] विवाहमें जिस हिसक प्रयोगकी किया था, [तां आस्नाने] विध्मसि] उसकी हम स्नानमें जो डालते हैं ॥ ६५ ॥

[यत् विवाहे यत् च बद्धौ] जो विवाहमें और जो बरातके रयमें [दुष्कृतं यत् शमलं] जो दुष्ट कृत और शकी कर्म किया [तत् दुरितं संमलस्य कम्बले मूज्महे] वह पाप हम सयलके कम्बलमें जो देते हैं ॥ ६६ ॥

[संमले मलं सादायित्वा] समलमें मल डालकर, और [दुरितं कम्बले] पापकी कम्बलमें रखकर, [वपं दक्षिणा शुद्धाः अभूम] हम यज्ञ कार्त्तव्येय्य मुद्द हों। वह [नः आयुषि प्र तारिषत्] हमारी आयुमेंकी दीर्घ बनावे ॥ ६७ ॥

[यः एयः शतदन् कृत्रिमः कण्टकः] जो यह सैकड़ों दांतवाला कृत्रिम कंगवा है वह [अस्याः शीर्षण्यं मा अप अप लिखात्] इसके मस्तकके मलकी दूर करे ॥ ६८ ॥

[वपं अस्या अंगात् अंगात् यक्ष्मं] हम इसके प्रत्येक अंगसे रोगको [अप विदग्मसि] दूर करते हैं [त पृथिवीं मा प्रापत्] वह रोग पृथ्वीको न प्राप्त हो, [तव देवान् मा] और देवोंको न प्राप्त हो, [दिवं तव अन्तरिक्षं म प्रापत्] पुष्पको और अन्तरिक्ष लोकको भी न प्राप्त हो। हे अग्ने! [एतत् मलं अप मा प्रापत्] यह मल जलको श्र न हो, [यमं सर्वान् विदुन् च मा प्रापत्] एमको और सब पितरोंको न प्राप्त हो ॥ ६९ ॥

भाष्य- हे प्रभो! पतिपत्नी मिलकर सदा एक विचारसे रहें। चक्रवाकपक्षीके जोकेके समान आनंदसे रहें। लगन घरदा न्न और उत्तम संतान निर्माण करके संपूर्ण आयु आनंदसे व्यतीत करें ॥ ६४ ॥

बैठकर, सिरहना, बिल्ला, वस्त्र तथा विवाहके विषयमें जो कुछ पाप या पातक शोष होते हैं, वे सबके सब आत्मादिद्वि दूर किये जावें ॥ ६५ ॥

विवाहमें और बरातमें जो कुछ पाप या दोष होता हो, वह भी विचारके साथ दूर किया जावे ॥ ६६ ॥

अपने मल और दोष दूर कर हम सब पूज्य पवित्र और शोभाहित तथा दीर्घायु बने ॥ ६७ ॥

कंगवा छोड़कर स्त्रीके मस्तकका मल दूर किया जावे और बहाकी खरछटा भी जावे ॥ ६८ ॥

शरीर प्रकार स्त्रीके परोरका प्रत्येक भाग स्वच्छ किया जावे, परंतु यह मल पृथ्वी, अंतरिक्ष, आकाश, जल, बर्हस्पति आदिके पास न जावे वहां ऐसे स्थानपर मल गड़ दिया जावे कि जो फिर कियोंकी कष्ट न दे-सके ॥ ६९ ॥

सं त्वां नक्षामि पर्यसा पृथिव्याः सं त्वां नक्षामि पयसौर्षीनाम् ।

सं त्वां नक्षामि प्रजया धनेन सा संनद्धा सनुहि वाङ्ममम्

॥७०॥(१३)

अमोऽहर्मस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं धौरहं पृथिवी त्वम् ।

ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहे

॥७१॥

जिनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः । अरिष्टासु सचेवहि बृहते वार्जसातये

॥७२॥

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमार्गमन् । ते अस्यै वध्वै संपत्यै प्रजावृच्छर्म यच्छन्तु

॥७३॥

येदं पूर्वागन् रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दुत्वा ।

तां वहन्वर्गतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैपीत्

॥७४॥

अर्थ- [त्वा पृथिव्याः पयसा संनक्षामि] तुझे पृथ्वीके पोषक पदार्थसे मैं युक्त करता हूँ । (त्वा औषधीनां पयसा संनक्षामि] तुझे औषधिविधेके पौष्टिक सत्त्वसे युक्त करता हूँ । [त्वा प्रजया धनेन संनक्षामि] तुझे प्रजा और धनसे युक्त करता हूँ । [सा संनद्धा इमं वाजं सनुहि] वह तू स्त्री उक्त गुणोंसे युक्त होकर इस बलको प्राप्त कर ॥ ७० ॥ [१३]

[अहं अमः अस्मि] मैं प्राण हूँ और [सा त्वं] शक्ति तू है । [साम अहं ऋक् त्वं] साम मैं हूँ और ऋचा तू है, [योः अहं पृथिवी त्वं] तुझको मैं हूँ और पृथ्वी तू है । [तां इह संभवाव] वे हम दोनों इकट्ठे हों और [प्रजां भा जनयावहे] संतान उत्पन्न करें ॥ ७१ ॥

[अग्रवः नो जीवयन्ति] अविवाहित लोग हम जैसेही विवाहकी इच्छा करते हैं । [सुदानवः पुत्रियन्ति] दाता लोग पुत्रकी कामया करते हैं । [अरिष्टासु बृहते वाजसातये सचेवहि] प्राण रहनेतक हम दोनों बड़े बलप्राप्तिके लिये साथ साथ मिलकर रहें ॥ ७२ ॥ [अ. ७।१६।१४]

[ये वधूदर्शाः पितरः] जो वधूको देखनेकी इच्छा करनेवाले बड़े लोग [इमं वहतुं मार्गमन्] इस वरातकी देखन भाग्ये हैं, (ते अस्यै वध्वै संपत्यै) वे इस वधू अर्थात् उत्तम परनीके लिये (प्रजावय् वामं यच्छन्तु) प्रजायुक्त सुख प्रदान करें ॥ ७३ ॥

[या रशनायमाना पूर्वा इदं भा अगन्] जो रशनाके समान सुसंबंध युक्त पहिडी स्त्री इस स्थानपर प्राप्त हुई, वह [अस्यै प्रजां द्रविणं च इह दावा] इसके लिये संतान और धन यहाँ देकर (तां अगतस्य पंथां अनु वहन्तु) उषको अविषपकाके मार्गसे सुरक्षित छे जावें । (इयं विराट् सुप्रजा भति अजैपीत्) यह वधू तेजस्विनी और उत्तम प्रजावाकी होकर विजयी होवे ॥ ७४ ॥

माथार्थ- स्त्रीको पृथ्वी और औषधिविधेके पौष्टिक रससे पुष्ट किया जावे । उसको धन दिया जावे और उत्तम संतान उत्पन्न हो । स्त्री बलशालिनी होकर घरमें विशिजे ॥ ७० ॥

पुरुष प्राण है और स्त्री रथी है, पुरुष सामगान है और स्त्री मंत्र है । पुरुष सूर्य है और स्त्री पृथ्वी है । ये दोनों मिलकर इष्ट संसारमें रहें और उत्तम संतान उत्पन्न करें ॥ ७१ ॥

अविवाहित स्त्री पुरुष अपने सहायकारणके लिये योग्य पुरुष और योग्य स्त्री की अपेक्षा करते हैं । जो उदार दाता होते हैं उनको ही उत्तम संतान होते हैं । ये मनुष्य बनकर उत्तम बलकी प्राप्तिका यत्न करें ॥ ७२ ॥

नव वधूको देखनेके लिये वरातके समय अनेक स्त्री पुरुष जमा होते हैं । वे सब नववधूको सुसंतान होनेका शुभ आशीर्वाद देवें ॥ ७३ ॥

जैसे बीरीमें अनेक भागे मिलकर रहते हैं, वैधेही गृहस्थाश्रम मिलकर रहनेका आश्रम है । गृहस्थाश्रममें इकट्ठे हुए सब लोग स्त्रीको धन और सुसंतान प्राप्त होनेका शुभाशीर्वाद देकर, उसको शुभ मार्गसे चलावें; इस तरह यह स्त्री तेजस्विनी, यशस्विनी तथा सुसंतान यशत होकर विजयी होवे ॥ ७४ ॥

प्र बुध्पस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय श्रुतशरदाय ।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसौ दीर्घं त आयुः सविता कृणोत

॥७५॥(१४)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

॥ चतुर्दशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ—(सुबुधा बुध्यमाना) उत्तम ज्ञानयुक्त जागती रहकर (शरदारदाय दीर्घायुत्वाय प्र बुध्पस्व) सौ वर्षके दीर्घजीवनके द्विये जागती रह । [गृहान् गच्छ] अपने पतिके घरको जा, (यथा गृहपत्नी जसः) गृहस्वामिनी वैसी बनकर रह । (सविता ते आयुः दीर्घं कृणोत) सविता तेरी आयु दीर्घ बनावे ॥ ७५ ॥

भावार्थ— स्त्री विदुषी होवे, सबेरे प्रातःकाल उठे, जो वर्षको दीर्घ आयुके लिये ज्ञानप्राप्तिपूर्वक प्रयत्न करे । अपने पतिके परमों रहे । अपने घरकी स्वामिनी बनकर विराजे । परमात्मा इसको दीर्घायु करे ॥ ७५ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त ।

चतुर्दश काण्ड समाप्त ।



वैदिक विवाहका स्वरूप ।

प्रथम-सूक्त ।

अथर्ववेदके इस चतुर्थे काण्डमें वैदिक विवाहका स्वरूप और वैदिक विवाह-पद्धति दर्शायी है। जो पाठक अपनी विवाह पद्धतिका विचार करना चाहते हैं वे इन दो सूक्तोंका विशेष मनन करें। प्रथम सूक्तके प्रारंभमें पाँच मंत्र केवल सामान्य उपदेश देनेवाले हैं। इनमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी और सोम आदिका वर्णन है, परंतु इन मंत्रोंमें इन देवताओंका वर्णन करते हुए विवाहका तथा पतिपत्नीका आदर्श बताया है, देखिये

यौः और भूमि ।

प्रथममंत्रमें भूमि पत्नीके स्थानपर और सूर्य अथवा युलोक पतिके स्थानपर वर्णन किये गये हैं। मानो सबकी माता पृथ्वी है और सबका पिता सूर्य है। यह सब संसार मानो पृथ्वी और सूर्य इन मातापिताओंका धैतानरूप है। एकही परिवारके हम सब हैं। जितने भी संसारके मनुष्य या पशुपक्षी हैं, वे सब एकही परिवारके हैं। संपूर्ण मनुष्योंमें तो आई-आईका जाता है। पतिका आदर्श सूर्य है वा युलोक है। युलोक वह है जो खगोल है, सदा प्रकाशित है। वह सबको प्रकाश देता है। इसी प्रकार पति अपने परिवारको उत्तम ज्ञानका प्रकाश देवे और सब संतानोंको ज्ञानवान करे। इसी तरह भूमि सबको आधार देती है, फल और अन्न देकर सबकी तृप्ति करती है। इसी तरह माता सब संतानोंको अपने प्रेमका आधार देवे और सबको ख्यालपल द्वारा योग्य रीतिसे पुष्ट रखे। इस तरह विचार करनेपर तथा व्यावाभूमिक आदर्शका मनन करनेसे स्त्री पुरुषके अपथा पतिपत्नीके आदर्श उपदेश इस मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे ज्ञात हो सकते हैं।

गृहस्थधर्मका आधार सत्य है, यह बात इस सूक्तका प्रारंभ-ही 'सत्य' शब्द द्वारा करके बतायी है। स्त्रीपुरुषका व्यवहार सत्यको मर्यादासही होने, उसमें असत्य, कपट, छल आदि कमी न आवें। इसीसे आदर्श गृहस्थधर्म ही सकता है। दूसरा बल 'ऋत' है। ऋतका अर्थ सरलता है। सत्य और ऋत ये दो ही उन्नतिके निदम हैं। सब धर्मनियमोंका यही सार है। ऋत और सत्यको जोड़कर कोई धर्म स्थानपर रह नहीं सकता।

५ अ. अ. मा. अं. १४]

सोम

द्वितीय मंत्रमें 'सोम' का माहात्म्य वर्णन किया है। यह सोम स्वर्गमें है, पृथ्वीपर है और नक्षत्रोंमें भी है। पाठक जान सकते हैं कि नक्षत्रोंमें जो सोम है वह चन्द्र ही है। यह सब नक्षत्रोंकी शोभा बढ़ता है, रात्रिके समय इसका अवर्णनीय शोभा है। यह शान्तिका आदर्श है। मनुष्य इस शान्तिके आदर्शको सदा मनमें धारण करे और शान्त रहे। कर्म अ-शान्ति आदि दुर्गुणोंको दूर रखे। यह आदर्श सोम द्वारा पतिके लिये इस मंत्रमें दिया है।

पृथ्वीपर भी 'सोम' है, यहाँ सोमका अर्थ 'वनस्पति तथा अन्न' है। आकाशके सोमका यह पृथ्वीपर रहनेवाला प्रतिनिधि है। यह पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्यों और पशुपक्षियोंकी तृप्ति करता है। पाठक यहाँ पृथ्वीके सोमको और आकाशके सोमको यथावत् जाने। दोनोंका नाम सोम है, परंतु ये दोनों एक नहीं हैं। सोमके अनेक अर्थ हैं और सोम शब्द द्वारा अनेक पदार्थोंका बोध वेदमें होता है। अतः सर्वत्र सोम शब्दसे एकही पदार्थका बोध मानना अवैय्य है।

आगे तृतीय मंत्रके पूर्वार्थमें सोमरसका पान करनेका वर्णन है। यह सोमपान यज्ञमें होता है इसको छत्र जानतेही हैं। परंतु इसी मंत्रमें आगे उत्तरार्थमें विशेष अर्थसे सोमपानका उल्लेख है। यहाँ कहा है कि " जो सोमपान ब्रह्मज्ञानी पति है, वह सोमपान कोई अन्य मनुष्य कर नहीं सकता। " यहाँ का सोमपान ब्रह्मज्ञानका पात्र है। जो ब्रह्मज्ञानीही कर सकता है। यह भी सोम है। यही परमात्माका अखंड आनंदका रस है। परमात्माको एकरस कहतेही हैं। यही अन्तिम और अति-श्रेष्ठ सोमपान है। धर्म मनुष्यको इसी सोमपानके लिये योग्य बनाता है। साधारण मनुष्य इस सोमपानको कर नहीं सकता, क्योंकि विशेष उच्च अवस्था प्राप्त होनेपर ही यह सोमपान होना संभव है।

पाठक यहाँ देखें कि परमात्माके अखंडानन्दरसरूप सोमके विचारके साथ साथ वनस्पतिके सोमतककी अनेक सोमविषयक

वरणाएँ वेदने यहाँ बताया है । इनके बीच सब प्रकारके सोम आ चुके हैं । इस प्रकार यह सोमपानका माहात्म्य है । इसका वर्णन यहाँ करनेका उद्देश यह है कि गृहस्थी लोग अपने घरमें सोमपान करें । सर्वसाधारणतया सोमपानका अर्थ है औपधिरस का सेवन करना । यह सब गृहस्थी करें । गृहस्थियोंका यह अन्न है । वनस्पति, घान्य फल, शाक अदिका सेवन गृहस्थियोंके परिवारमें होता रहे । मांस, रक्त, अण्डे आदिका सेवन निषिद्ध है । पृथ्वी माता जिम सोमरससे मन्थी पुष्टि कर रही है, वह यही वानस्पत्य सोम है । यही गृहस्थधर्ममें रहनेवालोंका सर्वसाधारण वानस्पत्य होना चाहिये यह बात यहाँ कही है ।

इसके पश्चात् ऋषि मुनि साधु संत आदि अपनी आध्यात्मिक उत्पत्ति करते हुए परमात्माके आनन्दका रसपान करते हैं । यह भी सोमपान ही है । इसकी योग्यता सर्वसाधारण गृहस्थियोंके पास नहीं होती । गृहस्थाश्रमका धर्म इस योग्यताकी मनुष्यमें उत्पन्न करता है । अर्थात् गृहस्थाश्रमके धर्मका योग्य रीतिसे पालन करनेपर वानस्पत्याश्रमधर्मके पालनपूर्वक अन्वासाश्रममें मनुष्यके अन्दर यह योग्यता प्राप्त हो सकती है । गृहस्थाश्रमसे आगे चलकर साधु होनेवाली यह बात है । यह सूचन करनेके लिये और गृहस्थियोंपर की जिम्मेवारी बतानेके उद्देश से ये सब प्रकारके सोमपान यहाँ इन मंत्रोंमें बताये हैं ।

बरातका रथ

आगे मंत्र ६ से १२ तक बरातके रथका वर्णन है । यह सब आलंकारिक वर्णन है । यह तो मनकाही कार्त्तनिक ('अनो मन-मयं । मं० १२' तथा 'मनो अस्या अन आधीत् । मं० १०') य है । तथापि यह काल्पनिक रथका वर्णन इच्छिते दिया है कि मनुष्य विवाहके समय ऐसे उत्तम रथ बनावें और बरात निकालें और बधुकी पतिके घर बसे पाटले के आँके । इस बरातका रथ ऐसा हो इस विषयमें इन मंत्रोंका वर्णन देखनेयोग्य है ।

बरातके रथका नमूना पठक यहाँ देखें । जब (सूर्या पति भयात्) सूर्यकी पुत्री अपने पतिके घर चली, तब इस प्रकारके सुंदर रथपर वह बैठकर चली थी । यहाँ नमूना सब पुत्रियोंके बरातके समय रखा जाये । इस समय (उपबर्हणं । मं० ६) उत्तम तकिया रथमें था, स्त्रियोंने अपनी आँखोंमें (आजन) काज्रल लगाया था, पयसि (कीटाः) धन साय किया था । यह आभूषण हों या मुरारूपमें धन हो । परंतु यह इस रथमें चाहिये । जब रथ चलने लगा तब सब लोगोंने (अनुदेयी ।

मं० ७) अनुकूल आर्शावाद दिये, सब लोगोंने बधुकी प्रशंसा (नारादीष्टी) की । इस तरह सब बःसुमंडल अनुकूल बन गया था । उस मंडलमें एकभी मनुष्य इनके प्रतिकूल न था । न कोई विरोध करनेवाला था । सब आनन्दप्रमथ थे और सभी बधुवरका हित एकचित्तसे चाहते थे ।

(अर्ध वासः) इस समय सूर्याका वज्र उत्तम था, बहुत ही सुंदर वज्र था । ऐसे सुंदर वज्रोंसे युक्त होकर सब स्त्रियाँ बधुके साथ रहीं थी ।

इस बरातमें आगे उत्तम गायक थे, वे सुंदर छंदोंमें और मधुर स्वरमें मंगल पद्य गाते हुए आगे चल रहे थे । सबसे आगे दो वधु चल रहे थे, इनके साथ अग्नि मार्गदर्शक था । इसके प्रक्षालनमें वह बरात चल रही थी ।

जिम रथमें यह बधु बैठी थी, उस रथपर सुंदर छत्र भी, मंदर जैसा उसका दिग्घर था, अंदरसे सुंदर आकाशके समान दिखाई देता (योः छदिः । मं० १०) था । दो श्वेत बैल (घोड़े अतद्वाद्वा) इस रथकी ओते थे । वह बरात सोमके घर चल रही थी । कर्षिके सोमहो इस सूर्याकापति था । वे मनेहो इस सूर्याकी मंगनी की थी और सोमके साथ इस सूर्याका विवाह हुआ था ।

जब सोमने मंगनी की थी, उस समय वहाँ दोनों अग्निनी कुमार दबोकें वैद्य थे । अर्थात् वैद्योक सामने यह मंगनी हुई थी । इस मंगनीका स्वीकार सूर्यके पिताने किया था ।

सूर्या गत् पत्ये संसन्तीं ममसा सविताइदात् ॥ मं० १

"सविताने मनसे पतिके विषयमें पूज्यभाव रखनेवाली अपनी सूर्याका दान पतिके हाथमें किया था ।" इसमें सविता अपनी पुत्रीको पतिके हाथमें दान करता है ऐसा वर्णन है । यह ज्ञान-विवाहका आदर्श वेदने वैदिक धर्मियोंके समुच्च रखा है । इसमें बधुका पिता अपनी कन्याका दान करता है और इस दामविधिसे कन्या वरको प्राप्त होती है । यहाँ गांधर्व विवाहका आदर्श वेदने वैदिक धर्मियोंके सामने रखा नहीं है । वर अपने लिये बधुका मंगनी करता है, बधुका पिता उस मंगनीका स्वीकार करता है, और समुहूर्तपर अपनी पुत्रीका दान करता है । इससे स्पष्ट है कि कन्यापर अधिकार पहिले पिता का होता है और इस कन्यादान विधिसे कन्यादानके पश्चात् पतिके अधिकार होता है । वैदिक धर्मकी दृष्टिसे स्त्रीस्वतंत्र व्यक्तित्वस्वीकारारी न रहे । या तो वह पितके अधिकारमें रहे अथवा पतिके आधीन रहे । इन दोनोंकी अनुपस्थितिमें वह पदेष्ट पुत्र-नाई या अन्य श्रेष्ठ पुरुषकी आशामें

रहे परंतु स्वतंत्र न रहे । (अदात्) दान जो होता है वह स्वतंत्रका नहीं हुआ करता, जो स्वतंत्र नहीं होता उसीका दान होना संभव है । पुण्यका दान कभी नहीं होता, क्योंकि वह स्वतंत्र है । कन्याकाही दान यहां लिखा है ।

सूर्या सविता पत्ये वदात् । [अथर्व. १४ । १ । ९]

मयं त्वाऽसुर्गोहंपत्याम देवाः । (ऋ० १० । ८५ । ३४ ; अथर्व० १४ । १ । ५०)

इन दोनों स्थानोंपर अर्थात् ऋग्वेदमें और अथर्ववेदमें (अदात्, अदुः) कन्यादान ही लिखा है । अतः जो लोग समझते हैं कि वैदिक कालमें ब्रिजों सतंत्र थीं, यह उनकी भूल है ।

न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति ।

यह स्मृतिर्योद्धा कथन वेदके संमत ही है, ऐसा यहां प्रतीत होता है । जो लोग इस स्मृतिवचनका उपहास करते हैं, वे इस वेदवचनका अधिक मनन करें । धियां स्वतंत्र न रहें, बालपनमें मातापिताकी शिक्षामें रहें, विवाहित होनेपर पतिसे शिष्टा प्राप्त करें । पर कन्याकी मंगनी बधूके पितृके पास करे और पिता (मनसा अदात्) अपने मनसे संमति दे । सब विवाह हो । कन्या स्वयं पिताकी अनुमतिके बिना अपना स्वयंवर न करे, स्वयंवर करना भी हो, तो उसके लिये भी पिताकी संमति हो । वेदमें स्वयंवरके मंत्र किसी स्थानपर अथवा देसनेमें नहीं आये हैं । इससे प्रतीत होता है कि स्वयंवर की प्रथा पीछे चल पड़ी है । अस्तु ।

इस तरह कन्यादानपूर्वक विवाह होनेके पश्चात् बधू अपने पतिके घर चली जाती है । उस समय सुंदर रथ सिद्ध किया जावे । उसमें गादियां और तकिये हों, रथ सुंदर सजाया जावे । उत्तम बैल उसको जोते लाय । कोई घोड़े जोते, उसके लिये प्रतिबंध नहीं है । रथके चक्र भी (झुची) सुंदर, स्वच्छ और सजावटसे युक्त हों । इस तरह सब प्रकारसे सुंदर और सजावटसे मनोरम बनाये सुखदायी रथपर आरूढ़ होकर बधू अपने पतिके घर चली जावे ।

दहेज ।

विवाह होनेके पूर्व बधूका पिता अपने दामादके लिये अपनी सामर्थ्यके अनुसार (वदतुः) दहेज भेज देवे । मंत्र १३ में

[गावः] गाँवें दहेजके रूपमें भेजनेका उल्लेख है । गाँवें ही बड़ा धन है । अन्य धन इससे कम योग्यतावाला है । गाँवोंके बधूसे घरके सब आवालवृद्धोंकी पुष्टि होती है, इसीलिये बधूका पिता अपनी कन्याके पतिके उत्तम उत्तम गाँवें दवे और ये गाँवें विवाहके पूर्व पतिके घर पहुंचें । पश्चात् विवाह होवे और तत्पश्चात् बधू अपने पतिके घर चली जावे । चन्द्रमा मेघा नक्षत्रमें होनेके समय दहेज भेज दिया, तो चन्द्रमा फलसुनी नक्षत्रमें जानेके समय विवाह हो । प्रायः यह क्रमसे कम पंद्रह दिनका समय है, अधिकसे अधिक पंद्रहके घातमें जितना जा सकता है उतना मान सकते हैं । दामादक घर गाँवें पहुंचनेके पश्चात् उन गाँवोंको वहांका प्रेम लगनेके पश्चत् विवाह हो, यह तात्पर्य है । जब यह बधू अपने पतिके घर चली जायगी, तब उसको अपनीही पारोक्षित गाँवें मिलेंगीं । और गाँवोंकी भी अपने परिचयकी स्वामिनी मिलनेमें, परस्परका प्रेम परस्पर होनेके लिये सुभीता होगा । इस तरह यह कन्यादानके पूर्व गाँवोंका दान वैदिक विवाहमें एक मुख्य बात है ।

मंत्र १४अ १५में कहा है कि बधूपक्षके दो मनुष्य (अश्विनौ) घोड़ोंपर सवार होकर वरपक्षके पास पहुंचते हैं वरके पास उस दहेजकी समर्पण करते हैं । इस तरह इस परस्पर-संमेलनको सब पारिवारिक लोग संमति और अनुमति देते हैं । ऐसे ढंगसे यह विवाह होता है और सब जातिकी संमति उसको रहता है । मंगनी के समय, विवाहके समय और बरातके समय सब पारिवारिक जन, सब जातिके सज्जन उपस्थित होते हैं । यह बात 'देवाः' पदसे सिद्ध होती है । सूर्यदेव और सोमदेवके पारिवारिक जन तथा जातिके सज्जन [देवाः] देव हैं । इसी तरह मनुष्योंमें विवाह होनेके समय बधू और वर पक्षके पारिवारिक तथा जातिके लोग संमिलित होने चाहिये, यह बात उसी वर्णसे स्वयंभूद होती है । क्योंकि वैदिक विवाह सूर्यने जैसा अपनी पुत्री सूर्याका सोमके साथ किया, वैसाही मानवोंने अपनी पुत्रियोंका करना है । वस्तुतः सूर्यने जो अपनी पुत्री सूर्याका विवाह किया वह एक आलंकारिक बात है । वह वर्णन इसलिये वेदमें किया है कि इसका देखकर लोग अपने विवाह इस विधिसे अनुसार करें । वेदका यह रूपक सूर्यका किरण चन्द्रमाकी प्रकाशित करता है, इस मूल बातको लेकर रचा गया है । और विवाहके आदर्शक सिद्धांत इस आलंकारिक वर्णनमें उत्तम रीतिसे संमहीत किये गये हैं ।

पुराना और नया संबंध ।

मंत्र १० और १८ में वधूका संबंध पितृकुलसे वैसा छूटता है और पतिकुलसे वैसा बनता है, इसका उगम अर्थन है —

इतः संनानात् प्रमुष्णामि, न ममृतः । (मं० १०)

इतः प्रमुष्णामि न ममृतः, ममृतः सुवन्दा करम् ।

[मं० १८]

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि " इस पुण्योक्तो हम पितृकुलसे छुटाते हैं, और पतिकुलके साथ ऐसा सुवन्दा करते हैं कि यह पतिकुलसे कभी न छूट सके । " वन्दाका पितृकुलसे छूटना तो अवश्यक ही है, परंतु प्रश्न यहाँ यह उत्पन्न होता है कि यह वन्दा पतिकुलसे किंसी न किंसी प्रकार छूट सकती है, यानहीं इस मंत्रके उक्तमें वेदका यह अर्थन है कि वन्दा पतिकुलसे अपना संबंध नहीं छोड़ सकती । किंसी भी अवस्थामें उक्तका संबंध पतिकुलसे छूटना वैदिक धर्मको दृष्टिसे असंभव है । उक्त मंत्रमें स्पष्ट रीतिसे कहा है कि [न० ७-मुः, अमृतः सुवन्दा वर] नहीं, पतिकुलसे तो उसको उक्तम रक्षी रीतिसे बांधता है । इस सुवन्दा वरमेंका तात्पर्य यह है कि वह पतिकुलसे कभी विमुक्त न होवे । निमोग्धी रीतिमें निमुक्त पुत्रके सथ संबंध होनेसे भी पतिकुलका संबंध छूट रहा है और संत न तो पूर्व पतिके ही होती है । परंतु पुनर्विवाह को सर्वथा असंभव है, क्योंकि पुत्र, विवाहसे तो पतिकुलका संबंध छूट जाता है । इस कारण वैदिक धर्ममें छाँवा पुनर्विवाह संभव नहीं है । वैदिकधर्मो द्विज तिस्रोमें तो सर्वथा पुनर्विवाह असंभव है ।

आजकलका पतिस्यग (बहुशोर्षे) या पत्नीत्याग तो निरासत अवैदिक है । आजकल यूरोप, अमरावाहा अनुकरण करनेवाले वड़े बड़े भारतीय लोग विवाहित संबंध अशालतसे तोड़नेके प्रयासों में लगे हैं । परंतु यह रीति वैदिक धर्मके अनुपम नहीं है । स्वयंवर की प्रथम भी पतिपरित्याग या पत्नीपरित्याग समाप्त नहीं है, फिर प्राद्विवाहके अनुसार तो वैशे संभव हो सकता है । पूर्वोक्त मंत्रमें उक्तम दो है कि कैसा कोई फल (सर्वाहकं बंधनात्) अपने इच्छसे या बेलसे परिपक्व होनेपर बंधनसे छूटता है, वैसी यह वन्दा पितृकुलके संबंधसे विवाहके समय मुक्त हो गयी है । इसका संबंध पतिकुलसे हुआ है और वह संबंध सुवन्दा अर्थात् दृढतर हो चुका है, वहसे मुक्तता नहीं हो सकती । यहाँ पाठक वैदिक विषय को धरपना ठीक

प्रकार नमने धारण करें । यह विदर संबंध है, यूरोप अमेरिकाके समान क्षणमंगूर नहीं है ।

आगे १९ वें मंत्रमें कहा है कि यह वन्दा वरनके पापसे पितृकुलसे सुवन्दा छूट गयी । विवाहके समय वे पाप तोड़ दिये गये हैं । वरनके पाप किसी अन्य कारणसे छूट नहीं सकते । पितृकुलसे संबंध तोड़कर पतिके कुलसे नया संबंध जोड़ दिया है । यह संबंध जो पतिके कुलसे हो गया है वह (सह-सं-भलाये) साथ साथ संभाल होनेके लिये है । पतिके कुलके परिवारके साथ इस स्त्रीका संभाल होता रहे । अर्थात् यह वन्दा वरनके पितृकुलसे पापोंके साथ बांधी गयी, वरनदेवके पापोंसे बांधी गयी, और वरनके पाप ऐसे होते हैं कि वे तोड़नेका सामर्थ्य किसीके अन्दर नहीं होता है । ये वरनके पाप विवहविधिसे छूट जाते हैं, परंतु वही वधू पतिकुलसे देखी बांधी जाती है कि वहाँसे आभरण वह अपना संबंध तोड़ नहीं सकती । इस पतिकुलमें रहती हुई यह—

अन्तराय योनौ सुकृतस्य स्त्रीके समोनम् ७ [मं० १९]

"सत्यके धर्ममें और पुण्यवातिके स्थानमें जो सुख प्राप्त हो सकता है, वह इसको पतिके घर प्राप्त हो । " अर्थात् वह पतिके घरमें रहती हुई सत्य धर्मसे बले और पुण्य कर्म करती हुई सुखको प्राप्त हो । यह स्त्रीका धर्म है । पति रहनेतक या पतिके मरनेतक पथत् मां स्त्रीका वही धर्म है, इस धर्मसे वह पतिव्रत न हो, और इस धर्मका आचरण करती हुई सुखको प्राप्त करे । स्त्रीका स्वतंत्रआचार या स्वैच्छाचार सर्वथा गहित है । न स्त्री पितृपरमें स्वतंत्र है, न पतिके घरमें स्वतंत्र है और न पतिके मरनेके पथत् वह स्वतंत्र हो सकती है ।

वन्दाके बालकधर्ममें तो सखिता देवने वरनके पापसे उसे पितृकुलसे बांध रखा था (मं० १९), विवाह होनेके समय वे पाप तो छूट गये, परंतु भगवदेवतासे उक्तका हाथ पकड़कर ब्रातक रथतक चलाया, पश्चात् जब वह पतिके घर आनेके लिये रथमें बैठी तब आग्निदेव उसके रथक बने [मं० २०], जबतक यह वधू पतिके घर नहीं पहुँचती, वहातक आग्निदेवोंकी रक्षामें वह रहती है । पश्चात्—

मृदान् गच्छ, मृहपत्नी यथाऽनौ वदिनी ध्वम् ७ (मं० २०)

पतिके घर यह नव वधू पहुँचती है और वहाँ वदिनी होकर रहती है । स्वयं अपनी इच्छा यहाँमें रहती है, वरके परिवारको बधमें रखती है और स्वयं बड़े लोभोंकी आशमें

रहती है। इस तरह यह पतिके घर पहुँचनेके पश्चात् बर्तव्य करती है। तत्पश्चात् यह पितृगृहमें वरुणके पाशोंसे बंधी रहती है। स्वतंत्र नहीं होती। इसके ऊपर या तो पिता और माता निगरानी करते हैं, देवताओंकी निगरानी रहती है, और पश्चात् पतिकी निगरानी होती है। कुछ भी हुआ तो स्त्री को वैसी स्वतंत्रता नहीं रखी है, जैसी कि आजकल यूरोप, अमेरिका और विशेषतया रूसमें इस समय स्त्रियोंकी स्वतंत्रता मानी जाती है। नियमबद्ध परतंत्रतामें जितनी स्वतंत्रता हो सकती है, उतनी तो अवश्य है। विद्या, कला, संस्कृति आदिके विकासके लिये जितनी आवश्यक है, उतनी स्वतंत्रता है, परंतु आजकल की कुमारीकाएँ कुमारोंके साथ मिलजुलकर कालेजोंमें सीखती हैं वैसी शिक्षापद्धति भी वैदिक समयमें नहीं थी। उस समय प्रत्येक कुमारी अपने मातापितासे आवश्यक शिक्षा पाती थी और पश्चात् पतिसे। स्वतंत्र रीतिसे कालेजोंमें रहना और कुमारोंमें मिलकर शिक्षा पाना, यह उस वैदिक समयमें प्रायः असंभवसा प्रतीत होता है।

गृहस्थाश्रमका आदर्श ।

आगे मंत्र २१-२२ तक गृहस्थाश्रमका सुंदर वर्णन है। प्रत्येक गृहस्थी इस सुखका अधिकारी है। जो धर्मात्तुकृत रहे और गृहस्थीका धर्म पालन करे। वह इस सुखको प्राप्त कर सकता है।

(१) अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि । [मं० २१]

इस पतिके घरमें अपने गृहस्थ-धर्मका जागते हुए पालन कर " अपने गृहस्थ धर्ममें अग्र्यदि न का, दक्षतामें अपने पतिके घरमें रह और अपना कर्तव्य कर ।

(२) इह ते प्रजायै मियं सगृह्यधत्तम् । [मं० २१]

" इस गृहस्थाश्रममें रहते हुए अपने संतानका प्रिय, शुभ और कल्याण करना तेरा मुख्य कर्तव्य है। " सुसंतान निर्माण करना गृहस्थका धर्म है। गृहस्थधर्मका यह पुण्य और फल है, यह सुयोग्य बननेके लिये जो यत्न किया जाय वह छोटा है। मातापिताके सब संस्कार अंशरूपसे संतानमें आते हैं, अतः मातापितापर यह जिम्मेवारी है कि वे अपनेपर कोई अशुभ संस्कार न होने दें। घोररिंके रोग, सुी आर्सेत और अग्य कुवस्कार संतानोंमें अंशरूपसे उतरते हैं, अतः मातापिताओंको उचित है कि वे स्वयं परिशुद्ध रहें और शुभ संतान निर्माण

करनेका यत्न करें। इस तरह प्रयत्न करते करते संतानोंके लिये शुभ संस्कारही मिलते जायेंगे, और क्रमशः संतान सुधरती और सुसंस्कारसंपन्न होती जायेंगी।

[३] एना परया तम्बं सं गृह्यस्व । [मं० २१]

" इस पतिके साथ आनंदप्रसन्न होकर रह। " सब प्रकारके धर्मानुकूल उपभोग प्राप्त कर। सदा प्रसन्नतासे दिनचर्या व्यतीत कर। दुःखी कष्टी रहनेमें वैसा चिह्नचिह्वापन संतानमें आ जायगा, इसलिये प्राप्त ऐश्वर्यके उपभोगसे चित्तकी प्रसन्नता रख और इसी तरह अत्यान्य प्रसन्नोमें अन्तःकरण सदा शुभचर्चितेही रखना योग्य है। इस संसारमें रहनेका गृही सुख्य नियम है।

[४] अथ मितिः विदधं आ वदासि । [मं० २१]

" इस ढंगसे गृहस्थ धर्ममें रहते हुए जब तात्पर्य चला जाय, और वृद्ध अवस्था प्राप्त हो, अर्थात् बहुत अनुभव आ जाय, तब तू अपने अनुभवके भिन्नान्त उपदेशदाता। दूसरोंको बह। " हमसे पूर्व नहीं। इसके पूर्वका समय ज्ञानमहण करनेका है, उपदेश देनेका नहीं। उपदेश देना अनुभवों बूझोंकाही कर्म होगा। इस संसारमें पर्याप्त अनुभव आनेपर ही मनुष्य उपदेश करे। इसके पूर्व जो उपदेश करते हैं, उससे लाभही अपेक्षा हानि की अधिक संभावना हो सकती है। अनुभव जैसा जिसको अधिक होता है, वैसा उसका अधिकार उपदेश करनेमें अधिक होता है।

[५] इद्वैव स्तं, मा विपीठं, विश्वमायुष्यंनुतम् (मं० २२)

" पतिपत्नी इस गृहस्थाश्रममें रहें, उनमें वियोग न हो, पूर्ण आयुको समाप्तिके वे दोनों एक विचारसे रहें। " यह है विवाहित कुटुंबका आदर्श। नहीं तो विवाह होतेही वैवाहिक संबंधका परिहाण करनेका कुप्रथा जो अनार्य देशोंमें चली है, वह तो वैदिक विवाहमें सर्वथा नहीं है। वेद चाहता है कि जो विवाह एक समय हुआ वह जीवनके अन्ततक स्थिर रहे, उनमें किसी तरह विरोध न खाया हो, झगडे होकर उनका वैवाहिक संबंध न टूटे।

[६] स्वस्तकी भोदमानो पुत्रैः गत्तुभिः कीडन्ती ।

(मं० २२]

" पतिपत्नी उत्तम घरवाले हों, आनंदप्रसन्न हों और पुत्रोंके साथ तथा नातियोंके साथ खेलेते हुए सुखसे गृहस्थाश्रमका कर्तव्य करते रहें। " गृहस्थाश्रममें रहनेवाले शुखी

चित्तविष्ट न हो, मन ध्यानव्यवस्था रखकर मुलके माधु
आने कहैस्य गृहस्थी लोग करते रहे।

(७) सूर्यवन्दके समान तेजस्वी पुत्र हों ।

(मं० २३)

“ जैसे सूर्य और चन्द्र एक जगत्को प्रकाश देनेवाले हैं,
वैसेही गृहस्थोंके परम उत्तम तेजस्वी संतान हों, वे विविध
खेलोंमें (काव्यतर्क) प्रवीण हों, (माध्या चरतः) बौधायनके
छात्र जगत्में भ्रमण करें, अर्थात् कुशलताके काम करें, कलावान्
हों और विभूषा भ्रमण करें। अपनी कलाका गुण विकास
करें। उन्नत उपमर्गें चंद्रमा कलायुक्त होता है, उसकी कला
निधि कहते हैं, विसा ही यह कलाओंका निधि बने। और
कलाकुशलतासे अपनी तथा अपने राष्ट्रकी सशक्ति सिद्ध करें।
अपनी संतानोंको कला-शारीरकी शिक्षा देनी चाहिये, यह
बत यदा स्पष्ट हो जाती है ।

ब्राह्मणोंको धन और वस्त्रदान ।

मंत्र २५ में (ब्राह्मण्यै वसु विभज, शाशुनं च देहि ।
मं. २५) ब्राह्मणोंको धन दान दे। और वस्त्रका दान करो।
यह ब्राह्मणोंको दान करनेकी आज्ञा यदा की है। विवाहके समय
सुशोष विद्वान् ब्राह्मणोंको धन और वस्त्र देना चाहिये। गौ,
भूमि आदिका भी दान दिया जावे। यह दान बधूके समक्ष
दिया जावे, और दसरा सवित्त परिव्रजाम बधूके ऊपर
होवे। यह दान देना चाहिये यह बात इस प्रकार नव बधूके
मनपर प्रतिबन्धित हो। यदि दान देनेका गुण बधूमें न
रहा, और केवल भोगमेंही उस बधूका मन अलायित रहने
लगा तो यह एक कुटुंबका नाश करनेवाली राष्ट्रकी सिद्ध
होगी। ऐसी भोगी स्त्री-

एषा पदवीं कृत्वा त्राया पतिं विशते ॥ (मं. २५)

“यह एक दो पतिवाली विनाशक राष्ट्रकी माधुर्यपति पतिके
पर प्रवेश करती है।” जिन स्त्रीके मनपर दान देनेका भाव
प्रतिबन्धित नहीं हुआ, वह भोगी स्त्री ऐसीही पातक राष्ट्रकी माननी
चाहिये। गृहस्थीका भूषण उदार स्त्री है। उदारता ही शिक्षा
उस बधूको अपने पिताके परम मिलनी चाहिये और पतिके
परम भी मिलनी चाहिये। इसलिये दान देनेका महत्त्व उस
स्त्रीके मनपर स्थिर करना चाहिये। गृहशिक्षाका यह एक विशेष
महत्त्वका भाग है।

जिसमें दानभाव स्थिर नहीं हुआ उसके मनमें (कृत्वा स-
क्षितः) विनाश वा पातघात करनेकी बुद्धि प्रकट होती है। किसी
श्रीमें ऐसी भूरा बुद्धि नहीं इसलिये दानकी बुद्धि बधूमें बतानी
चाहिये। यदि ऐसा न हुआ और श्री स्त्रीवचन करनेवाली हुई
तो अन्तमें पतिकुलकाही नाश होता है—

एषन्ते अस्या ज्ञातयः, पतिबन्धेषु वप्यते । (मं० २६)

“इसकी जातिदोमें कलह प्रकट होता है, और अन्तमें विचार
पति कलहके बन्धनों बांधा जाता है।” इसलिये कन्या और
बधूमें प्रारंभसे ही दान की बुद्धि, परोपकार करनेकी बुद्धि स्थिर
होनी चाहिये। अपने सुखका त्याग करके भी धननोंकी सेवा
करनेकी सुबुद्धि स्थिर होनी चाहिये। धर्मधरा, दम्पसेवा, आदि
सेवाभाव धर्ममें बटे और इस सेवासे ही सबद्वेषभाव दूर होगा,
यह बात सुब लोग जानें।

पुरुष स्त्रीका वस्त्र न पहने ।

मंत्र २७ में कहा है कि पुरुष कभी स्त्रीका वस्त्र न पहने।
पुरुषका शरीर कितना भी सुंदर हो पुरुष स्त्रीका वस्त्र पहननेसे
यह अस्मिता बनता है, शोभाहित होता है।

यह विशेष स्त्रीका पहना वस्त्र पुरुषके पुनः पहननेके लिये
है, या नाटकोंमें जो पुरुष स्त्रीवेष धारण करते हैं उस कार्यका
यह निषेध है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। पाठक इसका अधिक
विचार करें परिवारमें पति कभी स्त्रीका वस्त्र न पहरे, यह
बोध यहाँ निःसन्देह है। इस प्रकारका निषेध पुष्पका वरप
स्त्रीके पहननेके विषयमें नहीं है, यह बात विचार मन करने-
योग्य है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियोंके पहने वस्त्र आरोग्यकी
दृष्टिसे पहननेके अव्यय होते हैं। यहाँ स्त्रीका वस्त्र पहने की
पहले या न पहने, इस विषयमें भी निषेध नहीं है। स्त्रीका
वस्त्र पुरुष न पहने यह बात यदा स्पष्ट और अतीवशय है।
पाठक इस बातका अधिक विचार करें और निश्चय करें।

विशेष वस्त्र पहननेसे स्त्रीके रूप विशेष शोभायुक्त होते हैं,
यह बात मं० २८ में कही है। (वादाधने) शारीराला वस्त्र,
(विशाधने) शिरपर ओढ़ने योग्य ओढ़नी, और (आभिविध-
तने) यह सर्वांगपर ओढ़नेका वस्त्र है। स्त्रियोंके पहननेके ये
तीन वस्त्र हैं। इनके विशेष रंगबन्धोंके कारण स्त्रियोंके स्वस्वकी
सुंदरता बढती है।

कन्याका गुरु ।

कन्या की शिक्षा कैसी होनी चाहिये, यह एक बड़ा-विकट प्रश्न है। आजकल तो कन्या और पुत्र एकही पाठशालामें पढ़ते हैं और उनकी पाठविधि समान होती है। वस्तुतः देखा जाय तो पुरुषों और स्त्रियोंके कार्य इस संसारमें विभिन्न होते हैं, अतः एकही पाठविधि दोनोंके लिये लाभदायिनी नहीं हो सकती। आजकल जिनको पुरुषीकरण हो रहा है और पुरुषोंका छी-करण किया जाता है। मिथ्रगठविधिका और सहशिक्षाका यह दोष है। वेदके उपदेशानुसार स्त्रीपुरुषोंकी पाठविधि भिन्न होनी चाहिये। स्त्रियोंको विशेषतः सूत्रशास्त्र अर्थात् अन्नका पाक करनेकी विधिका उत्तम ज्ञान होना चाहिये। [एतद् वृष्टं] यह नदार्थे गृया उत्पन्न करनेवाला अर्थात् पित्तकारक है, [एतत् कटुकं] यह कटु है, [एतत् अपाचकत् विषयत्] यह पदार्थ रसास्पर्शका विगाह करनेवाला है, ये पदार्थ विषके समान गृभु खानेवाले हैं, (एतत् अतवे न) ये पदार्थ खानेयोग्य नहीं हैं, इसी तरह निषिद्ध पदार्थोंका ज्ञान कन्याओंकी पाठविधिमें देना चाहिये। तथा खाने योग्य पौष्टिक और सार्विक पदार्थोंका भी योग्य ज्ञान स्त्रियोंको पडाया जाये। स्त्रियोंके ऊपर बालकछोंके लालन पालनका भार रहता है, इसलिये उनको भक्ष्य भोज्य लेश्य पेय आदि खाद्यपदार्थोंका उत्तम ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार की पाठविधि स्त्रियोंके लिये होनी चाहिये और उनपर जो कार्यका भार आनेवाला है, वह पूर्ण करनेकी योग्यता उनमें उत्पन्न करनी चाहिये।

जो गुरु इस तरह की शिक्षा कन्याओंको देता है उसको उस कन्याके विवाहके समय उत्तम दण्ड दान करना योग्य है। इसी तरह मंत्र ३० में कहा है कि, जो गुरु (प्रायश्चित्त अध्यात्मि) चित्तशुद्ध करनेका उपदेश देता है, चित्त शूरे मार्गसे जाने लगा तो उसको धर्ममार्गपर लानेका विवेक जिस सदगुरुकी कृपासे मनमें उत्पन्न होता है, उस शिक्षक का सम्मान करना चाहिये। उस कन्याके विवाहके समय (सुमंगलं स्थोनं यासः) उत्तम मंगल और शुभ वस्त्र उस ब्राह्मणको भक्ष्य दिया जाये, जिसने उस कन्याको पूर्ण ज्ञान दिया है, पडाया है, उत्तम शिक्षा दी है। क्योंकि इसी ज्ञानसे (येन जाया न स्थिति) उस स्त्रीकी गिरावट नहीं होनी। वह सुशिक्षित

स्त्री अपने धर्मपथमें रहती हुई सबको आनन्द देती है। यह शिक्षाका प्रभाव है, ऐसी शिक्षा स्त्रीको देनी चाहिये।

स्त्रीको योग्य शिक्षा न दी, तो वह कैसे पतिव्रतका नाम करनी है, इसका वर्णन मं० २५—२६ में पूर्व स्थानपर किया है। इससे स्पष्ट है कि स्त्रियोंको सुशिक्षा देना अत्यंत आवश्यक है। शिक्षा न होनेसे बड़े मयानक परिणाम होते हैं।

सदुप्यवहारसे धन कमाओ ।

गृहस्थाश्रममें धनकी आवश्यकता सदा रहती है। कैर्द कर्म धनके बिना हो नहीं सकता। अतः गृहस्थीकी धन कमानेकी अत्यंत आवश्यकता है। यह धन कैसे कमाया जाये, यह एक गड़ी भारी समस्या गृहस्थियोंके सम्मुख सदा रहती है। इसका उत्तर २० वें मंत्रने दिया है।

(ऋतु—उद्येपु ऋतं वदन्तौ) सरल व्यवहारमें सरल भाषण करो। उसमें छलकपट न हो। सबसे प्रथम टेढ़े व्यवहारमें न जाओ। जो व्यवहार करना हो, वह सरल व्यवहार हो और उसके करनेके समय भी सरल भाषण करो। और इस प्रकारके धर्मात्तुकूल सरल व्यवहार करके—

(सयुद्धं मगं संभरतं) बहुत धन प्राप्त करो। अपने लिये जितने धनकी आवश्यकता है उतना धन कमाओ। धर्मात्तुकूल व्यवहार करनेसे निःसंदेह यश प्राप्त होगा और सयुद्धि भी होगी।

पतिपत्नी अपने घरमें प्रेमके साथ रहें। पति (संभतः चाह याचं वदतु) अपनी धर्मपत्नीके साथ भीठा भाषण बोले, मंगल भाषण करे, सुंदर वस्त्र कहे तथा [अस्थे पतिं रोच्य इष स्त्रीको पतिके विषयमें बढा रुचि हो, बढा प्रेम हो]। इस तरह दोनों प्रेमके साथ रहें, व्यवहार करें और उन्नति करते रहें।

गौरक्षा ।

मंत्र ३२ और ३३ में गृहस्थों का गौरक्षा करें, इस विषयका बड़ा उपयोगी उपदेश है। गौवं धरकी शोभा है, बालछोंको उन्नति इसीसे होती है। सब प्रकारका उत्कर्ष गौवंसे होता है, इसलिये गौपालन गृहस्थोंका धर्म है।

सरल मार्ग ।

सबके चलनेके मार्ग सरल और निकटक हों, इस विषयमें ३४ वें मंत्रका आदेश ध्यानमें धरने योग्य है—

गन्थानः अन्वक्षरा ऋत्रतः मन्तु ॥ (मं० ३४)

“ मार्ग कंटकादित्वात् क्षीर सरल हो । ” घरको पहुँचनेके मार्ग, घरके पास के मार्ग, राष्ट्रमें जनि धानके सघ मार्ग नि-
 श्कंटक और सोध हों। उनमें जहातिक हो यहातिक टेखापन न
 हो। मनुष्यके सब व्यवहारके मार्ग भी सोधे ही हैं। यह
 जानिके और जानिके मार्ग सोधे हैं, यह बात कहनेका हेतु
 नहीं है, क्योंकि ये मार्ग तो जैसी भूमि होगा वैधे हो सकेंगे।
 परंतु मनुष्यके व्यवहारके मार्ग सोधे हैं, यह बात विशेष-
 पतया यहाँ कही है। नीचमें कटि न गिराये जायें। शासक
 लके राष्ट्रके और समाजके व्यवहार देखनेके द्वारा प्रतीत होया
 है कि मनुष्य स्वयंही अपनी प्रतिदीप्ततासे अपने मार्गपर कटि
 निशाने हैं और सोधा व्यवहार होनेकी संभावना होनेपर भी
 टेहनके व्यवहार करते हैं और इस कारण सुव्यवस्थित प्रयत्न
 से सदा दुःख ही प्राप्त करते हैं। इस तरह य गृहस्थी अपनी
 उत्सुकिके मार्गमें कटि न कलि यह उदेश्य वेद यहाँ गृहस्थायम
 के प्रारंभमें दे रहा है। सघ गृहस्थी दूरको अवश्य स्मरण
 रखें। इस प्रकारके सोध मार्गके वाचनेपर [धाता भगेन धर्मेश
 सं उग्रमु] परमेश्वर धन और तेज देवे। यह परमात्मा ही सरल
 व्यवहार करनेवालीको यह फल अवश्य ही देगा। इसमें कितो-
 को संदेह करनेकी अवसरकता नहीं है। परमेश्वरकी सहायता
 प्राप्त करनेका मार्ग भी सोधा और निश्कंटक है। यही
 धर्ममार्ग है। इससे चलकर सब मनुष्य सुखधाम को
 पहुँच सकते हैं। इस प्रकार इस मंत्रका उपदेश बड़ा
 मनन करने योग्य है और प्रत्येक गृहस्थीको सदा ध्यान
 रखनेयोग्य है, क्योंकि सबकी उत्पत्ति सरल और निश्कंटक
 मार्गसेही होनी संभव है। उत्पत्तिका दूसरा कोई मार्ग
 नहीं है।

तेजस्वी घने

गृहस्थी तेजस्वी बनें, उत्साही बनें, कदापि निरुसाही न
 हों। गृहस्थाका धर्म उत्साहका है, यह तेजस्वी मनुष्योंका
 धर्म है इधोके वेद उपदेश देता है कि गृहस्थी तेजस्वी बने।
 यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि गृहस्थी तेजस्वी कैसा बने ?
 उत्तरमें वेद कहता है कि—

यत् वषः अक्षेणु छुरायाम् ॥ १ म० ३५)

“ जो तेज आँसुओंमें अथवा दूतके फाँसोंमें होता है और
 जो मघमें होता है ” यह तेज इन गृहस्थियोंमें आवे। यह

पदकर पाठक कहेंगे कि यह क्या अन्वय है ? वेद ऐसा उपदेश
 क्यों देता है ? क्या वेद इस उपदेशके गृहस्थियोंको सुभारी
 और मघयी बनाना चाहता है ? कदापि नहीं। वेद तो इन
 दुर्धनतनोंके गृहस्थियोंके बचाना चाहता है, परंतु यहाँ तेजस्वी
 उत्साहका धर्म है। किन कारणोंमें तेजस्वी उत्साह अधिक
 होता है ? उत्तरमें सुभारी और मघयमें होना है, ऐसी
 पहना पडेगा। देखिए, सुभा खेतनेके कार्यमें सरकारी प्रतिबंध
 है, सुभारी को राजपुत्रपकडने हैं और कारामुहमें डलेते हैं,
 न्यायालयोंमें इनके बग्न दिया जाता है, परन्तु इस सुभारी
 के विरोधा हेतु है। इस मित्र तथा परिवार के लोग
 चाहते हैं कि यह सुभा न खेले, इस तरह सब लोग इसका
 विरोध करते रहते हैं, तथापि जूनेबाज मनुष्य रातके समय,
 अंधेरेमें, कष्ट सहन करते हुए, छिपते और छिपते हुए जूनेके
 परमें पहुँचता है, न उतको किसीका भय होता है और न
 भूल व्यास होती है एकनाम निश्चय पर अट्ट होता है कि
 मैं सुभा खेदगा। सब जगत् निन्द्य होनेपर जी वह अपने
 निश्चय पर अट्ट रीतिसे स्थिर रहता है, यह इसका निश्चय,
 प्रयत्न, उत्साह और एकाग्र मन देखने योग्य है। यदि वेदी
 तेजस्वी शुण जो इसके पासके खेलमें लगे वेदीयदि अष्ट उदयार्थ
 के कर्ममें लग जाय, तो उत्सका बंधावार होनेमें क्या संदेह है ?
 अतः वेद कहता है कि जो तेज और उत्साह तथा निश्चय सु-
 भारी लोग अपने खेलमें मगते हैं वही तेज और उत्साह गृह-
 स्थी मनुष्य अपने गृहस्थधर्मपालनमें बतावे, उत्तना मनेनिग्रह
 उत्तना निश्चय, उत्तना उत्साह, उत्तना प्रयत्न गृहस्थी अपने
 धर्मपालनमें दशावे, यह उपदेश यहाँ है।

मघयी भी इसी तरह मघयानका समय आया तो मघयान-
 के स्थानपर जाता है और मघ पीता ही है, समय टालता नहीं,
 अपने साथ इष्ट मित्रोंको भी पिलाता है, यह उदारता भी
 मघयोंमें होती है। इस मघयीमें समयपर यह कार्य करनेकी जो
 आत्तुरता होती है और अपने साथियोंको पिलानेकी जो उदार-
 ता होती है, वह आत्तुरता और उदारता गृहस्थियोंमें अप-
 न्य रहे। गृहस्थी अपने कर्तव्य बर्न यही आत्तुरतासे करें और
 उदारतासे दान देते रहें। यह उपदेश गृहस्थी लोग ले सकते हैं।
 यही सुरा और पाँचोंका दृष्टांत मंत्र ३६ में पुनः अन्य रीति-
 से आग्या है। उत्सका भी भाव यही है। इतमें जो उपदेश

सेना है वहाँ सेना चाहिये बड़े मद्दारा का लोग कुत्ते और चाँटि-
बोसे भी उपदेश देने रहते हैं । आमत-निद्रा और स्वामिनि-
ष्ठाका उपदेश कुत्ते और प्रयत्नशैलताका उपदेश चाँटियोंसे
लिया जाता है । इसके अन्य दुर्गुणों की ओर मद्दारा का लोभ दे-
खते नहीं हैं, केवल उनके गुणों को अलगते हैं । इसी तरह मध-
वी और सुभारी भी गृहस्थियों को प्रोत्सहित उपदेश देते हैं । ये
उपदेश इनसे गृहस्थों प्राप्त करे और अपने गृहस्थधर्मका पालन
उत्तम रीतिसे करके कृतकृत्य बने ।

पाठक पृष्ठों कि ये उपदेश यहाँ क्यों दिये हैं ? क्या
उत्तम उदाहरण जगत में नहीं मिलेंगे ? उत्तर में निवेदन है कि
मनुष्य की तन्मयता जो इन्द्रजनोंमें होती है वेमों सदाचारमें नहीं
होती । प्रायः यही नियम सबत्र है । संसारमें रहते हुए मनुष्य
परमार्थसाधन कैसे करे ? इसके उत्तरमें स्वभित्तिचारी की
समझ करे ऐसा उत्तर शक्य कर देते हैं । जैसी स्वभित्तिचारी
की अपने विचित्रपति पतिके सब कार्य कर्ता हुई अपने मनमें
परपुरुषका ध्यान सदा करती है और समय मिलते ही उसके
पास उपस्थित होती है, उसी प्रकार सभारी जीव संसारके
कार्य करते हुए अपना सब ध्यान परमार्थमें रखे और जो
समय मिल जब उस समय परपुरुष परमस्वामी उपामना
करे, वही पर पुरुष किंवा परम पुरुष और उपास्य सबके लिये
है । यह उपमा यद्यपि हीन है तथापि पूर्ण है । ऐसी ही सुते
और मद्यकी की उपमा भी पूर्ण है । मनुष्योंको चाहिये कि वे
उनकी कार्यक्षमता अपनेमें लावे और उसके लिये कार्य
करके कृतकृत्य बने ।

मंत्र ३५ और ३६ में गौओंके स्थानोंमें तेजस्विता दुर्बल
से रही है, इस तत्रस्थिताये सब गृहस्थ दुःख हों, ऐसा कहा
है । “ [गोषु चर्वाः । महान्मया जघनं] ” इन शब्दोंद्वारा
गौध दुर्बलत्वात्न दर्शाया है । सबनुष गौध दुर्ब अर्थात् तेज-
स्वी है । मध का दुर्ब सुस्ती मानेवाला है, गौध दुर्ब सुस्ती
इष्टानेवाला है । अतः सब गृहस्था और उसके घरके बालबच्चे
गौध ही दुर्ब पीकर तेजस्वी, चर्बस्वी, शोत्रस्वी, आधुपमान
और पुरुषार्थी बने ।

मंत्र ३७ में कहा है कि जलोमें एक प्रकारका तेज है जिस-
से तेजस्विता, माधुर्य, शीर्ष और सामर्थ्य बढ़ता है । गृहस्थियों
को इस जलसे वे ग्रह प्राप्त हों । वेदमें अथर्व जलको जीवनरक्ष
एक मात्र साधन बताया है, रोगनाशक कहा है, आरोग्यवर्धक

माना है, वहाँ सब आशय इम मंत्रमें सारांशरूपसे कहा है ।
गृहस्थी इस मंत्रका उत्तम मनन करे ।

मंत्र ३८ तो सब लोगोंको मनन करनेयोग्य मंत्र है ।
इसकी सर्वा वधमें रखे ।

[१] द्यन्तं तनुवृत्तिं प्राग्मं अपोहामि ॥

[२] मद्रः रोचनः तं उदद्यामि ॥ [मं० १८]

“ [२] जो शरीरको क्षीण कामेवाला, शरीरमें विष
उत्पन्न करनेवाला और शरीरमें आकर विष रहनेवाला रोग-
बीज या दोष हागा, उसको मैं दृष्टता हूँ, और (२) जो
शरीरका तेज बढ़ानेवाला और अपना सर्वथा कल्याण करनेवाला
है, उसको मैं अपने पास करता हूँ । ” यह नियम तो सब
मनुष्योंको सदा सर्वदा ध्यानमें धारण करना चाहिये और इसी
प्रकार आचरण करना चाहिये । हाएँ स्थानमें दोषोंको दूर
करना और गुणोंको अपनेमें बढना योग्य है । उन्नतिका यही
एकमात्र उपाय है । बधुवर तो आने घरमें यही नियम पालन
करे ।

मंत्र ३९ में कहा है कि (अग्निः देवः न प्रनीक्षते)
पतिके घरमें अग्नि और देव वधुके जानेकी माँगपनीक्षा करते
हैं । वधुका स्वागत करनेके लिये सब लोग उग्ररुक् हो गये हैं ।
यह मंगल वधु अपने पतिके घर प्रवेष्ट हो, वहाँ पहुँचने ही
अग्नि प्रदक्षिणा करे, अग्निको नमन करे और पद्यान् अग्नि
आदिना दर्शन करे, वहाँ ब्राह्मण मंत्रार्थ जलसे इस वधुको
अभिषेक करे । यह जल वधुके अन्दर जो भीष्टना (अची-प्रोः
आपः) होगी, उसके दूर होगा । यह अर्थात् मद्रस्वीकी बात
है । आर्यमें भीष्ट रहनी नही चाहिये । आर्य तो सदा निष्टर
और धैर्यके मद्र होने चाहिये । इसीलिये वधु गृहस्थ धर्ममें पविष्ट
होकर पतिके घर जो प्रथम स्नान करती है, वह स्नान मद्राओं
द्वारा वेदमंत्रसे पवित्र और निर्दोष हुए जलसे करे । जिन मंत्र-
पवित्र जलके स्नानमें इस वधुके भीष्टना आदर सब दोष दूर हों
और वह पांडुर मंगल और धैर्यवाली बने । ऐसी सुयोग्य
गृहस्थामिनी बने कि जो अपनी संतानोंको सुयोग्य उपदेश द्वारा
उत्तम आर्य बनावे ।

पतिके घरके सुवर्ण रत्न अदि आभूषण इम नववधुको कल्या-
णकारी हों, गिरानेवाले न हों, नहीं तो धन मनुष्यको गिराता
है । धनसे उत्पन्न हुआ धर्मक मनुष्यकी अधोगति करता है ।
इसलिये सावधानताकी सूचना देनेके लिये यहाँ कहा है कि

सुवर्ण आदि धन वधुको गिरावट न हो। दुबरे पाकी जिनके उतनीय भाग्य देवहर अपने लिये वैय भाग्य वांछिये ऐसा दृष्टि जिनका है और पतिको बडे बनेष देनी है, ऐसा भीई का न बरे और प्रस सुवर्ण ही वह सपुत्र रहे। सुवर्ण, सामुवर्ण, गयी पोह आदि सुखपापन सबके सब भोगार्थमें लगे है। भोगेच्छाके कारण परमे विरय प्रसङ्ग होते हैं, जगः बडा हे कि इन भोगवापनमें कई समये न हों, परंतु (यं मवतु) पतिके परमे चान्ति रहे, समये ही घर अशांति न बने। और पनी (पत्नी तन्वं य इत्युच्यते) अपने पतिके साथ सुखवे कानन्दपदक रहे। पतिवती ऐम एवंचाचारे रहे कि वही कियो भी कारण विदार न हो, परमे अशांति न बडे और दोनोंको कौटुंबिक सुख दयाये,य प्राप्त हो।

स्त्रीकी इच्छा ।

सातासना से मनसे प्रजा सोम गये रदिम् ४ (मं० ४२)

पतिके पर अथो हुई नववधु अपार्थ पृथिवी किष बान्छी आया करती है, अयात् कदा चारती है, यह प्रश्न कोई पुत्र तो उलके उत्पन्न भिरेदन हे कि वह ही (सीमवर्ण) अपने पतिके सब लोम आनन्दप्रसव रहे, समग्रकिंसाद न हो, परस्वराधा व्यवहार प्रेमपूर्वक हो, परमे उत्तम चाम्ति, आनन्द और प्रसन्नता राज्य रहे, वही इच्छा कुल की ही हो। इहूरी इच्छा यह होनी चाहिये कि, (प्रती) उत्तम संतान उत्पन्न होवे, अपनी संतान सुवैश्व बन, अपनी सुवर्णविते कुलका वृष हरमय रहे। तीसरी इच्छा यह होवे कि [सीमवर्ण] उत्तम भाग्य प्राप्त हो, अपने पतिके परमे उत्तम भाग्य छद्मिगत होता रहे। सीमवर्णमें उत्तम भाग्यविशेष कर समवेष्ट होता है कि जो पतिके पत्नीको और पत्नीके कारण पतिके सुख होषा हे और जिन सुखके लिये विवाह होने रहते हैं। यह सीमवर्ण अपने परमे बडे वही इच्छा परंपरानी की हा। इसके पश्चात् चतुर्थ इच्छा यह है कि [रथि] धन प्राप्त हो, अपने पतिके पराकिनी प्रसार सांभ्रान न रहे। ऐश्वर्य धन सुवर्ण सामुवर्ण आदि वष विपुल रहे और इन अर्थ स वषको सुख प्राप्त होता रहे। परंपरानी की पतिके परमे यही चार प्रकारकी इच्छा हो। यही पठक ध्यानमें रखे कि वषस प्रथम उत्तम मनकी इच्छा भी है, उलके भेतर पतिवतीके उत्तम सुखकी इच्छा है, और अन्तमें धनकी

इच्छा है। क्योंकि धन सुखस्य साधन तो है, पान्त्तु वह धन सु-न्न न होनेवा, परमे सुपंतान न होनेकी अवलम्बे, पति-परमोभवेपक्ष विर्यांतगामे कोई सुख नही देना, परंतु इन अव-स्थाभौम, सुखदायी होता है। इपलिये धैर्यको आया प्रदय करनी चाहिये और हीनकी अन्तमें करनी चाहिये, इसका विचार पुरस्वी लोप इष मंत्रके मननसे जानें।

स्त्री कैसी हो।

(पन्तुः अनुवता) पतिके अनुकूल रहकर निदमवासन करने-वाली ही हो। जो कभी पतिके प्रतेकल बाधने न करे। इस नियमके अंदर दणपे छोके लिये पतिके अनुकूल होनेकी लक्षा कही है तथापि इवमि पति भी पतिके अनुकूल रहे पर भी माय मिच्छता है। पति सेवा काहे बैसा आचरण करे और केरक पत्नी ही पतिके साथीन रहे, यह माय इष मंत्रका नाँ है। धर्मोपदेश समान हुआ कथो है और वह एकके निर्देश से दु-रेका सेना दोषय है। तात्पर्य यह है कि त्रैसी धर्मवती पतिके अनुकूल रहे उसी प्रकार पति भी परानीके अनुकूल रहे। दोनों पर-स्पर अनुकूल रहकर एक दूसरेका सुख बढ़ायें और गृहकी स-मर्थताम बनायें। (अनुवतायके अनुवता) अनुव की प्रथिप हेनेके लिये सुखपूर्वक सिद्ध हो। धर्मवती और पति ये दोनों अन्त्या-साध्य अनुवत्व है अपार्थ मोक्ष है, ऐसा निय प्रथि पदायें रये। वष अनुवत्व मोक्षधामको पहुंचनेका जो मार्ग है यह मार्ग सुखके चतरेक लिये इष गृहस्थाभ्रनका योग है यह केई गृहही न मूले। इस बातके लिये सब गृहस्थी भिद हों। वष व्यवहार वे इहा उद्वेगकी सिद्धिके लिये करें। अपार्थ धर्मा-नुकूल व्यवहार करते हुए मोक्ष की सिद्धि प्राप्त करें। प्रलेक गृहस्थीका यह कर्तव्य है। प्रलेक गृहस्थी प्रलेक व्यवहार करनेके समय स्थान रखे कि मेरा यह कर्मे मोक्षस्य साधक हो, और कभी बाधक न हो प्रलेक कर्मे दोषय पंतिसे कनि पर मोक्षके लिये साधक हो चक्या है। यदि प्रलेक कर्मे फलदायानुर्वक किया जाय, सोमका स्थान किया जाय, तो सभी कर्मे कही मोक्षधामकी प्रप्त्त होनेके सिद्धि सहायक हो सकते हैं। फलमेय की सांवेच्छासि हां मनुष्यकी गिरावट होती है, अन्तः कथा है कि (मा पृषः । यत्तु, ४-११) यत्तु कलक-ओ, वष प्रकारका सोम छोर रहे और कर्मे कही इष दार

का निर्देशमत्तसे किया हुआ कर्म संछे मार्गमें सुख देनेवाला होता है । गृहस्थधर्मके सभी कर्म सुख देते हुए मोक्षमार्गके साधक होनेवाले हैं ।

गृहस्थीका साम्राज्य ।

गृहस्थीका पर एक बड़ा भारी साम्राज्य है । साधारण राज्य नहीं है, बल्कि साम्राज्य है । यजमान गृहस्थी स्वयं सम्राट् है । पत्नी उसकी सम्राज्ञी है । यह गृहस्थीकी सद्गर्भचारिणी उसकी मंत्रणा देनेवाली है इसमें जो परिवार है वे सब प्रजाजन हैं । इन प्रजाजनमें घरके पारिवारिक जन हैं, इतना ही नहीं, परंतु गौ, बौधे, आदि जो घरके उपयोगी पशु पक्षी हैं, वे सब इस साम्राज्य की प्रजा है और इस प्रजाका योग्य पालन करना गृहस्थीका आवश्यक कर्तव्य है । (साम्राज्यं सुपुत्रे वृथा । मं० ४३) जो बलवान् होगा, यही इस साम्राज्यका पालन और संवर्धन कर सकता है । अशक्तका कार्य यहाँ नहीं है । (वृथा) जो बल-युक्त होगा वही इस गृहस्थधर्ममें यशस्वी होगा । बलवानोंका ही साम्राज्य हो सकता है । अशक्तोंका साम्राज्य नष्ट होगा । यह नियम इस स्थानमें पाठक देख सकते हैं ।

पति सम्राट् बने और उसकी धर्मपत्नी सम्राज्ञी बने। इसका अर्थ पूर्ण अनुसंधानसे यह है कि पति भी बलवान् बने और पत्नी भी बलशालिनी बने और दोनों मिलकर इस गृहस्थाधर्मके साम्राज्यको योग्य रीतिसे चलावे । (मंत्र ४४ में) नववयूसे कहा है कि वह समुद्र, देव, ननद तथा सास आदि पारिवारिक जनों के साथ योग्य बर्ताव साम्राज्ञी बनकर करे, इसका अर्थ यह है कि पतिके पर इस स्त्रीका बड़ी दर्जा रहे कि जो साम्राज्यमें सम्राज्ञीका रहता है । जो लोग वैदिक धर्ममें स्त्री की योग्यता कितनी होती है, इसका विचार करते हों, उनको उचित है कि वे इस साम्राज्ञी शब्द का ही विचार करें । वैदिकधर्मासुसार धर्मपत्नी ' साम्राज्ञी ' है और पति सम्राट् है । अर्थात् स्त्रीका अधिकार असाधारण छेड़ है । पूर्वं स्थानमें कहा है कि स्त्री स्वतंत्र नहीं है, या तो बड़ मातापिताके आश्रित रहेंगी अथवा पतिके आश्रित रहेंगी, इस कथन के साथ यह विधान विरोधक नहीं है । क्योंकि कोई साम्राट् या साम्राज्ञी पूर्णतया स्वतंत्र नहीं होती । साम्राज्यके नियमसे बंधी होती है । वह साधारण स्त्रीके समान, इधर उधर जा नहीं सकती । उसके साथ सदा घोररक्षक रहते हैं । इस प्रकार साम्राज्ञी परतंत्र होती

हुई भी विशेष संमानित होती है । यही बात गृहस्थीकी है । धर्मनियमोंसे बंधी हुई धर्मपत्नी परतंत्र होती हुई भी पूर्ण रीतिसे साम्राज्ञी है । धार्मिक उन्नति करने के लिये स्वतंत्र है, पाठक इस तरह विचार करनेपर जान सकते हैं कि वैदिक धर्मकी परतंत्रता भी अन्य स्थानकी स्वतंत्रता की अपेक्षा अधिक प्रशंसनीय है । मनुष्यको अपना मुक्तिधामका मार्ग आक्रमण करना है, यही उसका ध्येय है । इस ध्येयकी सिद्धिके लिये जितनी स्वतंत्रता चाहिये उतनी यहाँ है । इससे जो अधिक स्वातंत्र्य है वह गिरानेका हस्त है ।

स्त्रियोंका सूत कातना ।

वैदिक धर्मासुसार सर्वसाधारणतया स्त्रीपुरुषोंका और विशेषकर स्त्रियोंका घरेलू व्यवसाय सूत कातना और उसका ब्यथा बुनना है । प्रत्येक गृहस्थीके घाँसी सब स्त्रियाँ इस सूत्रनिर्माणके कर्मको अवश्य करें । (देशः अकृन्तन् । मं० ४५) घरकी देवियाँ सूत काते, जो सूत्र कातती हैं वेही देवियों हैं उनकोही सत्य रीतिसे हम देवियाँ कह सकते हैं । येही देवियाँ (तरिनरे) ताना तानती हैं, सूत्रको ठीक करके योग्य रीतिसे ताना तानती है तथा (अमितः अन्तन् ददन्त) चारों भागोंके अन्ततम भागोंको ठीक करती हैं, दोनों ओरकी किमारियाँ और-दूसरे ओरकी झालरें कपडा बुननेके पूर्व ठीक करनी चाहिये । इयमें यदि कुछ दोष हुआ तो कपडा खराब होगा । इस तरह सब उतम रीतिसे ठीक होनेपर (अयत्नः संवपन्तु) एक देविशा कपडा बुनें, ठीक तरह बुनें, तादृश्यही अवस्थामें कपडा विशेष धर्मके साथ बुनें, ताकी (जस्य) वृद्धावस्थामें, जब कि विशेष धर्म होना संभवनीय नहीं है, काममें आवे । (आयुधमती इदं वासः परिधस्व) दाँवें आयु प्राप्त करती हुई यह स्त्री अपने प्रथमसे निर्माण किया हुआ वस्त्र परिधान करें । यही वस्त्र स्त्रियोंका और पुरुषोंको भूयगवध है । प्रत्येक परिवार इस तरह वस्त्रव्यापकोंको बुने। अपने बच्चोंके छिछे दूधरोपर निर्भर रहना सर्वथा अयोग्य है। यह उपदेश महा वेददे रहा है। वेदके उपदेशनुसार पत्नी परिचारके लोभ यदि ब्रह्मनिर्माण करनेका व्यवसाय घरेलू व्यवसायके रूपमें करे तो कितना कल्याण होगा, इसका विचार पाठक कर सकते हैं । जो लोग वैदिक धर्मा हैं, उनको उचित है कि वे

अग्ने परमे वसति रक्षे, स्तु कर्म और ब्रह्मा पुने ।

मंत्र ४६ में ब्रह्मा है कि स्त्री पुरुष अग्ने दीर्घ ज्ञानके म गर्वके (सीमा) प्रतिष्ठित अनुदोषुः १ भवाननेरखत्र अपरे (विमुग्धाः वाम) मातापिताके स्तु वृषा देवे और स्त्री पुरुष परश्वरके मुखदेते हुए आनन्दम अपना कर्तव्य करें । गृहस्थाधर्म का मार्ग अति-दीर्घ है, १ मने १५ सौ वर्ष इन मार्गों का आक्रमण करना पड़ता है । सौ वर्ष बलमेघर भी २६ धर्ममार्ग समझ नहीं होता । इतना संघ मार्ग यह गृहस्थिगोत्रे साधने है। इतने संघ मार्ग सुखने साथ प्रवास करना चाहिये । इस काम करने मातापिता को सुख देना चाहिये । मातापिताका भ्रष्टाचार करना यह एक आशुदशक कर्तव्य है । यदि एक गृहणी अपने मातापिताका मर्मालन न करेगा तो उसके बालक या उग्रका संमूल नहीं करेगा । स्वयं अपने मातापिता का संमूल करनेसे अपनी संतानोत्री सुसंभ्य शिक्षा मिलता है, जिससे व भी अपने मातापिताका आदरसत्कार करनेमें प्रवृत्त होते हैं। सब गृहस्थाधर्म सुखमय करना ही तो रूपा और बालकेकी पालना स्वयं उत्तम रीतिसे होनी चाहिये । गृहस्थाधर्म सुखरूपि कामेका यह महासूत्र है ।

गृहस्थिगोत्रे अत्र सुप्रजा निर्माणका बड़ा भारी भार है । प्रत्येक गृहस्थको उचित है कि वर (पत्रार्थ स्थीनं प्रथं) अपनी संतानके लिये मुख और स्थिदे प्राप्त कामेका प्रबंध करे । अपनी सब संतानें सुखी हों, और सिद्ध हों, मुदहोतया दीर्घायु बनें । संतानकी दीर्घ आयु किसे शानिसे हो सकती है! इसके उत्तरमें वेदका कदना है कि (सविता आशुः दीर्घे वृष्णति । मं० ४०) सूर्य ही मनुष्यकी आयु दीर्घ बनाता है । सूर्यका ससे मनुष्यकी दीर्घायु ही सकता है। मनुष्य सूर्यकिरणोंमें बिचरे, सूर्योत्पत्त्यान के, सूर्यकी उपासना करे और अपनी आयु दीर्घ बनावे ।

पाणिग्रहण ।

पुरुष स्त्रीका पाणिग्रहण करता है। यह पाणिग्रहण होतेही स्त्री पुरुषका पत्नी और पतिका माता पुरु होता है । इस समय पति अपनी पत्नीके प्रेमके साथ बातचीत करे और उसके बड़े-

“ हे पत्नी! तेरा हाथ मैं पकड़ता हूँ, दुःख मत कर और मेरे साथ तथा मंगलों और धनके साथ सुखमे निवास कर । इस तरह प्रेमपूर्वक पति अपना धर्मपत्नीके साथ साधन करे । नवरतुदपरेके कुलमे जाती है, उसका कोई परिचित नहीं होता है, इसलिये पतिके घरके लोग उस नवरतुके साथ प्रेमका बर्ताव करें । पति नवरतुके करे कि “ हे पत्नी ! मैं तेरा हाथ पकड़ा है, इससे तू समझ कि तुझे मैंने सब अन्नका भोग दिया है । हाथ पकड़नेका अर्थ साधन देना है, अतः जबतक मैं हूँ तबतक तुझे करनेका कोई कारण नहीं । तू वहाँ सब तरह सुखीत है । मेरा जो धन है, वह भी तेरा ही धन है । उत्तम जैसा तुझे वैशा तुझे भी सुख प्राप्त हो सकता है । तम दोनोको जो संगत उत्पन्न होगे उनका दया पोषण पालन करना हम दोनोंका कार्य है । यदि हम बड़े कार्य करे तो वे सब हमारी संतानों भी हमारे सुखके हेतु ही सकते हैं । इस तरह हे पत्नी ! मेरे साथ रहकर तू इस संसारमें सुखमे रह और हम दोनों गृहस्थाधर्मका पालन करते हुए मेरे ही मार्गका आक्रमण करे । ” इस वचनसे पति और पतिके घरके लोग नवरतुके साथ मधुर, मित्र और सुखकरक व्यवहार करे और उनके मनने पतिके घरके विषयमें प्रेम उत्पन्न करे । जहाँ जहाँ वरने पाणिग्रहणका विषय आगया है, वहाँ वर पति पत्नीका पाणिग्रहण करता है, ऐसे ही उन्दप्रयोग है ।

- (१) वे हस्तं गृह्णामि । [अथर्व. १३।१।४८। १०]
- (२) वे हस्तं गृह्णामि । [अथर्व. १३।१।४९]
- (३) वे हस्तं गृह्णामि । [क्रवेद १०।८५।३६]
- (४) वे हस्तं अग्रहीतु । [अथर्व. १३।१।५१]

इन स्थानोंमें हाथ पकड़नेका उल्लेख है और जिसका हाथ पकड़ा जाता है, वह स्त्री है । इससे भी गृहस्थाधर्मोत्पत्तिकी विधिपता है, यह बात स्पष्ट होती है। वेदमें किसे भी स्थानवर स्त्री पुरुषका हाथ नहीं पकड़ती है, परंतु सर्वत्र पुरुष ही स्त्रीका हाथ पकड़ता है । पाणिग्रहण करनेका अधिकार पुरुषका है, यह हम मंत्रोंसे निश्चित होता है । इतिहासे मंत्र ४३ में [सिन्धुः नदीनां सजागमं सुषवे] कहा है । एक मनुष्य अनेक नदियोंका स्नान होता है, अर्थात् एक पति अनेक स्त्रियोंका पाणिग्रहण करता हुआ गृहस्थाधर्मरूपी बड़े काम करने का स्नान होता है, इस उपमाने अनेक पाणिग्रहण होना स्त्री

- (१) वे हस्तं गृह्णामि, (मा इत्यपिच्छाः,
- (३) मया प्रहृषा धनम सह त (म० ४८)

त किया है । उपमाओं यह भाव निःस्पन्द है कि जिस प्रकार एक समुद्र की अनेक नदियाँ आ मिलती हैं, उसीप्रकार एकपुरुषको अनेक स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं, यदि पुरुषोंक उपमाये यह भाव भूहो है तो उन उपमाओं बहूवचन का और बानना रहस्य है! इस बातका विचार पाठक करें । पति ही स्त्रीका पाणि— प्रहण करनेवाला है, इन कथनमें भी पतिका ही मुख्य होना छिद्र है । स्त्रीका दान पतिको किया जाता है, इस विषयके मंत्र भी हमने पूर्वस्थानपर देखे हैं । इन सब बातोंसे निःस्पन्द वैदिक धर्म के द्वारा गृहस्थाश्रममें पुरुषका मुख्य स्थान है, यह दर्शाया है ।

आगेके तीनों मंत्रोंमें पाणिप्रहण का ही विषय है और उन मंत्रों में स्त्रीका हाथ पुरुष परकता है ऐसी ही भाव है । तथा आगे विशेष स्पष्ट करके कहा है कि—

त्वं धर्मणा पार्था असि, अहं त्वं गृहपतिः ॥ सं०-५१ ॥

हृयं मम पोष्या, मद्यं त्वा प्रजावर्तिः अदात् ॥ सं०-५२ ॥

“पुरुषकी स्त्री धर्मसे पत्नी है, और पति स्त्रीका गृहपति है । यह स्त्री पतिके द्वारा पोषण देने योग्य है, क्योंकि इस पतिके अधिकारमें प्रजापातने इस स्त्रीको योग्य दिया है ।

स्त्रीके पोषणका भार पतिके ऊपर है, यह बात इस मंत्रसे स्पष्ट है । पति पत्नीका पालन पोषण करे । पालन-पोषणका विचार पत्नी न करे । पोषण ही सामग्री घनमें आनेसे पक्ष परती उस सामग्रीका योग्य निर्विषय करके सबको यथायोग्य धन माग पहुँचावे ।

गुप्त निर्माण करने में देवताओंकी सहायता प्राप्त होनी चाहिये । वह सहायता इस स्त्रीको प्राप्त हो, इस प्रकारका भाव शीर्षद मंत्र ५३ और ५४ में है । इन्द्र अग्नि आदि सब देवताएँ इस स्त्रीकी अपनी तोत्र अर्पण करे और इस स्त्रीके अन्दर उत्तम संतान उत्पन्न करें और ऐसे सुखान्तोके साथ यह स्त्री उत्पन्न होती रहे ।

केशीकी सुंदरता ।

सिरपर [केशी केशान् अकुरुषत्] पामेधरने बड़े बड़े केश निर्माण किये हैं । विशेषता स्त्रीके सिरकी शोभा केशोंकी सुन्दरतासे बनती है । (तेन इमो नारी पर्ये मशामयामसि) अतः पतिके लिये सुंदर दीर्घ केश स्त्रीके सिरकी सजावट की जाता है और स्त्रीके सिरकी शोभा बढ़ाई जाती है । स्त्रीके सिर

पर केशोंकी सुन्दरता रखना और शोभाके लिये सज बट करना योग्य है ।

(ममया चरन्ती जाया जिज्ञासे) मनसे चालचलन स्त्रीका केश है बड़ जानना चाहिये । केवल बाह्य चालचलन द्वारा स्त्रीकी परीक्षा करना योग्य नहीं है । मन कैसा है, विचार कैसे है, मनमें किस बातका विचार करती है, मनमें किसका मनन करती है, यह देखना चाहिये । जो मनसे शुद्ध है, बड़ी शुद्ध समझना चाहिये । अतः मन शुद्ध रहनेके लिये जो शिक्षा देनी योग्य है वही देनी चाहिये । स्त्री हो या पुरुष, उनके मन शुद्ध रखनेयोग्य पाठविधि बनानी चाहिये । प्रचलित पठविधि इन दृष्टि कैसा है इस बातका विचार पाठक करें और आर्य संतानोंको सुमन्तान बनानेके लिये क्या करना योग्य है, वह किया जावे ।

(योया यत् अवश्यं, तत् रूपं) स्त्री जो वस्त्र परिधान करती है, उसमें उसका रूप शोभावान होता है । अर्थात् स्त्री को इस प्रकारके वस्त्र परिधान करनेके लिये देने चाहिये कि जिससे उसका सुंदरता बढे । यहाँ सूर्यातिथीका उदाहरण पाठक देखें । संध्यासमयमें नितने विविध रंगके वस्त्र यह सूर्यपुत्री संध्या पहनती है और अपने रूपकी शोभा बढ़ाता है । प्रतिदिन सूर्य-पुत्रीकी यह सजावट केशों की जाती है यह पठक देखें और अपनी शक्तिके अनुसार स्त्रियोंको उत्तम वस्त्र पहनाने यह कोई आवश्यक नहीं है कि स्त्री प्रतिदिन नये नये वस्त्र पहने, परंतु जो वस्त्र पहने हैं वे ऐसे सुव्यवस्थित होंकि उनसे उस स्त्रीकी शोभा बढे । घरकी देवी स्त्री है और घरघरमें इस गृहस्था-मिनकी मंगल वस्त्र भूषणोंमें पूजा होती रहे और वह पूजा घरके स्वामीकी आर्थिक अनुकूलताके अनुसार होती रहे ।

(नवर्षः सखिभ्यः तां अन्वतिषे) जिनमें नी शोर्षो अर्थात् सब इंद्रियोंका समर्पण किया जाता है, उन यज्ञोंके साथ और जो हमारे मित्र जन उन यज्ञोंमें भाग लेते हैं उनके साथ यज्ञ-य जीवन बनाकर उस स्त्रीके साथ में सब व्यवहार करता हूँ । अर्थात् मैं स्वर्ग और अपनी धर्मपत्नी मिलकर हमारा सब जीवन हम यज्ञरूप बनाते हैं । जो जो कर्म हम करते हैं वह यज्ञरूप करते हैं । इससे हम दोनों यज्ञरूप बनने और अन्तमें हमारे यज्ञसे यशस्वरूप परमेधर प्रसन्न होगा और हम सुकृत्य बननेगे ।

[विद्वान् पाशान् विचर्चत] स्त्री पुरुष विद्वान् होकर अपने

पाशोंको काटें और बंधने मुक्त हों। सब प्रयत्न बंधनसे मुक्त होनेके लिये होने चाहिये। मनुष्य अनेक प्रकारके फले भनोंमें फंसा है, और स्वयं अपने लिये बंधन निर्माण करता है और उन बंधनोंसे बंधा जाता है। ये सब बंधन काटने चाहिये और मुक्त होना चाहिये। यह मुक्त होनेका ज्ञान जिसको होता है उसी को ज्ञानी अध्याय विद्वान् कहते हैं। मनुष्य-स्त्री या पुरुष-इम मुक्तिकी विद्याको प्राप्त करें और उसको सदावतासे मुक्त हो जाय ।

प्रत्येक मनुष्य कहै कि (अहं विद्यामि) मैं ये सब बंधन तोड़ता हूँ, मैं बंधनसे मुक्त होनेका यत्न करता हूँ। क्योंकि मनुष्य-जन्मकी सार्थकता बंधमुक्त होने में है। मनुष्यका जन्म ही इस कार्यके लिये है। ये सब बंधन मनके वारण होते हैं अतः कहा है कि (मनसः कुलायं पश्यन् संदत्) मनका यह पोखरा है वह बात मनुष्य देखे और मनद्वारा उरण हुए ये सब बंधन हैं, ऐसा जमाने यदि मनुष्यको इस बातका ज्ञान होगा कि (मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः) मनका मनुष्योंके बन्धनेके लिये अध्याय मोक्षके लिये कारण है, तो उस मनुष्यका बेडा पार होगा। साधारण मनुष्योंको ऐसा प्रतीत होता है कि अपने बंधन बड़ा कारण से हुए हैं, परंतु वस्तुतः यह असत्य है। बाह्य कारण मनुष्यको बंधनमें फनानेके लिये क्षममर्थ है। मनुष्यका मनही अपने बंधन नैवार करता है और उसमें स्वयं फसता है और मनुष्यको फंसाता है। इसलिये बंधनसे मुक्त होनेवाले मनुष्य को उचित है कि वह अपने मनको ज्ञानके शब्द करे और उस शब्द मनसे वह अपने सब पाश काट दवे। निश्चय यह है कि [मनसा उत् अमुच्ये] अपने मनसे ही मनुष्य उरण होता हुआ मुक्त होता है। मनुष्य अपने मनसे बंधनों में बांधा जाता है और अपने मनसे ही बंधनोंसे मुक्त होता है। पाठक वहाँ देख कि (कतनी शक्ति मनुष्यके मनमें रही है। इतनी शक्ति प्रत्येक मनुष्यके मनमें होती हुई भा मनुष्य अपने आपसे असमर्थ मानता है और सदावताकी याचना करता रहता है। परंतु यदि वह स्वयं अपनी शक्तितसे बंधनमें पड़ा है तो वह अपनीही शक्तितसे बंधनोंको तोड़कर मुक्त हो सकता है। अर्थात् मुक्त होनेकी शक्ति इभीके अन्दर है। अतः कहा है कि [स्वयं अघ्नानः] स्वयं मैं अपने पाशोंको शिथिल करता हूँ। तुम्हारे पाशोंको दूसरा कोई शिथिलकर नहीं सकता। यदि तुम अपने बंधनोंको

तोड़ना चाहते हो तो तुमही तोड़ सकते हो, यदि बंधनमें ही पचना चाहते हो तो बँसाभी हो सकता है। जो तुम्हारे मनमें होगा वही यहाँ हो सकता है। तुमही अपने उद्धारक और तुमही अपने भातक हो। वृत्तरा तुम्हें कष्ट देता है वही बन्धारी भ्रम है यह बात जैसी वैशक्तिक मुक्तिमें सत्य है वैसी ही सामाजिक और राष्ट्रीय मुक्तिमें भी सत्य है। अतः सबको पुरखोंको उचित है कि वे अपने बंधन शिथिल करनेका स्वयं यत्न करें और प्रयत्न करके स्वयं मुक्त हों। यदि प्रयत्न किया जाय तो वह सिद्ध हो सकता है।

चोरीका अज्ञान खोजो ।

इस योग्यता को प्राप्त करनेकी इच्छा है तो यह नियम करना चाहिये कि न स्वयं अज्ञान चोरीका अज्ञान नहीं करता हूँ। सब पाठकोंको विचार करना चाहिये कि हम जो अज्ञान करते हैं वह अज्ञान चोरीका है या नहीं। यहाँ पाठक विचार करेंगे तो उनको पता चलेगा कि प्रयत्न लोग जो अज्ञान करते हैं। वह स्वच्छाजित नहीं होता है। वह चोरीका होता है जिसका दूसरे का अधिकार होता है। यदि हम उसको भ्रम करके तो वह चोरी है। यह चोरी घरमें भी होगी और समाजमें भी होगी। यदि कोई पदार्थ घरमें लाता है और वह सब मनुष्योंको न बाटते हुए अपने ही उसको खाता है तो वह चोरीका अज्ञान होता है। अपने सामने जो अज्ञान उरण होता है वह सामने सब लोगोंके लिये होता है। यदि सामने कोई छोगने अपने पास अज्ञानप्रद अधिक किया और इस कारण सामने कोई लोग भूले मरने लगे, तो निःसन्देह अधिक संघर्ष करने वाले चोरीका अज्ञान खाते हैं इस तरह विचार करनेपर स्वेच्छी व्याप्ति कितनी है इसका विचार पाठकोंको हो सकता है। यह सब विचार करके कुटुम्बियोंको निश्चय करना चाहिये कि हम चोरीका अज्ञान खाते हैं या नहीं अज्ञान खाते हैं। मनुष्यको उचित है कि वह अज्ञानप्रद अज्ञान खाने और पचने बने। जो मनुष्य अज्ञान न करके स्वयं अपने लिये ही पकता है वह चोर है। मनुष्य सामने को जो शिक्षा मिलनी चाहिये, वह यह है।

येन स्वा अवघ्नान्, पाशात् एवा प्रमुखाणि (मंत्र ५८)

"जिस बंधनमें तुमने बांध रखा था, उस बंधनसे तुममें मुक्त करता हूँ।" यह स्वयं पति अपनी धर्मपरामर्श कहता है, और उसको निश्चय देता है कि मेरी सदावतासे तुम अब (उहं लोक) विरक्त लोक को प्राप्त हुई है तब लिये विरक्त कर्मभूमि यहाँ प्राप्त हुई है और (अत्र तुभ्यं सुगंधं वा कृणोमि)

यहां तेरे लिये सुगममार्ग में बना देता हूँ। इस मार्गसे तू जायगी तो तेरा कल्याण होगा। यह गृहस्थाश्रम एक बड़ा मार्ग आधिभित्तुन कार्यक्षेत्र है, पुण्यार्थो मनुष्य यहां पुण्यार्थ करके अपना भाग बड़ा सचता है। यहां पुण्यार्थ करके अपना भाग बड़ा सकता है। यहां अनेक मार्ग हैं परंतु यहाँ सरल मार्ग ही मनुष्यको अज्ञान करना योग्य है। अस्तु। पतिको उचित है कि वह अपनी स्त्रीको सुशिक्षा देवे, उनको सीधे मार्गसे चलाने और उसको बंधन तोड़नेके लिये जो जो पुण्यार्थ करने आवश्यक हैं वे सब स्त्रीसे करावे। पाठक यहां विचार करें कि पुण्यपर यह कितनी भारी जिम्मेवारी रखी है। पुण्यको अपनी सुक्ति सिद्ध करनी चाहिये और अपनी स्त्रीको भी सुक्तिके पथपर रखना चाहिये। स्त्रीके योग्य ऋषया अयोग्य आचरण का उत्तरदातृत्व पुण्यपर है। क्षत्रिणांश्चासुव भार पुण्यपर है यदि स्त्री विद्याहीन है तो उसका दाय पुण्यपर है। पाठक विचार करें और अपना इस विषयका कर्तव्य जान करके उसको पूर्ण करें। यहां अगच्छ ५९ मंत्रमें कहा है—

(इमां नारीं सुकृते दद्यात् । मं० ५९) इस स्त्रीको पुण्यमार्गमें रखो, इससे पुण्यकर्म होने ऐसी व्यवस्था करो यदि अश्वत्थुराश्वत्थुहार करती है, तो पुण्यने उसको सुशिक्षा नहीं दी है यह बात सिद्ध होगी। पुण्यका यह कर्तव्य है कि वह स्त्रीको अपने कर्तव्यका आवश्यक ज्ञान करा देवे। और स्त्रीको धर्मज्ञान ज्ञान देवे। (धाता अस्ये पति विवेद) परमेश्वरने इस स्त्रीके लिये पति प्राप्त करा दिया है इसके पश्चात् इस स्त्रीकी शिक्षाका उत्तरदातृत्व पतिपर है। वह पति (रक्षः अरु हनाय) राक्षसी मावोका नाश करे। इस स्त्रीमें जो आसुरी वृत्तियां हैं उनका नाश करना पतिका कर्तव्य है। पति स्त्रीको ऐसी सुशिक्षा देवे कि जिससे स्त्रीके अन्दर की सब आसुरी वृत्तियां दूर हों और उसमें देवी वृत्तियां स्थिर होजाय और वह सचमुच "देवी" बने। इस स्त्रीको (उत् यन्सध्वं) उच्च बनाने के लिये अपने आपको सजय रखो, तैयार रखो, अपने राज्ञात्र ऊपर उठाओ, उसका उत्तम रक्षण करो, उसको उत्तम धर्मनियम में रखो। जिन प्रयत्नोंसे स्त्रीको सदा सदाति हो सकती है वे सब प्रयत्न करो। स्त्रीको उत्पत्तिभार छोड़नेमें नितुकूलपर और विवाह होनेके पश्चात् पतिकुलपर है। इसकी सदाति करनेके लिये ही (धाता पति विवेद) ईश्वरने इसको पति प्रदान किया है, अतः पतिका कर्तव्य है कि वह अपनी धर्मपत्नीका सर्वांगीण सदातिके लिये यत्न करे।

(सा सुमंगली अस्तु । मं० ६०) वह स्त्री उत्तम मंगल करनेवाली बने, मंगल की मूर्ति बने, उस स्त्रीके कारण घरका और कुलका मंगल हो, इस स्त्रीको मंगलमूर्ति देखकर सब लोग आनंदित हों। इसकी उत्पत्तिके लिये सब दवाताएं (भग, धाता, रक्षा आदि) सहायता दें।

घरातका रथ ।

भारतके रथका वर्णन पुनः मंत्र ६१ में है। यह रथ उत्तम (सु निशुकं) कुल्लोस सुगोभित किया जावे, तथा उत्तम सुंदर माल पुण्यसे सजाया जावे। (विश्व-रूपं)

अनेक प्रकार की सजावट उसपर की जावे, (शिरण्य-वर्गं) सुवर्णके रंगका वह रथ हो, उत्तम चमकदमक उसपर हो, (सुवृत्तं सुचकं) उत्तम झालें लगी हों और उसके चक्र उत्तम हों। इस तरह का सजासजाया रथ (वहतुं) भारतके काममें लाया जावे। यह भारत पतिके घर पहुंचे और वहाके स्थानको (अमृतस्य लोकं नृणु) अमर लोक, सुखपूर्ण स्थान बनावे। धर्मपत्नी अपने पतिके घर पहुंचकर वहांका सुख बढावे। पतिके घर धर्मपत्नी (अन्न-तृप्ती) भाईयोका पालन करनेवाली, भाईयोका नशान करनेवाली, (अ पशु-पत्नी) पशुओंका पालन करनेवाली, गाय घोडे आदि पशुओंका संयत्र प्रतिपाल करनेवाली, (अ-यति-पत्नी) पतिके पालनपेक्षण करनेवाली, पतिके कष्ट न देनेवाली, पतिका सुख बढ़ानेवाली पतिका भातपात न करनेवाली, (पुत्रिणी) पुत्रोंसे सुख, संतानसे सुख, ऐसी स्त्री पतिके घर इस प्रकारसे प्राप्त हो। यह स्त्री (देवहृते पथि) देवोंके बनाये सन्मार्गसे जाना चाहती है, अतः इसका विवाह हुआ है, इस कारण इस (कुमार्थं मा हिंसिष्टं) इस समयतक पुनारी रही हुई यह सबवधू है, इसको यहां पतिपरमें किसी प्रकारका कष्ट न हो। (बहुधूमं रथोने कृमनः) इस वधूका मार्ग हम सुखदायक करते हैं। इसका चलनेका जो देवमार्ग है वह इस वधूके लिये सुखदायी हो, ऐसा प्रबंध हम करते हैं। (शालायाः द्वारं रथोने कृमनः) इस स्त्रीके लिये गृहप्रवेशके समय पतिके घरका द्वार हम सुखमय बनाते हैं। इस स्त्रीको पतिपृथुमें उत्तम सुख प्राप्त हो और वह अपनी उत्पत्ति ग्यायोग्य रीतिसे प्राप्त करे, निर्दिष्टतासे यह देवी उत्पत्तिके प्राप्त हो।

इस स्त्रीको (अपर पूर्वं मयनः द्रक्ष्य युज्जतां । मं० ६४) आगे, पीछे, बांचेमें और सब ओरसे लन प्राप्त हो। ज्ञानसेही

सबको उन्नति होती है। यहाँ ' मद्र ' शब्दके अर्थ—
 "ईश्वर, मंत्र, वेदान्त, यज्ञ, अग्नि, तप, धर्म पवित्रता,
 इन्द्रावर्ष, धन, इन्द्र" ऐसे होते हैं। श्री पतिधर्ममें अष्टाशुद्धि
 यहाँ ये पदार्थ उल्लेखित हैं, इनमें विमुक्तता कमी न होने
 पावे। यह धर्मपत्नी (अन्त्याध्यायी देवपुरां श्रवण) आधि-
 दित दिग्ग मन्त्राको अर्थात् पतिके स्थानको प्राप्त होकर,
 पतिपूर्वमें रोगरहित रहकर, जगत्पलाके साथ अपना सब
 व्यवहार करके (शिवा स्थाना पतिसेक विराज) शुभम-
 गन्तव्यी गृहदेवता होकर पतिके स्थानमें विराजती रहें।
 यह स्त्री पतिके घरकी सभा बढावे, सुखकी बुद्धि करे और
 बहोके संगलक्ष हेतु बने ॥

यहाँतक प्रथम सूक्तके मन्त्रोंका विचार किया। अब हम
 द्वितीय सूक्तका विचार करते हैं—

द्वितीय सूक्तका विचार ।

द्वितीय सूक्तमें भी विशाहकाली विचार है। पहले चार
 मन्त्रोंमें बुभुक्षिकोके चार पति होनाका उल्लेख है। इस विषयमें
 इस तरह स्पष्ट कहा है—

सोमस्य जन्वा प्रथम मंत्रार्थोत्पन्नर पति ।

सूचीयो अग्निष्टे पतिस्तुतीयस्तु मनुष्यजा ॥ मं-३॥

" कुम त्रिकाका पहला पति सोम, दूसरा पात मन्त्र, तीसरा
 अग्नि और चौथा मनुष्य योनिमें उत्पन्न (अर्थात् मनुष्य)
 है " यहाँ चार पति के मन्त्रोंमें होनेका उल्लेख है। क्रमशः प्रथम पति
 मन्त्र इस प्रकार है—

सोमः प्रथमो विन्दे मन्त्रार्थो विविद उत्तरः ।

सूचीयो अग्निष्टे पतिस्तुतीयस्तु मनुष्यजाः ॥ ४० ॥

(मन्त्र-१० । ८५)

इस मन्त्रका अर्थ वैसाही है जैसा ऊपर दिया है। इस
 कन्धाको सोममें पहले पात की, तीसरा पति अग्नि है और
 चतुर्थ मानव है। इस मन्त्रमें चतुर्थ पतिके ' मनुष्य-ज ' कहा
 है इसका तात्पर्य पूर्वके पति मनुष्य योनिमें नहीं है इस की
 सिद्धि होती है। अतः यद्यपि इस मन्त्रमें चार पतियोंका उल्लेख
 है, तथापि वह मंत्र निवोग अथवा बहुपतिवन्दी सिद्धता
 करता है ऐसा मानना असंभव है। क्योंकि इसकी सिद्धता
 होनेके लिये तीनों पतियों ' मनुष्य-ज ' होने चाहिये।
 यहाँ स्पष्ट मन्त्रमें कहा है कि पहिल तीन पति मनुष्यज नहीं
 हैं, केवल चतुर्थ पतिही मनुष्यज है। इस कारण इससे

निवोग अथवा पुरर्विवाह सिद्ध होना असंभव है।

चतुर्थ मन्त्रमें स्पष्ट कहा है कि यामने इन कन्धाको मंत्रार्थके
 पाम दो, मंत्रार्थके अग्निके सुपुत्र की और अग्निने मानवा पतिके
 हाथमें दे दी। इसलिये पहले तीनों पति देशों अतिके बन्ध
 हैं यह सिद्ध है। मन्त्रार्थके चार रहती हुई कन्धा बन्ध
 अवस्थामें इन देवतोंके आर्षण रहती है किवा इनका प्रमाण
 उभयपक्षों में है। जब विवाह होम होता है, तब वह हवनार्थ
 इस कन्धाका मानको पतिके हाथमें देता है।

कई उन्नत लेखक इस मंत्रपर ऐसी विचित्र कल्पना कर
 देते हैं और लेख भी लिख चुके हैं कि पूर्वकालमें कन्धाका
 विवाह होनेके पूर्व उसका सोम, मन्त्र और अग्नि एकत्र
 जानियेके पुत्रोंके पास रखा जाता था और तत्पश्चात्
 यह कन्धा उनको अनुमतिसे मानव को प्राप्त होती थी !!
 सचमुच यह कल्पना विचित्र और हास्यास्पद है। इसमें
 तो स्वामिचार ही धर्म हुआ है ! परन्तु हमने यहाँ
 एक देखा है यहाँ तक हमें सोम और अग्नि कन्धाकी कोई
 जाती थी, इस विषयमें प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ। पश्ये
 थी। परन्तु यहाँ एवमे ध्यान बलिया। अतः हमें यह कल्पना
 निराकाराई प्रतीत होती है।

इसके अतिरिक्त संतुर्ण वैदिक बन्धनोंमें कीचे इतना स्पष्ट-
 संघ दिया नहीं है जिससे वह पतिके आर्षण रहती। इस
 प्रकार अन्य पुराणोंके पास जाकर रहना लिये उसको स्मरणी
 नहीं है। वरन् कन्धा भी अन्य स्थानमें इस तरह विषय के
 पूर्व तीन पति होनेका निर्देश भी नहीं है, अतः यह मयानक
 कल्पना असत्य है। जो इसको करते हैं उनके मस्तिष्कमें कुछ
 विचार हुआ है ऐसाही हमें पतान होता है। वरन् कि मन्त्रमें
 स्पष्ट है कि मनुष्य पतिके पूर्व के तीन पति मनुष्यज है अर्थात्
 देवन हैं। देवताओंका स्वामित्व किसी भी प्रकार योग्य नहीं
 हो सकता। जैसा कोई मन्त्र अपने उपास्य देवकी आज्ञा अन-
 र्णन करके पद्यात वह अज्ञ स्वयं मन्त्रण करता है, तन्में उक्ति
 प्र मन्त्रका दाप नहीं होता, क्योंकि वह अज्ञ समर्पण पूरु
 माननाही बात है। इसी तरह मन्त्रार्थिका कन्धाके बालकपणमें
 सममें कि अपनी कन्धा उस समय सोमदेवताके प्रमाणमें है,
 पन्धावत् वह मन्त्र देवताके प्रमाणमें है, तदन्तर वह अग्निदे-
 वताके प्रमाणमें है। तत्पश्चात् वह मानवी पतिके आर्षण होती
 है। यहाँही जीवन इस प्रकार हुनतामय होना चाहिये। देवता

भोके समप होनेका अर्ग पात्रप्राचल अपरयमेव होवेका है । यदि कोई अनुपय राजाके समय विचित्र काल रहेगा, तो यह उभ समय अधिक पात्र रहेगा, इसी तरह जब यह कन्या इन वेवोंके पात्र रहेगी ता उनको पात्रितत अधिक हानमें कोई संदेह ही नहीं है । देवताएँ सर्वज्ञ होती हैं । अतः हमारा पात्र उभने विप जाना असंभव है, इन सब कथन का नाराय यह है कि ये तर्क देवों पति केवल मनोभावनाके कारण ही हैं । अतः मानवा पति ही सत्ता पति है । अर्थात् इन मंत्रपर जो अनेक पात्रिका कथना की जाती है, वह निराधार है ।

विवाहका समय ।

आमले दो मंत्रोंके विवाहके समय वधू और वर को आयु कितनी होनी चाहिये, अर्थात् कितनी आयुमें विवाह हो, इसका निर्णय हो सकता है । (समितिः अण्डः सं० ५) उत्तम मर्त आणई है । इससे विवाहके अर्थ बुद्धिपर होनेकी बात सिद्ध होती है । उत्तम विवाह होनेपर विवाहका विचार करना चाहिये । बुद्धि सुसंस्कृत होनेपर विवाह हो । (ह्यस्तु कामाः अरंमत । सं० ५) ह्यः यमें कामने अपना स्थान कमाया है । इतनी प्रसन्न अवस्था प्राप्त हुई है, तब विवाह करना चाहिये । ह्यः यमें काम का बीज उत्पन्न होना चाहिये । (वासिनी वत्) अन्न और धनमें सुकृत होना चाहिये । तत्पश्चात् विवाह हो । विवाह प्राप्त होनेके पश्चात् धन प्राप्त कर प्रसन्न आयुमें विवाह का विचार करना चाहिये । (मितुना शुभपत्नी गेय अमृतं) पात्र साथ रहनेकी इच्छा करनेवले, उत्तम पालक संस्कृत जब रोग, तब विवाहका विचार करे । (अर्ध-मनः = अर्ध-मनः) अर्ध अर्थात् अल्प मनकाले वधुवर हों; तब विवाहका समय होगा । पाठक इन शब्दोंका अर्थ ही प्रकार मनन करे और विवाहका समय जाने ।

विवाहके समय स्त्री की (मन्दसाना । सं० ६) आनन्द, प्रसन्न, अजन्तित चित्तवले, (शिवेन मनसा शुभ मनसाली, कथनान्तरे विचारने सुकृत हो । (सर्वशोर् वचस्य रवि) सब प्रकारके दोषों का भाव विषयमें है, उत्तम बहूत्व विषयमें है, इस तरहकी योग्या धारण करे और (दुर्मति हतं) दुष्ट बुद्धि का भाव करे । इस तरह का ही व्यवहारके विषयमें निर्देश हमें मिलते हैं ।

अर्थात् विवाहके समय स्त्री और पुरुष विद्या, धन, बल, (अ. सु. भा. धं. १४)

धुविचार आदि गुणोंमें सुकृत होने चाहिये । कुटुंबका सब भार सिरपर लेनेकी शक्ति उभमें चाहिये । इन निर्देशका विचार करनेपर पता चलता है कि वधुवर पाठ आयुमें हो । ववाह करे अर्थात् बालकपनमें विवाह न हो । वैशदिक मंत्रोंका भयं अर मनोकन धोत्रिका का भयं समयमें योग्य बुद्धिकाले वधुवर हों । वैशदिक मंत्रोंमें मातापिताका अधिकार कुमार—कुमारिकाभं पर पूर्व है, तथा कन्यादान भोत्रिकमें कहा है । इनमें कुमार—कुमारिकाओं का स्वयंवर के अमोष्ठ नहीं है यह बात सिद्ध होती है । स्वयंवरका उद्देश्य वेदमें किसी स्थानपर स्पष्टतया नहीं है और कन्यादान—पदनिमें स्वयंवरका स्थान मिलना असंभव है । जहां स्वयंवर हो वहां कन्याका दान कैसे हो सकता है ? कन्यादान की प्रथा वैदिक होनेके कारण मातापितृ का अधिकार कुमार कुमारी है और इन कारण मातापितृ की अनुमतिमें ही वैदिक विवाह हो सकता है । अतः जो सन्तानें हैं कि वेदमें युगीयनोंके समान स्वयंवर की रीति है और जो स्वयंवरको वैदिक विवाह कहते हैं और जो “ प्रथम दर्शनमें ही प्रेम ” होनेकी संभावना वैदिक विवाहमें मानते हैं वे सब वैदिक धर्मके उदाहरक हैं । अतः । इन तरह वैदिक विवाहमें कुमार कुमारीका अधिकार शीघ्र और सुनस्क होना सिद्ध है, तथा पि मातापिताकी संमतिभी उभनी ही प्रबल है यह बात विशेषतया ध्यान में धारण करनी चाहिये ।

अगे मंत्र ७ मे ९ तक नवविशाहित वधुवधुओंके अमीष्टत तनपूर्वक आशीर्वाद है । गणप, दुष्ट, दुःखकारिणोंसे वधु वरका होनेकी प्रार्थना मानने मंत्रमें हैं । सब मंत्र वधुकेलिने सु शिष्य होनेका आशीर्वाद अष्टम मंत्रमें है । और नवम मंत्रमें वधुवधुओंके मंत्रमें, अष्टम, देवी आदि सुलगायक हों और इन वधुवधुओंको कोई दिवा न करे यह इच्छा है ।

यज्ञसे यक्षमनाश ।

दशम मंत्रमें यज्ञने यक्षरोगका नाश होनेका संदेश बड़ी काव्यमयी वाणीमें दिया है । उसका विचार किञ्चित् विशेष विचारके साथ करना उचित है ।

ये यक्षरोगमें बहसुं यक्षमा चमि जनां अनु ।

पुनःतान् य यज्ञया ददा नयन्तु यन आगताः ॥ [सं० १०]

“ ओ [यक्ष] यक्ष रोग [जगत् अनु यज्ञित] यज्ञियोंके साथ साथ चलते हैं, ये (यक्षः चर्मं वरतुं) वधुके तनसूरी

भारतके सभके साथ जागये हो तो (तान्) उन यक्ष रोगीको [वसिष्ठाः देवः प्रवृत्तु] यज्ञके देव दूर ले जावें, अर्थात् बच्चा बरके साथ आन ले दें । " यज्ञके देव अग्नि बनस्वति आदि हैं, जिनसे यज्ञ होता है और यज्ञमें जिनका नामनिर्देश हुआ करता है। वे सब देव मनुष्योंके सय आगे यक्ष रोगीको दूर करें । इस मंत्रक मनमें यह बात सिद्ध होती है कि जहां मनुष्योंकी भीष हालत है वहां रोगी सन्धीके साथ यक्ष्यादि रोगके बीज आना समभव है । भारतमें जहां मेरुओं आदिमी इषट्ट होते हैं वहां अक्षय्यक वीनता रोग है इनका ज्ञान होना भी समभव है । अतः ऐसे भीषके प्रयाग में शशीरथ्य रोगकी बाधा होनेकी संभावना होती है, इसीसे ऐसे स्थानमें वृद्ध हकन करके ऐसे यक्षबीजा समन करना योग्य है । जहां जहां भारत जैसे बहुत मनुष्योंके समाज जमा होत हैं वहां वहां यही मन्दिप यज्ञ ले रचना योग्य है ।

गुरु दूर हों ।

यथाहवे मंत्रां गायुका दूर करनका उपदेश है । पूर्व मंत्रमें व्याधिग्रस्त गायुकी दूर करनका उपाय कहा और इस मंत्रमें मानवा गायुभोजी दूर करनेकी सूचना दी है । (एषो पथिनः मा विशन्) दुष्ट मार्गसे जिनके ले दुःखवाची इन रोगियों ने प्राप्त हों। दुःखवाची अन्नक पलायन करनकर मनुष्योंके चला देते हैं, ठगत हैं, कंवात हैं सुटने हैं और अपना मतलब साधते हैं । अतः ऐसे दुष्टोंके संबंधन नवीकृतित वधुपर दूर रहें इतना ही नहीं परन्तु अथ लोकाभी दूर रहें । यह सब समाज उपदेश है । (आतय. आ २३) गायु दूर मग जावे, यमुदर मनुष्य जो इन नवीकृतित औद्योगीको कंवातके रूच्छुं ही वे दूर हों । इनसे वे दगति सुशिक्षित रहें । तथा वे सोपुधर (सुमेन दुर्गं ज्ञातां । सं० ११) सुखपूर्वक सब कठिन प्रसंगोंमें मुक्त हो जाय ।

ह्याहवे मंत्रमें शार्पणा है कि " सबका उपायकनी क्विन्ता देव इस सब विश्वके रूपको इस पतिपत्नीके लिये सुखदायक बन वे । " अथ व यह सब विश्व इस रंगतको सुख देने, हयसे दुःख न होवे । यदा पठक रूप पर रहीं कि जगत् के सब पदार्थ सुखदायक भी हो सकते हैं और दुःखद वक भी हो सकते हैं । अपने व्यवहारपर सुख या दुःखको प्राप्ति अवर्तवित है । अतः वधुपर ऐसे धार्मिक सुनिश्चयोंके व्यवहार करें कि जिससे उनको

सदा सुख होता रहे और दुःख दूर रहि न हो ।

विवाहमें ईश्वर का हाथ ।

तेराहवे मंत्रमें (पाता इमं लोकं अथेय दिदेय । सं० ११) विधाताके यह पतेछा करान इस बच्चेके लिये निर्दिष्ट किया है, ऐसा कहा है । इसका साम आशय यह है कि जब कौन वा पुत्र्य उत्पन्न होना है, तब उसके लिये विवाहकी योजना विधाताद्वारा नियत होती है । विधाताके संवेद्यको लेकर जो चलते हैं, उनक लिये यथायोग्य धर्मपत्नी मिलती है । जो सर्व अपना दृष्ट आचम लेते हैं, वे कष्ट मंगते हैं । जो मन्त्रवैभाज्य पाते हैं उनका बह देतु भी ईश्वरीय हाथवे ही सिद्ध होता है । जो विवाहसुख होता है उनका उचित है कि वे अपना आचरण धर्मानुसूत रख अथम सुनिश्चयोंका पालन करें और सम्पत्की प्रतीक्षा करें । विधाताके नियमानुसर सुयोग्य बच्चे साथ अथव संबंध होगा । पठक यथा उपहास न करें। धर्मानुसूत संवत्पूर्वक ही मनुष्यका सब योगक्षेम ईश्वरीय नियमानुसार चलता है । जिसका परम मिता एकमात्र सहायक सहा हुआ उनको किनी बातकी न्यूनता नहीं होती ।

[इष शिवान गी अर्हन् कर्तु] यह ग्राम आचारवालीकी पतिक पर आगयी है । यह ग्राम आचारवाली की ऐसे ही धर्मात्मा पुत्र्यने जन्म होती है और उनका गृहस्थाधन सुखपूर्वक चलनमें महावता होती है । धर्मात्मा ग्राम आचारवाली मिलना एक मात्रवत् सख्य है और यह धर्माचारसे ही सिद्ध होता है ।

(देवाः प्रजया वर्धयन्तु । सं० १३) सब देव इस दार्तीको उतम संतानक साथ बच्चे, सुनतात देवे, अथ सब प्रहा रथा भाग्य देवे और इ एक प्रचारका हृक्ष इस रंगतिको मिले । यह सब ईश्वर भक्तिये ही प्राप्त होता है । विधाताकी हाथवे ही यह होता है ।

गर्भधान ।

विवाहके पदान्त गर्भधान प्रकरण जाना स्वभाविक और अनिवार्य है । उस संबंधका निर्देश १४ वे मंत्रमें है । [अग्नमती उर्वरा नरी] आग्नि क बलवाली, सुपुत्र दा सुसंज्ञक उत्पन्न करनका शक्ति होनेसे कठिन प्रसंगमें विवाहा धर्म नष्ट नहीं होता, ऐसी ही हावे । ' उवरा ' उवद उपजाक अर्थमें यही है । अनी मूमे कतम उरत्राह होजो है,

कृत्तव्यतासे ही रम्युक्त उत्पन्न होती है वैसी ही। स्त्री भी उत्पन्न हुए पुरुष सुमतिगुण भेदात् उत्पन्न करने ली हो। तंगी भेदात् उत्पन्न न हो। यह सब स्त्री के गर्भानुत्पन्न अकारण करनेपर निर्भर है। जैसा अयुद्धमें कहा है वैसा आचारण स्त्रीउत्पन्न करे, तो उत्पन्न भेदात् ही सती है।

(महर्षी मरीचिजी वचन) ऐसी सुगुणी कुलवती आत्मशक्त-साक्षिनी उत्पन्न संतान उत्पन्न करनेमें समर्थ होती है। पुरुष गर्भधान करे। किन्ती अष्ट स्थानमें बर्धित। निश्चय न करे। गर्भधानी को छोड़कर किसी अन्य स्थानमें बर्धित न होना सर्वथा अयोग्य, अपारम्परिक और अकारण है। पुरुष (वृषभः) बलके समान बर्धितान् हो। वृषभ, वृषण ये शब्द बर्धितशक्ति हैं। बर्धितवत् सुगुणी पुरुष ही गर्भाधान करे। रोगी, दुर्गुणी, निर्बल पुरुष गर्भाधान करेगा तो उसकी संतान वैवाहिक क्षीण और दीन होगी। अतः यह सम्बन्धता आवश्यक है।

स्त्री अपने पालक पर (बाह्य विरोध तैजस्विनी हारकर अपने सब ऋणहार करे, (साहसिनी) विद्यादेवता का स्मृति बनकर रहे अपौरुष विदुषा कृद्वलवान्ने योग्य जनवाणी बने। (यिनी-वाणी) विविध अत्ररत पत्र रत्नवाणी गृहस्थामिनी बने। जपना पति (विष्णुः इव) साक्षात् विष्णुभगवान् ही है और मैं उसकी गर्भाधानी हूँ ऐसा सब मनमें रखे। जैसा विष्णु उच्यते इति वा पालनद्वारा है, वैसा मेरा पति अपने परिवारका उत्तम पालक है यह विचार मनमें स्मरकर पतिके विषयमें बड़ा आदरभाव भाव अपने अंतः रक्षमें रखे। और (भगवत् सुमती अयम् । मं० १५) अपने पतिसे उत्तम मतमें अपने आचरण रखे अर्थात् उसके विषयमें उत्तम विचार मनमें धारण करे और उसके मनमें अपने विषयमें उत्तम विचार रहे ऐसा व्यवसाय आचारण करे। पति भी अपनी स्त्रीके विषयमें बड़ा आदर रखे। इस तरह पतिपत्नी परस्पर ही भक्तिकार करती हुई गृहस्थधर्मका पाठन करे।

पतिपत्नीकी व्यवसायीकी ऐसी ही कि उनमें आपसमें कभी झगड़े। विवाद न हो, वा-विवाह भोग न होवे। दोनों बड़े प्रेमके साथ मित्रवत् रहें। (अदुर्वहती) दोनों पति और पत्नी पुरा कामन्द, सुभाषार कभी न करे, सदा अर्द्ध शुभ कर्मों में वृत्तमान रहे, (वि-पुत्रौ) वे दोनों सदा मित्रवत् रहें, अभी प्रजापत्ये की पचम, षष्ठमें न पश्यते, (अग्रुर्न सा आत्मा । सं० १५) अग्रुर्न स्वभावात् कभी न करे। दोनों मिलजुलकर-

परस्परको धर्म करनेमें सहायता देते हुए अपने उन्नतिके मार्गका अकरण करे।

पतिके घरमें पत्नीका व्यवहार ।

एक पतिके घरमें स्त्री। निवास स्थिर हुआ। गर्भधारण होना बंधुका दैत्य पतिधर्ममें जन्म जाता है। तत्रगत वह अपने पिताके घरका स्मरण करती है। जब गर्भधारण होता है तब पतिके घरका प्रेम बढ़ता है। ऐसी अवस्थामें वह नारी पतिके धर्ममें किस तरह व्यवहार करे इस विषयमें उत्तम उपदेश मंत्र १० से प्राप्त होता है। हरएक स्त्रीको ये मंत्र बंधमें धरन करवे चाहिये।

(भ-वीर-चक्षु) कृष्ण दृष्टि करनेवाली स्त्री न रहे, सदा नीच आनंद प्रसन्न दृष्टिये अपने पतिके कार्य करनी रहे, विचार कथन न करे, चक्र (टेडी) दृष्टिये किसीकी ओर न देखे, (अ-पति-भ्राता) पतिका पातघन, आधान तथा विनाश कभी न करे, सदा पतिके हितमें दृष्ट रहें। (स्मोना सिवा) स्त्री सबको सुख देवे, सबका हित करे, सबका स्वार्थ करनेके धर्ममें दक्षिण रहे। [शर्मला] सदा शुभ कार्य करे, सर्वहितकारी कार्यमें अपने मनकी लगन रखे, [सु-यमा] स्त्री अपने पतिके घरमें उत्तम धर्मोपयोगके अयुक्त आचरण करे, कभी अनियमका आचरण न करे, [सु-सेवा] गृहस्थोंकी सेवा उसका गीतिये करे सेवा करनेवालीपर कोर्तन करे, प्रवृत्तान्ते सबकोके साथ बने, (वी-सा, प्रजापती) वीर संतान उत्पन्न करनेके लिये जो जो पश्ये व्यवहार करना आवश्यक रहे, सब करनी रहे, अपने मनके वीर्यमें ही अपनी संतान वरिप्रभावरुद्ध हो सकती है ऐसा जानकर अपने मनमें वीरताके विचार धारण करे, और बालहन में अपनी संतानोके वीरताकी शिक्षा देती रहे। इस तरह अपनी संतान सुखी होनेके लिये जो जो उपाय करना आवश्यक हो वह करती जाय। (इ-कामा, अ-देश-गी) परते वनेके न दुर्गो दित करे, उनका कभी द्वेष न करे, देरका कभी पचन न करे, (सुमनस्वामा) त्रिनकी अन्वःकरणका भावना उत्तम है, त्रिविध मनेवृत्ते उत्तम है, ऐसी स्त्री है, अर्थात् विद्या और मुनियोगके द्वारा। स्त्री अपना मन उसका शांत गंभीर और विनयगुण बनने और घरमें सबके मन अपनी ओर आकर्षित करे। (सु-धर्मः) स्त्री उत्तम तेजस्विनी बने, पतिके

शोभा बनकर पतिके चारों ओर, (पशुध्वजः शिवा) पशु अदि-
 कोका भी हित शृङ्खला को, पशुओंके घस दासपाना मिला
 है या नहीं, उनका अर्थव्यवस्था है, इत्यादि विचार कर
 इस संबंधमें जो आवश्यक कर्मोंमें हो वह करे । (ग ईपर्व
 सप्तमं) गार्धर्याश्रमे प्रातर्दिन हवन करे ईश्वर उपा-
 सना करे ।

आगम ० २६ और २७ में भी यही विषय पुनः आगया
 है । उसमें इसी तरह उलपनीके बतौरव्य शब्दोंद्वारा इसी
 तरह कहे हैं, जहां (सुमंगली) उशम मंगल करनेवली
 दुग्धमगल कामनावाली, (प्र-तरणी) दुग्धले पार करनेवली
 (सुनेवा) उशम लेवा करनेवाणी, उशम सेवनीय, [पाने
 क्षुद्राय शंभूः] पाने का और क्षुद्रका हित करनेवाणी,
 [श्रवणे राना] साधवा सुल करनेवली, (श्रुतरेभ्यः,
 श्रुतरेभ्यः, श्रुतरे, अन्ते सर्वेभ्यः श्रुते राना) सुश्रुत, पाने
 पति और सब पारिवारिक लोगोंके लिये सुख देनेवला शृङ्खला
 हो ।

इस उपदेशको ध्यानमें धारण करके जो स्त्री अपने पतिके घर
 में व्यवहार करेगी वह उसके आदर्श-वैशेष्य-तन्मद्देहो ग्राह्ये
 सोहे दे । शृङ्खलावा उशम आदर्श इस तरह बड़ा दिया है ।
 स्त्रीका आचरण पतिके घर वैसा ही, दत्त-निष्कर्म इसी वाक्य
 उशम सुवर्तने ४२ से ४७ तकके मंत्र और उनका उपदेशाग
 पठन बड़ा अवश्य देखे । और श्रौत उपवर कन्याओंकी इन
 मन्त्रोंका भाव अवश्य समझा देने ।

दरिद्रताको दूर करो ।

पतिके घर धर्मपत्नीका प्रवेश होनेके पश्चात् वधु और
 बरका मिलकर प्रयत्न इसलिये होना चाहिये कि अपने घरका
 दारिद्र्य दूर हो जाय, अपने घरमें न रहे । इस विषयका संदेश
 देने हुए १५ वें मंत्रने कहा है कि—

हे निर्वृत्त ! प्रयत्न, हृदय मा रहेया । अभिभूः स्वाम्
 गृहाम् । (वा ईडे । [मं १५])

वधु और बर कहें कि ' हे दरिद्रता ! हमसे दूर भाग जा
 यहाँ हमारे घरमें न रहे, मैं तुझका परामर्श करूँगा । और
 अपने घरसे तुझके निष्कल दूंगा, यह सब सब कहना हूँ ।'
 इस प्रकारके निष्कल श्रावण द'श्रुतसे कहे शोच इतका
 उपपर्व यह है कि कवि और पत्नी अ-न घरका दारिद्र्य दूर

करनेका निष्कल को और तदनुसार प्रयत्न करे ।

पड़ोंको नमस्कार ।

शोचमें मंत्रमें कहा है कि, जब वधु अंगुली पूजा करे,
 और अपनी ईश्वरीय मना समस्त करे, जब वह (पशुध्वजः
 नमस्कृत मं० २०) अपने घरके बड़े स्त्री पुरुषोंको नमस्कार
 करे और पश्चात् अपने कार्यमें लगे । यहाँ एक बहानी
 वैदिक आदर्श दर्शाया है । द्या प्राग्गत उठे श्राद्धशुद्धिके
 रानानादि कर्म करे, ईश्वर उपासना हवन ब्रह्म विष्णु
 होकर अपने घरके बड़े लोग अधत् पति, पतिके मातृपिता
 उसके बड़े भाई तथा अन्त्याशु गृहजन जो भी घरमें हों
 उनको दयायोग्य रीतिमें नमस्कार करे, उनका आशीर्वाद
 लेवे और पश्चात् अपने कार्यमें लगे । यह निष्कल न केवल
 नववधुके लिये ही उक्त है, पशु यह घरके सब कुलार
 कुमारीकाओंके लिये भी अर्थात् उक्त है । हमें बहुत अच्छा
 है कि प्रत्येक आर्षिक घरमें यह प्रथाही दृष्ट हो और इस तरह
 गृहजनोंको नमस्कार करना एक प्रतिदिनका अवश्यक कर्म
 समझा जाय ।

इस तरह गृहजनोंको सुखे नमस्कार करना यह एक
 (शर्म कर्म एत् । मं० २१) सुखदायक और संशुद्ध
 कर्म है । यह श्रौत अनेक आपत्तियां कुमारी और कुम
 रिकाओंकी रक्षा करती है । अतः इस पद्धतिका प्रचार आर्ष-
 गृहोंमें होना मुक्त है ।

[सूचना—मंत्र १५ वें का दूसरा भाग वहाँ मंत्र २६
 में पुनः आगया है ।]

नववधु ईश्वर उपासना और अभिभू हवन करनेके लक्ष्य
 कर्मपर—प्रायः हृदयानि नर-वैठे और अगना उपासनाया
 कार्य करे । (देखो मं० २२-२४)

शोचमें चर्मणि उपविष्टः सुपत्ना अग्नि सपर्वणु । (मं० २३)
 " हृत्पानिनार वैठकर उशम प्रजा निर्माण करनेवाली
 स्त्री अग्नि का उपासना करे " अग्निची उपसना करनेका
 कारण वेदमंत्रने इस तरह दिया है—

एष देवः सर्वो रक्षायि हन्ति । (मं० २४)

" यह अग्नि देव सब रोगीकरण शक्तिका भाव करता
 है " और कुटुंबिकोंकी जीविका करता है । यह आग उपासनाका
 महत्व है । अतः हवन प्रत्येक कर्तव्यमें होना चाहिये । इस
 तरह भी को कहती है उसका सुदर्शः पुत्रः । मं० २४]

उत्तम श्रेष्ठ पुत्र होता है । सुपुत्रा निर्माण करनेके लिये ईश्वर कृपायुक्तता की अत्यंत आवश्यकता है, इससे म्नापिता और पुत्र्युत्पत्तिके मन समंसा-संगत होते हैं और उसका परिणम सुपुत्र निर्माण होनेमें होता है । २५ वें मंत्रमें भी इसी कारण पुत्र:-

प्रतिभूर देवान् । (मं० २५)

“ देवोंको सुभूषित करो ” एसी आज्ञा दी है । ईश्वरीकृपायुक्तता करनेके लिये यह आज्ञा परित करनी है । देवताओंको आभूषणोंसे सुभूषित करो, यह आज्ञा यहाँ है । मनुदेव, गन्तुदेव, अन्त-पिदेव पतिदेव आदि अनेक देव धर्म होने हैं, उनको सुभूषित करनेके विषयमें यह आज्ञा होना संभवनीय है । धर्म में जो जो देवताएँ होंगी; उनका शोभा बढ़ाना, गृहस्थोंका परम वर्तव्य ही है ।

[कई मंत्र “ देवताओंकी मूर्तियोंकी सजावट करो ” एसा इस मंत्रका अर्थ मानने है और इस मंत्रके लक्ष्य कहते हैं कि वेदों द्वारा देवताओंकी मूर्तियों वर्णन की है, इस विषयमें उनका प्रमाण ये होते हैं—

क इमे दशभिर्भूमैर्दृक्काणाति भेषुभिः मन्० २। २४।१०
महे चन स्वामग्निः परा सुतहाय दयाम् ।

न सहस्राय नापुत्राय सर्वाश्वे न गताय जनानय ॥
मन्० २।१।५

“ (इमे इन्द्रं) इह इन्द्रो (दशभिः भेषुभिः) दश भौवो देवक (काणाति) सर्वाय गता है । मैं सैकड़ों और सहस्रों भौवों मिलनेपर भी (दशभिः परा देवा) किन्तु भी मूत्र मिलनेपर इस इन्द्रका न चूगा ॥ ” इन मंत्रोंमें ये श्लोक कहते हैं कि इन्द्रकी मूर्ति खरीदना और बचनेका उद्देश है । मन्०-१०० अग्निनासत्रक दास एम० ए० १०६७०-६१० में अपनी ‘ वैदिक कल्पतरु ’ नामक पुस्तक में पृ० १५५-१५६ पर इन मंत्रोंका विचार दिया है । अन्तमें उन्होंने इसन मंत्र देकर भी वेदमें निःसन्देह मूर्तिसूत्रा है एसा अपना मत नहीं दिया । इसलिये उनके मतमें भी वेदमें मूर्तिसूत्राका होना सिद्ध नहीं हुआ । अतः त्रिपुर विषयमें हम पक्षके उदाहरणको ही संदेह है उस विषयका अंशमें इसमें यहाँ करने की कोई आवश्यकता नहीं । हमने यह मत यहाँ इसलिये दिया है कि इस मंत्रपर पूर्णतः बधू महाशय यह बख्यता करते हैं । जो पाठक आज्ञा ही इसीसे अभ्यस्यन करते, ही वे

इन मंत्रोंका अधिक विचार करें । उक्त बधू महाशयोंका और भी कथन यह है कि (मन्० २। १९। १५—१६ जैम) मंत्रोंमें जहाँ इन्द्रके रथमें बैठनेका उल्लेख है वहाँ इन्द्रमूर्तिके रथपर सवार होना एसा अर्थ समझना चाहिये । यदि इस तरह कल्पना करन ही तो प्रायः सभी देवताओंकी मूर्तियों वेदमें वर्णित हैं, एसा ये कह सकते हैं, क्योंकि वेदमें अनेक-देवताओंका वर्णनमें रथमें बैठनेका वर्णन है । देवताके रथमें बैठनेका क्या अर्थ निकल बर्ष है इत्यादि नहीं हमने ‘ वैदिक अभिदेया ’ नामक पुस्तकमें अभिदेवताके विषयमें की है । इसी प्रकार इन्द्रदेवतापर स्वतंत्रतः एक पुस्तक लिखकर उनमें इन्द्रदेवताके रथपर बैठनेका आशय क्या है इसका विचार करेंगे । वह विचार यहाँ संक्षेपमें कहनेसे कुछ भां प्रयोजन निश्च नहीं होगा, इसलिये वह विषय हम यहाँ नहीं लेते हैं । हमारे विचारसे यहाँ के “ देवान प्रतिभूव ” वा अर्थ अपने विषयमें जो मुद्दकन है उनका सुभूषित करो, ऐसा है । जो जो शोज होकर जो बात निश्च होगी वह प्रकाशित करेंगे अन्तः ।

उक्त प्रकाशकी सुमंगल बधू को सज्जन की पुत्र्युत्पत्ति देखें, मन्० अ कीर्तन दे, उक्तका अन्त चाहें सो । उसकी सहायता करें, यह भाव २६ वें मंत्रका है । जो दुष्ट हृदयवती (दुष्टाः दुष्टाः) शत्रुं नहन पुत्रितियों ही धोखा दी रहना है और उनका पुत्रार्थमें प्रयत्न करती हैं, ऐसी दुष्ट पुत्रितियाँ इस नव विवाहन बधूवरके समान आये। अर्थात् ऐसीदुष्ट शत्रुके और दुष्ट पुत्रोंके प्रभावसे ये नवविवाहित शत्रुपुत्र बचें रहें

गुप्त यात ।

इसके पश्चात् मंत्र ३- से मंत्र ४० तक छत्रपुत्रके उद्देशका अर्थात् गुप्तार्थान् मंत्र का वर्णन है । इन्में उत्तम मनन करने धोःय अनेक निर्देश हैं । तथा । यह विषय केवल गृहस्थोंके ही उद्देशोंमें हैं, और वज्रवारी उक्तको पत्र नहीं सकते, अतः यह श्लोक बख्य है । इस कारण इसका निराण हम यहाँ नहीं करते । जो पाठक इसका ज्ञानना चाहें वे मंत्रके अर्थके विचार करके जानें ।

बधूका वस्त्र ।

बधूके निवारक समय शत्रुों का दण्डका वस्त्रदान करनेका अर्थ मंत्र ४१ और ४२ में है । यह वस्त्र-देवा अन्त-आव

रुक् ३, वसोति यह (इन्द्रमाया) साधनाका भाग है, यह दान (देना दत्त) देवोदारा दिया था (मनुना साके) मनुके साथ यह प्रथा है, या मनुके साथ यह वस्त्र आया है, यह (इन्द्रमे) साधनामे देन योग्य दान है । ५४। विक्रियुत्र इन्द्रमे यः ददाति) मे ज्ञानी साधनामे इन्द्र वस्त्र दान करता है उसका लाभ होता है । इस तरह वस्त्रदान की महिमा इन मंत्रोंमे वर्णन की है । साधनामे इन्द्र तरह वस्त्रदान किये जाय यह इसका तात्पर्य है । विद्वान् ब्रह्मर्षीमे एव दान दत्त उनका योगक्षेम चलाया चाहिये, यह उपदेश यहां इन मंत्रोंमे मिलता है । यह गृहस्थिमे पर एक प्रकारका धार्मिक भार है । इस प्रथाके दान गृहस्थी देते रह्ये तो उस दानमे बडे बड सुदु- सुल चल उवत हैं और िष्ट का प्रसार भी बढ़ा हो सकता है ।

गृहस्थियोंके घर ।

४३ वे मंत्रमे गृहस्थियोंके घर देने होे । इस विषयके आदेश मिल सकते है । (सुष्टुठी) की पुष्टय उत्तम घरमें रहे, पर अंदर बहामे उत्तम सुशुद्ध स्थित हो, जैसा वैवा न हो, प्रच्छन्न वस्त्रा औः पके बाहरका भाग सब दयायोग्य स्वच्छ, सुदार और सुशुद्ध हो । (स्वर्गोत्थं धीन् अधि सुप्र- मानै) कीपुत्रायाश्च शान्त वनेना कर्मण अर्चते सुमदीयक हो, गर्भोऽिदनीमे वह शान्त रहे और शीतके दिनोमे वही सुल- दायक बने, वृष्टिसे बूडू बट्ट उसमे गृहस्थे लोके न हा । ऐसे सुलक्षणी कर्मोमे गृहस्थी का पुरष सोया करे । उस कर्मोका खोलाध्य उत्तम होनसे जोे ही पुरष उनमे श्रेष्ठमे, उनको उत्तम निश्चि भवती, और वे साधन-द्वयमे (अधि सुप्रमानौ) अपने उपनयनदिने उठ सकते हैं और अपने धर्मधर्मो प्रामम वर सकते हैं । वे का पुष्टय अपने सुंदर मोदोमें रहे और (इष्टुष्टी) दाशविभेदे बरते हुए अपना दैनिक व्यवहार करें । सभी विधापर क्रोध द्वेष अदि विचारयुक्त आचरण न करें । आनंदके साथ रहे, (मद्- सा मोदमनौ) मद्दरके हृत्के साथ आनन्दप्रमत्त रहे । उन अधिपुष्टियोंके परस्परिक व्यवहारमे ऐसा शीत हो जावे कि वे घंटे आनंदसे अपना व्यवहार कर रहे हैं । उनके मुखारविन्दे उनका ज नन्द व्यक्त हो ।

(सु-गू) उत्तम शीतोष्ण पञ्चन जनेवसे वे गृहस्थी हो, परमे शुध देनेवाली उत्तम उत्तम शीते हो, उनका दूध दही, छछ मक्खन, ची आदि वृद्धिबधोके प्रतिदिन प्रप्त होता रहे और वे उनका उपवन करके इष्ट, पुष्ट और अनदिष्ट

होते रहे । ' सु-गू ' व्यवस्था द्वारा सर्व उत्तम रितियोंमे पुत्रपुत्रा भी है । य खं पुष्टय अपने उत्तम घरमें रहते हुए साधनवेदो सुविधयोका प्राप्त करके अपने ईशोधी उत्तम अचर्याने रखे । (सु-पुत्री) जिनको उत्तम बाल बधे हुए हैं और वे उत्तम सुविधामे संपन्न हो रहे हैं, ऐसे वे माता पिता हो । सुमंगल उत्पन्न करना और उनको व्यवयोग्य रीतिमे सुसंहायपुत्रता करना प्रत्येक गृहस्थीका कर्तव्य है । विद्या परंपरक साथ रहनेमे उत्तम संतन उत्पन्न हो सकती है । इस तरह सब गृहस्थी अपने घरमें जानेंद प्रपन्न रहें और अपने दार्पणुभा प्र तिष्ठा साधन करें । दही उत्तम खाद्य पदार्थ बनाया है । पाठक इच्छे रमण रखें और अपना पद देना जानना प्रयत्न करें ।

(अग्रहाण पत्नी एव) जैसा अग्रमे पत्नी सुष्ठव होता है, और खेवास आकाशमें संचार करनेका आनंद प्रप्त करता है, उस प्रकार प्रवक गृहस्थी प्रयत्न करके (विद्यामद् ए-सः परे अनुमि । मं० ४३) सब धर्मो सुष्ठव होकर विद्यापर होकर विचार । दही प्रत्येक गृहस्थका आदर्श होवे । मे नियम वन्यु ऐसा विद्यय प्रविक गृहस्था करे और उन भिक्षिके लभ अपने प्रयत्नोके फलकाश्रय करे । प्रतिदिन (नवं वयानः) नया कर्मात् भया दृमा स्वच्छ ब्रह्म परिषन करे और (सुवासाः) उत्तम शीत यमान बंधोमे अपने शीतोष्ण सुशामित करे । अपने चारको सजावट करे । शरीरको सुंदरता बनानेके लक्ष्मे दर चिन्ता रहे । इस विष- यमे उदाय न रहे । का पुष्टय सुंदर बहो और सुंदर आभूष- णोसे अपने शरीर अधिदने अधिक सुंदर और रमणीय तथा दर्शनिय बनावे । (सुभि) सुगंध चंदन इप्र आदि धारण क के आनंद प्रमत्त रहे । शरीरपर दुर्गंधिपुष्प कोई पदार्थ न हो । रतनसे प्रतिदिन शरीर दुर्गंधिरहित किया जावे । प्रतिदिन धोये वस्त्र परिधान किये जाय तथा चंद्रमोने- नेत्रनदि द्वारा सुगंध का धारण किया जावे । इस प्रकार सुंदर बनकर का पुरष अपने घरमे (विभार्ताः उषमः उदगा) प्रथममान उप-कालमे ही अपने घरमे बाहर निहत्त पड़े । प्रातःकाल इन न उपनयनदिमे निवृत्त होकर इन दुग्धम समदमे वृद्ध प्रयत्न करें । उष- कालमे कोई भी या पुरष विरातोपर न होता रहे । इस प्रथाका आलना गृहस्था रहे न रहे । उदा- उद- भी, प्र-रतशील और सुष्ठवका अंशवसे ऐसे गृहस्थी प्रसंकीर्ण रितियों अपने दुग्ध रमने दम्पित रहे ।

प्रत्येक गृहस्थी की इच्छा हो कि (न लोहमः मुनन्दु । मं० ४५) हम सब पापसे मुक्त हो । गृहस्थियों की सदा अपने आचारगुणलाभ की इच्छा करना चाहिये, क्योंकि गृहस्थाश्रममें सदा धनकी आवश्यकता होती है और उस कारण मनुष्य धुबे व्यवहारमें फल जाननेवाँ संभावना आंधक होते हैं । अतः पापसे बचनेका विचार गृहस्थाश्रमवर्षिकोंके मनमें सदा गृहस्थाश्रम उचित है । यदि वह विचार उनके मनमें रहा तो काठन प्रसंगमें दक्षताये रह कर पापसे उपाय बचाव कर सकेंगे हैं ।

यथावृष्टिवाँ ये दो लोकाँ वैस नियमसे अपना कर्म कर रहे हैं, यह सब गृहस्थी देखे । सूर्य, चन्द्र, वृष्टि, तारागण आदि सब अपनी दक्षतामें भ्रमण कर रहे हैं वही हमके कार्यभ्रममें नहीं जाते, वही असत्य नहीं करते और धर्म अपना कर्म छोड़ते भी नहीं । सब ऋतु और सब काल यथावृष्टि रीतिमें ही रहे हैं, कोई क्षिप्रता नहीं करते । यह सुष्टिक देखकर गृहस्थी लोग अपने मनमें निश्चय करें कि हम भी वैसा ही आचारण करेंगे और इस सुष्टिमें रहने योग्य बनेंगे । [मृदुव्रते] मदानु नियमोंका पालन करनेसे ही मनुष्य सुखी बन सकता है । मनुष्यकी विशेष उच्च योग्यता है कि वह सुयोग्य धर्मनियमोंका पालन करे और सुष्टिक नियमोंका अनुकूल रहकर विशेष प्रभावशाली बने ।

[ये प्रवृत्तः, तेभ्यः नमः । मं० ४६] जो विशेष ज्ञान है उनके मनमें करना चाहिये । क्योंकि समानपूर्वक उनके समीप जानेसे वे ज्ञानार्थदाता देने हैं और उन ज्ञानमें मनुष्य कृतार्थ हो सकता है । इसलिये गृहस्थियोंको उचित है कि वे ज्ञानो गुणजनोंको नमस्कार करनेसे पीछे न हटें ।

ईश्वरक अद्भुत कार्यका वर्णन में ४७ में किया है । ईश्वर बिना चिपकवे और बिना सुरास्र शिवे सपियोंको जोड़ देता है । अपने शरीरमें सब इंद्रियों की एक साथ जड़ कर रही हैं, वहाँ कोई सुरास्र नहीं है, न किसी रथनपर चिपकनेका कारणपदा है । यह अद्भुत रचनाकौशल परमेश्वरका है । पाठक अपने शरीरमें तब जपत् में इसका अनुभव करें । और परमेश्वरकी अद्भुत शक्तिको पहचाने यही [व हूत पुनः निषर्तता] हमारे फटे हुएको पुनः ठीक करनेका है । अतः हमको मनन करके इसकी शक्तिका अपने अनुकूल करनेका यत्न करना चाहिये । उपासन से ही यह सब साध्य हो सकता है ।

सं० ४८ में कहा है कि (तमः असत्यं अयं उच्यते । मं०

४८) अंधकार हम सबमें दूर रहे ॥ अंधकार सांख्यिक राजस और तमम होनेसे अनेक प्रकारका है आत्मिक, बाह्यिक, मानसिक और इंद्रियावयवक अंधकार परंपरामिश्र है । यह सब अंधकार हम सबमें दूर हो । हममेंसे किसीके पास यह अंधकार था इस विषयका अज्ञान न रहे । क्योंकि सब प्रकारके दोष और सब प्रकारकी अयोग्यता अज्ञानके कारण होती हैं । और अज्ञान दूर होने तक उनके दोषसे बचना अशक्य है । अतः सब प्रकारके अज्ञानको दूर करनेका प्रयत्न करना पत्येकका कर्तव्य है । यही तरह जो (वावताः कृत्याः) जो घतपातके विनकर हैं, या वल पाशाः) जो अनेक प्रकारके बंधन हैं, (याः मृदुव्यः याः असमृद्व्यः) जो दृग्निद्राएँ और असमृद्धियाँ हैं उन सबको दूर करना चाहिये । गृहस्थियोंके कर्तव्य इस ४९ में इस प्रकार बड़े हैं । घतपातके विचार और दृग्निद्राक आचार रुकके सब दूर करने चाहिये और अहिंसाके भाव, स्वतंत्रताके विचार और संपन्नताके आचार अपनेमें लानेका यत्न करना चाहिये । मनुष्यके पास जो विचार होते हैं वैसा आचार वह करता है और वैसा बनता है । इसलिये इस दृष्टिमें यह संन्यत बड़ा बोधप्रद है ।

स्त्रियोंका बनाया वस्त्र ।

वस्त्र बुनना परन्तु धंदा हो जब । अन्य वस्त्र कोई न पहने ।
सं० ५० और ५१ में स्त्रियोंक द्वारा बनाया वस्त्र परिधान करना कहा है ।

यत् पराभिः उतं वासः तत् नः स्थानं उपरवृत्तात् ।
(मं० ५१)

"जो हमारी स्त्रियोंद्वारा बुना वस्त्र है वही हमें उत्सर्गसं देनेव ले प्रतीत हो ।" जसकी (अन्तः सिचः) विन रियाँ और धारियाँ, उसके (व्योतवः अन्तवः) तने और बनेके धगे हों सुख देनेवाले हों । अर्थात् अपने घरकी स्त्रियाँ अपने घरवा वस्त्र बनवें, परमेश्वर का जेव, उसका ताना बाना घरमें बने, विनारियाँ और धारियाँ सुंदरसे सुंदर घरमेंही बनायीं जाय । और ऐसा घरमें बुना वस्त्र परके छिपुकर पहनें, उनके अपना धंदा वस्त्र पहननेमें बड़ा अभिमान हो । अपने घरके लोगोंके बनाया वस्त्र पहननेमें कोई न रहे । परंतु वही वस्त्र पहननेमें हरिको प्रेम और आनंद प्राप्त होवे । अपने घरमें बनाया वस्त्र न पहन कर और परकीयोंद्वारा बनाया वस्त्र पहन कर [वयं माः शिषामा मं० ५०] हममेंसे कोईभी न शक्ती न पावत होवे । क्योंकि अपना बनाया वस्त्र न पहननेसे और परकीयोंद्वारा बनाया वस्त्र पहननेसे

निःसन्देहो भवति । इति श्रुतान्ते एवैवमर्थो वाच्य इति चेत् । एक
 मात्र उपाय यह है कि प्रत्येक धर्म मूल काला जय का उपाय
 का बल बनाकर यही उपाय पर के लिये परने । आशान्ति बचने-
 का और सर्वसामान्य बननेका एक मात्र उपाय यह है । प्रत्येक
 धर्म मूल मूलिक धर्मके अदर्शज्य पालन होता रहे । अपने
 धर्मके अन्तर्गत कोई मनुष्य दृष्टान न करे और पराकार्ये द्वाः। बनाये
 बलपर काई मनुष्य प्रमत्ता न करे । यही एक मात्र साधन
 उद्धारका है ।

मंत्र ५२ में कहा है कि " पतिः इच्छा काके पतिके पारमे
 पद्वेचनशांति । न्या इम दक्ष प्रवृत्ता पालन करे । यह है शास्त्रन
 स्वः स्तुत कतना और उतका बल परवानोके लिये बन ना है ।
 जो श्री इस मन्त्रका पालन करेगा वह शांति को पालन करनेवाला
 होगी और कुलका उदर रक्षेगी । परंतु आर्षा स्वः स्तुत करतेगी
 नहीं और पराकार्ये द्वाः। बनाये बल परनेके आग्रह करेगी,
 यह अपने परमे स्वयं दास्युक्तो युनावगी । इस अर्थ परके
 पारिवारिक शान्तिपुत्रोत्पादा उचित है कि वे सबके सब इस दाक्षा
 मन्त्रको धारण करे और इस मन्त्रका पालन करके उच्छान्तिको प्राप्त
 हो । वेदना यह आदेश सब गृहस्थियोंका है । जो इसका पालन
 करेगे वे अशुभपुत्र प्राप्त करेंगे और जो इससे वास्तुव्युत्पादा वे सं-
 सृष्टन जांशनेमिरे जांशने ।

गौरीका यज्ञ ।

मंत्र ५३ में कहा है कि " पतिः इच्छा काके पतिके पारमे
 पद्वेचनशांति । न्या इम दक्ष प्रवृत्ता पालन करे । यह है शास्त्रन
 स्वः स्तुत कतना और उतका बल परवानोके लिये बन ना है ।
 जो श्री इस मन्त्रका पालन करेगा वह शांति को पालन करनेवाला
 होगी और कुलका उदर रक्षेगी । परंतु आर्षा स्वः स्तुत करतेगी
 नहीं और पराकार्ये द्वाः। बनाये बल परनेके आग्रह करेगी,
 यह अपने परमे स्वयं दास्युक्तो युनावगी । इस अर्थ परके
 पारिवारिक शान्तिपुत्रोत्पादा उचित है कि वे सबके सब इस दाक्षा
 मन्त्रको धारण करे और इस मन्त्रका पालन करके उच्छान्तिको प्राप्त
 हो । वेदना यह आदेश सब गृहस्थियोंका है । जो इसका पालन
 करेगे वे अशुभपुत्र प्राप्त करेंगे और जो इससे वास्तुव्युत्पादा वे सं-
 सृष्टन जांशनेमिरे जांशने ।

मंत्र ५२ से ६२ तकके मंत्रमे पाएसे बचनेका उपाय
 दिया है जो अपने (वेदः) बाल बहाने है, (अर्धकृष्णः)
 धार करने हैं, (रोदने समर्थाः) रोग है । नाचने करने हैं ।
 शिवा [निवेदिता] बाकीके शांतिकर परम राणी पीठकी है,

अर्धकृष्ण करती हैं । बाकी शिवा करमें त्रिन काल कर्मकर
 करती हैं, मानाप्रकारके पतक करता हैं । वे सबके सब पाप-
 कारी भाग हैं और वे मयात्रम द्वाः। होने योग है । जो पण्डित
 माय है वे अपने दूर हा और जो पापकारी मानव हैं वे समस्त
 स दूर हो । इस तरह पण्डित विचारोंम मत्र सुद्ध हो और पणी
 अपनेस समाप्त सुद्ध हो । आश मनम और सबअर्थे दे ने धर्म-
 का मूल वाण दूर हो । जो वे सपूर्ण मयात्रम मानव प्रस-
 कता । नव स करे । यही गृहस्थधर्मका अर्थ है ।

मंत्र ६३ और ६४ में कहा है कि [न पतिः दीर्घायुः
 अशु] अपना पति दीर्घायु हो यह भी ध्य इच्छा हो ।
 कभी अपने पति वा अदत्त न चाहे । पतिका हित अपने में
 सदा दक्ष गृहस्थ अपने दीर्घायुका चिन्त करनी है । [अशु-
 का इच्छा] जैसे ब्रह्मापवर्षा रहत है, आपनके प्रयत्ने
 साथ विहार करने के लिये ही श्रीगुरुनृत्न अर्थमि प्रयत्ने साथ
 रहे । परनीक लिये एक मत्र पति, और पतिके लिये एक मत्र
 परन ककालक पतिका जानने होनी है । हीने हीने गृह-
 स्थापनमें होवे । अर्धवर्षीके लिये ए मत्र पति और पत-
 के लिये एममात्र धर्मोत्पादा प्रयत्न स्वयं होकर रहे । उनमें
 अनुविनाशदि दोष उत्पन्न न हो । एक दिनेसे और एविवि-
 संसे वे गृहस्थाधर्ममें रहे । इन प्रथम [सुकृष्णकौ] अपने
 उत्पन्नमम चारबा करके बनमें रहे और [अर्धकृष्णः
 अशु] न पूर्ये अशु करती करे । इन तरह गृहस्था-
 धर्ममे पात और पाप सुकमे रहे और अर्धकृष्णकौके साथ
 गृहस्थधर्मका कार्य चलव ।

आगे मंत्र ६५ से ६७ तक के तीन मंत्रोंमें विवेक दानिये
 कहा है कि जो विद्वान्नि मयम (कुला) पतनके विचार
 किये हैं, जो (दुष्कृत, दुर्गति) जो दुःखाया अथवा पापवि-
 चाा हुए हैं, जो (मर्ने) मर्कन आया तथा (दुर्गति)
 पुर अथवा अथवा बल गये हैं, वे सबके सब हमने दूर हो, और
 हम (प्रदाः वज्रिणः अमृत) सुद्ध, विद्वान् और पूज्य बन
 जाव और (नः आर्षुषः उत्तरिणः) हमें दीर्घ आयु प्राप्त हो
 स पावतः यह नियम है कि बड़े उत्तमोंमें विद्वान् जैसे मंगल
 धर्ममें कहा अनेकानेक पुर मन्त्रे मनुष्योंके संरक्ष जाता है,
 यही कितना न किसी गीतसे कुछ न कुछ इन आचार्य हुआ
 करते हैं, कुछ देश होने रहते हैं । ऐसे दीर्घ वृद्ध समाप्त इच्छा
 होनेके कारण बनते हैं, देश मान कर, उनके अपने भावकी

बचानेका उपयोग करना चाहिये और शुद्ध पवित्र और यज्ञके लिये योग्य बननेका यत्न प्रत्येक गृहस्थीको करना चाहिये । पूर्व समयमें दोष होगये तो भी उनकी विशेष चिन्ता करनेमें समय व्यतीत न करते हुए आगेके समयमें आत्मशुद्धि करनेके प्रयत्नमें दृष्टचित्त होना चाहिये । इस तरह शुद्ध और पवित्र बनकर गृहस्थियोंको आदर्श जीवन व्यतीत करना चाहिये ।

बालोंकी पवित्रता ।

त्रियोंके केशोंकी स्वच्छता और पवित्रता करनेका उपदेश मंत्र ६८ और ६९ में किया है । (कंठकः अस्थः कर्णं मल अपलिखात् । मं० ६८) कंगवा इस स्त्रीके केशोंके मलको दूर करे । यह प्रतिदिनका कार्य है । स्त्रीको उचित है कि वह अपने बाल खोलकरें उतम स्वच्छ तेल लगावे और कंगवेसे सब भाव स्वच्छ करे और फिर केशोंका प्रसाधन यथेष्ट रीतिसे करे । चार या आठ दिनोंमें एक या दो बार अपने बाल किमी मलनिवारक साधनसे पानों के साध धोकर, पवित्र ब्रह्मसे पानी दूर करके बालोंको सुखावे और फिर कंगवा करके केशप्रसाधना अच्छी प्रशार करे । केशोंकी निर्मलता रखना त्रियोंके लिये एक आवश्यक कर्म है । जिस स्त्रीके केशोंमें दुर्गंधी आती है, वह स्त्री किसी धर्मकर्मके लिये जगोत्तम समझी जाती है । इसलिये स्त्रीका केशप्रसाधन कर्म एक अत्यंत आवश्यक कर्म है ।

स्त्रीके (अंगात् अंगान् यक्ष्मं अपनिद्रम्यासि । मं० ६९) प्रत्येक अंग और अवयवसे मल अथवा रोगबीजको दूर करना चाहिये । केशोंके स्त्री राष्ट्रीय संतानोंकी जननी है । वह यदि मलिन, अपवित्र अथवा रोगयुक्त रहेगी, तो राष्ट्रकी भाविष्य संतान भी वैधो ही होगी । इसलिये स्त्रियोंके शरीर पवित्र, नीरोग और स्वबल होने चाहिये, जिससे संतान उत्तमोत्तम निकलता रहे । सब मल जलसे दूर होता है यह सत्य है, इसीलिये जलस्थान पवित्र रखनेका यत्न होना चाहिये । नहीं तो जलस्थानोंमें लोग स्नान करेगे और पंजेके जलमें ही वह मल जायगा और जिस जलसे पवित्रता होनेवाली है, उसी जलसे अपवित्रता और रोगी भवत्या बटेगी, इसलिये कदा है कि (आपः मलं मा प्रापन् । मं० ६९) जलस्थानमें मल न प्राप्त हों, अपात्र टैपन जलस्थान स्वच्छ, पवित्र और निर्मल रहे । आजकल तालबोमें, वृधियोंमें, नदियोंमें तथा अन्यान्य जलाशयोंमें लोग स्नान करते हैं, कपड़े धोते हैं और अन्य प्रकारसे अस्वच्छता करते हैं, और उहाँ स्थानसे पंजरा पानों भी आते

हैं । इससे अनंत रोग उत्पन्न होते हैं । अतः वेदका यह आदेश गृहस्थियोंको अवश्य स्मरण रखना चाहिये । किसी भी जलाशयमें किसी प्रकारसे मनुष्य मलिनता न करे । जलाशयको पवित्र, स्वच्छ और नीरोगी अवस्थामें रखे । और ऐसे शुद्ध जलका उपयोग करके अपने शरीरका आरोग्य साधन करे । जलकी स्वच्छतापर मनुष्योंका और पशुपक्षियोंका आरोग्य निर्भर है, यह जानकर सब लोग इस वैदिक आदेशका विशेष स्मरण रखें ।

पुष्टिका साधन

उस द्वितीय सूक्तके ७० वें मंत्रमें गृहस्थियों की पुष्टिका साधन कहा गया है । इससे किस अन्नका सेवन करना चाहिये इसका उपदेश हमें मिलता है । (पुष्टिभ्याः पयसा) पृथ्वीसे उत्पन्न होनेवाले दूधका सेवन करना चाहिये । तथा (औषधानां पयसा) औषधियोंके दूधका सेवन करना चाहिये । यहाँ औषधियोंका रस और भूमिका रस ये दो ही रस गृहस्थियोंके भोजनके लिये कहे हैं । औषधियोंके रसको सब जानते ही हैं । औषधी, फल, फूल, पत्त आदियोंका सेवन मनुष्य करते ही हैं । गृहस्थियोंको चाहिये कि वे पुष्टिकारक औषधियोंको बड़ावे और उनका सेवन करके पुष्ट और हृष्ट बनें । भूमिका दूध सेवन करनेको भी इस मंत्रमें कहा है । भूमिका रस एक तो शुद्ध और पवित्र स्रोतका जल है, दूसरी भूमिका रस घान्य आदि भी है । अस्तु इस तरह शुद्ध जल, शुद्ध अन्न और शुद्ध फलादि का सेवन करना चाहिये । यहाँ पाठक स्मरण रखे कि किसी भी स्थानमें पशुके मांसका भोजन मनुष्योंके लिये नहीं कदा है । अर्थात् मांसका भोजन मानवोंके लिये वैदिक मर्यादाके अनुकूल नहीं है । हमने जहाँ जहाँ भोजनका विषय वेदमें देखा है, वहाँ वहाँ किसी भी स्थानपर हमने मांसका नामतक देखा नहीं है । परंतु वहाँ घान्य, औषधि, वनस्पति, फलमूल आदिका ही उल्लेख देखा है, अतः हम कह सकते हैं कि वैदिक भोजन शुद्ध निर्मल भोजन अर्थात् शाक भोजन ही है । इस शाक भोजन से ही (वाजं घृणुहि) बलको प्राप्त करो, यह वेदका आदेश है ।

आगेके ७१ वें मंत्रमें स्त्री और पुरुष किस तरह व्यवहार करें, इस विषयका उपदेश उपदेश है, वह श्लोक स्वयं अव देखिये—

पुरुष	स्त्री
अमः	सा
साम	श्वश्रु (कथा)
यौः	शुभिवी

यदा श्री अर वरुण आपसमें एकमतने रहें वह उत्तम उप-
देश है । कावेदके मंत्रको तान श्री आठापके स प गायन
करनेसे साम मंत्र होता है । वस्तुतः ऋग्यजुर्मंत्र और साममंत्र
एक ही है । इसी तरह श्री और वरुण एक ही हैं, केवल एक
स्थानका सांख्य गुणोका विकास और दूसरे स्थानपर उभयगणोंका
विकास है । यहाँ भाव श्रीको पृथ्वी और वरुणको द्युलोक
कृतारुण वर्णन किया है । श्री वरुण इस प्रकारके ऐक्यत्वके
साय रहें । आपसमें सगवा बादि कुष्ठ भी न ही । आनन्द
प्रसन्नताके साय सब गृहस्थधर्मके आचार-व्यवहार करें । ये
दोनों [इह संभवाय प्रजा आनृतयावहै । म० ७१] यदा
मत्तान उरपत्त वरे, रायजा निर्माण करें । अपने बालवधुको
मर्मस्कारस संवत्त करें और सब प्रकार की वस्तुतिस युक्त हों ।
दोनोंको प्रधान इस बातका करना चाशिय कि सब प्रकारका
अधुपुदय और नि ग्रहस उत्तम रातिस सिद्ध हो ।

(अमर, जनिदान्त) आंग बटनेवाले लाग ही रशुको
प्रस करनेकी इच्छा करें । पीछे रहनेवाले, प्रधान न करने-
वाने और विवाहित होनेकी इच्छा न करें । क्योंकि ऐसे
आत्मको भोगको वेमे ही अधुपुद मत्तान होंगे और अंतमें
जातकी उनके दोषोंके कारण कलह लगेगा । (मृदाव
पुत्रप्रान्त) उत्तम दान देनेवाले, परीवहार करनेवाले, मात्र
ममाजवा मत्त करनेके लिये, कामसमर्पण करनेवाले ही पुत्र-
प्राप्तिके इच्छुक हों, क्योंकि ऐसे लोगके शुभमस्वभाव पुत्रोंमें
आ मकते है और शुभमत्तान उत्पन्न होनेमे राष्का तथा
ज्ञानव ममाजवा मत्त हो सकता है । इसलिये उत्तम दान
करनेवाले विवाहित होकर मत्तान उत्पन्न करें और जो दान न
करनेवाले स्वर्ग्य हों वे अविवाहित रहें । (अ-रिष्ट-अग्
वाजमातये संविवाहे । म० ७२) अपने प्राणोंको सुरक्षित
रखने हुए वडा बल प्राप्त करनेके लिये ये श्री पुरुष यत्न करें ।
हरएक रशु पुरुषको उचित है कि वे बडा बल प्राप्त करें, कोई
कमजोर, निर्बल न रहे । बल प्राप्त करके जगतके व्यवहार-
पुदमें आगे बढ़कर विजय प्राप्त करें । अधुपुदपार्थिवृति कीर्ति
करण न करें । सब लोग पुरुषार्थी बनें और अपने अपने कर्तव्य
करत रहें ।

आशीर्वाद ।

अग्निम तीन मंत्रोंमें नवविवाहित वपूवारही शुभ आशी-

र्वाद दिया है । मंत्र ७३ में कहा है कि संबंधी श्रीर प्रथि-
बोधक बरातमें सर्म लेत हुए हों, वे अपने अपने पर बंध
जानेके पूर्व (ते अर्यै संपत्ये प्रजावृत्तं यर्म दक्षन्तु । म०
७३) वे इस शुभमंत्रोंके लिये प्रजापुत्र, सुख देवे, कर्पात्
इसकी शुभप्रा निर्माण हो और इसकी उत्तम गृहमोक्षय प्राप्त
होएसा शुभाशांर्वाद देवे और पश्चात् वे अपने पर वासत वने
जायें ।

जो रिशुयां इस बरातमें आगयीं हों, वे अपने पर जानेके
पूर्व प्रजा और धन प्राप्त होनेका शुभाशांर्वाद देवे और
(अगतस्य पंथी अनुवइन्तु) मविश्वके मार्गका आकल्पन
इससे सुयोग्य रीतिके होने योग्य आचारके निर्देश इनको देवे
तथा यह (विराट् मृदजा) विरिषय समाही जैसी बनकर
उत्तम प्रजापुत्रक होवे, ऐसा सुंदर आशीर्वाद देवे और पश्चात्
अपने परकी वासत जावे । बरातमें आगे कीर्ति हनीपुदय आशी-
र्वाद दिवे बिना वापस न जावे ।

विवाहित रशु अर्थात् धर्मयत्नी (दीर्घाद्युक्ताय द्यतशरदाय)
दीर्घायु और दयालु बननेका प्रयत्न करें । ऐसा आशाविहात
करे कि जिनके घरवाले दीर्घजीवी बनें । (सुपुषा दुपमत्ता
प्रमुपसव) उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेका मतलब करें । हरएक प्रधा-
रकी सुविद्या प्राप्त करके उत्तम शुभमंगलमय ईश्वरोंसे
युक्त बने । अपने पतिके परमें जाकर (गृहपत्नी) अपने
परकी स्वामिनी बनकर वहाँ रहे । स्वामिनी-परकी देवी बन-
नेका इसका अधिकार है । इसकी (सविता दीर्घ आयु
करातु । म० ७५) साक्षता दीर्घ आयु बनावे । इस प्रकार
दीर्घायु बनकर अपने पतिके परमें वह विश्राने ।

अथर्ववेदके श्रीरहवे काशमेम त्रियहविषयक दो सूक्त हैं ।
इन सूक्तके धर मंत्रोंका आशय यह है, जो पाठक इन मंत्रों-
का मनन करेगा, वे इससे भी अधिक बोध प्राप्त कर सकते
हैं । पाठकोंसे यहाँ हमारा निवेदन है कि वेदने जो उपदेश
इन मंत्रोंमें दिये हैं उनका मननपूर्वक स्मरण करें और उनको
प्रयत्नसे आचरणमें लानेका दान करें, क्योंकि वेदका धर्म
केवल अधुपुदरासे ही सिद्ध नहीं होता, प्रत्युत आचार करने-
से ही सिद्ध हो सकता है ।

सय लोगोंका गृहस्थाश्रम परामुक्त्त हो और वह सभी
शुश्रू देखकर जगन का उपकार करनेवाला बने ।

चतुर्दश काण्डकी विषयसूची

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
दम्पती वियुक्त न हो	२	चोरीका अन्न न खाओ	४६
चतुर्दश काण्ड, ऋषिदेवता और छन्द	३	वरातका रथ	४७
विवाह-प्रकरण प्रथम सूक्त	५	द्वितीय सूक्तका विचार	४८
" द्वितीय सूक्त	१८	विवाहका समय	४९
वैदिक विवाहका स्वरूप	३३	यज्ञसे यज्ञमरोगनाश	"
श्रीः और भूमि	"	शास्त्र दूर हो	५०
सोम	"	विवाहमें ईश्वरका हाथ	५१
वरातका रथ	३४	गर्भाधान	"
न स्त्री स्वातंत्र्य महति	३५	पतिके घरमें पत्नीका व्यवहार	"
दहेज	"	दरिद्रताको दूर करो	५२
पुराना और नया संबंध	३६	यहाँको नमस्कार	"
गृहस्थाश्रमका आदर्श	३७	देवोंकी सजायट	५३
ब्राह्मणोंको धन और वस्त्रदान	३८	गुप्त बात	"
पुरुष स्त्रीका चन्द्र न पहने	"	घघूका वस्त्र	"
कन्याका गुद	३९	गृहस्थियोंके घर	५४
सद्व्यवहारसे धन कमाओ	"	स्त्रियोंका बनाया वस्त्र	५५
गौरक्षा, सरल मार्ग	"	गौवोंका यज्ञ	५६
तेजस्वी बनो	४०	बालोंकी पवित्रता	५७
स्त्रीकी इच्छा	४२	पुष्टिका साधन	"
स्त्री कैसी हो !	"	पुरुष और स्त्री	"
गृहस्थाका साम्राज्य	४३	आशीर्वाद	५८
स्त्रियोंका वृत्त कांतनं	"	चतुर्दश काण्डकी विषयसूची	५९
पाणिग्रहण	४४		
केशोंकी छुंवरता	४५		

चतुर्दश काण्ड समाप्त । १४ ॥



ॐ

अथर्ववेद

का

सुदोष भाष्य ।

पञ्चदशं काण्डम् ।



प्रजाका रञ्जन करनेवाला राजा ।

सोऽरिष्यत् ततो राज्ञन्पोऽजापत्	॥ १ ॥
स विश्वः सर्वन्धूनर्त्तमन्धार्यमभ्युर्दतिष्ठत्	॥ २ ॥
विशां च वै स सर्वन्धूनां चाक्षस्य चाक्षार्यस्य	
च प्रियं धाम भवति य एवं वेदं	॥ ३ ॥
स विशोऽनु व्युचलत्	॥ १ ॥
तं सभा च समितेश्च सेना च सुराचानुव्यचिलन्	॥ २ ॥
सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम	
भवति य एवं वेदं	॥ ३ ॥

अथर्व० सू० १५ सू० ८-९

“ वह प्रजाका रंजन करने लगा । अतः वह राजन्व्य (सत्रिय—राजा) हुआ । वह प्रजा, मनुष्याधन और अक्षादि भोगोंको प्राप्त हुआ । जो इसका तत्व जानता है वह प्रजा, मनुष्याधन अक्षादि भोग आदिका प्रियस्थान होता है ॥ वह प्रजाओंको अनुसरने लगा । अतः सभा, समिति, सेना और धनक्षेत्र उसको अनुकूल हुए । जो इसका तत्व जानता है वह सभा, समिति, सेना और धनक्षेत्र का प्रिय स्थान बनता है ॥ ”



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

पञ्चदश काण्ड ।

इस पञ्चदश काण्डका विषय 'माल्य' है। इस काण्डमें वस्तुतः माल्य विषयक एक ही सूक्त है, परंतु इसके १८ पर्याय हैं। अथर्ववेदका तृतीय विभाग काण्ड १३ से काण्ड १८ तक है और इस विभागका यह तीसरा सूक्त है। इस विभागके काण्डोंका लक्षण यह है कि, प्रत्येक काण्डमें एक ही विषयके सूक्त हुआ करते हैं। जैसा अन्य काण्डोंके सूक्तोंमें विविध देवताओंके अनेक विषय होते हैं, वैसा इस विभागके काण्डोंमें नहीं है। इस विभागके एक एक काण्डमें एक ही विषयके सब सूक्त रहते हैं।

इस काण्डका प्रारंभ 'माल्य' शब्दसे हुआ है। इस काण्डमें 'अध्यात्म'का विषय है; अतः इसकी देवता भी अध्यात्म ही है, और यहाँ का 'माल्य' शब्द 'आत्मा परमात्मा, ब्रह्म, परब्रह्म' का वाचक है, इसलिये यहाँ मंगलसूचक माल्य शब्द इस काण्डके प्रारंभमें आगया है, मानो यही इस काण्डका मंगलाचरण है। अब हम इस सूक्तके पर्यायोंके देवता और छंदोंका विचार करते हैं।

पर्याय	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्द
१	८	अथर्वी	अध्यात्मं माल्यः	१ साम्नीपंक्तिः; २ द्विप० साम्नी बृहती; ३ एकप० यजु- मौढ्यपनुष्टुप्; एकप० विराट् गायत्री; ५ साम्नी अनुष्टुप्; ६ ४ त्रिप० प्राजापत्या बृहती; ७ आसुरीपंक्तिः ८ त्रिप० अनुष्टुप् प्र० १-४; ४ घ, १ घ, साम्नी अनुष्टुप्; द्वि० १, ३, ४ साम्नी त्रिष्टुप्; तृ० १ द्विपार्थी पंक्तिः; च. १, ३, ४ द्वि. म्र. गायत्री; पं० १-४ द्विप. आर्षी जगती; घ. २ साम्नीपंक्तिः घ० ६ आसुरी गायत्री; घ० १—४ पदपंक्तिः अ. १-४ त्रिप० प्राजा० बृहती; द्वि. २ एकप० उष्णिक्; तृ. २ आर्षी सुरिक् त्रिष्टुप्; च. २ आर्षी परानुष्टुप् तृ. ३ विराट्पार्थी पंक्तिः; तृ. ४ किचदार्थी पंक्तिः ।
३	११	"	"	१ विपीलिकमथ्या गायत्री; २ साम्नी उष्णिक्; ३ याजुर्षी जगती; ४ द्विप० आर्षी उष्णिक् ५ आर्षी बृहती; ६ आसुरी अनुष्टुप्; ७ साम्नी गायत्री; ८ आसुरी पंक्तिः; ९ आसुरी जगती; १० प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ११ विराट् गायत्री ।
४	१८ (९)	"	"	प्र० १, ५, ६ दैवी जगती; प्र. २, ३, ४ प्राजापत्या गायत्री; द्वि. १ द्वि. ३ आर्षी अनुष्टुप्; तृ. १, ४ द्विप० प्राजापत्या जगती; द्वि. २ प्राजापत्या पंक्तिः; तृ. २, आर्षी गायत्री; तृ. ३ भौमार्षी त्रिष्टुप्; द्वि. ४ साम्नी त्रिष्टुप्; द्वि. ५ प्राजापत्या बृहती; तृ. ५, ६ द्विप० आर्षी पंक्तिः; द्वि. ६ आर्षी उष्णिक् ।

५	१९ (७)	अथर्व	रुद्र	प्र. १ त्रिप समविषमा गायत्री; द्वि १ त्रिप० मुरिगाचीं त्रिष्टुप्; तृ १-७ द्विप प्राजापत्यानुष्टुप्; प्र २ त्रिप खराद् प्राजापत्या पक्ति, द्वि २-४, ६ त्रिप. ब्राह्मी गायत्री, प्र ३, ४, ६ त्रिपदा ककुम्, प्र ५, ७ मुरिग् विषमा गायत्री; द्वि ५ निचूद्राक्षी गायत्री; द्वि ७ विराट् ।
९	२९ (९)	„	अप्पारमं शाल्यः	प्र १, २ आसुरी पक्ति, प्र ३-६, ९ आसुरी बृहती; प्र ८ परोष्णिक्; द्वि १, ६ आर्वा पक्ति; प्र. ७ आर्वा लणिक्, द्वि. २, ४ साम्नी त्रिष्टुप्; द्वि. ३ साम्नी पक्ति; द्वि ५, ८ आर्वा त्रिष्टुप्, द्वि ७ साम्नी अनुष्टुप्, द्वि. ९ आर्वा अनुष्टुप्, तृ १ आर्वा पक्ति; तृ २, ४ निचूद् बृहती; तृ ३ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; तृ ५, ६ विराट् जगती तृ ७ आर्वा बृहती; तृ ९ विराट् बृहती ।
७	५	„	„	१ त्रिप निचूद् गायत्री, २ एकप. विराट् बृहती, ३ विराडुष्णिक्, ४ एकप गायत्री; ५ पक्ति ।
८	३	अथर्व	अप्पारम मारप	१ साम्नी लणिक्, २ प्राजापत्यानुष्टुप्; ३ आर्वा पक्तिः ।
९	३	„	„	१ आसुरी जगती, २ आर्वा गायत्री, ३ आर्वा पक्ति ।
१०	१३	„	„	१ द्विप साम्नी बृहती, २ त्रिप आर्वा पक्ति, ३ द्विप० प्राजापत्या पक्ति, ४ त्रिप. षर्षमाना गायत्री, ५ त्रि० घात्री बृहती, ६, ८, १० द्विप आसुरी गायत्री ७, ९ साम्नी लणिक्, ११ आसुरी बृहती ।
११	११	„	„	१ दैवी पक्ति, २ द्विप, पूर्वात्रिष्टुबतिघनवरी, ३ ६, ८, १० त्रिप आर्वा बृहती (१० मुरिक्), ७, ९ द्विप. प्राजापत्या बृहती, ११ द्विप आर्वा अनुष्टुप् ।
१२	११	„	„	१ त्रिप गायत्री; २ प्राजा० बृहती; ३, ४ मुरिकप्रा जा० अनुष्टुप् (४ साम्नी), ५, ६, ९, १० आसुरी गायत्री; ८ विराट् गायत्री; ७, ११ त्रिप प्राजा. त्रिष्टुप् ।
१३	१४ (९)	„	„	प्र. १ साम्नी लणिक्, द्वि १, ३ प्राजा० अनुष्टुप्, प्र २-४ आसुरी गायत्री, द्वि २, ४ साम्नी बृहती, प्र ५ त्रिपदा निचूद् गायत्री; द्वि० ५ द्विप. विराट् गायत्री; ६ प्राजा० पक्ति; ७ आसुरी जगती, ८ घत पक्ति, ९ अक्षर पक्ति ।

१४	२४ (१२) अथर्वा	अध्यात्म प्रायः	प्र. १ त्रिप. अनुष्टुप्; १६. १-१२ द्विप. आसुरी गायत्री (द्वि. ६-९ भुरिकप्राजा० अनुष्टुप्); प्र. २, ५ पुरउष्णिक; प्र. ३ अनुष्टुप्; प्र. ४ प्रस्तारपंक्ति; प्र. ६ स्वराड गायत्री; प्र. ७, ८ आर्वा पंक्ति; प्र. १० सु-रिह्नागी गायत्री; प्र. ११ प्राजा० त्रिष्टुप्,
१५	९ "	"	१ दैवी पंक्ति; २ आसुरीवृहता; ३, ४, ७, ८ प्राजा० आनुष्टुप् (४, ७, ८ भुरिक); ५, ६ द्विप. साम्नी वृहती; ९ विराड गायत्री ।
१६	७ "	"	१, ३ साम्नी उष्णिक; २, ४, ५ प्राजा० उष्णिक ६ याजुषी त्रिष्टुप्; ७ आसुरी गायत्री ।
१७	१० "	"	१-५ प्राजा० उष्णिक; २, ७ आसुरी अनुष्टुप्; ३ याजुषी पंक्ति; ४ साम्नी उष्णिक; ६ याजुषी त्रिष्टुप्; ८ त्रिप. प्रतिष्ठाची पंक्ति; ९ द्विप. साम्नी त्रिष्टुप्; १० सात्री अनुष्टुप् ।
१८	५ "	"	१ दैवी पंक्ति; २, ३ आर्वा वृहती, ४ आर्वा अनुष्टुप्; ५ साम्नी उष्णिक ।

२२०

इस काण्डकी कुल मंत्र संख्या २२० है । इस काण्डका ऋषि अथर्वा है क्योंकि जहां विशेष रीतिसे उल्लेख नहीं होता, वहां अथर्ववेदके सूक्तोंका अथर्वा ऋषि हुआ करता है ।

यद्यपि इस सब काण्डकी देवता 'प्राय' (अध्यात्म) है, तथापि स्थानस्थानपर जहां मंत्रोंमें अन्यान्य देवतावाचक नाम आते हैं, वहां वेदी मन्त्रोक्त देवता मानना उचित है । परंतु सब देवताओंका आशय अन्तमें ब्राह्मणों किंवा अध्यात्ममें अर्थात् 'आत्मा देवता' में ही सार्थ होना है, यह बात भूलना नहीं चाहिये ।

यह सब काण्ड एक ही देवताका होनेसे, यद्यपि इस एक सूक्तमें १८ पर्वान हैं, तथापि सबका मिलकर एक ही सूक्त होनेसे, सब मंत्रोंका अर्थ देनेके पश्चात् ही अन्तमें सबका मिलकर एकत्र स्पष्टीकरण करेंगे । क्यों कि सबका संबंध अर्थात् धर्मनिष्ठ है । आशा है कि यह विवरण पाठकोंके लिये बोधवद् सिद्ध होगा ।





अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

पञ्चदशं काण्डम्

अध्यात्म प्रकरण ।

(१)

व्रात्यं आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्	॥ १ ॥
स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्पश्यत्प्रार्जुनयत्	॥ २ ॥
तदेकममवत्तल्लाममभवत्तन्महदमवत्तज्ज्येष्ठममवत्तद्ब्रह्मामवत्तारापोऽभवत्तत्सत्यममवत्तेन	
प्राजापत	॥ ३ ॥
सोऽवर्धत् स महानमवत्स महादेवोऽभवत्	॥ ४ ॥

१ [१] (व्रात्यः ईयमानः आसीत्) व्रात्य अर्थात् समूहोंका हित करनेवाला समूहपति स्वका प्रेरक था, (सः प्रजापतिं सं वैरयत्) उसने प्रजापालकको उत्तम प्रेरणा की ॥ १ ॥ (सः प्रजापतिः) उस प्रजापतिने (आत्मन् सुवर्णं अपश्यत्) आत्मा को उत्तम तेजस्वी वर्णयुक्त देखा । और (एव प्र अजनयत्) उसने सबको उत्पन्न किया ॥ २ ॥

(तत् पदं अभवत्) वह एक हीगथा, (तत् ललामं अभवत्) वह विलक्षण हुआ, (तत् महत् अभवत्) वह बड़ा हुआ, (एव ज्येष्ठं अभवत्) वह श्रेष्ठ हुआ, (एव ब्रह्म अभवत्) वह ब्रह्म हुआ, (एव तपः अभवत्) वह तपनेवाला हुआ, (एव सत्य अभवत्) वह सत्य हुआ, (तेन प्र अजायत) उसके द्वारा प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

(सः अवर्धत्) वह बढ़ गया, (सः महान् अभवत्) वह बड़ा हुआ, (स महादेवः अभवत्) वह महादेव अर्थात् बड़ा देव हुआ ॥ ४ ॥ (सः ईशां देवानो परि-वेत्) वह सब छोटे देवोंका अधिष्ठाता हुआ, (सः ईशानः अभवत्) वह

स देवानांभीशां पर्वेत्स ईशानोऽभवत् ॥ ५ ॥ स एकत्रात्योऽभवत्स धनुरादत्त तदेवेन्द्रघनुः
॥ ६ ॥ नीलमस्योदरं लोहितं पुष्टम् ॥ ७ ॥ नीलैर्नैवाप्रियं आर्तच्यं प्रीणोति लोहितेन
द्विपन्तं विष्यतीति ब्रह्मवादिनां वदन्ति ॥ ८ ॥

[२]

स उदतिष्ठत्स प्राचीं दिशमनु व्युचलत् ॥ १ ॥
तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अन्वुचलन् ॥ २ ॥
बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्ते य एवं विद्वांसं
त्रात्यमुपवदति ॥ ३ ॥ बृहत्तश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं
धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि ॥ ४ ॥ श्रद्धा पुंश्ली मित्रो माग्धो विज्ञानं वासोऽहुरुष्णीपं
रात्रौ केशा हरिती प्रवर्तौ कल्मलिर्भणिः ॥ ५ ॥
भूतं च भविष्यच्च परिष्कुन्दौ मनो विषथम् ॥ ६ ॥
मात्ररिश्वां च पवमानश्च विषथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ ७ ॥
कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ ८ ॥ (१)
स उदतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्युचलत् ॥ ९ ॥

ईश्वर हुआ ॥ ५ ॥ (सः एक भावः अभवत्) वह एकमात्र सब समूहोंका स्वामी हुआ, (सः घनुः आदत्त) उसने घनुषका
ग्रहण किया, (तत एव इन्द्रघनुः) वही इन्द्रघनुष्य है ॥ ६ ॥ (अल्प उदरं नीलं) इक्ष्वा पेठ नीला है और (पृष्ठं लोहितं)
पीठ लाल है ॥ ७ ॥

(नीलेन एव) नीले भागसे वह (अग्निं आर्तच्यं प्र प्रीणोति) अग्नि घनुषको घेरता है और (लोहितेन द्विपन्तं
विष्यति) लाल भागसे द्वेष करनेवालेको वेषता है, (इति ब्रह्मवादिनाः वदन्ति) ऐसा ब्रह्मवादी कहते हैं ॥ ८ ॥

[२] (सः उच्चं उदतिष्ठत्) वह ऊपर उठा । (सः प्राचीं दिशं अनुचलत्) वह पूर्व दिशा की ओर अनुचल गति
से चला ॥ १ ॥ (तं बृहच्च य रथन्तरं च आदित्याः च विश्वे देवाः च घनुष्यचलत्) उसको बृहत्, रथन्तर, आदित्य, विश्वे
देव अनुचल हुए ॥ २ ॥ (यः एवं विद्वांसं त्रात्यं उपवदति) जो ऐसे विद्वान्मतवादीको घुरे शब्द बोलता है वह बृहत्,
रथन्तर, आदित्य और विश्वेदेवोंका मिश्रण बनता है ॥ (तस्य प्राच्यां दिशि) उसकी प्राची दिशामें (श्रद्धा पुंश्ली) श्रद्धा
श्री, (मित्रः माग्धः) मित्र सूर्य स्तुति करनेवाला, (विज्ञानं वासः) विज्ञान बल, (अहः उरुष्णीपं) दिन पगड़ी, (रात्री केशाः) रात्री
बाल, (हरिती प्रवर्तौ) विषय कुंडल (कल्मलिः भणिः) तारे मणिके समान होते हैं ॥ ५-५ ॥ (भूतं च भविष्यत् च परि-
ष्कुन्दौ) भूत काल और भविष्यकाल ये दोनों उसके रक्षक होते हैं और (मनः विषथं) मन इसका बुद्धय होता है ॥ ६ ॥
(मात्ररिश्वा च पवमानः च विषथवाहौ) श्वास और उत्सवास उसके रपके घोड़े हैं, (वातः सारथी) प्राण उसका सारथी
और (रेष्मा प्रतोदः) वायु उसका चातुक है ॥ ७ ॥ (कीर्तिः च यशः च) कीर्ति और यश उसके (पुरःसरा) अग्रगामी
हैं । (एवं कीर्तिः आगच्छति) इसके पास कीर्ति आ जाती है । इसके पास (यशः आगच्छति) यश आता है ॥ ८ ॥ [१]

[सः०] वह उठता है और दक्षिण दिशामें अनुचल होकर संचार करता है ॥ ९ ॥

तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च पशुर्वशानुव्यचलन् ॥ १० ॥

यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्यार्यं च यज्ञार्यं च यजमानाय च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं ब्राह्मणमुपवदति ॥ ११ ॥ यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि ॥ १२ ॥

उषाः पुंश्रुली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहंरुष्णीपुं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कर्मलिर्मणिः ॥ १३ ॥

अमावस्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ०१० ॥ १४ ॥ (२)

स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १५ ॥

तं वैरूपं च वैराजं चार्पश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन् ॥ १६ ॥

वैरुपायं च वै स वैराज्यं चाङ्गश्च वरुणाय च राज आ वृश्चते य एवं विद्वांसं ब्राह्मणमुपवदति ॥ १७ ॥

वैरूपस्य च वै स वैराजस्य चापां च वरुणस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्य प्रतीचर्यां दिशि ॥ १८ ॥ इरा पुंश्रुली हसो मागधो विज्ञानं वासोऽहंरुष्णीपुं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कर्मलिर्मणिः ॥ १९ ॥

अहश्च रात्री च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ०१० ॥ २० ॥ (३)

स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ २१ ॥

तं श्यैतं च नौघसं च समर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलन् ॥ २२ ॥

[सं] उसको दक्षिणाय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और [पशुः] च अनुव्यचलन्] पशु भी अनुवृत्त होते हैं ॥ १० ॥ [यः एवं विद्वांसं ब्राह्मणमुपवदति] जो ऐसे विद्वान् मतचारी का उपहास करता है वह दक्षिणाय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओंके विषयमें [आवृश्चते] अपराधी होता है ॥ ११ ॥ [यः एवं वेद] जो इस बातको जानता है, वह दक्षिणाय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान और पशुओंका प्रियस्थान बनता है । उसको दक्षिण दिशामें [उषाः पुंश्रुली] उषा स्त्री, [मन्त्रः मागधः] मन्त्र-प्रयोग करनेवाला, विज्ञान वज्र, दिन पगडी, रात्री केश, किरण कुंडल, तारे मणिके समान होते हैं ॥ १२—१३ ॥ [अमावस्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ] अमावस्या और पूर्णिमा उसके संरक्षक होते हैं, और मन उसके बुद्धय है । चाप और दह्युवाच उसके रथके घोड़े, प्राण सारथी और वायु उसका चातुक है [आगे पूर्ववत्] ॥ १४ ॥ [२]

(सः०) वह उठा और (सः प्रतीचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह पश्चिम दिशा की ओर अनुवृत्तताके साथ संचार करने लगा ॥ १५ ॥ तब उसको वैरूप, वैराज, आप और राजा वरुण अनुवृत्त हुए ॥ १६ ॥ जो ऐसे विद्वान् मतचारीका अपमान करते हैं, वह वैरूप, वैराज, आप और राजा वरुण के प्रति अपराधी होते हैं ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है वह वैरूप, वैराज, आप-जल, और राजा वरुण का प्रिय धाम बनता है । उसके लिये पश्चिम दिशामें (इरा पुंश्रुली) भूमि स्त्री, (शसः मागधः) शस्य प्रसंगक, विज्ञान वज्र ० ॥ १९ ॥ (महः च रात्री च परिष्कन्दौ) दिन और रात्री उसके रक्षक होते हैं [आगे पूर्ववत्]

(सः०) वह उठा और वह (उदीचीं दिशं) उत्तर दिशामें अनुवृत्त होकर चला ॥ २१ ० (तं श्यैतं च समर्षयः च राजा सोमः च अनुव्यचलन्) उसके अनुवृत्त श्यैत, नौघस समर्षय और राजा सोम चलने लगे ॥ २२ ॥

इयैतार्यं च वै स नौघसायं च समर्पिभ्यश्च सोमाय च राह्व आ चृथते य एवं विद्वांसं
 त्रात्यंमुपवदति ॥ २३ ॥ इयैतस्यं च वै स नौघसस्यं च सप्तर्षीणां च सोमस्य च राह्वः
 प्रियं धाम भवति तस्योदीच्या दिशि ॥ २४ ॥ विद्युत् पुंश्रुली स्तनयित्तुर्भागधो विश्वानं
 वासोऽहुरुष्णीपं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्भिणिः ॥ २५ ॥ श्रुतं च विश्रुतं च परि-
 ष्कन्दौ मनौ विपथम् ॥ २६ ॥
 मातरिर्था च परमानथ विपथनाहौ वातः सारथी रेण्मा प्रतोदः ॥ २७ ॥
 कीर्तिश्च यशश्च पुरःसुरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ २८ ॥ (४)

(३)

स संतस्तरमूर्ध्वो तिष्ठत् तं देवा अत्रुयन् वास्य किं नु तिष्ठसीति ॥ १ ॥
 सोऽत्रवीदासन्दी मे सं भर्न्तिवति ॥ २ ॥ तस्मै त्रात्यायासन्दी समभरन् ॥ ३ ॥
 तस्यां ग्रीष्मथे वसन्तश्च द्वौ पाद्रावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥ ४ ॥
 गृह्च रथंतरं चानूच्ये इ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्चये ॥ ५ ॥
 ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजुषि तिर्यञ्चः ॥ ६ ॥ वेदं आस्तरणं ब्रह्मोपचर्हणम् ॥ ७ ॥
 सामासाद् उर्दीधेऽपथयः ॥ ८ ॥ तामासन्दी वास्य आरोहत् ॥ ९ ॥ तस्य देवजनाः
 परिष्कन्दा आसन्त्संमुल्पाः प्रहाय्या इ विश्वानि भूतान्युपसदः ॥ १० ॥

जा इस प्रकारके विद्वन् त्रात्यका उपहास करता है वह श्वेत, नौघस, समर्पि और राजा सोमका अपराधी होता है ॥ २३ ॥ जो
 गृह वात जान लेता है वह श्वेत, नौघस, सप्तर्षि और राजा सोमका प्रिय धाम बनता है ॥ २४ ॥ उसके लिये उत्तर दिशामें
 विद्युत् पुंश्रुली (विजला ह्री, (स्तनयित्तु मागध) गर्जनेवाला मेघ प्रदायाकर्ता, विज्ञान वज्र, दिन पगडा, रात्री केश
 धरण डडल, तारे मणि हैं ॥ २५ ॥ (श्रुतविद्युत् च परिष्कन्दौ) ज्ञान विज्ञान ये उरक रक्षक, और मन उरका सुदरथ है
 ॥ २६ ॥ इनाश और उरच्छास उसके रथके घोड़े (इत्यादि पूर्ववत्) ॥ २७ ॥ (४)

[३] [स संवत्सर ऋचैः अतिष्ठत्] वह वर्ष भरतक खटा रहा, [त देवा अत्रुयन्] उसे देवोंने कहा, [मास्य,
 किं नु तिष्ठसि इति] हे जती, तू क्यों खटा है ? ॥ १ ॥ [स जमयीव] उसने कहा, [मे आसन्दी स भरन्त इति]
 मेरे लिये बैठनेका सुधी लाओ ॥ २ ॥ तब [तस्मै त्रात्याय भासन्दी समभरन्] उस प्रतीके लिये बैठनेकी चौकी ले
 लिये ॥ ३ ॥ [तस्यां ग्रीष्म च वसन्त च] उस चांकी के ग्रीष्म और वसन्त थे [द्वौ पाद्रौ वास्तां] दो पांव थे और
 [शरच्च वर्षाश्च द्वौ] शरत् और वर्षा ये दो पांव थे ॥ ४ ॥ [गृह्च रथन्तरं च] गृहत् और रथन्तरं ये दो
 [अनुच्ये वास्तां] वापुके फलक थे और [यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्चये] यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य ये दो तिष्ठे
 फलक थे ॥ ५ ॥ [ऋचः प्राञ्च तन्तव] ऋग्वेदके मन्त्र लघाईके तन्तु थे और [यजुषि तिर्यञ्च] यजुर्वेदके मन्त्र तिष्ठे
 तन्तु थे ॥ ६ ॥ [वेदं आस्तरणं] वेद उसका बिछोना था और [ब्रह्म उपचर्हणं] ब्रह्म—ज्ञान उरका ओठनेका वज्र था
 ॥ ७ ॥ [सामासाद्] साम गंदेला था और [उर्दीधे उपथय] उर्दीधे तकिया था ॥ ८ ॥ [तामासन्दीं वास्य आरोहत्]
 इस प्रकारकी ज्ञानमयी चौकीपर प्रती चढा ॥ ९ ॥ [देवजनाः तस्य परिष्कन्दा भासन्] देवजन उसके रक्षक हुए, [संमुल्पाः
 प्रहाय्या] उसके कलत्र उसके दूत और [विश्वानि भूतानि उपसद भवन्ति एव] सब भूत उसके साथ बैठनेवाले थे ॥ १० ॥

विश्वान्येवास्य भूतान्युपसर्दो भवन्ति य एवं वेद

॥ ११ ।

(४)

तस्मै प्राच्यां दिशः ॥ १ ॥ वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च रथन्तरं चानुष्ठातारौ ॥ २ ॥

वासन्तावेनं मासौ प्राच्यां दिशो गोपायतो बृहच्च रथन्तरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ३ ॥ (१)

तस्मै दक्षिणाया दिशः ॥ ४ ॥ ग्रैष्मौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानुष्ठातारौ ॥ ५ ॥

ग्रैष्मविनं मासौ दक्षिणाया दिशो गोपायतो यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ६ (२) ॥

तस्मै प्रतीच्यां दिशः ॥ ७ ॥ वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् वैरूपं च वैराजं चानुष्ठातारौ

॥ ८ ॥ वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्यां दिशो गोपायतो वैरूपं च वैराजं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ९ (३) ॥

तस्मा उदीच्यां दिशः ॥ १० ॥ शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् चैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ११

शारदावेनं मासावुदीच्यां दिशो गोपायतो चैतं च नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १२ (४) ॥

तस्मै ध्रुवायां दिशः ॥ १३ ॥ हेमनौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ

॥ १४ ॥ हेमनावेनं मासौ ध्रुवायां दिशो गोपायतो भूमिंश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १५ (५)

[यः एवं वेद] जो यह ताव जानता है [विश्वानि भूतानि अरय उपसर्दः भवन्ति एवं] सब भूत इसके साथ बैठनेवाले धारी—मित्र—होते हैं इसमें संदेह नहीं है ॥ ११ ॥

[४] (तस्मै प्राच्यः दिशः) उसके लिये पूर्व की दिशा ॥ १ ॥ [वासन्तौ मासौ गोप्तारौ अकुर्वन्] वसन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, [बृहच्च रथन्तरं च अनुष्ठातारौ] बृहत् और रथन्तर सेवक बनाये ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है उसके प्राची दिशा, वसन्त ऋतुके दो महीने रक्षक होते हैं और बृहत् तथा रथन्तर सेवक होते हैं ॥ ३ ॥ [१]

उसके लिये दक्षिण की दिशा ॥ ४ ॥ ग्रीष्म ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और यज्ञायज्ञिय और वामदेव्य अनुचर हुए हैं ॥ ५ ॥ जो यह जानता है उसके दक्षिण दिशा, ग्रीष्म ऋतुके दो महीने रक्षक होते हैं और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव्य अनुचर होते हैं ॥ ६ ॥ [२]

उसके लिये पश्चिम की दिशा ॥ ७ ॥ वर्षा ऋतुके दो मास रक्षक बनाये और वैरूप तथा वैराज अनुचर हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है, उसके लिये पश्चिम दिशा, वर्षाके दो महीने रक्षक होते हैं और वैरूप तथा वैराज अनुचर होते हैं ॥ ९ ॥ [३]

उसके लिये उत्तर की दिशा ॥ १० ॥ शरदरतुके दो मास रक्षक बनाये, और वैरूप तथा वैराज अनुचर ॥ ८ ॥ जो यह जानता है, उसके लिये पश्चिम दिशा, वर्षाके दो महीने रक्षक होते हैं और वैरूप तथा वैराज अनुचर होते हैं ॥ ९ ॥ [३]

उसके लिये उत्तर की दिशा ॥ १० ॥ शरदरतुके दो मास रक्षक बनाये, और देवत तथा नौधस अनुचर हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है उसके लिये उत्तर दिशा, शरदरतुके दो महीने रक्षक होते हैं और देवत और नौधस अनुचर होते हैं ॥ १२ ॥ [४]

उसके लिये ध्रुव दिशा ॥ १३ ॥ हेमन्त ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और भूमि तथा अग्नि उसके अनुचर बने ॥ १४ ॥ जो यह जानता है उसके ध्रुवदिशा हेमन्तके दो महीने रक्षक हैं और भूमि तथा अग्नि अनुचर होते हैं ॥ १५ ॥ [५]

तस्मां ऊर्ध्वायां दिशः

॥ १६ ॥

शैशिरौ मार्सां गोप्तासवकुर्वन् दिवं चाद्रित्यं चानुष्ठातारौ ॥ १७ ॥ शैशिरावेनं मार्सानूर्ध्वायां दिशो गोपायतो घैथांद्रित्यथानुं तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १८ ॥ (६)

[५]

तस्मै प्राच्यां दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥

भव एनमिष्वासः प्राच्यां दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारुं तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ २ ॥

नास्यं पशून् न संमानान् हितस्ति य एवं वेद ॥ ३ ॥ (१)

तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ४ ॥

शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारुं तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः । ० ॥ ५ ॥ (२)

तस्मै प्रवीच्यां दिशो अन्तर्देशात् पशुपारिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ६ ॥

पशुपतिरेनामिष्वासः प्रवीच्यां दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ० ॥ ७ ॥ (३)

तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशाद्देवं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ८ ॥

उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारमकुर्वन् ० ॥ ९ ॥ (४)

उसके लिये ऊर्ध्व दिशा ॥ १६ ॥ शिशिर ऋतुके दो मास रक्षक बनाये, और पु तथा आदित्य अतुचर बने ॥ १७ ॥ जो यह बात जानता है उसके लिये ऊर्ध्व दिशा, शिशिर ऋतुके दो माहिन रक्षक हेतु है और पुतोक तथा आदित्य अतुग्रणीं ते है ॥ १८ ॥ [६]

[५] (तस्मै प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) उसके लिये पूर्व दिशाके अन्तर्देशसे (इष्वासं भवं अनुष्ठातारं कुर्वन्) अनुष्ठातारि भवको अनुष्ठाता बनाया ॥ १ ॥ (यः एवं वेद) जो इस बातको जानता है { एवं इष्वासः भवः } इसका अनुष्ठातारि भव (प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्) प्राची दिशा के अन्तर्देशसे (अनुष्ठाता अनुतिष्ठति) अनुष्ठाता होकर रहता है । और (न शर्वः न भवः इषानः पृथं) न शर्व, भव अथवा इषान इसका पात करता है ॥ २ ॥ (न अस्य पशून् समानान् हितस्ति) न इसके पशुओं और इसके समान बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ३ ॥ [१]

उसके लिये दक्षिण दिशा के अन्तर्देशसे धनुर्धारी शर्वको अनुष्ठाता बनाया ॥ ४ ॥ जो यह बात जानता है उसका अनुष्ठातारि शर्व दक्षिण दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और न शर्व, भव अथवा इषान इसका पातपात करता है और न पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ५ ॥ (२)

उसके लिये (प्रवीच्याः दिशः) पश्चिम दिशाके अन्तर्देशसे (पशुपारिं इष्वासं) पशुपतिको धनुर्धर अनुष्ठातारि बनाया ॥ ६ ॥ जो यह जानता है उसका धनुर्धारी पशुपति पश्चिम दिशासे अनुष्ठाता होकर रहता है, और इसका न शर्व, भव अथवा इषान पातपात करता है और न इसके पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ७ ॥ [३]

उसके लिये (उदीच्याः दिशाः) उत्तर दिशाके अन्तर्देशसे (उग्र देवं इष्वासं) उग्र देवको धनुर्धारी अनुष्ठातारि बनाया ॥ ८ ॥ जो इस बातको जानता है, उसका धनुर्धारी उग्रदेव उत्तर दिशा के अन्तर्देशसे अनुष्ठाता होकर रहता है और इसका न शर्व भव और इषान पातपात करता है और न इसके पशुओं और बन्धुओंकी हिंसा करता है ॥ ९ ॥ (४)

तस्मै ध्रुवायां दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिध्वासमनुष्ठातारंमकुर्वन् ॥ १० ॥

रुद्र एनमिध्वासो ध्रुवायां दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारंमकुर्वन् ०१० ॥ ११ ॥ (५)

तस्मां ऊर्ध्वायां दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिध्वासमनुष्ठातारंमकुर्वन् ॥ १२ ॥

महादेव एनमिध्वास ऊर्ध्वायां दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातारंमकुर्वन् ०१० ॥ १३ ॥ [६]

तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिध्वासमनुष्ठातारंमकुर्वन् ॥ १४ ॥

ईशान एनमिध्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातारं तिष्ठति नैनं शर्वो न भ्रुवो नेशानः ॥ १५ ॥

नास्यं पशुन् न समानान् हिंनस्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥ (७)

[६]

स ध्रुवां दिशमनु व्यचिह्नत् ॥ १ ॥

तं भूमिश्चाभिधौपधयश्च वनस्पतयश्च वागस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्यचलन् ॥ २ ॥

भूमेश्च वै सोऽं प्रेशौर्षधीनां च वनस्पतीनां च वागस्पत्यानां च वीरुधो च प्रियं धाम
भवति य एवं वेद ॥ ३ (१)

स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचिह्नत् ॥ ४ ॥

तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥ ५ ॥

उसके लिये (ध्रुवायाः दिशः) ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे (रुद्रं इध्वासं ०) रुद्रको धनुर्धारी अनुष्ठता बनाया -
॥ १० ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी रुद्रदेव ध्रुव दिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठता होकर रहता है और न
इसका सर्व भव और ईशान घातपात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवों को हिंसा करता है ॥ ११ ॥ (५)

उसके लिये (उर्ध्वायाः दिशः) उर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे (महादेवं इध्वासं ०) महादेवको धनुर्धारी अनुष्ठता
बनाया ॥ १२ ॥ जो इस बात को जानता है उसका धनुर्धारी रुद्रदेव उर्ध्वदिशाके अन्तर्देशसे अनुष्ठता होकर रहता है और
न इसका सर्व भव और ईशान घात करता है और न इसके पशुओं और बान्धवों को हिंसा करता है ॥ १३ ॥ (६)

उसके लिये (सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः) सब अन्तर्देशोंसे (ईशानं इध्वासं ०) ईशान को धनुर्धारी अनुष्ठता बनाया
॥ १४ ॥ जो इस बातको जानता है उसका धनुर्धारी ईशान सब दिशाओंके अन्तर्देशोंसे अनुष्ठता होकर
रहता है । न इसका सर्व भव अथवा ईशान नाश करते हैं और न इसके पशुओं और बन्धुबान्धवों को हिंसा करते
हैं ॥ १५—१६ ॥ (७)

[६] [सः ध्रुवां दिशमनु व्यचलत्] वह ध्रुव दिशाकी ओर अनुकूलतासे चला ॥ १ ॥ इसलिये [तं भूमिः च
भूमिः च औपधयः च वनस्पतयः च] उसके अनुकूल भूमि अग्नि औपधि वनस्पति [वागस्पत्याः च वीरुधः च
अनुव्यचलत्] छोटे और बड़े वृक्ष अनुकूल होकर रहते ॥ २ ॥ [यः एवं वेद] जो यह जानता है [सः भूमिः च वै
भूमिः च] वह भूमि और अग्नि [औपधीनां च वनस्पतीनां] औपधि और वनस्पतियों का [वागस्पत्यानां च वीरुधो]
छोटे और बड़े वृक्षोंका [नियं धाम भवति] प्रिय स्थान होता है ॥ ३ ॥ [१]

[सः ऊर्ध्वां दिशं ०] वह ऊर्ध्व दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ ४ ॥ इसलिये [तं मृतं च सत्यं च सूर्यः
च चन्द्रः च नक्षत्राणि च ०] उसके अनुकूल मृत सत्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्र हुए ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह मृत

ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ६ (२)

स उत्तमां दिशमनु व्यचलत् ॥ ७ ॥ तमृचंश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलत् ॥ ८ ॥ ऋचां च वै स साक्षां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ९ (३)

स बृहतीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १० ॥ तामितिहासश्च पुराणं च गार्धाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलत् ॥ ११ ॥ इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गार्धानां च नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १२ (४)

स परमां दिशमनु व्यचलत् ॥ १३ ॥ तमाहवनीयंश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशुपश्वानुव्यचलत् ॥ १४ ॥

आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १५ (५)

सोर्नादिष्टां दिशमनु व्यचलत् ॥ १६ ॥ तमृतवंशार्तवाश्च लोकांश्च लौक्याश्च मासाश्चार्धमासाश्चाहोरात्रे चानुव्यचलत् ॥ १७ ॥

ऋतूनां च वै स अर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १८ ॥ (६)

तस्य सूर्य चन्द्र और नक्षत्रोंका प्रिय धाम बनता है ॥ ६ ॥ [२]

(सः उत्तमां दिशां०) वह उत्तम दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ ७ ॥ इसलिये (तं ऋचां च सामानि यजूंषि च ब्रह्म च०) ऋचके अनुकूल ऋचा, साम यजु और ब्रह्म अर्थात् अथर्ववेद हुए ॥ ८ ॥ जो यह जानता है वह ऋचा साम, यजु और ब्रह्ममेंसेका प्रिय धाम होता है ॥ ९ ॥ [३]

(सः बृहतीं दिशां०) वह बृहती दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १० ॥ इसलिये (तं इतिहासः च पुराणं च गार्धाः च नाराशंसीः च०) इतिहास, पुराण, गार्धा और नाराशंसी हुए ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह इतिहास, पुराण गार्धा और नाराशंसीका प्रिय धाम होता है ॥ १२ ॥ [४]

(सः परमां दिशां०) वह परम दिशा की ओर अनुकूल होकर चला ॥ १३ ॥ इसलिये (तं आहवनीयः च गार्हपत्यः च दक्षिणाग्निः च यज्ञः च यजमानः च पशवः च०) अनुकूल आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान, और पशु हो गये ॥ १४ ॥ जो यह जानता है वह आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशुओंका प्रिय धाम बनता है ॥ १५ ॥ [५]

(सः सोर्नादिष्टां दिशां०) वह अनादिष्ट दिशाकी ओर अनुकूल होकर चला ॥ १६ ॥ इसलिये (तं ऋतवः च अर्तवाः च लोकाः च लौक्याः च मासाः च अर्धमासाः च अहोरात्रे च०) इसके अनुकूल ऋतु और ऋतुबंधी पदार्थ, लोक और लोकोंके संबंधी पदार्थ, महीने, पक्ष और दिनरात अनुकूल हुए ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह ऋतु, अर्धमास, लोक, रत्न, मास, पक्ष और अहोरात्र का प्रिय धाम होता है ॥ १८ ॥ [६]

सोऽनावृत्तां दिशुमनु व्यचिह्वत् ततो नावत्स्यन्मन्यत ॥१९॥

तं दितिश्वार्दितिश्वेडां चेन्द्राणी चानुव्यचिह्वन् ॥२०॥

दितैश्च वै सोऽदितैश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२१॥ (७)

स दिशोऽनु व्यचिह्वत् ॥२२॥ तं विराडनु व्यचिह्वत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः ॥२३॥

विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥२४॥

स सर्वानन्तर्वेदानु व्यचिह्वत् ॥ २४ ॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचिह्वन् ॥ २५ ॥

प्रजपतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद । २६ । (९)

[७]

स महिमा सद्रुभुत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत् स समुद्रो भवत् ॥ १ ॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥ २ ॥

ऐनमापो गच्छत्यैर्न श्रद्धा गच्छत्यैर्न वर्षं गच्छति य एवं वेद ॥ ३ ॥

तं श्रद्धा च यज्ञश्च लोकश्चार्चं चान्नाद्यं च भूत्वाभिपर्यावर्तन्त ॥ ४ ॥

(सः अनावृतां दिशं०) वह अनाहत दिशाके अनुकूल होकर चला और (ततः न मवरस्यन् ममन्यत) वहादि धारस न होके विचार उसने किया ॥ १९ ॥ अतः (तं दितिः च अदितिः इडा च इन्द्राणी च०) उसके अनुकूल दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी हो गये ॥ २० ॥ जो यह जानता है वह दिति, अदिति, इडा और इन्द्राणी का प्रिय धाम बनता है ॥ २१ ॥ [७]

(सः दिशः अनुव्यचिह्वत्) वह सब दिशाओंमें अनुकूल होकर चला, इसलिये (तं विराट् सर्वेः देवाः च सर्वाः च देवताः अ०) उसके विराट और सब देव और देवता अनुकूल होगये ॥ २२ ॥ जो यह जानता है वह विराट सब देव और देवताओं का प्रिय धाम बनता है ॥ २३ ॥ [८]

(सः सर्वान् अन्तर्वेदान् अनु०) वह सब अन्तर्वेदोंमें अनुकूल होकर चला ॥ २४ ॥ अतः (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च अनु०) उसके प्रजापति, परमेष्ठी, पिता और पितामह अनुकूल होकर चले ॥ २५ ॥ जो यह जानता है वह प्रजापति परमेष्ठी पिता और पितामहका प्रिय धाम बनता है ॥ २६ ॥ (९)

[७] (सः महिमा स-द्रुः भूत्वा) वह बड़ा समर्थ गतियुक्त होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्) पृथ्वीके अन्ततक गया। और (सः समुद्रः भवत्) वह समुद्र हुआ ॥ १ ॥ (तं प्रजापतिः च परमेष्ठी च पिता च पितामहः च श्रद्धा च वर्षं च भूत्वा अनुव्यवर्तयन्त) उसके साथ प्रजापति, परमेष्ठी, पिता, पितामह, श्रद्धा, और वृष्टी होकर रहने लगे ॥ २ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है (एवं आपः आगच्छति) इसकी जल प्राप्त होते हैं, (एवं अग्ना आगच्छति) इसकी अग्ना प्राप्त होती है, (एवं वर्षं आगच्छति) इसकी वर्षा प्राप्त होती है ॥ ३ ॥ (तं श्रद्धा च यज्ञः च लोकः च अर्चं च अन्नाद्यं च भूत्वा अभिपर्यावर्तन्त) उसके चारों ओर श्रद्धा, यज्ञ, लोक, अर्च और अन्नपान रहने लगे ॥ ४ ॥

एनें श्रद्धा गच्छत्यैनें यज्ञो गच्छत्यैनें लोको गच्छत्यैनेमर्षं गच्छत्यैनेमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद ॥ ५ ॥

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

जो यह जानता है (एवं श्रद्धा भागच्छति) इसको यथा प्राप्त होती है, (एनें यज्ञः भागच्छति) इसको दत्त प्राप्त होता है, (एन लोकाः भागच्छति) इसको लोक प्राप्त होता है, (एनें मर्षं भागच्छति) इसको अन्न प्राप्त होता है, और (एनें अन्नाद्यं भागच्छति) इसको खानपान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ।

[८]

सोऽरिज्यत् ततो राजन्योऽजायत ॥ १ ॥ स विश्वः सर्वन्धुनर्षमन्नाद्यं मभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥ विश्वां च वै स सर्वन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धामं भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[९]

स विशोऽनु व्यचलत् ॥ १ ॥ तं सुभा च समितिश्च सेनां च सुरां चानुव्यचिलन् ॥ २ ॥ सुभार्याश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धामं भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

[१०]

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥
श्रयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्ते तथा राष्ट्राय ना वृश्ते ॥ २ ॥
अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अमृतां कं प्र विशावेति ॥ ३ ॥

[२] [८] (सः अरिज्यत्) वह सबका रक्षण करने लगा, अतः वह (राजन्यः अजायत) राजा—उत्पन्न—हो गया ॥ १ ॥ (सः सर्वन्धुः विश्वः अन्नं अन्नाद्यं मभ्युदतिष्ठत्) वह बन्धुगणों समेत सब प्रजाको और अन्न तथा सब खानपानको प्राप्त हुआ ॥ २ ॥ जो यह बात जानता है वह बन्धुगणोंके समेत सब प्रजाजनोंका तथा अन्न और सब प्रकारके खानपानका प्रियधाम होता है ॥ ३ ॥

[९] (सः विश्वः अनुव्यचलत्) वह प्रजाओंके अनुकूल होकर चला ॥ १ ॥ अतः (तं सुभा च समितिः च) उद्योग सुभा और समिति (सेना च सुरा च अनुव्यचिलन्) सेना और धनकोश अनुकूल हुए ॥ २ ॥ जो यह बात जानता है वह सुभा, समिति, सेना और धनकोशका प्रियधाम बनता है ॥ ३ ॥

[१०] (तद् यस्य राशः गृहान् एवं विद्वान् व्रात्यः अतिथिः) जिस राजाके घर ऐसा विद्वान् मत्तकारी अतिथि (जाये-च्छेत्) आवे ॥ १ ॥ (एनें आत्मानः श्रयांसं मानयेत्) इसको अपना कर्णधारकर्ता मानकर उसका समान करे । (तथा) ऐसा करनेसे (क्षत्राय न आवृश्ते) क्षान् वृत्तिसे नहीं हटता और (तथा राष्ट्राय न आवृश्ते) ऐसा करनेपर राष्ट्रका अधिकारी भी नहीं होता ॥ २ ॥ (अतः वै ब्रह्म च क्षत्रं च उदतिष्ठतां) उद्योग ज्ञान और वीर्य उत्पन्न होता है, (ते अमृताम्) वे दोनों कहते हैं कि (क प्रविशाय इति) हम कहां प्रविष्ट होकर रहें ॥ ३ ॥

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्राम प्रा विंशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति ॥ ४ ॥

अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविंशदिन्द्रं क्षत्रम् ॥ ५ ॥ इयं वा उं पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरिन्द्रेन्द्रः

॥ ६ ॥ अयं वा उं अभिर्नक्षत्रासावादित्यः क्षत्रम् ॥ ७ ॥

एतं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ८ ॥ यः पृथिवीं बृहस्पतिंमग्निं ब्रह्म वेदं ॥ ९ ॥

एनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥ य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेदं ॥ ११ ॥

[११]

तद् यस्यैवं विद्वान् ब्राह्मणोऽतिथिर्गृहानागच्छत् ॥ १ ॥

स्वयमेतमभ्युदेत्यं भूयात् ब्राह्म्यं क्वाऽवात्सीर्वात्योऽदुकं ब्राह्म्यं तर्पयन्तु ब्राह्म्यं यथा ते प्रियं

तथास्तु ब्राह्म्यं यथा ते वशस्तथास्तु ब्राह्म्यं यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥ यदेनमाह

ब्राह्म्यं क्वाऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानवं रुन्दे ॥ ३ ॥ यदेनमाह ब्राह्म्योऽदुकमित्यप

एव तेनावं रुन्दे ॥ ४ ॥

यदेनमाह ब्राह्म्यं तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥ ५ ॥

यदेनमाह ब्राह्म्यं यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनावं रुन्दे ॥ ६ ॥

(अतः वै बृहस्पति एव ब्रह्म प्रविशत्) इसके निःसन्देह बृहस्पतिके अन्दर ही ब्रह्मज्ञान प्रविष्ट होने और (तथा ते इन्द्रं क्षत्रं इति) वैद्य हो इन्द्रमें क्षत्र प्रविष्ट होने ॥ ४ ॥ (अतः वै बृहस्पति एव ब्रह्म प्राविशत् इन्द्रं क्षत्रं) इधीलिये बृहस्पतिमें शान और इन्द्रमें क्षत्र प्रविष्ट हुआ ॥ ५ ॥ (इयं वा उं पृथिवी बृहस्पतिः) निश्चयसे यह पृथ्वी बृहस्पति है और (योः एव इन्द्रः) दुलोक इन्द्र है ॥ ६ ॥ (अयं वा उं अभिः ब्रह्म) यह अभि निःसन्देह ब्रह्मा है और (असौ आदित्यः क्षत्रं) यह आदित्य क्षत्र है ॥ ७ ॥ (यः पृथिवीं बृहस्पतिं) जो पृथ्वीको बृहस्पति और (अग्निं ब्रह्म वेदं) अग्निको ब्रह्म जानता है (एनं ब्रह्म आगच्छति) इसके पास ब्रह्मज्ञान आजाता है और यह (ब्रह्मवर्चसी भवति) ब्रह्मज्ञानसे लेशरही होता है ॥ ८—९ ॥ (यः आदित्यं क्षत्रं) जो आदित्यको क्षत्र और (दिवं इन्द्रं वेदं) दुलोकको इन्द्र जानता है (एनं इन्द्रियं आगच्छति) इसके पास इन्द्रकी शक्ति आजाती है और यह (इन्द्रियवान् भवति) इन्द्रकी शक्तिसे युक्त होता है ॥ १०—११ ॥

[११] (यत् एवं विद्वान् ब्राह्म्यः अतिथिः) इस प्रकारका विद्वान् ब्रतपालक अतिथि (यस्य गृहान् आगच्छत्) जिसके घर आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एनं अभ्युदेत्यं भूयात्) स्वयं उसके समीप जाकर बोले कि " (ब्राह्म्यं, क्वाऽवात्सीः) हे मतभारीजी ! आप कहा रहते हैं ? (ब्राह्म्यं, उदकं) हे मतभारीजी ! यह जल आपके लिये है । (ब्राह्म्यं तर्पयन्तु) हे मती ! ये मेरे लोग आपकी तृप्ति करें । (ब्राह्म्यं, यथा ते प्रियं तथा अस्तु) हे मतभारीजी ! जो आपके प्रिय हो वही होवे । (ब्राह्म्यं, यथा ते वशः तथा अस्तु) हे मतभारीजी ! जो आपकी इच्छा हो वैसा ही बने । (हे ब्राह्म्यं, यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) हे मती ! जो आपकी अभिलाषा हो वैसा ही होने ॥ २ ॥

(यत् एनं माह ब्राह्म्यं क्वाऽवात्सीः इति) जो इसको कहा जाता है कि हे मतभारी, आप कहा रहते हैं ? तो (तेन देवयानान् पथः एव अवच्छेदे) उस प्रश्रये वह देवयान मार्गको अपने आधीन करता है ॥ ३ ॥ (यत् एनं माह) जो इसको कहता है कि (ब्राह्म्यं उदकं इति) हे मतभारी, यह जल आपके लिये है, (तेन अपः एव अवच्छेदे) उस वचनसे पर्याप्त जल उसको प्राप्त होता है ॥ ४ ॥ (यत् एनं माह, ब्राह्म्यं तर्पयन्तु इति) जो इसको कहता है कि हे मती ! मेरे लोग आपकी तृप्ति करें, तो (तेन प्राणं वर्षीयांसं कुरुते) उस वचनसे वह अपने प्राणको अतिर्दाय करता है ॥ ५ ॥ (यत् एनं माह ब्राह्म्यं यथा ते प्रियं तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे मती ! जो मेरे लिये प्रिय हो वही होवे, (तेन प्रियं एव अवच्छेदे) इससे वह प्रिय पदार्थको अपने वचनसे करता है ॥ ६ ॥

एनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद	॥ ७ ॥
यदेनमाह त्रात्य यथा ते वयस्तथास्त्विति वशमेव तेनावं रुन्दे	॥ ८ ॥
एनं वशो गच्छति वशी वशिना भवति य एवं वेद	॥ ९ ॥
यदेनमाह त्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति निकाममेव तेनावं रुन्दे	॥ १० ॥
एनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद	॥ ११ ॥

[१२]

तद् यस्मैवं विद्वान् त्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वर्षिभितेऽग्निहोत्रेऽतिधिर्गृहानागच्छेत्	॥ १ ॥
स्वयमेनमभ्युदेत्यं ब्रूयाद् त्रात्यातिं सृज ह्येष्यामीति ॥ २ ॥ स चातिमुज्ज्वलुहुयात् चाति- सृजेन्न जुहुयात् ॥ ३ ॥ स य एवं विदुषा त्रात्येनातिंसृष्टो जुहोति ॥ ४ ॥ प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम् ॥ ५ ॥ न देवेष्वाम वृश्चते हुतमस्य भवति ॥ ६ ॥ पर्यस्यास्मिन्नोक्त आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा त्रात्येनातिंसृष्टो जुहोति ॥ ७ ॥ अथ य एवं विदुषा त्रात्येनानातिंसृष्टो जुहोति ॥ ८ ॥ न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥ ९ ॥	

(यः एवं वेद) जो यह जानता है, (एनं प्रियं आगच्छति) इसको प्रिय प्राप्त होता है और (प्रियस्य भवति) वह प्रियका प्रिय होता है ॥ ७ ॥ (यत् एनं आह, त्रात्य, यथा ते वराः तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे प्रती ! जो तेरी इच्छा हो वसा ही होवे, (तेन वशं एव भवरन्दे) उससे वह सबको अपने वशमें करता है ॥ ८ ॥ जो यह जानता है (क्सा, एनं आगच्छति) उसको सब वरा होते हैं, और वह (वशीनां वशी भवति) वशी लोगोंके वश करनेवाला होता है ॥ ९ ॥ (यत् एनं आह त्रात्य यथा ते निकामः तथा अस्तु इति) जो इसको कहता है कि हे प्रती जो जानकी अभिलाषा है वह होवे, तो उससे (तेन निकामं एव भवरन्दे) वह अपनी अभिलाषा प्राप्त करता है ॥ १० ॥ (एवं निकामः आगच्छति) इसकी अभिलाषा पूर्ण होती है, यह जो जानता है उसको (निकामस्य निकामे भवति) अभिलाषाही पूर्णता होती है ॥ ११ ॥

[१२] (तद् भस्व गृहे) जिसके घरमें (एवं विद्वान् त्रात्यः अग्निभिः) ऐसा विद्वान् त्रतवारी कतिपि (वज्रैः अग्निषु अग्निहोत्रे अधिभिते आगच्छेत्) अग्नि प्रदीप्त होकर अग्निहोत्र होनेके समय आवे ॥ १ ॥ (स्वयं एनं अभ्युदेत् ब्रूयाद्) एवं इसके सम्मुख जाकर कहे कि (त्रात्य अग्निमृज ह्येष्यामीति) हे प्रती ! मुझे आशा दो, मैं हवन करनेवाला ॥ २ ॥ (सः च अतिमुज्ज्वलुहुयात्) वह आशा देवे तो हवन करे, (न च अतिमुज्ज्वलुहुयात्) यदि न आशा देवे तो न हवन करे ॥ ३ ॥ (सः यः एवं विदुषा त्रात्येन अतिंसृष्टो जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् त्रतवारीकी आशासे हवन करता है, (पितृयाणं देवयानं च पन्थां जानाति) वह पितृयाण और देवयान मार्गको जानता है ॥ ४-५ ॥

(यः एव विदुषा त्रात्येन अतिंसृष्टः जुहोति) जो इस प्रकारके विद्वान् त्रतवारीकी आशासे हवन करता है (अस्तु हुतं भवति) उसका अग्निहोत्र सफल होता है और (देवेषु न वृश्चते) देवोंमें इसका कोई दोष नहीं होता । (अस्मिन् कोके) इस लोकमें (अथ य एवं विदुषा त्रात्येन अतिंसृष्टो जुहोति) इसका आश्रय सुरासित रहता है ॥ ६-७ ॥

(अथ यः एवं विदुषा त्रात्येन अतिंसृष्टो जुहोति) और जो इस प्रकारके विद्वान् त्रतवारीकी आशाके बिना हवन करता है ॥ ८ ॥ वह (न पितृयाणं न देवयानं पन्थां जानाति) न पितृयाण मार्गको और न देवयान मार्गको जानता है ॥ ९ ॥

आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति

॥ १० ॥

नास्यास्मिन्नलोक आपतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति —

॥ ११ ॥

(१३)

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति

॥ १ ॥

ये पृथिव्यां पुण्यां लोकास्तानेव तेनार्वं रुन्दे

॥ २ ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति

॥ ३ ॥

येऽन्तरिक्षे पुण्यां लोकास्तानेव तेनार्वं रुन्दे

॥ ४ ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति

॥ ५ ॥

ये द्विवि पुण्यां लोकास्तानेव तेनार्वं रुन्दे

॥ ६ ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति

॥ ७ ॥

ये पुण्यानां पुण्यां लोकास्तानेव तेनार्वं रुन्दे

॥ ८ ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति

॥ ९ ॥

य एवापरिमिताः पुण्यां लोकास्तानेव तेनार्वं रुन्दे

॥ १० ॥

अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यन्वो नामभिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत्

॥ ११ ॥

अस्य अहुतं भवति) इच्छा हवन विफल होता है ॥ १० ॥ (देवेषु आहुते) देवोंका अपराधी होता है, (अस्मिन् लोके अस्य आपतनं शिष्यते) इस लोकमें इसका आधार नहीं रहता (यः) जो ऐसे विद्वानकी आज्ञाके विना हवन करता है ॥ ११ ॥

[१३] (तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् वात्यः अतिथिः एकां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका विद्वान् व्रतधारी अतिथि एक रात्री भर रहता है ॥ १ ॥ (ये पृथिव्यां पुण्यां लोकाः) जो पृथ्वीपर पुण्य लोक हैं, (तान् तेन एव अवरुन्धे) न सबको इससे प्राप्त करता है ॥ २ ॥ (तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् वात्यः अतिथिः द्वितीयां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकारका व्रतधारी विद्वान् अतिथि दूसरी रात्री भर रहता है ॥ ३ ॥ (तेन) इससे (ये अन्तरिक्षे पुण्याः लोकाः) जो अन्तरिक्षमें पुण्य लोक हैं (तान् एव अवरुन्धे) उनको प्राप्त करता है ॥ ४ ॥ (तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् वात्यः अतिथिः तृतीयां रात्रिं वसति) जिसके घरमें इस प्रकार विद्वान् व्रतधारी अतिथि तीसरी रात्री भर रहता है ॥ ५ ॥ (ये द्विवि पुण्याः लोकाः) जो सुलोकमें पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ ६ ॥ (तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् वात्यः अपरिमिताः रात्रीरतिथिः) जिसके घरमें ऐसा विद्वान् व्रतधारी अतिथि चतुर्थ रात्री भर रहता है ॥ ७ ॥ (ये पुण्यानां पुण्यां लोकाः) जो पुण्यकारकोंके पुण्य लोक हैं (तान् तेन एव अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ ८ ॥ (तद् यस्य गृहे एवं विद्वान् वात्यः अपरिमिताः पुण्यां लोकाः) जो अपरिमित पुण्य लोक हैं (तान् एव तेन अवरुन्धे) उनको उससे प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(अथ यस्य गृहान् अवात्यः वात्यन्वो नामभिभ्रती अतिथिः आगच्छेत्) जिसके घर व्रतधरण न करनेवाला, कवननामधारी अविद्वान् अतिथि आवे ॥ ११ ॥ (एवं कथं ?) क्या गृहस्थ उसका निररकार करे ? (एवं न च कथं ?) इसका

कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत्

॥ १२ ॥

अस्यै देवताया उदुकं यांचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परिं

वेवेष्मीत्येनं परिं वेविष्पात्

॥ १३ ॥

तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद

॥ १४ ॥

[१४]

स यत् प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्षीं भूत्वानुव्यचिलन्मनोऽन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥

मनसाऽन्नादेनार्जमत्ति य एवं वेद ॥ २ ॥ स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्य

चलद् चलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥ चलेनाऽन्नादेनार्जमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥ स यत् प्रतीचीं

दिशमनु व्यचलद् वर्हणो राजां भूत्वानुव्यचिलदपोऽन्नादीः कृत्वा ॥ ५ ॥ अग्निरेन्नादिभि-

रन्नमत्ति य एवं वेद

॥ ६ ॥

स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजां भूत्वानुव्यचलत् सप्तर्षिभिर्हुतवाहुतिमन्नादीं कृत्वा

॥ ७ ॥ आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥ स यद् ध्रुवां दिशमनु व्यचलद् विष्णुर्भूत्वा

नुव्यचलद् विराजमन्नादीं कृत्वा

॥ ९ ॥

तिरस्कार न करे ॥ १२ ॥ एतस्य कहे कि (अस्यै देवतायै उदुकं याचामि) इस देवताके लिये उदुककी प्राप्तिना करता हूं, (इमां देवतां वासये) इस देवताया घरमें निवास करता हूं, (इमां इमां देवतां परिकोविष्पात्) इस देवताको परोसता हूं ॥ १३ ॥ (तस्यां एव देवतायां अस्य तद् हुतं भवति) उसी देवतामें उस गृहस्थीका यह हवन होता है, (यः एवं वेद) जो यह उपाय जानता है ॥ १४ ॥ [अर्थात् आमघारी अलिये घरमें आनेपर वह अपनी उपास्य देवता है ऐसा मानकर सब भोग अपने उपायको समर्पण करनेकी बुद्धिसे उसको देवे । इस प्रकार करनेसे सब दान उसी देवताको पहुँचता है ।]

[१५] (सः यत् प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्) वह जब पूर्व दिशाकी ओर चलता है तब (मारुतं शर्षीः भूत्वा) यमु बल होकर और (मनः अन्नादे कृत्वा) मनको अन्न खानेवाला करके (अनुव्यचलत्) चले ॥ १ ॥ (यः एवं वेद) जो यह जानता है वह (अन्नादेन मनसा अन्नं मत्ति) अन्न भक्षण करनेकी मनोभावनासे अन्न खाता है ॥ २ ॥ (सः दक्षिणां) वह जब दक्षिण दिशाकी ओर चलता है, तब वह (इन्द्रः भूत्वा) इन्द्र अर्थात् प्रभु होकर और (चलं अन्नादे कृत्वा) बल अन्नभक्षण बनाकर (अनुव्यचलत्) चला ॥ ३ ॥ जो यह जानता है वह (अन्नादेन वर्हणे अन्नं मत्ति) अन्नभक्षण बलसे अन्न खाता है ॥ ४ ॥

(सः प्रतीचीं दिशं) जब वह पश्चिम दिशाकी ओर चलता है तब वह (वर्हणः राजा भूत्वा) वरुण राजा बनकर और (सप्तर्षीः अन्नादे कृत्वा) बलको अन्नभक्षण बनाकर चलता है ॥ ५ ॥ जो यह जानता है वह (सप्तर्षिभिः अग्नि-मन्नं मत्ति) अन्नभक्षण बलसे सप्त अन्नभोग करता है ॥ ६ ॥ (सः उदीचीं दिशं) वह जब उत्तर दिशाकी ओर चलता है, तब वह (सोमः राजा भूत्वा) सोम राजा बनकर (सप्तर्षीः अन्नादे कृत्वा) अन्नभक्षण आहुति करके (सप्तर्षिभिः हुतः) छान अग्नि-सात इन्द्रियों द्वारा-हुत होकर [अनुव्यचलत्] चला ॥ ७ ॥ जो यह जानता है वह [आहुत्या अन्नादीं मत्ति] आहुतिसे अन्नादीका भोग करता है ॥ ८ ॥

(सः ध्रुवां) वह जब ध्रुव दिशाकी ओर चलता है, तब (विष्णुः भूत्वा) विष्णु बनकर (विराजं अन्नादी कृत्वा) विराज पृथ्वीको अन्नभोग बनाकर (अनुव्यचलत्) चला ॥ ९ ॥ जो यह जानता है वह (विराजं अन्नादी अन्नं मत्ति)

विराजान्नाद्यान्नमसि य एवं वेद • ॥ १० ॥ स यत् पशुननु व्यचलद् रुद्रो	
भुत्वानुव्यचलदोषधीरन्नादीः कृत्वा	॥ ११ ॥
ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमसि य एवं वेद	॥ १२ ॥
स यत् पितृननु व्यचलद् यमो राजा भुत्वानुव्यचलत् स्वधाकारमन्नादं कृत्वा	॥ १३ ॥
स्वघ्नकारेणान्नादेनान्नमसि य एवं वेद	॥ १४ ॥
स यन्मनुष्याङ्गननु व्यचलद्भिर्भुत्वानुव्यचलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा	॥ १५ ॥
स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमसि य एवं वेद ॥ १६ ॥ स यदूर्ध्वा दिशमनु व्यचलद्	
बृहस्पतिर्भुत्वानुव्यचलद् वषट्कारमन्नादं कृत्वा	॥ १७ ॥
वषट्कारेणान्नादेनान्नमसि य एवं वेद	॥ १८ ॥
स यद् देवाननु व्यचलदीशानो भुत्वानुव्यचलन्मन्युर्मन्नादं कृत्वा	॥ १९ ॥
मन्युर्नान्नादेनान्नमसि य एवं वेद	॥ २० ॥
स यत् प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भुत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं कृत्वा	॥ २१ ॥
प्राणेनान्नादेनान्नमसि य एवं वेद	॥ २२ ॥
स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी भुत्वानुव्यचलत् ब्रह्मान्नादं कृत्वा	॥ २३ ॥
ब्रह्मणान्नादेनान्नमसि य एवं वेद	॥ २४ ॥

विराट् रूपी अन्नवाली गौ से अन्न मक्षण करता है ॥ १० ॥ (सः यत् पशुन् अनुव्यचलत्) वह जब पशुओंके अनुकूल होकर चलता है, तब वह (रुद्रः भूत्वा) रुद्र बनकर और (अन्नादीः ओषधीः कृत्वा) अन्न मक्षण करने योग्य ओषधियों बनाकर (अनुव्यचलत्) चलता है ॥ ११ ॥ जो यह जानता है वह (आन्नादीभिः ओषधीभिः अन्नं मसि) अन्न मक्षण करने योग्य ओषधियोंके साथ अन्न खाता है ॥ १२ ॥ (सः यत् पितृन् अनु०) वह जब पितरोंके साथ चलता है तब वह (यमः राजा भूत्वा) यम राजा बनकर (स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा) स्वधाकारको अन्नमसक बनाकर चलता है ॥ १३ ॥

जो यह जानता है वह (अन्नादेन स्वघ्नकारेण अन्नं मसि) अन्नमक्षण स्वघ्नकारके साथ करता है ॥ १४ ॥ (सः यत् मनुष्यान् अनुव्यचलत्) वह जब मनुष्योंके प्रति चलता है तब वह (भूमिः भूत्वा) भूमि होकर, स्वाहाकारं अन्नादं कृत्वा) स्वाहाकारको अन्नमसक करके चलता है ॥ १५ ॥ यह जो जानता है वह (स्वाहाकारेण०) स्वाहाकारके साथ अन्नभोग करता है ॥ १६ ॥ (सः यत् ऊर्ध्वा दिशं०) वह जब ऊर्ध्व दिशाकी ओर चलता है, तब वह (बृहस्पतिः भूत्वा) बृहस्पति होकर (वषट्कारं अन्नादं कृत्वा) वषट्कारको अन्नमसक बनाकर चलता है ॥ १७ ॥ जो यह जानता है वह (वषट्कारेण अन्नादेन०) वषट्कारसे अन्नका भोग करता है ॥ १८ ॥ (सः यत् देवान् अनुव्यचलत्) जब वह देवोंके पास जाता है तब वह (ईशानः भूत्वा) ईशान बनकर (मन्युं अन्नादं कृत्वा) मन्युं अन्नका भोग बनाकर चलता है ॥ १९ ॥ जो यह जानता है वह (मन्युना०) उन्नाहके साथ अन्न भोग करता है ॥ २० ॥

(सः यत् प्रजाः अनु०) वह जब प्रजाओंके प्रति जाता है, तब वह (प्रजापतिः भूत्वा) प्रजापालक बनकर (प्राणं अन्नादं कृत्वा) प्राणको अन्नका बनाकर चलता है ॥ २१ ॥ जो यह जानता है वह (प्राणेन अन्नादेन०) प्राणकी वाफिसे अन्न भोग करता है ॥ २२ ॥ (सः यत् सर्वान् अन्तर्देशान् अनु०) जब वह सब अन्तर्देशोंके प्रति जाता है, तब वह [परमेष्ठी भूत्वा] परमेष्ठी होकर [ब्रह्म अन्नादं कृत्वा] ब्रह्मज्ञानको अन्नका बनाकर चलता है ॥ २३ ॥ जो यह जानता है वह [ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नं मसि] वह ब्रह्मज्ञानके साथ अन्नभोग करता है ॥ २४ ॥

(१५)

तस्य व्रात्यस्य	॥ १ ॥
सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः	॥ २ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः	॥ ३ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः	॥ ४ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयः प्राणो ऋन्पृढो नामासौ स चन्द्रमाः	॥ ५ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पर्वमानः	॥ ६ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आर्षः	॥ ७ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठः प्राणः प्रियो नाम त इमे पशवः	॥ ८ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम ता इमाः प्रजाः	॥ ९ ॥

(१६)

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी	॥ १ ॥
तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका ॥ २ ॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयोऽपानः सामावास्या ॥ ३ ॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थोऽपानः सा अद्वा ॥ ४ ॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमोऽपानः सा व्रीक्षा ॥ ५ ॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठोऽपानः स यद्वा ॥ ६ ॥ तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमोऽपानस्ता इमा दक्षिणाः	॥ ७ ॥

[१५] [तस्य व्रात्यस्य] उच्यते व्रात्यके [सप्त प्राणाः सप्त अपानाः सप्त व्यानाः] सात प्राण, सात अपान और सात व्यान हैं ॥ १-२ ॥

[तस्य प्राथमस्य] उच्यते व्रात्यके [यः प्रथमः प्राणः] जो इसका पहिला प्राण है वह [अयं ऊर्ध्वः नाम अग्निः] यह ऊर्ध्व नामक अग्नि है ॥ ३ ॥ उच्यते व्रात्यके जो द्वितीय प्राण है [प्रौढः नाम असौ स आदित्यः] वह प्रौढ नामक यह आदित्य है ॥ ४ ॥ उच्यते व्रात्यके जो तृतीय प्राण है, वह [अम्युढः नाम असौ स चन्द्रमाः] अम्युढ नामक यह चन्द्र है ॥ ५ ॥ उच्यते व्रात्यके जो चतुर्थ प्राण है वह [विभूः नाम अयं स पर्वमानः] विभू नामक यह पर्वमान दायु है ॥ ६ ॥ उच्यते व्रात्यके जो पञ्चम प्राण है वह [योनिः नाम ताः इमाः आर्षः] योनि नामक आर्ष है ॥ ७ ॥ उच्यते व्रात्यके जो षष्ठः प्राण है वे [प्रियोः नाम ते इमे पशवः] प्रिय नामक पशु हैं ॥ ८ ॥ उच्यते व्रात्यके जो सात प्राण हैं वे [अपरिमिताः नाम ताः इमाः प्रजाः] अपरिमितनामक प्रजा हैं ॥ ९ ॥

[१६] [तस्य व्रात्यस्य] उच्यते व्रात्यके [यः प्रथमः अपानः] जो पहिला अपान है [सा पौर्णमासी] वह पौर्णमासी ॥ १ ॥ उच्यते व्रात्यके जो द्वितीय अपान है वह साष्टका है ॥ २ ॥ उच्यते व्रात्यके जो तृतीय अपान है वह सामावास्या है ॥ ३ ॥ उच्यते व्रात्यके जो चतुर्थ अपान है वह अद्वा है ॥ ४ ॥ उच्यते व्रात्यके जो पञ्चम अपान है वह व्रीक्षा है ॥ ५ ॥ उच्यते व्रात्यके जो छठा अपान है वह यद्वा है ॥ ६ ॥ उच्यते व्रात्यके जो सातवा अपान है वह दक्षिणा है ॥ ७ ॥

(१७)

तस्य ब्राह्म्यस्य । योऽस्य प्रथमो व्यानः सेयं भूमिः ॥ १ ॥
 तस्य ब्राह्म्यस्य । योऽस्य द्वितीयो व्यानस्तदुन्तारिक्षम् ॥ २ ॥ तस्य ब्राह्म्यस्य । योऽस्य तृतीयो
 व्यानः सा द्यौः ॥ ३ ॥ तस्य ब्राह्म्यस्य । योऽस्य चतुर्थो व्यानस्तानि नक्षत्राणि ॥ ४ ॥ तस्य
 ब्राह्म्यस्य । योऽस्य पञ्चमो व्यानस्त क्रतवः ॥ ५ ॥ तस्य ब्राह्म्यस्य । योऽस्य षष्ठो व्यानस्त
 आर्तिवाः ॥ ६ ॥ तस्य ब्राह्म्यस्य । योऽस्य सप्तमो व्यानः स संवत्सरः ॥ ७ ॥ तस्य ब्राह्म्यस्य ।
 समानमर्थं परिं यन्ति देवाः संवत्सरं वा एतद्वृत्तवोऽनुपरियन्ति ब्राह्म्यं च ॥ ८ ॥ तस्य ब्राह्म्यस्य ।
 यदादित्यमभिषंविशन्त्यमात्रास्पर्षा चैव तत्पौर्णमासीं च ॥ ९ ॥ तस्य ब्राह्म्यस्य । एकं
 तदेषाममृतत्वमित्याहुर्विरेव ॥ १० ॥

(१८)

तस्य ब्राह्म्यस्य ॥ १ ॥ यदस्य दक्षिणमक्षयसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्षयसौ स चन्द्रमाः ॥ २ ॥
 योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पवमानः ॥ ३ ॥ अहोरात्रे नासिके
 दिविश्वादिदिश्व शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः ॥ ४ ॥ अह्ना प्रत्यह् ब्राह्म्यो रात्र्या प्राह् नमो
 ब्राह्म्याय ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः । इति पंचदशं काण्डं समाप्तम्

[१७] [तस्य ब्राह्म्यस्य] उस ब्राह्म्यका [यः अस्य] जो इसका [प्रथमः व्यानः] पहिला व्यान है वह [सा
 इयं भूमिः] यह पृथ्वी है ॥ १ ॥ उस ब्राह्म्यका जो द्वितीय व्यान है वह अन्तरिक्ष है ॥ २ ॥ उस ब्राह्म्यका जो तृतीय व्यान
 है वह द्यौः है ॥ ३ ॥ उस ब्राह्म्यका जो चतुर्थ व्यान है [तानि नक्षत्राणि] वह नक्षत्र हैं ॥ ४ ॥ उस ब्राह्म्यका जो पांचवां
 व्यान है [ये क्रतवः] वे ऋतुएं हैं ॥ ५ ॥ उस ब्राह्म्यका जो षष्ठ व्यान है वे [ते आर्तिवाः] ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले
 पदार्थ हैं ॥ ६ ॥ उस ब्राह्म्यका जो सप्तमो व्यान है वह संवत्सर है ॥ ७ ॥ उस ब्राह्म्यके [समानं अर्थं], समान अर्थको
 [देवाः परियन्ति] सब देव घेरते हैं, अनुकूल होते हैं, [संवत्सरं वै एते ऋतवः अनुपरियन्ति] संवत्सरको निश्चयसे वे
 ऋतु अनुकूलतासे घ्यारते हैं [ब्राह्म्यं च] ब्राह्म्यको भी घेरते हैं ॥ ८ ॥ उस ब्राह्म्यके जो भाव [एत् आदित्यं अग्निर्विवान्ति
 मविष्ट होते हैं [अमावास्यां च एव एत् पौर्णमासीं च] अमावास्या और पौर्णमासीमें भी वे होते हैं ॥ ९ ॥
 [तस्य ब्राह्म्यस्य] उस ब्राह्म्यका [तत् एषां एकं अमृतत्वं] वह इन सबका एक अमरपन है [इति एव आहुः]
 ऐसा कहते हैं ॥ १० ॥

[१८] [तस्य ब्राह्म्यस्य] उस ब्राह्म्यका [यन् अस्य दक्षिणं अक्षि असी सः आदित्यः] जो दक्षिण नेत्र है वह सूर्य है
 [यन् अस्य सव्यं अक्षि असी सः चन्द्रमाः] जो इसका सव्य नेत्र है वह चन्द्र है ॥ १—२ ॥ जो इसका [दक्षिणः कर्णः]
 दक्षिण कान है [सः अयं अग्निः] वह अग्नि है [यः अस्य सव्यः कर्णः] जो इसका बायां कान है [सः अयं पवमानः]
 वह यह पवमान है ॥ ३ ॥ [अहोरात्रे नासिके] इसके अहोरात्र ये नाक है, (दिग्निः अदितिः च) दिति और अदिति
 (शीर्षं कपाले) शिरके दोनों कपाल हैं । और (संवत्सरः शिरः) वर्ष इसका शिर है ॥ ४ ॥ [ब्राह्म्यः अह्ना] यह
 ब्राह्म्य दिनमें (प्रात्यह्) पूर्व दिशाकी ओर मुख करके, और (रात्र्या प्राह्) रात्रिके समय प्राचीदिशाके अनुकूल मुख करके
 रदा है । ऐसे [ब्राह्म्याय नमः] ब्राह्म्यके लिये मेरा नमस्कार हो ॥ ५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः । इति पंचदशं काण्डं समाप्तम्

पञ्चदश काण्डका विचार ।

ब्राह्म्यका अर्थ ।

इस पंचरहवें काण्डमें "ब्राह्म्य" का विचार किया है। अतः इस काण्डमें ब्राह्म्यका अर्थ क्या है इसका निश्चय प्रथम करना चाहिये। इस ब्राह्म्य शब्दके कई अर्थ हैं—

(१) 'ब्राह्म' का अर्थ है 'समृद्ध, समाज, संप, मनुष्य, जनता' उसके लिये जो हितकारी (तेष्यः हितः) है उसको 'ब्राह्म्य' कहते हैं;

(२) (ब्राह्मि भवः ब्राह्म्यः) समृद्ध उरग, समाजमें जिसका जन्म हुआ है, संपमें रहनेवाला;

(३) समृद्धका पालक, पति विंवा स्वामी;

(४) मर्तोंके लिये समर्पित, मत्तारणमें तत्पर, तपस्वी, नियमानुष्ठानमें तत्पर, मती ब्रह्मचर्यादि मर्तोंका पालन करनेवाला;

(५) (ब्रह्मति इति ब्राह्म्यः अत्यंतः) ब्रह्मण करनेवाला परिब्राह्मण, संन्यासी, उपदेशक, देशदेशान्तरमें जाकर धर्मोपदेश करनेवाला; ।

इस तरह इस ब्राह्म्य शब्दके अनेक अर्थ वेदमें हैं। स्मृतियोंमें इस ब्राह्म्य शब्दका अर्थ इसके विरुद्ध है। वेदमर्त्या और आश्रममर्त्यादाका उल्लेख करनेवाला ब्राह्म्य है ऐसा स्मृतिमर्त्याका कथन है। स्मृतिके अनुसार ब्राह्म्य वह होता है कि जो त्रैवर्णिकोंके कर्तव्यन करनेसे पतित हुआ है। ब्राह्म्यस्तोमसे इसकी उद्भि करनेसे फिर वह पुनीत होता है और द्विभ्रव प्राप्त करता है।

वेदका ब्राह्म्य शब्द और स्मृतिका ब्राह्म्य शब्द इनमें अर्थोंका इतना महत्व अन्तर है। वेदमें ब्राह्म्य शब्दका अर्थ उत्तम है और स्मृतिमें उर्ध्वका अर्थ अधम है। वेदका ब्राह्म्य जनताका कल्याणकर्ता है, परंतु स्मृतिका ब्राह्म्य बहिष्कार करने योग्य है। इतनी शब्दकी भिन्नता, धृति और स्मृतिमें कालका महत्व अन्तर व्यतीत हुआ है, इस बातकी धारणा देती है।

जिस तरह ब्राह्मणश्रुत, श्रुतिश्रुत वे शब्द अधम ब्राह्मण और अधम श्रुतियोंके बान्धक हैं, उर्ध्व प्रकार (अधर्म १५५ १३११ में आये। "अब्राह्म्य, ब्राह्म्यश्रुत, न्यासिभ्रती" ये तीनों शब्द हीन अर्थके हैं। ब्राह्म्य शब्द लगायेवाले, परंतु जो ब्राह्म्य नहीं है। जैसे आजकल धर्म्यासनाम धारण करनेवाले अधमाचारी होते हैं, उर्ध्व प्रकार ब्राह्म्यनाम धारण करनेवाले परंतु ब्राह्म्योके अर्थ गुणोंसे हीन मनुष्य निर्दनीय होते हैं। यह वेदका मंत्र

(अ० का० १५१३११) स्पष्ट बता रहा है कि यही ब्राह्म्यका अर्थ बहुत ही पुष्ट है।

ब्राह्म्य ईश्वर ।

ब्राह्म्य शब्दके जो उत्तम अर्थ ऊपरके स्थानमें दिये हैं, वे पूर्णतया परमेश्वरमें धार्य होते हैं। परमेश्वर मर्त्या अर्थात् समूर्त और गणोंका पति होनेसे ब्राह्म्य है, संपूर्ण नियमों और मर्तोंका यथायोग्य पालन करनेवाला होनेसे भी वह ब्राह्म्य है, सबका हितकारी होनेसे भी वह ब्राह्म्य है। इस तरह ब्राह्म्य शब्दके सब अर्थ ईश्वरमें पूर्णतया धार्य होते हैं। इसलिये इस पंद्रहवें काण्डके प्रथम पर्याय सूत्रमें इसी परमेश्वरका वर्णन ब्राह्म्यसे किया है।

ईश्वरमानः ब्राह्म्यः प्रजापतिः समैरपत् १११

"त्रैरक ब्राह्म्ये प्रजापालक देवको प्रेरित किया," अर्थात् जगत् निर्माण करनेके लिये प्रेरणा की।

सः प्रजापतिः सुवर्णं आत्मानं अपश्यत् तत् प्राब्रजयत् ११२

"इस प्रजापति देवने उत्तम चमकदार रंगवाले मूल देवी प्रकृतिक प्रकल्पारामको देखा, और उसने सब जगत् निर्माण किया।" यहाँ 'सुवर्णं आत्मा' शब्दसे उत्तम रंगरूपसे चमकनेवाली मूल प्रकृति अथवा देवी प्रकृतिका वर्णन है। इसमें तैज है। चमक है, और वह त्रिगुणमयी प्रकृति ही सब जगत्का निर्माण करनेवाली है। इस प्रजनन क्रियासे "एक, लक्ष्मण, महत् उद्देश, ब्रह्म, तप, और सत्य" ये सात पदार्थ उत्पन्न हुए। इन सात नामोंके सहस्र "भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः सत्यं" ये सात नाम भी ब्रह्मनामके दृष्टिसे देखने योग्य हैं। दोनों स्थानोंमें "महत्, तप, सत्य" ये तीनों शब्द समान हैं। संभव है कि ये दोनों सप्तक एक दूसरेके पर्याय हों, प्रकृतिसे दृष्टि की गत्यति होनेसे सात लोक, सात भुवन, सप्तधाम आदि भी उत्पन्न हुए हैं, उनके सप्तक ये शब्द हैं, ऐसा यहाँ प्रतीत होता है। पाठक इसका अधिक विचार करें। इस प्रकार सब भुवन उत्पन्न होनेके पश्चात् सप्त त्रैरक देवका महत्त्व सबको व्यक्त हुआ, और इसी कारण (सः महादेवः अभवत्) उसके महादेव कहने लगे। अर्थात् यह "महादेव" शब्द अन्य छेदोंका भी अर्थ देव है, यह बात यहाँ व्यक्त होती है। यही बात निरालिखित मंत्रमें कही है।

स देवानां ईशां पर्यत्, सः ईशानः अमवत् । (११५)

“वह छोटे अनेक देवोंका अधिपति सिद्ध हुआ अतः उसको ईशान कहते सगे ।” यहां देव—महादेव; ईश—ईशान, ईश-ईश्वर आदि शब्दोंके अर्थोंका भाव स्पष्ट हुआ । देव और ईश ये छोटे अधिपति हैं और महादेव तथा ईशान और ईश्वर ये शब्द सर्वतोपरि अधिकाार चलानेवाले सर्वोच्च परमेश्वरके वाचक हैं। इसी प्रकार ब्रह्म, आत्मा आदि शब्द एकरस परमात्माके वाचक हैं। इनमें भी ब्रह्म-परब्रह्म, आत्मा-परमात्मा ये शब्द भी पूर्ण रीतिसे छोटे बड़ेके वाचक निःसन्देह हैं, परंतु ब्रह्म और आत्मा ये शब्द समसममपर दोनों अर्थोंसे प्रयुक्त होते हैं।

हमारे चारीरमें वह बात देखिये, यहां कान, आंख, नाक आदि अवयवोंमेंसे प्रत्येकमें हजारों कीटाणु अपनेमें ईश हैं। अपनी प्रकृतिका स्वामी है, परंतु उन अनेक कीटाणुओंपर आंख नाक कान आदिमें रहनेवाला एक इंद्रियका अधिष्ठाता देव है, वह उन सूक्ष्म कीटाणुओंकी अपेक्षा बड़ा ईश्वर है। इसके पश्चात् प्रत्येक इन्द्रियमें एक एक देवताका अंग है और इन अवयवोंमें रहनेवाले देवताओंपर जीवात्माका प्रभुत्व है। इसलिये यहां इंद्रियोंके अधिपति देव हैं और जीवात्मा महादेव है। इसी तरह छोटा और बड़ा होनेके भेदसे एक देव होता है और दूसरा महादेव होता है, परंतु जो छोटीकी अपेक्षा महादेव होता है वही उसके ऊपरके देवकी अपेक्षा छोटा देव होता है। इस तरह ऊपर जाते जाते अन्तिम स्थितिमें परमात्मा सबका महादेव है। इस प्रकार देव और महादेवोंका विचार तुलनात्मक दृष्टिसे जानना योग्य है। इस बातको अधिक स्पष्ट करते हैं—

देव	महादेव
ईश	ईशान
आत्मा	परमात्मा
ब्रह्म	परब्रह्म
इन्द्र	महेंद्र
ईश	ईश्वर
कीटाणु [देव]	इंद्रियाधिपति (महादेव)
इंद्रियाधिपति ,,	जीवात्मा ,,
जीवात्मा ,,	राजा ,,
राजा ,,	सम्राट् ,,
ग्रामपति ,,	ग्रान्तपति ,,
ग्रान्तपति ,,	राष्ट्रपति ,,

४ (अ. सु. भा. कं. १५)

राष्ट्रपति ,,	जगत्पति ,,
चन्द्रादि प्रद ,,	सूर्य ,,
तारागण ,,	विराट् ,,

इस रीतिसे पूर्वापर अपेक्षाके संबंधसे एक देव और दूसरा महादेव बनता है। अन्तमें सब चराचरका परमात्मा ही महादेव निश्चयसे है और यही इस प्रथम पर्याय सूक्ष्म सबका प्रेरक करके प्रथम मंत्रमें वर्णित हुआ है। यह एक है अतः इसको “एक ब्राह्म” अर्थात् एकमात्र परमेश्वर किंवा सबका एक नियन्ता कहा है। यह सबका शासक है और इसका धनुष्य अप्रतिहत है, यही (इन्द्रधनुः=) प्रमुखा धनुष्य ऐसा है कि (द्विधन्तं विष्पति) इस धनुष्यसे विद्येयी लोगोंका पूर्ण नाश होता है। परमेश्वरका सर्वतोपरि शासन है और इस शासनसे हिंसकोंका नाश होता है और सबजनोंकी रक्षा हांभी है; इसलिये इस एक देवकी उपासना सबकी करनी चाहिये। यह उपादेश प्रथम पर्याय सूक्ष्म कहा है।

इसके आगे ब्रह्मचारीका वर्णन है, उसका विचार अब हम करते हैं

ब्राह्मणविभाग।

त्राय ब्रह्मचारी।

“ ब्रह्मचारी ” वह है कि जो “ ब्रह्मके समान आचरण करता है, अपना ब्रह्म बननेके लिये ननका आचरण करता है। ” ब्रह्मका आचरण कैसा होता है, इस विषयमें भार्गवके पर्याय सूक्ष्ममें अच्छा वर्णन आगया है। ब्रह्मचारी वैसा बनना चाहता है। और जो ब्रह्मचारी वैसा सद्गुणैर्धर्मैर्घन होता है, उसकी योग्यता विशेष ही सब होती है।

जब ऐसा सुयोग्य ब्रह्मचारी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर दिशाओंके देवदेवान्तरोंमें भ्रमण करता है, जनताके धर्म और सदाचारका सन्देश सुनाता है, लोगोंका मला करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, तब जगत्के संपूर्ण देव सूर्य, चन्द्र, विद्येदेव, वरुण, सर्षप आदि सब उसकी सहायता करते हैं, वेदके रघन्तरादि सब प्रभावशाली मंत्र उसके अन्दर उनके ज्ञानविज्ञानके साय सपरिचित होते हैं। अर्थात् उसकी धर्मपत्नी नित्य उसकी आज्ञामें सपरिचित होती है, उसके समय उस धर्मपत्नी अर्थात्के साय उपासनाके कार्य वह करता है, इस अर्थानुसार उसकी अर्थात्की अनुचारीणी होती है, जैसी बिजली मेघमें घोसा देती है, इसी प्रकार उसकी

सुसंस्कृत वाणी उपाके समय उसकी प्रकासे युक्त होकर उसकी शोभा बढाता है ।

उसका मित्र वेदमंत्ररूपी (मागध) स्तुतिपाठक है, अर्थात् यह यदि किसी की स्तुति करता है, तो केवल सबके मित्र रूप परमेश्वरकी स्तुति वेदमंत्रोंसे करता है । किसी भी लालचमें पड़कर वह किसी मर्त्यकी प्रशंसा करनेका कार्य नहीं करता । वेदमंत्रके उपदेशोंकी सत्यता देखकर ही उसके आश्चर्यदर्शक (हृद्य) हास्य आता है, उसी दिव्य हास्यमें वह मस्त रहता है और जब वह उपदेश देता है, वेदमंत्रोंकी व्याख्या करता है, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मेघगर्जना (रत्नविस्तृतः) होकर अमृता जैसी वेदोपदेशकी वर्षा ही हो रही है ।।

वज्र (वासः) शरीरकी लज्जानिवारणके लिये होता है, उसके शरीर, इंद्रियां, मन और बुद्धिकी लज्जा निवारण करनेके लिये उसका वज्र (विज्ञान) ज्ञान और विज्ञान, बोध और प्रतिबोध ही होता है । इसी विज्ञानका वज्र पहिना हुआ वह ब्रह्मचारी वज्रभूषण की अपेक्षासे अधिक ही सुशोभित होता है । क्योंकि ज्ञान विज्ञान ही मनुष्य का उपाय भूषण है ।

दिन उसका शिरोवज्र, पगड़ी अथवा छाया है, रात्रिकी चंद्रमा वगैरे उसके केश हैं, सूर्यकिरण उसके पुण्डल हैं, आकाशके तारागण उसके मणि हैं । अर्थात् ये ही उसकी शोभा बढानेवाले उसके जेवर हैं । हृद्य तरह यह ब्रह्मचारी निसर्गकी ही भावना भूषण बनाता है, घने चांदीके जेवर मनुष्यका भूषण नहीं बन सकते, जो विज्ञानात्मा प्रथम है उसके ये ही भूषण हैं । निसर्गनिर्मितोक्त युक्त जीवन व्यतीत करनेवाला ब्रह्मचारी होता है, अतः निसर्गके पदार्थ ही उसका भूषण बढाते हैं ।

भूतकालका इतिहास और भविष्यकालकी उन्नतिकी योजना (भूतं भविष्यत् च) ये दो उसके रक्षक हैं । इनके द्वारा यह सुरक्षित होता हुआ अपना प्रचारका कार्य करता है । इसी तरह अमावास्या और पूर्णिमासी अर्थात् महिनेके शुक्ल और कृष्ण पक्ष, दिन और रात्रि ये अहोरात्रके दो विभाग, तथा [भ्रुतं विभ्रुतं] ज्ञान और विज्ञान, सुना हुआ उपदेश और उसके मनसे प्राप्त हुआ विज्ञान ये भी उसके रक्षक अर्थात् उसकी रक्षा करनेवाले हैं । यह ब्रह्मचारी जो उपदेश करता है उसका आचार ' भूत ' कालके इतिहासमें होता है और

इसका यह उपदेश श्रवण करनेसे श्रोताओंके मनमें भविष्यकालकी बड़ी भारी आशाएं, अपनी उन्नतिकी आकांक्षाएं, उत्पन्न होती हैं, और इनसे श्रोताओंकी जमके उन्नति होती है और दिन रात्रि का कार्यक्रम, पूर्व और उत्तर पक्षके कार्यक्रम उसके उपदेशसे निश्चित होते हैं । इस तरह [भ्रुत] ज्ञान और [विभ्रुत] विज्ञानसे यह ब्रह्मचारी सबकी उन्नति करता है ।

मनुष्य ' मनोरथ ' करता रहता है, ये केवल उसके ' मन ' के ही " रथ " होते हैं । कई लोग हथामें किले बनते हैं । वे भी मनोरथ ही होते हैं । इसी प्रकार यह ब्रह्मचारी भी (मनः— विषयं) मनके रथ बढाता है, मनसे ही रथोंको बनाकर मनसे ही उसमें बैठता है और मनसे ही घेर करता है । इसके मनोरथके (नातरिश्वा पवमान. च) श्वाश और उच्छ्वाश ये दो घोड़े हैं । जो पाठक प्राणायाम करते हैं वे जानते हैं कि, प्राणकी स्थिरतापर मनकी स्थिरता अवलंबित है । क्योंकि मनके घोड़े प्राण हैं, अर्थात् मनोरथ के घोड़े प्राण हैं । ये घोड़े स्थिर रहे तो ही रथ स्थिर रहता है और घोड़े चलने लगे तो रथ चलता है । प्राण और मनका संबंध मिल है यह गुप्त बात यहाँ इस अलंकारसे बतायी है । प्राणको चंचल रखते हुए कोई भी मनुष्य अपने मनको चान्त नहीं कर सकता ।

इस प्रकारके सुयोग्य ब्रह्मचारीकी कीर्ति और यश प्राप्त होता है । कीर्ति और यश की कुंजी इस सदाचार में है, इसकी योग्यतामें हृद्य यश है । जो अपनी योग्यता इस ब्रह्मचारी जैसी बनाता है वह भी कीर्तिमान और यशस्वी हो जाता है । यह सब उपदेश-पाठक द्वितीय पर्याय सूत्रमें देख सकते हैं ।

ब्रह्मचारीका आसन ।

ब्रह्मचारी संवत्सरभर तपस्या करता है, वह खडा रहकर तपस्या करता है । उसकी यह तपस्या देखकर अन्योक्तो कष्ट होते हैं । वे उसकी बैठनेके लिये चौकी देते हैं । परंतु जिस चौकीपर यह ब्रह्मचारी बैठता है वह ज्ञानकी चौकी होती है । लकड़ीकी चौकी उसको पसंद नहीं है ।

इस ब्रह्मचारीके चौकीके पांव बसंत, प्रीति, वर्षा और शरत् ये चार ऋतु हैं; अर्थात् इन ऋतुओं पर यह रहता है । गृह्य, रथन्तर आदि छाम इस चौकीके परलक होते हैं । इस चौकीपर गद्दी बिछायी होती है, उसके कपड़ेके सेनाई चौकीके

तन्तु श्रवणेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदके मंत्र होते हैं । अर्थात् वेदके ज्ञानकी गद्दीपर यह आरूढ होता है । इस ज्ञानमय सिंहासनपर यह विराजमान होता है, इस समय सब देव इसके रक्षक बनते हैं और वे अपनी विविध शक्तियोंसे इसके चारों ओर आकर खड़े होते हैं ।

जो ज्ञानके अटल आधारपर खड़ा होता है, उसकी ऐसी ही विशेष योग्यता होती है । यह उपदेश तृतीय पर्यायसूक्तमें दिया है ।

रक्षक ऋतु और देव ।

आगे चतुर्थ पर्याय सूक्तमें कहा है कि, छहों ऋतु और उनके चारहों महिने उसके (गोसातृ) रक्षक होते हैं । अर्थात् इन सब महिनोंमें उसकी रक्षा होती है ।

इसके अनंतर पञ्चम पर्याय सूक्तमें कहा है कि सब दिशा और अन्वार्द्धशाओंमें भव, शर्व, पशुपति, उग्रदेव, रद, महादेव और ईशान ये सात देव अपने अनुचरबाण हाथमें धारण करके इसके साथी होते हैं और इसकी रक्षा करते हैं । पाठक यहाँ यह न समझें कि ये सात देव भिन्न हैं । ये 'ईशान' के ही नाम हैं । ईशान ही एक देव है जिसके गुणधर्म बोधक ये सात नाम हैं । वह एक देव सबका ईश भयना स्वामी है इसलिये उसको 'ईशान' कहते हैं; इसके आधीन अनेक देव हैं उन सब देवोंपर यह मुख्य अधिष्ठाता होनेसे इसको 'महादेव' कहते हैं । यही ईश्वर सब दुष्ट और पापकर्मियोंको योग्य दण्ड देकर रक्ता है, इसलिये इसको 'रद' कहते हैं । पापियोंको यही भयंकर 'उग्र' वीरमद प्रतीत होता है । इसके पास अतुल पाशवी शक्ति रटणी है, अथवा यह सब जीवोंका पालक है इसलिये इसको 'पशुपति' कहते हैं । यह अत्यंत गतिमान् प्रचण्ड वेगवान् होनेसे इसको " शर्व " (शर्वति गच्छति) कहते हैं और सब जगत्को भूति और ऐश्वर्य प्रदान करता है, इसलिये इसको 'भव' कहते हैं । इस तरह ये सातों शण्ड एक ही देवके वाचक हैं । यह एक देव ये सात कर्म करता है, इसलिये ये सात नाम इसके प्राप्त होते हैं । यह सबका देवाधिदेव इस ब्रह्मचारीका साथी, मित्र, रक्षक और अनुगामी होता है ।

देवोंकी सहायता ।

आगे षष्ठ पर्याय सूक्तमें इस ब्रह्मचारीको सब देवताओंकी सहायता होती है । ऐसा वर्णन है । भूमिके अन्दर उसको

भूमि, अग्नि, औषधियाँ, वनस्पतियाँ, वृक्ष आदि सहायक होते हैं । उर्ध्वभागसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, मेघादक और वायुकी सहायता होती है । उत्तम ज्ञानक्षेत्रमें ऋचा, यजु, साम और ऋषि अर्थात् अथर्ववेदके मन्त्र सहायक होते हैं । इतिहासकी बर्षा दिशामें इतिहास, पुराण, गायी, नारायंसी उसके अनुकूल होते हैं । यज्ञक्षेत्रमें आहवनीय, गार्हपत्य आदि यज्ञ उसकी सहायता करते हैं । कालक्षेत्रमें ऋतु, महिने, पक्ष, अधोरात्र ये उसके सहायक होते हैं । आध्यात्मिक क्षेत्रमें वह आगे बढ़ता है वहाँ (अदिति) मूल प्रकृति, (दिति) प्रकृतिकी विकृति, (इन्द्राणी) इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्ति (इडा) वाणी आदिकी सहायता होती है । और इस क्षेत्रमें उसको ऐसा आनन्द प्राप्त होता है कि उसमें तृप्त होता हुआ यह (न अवरस्यन् इति अभग्यत) यहाँसे वापस न होऊँगा ऐसा मानना है । इतनी तल्लीनता उसमें इसकी प्राप्त होती है । आगे इसको सभी देव सहायता करते हैं और वह उन सब का प्रिय धाम बनता है ।

सप्तम पर्याय सूक्तमें कहा है कि ऐसी पूर्ण अवस्था प्राप्त होने पर उसको उत्तम अर्थात् स्वानुभवसे प्राप्त होती है । इसके पश्चात् वह इस अनुभवको कभी भूलता नहीं । यहाँ पूर्ण ब्रह्मावस्था इसको प्राप्त हुई होती है । यहाँ सब ब्रह्मण है ।

क्षत्रियविभाग ।

वैदिक सराज्य ।

क्षत्रिय भी ब्रह्मवर्च्य पालन करता है और उत्तम क्षत्रिय-होता है । इसको 'राज्य' इसलिये कहते हैं कि (सः अरज्यत्) वह लोगोंका रंजन करता है । जनकों प्रसन्न रखता है । वह जनताको सुरक्षित रखता है । सब प्रजाजनों की रक्षा करनेसे उसको सब प्रकार स्तानपान आदि भोग प्राप्त होते हैं और सब लोग उसके अनुयायी होते हैं । इतना विषय अष्टम पर्याय सूक्तमें कहा है और नवम पर्याय सूक्तमें आगे राजप्रकरणका ही उपदेश करते हैं—

(सः विशः अनुच्यन्वत्) वह क्षत्रिय राजा ब्रह्मवर्च्य पालन के पश्चात् राजघड़ीपर आरूढ होकर प्रजाके मतानुसार राज्यशासन चलावे लगा । राजा प्रजामतानुसार होनेसे उस राजाको (सभा) प्रामथमा, (समिति) राष्ट्रीय महापरिषद्, (सेना) चतुरंग सैन्य और (सुरा) ऐश्वर्य, धनकोश उद्दके अनुकूल होते हैं । अर्थात् जो राजा प्रजामतानुसारी नहीं होना उसको इनकी अनुकूलता नहीं होती । इसका सीधा भाव यह

है कि प्रजाकी सभा, सेना और धनक्षेत्र इनपर राजाका अधि-
कार नहीं है । इसलिये प्रजाकी प्रसन्नतासे ही उनकी अनुकू-
लता राजाको होती है, अन्यथा नहीं ।

वैदिक स्वराज्यका यह आदर्श है । पूर्ण स्वराज्य इधीका
नाम है । जिस राज्यस्थवस्थामें प्रजाका रंजन करनेवाला राजा
ही राजगर्हीय रह सकता है और प्रजाका भजन करनेवाला
राज्यसे उतारा जाता है और जिस शासनसंस्थामें धनकोच,
सेना और राष्ट्रसभा प्रजामतके अधीन होती हैं, उसकी "वैदिक
स्वराज्यशासन" कह सकते हैं । इससे भिन्न अन्य शासन आसुरी
शासन समझना उचित है ।

इस स्थानपर 'सुरा' शब्द धनक्षेत्र वाचक है । 'सुर ऐश्वर्य'
धातुसे यह शब्द ऐश्वर्य और धन आदि का वाचक बनता है । 'सुरा'
शब्दका भाजकल प्रसिद्ध अर्थ 'मय' है, यह अर्थ यहाँ नहीं है ।

इस तरह छात्रनीतिका वर्णन इस सूक्तमें है और यह आज-
कलके स्वराज्यवादियों के लिये भी एक उत्साहजनक वैदिक
संदेश है ।

अतिथिमत्कार ।

आगे देखें, ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें इन चार पर्याय
सूक्तोंमें अतिथिसंकाका महात्त्वपूर्ण विषय चला है । यहां कह
है कि जिसके घर अतिथि आवे, वह गृहस्थी घमसे कि (एवं
आत्मनः श्रेयाय मानयेत्) यह अपनेसे बहुत श्रेष्ठ है और
इसका सत्कार करनेसे अपना परम कल्याण निःसन्देह होगा ;
अर्थात् इस भावनासे अतिथिका बहुत सत्कार गृहस्थी करे ।
ब्राह्मण प्रत्यक्ष गृहस्थति है और क्षत्रिय (आदिश्वः) सूर्य अथवा
इन्द्रकी मूर्ति है । यदि इनमेंसे कोई किसी गृहस्थीके घर अतिथि
रूपसे आवे, तो उस गृहस्थीका बड़ा भाग्य है ऐसा समझना
चाहिये । अतिथि घरपर आनेपर उसका आदर सत्कार इस
प्रकार किया जावे-

१ (प्राय क अशरषीः) ब्रह्मचारीजी, आप कहांके रहने-
वाले हैं ?

२ (प्राय उदकं) ब्रह्मचारीजी, आपके लिये यह जल
छाता हूँ ।

३ (तर्पयन्तु) हे अतिथिजी, मेरे लोग आपको मूत्त करें ।

४ (प्राय, यथा ते त्रिवं तथा अस्तु) हे विद्वान्, जो आपके
लिये त्रिवं हो वही बने, वही किया जायगा ।

५ (यथा ते वश तथा अस्तु) जो आपकी इच्छा हो वही
होगी ।

६ (यथा ते निकामः, तथा अस्तु) जो आपकी कामना हो
वही हो । उसीके अनुसर हम करेंगे ।

इस प्रकार प्रश्न करके और भाषण करके गृहस्थ और उसके
परके मनुष्य अतिथिसेवा करें । और उसकी सेवामें कोई न्यूनता
न रखें ।

यदि गृहस्थीके अतिथि करनेके समय अतिथि आत्राय,
अथवा अतिथि आनेपर अतिथि करनेका समय होजाये, तो
गृहस्थ अतिथिकी आज्ञासे अतिथि करे । यदि अतिथि आज्ञा
देवे तो अतिथि करे, उसकी आज्ञा न हुई तो न करे । यदि
किसी गृहस्थीमें अतिथिकी आज्ञाके विरुद्ध हवन किया तो उसका
वह हवन व्यर्थ होता है ॥ (देखो पर्याय सूक्त १२)

अतिथि अनेक दिन परमें रहा, और उसकी सेवा अच्छी
तरहसे की गयी तो बहुत पुण्यफल प्राप्त होता है ।

यदि अतिथिके रूपमें कोई अज्ञानी मनुष्य आजाये, तो भी
उसमें अपने उपास्य देवताकी कल्पना करके सब मांग उस
देवताके समर्पण करनेकी मनीषासे उस अतिथिको दिये जायें ।
इससे उपास्य देवकी पूजा होती है ।

यहां १३ वां पर्यायसूक्त समाप्त होता है ।

अतिथिका रूप ।

(धर्मः) बल स्वरूप, (इन्द्रः) धामुनिर्दलन करनेवाला
(वरुणः) वरिष्ठ देव, (घोमः) घान्त रूप, (विष्णुः)
सर्वत्र प्रपण करनेवाला, (रतः) धामुओंकी इलानेवाला,
(यमः) नियामक, प्रजाको नियममें रखनेवाला, (अग्निः)
तजस्वी, (बृहस्पतिः) ज्ञानवान्, (ईशानः) स्वामी,
(प्रजापतिः) प्रजाका पालक, (परमे-ष्ठी) परम उस
पदपर विराजमान होने योग्य अतिथि होता है । सुयोग्य
अतिथिमें ये सब गुण होनेके कारण उसी अतिथिको ये नाम
प्राप्त होते हैं ; मानो इन सब देवोंके अंश उस अतिथिमें
एकत्रित होते हैं ।

यह वर्णन चतुर्दशवें पर्यायसूक्तमें है, इसके अनंतर पंद्रहवें
पर्याय सूक्तमें उसके प्राणोंका वर्णन है । इस अतिथिमें सात
प्राण हैं, अग्नि, आदित्य, चन्द्र, वायु, जल, पद्म और प्रजा ये
सात देवता उसके सात प्राणोंमें निवास करते हैं । सात प्राण ये
सात इंद्रियों में रहनेवाली सात महाशक्तियां हैं ।

आगे सोलहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिके सात अंगोंका
वर्णन है । पीणमाषी, अष्टक, जमावास्या, अत्रा, दीया, पशु

और इक्षिणा ये सातों लक्षके अपानोंमें रहते हैं । मनुष्योंका सब दुःख दूर करनेवाली शक्तिका नाम (सर्वं दुःखं अपान-यति इति अपानः) अयान है । ये सातों श्रद्धा वीक्षा आदि मनुष्यके दुःखोंको दूर करती हैं इसलिये इनका नाम यही अपान रखा है ।

आगे सतरहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिका ब्याप, भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, ऋतु, ऋतूद्भववर्षाधि, संवत्सर रूप हैं ऐसा वर्णन है और अठारहवें पर्यायसूक्तमें अतिथिकी आँखें सूर्य और चन्द्र, कान आग्नि और वायु, नाक अहोरात्र,

शार्पकपाल दिति और अदिति, और संवत्सर लक्षका धिर है ।

इस प्रकारका पूज्य व्यास्य सबको नमस्कार करनेयोग्य है । इस प्रकारमें जो अतिथिका स्वरूप वर्णन किया है वह ठीक प्रकार ध्यानमें नहीं आता । तथापि इससे इतना ही प्रतीत होता है कि अतिथि सर्व देवतारूप होनेके समान परम पूज्य है ।

इस पंद्रहवें काण्डमें अतिथि सत्कारका विषय है । और प्रत्येक गृहस्थीका यह धर्म होनेसे इस काण्डका विचार प्रत्येक गृहस्थीको करना अत्यंत आवश्यक है ।

पंद्रहवें काण्ड समाप्त

ॐ

अथर्ववेद

का

सुकोष भाष्य ।

षोडशं काण्डम् ।



हमारा विजय !

जितम्स्माकृष्टुङ्गि नमस्माकमुत्तमस्माकं तेजोऽस्माकं
ब्रह्मास्माकं स्वर्गिस्माकं
यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥
(अथर्ववेद ११।८।१)

“हमारे लिये विजय, उदय, सत्य, तेज, ज्ञान, प्रकाश, यज्ञ, पशु, प्रजाजन और वीर प्राप्त हों।” हमारा सर्वत्र दिग्विजय होवे।”

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

षोडश काण्ड ।

इस सोलहवें काण्डमें भी विभिन्न विषयोंके मंत्र नहीं हैं, प्रायः सब काण्डका मुख्य विषय "वा १मो वनपूर्वक विजयप्राप्ति" है । सब मंत्रोंका साध्य यही एक है और इसलिये अथर्ववेदके तृतीय महाविभागमें इन मंत्रोंका परिगणन किया है ।

इस काण्डके प्रारंभमें 'अतिशुः शब्द है । इसका भाव है "सुख हुआ" । काण्डके प्रारंभमें सुक्त शीतेका दक्षेत् संगलवाचक है अर्थात् इस शब्दसे इस काण्डका संगलचरण हुआ है ।

इस काण्डमें ९ पर्वायसूक्त हैं, पहिले चार पर्वायसूक्तोंका एक अनुवाक है और शेष पांच सूक्तोंका दूसरा अनुवाक है । इस काण्डमें कुल मंत्र १०३ हैं परंतु दूसरी प्रकारकी गिनतीसे २७ हैं । अब इसके ऋषि देवता छंद देखिये-

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छंद
प्रथमोऽनुवाकः ।				
१	१३	अथर्व	प्रजापतिः	१, ३ द्विप. साम्नी वृहत्; २, १० याजुषी त्रिष्टुप् ४ आसुरी गायत्री; ५, ८ साम्नी पंक्तिः (५ द्विप.); ६ साम्नी अनुष्टुप्; ७ त्रिचूत् विराट् गायत्री; ९ आसुरी पंक्ति; ११ साम्नी उष्णिक्; १२, १३ आर्चो अनुष्टुप् ।
२	१	"	वाक्	१ आसुरी अनुष्टुप्; २ आसुरी उष्णिक्; ३ साम्नी उष्णिक् ४ त्रिप. साम्नी वृहती; ५ आर्चो अनुष्टुप्; ६ त्रिचूत् विराट् गायत्री ।
३	६	प्रजा.	आदित्य	१ आसुरी गायत्री; २, ३ आर्चो अनुष्टुप्; ४ प्रजा. त्रिष्टुप् ५ साम्नी उष्णिक्; ६ द्विप. साम्नी त्रिष्टुप् । १, ३ साम्नी अनुष्टुप्; २ साम्नी उष्णिक्; ४ त्रिप० अनुष्टुप्; ५ आसुरी गायत्री; ६ आर्चो उष्णिक्; ७ त्रिप. विराट् गमानुष्टुप्
	७	"	"	
द्वितीयोऽनुवाकः				
५	१०	यम.	दुष्यन्नाशानं	५. १-६ विराट् गायत्री (५ प्र. भुरिक्; ६ प्र. स्वराज्), १ द्वि, ६ द्वि. प्राजा० गायत्री; १ त्रि; ६ त्रि. द्विप. साम्नी वृहती ।

६	११	॥	॥ उया	१-४ प्राजा० अनुष्टुप्, ५ साम्नी पंक्तिः, ६ त्रिचतुर् आर्षी वृत्तीः, ७ द्विप. साम्नी वृत्ती. ८ आसुरी जगती; ९ आसुरी वृत्ती; १० आर्षी उभयत्, ११ द्विप. यदन० गायत्री, आर्षी अनुष्टुप्
७	१२	॥	॥	१ पंक्तिः, २ साम्नी अनुष्टुप्; ३ आसुरी उभयत्, ४ प्राजा० गायत्री; ५ आर्षी उभयत्, ६. ९, ११ साम्नी वृत्ती; ७ यालुपे गायत्री; ८ प्राजा० वृत्ती १० साम्नी गायत्री; १२ भुरिक् प्राजा० अनुष्टुप्, १३ आसुरी द्विष्टुप्।
८	२७ (३३)	॥	॥	प्र १-२७ एकप. २तुर्माद्यो अनुष्टुप्; द्वि. १-२७ त्रिप. त्रिचतुर्गायत्री; तृ १ प्राजा० गायत्री; च. १-२७ द्विप. प्राजा. त्रिष्टुप्; त्रि. २-४, ९, १७, १९, २४ आसुरी जगती; त्रि. ५, ७, ८, १०, ११, १३, १८ आसुरी द्विष्टुप्; त्रि. ६, १२, १४-१६, २०-२३, २७ आसुरी पंक्तिः; त्रि. २५, २६ आसुरी वृत्ती।
९	४ १७ (१०३)		१ प्रसावति २ मंत्रोक्त० ३ ४ पूर्वैः	१ आर्षी अनुष्टुप्; २ आर्षी उभयत्, ३ साम्नी पंक्तिः, ४ परोभिगत्।

इस व्याख्यामें एक सूक्तके ही ९ पद्यावृत्त होनेके कारण वाचकके अन्तमें ही सब मंत्रोंका इच्छा विचार करेगा।



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

षोडशं काण्डम्

दुःखमोचन और विजयप्राप्ति ।

(१)

अतिमृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अप्रयो दिव्याः	॥ १ ॥
रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन्	॥ २ ॥
श्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनुदूषिः	॥ ३ ॥
इदं तमर्ति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि	॥ ४ ॥
तेन तमभ्यर्तिसृजामो योऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं ग्मिद्वः	॥ ५ ॥

१ [१] [अपां वृषभः अतिसृष्टः] जलोत्थी वर्षा करनेवाला सुफन हुआ, [दिव्याः अन्नयः अतिसृष्टाः] दिव्य अग्नि मुक्त किये गये ॥ १ ॥ [रुजन् परिरुजन्] तीव्रता हुआ, सब रीतिये फोड़ता हुआ, [मृणन् प्रमृणन्] मासता हुआ और नाश करता हुआ ॥ २ ॥ [श्रोकोः खनः] घातक और खोदनेवाले [निर्दाहः] दाह करनेवाले [मनो-हा] मनका नाश करनेवाले [आत्मदूषिः] आत्माको दूषण देनेवाले और [तनु-दूषिः] शरीरको दूषित करनेवाले ॥ ३ ॥ [इदं तं अतिसृजामि] इस और उस शत्रुको मेरे दूर करता हूँ [तं मा अभ्यवनिक्षि] उन्मत्तों में कदापि पुनः प्रलय न होऊँ ॥ ४ ॥ [वः अस्मान् द्वेष्टि] जो हमारा द्वेष करना है और [यं वयं ग्मिद्वः] जिसका हम द्वेष करते हैं, [तं तेन अग्नि सृजामः] उसको उसके द्वारा हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥ [अपां अन्नं अग्नि] तृजलोका अन्नभाग दों [वः सद्युदं अभिजयसृजामि]

अपामग्रमसि समुद्रं त्रोऽभ्यवमृजामि	॥ ६ ॥
योऽपुप्स्वश्रुतिरिति तं सृजामि श्लोकं खनिं तनूदुषिम्	॥ ७ ॥
यो वे आपोऽपिरांविवेश स एष यद् वो घोरं तद्वेतत्	॥ ८ ॥
इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि पिञ्चेत् ॥ ९ ॥ अरिप्रा आपो अपं रिग्रमस्मत्	॥ १० ॥
प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुप्स्वर्ण्यं वहन्तु	॥ ११ ॥
शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवयां तन्वोप स्पृशतु त्वर्चं मे	॥ १२ ॥
शिवानुग्रानंस्सुपदो हवामहे मायिं क्षत्रं वर्च आ घंच देवोः	॥ १३ ॥

(२)

निर्दुरर्मण्युः ऊर्जा मधुमती वाक् ॥ १ ॥ मधुमती स्य मधुमती वाचमुदेयम्	॥ २ ॥
उपहृतो मे गोपा उपहृतो गोपीयः	॥ ३ ॥
सुश्रुतो कर्णो भद्रश्रुतो कर्णो भद्रं श्लोकं श्रूयात्	॥ ४ ॥
सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हांसिष्टां सौपर्णं चक्षुरजंघं उपोतिः	॥ ५ ॥
ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु देवाय प्रस्तराय	॥ ६ ॥

मुद्दे मधुके प्रति में छोट देता हूँ ॥ ६ ॥ [यः अस्तु अग्निः] जो जलमें अग्नि है [तं अति सृजामि] उसको म सुप्त करता हूँ । [श्लोकं खनिं तनूदुषिम्] घातक खादक और शरीरको दूषित करनेवालेको दूर करता हूँ ॥ ७ ॥ [यः अग्निः आरग्य वापिवेश] जो आग्नि आप जलके प्रति प्रविष्ट हुआ है [सः एषः] वह यह है, [यद् वः घोरं तद् एतद्] जो आग्निने लिये भयंकर है वह यह है ॥ ८ ॥ [इन्द्रस्य इन्द्रियेण वः अभिपिञ्चेत्] इन्द्रके इन्द्रियसे आपका अभिपेक किया जलने ॥ ९ ॥ [अरिप्राः आपः] निर्दोष जल है वह [अरमत् रिग्रं अप] हमसे मल दूर करे ॥ १० ॥ [अरमत् पुनः प्रवहन्तु] हमसे पाप दूर करे तथा [दुप्स्वर्ण्यं प्र वहन्तु] दुष्ट स्वप्नके हेतुको भी दूर करे ॥ ११ ॥ हे [आरः] जलो! [मा शिवेन चक्षुषा पश्यत] मुझे कल्याणकारी दृष्टिसे देखो, [मे त्वर्चं शिवया तन्वा उपस्पृशत] मेरी त्वर्चाको अपनीः दृष्टि तन्वसे स्पर्श करो ॥ १२ ॥ [अस्तुपदः शिवानु अमोन् हवामहे] जलमें रहनेवाले तुमकारी अभिदोको हम मुझाते हैं, [देवोः] हे दिव्य जत्ने [मायिं क्षत्रं वर्चः आघत] मुझमें क्षात्र बल और तेज धारण करो ॥ १३ ॥

[२] [दुः अर्मण्यः निः] दुर्गति दूर हो, [ऊर्जा मधुमती वाक्] बलवाली माँडी वाणी हो ॥ १ ॥ वाक् । [मधुमती स्य] माँडी हो, [मधुमती वाचं उदेयं] माँडा भाषण बोलें ॥ २ ॥ [मे गोपा उपहृतः] मेरा गोपालक—इन्द्रियपालक—मुझका यदा, [गोपीयः उपहृतः] बाणीका रक्षक, गोरक्षक अथवा इन्द्रियरक्षक प्रलाया है ॥ ३ ॥ [सु-श्रुतो कर्णो] मेरे दोनों कान उत्तम ज्ञान सुननेवाले हों, [भद्रश्रुतो कर्णो] कल्याण वचन सुननेवाले मेरे कान हों, [भद्रं श्लोकं श्रूयात्] कल्याणमयी प्रशंसा में सुना चर्कया ॥ ४ ॥ [सुश्रुतिः च उपस्पृशतिः च] उत्तम श्रवणशक्ति और दूरसे सुननेकी शक्ति [मा मा हांसिष्टां] मुझे वधापि न छोड़ । [सौपर्णं उपोतिः चक्षुः] गरुडके समान तेजस्वी दृष्टि मेरे पास [अजंघं] धरा रहे ॥ ५ ॥ [ऋषीणां प्रस्तारः अग्नि] तू ऋषिदोका प्रस्तर है, [देवाय प्रस्तराय नमः अस्तु] देव रूप प्रस्तरको नमस्कार हो ॥ ६ ॥

(३)

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम्	॥ १ ॥
रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम्	॥ २ ॥
उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां घर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम्	॥ ३ ॥
विमोकथं मारुद्रैविश्च मा हासिष्टामारुद्रैदातुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम्	॥ ४ ॥
बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः	॥ ५ ॥
असंतापं मे हृदयमूर्ध्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा	॥ ६ ॥

(४)

नाभिरुहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम्	॥ १ ॥
स्वासदसि सुषा अमृतो मर्त्येष्व	॥ २ ॥
मा मां प्राणो हासीन्धो अपानोऽब्रह्माय परां गात्	॥ ३ ॥
सूर्यो माहः पात्वभिः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः॥	४ ॥
प्राणापानौ मा मां हासिष्टं मा जने प्र मेपि	॥ ५ ॥

[३] [रयीणां अहं मूर्धा भूयासं] घनोका में मस्तकके समान ऊंचा स्वामी बनूं। तथा [समानानां मूर्धा भूयासं] समानों में मैं मुखिया बनूं ॥ १ ॥ [रुजः च वेनः च मा मा हासिष्टां] तेज और कान्ति मुझे न छोड़ें, [मूर्धा च विधर्मा च मा मा हासिष्टां] शिर और विशेष चर्म मुझे न छोड़ें ॥ २ ॥ [उर्वश्च मा चमसः च मा मा हासिष्टां] पकानेके पात्र और चमस मुझे न छोड़ें। [घर्ता च धरुणः च मा मा हासिष्टां] धारक और आधार देनेवाला मुझे न छोड़े ॥ ३ ॥ [विमोकः च मारुद्रैविः च मा मा हासिष्टां] मुक्त करनेवाला और गाँवा शत्रु मुझे न छोड़े। [मारुद्रैदातुः च मातरिश्वा च मा मा हासिष्टां] जल देनेवाला और वायु मुझे न छोड़े ॥ ४ ॥ [बृहस्पतिः मे आत्मा] मेरा आत्मा ज्ञानवाला और [नृमणाः नाम हृद्यः] मनुष्योंमें मनन करनेवाला हृदयमें रहनेवाला है ॥ ५ ॥ [मे हृदये अ संतापं] मेरा हृदय संतापरहित हो। [गव्यूतिः त्रयो] मेरे गौबोकी दुती बर्षः हो। [विधर्मणाः समुद्रः अस्मि] विशेष चर्मोंके मैं समुद्रके समान हूं ॥ ६ ॥

[४] [अहं रयीणां नाभिः] मैं घनोका केन्द्र और [समानानां नाभिः भूयासं] समानोका भी केन्द्र बनूं ॥ १ ॥ [मर्त्येषु अमृतः] मर्त्योंमें अमर [सु-आसदः] उत्तम रीतिसे बैठनेवाला और [सु-ब्रह्मा] उत्तम तेजवाला तू आत्मा [अस्मि] हो ॥ २ ॥ [प्राणः मां मा हासीत्] मुझे न छोड़े। [अपानः अब्रह्माय मा परां गात्] अपान मां छोड़कर नृर न चला जावे ॥ ३ ॥ [सूर्यः अहः मा पात्] सूर्य दिनमें मेरी रक्षा करे, [अभिः पृथिव्याः] अग्नि पृथ्वीके [वायुः अन्तरिक्षात्] वायु अन्तरिक्षके [यमः मनुष्येभ्यः] यम मनुष्योंके और [सरस्वती पार्थिवेभ्यः] सरस्वती पृथ्वीके उत्पन्न पदार्थोंके मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥ [प्राणापानौ मा मा हासिष्टां] प्राण और अपान मुझे छोड़ें, [जने मा प्रमेपि] मनुष्योंमें घातक न हो ॥ ५ ॥ [अरः] जलो। [अय स्वसिठ] आज कल्याण हो, [त्रयसः दोपसः च] दिनों और

स्वस्त्यैश्च द्योपसां द्योपसंश्च सर्वं आपः सर्वगणो अशीय ॥ ६ ॥
शक्रवरीं स्व पशवो मोषं स्थेपुर्मित्रावरुणो मे प्राणापानानामिर्मं दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

(५)

विद्य तं स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि मि यमस्य करण ॥ १ ॥
अन्तःकोऽसि मृत्युरसि ॥ २ ॥
तं त्वां स्वप्न तथा सं विद्य स नः स्वप्न दुष्वप्यात् पाहि ॥ ३ ॥
विद्य तं स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । १० । ० ॥ ॥ ४ ॥
विद्य तं स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । ० । ० ॥ ॥ ५ ॥
विद्य तं स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ ६ ॥
विद्य तं स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः । ० । ० ॥ ॥ ७ ॥
विद्य तं स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ ८ ॥ अन्तःकोऽसि
मृत्युरसि ॥ ९ ॥ तं त्वां स्वप्न तथा सं विद्य स नः स्वप्न दुष्वप्यात् पाहि ॥ १० ॥

(६)

अर्जमाद्यासनामाद्याभूमानांगसो वयम् ॥ १ ॥ उपो यस्माद् दुष्वप्यादभूमाप तदुच्छतु ॥ २ ॥

रात्रियौषे [सर्वे सर्वगण] सब और सब गणोंसे युक्त होकर [अशीय] सुप्त प्राप्त कर ॥ ६ ॥ [शक्रवरीः स्व] आप कामस्वयंवा हो, [पशव मा उपस्थेपु] पशु मेरे पास रहें, (मित्रावरुणो मे प्राणापानौ) मित्र और वरुण मुझे प्राण और अपान तथा (अग्नि-मे दक्ष दधातु) अग्नि मुझे बल धारण करे ॥ ७ ॥

[५] (स्वप्न ! ते जनित्र विद्य) हे स्वप्न ! तेरे उत्पत्तिका हेतु हमें पता है । तू (ग्राह्याः पुत्र अवि) तू अग्नी-का पुत्र है और (यमस्य करण) यमका हाथन है ॥ १ ॥ तू (अन्तकः असि) अन्त करनेवाला है और तू (मृत्यु-असि) मृत्यु है ॥ २ ॥ हे स्वप्न ! (त त्वा तथा सं विद्य) उस तुझको वेषा हम जानते हैं । हे स्वप्न ! (स न दुष्वप्यात् पाहि) वह तू हमें दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ ३ ॥ (स्वप्न ते जनित्र विद्य) हे स्वप्न तेरे उत्पत्तिका हेतु हमें पता है तू (निर्भूत्याः पुत्र-असि) दुर्गतिका पुत्र है और (यमस्य) यमका हाथन है ॥ ४ ॥

स्वप्नका हेतु हम जानते हैं तू (अभूत्याः पुत्र) अभूतिका पुत्र है ॥ ५ ॥ तू (निर्भूत्याः पुत्र) निर्भन ताका पुत्र है ॥ ६ ॥ तू (पराभूत्याः पुत्र) परामत्रका पुत्र है ॥ ७ ॥ तू (देवजामीनां पुत्र) इंद्रिवचिर्गतिर्गोका पुत्र है ॥ ८ ॥ (अन्तकः असि मृत्यु असि) तू अन्तक और मृत्यु है ॥ ९ ॥ (स्वप्न, तं तथा तथा सं विद्य) हे स्वप्न, उस तुप का वेष हम जानते हैं (स न दुष्वप्यात् पाहि) वह तू हमको दुष्ट स्वप्नसे बचा ॥ १० ॥

[६] (अद्य भजेष्म) आज हमने विजय प्राप्त किया है (अद्य भसनाम) हमने प्राप्त-पक्षों प्राप्त किया है (सर्व अना-गस भूम) हम निष्पाप हुए हैं ॥ १ ॥ हे (उप) उप काल ! हम (यस्माद् दुष्वप्यात् अभूमाप) जिस दुष्टस्वप्नसे हमें

द्विषते तत् परां बहु भपते तत् परां बहु	॥ ३ ॥
यं द्विष्मो यद्यं नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः	॥ ४ ॥
उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्यु १ पसां संविदाना	॥ ५ ॥
उपस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुपस्पतिना संविदानः	॥ ६ ॥
तेऽस्य मुष्मै परां वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः	॥ ७ ॥
कुम्भीकां दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥ जाग्रदुष्वप्यं स्वप्नेदुष्वप्यम्	॥ ९ ॥
अनागमिष्यतो वरानावित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान्	॥ १० ॥
तदमुष्मां अप्ते देवाः परां वहन्तु वधिर्यथासद् विधुरो न साधुः	॥ ११ ॥

(७)

तेनैनं विष्याम्यमृत्यैनं विष्यामि निर्भूत्यैनं विष्यामि पराभूत्यैनं विष्यामि ग्राह्येन विष्यामि
 तमसैनं विष्यामि ॥ १ ॥ देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैपैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥ वैश्वानरस्यैनं
 दंष्ट्रयोरपि दषामि ॥ ३ ॥ एवानेवान् सा गरत् ॥ ४ ॥ यो ङे स्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु

मय होता है, (तत् अप उच्छ्रुत्) वह हमसे दूर होवे ॥२॥ (तत् द्विषते परा बहु) वह द्वेषीके लिये दूर ले जा (तत् अपते परा बहु) बहु शप देनेवालेके लिये दूर ले जा ॥ ३ ॥ (यं द्विष्मः) जिसका हम सब द्वेष करते हैं और (यत् च नः द्वेष्टि) जो हम सबका द्वेष करता है, (तस्मै एनद् गमयामः) उसके पास हम इसको ले जाते हैं ॥ ४ ॥ (उषा देवी वाचा संविदाना) उषा देवी वागसे संमिलित हो और (वाक् देवी उषसा संविदाना) वाक् देवी उषा देवीसे संमिलित हो ॥ ५ ॥

(वाचस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः) उषाका पति वागीके पतिके साथ संमिलित हो, और (वाचस्पतिः उपस्पतिना संविदानः) वागीका पति उषाके साथ मिले ॥ ६ ॥ (ते वरान् दुराग्निः सदान्वाः) वे निर्धनता दुष्टनःमदल कष्ट और अन्य आपत्तियों (अमुष्मै परा वहन्तु) उस शत्रुके पास ले जावे ॥ ७ ॥ (कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान्) घटके समान बड़नेवाले उदररोगों, नरारिमें दोष उत्पन्न करनेवाले रोगों और प्राणघातक रोगोंको ॥ ८ ॥ तथा (जाग्रत् दुष्वप्यं) आपत्तिके समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न, और (स्वप्ने दुष्वप्यं) स्वप्न के समय आनेवाला दुष्ट स्वप्न ॥ ९ ॥

(अनागमिष्यतः वरान्) न प्राप्त होनेवाले श्रेष्ठ पदार्थ, (आवित्तेः संकल्पान्) दरिद्रताके संकल्प, (अमुष्याः द्रुहः पाशान्) न छूटनेवाले द्रुहोंके पाशोंको ॥ १० ॥ हे अग्ने ! उन सब विपत्तियोंको (तत् अमुष्मै) शत्रुके पास (देवाः परा वहन्तु) सब देव ले चले । (यथा) जिससे वह शत्रु (वधिर्यः) निर्बल, (विधुरः) ब्ययायुक्त और (साधुः न असत्) डुरा होवे ॥ ११ ॥

(७) (तेन एनं विष्यामि) उससे इसका वेध करता हूँ, (अमृत्या, निर्भूत्या, ग्राह्या, एनं विष्यामि) दुर्गति दारिद्र्य और रोगसे इसको विद कराना हूँ । (पराभूत्या०) परामर्षसे इसको पीडित करता हूँ (तमसा एनं विष्यामि) अज्ञानसे इसको विद कराना हूँ ॥ १ ॥ (देवानां घोरैः क्रूरैः प्रैपैः) देवोंके घोर क्रूर दुःखोंसे (एनं अभिप्रेष्यामि) इसको दुःखी करता हूँ ॥ २ ॥ (वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोः एनं अपि दषामि) वैश्वानरकी दाढ़ीमें इसको घर देता हूँ ॥ ३ ॥ (सा एव अनेव) वह आपत्ति इस रीतिसे वा अन्य रीतिसे इस शत्रुको (जव गारत्) निगल जाय ॥ ४ ॥ (यः अस्मान्- २ (अ. सु. भा. कां. १६)

यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेषु	॥ ५ ॥
निद्विषन्तं द्विवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥ ६ ॥ सुयामंश्चाक्षुष	॥ ७ ॥
इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्यं मूजे	॥ ८ ॥
यद्दोऽदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वा रात्रिम्	॥ ९ ॥
यज्ञाग्रद् यत् सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम्	॥ १० ॥
यदहरहरभिगच्छामि तस्मादिनमर्व दये	॥ ११ ॥
तं जहि तेन मन्दस्व तस्यं पृथीरपि शृणीहि	॥ १२ ॥
स मा जीवीत् तं प्राणो जहात्	॥ १३ ॥

(८)

जितस्माकमुद्भिन्नस्माकंमृतस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वर्गस्माकं यज्ञोऽस्माकं	॥ १ ॥
स्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्	॥ २ ॥
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः	॥ ३ ॥
स ब्राह्मणः पाशान्मा मोचि	॥ ४ ॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वैष्टयामीदमेनमघ्नराञ्चं पादयामि	॥ ५ ॥

(१) जो हमारा द्वेष करता है (तं आत्मा द्वेषु) उसका आत्मा द्वेष करे । (यं वयं द्विष्मः) जिसका हम द्वेष करते हैं (सः आत्मानं द्वेषु) वह अपने आत्माका द्वेष करे ॥ ५ ॥

(द्विषन्तं) द्वेष करनेवाला (दिवः अन्तरिक्षाद् पृथिव्याः) आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवीके ऊपरसे (निः) (निजामः) सामना करत हैं ॥ ६ ॥ हे (सुयामन् चाक्षुष) उत्तम नियामक निरीक्षक ॥ ७ ॥ (इदं महं) यह मैं अमुष्यायणे अमुष्याः पुत्रे) इस गोत्रके इसके पुत्रमें (दुष्वप्यं मूजे) दुष्ट स्वप्न भेजता हूँ ॥ ८ ॥ (यद् अदः अदः) तो यह दोष (अभ्यगच्छन्) मैं उद्यममें प्राप्त करता हूँ (यद् दोषा यत् पूर्वा रात्रि) जो रात्रीमें अथवा पूर्वा रात्री में ॥ ९ ॥ यद् जाग्रद्) जो जागते हुए, (यत् सुप्तः) जो सोये हुए (यद् दिवा यत् नक्तं) जो दिनमें और जो रात्रीमें ॥ १० ॥ यद् अहः अहं अभिगच्छामि) जो प्रतिदिन मैं देखता हूँ (तस्मात् पुनं अह दये) उस दोषके कारण मैं उद्यममें मारता हूँ ॥ ११ ॥ (तं जहि) उसको मार दे, (तेन मन्दस्व) उसके साथ चल, (तस्यं पृथीः अपि शृणीहि) उसकी पसलियाँ तोड़ दे ॥ १२ ॥ (स मा जीवीत्) वह न जीवे, (तं प्राणः अघ्नराञ्चं) उसको प्राण छोक देने ॥ १३ ॥

[८] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो, (अस्माकं ब्रह्म) हमारा उद्यय हो, (अस्माकं स्वर्ग) हमारा स्वर्ग हो, (अस्माकं तेजः) हमारा तेज बढ़े, (अस्माकं ब्रह्म) हमारा ज्ञान बढ़े, (अस्माकं दयः) हमारा आत्मप्रकाश बढ़े, (अस्माकं पुत्रः) हमारा वंश सफल हो, (अस्माकं पशवः) हमारे पास पशु हों, (अस्माकं प्रजा) हमारी प्रजा-संतान-बढ़े, (अस्माकं वीराः) हमारे अन्दर वीर हों ॥ १ ॥

(तस्मात् अमुं निर्भजामः) इस अपराधके कारण हम उस शत्रुपर हमला चढ़ाते हैं (अमुं अमुष्यायणं अमुष्याः पुत्रं तसौ यः) जो इस गोत्रका इसका पुत्र हमारा शत्रु है ॥ २ ॥ (सः ब्राह्मणः पाशान् मा मोचि) वह रोगके पाशसे न छूटे ॥ ३ ॥ तस्य इदं वर्चः तेजः प्राणं आयुः निर्बैष्टयामि) उसका यह तेज बल प्राण और आयुको मैं चरता हूँ और (इदं पुनं अह-प्यञ्चं पादयामि) यह मैं इसको नीचे गिराता हूँ ॥ ४ ॥ ॥ १ ॥ (सः निर्बैष्टयाः पाशान् मा मोचि) वह दुर्भक्तिके पाशसे न

जितम्०।०। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ५ ॥
जितम्०।०। सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ६ ॥
जितम्०।०। स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ७ ॥
जितम्०।०। स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ८ ॥
जितम्०।०। स देवजामीनां पाशान्मा मोचि ।०	॥ ९ ॥
जितम्०।०। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि ।०	॥ १० ॥
जितम्०।०। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि ।०	॥ ११ ॥
जितम्०।०। स ऋषीणां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १२ ॥
जितम्०।०। स आप्त्याणां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १३ ॥
जितम्०।०। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १४ ॥
जितम्०।०। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १५ ॥
जितम्०।०। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १६ ॥
जितम्०।०। स आपथर्वणानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १७ ॥
जितम्०।०। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १८ ॥
जितम्०।०। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ १९ ॥
जितम्०।०। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २० ॥
जितम्०।०। स अर्तिवानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २१ ॥
जितम्०।०। स मासानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २२ ॥
जितम्०।०। सोऽधिमासानां पाशान्मा मोचि ।०	॥ २३ ॥
जितम्०।०। सोऽधि होरात्रयोः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २४ ॥
जितम्०।०। सोऽहोः संयतोः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २५ ॥
जितम्०।०। स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २६ ॥
जितम्०।०। स इन्द्राग्नयोः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २७ ॥
जितम्०।०। स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि ।०	॥ २८ ॥
जितम्०।०। स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि ।०	॥ २९ ॥

छन्दे पाठे ॥ ० ॥ ५ ॥ ० ॥ ० (सः ऋत्याः पाशात् मा मोचि) वह दारिद्र्यके पाशसे न छूटे । ० ० ६ ॥ ० ॥ ०
 (सः निर्ऋत्याः पाशात् मा मोचि) वह दुःखस्पर्शके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ७ ॥ ० ॥ ० (सः पराभूत्याः पाशात्
 मा मोचि) वह परामर्शके पाशसे न छूटे ॥ ० ॥ ८ ॥ ० ॥ ० [सः देवजामीनां पाशात् मा मोचि] वह इन्द्रियदोषके
 पाशसे न छूटे ० ॥ ९ ॥ ० ॥ ० (सः बृहस्पतेः ... प्रजापतेः ... ऋषीणां ... आप्त्याणां ... अङ्गिरसां ... आङ्गिरसानां

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्वरिस्माकं यज्ञोऽस्माकं	
पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्	॥३०॥
तस्माद्दमुं निर्भजामोऽमुर्भामुप्यापणमुप्याः पुत्रमसौ यः	॥३१॥
स मृत्योः पृथ्वींशत् पाशान्मा मोचि	॥३२॥
तस्येद वचस्तेजः प्राणमायुर्नि वैष्टयामिदमेनमधराश्च पादयामि	॥३३॥

(९)

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्टिं विश्वाः पृथना अरातीः	॥ १ ॥
तदुगिराह तदु सोम आह पूया मां धात् सुकृतस्य लोके	॥ २ ॥
अगन्म स्वः स्वः स्वरिगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म	॥ ३ ॥
वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिपीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि	॥ ४ ॥
इति द्वितीयोऽनुवाकः ।	
इति षोडशं काण्डं समाप्तम् ॥	

अथर्वणं .. आयर्वणां .. वनस्पतीनां .. वानस्पत्यानां .. ऋतुनां .. जर्षवानां .. मासानां .. अर्षमासानां ...
 अटोरस्रयो. .. अह संयत .. तावरयुष्योः .. इन्द्रायोः .. मित्रावरुणयोः .. वरुणस्य राज्ञः .. सूर्यो पृथ्वीश्चात् मा
 मोचि ॥ १०—१२ ॥ वह बृहस्पती, प्रजापति, ऋषि, ऋषियोषे उत्पन्न, अंगिरस्, अंगिरसोषे उत्पन्न, अथर्व, ऋषयोषे
 उत्पन्न, वनस्पति, वनस्पतियोषे उत्पन्न, ऋतु, ऋतुयोषे उत्पन्न. महीने, अथर्वः, अटोरस्र, दिनः, पु, पृथिवी, इन्द्र, ऋषि
 गिन, वरुण, राजा वरुण और सूर्यके पाशोषे न बचे ॥ १०—१२ ॥ [तस्य इदं वचः ०] उच्यते यह तेज, कान्ति, प्राण
 आयु आदिसे मैं घेरता हूँ और उससे नीचे गिरता हूँ ॥ ३३ ॥

[९] (अस्माकं जितं) हमारा विजय हो (अस्माकं जज्ञिषं) हमारा उदय हो, (विश्वाः पृथनाः जरातीः) सब
 शत्रुयोजना निरोध किया है ॥ १ ॥ (अग्निः तत् आह) अग्निने यह कहा है, (सोमः तत् आह) सोमने यह कहा है ।
 (पूया सुकृतस्य लोके मा धात्) पूया मुझे पुण्य लोकमें धारण करे ॥ २ ॥ इम (स्वः अगन्म) आत्माकी ज्योतिष्को प्राप्त
 होते हैं, (स्वः अगन्म) हम अपने तेजको प्राप्त होते हैं । (सूर्यस्य ज्योतिषा सं जगन्म) सूर्यकी ज्योतिष्से हम संयुक्त
 होते हैं ॥ ३ ॥ (वस्यः भूयाय) ऐश्वर्यकी वृद्धिके लिये (वसुमान् भूयासं) धनयुक्त होकर (वसुमान् ब्रह्मः) ऐश्वर्य मह
 ष्ट है (वसु वंशिपीय) ऐश्वर्य प्राप्त करे । (मयि वसु धेहि) मुझमें धन भी धारणा कर ॥ ४ ॥

षोडशं काण्डं समाप्तम् ।

विजय की प्राप्ति ।

प्रत्येक मनुष्यको अपने विजयके लिये यत्न करना चाहिये। छोटेछे छोटा बालक भी अपना परामर्श सह नहीं सकता, परामर्शकी आशंका होगयी तो बालक भी रोता है, पीटता है और परामर्शके दूर भागनेको चेष्टा करता है। इन्हीं तरह मनुष्यके अन्दर भी परामर्शका स्वभाव रहने ही इच्छा नहीं होती। सदा अपना विजय हो, अपना यश बढ़े, अपनी कीर्ति दिग्गन्तमें फैले, यही इच्छा मनुष्य करता रहता है। अतः मनुष्यको यह विजय कैसे प्राप्त हो इसका विचार करना चाहिये। इस विजय सूक्तके ९ पर्यायसूक्तोंमें विजयप्राप्तिके लिये आवश्यक तत्वोंका विचार किया है। अतः अपना विजय चाहनेवाले पाठक इसका मनन करे और लाभ उठावे।

विजयके प्रकार

विजयके बहुत प्रकार हैं। एक आध्यात्मिक क्षेत्रमें विजय है, दूसरा आधिभौतिक क्षेत्रका विजय है और तीसरा आधिदैविक क्षेत्रके संबंधका विजय है। ये मुख्यतः तीन प्रकारके विजय हैं। तथापि इस प्रत्येक क्षेत्रके विजयोंके भी अनेक प्रकार हैं; उन सबका विचार यहाँ नहीं किया जासकता, तथापि सुबोधताके लिये उनका योंगला स्वरूप बताया जाता है।

आध्यात्मिक विजय ।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें शरीर इन्द्रिया, मन, प्राण, बुद्धि, अहंकार चित्त, काम, आत्मा, प्रकृति और सब प्रकारकी विभूति आदि का संबंध है। इनको निर्दोष रखना, इनको अपनी नित्र शक्तिके परिपूर्ण करना और इन सबको आत्मोन्नतिये निर्मित-या नगानेसे आध्यात्मिक क्षेत्रका विजय होता है। यहाँ प्रत्येक इन्द्रियकी प्रकृति, उसकी विभूति, उसमें होनेवाले दोष और रोग, उनके गुण आदि सबका विचार आता है। मानो सभी वैद्यराज, आरोग्यशास्त्र, मानसशास्त्र आदि शास्त्र, आध्यात्मिक विजयकी सिद्धता करनेके लिये ही मनुष्योंके पास आगये हैं। इसी सूचना देनेके लिये प्रथम पर्याय सूक्तमें कहा है कि-

निर्दाहः तनुदूषिः मना-हा आत्म-दूषिः इदं तं
आत्मसुशामि ।

“ शरीरकी जलन, शरीरके सब दोष, मनके नाशक भाव और आत्माका घात करनेवाले सब विचार, इन सबको मैं दूर करता हूँ। ” इन चारोंमें प्रायः आत्माका पराजय होनेके कारण आगये हैं; विविध रोगोंके कारण अपने शरीरमें दाह, पीडा, कष्ट अथवा दुःख होते हैं, शरीरमें जब दोषका संभव होता है तब ही कष्ट उत्पन्न होता है, तभी विविध रोग होते हैं। मनके बुरे भावोंसे मनकी निर्बलता, होनी है और इस सबसे आत्माका अपभ्रंश होना है। पाठक इन चार शब्दोंका विचार करे और जाने कि इन चारोंसे आध्यात्मिक क्षेत्र कैसे हंगते हैं; यदि ठीक प्रकार मनन किया जाय और इन चारोंके क्षेत्रोंकी व्याप्तिका विचार किया जाय, तो यह बात पठकोंके मनमें ठीक प्रकार जम जायगी, कि मनुष्यके सब वैयक्तिक क्षेत्रोंकी ये चार ही जड़ें हैं। यदि इनके विषयमें योग्य प्रतिबन्ध किया जाय, तो आध्यात्मिक क्षेत्रमें निश्चयपूर्वक विजय प्राप्त होगा। पूर्वोक्त चार शब्दोंके प्रति शब्द जाननेसे ही विजयके साधन ज्ञात हो सकते हैं-

शमः तनुदूषिः मनःशुद्धिः आत्मशुद्धिः ।

ये चार शब्द हैं जिनसे पूर्वोक्त चार दोष दूर हो सकते हैं। इन्द्रियदमन, इन्द्रियशमन आदिसे शरीरका दाह दूर होता है और शरीरमें सर्वत्र शान्ति होती है, तनुदूषिसे शरीरके सब दोष दूर होते हैं, मनकी पवित्रतासे मनका बुरा बह जाता है और आत्मशुद्धिसे आत्मोन्नति होती है। इस तरह विचार करनेपर ज्ञात होगा कि अथशुद्धिके ये चार साधन हैं और इन्हीं लिये पूर्वोक्त चार दोषोंको दूर करनेकी सूचना प्रथम पर्याय सूक्तमें की है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी उद्देश्यसे कहा है-

प्यायतो विषयानुंसः संहतस्तेषूपजायते ।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

क्रोधाद्ब्रह्मति संमोहः संमोहात्स्थितिविभ्रमः

स्थितिविभ्रंसाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

रागद्वेषवियुक्तेस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

अत्मवश्यैर्विधियामा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरश्वोपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्यागु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

“विषयोंके चिन्तनसे आसक्ति, आसक्तिसे कामना, कामनासे क्रोध, क्रोधसे मूढता, मूढतासे बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से मनुष्यका सर्वनाश होता है। परंतु जिसका मन वशमें है और जिसकी इंद्रिया रागद्वेषरहित हैं, वह इंद्रियोंके कार्य करता हुए भी प्रसन्न रहता है, चित्त प्रसन्न रहनेसे सब दुःख दूर होती है और उसकी बुद्धि भी स्थिर होती है।” इन श्लोकोंमें आध्यात्मिक दुःखोंके कारण कहे हैं और उनके दूर करनेके उपाय भी कहे हैं। अतः ये श्लोक आत्मविषयके विषयका विचार करनेके समय सबे बोधप्रद हो सकते हैं। अस्तु इस प्रकारके जो जो दोष शरीर, इंद्रियां, मन, बुद्धि और आरगांमें होते हैं वे क्या करते हैं देखिये—

रुज्ज्व, प्रमूयन्, क्रोकः, खनः । (पर्वोपमा. ११२-२ ।)

जहां दोष होते हैं वहां वे “तोड़ते हैं, मरोड़ते हैं, चुचलते हैं, फोड़ते हैं, काटते हैं, मोड़ते हैं, गड़ा करते हैं” इस तरह अनेक रीतियोंसे नाश करते हैं। पाठक राम और क्रोधके समय अपने अन्दर देखेंगे, तो उनकी स्वतन्त्रता तथा लय जायगा, कि ये काम और क्रोध मनुष्यके शरीरमें किस प्रकार तोड़ने, मरोड़ने, खेद देने और नाश करनेके कार्य करते हैं। काम तो शरीरका आधारभूत जो बीर्य वही नष्ट करता है, क्रोधसे तो मनुके जीवमूर्खु ही नष्ट होते हैं; इसी प्रकार सब विचार तोड़ने मरोड़ने और नाश करनेवाले होते हैं। इसलिये आध्यत्मिक भूमि काके इन सब शत्रुओंको दूर करना चाहिये। अतः कहा है—

यं वर्यं दिव्यः, तं ममि भतिष्ठमम । (मं ११५)

श्लोक खनिं वनूदृषि अतिष्ठजामि । (मं ११७)

“जिस रोगादिका और विविध दोषोंका हम डेप करते हैं, अर्थात् उनको अपने पास रखना नहीं चाहते, उनकी हम दूर करते हैं। पातक छोड़कर और शरीरमें दोष बढनेवाले सब सौधोंको हम दूर करते हैं।” यह दोषोंको दूर करना इसीलिये है कि अध्यात्मक्षेत्रके सब दोष दूर हों और प्रसन्नता विराजे। इसी विषयमें और देखिये—

यद्य वः घोरं तद्य (अतिष्ठजामि) । (मं ११८)

जरिमाः जायः नरमत् पनः प्रवहन्तु । (मं ११९-१०)

आयः शिवया तन्वा मा उपर्युतत । (मं ११९२)

हृन्द्रूप हृन्द्रियेण ममिपिञ्चेत् । (मं ११९)

“जो आपके अंदर मर्कट हानिकारक दोष हो उसको मैं सबसे प्रथम दूर करता हूँ। दोष दूर करनेके लिये जलसे

चिकित्सा करना योग्य है। शुद्ध जल हमारे शरीरमें सब दोष और सब पापोंको दूर करे। जल अपने शुभगुणसे मेरे शरीरको स्पर्श करे। इन्द्र अर्थात् आत्माकी शक्तिये अमिषेक क्रिया करे। वहां जलचिकित्सासे शरीरके सब दोष दूर करनेका उपदेश है; वह अत्यंत महत्वका है। शरीरमें जो कोई दोष होगा उनसे जलके विविध प्रयोगोंसे दूर करनेका नाम जलचिकित्सा है। शरीरकी शीतजलका स्पर्श मुख देनेवाला जब लगता है तब घमसना चाहिये कि शरीर स्वस्थ है। जब शुद्ध शीतजलका स्पर्श कष्ट देने लगता है, तब जानना चाहिये कि कुछ दोष शरीरमें भुषे हैं। ये सब दोष जलचिकित्सासे दूर करने चाहिये और इन्द्रकी शक्तिये जलसे स्नान करना चाहिये। जिस प्रकार जलके स्नानसे सब शरीर भीगता है, उसी प्रकार आत्माकी शक्तिये सब शरीर संचारित होना चाहिये। सब शरीरमें आत्मशक्तिका मुखसे संचार होना चाहिये। इससे—

मयि क्षत्रं वर्यः माधत । (मं ११३)

“मनुष्यमें सात्त्विक और तेजस्विता बढेगी।” जल ही यह सब कार्य करेगा। जलचिकित्सासे ही बीर्य बढेगा, दोष दूर होंगे और शरीरकी शक्ति भी बढेगी। इस प्रकार शरीर का तपन स्वास्थ्य प्राप्त होगा। यह स्वास्थ्य मनुष्योंको प्राप्त हो इधीलिये—

अपां रूपमः अतिष्ठुष्टः ।

दिव्याः नमयः अतिष्ठुष्टाः । (मं ११४)

“जलोंकी वृष्टि करनेवाला मेघ अपने स्थानसे मुक्त हुला अर्थात् उड़ते वृष्टि होगयी, दिव्य अग्नि जो विप्रक्रिया है वे भी खुली रीतियोंसे प्रकाशित हो रही है।” अर्थात् विषय वृष्टि होगयी है। परमेश्वरीय नियमसे जो वृष्टि हो रही है इसका हेतु यह है कि, मनुष्य सबसे स्वास्थ्य प्राप्त करें और अपनी आध्यात्मिक उन्नति भिन्न करें। यहां आत्मिक उन्नति का उपदेश देते हुए मेघके दृष्टान्तसे सब लोगोंको कहा है कि जैसे मेघ जगत् भी भलाईके लिये पूर्णतःसे आत्मसमर्पण करता है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यको जगत्की भलाईके लिये आत्म-यज्ञ करना चाहिये। इतने विचार इस क्षणके प्रथम पदान् सूक्तमें सुस्पष्टः कहे हैं। अपनी उन्नति चारनेवाले पाठक इसके मनमेंसे पर्याप्त बोध प्राप्त कर सकते हैं।

इंद्रियशुद्धि ।

आत्मोन्नतिके लिये इंद्रियकी पवित्रताकी अत्यंत आवश्यक

होती है । पवित्रताके बिना किशोकी उन्नति होना सर्वथा असंभव है । अतः द्वितीय पर्यायसूक्तमें अपनी पवित्रताका विषय संक्षेपसे कहा है । सबसे पहिले सब मनुष्योंको एक अत्यंत उत्तम उपदेश दिया है, वह पाठक देखें और स्मरण रखें—

दुः+भ्रमण्यः निः । (मं. २ । १)

“दुष्ट रीतिकी गति अर्थात् बुरा चालचलन, दुष्ट व्यवहार दूर हो, हमसे निःशेषतया दुष्ट व्यवहार दूर हो।” हमारे अन्दर दुष्ट गति करनेवाले भाव न रहें और हमारे समाजमें दुराचारी मनुष्य न रहें। इस प्रकार एक व्यक्तिका सुधार हो और उसी नियमसे समाजका भी सुधार हो। व्यक्ति सुधारका और समाजके सुधारका नियम एक ही है। व्यक्तिके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंको दूर करना होता है। और समाजके सुधारके लिये दुष्ट गुणोंसे युक्त मनुष्योंको दूर करना होता है। दुष्ट मनुष्योंको दूर करनेका अर्थ ही समाजसे दुष्ट गुणोंके आधरपथान दूर हो, एवं सर्वत्र उन्नतिका नियम दुष्टताको हटाना ही है। इस तरह धर्मशाधारण उन्नतिका उपदेश करके पश्चात् विशेष स्पष्टीकरण करनेके उद्देशसे कुछ इंद्रियोंका नामनिर्देश करके आरम्भसुधारका मार्ग दर्शाया है—

ऊर्जा मधुमती वाक् । मधुमतीं वाचं उदेयम् (मं २।१-१)

“वाणी मीठी हो और बलशालिनी हो, मनुष्य मीठी और बलयुक्त वाणीसे आपसमें बातचीत करें।” मनुष्योंके अन्दर जो सगठे किशोर होते हैं, उषका कारण कटु शब्दोंका प्रयोग है। मनुष्यके मनमें विष मरा रहता है, वह कटु शब्दों द्वारा बाहर आता है और सब स्थानमें विषैला वायुमंडल उत्पन्न करता है। इसलिये मनुष्य अपनी अन्तःशुद्धि करेगा, तो सबसे कष्टसे कटु शब्दोंके प्रयोग नहीं किये जायेंगे।

मनुष्य ऐसे शब्दोंका प्रयोग करे कि वे मीठे हों, शत्रुओंमें मित्रता हो और उत्पन्न हुई मित्रता सुदृढ़ हो जाय। केवल शब्दोंकी मधुरता ही पर्याप्त नहीं है, प्रत्युत शब्दोंमें (ऊर्जा :) बल चाहिये । असाहकी वृद्धि करनेवाले रुन्द उच्चारने चाहिये । नहीं तो कई मनुष्य अपने ही पुत्रको ‘गुलाम’ करके पुकारते हैं, दूसरेको ‘तू मरेगा’ करके कहते हैं, ‘तू बका इराम है’ ऐसा कहते हैं। ऐसे शब्दोंसे अपनी वाणी तो मर्दान होसी ही है, परंतु ये शब्द जो जो सुनते हैं उनके मनमें भी निर्बलता का वायुमंडल उत्पन्न होता है। इसलिये मनुष्यको उचित है कि वह असाहपूर्ण बलशाली प्रभावपूर्ण शब्दोंका प्रयोग करें। अपने पुत्रको ‘तू इन्द्र है’ ऐसा कहे, ‘तू

अमर होगा’ ऐसा बोलें, ‘तू सत्यस्वरूप है’ ‘तू स्वयं आनन्दनद्य है’ ऐसा कहे। ऐसा बोलनेसे सब सुननेवालोंके मनमें असाहका वायुमंडल उत्पन्न होता है। मनुष्योंके नाम भी ‘कूडाराम’ रखनेके स्थानमें ‘निर्मयराम’ ऐसे रखें। जिससे प्रत्येक समय वह शब्द उच्चारनेसे शुभविचार उत्पन्न हों। प्रत्येक पाठक निश्चयपूर्वक ऐसा यत्न करे कि, अपनी वाणीसे कदापि अशुभ विचार न प्रकट हों और सदा असाहमय विचार ही प्रकट हों। इसलिये मनुष्यको क्या करना चाहिये ? इस प्रश्नका उत्तर यहाँ केवल दो ही शब्दों द्वारा दिया है। ‘गो-पा, और गो-पीयः’ ये दो शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। मनुष्योंका संपूर्ण सत्वधर्म इन शब्दोंमें आनुका है। ‘गोप’ का अर्थ है, इंद्रियोंकी रक्षा और ‘गोपीय’ का अर्थ है इंद्रियोंकी पालना। एकसे शक्तिवर्धन करनेका उपदेश मिलता है और दूसरेसे इंद्रियोंके संयमका बोध मिलता है। जैसे वारक्षा करनेवाले गौको उत्तम घास आदि खानेके लिये देते हैं और पुष्ट करते हैं और उनको इतस्ततः घूमने नहीं देते हैं, दूधी तरह मनुष्य अपनी इंद्रियोंकी शक्ति बचावें और उनको वश में रखे। मनुष्यकी उन्नतिके लिये इस प्रकार इंद्रियसंयम और मनोनिग्रहकी अत्यंत आवश्यकता है। पाठक यह बोध इन दो शब्दोंसे लें। जो ऐसा संयम करनेवाले होंगे वे ही (उपर्युक्तः) पाप सुलाने योग्य हैं। और जो लोग अपने इंद्रियोंको स्वेच्छाचारी करते हैं, वे समाजमें आदरसे सुलाने योग्य नहीं हैं। पाठक इसका विचार करें और इस विशेषदेशसे अपना वैयक्तिक और सामाजिक आचरण सुधारे। आगे कानोंके विषयमें बड़ा उत्तम उपदेश दिया है—

भद्रभूतौ कर्णौ । सुध्रुतौ कर्णा । भद्रं श्लोकं भूयासम् ।
सुध्रुतिः उपध्रुतिः च मा मा हासिष्ठाम् । (मं २।१-५)

“मेरे कान अच्छे उपदेश सुनें, अच्छे उपदेशोंसे मेरे कान सुने हुए हों। कल्याण करनेवाली वाणी मैं सुना करंगा। उत्तम उपदेश सुनने और दूरसे अच्छे शब्द सुननेकी शक्ति मेरी कर्णोंकी शक्ति न हो।” यहाँ कानोंकी सार्थकता का साधन दर्शाया है। ईश्वरने मनुष्यको कान दृशीलित दिये हैं कि, उनसे मनुष्य सदा उत्तम उपदेश सुने कभी बुरे शब्द न सुने। ऋग्वेद में भी कहा है—

भद्रं कर्णेभिः श्रुणुयाम देवाः । भद्रं पश्येमाक्षिभ्यश्चेत्त्राः ।

“हम कानामे कन्वागकार उपदेश सुमे और आसौंछ कन्वागकारक धस्तु देखे ।” ये सब उपदेश इधोतये हैं कि इनमे मनुष्य का सुधार हो, मनुष्य पवित्र बने और उन्नत हो । इस प्रकार कानोंके विषयमे कहनेके पश्चात् अत्रके विषयमे भी कहा है

सौपणं चक्षुः जज्ञत्सम् (मं० २५५)

“सकृदेकं समान मेरी तीक्ष्ण दृष्टि है।” और वह उषम कन्वाण की वस्तुएं देखें । इस प्रकार उद्विग्नशुद्धिके विषयमे इस पर्वोपसृक्तमे कहा है । यही—

श्रुतीणां प्रस्तरः क्षिति । दैव्याय प्रस्तराय नमः ।

(मं० २१६)

‘श्रुतियोंका प्रस्तर है । देव दिव्य प्रस्तरके लिये नमस्कार है ।’ श्रुतियोंकी चट्टान आत्मा है । यही दिव्य चट्टान है । इसके विषयमे प्रत्येकमे अपने अन्तःकरणमे पूज्य मातृ धारण करना चाहिये । इसी आधारकी उपासनासे सब का हित होने-वाला है । यहाँ तक उपदेश इस द्वितीय पर्वोपसृक्तमे कहा है ।

अधिभौतिक विजय ।

पूर्वोक्तप्रकार मनुष्यकी आध्यात्मिक और वैयक्तिक उन्नति होनेके पश्चात् उसकी अपनी अधिभौतिक विजय संगठन कर नेता बनना करना चाहिये । इसका विचार इस १६ वें काण्डके शूर्पाय पर्वोपसृक्तमे किया है, वह बोधप्रद उपदेश पाठक सब देखें ।

अहं रथीणां शूर्पां भूयासं । समानानां शूर्पां भूयासम्
(मं० २११२)

अहं रथीणां नामिः भूयासं । समानानां नामिः भूयासम्
(मं० २११२)

“मैं धर्मोका स्वामी और केन्द्र बनूँ मैं समान दर्जेके लोगोंमें सुक्षिप्य और उनका मध्य केन्द्र बनूँ ।” अपनी योग्यता नेता बनाने योग्य होनी चाहिये । प्रत्येक मनुष्य नेता नहीं हो सकता । तथापि यदि बहुगुणसंपन्न बनेका यत्न प्रत्येक मनुष्य करेगा तो उसका अवश्य सुधार होगा । इस दृष्टिसे इसप्रकारकी इच्छा मनुष्य अपने मनमें धारण करे और धर्मावृत्त उन्नतिको यत्न करे । ऐसा नेता बननेके लिये जो गुण मनुष्यको अपने लन्दर पढाने चाहिये, उनही सूचनाइसी सूत्रमें भगवते श्रीश्रीं दी है, देखिये—

ऊन, वेनः, शूर्पा, विषर्मा, उखः, चससः, पर्वा, ष्णनः, विमोकाः, भार्दयविः, भार्ददगुः, मातरिषा च मा मा

हामिष्टाम् ॥ (मं० २१२-४)

“तेजस्विता, महत्वाकांक्षा, मरिगणक की शक्ति, विशेष गुण धर्म, यज्ञसाधन, धारकशक्ति, बन्धुशुक्ति इत्यादि; विद्वत्त्व, दान करनेकी इच्छा और प्राण ये मेरा त्याग न करे ।” ये गुण मनुष्यमें रहेंगे और बढ़ेंगे तो ही वह मनुष्योका केन्द्र और सुखेश बन सकता है । ये गुण विशेष महत्त्वके हैं; अतः इनका विचार अधिक करना चाहिये । (चक्रः) तेजस्विता, स्वयं चारों, इंद्रिया, मन, बुद्धि और आत्माकी तेजस्विताका अन्तर्भाव होता है, मनुष्य सब प्रकारसे तेजस्वी बने । (वेनः) इच्छा अर्थात् अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय महत्त्वकी इच्छा । इसी इच्छासे मनुष्य पुष्टधर्मा होता है और विशेष श्रेष्ठ कर्म करता हुआ अपना और समाजका उद्धार करता है । (शूर्पा) शिर, अर्थात् मस्तिष्क । मनुष्यकी योग्यता सब का नाब होना उसके मस्तिष्ककी शक्तिपर निर्भर है । अतः मनुष्य को उन्नित है कि वह अपनी मस्तिष्कको शक्ति बढ़ावे । (विषर्मा) विशेष धर्मोंसे युक्त बनना । साधारण गुणधर्मों और धर्मोंसे युक्त होनेसे मनुष्य साधारण ही हो सकता है, परंतु उसकी विशेष योग्यता होनी हो, यदि वह सामज्यका और राष्ट्र केन्द्र बननेका इच्छुक हो तो उसको उन्नित है कि वह अपने अन्दर विशेष धर्मोंकी श्रद्धा करे । सामान्य मनुष्यमें जो धर्म नहीं होते ऐसे नम धर्म तत्पक्षदिये अपने अन्दर बढाने चाहिये । (उखः यमसः) ये यज्ञसाधन हैं, ये यज्ञके सब साधनोंके उपसृक्त हैं । सब प्रकारके यज्ञ करनेसे और यज्ञमय यज्ञस्य जीवन होनेसे ही मनुष्यकी योग्यता बढ जाती है । मनुष्य क्रुद्ध होना चाहिये । शक्तिकु बनना मनुष्यका ध्येय है । (पर्वा) धारण करनेवाला, समाजकी धारणा, राष्ट्रकी धारणा, धर्मकी धारणा करना मनुष्यका कर्तव्य है । दुर्षं प्राणियोंकी अपनी शक्तिका आधार देना धर्ता होना है । (ष्णनः) इषका भी धारक ही अर्थ है, इसमें बल अधिक है । स्वयं शिर रररका-दुष्टोंको दुःख समुद्रसे पार करनेके लिये अपना आधार देनेका कार्य करना मनुष्यको योग्य है । मनुष्यको अपने अन्दर इतनी शक्ति प्राप्त करना चाहिये ।

(वि—मोकाः) विमोचन करनेवाला, मनुष्योंका मुक्त करने-वाला, मनुष्योंको बन्धनसे पार करनेवाला, मनुष्योंके स्वतंत्रता देनेवाला जो नेता होगा, वही सबसे श्रेष्ठ समझना योग्य है । यही लोकोका परिश्राण, सजनों की रक्षा, दुर्जनोंका निर्मूलन और धर्म की स्थापना कर्मेन्द्र्य है । (भार्द-परिः)

पवित्रा अर्प है तलवार, खड्ग किंवा शस्त्र। शत्रुके रक्तसे जिषका चाख गीला होता है अथवा शत्रुका नासकानेके लिये जिषका चाख आर्य अर्थात् गीला होनेके लिये सिद्ध है, उसका यह नाम है। धर्मयुद्ध करनेके लिये जो तैयार होता है उसका यह नाम है। (आर्य-दानुः) आर्यता, स्नेहसे आर्यभावका जो दान करता है, जिषका मन स्नेहसे सदा आर्य रहता है, जो दयार्द्र रहता है उसका यह नाम है। (मातरि—या) अपनी माताके अन्दर जिषका आश्रय होता है, जो मातृमूष है, मातृभूमिके अन्दर इसीलिये रहता है कि अपने जीवन समर्पणसे मातृभूमि की सेवा होय, इसलिये जो मातृभूमिमें संचार करता है ॥

ये शारद घान्द मनुष्यके विशेष कर्तव्य बता रहे हैं। मनुष्य ये कर्तव्य करें। ये कर्तव्य मनुष्यके कदापि दूर न हों। इन कर्तव्योंके विषयमें मनुष्य कदापि विमुख न हों। इन धर्मोंके और इनसे बोधित होनेवाले कर्तव्योंसे जो पुण्य युक्त होते हैं वेही श्रेष्ठ और उत्कृष्ट होते हैं। यहाँ कई निर्बल मनुष्य कहेंगे कि हम निर्बल हैं हम इन पुण्यधर्मोंका धारण नहीं कर सकते, इनके लिये आरमाका स्वभाव कैसा है यह बात इसी सूक्तके मंत्र स्वयं कहते हैं—

आत्मा वृहस्पतिः नृमणः ह्यः । (मं० ३१५)

विषमैणा समुद्रः अस्मि । (मं० ३१६)

मत्वेणु अमृतः सूषा । (मं० ३१२)

“आत्मा ज्ञानयुक्त है, मनुष्योंके हृदयमें निवास करता है, मनुष्योंके अन्दर मनन करनेवाला है, अपने विशेष धर्मसे वह समुद्र जैसा हुआ गंभीर है। मरण धर्मवाले शरीरमें वह अमर है और उत्तम तेजसे युक्त है।” ये अपने आत्माके गुणधर्म हैं यह जानकर, विचारसे और मननसे इन गुणोंका साक्षात्कार करे। इस ज्ञानसे मनुष्यकी निर्बलता दूर होगी और वह पूर्णतः गुणोंके अपने अंदर बढानेमें समर्थ होगा। इस तरह आरिभक्त बन्ध प्राप्त होनेसे—

असंतापं हृदयं । उर्वां गम्युतिः । (मं० ३१६)

हृदय संताप रहित अर्थात् शान्त होता है और गीतामें ईक्षिण्यो गति बभौ विरसुत होती है। “अपनी सब शक्ति खडती है। प्रभावशाली जीवन होजाता है। आत्माकी शान्ति उसके सब व्यवहारमें सीखती है और वह कैसे भी भयंकर प्रसंगमें शान्त और गंभीर हो धार्य करवा दे कभी आशान्त नहीं होता। शरीरके नाश होनेपर भी मैं अमर हूँ यह उसका विश्वास

३ (अ. सू. भा. कां १६)

संका निवृत्त करता है और महान् सत्कर्म उससे करता है। ऐसी अवस्थामें सब देव उसके रक्षक होते हैं—

सूर्यं वायुं अग्निः यमः सरस्वती पातु ।

(मं. ४४)

“सूर्य, वायु, अग्नि, यम और सरस्वती उसकी रक्षा करते हैं।” सूर्य नेत्रस्थानमें, वायु प्राणके स्थानमें, अग्नि वाणोंके स्थानमें, यम शिस्तस्थानमें, सरस्वती सुदृष्टिस्थानमें रहकर उसको दूरएक प्रकारकी सहायता देते हैं और उसको अपनी दिव्य शक्तिसे पवित्र करते हैं। आत्मशक्तिते युक्त पुरुषकी इस तरह सब देव सहायक होते हैं। यह विषय इससे पूर्व भी आनुका है और वदमें यह वारंवार कहा गया है। इसलिये जो मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त करता है और अपना जीवन यक्षरूप बनाता है उसको सब देवताओंकी सहायता होती है, वह विश्वास पाठक मनमें धारण करें। ऐसा मनुष्य निर्भय होकर व्यवहार करता है और इसीलिये वह मनुष्य सबका नेता बनने योग्य होता है। यह कहता है कि—

माणः मां मा हासीत् । अपानः अवहाय मा परागात्

(मं० ३१३)

“मेरा प्राण और अपान सुखे छोड़कर न दूर जावे।” यह ऐसा इसलिये कहता है कि उसने अपना सब जीवन ईश्वरकी भक्ति और सेवाके लिये समर्पित किया होता है, वह अपने जीवनसे अनताकी सेवा करना चाहता है। अपना प्राण वह ईश्वरके लिये ही समर्पित करना चाहता है। अन्य कार्यका स्मरण भी नहीं है। वह जानता है कि—

मित्राश्चणो मे प्रागापणौ ; दाक्षरिः क्षापः स्वस्ति ।

(मं० ३१०)

“अपने प्राण और अपान ये अब प्रलक्ष मित्र और बहन देवता हैं और उनके अन्दरका सब सामर्थ्य मेरा स्वस्थाण करता है।” इस तरह वह देखता है और अनुभव करता है कि अपना सब देह और जीवन देवतामय हुआ है। इस समय वह कुछ कल्पनासे पूर्णतया दूर होता है, सब उसका देवता रूप बनता है, वह सबजही गतिसे प्रवास्त कार्य करता है, उसको वेद, कार्य करनेके लिये कोई प्रयास नहीं होते, क्योंकि वह विषय बनना होता है। इस समय वह अनुभव करता है कि—

अग्निः मे दक्षे । (मं० ३१०)

‘ जनि अपने में बल धारण करता है ।’ अन्य देव अन्वान्य सामर्थ्य धारण करते हैं । इसका आत्मा प्रत्यक्ष ईश्वरीय गुणोंसे प्रभावशाली हुआ होता है । ऐसे महा-...की धन्य है, वही प्रभावशाली नेता होसकता है और वही लोकसंग्रह करनेमें समर्थ होता है और वही मनुष्य जगतको सच्च्यु मार्ग बतासकता है । युगयुगमें ऐसे सपुत्र्य आते हैं और जनतामें प्रत्यक्ष कार्य करते हैं और बंधनमें पड़कर सबनवालोंको बन्धननिश्रुति का मार्ग-बताते हैं ।

स्वप्न ।

आगे पंचम और षष्ठ इन दो पर्यायसूक्तोंमें स्वप्नका विषय कहा है । इस सूक्तमें दुष्ट स्वप्नके जो कारण दिये हैं वे ये हैं—
प्राद्याः ॥ निरंश्र्याः ॥ अभृत्याः ॥ निर्भृत्याः ॥ पराभृत्याः ॥
देवभ्रातृनां पुत्रः स्वप्नः । (म० ५१९ ८)

‘रोग, दुःख, दारिद्र्य, दुर्गति, पराभव और हादयदाय इनके कारण दुष्ट स्वप्न आते हैं । ये दुष्ट स्वप्न मानो मु मुग्धा संदेश होते हैं । इसलिये दुष्ट स्वप्न होते ही मनुष्यको उचित है कि अपने अन्दर जो रोगबीज धुसे हों, उनको दूर करनेका यत्न करे । दुष्ट स्वप्नके जो कारण यहां दिये हैं उनका मा थोडासा अधिक विचार यहां करना चाहिये । (प्राद्य) मत्तानक रोग जो शरीरमें आनेपर सडकाशरीरको छोड़ते नहीं और दुःख देते देते अन्तमें प्राण हरण कर लेते हैं । ऐसे रोग शरीरमें होनेपर बारंबार दुष्ट स्वप्न होते हैं अतः यदि इन रोगोंसे दुष्ट स्वप्न होते हों तो उनको दूर करनेके लिये चिकित्साद्वारा रोगबीजको दूर करना चाहिये । शरीर निर्दोष और नरोग करना चाहिये । इस कार्यके लिये इधी काण्डमें पूर्वस्थानमें जलचिकित्साका उपाय बताया है । (निरंश्रित्य) श्रुतिचा अर्थ है उन्नति, अनुदय, समर्थता और सामर्थ्य । दुष्टसे विरुद्ध अर्थ निरंश्रित्य का है । अवनाति, अयःपात, क्षीणता और निर्वलतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं । इनको दूर करनेके लिये जो आवश्यक उपाय हों उनको कार्यमें लगाना चाहिये । (अभृति) ऐश्वर्यसे हीन होना और (निर्भृति) महासंकटमें पडना तथा (पराभृति) पराभव होना, परतंत्र, परार्धन और परवश होना, इन कारणोंसे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं । इन कारणोंको दूर करनेके लिये बहुतसे उपाय हैं, प्रत्येकके लिये निमित्त उपाय होते हैं । अतः उनका अवलंबन योग्य रीतिसे करना चाहिये । मुख्य उपाय स्वावलंबनम्वाधीनता प्राप्त करना है । (देवजानी)

अपने शरीरमें देव नाम इन्द्रियोंका है, उनही शक्तियों विविध हैं । इनकी न्यूनताधिकतासे भी दुष्ट स्वप्न आते हैं । इस कारण संयमादिद्वारा अपने इन्द्रियोंको निर्दोष, निरोग और स्वस्थ रखना अत्यंत आवश्यक है । अर्थात् इस तरह अपने अन्दर और अपने राष्ट्रमें जो जो दुष्ट स्वप्नके कारण उत्पन्न हों, उनको दूर करना मनुष्योंका कर्तव्य है ।

मनुष्यकी परीक्षा स्वप्ने होती है मनुष्यको कैसे स्वप्न होते हैं, इसपर वह स्वस्थ है वा रोगी है, सदाचारी है वा दुराचारी है, शुभ विचारवाला है वा अशुभ विचारवाला है इसका निश्चय होता है । मनुष्यको ऐसे स्वप्न आश्रय तो अच्छा है — कि ‘‘ मैं ईश्वर उपासना कर रहा हूं, श्रुतिश्रम में श्रापियोंके वार्तालाप सुन रहा हूं, सपुत्र्योंका समागम हो रहा है । ’’ ऐसे शुभ स्वप्न आने लगे अथवा शिलकुल स्वप्न ही न हुए तो घमसना चाहिये कि उसका शरीर स्वस्थ है । अन्वयात्तु स्वप्न आने लगे तो स्वास्थ्यमें कुछ न कुछ बिगाड है, ऐसा मानकर उसके सुधारका यत्न करना चाहिये । अतः कहा है—
धरमात् दम्बप्यात् नभेयम तत् अपठच्छतु ।

(मं० ११२)

‘‘ जिस दुष्ट स्वप्नसे हमें भय होता है वह दुष्ट स्वप्नका क्षाप हमसे दूर होवे । ’’ यह कारण किसी दूसरे स्थानपर जावे, हमारे पास न रहे । इस प्रकार अपने आपही निर्दोषता सिद्ध करनेवाली वह निर्दोष मनुष्य कह सकता है कि—

अय अज्ञेयम्, अय असनाम, अय अनारण्यम् अमूम
(मं० ६१९)

‘‘ आज हमने विजय प्राप्त किया है, आज जो हमारा प्राप्त्य या वह प्राप्त किया है क्योंकि हम निष्पाप हो चुके हैं । ’’ निष्पाप होनेसे ही सय प्राप्त्य प्राप्त हो सकता और विजय प्राप्त होता है । विजय प्राप्त करनेकी यह कुंजी है । पापसे जो उन्नति प्राप्त होनेका भास होता है वह केवल मासमात्र है । उसमें गहरी अवनातिके बीज रहते हैं, अतः पाठकोंको यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदकी आज्ञाके अनुसार निष्पाप धर्मोत्तरणसे जो उन्नति प्राप्त होती है वही प्राप्त वरनी चाहिये और वही चिरस्थायी होती है ।

आगे सप्तम सूक्तमें द्वेषीको दूर करना अथवा नाश करनेका विषय कहा है । वह सूक्त स्पष्ट होनेके कारण उसके अधिक स्पष्टीकरणकी कोई आवश्यकता नहीं है । वह शत्रु अध्यात्मभूमिका

कुविचार, रोग आदि हैं, आधिभौतिक भूमिकामें दुर्जन शत्रु हैं । दोनों स्थानोंमें जो जो शत्रु निवास करता हो, उधको हटाया चाहिये । तभी विजय प्राप्त हो सकता है ।

विजय ।

अष्टम सूक्तमें अपने विजयप्राप्तिका एक मंत्र है, वह प्रत्येक वैदिकधर्माको कण्ठ करने योग्य है, वह मंत्र अब देखिये—

अस्माकं जितं, उद्भ्रं, ऋतं, तंजः, ब्रह्म, स्वः, यज्ञः, पशवः, प्रजाः, वीराः ॥ / मं० ८।१)

इस मंत्रका प्रत्येक शब्द वास्तव महत्त्वपूर्ण भावसे युक्त होनेके कारण यदा प्रत्येक शब्दका विशेष विचार करते हैं—

(जितं) यह सब प्रकारके शत्रुओंपर विजय है । आध्यात्मिक, आधिभौतिक आधिदैविक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करना यह अपनी छाति बढानेसे ही हो सकता है (उद्भ्रं) वह अपने सब प्रकारके अभ्युदयसे साध्य होनेवाली बात है, अपनी संघटना अपना-व्यक्तिविहाय, अपने अन्दर की शान्ति, अपनी तेजावृद्धि आदिसे यह सिद्ध हो सकता है। पहिला विजय शत्रुपर संपादन किदा जाता है, यज्ञ अपनी आंतरिक सुरिगतिपर निर्भर होता है । (ऋतं) ऋतका अर्थ है ठीक मार्ग, सरलता, योग्य व्यवहार, जिसमें तेजान्नहीं है । प्रत्येक व्यवहारमें इस प्रकारकी सरलता रहेगी, तो ही पूर्ण विजय साध्य होगा । (तंजः) तेजस्विता, प्रभाव, समता आदि गुण भी विजयके सहचारी हैं । (ब्रह्म) सत्य ज्ञान, वारमधामर्ष, विश्रान, वेदज्ञान, यह तो निःसन्देह ऋतके साथ ही रहेगा । अतःके साथ इसका होगा सर्वथा अंगभवे है ।

(स्वः, स्वर) आत्माका प्रकाश, अपना यश, अपने पुण्यकर्मसे प्राप्त होनेवाला पुण्य लोक । (यज्ञः) देवयज्ञ, संगनिकरण और दान रूप श्रेष्ठतम कर्म, यज्ञसे ही सखी स्थिति और उन्नति होती है । (पशवः) गौ, बैल, घोड़े आदि पशु मनुष्यका वैभव बढाते हैं । (प्रजाः) संततः, पुत्रपुत्री आदि, अथवा प्रजाजन । (वीराः) वीर पुत्र तथा बंधुवान् लोग अथवा शूरवीर । पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि ये सब विजयके सहचारी गण हैं । पाठकोंसे शत्रु-रोधप्रार्थना है कि वे इस मंत्रको कण्ठ करें और धर्मप्राप्तः वे इस मंत्रसे ईश्वरकी प्रार्थना करें और अपना वैयक्तिक

और सामुदायिक विजय इस प्रकार होने योग्य परिस्थिति शीघ्र प्राप्त हो, ऐसी उद्यम प्रभुके पास प्रार्थना मनोमात्रसे करें ।

इस अष्टम पर्यायसूक्तमें जो आगे कथन हैं वे तो शत्रुको कुचलनेका प्रोत्साहन देनेवाले अर्थवादके मंत्र हैं, अतः उनके विषयमें विशेष लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । पाठक स्वयं पढ़कर उनका आशय समझ सकते हैं । इसके पश्चात् अन्तिम नवम पर्यायसूक्तमें चार ही बचन हैं, परंतु वे नित्य स्मरण रखने योग्य महत्त्वपूर्ण हैं—

जितं अस्माकं, उद्भ्रं अस्माकं, विश्वा आरातीः प्रतनाः । (मं० ९।२)

“हमारा विजय, हमारा उदय और हम शत्रुकी सब सेनाओंका पूर्ण पराभव करनेका सामर्थ्य अपने अन्दर बढाते हैं ।” तथा—

एषा सुकृतस्य लोक मा धातु । (मं० ९।२)

“ ईश्वर मुझे पुण्यलोकमें धारण करे ” ऐसा मैं सदाचारी शुद्ध, पत और पवित्र बन्गा । तथा—

स्वः अगन्म, सूर्यस्य ज्योतिषा अगन्म ॥ (मं० ९।३)

“आत्माका तेज प्राप्त करे, सूर्यकी ज्योतिसे मिले ।” तथा— वस्योभूयाय बहुमान् भूयासम् । वसुमान् यज्ञः ।

वसु वंशिपीथ (मं० ९।४)

“बहुत धन प्राप्त करना चाहिये, मैं धनयुक्त हो जाऊँ । क्योंकि धनसे यज्ञ होता है, इसलिये यज्ञमें व्यय करनेके लिये मुझे धन चाहिये ।”

ये सब चारोंके चारों मंत्र इतने उत्तम भावसे परिपूर्ण हैं, इतने सरल हैं और इतने सुधी हैं कि मानो यदा इस सब काण्डका सार है । पाठक इनका मनन करेंगे तो उनके भी अत्यंत आनन्द दोगा और इनके मननसे उनका भी आत्मा उच्छ्रित हो होगा ।

आशा है कि पाठक इस रीतिसे इस काण्डका मनन करके इस काण्डका जो उच्च भाव है वह अपने मनमें स्थिर करेंगे और इस विजयपथसे चलकर अपना, अपने समाजका अपनी आतीषा, और अपने राष्ट्रीय विजय संपादनके कार्यमें कूटिल होगे ।



ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध माष्य ।

सप्तदशं काण्डम् ।



लोकप्रिय !

विपामहिं सहमानं सासहानं सहैयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संघनाजितम् ॥
ईदं च नाम ह्यिन्द्रं प्रियः भ्रजानां भूयासम् ॥

(अथर्ववेद १०।३।)

“ शत्रुका दमन करनेवाले, शत्रुके लिये भयभीत, शत्रुका चारोंवार नाश करनेवाले, दुष्टोंका पराजय करनेवाले, बल बढ़ानेवाले, तेजस्वी, इंद्रियविजयो, धनोक्तो जीतनेवाले, प्रसंसनीय प्रमुखा मैं प्रशंसा करना हूँ । उससे मैं प्रजाजनोके लिये प्रिय हूँ ।”



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

सप्तदश काण्ड ।

इस सतरहवें काण्डकी 'आदित्य' देवता है और इस एक ही देवताके सब मंत्र इसमें हैं। इस काण्डमें कुल ३० मंत्र हैं। अर्थात् ३० मंत्रोंके एक सूक्तका ही यह काण्ड है। इस काण्डके तीन विभाग हैं। १० + १० + १० मिलकर तीन विभागोंमें ३० मंत्र बाँटे गये हैं। परंतु ये विभाग दशविभाग हैं, ये कोई अर्थदृष्टिसे अथवा किसी अन्य कारणसे नहीं बने हैं। जो दशविभाग होते हैं वे दस मंत्रोंके होते हैं और उनके साथ अर्थका कोई संबंध नहीं होता है।

इसके अतिरिक्त इस काण्डके ५ विभाग भी किये जाते हैं। १-५; ६-१९; २०-२३; २४-२६; २७-३० इस प्रकार मंत्र इन पाँच विभागोंमें बाँटे जाते हैं। अन्तिम दो विभाग क्रमशः विशेषतः अनुष्टुप् और त्रिष्टुप् छन्द प्रयोग हैं। अन्य विभाग विषयकी और मंत्रोंकी समानताके अनुसार माने गये हैं, यह बात पाठक मंत्रोंकी देखकर समझ सकते हैं। इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। अब इस काण्डके ऋषिदेवता और छन्द देते हैं—

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	३०	मह्या	आदित्यः	१ जगति; १-८ त्र्यवसाना; २-५ अतिजगति ६, ७, १९ जल्यष्टी; ८, ११, १६ अतिधृति; ९ पंचपदा शकरी, १०-१३, १६, १८-१९, २४ त्र्यवसाना १० अष्टपदा धृति; १२ कृति; १३ प्रकृति; १४-१९ पंचपदाशकरी; १० पंचपदा विराडतिशकरी; १८ अरिगष्टि; २४ विराड्ल्याष्टि; १-५ षट्पदा; ११-१३, १६, १८-१९, २४ सप्तपदा; २०-२३ ऋषि; २१ चतुष्टपदा उपरिष्टाद्बृहती; २२ अनुष्टुप्; २३ निचूद्बृहती; २५, २६ अनुष्टुप्; २७, ३० जगती; २८-२९ त्रिष्टुप् ।

यह काण्ड केवल तीस मंत्रोंके एक ही सूक्तका होनेसे और इसमें प्रायः एक ही विषय होनेसे सप्तदश मिलकर अन्तमें स्पष्टीकरण करेंगे—





अथर्ववेदका सुबोध षाण्य ।

सप्तदशं काण्डम्

अपने अभ्युदयके लिये प्रार्थना ।

(१)

विषासहि सहमानं सासहानं सर्हीपांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संघनाजितम् ।

ईद्व्यं नाम ह इन्द्रमापुष्पान् भूयासम्

॥१॥

विषासाहि सहमानं सासहानं सर्हीपांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संघनाजितम् ।

ईद्व्यं नाम ह इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम्

॥२॥

विषासहि सहमानं सासहानं सर्हीपांसम् । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संघनाजितम् ।

ईद्व्यं नाम ह इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम्

॥३॥

अर्थ— (विषासहि) अर्थात् समय, (सहमानं) अर्थात् बलवान्, (सासहानं) निज विजयो, (सर्हीपांसं) शत्रुको दबानेवाले, (सहमानं) महाबलिष्ठ, (सहोजितं) बलमे दिग्बिजय करनेवाले, (स्व-जितं) अपने सामर्थ्यसे जीतनेवाले, (गो-जितं) भूमि, इंदियो और गाँवोंको जीतनेवाले (संघनाजितं) धनको जीतकर प्राप्त करनेवाले, (ईद्व्यं नाम इन्द्रं) प्रसंगनीय वशवाले प्रमुची में (इन्द्रं) प्रसंग करता हूँ, जिससे मैं (आयुष्मान् भूयान्) दीर्घायु होऊँ ॥ १ ॥ ०।०।० (देवानां प्रियः भूयान्) मैं देवोंका प्रिय बनूँ ॥ २ ॥ ०।०।० (प्रजानां प्रियः) प्रजाओंका प्रिय होऊँ ॥ ३ ॥ ०।०।०

विद्यासहि सहमानं सासहानं सहीयांसम । सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
 इड्यं नाम ह्य इन्द्रं प्रियः पशुनां भूयासम् ॥४॥
 विद्यासहि सहमानं सासहानं सहीयांसम । महमानं गहोऽजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
 इड्यं नाम ह्य इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥५॥
 उद्विह्यदिहि सूर्यं वर्चमा म्भ्युदिहि । द्विषश्च मखं रघ्यंतु मा चाहं द्विपते रंधं तवेद् विष्णो
 बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥६॥
 उद्विह्यदिहि सूर्यं वर्चमा म्भ्युदिहि । वांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि तवेद् विष्णो
 बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥७॥
 मा त्वां दभन्मल्लिले अप्पन्पन्नये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्रं । हित्वाग्निंस्ति दिवमारुहं एतां
 स नो मृद सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः
 सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥८॥
 त्वं नं इन्द्र महते सौभगायादन्धेभिः परि पाह्यक्तुभिस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं
 नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥९॥
 त्वं नं इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शंतमो भव । आरोहंस्त्रिदिवं द्विवो गृणानः सोमपीतये
 प्रियधामा स्वस्तये तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां
 मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १० ॥

(पशुनां प्रियः ०) पशुभवा प्रिय होऊ ॥ ४ ॥ ० । ० । ० (समान नां प्रिय भूयासं) समान योग्यतावाले
 पशुप्राणी भी प्रिय बनू ॥ ५ ॥

हे (सूर्यं) सूर्य ! (उद्विहि उद्विहि) उदय हो, उदयको प्राप्त हो । (वर्चसा मा म्भ्युदिहि) अपने तेजसे उदित
 होकर मुझपर चारों ओरसे प्रकाशित हो । (द्विषन् च मखं रघ्यंतु) मेरा द्वेष करनेवाला मेरे वशमें हो जावे, परंतु (नहं च
 द्विषते मा रधम्) मैं द्वेष करनेवाले शत्रुके वश कभी न होऊ । हे (विष्णो) व्यापक ईश्वर ! (तव इत् बहुधा वीर्याणि)
 तेरे ही वीर्य अनक प्रकारके हैं । (त्वां नः पृणीहि) तू हमें अनेकरूपवाले पशुओंसे पूर्ण कर । और (परमे
 व्योमन्) परम अकाशमें (मा सुधायां धेहि) सुते अमृतमें धारण कर ॥ ६ ॥ (उद्विहि०) हे सूर्य ! उदयको प्राप्त हो,
 उदयको प्राप्त हो और (वर्चसा०) अपने तेजसे मुझे प्रकाशित करो (यान् च पश्यामि यन् च न) जिन प्राणियोंके
 मैं देखता हूँ और जिनको नहीं भी देखता (तेषु मा सुमतिं कृधि) उनके विषयमें सुते सुमतिवाला कर । (तव इत् ० ।
 इत्यादि पूर्ववत्) ॥ ७ ॥ (सल्लिले अप्पु मन्तः ये पाशिनः) जलके अन्दर जो पाशवाले (मन्त उपतिष्ठन्ति) यहाँ आकर
 उपाश्रित होते हैं वे (स्वा गा दभन्) मुझे न दबा देंगे । (कथारितं हित्वा एतां दिवं आरुहः) निम्नाकी ल्यागकर प्रतीक
 पर आरुह हो और (स न. मृद) नद तू हमें छोड़ कर, (ते सुमतौ स्याम) हम तेरी सुमतिमें रहेंगे । (तव इत् ० ।)
 ॥ ८ ॥ हे इन्द्र ! (त्वं नः महते सौभगाय) तू हम सबको बड़े सौभाग्यके लिये (मध्वन्धेभिः मध्वनुभिः परिधाहि) न
 दबनेवाले प्रकाशोंसे सब ओरसे सुशसन रख । (तव इत् ० ।) ॥ ९ ॥ हे इन्द्र ! (त्वं नः शिवाभिः कृतिभिः शंतमो भव)
 तू बन्धनपूर्ण रक्षणोंसे साथ हमें उत्तम कल्याण देनेवाले हो । (त्रिदिवं आरोहन्) तुलोकपर आरुह होकर (दिवः गृणानः)
 प्रकाशकों देना हुआ (सोमपीतये स्वरतये प्रियधामा) सोमपान और बह्मपानके लिये प्रिय स्थान हो । (तव इत् ० ।) ॥ १० ॥

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र । त्वमिन्द्रेमं मुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड
सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्यां णि । त्वं नः पूर्णाहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी
मा धेहि परमे व्योमन् ॥११॥

अदब्धो द्विवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे । अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स
त्वं न इन्द्र दिवि पञ्चमं यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्यां णि । त्वं नः पूर्णाहि पशुभिर्वि-
श्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे व्योमन् ॥१२॥

या तं इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्री या तं इन्द्र पवमाने स्वार्थिदि । यथेन्द्र तन्वाः
न्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वाः शर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्यां णि । त्वं नः
पूर्णाहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे व्योमन् ॥१३॥

त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि पेंदुर्गपया नाधमानस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्यां
णि । त्वं नः पूर्णाहि-पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे व्योमन् ॥१४॥

त्वं त्वत् त्वं पर्येष्युस्तं सहस्रधारं विदधं स्वर्विदं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्यां णि । त्वं नः
पूर्णाहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे व्योमन् ॥१५॥

त्वं रक्षसे प्रदिशस्वत्स्वं शोचिषा नभसी वि भासि । त्वमिमा विश्वा भुवनानुं तिष्ठस
ऋतस्य पन्थामन्वेपि विद्वांस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्यां णि । त्वं नः पूर्णाहि पशुभिर्विश्वरूपैः
सुधायी मा धेहि परमे व्योमन् ॥१६॥

[१] हे इन्द्र ! तू (विश्वजित्, सर्ववित्) जगत् जेत' और सर्वज्ञ हूँ, और हे इन्द्र ! तू (पुरुहूतः) बहुत पशुवित है ।

इन्द्र ! (स्वं इमं सुहवं स्तोमं मेरयस्व) तू इस वचन प्रार्थनावले स्तोत्रको प्रेरित कर । (सः नः० तव इत् ० १०) ॥ ११ ॥ हे

इन्द्र ! तू (द्विवि बत पृथिव्यां अदब्धः असि) दुलोकमें और इस पृथ्वी पर न दया हुआ हूँ । (अन्तरिक्षे से महिमानं न आपुः)

अन्तरिक्षमें तेरी महिमाको कोई नहीं प्राप्त हो सके । (अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः सन्) न दबनेवाले ज्ञानसे बढता हुआ

(दिवि नः त्वं शर्म यच्छ) दुलोकमें तू हमें सुख प्रदान कर । (तव इत् ० १०) ॥ १२ ॥ हे इन्द्र ! (या ते अप्सु तनूः)

जो तेरा अंश जलमें है, (या पृथिव्यां या जगती अन्तः) जो पृथ्वीपर और जो अग्निके अन्दर है, (हे इन्द्र ! या ते दध

माने स्वः-विदि) और जो तेरा अथ पवित्र करनेवाले प्रकाशपूर्ण दुलोकमें है, हे इन्द्र ! (यया तन्वा अन्तरिक्षं व्यापिथ)

जिस तनूसे अन्तरिक्ष व्यापते हो, (तया तन्वा नः शर्म यच्छ) उस तनूसे हम सबको सुख प्रदान कर । (तव इत् ० १०)

॥ १३ ॥ हे इन्द्र ! (त्वां ब्रह्मणा वर्धयन्तः) तेरी मंत्रोंसे स्तुति करते हुए (नाधमानाः ऋषयः सत्रं निषेदुः) प्रार्थना कर

नेवाले ऋषिगण सत्र नामक योगमें बैठते हैं (तव इत् ० १०) ॥ १४ ॥ हे व्यापक देव ! (त्वं तून् = प्रितं) तू तानों स्था-

नोमें प्राप्त (सहस्रधारं विदधं स्वर्विदं उर्यं) सहस्रधाराओंसे युक्त ज्ञानमय प्रकाशपूर्ण ग्योतको (पर्येषि) व्यापता है । (तव

इत् ० १०) ॥ १५ ॥

हे देव ! [त्वं पञ्चसः प्रदिशः रक्षसे] तू चारों दिशाओं को रक्षा करना है । अपने [शोचिषा नभसी विभासि]

तेजके आकाशको प्रकाशित करता है । [त्वं इमाः भुवना अनुतिष्ठसे] तू इन सब भुवनके अनुकूल होकर उदरता है और

[विद्वांस् ऋतस्य पन्थां अन्वेपि] जानना हुआ मशयके मार्गका अनुपशान करता है । [तव इत् ० १०] ॥ १६ ॥

पञ्चभिः पराङ् तपस्येरुयावर्षाङ्गैस्तिमेषि सुदिने त्राधमानस्त्वेव् विष्णो बहुधा वीर्याणि ।
त्वं नः पूर्णाहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे व्योमन् ॥१७॥

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः । तुभ्यं यज्ञो वि तांयते तुभ्यं जुहति जुहतिस्त-
वेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पूर्णाहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे
व्योमन् ॥१८॥

अमति मन् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् । भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं
तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पूर्णाहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायी मा धेहि परमे
व्योमन् ॥१९॥

शुक्रोऽसि मि भ्राजोऽसि मि । म यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥ २० ॥

(२)

राचिरसि रोचोऽसि । स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेनं च
रुचिपीय ॥२१॥

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः । विराजे नमः स्वराजे नमः सप्राजे नमः ॥२२॥

अस्तंयते नमोऽस्तमेप्यते नमोऽस्तामिताय नमः । विराजे नमः स्वराजे नमः सप्राजे नमः ॥२३॥

(पञ्चभिः पराङ् तपसि) तू अपनी पाँचों तपसियों में तपता है और (एकया अर्वाङ्) एकसे उर तपता है । और
(सुदिने अशान्ति बाधमानः एषि) उत्तम दिनमें अशान्तताके दूर इतना हुआ चलना है । (तव इत् ०।०) ॥ १७ ॥
दे देव ! (त्वं इन्द्रः) तू इन्द्र है, (त्वं महेन्द्रः) तू बड़ा इन्द्र है, (त्वं लोकः) तू लोक—प्रकाशपूर्ण है, (त्वं प्रजापतिः)
तू प्रजापालक है (यज्ञः तुभ्यं वितायते) वस तरे लिये फैलाया जाता है और (जुहति तुभ्यं जुहति) इवन करनेवाले तेरे
लिये आहुति दाने हैं । (तव इत् ०।०) ॥ १८ ॥ (अमति सत् प्रतिष्ठित) अहम् में अर्थात् प्राकृतिक विश्वमें सर्व अर्थात्
आत्मा रहा है, (सति भूतं प्रतिष्ठितं) अहम् में अर्थात् आत्मा में उपलब्ध हुआ जगत् रदा है, (भूतं ह भव्य आहितं) भूत
होनेवालेमें आहित है, (भव्यं भूते प्रतिष्ठितं) होनेवाला भूतमें प्रतिष्ठित हुआ है (तव इत् ०।० ॥ १९ ॥ (शुक्रः असिः)
तू तेजस्वी है, (भ्राजः अमि) तू प्रकाशमय है, (स त्वं) वह तू (यथा भ्राजता भ्राजः अमि) अथा तेजस्वी है (एव अहं
भ्राजता भ्राज्यासं) वैसे ही मैं तेजसे प्रकाशित होऊँ ॥२०॥

(रुचि असि) तू प्रकाशमान है, (रोचः अमि) तू वैदित्यमान है (स त्वं रुच्या रोचः असि) वह तू जैसा
तेजसे तेजस्वी है (एव अहं पशुभिः च ब्राह्मणवर्चसेनं च रुचिपीय) वैशेही मैं पशुओं और ज्ञानके तेजसे प्रकाशित होऊँ ॥ २१ ॥
(उद्यते नमः) उदित होनेवालेको नमस्कार, [उदायते नमः] ऊपर आनेवालेके लिये नमस्कार, [उदिताय नमः] उदयको
प्राप्त हुएसे नमस्कार, [विराजे नमः] विशेष प्रकाशमानको नमस्कार, [स्वराजे नमः] अपने तेजसे चमकनेव लेशको नमस्कार,
[सप्राजे नमः] उत्तम प्रकाशयुक्तको नमस्कार ॥ २२ ॥ [अस्तंयते नमः] अस्त होनेवालेको नमस्कार, [अस्तंयते नमः]
अस्तको जानेवालेके नमस्कार, [अस्तामिताय नमः] अस्त हुएको नमस्कार, [विराजे, तप्राजे, स्वराजे नमः] विशेष
तेजस्वी, उत्तम प्रकाशमान और अपने तेजसे प्रकाशनेवालेको नमस्कार हो ॥ २३ ॥

उदगावृषमादित्यो विश्वेन तपसा सह । सपत्नान् मर्षं रन्धयन् मा चाहं द्विषते रंधं तवेद् विष्णो
बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमि मन् ॥ २४ ॥

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये । अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सुत्रातिं पारय ॥ २५ ॥

सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये । रात्रिं मात्यपीपरोऽहं सत्रातिं पारय ॥ २६ ॥

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च । जरदृष्टिः कृतवीर्यो विहायाः
सहसायुः सुकृतश्चरेयम् ॥ २७ ॥

परिवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च । मा मा प्राप्स्विष्वो देव्या या मा
मानुषीरवृष्टा वधाय ॥ २८ ॥

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम् । मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्त-
र्द्वेषेऽहं सलिलेन वाचः ॥ २९ ॥

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उघन्तस्यो नुदतां मृत्युपाशान् । व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः
सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥ ३० ॥

इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम्

(अर्थ आदित्यः विश्वेन तपसा सह उदगात्) यह सूर्य संपूर्ण तेजके साथ उदित है । (मर्षं सपत्नान् रन्धयन्) मेरे लिये मेरे शत्रुओंको बध करता है, (अहं च द्विषते मा रंधं) परंतु मैं कभी बधमें न होंगं । (तव इत् विष्णो बहुधा वीर्याणि) हे व्यापक देव ! तेरे ही ये सब पराक्रम हैं । (त्वं नः विश्वरूपैः पशुभिः पृणीहि) तू हम सबको अनन्त रूपोंके पशुओंसे परिपूर्ण कर । और (परमे व्योमन् सुधायां मा धेहि) परम आकाशमें विद्यमान अमृत में मुझे घाण कर ॥ २४ ॥ हे आदित्य ! (स्वस्तये शतारित्रां नानं आरुक्षः) हमारे कन्याग के लिये सैद्धों अरोंवाली नौकापर आरुक्ष हो । (मा अहः ऋति ऋपीपरः) मुझे दिनेके समय पार कर और (रात्रिं सत्रा अतिपारय) रात्रिके समय भी साथ रहकर पार पहुंचा ॥ २५ ॥ हे सूर्य ! तू हमारे (स्वस्तये) कन्यागके लिये नौकापर चढ और हमें दिन और रात्रिके समय पार कर ॥ २६ ॥ (अहं प्रजापतेः ब्रह्मणा वर्मणा आवृतः) मैं प्रजापतिके ज्ञानरूप कवचसे आवृत होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) और सर्वदशक देवके तेज और बलसे युक्त होकर (जरदृष्टिः कृतवीर्यः) ब्रह्मावस्था तक वीर्यवान् हुआ (विहायाः सहसायुः) विविध क्रमोंसे युक्त सहसायु-पूणायु- होकर (कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च) सर्वदशक देवके तेजसे और बलसे युक्त होकर (याः देवीः मानुषीः इषवः वधाय अवृष्टाः) जो दिव्य और मानवी बाण वधकालिये भेजे गये हों वे (मा मा प्रापन्) मुझे न प्राप्त हों, उनसे मेरा वध न होवे ॥ २८ ॥ (ऋतेन गुप्तः) सलके द्वारा रक्षित, (सर्वैः ऋतुभिः च) सब ऋतुओं द्वारा रक्षित, (भूतेन च मय्येन गुप्तः अहं) भूत और भविष्यद्वारा सुरक्षित हुआ मैं यहां विचरूँ । (पाप्मा मा, वद मृत्युः मा मा प्रापन्) पप अथवा मृत्यु मुझे न प्राप्त हो । (अहं वाचः सलिलेन अभ्युदधे) मैं अपनी वाणीके— अपने शब्दोंके पवित्र जीवनके अंदर धारण करता हूँ । वाणीको पवित्रता पवित्र जीवनसे करता हूँ ॥ २९ ॥ [गोप्ता अग्निः विषयः मा परिपातु] रक्षक अग्नि सब ओरसे मेरी रक्षा करे । [उघन् सूर्यः मृत्युपाशान् नुदतां] उदय होनेवाला सूर्य मृत्युपाशोंको दर करे । [व्युच्छन्तीः रुषसः] प्रकाशयुक्त उषाएं और [ध्रुवाः पर्वताः] स्थिरपर्वता [सहस्रं प्राणाः मयि या यतन्तां] सहस्रों बसवाले प्राण मेरे अन्दर फैलाये रखें ॥ ३० ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ इति सप्तदशं काण्डं समाप्तम् ॥

सप्तदश काण्डका मनन ।

अपने अभ्युदयका विचार करनेवाले पाठक इस काण्डका मनन अधिक करें। विशेषतः पहिले पांच मंत्रोंका जो एक मंत्रागण है, उसका अत्यंत मनन करें। ये पांच मन्त्र बताते हैं कि विजयके लिये पुरुषको अपने अन्दर कौनसे गुण प्राप्त करने चाहिये और ब्रजने चाहिये। उपाति चाहनेवाले मनुष्य अपनी इच्छा इस प्रकार रखें—

लोकप्रिय बनना ।

[अर्ध] देवानां, प्रजानां, समानानां, पशूनां प्रियः भूयासि; आत्मन्मात्रं भूयस्स ॥ [मं० १-५]

“ मैं देवोंका, प्रजाजनोंका, समान योग्यतावाले लोगोंका, और पशुओंका प्रिय होऊँ, और दीपायु बनूँ । ” सबसे सुख्य बात दीपायु बननेकी है, क्योंकि आयु, आरोग्य और बल रक्षा तोही सब कुछ धर्म कर्म होना संभव है। अतः उपातिवाली मनुष्योंको उचित है कि, वे धर्मात्पुण्य आचरण करके अपनी आयु दीर्घ करें, नीरोग रहनेका यत्न करें और अपने अन्दर बल स्थिर रखें ।

इतना होनेके पश्चात् देव, प्रजा, समानलोग और पशु इनको प्रिय होनेकी महत्त्वाकांक्षा धारण करना चाहिये और उसकी सिद्धिक लिये मनुष्योंको प्रयत्न करना चाहिये । ' देव ' का अर्थ जैसा ' देवता ' है वैसा ही ' भूदेव, क्षत्रदेव, धनदेव और कर्मदेव ' ये चार प्रकारके आत्मवर्णके श्रेष्ठ पुरुष भी देव कहलाते हैं। इनके मनमें दृढ मनुष्यके विषयमें प्रेम रहे, ये श्रेष्ठ लोग इस पुरुषके विषयमें कहें कि यह फलाना मनुष्य उत्तम है, उसका प्रिय होना चाहिये। प्रजाजन इस मनुष्यपर प्रेम करें, प्रजाजनोंका यह प्रेमपात्र बने, सब जनता इसके ऊपर प्रीति करे, अर्थात् यह लोकप्रिय बने, लोकमान्य बने। समान लोगोंमें यह प्रिय हो, अर्थात् ज्ञानियोंका प्रेम विशेष ज्ञानीपर होता है, वीरोंका प्रेम समर्थों की पर होता है, समानोंका प्रेममाजन होनेके लिये उनसे विशेष सरकट गुण होने चाहिये। इन गुणोंका संपादन यह मनुष्य करे और समानोंका प्रेममाजन बने। पशुओंका भी प्रेम

संपादन करे। जब यह मनुष्य पशुओंकी पालना करेगा और उनपर प्रेम करेगा, तब-तब स्वयं इस्मर प्रेम करने लगेगे। यहाँ इसकी भूतदयमें विशेषता होना चाहिये। इस विवेचन से पाठक जान सकते हैं कि, देव, प्रजा, समानलोग और पशुओंका प्रिय बननेका आशय क्या है, इस विषयमें निश्चय यह है कि मनुष्य जिनका प्रेम संपादन करना चाहता है, उनपर स्वयं प्रेम करे। इसका प्रेम उनपर होने लगा, तो निःसन्देह वे भी इसपर प्रेम करने लग जायेंगे।

वीरके गुण

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें दस शब्दोंद्वारा वीरोंके गुण दिये हैं। उपातिवाली मनुष्योंको ये गुण अपने अन्दर लाने चाहिये और ब्रजने चाहिये। यदि पाठक इन दस शब्दोंका मनन करेंगे तो उनको वीरताके दस गुण गुणोंका पत्रा लग सकता है—

(१) गो—जित् = ' गो ' शब्दका अर्थ ' इंदिय और भूमि ' है। ये अर्थ लेकर यक्ष आचरण करना चाहिये, पटिला अर्थ है (गो—जित्) इन्द्रियोंको जीतनेवाला है, अपनी इन्द्रियोंका संयम करनेवाला, मनेनिग्रह करनेवाला, अपना आत्मसंयम करनेवाला। सब उपातिका प्रारंभ ' आत्म—विजय ' से होता है। आत्मविजय सब अन्य विजयोंसे कठिन है, तथापि जो मनुष्य आत्मविजयका साधन करता है और सिद्ध बनता है, वह अन्य विजय सहज ही से प्राप्त कर सकता है। भूमिका विजय इस शब्दका दूसरा अर्थ है। वीरतासे अपनी मातृभूमिको विजयी करना वह इसका भाव है। मुख्यतया यहाँ आत्मविजय मुख्य है, क्योंकि सभी विजय आत्मविजय से प्रारंभ होने हैं।

(२) स्वः—जित् = (स्व—१—जित्) आत्म-प्रकाशको प्राप्त करना, अपने तेजका विजय करना, आत्म-समानता विजय करना, अपने आध्यात्मिक तेजका विजय होने योग्य कार्य करना। यहभी एक बड़ी मारी वीरता है।

(३) संभना-- जित् = उत्तम धर्मोंको जीतकर प्राप्त करना, यह भी एक शब्दी भारी बीरता है। जिसके साथ होनेसे मनुष्य अपने आपको धन्य कह सकता है उसको धन कहा जाता है। अतः यन शब्दसे केवल रूपसे आने पाई समझना शुद्ध भ्रम है। गौर्ष भी धन है, राज्य किंवा स्वराज्य भी धन है, बल भी धन है, विया भी धन है, प्रतिष्ठा धन है, सदाचार धन है। इस रीतिसे अनेक धन हैं। इनकी प्राप्ति करना मनुष्यका आवश्यक कर्तव्य है।

(४) सहमान = आत्मिक बल, तेज और जीवनसे युक्त और

(५) सहमान = शारीरिक बल और शक्तिसे युक्त होना।

ये दोनों शब्द एक ही मंत्रमें प्रयुक्त हैं, इसलिये ये भिन्नार्थक शब्द हैं। "सह्य्" शब्दका अर्थ 'बल' है और इसके अर्थ 'शक्ति, विजय, तेज और जीवन' हैं। इनमें से कुछ अर्थ एकके और अन्य दूसरेके मानना यहाँ योग्य है। इस प्रकार अर्थ करनेसे दोनों शब्द पुनरुक्ति दोषसे रहित और अन्वर्थक प्रतीत होते हैं। अर्थात् ये दोनों बल मनुष्यको प्राप्त करना चाहिये। इस बलमें सैन्यका बल भी अन्तर्भूत होता है।

[६] शत्रो--जित् = अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला। मनुष्य अपने अन्दर तथा राष्ट्र अपने अन्दर ऐसा बल प्राप्त करे कि जिससे शत्रुका विजय सहजहीमें हो सके।

[७] सह्याः = शत्रुका हमला कितने भी वेगसे आजावे उससे न करता हुआ, उसके सहन करनेवाला। शत्रुका आक्रमण हुआ तो भी अपने स्थानसे पीछे न हटता हुआ विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहनेवाला। शत्रुके आक्रमणको प्रतिहार करके शत्रुको परास्त करनेवाला।

[८] सासहान = शत्रुके आक्रमण एकके पीछे दूसरे, अथवा वारंवार होनेपर भी जो अपना स्थान छोड़ता नहीं और विजयके साथ अपने स्थानमें स्थिर रहता है और अपने स्थानसे ही शत्रुको परास्त करता है और उसको बाध लौटा देता है।

[९] विषासहि = जिसका आक्रमण शत्रुपर हुआ, लौ शत्रुको परास्त होकर भागना पड़ता है, जिसका आक्रमण शत्रुको असश्र होता है।

[१०] ईश्वरः नाम इन्द्रः = प्रसंगनीय यशस्वी (इन्द्रः) शत्रुओंका पूर्ण नाश करनेवाला वीर।

उपास्यके गुण उपासकमें।

ये दस शब्द यहाँ इन्द्र देवताके वाचक हैं। यह देवता मनुष्योंकी उपास्य है। उपास्य देवताके गुण उपासकोंकी अपने अन्दर धारण करने चाहिये, यह उपासनाका नियम है। इस नियमके अनुसार उपासना करनेवाले पाठक अपने अन्दर वे वीरताके गुण बढायें और अपनी उन्नतिके मार्गका आक्रमण करें और सब प्रकारका अभ्युदय प्राप्त करें। पूर्वोक्त गुण अपने अन्दर बढने लगे तो मनुष्यकी अथवा राष्ट्री उन्नति निःसंदेह होगी, उपासनाके मंत्र केवल रटनेमात्रसेही मनुष्यकी उन्नति नहीं होगी, परंतु उनमें वर्णित उपास्यके गुणोंकी धारणासे ही मनुष्यकी उन्नति होना संभव है। जो मनुष्य अथवा मनुष्योंका संघ इस प्रकारकी वैयक्तिक और सामूहिक उपासना करते हैं वेही अपना सब प्रकारका अभ्युदय सिद्ध करते हैं। इन्हींके 'विययमें' कहा है कि-

अभ्युदय।

उदिदि, उदिदि, वचंसा अभ्युदिदि। (मं २)

"उदयको प्राप्त हो, अभ्युदय प्राप्त करो, तेजके साथ सब प्रकार अभ्युदय प्राप्त करो।" ये मंत्र यद्यपि उपास्य देव सूर्यके संबंधमें कहे हैं तथापि उपास्यके गुण उपासकको धारण करने होते हैं, इस नियमके अनुसार प्रायः बहुतसे मंत्र उपासकको आदेश देनेवाले होते हैं। इसी तरह ये मंत्र भी उपासकका अभ्युदयका संदेश दे रहे हैं, यह बात यहाँ पाठक न भूले। अभ्युदय किंच मार्गसे करना चाहिये, इसके आरांशसे दो। सश्र है--

द्विषन मर्षं रथ्यतु। अहं द्विषते मा रथ्यम्। (मं ६)

"मैंरा शत्रु मेरे वशमें आजावे और मैं कभी शत्रुके वशमें न होऊँ।" शत्रु अनेक प्रकारके हैं, और रथ्यत्वभी विधिय है। उन सब रथ्यत्वोंमें यही एक नियम है कि स्वयं शत्रुका परास कराना और शत्रुसे कभी पराभूत न होना। विजय, उदय और अभ्युदयकी यह कृंजी है। जो लोग और जो राष्ट्र इन प्रकार अपनी तैयारी करेगा वही विजयको प्राप्त होगा।

पराक्रम !

तव बहुधा वीर्याणि। (मं ६)

"तेरे बहुत पराक्रम होने चाहिये।" तब विजयकी संभावना है। विष्णु देव-स्वापक ईश्वर-का सर्वत्र विजय इसलिये है कि

उसके अनन्त पराक्रम होते हैं। अनेक पराक्रम न हुए तो विजय प्राप्त होना शक्य नहीं है। विजयके लिये अनेक रण क्षेत्रोंमें बतर्ना चाहिये और वहाँ बड़े पाकम करने चाहिये। इसलिये—

सुमतिं हृषि । सुधायां पेहि । (मं० १-७)

“अग्ने अन्दर सुमति धारण कर, उत्तम धारणामें अपने आपका और सबको धारण कर।” सुमतिके बिना अध्यात्म-ध्यानका विजय नहीं होगा और (सु-धा) उत्तम धारणके बिना समाप्तका वा संपन्न विजय नहीं होगा। यह नियम ध्या-ध्यानमें धारण करना चाहिये। इस दिशासे अनेक दिन प्रयत्न होना चाहिये। यह सूचन करनेके लिये कहा है कि—

वडा सौभाग्य ।

एव महते सौभाग्य अध्वंशभिः अश्वत्थिभिः परिपाहि ।

(मं० ९)

“तू अपना सौभाग्य बहुत बढानेके लिये न पकटा हुआ और किसीके दबावसे न दबता हुआ दिनप्रतिदिन सुरक्षिततापूर्वक प्रयत्न करो।” यह ऊँदरा बच्चा उदाहरणार्थक है। कितना ही प्रचण्ड शक्तिवाला दशनेका यान करे, परंतु स्वयं उसके दबावसे न दबनेका यत्न करना चाहिये। पाशवी शक्तिके अन्दर न दब जानेका निश्चय करना ही अत्यंत महत्त्व की बात है। आत्माकी शक्ति इतनी प्रचण्ड है कि सब जगत् की शक्ति भी उसके विरोध करने लगी, तो भी वह दबेगा नहीं, परंतु मनका निश्चय होना चाहिये। ‘महासौभाग्य’ जो ऊपरले मंत्रमें कहा है वह तभी इसको प्राप्त होता है। अधिक उदाहृ बढानेके लिये और कहा है कि—

न दध जाना ।

पृथिव्या अध्वः अस्ति । ते महिमानं न आपुः (मं० १२)

“पृथ्वीपर तू आत्मा न दब जानेवाला महाशक्तिमान है, तेरी महिमा अन्य भौतिकजड पदार्थोंको प्राप्त नहीं हो सकती।” जब पृथ्वी कितनेभी सामर्थ्यवान हो, परंतु उनका शक्ति आत्माके सामर्थ्यकी बराबरी कर नहीं सकती। अपने आत्माके यह प्रचण्ड शक्ति जाननेके लिये ही सब धर्मानुष्ठान हैं। अपने परम पिताकी प्रचण्ड शक्तिका वर्णन इसी कारण उपासनाके लिये उपासकोंके घनमुक्त वेदमंत्रों द्वारा रखा जाता

है कि वे किसी न किसी दिन अपने अन्दर परमपिताका बीज है, इस बातका अनुभव करें और उनके गुणोंका धारण अपने अन्दर करनेका यत्न करें। यह ईशगुणोंकी धारणा किस प्रकार हो सकती है यह भी आगे कहा है—

अध्वंशेन ब्रह्मणा वायुधानः । (मं० १२)

“न दब जानेवाले ज्ञानसे बढता हुआ” अपने (बहुधा वीर्याणि) बहुत पराक्रम कर। वहाँ जो कहा है वह प्रत्येक वैदिक धर्मोंकी ध्यानसे धारण करना चाहिये। मनुष्यकी उन्नति ज्ञानसे होती है, यह बात यहाँ स्पष्ट बर्णित है, इसलिये उन्नतिशील पाठक ज्ञानप्राप्तिके यत्नमें कटिबद्ध हों। वहाँ ज्ञान का महत्त्व वर्णन दिया है। ज्ञान प्राप्त करनेके पथाद्—

सत्य का मार्ग

विद्वान् ऋतस्य पन्थां अनु एषि । (मं० १६)

विद्वान् होकर सत्यके मार्गके अनुकूल होकर जाता है।” सत्यका आत्मके साथ पालन करना चाहिये। सत्य ही मनुष्यके मार्गदर्शक और सब बन्धनोंकी दूर करनेवाला है। सत्यके पलनेसे ही सब प्रकारकी उन्नति होती है। इसी तरह—

ब्रह्मसिं बधमानः सुदिने एषि । (मं० १७)

“अप्रशस्त निन्दनीय बातको दूर करनेसे तू उत्तम दिन के प्रकाशपूर्ण जीवनमें वर्तमान करनेवाला होगा।” जिस प्रकार मनुष्यको सत्यका पालन करना अभीष्ट है, उसी प्रकार अप्रशस्त निन्दनीय दुष्ट व्यवहारको उर्ध्वथा दूर करना भी अर्हत्त इष्ट है। अन्यथा उस अवस्था मनुष्यको बढावि प्राप्त नहीं हो सकती। उत्तम गुणोंको अपने अन्दर बढाना और हीन दुर्गुणोंको अपनेमें से दूर करना यही अध्वदयका अनुष्ठान है। मनुष्य अपने अध्वदयका मार्ग आक्रमण कर रहा है या नहीं इसकी परीक्षा भी उसके भूत भविष्यका व्यवहार देखकर ही सकती है इसलिये कहा है कि—

आत्मा और संसार ।

असति सत् प्रतिष्ठितम् । सति भूतं प्रतिष्ठितम् ।

भूतं भये अस्वं भूते व प्रतिष्ठितम् । (मं० १८)

“असत् में सत् और सत् में भूत ठहरा है।” यह पहिले कथन है। यह संसार नाशवान् होनेसे असत् है, और आत्मा

त्रिकलाबाधित होनेसे सत् है । ये दोनों परस्पर छगत होनेसे कदा जाता है कि एक दूसरेमें ठहरा है । यही विषय दूसरे ग्रन्थमें ऐसा कदा जा सकता है—“शरीरमें आत्मा और आत्मामें शरीर ठहरा है ।” ईशोपनिषद् में भी इसी भावसे निम्नलिखित मंत्र आया है—

वस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ वा० यजु०, ४०।६

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकिंस्सति ॥ ईशा० ४० ६;

छाण्ड० यजु० ४०।६

तथा भगवत मे—

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्त्वमवाधितम् ।

अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्स्वप्नि चारमनि ॥

श्री० भाग० । ३।१४।४६

सर्वभूतेषु यः परमेश्वरगवज्जावमात्मनः ।

भूतानि भगवत्स्वप्नस्यैव भागवतोत्तमः ।

श्री० भाग० १।१।१४।४५

इन सब स्थानोंमें यही कहा है कि “आत्मा—(सत्) मय भूतमें [अद्यतमें] है और सब भूत [अद्यत्] आत्मामें हैं । यह जो जानता है और इसका जो अनुभव करता है वह बड़ा मज्ज कहलाता है, वह अष्ट पुरुष होता है, वही लोकमोक्षसे परे होकर परमेशिद्धिको प्राप्त होता है । इसमें पहिली परीक्षा सर्वत्र परमेश्वरकी उपस्थितिका अनुभव जाना है, ऐसा अनुभव आगया तो समझना चाहिये कि उन्नति होगयी है, और यदि केवल शब्दसे ही ‘परमेश्वर सर्वव्यापक’ होनेका शब्दिक ज्ञान हुआ है, तो समझना चाहिये कि अभी अथवा मनन विदित्यासन का अनुष्ठान होना चाहिये ।

ऊपरके मंत्रमें दूसरी परीक्षा यह कही है कि (भूतं मध्ये, मध्ये भूतं आहितं) भूत मविष्यमें और मविष्य भूतमें है । इसका अनुभव देखनेके लिये मनुष्य अपना विचार प्रथम करे । मनुष्यका वर्तमान और मविष्य उसके भूतकालके कर्ममें होता है, और उसके भूतकालके कर्मके साय उसका मविष्यकाल नियतित हुआ होता है । बराहस्पिके लिये देखिये—यदि एक मनुष्य प्रथम आधुनिक उत्तम ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक धर्मानुष्ठानसे अपना आधुनिक स्वर्गीय करता है, जो समझना चाहिये कि उसका योगन और वार्षिक्य सुखसे स्वर्गीय होगे, क्योंकि उसका भूत काल

मविष्यमें संबन्धित है । इसी प्रकार राष्ट्रमें भी यही बात देखिये—जिस राष्ट्रके भूत कालके लोगोंने उत्तम पुरुषार्थ किया हो, उस राष्ट्रका वर्तमान और मविष्यकाल भी आनन्दमें स्वर्गीय होगा, और जिस राष्ट्रके लोगोंने भूतकालमें परातप्य प्राप्त किया हो, उसका मविष्य काल कष्टमें जायगा, क्योंकि (भूतं मध्ये, मध्ये भूतं आहितं) भूत मविष्यमें फलता है और मविष्यका उत्तम भूतमें होता है । देखिये यह वेदका उपदेश जैसा व्यक्तिमें वैसा ही राष्ट्रमें प्रत्यक्ष दीख सकता है । इस सत्यका अनुभव करता हुआ तथा अपने भूत मविष्य वर्तमानका विचार करता हुआ, मनुष्य अपने मविष्य कालमें दुःख प्राप्त होनेके बीज संप्रत्येक कालमें अपने ही प्रयत्नसे न बो देवे । परंतु उसको उचित है कि वह इस समय ऐसे द्युम कर्म करे कि जिससे शुभ फल उसको मविष्य कालमें प्राप्त हो । आजकी हमारा स्थिति हमें अपने ही भूतकालके कर्मोंसे प्राप्त हुई है और इस समय हम ही अपना मविष्यकाल बना रहे हैं । इसी उद्देशसे वेदमें कहा है—

भूत मविष्य वर्तमान ।

पुरुष पवेदं सर्वं यज्रूतं यच्च मध्यम् ।

उतामृतत्वस्येवानः० ।

ऋ० १।१।२, २ ।

वा० यजु० ३० । २ ।

पुरुष पवेदं सर्वं यज्रूतं यच्च माग्यम् ।

उतामृतत्वस्येवारः० ॥ अथर्व० १५।६।४

“वर्तमान कालमें जो पुरुष है वही उसके भूत और मविष्य का रूप है और वह अनुत्तल का स्वामी है अर्थात् किसी पुरुष का वर्तमान काल उसके मविष्यका बीज और भूत का परिणाम दिखाता है । मनुष्यकी तादृश्य अवस्थासे पता लग सकता है कि उसने अपना बालपन कैसा व्यतीत किया था और उधीसे पता चलता है कि उसका मविष्य कैसा होगा । राष्ट्रपुरुषके विषयमें भी यही व्यवस्था है, राष्ट्रके वर्तमानकालकी परिस्थितियोंमें उसके भूतकालीन पुरुषार्थ या पुरुषार्थहीनताके परिणाम दीखते हैं, और उसी वर्तमानकालमें वह जो करता है उस अपने पुढे यैसे ही वह अपने मविष्यकी मवितव्यताके बीज बो देता है । क्योंकि प्रत्येक पुरुष भूतकालका परिणाम और मविष्य कालका बीज धारण करता है । इस विचारसे ही मनुष्य अपनी परीक्षा कर सकता है । जाया है कि पाठक इस रीतिसे अपनी परीक्षा करें और अपना उपस्थितिका मार्ग है या अधोगतिका है, इसका

निश्चय करें और यदि अवनतिका मार्ग होगा, तो उसे तत्काल छोड़ दें और सञ्चितिके मार्गपर ही सदा रहें । तथा मनमें यह महत्वाकांक्षा धारण करें कि—

आत्मतेज ।

अहं भ्राजया भ्राजयात्सम् । (मं० २०)

“मैं अपने तेजसे तेजस्वी बनूँगा ।” दूसरेके तेजसे तेजस्वी बननेमें पराधीनता है । प्रत्येकको अपने तेजसे तेजस्वी बनना चाहिये । प्रत्येकको अपने सामर्थ्यसे रक्षा होनी चाहिये, अपने ज्ञानसे प्रत्येकको विवेक करना चाहिये, प्रत्येकको अपने धनका भोग लेना योग्य है, इसी प्रकार अन्वय्य विषयोंके संबंधमें जानना चाहिये । जिधकी रक्षा दूसरेके बलसे होती हो, जो स्वयं अपने ज्ञानसे विचार नहीं कर सकता, जिधके पास अपने पौषण करनेके आवश्यक पदार्थ नहीं हैं, उसकी शोचनीय अवस्था होती है, इसके विषयमें पाठक स्वयं विचार करके जान सकते हैं । अतः अपने प्रकाशसे प्रकाशनेका उपदेश यहाँ इस मंत्रद्वारा दिया है, पाठक इसका विचार करें और अपने समर्थसे समर्थ बनकर यहाँ यशस्वी, कीर्तिमान और स्वतंत्र अर्थात् शुद्धबुद्ध और सुख बननेका यत्न करें । इसी प्रकार और भी कहा है—

अहं महावर्षसेन रुपा रोचः(भूवा)वचिषीया (मं० २१)

“मैं अपने ज्ञानके प्रभावसे प्रभावित और अपने तेजसे तेजस्वी होकर प्रकाशित होऊँगा” । इस मंत्रमें भी वही भाव दुहराया है और ज्ञानकी आवश्यकता उक्तिके लिये अत्यंत है, यह बात यहाँ पुनः स्पष्ट की है ।

आगे उदयकी प्राप्ति होनेवाले, प्रकाशित होनेवालोंको नमस्कार करनेको कहा है और जो इस प्रकार प्रकाशित होकर अपना जीवनकम समाप्त करके अस्तकी जाते हैं, उनको भी नमस्कार करनेको कहा है । यहाँ सूर्यको सम्मुख रखनेको कहा है । मनुष्य का आदर्श सूर्य है, सूर्यके समान मनुष्य अपना अभ्युदय प्राप्त करे, सूर्यके समान इस जगत्में प्रकाशित होवे और प्रदीप्त रहता हुआ तथा सबको प्रकाशका मार्ग बतलाता हुआ अन्तमें कृतकृत्य होकर अस्तकी प्राप्त होवे । इस प्रकार अस्त होना भी आदर्शरूप होता है । इस तरह सब मनुष्य सूर्यको अपना आदर्श मानें । और उषर्षे यह बोध प्राप्त करें । पाठक इस दृष्टिसे विचार कर और सूर्यको अपना आदर्श मानकर २६ वे मंत्रतकटा उपदेश

मननके द्वारा मनमें स्थिर करें । इसके मंतर एक महत्त्वपूर्ण मंत्रमात्र है वह प्रत्येक मनुष्यको नियम स्मरणमें धारण करना योग्य है, वह अथ देखिये—

अपना यज्ञ ।

अहं महाणा वर्मेणा उचोतिषा तर्षसा च भावृत्-
हृत्वर्षोषः विहायाः जरदष्टिः सहासायुः सुकृत् । चरेन्म ४
(मं० २०)

अहं महाणा वर्मेणा उचोतिषा तर्षसा च परिहृतः

... मृत्येन गुप्त ... मृत्येन भग्येन च गुप्तः (चरेयमः) ४
(मं० २८-२९)

पाप्मा मा मा प्रापस्, मृत्युः मा मा प्रापत् ।

अहं पाचः सखिलेन जन्तुर्ध्वे । (मं० २९)

“मैं ज्ञान, आरगरक्षाका सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, पराक्रम करता हुआ, विविध पुष्ट्यापेक्षा धारण करता हुआ, दीर्घ आयु प्राप्त करके, सदाचारसे व्यवहार करूँगा । मैं ज्ञान, आरगरक्षाका सामर्थ्य, तेज और बलसे युक्त होकर, सस्यसे सदा सुरक्षित होना हुआ, मृतमदिर्य वर्तमान काल में होनेवाले कर्मोंसे सुरक्षित होता हुआ, सदाचारसे व्यवहार करूँगा । पाप मेरे पास न आवे, पापी मेरे संनिध न आवे, मृत्युका भय मुझे न प्राप्त हो, मैं अपनी पापीको शुद्ध जीवनसे युक्त करता हूँ ।”

इसमेंसे प्रत्येक वाक्य इतना स्पष्ट, इतना तेजस्वी, इतना बोधप्रद और इतना मार्गदर्शक है कि उसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी यहाँ आवश्यकता प्रतीत ही नहीं होती । पाठक इसीका पाठ वारंवार करें, वारंवार मनन करें और अपने आत्माके अन्दर वेदने ये ओजस्वी विचार स्थिर करें । इन्हीं विचारोंकी स्थिरतासे मनुष्य विजयी होगा और अभ्युदय प्राप्त करेगा और अन्तमें धन्य भी होगा । जो पाठक इस तरह इस काण्डका मनन करेंगे, वे अपनी उन्नतिका पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । इस काण्डके प्रत्येक मंत्रमें गुप्त शक्ति भरपूर भरा है । केवल बाह्य अर्थके प्राप्त करनेसे ही पाठकोंको यह नहीं समझना चाहिये कि हमने मंत्रका आशय समझ लिया है, मंत्रका आशय तो जागे पीछेके शब्दोंके साथ और विधानों के साथ समति देखकर मनन करनेसे ही प्वालमें आसकता है । आशा है कि इस महत्त्वपूर्ण उपदेशके काण्डसे पाठक अधिकसे अधिक बोध प्राप्त करके कृतकृत्य और धन्य बनेंगे ।

विषयसूची

	पृष्ठ		पृष्ठ
लोकविषय	२	विषामहिः	११
ऋषि देवता छन्द	३	इन्द्रः	"
अभ्युदयके क्रिये प्रार्थना	५	उपास्यके गुण उपासकमें	"
सप्तदश काण्डका मनन	१०	अभ्युदय	"
लोकविषय बनना	"	पराक्रम	"
वीरके गुण	"	बडा सौभाग्य	१२
गोजित्	"	न दब जाना	"
स्वर्जित्	"	सत्यका मार्ग	"
संघनाजित्	११	आत्मा और संसार	"
सहमान	"	भूत भविष्य वर्तमान	१३
सहोजित	"	आरमतेज	१४
सहीमान्	"	अपना यश	"
सासहान	"		





ॐ

अथर्ववेद

का

सुबोध माष्य ।

अष्टादशं काण्डम् ।

तपस्वियोंका लोक ।

तपसा ये अनाघृण्यास्तपसा ये स्वर्धुयुः ॥
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवार्पि गच्छतात् ॥ १६ ॥
ये युष्यन्ते प्रघर्षेषु शरांसो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रंदाक्षिणास्तांश्चिदेवार्पि गच्छतात् ॥ १७ ॥

(अथर्ववेद १८।१।)

“ जो लोग तप करनेके कारण किसी प्रकारके कष्टोंको नहीं पहुंचाए जा सकते, अर्थात् जिनको पाप नहीं सता सकते, व जो लोग तपके कारण स्वर्गको प्राप्त हुए हैं, तथा जिन्होंने बड़ा तप किया है, उन तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो, अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे ॥ जो शर वीरगण संग्रामोंमें युद्ध करते हैं, और जो उन संग्रामोंमें शरीरोंका त्याग करते हैं, अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, अथवा जो लोग हजारों प्रहारके घनोंका दान करते हैं, उनको भी तू प्राप्त हो । ”



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

अष्टादशं काण्डम्

इस अष्टादश काण्डके प्रथम सूक्तमें प्रारंभमें (सखावं सखयां बहूनां) " मित्रको मित्रताके साथ प्राप्त करनेका विषय " है । यह श्रुम और मित्रता बढानेका विषय होनेसे यही इसका मंगलाचरण है ।

अथर्ववेदके तृतीय महाविभागका यह अन्तिम काण्ड है । क्योंकि काण्ड ११ से बाण्ड १८ तक यह महाविभाग है । इस काण्डमें अन्त्येष्टीका विषय है । अर्थात् "यम, पितर, मृतकी मरणोत्तर स्थिति, पितृलोक" यही इस काण्डका प्रारंभसे अन्ततक विषय है । इस काण्डके मंत्रोंकी संगति आये बतौर जायगी और बड़ी मरणोत्तरकी स्थितिका यह विषय स्पष्ट किया जायगा । इस काण्डके बहुतसे मंत्र ऋग्वेदमें हैं और ऐतरेय संहिता (अ० ५) में भी हैं । इन मंत्रोंमें स्थानस्थानपर बहुतसे पाठभेद भी हैं । अथर्ववेदकी पिण्डाद संहितामें ये मंत्र धैर्यरूपसे नहीं हैं, अर्थात् कई हैं और बहुतसे नहीं हैं ।

अब इस काण्डके मंत्रोंके "ऋषि-देवता-छन्द" देखिये-

ऋषि, देवता और छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषिः	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः ।				
१	११	अथर्वा	यमः, मन्त्रोक्ताः, ४१ - ४३ सरस्वती, ४०-४२; ४०-४१, ५१, ५२ पितरः ।	त्रिष्टुप्; ८, १५ आर्षोपनिः; १४, ४१, ५० मुरिजः १८-२०, २१-२३ जगत्याः; ३७, ३८ परेणिकः; ५६, ५७, ६१ अनुष्टुभः; ५९ पुरोवृद्धी ।
द्वितीयोऽनुवाकः ।				
२	६०	,,	यमः मन्त्रोक्ताः । ४, ३४; अग्निः, ५ ब्राह्मदेवाः, २१ पितरः	त्रिष्टुप्; १-३, ६, १४-१८, २०, २२, २३, २५, ३०, ३६, ४६, ४८, ५०-५२, ५६ अनुष्टुभः; ४, ७, ९, १३ जगत्याः; ५, २६, ४९, ५७ मुरिजः; १९ त्रिपदा गायत्री; २४ त्रिपदा धमविषुवाधी गायत्री; ३० विराट् जगती; ३८-४४ आर्षोऽगायत्र्यः; (४०, ४२-४४ मुरिजः) ४५ ककुम्भती अनुष्टुप् ।

तृतीयोऽनुवाकः ।

१ ७३ अथर्षा यमः; संश्रीकाः, ५,
६ अग्निः, ५० भूमिः
५४ इन्द्रुः; ५६ आपः

त्रिष्टुप्; ४, ८, ११, २३ सतः पंचवः; ५ त्रिपदा निवृ
द्वायत्री; ६, ५६, ६८, ७०, ७२ अनुष्टुभः; १८, २५
२९, ४४, ४६ जगत्याः; (१८ भुरिक्, २९ विराट्)
३० पञ्चपदा भतिजगती; ३१ विराट् शक्यरी; ३२-३५
४७, ४९, ५२ भुरिजः; ३६ एकावसाना आसुरी अनुष्टुप्
३७ एकावसाना आसुरी गायत्री; ३९ परात्रिष्टुप् पंक्तिः,
५० प्रस्तारपंक्तिः; ५४ पुरोऽनुष्टुप्; ५८ विराट्; ६०
ऋक्साना षट्पदा जगती; ६४ भुरिक् पद्या पद्यायां
६७ पद्या बृहती, ६९, ७१ नपरिहाद् बृहती ।

चतुर्थोऽनुवाकः ।

४ ८९ .. यमः, मन्त्रोक्ताः, ८१
पितरः; ८८ अग्निः,
८९ चन्द्रमाः

त्रिष्टुप्, १, ४, ७, १४, ३६, ६०, भुरिजः; २, ५, ११,
२९, ५०, ५१, ५८ जगत्याः; ३ पञ्चपदा भुरिगतिजगती,
६, ९, १३ पञ्चपदा शक्यरी. (९ भुरिक्, १३ ऋक्साना)
८ पञ्चपदा बृहती; (२६ विराट्) २७ याजुषी गाय-
त्री, (२५) ३१, ३२, ३८, ४१, ४२, ५५-५७,
५९, ६१ अनुष्टुप् (५६ ककुम्भती); ३९, ६२, ६३
आस्तारपंक्तिः; (३९ पुरोविहाद् ६२ भुरिक् ६३ स्व
राट्) ६७ त्रिपदाची अनुष्टुप्; ६८, ७१ आसुरी अनुष्टुप्
७२-७४, ७९ आसुरीपंक्तिः ७५ आसुरी गायत्री; ७६
आसुरी उभिक्, ७७ देवा जगती; ७८ आसुरी त्रिष्टुप्
८० आसुरी जगती, ८१ प्राजापत्यानुष्टुप् ८२ साम्नी
बृहती; ८३, ८४ साम्नी त्रिष्टुभो; ८५ आसुरी बृहती
(६७-६८ ७१, एकावसाना) ८६, ८७ चतुष्टुप्
शक्यी, (८६ ककुम्भती, ८७ शकुम्भती) ८८ ऋक्साना
पद्यापंक्तिः; ८९ पञ्चपदा पद्यापंक्तिः ।

इस सूक्त का विषय एक ही होनेसे चारों सूक्तों का अर्थ करनेके पश्चात् ही सबका मिश्रण विवरण करेगे, जिससे पाठशैलीके सम
भौर पितृसंबन्धी सब बातोंका पता लग जायगा ।



अथर्ववेदका सुवाध भाष्य

अष्टादशं काण्डम् ।

यम, पितर और अन्त्येष्टि ।

[१]

(ऋषिः- अथर्वा । देवता-यमः, भंत्रोक्ताः)

ओ चित् सखायं सूरया ववृत्यां तिरः पुरु चिद्वर्णं जग्म्वान् ।

पितुर्नर्पातुमा दधीत वेधा अधि धर्मि प्रतुरं दीर्घ्यान्ः ॥ १ ॥

न ते सखां सूरयं वष्टघेतत् सलक्ष्मा यद् विपुरुषा भवाति ।

महस्पुत्रासो अतुरस्य वीरा दिवो धर्तारं उर्विया परिं ख्यन् ॥ २ ॥

अर्थ— [पुरु अर्णवं तिरः जग्म्वान्] विस्तृत संसाररूपी समुद्रके पार जाना चाहता हुआ जो तू यम है, उस तुझ पतिरूपसे [सखायं] मित्रको मैं यमी [सूरया] पत्नीरूपसे प्राप्त मित्रता द्वारा [ववृत्याम्] वरण करूँ अर्थात् तुझ यमको मैं यमी अपना पति बनाऊँ । और इस प्रकार पति बनकर, यम [अधिधर्मि] पृथिवीपर [प्रतुरं दीर्घ्यान्ः] विशेष रूपसे प्रकाशमान होता हुआ जयवा मुझ यमीमें गर्भधारण करनेके उपायका विशेष चिन्तन करता हुआ, [वेधाः] संतानका उत्पादक यम [पितुः नर्पातं] पिताके कुल्हको न गिरानेवाली अर्थात् कुलप्रवर्तक संतानको [भादधीतं] धारण करे । [ऋ० १०।१०।१] ॥ १ ॥

[ते] तुझ यमीका [सखा] मित्र यह यम [एतत् सूरयं] इस प्रकारकी पतिपत्नी भाववाली मैत्री [न वष्टि] नहीं चाहता । [यत्] क्योंकि इस प्रकार करनेसे [सलक्ष्मा] एक ही उदरसे उत्पन्न होनेके कारण समान लक्षणवाली [विपुरुषा] भिन्न स्वरूपवाली अर्थात् बहिनसे पत्नीके स्वरूपमें परिणत [भवाति] हो जाती है । जयवा इस भंत्रार्थ का अर्थ यूँ करना चाहिये [यत्] क्योंकि [सलक्ष्मा] तू यमी महमः होनेसे समान लक्षणवाली है अतः [ते सखा] तेरे मित्र यम [एतत् सूरयं] इस पत्नी रूपसे मित्रताको [न वष्टि] नहीं चाहता । पत्नी तो वह बन सकती है । जो कि [विपुरुषा] भिन्न स्वरूपवाली भिन्न लक्षणवाली [भवाति] होती है । इसके अतिरिक्त [महः महस्पुत्र] महान् प्राणप्रदाया परमात्मके [दिवः धर्तारः] स्वर्गद्वारकी धारण करनेवाले अर्थात् सामाजिक व्यवहारा कुशल [वीरा-पुत्रासः] पराक्रमी मनुष्य पुत्र भी [उर्विया] पृथिवीपर ऐसे संबन्धका [परिलयन्] परिवाद-निराकरण-निषेध करते हैं । [ऋ० १०।१०।२] ॥ २ ॥

भावार्थ- यमी यम से कहती है कि संसाररूपी सागरसे तारनेके लिये हम दोनों पतिपत्नीके रूपमें मित्रता करें, ताकि यम मेरेमें अपने पितृकुलकी प्रवर्तक संतान उत्पन्न करें, जिससे कि यमका वंश नष्ट न होने पावे ॥ १ ॥

यम यमीको उत्तर देता हुआ बहता है कि, हे यमी! तूने जिस प्रकारकी मैत्रीकी कामना मुझसे की है उस प्रकारकी मुझे स्वीकृत नहीं है, क्योंकि तू तो समान लक्षणवाली है और पत्नी तो भिन्न लक्षणवाली होना चाहिये । इसके विवाय किफ मैं ही इस बातका प्रतिवाद नहीं कर रहा अतितु अन्वयव्यवहारकुशल लोक में पृथ्वीपर इस प्रकारके संबन्धका विरोध करते हैं ॥ २ ॥

उशन्ति घा ते अमृतांस एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य ।	
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्पुः पतिस्तन्वं १ मा विविश्याः	॥ ३ ॥
न यत् पुरा चंकुमा कद्रं नूनमृतं वदन्तो अर्तुवं रपेम ।	
गन्धर्वो अप्सवर्ष्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ	॥ ४ ॥
गर्भे तु नौ जनिता दर्स्पती कर्द्वेवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।	
नकिरस्य प्र भिनन्ति व्रतानि वेदं नावस्य पृथिवी उत घौः	॥ ५ ॥

अर्थ—[ते अमृतांसः] ये अमृत स्वरूप उपवहाह उदाह मनुष्य भी [एकस्य मर्त्यस्य] एक अर्थात् अद्वितीय मनुष्यकी [त्यजसं] सन्तान [उशन्ति] चाहते हैं [एतत् मा] यह बात प्रसिद्ध ही है इण्डिय संतानोत्पत्तिके लिए [ते मनः] तेरा मन [मनसे मनसि] हमारे मनमें स्थित होवे और इस प्रकार [जन्पुः पतिः] संतानका उत्पन्न करनेवाला पति हुआ इत्या [तन्वं आ विविश्याः] मुझ यमीके शरीरमें प्रवेश कर [ऋ० १०।१०।३] ॥ ३ ॥

[यत्] जो कार्य [पुरा] पहिले [न चकुम] हमने नहीं किया है वह कार्य [वदन्ते] निश्चयसे अब क्यों करें ? [अर्तुं वदन्तः] साथ बोलते हुए [अमृतं रपेम] असत्य क्यों बोले ? अथवा [यत्] क्योंकि [पुरा न चकुम] पहिले हमने ऐसा काम नहीं किया है, इस प्रकासे [नूनं] निश्चयसे [अर्तुं वदन्तः] साथ बोलते हुए [कद्रं] किस लिए [अमृतं रपेम] झूठ बोलें कि हमने ऐसा काम पहिले किया है । उदात्तार्थमें यम अपने तथा यमी की मा बाप व दोनोंके पारस्परिक संबन्धसे दर्शाता हुआ कहता है कि [अप्सु गर्भवः] अन्तरिक्षमें विद्यमान आदित्य [च] और [योषा सा अथवा] आदित्यकी स्त्री वह अथवा [नौ] हम दोनोंके [नाभिः] उपात्तस्थान हैं । [उत्] इस कामसे [नौ] हम दोनों का [जामि] जो संबन्ध है वह [परमं] बड़ा उत्कृष्ट व पवित्र है । [ऋ० १०।१०।४] ॥ ४ ॥

[सविता] भेरक, [विश्वरूपः] विश्वस्वष्टा [त्वष्टा] बनानेवाले [देवः] प्रकाशमान [जानता] उत्पादक परमात्माने [तु] निश्चयसे [नौ] हम दोनोंको [गर्भे] माताके गर्भमें [दृग्पती] पति पत्नी [चः] बनाया है । [अस्य] सत्य उत्पादक परमात्माके [मजानि] बनाए हुए नियमोंको [न किः च भिनन्ति] कोई भी नहीं तोड़ते । [नौ] हम दोनोंको दृग्पती बनानेका [अस्य] इस त्वष्टाका जो कर्म है, उसे [पृथिवी उत घौः] पृथ्वी व घु दोनों ही [वेद] जानते हैं । [ऋ० १०।१०।५] । ५ ॥

भावार्थ— यमी यमसे कहती है कि क्योंकि संसारमें रहते हुए प्रत्येको एक न एक संतान अवश्यमेव उत्पन्न करनी चाहिये, अतः तू और मैं एक मनवाले होने व तू मेरेमें संतान उत्पन्न कर ॥ ३ ॥

यम यमीसे कहता है कि जो काम हमने पहिले कभी नहीं किया वह अब हम झूठ बोलकर क्यों करें ? और इसके सिवाय हम दोनोंके एक ही माबाप होनेसे हमारा पारस्परिक संबन्ध बड़ा उत्कृष्ट है अतः ऐसा संबन्ध हम दोनोंमें नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

यमी यमसे कहती है कि हे यम ! परमात्माने स्वय ही हम दोनोंको-गर्भमें से ही पतिपत्नी बनाया है । क्योंकि उसने हम दोनोंको एक साथ ही गर्भमें रखा था । गर्भसे ही हम दोनोंको जोड़ी बनाई है । इस परमात्माके नियमोंका तो कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता तो फिर हम कैसे करें, अतः तू मेरे साथ यह संबन्ध जोड़ । यह घु और पृथिवी भी जानते हैं कि त्वष्टाने हमारा इस प्रकारका संबन्ध बनाया है । तू यह न समझ कि मैं अपनी ओर से बनाकर कह रही हूँ ॥ ५ ॥

को अथ युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिर्मानतो भामिनो दुहृणायून् ।

आसन्निपून् हृस्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधुत् स जीवात् ॥ ६ ॥

को अस्य वेद प्रथमस्याहनः क ई ददर्श क इह प्र वोचत् ।

बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कर्दु ब्रव आहनो वीच्या नून् ॥ ७ ॥

यमस्य मा यम्यै क् काम आगन्त्समाने योनौ सहश्रेयाय ।

जायेव पर्ये तन्वं रिश्चियां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ८ ॥

अर्थ— हे यमी ! [अथ] आजकलके जमाने में [ऋतस्य गाः] सत्य की स्तुति करनेवाले, [शिर्मावतः] अष्ट कर्मोंके करनेवाले [भामिनः] नेत्रस्त्री, [दुहृणायून्] दुष्टों पर क्रोध करनेवाले, [आयन् इपून्] मुखपर बाण मारनेवाले, [हृस्वसः] हृदयोंमें शस्त्र मारनेवाले तथा [मयोभून्] सुख पहुँचानेवालों को भला [कः] कौन [धुरि युंक्ते] कार्य धुरा में जोड़ता है ? कोई भी नहीं । [यः] जो [एषां भृत्यां] इनके भरण पोषण से [ऋणञ्] बढ़ाता है [सः] वह [जीवात्] वस्तुतः जीता है । ॥ ६ ॥

हे यमी ! [अथ प्रथमस्य अहनः] इस प्रथम दिन के संबंधमें [कः वेद] कौन जानता है ? [क ई ददर्श] और किसने इसको देखा है ? [क इह प्रवोचत्] और उसके विषयमें भला कौन कह सकता है ? [मित्रस्य वरुणस्य धाम] मित्रभूत अष्ट परमात्माका धाम [वृहत्] महान् है । अतः [आहनः] हे बलेश देनेवाली ! [वीच्या] एक कपट द्वारा [क्व उ] कैसे [नून् ब्रवः] हम मनुष्योंके साथ बोलतो है ? ॥ ७ ॥

(समाने योनौ) एक घरमें [सह श्रेयाय] एक शय्यापर साथ सोनेके लिए [यमस्य कामः] यम की कामना (मा यम्यै) सुप्त यमी को [आ अगन्] आकर प्राप्त हुई है। मैं यमी [पर्ये जाया इव] पतिके लिए जिस प्रकार स्त्री उस प्रकार यमके लिए [तन्वं] अपना शरीर [रिश्चियां] फैलाऊँ और [रथ्या चक्रा इव] रथके दो पहियों के समान हम दोनों यम यमी [वि वृहेव] परस्पर मिलें-व्यवहार करें ॥ ८ ॥

भावार्थ—यम यमी से कहता है कि हे यमी! आजकलके जमानेमें सत्यवादी वीरजनोंको कौन प्युता है। उनके मार्गका कौन अनुसरण करता है ? कोई भी नहीं। वस्तुतः माई बहिनका विवाहबंधन नहीं होना चाहिये तो भी तू झटपूट युक्तियों देकर कि गर्भसे ही हम दोनोंको परमात्माने दंपती बनाया है, असत्य बोल रही है ॥ ६ ॥

यम यमी से कहता है कि तू जो यह युक्ति दे रही है कि गर्भसे ही परमात्माने हमको पति पत्नी बनाया है इत्यादि सो ठीक नहीं है। क्योंकि जिस दिन गर्भ धारण हुआ था उस दिन स्वशा का क्या विचार था इस बातको कौन जानता है ? किसने देखा ? और किसने आकर कहा ? न कोई जान ही सकता है, न देख ही सकता है और नहीं कह ही सकता है। क्योंकि परमात्माकी शक्ति अगाध है, उसको कोई जान नहीं सकता। ऐसी हालतमें तू हम मनुष्योंसे दुई ऐसी बातें क्यों बनाती है कि परमात्माने ही हमें गर्भ से दंपती बनाया है तथा माई बहिनका विवाह होना चाहिये । (ऋ० १०।१०।६) ॥ ७ ॥

यमी यमसे कहती है कि मेरे मनमें तुझ माई यमके विषयमें कामवास्तन उत्पन्न हुई है। तेरी पत्नी बनकर एकत्र विहार करनेका इच्छा है। अतः हे माई ! आओ हम दोनों मिलकर पति पत्नीकी तरह रहें व रथके दोनों पहियों की तरह मिलकर घंघार की यात्रा करें (ऋ० १०।१०।७) ॥ ८ ॥

न विष्टन्ति न नि विपन्त्यंते देवानां प्यशं इह ये चरन्ति ।

॥ ९ ॥

अन्येन मर्दाहनो यादि तृपुं तेत् वि बृह रथ्यव चक्रा
रात्रींभिरस्मा अहाभिदशभ्युत् सूर्यस्य चक्षुर्मृदुहन्मिमीयात् ।

॥ १० ॥

दिवा पृथिव्या मिथुना सर्वन्धु युमीर्यमम्य विवृहादजामि
आ या ता गच्छामुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।

॥ ११ ॥

उपे बर्चेहि वृषभाय वाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्

॥ ११ ॥

भयं-[एत इव नां स्वरा] ये द्वयोके दत्त जघान् परमात्मके निवासक [ये] जो कि [इह] इस संसारमें
संचार करते हैं, वे [न विष्टन्ति] न तो एक स्थानपर टहरते हैं और [न] नहीं [निमिषन्ति] क्षीण वेद करते हैं जघान्
सोते हैं । इमलिप् त् [मत् अन्येन] मेरेसे भिन्न दूसरेके पास [तृपुं] शीघ्र [यादि] जा और हे [जाहनः] बह
देनेवाली ! [रथ्या चक्रा इव] रथके चक्रोंके समान उसके साथ [विवृह] आलिङ्गन कर ॥ ९ ॥

[रात्रींभि महभिः] रात और दिन [अस्मै] हम यमको सुमति [दशस्वत्] देवे । और [सूर्यस्य चक्षुः] सूर्यका
प्रकाश [मुहु] बारंबार [उत् मिमीयात्] इनके लिए कहे । [दिवा पृथिव्या] शुके माघ पृथिवी व पृथिवीके साथ
यु इय प्रकार [सर्वन्धु] भाई बहिन के रूपमें शिथल होते हुए भी यु व पृथिवी [निधुना] परस्पर
मिलकर रहते हैं, अतः [यमीः] यमी भी (यमरप जजामि विशदार्) यमका वन्धुवराहित संबंध करके [विवृहात्] स्पष्टहा
करें ॥ १० ॥

हे यमी ! [ता उत्तरा युगानि] वे मविष्णुमें ऐसे युग [या] निधरसे [आ गच्छन्] जायेंगे [वत्]
जिन युगोंमें कि [जामयः] वाहने [जजामि] वन्धुवराहित कर्म [कृणवत्] करेंगी जघान् बहिन भाईदोसे शारी
करेंगी । परन्तु तू तो [वृषभाय] किसी वीर्यवान् पुरुष के लिए [वाहुं] अपना हाथ [उपे बर्चेहि] फैला, जाये
बड़ा । जघान् उसके साथ पाणिग्रहण कर । इस प्रकार [सुभगे] हे भाग्यशालिनी ! [मत् अन्येन पति] मेरेसे भिन्न
पति की [इच्छस्व] इच्छा कर ॥ ११ ॥

नाकार्यं— दमी की कामवाचनाकी इच्छा सुनकर यम उसे बहता है कि परमात्मके दत्त प्रतिक्षण इगरे आचरणोंमें
देख रहे हैं । अतः तू मुझे छोड़कर अन्य किसीके साथ जाकर विवर्तित हुई हुई अपनी अभिलाषा पूर्ण कर ।
(ऋ० १०११०८) ॥ ९ ॥

यमी समझे बहती है कि देख, दिन व रात्री, यु और पृथिवी के परस्पर भाई बहिन होते हुए भी परस्पर मिलकर संगत
हुए हुए हैं । जरा आक्षेपलकर देख । फिर ऐसी अवस्थामें हम दोनों भाई बहिन होते हुए भी क्यों न मैं बहिनका संग्रह
छोड़कर तेरे साथ यमीका संग्रह करूँ ? (ऋ० १०११०९) ॥ १० ॥

यम यमी की पुच्छिपुच्छ दणम मनोक उक्ति सुनकर निहतर हुआ हुआ बहता है कि हे यमी ! इस प्रकारका समय लभ्ये
व्यवस्था जब कि भाई बहिन भी पतिपत्नीके अनुधार वर्तान करेंगी, परन्तु मैं ऐसा नहीं करना चाहता, चाहे तेरी पुच्छिपुच्छ
प्राप्तकर मेरे पास न भी हो । अतः तू मेरेसे भिन्न अन्य किसी वीर्यवान् पुरुषका पाणिग्रहण करके उभे अपना पति बना ।
(ऋ० १०१११०) ॥ ११ ॥

किं भ्रातासुद यदन्नाथं भवति किमु स्वसा यन्निर्वातिनिगच्छात् ।

काममृता बद्धेऽतद् रपामि तन्वा [मे तन्वं] सं विपृग्धि ॥ १२ ॥

न ते न्नाथं यन्मन्नाहमास्मि न ते तन्नं तन्वा इ सं पंपृच्याम् ।

अन्वेन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्टयेत् ॥ १३ ॥

न वा उं ते तन्नं तन्वा इ सं पंपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात् ।

असंपदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥ १४ ॥

वृत्तो वंतासि यम नव ते मनो हृदयं चाविदाम ।

अन्या किल त्वां कुर्ये व युक्तं परं भ्रजातै लिपुजेव वृक्षम् ॥ १५ ॥

पर्य- [किं भ्राता असत्] वह क्या भाई है [यत्] क्योंकि जिसके रहने हुए भी बहिन [अनाथ भवति] अनाथ बनी रहती है । [उ] और [किं स्वसा] वह क्या बहिन है कि जिसके रहते हुए भी [यत्] यदि भाई [निर्वातिः निगच्छात्] कष्टको प्राप्त होता है । अतः हे भाई ! [काममृता] कामसे युक्त हुई हुई में [एतत् बहु रपामि] यह बहुत कुछ कहती हूँ । इसलिये तू [तन्वा] अपने शरीरसे [मे] मेरे [तन्वं] शरीरको [सं विपृग्धि] संयुक्त कर ॥ १२ ॥

हे यमी ! [अत्र] यहाँपर [अहं] मैं [ते नाथं] तेरा स्वामी [न अस्मि] नहीं हूँ । और इसलिये [ते तन्नं] तेरे शरीरको [तन्वा] अपने शरीरके साथ [न सं पंपृच्याम्] संयुक्त नहीं करूँगा । अतः हे यमी ! [मत् अन्वेन प्रमुदः कल्पयस्व] मेरेसे भिन्न दूसरेके साथ आनन्द कर । [सुभगे] हे सौभाग्यवती ! [एतत्] इस प्रकारका संबन्ध [ते भ्राता] तेरा भाई यम [न वष्टि] नहीं चाहता ॥ १३ ॥

हे यमी [ते तन्नं] तेरे शरीर को [तन्वा] अपने शरीरके साथ [वं उ] कदापि [न सं पंपृच्याम्] जो बहिन के साथ संभोग करता है उसे [पारं आहुः] पानी कहते हैं । [एतत्] यह बात [मे मनसः हृदः] मेरे मन व हृदय के [असंपत्] विरुद्ध है-असंगत है कि [भ्राता] भाई मैं [स्वसुः शयने] बहिन की शय्यापर [शयीय] सोऊँ ॥ १४ ॥

हे यम ! [वत्] बटे दुःखकी बात है कि तू [वतः अस्मि] बड़ा निर्बल है । [ते] तेरे [मनः हृदयं च] मन तथा हृदयको [न अविदाम] हम नहीं जान पाये । खैर, [किल] निश्चयसे [अन्या] दूसरी ही [त्वां] तुझ [परिष्वजाते] आलिंगन देगी, [कदापि युक्तं इव] जिस प्रकारसे कि घोड़ेकी कमर पेटी, गाड़ीको जोते हुए घोड़ेको छिपटती है और जिस प्रकारसे कि [लिपुजा वृक्षं इव] बेल वृक्षको छिपटती है ॥ १५ ॥

भावाय-यमी यमसे कहती है कि हे यम ! देख, जो भाईके रहते हुए भी यदि बहिन अनाथ बनी रहे तो वह भाई किस कामका ? और इसीप्रकार बहिनके रहते हुए यदि भाईको कष्ट उठाना पड़े तो वह बहिन किस कामकी ? इसलिये हे भाई तू मेरे साथ अपने शरीरका संयोग कर ! (ऋ० १०-११-११२) ॥ १२ ॥

यम यमीके कहता है कि हे बहिन ! मैं तेरा स्वामी नहीं हूँ । अतः अपने शरीरसे तेरे शरीरको संयुक्त नहीं करूँगा । तू अन्य किसीके साथ आनन्दका उपभोग कर । तेरा भाई इध प्रकारका कार्य तेरे साथ करना नहीं चाहता । (उदारार्थं ऋ० १०-११-११२) ॥ १३ ॥

यमी यमसे अपने पूर्वोक्त कथनको टक करता हुआ कहता है कि मैं अपने शरीरके साथ तेरा शरीर कदापि संयुक्त नहीं करूँगा क्योंकि बहिनके साथ संभोग करनेवालेको पापों का दण्ड मया है इसके विवाय भाई बहिनकी शय्यापर लेटे, यह बात मेरे मन व हृदयके भी प्रतिकूल है अतः मैं तेरी बात नहीं मान सकता । (पूर्वार्थं ऋ० १०-११-११२) ॥ १४ ॥

यमी यमसे कहती है कि हे यम ! तू बड़ा ही निर्बल है । सबकुछ मैं तेरे मन व हृदयको जान नहीं पाई हूँ । अस्तु अन्व ही तो अवश्यमेव तुझे आलिंगन देगी जैसा कि कमरकी पेटी घोड़ेको देती है व बेल वृक्षको । (ऋ० १०-११-११२) ॥ १५ ॥

अन्यमू पु यम्यन्य उ त्वां परिं प्वजातै लिमुजेव वृक्षम् ।

तस्य वा त्वं मनं हृच्छा स वा तवाधां कृणुष्य संविदं सुभद्राम्

॥ १६ ॥

श्रीणि च्छन्दसांसि क्ववयो वि येतिरे पुरु रूपं दर्शितं विश्वचक्षणम् ।

आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन् आपितानि

॥ १७ ॥

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पर्यासि यद्दो अदितेरदाभ्यः ।

विदन् स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून्

॥ १८ ॥

अर्थ— [यमि] हे यमी ! तू [अन्य उ सु] अन्य पुरुषको ही आलिंगन कर और [अन्यः] दूसरा पुरुष ही (त्वां) मुझे [परिप्वजातै] आलिंगन देवे । [लिमुजा इव वृक्षम्,] जिस प्रकारसे कि बेल वृक्षकी आलिंगन करती है । [तस्य] इस पुरुषके [मन, त्वं हृच्छा] मनकी तू हृच्छा कर [स वा तव] और वह तेरे मनको माननेकी हृच्छा करे । [मय] और तब उसके साथ तू [सुभद्रा संविदं कृणुष्य] कल्याणकारिणी संगति कर ॥ १६ ॥

[क्ववयः] छान्दसी ज्ञानी जनोंके [श्रीणि छन्दसांसि] तीन छन्द अर्थात्—ओ संसारका आच्छादन करनेवाले स जो संसारको व्याप्त करें यानि जो संसारमें सर्वत्र उपलब्ध हो सकें ऐसे—तीन सर्वत्र उपलब्ध होनेवाले पदार्थों का संसारके निर्वाहके लिए [वि येतिरे] विविध प्रकारके यत्नोंमें लगा रखा है । उन तीनों छन्दोंमेंसे प्रत्येक [पुरुषम्] बहुत हर्षोवाला है, [दर्शतम्] मनुज है तथा [विश्वचक्षणम्] सब के देखने योग्य हैं । वे तीनों छन्द कौनसे हैं ? ' आप, वाता ओषधय] जल, वायु तथा औषधियाँ हैं । [तानि] ये तीनों छन्द [एकस्मिन् भुवने] इस एक ही जगत्में अर्पित हैं, स्थापित हैं ॥ १७ ॥

[अद्राम्य] किसीसे भी न दबने वाला [यद्दो] महान् [वृषा] कामनाओं की वधा करनेवाला अभि (वृष्णे) पराक्रमी जनके लिए [अदिते दिवः] अखण्डनीय सु लोकेसे [दोहसा] दोहने के साधन वृष्टिद्वारा [पर्यासि] जलो-रगो-को [दुदुहे] दोहता है । [सः] वह पराक्रमी अभि [यध, वरण,] वरण की तरह [धिया] अपनी बुद्धि द्वारा [विदन् वेद] सब कुछ जान लेता है । अथवा इस तृतीय पादका अर्थ यूं भी किया जा सकता है, [सः वरुणः] वह ऋजु जन [यथा धिया] अपनी बुद्धिके अनुसार [विश्वं वेद] सब कुछ जान लेता है और फिर वदनुसार [सः यज्ञियाः] इस पूजनीय वनकर [यज्ञियान् ऋतून्] पूजनीय ऋतुओंकी [यजति] पूजा करता है ॥ १८ ॥

भावार्थ— यम यमि कहता है कि हे यमी ! तू भी दूसरे पुरुषको प्राप्त हो । वह तुझे आलिंगन देवे । उसके मनके अनुभव करनेकी तू हृच्छा कर तथा वह भी तेरी हृच्छानुसार बले और इस प्रकारसे तुम दोनोंका मिलन कल्याण करनेवाला होवे ॥ १६ ॥

ज्ञानी लोकोंने जल वायु तथा औषधियोंको संसार निर्वाहके लिये नाना कार्योंमें लगा रखा है । वे इस संसार सर्वत्र उपलब्ध हो सकते हैं । वर्तमान समयके ज्ञानी लोकोंने जल वायु तथा औषधियोंको नाना कार्योंमें लगा रखा है तथा उनसे संसारका किस प्रकारसे निर्वाह हो रहा है, यह प्रत्यक्ष ही है । वे तीनों पदार्थ संसारमें सर्वत्र पाये जाते हैं, अतएव उन्हें छन्दके नामसे पुकारा गया है (छादनात् छन्दसांसि) इन्होंने संसारको ढक रखा है । जल, वायु तथा औषधियोंके संसार आच्छादित है । अतएव वे छन्द हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ— अतिरूप परमात्मा पुलोकसे जलको वृष्टि करता है । और मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार उस जलद्वारा ऋतुओंका उचित उपयोग लेता है । अनुयाग करता है । और इस प्रकार अन्वेषका पूजनीय बनता है ॥ १८ ॥

रपद् गन्धर्वार्या च योषणा नृदस्य नादे परि पातु नो मनः ।

इष्टस्य मध्ये आदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वीचति

॥ १९ ॥

सो चिन्तु भद्रा क्षुमती उशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती ।

यदीमशन्तमुशुतान्दनु कर्तुमग्निं होतारं विदधाय जीर्जनन्

॥ २० ॥

अथ त्वं द्रुप्तं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिपिरः श्येनो अध्वरे ।

यद्दी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमघ श्रीरजायत

॥ २१ ॥

सदासि रण्वो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुषः स्वध्वरः ।

विप्रस्य वा यच्छशमान उकथ्योक्ते वाजे ससुवा उपयासि भूरिभिः

॥ २२ ॥

अर्थ— (गन्धर्वाः) स्तुति करनेवालों का धारण करनेवाली, (अर्था) सक्मोंमें रहनेवाली, (योषणा) भजनीय वेदवाणी (रपत्) अग्नि के गुणगान करती है । वह अग्नि (नः मनः) हमारे मनकी (नृदस्य नादे) स्तुति करनेवाले की अर्चना करने में (परिपातु] चारों ओर से रक्षा करे । (इष्टस्य मध्ये) इष्ट अर्थात् अभिलषित पदार्थके बीचमें वह (आदितिः) अखण्डनीय अग्नि हमें (निधातु) स्थापित करे । वह अग्नि (नः ज्येष्ठः भ्राता) हमारा बड़ा भाई होकर (प्रथमः) प्रसिद्ध हुआ (नः विवोचति) हमें उपदेश देता है ॥ १९ ॥

(सो) वही (चिद्) निश्चयसे (नु) अब (भद्रा) कल्याण करनेवाली (क्षुमती) लक्ष्मणी, (यमस्वती) कीर्तिवाली, (स्वर्वती) आन्वित्यवाली अर्थात् जिसमें आदित्य विद्यमान है ऐसी (उषाः) उषा (मनवे) मनुष्यके लिए (उवास) प्रकाशित हुई है । कब उत्पन्न हुई है ? (यत्) जब कि (ईम्) इस (उशन्तं) कामना करते हुए (होतारं) दानी, (अग्निं) अग्नि को (विदधाय) यज्ञके लिए (उशतां कर्तुं अनु) कामना करते हुमेंकि यज्ञके साथ साथ (जीर्जनन्) उत्पन्न किया ॥ २० ॥

(अथ) तब (त्वं) उस (द्रुप्तं) हर्षप्रद (विभ्वं) महान् (विचक्षणं) विशेषतया देखनेवाले सोमके (अध्वरे) यज्ञमें (श्येनः विः) श्येन नामक पक्षी (विराभरत्) लाया । (यदि) जब (भार्याः विशः) श्रेष्ठ जन्म (दस्मं) दर्शनीय, (होतारं) दानी (अग्निं) अग्नि को (उणते) वरण करते हैं (अथ) तब (श्रीः भजायत) यज्ञादि फल होता है ॥ २१ ॥

(मनुषः होत्राभिः) मनुष्यके यज्ञोंसे (स्वध्वरः) सोमन यज्ञवाले (अग्ने) हे अग्नि । (पुष्यते) पोषण करने वालेके लिये (यवसा इव) जिस प्रकार पशुओंके लिए घास होती है उसी प्रकार तू (मदा रण्वः असि) सर्वदा रमणीय आनन्दप्रद है । (यत्) क्योंकि (विप्रस्य वाजं समवान्) मेधावी जनके अन्नका सेवन कराया हुआ (उकथ्यः) भगवन्नीय य (शशमानः) कुरलीला त् (भूरिभिः) बहुतसी कामनाओंके साथ (उपयासि) जाता है । अर्थात् बहुतसी कामनाओं को पूर्ण करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ— वेदवाणी उस अग्निहृत् परमात्माका स्तुति करता है । वह परमेश्वर श्रेष्ठ जनके सत्कारमें हमारा रक्षा करता है । इच्छित पदार्थका प्रदान करता है वह बड़े भाईके समान होकर हमें समय समय पर उपदेश देता है ॥ १९ ॥

जब कि यज्ञकी कामना करते हुए जनोंने यज्ञमें अग्नि को प्रज्वलित किया तब कल्याणप्रद उषा उत्पन्न हुई ॥ २० ॥

जब शान्तियोग अग्नि प्रदीप्त कर यज्ञ करते हैं तब सोमरस निहालकर हवनपूर्वक उत्सर्ग सेवन करते हैं ॥ २१ ॥

अग्नि यज्ञादि कर्म करनेवालोंके लिये ऐसी आनन्दप्रद है जैसा कि घास पशुओंके लिए । क्योंकि अग्नि यज्ञमानार्थ अनेक कामनाओंके पूर्ण करता है ॥ २२ ॥

उदीरय पितरां जार आ भगुमिर्यक्षति हर्यतो हुच ईष्यति ।

विधंक्ति वहिः स्वप्स्यते मखस्तंविष्यते असुरो वेपते मती

॥ २३ ॥

यस्ते अग्ने सुमतिं मतो अर्यत् सहसः स्रुतो अति स प्र शृण्वे ।

इपुं दधानो वहमानो अग्नेरा स द्युर्मा अमवान् भूपति द्यून्

॥ २४ ॥

श्रुधी नो अग्ने सद्दने सधस्थे युद्ध्वा रथममृतस्य द्रविस्सुम् ।

आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिं देवानामपं भूरिह स्याः

॥ २५ ॥

अर्थ— हे अग्नि ! (पितरौ) माता पिताके प्रति (भगं) अपना तेज— देख्ये (जारः आ) सूर्यकी तरह जर्पात् जिन प्रकार सूर्य अपना तेज सर्वत्र प्रसारित करता है उस प्रकार (उदीरय) मरित कर— उनके पास पहुँचा । (हर्यतः) कमनीय रघुहणीय अग्नि (हनः) हृदयके (इष्यति) यज्ञ करना चाहता है, इसलिये (इष्यति) जाता है । (वहिः) द्वि आदिका वहन करनेवाला अग्नि (विधंक्ति) कइता है और (मख स्वप्स्यते) कर्मशील अग्नि सुन्दर कर्म करना चाहता है । (तविष्यते) महान् होनेकी इच्छा करनेवाले के लिये (असुरः) मागदाता अग्नि (मती वेपते) कर्मद्वारा जाता है ॥ २३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (य. मतोः) जो मनुष्य (ते सुमतिं) ठेरी सुमतिके विषयमें (अर्यत्) स्यात् स्यात्पर यद्वा फिरता है जर्पात् तेरी प्रसत्ता करता रहता है, दे (सहसः स्रुतो) बलके पुत्र ! (सः) वह मनुष्य (अति प्रशृण्वे) बहुत अधिकतासे सुना जाता है जर्पात् वह सर्वत्र प्रसिद्ध हो जाता है । सर्वत्र उसीका नाम सुनाई देता है । इसके अतिरिक्त (स) वह मनुष्य (इपुं दधानः) अङ्का पारण करता हुआ जर्पात् अङ्गसे परिपूर्ण हुआ हुआ, (अमवानः वहमान) घोषसे वहन किया जाता हुआ जर्पात् अङ्गादि वाहनसे संपन्न हुआ हुआ, (द्युमाद्) तेजस्वी होता हुआ (भमवान्) बलवान् हुआ हुआ (द्यून्) दिने क्षी (भूपति) जोमित करता है । जर्पात् ऐसे मनुष्यके जीनेसे वरानुत दिनोंकी शोभा बढ़ती है ॥ २४ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (सधस्थे सद्दने) जहापर सब पृथक् होकर बैठते हैं ऐसे घरमें (न श्रुधि) हमारी प्रार्थना की सुन । वह प्रार्थना क्या है यह अगले तीन पादोंसे बतलाते हैं— (अमृतस्य द्रविस्सुम् रथं युद्ध्वा) अमृतके वहानेवाले रथको जोड़ और फिर उस रथद्वारा (देवपुत्रे रोदसी) देव हैं पुत्र जिनके ऐसे पादा श्रुधिवीको (न आवह) हमारी तरफ ले आ । और हे अग्नि तू (देवानां माकिं जपन्ः) देवोंके बीचमेंसे कभी भी दूर मत हो । देवोंमें बना रह । (इह श्या) यहाँ पर हमारे बीचमें भी स्थित हो ॥ २५ ॥

भाषार्थ— जिन प्रकार सूर्य सबको प्रकाशित करता है उस प्रकार अग्नि सब पितर आदिकोंको प्रकाशित करे । और उन्नतिके लिये सबसे उत्तम कर्म करावे ॥ २३ ॥

जो मनुष्य अग्निकी सुमतिका सर्वत्र वर्णन करता है वह सर्वत्र प्रसिद्ध होकर मनधन्य पण बारनादिसे संपन्न हुआ हुआ बल व पराक्रमसे युक्त होकर बहुत समयतक जीवित रहता है ॥ २४ ॥

हे अग्नि ! हम सब द्वारा मिलकर कौं गई प्रार्थनाको सुन । वह प्रार्थना यह है कि तू अमृतके वाहनवाले रथमें यावा पृथिवीको बिठला कर हमारे पास ले आ । अर्थात् वर्षादिके देने द्वारा उन्हें हमारे अनुकूल कर । तू हमारे बीचमें तथा देवोंके बीचमें बना रह ॥ २५ ॥

यद्ग्न ण्वा सधित्तिर्भवाति देवीं देवेषु यजता यज्ञत्र ।
रत्नां च यद् विमजांसि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्ते वीतात् ॥ २६ ॥
अन्वमिरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः ।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीन्नु धावापृथिवी आ विवेश ॥ २७ ॥
प्रत्यमिरुषसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुषा च रश्मीन् प्रति धावापृथिवी आ ततान ॥ २८ ॥
धावां ह क्षामां प्रथमे ऋतेनाभिभ्रावे भवतः सत्यवाचा ।
देवो यन्मर्तान् यजथाय कृष्वन्त्सीदुद्रोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन् । ॥ २९ ॥

अर्थ—(यज्ञत्र) हे यजन करने योग्य (अग्ने) अग्नि । (यत्) जब (एषा समितिः) यह जन समाज (देवेषु) देवजनोंमें (देवी) दिव्य गुणोंवाला व (यजता) यजनीय (भवाति) होवे, (च) और (यत्) जब हे (स्वधावः) अन्न देनेवाले अग्नेः तू (रत्नानि विमजासि) रत्नोंको बाँटे, तब (अत्र) यहाँपर (नः) हमारे लिए (वसुमन्तं भागं) प्रभूतधनयुक्त भाग (वीतात्) दे ॥ २६ ॥

(प्रथमः) मुख्य-प्रसिद्ध (जातवेदाः) उत्तरार्ध पदार्थोंके ज्ञान करानेवाले (अग्निः) अग्निने (उपवां अग्रं) उषाकी उपरति व (अहानि) दिनोंको (अनु, अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । वह अग्नि (सूर्यः) सूर्यरूप हुआ (उषसः अनु, रश्मीन् अनु, धावापृथिवी अनु) उषाओंमें, रश्मियोंमें तथा धावापृथिवीमें अनुकूल रूपसे (आविवेश) प्रविष्ट हुआ है । अर्थात् उषामें भी सूर्य रहता है, किरणोंमें भी रहता है और धावापृथिवीमें भी रहता है ॥ २७ ॥

[मंत्रका पूर्वार्ध पूर्व मंत्रके पूर्वार्धके समान है । अतः उसका अर्थ वही समझना चाहिए । पूर्व मंत्रके 'अनु' पदके स्थानपर यहाँ पर 'प्रति' शब्द पद आया है । अतः यहाँपर (प्रति अख्यत्) का अर्थ करना चाहिए प्रत्यक्ष रूपसे प्रसिद्ध किया है । शेष अर्थ समान है । उत्तरार्धका अर्थ इस प्रकार है] उस अग्निने (सूर्यस्य रश्मीन्) सूर्यकी किरणोंको (पुरुषाः) बहुत रूपोंसे (धावापृथिवी प्रति प्रति जातवान) युलोक व पृथिवी लोकके प्रति अर्थात् पु व पृथिवीमें प्रत्यक्षतया फैला रखा है ॥ २८ ॥

(प्रथमे) मुख्य वा प्रसिद्ध, (सत्यवाचा) सत्यवाणी वाले (धावा क्षामा) पु और पृथिवी (ऋतेन) सत्यद्वारा अथवा यज्ञद्वारा (ह) मिश्रणसे (अभिभ्रावे भवतः) सुनने लायक अर्थात् प्रसिद्धिवाले (भवतः) बनते हैं (यत्) जब कि (होता) दानी (देवः) प्रकाशमान अग्नि (मर्त्याः) मनुष्योंको (यजथाय) यज्ञके लिये (कृष्वन्) प्रवृत्त करता हुआ (स्वं असुं) अपनी मशा (बुद्धि)को (यन्) प्राप्त होता हुआ (प्रत्यङ्) सामने (सीदत) बैठता है ॥ २९ ॥

भाषार्थ—हे अग्नि ! जब हमारा जनसमुदाय दिव्य गुणोंवाला व यजनीय वने तब उसे, तू जाना रत्नोंको बाँटे और उस समय हमें प्रभूत धनधान्यसे युक्त कर । (ऋ० १० । १० । सूक्त समाप्त) ॥ २६ ॥

अग्नि पहिले उषा व तदनन्तर दिनको प्रवृत्त करता है । वही सूर्य रूपसे उषा, किरण तथा युलोक व पृथिवी लोकमें प्रविष्ट हुआ हुआ है । अग्निही इन सबमें भिन्न भिन्न रूपसे प्रविष्ट हुआ हुआ है । वस्तुतः सूर्यादि अग्निके ही स्वरूप है । ये अग्निसे भिन्न नहीं ॥ २७ ॥

अग्निने उषा व दिन बनाकर सूर्यको किरणोंको पु व पृथिवी लोकमें फैला रखा है । सर्वत्र प्रकाश कर रखा है ॥ २८ ॥ जब अग्नि मनुष्योंको यज्ञके लिये तैयार करके स्वयं जनके-सन्मुख बैठता है तब यज्ञ द्वारा पु व पृथिवी प्रांशदि शते है । (ऋ० १० । २२) ॥ २९ ॥

देवो देवान् परिभूऋतेन वहां नो हव्यं प्रथमथिक्त्वान् ।
 धूमकेतुः समिधा भार्कजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान् ॥ ३० ॥
 अर्चामि वां वर्धापापीं घृतस्नु घात्राभूमि गृणुतं रोदसी मे ।
 अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वां नो अत्र पितरं शिशीताम् ॥ ३१ ॥
 स्वावृग् देवस्यामृतं यदा गोरतो जातासो धारयन्त उर्वा ।
 विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनां दिव्य घृतं वाः ॥ ३२ ॥
 किं सिवन्नो राजा जगृहे कदस्यातिं व्रतं चक्रुमा को वि वेद ।
 मित्रशिक्रिष्मां जुहुराणो देवांल्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥ ३३ ॥

अर्थ—(प्रथम.) प्रसिद्ध वा सुख्य, (चिकित्त्वान्) ज्ञानवान् (देवः) प्रकाशमान है अग्नि ! तू देवान् परिभूः) देवोंको धारो गोरसे स्थास करता हुआ (ऋतेन) यह द्वारा (न हव्यं वह) हमारे हव्यका वहन कर । उत्तरार्धसे उस अग्निके गुण वर्णन करते हैं (धूमकेतुः) धुआ है सोदा श्वजा—जिसरी ऐसा अथवा जो धुंसे जाना जाता—है [यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः अर्थात् जहां जहां धुआ है वहां वहां वह्नि है, यह स्थासि लोचनप्रसिद्ध ही है] और जो(समिधा)काष्ठ आदि अग्नि प्रज्वलित करनेके साधनोंसे (भा मन्त्रीक) अत्यन्त प्रकाशवाला, (मन्द्रः) आनन्द देनेवाला, (होता) दान आदान करनेवाला (निरय.) नित्य तथा जो (वाचा) वाणीद्वारा (यजीयान्) पूजनीय अर्थात् स्तुति करने लायक है देमा अग्नि हव्यका वहन करे ॥ ३० ॥

(घृतस्नु) जल बरसानेवाले (घात्राभूमि) घावापृथिवी। (अथ वर्धापय) जल की वृद्धिके लिये [वां] तुम दोनों को (अर्चामि) पूजा करता हूँ। (रोदसी) हे घावा पृथिवी! (मे गृणुत) मेरी इस प्रार्थनाको सुनो । (यत्) जब कि (अहा) दिन तथा (देवाः) देव (असुनीति आयन्) प्राणिके नेतृत्वको प्राप्त करते हैं तब (अत्र) यहाँ (मवा) मधुरअन्न वा जलसे (पितर) हे माता पिता तु व पृथिवी ! (न.) हमें (शिशीताम्) युक्त करो—दो, बधाओ ॥३१॥

(देवस्य) प्रकाशमान अग्निका (स्वावृग्) सुखपूर्वक पाने योग्य (अमृतं) अमृत (यद्) जब कि (गो) पृथिवीसे उत्पन्न होता है तब (अतः) इस अमृतसे (उर्वा) पृथिवीपर (जातासः) उत्पन्न प्राणी (धारयन्त) अपनेको धारण करते हैं अर्थात् इस अमृतसे जीते हैं। हे अग्नि ! (विश्वे देवाः) सब देव (ते) तेरे (तत्) उस (यजुः) अमृत गुः) अमृत दान रूपी पूजनीय कर्मका अनुसाराण करते हैं अथवा तेरे उस उदक दानका सब गान करते हैं। (यत्) जब कि [पृनी] नदी [दिव्यं] दिव्य वा तु लोकमें होनेवाले [घृतं] सारयुक्त (वाः) जलको (दुहे) दोहाति अर्थात् जब कि जलसे परिपूर्ण हुई हुई नदी बहती है ॥ ३२ ॥

[राजा] दीप्यमान अग्निने (नः) हमें (किं सिवत्) किस कारणसे (जगृहे) पकड़ा है ! हमने (कत्) कब (अथ) इस अग्निके (व्रतं अति चक्रुम) नियमका अतिव्रमण किया है ! इन बातोंको (कः विवेद) कौन जानता है ! कोई भी नहीं। अथवा 'कः विवेद' इस प्रश्नका उत्तर भी यही है कि (कः विवेद) वही सुखस्वरूप अग्नि जानता है। (हिं) निश्चयसे वह अग्नि (देवान् जुहुराणः) देव अर्थात् मनुस्मत्त जनोंके प्रति कुटिलता दर्शाता हुआ हमारा (मित्रः शिव) मित्र भी है और (यातां श्लोकाः) न वाजः अपि वास्ति उद्योगी ज्ञानियोंका स्तुति की तरह बल है । जैसे भकड़ी स्तुति बल है उसी प्रकार वह शानी जनताका बल है ॥ ३३ ॥

भावार्थ— हे नाता माहेमावाले अग्नि ! तू हमारे लिये प्राण्य पदार्थोंका नित्य प्रति वहन करता रह ॥ ३० ॥
 तु व पृथिवी जल व अन्न देवे ॥ ३१ ॥

अग्नि जब अमृत रूप जलको उत्पन्न करता है तब पृथिवीस्य उत्पन्न पदार्थ अपने जीवनको धारण करते हैं। यदि वह जलसे मरी हुई बहती है। और तब सब देवजन अग्निके इस जल दान का गान करते हैं ॥ ३२ ॥

हम अग्निके किछ नियमका उल्लंघन करनेसे सुखी वा दुःखी हैं इस बातको नहीं जान सकते, वही जानता है। यह अग्नि कुटिलोंकी कुटिलताको दूर करता हुआ हमारा मित्र है वह शानी जनोंका एक मात्र बल है ॥ ३३ ॥

दुर्मन्त्वन्नामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरुपा भवाति ।

यमस्य यो मन्वते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ३५ ॥

॥ ३४ ॥

यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सद्ने धारयन्ते ।

सूर्यं ज्योतिरदधुर्मास्यं १ क्तून् परिं द्योतन्नि चरतो अजसा

॥ ३५ ॥

यस्मिन् देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्येडु न व्यगस्य विञ्च ।

मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत्

॥ ३६ ॥

सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वृजिणे । स्तुप ऊ पु नृत्तमाय धृष्णवे

॥ ३७ ॥

अर्थ— इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें जो जोशेष किए गए हैं कि कोई सुखी है वह कोई दुःखी है तो संभव है कि सुख दुःख की व्यवस्थामें किसी प्रकारका दोष हो उससे किसीके साथ न्याय होता हो व किसीके साथ अन्याय । इस मंत्रमें इन भाषणोंको दृष्टिमें रखते हुए उनका परिहार किया गया है कि— (यद्) यदि (सलक्ष्मा) सबके लिए जो व्यवस्था एकसी है वह (विषुरुपा) मित्र मित्र रूपवाली (भवाति) हो जावे । यानि किसी पर वह कम और किसीपर न लगे तो (अत्र) इस संसार में (अमृतस्य) इस अमृत अग्नि (नाम) नाम (दुमन्तु) अमृतनीय हो जावे । (अथ्व) हे दर्शनीय (अग्ने) अग्नि (यः) जो कोई (यमस्य) न्यायकारी तेरा नाम (सुमन्तु मानवते) बड़ा पूजनीय मानता है (तं) उसका तू (अमृतयुच्छन्) प्रमदरहित होकर (पाहि) रक्षण कर ॥ ३४ ॥

(यस्मिन्) जिस अग्निमें स्थित हुए हुए [देवाः] देवगण [विदथे मादयन्ते] यज्ञमें आनन्दित होते हैं । और [विवस्वतः सद्ने धारयन्ते] प्रकाशमान् अग्निके धारमें अपने आपको धारण करते हैं उन देवोंने [सूर्यं ज्योतिः अदधुः] सूर्य में ज्योति [प्रकाश] स्थापित किया है और [मासि] चन्द्रमामें अकृत बंधकार निवारक रश्मियोंको स्थापित किया है अथवा चन्द्रमामें रात्रियां स्थापित की हैं अर्थात् चन्द्र रात्रिके लिए निर्माण किया है । जो कि दोनों सूर्य व चन्द्र [अजसा] निरन्तर [योतन्निम्] प्रकाशमान् अग्निकी [परिचरतः] परिचर्या करते रहते हैं ॥ ३५ ॥

[यस्मिन् अपीच्ये मन्मनि] जिस छिपे हुए ज्ञानमें [देवाः संचरन्ति] देव संचरण कर रहे हैं, [अस्य] इस अग्निके उस अन्तर्हित ज्ञानको [वयं न विञ्च] हम नहीं जानते । अतः [अत्र] यहाँ पर [मित्रः] मित्र, [अदितिः] अक्षयक शक्तिवाला, [सविता] प्रेरक [देवः] प्रकाशमान् अग्नि [नः अनागात्] हम निरपराधियोंको तथा [वरुणाय] पाप निवारकको [वोचत्] कहे ॥ ३६ ॥

[सखायः] परस्पर प्रेम भावसे मित्र बनेहुए हम [नृत्तमाय] उद्यम नेता, [धृष्णवे] शत्रुओंके धर्षक—नाशक, [वृजिणे] वज्रधारक [इन्द्राय] इन्द्रके लिए अर्थात् इन्द्रकी [स्तुवे] स्तुति करनेके लिए [महा आ शिषामहे] ब्रह्मज्ञानकी इच्छा करें ॥ ३७ ॥

भावार्य—यदि अग्निकी व्यवस्था एक र्णः न हो तो संसारसे उसका नाम ही मिट जावे । जो अब अग्निके नामकी पूजनीय समझता है उसीकी अग्नि बिना प्रमाद किए हुए रक्षा करता है । अग्निकी व्यवस्थापर किसीको संका न लगनी चाहिये ॥ ३४ ॥ अग्निमें स्थित देवगणोंने सूर्य चन्द्रका निर्माण किया है । अतः सूर्य चन्द्र निरंतर रातदिन अग्निकी परिचर्या करते रहते हैं ॥ ३५ ॥

अग्निका छिपा हुआ ज्ञान हम नहीं जानते अतः उस ज्ञान का बोध अग्नि स्वयमेव हमें करावे । उसके बिना कहे हमारा ज्ञानना दुष्कर है । (ऋ० १० । १२) ॥ ३६ ॥

हम परस्पर मित्र बने हुए नानागुण विशिष्ट इन्द्रकी स्तुति के लिए ब्रह्मज्ञानको प्राप्त करनेकी इच्छा करें । अर्थात् इस प्रकारके इन्द्रकी स्तुति कैसे करनी चाहिए इस विषयक ज्ञान उपलब्ध करें (ऋ० ८ । २४ । १) ॥ ३७ ॥

शत्रुंसा वासिं श्रुतो वृत्रहृत्पेन वृत्रहा । मधुर्मघोनो अतिं शूर दाशसि ॥ ३८ ॥
 स्तेगो न क्षामत्येपि पृथिवीं मदी नो वाता इह वांस्तु भूमौ ।
 मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ॥ ३९ ॥
 स्तुहि श्रुतं गतिसदं जानानां राजानं भीममुपहृन्मुग्रम् ।
 मूढा जरित्रे रुद्रं स्ववानो अन्यमस्मन्न ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥ ४० ॥
 सरस्वतीं देव्यन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।
 सरस्वतीं सुकृतां हवन्ते सरस्वतीं दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४१ ॥

अर्थ—हे इन्द्र ? जिस प्रकार तू (वृत्रहृत्पेन) वृत्रको मारनेसे वृत्रहा(वृत्रहृत्पेनके) नामसे (श्रुत) विख्यात है उसी प्रकार (दि) निद्रयसे (ववसा) बलसे भी प्रसिद्ध है । अर्थात् तू अत्यन्त बलवान् होने से भी प्रसिद्ध है । हे अतिशूर । तू (मधुः मघोन) धनेसे धनवान् हुए हुए जनसे भी (अति) बड़कर (दाशसि) स्तुति करनेवालोंको देवा है । अर्थात् प्रायन्त धनी भी दानमें तेरा मुकाबला नहीं कर सकता ॥ ३८ ॥

(स्तेग साम् न) जिस प्रकार स्तेग अर्थात् नानाविध द्रव्यमग्रह कर्ता पुरय पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार तू (महो पृथिवी) इस बड़ी भारी पृथिवी पर (अति पथि) बहुतायतसे विचरण करता है । “ अति ” यहाँ पर ‘ अग्नि ’ के अर्थमें मानना चाहिये । (न) हमारे लिये (इह भूमौ) इस भूमिपर (वाताः वांस्तु) सुखदाईं दवायें वहेँ । और (वदन) दु खनिवारक (मित्रः) मित्र भूत (युज्यमान) हमारे कष्ट निवारण करनेमें लगा हुआ (न शोक) हमारे शोक को (व्यसृष्ट) दूर करे, (वने अग्निः न) जिस प्रकार से कि वनमें दावानाम अग्नि घास फूस आदि को लताकर दूर करती है ॥ ३९ ॥

[देवता रुद्र है] हे स्तुति करनेवाले (श्रुत) विख्यात (गतेसद)रथपर सवार होनेवाले, (जानानां राजान) धनेके राजा (भीम) मयङ्कर, (उपहृन्मुग्र) समीप जा जाकर मारनेवाले (उग्रम्) बड़ोर स्वभाववाले रुद्रकी (स्तुहि) स्तुति कर । और (रुद्र) हे रुद्र ! तू (स्ववान) स्तुति किया गया (जरित्रे) तेरी स्तुति करनेवाले लिप (मूढ) सुख देनेवाला हो । (सेन्यं) तेरी सेनामें (अस्मत् अन्य) हम स्तुति करने वालोंसे भिन्न दूसरेको (निवपन्तु) काट डालें, मार डालें ॥ ४० ॥

(देव्यन्तः) देव वननेकी कामना करते हुए लोक (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीकी सुलाते हैं । और (तायमाने अथर्वे) विस्तृत हिसारहित कार्यमें यज्ञमें (सरस्वतीं) सरस्वतीकी सुलाते हैं और (सुकृत) श्रेष्ठ कर्म करनेवाले सज्जन (सरस्वतीं हवन्ते) सरस्वतीकी सुलाते हैं । (सरस्वती दाशुषे) सरस्वती दानी मनुष्यके लिप (वार्यं) वरणीय अमिलयित वस्तुको (दात्) देती है ॥ ४१ ॥

भाषार्थ— इन्द्र वृत्रको मारनेसे जिस प्रकार वृत्रहृत्पेनके नामसे प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार बलवान् होनेसे भी प्रसिद्ध है । उसके समान कोई भी द नशर नहीं है । वह स्तोत्रको रूष दान करता है । (अ० ८। २५। २) ॥ ३८ ॥

जिस प्रकारसे इ०य सप्रद करनेवाला पुरुष पृथिवीपर भ्रमण करता है उसी प्रकार यह मित्रभूत राजा धारी पृथिवीपर भ्रमण करे ताकि जनताकी दयाका ज्ञान होवे । भूमि पर सुखदाईं वायु चले व राजा मित्र होकर प्रजाके कष्टोंको इस प्रकारसे दूर करे कि जिस प्रकारसे अग्नि वनमेंसे तमाम घास फूस क्षारी चुड़ोंको दूर करती है ॥ ३९ ॥

हे जनो ! उद्य प्रसिद्ध, अर्थकर यजुनाशक आदि गुणविशिष्ट रुद्रकी स्तुति करो । वह रुद्र स्तुति किया हुआ तुम्हारे लिए सुखदायी होवे । उसके सेनार्य यजुओंका ही विनाश करे । तुम्हारा न करे । ॥ ४० ॥

जिनको देव बनना हो उन्हें सरस्वतीका आवाहन करना चाहिये । सुकृत जन सरस्वतीका आवाहन करते हैं । सरस्वती का जो दान करता है उसे अमिलयित पदार्थोंकी उपलब्धि होती है । (अ० १०। २०। ७) ॥ ४१ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः । आसद्यास्मिन् वहिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे	॥ ४२ ॥
सरस्वति या सुरथं ययार्थोक्थैः स्वधामिदेवि पितृभिर्मदन्ती । सहस्त्रार्धमिडो अत्र भागं रायस्पोयं यजमानाय धेहि	॥ ४३ ॥
उदीरतामवर उत्परास उन्मष्यमाः पितरः सोम्यासः । असुं य ईयूरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु	॥ ४४ ॥
आहं पितृन्सुविदत्रौ अविस्ति नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । वहिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागामिष्ठाः	॥ ४५ ॥
इदं पितृभ्यो नमो अस्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निपत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु	॥ ४६ ॥

अर्थ—[दक्षिणा] दक्षिण दिशासे आकर [यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः] यज्ञका सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर [यां सरस्वतीं हवन्ते] जिस सरस्वतीकी बुलावे हैं, एसी ही सरस्वती! तू तथा पितर [अस्मिन्] इस [वहिषि] यज्ञमें [आमद्य] बैठकर [मादयध्वं] प्रसन्न होवो । [असे] हमें [अनमीवाः इषः] रोगरहित अर्तोंको अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न भवे ऐसे अन्नको [आधेदि] दे ॥ ४२ ॥

[सरस्वति देवि] हे सरस्वती देवी [या] जो तू [पितृभिः स्वधामि. मदन्ती] पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई [सुरथं] पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई [ययाय] आई है. हे सरस्वती! तू [अत्र] इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्त्रार्थं इडः भागं] हजारोंसे पृथगीय अन्नके भागकी और [रायस्पोयं] धनकी पुष्टिकी [धेहि] दे ॥ ४३ ॥

हे [सोम्यायः] सोम सेपादन करनेवाले [अवरे] निकृष्ट, [उत् परासः] और उल्टा [उत्] तथा [मष्यमाः] मष्यम [पितरः] पितरों [उदीरतां] उल्टातिकी प्राप्त होओ । [ये अवृकाः] जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने [असुं ईयुः] प्राणकी प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं (ते) वे [ऋतज्ञाः] सत्य व यज्ञको जाननेवाले [पितरः] पितर [हवेषु] बुलाए जानेपर [नः] हमारी [श्शन्तु] रक्षा करें ॥ ४४ ॥

[सुविदत्रात् विदत्रौ] उत्तम धनसंपन्न पितरोंको [अः अविस्ति] अचट्टी प्रकार प्राप्त करता हूँ । [विष्णोः नपातं विक्रमणं च] और सर्वव्यापक परमात्मके न गिगानेवाले अर्थात् उन्नति करनेवाले शौर्यको प्राप्त करता हूँ । [वहिषदः पितरः] कुमासनपर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्ववाके साथ (सुतस्य पित्वः) उरपादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (मजन्त) सेवन करते हैं, पानि खाते हैं [ते] वे पितर [इड] इस यज्ञमें [आगामिष्ठाः] आवे ॥ ४५ ॥

[अध] आज [पितृभ्यः] पितरोंके लिये इदं नमः अस्तु. यह नमस्कार दो। किन पितरोंके लिए? [ये] जो कि [पूर्वामः] पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [अपरासः] अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं। और [वे] जो कि पितर [पार्थिवे रजसि] पार्थिव रजस पर अर्थात् पृथिवीपर [वा निपत्ताः] स्थित हैं, [वा] अथवा [ये] जो कि [नूनं] निश्चयसे [सुवृजनासु विक्षु] उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओंमें स्थित हैं ॥ ४६ ॥

आवायं— पितर सरस्वतीको यज्ञमें बुलाते हैं । (ऋ० १०।१७।८) ॥ ४२ ॥
 सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रथपर चढ़ना, स्वधा खाना व यज्ञमें आना होता है । ऋ० १०।१७।९ ॥ ४३ ॥
 सब प्रकारके उत्तम, मध्यम तथा निकृष्ट पितर अपनी उन्नति करें । हमारे सहायतायें बुद्धनेपर आकर हमारा रक्षण करें । ऋ० १०।१७।१०; यजु० १९।४९ ॥ ४४ ॥ धनधान्य सेपन्न पितरोंको व स्वापक परमात्मके शौर्यको मैं प्राप्त करता हूँ। स्ववाके साथ पण्य अन्नको खानेवाले पितरों! इस यज्ञमें आओ । ऋ० १०।१७।१२; यजु० १९।५६ ॥ ४५ ॥
 ३ (अ. सु. भा. पं. १८)

मातली कृष्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्वृहस्पतिर्ऋक्वाभिर्वावृषानः ।

यांश्च देवा वाग्धुषे च देवांस्त नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४७ ॥

स्नादुष्किलायं मधुमं उताय तीव्रः किलायं रसवां उतायम् ।

उतो न्वे १ स्य पापिगाम्मिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥ ४८ ॥

परेयिवांसं प्रततो महीरतिं वृहस्प्यः पन्यामनुपस्पशानम् ।

चैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपयत ॥ ४९ ॥

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैपा गन्युतिरपभर्तवा उं ।

यत्रा नः पूर्वे पितरः परंता एना ज्ञानाः पथ्या इ अनु स्वाः ॥ ५० ॥ (५)

अर्थ—[मातली] इन्द्र [कृष्ये] कश्यपे, [यम अङ्गिरोभि] यम अङ्गिरसोसे और [वृहस्पति ऋक्वामि] वृहस्पति ऋक्वामिसे अर्थात् ऋक्वामि सन्धी पान रखनेवालोंसे (वाग्धुषे) शुकिको प्राप्त होता है । [पात्र देवा वाग्धु] अिनको देवेनि दाय है तथा [ये देवान्] जो देवोंको बटाते हैं, [ते] वे अर्थात् मयोक्त कश्य, अङ्गिराम् आदि जो पितर हैं वे हमारी आह्वान करनेपर रक्षा करें ॥ ४७ ॥

[अथ] यह सोम रम [किल] निश्चयसे [स्नादु] स्नादिष्ट है । यह समरस [मधुमान्] माधुर्य गुणोसे युक्त है । [उव] गैर (अयं) यह सोम (किल) निश्चयसे (तीव्र) पीनेसे स्वादुमें अस्वागनेवाला है। (उव) और (अयं) यह सोम [रसवा] कष्टम सवाला है। (उत) और (नु) निश्चयसे (मस्य पविवांसन्) इसके पान करनेकी इच्छा रखनेवाले (इन्द्रं) इन्द्रको (आहवेषु) संगमनोंमें (क च न) कोई भी (न सहते) नहीं सहता अर्थात् उसके सामने सामने कोई भी टिक नहीं सकता ॥ ४८ ॥

(प्रवतः) प्रकृत कर्म करनेवालोंको उत्तम कर्म करनेवालों से तथा निष्कृत कर्म करनेवालोंको (मही इति) भूमि प्रदेशोंको परेयिवांसं प्राप्त कराते हुए तथा (वृहस्प्य पन्यां अनुपस्पदानं) वृहत्तो के लिये मार्गोंको दिखलाते हुए और (जनानां सहमनं) जसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (चैवस्वत) विवस्वतके पुत्र (यम राजान) यम राजाकी [हविषा सपयत] हविदान पूर्वक पूजा के ॥ ४९ ॥

(यम न गातुं प्रथमः विवेद यमने हमारा मार्ग सबसे पहिला जाना । (पया गन्युतिः न अपभर्तवै) यह मार्ग अपभर्तके लिये नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पा । नहीं जा सकता । वह मार्ग कौनसा है यह मंत्रके उत्तरार्धसे इर्षति—(यत्र न पूर्वे पितरः परंता) जहापर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं । (और एना) इस मार्गसे (अज्ञानाः) जात प्राणी तः (स्वाः पथ्याः अनु) अपने अपने पथ्योंके अनुसार जात हैं ॥ ५० ॥

मावायं— पुरातन कालके, अज्ञोवीन कालके जा पितर हैं और जो इस समय पृथिवी लक्ष्मण विद्यमान है अथवा उतम नधान्य सप्त प्रजाओंमें विद्यमान है उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है । क्र० १०१५३, यजु० १९।१४ । ४६ ॥
देव अपनी—पनी क्षत्रियोंसे बरते हैं उधी प्रहार सब लोग अपनी शक्ति बँटें ॥ ४७ ॥
मनोका नाता माधुर्य आदि गुणोंके सोमको पीनेके लेशा कोई भी परामव नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥
अन्तमें माना योनिस्थ जीवोंको यमन यमलोकमें ले जाना है अतः वह प्रथिवीपर आया हुआ है और उसका यह कर्म चल रहा है । हवमसे उसकी हम पूजा करें ॥ ४९ ॥

[यमलोकमें सब प्राणियोंके आनेके लिए जा मार्ग है बरहा यहाँ निर्दिष्ट है ।] यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग जैसे पहिले जानता है क्योंकि वह उस मार्गका आविष्कार है । इस मार्गसे छुटकारा पना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ वह अवश्य मरेगा ही ॥ ५० ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यं १ वाग्मिमा वीं हव्या चक्रमा जुषध्वम् ।

त आ गतावसा संतमेनार्धा नः सं योररपो दधात

॥ ५१ ॥

आव्या जातुं दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरमि गृणन्तु विश्वे ।

मा हिंसिष्ट पितरः केन चित्रो यह आगः पुरुषता कराम

॥ ५२ ॥

त्वष्टा दुहिते वदतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति ।

यमस्य माता पर्युद्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश

॥ ५३ ॥

प्रेहि प्रेहि पृथिभिः पुर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परंताः ।

उमा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुण च देवम्

॥ ५४ ॥

अपेत वीरु वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमकृत् ।

अहोभिराङ्गिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो दंदात्यवसानंमसमै

॥ ५५ ॥

अर्थ-(बर्हिषदः पितरः) हे बर्हिषत् पितरो ? (मर्वाङ्) हमारे प्रति (ऊति) रक्षणार्थ आओ। (वः) तुम्हारे लिए (दव्या) हम्योंके [बहुत] करते हैं उनका [जुषध्वम्] प्रीतिपूर्वक सेवन करो। [ते] वे तुम (संतमेन अन्वया) कल्पणकारी रक्षणके साथ [आगत आओ। [यम] और तब [नः] हमें [अरपः] पारदर्शित आचरण, (सं) कवयाम और [योः] दुःखविषयो [दधात] दो। ॥५१॥ [विश्वे] तुम सब पितरो ! [जातु आद्य] दायां घुटना टेककर [दक्षिणतः निषद्य] दाईं ओर बैठकर [हमं यमं] इस ब्रह्मा [आमि गृणोत] स्वीकार करो। [पितरः] हे पितरो ! [पद्वतः आगः] जो तुम्हारा अपराध 'पुरुषता कराम' पुरुषत्वके कारण अर्थात् मनुष्यत्वके कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमारी हिंस नत करो ॥ ५२ ॥

(त्वष्टा दुहिते वदतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्रीका विवाह रचता है [हमि] इस कारण। (इदं विश्वं भुवनं) यह सार भुवन [समेति] इकट्ठा होता है। (परि दद्यामाना न्याही जाती हुई, यमस्य माता) यमकी जननी व(मदः विवस्वतः जाया) महो विवस्वत् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है ॥ ५३ ॥

हे मृत पुरुष ! (यत्र) जिन लोकमें (मः पूर्वे पितरः हमारे पूर्वज पितर (पर्युः) गए हुए हैं, उम लोकमें (पृथ्वीभिः पृथिवीभिः) पृथिवीके मार्गों द्वारा (प्रेहि प्रेहि) अवश्य जा। उस लोकमें जाकर (स्वधया मदन्तौ) स्वधामे आनन्दित होते हुए अपना तृप्त होकर [उमा राजानौ] दोनों राजा [यमं वरुणं देवं च] यम तथा वरुण देवको (पश्यासि) देख ॥ ५४ ॥

हे विश्वकारी जनो ! [अप इत्] यहांसे चले जाओ। [वीरु] भाग जाओ। [वि सर्पतातः] सर्वथा बड़ स्थान छोड़कर ह जाओ। [अस्मै] इस प्रेतके लिए [पितरः] पितरोंने [एतं लोकं] यह स्थान किया है। [अस्मै] इस मृतके लिये [यमः] यम [अहोभिः] दिनोंसे [अङ्गिरः] वे जलोसे तथा [अङ्गुभिः] रात्रियोंसे [व्यक्तं अवसानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] दी है ॥ ५५ ॥

माकार्य-बर्हिषत् पितर हमारा रक्षण करें और उधके बदल में हम उनका इव्यादि उदम द्वारा सम्भार करें। वे हमारे रो तथा मर्त्यको बुर करते हुए हमारा संरक्षण करें ॥ ५१ ॥

हे पितरो दाईं ओर दायां घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो। यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अनजाने ह वाय तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो। (य० १९।१२) ॥ ५२ ॥

यमकी माताका नाम सरयू है व निता का नाम विवस्वत् अपर्ण र्थ है अर्थात् यम विवस्वत् [पृथ्वी] का पुत्र है अतए वसे वेदमंत्रोंमें 'विवस्वत' के नाम से पुकारा गया है ॥ ५३ ॥

अहो हमारे पूर्व पितर मयें हैं वहां यह मृत मनुष्य जाति व वहां स्वधामे आने, करे ॥ ५४ ॥

उग्रन्तस्त्वेधीमद्युग्रन्तुः समिधीमहि ।

उग्रन्तुग्रत आ वंह पितृन् हविषे अत्वे

॥ ५६ ॥

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तुः समिधीमहि ।

द्युमान् द्युमन्त आ वंह पितृन् हविषे अत्वे

॥ ५७ ॥

आङ्गिरसो नः पितरो नरंग्ना अर्थर्वाणो भृगवः सोम्यामः ।

तेषां वृषं सुमती यज्ञियांतामपि भूत्रे सोमन्तसे स्याम

॥ ५८ ॥

आङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गंहीह यम वरूपैरिह मादयस्व ।

त्रिवंस्वन्तं हुवे यः पिता त्वास्मिन् चर्हिष्या निषयं

॥ ५९ ॥

अर्थ-हे अग्नि ! [उग्रन्त] तरो कामना करते हुए हम [(स्वा) तरो] धीमहि] स्थापन करते हैं । और [उग्रन्तः] तरो कामना करते हुए हम [समिधीमहि] तुझे प्रदीप्त करते हैं । [उग्रन्त] हम तरो कामना करते हुए तेरे अग्नि । तू [हविषे अत्वे] हरिके खानेके लिये [उग्रन्त पितृन्] कामना करते हुए पितरों को [आवृष्ट] प्राप्त करा-ले भा ॥ ५६ ॥

हे अग्नि ! (द्युमन्त) की वित्तमान होते हुए हम (स्वा) धीमहि] तुझे प्रकथित करें । (द्युमन्तः) और दीक्षितान् हम [समिधीमहि] तुझे अच्छी प्रकार प्रदीप्त करें । द्युमान्] दीप्त हुआ हुआ तू (द्युमन्तः पितृन्) प्रकथमान पितरोंको (हविषे अत्वे) हरि नस्यार्थ (आवृष्ट) ले भा ॥ ५७ ॥

(न नवरा अथर्वाणः भृगव सोम्याम आङ्गिरस पितर) इनारे नवाव, अथर्वा, भृगु, सोमस्थापन करनेवाले आङ्गिरस् पितर हैं । (तेषां वृषियाणां) उन यज्ञार्थ आङ्गिरस् पितरोंकी (सुमती) उत्तम सवाहर्त्ति तथा (भूत्रे सोमन्तसे) तुम संवत्सोमि (स्थाप) होवे ॥ ५८ ॥

हे यम ! [वैश्वी.] त्रिविध स्वरवाले, [यज्ञियैः] यज्ञके योग्य पृथ्वीय [आङ्गिरोमि] आङ्गिरस् पितरोंके साथ [इह भा गहि] इत हम ते यज्ञमें जा । यज्ञमें आकर तू गहं हरिकी खाकर [मादयस्व] आनन्दित हो । [त्रिवंस्वन्तं हुवे] त्रिवंस्वन्तं [सूर्यं] को मैं बुलाता हू [य] जो कि त्रिवंस्वन्तं [त्रिवंस्वन्तं] तैरा पिता है । वह त्रिवंस्वन्तं [अग्निन् वसे चर्हिषि भा निषय] हम यज्ञमें आकर आपनवर बैठकर दी हुई हरिकी खाकर आनन्दित होवे । (अ० १०।१५।५) ॥ ५९ ॥

भावार्थ-अब भी अत्रेष्टे त्रिवंस्वन्तं लिए स्थान की पितर निर्धारित करते हैं । यहाँ आरारके प्राणों के निरूपणके बादका दर्शन है दिन रात अग्नि की समाप्ति हो चुका है अर्थात् वह मर गया है । अब पूर्वार्धाङ्गुलार मनेवर पितर इच्छे लिए स्थान बनते हैं दमक दो दो अभिप्राय हो सकते हैं (१) या तो जो पितर स्थान बनते हैं वह स्थान भूमिका हो सकता है अथवा (२) वह यम लोका हो सकता है । ॥ ५५ ॥

हे अग्नि ! हम यज्ञार्थमें तेरा कामना करते हुए तरो स्थापना करें व तुझे प्रकथित करें । तू हमारे दर्शने पितरोंको व यन्नर लिए ले आना कर । (यजु० १९।७०) ॥ ५६ ॥

अब वेदके लिए पितरोंकी बुलाना चाहिए ॥ ५७ ॥

हमारे त्रिवंस्वन्तं पितरोंके बुद्धि उत्तम हो ऐसा आवाण करना हमें उचित है ॥ ५८ ॥

यज्ञमें हम व आङ्गिरस् पितरोंके बुलाकर - हे हरि दी जातो है, यथा पिता त्रिवंस्वन्तं (सूर्य) है, उसे यो शायमें यज्ञमें बुलाया जाता है व हरि खानेके लिए दी जाती है । अंगिरस पितर नाम स्थापने हे अर्थ त्रिवंस्वन्तं त्रिवंस्वन्तं मित्र मित्र है ॥ ५९ ॥

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोमिः पितृभिः संविदानः ।

आ त्वा मंत्राः कविस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषो मादयस्व

॥ ६० ॥

इत एत उदारुहन् द्विवस्पृष्टान्यारुहन् ।

प्र भूर्जयो यथा पया धामङ्गिरसो ययुः

॥ ६१ ॥ (६)

[२]

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।

यमं ह यज्ञो गच्छत्यप्रिदंतो अरंकृतः

॥ १ ॥

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र चं तिष्ठत ।

इदं नम श्रुषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वैभ्यः पथिकृद्भ्यः

॥ २ ॥

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन ।

स नो जीवेष्वा यमेदीर्घमायुः प्र जीवसे

॥ ३ ॥

अर्थ- [आङ्गिरोमिः पितृभिः संविदानः] अंगिरस पितरोंके साथ एकमत हुआ हुआ हे यम ! तू [इमं प्रस्तरं] इस विस्तृत कैले हुए आसनपर [आमीद] बैठ । [त्वा] तुझे [कविस्ताः मंत्राः] कान्तदर्शियों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र [आ वहन्तु] बुझावें । [एना] इस [हविषा] हविदाता [मादयस्व] प्रमद हो । (ऋ० १०।१४।४) ॥ ६० ॥

[एते] ये पितर [इतः] यहाँसे [इत् वा अरुहन्] ऊपरको चढ़ते हैं । [द्विवः पृष्टानि आरुहन्] और तुझे पृष्ठोंपर पष्टम् स्थानोंपर-चढ़ते हैं । [यथा पया] किस प्रकारके मार्गसे कि [भूर्जयः] भूमि जीतनेवाले [अंगिरसः] अंगिरस पितर [यां] तुम्हेंको [प्रययुः] गए हुए हैं ॥ ६१ ॥ [२]

(यमाय सोमः पवते ।) यमके लिए यज्ञमें सोमको पवित्र किया जाता है । (यमाय हविः क्रियते) यमके लिए हवि प्रदान की जाती है (आरुहन्तः) नाना प्रकारके द्रव्योंके दालनेसे जो अरंकृत किया हुआ, (अग्रिदूतः) अग्रिको अपना दूत बना करके (ह) निग्रदसे (यज्ञः) यज्ञ (यमं गच्छति) यमको प्राप्त होता है ॥ १ ॥

(यमाय) यमके लिए (मधुमत्तमं) अत्यन्त मधुर द्रव्यका (जुहोत) प्रदान करो । और हवि देकर (प्र-तिष्ठत) प्रतिष्ठकों प्राप्त करो अपना दीर्घ जीवनका लाभ करो । (पथिकृद्भ्यः) रस्ता बनानेवाले मार्गप्रदर्शक (पूर्व-जेभ्यः) जो सबसे पूर्व उरपत्र हुए हैं (पूर्वैभ्यः) हमसे पूर्वके हैं (एते, श्रुषिभ्यः) ज्ञानियोंके लिए (इदं नमः) यह नमस्कार है ॥ २ ॥

(यमाय ययुः) यम राजाके लिए (घृतवत् पयः) घीसे मिश्रित दूध तथा (हविः) हविष्का (जुहोतन) प्रदान करो । (सः) वह यम (प्रजीवसे) प्रकृतयवा जोनेके लिए (जीवेष्वा) जीवोंमें अर्थात् पंचारामें (नः) हमें (दीर्घमायुः) दीर्घ जीवन (आ यमेत्) देवे ॥ ३ ॥

आचार्य-यम अंगिरस पितरोंके साथ यज्ञमें विस्तृत आसनपर बैठता है । उसकी मंत्रों द्वारा स्तुति करके उसे यज्ञमें हवि दी जाती है ॥ ६० ॥

अंगिरस पितर वहाँसे ऊपर जाकर तुलोकमें स्थित होते हैं । उनके जानेका मार्ग बही है जो कि पार गणोंका तुलोकमें जानेका है ॥ ६१ ॥

यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञमें देने चाहिए । यज्ञ यमको निश्चयसे प्राप्त होता है ॥ १ ॥
यम राजाके लिए मधुमत्तम हवि दी और प्राचीन ऋषियोंके लिए नमस्कार करें ॥ २ ॥
यम राजाके हवि आदि देनेसे वह हमें संसारमें दीर्घ जीवन प्रदान करता है ॥ ३ ॥

मैनमये वि दंष्ट्रो मामि अंशुनां माम्य त्वर्चं चिक्षिपो मा शरीरम् ।

श्रुतं यदा करमि जातयेदाऽधर्मनं प्र क्षिणुतात् पितृरूपं ॥ ४ ॥

यदा श्रुतं कृणवीं जातयेदाऽधर्मनं परिं दत्तात् पितृम्यः ।

यदो गच्छत्यमुनीतिमतामथं देवानां यशनीर्भताति ॥ ५ ॥

त्रिकट्टुकेभिः पवते पडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।

त्रिष्टुष्णायत्री छन्दांसि मर्त्रा ता यम आपिता ॥ ६ ॥

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छं पृथिवीं च धर्मभिः ।

अपो वां गच्छ यदि तत्रं ते हितमोर्षधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ७ ॥

अर्थ— [अग्ने, इं अग्नि] एत मा विदुः] रम प्रेतको इस प्रकारसे मत जला कि त्रिमसे हूसे विपिया कष्ट प्रतीव रोग [मा अग्नि द्युशुच] इसे शोकाहुल मत कर । [अय त्वच मा चिक्षिप] हमकी त्वचा अर्थात् कमठीको मत रूक । इसके धारोमें विद्यमान त्वचा मांस आदिको हम प्रकारसे जला दे कि कोईभी भाग अवशिष्ट न रहने पावे । [जातयेदः] हे जातयेदन् ब्रह्मि [यदा श्रुतं करमि] जब तू इस प्रेतको पाँचपत्र बना दे अथवा पूँठया जला दे [अय] तब [एनं] इस प्रेतकी आत्माको [निर्गुण उप प्रतिष्ठात्] पितरों के पास भेज दे अथवा पितृलोकमें इस प्रेतकी आत्मा खडी जावे । क्र० १०११११ ॥ ४ ॥

(जातयेद) हे जातयेद अग्नि ! (यदा श्रुतं कृण्वः) जब तू इस प्रेतको पूँठया पक्व अर्थात् दाय कर दे, (अय) तब (एत पितृम्य परि दत्तात्) हमको पितरोंके लिये सौंप दे । (यदा) जब यह प्रेत (एतां यशनीर्भताति गच्छति) इस प्राणिके नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब हमके प्राण निकल जाते हैं । (अय) तब प्राणिके निकल जानेपर प्रेत [मृत शरीर], [देवानां यशनीः यशति] देवोंके वश हो जाता है । [क्र० १०१११२] ॥ ५ ॥

[एक इत् बृहत्] अच्छला ही वह सर्वनिवन्ता महान् यम [त्रिकट्टुकेभिः] तीन कट्टुकोसे [पृ उर्वी] ज्यों उर्वियोंको [पचने] प्राप्त होना है अर्थात् व्यास करके स्थित है । [त्रिष्टुप् गायत्री] त्रिष्टुप्, गायत्री आदि [वा सर्वां छन्दांसि] वे सब छन्द [यमे] उस नियन्त्रा परमात्मामें [आदिता] स्थित हैं । [क्र० १०१११३] ॥ ६ ॥

हे प्रेत ! तू [चक्षुषा सूर्यं गच्छ] आन्व से सूर्य को जा । (आत्मना वात) आत्मासे [प्राणसे] श्वाशुओ जा । और हे प्रेत ! (धर्मभिः) धर्मसे अर्थात् कर्मफलजन्य धर्म से अथवा पापिकादि छत्रों के कर्मसे अर्थात् जो पापव तत्व हैं वे श्रुतिवीरोंमें जा मिलें, जो जलीय हैं वे जल में जा मिल, इत्यादि प्रकार से [एवं च पृथिवीं च] शुभ पृथिवी लोक को जा अर्थात् पापिव तत्त्व श्रुतिवीरों जा मिलें और जो दुलोकका अंश हो वह दुलोकमें जा मिले। जहाँ जहाँ से जो भी अन्न तेरे शरीर में आया हो, वहाँ वहाँ वह वह अन्न चला जावे । [वा] अथवा [अग्रे गच्छ] जलोंमें जलीय अन्न चारें / यदि तत्रं ते हितं) यदि वहाँ का कोई अन्न तेरे में विद्यमान हो और इसी प्रकार औपधियोंमें शरीरोंकोसे स्थित हो अर्थात् औपधिका अंश औपधि में चला जावे । [क्र० १०१११३] ॥ ७ ॥

भावार्थ— जब तक देह अपूर्णतया जल नहीं जाती तबतक अरुणा उस देहको छीटकर स्थानान्तरमें नहीं जाती । उस देहके आश्रय ही अण्डलानी रहती है। उस देहका मोद उसे खिंचे रखता है । मृतान्ना शरीरमें पृथक् शरीर पितृलोकमें जाती है। अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजता है ॥ ४ ॥

अग्नि शरीरकी पूँठया दाय करके आत्माको पितृलोकमें भेज देता है। अग्निद्वारा पृथक् पृथक् हुए हुए शरीरके तत्त्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं । जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाती है ॥ ५ ॥

छहों उर्वियोंमें यह यम व्याप्त है इतना अवश्य पता चलता है। त्रिष्टुप् गायत्री आदि सर्वे उच यम (नियामक परमात्मा) में स्थित हैं ॥ ६ ॥

अजो भागस्तर्पस्वस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः ।

यास्ते शिवास्तुन्वो जातवेदस्तामिर्वहैर्न सुकृतांस्तु लोकम् ॥ ८ ॥

यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो यामिरापृणासि दिवमन्तारिक्षम् ।

अजं यन्तमनु ताः समृष्वतामपेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि ॥ ९ ॥

अवं सृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्वधावान् ।

आयुर्वसान् उप यातु शेषः सं गच्छतां तुन्वा सुवर्चाः ॥ १० ॥ (७)

अति द्रव श्वानौ सारभेयौ चतुरश्रौ श्वलौ साधुना पथा ।

अघा पितृन्स्तुविदश्रौ अपीहि यमेन ये सधमाङ् मदान्ति ॥ ११ ॥

अर्थ- हे अग्नि ! इस प्रेतका जो [अजः भागः] अज अर्थात् न जन्म लेनेवाला भाग [आत्मा] है [तं] उसको तू [तपसा तपस्व] अपने तप से तपा । [तं] उस अज भाग को [ते शोचि] तेरी दीप्यमान ज्वाला (तपसु) तपावे । [तं] उस अज भागको [त्वि अर्चिः] भासमान तेरी ज्वाला [तपसु] तपावे । और फिर [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि [याः ते शिवाः तन्वः] जो तेरे कल्याणकारी ज्वालाएँ रूपी तन् अर्थात् शरीर हैं [तामिः] उन शरीरों द्वारा इस अज भाग को [सुकृतां लोकं] सुकर्म करनेवालोंके लोक में [वद] प्राप्त करो । [ऋ० १०।११।१४] ॥ ८ ॥

[जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [याः ते] जो तेरे [शोचयः] पवित्र करनेवाले, [रंहयः] वेगवाले ज्वालाकार्ये शरीर हैं, [यामिः] जिनसे कि तू [दिवं] शुलोकको व [अन्तरिक्षं] अन्तरिक्ष लोकको [आपृणासि] परिपूर्ण करता है [ताः] वे तेरे ज्वालाकार्ये तन् अर्थात् शरीर [यन्तं] शुलोक को जाते हुए [अजं अनु] शरीरके अज भाग [आत्मा] के पीछे [समृष्वताम्] जावें । [अय] और [इतराभिः शिवतमाभिः] दूसरे कल्याणकारी शरीरोंसे इस पीछे रह गये मृत देह को [शृतं कृधि] परिपक्व कर अर्थात् पूर्णतया जला दे ॥ ९ ॥

[अमे] हैं अग्नि ! [अः] जो [ते आहुतः] तेरे में अत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ [स्वधावान् चरति] स्वधामेंसे युक्त विचरण करता है उसको [पुनः] फिर [पितृभ्यः] पितरोंके लिये लाकर [अवं सृज] छोड़ अर्थात् वह पुनर्जन्म ले । अथवा 'पितृभ्यः' को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे छाकर इस संसारमें छोड़ । दोनों प्रकारके अर्थोंका भाव एक ही है । दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है । इस प्रकार यह पुनर्जन्म लिया हुआ । [शेषः] अथय संताप [उपयातु] कुटुंबियोंको प्राप्त करे, तथा [सुवर्चाः] तेजस्वी होकर है अग्नि ! [तुन्वा संगच्छतां] यह अत्यय शरीरसे मलीमति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीरसंपत्तिसे संपन्न बने [ऋ० १०।११।१५] ॥ १० ॥

हे पितृ लोकमें जाते हुए जीव ! [सारभेयो चतुरश्रौ] सारभेय, चार आँसोंवाले [श्वलौ] चितकवरे [श्वानौ] दो कुत्तोंसे [अति] बचकरके [साधुना पथा] कल्याणकारी उत्तम मार्गसे [द्रव] जा । [अय] तब [सुविदश्रान् पितृन्] उत्तम धन वाज्ञानसे युक्त पितरोंको [अपि हवि] भी प्राप्त हो । [ये] जो कि पितर [यमेन सधमाङ् मदान्ति] यमके साथ आनन्दित होते हुए तृप्त होते हैं । [ऋ० १०।११।१०] ॥ ११ ॥

आधार्य- मरनेपर शरीरमें विद्यमान ताव अपने अपने स्थानपर जहाँसे आये हुए होते हैं वहाँ चले जाते हैं । सूर्यादि देवोंके अंग उन उनमें वापिस चले जाते हैं हरेक देव अपना अंश शरीरसे छींच लेता है ॥ ७ ॥

हे अग्नि ! तू इस शरीरके अज भाग आत्माको अपनी नाना गुण विशिष्ट ज्वालाओंसे शुद्ध करके पुण्यलोकमें ले जा ॥ ८ ॥ शरीरके अज भाग आत्माका अनुसरण करती हुई अग्निकी कुछ ज्वालाएँ उसे उचित स्थानपर ले जाती हैं व पीछे रहे मृत देहको अन्य ज्वालाएँ भस्म कर डालती हैं ॥ ९ ॥

हे अग्नि ! जो मृत पुद्गल तेरेमें अत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंवाला होकर विचरण कर रहा है । उसे पितरोंके लिये दे ॥ १० ॥

यो ते श्वानो यम रक्षितारो चतुरक्षौ पंथिपदी नृचक्षसा ।

ताभ्या राजन् परि धेक्षेन स्वस्त्व्यस्मा अनमीव च धेहि ॥ १२ ॥

उरुणमाव्रमुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूता चरतो जनां अनु ।

तामुस्मभ्य दृश्ये सूर्याय पुनर्दातामसुमधेह भद्रम् ॥ १३ ॥

सोम एकैभ्यः पवते घृतमेक उपासते येभ्यो मधु प्रधावति तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १४ ॥

ये चित्रपूर्वस्तसता श्रुतजाता श्रुतानृधः। श्रुषीन्तर्पस्वतो यम तपोजा अपि गच्छतात् ॥ १५ ॥

तर्पसा ये अनाघृष्यास्तपसा ये स्वर्षयुः। तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १६ ॥

अथ १५५ । [त] तरे [यो] जो (रक्षितारी) रक्षा करनेवाले (चतुरक्षौ) चार आँसोंवाले (पंथिपदी) यमको अपने निकट प्राण में बैठानेवाले तथा [नृचक्षसा] मनुष्योंके देखनेवाले [श्वानो] दो कुत्ते हैं, हे राजन् ! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तोंद्वारा (एन) इस ज वरी (स्वमित) कल्याण (धेहि) प्रदान कर । (च) और (अस्मै) इस जीवके लिये [अनमीव] रोगरहितता अर्थात् आरोग्य (धेहि) धारण कर । इसे निरोगी बना । (ऋ० १०।१४।११) ॥ १२ ॥

[उक्त—गमी] लम्बी नाकवाले, [अनुतृपा] प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उदुम्बलौ) विशुद्ध बलबोधे अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूता) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते, (जनां अनुचरत) मनुष्योंके पीछे पीछे विचित्रण करते हैं । (ता) इन प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सूर्याय दत्ताये) सूर्यके दक्षिणार्ध अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करनेके लिये (मधु) आज [दृष्ट] इस संशयमें [मद्रं भक्षुं] कल्याणके देनेवाले प्राणको [पुन] फिर [दाता] देवे । [ऋ० १०।१४।१२] ॥ १३ ॥

[एकैभ्य] कईयोंके—लिये (सोम पवते) सोमस्य बहता है । और [एकै] कई (घृत उपासते) जाग्य का उपभोग करते हैं । इनको व [येभ्य मधु प्रधावति] जिनके लिये मधु धारा रूपसे बहता है [तान् चित्र अपि] हे प्रेत ! उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो ॥ १४ ॥

(ये चित्र) और जो (पूर्व) पूर्व पुरुष (श्रुतसता) मत्स्यका पाठन करनेवाले अथवा यज्ञोंके विना नियमपूर्वक करनेवाले (श्रुतानृध) सत्य वा यज्ञसे युक्त और इसीलिये (श्रुतानृध) सत्य व यमके वर्धक थे, तथा (तपस्वत) तपसे युक्त (चित्रानृध) पूर्व पिताओंको (नार् चित्र अपि) इन सबको भी हे (यम) नियमवान् वेतारना तू प्राप्त हो ॥ १५ ॥

(य) जो लोक (तपसा) शृष्ट्याद्रावणादि नानाविध तप करने कारणसे (अनाघृष्याः) किसी भी प्रकारके वृष्टोंको नहीं पहुँचाए जा सकत, जिनको पाप नहीं सता सकत, व (ये) जो लोक (तपसा) तपके कारणसे (स्वः ययु) स्वर्गको गए हुए हैं, और (ये) जिन्होंने (मह तप चक्रिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत ! इन (तान् चित्र अपि गच्छतात्) उन तपस्विनोंको भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें सेही स्थित होवे ॥ १६ ॥

भावार्थ—यमके कुत्तोंका वर्णन यथा किया गया है । उनकी चार आँसे हैं तथा वे बिलकबरे रंगके हैं ॥ ११ ॥

जावित पुरुषोंके लिए यमक कुत्तोंसे कल्याण व आरोग्य मागा गया है ॥ १२ ॥

यमके कुत्त लंबी नाकवाले, प्राणोंका खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यन्त बलवान् हैं । वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं ॥ १३ ॥

जिनके लिए सोमस्य बहता रहता है व जो आज्य का उपभोग करते रहते हैं तथा जिनके लिए मधु भी कुन्दायें बहती रहती हैं ऐसे यज्ञघातोंको हे प्रेत तू प्राप्त हो ॥ १४ ॥

जा पितर सन्तके रक्षक हैं, यज्ञादि का अनुष्ठान नियमित्यमसे करनेवाले हैं तथा तपस्वी हैं ऐसे पिताओंको हे मृतत्वा तू परलोक में जाकर प्राप्त हो ॥ १५ ॥

ये घृक्ष्यन्ते प्रधनेषु शरीसो ये तनूत्यजः ।

ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिद्वेषार्थि गच्छतात् ॥ १७ ॥

सहस्रणीथाः क्वययो गोपायन्ति स्वयम् । ऋषिन्तपस्वतो यम तपोर्जा अर्धि गच्छतात् १८

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी । यच्छास्मै शर्म सप्रथाः ॥ १९ ॥

असंवाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्य ।

स्वधा यार्थकूपे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥ २० ॥

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान् गृह्णो उपं जुजुषाण एहि ।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उपं वान्तु श्रमाः ॥ २१ ॥

अर्थ— हे प्रेत ! [ये शरीसः] जो शूरवीर गण [प्रधनेषु] सेनाओं में [घृक्ष्यन्ते] युद्ध करते हैं और [ये] जो वन संश्रामों में [तनूत्यजः] शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, [वा] अथवा [ये] जो लोग [सहस्रदक्षिणाः] हजारों दान करते हैं [तात् चिद्वेषार्थि] उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[ये] जो [क्वययः] अंतदर्शी ज्ञानी लोग [सहस्रणीथाः] हजारों प्रकर्मों की नीतियोंवाले हैं और जो [स्वयं गोपायन्ति] इस स्वयंका रक्षण करते हैं ऐसे [तपस्वतः कर्षीन्] तपसे युक्त ऋषियोंको जो कि [तपोर्जा] तपसे ही तपश्च हूप हूप हैं—ऐसोंको भी हे नियममें स्थित प्रेरणा! तू यहाँसे जाकर प्राप्त हो ॥ १८ ॥

हे पृथिवी ! [शर्म] इसके लिए [स्योना] सुखकारिणी [अन्त्येष्टि] कांटोंसे रहित अर्थात् न पीडा देनेवाली, [निवेशनी] प्रवेश करने योग्य [भव] हो । [सप्रथाः] विस्तृत हुई हुई [शर्म] इसके लिए [शर्म] सुखको [यच्छ] दे । ॥ १९ ॥

[असंवाधे] ऊंचा नीचा जो नहीं है अर्थात् जो एक सरीखा है ऐसे [पृथिव्याः उरौ लोके] पृथिवीके विस्तृत स्थानमें [निधीयस्य] स्थित हो । [जीवन्] जीते हुए अर्थात् जीवित अवस्था में तुने [याः स्वधाः] जो स्वधायें [चक्रे] की धीं [ताः] वे स्वधायें [ते] तेरे लिए जब [मधुश्चुतः] मधुके बरसाने वाली [सन्तु] होंगे ॥ २० ॥

[ते मनः] तेरे मनको [मनसा] मन द्वारा सुझाता हूँ । [ह्वय] यहाँ [इहेमान् गृह्णो] इन घरोंसे [जुजुषाणः वप एहि] प्रीति करता हुआ समोप जा । तू [पितृभिः] पितरों के [संगच्छस्व] साथ विचरण कर । [यमेन सं] यमके साथ विचरण कर । [स्योनाः] सुखदायक (श्रमाः) शक्तिशाली (वाताः) वायुयें [स्वा यपवास्तु] तेरे लिए बनें ॥ २१ ॥

भावार्थ— हे प्रेत जो तप के कारण किसी भी प्रकार पराभूत नहीं हो सके, व जो तप ही के कारण स्वर्ग को प्राप्त हुए हुए हैं तथा जिन्होंने महान् तप किया है उनको तू यहाँसे जाकर प्राप्त हो ॥ १७ ॥

जो शूरवीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीर गति को प्राप्त हुए हुए हैं वा जो लोग नागतरह के दानों को देकर अपने को संश्रामों अमर कर गए हैं, ऐसे लोगोंको हे मृतात्मा तू प्राप्त हो, तेरी छत्रति होवे ॥ १८ ॥

जो अंतदर्शी ऋषियोग नाना प्रकारके विज्ञानोंसे परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसोंको हे प्रेतात्मा तू इस लोक से जाकर प्राप्त हो । उनमें जाकर तू स्थित हो । निवृत्त लोगोंमें मत जा ॥ १८ ॥

पृथिवी, इसके लिए सुखकारी व पीडा रहित होवे ! इसके किसी प्रकारका कष्ट न हो ! पृथिवी इसको सदा सुख प्रदान करती रहे ॥ १९ ॥

चलने जो जीते हुए स्वधाओंका संग्रह किया था वे इसके लिए मगुर हो ॥ २० ॥

४ (अ. सु. भा. कां. १८)

उत् त्वां वहन्तु मरुतं उदवाहा उद्वृष्टः । अजेन कृण्वन्तः शीतं वृषेणोक्षन्तु बालिति २२
 उदहमापुरायुषे क्रत्ये दक्षाय जीवसे । स्वान् गच्छतु ते मनो अर्षा पितृरूपे द्रव ॥ २३ ॥
 मा ते मनो मामोर्माङ्गानां मा रसस्य ते । मा ते हास्त तन्वेष्टुः किं चनेह ॥ २४ ॥
 मा त्वां वृक्षः सं बाधित् मा देवी पृथिवी मही । लोकं पितृषु त्रिस्वैषस्व यमराजसु २५ ॥
 यत्ने अह्ममतिहितं पराचैरपाना प्राणो य उं वा ते परेतः ।
 तत्तं संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घ्रासं पुनरा वैश्रयन्तु ॥ २६ ॥

अर्थ- [उदवाहाः] जलका वहन करनेवाली [उद्वृष्टः] जलमें संचार करनेवाली (मरुतः) वायुमें [त्वा] तुम्हें
 उत् वहन्तु) ऊपर पहुँचावे और वे वायुमें [अजेन शीतं कृण्वन्तः] अजसे शीतकला देवीं हुईं [वृषेण उक्षन्तु]
 हृष्ट द्वारा सींचें । (बाल इति) यह तेरा जीना है, अर्थात् इसीमें तू जीवित रह सकता है ॥ २२ ॥

[आयुषे] दीर्घायु धारण करने के लिए, [क्रत्ये] कर्म करने के लिए [दक्षाय] बलके लिए तथा (जीवसे)
 उत्तम जीवन धारण करने के लिए हे मृतारामा ! मैं तुझे [उद्वृष्टम्] बुलाता हूँ । [ते मनः] तेरा मन [स्वाद्] तेरे
 स्वनिषियों में [गच्छतु] जावे [अय] और तू [पितृषु उपद्रव] पितरोंकी प्राप्त हो ॥ २३ ॥

[दह] इस संसारमें रहते हुए [ते] तेरा [मनः] मन [मा हास्त] तुझे छोड़कर मत चला जावे ।
 [अतो] प्राणोंका [किंचन] कुछभी भंश [मा] मत चला जावे अर्थात् तेरे प्राण ठीक ठीक बने रहें । [त्व रसस्य मा]
 मेरे शरीरस्थ रुधिर आदि रसका कुछ भी भंश मत चला जावे । और [ते तन्वः किंचन मा हास्त] मेरे शरीर का
 कुछभी भंश मत चला जावे ॥ २४ ॥

(त्वा वृक्षः मा संबाधित्) तुझे वृक्ष बाधा मत पहुँचाए । वृक्ष यहाँ वनस्पतिका उपलक्षण है । (देवी मही
 पृथिवी) दिव्य गुणोवाली विस्तृत पृथिवी भी तुझे (मा) मत बाधा पहुँचाए । (यमराजसु पितृषु लोकं विरथा) यम
 जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त करके (एषस्व) श्रद्धिकी प्राप्त कर ॥ २५ ॥

(ते यत् चनेह पराचैः अतिहितम्) तेरा जो अह्म उरुटा होकर हट गया है, और (यः ते प्राणः अपानः परेतः) जो
 तेरा प्राण वा अपान दूर चला गया है-शरीरसे निकल गया है, (तत् ते) उस उपरोक्त तेरे बह्न वा प्राण वा अपानको
 (मनीडाः पितरः) साथ रहनेवाले पितर (संगत्य) मिलकर (घासाद् घ्रास इव) यहाँ लुप्तोपम प्रथित होती है जैसे
 पाशसे घास बांधी जाती है उसी प्रकार (पुनः मावेशयन्तु) फिर प्रविष्ट करावें अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे
 भागि पुनरुज्जीवित करें ॥ २६ ॥

भावार्थ- पितरोंके साथ निचरण कर और यमसे निचरण कर । तेरे लिये वायु सुखदायी हो ॥ २१ ॥

वायु और जल तेरे लिये सुखदायी हों ॥ २२ ॥

हे मृतारामा । तू दीर्घायु, बल, जीवन आदि धारण करने के लिए पुनः इस संसारमें आ तथा अपने संबन्धियों में ही
 जाकर जन्मले ॥ २३ ॥

हे वृक्ष । तू संसारमें सबोद्गुण बना रह । तेरे शरीर आदि का कोई भी भंश नष्ट न होवे ॥ २४ ॥

युलोकमें जाते हुए तुझ को वृक्षादि वनस्पतियां तथा अन्य पार्थिव पदार्थ बाधा न पहुँचावें । तू यमराजावाले पितरोंमें
 जाकर श्रद्धिकी प्राप्त कर ॥ २५ ॥

प्राणोंके निकल जानेपर शरीर चैद्यारहित हो जाता है । यह दृष्ट हालतमें शव वा मृत देह कहलाता है । इस
 मंत्रमें निकले हुए प्राणोंका पुनः समावेश करनेका वर्णन है । इससे मृतको पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिथ्या
 है । इसके विवाय कोई शरीरका अवयव उलटा हो गया हो वा टूट गया हो तो इसे भी पितर ठीक ठीक दवाचारान बेठाते
 । ऐसा ज्ञात होता है ॥ २६ ॥

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत् परि ग्रामादितः ।

मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेत्ता अधन् पितृभ्यां गमयां चकार

॥ २७ ॥

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्वरन्ति ।

पुरापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्ठानस्मात् प्र धमाति यज्ञात्

॥ २८ ॥

सं विशन्तिवह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतितरन्तु आपुः ।

तेभ्यः शक्रेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरुचोः

॥ २९ ॥

यां तै घेजुं निपृणामि यमुं ते क्षीर औद्गनम् ।

तेना जनस्यासा भर्ता योऽत्रासुदजीवनः

॥ ३० ॥

अर्थ—(जीवाः) प्राणधारी लोगोंने (इमं) इस प्रेतको (गृहेभ्यः) घरोंसे (अप अरुधन्) बाहिर कर दिया है [तं] उसको तुम लोग (दूतः) इस ग्रामसे (परि निर्वहत्) बाहिर की ओर स्मशानभूमिमें ले जाओ। क्योंकि (यमस्य मृत्युः दूत आसीत्) यमका जो मृत्यु दूत है उस (प्रचेताः) प्रकृष्ट ज्ञानी मृत्युने इसके (अधन्) प्राणोंको (पितृभ्यः गमयां चकार) पितरोंके लिये अर्थात् पितरोंके पास पितृलोकमें (गमयां चकार) भेज दिए हैं। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है इसलिये इसके शवको ग्रामसे बाहिर दहनादि क्रियाके लिये ले जाओ ॥ २७ ॥

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातिपोंके सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुतादः) अहुत अर्थात् न दिये हुए को खानेवाले हैं यानि बबरदस्ती जो छीनकर खा जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपश्रय करनेवाले, पितृषु प्रविष्टाः पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए (भ्रान्ते) विचरण करते हैं, और (ये) जो (पुरापुरः) पुरों को तथा (निपुरः) पौत्रों को (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओं को (अग्निः) अग्नि (अस्मात् यज्ञात्) इस यज्ञसे (प्र धमाति) दूर भगा देता है, यद्गं जाने नहीं देता ॥ २८ ॥

(इह) इस यज्ञमें (नः) हमारे (स्वाः पितरः) श्रातिके पितृप्राण (स्योनं कृण्वन्तः) सुख उत्पन्न करते हुए (सं विदन्तु) प्रविष्ट होयें। और (आपुः प्रतितरन्तु) आपुष्यकी वृद्धि करें। और उसके बदलेमें (नक्षमाणाः) गतिशील अर्थात् संबंदा कार्य-कारण इम (ज्योग् पुरुचोः शरदः) निरन्तर अहुतसे वर्षोत्क (जीवनः) जीवन धारण करते हुए (तेभ्यः) उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी हविषा हविद्वारा (शक्रेम) परिषर्पा करनेमें समर्थ बने रहें ॥ २९ ॥

(तै) तैरे लिये (यो घेजुं) जिस गायको (निपृणामि) देता हूँ और (क्षीरे) दूधमें (यं औद्गनम्) जिस भातके देवा हूँ अर्थात् दूध मिश्रित जो भाग देता हूँ (तेन) उस द्वारा (जनस्य भर्ता असः) मनुष्यका पोषक हो। (यः) जो कि मनुष्य (अत्र) इस संसारमें (अ—जीवनः) निश्चिन्—मृत (असत्) है ॥ ३० ॥

भावार्थ— इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे धरते बाहर कर देना चाहिये व तदनन्तः ग्रामसे भीहार लेजाना चाहिये। स्मशान भूमि ग्रामसे बाहिर होनी चाहिये ॥ २७ ॥

और हमारा व हमारी संततिका रुपके रुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हविषोंका जो कि, पितरोंके वरशेष दी गई है खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो ऋषि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरोंमें बैठकर हवि खाने नहीं देती ॥ २८ ॥

पितर आ आये और दीर्घ कालक जीते हुए उनकी हविदान द्वारा सेवा की जावे ॥ २९ ॥

दूध मिश्रित भात जीवनहानि मनुष्यके मरण के लिए दिया जावे ॥ ३० ॥

(३)

य इमे धावापृथिवी जजान यो द्रापि कृत्वा भुवनानि वस्ते ।
 यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः पडुर्वीर्याः पतंगो अनुं विचारकशीति ॥
 तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।
 उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ १ ॥
 यस्माद् वाता ऋतुधा पवन्ते यस्मात् समुद्रा अधि विश्वरन्ति । तस्य देवस्य ० ॥ २ ॥
 यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा । तस्य देवस्य ० ॥ ३ ॥
 यः प्राणेन धावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः पिपति । तस्य देवस्य ० ॥ ४ ॥
 यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरभिवैश्वानुरः सह पृङ्क्त्या श्रितः ।
 यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे ॥ तस्य देवस्य ० ॥ ५ ॥

अर्थ—(यः इमे धावा-पृथिवी जजान) जो इन दोनों द्युलोक और पृथिवी लोकको उत्पन्न करता है, (यः भुवनानि द्रापि कृत्वा वस्ते) जो सब भुवनोंको चोला बनाकर उसमें रहता है, (यस्मिन् पदुर्वीर्याः प्रदिशः क्षियन्ति) जिसमें छः बड़ी दिशाएँ निवास करती हैं, (यः पवङ्गः ऋतु विचारकशीति) जिनको गतिमान् सूर्य प्रकाशित करता है । (यः एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति) जो ऐसे ज्ञानी ब्राह्मणको नाश करता है, या कष्ट देता है, (एतत् आगः तस्य क्रुद्धस्य देवस्य) इसका पाप उस क्रुद्ध देवके प्रति होता है । हे (रोहित) सूर्य ! उस पापीको (उद् वेपय) कम्पा दे, तथा (प्रक्षिणीहि) उसका नाश कर, (ब्रह्मज्यस्य पाशान् प्रमुञ्च) ब्रह्मघातकीके ऊपर पाशोंको गिरा दे, अर्थात् उसे बंधनमें डाल दे ॥ १ ॥

(यस्मात् वाताः ऋतुधा पवन्ते) जिससे वायु ऋतुओंके अनुसार बहते हैं, (यस्मात् समुद्राः अधि विश्वरन्ति) जिससे समुद्र-जलप्रवाह-विविध प्रकारसे प्रवाहित होते हैं ॥ ० ॥ (यः मारयति प्राणयति) जो मारता है, जो जीवित रखता है, (यस्मात् विश्वा भुवनानि प्राणन्ति) जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं ॥ ० ॥ २--३ ॥

(यः प्राणेन धावापृथिवी तर्पयति) जो प्राणसे द्युलोक और भूलोकको सूख करता है और (यः अपानेन समुद्रस्य जठरं पिपति) जो अपानसे समुद्रका पेट पूर्ण करता है ॥ ० ॥ (यस्मिन्) जिसमें विराट् परमेष्ठी प्रजापति अग्नि वैश्वानुर (सह पृङ्क्त्या श्रितः) यँकिके साथ आश्रय लिए हैं ॥ ० ॥ ४-५ ॥

भावायं— जनताने जो समिधायें होमी थीं, उनसे यह अग्नि प्रदीप्त हुआ है । जैसी गौ प्रातःकाल जागती है, वैसा यह अग्नि जाग उठा है । जैसे पौधे अपनी शाखाओंको ऊपर आकाशमें फैलाते हैं, वैसीही अग्निकी ज्वालाएँ सीधी ऊपर जाती हैं और प्रकाशको फैलाती हैं ॥ ४६ ॥

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

जिस परमात्माने यह संपूर्ण जगत् निर्माण किया है और जो उसके अन्दर व्यापकर रहता है, जिसके अन्दर ये सूर्यसे प्रकाशित होनेवाली सब दिशा और उपदिशाएँ रहती हैं, वह विश्वधिपति परमात्मा तबपर बड़ा क्रुद्ध होता है, जो ज्ञानी मनुष्यको कष्ट देता है, उसके कंपायमान करता है, क्षीणबल करता है और अन्तमें बंधनमें डाल देता है ॥ १ ॥

यस्मिन् पटुर्वाः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्रतस आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः ।

यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्वधुपैक्षत ॥ तस्य देवस्य ०

॥ ६ ॥

यो अन्नादो अन्नपतिर्धभूव महान्णस्पतिरुत यः ।

भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः ॥ तस्य देवस्य ०

॥ ७ ॥

अहोरात्रैर्विमितं त्रिशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीति ॥ तस्य देवस्य ०

॥ ८ ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।

त आवृत्रन्तसर्दनादृतस्य ॥ तस्य देवस्य ०

॥ ९ ॥

यत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रमानु ।

यस्मिन्त्सूर्या आपिताः सप्त साकम् ॥ तस्य देवस्य ०

॥ १० ॥ (१२)

गृहदैनुमनु वस्ते पुरस्ताद् रथंतरं प्रति गृह्णाति पश्चात् ।

ज्योतिर्वसान् सदुमप्रमादम् ॥ तस्य देवस्य ०

॥ ११ ॥

अर्थ- (यस्मिन् पटु र्वाः पञ्च दिशः अधिश्रिताः) जिसमें छ. तथा पांच बड़ी दिशाएं आश्रित हुए हैं तथा जिसमें (चतस्रः षाप यज्ञस्य त्रय अक्षरा) चार प्रकारके जल और यज्ञके तीन अक्षर हैं, (यः अन्तरा वरुदः चक्षुषा रोदसी पेशत) जो अन्दरसे वरुद होकर आँसुसे द्युलोक और भूलोकको देखता है ॥ ० ॥ ६ ॥

(यः अन्नादो अन्नपति उत य. महान्णस्पतिः यभूव) जो अन्नमक्षक, अन्नका स्वामी और ज्ञानका स्वामी बना है, तथा / य भुवनस्य पतिः भूत भविष्यत्) जो जगत का स्वामी या और रहेगा ॥ ० ॥ [यः अहोरात्रैः विमितं त्रिशद अंग] जो दिन और रात्रीके तीस दिनोंका बना एक महिना ऐसे (त्रयोदशं मासं यः निर्मिमीते) तेरह महिने जो निर्माण करता है ॥ ० ॥ ७-८ ॥

(अप वसानाः सुपर्णा हरयः) जलका धारण करनेवाले ब्रह्म गतिमान् सूर्यकिरण (कृष्णं नियानं दिवं उत्पतन्ति) कृष्ण वर्ण या नीलवर्णवाले सबके स्थानरूप द्युलोक के प्रति चलते हैं, [ते ऋतस्य सद्गात् आवृत्रन्] वे किरण जलके स्थानसे पुनः पुनः लौटते हैं ॥ ० ॥ [कश्यप] देखनेवाले देव । (यत् ते चन्द्रं रोचनावत् पुष्कलं संहितं चित्रमानु) जो तेरा आतन्त्रकारी प्रकाशमय बहुत इच्छा हुआ विचित्र तेज है (अस्मिन् सप्त सूर्याः साकं आपिताः) इसमें सात सूर्य साथ साथ रहते हैं ॥ ० ॥ ९-१० ॥

[वृहत् एन पुरस्तात् अनुवस्ते] बृहत् गान इसके सामने होता है और (रथंतरं पश्चात् प्रतिगृह्णाति) रथन्तर गान पीछेसे इसका ग्रहण करता है ॥ ० ॥ [वृहत् अन्वयत. पक्ष आसीत्] वृहत् गानका एक पक्ष है और [रथंतरं

भावार्थ- जिसकी प्रेरणसे वायु और जलप्रवाह चल रहे हैं। जो सबको मारता और जीवित करता है, जिसकी जीवनशक्तिसे सब प्राणिमात्र जीवित रहते हैं ॥ जो प्राणसे शान्नापृथिवीको तृप्त करके अपानके समुद्रको परिपूर्ण करता है, जिसमें अग्नि आदि सब देव शक्ति बाधकर रहते हैं, जिसमें मध दिशाएं, सब जलप्रवाह, यज्ञके सब विधिज्ञान आश्रित हुए हैं, जो कबूट्र होकर अपने ०-१५स सबका निरीक्षण करता है ॥ ८-६ ॥

जो एक मात्र सबका अक्षक है तथापि जो अन्न और ज्ञान सबको देता है, जो सबका एक मात्र स्वामी या, है और रहेगा, जो दिन गत, महिना और वर्षवर्षकी कलचक्र निर्माण करता है, जिसके किरण पृथ्वीपरका जल लेकर आकाशमें उठते हैं और वहां मेघमंडलमें वारंवार प्रकाशित होते हैं, जिसका प्रकाश एकत्रित होकर सबको प्रकाशित करता है और जिसमें ये सब सूर्य रहने ॥ १-१० ॥

बृहदुन्यतः पक्ष आसीद् रथंतरमन्यतः सवले सध्रीचीं ।

यद् रोहितमजनयन्त देवाः ॥ तस्य देवस्य ०

॥ १२ ॥

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातर्दधन् ।

स संविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम् ॥

तस्य देवस्य ०

॥ १३ ॥

सहस्राक्षं विर्यतावस्य पक्षौ हरैर्हस्तस्य पततः स्वर्गम् ।

स देवान्सर्वानुरस्युपदद्यं संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥ तस्य देवस्य ०

॥ १४ ॥

अयं स देवो अप्सवन्तः सहस्रमूलः पुरुशाक्षो अरित्रः ।

य इदं विश्वं भुवनं जजान् ॥ तस्य देवस्य ०

॥ १५ ॥

शुक्रं वहन्ति हरयो रघुपयो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम् ।

यस्योर्ध्वा दिवं तन्वस्तपन्त्यर्वाद् सुवर्णैः पट्टरैर्वि भाति ॥ तस्य देवस्य ०

॥ १६ ॥

येनाद्रित्यान् हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः ।

यदेकं ज्योतिर्वहुधा विभाति ॥ तस्य देवस्य ०

॥ १७ ॥

अन्यतः] रथन्तर गानका दूसरा पक्ष है, [सवले सध्रीची] ये दोनों बलवान् तथा साथ रहनेवाले पक्ष हैं । [यद् रोहितं देवाः अजनयन्त] वहाँ देवोंने रोहित सूर्यको निर्माण किया ॥ ० ॥ ११-१२ ॥

[सः वरुणः सायं अग्निः भवति] वह वरुण है, परंतु वह सायंकाल अग्नि होता है, [सः प्रातः दधन् मित्रः भवति] वह सवेरे दध्य होनेके समय मित्र कहलाता है । [सः संविता भूवा अन्तरिक्षेण याति] वही संविता बनकर अन्तरिक्षमें संचार करता है, [सः इन्द्रः भूत्वा मध्यतः दिवं तपति] वह इन्द्र होकर द्युलोकके मध्यमें तपता है ॥ ० ॥ १३ ॥

[अयं देवो अप्सवन्तः १०।८।१८; १३।१३८] ॥ ० ॥ १४ ॥

[यः इदं विश्वं भुवनं जजान्] जिसने यह सब जगत् निर्माण किया [अयं सः देवः सहस्रमूलः पुरुशाक्षः अरित्रः अप्सवन्तः] वह देव यही है जिसके हजारों मूल और शाखाएँ हैं और जो सबका भक्षक है, वह जलोंमें है ॥ ० ॥ १५ ॥

(वर्चसा भ्राजमानं शुक्रं देवं) तेजसे चमकनेवाले पवित्र देवको (रघुपयद्-हरयः दिवि वहन्ति) गतिमान् किरण द्युलोकमें चलाते हैं । (यस्य ऊर्ध्वाः तन्वः दिवं तपन्ति) जिसके ऊपरके भाग सूर्यलोकको तपाते हैं और (अर्वाक सुवर्णैः पट्टरैः विभाति) इस ओर उत्तम रंगवाले तेजोंसे वह चमकता है ॥ ० ॥ (येन हरितः आद्रित्यान् सं संवहन्ति) जिसके साथ किरण सूर्यको चलाते हैं, (येन यज्ञेन प्रजानन्तः बहवः यन्ति) जिस यज्ञके साथ बहुत ज्ञानी जाते हैं, (यद् एकं ज्योतिः बहुधा विभाति) जो एक तेज अनेक प्रकारसे प्रकाशता है ॥ ० ॥ १६-१७ ॥

भावार्थ-बृहत् और रथन्तर गान इसके आगेवाले चलते हैं । ये दोनों यज्ञके प्रथम पक्ष हैं इनका गान होता है तब सूर्य देव उदयको प्राप्त होते हैं । वहाँ वरुण अग्नि मित्र संविता और इन्द्र अमराः सायं प्रातः द्वितीय प्रहर और मध्य दिनमें कहलता है । (मंत्र १४ का भावार्थ १३।१३८ में देखो) जिसने यह जगत् निर्माण किया वह देव यही है, जिसकी जड़ और शाखाएँ हजारों हैं, वह जलमें विराजमान है ॥ ११-१५ ॥

तेजस्वी सूर्यको द्युलोकमें किरण प्रकाशित करते हैं । इसके ऊपरके किरण द्युलोकको प्रकाशित करते हैं और इस ओरके किरण इस ओर प्रकाश देते हैं । एकचक्रवाले सूर्यदेवको सात किरण प्रकाशित करते हैं । एकके ही से सात भाग हैं । इसका नाम

सप्त युञ्जान्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सुसनामा ।

त्रिनाभिं चक्रमजरमनुर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्युः ॥ तस्य देवस्यं ॥ १८ ॥

अष्टधा युक्तो वहति वहिष्ठप्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम् ।

भ्रुवस्य तन्तुं मनसा भिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा ॥ तस्य देवस्यं ॥ १९ ॥

सम्यञ्च तन्तुं प्रदिशोऽनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे । तस्य देवस्यं ॥ २० ॥ (१३)

निम्नुचस्तिन्नो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः ।

विषा तै अग्ने त्रेषा जनित्रं त्रेषा देवानां जनिमानि विष्ट ॥ तस्य देवस्यं ॥ २१ ॥

वि य औणोत् पृथिवीं जार्यमान आ समुद्रमदंघादन्तरिक्षे । तस्य देवस्यं ॥ २२ ॥

त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितोर्ध्वः समिद्ध उदरो चया दिवि ।

किमभ्यार्चिन्मरुतः पृथिमातरौ यद् रोहितमर्जनयन्त देवाः । तस्य देवस्यं ॥ २३ ॥

अर्थ- [एकचक्रं रथं सप्त युञ्जन्ति] एक चक्रवाले रथसे सात अथ-किरण-जोते हैं । [ससनामा एकः अश्वः वहति] सात नामवाला एक अश्व उसको चलाता है । इसका [त्रिनाभिं चक्रं मजरमनुर्वं चक्रं] तीन केन्द्रोंवाला चक्रा रहित और मातरिश्वा पद चक्र है, (यत्र इमा विश्वा भुवना अधि तस्युः) जहाँ ये सब भुवन उरते हैं ॥ १८ ॥ [अ० ११९१२]

(देवानो पिता मतीनां जनिता) देवोंका पालक और बुद्धियोंका उत्पादक (अमः पङ्क्तिः अष्टधा युक्तः वहति) अम अग्नि आठ प्रकारसे युक्त होकर चलाता है । [अष्टस्य तन्तुं मनसा भिमानः] यज्ञके धागेको मनसे मापना हुआ (मातरिश्वा सर्वाः दिशः पवते) अंतरिक्षमें निवास करनेवाला सब दिशाओंमें गति करता है ॥ १९ ॥

(सम्यञ्च तन्तुं सर्वाः प्रदिशः अनु) इस सीधे यज्ञके धागेको सब दिशाओंके अनुसर (गायत्र्या अंतः अमृतस्य गर्भे) गायत्रीके अंदर अमृतके गर्भमें देखते हैं ॥ २० ॥

(तिस्रः निम्नुचः तिस्रः व्युषः) तीन अस्त और तीन उप-काल हैं । हे (अंग) मिय ! (त्रीणि रजांसि तिस्रः दिवः) तीन अन्तरिक्ष और तीन द्युलोक हैं । हे अग्ने ! (तै त्रेषा जनित्र विष्ट) तेरा तीन प्रकारका जन्म हम जानते हैं । तथा (देवानां त्रेषा जनिमानि विष्ट) देवोंके तीन जन्म हम जानते हैं ॥ २१ ॥ (यः जार्यमानः पृथिवीं वि औणोत्) ओ जन्मते ही पृथ्वीको आच्छादित करता है (अन्तरिक्षे समुद्रं आ अदंघात्) अन्तरिक्षमें समुद्रको घारण करता है ॥ २२—२३ ॥

हे अग्ने ! [त्वं क्रतुभिः, अर्कः क्रतुभिः हितः] तू यज्ञोंसे और सूर्य किरणोंसे युक्त है, तू (समिद्धः दिवि उद् अरोचयाः) प्रदीप्त होकर द्युलोकमें प्रकाशता है । (मरुतः पृथिमातरः किं अभ्यार्चन्) भूमिको, माता माननेवाले मरुद् तब उसकी अर्चना करने लगे कि (यद् देवाः रोहितं अर्जनयन्त) जिस समय देवोंने सूर्यको प्रकट किया ॥ २३ ॥

अजर अमर है और इसीके आधारसे सब भुवन रहते हैं । वह सब देवोंका और बुद्धियोंका उत्पादक और पालक है । यह प्रचण्ड अग्नि है और आठ प्रकारका होकर प्रकाशता है । इसीसे यज्ञका अखंड धारा फैलाया जाता है । यह अन्तरिक्षमें रहकर सर्वत्र प्रकाशित होता है । यह यज्ञका तन्तु सब दिशाओंमें फैल रहा है यह गायत्रीमें अमृतके केन्द्रमें है ॥ १९—२० ॥

अस्त, उदय, उषा, द्यु, अन्तरिक्ष ये सब तीन हैं । सबका जन्म तीन प्रकारका है । जन्मतेही पृथ्वीको प्रकाशित करता और अन्तरिक्षमें जलोंको धरता है । अग्नि यज्ञोंके साथ ही सूर्यकिरणोंके साथ प्रकाशित होता है । प्रदीप्त अग्नि यज्ञमें और चमकनेवाला सूर्य द्युलोकमें प्रकाशता है । जब देवोंके द्वारा सूर्य उदय हुआ तब वायु भी बह रहे थे ॥ २१—२३ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिक्षं यस्य देवाः ।

योऽस्येशं द्विपदो यश्चतुष्पदः ॥ तस्य देवस्य ०

॥ २४ ॥

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पञ्चात् ।

चतुष्पाच्चक्रे दिपदामभिस्वरे संपश्यन् पृष्टिक्त्वमुपतिष्ठमानः तस्य देवस्य ॥

क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति ।

उद् वैष्य रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्

॥ २५ ॥

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वृत्सोऽजायत ।

स ह धामर्षि रोहति रुहो रोहो रोहितः

॥ २६ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अर्थ— [यः आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते] को आत्मिक बल देनेवाला और शक्ति देनेवाला है, जिसकी आज्ञाका पालन सब देव करते हैं, (यः अस्य द्विपदः चतुष्पदः ईशा) को इस द्विपाद् और चतुष्पादका स्वामी है ॥ २४ ॥

(एकपाद् द्विपदः भूयः विचक्रमे) एक पांववाला दो पांववालेसे अधिक दौड़ता है, (द्विपाद् त्रिपादं पञ्चाद् अभ्येति] दो पांववाला तीन पांववालेके पीछेसे चलता है । (भयं० १३ । २ । २०) (चतुष्पाद् द्विपदं अभिस्वरे पंक्तिं संपश्यन् उपतिष्ठमानः चक्रे) चार पांववाला दो पांववालोंको एकरावमें रहनेवालोंकी पंक्तिको देखता हुआ और इनसे सेवा लेता है । (तस्य देवस्य०) इस देवके प्रति वह पाप होता है कि जो ज्ञानी ब्राह्मणके नाश करनेसे होता है । उस नाशकको वह कंषा, क्षीण करता और बंधनमें डालता है ॥ २५ ॥ (अ. १० । ११० । ८)

(कृष्णायाः रात्र्याः पुत्रः वसः अर्जुनः अजायत) काले वर्णवाली रात्रिका पुत्र बच्चा प्रकाशमान सूर्य हुआ है । [सः रोहितः रुहः रोह] वह काल ईशवाला सब बटानेवालोंके ऊपर चढ़ा है, वही (ह यां रोहति) निश्चयसे चुड़ोके पर चलता है ॥ २६ ॥ (१४)

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

भावार्थ— आत्मिक और शारीरिक बल देनेवाला देव है, इसकी आज्ञा सब मानते हैं, सब द्विपाद् चतुष्पाद् उसीकी आज्ञामें रहते हैं ॥ २४ ॥

वह देव एकपादवाला होनेपर भी अनेक पांववालोंके आगे बढ़ता है । वह सबको पूजा स्वीकारता हुआ सबको पंक्तिमें रखकर उपासक बनाता है । इस देवताका अपराध वह करता है कि जो ज्ञानी ब्राह्मणको घटाता है । वह इस अपराधीको कंषा, क्षीण करता और बंधनमें डालता है ॥ २५ ॥

रात्री अर्थात् होकर दिन हुआ और सूर्य उदय हो चुका है । वह उदय होते ही सबसे ऊपर चढ़ने लगा और अंतमें दुष्ट-लोकमें विराजमान होकर प्रकाशने लगा है ॥ २६ ॥

तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

(४)

[१] स एति सविता स्वर्द्धिवस्पृष्टेऽनुचाकंशत्	॥ १ ॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्पावृतः	॥ २ ॥
स घाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् ।०	॥ ३ ॥
संजिर्ष्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।०	॥ ४ ॥
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ।०	॥ ५ ॥
तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकेशीपीणोऽयुता दर्श० ।	॥ ६ ॥
पथात् प्राञ्च आ तन्वान्ति यद्देति वि मांसति ।०	॥ ७ ॥
तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्वाकृतः	॥ ८ ॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्पावृतः	॥ ९ ॥
तस्येमे नव कोशां विष्टम्मा नवधा हिताः	॥ १० ॥
स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न	॥ ११ ॥
तमिदं निर्गतं सहः स एष एक एकवृदेक एव	॥ १२ ॥
एते अस्मिन् देवा एकवृत्तौ भवन्ति	॥ १३ ॥

अर्थ- (१) (स्वः सविता दिव वृष्टे भवचाकदात् सः पति) वह सूर्य द्युलोकके पृष्ठभागपर प्रकाशता है और अपने तेजसो प्राप्त करता है ॥ १ ॥ इसने अपने (रश्मिभिः नभः आभृतं) किरणोंसे आकाशको भरपूर कर दिया । वह (महेन्द्र आभृतः पति) ब्रह्मा इन्द्र तेजसे आभृत होकर चढता है ॥ २ ॥ (सः धाम्ना०) वह घाता विधाता और वही (वायु) वायु है जिसने (नमः उच्छ्रितं) आकारा कंधा बनाया है ॥ ३ ॥

वह अर्थमा, वरुण, रुद्र और महादेव है ॥ ४ ॥ वह अग्नि, सूर्य और महायम भी वही है ॥ ५ ॥ [तं एकशी-पीण दश वत्सा युताः उपतिष्ठन्ति] इसके साथ एक मस्तकवाले दस बछड़े संयुक्त होकर रहते हैं ॥ ६ ॥ (पथात् प्राञ्च आ तन्वान्ति) पीछेसे पूर्व दिशामें तेज फैलाता है (यद् देति विमांसति) जो उड़प होना और प्रकाशता है ॥ ७ ॥

(तस्यैष एष मारुतः गण शिक्वाकृतः पति) उसके साथ यह वायु गण छिश्नेमें घरेके समान चढता है ॥ ८ ॥ उसने किरणोंसे आकाश व्याप दिया है, वह ब्रह्मा इन्द्र तेजसे आभृत होकर चढता है ॥ ९ ॥ [तस्येमे नव कोशां विष्टम्मा नवधा हिताः] इसके ये नौ कोश विविध रूपसे नौ प्रकार रखे हैं ॥ १० ॥

(सः प्रजाभ्यः विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न) वह प्रजाओंको देखता है, जो प्राणघातण करते हैं और जो नहीं करते ॥ ११ ॥ (तं हृदं निर्गतं सहः) वह यह हृदहा हुआ सामर्थ्य है । (स एष एक एकवृदेक एव) वह यह एक है, एकमात्र व्यापक देव केवल एक ही है ॥ १२ ॥

(एते देवाः अस्मिन् एकवृत्तः भवन्ति) ये सब देव इसमें एकरूप होते हैं ॥ १३ ॥ [१५]

(५)

- (२) कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ १४ ॥
 य एतं देवमेकवृतं वेदं ॥ १५ ॥
 न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।० ॥ १६ ॥
 न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।० ॥ १७ ॥
 नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।० ॥ १८ ॥
 स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न । ॥ १९ ॥
 तमिदं निर्गतं सहः स एष एकं एकवृदेकं एव ।० ॥ २० ॥
 सर्वे अस्मिन् देवा एकवृत्तो भवन्ति ।० ॥ २१ ॥ (१६)

(६)

- (३) ब्रह्मं च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ २२ ॥
 भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥ २३ ॥
 य एतं देवमेकवृतं वेदं ॥ २४ ॥
 स एव मृत्युः सोऽश्मृतं सोऽश्म्वं १ स रक्षः ॥ २५ ॥
 स रुद्रो वसुवानिर्वसुदेयं नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः ॥ २६ ॥
 तस्येमे सर्वे यातव उपं प्राशिर्पमासते ॥ २७ ॥
 तस्याभू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥ २८ ॥ (१७)

अर्थ—[१] [यः एतं देवं एकवृतं वेद] जो इस देवको एकमात्र एक जानता है उसे कीर्ति, यश, [अम्भः] जल, (नभः) अवकाश और (ब्राह्मणवर्चसं) ब्राह्मणवैज, अन्न और (अन्नाद्यं) खानपानके सब भोग प्राप्त होते हैं ॥ १४-१५ ॥ यह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम, दशम है (न अपि उच्यते) ऐसा नहीं कहा जाता है ॥ १६-१८ ॥

[स सर्वस्मै विपश्यति यत् च प्राणिति यत् च न] यह सबको देखता है, जो जीवित है और जो नहीं ॥ १९ ॥
 [तं हृदं०] वह वह हृद्गा हुआ सामर्थ्य है, वह एक है, एकमात्र व्यापक देव केवल एकही है । ये सब देव इसमें एक रूप होते हैं ॥ २०-२१ ॥

(३) (ब्रह्मं) ज्ञान, तप, कीर्ति, यश, (अम्भः नभः) जल, अवकाश, ब्राह्मणवैज, अन्न और खानपानके पदार्थ, भूत, भविष्य, श्रद्धा, (रुचिः) तेज, कर्मि, स्वर्ग और स्वधा उसे प्राप्त होती है, जो (य. एतं देवं एकवृतं वेद) इस देवको एक मात्र व्यापक देव जानता है ॥ २२-२४ ॥ (१६)

वही मृत्यु है, वही अमृत है, वह (अम्भं) महान् है और वही (रक्षः) रक्षक अथवा राक्षस है ॥ २५ ॥ वह रुद्र (वसुदेये वसुवनिः, नमो वाके अनुसंहितः वषट्कारः) घनदानके समय घन प्राप्त करनेवाला है और वही नमस्कार यज्ञमें उच्चम रीतिसे बोला गया वषट्कार है ॥ २६ ॥ [तस्य प्रदिवं हमे सर्वे यातवः तप आसत] उसकी आज्ञामें ये सब राक्षसदि रहते हैं ॥ २७ ॥ (तस्य वशे अभू सर्वा नक्षत्रा चन्द्रमसा सह) उसके वशमें ये सब नक्षत्र चन्द्रमाके साथ रहते हैं ॥ २८ ॥ (१७)

(७)

(४) स वा अह्नोऽजायत तस्माद्दहरजायत	॥ २९ ॥
स वै रात्र्या अजायत तस्माद् रात्रिरजायत	॥ ३० ॥
स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादुन्तरिक्षमजायत	॥ ३१ ॥
स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत	॥ ३२ ॥
स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत	॥ ३३ ॥
स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त	॥ ३४ ॥
स वै भूमैरजायत तस्माद् भूमिरजायत	॥ ३५ ॥
स वा अग्नेरजायत तस्माद् अग्निरजायत	॥ ३६ ॥
स वा अद्भ्योऽजायत तस्मादापोऽजायन्त	॥ ३७ ॥
स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्माद्दृचोऽजायन्त	॥ ३८ ॥
स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत	॥ ३९ ॥
स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्	॥ ४० ॥
स स्तनयति स वि द्यौतते स उ अश्मानमस्पति	॥ ४१ ॥
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायामुराय वा	॥ ४२ ॥
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृषः	॥ ४३ ॥
तावांस्ते मघवन् महिमोषो ते तन्वः श्रुतम्	॥ ४४ ॥
उषो ते वषे वद्वानि यदि वासि न्युर्बुदम्	॥ ४५ ॥ (१८)

अर्थ— (४) (सः वै अहः, रात्र्याः, अन्तरिक्षात्, वायो, दिवः, दिग्भ्याः, भूमेः, अग्नेः, अद्भ्यः ऋग्भ्यः, यज्ञाय अजायत) वह निक्षयसे दिन रात्रि अन्तरिक्ष वायु द्यु दिशा भूमि अग्नि जल ऋचा यज्ञसे हुआ, वैसाही (तस्माद् अहः, रात्रिः, अन्तरिक्षं, वायुः, द्यौः, दिग्ः, भूमिः, अग्निः, अयःऋचः, यज्ञः (अजायत) उससे दिन रात्रि अन्तरिक्ष वायु द्यु दिशा भूमि अग्नि जल ऋचा और यज्ञ हुआ ॥ २९-३९ ॥

(सः यज्ञः तस्य यज्ञः) वह यज्ञ है, उसीका यज्ञ है । (सः यज्ञस्य शिरस्कृतम्) वह यज्ञका शिर करनेवाला है ॥ ४० ॥ (सः रत्नयति, स विद्यौतते) वह गर्जना है, वह चमकता है, (सः उ अश्मानं अस्पति) वह पत्थर (जोले) फेंकता है ॥ ४१ ॥ (पापाय वा भद्राय वा पुरुषाय वा असुराय वा) पापीके छिप, उचम पुरुषके छिपे, असुर श्रापके पुरुषके लिये ॥ ४२ ॥ (यद् वा भोषधीः कृणोषि, यद् वा वर्षसि) जो भोषधियां निर्माण करता है, जो वर्षा करता है, (भद्रया यद् वा जन्यं मवीवृषः) उचम कल्याण बुद्धिसे जो तू बन्ने हुए को बढ़ाता है ॥ ४३ ॥ हे (मघवन्) इन्द्र ! (तावान् ते महिमा) वह तेरा महिमा है, (वषः ते शतं तन्वः) ये सब तेरे सेकड़ों शरीर हैं ॥ ४४ ॥ [वषः ते वषे वद्वानि] ये सब तेरे करोड़ों तेरे साथ बंध हैं, [यदि वासि न्युर्बुदम्] और तू अरबोंकी संख्यामें है ॥ ४५ ॥ [१८]

(८)

- (५) भूयानिन्द्रो नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः ॥ ४६ ॥
 भूयानरास्याः शन्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ४७ ॥
 नमस्ते अस्तु पश्यतु पश्य मा पश्यत ॥ ४८ ॥
 अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ४९ ॥
 अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५० ॥
 अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५१ ० (१९)

(९)

- (६) उरुः पृथुः सुमूर्ध्व इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५२ ॥
 प्रथो वरो व्यचो लोह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।० ॥ ५३ ॥
 भवद्वसुरिद्वंसुः संयद्वसुरायद्वंसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५४ ॥
 नमस्ते अस्तु पश्यतु पश्य मा पश्यत ॥ ५५ ॥
 अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५६ ॥ (२०)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

॥ त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ- [५] [नमुराद् इन्द्रः भूयान्] अमरसे भी इन्द्र बड़ा है, [इन्द्र, मृत्युभ्यः भूयान् असि] हे इन्द्र, तू मृत्युभोंसे भी बड़ा है ॥ ४६ ॥ [इन्द्रं अरात्यः भूयान्] हे प्रभो ! शारदासि भी तू बड़ा है, [त्वं शन्याः पतिः असि] तू शकिका स्वामी है । [विभूः प्रभूः इति त्वा वयं उपास्महे] तू व्यापक और स्वामी है, ऐसी दृष्टि से तू उपासना करते हैं ॥ ४७ ॥

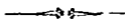
[पश्यत नमस्ते अस्तु] हे दर्शनीय, तेरे लिये नमस्कार है । [पश्यत, मा पश्य] हे धोमन ! तू मुझे देख ॥ ४८ ॥ [अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन] खानपान, यश, तेज और ब्राह्मणवर्चसेके साथ मुझे पुकृत कर ॥ ४९ ॥ [अम्भः अमः महः सहः इति वयं त्वा उपास्महे] अह, पौष, महारा, और सह स्वरूप तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ५० ॥ [अम्भः अरुणं रजः रजतं रजः इति त्वा वयं उपास्महे] अह, लाल बेल और श्रेष्ठ सामर्थ्यरूप तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ५१ ॥ [१९]

[६] [उरुः पृथुः सुमूर्ध्व इति त्वा वयं उपास्महे] मदान् विस्तृत उपास होनेवाला, ज्ञानयुक्त ऐसी तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ० ॥ ५२ ॥

[प्रथो वरो व्यचो लोहः इति त्वा वयं उपास्महे] विस्तृत क्षेप, व्यापक और स्थानदाता ऐसी तेरी हम उपासना करते हैं ॥ ० ॥ ५३ ॥ [भवद्वसुः इवद्वसुः आयद्वसुः इति त्वा वयं उपास्महे] धनयुक्त, हस्त धनसे युक्त, सब धनोंको इकट्ठा करनेवाला सब धनोंको प्राप्त करनेवाला, मानकर तेरी हम उपासना कर रहे हैं ॥ ५४ ॥ [पश्यत ते ममः अस्तु] हे दर्शनीय ! तेरे लिये नमस्कार हो [मा पश्य] मुझे देख ॥ ५५ ॥ [अन्नाद्येन] खानपान, यश, तेज और ब्राह्मणवर्चसेके साथ मुझे पुकृत कर ॥ ५६ ॥ [२०]

भावाय—यही देव धाता विधाता, अग्नि वायु इत महादेव आदि है। सब अन्य देवता इसका अंदर हैं। यह एक है, निःसन्देह केवल एक है। जो इसको एक जानता है वही तेजस्वी, बर्चस्वी और खानपनादि भोगसे मुक्त होता है। उसीसे सब पदार्थ हुए हैं और सब पदार्थोंमें वही विद्यमान है। यज्ञ भी उससे हुआ और यज्ञमें वही रहता है। वह बुरे और भलेके फलके लिए सब बन्धनतिथी बनाता है। यही सब इसकी दो महिमा है इसके मुखदों दजारों करोड़ों घरों गरीर हैं। वह अमरोंसे और मृत्युसे भी महान है। सब शक्तिया उसी की है, अतः शक्तियोंकी उपरिधिनि उनमें है, ऐसी उपासना उसी देवकी सबकी करना चाहित है ॥ १-५६ ॥

तेरहवां काण्ड समप्त ।



अथर्ववेदके तेरहवें काण्डका मनन ।

रोहित देवता ।

अथर्ववेदके तेरहवें काण्डका देवता 'रोहित' है, इस रोहित का स्वरूप क्या है, इसका सबसे प्रथम मनन करना अत्यंत आवश्यक है। इस देवताके विषयके अथर्ववेदकी सर्वानुक्रमणी में ये निर्देश हैं—

उद्वेदि शक्तिविते काण्डं महाप्रपाःमं रोहितादित्यदेवत्यं त्रैष्टुभम् ॥ अथर्व० वृ० सं० १३।१

“इस तेरहवें काण्डका देवता 'महा अग्नि'म, रोहित आदित्य' है।” यहाँ आदित्य शब्द है कि जो देवताका नियंत्रण करनेमें सहायक हो सकता है। आदित्यका अर्थ सूर्य है। इस संपूर्ण काण्डका विचार करनेसे पता लगता है कि यहाँ सूर्य ही देवता प्रामुख्यसे वर्णित हुई है। इस विषयके सूचक मंत्रभाग ये हैं—

रोहित सूर्य ।

अनुमदा रोहिणी रोहितस्य । १।२

इदं सद्यो रोहिणी रोहितस्य । १।२

“रोहिणी नक्षत्र यह रोहितका घर है और यह रोहिणी रोहित को अनुसरती है।” यहाँ आकाशस्य रोहितका वर्णन है, अतः यह सूर्यपरक है। द्वितीय सूक्तके २४ मंत्र सामान्य सूर्यपरक हैं और १५ वें मंत्रमें 'यह तपस्वी रोहित द्युलोकरपर श्रद्धा है' ऐसा कहा है, अतः यहाँ रोहित शब्द पूर्वजन्त सूर्यके लिये ही है।

रोहितः काञ्चो अमवत् । २।३९

यहाँ 'रोहित काञ्चो अमवत् है' ऐसा कहा है। सूर्यसे काञ्च होता है यह प्रलय अनुभव है, क्योंकि दिनरात उसीसे होते हैं और अमवत् सूर्यका 'नाम' काञ्च आया है। आगे—

रोहितो यज्ञानां मुखम् । २।३९

'रोहित यज्ञांका मुख है।' ऐसा कहा है, १६ सूत्र दो है क्योंकि सूर्यदेव होनेसे यज्ञका प्रारंभ होता है। आगे—

रोहितोऽयत्रपदिवम् ३ २।४०

“रोहित द्युलोकर पर तपता है।” यह वर्णन सूर्यका स्पष्ट ही है। और इसमें तपनेका उद्देश्य सूर्यका ही है, क्योंकि सूर्यके अतिरिक्त तपनेवाला दूसरा कोई तेजस्वी पदार्थ इस जगत् में नहीं है। आगे तृतीय सूक्तके अन्तिम मंत्रमें—

हृष्यायाः पुत्रो बर्जुनी रात्या वरसोऽनावत् ।

स ह धामचि रोहिते रदो स्तोह रोहितः ॥ (३।२६)

“ कृष्ण वर्णवासी रात्रिका पुत्र श्वेत रंगवाला हुआ । वह रोहित बडता हुआ द्युलोकपर चढा ।” इस वर्णन में तो स्पष्टही रोहित नाम सूर्यके लिये आया है । रात्रिका पुत्र सूर्य निःसन्देह है क्योंकि रात्रिके उदरमें वह जन्मता है, ऐसा आलंकारिक वर्णन अन्यत्र बेदमें भी है ।

इस तरह इस सूक्तमें रोहित शब्दसे सूर्यका वर्णन सुलभतया है, ऐसा स्पष्ट दिखाई देता है । तथापि अग्निका भी निर्देश इस रोहित सूक्तमें है—

रोहित-अग्नि ।

रोहितो यज्ञस्य जनिता । (१११)

‘ रोहित यज्ञका उत्पादक है ।’ अग्नि ही यज्ञका उत्पादक है यह बात सिद्ध करनेके लिए अन्य प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है । यद्यपि सूर्योदयके पश्चात् यज्ञ होते हैं, इसलिए सूर्य भी यज्ञका उत्पादक माना जा सकता है और वैसा वह है भी; परन्तु साक्षात् अग्निवै आहुतियों होमी जाती हैं, इस कारण अग्नि भी यज्ञका उत्पादक है । यही बात अन्य शब्दोंसे कही है—

रोहितो यज्ञं व्यदधात् । (११४)

‘ रोहित यज्ञको बनाता है ’ यह अग्नि है इसलिए यज्ञको बना सकता है । अस्तु । इस तरह रोहित नाम अग्निका भी है । अर्थात् ‘ रोहित ’ शब्द द्वारा जैसी अग्निकी वैधी सूर्यकी भी कल्पना इन सूक्तोंमें स्पष्ट है । कोई इसका इन्कार कर नहीं सकता । इन सूक्तों के मंत्र देखनेसे कई मंत्र स्पष्ट सूर्यारक हैं ऐसा दाखला है, कई अग्निपरक हैं यह बात भी स्पष्ट है, कई दोनोंके वर्णनपरक हो सकते हैं । यह क्या बात है ? सूक्त पढ़ते पढ़ते बीच बीचमें अग्निके और सूर्यके मंत्र मिलजुलकर आते हैं यह बात पढ़नेवालेके प्यानमें आ सकता है । ऐसा क्यों है, इसका विचार करना आवश्यक है ।

बेदमें अग्निसे पदार्थोंका सुलभ कन्द्र सूर्य माना है । अपनी पृथ्वीपर जो अग्नि है वह सूर्यका पोता है । विद्युत् सूर्यका पुत्र है और विद्युत्का पुत्र अग्नि है, अतः आलंकारिक भाषामें सूर्यका पोता अग्नि हुआ । अग्नि कैसा उत्पन्न होता है, यह प्रश्न यहाँ हो सकता है । इसके उत्तरमें निवेदन है कि सूर्यको उष्णतासे मेघमंडलमें विद्युत् बनता है, वह विद्युत् सूखे घास आदिपर गिरकर अथवा वृक्षपर गिरकर अग्नि उत्पन्न होता है । अतः वह अग्नि वास्तविक सूर्यका ही अंश है । वस्तुतः विचार किन्ना जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी, कि इस पृथ्वीपर अथवा इस सूर्यमालिका में जो भी कुछ अग्नितत्त्व अथवा उष्ण पदार्थ बिना उष्णता उत्पन्न करनेवाला पदार्थ है, वह सब सूर्यके संबंधके कारण ही उष्णता देनेमें समर्थ है । अग्नि सूर्यसे उत्पन्न हुआ यह बात इससे पूर्व दर्शायी ही है । अब पठक लकड़ीका विचार करें । लकड़ी जलानेसे उष्णता उत्पन्न होती है, वह उष्णता कदापि आगयी ? जो उष्णता वृक्ष सर्दकिरणोंसे प्राप्त करके अपनेमें संग्रहित करते हैं, वही लकड़ामें होती है और जलनेसे वही प्रकट होती है वस्तुतः वह सूर्यसे आयी उष्णता ही है । इधी तरह लकड़ीका कोयला या भूमिके अंदर मिलनेवाला कोयला, मिट्टीका तेल आदि जो जो पदार्थ उष्णता उत्पन्न करनेवाले करके प्रसिद्ध हैं, उनही सबकी सब उष्णता सूर्यसे प्राप्त होती है । कोई सूर्यसे भिन्न अन्य पदार्थ नहीं है जो उष्णता दे सके । अतः सब आग्नेय पदार्थ सूर्यके ही विभिन्न रूप हैं ।

तीन अग्नि ।

पृथ्वीपर अग्नि, अन्तरिक्षमें विद्युत्, गुणोक्तमें सूर्य ये तीन अग्नि हैं । वेदमें तीन अग्निका वर्णन अनेक बार आया है वे तीन अग्नि ये हैं । परन्तु ये तीन अग्नि भिन्न भिन्न नहीं हैं । ये सब एक ही अग्निके रूप हैं और वह एक अग्नि सूर्य ही है । क्योंकि सूर्यके ही रूपान्तर होकर ये अग्नि बने हैं । अतः कहा है—

स एत्रि सत्विता । सो अग्निः । स इन्द्रः । [४११—५]

“ वह सूर्य ही अग्नि और इन्द्र अर्थात् विद्युत् है । ” क्योंकि सूर्य ही रूपान्तरित होकर अग्नि और विद्युत् बना है । इस प्रकार तीन पृथक् अग्नि अनुभवमें आते हैं तथापि वे विभिन्न नहीं हैं, एकही सूर्य तीन रूपोंमें दिखाई देता है ।

उच्यते गुणकृतमं आठवर्षका वासक प्रविष्ट होता है, तब उसको संस्थाके पश्चात् अग्निमें दहन करनेका उपदेश होता है। उस समय वह समझता है कि अपना उपास्य देव अग्नि है। वह अज्ञानात्कि ये अग्निही उपासना करता है और मनमें सोचता है कि क्या वह अग्निदेव स्वतंत्र है ? विचार करते करते उसके हृदयमें शृष्टिकृतमें आद्यशर्मद्वयमें चमकनेवाली विद्युत् आती है, इसी समय वह विद्युत् बिजली वृक्षपर गिरती है, उस समय वह वृक्ष जलता है। इस कालमें गुण उस शिष्य को समझाता है कि अपना अग्नि विद्युत् से इसी प्रकार इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुआ। पश्चात् वह विद्युत् को महादेव मानता है, परंतु पीछे आधिक विचार करनेपर उसे पता लगता है कि वह विद्युत् भी सर्वसे ही उत्पन्न हुई है। अतः वह उस समय सर्वको ही महादेव जानता है। उस समय वह कहता है—

स एति सविताः स्वर्गिणःपृष्ठे० ।

स आता स विधर्ता स वायुः० ।

स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।

सो अग्निः स उ सूर्यः स उ महायमः । (११—५)

‘वही सविता धाता विधाता वायु वरुण रुद्र महादेव अग्नि सूर्य और महायम है।’ इस तरह इस पूर्वमालिकाका कर्ता धर्ता अभिष्ठाता वही सूर्य है, इसका एक मात्र आगार वह सूर्य है, वह ज्ञान उस शिष्यको होता है। इस समय वह अपनी सुबोधना गायत्रीमंत्रसे ही करता है—

सत्यविद्वर्षैर्यं भगो देवस्य धीमहि ।

धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

इस पूर्वमंत्रका अर्थ इस समय वह ऐसा करता है कि ‘हम उस सूर्यके बुद्धिको उरघाह देनेवाले तेजका ध्यान करते हैं।’ ऐसा ध्यान करता हुआ वह सूर्यको अपने ब्रह्मवर्षका आदर्श मानता है, अपनी उत्पत्त्याका बट नमूना मानता है, अपने ब्रह्मवर्षका प्रतिरूप सूर्यमें वह देखता है। आदित्य ब्रह्मचारी। होनेकी उत्कृष्ट इच्छा वह धारण करता है। वह विचार करता है कि यदि सभी पूर्वमालिका इस सूर्यसे ही बने है, तो इस पृथ्वीपरके सभी जीवजन्तु और उनमेंसे मैं स्वयं भी सब मिलकर इसी सूर्यके अंग हैं। सर्वसे निष्क कोई पदार्थ नहीं, अतः वेद कहता है कि—

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ वा० य० ४०।१६

“ जो सूर्यके अंदर पुरुष है, वह मैं हूँ । ” सूर्यके साप मेरा इतना घनिष्ठ संबंध है। सूर्य मेरा पिता है और मैं उसका अष्टतपुत्र हूँ। जो इस आदित्यमें सरव है, वही मुझमें है। मेरी परम पति आदित्य है और मेरा प्रारंभमी आदित्यमेंही हुआ है। इसी आदित्यसे अन्मा हूँ, पे इसी आदित्यसे शक्ति अव्यक्त हूँ और अन्तमें मैं आदित्यमेंही मिल जाऊंगा।

पयो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति ।

यं प्रथन्त्यामिसंविशन्ति, तद्विद्विज्ञासस्व, उरुसोपि ॥ ऐ० ४०।१७

‘जिद्ये ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, होनेपर जिद्ये अव्यक्त रहते हैं, फिर जाकर अन्तमें प्रियमें मिलते हैं, वह ब्रह्म है। वह ब्रह्मका लक्षण वह शिष्य इस समय सूर्यमें धार्य हुआ अनुभव करता है, क्योंकि सब भूतमात्र सूर्यसे उत्पन्न हुए, सूर्यसे पाले जाते हैं और अन्तमें सूर्यमेंही मिल जाते हैं। वह अनुभव स्पष्टतया दर्शाता है कि सूर्यही हमारे लिए साक्षात् ब्रह्म है। इस तरह विचार करता हुआ वह ब्रह्मचारी सूर्यकोही अपना उपास्य मानता है, इस समय उसके समुच्च वे वाक्य आते हैं—

पुनर्द्वा ब्रह्म हीष्यते यदादिरयो हृष्यते । कौ० उ० २ । १२

आदित्यो ब्रह्मेत्यादिषः ॥ उ०। उ० ३।११।१

आदित्यं ब्रह्मेऽनुपास्ते । उ०। उ० ३।११।२

स च पदमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेऽनुपास्ते ॥ उ०। उ० ३।११।३

यथायं पुरुषे यथासावादित्ये स पुरुः ॥ तै. उ. २।८।१, ३।१०।३

यथायं इन्द्रये यथासावादित्ये स पुरुः ॥ मै. उ. ३।१७, ७।७

आदित्यो ब्रह्म ॥ मै. उ. ३।१९

ब्रह्म तमसः परमपरपद्मुष्मिन्नादित्ये... विधाति ॥ मै. उ. ३।२४

य एष आदित्यो पुरुषः स परमेष्ठी आत्मा ॥ महाजि. ब. २३।९

आदित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपासे ॥ वृ. उ. २।१।२, ३।१३

आदित्यानां ब्रह्म ॥ मै. उ. ६।१४

आदित्यवर्गसूक्तवन्दनं ब्रह्म ॥ मै. उ. ६।२४

“ जो यह सूर्य दीव्यता है, वही ब्रह्म प्रकृतता है। आदित्य ब्रह्म है यह आदि है। आदित्य ब्रह्म है ऐसी उपासना करता है। जो मनुष्यमें है और जो आदित्यमें है वह एकही है। जो इन्द्रमें है और जो आदित्यमें है वह एकही है। वह आदित्यही ब्रह्म है। अथकारके परे रहनेवाला वह आदित्य है तसमें ब्रह्म प्रकाशता है। इस आदित्यमें जो पुरुष है, वही परमेष्ठी आत्मा है। इस आदित्यमें जो पुरुष है, वह ब्रह्म है ऐसी में उपासना करता हूँ। आदित्यका आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्म तेजस्वी है और सूर्यके देगका है। ”

इस प्रकार अनेक वाक्य हैं जो सूर्यको ब्रह्म बताते हैं। ये वाक्य इस समय इस ब्रह्मचारीके सम्मुख आते हैं और यह आदित्य को ब्रह्म मानकर उरुकी उपासना करता है। जो ब्रह्मचारी अग्निही उपासना करता था, वही उस अग्निके अनेक विद्वुत की उपासना करने लगा था, वही अब सूर्य को अपना आर्द्र उपास्य मानता है। सूर्यको कर्ता पत्नी मानता है, वही सब वेदविद्याका केन्द्र है, वही सबका धारक और आकर्षक है, सबकी आर्षान रखनेवाला वही एक देव है। जो सब सूर्यमालाके पहली और उपग्रहोंका धारण करता है, वह उस सूर्यमालाके अन्दर्गत पदार्थोंवापकी धारण करता है, उसके देव होनेमें क्या संदेह ही सचता है? अत एव अर्चनप्रति में कहा है कि—

स धाता स विधर्ता ॥ अथर्वे ० १३। ३।४

“ वही स्रष्टा धारण करनेवाला और विशेष रीतिये आभार देनेवाला है। ” पूर्वोक्त अग्निपूजकों में ‘ इस आदित्यमें ब्रह्म है ’ ऐसे बचन आगये हैं। इससे आदित्यका देह और तसमें विराजमान ब्रह्म है, यह कल्पना व्यक्त होती है। मानो वही सूर्यका द्रवमान आभार ब्रह्मका देह है और तसमें ध्यायनेवाला ब्रह्म है। जैसा मनुष्य में देह और आत्मा है, वैसाही सूर्यमें देह और परमात्मा है। अतः ‘ सूर्यमें जो पुरुष है, वह मैं हूँ ’ इस बचन का तात्पर्य सूर्य में जो ब्रह्म और गोलक है, उसका अंश मेरा आत्मा और देह वे हैं, ऐसा स्वप्न है। जो कुछ इस धृष्टीपर बना है वह सूर्यके अंशका बना है, वह एकबार मार्ग-विद्या काय, तो सभी चारवर पाँचव और अर्थायं वस्तु जो भी इस भूमिपर है वह सूर्यसे बनी है, वह सिद्ध होता है।

पूर्वोक्त प्रकार वह ब्रह्मचारी अपने मनमें इन वाक्यों की संगति लगाता है। वह विचार करता है कि—

स एष पुरु पुरुइन्द्रेण एव ।

सर्वे आग्निन्नेवा एकवृत्तो भवन्ति ॥ अथर्वे ० २३।५

“ वह एक है, एतमात्र एक है, सब देव इसमें एकरूप होते हैं। ” जो अग्नि विद्वुत आदि विभिन्न देव हैं, वे सब इस सूर्यदेवमें एकरूप हो जाते हैं। पूर्व स्थानमें बताया है कि अग्नि विद्वुतमें मिला रहता है और सभी मतिसे विद्वुत भी सूर्यमें एक होकर रहती है। अर्थात् सूर्यमें विद्वुत और अग्नि एकरूप होकर रहते हैं, इसी तरह यह पृथ्वी भी एक समय सूर्यरूपही थी। यदि यह पृथ्वी सूर्यका एक भाग थी, तो उस धृष्टीपरके सभी पदार्थ सूर्यरूप में थे इसमें संदेह ही नहीं सचता ।

इस रीतिये संगति लगा लगाकर, मनन कर करके वह ब्रह्मचारी सोचता है और विचार करता है, अनुभव लेता है, अपने मनकी रीर लगाता है, कल्पना करता है और अपने मत निश्चित और निश्चित करनेका यत्न करता है, निरंतर ध्यान करता है कि—

- प्रभूरिति त्वोपासहे वयम् ।
- मह इति त्वोपासहे वयम् ।
- सुभूर्भुव इति त्वोपासहे वयम् ।

• सोऽह इति त्वोपासहे वयम् ॥ अ० १३।८, ९ मंत्र १७-५३

“ ए पुंश्च, वृ महान् दे, तु उत्तम सत्ता और ज्ञानसे युक्त है और तूही सबको स्थान देता है ऐसी हम सब मिलकर तेरी उपासना करते हैं । ” (अथर्वा उपासहे) हम सब तेरी उपासना करते हैं, इस प्रयोगमें सब मिलकर उपासना है, संघद्वारा होनेवाली यह उपासना है, केवल व्यक्तिद्वारा होनेवाली यह उपासना नहीं है । यह संघ ब्रह्मचारी गणोंका मुकुटकुलनिकाशी हो, अथवा ग्राम या नगरवालोंका हो । इससे कोई विचारमें भिन्नता नहीं हो सकती । सूर्य ही सब सूर्यमानिके अन्तर्गत बस्तु मात्रका प्रभु और कर्तापता है, वही सबके महान् है, वही सबको ज्ञान देनेवाला है और वही सबका उत्तम रीतिसे निवास करनेवाला है, यह निश्चित है । ये और मंत्र ४३छे ५४ तक के ११ मंत्र इन मंत्रोंमें जो अनेकानेक गुण वर्णन किये हैं, वे उपासना के समय सूर्यमें कैब पड़ते हैं, इसीका विचार उपासक करते हैं । और अपने उपास्य की शक्ति अपने में धारण करनेका दान करते हैं । ‘ जसा मेरा उपास्य देव है, वसा मैं तेजस्वी और कर्तापता बनूंगा, यही आकांक्षा उपासकोंकी सदा रहती है और सतत किए जानेसे सकल भी होती है ।

स स्तनयति स विद्योतते स उ जइमानमस्यति ।

पापाय वा भद्राय वा पुण्यायासुराय वा ॥ २३।७।२-५०

‘ वह हमारा उपास्य देव पुण्यात्मा मनुष्य और पापों राक्षसके लिए समानतावा गर्जता, चमकता और अँले वर्षाता और वृष्टि करता है । ’ वह किसीका पक्षपात नहीं करता, उसका प्रकाश सबके लिए समान रीतिसे आता है, वह पुण्यात्माके लिये प्रकाशता है और पापके लिए नहीं, ऐसी बात नहीं । वह सबको ही अपने प्रकाशसे मार्ग दर्शाता है । यहाँ यह मंत्रभाग देखकर उपासक भी कहने लगता है ‘ कि मैं भी सब मनुष्यमात्रकी और अथवा प्राणीमात्रकी और समान भावसे अपनी वृष्टि रलूंगा, किसीका पक्षपात नहीं करूंगा । प्राणज क्षत्रिय वैश्य क्षत्र निषद अन्नयज चांडाल आदि सबकी सहायता सम-भाषसे करूंगा । मेरा उपास्य सूर्य देव है, वह अपना प्रकाश सबको देता है, वही मेरा कर्तव्य बताता है, अतः मैं भी वैसे ही करूंगा । समभाव रखनाही मेरा कर्तव्य है । सामाजिक आचरणमें विषमता नहीं रखनी चाहिए । यह उपासना सामाजिक उपासना है, सब आँवे और संमिलन होकर उपासना करें । जिनपर उस उपास्य सूर्यदेवका प्रकाश पड़ सकता है, वे सब इस उपासनामें संमिलित हो सकते हैं ।

सब लोगोंको तथा सब जगत्की अंधेरेसे दृष्टाकर प्रकाशमें लानेके लिए रात्रि और दिनके युगमें इस सूर्यदेवका अवतार होता है । प्रत्येक युगमें इस तरह इस देवका अवतार हो रहा है । और यह यहाँ आकर हमें प्रकाशका मार्ग बताकर हमारा सद्धार करता है । यदि यह देव इस तरह युगयुगमें न आवे तो सब जगत् अंधेरेमें रहेगा और जीवमात्रकी स्थितिही नहीं होगी । हम सबका जीवन उसीके प्रकाशके साथ संबंधित है । अहा ! हमरे जीवनका आधार यह देव है । इसीका जीवनश-किसे सबका जीवन हो रहा है, इस तरह इस जगत्का अणुरेप उसके साथ संबंधित है । इस समय उपासकके सामने ये मंत्र आते हैं-

• तस्माद्गृह्राजायत,.....रात्रिजायत,.....अन्तरिक्षमजायत ... वायु-

रजायत.....धौरजायत.....दिशोऽजायत.....भूमिरजायत.....

अग्निरजायत.....आपोऽजायत.....ऋचोऽजायत.....पशोऽजायत.....

अ. १।७।२९-३९

“ इसी सूर्य देवसे दिवस, रात्रि, अन्तरिक्ष, वायु, शी, दिशा, भूमि, अग्नि, जल, मंत्र और यज्ञ होगये हैं । ” यदि वह न होता तो इनमेंसे कुछ भी न बनता, इनका कर्तापता यही हमारा उपास्य देव है ।

तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ।

.....यदि वासि न्यतुंदम् ॥ अ० १३।७।४४-४५

“ हे ऐश्वर्यान् प्रभो ! यह अद्भुत तेरा महिमा है, ये सब संकड़ों (हजारों लाखों करोड़ों या) अरबोंकी संख्यामें जो अनंत शरीर हैं, वे सब तेरे ही हैं । ” तादर्थ्यं सूक्ष्म इष विश्वरूपं अपने आपका डालना है, क्योंकि भूमिभी तेरेसे ही बनी और भूमिसे सब पदार्थ बने हैं । अतः दुसरे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है । यह देव एकमात्र अकेला एक ही-

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ।

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ॥ अ० १३।५।१६-१८

‘ वह एक है, दशरा तीसरा चौथा पाचवां छठा सातवां आठवा नववा दसवां वह नहीं है । ’ क्योंकि वह एकमात्र अकेला एक है । सूर्यमालामें सूर्यका यही स्थान है, यही मद्रव है और यही वैभव तथा ऐश्वर्य है । तथा—

स एव सूर्युः सोऽमृतं सोऽभ्रं स रक्षः ।

स रुद्रः वसुधनिर्वसूदेये नमोवाके ॥

तस्येमे सर्वे यावत् उप प्रशिपमासते ।

तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह ॥ अ० १३।६।२५-२८

“ वही सूर्यु है, वही अमृत है, वही बडा देव है और वही रक्षक अथवा राक्षस है । वही रुद्र है । सब ये चलने-बाले मद्रनक्षत्रादिक, तथा सब नक्षत्र और चन्द्रमा भी उसीकी अज्ञामें रहने हैं । ” क्योंकि सूर्यकी आकर्षणमें ये सब ग्रह हैं, जो सूर्यमालामें बियमान हैं । सूर्यके आकर्षणका प्रभव इन सबपर हो रहा है । ऐसा यह महान् सूर्यदेव सबको अमरण देनेवाला है और सबको सूर्यु देनेवाला भी वही है । वही रुद्र है वही राक्षस है और संरक्षक भी है । अर्थात् वही सब कुछ है ।

सूर्यके न होनेसे अथवा सूर्यके अतितापसे सूर्यु होता है, तथा सूर्यका प्रकाश जीवन देता है, इसलिए वही अमरत्व देनेवाला है । इसलिए इसी एक देवकी ये सब नाम लगते हैं । इस समयतक इसके नाम अमृत, सूर्यु, रुद्रः, रुद्र ये आगे ये हैं, इन नामोंके अतिरिक्त इस सूक्तमें आगे नाम अब देखिये—

स एति सविता...महेन्द्रः स धाता...विधर्ता...

स वासु... सोऽयंमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।

सोऽग्निः...स उ सूर्यः स उ एव महायमः । अ. १३।४।१-५

“ वह सविता, महेन्द्र, धाता, विधर्ता, वासु, अयंमा, वरुण, रुद्र, महादेव, अग्नि, सूर्य, महायम है । ” इन सूर्यके ये नाम हैं तथा—

इन्द्रः... शक्याः पतिः—विभूः . प्रभुः । अ. १३।८।४६-४७

“ इन्द्र, शकीपति, विभू, प्रभु भी वही है । ” ये सर्व नाम उसी देवके वाचक हैं । अर्थात् ये सब नाम उसके गुणवर्णन कर रहे हैं । यदि यह सत्य है तो इन देवताओंके जो मंत्र हैं वे सब मंत्र इसी सूर्यदेवताका वर्णन करते हैं एषा मानना चाहिये । सभी तो ये इसके नाम सूर्य, अन्वयंरु और याम्य हो सकते हैं । इसी कल्पना उपासक के मनमें आते ही वह इन सब मंत्रोंमें इसका वर्णन देखता है और अपने उपास्य देवका साक्षात्प जानता है और उसको मनमें धारण करता है ।

स एति सविता र्वादिंवरष्ट्येऽवचाकदात् ।

रदिमिर्निर्मम नाश्रुतं महेन्द्र एत्याहुत ॥

स प्रजाभ्यो वि पश्यति सत्त्व प्राणिति सत्त्व न ।

अ० १३।४।१,२,११

' वह द्युलोक के पीठपर प्रकाशता है उसके किरणोंसे आकाश भर गया है, वह सब प्रजाओंको विशेष रीतिसे देखता है।' यह सब वर्णन उपासक को प्रत्यक्ष है। सूर्य आकाशमें प्रकाशता है, उसके किरणोंसे आकाश भर गया है, वह सबको देखता है, वह सब सूर्यके विषय में प्रतिदिन मनुष्यको प्रत्यक्ष ही रखा है। इस तरह अपने उपास्य देवकी महिमा उपासक जानता है और उसके विषयमें अपने मनका आदर बढाता है।

इस काण्डके पहिले तीन सूक्त मुख्यतः सूर्यके वाचकी हैं। इनमें प्रमुखतः जो मंत्र सूर्यका वर्णन करते हैं और जो विशेषकर प्रजापतिके सम्मुख सूर्यका स्तवन करते समय आते हैं, उनका अब मन्त्र करते हैं।

उद्देहि वाजिन् । १३।१।१

' हे बलवान् सूर्यदेव ! उदयको प्राप्त हो । ' यह प्रार्थना सूर्य को लक्ष्य करके ही है। इसके साथ देखने योग्य मंत्र ये हैं—

सूर्यस्याथा हरयः केतुमन्तः सदा बहमयमृता सुखं रयम् ।	
पृथपाया रोहितो आजमानो दिवं देवा पृथगीमा विधेवा	॥२५॥
उधंस्त्वं देव सूर्य सप्तमानव मे जहि	॥३२॥
ये देवा राष्ट्र्यतोऽभितो यान्ति सूर्य	॥३५॥
इतः पश्यान्ति रोचनं दिवि सूर्य विपश्चितम्	॥३९॥
सूर्यो वां सूर्यः पृथिवीं सूर्य जापोऽति पश्यति ।	
सूर्यो अस्त्वैकं चक्षुरा क्रोह दिवं महीम्	॥४५॥
यो अद्य देव सूर्य रवां च मां चान्तरायति	॥५८॥

अ० १३।१

' सूर्यके घोड़े सदा प्रकाशयुक्त हैं, इसके रथको सुखपूर्वक चलते हैं। सर्वत्र पवित्रता करनेवाला सूर्यदेव विविध रंगवाली प्रभाके साथ द्युलोकमें प्रविष्ट होता है। हे सूर्यदेव ! तू उदयको प्राप्त होता हुआ मेरे चारदोंका नाश कर ॥ प्रकाशके घोषक देव सूर्यके चारों ओर भ्रमण करते हैं । द्युलोकमें प्रकाशित होनेवाले सूर्यको सब देखते हैं । सूर्य द्युलोक भूमिलोक आदि सबको देखता है । सूर्यही सब जगत् का एकमात्र आश है । वह द्युलोकपर आरुह होकर निराजता है ॥ हे सूर्य ! जो पुरुष तेरे और मेरे बीचमें विरोध करता है वह पापी है । " इत्यादि मंत्र सूर्यका वर्णन स्पष्ट रूपसे करते हैं, और उपास्य देवका महत्त्व उपासकके अन्तःकरणमें स्थिर करते हैं। इस प्रथम सूक्तके अन्य मंत्र भी इन मुख्य मंत्रोंके अनुसंधानसे विचारने चाहिए। अब द्वितीय सूक्तके मंत्रोंमें सूर्यका वर्णन कैसा संभीर रीतिसे किया है, सो देखिए—

उदस्य वेतवो दिवि शुक्रा आजन्त हंरते ।	
आदित्यस्य नृचक्षसो महिमतस्य मीदुषः	॥१॥
स्तवाम सूर्य सुबनस्य गोपां यो रदिममिर्दिश जाभाति सवां:	॥२॥
विपश्चितं तरणि आजमानं वहान्ति यं हरितः सप्त बह्वीः	॥४॥
दिव च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरानं विमिमानो यदेवि	॥५॥
स्वारि तं सूर्यं चरसे रथाय देवीभावनतौ परिवर्तिस्त सपः	
यं ते वहान्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वर सप्त बह्वीः	॥६॥
सुखं सूर्य रयमंशूमन्मं स्वोनं सुबहिमधि तिष्ठ नाजिनम्	॥७॥
सप्त सूर्यो हरितो धातवे रथे शिरण्याखचसो वृहतीरयुक्त	॥८॥
कथन्नाश्मना तनुषे विधा रूपाणि पुष्यसि	॥९०॥
निवि त्वात्रिश्चरःसूर्यां माताय कर्षे	॥९२॥

उप सर्प मातरं भूमिमेदामुरुव्यचंसं पृथिवीं सुशेवाम् ।

ऊर्णप्रदाः पृथिवीं दक्षिणावत एषा त्वां पातु प्रपथे पुरस्तात् ॥ ४९ ॥

उच्छ्वश्वस्त्र पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव स्रपसर्पणा ।

माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनि भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)

उच्छ्वश्वमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।

ते गृहासौ घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥ ५१ ॥

अर्थ- हे मनुष्य ! [एतां] इस [उरुव्यचंसं] बड़े विस्तारवाली जलएव [पृथिवीं] फैली हुई, (सुशेवा) अति सुख देने वाली (मातरं भूमि) माताभूत भूमिके [उप सर्पे] समीप जा । (समीप जा का अर्थ यहाँ पर यह है कि भूमिका बारीकीसे अवलोकन कर, क्योंकि भूमिपर रहनेवाला मनुष्य भूमिके तो समीप है ही, फिर भी समीप जा कहने का यही अभिप्राय हो सकता है। भूमिके जो सुशेवा आदि विशेषण हैं वे भी इसी अभिप्रायको पुष्ट करते हैं । भूमिका बारीकी से अवलोकन करके उससे लाभ उठाने से बड़ा सुख होता है ।) [दक्षिणावते] दान देनेवालेके लिए [ऊर्णप्रदः] उनके ममान नरम--कोमल [एषा पृथिवी] यह पृथिवी (त्वा) तेरी [प्रपथे] इस संसारसागरके विस्तृत मार्गमें [पुरस्तात्] आगेसे रक्षा करे । [ऋ० १०।१८।१०] ॥ ४९ ॥

[पृथिवी] हे पृथ्वी ! तू [उच्छ्वश्वस्त्र] पुलकित हो । इस तेरे समीप आए हुए मनुष्यको [मा निबाधथाः] किसी भी प्रकार की पीडा वा कष्ट मत पहुंचा । (अस्मै) इसके लिए [सूपायना] अच्छी तरह प्राप्त करने योग्य अर्थात् विना किसी भय वा कष्टके समीप आने योग्य तथा [स्रपसर्पणा] सुखपूर्वक विचरण करने योग्य (भव) हो । [एवं] इस पुरुषको [भूमे] हे भूमि [अभि ऊर्णुहि] चारों तरफसे इस प्रकारसे ढांप ले [यथा] जिस प्रकारसे कि [माता] माया [सिधा पुत्रं] अपने आंचलसे पुत्रको ढांप लेती है । (ऋ० १०।१८।११) ॥ ५० ॥

(उच्छ्वश्वमाना पृथिवी) पुलकित होती हुई पृथिवी [सु तिष्ठतु] अच्छी प्रकार स्थित होवे । और (सहस्रं) हजारों (मितः) मित उस पृथिवी को प्राप्त होकर (उपश्रयन्ताम्) आश्रित होवें । (ते घृतश्चुतः) वे घीसे परिपूर्ण अतएव (स्योनाः) सुखकारी [गृहासः] घर तथा [विश्वाहा] सब दिन (अस्मै) इस मनुष्यके लिए (अत्र) यहाँ पर (शरणाः सन्तु) शरण देनेवाले आश्रय देनेवाले होवें । (ऋ० १०।१८।१२) ॥ ५१ ॥

मावार्थ-इस अत्यन्त विस्तृत भूमिमा बारीकीसे अवलोकन करो क्योंकि यह बड़ा सुख देनेवाली है। जो पृथिवीपर रहकर नानाविध दान करता रहता है उसके लिए यह पृथिवी उनके सदस्य कोमल होती हुई सुख देती है व प्रत्येक कार्यमें उसकी रक्षा करती रहती है ॥ ४९ ॥

हे पृथ्वी ! तू मुझा प्रसन्न बनी रह । तेरे पर बाध करनेवालेको किसी प्रकारका भी कष्ट न पहुंचे । वह आनन्दसे सर्वत्र विचरण कर सके । तू मनुष्यको नानाविध पदार्थोंसे ढांपे रख जैसे कि माता अपने आंचलसे पुत्रको ढांपे रखती है । अर्थात् जैसे माता अपने बच्चेसे बड़े स्नेहके साथ पुत्रको ढांप कर ठण्डी गरमी आदि कष्टसे बचाती है उसी प्रकार हे पृथिवी! तू भी उतने ही स्नेहके साथ तेरे पर निबाध करनेवाले मनुष्यको नानाविध द्रव्य दानसे ढांपकर दुःखदुर्दशासे बचा ॥ ५० ॥

पृथिवी रक्षारथनी रहे । भूवाल आदिसे विचलित न होवे । नानाविध पदार्थोंसे द्रव्य आश्रय लेकर स्थित होवें । उस पृथिवीपर बाध करते हुए मनुष्यके लिए घृतादिसे पूर्ण सुखकारी घर तथा सब दिन आश्रयदाता होवें । किसी भी दिन किसी भी कार्यमें इसे कष्ट न होवे ॥ ५१ ॥

उत्तं स्तभ्नामि पृथिवा त्वत् परीमं लोमं निदधन्मो अहं रिषम् ।

पृतां स्धुणां पितरो धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु ॥ ५२ ॥

इममग्रे चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।

अयं यश्चममो देवपानस्तास्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥ ५३ ॥

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायार्वमर्वाजिनीवते ।

तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानांम् ॥ ५४ ॥

यत्तं कृष्णः शकुन आतुतोर्द पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।

अग्निष्टद्विश्वादर्गदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणां आविवेथं ॥ ५५ ॥

अथ- [त] तेरे लिए [शुषिषो] शृषोको [उत् स्तभ्नामि] मानता हूं । [तव परि] तेरे चारों ओर [इमं लोमं] इस निवासस्थानको [निदधत्] रखता हुआ अर्थात् तेरे लिए निवासस्थान बनाता हुआ [अहं] मैं [सो रिषन्] नर बट डोकें। [उत्] वहा अर्थात् इस निवासस्थान में [ते] तेरे लिये [पृतां श्रुणां] इस नीव को [पितरः] पितामह [धारयन्ति] धारण करें [यं] तेरे आशामस्थानकी नीव पितर रखें और [तत्र] उस नीवपर [ते] तेरे लिये [यमः] यम [सादना] परोक्षे [कृणोतु] बनावे [श्र० १०१८१३] ॥ ५२ ॥

(अग्रे) हे अग्नि ! (इमं चमसं) इस शरीररूपी चमसको (मा वि जिह्वरः) मत विचलित कर । क्योंकि यह चमस (देवाना उत सोम्यानां) देवों और सोम संवादन करनेवालोंका (प्रियोः) प्यारा है । (यः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देवगान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं । (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अमरगणशील देव (मादयन्तां) पान कराके प्रमद होवें ॥ ५३ ॥

(अथर्वा) निदधत् मतिवालेने (यं पूर्णं चमसं) त्रिय भरे हुए पूर्ण चमसको (वाजिनीवते) अन्नरत्नादिते पूर्ण (इन्द्राय) ऐश्वर्यदात्रीके लिए (अबिमः) धारण किया या (तस्मिन्) उस चमसमें (सुकृतस्य भक्षं) अच्छे कर्मों का भोग (कृणोति) करता है । और (तस्मिन्) उस चमसमें (विश्वदानां) सर्वदा (इन्दुः) ऐश्वर्य (पवति) बढ़ता रहता है ॥ ५४ ॥

हे प्रेत ! (ते) तेरे (यन्) जिस अंगको (कृष्णः शकुनः) काले बनिष्टकारी पक्षीने (आतुतोर्द) पीटा पहुँचाई है, (उत वा) अथवा (पिपीलः, सर्पः श्वापदः) कीड़ी की जातिके जन्तुओंने या, सर्पने या जंगली हिसक पशुने तुझे पीटा पहुँचाई है, तो [अग्निः] अग्नि (विश्वात्) इन उपरोक्त सबसे (तत्) उम तेरे अंगको (अगदं कृणोतु) रोग रहित करें । (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको भीरोग करे । (यः) जो कि सोम (ब्राह्मणां आविवेथं) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है ॥ ५५ ॥

भावार्थ- यम सबको निवासस्थान देवे ॥ ५२ ॥

इह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है । यह देवोंका मित्र है । इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि ! इस शरीर की दुर्दशा मत कर ॥ ५३ ॥

निश्चल परमात्मा यह सर्वोत्तम पूर्ण शरीररूपी चमसको बलवान् आत्माके लिए प्रदान करता है । वह आत्मा अपने सुकृत कर्मोंका फल इस शरीररूपी चमसमें खाता है । कर्म फल शरीरके विना नहीं भोगे जा सकते । इषी चमस रूपी शरीरमें तमाम ऐश्वर्य बढ़ता रहता है ॥ ५४ ॥

काले अतिष्टकारी पक्षी वा कीड़ी मरेके अग्नि जन्तु, सर्पदि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जानवरोंमें पहुँचाए गए बटको अग्नि व सोम दूर करें ॥ ५५ ॥

पर्यस्वतोरोपधयः पर्यस्वन्मामकं पर्यः ।

अपां पर्यसो यत् पयस्तेन मा सह शुभ्तु

॥ ५६ ॥

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराज्जनेन सपिपा सं स्पृशन्ताम् ।

अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जर्णयो योनिमये

॥ ५७ ॥

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमिन् ।

हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः

॥ ५८ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुर्वर्षं १ न्तरिक्षम् ।

तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वाः कल्पयाति

॥ ५९ ॥

अर्थ— (ओपधयः) ओपधियों सेवन की जानेपर हमारे लिये (पयस्वतीः) सारवाली होवें । (मामकं पयः) मेरेमें जो सार है वह भी (पयस्वान्) सारवाला होवे । (अपां) जलादि रसोंके (पयसः) सारभूतांश का (यत् पयः) जो उत्कृष्ट सार है (तेन) उस सारभूतांश के (सह) साथ (मा) मुझे (शुभ्तु) शोभायमान करे ॥ ५६ ॥

(इमाः) ये (अविधवाः) जीवित पतियों वालीं, (सुपत्नीः) श्रेष्ठ पतियों वालीं (नारीः) नारियां (आम्जन-नेन सपिपा) अंजनसंबंधी घृतसे (संस्पृशन्ताम्) अच्छी तरह संसुक्त होवें अर्थात् घृणवाले अंजन का उपयोग करें । (अंजन का प्रयोगसधवाका चिन्ह है ऐसा यहां से जान पड़ता है ।) (अनश्रवः) वे नारियां आंसुओंसे रहित हुई हुई अर्थात् शोक रहित हुई हुई (अनमीवाः) रोगरहित हुई हुई (सुरत्नाः) उत्तम रत्नादि आभूषणों को धारण की हुई (जनयः) संशानोपपत्ति करनेवालीं होती हुई (अमे) सबसे पहिले (योनिं आरोहन्तु) घरमें प्रवेश करें ॥ ५७ ॥

हे मृत पुरुष ! (परमे व्योमिन्) उत्कृष्ट स्थानमें अर्थात् स्वर्गमें (पितृभिः सं गच्छस्व) पितरोंके साथ जा । (यमेन सं) यमके साथ जा । (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ अर्थात् अपने उपाजित कर्मोंके साथ जा । (नवद्यं हित्वावद्यं) निन्दित कर्मोंका त्यागकरके अर्थात् सुकर्मोंके साथ (पुनः) फिर (अस्तं पृष्टि) अपने घरको वापस आ अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब (सुवर्चाः) उराम तेज—कान्ति से युक्त हुआ हुआ त् (तन्वायं गच्छस्व) शरीर-को धारण करके संसारमें विचरण कर ॥ ५८ ॥

(ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह (दादा) (ये) जो कि (उह अमीवाः) निरन्तर अन्तरिक्षमें (अविधवाः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेष्यः) उनके लिये (स्वराड्) स्वयं प्रकाश-मान (असुनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वाः) शरीरोंको (यथावशं) कामनाके अनुसार (कल्पयाति) समर्थ करता है ॥ ५९ ॥

भावार्थ— ओपधि, जल आदि सर्व पदार्थोंका जो सारभूत अंश है वह मुझे प्रप्त होवे जिससे कि मैं संसारमें शोभायमान होऊँ । ओपधी आदि सारवान् पदार्थोंका सेवन करके मनुष्यके सुन्दर धनना चाहिए ॥ ५६ ॥

स्नान से लौटकर सबसे पहिले जियां घरमें प्रवेश करें ।

(अ० १० । १८ । १७) ॥ ५७ ॥

स्वर्गमें जानेके लिए पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्माको धृषिबी पर लेने आते हैं । यम लोक उत्कृष्ट लोक है । सवमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं । अथवा यम लोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है ॥ ५८ ॥

पितर, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्टरूपसे होता है ॥ ५९ ॥

जं तं नीहारो भवतु जं तं गुप्त्राव शीयताम् । शीतिके शीतिकावति ह्यादिके ह्यादिकानति ।
 मण्डूक्यं पुंसु शं भुव इमं स्वंप्रिं शमय ॥ ६० ॥ (१८)
 विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुत्रामा जीरदानुः सुदानुः ।
 इहेमे वीरा बहवो भवन्तु गोमदशं वृन्मग्यस्तु पुष्टम् ॥ ६१ ॥
 विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परंतु मृत्युमृतं न ऐतु ।
 इमान् रक्षतु गुरुपाना जरिम्णा मो ज्येष्ठा मर्मज्ञो यमं गुं ॥ ६२ ॥
 यो दूध्रे अंतरिक्षे न मृहा पितृणां कृपिः प्रमर्तिर्मतीनाम् ।
 तमचेत विश्वामित्रा हविभिः म नो यमः प्रतरं जीवमे धात् ॥ ६३ ॥

अर्थ—(ते) उसे लिए [नीहार.] बुझा [न भवतु] सुखकारी होवे । [त] ठरे लिए [पुंस्वा] वृष्टि [न] सुखस्व्यं दुर्हं दुर्हं [अवशीयताम्] नीचे गिरे । [शीतिके] हे दीपयुक्त ' [शीतिकावति] हे दीपयुक्तशंभु कीर्षण । [ह्यादिक] हे ह्यदित कानेवाली तथा [ह्यादिकावति] मानसिद्ध कानेवाल गुणोवाली शीयति । अणु जलमें जिस प्रकार [मण्डूकी] मेंढकी शान्त होती है अर्थात् जैसे जल मेंढकीकी शान्ति पट्टुचानेवाला होता है उसी प्रकार त (न शुभ) सुखकारी हो और (इमं अग्नि) इस भागको (अर्थात् जन्मेसे जो शरीरमें दाह (जहन) पैदा होता है उसको (सुगमय) अच्छी प्रकारसे दान्त कर दे । (ऋ० १०।१।६।२४) ॥ ६० ॥

(विवस्वान्) सूर्य (न अभय कृणोतु) हमें अभय बनावे । (य) जो कि विवस्वान् (सुत्रामा) अच्छी तरह सबसे रक्षा करनेवाला, (जीरदानु) जीवनदाता व [सुदानु] उत्तम दाना है । (इह) इस सत्कारमें (इहे) ये (वीरा) पुत्रपौत्रादि [बहव भवन्तु] बहुत हो जायें । अर्थात् हमारे पुत्रपौत्रादि लूट होवें । और (गोमत्) गीमोवाला तथा (अश्वन्) घोड़ोंवाला (पुष्टं) पोषण (मयि भवतु) मेरेमें होवे । अर्थात् मैं गौघोड़ोंसे संपन्न होऊं ॥ ६१ ॥

(विवस्वान्) सूर्य (न) हमें (अमृतत्वे) अमरतामें (दधातु) स्थापित करे अर्थात् सूर्य हमें अमर बनावे । (मृत्युः परा एतु) मृत्यु परे भाग जये । (न अमृत एतु) और हमें अमरता प्राप्त होवे । वह विवस्वान् (इमान् पुरपान्) इन पुरुषोंकी (आ जरिम्णा) वृद्धावस्थापर्यन्त (रक्षतु) रक्षा करे । (एवां असव) इन पुरुषोंके माण (वा यम गु) यमको मत जावें अर्थात् ये मत मरें ॥ ६२ ॥

(य) जो (प्रमति) प्रवृष्ट बुद्धिवाला (कृपिः) क्रान्तदर्शी (मतीनां पितृणां) उत्तम मतिमान पितरोंको (मृहा न) मानो अपनी महिमासे ही (अंतरिक्षे) अंतरिक्षमें (दूध्रे) धारण करता है, (विश्वामित्राः) हे सबके मित्र मनुष्यों ! (त) उन यमकी (हविभि अर्चेत) हविषोंसे पूजा करे । (स यम) वह यम (न) हमें जीवसे दीर्घायुके लिए (प्रतर धात्) अच्छी तरहसे धारण करे ॥ ६३ ॥

भाषार्थ— तेरे लिये सब जगत् के पदार्थ सुखदायी हों ॥ ६० ॥

सब प्रकारसे रक्षा करनेवाला व जीवनदाता सूर्य हमें अभय बनावे । हमारी संतति लूट बडे व हम गौ घोड़ों आदियोंसे परिपूर्ण होवें ॥ ६१ ॥

सूर्य हमें अमर बनावे । मृत्यु दूर भाग जावे व हमें अमरता प्राप्त होवे, हमारे सब पुत्रपौत्रों सूर्य वृद्धावस्थातक रक्षा करता रहे, हमारे में से कोईभी वृद्धावस्थासे पूर्व न मरे ॥ ६२ ॥

वह क्रान्तदर्शी यम विचारशील पितरोंका अपनी महिमासे अंतरिक्षमें धारण किए हुए है । हे मनुष्यों ! तुम सबके मित्र हुए हुए उसकी हविषोंसे पूजा करो, जिससे कि वह तुम्हारे लिए दीर्घायु प्रदान करे ॥ ६३ ॥

आ रौहत् दिवमुत्तमामृष्यो मां विभीतन ।

सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम्

॥ ६४ ॥

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रौरवीति ।

दिवश्चिदन्तादुपमामुदानइपामुपस्थे महिपो ववर्ध

॥ ६५ ॥

नाकं सुपर्णमृष्य यत्पर्वन्तं इदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।

हिरण्यपक्षं वरुणस्य दुतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्

॥ ६६ ॥

इन्द्रं क्रतुं न आ मर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।

शिखां षो अस्मिन् पुरुहूत् यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि

॥ ६७ ॥

अर्थ—(अपयः) हे मंत्रद्रष्टा जनो ! (उत्तमो दिवे आरोहत) उत्तम तु अर्थात् स्वर्गको चक्रो । अर्थात् स्वर्गमें जाबो-
[मा विभीतन] मत दरो । हे [सोमपाः] सोमपान करनेवाले तथा [सोमपायिनः] अर्थात् सोमपान करानेवाले
जनो ! [वः] तुम्हारे लिए (इदं हविः क्रियते) यह हवि-हम करते हैं । [उत्तमं ज्योतिः] जिनसे कि हम उत्तम
ज्योतिको [अगन्म] प्राप्त होवें ॥ ६४ ॥

(अग्निः) अग्नि [बृहता केतुना] अपने बड़े भारी केतुसे अर्थात् ज्वाला-रूपी शंभोंसे (प्रभाति) अच्छी तरह
चमकता है । और वही अग्नि [रोदसी] चावा पृथिवीमें [वृषभः] वषादि द्वारा कामनामोंकी पूर्ति करता हुआ
(रौरवीति) मेघ बिजली आदिके रूपमें गरजता है । यह (दिनः) अन्तात् पुके अन्तसे [माम् उप] भेरे तक
अर्थात् तु तथा पृथिवीमें सर्वत्र (चत् आनत्) अच्छी तरहसे व्याप्त हुआ हुआ है । [महिपः] महान् अग्नि (अपां
उपरये) जलोंकी गोदमें [ववर्ध] बढ़ता है । अर्थात् बादलके रूपमें विद्यमान जलोंमें बिजली रूपमें यह अग्नि बढ़ता
रहता है ॥ ६५ ॥

(नाके उप पर्वन्तं सुपर्ण इव) आकाशमें उड़ते हुए उत्तम पंखवाले पक्षीको जैसे सर्वत्र देखते हैं उसी
प्रकार हे सूर्य ! आकाशमें गति करते हुए [स्वा] तुझे [हिरण्यपक्षं] सोने जैसे चमकीले पंखोंवालेको, [सूर्यका
प्रकाश सुवर्णीय पीला होता है] और (वरुणस्य दूतं) वरुण जड़ की देवता है, उसको प्राप्त करनेवाले अर्थात् वृष्टि
देनेवाले तुझको, (सूर्यका वृष्टि देना वेदमें कई स्थानोंपर आया है) और (यमस्य योनौ) यमके घरमें अर्थात्
अंतरिक्षमें (यमका, अंतरिक्षमें स्थान है यह पहिले आ चुका है) (शकुनं) शक्तिशाली होकर विद्यमान व (भुरण्युम्)
अर्थात् प्रकाश आदिके वेनेवाला सबके पाछा तुझको बिद्वान् गण (इदा वेनन्तः) हृदयसे ध्यान करते हुए (अभ्यचक्षत)
अच्छी प्रकार देखते हैं ॥ ६६ ॥

(इन्द्रं) हे ऐश्वर्यशाली ! (नः क्रतुं आभर) तू हमें कर्म व कर्मज्ञान इस प्रकार से दे [यथा] जिस प्रकार से
कि (पिता पुत्रेभ्यः) पिता अपनी संतानों को देता है । [पुरुहूत्] हे बहुत प्रकारसे बुलाए गए इन्द्र ! (अस्मिन्
यामनि) इस संसारसागर पार करनेके मार्गमें (नः शिक्ष) हमें शिक्षा दे । अर्थात् संसारसागर तरनेका उपाय सिखा ।
जिससे कि [जीवाः] हम जीवलोग [ज्योतिः अशीमहि] ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करें ॥ ६७ ॥

भावार्थ— ऋषियग निर्भय होकर स्वर्गको जाते हैं । सोमपान करनेवालों व दूसरोंको करानेवालोंके लिए हवि देने से उत्तम
ज्योतिको लाभ होता है ॥ ६४ ॥

यह अग्नि पृथिवीपर ज्वालाओंसे चमकता रहता है । चावापृथिवीमें वर्षा करनेवाला हुआ हुआ सूर्य विद्युत् आदिके रूपमें
गर्जता रहता है । तु तथा पृथिवी दोनोंमें यह व्याप्त है । अंतरिक्षमें विद्यमान जलोंमें विद्युत् रूपमें यह बढ़ता रहता है । कन्दे-
वा अग्निप्राय यह है कि यह अग्नि भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें चावापृथिवी को व्याप्त किए हुए है ॥ ६५ ॥

अपुपापिहितान् कुम्भान् यास्ते देवा अधारयन् ।

ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः

॥ ६८ ॥

यास्ते धाना अनुक्रिरामि तिलमिश्राः स्वधार्वाः ।

तास्ते सन्तु विम्बीः प्रम्बीस्तास्ते यमो राजानुं मन्यताम्

॥ ६९ ॥

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि । यथा यमस्य सादन आसति विदथा वदन् ॥ ७० ॥

आ रभस्य जातवेदुन्नेजस्वह्वरो अस्तु ते ।

शरीरमस्य सं दुहायेन घेहि मुकृतां लोके

॥ ७१ ॥

ये ते पूर्वं परागता अपरे पितरश्च ये । तेभ्यो घृतस्य कृत्यं तु श्रतधारा व्युन्दुती ॥ ७२ ॥

अर्थ- [यान्] त्रिन [अथवापेदिका] मालपूर्वसे ढके हुए [कुम्भान्] घड़ोंको [देवाः] देवोंके [ते] तेरे डिण्ड [अधारयन्] धारण किया है अर्थात् तुझे दिया है [ते] ये घड़े [ते] तेरे लिये [स्वधावन्तः] स्वधावाले, [मधुमन्तः] मधुरतायुक्त तथा [घृतश्चुतः] घीसे परिपूर्ण (सन्तु) होवें ॥ ६८ ॥

[ते] तेरे डिण्ड [याः तिलमिश्रा स्वधार्वाः धानाः] त्रिन तिर्कोंसे मिश्रित अर्थात् तिल मिले हुए स्वधावाले धानोंको (अनुक्रिरामि) अनुकूलता से फेंकता हूँ, [ताः] वे धान [ते] तेरे डिण्ड [विम्बीः] नानाप्रकारवाले व प्रम्बी । प्रभूत मानमें यानि बहुत मात्रामें [मन्तु] होवें । [ताः] उन्हें [ते] तुझे देनेके डिण्ड [यमः राजा] यम राजा [अनुमन्यता] अनुमति देवे । [यमके] राज्यमें रचना यमकी अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता अतः उसकी अनुमति मांगी है ॥ ६९ ॥

(वनस्पते) हे वनस्पति ! [यः एषः] जो यह [त्वयि निहितः] तेरेमें रखा है उसे [पुनः] फिर वापिस [देहि] दे [यथा] जिससे [यमस्य सादने] यमके घरमें यह [विदथा वदन्] विश्वाओंको बोधता हुआ [आसति] स्थित होवे ॥ ७० ॥

अर्थ- [जातवेदुः] हे जातवेदस् अग्नि ! [आरभस्व] जलाना प्रारंभ कर । [ते] तेरा [हरः] हरनेका सामर्थ्य [तेजस्वत् अस्तु] तेजशाला होवे अर्थात् जिसको जलाना शुरू करे उसे शीघ्र प्रज्जलकर मरमीभूत करनेवाला तेरा सामर्थ्य होके, जलानेमें देर न लगे । [अस्य] इस मृतका [शरीरं संदत्] शरीर अच्छी तरह जला जाऊँ । (अथ) जलानेके बाद [पुनः] इसकी आत्माको [मुकृतां लोक] प्रेक्षकोंके लोकमें (घेहि) धारण कर अर्थात् वहापर पहुंचा ॥ ७१ ॥

[ते] ये [ये पूर्वं परागताः] जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ये अपरे पितरः] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं (तेभ्यः) उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरोंके डिण्ड [श्रतधारा व्युन्दुती] संकड़ों धारानों वाली उमदती हुई [घृतस्य वृष्या] जलकी कुल्या-सदृश नदी [एतु] प्राप्त होवे ॥ ७२ ॥

भावार्थ- यमलोक में मृतात्माको सुख हो ऐसे कर्म वह वहा करे ॥ ६६ ॥

हे इन्द्र ! जिस प्रकार पिता पुत्रोंको उपदेश करता है उस प्रकार तू हमें कर्ममार्ग व तारणबन्धी ज्ञानका उपदेश कर ताकि हम सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकें ॥ ६७ ॥

परलोकवासी जीवके लिए सुख प्राप्त होवे ॥ ६८ ॥

यमलोक में गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धान आ जावे ॥ ६९ ॥

जीव यमलोकमें सुखसे पहुंचे ॥ ७० ॥

मृतका शरीर अच्छी प्रकार जलाया जावे ॥ ७१ ॥

पितरोंको जलसे तर्पण करनेके लिए नहर का पानी प्रयुक्त किया जावे ॥ ७२ ॥

एतदा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह वृहदु दीदयन्ते ।

अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितृणां लोकं प्रथमो यो अथ

॥ ७३ ॥

[४]

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि ।

अवाङ्मव्येपितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां घत् लोके

॥ १ ॥

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं सुचो यज्ञायुधानि ।

तेभिर्वाहि पृथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्

॥ २ ॥

अर्थ—[उन्मृजानः] अपने को शुद्ध करता हुआ (एतद् वयः धारोह) इस अंतरिक्षमें चढ । [इह] यहाँ (स्वाः) तेरे वन्धुबांधव [वृहद् उदीदयन्ते] बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं— अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर । [मध्यतः अभिप्रेहि] उन वन्धुबांधवों के मध्यसे जा । [पितृणां लोकं] पितरोंके लोकका [मा अपहास्थाः त्याग मत कर अर्थात् तेरेमे पितृलोक दूटने न पावे । [यः] जोकि पितृलोक (अथ) यहाँ [प्रथमः] मुख्य प्रसिद्ध है ॥ ७३ ॥

[५]

(जातवेदसः) हे अग्निवो ! तुम [जनित्रीं आरोहत] अपनी उत्पन्न करनेवालों के पास पहुँचो । जै (वः) तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाजमागोंसे [सं आरोहयामि] अच्छी प्रकार पहुँचाता हूँ । (हवितः हव्यवाहः) यिज हव्यों का वाहक अभि (हव्य = हव्यानि) हव्योंको [अवाङ्मव्यः] वन्द करता है । हे अग्निवो ! (युक्ताः) तुम मिलकर (ईजानं) यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोके) श्रेष्ठ कर्म करनेवालों के लोकमें [घत्] धारण करो अर्थात् वह उसे ले जाओ ॥ १ ॥

(देवाः) देवगण तथा (अतवः) वसन्त आदि षट् ऋतुएं [यज्ञं] यज्ञ अर्थात् दैनिक, पाश्र्विक, मासिक आदि नाना प्रकारके होम (कल्पयन्ति) रचते हैं—करते हैं । और इस यज्ञके करनेके लिये (हविः) यज्ञमें डालनेलायक पदार्थ घृत आदि, (पुरोडाशं) घृत आदिसे बनाए हुए पदार्थ, (सुचः) इन घृत आदि पदार्थोंको डालनेके लिए साधनमूल यज्ञके लिए उपयुक्त समझेकी आहुति जैसे हुवे तथा अन्य (यज्ञःपुधानि) यज्ञसंबन्धी हथियार बताते हैं, (तेभिः देवयानैः पृथिभिः) उन ऊपर दर्शाए गए यज्ञ करनेके देवयानमागोंसे हे मनुष्य ! तू (याहि) विचरण कर्म अर्थात् तूही उनकी तरह नित्यप्रति यज्ञको यथाविधि कर । (यैः) जिन देवयानमागोंसे कि (ईजानाः) यज्ञ करनेवाले लोग (स्वर्गं लोकं यन्ति) स्वर्गलोक को जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ— मृतात्मा यमलोकको पहुँचे और वहाँ वह आनन्दसे रहे ॥ ७३ ॥

[४]

यज्ञ करनेवालोंको अभि उत्तम कर्म करनेवालोंके लोकमें पहुँचाती है । अतः सुकृतोंके लोकी प्रातिके लिए यज्ञ करना जरूरी है ॥ १ ॥

देवगण ऋतुके अनुसार नानाविध यज्ञसामग्री तैयार करके यज्ञ करते हैं । उनका अनुकरण करनेवाले लोक स्वर्गको प्राप्त होते हैं अतः यथाविधि हररोज यज्ञ करना चाहिये जिससे कि स्वर्गलोक उपलब्ध हो सके ॥ २ ॥

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गीरसः सुकृतो येन यन्ति ।

तेभिर्वाहि पृथिभिः स्वर्गं यत्रोदित्या मधुं भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि थयस्य ॥ ३ ।

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः ।

स्वर्गा लोका अमृतेन विष्टा इपमूर्जं यजेमानाय दुहाम् ॥ ४ ।

जुह्वदीधारं घामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रविष्टाम् ।

प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामकामं यजेमानाय दुहाम् ॥ ५ ।

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व ।

जुहु खां गच्छ यजमानेन साकं सुत्रेण वत्सेन दिशः

प्रपीनाः सर्वा धुश्व्राहणीयमानः ॥ ६ ।

अर्थ- (ऋतस्य पन्था) यज्ञके मार्गको (साधु अनुपश्य) अच्छी तरहसे जान । और (येन) जिस पर सबन्धी मार्गसे (सुकृतः अद्विरसः) उत्तम फल करनेवाले अद्विरस जन (यन्ति) जाते हैं, (तेभिः पृथिभिः) उ मागों से (स्वर्गं याहि) स्वर्ग को जा, (यत्र) जहाँ कि जहाँय जिस स्वर्गमें कि (आदित्या) अक्षयणीय सामर्थ्य वाले श्रेष्ठ वर्ग करनेवाले जन (मधु भक्षयन्ति) अमृत को खाते हैं अर्थात् आनन्द भोगते हैं । (तृतीये नाके) तीसरे जो स्वर्गलोक है उसमें जाकर (विष्टयस्य) विधानित ले-आराम कर ॥ ३ ॥

(सुपर्णाः त्रयः) तीन उत्तम गति करनेवाले अथवा उत्तमतायाशालन करनेवाले तथा (उपरस्य मायू मेघके सबन्धसे चढ़ करकेवाले दो, ये सब (विष्टपि) अंतरिक्षमें (नाकस्य पृष्ठे) स्वर्गके उपर (अधि श्रिताः) श्रिता हैं । (स्वर्गाः लोकाः) स्वर्ग लोक (अमृतेन विष्टा) अमरताये ध्यात हैं अर्थात् वे मरणरहित हैं । ये सब (यजमानाय) यज्ञ करनेवालेके लिए (इयं) अन्न तथा (ऊर्जं) बलको (दुहाम्) देवें ॥ ४ ॥

(जुहु-) जुहूने (खां दाधार) चुलुकको धारण किया हुआ है । और (उपभृत्) उपभृत्तने (अन्तरिक्षं अन्तरिक्षको धारण कर रखा है । (ध्रुवा प्रतिगं पृथिवीं) ध्रुवाने आश्रयस्थान पृथिवीको (दाधार) धारण कर रखा है (इमा प्रति) इस पृथिवीको और लक्ष्य करने हुए (घृतपृष्ठा) चमकीली पीठेवाले अर्थात् प्रकाशमान (स्वर्गाः लोकाः स्वर्गलोक [यजमानाय] यज्ञकर्ताके लिए [काम काम] प्रत्येक कामनाको [दुहाम्] पूर्ण करें ॥ ५ ॥

[ध्रुवे] हे ध्रुवा ! [विश्वभोजसं पृथिवीं] सबको खिलानेवाली अर्थात् पाठक पृथिवी पर [यजमानेन साकं] यजमान के साथ [आरोह] चढ़, स्थित हो । (उपभृत्) हे उपभृत् ! तू यजमानके साथ (अंतरिक्षं आक्रमस्व अंतरिक्षमें सेचार कर । (जुहु) हे जुहु ! तू (यजमानेन साकं) यजमानके साथ [दा गच्छ] चुलुकको जा । यजमान ! इस प्रकार तू (अहणीयमानः) निःसंकोच हुआ हुआ (वत्सेन सुत्रेण) बलरूपी सुत्रसे (सर्वाः) सब [प्रपीनाः] अच्छी तरह रुझिके प्राप्त हुई हुई [दिशः] दिशाओंको [धुश्व] दो । अर्थात् यज्ञद्वारा अभिष्टपि पशुओंको प्राप्त कर ॥ ६ ॥

सावार्थ-— शुभकर्म करनेसे उत्पत्ति और आनन्द प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

तीनों देवी शक्तियों दशकर्ताके अन्न, बल और आनन्द देती है ॥ ४ ॥

स्वर्गलोक यज्ञकर्ता की सर्व कामनायें पूर्ण करते हैं ॥ ५ ॥

यज्ञद्वारा यजमान सब जगह अर्थात् गतिसे जाता है । यज्ञद्वारा सर्व दिशाओंसे वांछित फल प्राप्त करे है ॥ ६ ॥

तीर्थेस्तरन्ति प्रवृत्तो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।

अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त

॥ ७ ॥

अङ्गिरसामयनं पूर्वं अङ्गिरादित्यान्मयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः ।

महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शुग्मः

॥ ८ ॥

पूर्वो अग्निर्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।

दक्षिणाग्निर्ते तपतु शर्म वर्मात्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशादिशो अग्ने

परि पाहि घोरात्

॥ ९ ॥

युयमग्ने शंतमाभिस्तनुर्मिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।

अर्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमाद् मदान्ति

॥ १० ॥ (२०)

अर्थ— [यज्ञकृतः] यज्ञों के करनेवाले [सुकृतः] श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन [येन यन्ति] जिन मार्गसे विचरण करते हैं उस मार्गपर चलनेसे [तीर्थैः] तरनेके साधन यज्ञादिद्वारा [प्रवृत्तः महीः] बड़ी बड़ी आगणियों भी [तरन्ति] तर जाते हैं । [यत्] यहा [दिशः] दिशाएँ तथा [भूतानि भूतोंको] अर्थात् प्रसिद्धियों को [अकल्पयन्त] निर्माण करते हैं उस समय [यजमानाय] यजमान के लिए [लोकं अदधुः] स्थान देते हैं ॥ ७ ॥

[अङ्गिरसो] अङ्गिरसोंका [अयनं] मार्ग [पूर्वः अग्निः] पूर्वका अग्नि है । [आदित्यानां] आदित्योंका [अयनं] मार्ग [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि है । [दक्षिणानां] कायमें दक्षोंका [अयनं] मार्ग [दक्षिणाग्निः] दक्षिणाग्नि है । [ब्रह्मणा] वेदमंत्रों द्वारा [विहितस्य] यज्ञमें स्थापित की गई अग्निकी [महिमानं] महिमाको, [समङ्गः] दृढ अंगोंवाला होकर, [सर्वैः] सर्व अवयवों से युक्त हुआ हुआ अर्थात् पूर्ण शरीरवाला होकर, और इनीलिप [शुग्मः] सुखी हुआ हुआ व [उपयाहि] प्राप्त कर ॥ ८ ॥

[पूर्वः अग्निः] पूर्व की अग्नि [त्वा] तुझे [पुरस्तात्] आगेसे [शं तपतु] सुखपूर्वक तपावे । [गार्हपत्यः] गार्हपत्य अग्नि [पश्चात्] पीछेसे [शं तपतु] तुझे सुखपूर्वक तपावे । [दक्षिणाग्निः] दक्षिणाग्नि [ते] तेरे लिए [शर्म] सुखरूप हुई हुई व [वर्म] कवचरूप हुई हुई तुझे [तपतु] तपावे । [अग्ने] हे अग्नि ! तू हमें [उत्तरतः] उत्तर दिशासे [मध्यतः] दिशाओंके बीचसे [अन्तरिक्षात्] अंतरिक्षसे [दिशः दिशः] प्रत्येक दिशासे आनेवाले [घोरात्] क्रूर—'हिसकसे [परिपाद्] चारों ओरसे संरक्षण कर ॥ ९ ॥

(अग्ने = अग्नयः) हे गार्हपत्यादि अग्नियो ! (युयं) तुम (पृष्टिवाहः अथाः भूत्वा) पीछे से ले जानेवाले घोड़ों की तरह बनकर (शंतमाभिः तनुभिः) अपने सुखकारी शरीरोंसे (ईजानं) जिसने यज्ञ किया है ऐसे को (स्वर्गं लोकं अभि) स्वर्गलोक की ओर (वहाथ) ले जाओ । (यत्र) जहाँ रवर्गमें यज्ञकर्ता जन (देवैः सधमाद्) देवोंके साथ आनन्द को (मदान्ति) भोगते हुए दृष्ट होते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ— यज्ञ करनेवाले सुदृढ़ हृदयमें जिस उत्तम मार्गसे जाते हैं उस मार्गपर चलते हुए यज्ञादिद्वारा बड़ी बड़ी विपत्तियों भी तपी जा सकती हैं । यज्ञ करनेवाले को मृष्टिनिर्माण के समय भी उत्तम लोक की प्राप्ति होती है । शाराथ यह है कि यज्ञ करनेवाले को कर्मा भी बध नहीं होता ॥ ७ ॥

देवोंके अयन अर्थात् मार्गके अनुसार अपना आचरण करनेसे सुख प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ अग्निसे 'प्राप्तना की गई कि तू हमारा सब ओरसे रक्षा कर । सब ओर हमें ही हमारा संरक्षण कर ॥ ९ ॥ यज्ञकर्ता को अग्नियों घोड़ों की तरह अपनी पीठपर बैठाकर स्वर्गमें ले जाती है जहाँ कि स्वर्गमें वे देवोंके साथ मिलकर आनन्द भोगते हैं । अतः रवर्ग प्राप्त्यर्थं यज्ञ करना परमावश्यक है ॥ १० ॥

शमन्ने पृथात् तंप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमंधरात् तपैनम् ।

एकंस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगोनं धेहि सुकृतांमु लोके

॥ ११ ॥

शमप्रयः समिद्धा आ रंभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।

श्रुतं कृष्यन्तं इह माव चिक्षिपन्

॥ १२ ॥

यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमाभि लोकं स्वर्गम् ।

तमप्रयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।

श्रुतं कृष्यन्तं इह माव चिक्षिपन्

॥ १३ ॥

ईजानश्चितमारुक्षदुग्निं नाकस्य पृष्ठाद् दिवंमुत्पतिष्यन् ।

तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः

॥ १४ ॥

अर्थ—(अमे) हे अग्नि । तू (एन) इम यज्ञकर्ताको (शं) सुखपूर्वक (परधात्) पीष्टमे, (शं) सुखपूर्वक (पुरस्ताद्) भागसे (तप) तथा । (उतरात्) उतरसे (मा) सुखपूर्वक तथा और (अधरात्) नीचे की दिशासे (शं) सुखपूर्वक तथा । (जातवेद) दे उत्पन्न पदार्थों में रहनेवाले अग्नि । तू (एकः) एक होता हुआ भी (त्रेधा) तीन प्रकारसे अर्थात् पश्चिमि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि के रूपसे (विहित) स्थापित किया जाता है । तू (एन) इस यज्ञमान को (सुकृता लोके) श्रेष्ठ जनों के लोचने (सम्यग्) अच्छी तरहसे (धेहि) स्थापित कर अर्थात् वहान इत्से पहुंचा दे। ११॥

(समिद्धा) क्याविधि-प्रकाशित की हुई (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थोंमें परमान (अप्रयः) अग्निवां (प्राजापत्यं) प्रजापति देवतावाले [मेध्यं] पवित्र इम यज्ञमानको [शं] सुखपूर्वक यज्ञके कार्यमें [भारभन्तां] उत्सुक बनावे । (इह) यहाँ पर यज्ञ कार्यमें वे अग्निवां यज्ञमान की [श्रुतं कृष्यन्तः] पक्व अर्थात् पूर्ण बनावे । उसे इम कार्यसे [मा] मत [अव चिक्षिपन्] गिरने देवे ॥ १२ ॥

(विततः यज्ञः) विस्तृत यज्ञ [कल्पमानः] समर्थ हुआ हुआ [ईजानं] यज्ञ किए हुए को [स्वर्गं लोकं] स्वर्ग लोक को [अभियति] पहुंचाता है । [त] उस [सर्वहुतं] जिसने अपना सर्वस्व होम कर दिया है ऐसे यज्ञकर्ताको [अप्रयः] अग्निवां [जुषन्तां] संतुष्ट करें । दोष अर्थ ऊपरके मंत्र के समान है ॥ १३ ॥

[नाकस्य पृष्ठाद्] स्वर्ग के ऊपरसे [दिवं उत्पतिष्यन्] पुकी जानेकी हृष्टा करता हुआ [ईजानः] यज्ञ किया हुआ पुरा [चितं अग्नि] चयन की हुई अग्नि को [अरुक्षद्] प्रकट करता है, प्रज्वलित करता है । [तस्मै सुकृते] उस उत्तम कर्म करनेवाले के लिए [नभसः] आकाशका [ज्योतिषीमान्] प्रकाशवाला [देवयानः] देव जिससे जाते हैं ऐसा [स्वर्गः] सुखदायी [पन्थाः] मार्ग [प्रभाति] प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

भाष्यार्थ—अग्नि सब ओरसे सुखपूर्वक हमारा रक्षण करता है । वस्तुतः वह एकही है पर व्यवहार में उच्चरी तीन स्थों से स्वपना की जाती है । पश्चतर्तांशो वह स्वर्गमें पहुंचाती है ॥ ११ ॥

दशदिग्द कायों में प्रज्वलित अग्निवा यज्ञमानको उत्साहित करके पूर्ण मनोरथवाला बनाती है । वह अपने धार्य में सफल बनाता है क्योंकि अग्निवा उसे कर्तव्यपथसे गिरने से बचा लेती है ॥ १२ ॥

विस्तृत रूपमें किया गया यज्ञ यज्ञमानको स्वर्गलोकमें पहुंचाता है । अग्निवां उसे अग्निमत फलप्रदानद्वारा संतुष्ट करती है व कर्तव्यपथसे गिरने नहीं देती ॥ १३ ॥

स्वर्गसे शुकां आनेके लिए चयन की हुई अग्निको प्रदीप्त करना चाहिए । और जो चयन को हुई बहि जो प्रदीप्त करता है उसके लिए आकाशका सुखदायी देवयान मार्ग खुल जाता है ॥ १४ ॥

अग्निहोतांश्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु । हुतोऽयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम्	॥ १५ ॥
अपूपवान् क्षीरवांश्चरुह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ	॥ १६ ॥
अपूपवान् दधिवांश्चरुह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ	॥ १७ ॥
अपूपवान् द्रुप्तवांश्चरुह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ	॥ १८ ॥
अपूपवान् घृतवांश्चरुह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ	॥ १९ ॥

अर्थ— [ते] तेरा [अग्निः] होता [अग्नि] होता अर्थात् स्वाहापूर्वक आहुति देनेवाला [अस्तु] होवे । [बृहस्पतिः] यज्ञों यज्ञों का पाक लेता [अश्वर्युः] यज्ञ करनेवाला होवे । और [इन्द्रः] इन्द्र [ब्रह्मा] ब्रह्मा बनकर [ते दक्षिणतः अस्तु] तेरी दाहिनी ओरमें होवे । [अयं] यह [हुतः] आहुति दिया गया और [संस्थितः] अच्छी तरह किया गया [यज्ञः] यज्ञ [एति] यज्ञ जाता है [यत्र] जहाँ कि [पूर्व] पहिले [हुतानां] आहुति दिए गए यज्ञोंका [अयनं] जाना होता है ॥ १५ ॥

[अपूपवान्] मालपूए आदि गेहूँके बाटेसे व घीकी सहायतासे बनाए हुए पदार्थोंवाला तथा [क्षीरवान्] दूधवाला [चरुः] यज्ञके लिए तैयार किया गया पाक [इह] यहाँ यज्ञमें [आसीदतु] स्थित होवे । (लोककृतः) लोक बनानेवालों तथा (पथिकृतः) मार्गोंके बनानेवालोंकी हम (यजामहे) उत उपरोक्त चरुद्वारा पूजा करते हैं— सत्कार करते हैं । (ये) जो कि लोककृत व पथिकृत तुम (इह) यहाँपर यज्ञमें (देवानां) देवोंके बीचमें (हुतभागाः) जिनके लिए कि भाग दिया गयाहै ऐसे (स्थ) स्थित हो ॥ १६ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदिसे युक्त तथा (दधिवान्) दहीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहाँ यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १७ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदिसे युक्त तथा (द्रुप्तवान्) अन्य मुख्य करनेवाले द्रव्योंसे युक्त (चरुः) चरु (इह) यहाँ यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंको बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १८ ॥

(अपूपवान्) मालपूए आदिसे युक्त तथा (घृतवान्) घीमिश्रित (चरुः) चरु (इह) यहाँ यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकोंके बनानेवाले इत्यादि शेष पूर्ववत् ॥ १९ ॥

भावार्थ— जिस यज्ञका अग्नि होता है, बृहस्पति अश्वर्यु है और इन्द्र ब्रह्मा है वह यज्ञ अवश्यही सफल होकर यथास्थान पहुँचता है व यजमान को अचित फल प्रदान करवाता है ॥ १५ ॥

जो संसारके उद्धारक व मार्गदर्शक लोग हैं उनका यज्ञमें नाना प्रकारसे निर्माण किए हुए चरुसं सत्कार करना चाहिए ॥ १६ ॥

यज्ञमें उत्तम अन्नादिपदार्थोंसे सब का सत्कार करना योग्य है ॥ १७-२८ ॥ २५-२६ ॥

अपूपवान् मांसवांश्चुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृत्वो यजामहे ये देवानां हुतमांगा इह स्थ	॥ २० ॥ (२१)
अपूपवानर्वांश्चुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृत्वो यजामहे ये देवानां हुतमांगा इह स्थ	॥ २१ ॥
अपूपवान् मधुमांश्चुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृत्वो यजामहे ये देवानां हुतमांगा इह स्थ	॥ २२ ॥
अपूपवान् रसवांश्चुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृत्वो यजामहे ये देवानां हुतमांगा इह स्थ	॥ २३ ॥
अपूपवानपवांश्चुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृत्वो यजामहे ये देवानां हुतमांगा इह स्थ	॥ २४ ॥
अपूपवापिहितान् कुम्भान् यास्ते देवा अधोरयन् । ते वै सन्तु स्वघावन्तो मधुमन्तो घृतश्रुतः	॥ २५ ॥
यास्ते घाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वघावतीः । तास्ते सन्तुदुग्धीः प्रुग्धीस्तास्ते यमो राजानुं मन्यताम्	॥ २६ ॥
अक्षितिं भूर्यसीम्	॥ २७ ॥

अर्थ—(अपूपवान्) मालप्ये आदिसे युक्त तथा (मांसवान्) मांसवाला (चरः) चर (इह) यहाँ यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोकको बनानेवाले इत्यादि दोष पूर्ववत् ॥ २० ॥

(अपूपवान्) मालप्ये आदिसे युक्त तथा (अपूपवान्) अप अर्थात् नाना तरहके घान्धोवाला (चरः) चर (इह) यहाँ यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि दोष पूर्ववत् ॥ २१ ॥

(अपूपवान्) मालप्ये आदिसे युक्त (मधुवान्) मधु अर्थात् राहद अथवा मीठे पदार्थसे युक्त (चरः) चर (इह) यहाँ (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि दोष पूर्ववत् ॥ २२ ॥

(अपूपवान्) मालप्ये आदिसे युक्त (रसवान्) जनेक मीठे मीठे विविध रसों से मिलित (चरः) चर (इह) यहाँ यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि दोष पूर्ववत् ॥ २३ ॥

(अपूपवान्) मालप्ये आदि से युक्त (अप-वान्) जलवाला अर्थात् शुद्ध जलसे बनाना हुआ (चरः) चर (इह) यहाँ यज्ञमें (आसीदतु) स्थित होवे । (लोककृतः) लोक बनानेवाले इत्यादि दोष पूर्ववत् ॥ २४ ॥

(देहो मंत्राय १८।३।६८-६९ ये दो मंत्र पीले लागये हैं) ॥ २५—२६ ॥

(मूयसीम्) बहुत और (अक्षितिं) क्षयरहित अर्थात् बहुत कालपर्यन्त दम राजा अनुमति देवे ॥ २७ ॥

भाषाय— हमे अक्षय अक्षादिक साधन प्राप्त हों ॥ २७ ॥

द्रुपसर्षस्कन्द पृथिवीमनु घामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।

समानं योनिमनु संचरन्तं द्रुपसं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ २८ ॥

शतधारं वायुमकं स्वविदं नृचक्षसस्ते अमि चक्षते रयिम् ।

ये पूणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुहृते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥ २९ ॥

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्विलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।

ऊजं मदेन्तीमदिति जनेष्वश्रु मा हिंसीः परमे व्योमिन् ॥ ३० ॥ (२२)

एतत् ते देवः संविता वासो ददाति मर्तवे ।

तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्ताप्यं चर ॥ ३१ ॥

अर्थ— (द्रुपसः) सबको हर्षित करनेवाला आदित्य (यः पूर्वः) जो कि सबसे पूर्वका है ऐसा (योनिं पृथिवीं अनु) चराचर जगत् की कारणभूत पृथिवीमें (च) और (हमें घां अनु) तुलोकमें (चरकन्द) विचरण करता रहता है, अथवा उसने इनको व्यास कर रखा है (समानं योनिं अनु संचरन्तं) सबकी समान कारणभूत इस पृथिवीमें संचार करते हुए (द्रुपसं) हर्षमद आदित्यको (सप्त होत्राः अनु) सात होतागणों द्वारा सब दिशाओंमें (जुहोमि) हवि प्रदान करता हूँ ॥ २८ ॥

(वे) वे (नृचक्षसः) मनुष्यों के देखनेवाले अर्थात् मनुष्यों को जाननेवाले— मनुष्योंके स्वभाव आदिको वादनेवाले बुद्धिमान मनुष्य (शतधारं) सैकड़ों धाराओंवाले अर्थात् जो अनेक प्रकारके दानों में पानी की तरह बहाया जाता है ऐसे अतएव (वायुं) गविमान, आज एकके पास दानमें आया है तो कल दूसरेके पास, इस प्रकारसे विचरण करते हुए, (अकं) पूजनीय (स्वविदं) सुखको प्राप्त करानेवाले (रयिं) धनको (अमिचक्षते) देखते हैं अर्थात् जानते हैं प्राप्त करते हैं । (ये) जो मनुष्य (सर्वदा) सदा उस धनसे (पूणन्ति) अपनेको पूर्ण करते रहते हैं (च) और (यच्छन्ति) सर्वदा सुपात्रके लिए उस धनका दान करते रहते हैं (ते) वे मनुष्य [सप्तमातरं दक्षिणां] सप्तमातावाली दक्षिणा [दान] को [दुहृते] दोहते हैं— प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

[स्वरतये] कल्याणके लिए [चतुर्विलं] चाररत्नरूपी छिद्र (स्तन) वाले [कोशं] मानो जो दूधका खजाना है ऐसे [कलशं] घड़ेसे बड़े मारी ऊधवाली, (मधुमतीं) मीठी दूधवाली [हृदां धेनुं] हृदा नामवाली गायत्री [दुहन्ति] दोहते हैं । [अश्रु] हे अग्नि ! [जनेषु ऊजं मदेन्ती] जन समाज में अपने दूधरूपी अन्नसे तुल करती हुई [अश्रिति] मारनेके अयोग्य गायको (परमे व्योमिन्) विश्वमें [मा हिंसीः] मत मार । अथवा यह मंत्र भूमिके पक्षमें, मी लग सकता है— कल्याणके लिए धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूपी चार रत्नोंवाली नानाविध द्रव्योंके खजानोंसे भरपूर मधुर अन्नादि देनेवाली [हृदां धेनुं] भूमिरूपी गायको दोहते हैं ॥ ३० ॥

हे पुरुष ! (संविता देवः) श्रेष्ठ देव (वे) तेरे लिए (मर्तवे) पहिनेके लिए [एतत् वासः] यह वस्त्र (ददाति) देता है । (तत् त्वं) इस तृप्ति करनेवाले वस्त्रको (वसानः) पहिनेकर (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें (चर) विचरण कर ॥ ३१ ॥

भावार्थ— आदित्य, सृ तथा पृथिवी दोनोंमें संचार करता हुआ दोनोंमें व्याप्त हो रहा है । ऐसे हर्षमद आदित्यके लिए सर्व दिशाओंमें होम करता हूँ ॥ २८ ॥

जो धन कमाकर उसका सदुपयोगमें अर्थात् दानादिमें खर्च करते हैं वे दुनियामें प्रतिष्ठा लाभ कर रहलोक व परलोक दोनोंमें सुखी होते हैं ॥ २९ ॥

अन्नादिसे जन-समाजकी तृप्ति करती हुई अन्नदानीय भूमि को दे अग्नि । परम व्योममें मत नष्ट कर ॥ ३० ॥

मृत पुरुषको जो कि दमलोकमें पहुँच गया है उसको वस्त्र देना चाहिये ॥ ३१ ॥

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।

ता वै यमस्य राज्ये अक्षितामृषं जीवति

॥ ३२ ॥

एतास्तं असौ धेनवः कामदुधां भवन्तु ।

एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वारं

॥ ३३ ॥

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ।

तिलवत्सा ऊर्जमुस्मै दुहाना विद्याहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः

॥ ३४ ॥

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतघोरमुत्सम ।

स विभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् विभर्ति पिन्वमानः

॥ ३५ ॥

अर्थ यमलोकमें जाकर उपरोक्त मन्त्रानुसार दिए गए (धाना) धान [धेनु] दूध करनेवाली गौ (अभवत्) बचते हैं । (अस्या) और इस धानरूपी गौका (वत्स) बछड़ा [तिलः] तिल [अभवत्] बनता है । (वै) निम्नपक्षे (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह [ता] उस धानों की बनी हुई गाय पर ही (उप जीवति) आश्रित हुआ हुआ जीवन है ॥ ३२ ॥

[असौ] हे अमुक नामवाले पुरुष । [एता] ये गावें [ति] तेरे लिए [कामदुधां] कामनाओंको पूर्ण करनेवाली [भवन्तु] होंव । (एनी) सप्या जैसे रगवाली अर्थात् काल रंगवाली, [श्येनीः] सफेद, [सरूपा] एकछे रूपवाली व [विरूपा] विविध रूपवाली तथा [तिलवत्सा] तिल है बछड़ा जिनका दुधैसी गावें [अत्र] यहाँ जहाँ तेरा बाल है वहाँ [या उप तिष्ठन्तु] तेरे समीप स्थित रहें व तेरी सेवा करती रहें ॥ ३३ ॥

[अस्य ते] इस तरे [हरिणी धानाः] हरे रगवाले धान [एनी श्येनीः धेनवः] अरण्य व सफेद गावें होंवें । के कृष्णा धानाः] काले धान [रोहिणी धेनवः] काल रगकी गावें होंवें । (तिलवत्सा) तिल जिनका कण्डा है दुधैसी य गावें (अनपस्फुरन्ती) कभी भी नष्ट न होती हुई (अस्मै) इसके लिए (विद्याहा) सप्या [ऊर्जमुहानाः संयु] बलदायक रस दूधको द्रोहती रहें ॥ ३४ ॥

[वैश्वानरे इदं हविरिदं जुहोमि] वैश्वानर अग्निमें यह हवि दाखला दू जो कि हवि ["शतघोर साहस्र बल दूध] सैकड़ों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सैकड़ों व हजारों धाराओंवाली है । [स] वह वैश्वानर अग्नि [पिन्वमानः] उस हविसे दूध हुई हुई [पितरं पितामहान् प्रपितामहान् विभर्ति] पिताका, दादाओंका तथा परदादाओंका धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

भावार्थ— धान तथा तिल यम राज्यमें जाकर धेनु स्वरूपमें परिणत हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

हे अमुक नामवाले पुरुष । ये नाना रंगों व रूपोंवाली गावें सर्वदा तेरे समीप बनी रहें व तेरी कामनाओंको पूर्ण करती रहें ॥ ३३ ॥

हरे रगके कच्छे धान अरण्य व श्वेत रगकी गावें बनती हैं । और काले धान तिल आदि अथवा भूमिसे जो कुछ काले रगके हो गए हैं ऐसे धान काल गावें बनते हैं । ये यम गावें सदा अविनश्यर हुई हुई अपने सारभूत रस दूधको देती रहें ॥ ३४ ॥

अश्लेषिमें सब मनुष्योंको अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबकी पितृलोकमें ले जाती है । इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है । पितरोंके लिए जो कुछ देना हो वह अग्निको देना चाहिये वह उन्हें पहुँचाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

सहस्रधारं शुतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सल्लिख्यं पृष्ठे ।

ऊर्जे दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥ ३६ ॥

इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अवं पश्यतेतं ।

मर्त्योऽयमपृत्ववमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सर्वन्धु ॥ ३७ ॥

इहैवैधि धनुसनिरिहचिच इहकंतुः । इहैधि वीर्यवित्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥

पुत्रं पौत्रमाभितर्पयन्तीसपौ मधुमतीरिमाः ।

स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयान्स्वर्पयन्तु ॥ ३९ ॥

आपो अग्निं प्र हिंशुत पितृरूपेमं यज्ञं पितरो भे जुषन्ताम् ।

आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान् ॥ ४० ॥ (२३)

अर्थ— [सहस्रधारं सहस्रधारं धारं] सैकड़ों व हजारों धारामेंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैकड़ों धाराओंसे युक्त है उसे, और जो [सल्लिख्य पृष्ठे व्यच्यमानं] अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है उसे, [ऊर्जे दुहानं] अन्न व चल्की देनेवाले [अनपस्फुरन्तं कमी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविके [पितरः] पितर [स्वधाभिः] स्वधामिके साथ [उपासते] सेवन करते हैं ॥ ३६ ॥

[इदं कसाम्बु] इस कसाम्बु को (चयनेन) चुनकरके [चितं] वेर लगाया है— इकट्ठा किया है । [तत्] उसको [सजाताः] हे सजातीय बन्धुगण ! [एत] आजो और [अवपश्यत] ध्यानसे देखो । [अयं मर्त्यः] यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु चयन किया गया है वह [अमृतत्वं] अमरताको [पृथि] प्राप्त होता है । [तस्मै] उसके लिए [यावत् सन्धुः] जितने भी तुम सजातीय बन्धु हो, वे सब [एहान् कुरुत] घरों को बनाओ अर्थात् उसे घर आदि द्वारा आश्रयप्रदान करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य ! तू [इह एव एधि] यहीं पर ही वृद्धि प्राप्त कर । [इह] यहाँपर [चित्तः] ज्ञानवान हुआ हुआ है, [इह] यहाँपर [ऋतुः] कर्मशील हुआ हुआ व [धनसनिः] हमें धन देनेवाला हो । [इह] यहाँ पर ही [वीर्यवत्तरः] शक्ति बलवान हुआ हुआ और अतएव [अपराहतः] शत्रुओंसे अपराजित हुआ हुआ [वयोधाः] अन्नका धारण करनेवाला व अन्नसे दूसरोंका पोषण करता हुआ अथवा दीर्घायुवाला होकर [एधि] बव ॥ ३८ ॥

[पुत्रं पौत्रं] अग्नि तर्पयन्तीः] पुत्रपौत्रादियोंको पूँजतया तृप्त करते हुए [इमाः मधुमतीः आपः] ये मधुर जन हैं । [पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहानाः] पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए [देवीः आपः] ये दिव्य जल [उभयान्] दोनों पुत्रपौत्रोंको [तर्पयन्तु] तृप्त करें ॥ ३९ ॥

(आपः) हे आप ! तुम (अग्निं पितृन् उपपशियुत) अग्निको पितरोंके पास भेजो । (मे पितरः) मेरे पितृगण (हमें यज्ञं जुषन्ताम्) इस यज्ञमें सेवन करें । (ये) जो पितर (आसीनां ऊर्जे उपसचन्ते) उपस्थित अर्थात् हमारे से दिए गए अन्नका सेवन करते हैं (ते) ये पितर (नः) हमें (सर्ववीरं रयिं) सब प्रकारकी वीरतासे युक्त धन—संपत्ति को (नियच्छान्) निरन्तर देते रहें ॥ ४० ॥

भावार्थ— पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं ॥ ३६ ॥

यह कसाम्बु का संचय किया गया है उसे हे बन्धुगणो ! शाकर देखो । यह मनुष्य जिसका कि कसाम्बु— संचय किया गया है वह अमृत को प्राप्त होवे । उसे तुम सब आश्रय देकर सुखी करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य ! तू ज्ञानी व कर्मशाल होकर हमें धन— प्रदान करता हुआ संभार— वृद्धिको प्राप्त कर । बलवान हुआ हुआ किष्किं पराजित न होकर जनसमान की अन्नादिये पुष्टि करके दीर्घायु होकर शक्तिका भोग कर ॥ ३८ ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।

न वेद् निहितान् निधीन् पितृन् परावतो गतान्

॥ ४१ ॥

यं तं मन्थं यमोद्भुनं यन्मामं निपुणामि ते ।

ते तं सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतञ्जुतः

॥ ४२ ॥

यास्ते धाना अन्नकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतोः ।

तास्ते सन्तुद्भुम्बीः प्रम्बीस्तास्ते यमो राजानुं मन्यताम्

॥ ४३ ॥

इदं पूर्वमपरं नियानं येनां ते पूर्वं पितरः परेताः।

पुरोगवा ये अभिश्राचो अस्य ते त्वां वहन्ति सुकृतांस्तु लोकम्

॥ ४४ ॥

सरस्वतीं देव्यन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे त्रायमानि ।

सरस्वतीं सुकृतां हवन्ते सरस्वतीं दाशुषे वार्यं दान्

॥ ४५ ॥

अर्थ- (अमर्त्यं) मरणाधमसे रहित (घृतप्रियं) त्रिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्यका वहन करनेवाली कामिको पितृगण (समिन्धते) अच्छी प्रकार प्रदोष करते हैं। और (स) वह कामि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए स्वर्गों की तरह [यद्वा लुलोपमा हे] (परावतो गतान् पितृन्) दूरगत विद्वों को (वेद्) जानती है ॥ ४१ ॥

(ते) तेरे लिए (यं मन्थं) जिस मंध जवांन् मथनेसे- बिलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन खादि को और (यं ओद्भुनं) जिस भावको (यत् मामं) जिस मामको (ते) तेरे लिए (निपुणामि) देता हूं। (ते) वे सब (स्वधावन्तः मधुमन्तः घृतञ्जुतः) स्वधावाले, मधुरतासे युक्त तथा जोसे परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिए होवे ॥ ४२ ॥

(देखो मंत्र १८। ३। १९ और १८। ४। २६) ॥ ४३ ॥

(इदं) यह सामने स्थित (पूर्वं) पुत्रान तथा (अपरं) आन को (नियानं) बैलगाड़ी है। (येन) जिस पुरानी बैलगाड़ी से (ते पूर्वं पितरः परेताः) तेरे पुरातन पितर यहाँ से गए हैं। (अस्य) इस आन की बैलगाड़ी के (अभिश्राचः) दोनों ओर जुतकर जाते हुए, [वैया कि बैलगाड़ीमें बैल दोनों ओर पाशोंमें जुते हुए, होते हैं] (पुरोगवा) अगल भागमें जवांन् घुमा से जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (त्वां) तुझे (सुकृतां लोकं) सुकृती के लोकमें [वहन्ति] प्राप्त करावे ॥ ४४ ॥

[दियन्तः] देव होने की कामना करते हुए मनुष्य [सरस्वतीं] सरस्वतीको [हवन्ते] बुलाते हैं। [त्रायमाने] विस्तृत [अध्वरे] हिंसारहित यज्ञादि कार्य में जानते हैं। [सुकृतः] श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन [सरस्वतीं हवन्ते] सरस्वतीको बुलाते हैं। [सरस्वतीं] सरस्वती [दाशुषे] दानी उपके लिए [वार्यं] वाणीय अभिलषित पदार्थ [दान्] देती है ॥ ४५ ॥

भावार्थ- ये मधुर जल पुत्रपौत्रोंको तृप्त करते हुए पितरोंके लिए स्वधा व अमृतको दाहते हुए दोनों पुत्रपौत्र व पितरोंको तृप्त करें ॥ ४१ ॥ जल अग्निमें पितरोंके नाम ले ज पू जिष्ठसि कि अग्निमें होम हुआ हवि पितरोंको पहुंच सके ॥ ४२ ॥

उपे हुए स्वर्गानों की तरह जो पितर स्वर्गा आकासे आलस है अर्थात् स्वर्गा अदृश्य हैं [चाहि वे दूर देशमें जावेत अदृश्य हैं या परलोकवासी होनेसे अदृश्य हों] उन्हें अग्नि जानती है। अतः वह पितरोंको हवि पहुंचाए और इच्छाए वहाँ पहुंचा सकता है ॥ ४३ ॥

चावल और भौठा दान करना योग्य है ॥ ४२ ॥ ८३ ॥

प्रेतको स्मरण में बैलगाड़ीसे ले जाना योग्य है ॥ ४४ ॥

देवत्वकी कामना करनेवाले सरस्वती को बुलाते हैं। यज्ञादि हिंसारहित कार्योंमें सरस्वतीको बुलाया जाता है श्रेष्ठ जन सरस्वती को बुलाते हैं क्योंकि सरस्वती दानीकी वांछित फल प्रदान करती है ॥ ४५ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिर्क्षमाणाः ।

आसद्यास्मिन् ब्रह्मिणि मादयध्वमनम्रीवा इप आ धेह्यस्मे ॥ ४६ ॥

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मर्दन्ती ।

सहस्रार्धमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यज्ञमानाय धेहि ॥ ४७ ॥

पृथिवीं त्वां पृथिव्यामा वैश्यामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः ।

परापरैता वसुविद वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥ ४८ ॥

आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः ।

अस्मादेतमुद्यन्यौ तद् वशीयो दातुः पितृभिर्हभोजनौ मम ॥ ४९ ॥

अर्थ— [दक्षिणा] दक्षिणा दिशासे आकर [यज्ञं अभि भक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सय और से प्राप्त करते हुए जो पितर [सरस्वतीं हवन्ते] सरस्वतीको बुलाते हैं । ये तुम [अस्मिन् ब्रह्मिणि] इस यज्ञमें [आसद्य] बैठकर [मादयध्वं] आनन्दित होओ। [अस्मे] हमें [अनमीषाः इपः] रोगरहित अन्नको अर्थात् जिनके खानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नको हे सरस्वती ! तू [अथेहि] दे ॥ ४६ ॥

[सरस्वती देवि] हे सरस्वती देवी ! [या] जो तू [पितृभिः स्वाधाभिः] मद्गन्ती पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई [सरथं] पितरोंके साथ समान रथपर आरोहण करती हुई [ययाय] आई है । वह हे सरस्वती ! तू [अत्र] इस यज्ञमें [यज्ञमानाय] यज्ञमानके लिए [सहस्रार्ध इवः भागं] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] धनकी पुष्टि को [धेहि] दे ॥ ४७ ॥

[पृथिवीं त्वां पृथिव्यां आवेश्यामि] मिट्टी से बने हुए दे मृत पुरुष । तुझको मिट्टीमें मिला देता हूं अर्थात् तुझे पृथिवीमें गाढना हूं । (धाता देवः नः आयुः प्रतिराति) धातृ देव हमारी आयुको बचावे । हे (परापरैताः) प्रकृतया हमसे दूर चले गए पितरों । (वः) तुम्हारे लिए धाता देव (वसुविद अस्तु) वास करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रयदाता हो । (भव) और (मृताः) मृत (पितृषु संभवन्तु) पितरोंमें अच्छीतर होवें अर्थात् पितरोंमें जा मिलें ॥ ४८ ॥

हे प्रेतवाहक बैलें ! (युवां) तुम दोनों (आ प्रच्यवेथाम्) बैलगाड़ीसे विमुक्त होओ । (तत्) उस वक्ष्यमाण (जो भोगे कहा जायगा) निन्दारूप वाक्य से (अप मृजेथां) शुद्ध होओ । उस निन्दारूप वाक्यको जिससे कि ऊपर शुद्ध होने को कहा गया है, कहते हैं— [अभिमाः] दोष देनेवाले पुरुषोंने [वां] तुम दोनोंको ' पुंगवै किल अस्तु इयं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊवन्ती ' इत्यादि निन्दारूप, [यद् ऊवुः] जो वाक्य कहा है उससे शुद्ध होओ । [अन्वयौ] हे ईंस! कानेके अयोग्य बैलें ! [अस्मात्] इस निन्दा की कारणभूत गाड़ीसे [पतं] जो छूट आता है [तद्] यह [वशीयः] क्षेप्य होवे । और तब [इह] इस विमृगेषु में [पितृषु दातुः मम] पितरोंका उद्देश्य करके अन्नको देते हुए या अधिको देते हुए मेरे [भोजनौ] पालना करनेवाले होओ ॥ ४९ ॥

भावार्थ— पितर सरस्वती को यज्ञमें बुलाते हैं ॥ ४६ ॥

सरस्वती पितरोंके साथ समान रथपर चढ़ती, स्वधा खाती व यज्ञमें आती है ॥ ४७ ॥

[पूर्वोचं मे मृत देहके गाढने का निर्देश है ।] यह मानव देह पार्थिव तत्त्वोंके आधिक्यसे बना हुआ है, अतएव यज्ञपर मृतदेहको पृथिवी [मिट्टी] के नामसे पुकारा गया है ॥ ४८ ॥

ममानमं जाकर बैलगाड़ी छोड़कर बैलोंका स्वाध्यविचार करना उचित है ॥ ४९ ॥

एयमग्नं दक्षिणा भद्रतो नो अनेन द्रुत्ता सुदुषा वयोषाः ।
 यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उषु संपराणयादिमान् ॥ ५० ॥ (२४)
 इदं पितृभ्यः प्र भंरामि बहिर्जीवं देवेभ्य उचरं स्तृणामि ।
 तदा रोह पुरुष मेष्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् । ॥ ५१ ॥
 एदं बहिर्सदो मेष्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ।
 यथापुरु तन्वं१ सं भंरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥ ५२ ॥
 पूर्णो राज्ञापिधानं चरुणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् ।
 आर्घुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय श्रुतशरदाय ॥ ५३ ॥

अर्थ—[सुदुषा] उच्चमतया कामनाओं को पूर्ण करनेवाली [वयोषाः] अन्नको देनेवाली [अनेन द्रुत्ता] इससे ही पूर्ण
 [इयं दक्षिणा] यह दक्षिणा [मद्रतः नः सा भगन्] कल्याणकारी स्थानसे भयवा कल्याणकारी स्वयंपसे हमें प्राप्त हुई
 । इससे हमारा अदक्याण नहीं होगा । [यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव] जिस प्रकार युवावस्थाके बल जाये उस
 ओषो को इदावस्था अवश्य जाती है उस प्रकार यह दक्षिणा [इमान्] इन जीवों को [पितृभ्यः] पितरोंके लिए सबी
 प्रकार [उषु संपराणयात्] प्राप्त करावे अर्थात् पितरोंके पास उत्तम रीति से पहुँचावे ॥ ५० ॥

[इदं बहिः पितृभ्यः प्रभंरामि] यह कुशासन पितरोंके लिए रखता हूँ बिछाता हूँ, [देवेभ्यः जीवं ब्रह्म
 स्तृणामि] देवोंके लिए धीवको उससे ऊंचा बिछाता हूँ । [पुरुष] हे पुरुष ! [मेष्यः भवन्] पवित्र होता हुआ ए
 [तप आरोह] उस पर बैठ । [परेतं त्वा पितरः प्रति जानन्तु] परेत अर्थात् परे गए हुए वा उच्छ्वासन को प्राप्त हुए
 हुए तुझे पितर जानें ॥ ५१ ॥

हे पुरुष । [इदं बहिः असदः] इस कुशासन पर तुम बैठो है । [मेष्यःभूः] पवित्र हुआ है । [पितरः परेतं त्वाऽन्नयात्]
 पितर परेत हुए हुए तुमके जानें । [यथा पुरु तन्वं संभरस्व] जोहोंके अनुसार शरीरको भर; अर्थात् जहाँ जोह
 बढ़ो जोह बनाता हुआ शरीरको पूर्ण कर । मैं [ते गात्राणि] तेरे अंगोंको [ब्रह्मणा] ब्रह्मद्वारा [कल्पयामि] सज्ज
 यनाता हूँ यानि तेरे शरीरमें ब्रह्मद्वारा शक्ति देता हूँ ॥ ५२ ॥

[पूर्णः राजा] पाठक राजा [चरुणां] चरुओंका दक्कन है । [ऊर्जः] अन्न, [बलं] बल, [सहः] शक्ति
 नाश करनेका सामर्थ्य, [ओजः] तेज ये सब [नः] हमें उस पूर्ण राजासे [सा भगन्] प्राप्त होंगे । [श्रुतशरदाय
 दीर्घायुत्वाय] शौ बधं जितनी दीर्घायु के [जीवेभ्यः] लिए जीवितोंके लिए [आयुः विदधद्] आयु करे अर्थात् १००
 वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

भाषार्थ— दक्षिणा देनेसे पितरोंकी प्राप्ति होती है । जिसप्रकार युवावस्थाके बल जानेपर युवावस्था अवश्यमादिनी है, उसी
 प्रकार दक्षिणा देनेवालेको पितरोंकी प्राप्ति भी अवश्यमादिनी है ॥ ५० ॥

मनुष्य पवित्र बने और उन्नति प्राप्त करे ॥ ५१ ॥

शरीरके प्रत्येक अवयवकी शुद्धि करके उष्टक बनाना चाहिये ॥ ५२ ॥

पणेशः चरुओं का दक्कन है । वह हमें अन्न, बल, तेज आदि देता है । वह हम जीवोंको १०० वर्ष की
 दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मानानामाधिपत्यं जगाम ।
 तमर्चत विश्वामित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धाव् ॥ ५४ ॥
 यथा यमार्थं हर्म्यमवपुन् पञ्च मानवाः । एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥ ५५ ॥
 इदं हिरण्यं विभृहि यच्च पिताविभः पुरा । स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृद्दृष्टि दक्षिणम् ॥ ५६ ॥
 ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च युजियाः ।
 तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु मधुधारा व्युन्दती ॥ ५७ ॥
 वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सरो अह्वो प्रतरतीतः नो दिवः ।
 प्राणः सिन्धूनां कलशां अचिक्रददिन्द्रस्य हादिमाविशन्मनीषया ॥ ५८ ॥

अर्थ— [यः] जिस [ऊर्जः भागः] अन्नके विभाग करनेवालेने [इमं] इस अन्नको [जजान] पैदा किया है और जो [अश्मा] अश्मा होनेसे [अश्मानां आधिपत्यं] अन्नके स्वामित्वको [जगाम] प्राप्त हुआ है ऐसे [तं] उसकी हेतुके मित्रो [विश्वामित्रा] हवियोंद्वारा [अर्चत] पूजा करो । (सः) वह (यमः) यम (नः) हमें (प्रतरं जीवसे धाव्) बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

(यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांच मानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपुन्) बनाया है (एव) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वपामि) घर बनाता हूँ (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयोः) बहुतसे घर (असत) हो जायें ॥ ५५ ॥

हे मरणासन्न पुरुष । [इदं हिरण्यं विभृहि] इस सोने को धारण कर, [यत्] जिस सोनेको कि [पुरा] पहिले [ते पिता विभः] तेरे पिताने धारण किया था । इस प्रकार हे मनुष्य । [स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृद्दृष्टि] स्वर्ग को जाते हुए पिताके दक्षिण हाथको सुसोभित कर ॥ ५६ ॥

(ये च जीवाः) जो जीवित हैं और (ये च मृताः) जो मर गए हैं, ये (जाताः) और जो उत्पन्न हुए हैं, (ये च युजियाः) और जोकि पूजनीय, संगति करने योग्य हैं (तेभ्यः) उन उपर्युक्तोंके लिए (मधुधारा) मधुधारावाली (व्युन्दती) उमड़ती हुई (घृतस्य) घी वा जलकी (कुन्या) छोटी नदी (पतु) प्राप्त होके ॥ ५७ ॥

(विचक्षणः) विवेकयुक्तया देखनेवाला (घृषा) अभिमत्त कामनाओंका वर्षक (मतीनां पवते) मत्तियोंका पवित्र करनेवाला है । (सरोः) सरो (जलां) दिवरातका, (उपसां) उपाओंका तथा (दिवः) पुत्रोंका (प्रतरतीतः) बढानेवाला है । (सिन्धूनां प्राणः) नदियोंका प्राण (कलशां) घड़ोंको अलघाराओंसे (अचिक्रदन्) गुंजाता है । (मनीषया) मनकी इच्छानुसार (हन्तस्य) हन्तके (हादिं) हृदयमें (आविशन्) प्रवेश करता है ॥ ५८ ॥

भावार्थ— यम दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे । पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं ॥ ५५ ॥

मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दक्षिण हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाना चाहिये ॥ ५६ ॥

जीवित, मृत, उत्पन्न तथा अन्य पूजनीयोंको मधुधारावाली बहती हुई छोटीसी जलवाली नदी प्राप्त होके ॥ ५७ ॥

इन्द्रमें अर्पित आत्मानमें ज्ञान, बल, तेज, मनन शक्ति, प्राण ये सब शक्तियाँ बँटें ॥ ५८ ॥

त्वेपस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि यञ्जुक्र आततः

॥ ५९ ॥

सुरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे

प्र वा एतीन्द्रुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र भिनाति संगिरः ।

मर्यं ह्यु योपाः समर्षसे सोमः कलयो श्रतयामना पथा ॥ ६० ॥ (२५)

अक्षन्मीमदन्तु ह्यर्ष प्रियाँ अंधूपत । अस्तीपतु स्वभानयो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पृथिभिः पितृपार्णः ।

आयुरस्मभ्यं दधंतः प्रजां च रायश्च पोपैर्गभि नः सचध्वम् ॥ ६२ ॥

परां यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पृथिभिः पूर्याणः ।

अघां मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरचुं सुप्रजसः सुवीराः ॥ ६३ ॥

अर्थ— [पावक] हे पवित्र करनेवाली अग्नि ! [ति] तिरा [शुक्र] शुद्ध [आतत] सब तरफ फैला हुआ [त्वेप] प्रकाश [दिवि] बुलोकमें [धूम] धुँएकी तरह [ऊर्णोतु] तपको ढँकले । [द्युता] अपने प्रकाशसे [सुर. न] सूर्यकी तरह [त्व] तू [कृपा] कृपा करने [रोचसे] दीप्त होता है ॥ ५९ ॥

[इ-दु] ऐश्वर्य देनेवाला; सोम [इन्द्रस्य निष्कृति] इन्द्र अर्थात् यज्ञ करनेवाला ऐश्वर्यशाही पुरुष निष्कृतिको [प्र एति] अच्छी तरहसे मास होता है अर्थात् इन्द्र सोमको अच्छी तरहसे निचोड़ता है । जैसे कि [सखा] मित्र [सख्यु] मित्रकी [संगिरः] उभय वाणियोंको [न प्रभिनाति] नहीं तोड़ता अर्थात् अथवा ही उसके वचनानुसार काम करता है उभो प्रकार इन्द्र भी अथवा ही सोमका रस निचोड़ता है और इस प्रकार सोम रस निचोड़ने पर [मर्यः योपाः ह्यु] जिम प्रकार पुरष स्त्रीसे संगत होता है उसी प्रकार [सोमः] सोम तू [कलयो] सोम निचोड़नेके पात्र-घड़ेमें [शत-यामना पथा] सँकड़ों प्रकारकी गतिवाले मार्गसे अर्थात् निचोड़ने पर कई धाराओंसे [सं अर्षसे] अच्छी प्रकारसे जाता है ६०

[स्वभानव] स्वयं प्रकाशमान, [विप्रा] मेघाधी पितर [अक्षन्] यज्ञमें दी गई हविषोंको खाते हैं । [अमीमदन्त] पाकर अत्यन्त आनन्दित होते हैं और [हि] निश्चयसे प्रियान् अपने मित्रजनोंको (अथ अंधूपत) काशितमान् बनाते हैं । उनकी [अमोपत] प्रणसा करते हैं । [यविष्ठा] अत्यन्त युवा अर्थात् सामर्थ्यशाली हम [ईमहे] उन पितरोंसे यज्ञादिमें आनेके लिए प्रार्थना करते हैं ॥ ६१ ॥

[सोम्यासः पितर] हे सोमपान करनेवाले पितरों ! [गम्भीरैः] गभीर [पितृपार्णे. पृथिभि.] विदुषाण मार्गों से [आ यात] जाओ । [अस्मभ्य आयु, प्रजां च रायः च दधत.] हमारे लिए आयुष्य, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो । [पोपै.] अन्य पुष्टियोंसे [न.] हमें [अभिसचध्वं] चारों ओर से युक्त करो ॥ ६२ ॥ [सोम्यास. पितर] हे सोम संपादक पितरों ! [गम्भीरैः पूर्याणैः पृथिभिः] गम्भीर पूर्याण मार्गोंद्वारा [परायात] वापस चढ़ जाओ । जहाँसे आयु ये बढ़ा पर लौट जाओ । [अथ पुन.] और फिर [सुप्रजसः सुवीराः] हे उत्तम प्रजावाले तथा सुवीर पितरों ! [मासि] मासके अन्तमें यामि महीनेके बाद [नः गृहान्] हमारे घरोंमें [हविः अचुं] हविके खानेके लिए [आयात] आओ ॥ ६३ ॥

भावायै— हे अग्नि ! तेरा तेज सर्वत्र इस प्रकारसे फैलकर सबको ढँक ले जिस प्रकार कि धुँआ सबको ढक जाता है । जिस प्रकार सूर्य स्वप्रकाशमें चमकता है उसी प्रकारसे तू भी हमारे पर कृपा करती हुई चमकती रह । (अ. ६।२।६ ॥ ५९ ॥ इन्द्र सोमको निचोड़नेके कार्य को नहीं टालता जैसे कि मित्र मित्रकी वाणियोंको नहीं टालता । सोम निचोड़ा जानेपर कई धाराओंमें घड़ेमें इस प्रकारसे आकर प्राप्त होता है, जिस प्रकारसे कि पुरष स्त्रीको प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

पितरोंको यज्ञमें युक्त ना चाहिए व हवि देकर तृप्त करना चाहिए । ऐसा करनेसे यज्ञमान की कीर्ति बढ़ती है ॥ ६१ ॥ पितरों ! गम्भीर जो पितृपान मार्ग हैं उनसे युवानेपर हमारे यज्ञमें आओ व हमें संतति, सम्पत्ति आदि देकर पुष्ट करो ॥ ६२ ॥

यद् वीं अग्निर्जहादेकमहर्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः ।

तद् वं एतत् पुनरा प्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् ॥ ६४ ॥

अभूद् द्रुतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्व उपवन्द्यो नृभिः ।

प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ६५ ॥

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलामिव जामयः । अभ्येनि भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

शुम्भन्तां लोकाः पितृपदनाः पितृपदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥

येऽस्माकं पितरस्तेषां बाहिरंसि ॥ ६८ ॥

अर्थ- हे पितरो ! [वः यद् एकं अहं] तुम्हारे जिस एक अन्नको (पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने (अजहाद्) छोड़ दिया है (वः एतत् एतत्) तुम्हारे उस इस अन्नको मैं (पुनः) फिर (आप्ययामि) पूर्ण करता हूँ । (साङ्गाः पितरः) अपने सब अन्नसे युक्त हुए हुए पितरो ! (स्वर्गे मादयध्वम्) स्वर्गमें आनन्दित होओ ॥ ६४ ॥

(सायं न्यह्वे) सायंकाल और प्रातःकाल (नृभिः उपवन्द्यः) नरोंसे वन्दना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवेदस् अग्नि (प्रहितः द्रुतः अभूद्) भेजा हुआ द्रुत है । क्योंकि द्रु भेजा हुआ द्रुत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि ! (प्रयता हवींषि) हमारे से दी गई हवीयों को (पितृभ्यः प्रादाः) पितरों के लिए दे जिससे कि (ते) वे पितर जिन्होंने कि तुझे द्रुत बनाकर भेजा है, (स्वधया अक्षन्) स्वध्या के साथ हमारे द्वारा दी गई हवीयों को खावें । (त्वं नद्धि) द्रु भी उन हवीयोंको खा ॥ ६५ ॥

(असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत ! (इह ते मनः) यहाँ तेरा मन है । हे (भूमे) पृथिवी ! (जामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार स्त्रियां अपने सबको बलसे डोपती हैं या कुलक्षियां अपने सिरको डोपती हैं उस प्रकार (पुनं) इस प्रेत को (अग्नि ऊर्णुहि) सली प्रकार डोप ॥ ६६ ॥

(पितृपदनाः लोकाः शुम्भन्ताम्) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुम्भन्तां) शोभायमान हों । (त्वा) तुझे (पितृपदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) बिठवाता हूँ ॥ ६७ ॥

(ये) जो (अस्माकं पितरः) हमारे पितर हैं (तेषां) उनका (बाहिः) आसन (अंसि) है ॥ ६८ ॥

भावार्थ- प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ॥ ६३ ॥

अग्नि मरने के अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किछी अवयवको यहाँपर छोड़ जाती है ॥ ६४ ॥

जिध अग्निकी सायं व प्रातः वंदना की जाती है उस अग्निकी पितर अपना द्रुत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पासवे हवीयों को ले आकर पितरों को पहुँचाती है । हमारे से दी गई हवीयों को पितरों तक पहुँचाने के लिये अग्नि माध्यम है ॥ ६५ ॥

प्रेतके जमीनमें गारुने का भी एक शिथि है । भूमि प्रेतको ढपि ॥ ६६ ॥

कोई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन स्याक्किओ भी किछी अवस्थाविशेषमें बिठनाया जाता है ॥ ६७ ॥

यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाघासनिर्मित आसन होना चाहिए ॥ ६८ ॥

उदुत्तमं वरुण पाशंमस्मदवाघमं वि मध्यमं श्रयाय ।

अघां वृयमादित्य व्रते तवानांगसो अदितये स्याम

॥ ६९ ॥

प्रास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः संमामे धुष्यते यैर्व्यामे ।

अघां जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः

॥ ७० ॥ (२६)

अग्रयै कव्यवाहनाय स्वधा नमः

॥ ७१ ॥

सोमाय पितृमते स्वधा नमः

॥ ७२ ॥

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः

॥ ७३ ॥

यमार्यं पितृमते स्वधा नमः

॥ ७४ ॥

एतत् ते प्रवतामह स्वधा ये च त्वामनु

॥ ७५ ॥

अर्थ— (वरुण) हे वरुणीय श्रेष्ठ ! तेरे (उतमं) उत्तम (पाश) पाशाको (अस्मत्) हमसे (उत् श्रयाय) ऊपर हो खोल दे । (अघमं) और जो तेरा अघम पाशा है उसको (नव श्रयाय) नीचेकी ओरसे खोल दे । (मध्यमं) और जो तारा मध्यम पाश है उसको (विभ्रयाय) विविध रीतिले खोल दे । (नय) इस प्रकार तेरे तीनों प्रकारके पाशासे विमुक्त होनेके बाद (अनांगसः) पापारहित हुए हुए (वयं) हम (आदित्य) हे अस्मन्कनीय शक्तिवाले ! (ते) तेरे (वने) व्रत अर्थात् नियममें (आदित्ये) अदीनताके लिए अर्घ्योत् समुच्च हुए हुए (स्वाम) होवें ॥ ६९ ॥

(वरुण) वरुण राजन् ! (अस्मत्) हमसे (सर्वान् पाशान्) तेरे सर्व पाशों-कन्नों-को (प्रमुञ्च) लख्ठी तरह से खोल दे । (यैः) जिन कन्नोंसे कि (सं+मामे) समाम में और (यैः) जिनसे कि (वि-मामे) -माममें (धुष्यते) प्राणी बाँधा जाता है । (नय) तेरे उपोक्त पाशोंसे छूटकर हम (राजन्) हे वरुण राजन् ! (त्वया गुपिताः) तेरेसे रक्षा किए गए अतएव (रक्षमाणाः) दूसरों की रक्षा करते हुए हम (शतानि शरदं) सैकड़ों बरस (जीवेम) जीवें ॥ ७० ॥

(कव्यवाहनाय अग्रयै) कव्यवाहना करनेवाली अग्निके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥ ७१ ॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो ॥ ७२ ॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७३ ॥

(पितृमते) उत्तमपितावाले (यमार्यं) यमके लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ॥ ७४ ॥

हे (प्रवतामह !) प्रपितामह ! (ते एतत्) तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ (स्वधा) स्वधा होवे । (ये च त्वामनु) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो ॥ ७५ ॥

भावाय— हे वरुण ! तू तेरे दुष्टोंकी बाँधनेवाले तानों प्रकारके उतम, मध्यम व अघम पाशोंसे हमें मुक्त कर । हम पापारहित हुए तेरे नियमोंमें रहते हुए शक्तिशाली होकर नाना प्रकारकी समृद्धि का लाभ करें ॥ ६९ ॥

हे वरुण राजन् ! तू अपने उन कन्नोंसे हमें मुक्त कर जिनसे कि विविध रोग मनुष्य पर आक्रमण करते हैं । तेरी रक्षासे रक्षित हुए हुए सैकड़ों बरस जीवें ॥ ७० ॥

यम और पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो ॥ ७१-७४ ॥

पितरोंके लिए अन्न देना योग्य है ॥ ७५-८० ॥

एतत् ते तवामह स्वधा ये च त्वामनु	॥ ७६ ॥
एतत् ते तव स्वधा	॥ ७७ ॥
स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः	॥ ७८ ॥
स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः	॥ ७९ ॥
स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः	॥ ८० ॥
नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय	॥ ८१ ॥
नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे	॥ ८२ ॥
नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै	॥ ८३ ॥
नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै	॥ ८४ ॥
नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः	॥ ८५ ॥
येऽन्नं पितरः पितरो येऽन्नं युयं स्थ युष्मांस्तेऽनु युयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ	॥ ८६ ॥

अर्थ—[तवामह] हे पितामह । [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [हवि] स्वधा होवे । [ये च त्वामनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे ॥ ७६ ॥

हे [तव] पिता ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे ॥ ७७ ॥

[पृथिवीषद्भ्यः] पृथिवीपर बैठनेवाले [पितृभ्यः] पिताके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ७८ ॥

[अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः] अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पिताके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ७९ ॥

[दिविषद्भ्यः पितृभ्यः] सुप्तिकमें बैठनेवाले पिताके लिए [स्वधा] स्वधा हो ॥ ८० ॥

[पितरः] हे पिता ! [वः ऊर्जे नमः] तुम्हारे अन्न वा बछके लिए नमस्कार है । [पितरः] हे पिता ! [वः रसाय नमः] तुम्हारे रस अन्नरस [दुग्ध आदि] के लिए नमस्कार है ॥ ८१ ॥

[पितरः] हे पिता ! [वः] तुम्हारे [भामाय] मोघके लिए [नमः] नमस्कार हो । [पितरः] हे पिता ! [वः] तुम्हारे (मन्यवे) मनुके लिए (नमः) नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

(पितरः) हे पिता ! (वः) तुम्हारा (यत् घोरं) जो घोर कर्म है (तस्मै) उनके लिए (नमः) नमस्कार है । (पितरः) हे पिता ! (वः) तुम्हारा (यत् क्रूरं) जो क्रूर कर्म है, (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ॥ ८३ ॥

(पितरः) हे पिता ! (वः) तुम्हारा (यत्) जो [शिवं] कल्याणमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है । (पितरः) हे पिता ! (वः) तुम्हारा (यत् स्योनं) जो सुखमय कर्म है (तस्मै) उसके लिए (नमः) नमस्कार है ॥ ८४ ॥

हे (पितरः) पिता ! (वः) तुम्हारे लिए (नमः) नमस्कार होवे । (पितरः) हे पिता ! (वः) तुम्हारे लिए (स्वधा) स्वधा होवे ॥ ८५ ॥

(वे पितरः अन्न) वे अन्न पितर बर्हान हैं और (वे) जो (युयं पितरः) तुम पितृगण (अन्न स्य) यहाँ पर हो, (ते) वे अन्न पितर (युष्मात् अन्न) तुम्हारे अनुकूल होवें और (युयं) तुम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्थ) उनमें श्रेष्ठ होवो ॥ ८६ ॥

य इह पितरो ज्ञीवा इह वयं स्मः । अस्मास्तेऽनु वयं तेषां भेषां भूवास्त ॥ ८७ ॥

आ त्वांम इधीमहि शुमन्तं देवाजरंम् ।

यद् घृ सा ते पनीयसी समिद् द्रीदयति धाविं । इषं स्तोत्रम्य आ मर ॥ ८८ ॥

चन्द्रमा अप्सवन्तरा सुपर्णो धावते दिवि ।

न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो विचं मे अस्य रोदसी ॥ ८९ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

-इत्यष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अर्थ— (ये) जो [पितरः] विद्युगन (इह) यहाँ हैं, उनके अनुग्रहसे (वयं) हम (इह) यहाँ (जीवाः स्मः) जीवित हैं । (ते पितरः अस्मात् अनु) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें । (वयं) हम (तेषां भेषाः भूवारमे) उनमें भेष होवे । अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके । दोनों मिलकर परस्पर भेष होंगे ॥ ८७ ॥

(देव) हे प्रकाशमान (अग्ने) अग्नि ! हम (शुमन्तं) चमकती हुई (अजरं) अजरहित (त्वा) तुझे (इधीमात्) प्रकाशित करते हैं । (यद् ते) जिस ठेरी (सा) यह (पनीयसी) अत्यन्त प्रशंसनीय (समिद्) दीप्ति-चमक प्रकाश (घृती) अतिरसमें अथवा सूँभमें (द्रीदयति) प्रकाशित हो रही है । अर्थात् तू ही सूँभ रूपसे प्रकाशित हो रही है । ऐसी हे अग्नि ! तू (स्तोत्रम्यः) ठेरी स्तुति करनेवालोंके छिद्र (इषं) मन्त्र वा इष्ट फलको (आ मर) दे । (अ० ५।१।४) ॥ ८८ ॥

[सुपर्णः] सुन्दर आकृतिवाला अथवा सुन्दर रहस्योबाधा [चन्द्रमाः] चन्द्र [अप्सु अन्तः] अलोकमें अन्दर रहता हुआ [दिवि] अंतरिक्षमें [धावते] दौड़ता रहता है । [रोदसी] हे आवापृथिवी ! [वः] तुम्हारी [पदं] स्थितिसे [हिरण्य-नेमयः] सोने जैसी चमकीले प्रान्तभाग-सीमावाली [विद्युतः] बिजलियाँ अथवा प्रकाशमान पदार्थ [न विन्दन्ति] नहीं प्राप्त करते । अर्थात् तुम इतनी लंबी चौड़ी हो कि कोई भी प्रकाशमान पदार्थ घूम घूम करके भी तुम्हारे अंतका पता नहीं कर सकता । [मे] मेरी [अस्य] इस उपरोक्त स्तुतिके [विचं] तुम दोनों जानो ॥ ८९ ॥

भावार्थ— हम सदा प्रकाशमान अजर अग्निसे प्रकाशित करते रहें । तथैव ज्योति पुनोऽको व सूर्यादिषु प्रकाशित कर रही है । यह स्तुति करनेवालोंके अक्षादि इष्ट परायोजन प्रदान करती है ॥ ८८ ॥

सुन्दर गतिवाला चन्द्रमा जो कि अलोकमें आकाशके बीचमें रहता हुआ अलोकमें बराबर दौड़ रहा है यह तथा अन्त अत्यन्त चमकनेवाले पदार्थ जो इस आवापृथिवी के बीचमें रातदिन बराबर समान गतिसे दौड़ रहे हैं, वे इस आवापृथिवीकी स्थितिसे अर्थात् आदि व अन्तको नहीं गति । (अ० १।१०।५।१) ॥ ८९ ॥

चतुर्थं अनुवाक समाप्तः ।

इति अष्टादशं काण्डं समाप्तम् ।

अष्टादश काण्डका मनन ।

(१) पितर ।

वर्तमान समयमें यम और पितर यह एक ब्रह्माभारी विवादास्पद विषय है और इसीलिए बड़े महत्त्वका होता हुआ विशेष विचारणीय है । वेद ही के हमारे पास अन्तिम साधन होनेसे तथा सर्वांगी प्रामाणिकतामें सबको विश्वास होनेसे इस संबन्धमें वेदके क्या विचार हैं यह जानना नितान्त जरूरी है । हमें पुनर्जन्ममें पूर्ण विश्वास है पर हम यह निश्चित रूपसे कदापि नहीं कह सकते कि मरनेके बाद जीव पहिले कहां जाता है और कब फिर जन्म लेता है । वर्तमान समयके लोक जो यम व पितर संबंधी कल्पना मानते हैं व तदनुसार आचरण करते हैं उसका मूल क्या है ? क्या पुराणोंकी ही यह कल्पना है वा वेदोंमें भी इसका कुछ मूल पाया जाता है ? मरनेके बाद जीव कहां जाता है, किस रूपमें रहता है, कब तक बिना पुनर्जन्म लिए रहता है, मरनेके बाद मृतककी जीवात्मा का उसके सांसारिक संबंधियोंसे कोई संबन्ध रहता है वा नहीं, यह रहता है तो किस रूपमें, उस मृतके लिए जीवितोंकी कुछ करना चाहिए या नहीं, यदि करना चाहिए तो किस रूपमें, यम क्या है, कहां रहता है, मृत पितरोंके उपासना क्या संबन्ध है, यमके बूत क्या हैं, यम कहाँका राजा है इत्यादि इत्यादि अनेक महत्त्वके प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो सकते हैं । क्योंकि मरनेके बादका इतान्त जानना अनुपमकी शक्तिसे बाहिर है और वेदके सिवाय और कोई उपाय हमारे पास नहीं है, अतः हम इन उपरोक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंके संबन्धमें वैदिक विचार धरनेको कोसित्त करेगे ।

पितृलोक ।

इस लेखमें हम पितृलोक पर विचार करेंगे । जिन जिन वेदग्रन्थोंमें पितृलोकके संबन्धमें निर्देश या वर्णन होगा उन सब ग्रन्थोंका उल्लेख किया जायगा, विशेषतः कि पितृलोक संबन्धी कोई भी वैदिक विचार छूटने न पावे । निम्न मंत्रमें विषं पितृलोकका निर्देश मिलता है ।

शुमन्तां लोकाः पितृषदनाः ।

पितृषदने स्वा लोक आ सादयामि ॥

अथर्व. १८।५।६७ ॥

शुन्यतां लोकाः पितृषदनाः पितृषदनममि ॥

यजुः ५।२६॥ तथा ॥ ६।१ ॥

अर्थ— (पितृषदनाः लोकाः) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक (शुमन्तां) सोभायमान हों । (स्वा) तुझे (पितृषदने लोके) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें (आसादयामि) निठारावा हूँ ।

इस मंत्रके पता चलता है कि कई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्तिको भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है ।

एतदारोह यय सन्मृजानः स्वा इह बृहदुदीदयन्ते ।

अभिप्रेहि मयदतो मापदास्याः पितृणां लोकं प्रथमो

यो अत्र ॥

अथर्व. १८।३।७३५

अर्थ— (सन्मृजानः) अपनेको शुद्ध करता हुआ (एतद् ययः आरोह) इस अंतरिक्षमें चढ । (इह) यहाँ (स्वाः) तेरे बन्धुबंधन (बृहद् उदीदयन्ते) बहुत प्रशस्तमान हो रहे हैं—अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तु विन्ता मत कर । (मयदतः अभिप्रेहि) उन बन्धुबंधनों के मध्यसे जा । (पितृणां लोकं) पितरोंके लोकका (मा अपदास्याः) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे । (यः) जोकि पितृलोक (अत्र) यहाँ (प्रथमः) मुख्य—प्रसिद्ध है ।

इस प्रकार हमने देखा कि पितृलोक का निर्देश हमें वेदमें मिलता है । अब हमें देखना है कि वे पितृलोक कौनसे हैं—

१ पितृलोक—'पृथिवी' ।

स्वया पितृन्मः शृथिवीपन्नयः ॥

अथर्व. १८।१।७८ ॥

अर्थ— (प्राविबोपद्भ्यः) प्रविबोपर बैठनेवाले (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो ।

प्रविबोस्य पितरोंके लिए स्वधाका वर्णन यदापर है । पूर्वोक्त बहुवच्ये पितृभ्योऽभ्ये एक प्रविबो लोक है जहां कि पितर बैठते हैं ऐसा इस मंत्रके प्रतीत होता है ।

२ पितृलोक—'अंतरिक्ष' ।

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥

अथर्व १८।१।७५ ॥

अर्थ— (अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः) अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो ।

इस मंत्रमें अंतरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंका वर्णन है ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविविश्वस्यन्त-
रिक्षम् । तेभ्यः स्वराट्सुनीतिर्नो भय ययात्तच्छं तन्वः
कल्पयाति ॥ अथर्व. १८।१।५९ ॥

अर्थ— (ये) जो (नः) हमारे (पितुः पितरः) पिताके पितर और (ये) जो (पितामहाः) पितामह—दादा (ये) जो कि (अट अंतरिक्षं) विस्तृत अंतरिक्षमें (आविविश्वः) प्रविष्ट हुए हुए हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वराट्) स्वर्ग-प्रकाशमान (अश्वनीतिः) प्राणदाता परमात्मा (नः) हमारे (तन्वः) शरीरोंको [ययात्तच्छं] कामनाके अनुकूल [कल्पयाति] धर्म करता है ।

इस मंत्रमें पिता, पितामह तथा प्रपितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है। यद्यपि इस मंत्रके उत्तरार्धमें भी एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात कही गई है पर उसका यहाँ पर विशेष मतलब नहीं है । उसपर अन्यत्र विचार करेंगे ।

तन्निष्ठ प्रोहि म ऋषीकः कृशुष्व सल्लिके सवसे ।

तत्र रवं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्य सं स्वधाभिः ॥ अथर्व. १८।१।८

अर्थ— [उक् तिष्ठ] उठ, [प्रोहि] जा, [प्रदव] दीज । [सवस्ये] जहाँ सब इकट्ठे रहते हैं ऐसे [सल्लिके] अंतरिक्ष में (ऋक्षः) घर (कृशुष्व) बना । (तत्र) वहाँ अंतरिक्षमें (रवं) नृ (पितृभिः संविदानः) अन्य पितरोंके साथ मिला हुआ एकमल्यको प्राप्त हुआ हुआ (सोमेन) सोमसे (संमदस्य) अच्छी तरह आनन्दित हो और (स्वधाभिः) स्वधाओंसे (सं) अच्छी प्रकार तुम हुआ हुआ आनन्दित हो ।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अंतरिक्ष लोकमें विद्योके भेजे जाने का और वहाँ स्थित पितरोंके साथ स्वधा आदिसे आनन्दित होनेका निर्देश है । अतः वह मंत्र भी पितरोंका स्थान अंतरिक्ष बता रहा है ।

उपरोक्त सब मंत्रोंमें हम यह स्पष्ट रूपसे पाते हैं कि पितर अन्तरिक्ष में भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरों के लोको में से एक लोक है जहाँ पितर निवास करते हैं ।

३ पितृलोक—'यु' ।

स्वधा पितृभ्यो दिविपद्भ्यः ॥ अथर्व ० १८।१।८० ॥

अर्थ— (दिविपद्भ्यः पितृभ्यः) युलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए (स्वधा) स्वधा हो ।

इस मंत्रमें ऐसे पितरोंका वर्णन है जो कि युलोकमें बैठते हैं, और वहाँ बैठकर स्वधा लेते हैं ।

आ नः पवस्व वसुमदिरण्यवदश्वावद्रीमद् यवमत् सुवीर्यम् । यूयं हि सोम पितरो मम स्यन दिवो मूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः ॥

अ० १।६९।८०

अर्थ— हे सोम ! तू (वः) हमें (वसुमत्) वसुपुत्र (दिरण्यवत्) सोनाचादीवाले (अश्वावत्) घोड़ोंवाले, (गोमत्) गौआंवाले, (यवमत्) दवादि धान्यवाले, (सुवीर्यम्) उत्तम पराक्रम को (आपवस्व) प्राप्त कर । अर्थात् हममें ऐसा सामर्थ्य दे कि हम से सब उपरोक्त वस्तुओंको अपने पराक्रम से प्राप्त करें। हमको ऐसा पराक्रम दे । हे सोम ! (यूयं वयस्कृतः मम पितरः) तुम जीवन देनेवाले मेरे पितर (दिवः मूर्धानः प्रस्थिताः) युलोक के समान ऊँचे उठे हुए (स्यन) हो ॥

इस प्रकार उपरोक्त मंत्रोंने हमें दर्शाया कि युलोक में भी पितर रहते हैं । युलोक में पितर कहीं रहते हैं, यह निम्न मंत्र-दर्शा रहा है—

उदन्वती घौरवमा पीलुमथोति मच्चमा ।

तृतीया इ प्रचौरति वस्यं पितर आससे ॥

अथर्व ० १८।१।२१८ ॥

अर्थ— (आवामा र्याः उदन्वती) सबसे नीचे की यौ 'कु-लोक' वह है जिसमें कि जल रहता है । जिस युलोकमें बादल रहते हैं वह सबसे बीचिये युलोक है। (पीलुमती इति मच्चमा) और जिसमें ऋ-वज्रादि स्थित हैं वह बीच का युलोक है ।

(ह) निश्रयसे (तृतीया) तीसरा (प्रयोः इति) प्रद्यु नाम का युलोक है [यस्यां] जिसमें कि [पितरः आसते] पितर स्थित होते हैं ।

इस मंत्रमें यह बतलाया गया है कि युलोक तीन प्रकारका है । एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के युलोकोंमें से सबसे नीचे है और उसमें मेघमण्डल स्थित है । दूसरा इससे उपर है और उसमें पितृ अर्थात् प्रह नक्षत्रादि स्थित हैं । यह बीचका युलोक है । तीसरा इससे ऊपर है जो कि प्रयो के नामसे प्रख्यात है और यहाँ युलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं । अथतः के सब मंत्रोंके देखने से ऐसा पता चलता है कि पितर पृथिवी लोक से चलकर अंतरिक्ष लोकमें आते हैं और वहाँसे चलकर सबसे अंतमें इस युलोक में निवास करते हैं । यह युलोक प्रह नक्षत्रादि के निवासक युधे भी परे हैं ऐसा इस मंत्रसे पता चलता है; अतः इसके आधारपर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यह पितरों का निवासक युलोक सूर्यलोकसे परे है । इसी मंत्रके भाषको निम्न ऋग्वेदकी ऋचा पुर करती है ।

तिरो धावः सवितुदा उपस्यां एका यमस्य भुवने विराषाट् । आग्निं न रथममृताधि तस्युरिह मवीतु य उ त्रिचक्रेतत् ॥ १३५१॥

अर्थ— (तिरो धावः) तीन युलोक है । (द्वौ) उनमें से दो (सवितुः) सूर्य के (उपस्यां) समीप हैं (एका) और एक (यमस्य भुवने) यमके लोकमें स्थित है जो कि (विराषाट्) विराषाट् है, अर्थात् जिसमें वीर लोक आकर स्थित होते हैं । (रथं आग्निं न) जैसे रथ आगिपर आश्रित होकर स्थित होता है उसी प्रकार (अमृता = अमृतानि) ये सब अमृत प्रह नक्षत्रादि (अघितरयुः) जिसके आश्रयमें स्थित हुए हुए हैं । (यः) जो कोई (तत्) इन उपरोक्त तत्त्वोंको (चिक्रेतत्) मती प्रकार जानता है, वह (इह) यहाँपर हमें (मवीतु) उन तत्त्वोंका विवेचन करे । 'आग्नि' नाम उस कीलका है, जो कि अशुके किनारेपर छेद करके पहिएको बाहिर निकल जानेसे रोकनेके लिए लगाई जाती है ।

इस मंत्रसे हमें इतना और पता चलता है कि पूर्व मंत्रमें निर्दिष्ट तीसरा युलोक कि जिसमें पितरों की स्थिति है वह सूर्य लोकसे परे होता हुआ यम लोकमें स्थित है अर्थात् यमका राज्यबंध युलोक में है । पितर यमकी प्रजा हैं तथा यम उन

का राजा है यह बात आगे चलकर हमें पता चलेगा । वहाँपर उस बातका निर्देश मात्र है ।

इस मंत्रमें यम लोकमें स्थित युष्ठा विशेषण 'विरा-षाट्' दिया है । अर्थात् उस युधे वीरगण आकर निवास करते हैं । इसी बातको निम्न लिखित ऋग्वेदेका मंत्र पुर करती हुआ साधमें पितरोंका युलोकमें जाना दर्शा रहा है ।

इत पत उदारुहन् दिवस्पृष्टान्पारुहन् ।

म भूर्भुवो यया यमा यामंगिरसो ययुः ॥

अथर्व १०१११११ ८

अर्थ— (एते) ये पितर (इतः) यहाँसे (उद् आ अरुहन्) ऊपर को चढ़ते हैं । (दिवः पृष्टानि आरुहन्) और युधे पृष्टोंपर प्रदृश्य स्थानोंपर चढ़ते हैं । (यया यमा) जिस प्रकारके मार्गसे कि (भूर्भुवः) भूमि जीतनेवाले वीर (अंगिरसः) अंगिरस पितर (यां) युलोकके (प्रययुः) गए हुए हैं ।

अथतः के विवेचनसे हमें इतना पता चलता है कि पितर पृथिवी, अंतरिक्ष तथा यु, इन तीनों लोकोंमें निवास करते हैं । इसी परिणाम को निम्न मंत्र प्रमाणित कर रहा है । इस मंत्रमें तीनों लोकोंका वर्णन है ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आधिविशु-
स्वन्तारिक्षम् । य आक्षिपन्ति पृथिवीमुत धां
मेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ अथर्व. १०१२११११

(ये) जो (नः पितुः पितरः) हमारे पिताके पितर हैं, (ये) और जो (पितामहाः) उनके भी पितामह, हैं (ये) जो कि (उद्-अंतरिक्षं आधिविशुः) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और (ये) जो (पृथिवी उत धां) पृथिवी तथा युलोकमें (आक्षिपन्ति) निवास करते हैं (तेभ्यः पितृभ्यः) उन पितरोंके लिए हम (नमसा विधेम) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हैं । यह मंत्र स्वर्गमें अधिक स्पष्ट है । यह पितरों का तीनों लोकोंमें निवास होना स्पष्टतया प्रतिपादन कर रहा है ।

४ 'पितृलोक—पिताका कुल वा घर ।'

इन उपरोक्त पितृलोकोंके विषय हमें वेदमें एक ऐसा भी मंत्र मिलता है जिसमें कि पितृलोकका अर्थ पिताका घर वा पिताका कुल प्रतीत होता है ; मंत्र इस प्रकार है—

उस्योः कन्यका इमाः पितृलोकान् पतिं यतीः अव-
दीक्षाममृशत स्वाहा । अथर्व. १०१२१५२ ॥

(इमा) ये (उशतीः कन्यलाः) पति लोक की कामना करती हुई शोभायमान कन्यायें (पितृलोकान्) पितृकुलधे [पति यतीः] पतिके पास जाती हुई (स्व—आहा) उतम वाणी द्वारा [दीक्षा] दीक्षाको (अवयक्षत) दे ।

निगम व्रत आदिकी शिक्षा का नाम दीक्षा है । यहाँ पर पितृकुल को पितृलोक के नामसे कहा गया है ।

७. पितृलोक—पितरोंका देश ।

निम्न मंत्रमें पितृलोकका अर्थ पौत्रिक भूमि है । जिस भूमिमें बंशपरंपरासे रहने चले आए हैं, उस भूमिका नाम पितृलोक से कहा कहा गया है ।

पंचाणं श्रितियादमविं लोकैः संमितम् ।

प्र दातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥

अथर्व० ३।२१।४ ॥

[पंच-अ-युं] पाँचों जनों (ज्ञान्णादि चार वर्ण तथा पाँचवा नियम) को न सजानेवाले अतएव (लोकैः संमितं) जनता द्वारा संमत [श्रितियादं अविं] हिंसकोंको [दबाने--वाले संरक्षक कर मागकों [प्रदाता] देनेवाला [पितृणाम्] लोके अक्षितं उपजीवति] पितरोंके देशमें अक्षय होकर जीता है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मंत्रमें पितृलोक का अभिप्राय पितरोंका देश है ।

पितृलोकके संबन्धमें यहाँपर इतना ही विवेचन पर्याप्त है । अब हम 'पितृयाण' पर इसी प्रकार संक्षेपसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे ।

पितृयाण ।

पितृलोककी स्थ पना के अनन्तर हमारे सामने यह सवाल उपस्थित होता है कि इन लोकोंमें कब और कैसे अर्थात् किस मार्ग द्वारा पितर जाते हैं ? इस पृथिवी लोकसे अन्य लोकोंमें जानेके दो मार्ग हैं । जिस मार्गसे पितर जाते हैं वह पितृयाण मार्ग कहलाता है । तथा जिससे देवलोक आते हैं वह देवयाण कहलाता है । यही भाष्यमें निम्न मंत्र दर्शा रहा है । मंत्र इस प्रकार है—

ऋ सुवी अश्रणवं पितृणामहं देवानामुत मर्यानाम् ।

वाम्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्वरा । पितरं मातरं च ॥

ऋ० १० । ८८।१५ ॥

यजु० अ० १९।४० ॥

(मर्यानां पितॄणां उत देवानां) मनुष्यों, पितरों व देवोंके (ऋ स्तुती) दो मार्ग (देवयाण और पितृयाणनामक) (अश्रणवं) मैने सुने सुने हैं । (ताभ्यां) उन दोनों मार्गों द्वारा (इदं एजत विश्वं) यह गातिमान् विद्व (यत्) जो कि (पितरं मातरं च अन्तरा) इस यु पिता और पृथिवी माताके बीचमें स्थित है, (सं एति) अच्छी प्रकार गति करता रहता है । अर्थात् इन मार्गोंसे आवागमन होता रहता है ।

एवं इस मंत्रमें इतना पता चलता है कि देवयाण और पितृयाणनामक दो मार्ग हैं जिनसे आवागमन होता है । इसके अतिरिक्त हमें कुछ मंत्र ऐसे मिलते हैं जिनमें कि पितृयाण मार्ग से जानेका निर्देश पाया जाता है । वे इस मंत्र नीचे दिए जाते हैं ।

आ रोहत जानित्री आतवेदनः पितृयाणै सं व आ रोहयामि । अय्याद् दव्योपितो हव्यवाह ईमानं युक्ता सुकृतां घत लोकं ४

अथर्व० १।८।११ ॥

(आतवेदसः) हे अग्निवो ! तुम (जानित्री आरोहत) अग्नियोंके रूपसे करनेवालीके पास पहुँचो । मैं [वः] तुम्हें (पितृयाणैः) पितृयाणमार्गोंसे (सं आरोहयामि) अच्छी प्रकार पहुँचाता हूँ । (इपितः हव्यवाहः) मिय हव्योका वाहक अग्नि (हव्या = हव्यानि) हव्योंको [अय्याद्] बहन करता है । हे अग्निवो ! (युक्ताः) तुम मिलकर [ईजानं] यज्ञ करनेवाले को (सुकृतां लोकं) श्रेष्ठ कर्म करनेवालोंके लोकमें (घत) धारण करो अर्थात् वहाँ रखे जेजानो ।

अग्नि और पितरोंका एक विशेष संबन्ध प्रतीत होता है । यह संबन्ध कैसा व क्या है इसपर विस्तारसे विचार आगे ' अग्नि व पितर ' इस शीर्षक के नीचे करेंगे । यहाँ पर तो धिक् पितृयाण मार्गसे ही मतलब है इसी शीर्षक में आगे हम दिखाएँगे कि अग्नि पितृयाण मार्ग को भी जानता है ।

भ्रिंभिः प्रिधि यधिभिः पूर्व्यभिः यत्रा नः पूर्व्यं पितरः

परेषुः । उभा राजाना स्वधया मद्व्या यमं

पश्यासि वरुणं च देवम्

॥ ऋ० १०।११।७ ॥

यही मंत्र योडेसे पाठभेद से अथर्ववेदमें निम्न प्रकारसे आया है—

प्रेङ्गि प्रेङ्गि पथिमिः पूयगैः येना ते पूर्वे पितरः परेताः॥
उमा राजाना स्वधया मन्दन्तौ यमं पर्यासि वरुणं च
देवम् ॥ अथर्व० १८१।१५४

(यत्र) जहां (नः पूर्वे पितरः) हमारे पूर्व पितर (पोयुः)
गए हुए हैं, वहां (पूर्वोभिः पथिमिः) पडलेके मार्गों द्वारा
(प्रेङ्गि प्रेङ्गि) रें जा । वहां (स्वधया) स्वधासे (मन्दन्तौ)
टूट होते हुए (उमौ राजनौ) दोनों राजा (यमं वरुण देवं
च) यम और वरुण देव को (पर्यासि) देख ।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे पता चलता है कि पितरोंके जाने के
मार्ग पितृयाग के नाम से प्रख्यात हैं । इसके सिवाय एक मंत्र
ऐसा भी है जिसमें कि पितृयाग मार्गसे अनेका भी उल्लेख
पाया जाता है ।

७। यात पितरः सोमवासो गंभीरैः पाथिमिः पितृयागैः।
आयुरस्मर्म्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोथैरमिनः सच-
ध्वन् ॥ अथर्व० १८१।४१२

(सोमवासः पितरः) हे सोमपान करनेवाले पितरों !
(गंभीरैः) गंभीर (पितृयागैः पथिमिः) पितृयाग मार्गोंसे
(आदरतः) आओ । (स्मर्म्यं आयुः प्रजां च रायः च दधतः)
हमारे लिए आयु, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो । (पोथैः) अन्य
पुष्टियों से (नः) हमें (अभिसचध्वं) चारों ओर से
सुख करो ।

इस मंत्र में पितरोंके पितृयाग से आकर आयु, प्रजा आदि
देनेका उल्लेख है । इसके अनिश्चित निम्न मंत्र में भी पितृयाग
का उल्लेख मिलता है ।

अनूना अस्मिन्ननूनाः परस्मिन् तृतीये लोके अनूनाः
स्वाम । ये देवयानाः पितृयागादच लोकाः सर्वान्
पथो अनूना आ क्षियेम ॥ अथर्व० ३।१।७।३ ॥

(अस्मिन्) इस लोक में हम (अनूनाः) कम रहित होवें
(परस्मिन्) पर लोक में (अनूनाः) हम अनूण होवें । तथा
(तृतीये लोके) तीसरे लोकमें (अनूनाः) शरणाहित (स्वाम)
होवें । (ये देवयानाः पितृयागाः च लोकाः) जो देवयान व पितृ-
याग मार्ग हैं, (सर्वान् पथः) उन सब मार्गों में (अनूनाः)
कम रहित हुए हुए (आ क्षियेम) विचरन करें ।

इस लोकमें दो प्रकारका श्रम है । (१) भौतिक धन, सेना
आदि आदि उपहार लेना । (२) वैदिक 'जायमानो ब्रह्मणस्त्रि-
भिर्भ्रवन्' आदिते । ब्रह्मचर्यमें ऋषियोंो दक्षिण देवैर्भ्यः प्रबधा

पितृभ्यः इति" (तै. सं. ६।३।१०-१५॥) अर्थात् तीन प्रकारका
वैदिक ऋण पैदा होते ही मनुष्य पर चउता है वह तीन प्रकारका
ऋण ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण है । ब्रह्मचर्यके पालनमें
ऋषिऋण उत्तरता है, यज्ञ करणसे देवऋण उत्तरता है तथा
संतनोत्पत्तिसे पितृऋण से मनुष्य मुक्त होता है । निम्न मंत्र
पितृयाग मार्गका उल्लेख करते हुए यह भी दर्शाते हैं, कि कौन
पितृयाग मार्गको जनता है और कौन नहीं ।

यं त्वा द्यावापृथिवी यं त्वापस्वष्टा यं रथा सुजनीमा
जजान । पन्थामनु प्र विद्वान् पितृयागं शुमद्रुमे समिधा
नो विभ्रादि ॥ ऋ० १०।२।३॥

हे अग्ने ! (यं त्वा) जिस तूझको (द्यावापृथिवी) दुर्लोक
और पृथिवीलोक क्रमशः अग्नि और आदि-य रूपमें पैदा करने
हैं और (यं त्वा) जिस तूझसे (आपः) जल विद्युत् रूपमें
पैदा करते हैं, और (यं त्वा) जिस तूझसे (सुजनीमा) उत्तम
उत्पादक (स्वष्टा) प्रजापति (जजान) उत्पन्न करता है, वह
तू (पितृयागं पन्थां) पितृयाग मार्गको (अनु प्र विद्वान्) अच्छी
प्रकारसे जानना हुआ (समिधानः) सुप्रज्वलित किया हुआ
(शुमद्रुम्) वीतिवाला होता हुआ (विभ्रादि) प्रशस्तमान हो ।

इस मंत्रमें अग्निको पितृयाग मार्गका जाननेवाला बताया
गया है । हम पूर्वोक्त निर्देश कर आए हैं कि अग्ने व विनरोंका
विशेष संबन्ध है । उन संबन्ध पर विशेष विचार लगे दिया
जायगा । अग्नीको छोड़कर और कौन पितृयाग मार्ग जानना है
वह निम्न मंत्र दिखाता है ।—

स य एवं विदुषा ब्राह्मणानसिष्टो जुहोति ।

प्र पितृयागं पन्थां जानति प्र देवयानम् ॥

अथर्व० १।५।१२।४ ५

(सः यः) वह जो (एवं) उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा
ब्राह्मणैः) विद्वान् सत्यजती अतिथिसे (असिष्टः) आज्ञा दिया
हुआ (जुहोति) होम करता है वह (पितृयागं पन्थां) पितृ-
याग न गे को (देवयानं) देवयान मार्ग को भी अच्छी प्रकार
जानता है । इसके पतिकूल—

अथ य एवं विदुषा ब्राह्मणानसिष्टो जुहोति ॥

न पितृयागं पन्थां जानति न देवयानं ॥

अथर्व० १।५।१२।८-९ ॥

जो उपरोक्त प्रकारसे (विदुषा ब्राह्मणैः) विद्वान् ब्राह्मणोंसे
(असिष्टः) न आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) होम करता

है । वह (न पितृयाण पन्थां प्रजानाति) न तो पितृयाण मार्ग को ही मन्त्री मांति जानता है और नहीं (देवयान) देवयान मार्गको व नता है अब पितृयाण मार्ग किसे प्रप नहीं होता यह नीचे दिया हुआ मंत्र बताता है । मंत्र इस प्रकार है—

देवपुत्रश्रुति मत्स्येण गरगीर्णो मवत्यरियमूयान् ।
यो ब्राह्मण देवबन्धु दिनस्ति न स पितृयागमप्येति
लोकन् ॥ अथर्व० ५।१८।१३४

(देवपुत्र गरगीर्ण मत्स्येण श्रुति) देवोंको हिंसा करनेवला जहर खाया हुआ मत्स्यमें विचरण करता है । वह (अरिय-भूयन् भवति) दृष्टियोंके बहुतायतबाला होता है, अर्थात् शरीर में मांसादिने न रहनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसके शरीरमें दृष्टया ही दृष्टया व और अतएव देखनेमें सिवाय दृष्टियोंके और कुछ नहीं दीखता । (यः) को (देवबन्धु ब्राह्मण दिनस्ति) देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी हिंसा करता है (सः) वह (पितृयाण लोक) पितृयाण मार्गको (अपि) म्नी (न एति) नहीं प्राप्त होता ।

इस प्रकार हमें इतने मंत्रोंसे पता चलता है कि पितृयाण एक खास मार्ग है जिससे कि पितृयाण एक लोकसे दूसरे लोकमें जाते जाते हैं । अब वह मार्ग कौनसा है यह मंत्र हमारे साम-न उपस्थित होता है । इस मंत्रपर थोडासा प्रकाश निम्न मंत्र ढाल रहा है । इस पर थोडासा प्रकाश अग्नि व पितरके प्रकरण में मां ढालगा । मंत्र इस प्रकार है—

आ भरते शिक्षत वज्रबहू अस्मो इन्द्राग्नी अवतं
शक्रोभिः । इमे तु ते रश्मय सूर्यस्य ते जि स्तपित्वं
पितरो न आसन् ॥ ऋ. १।१०१।७।

(वज्रबहू इन्द्राग्नी) बलवान् सुजाओंवाले इन्द्र और अग्नि (अस्मान् आमारत) हमारा अच्छी प्रकार माण करें, (शिक्षतं) शिक्षा दें, और (शक्रोभिः अवत) अपनी शक्तियोंसे हमारी रक्षा करें । (तु) निश्चयसे (सूर्यस्य इमे ते रश्मयः) सूर्य-की ये ते किरणें हैं (योभिः) जिनसे कि (न) हमारे (पि-तरः) पितर (सपित्व आसन्) सपित्व हैं ।

यहापर आया हुआ सपित्व शब्द बड़े महत्व का है । इसी पर थोडासा विशेष विचार करेंगे क्योंकि जो कुछ परिणाम निकलता जा सकता है वह इसीपर आश्रित ही सपित्व वि=गती धातुसे औणादिक त्वन् प्रत्यय करनेसे पित्व बनता है, 'समानं व तां पित्व च इति सपित्व' अथवा 'सह पित्वं सपित्व ।'

गतिके तीन अर्थ हो सकते हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति । इस प्रकार इस शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं । (१) सह गमन, (२) सहप्राप्ति (३) सहज्ञान । सहगमन और सहप्राप्तिमें विशेष भेद नहीं है क्योंकि सहगमन से सहप्राप्ति होती है । अब हमारे सामने दो पद टोप रहते हैं (१) सह-गमन वा सहप्राप्ति और (२) सहज्ञान । इन दो पदोंमें से कौनसा अर्थ लेना चाहिए यह विचारना है ।

निरुक्तकार वास्काचार्यने निरुक्त अ० ३, पाद ३, खण्ड १४ में 'कुहशिवरोषा कुहशस्ती रश्मिना' इत्यादि ऋ. १०।१४।२ ॥ की व्याख्या करते हुए 'कुहामि पित्व करतः' इस पद समुदाय में आए हुए अग्निपूर्वक पित्व शब्दका अर्थ 'प्राप्ति' ऐसा किया है । वे 'कुहामि पित्वं करतः' का अर्थ करते हैं 'कवामि प्राप्तिं कुर्य' ।

सादगाचार्य ने सपित्व का अर्थ 'सह प्राप्त्यर्थं स्थानं' ऐसा किया है । सह शब्द उपपदरसके 'आप्त्वा व्याप्तौ' धातुसे 'कृत्यार्थं तवै-कन्वेक्यत्वन, इस सूत्र 'त्वन्' प्रत्यय करके 'शुवादतादीनि ययोर देष्ट' से विभाव करके सपित्व सपित्व शब्द व्याकरणानुसार सिद्ध किया है । सादगाचार्य सपित्व का द्विदि अन्य रातिसेमी करते हैं । 'षप समवये, इस धातुसे 'इन् सर्वधातुभ्यः' से इन् करनेसे अपि शब्द बनकर, 'सपेमाव. सपित्व ।' अर्थ बही उपरोक्त ।

इन दो उपरोक्त आचार्यों के मतानुसार सपित्व का अर्थ सह-गमन वा सह-प्राप्ति है । हम ऊपर पितृलोक के मंत्रोंमें देख आए हैं कि पितर सुलोकमें पितृयाण मार्ग से जाते हैं । और यहा इस मंत्र में हम पाते हैं कि पितर सूर्यकिरणों के साथ जाते हैं और उनके साथ वहां पहुंचते हैं । अता इससे हम इस परिणाम पर पहुंच सकते हैं कि पितर पितृयाण द्वारा पितृलोक में जाते हैं और वह पितृयाण मार्ग संभव है 'सूर्य-किरणों' ही । इस पितृयाण मार्ग पर विशेष प्रकाश 'अग्नि व पितर इस प्रकरण में ढाल सकेगे ऐसी हमें आशा है । यहाँ पर यह संकेत रूपमें लिखा है । पितृयाण मार्ग विशेष विचारणीय है अत इसके विषयमें एकदम निश्चयपूर्वक कहना फटन है । पाठक गण इसपर विचार कर कुछ सहायता करेंगे तो अच्छा होगा !

२ पितरोंके कार्य ।

इस लेखमें पितरों के जो कार्य दर्शाए जायेंगे उसमें यह परिणाम कदापि नहीं निकालना चाहिए कि पितरोंके कार्यप्रदर्शक मंत्र इतने ही हैं और येही पितरोंके कार्य हैं । पितरोंके अन्य विशेष कार्य दर्शानेवाले और भी बहुतसे मंत्र हैं परंतु वे अन्य प्रकारोंके लिए अधिक उपयुक्त होनेसे उनको नहीं दिया जायगा ।

१ रक्षा करना ।

बदीरामवर उपरासं उन्मथ्यमाः पितरः सोम्यासः ।

बभ्रुं य ईपुरवृका ऋतृन्नास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥

ऋ० १०।१५१॥ मञ्ज० अ० १४४९ ॥

मयवे० १८।१४४

(सोम्यासः) सोम वंपादन करनेवाले (अथे उच्यते मथ्यमाः उच्यते परासः पितरः) कनिष्ठ, मथ्यम तथा बह्वृच पितर (उच्यते ईपुराम्) उन्नति करें । (ये अतृकाः ऋतृजाः) जिन ईश्वरहित शल्य वा यज्ञके जाननेवाले पितरोंने (अर्धुं ईयुः) प्रण, बल वा जीवनको प्राप्त कर लिया है (ते पितरः) वे पितर (हवेषु) संस्रामोंमें—युद्धोंमें वा डुल्राए जानेपर (नः अवन्तु) हमारी रक्षा करें ।

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितृन् ।

दद्यान् दद्यान्निष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥

अथवे० ८।११५॥

(गंधर्वाप्सरसः) गन्धर्व तथा अप्सराओंको, (सर्पान्) सर्पोंको, (देवान्) देवोंको (पुण्यजनान्) पुण्यजनोंको, (पितृन्) पितरोंको (दद्यान् दद्यान्) चाहे ये देखे हुए हों या न हों इन सबको (दद्यान्निष्णामि) प्राप्त करता हूं । (यथा) जिससे कि ये सब (अमूं सेनां) उस शत्रु सेनाको (हनन्) मार डालें—नष्ट कर दें ।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोपधीरुत वीरुचः ।

गंधर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितृन् ।

मवास्तां भवुंदे त्वमित्रेभ्यो ह्ये कुरुद्वारांश्च

प्रदर्शय ॥

अथवे० ११।१।२४

[वनस्पतीन्] वनस्पतियोंको, [वानस्पत्यान्] वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थोंको [औपधियों] औपधियोंको [उत] और [वीरुचः] लताओंको [गंधर्वाप्सरसः] गंधर्व तथा अप्सराओंको [सर्पान्] सर्पोंको [देवान्] देवोंको [पुण्यजनान्] पुण्यजनोंको (पितृन्) पितरोंको (तां सर्पान्) इन सबको

तथा [उदारान्] उदारोंको [भवुंदे] हे भवुं दे ! [एवं] [अमित्रेभ्यः] शत्रुओंको देखने लिए कर । अर्थात् इन्हें शत्रुओंको दिखा, ताकि ये शत्रुओंका विनाश करें । इनकी यातक शक्तिका उपयोग शत्रुओंके लिये हो ।

अर्बुदिका अर्थ एतरेय ब्राह्मणने इस प्रकार किया है— ' अर्बुदः काष्ठेयः सर्पंश्रयिः मंत्रकृत् ' [ऐ. भा. ६।१] अर्बुद नामका कोई सर्पंश्रयि या उसका पुत्र अर्बुदि । ' अतश्च ' इस सूत्रसे इत् । ' संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः ' इस नियमानुसार आदि वृद्धि न होकर अर्बुदि बनता है ।

साधनाचार्यने इसका अर्थ ' अंतरिक्षचर राक्षस व शिशाच ध्रुवा सूर्यरश्मिसे होनेवाले उल्कादि पात यानि आंतरिक्षेय इत्यात् ' ऐसा किया है । इस अर्थ की पुष्टि में उन्होंने तै० ब्रा० का प्रमाण दिया है कि ' तस्मात् ते पानान् उदारा अजायन्त ' तै० ब्रा० २।२।१।२ उच्यते आरयन्ति आर्ति उद्गावथन्ति इति उदाराः । ' वास्तु, उदार शब्द का कुछ भी अर्थ म. नः जाए तो भी हमारे उद्देश में उससे किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचती ।

इन उपरोक्त मंत्रों से स्पष्ट पता चलता है कि पितर युद्धमें हमारी रक्षा करते हैं । हमारे शत्रुओंसे लड़कर उनका विनाश कर हमें बचाते हैं । इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंकी युद्धविषयक रक्षाका विधान है । अब हम ऐसे मंत्र उप्यूत करते हैं कि जिनमें सामान्य रक्षा का विधान है ।

अवन्तु नः पितरः सुप्रवाचनाः उत देवी देवपुत्रे ऋता-
वृथा । रयं न दुर्गादसवः सुदानवो विश्वस्मान्मो अंहसो
निष्पिपतंत ॥ ऋ० १।१०।६।३॥

[सुप्रवाचनाः पितरः नः अवन्तु] उत्तम प्रवचन करनेवाले पितर हमारी रक्षा करें । (उत) और [देवपुत्रे ऋता-वृथा देवी] देव अर्थात् सूर्य व चन्द्रमा जिनके पुत्र—रक्षक हैं तथा जो सत्य से बढनेवालों हैं ऐसी यावापृथिवी भी हमारी रक्षा करें । हे [सुदानवः] उजम दानवाले [वसवः] वसुओं (दुर्गात् रयं न) दुर्गमनीय स्थानसे रथकी तरह (विश्व-रमात् अंहसः) सब पापों से [नः निष्पिपतंत] हमें निका लकर पालो ।

अवन्तु मामुपसो ज्ञायमाना अवन्तु मा
सिन्धवः पिन्वमानाः । अवन्तु मा पर्वतासो
ध्रुवासोऽवन्तु मा पितरो देवहृवी ।

॥ ऋ० १।५।२।४ ॥

[जावम नाः उपस मा अवन्तु] उपस होती हुई उपामे मेरी रक्षा करे । [पित्रमाना सिन्धव मा अवन्तु] जलका सिन्धव करता हुई न दीर्घ मरा रक्षा करे । [भुवाध. पर्वतास मा अवन्तु] निचल पर्वत मेरा रक्षा करे, और [देवहृती] देवों के अङ्गन करनेमें (पितर) पितृगण (मा अवन्तु) मरा रक्षा करे इस प्रकार इस मन्त्रमें पितरोंको देवोंके अङ्गन के काममें रक्षा करनेके लिए बटा गया है ।

इन्द्रधोयस्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रचक्षार वा रक्षैः पश्चात्पातु मनोजवास्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकर्मा त्वादिश्वरतरत पातिवदमन्मन्त्रवर्षहिर्दा पत्ना सि मृतामि ॥

७तु० ३० ५१११ ॥

(इन्द्रधोयस्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु) इन्द्रका भागी तैरी अग्नेय वसुओं द्वारा रक्षा करे । (प्रचेता रत्रे त्वा पश्चात् पातु) प्रचेता रुद्रद्वारा तैरी पछिसे रक्षा करे । (मनोजवा. पितृभिः त्वा दक्षिणत पातु) मनोजव पितरों द्वारा तैरी दक्षिण से रक्षा करे । [विश्वकर्मा अदित्यै त्वा उत्तरत पातु] विश्वकर्मा आदित्यों द्वारा तैरी उत्तरसे रक्षा करे । [अश्व] में [इद तत्त वा] यह गरम जल [यज्ञात्] यज्ञस [बर्हिर्दा] बाहिरकी ओर [पितृभिः] फेंकता हुआ पितर हमारी दक्षिण दिशासे रक्षा करते हैं, अर्थात् दक्षिण दिशासे आनेवाले सिन्धवों की पितर तर करते हैं, ऐसा इस मन्त्रसे सूचित होता है ।

निम्न मन्त्र यह दर्शाया गया है कि पितर किन किन कार्योंमें हमारा रक्षा करते हैं । मन्त्र इस प्रकार है—

पितर परे ते मावन्तु । अस्मिन् प्रहृष्यमिन् कर्मवत्स्वा पुरोधायामस्या प्रतिश्यामस्या चिायामस्यामाहृष्यामस्यामासिष्यस्या दवहृष्या स्वाहा ॥

अथर्व० ५१२४१५ ॥

[ते] वे [परे पितर मा अवन्तु] पूर्वकालीन वा सकृदपि पितर मरी निम्न कर्मोंमें रक्षा करे । [अस्मिन् प्रहृष्य] इस प्रहृष्यशब्दमें [अस्मिन् कर्मणि] इस कर्मवत्शब्दमें । [अस्यां पुरोधाय] इस पुरोधायक कार्य में [अस्यां प्रति श्याम्] इस प्रतिश्यामें । [अस्यां चिष्याम्] इस चिष्यायुक्त कार्योंमें । [अस्यां आहृष्याम्] इस आहृष्यायुक्त कार्योंमें । [अस्यां

असिषि] इस आसिष्यायुक्त कार्योंमें । [अस्यां देवहृष्यां] इस देवहृष्यायुक्त कार्योंमें [स्वाहा] ।

इस प्रकार हमें इन मन्त्रोंसे देखा कि कहां कौंसे पितर हमारा रक्षा का कार्य करते हैं । अब हम पितरों के अन्य कार्योंपर दृष्टि डालते हैं ।

२ सूर्य प्रकाश देना ।

अस्माकमत्र पितरो मनुष्या अभिप्रसेधुर्भूत-
मागुपाण । अस्मद्राज सुदुषा वने भन्त-
दुरात्रा भाजन्तुपसो हुवाना ॥

ऋ० ३।१।१३ ॥

[अत्र] यहां [अत्र आगुपाण.] वन वा सदनमें प्रभु करते हुए [मनुष्या पितर] मननमाल पितर [अभिप्रसेधु] प्रसन्न होते हैं, और अस्मद्राज (सुदुषा) भेषोंमें गमन करनेवाली, सुखसे कामनाओं को पूर्ण करने-वाली (उपस) उपाओं को (हुवाना) युक्तते हुए (वने भन्त) अन्धकारमें (उरान्) सूर्यकिरणोंको (वत् आजन्) प्राप्त करते हैं । अथवा अन्धकारमें सूर्य की दिशों में चले जाते हैं यानि सूर्यकिरणों द्वारा सर्वत्र प्रकाश करते हैं । एव इस मन्त्रमें पितरोंका सूर्य प्रकाश देना बताया गया है ।

अथा यथा न पितर परास प्रनासो अत्र ऋतमा-
गुपाणा । सुषोदयन् दीधितिमुक्थशास क्षामा
भिन्दन्तो अरणीरपमन् ।

ऋ० ३।२।१६ ॥ तथा यतु० अ० १।१।९९

यह मंत्र अथर्व में योद्धेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकारसे आया है ।

अथा यथा न पितर परास प्रनासो अत्र ऋतमाना ।
सुषोदयन् दीधयत अथशास क्षामा भिन्दन्तो
अरणीरपमन् ॥

अथर्व० १८।१२३

(यथा न, परासः प्रनासः पितर) जैसे हमारे अन्तःपुरा-
ने पितरों ने (ऋतमानुपाणा) सत्य वा यज्ञ को प्राप्त करते हुए (दीधिति) शुद्ध सूर्य किरणको (इत्) ही (अप-
न्) प्राप्त किया था और (उक्थशास) उक्थों से प्रशंसा स्वीकृत करते हुए (क्षामा = क्षाम) क्षयकारी अन्धकारको (भिन्दन्त) नष्ट करते हुए (अरणी) उपाओंकी किरणों-
को (अपमन्) प्रकाशित किया था, उसी प्रकार दे अग्ने !
तूमी कर ।

उक्त्य वेदों के खास सूक्तों का नाम है । ब्राह्मणों व उपनि-
षदोंमें उक्त्य शब्द प्रायःके लिए भी आता है । कहीं अत्र प्रजा
आदिके लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है । क्षामा = क्षाम ।
' संदितायां ' से दीर्घ हुआ हुआ है यद्यपि क्षाम शब्दका
पाठ निष्पद्युते पृथिवी वाचक नामों में किया है तथापि यहाँ
क्षाम शब्द का अर्थ प्रसंगसे ' अंधकार ' ही करना उचित
है और यही ठीक जंचता है । इसके अतिरिक्त इस त्रिभागमें
दिए गए सब मंत्रोंमें इसी अर्थको पुष्ट कर रहे हैं । पृथिवी
को भेदन करने का यहाँ कोई संबंध प्रतीत नहीं होता ।
अरुणोका अर्थ उपाःकालकी किरणों ऐसा है । ' अरुण्यः शिवः
उपसाम् ' अर्थात् उपाओंकी किरणोंका नाम अरुणो है ।
निष्पद्युः ११५॥

इसी प्रकार निम्न मंत्र भी उपरोक्त मंत्र के कथन को ही
पुष्ट कर रहा है—

त इदेवानां सप्तमाद् आपन्नृतावानः कवयः पर्यांसः ।

गूळं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्तस्यमत्रा अजन-

बन्मुपासम् ॥ क्र. ७।७।४।

(त इव अन्वितानाम्, कवयः पर्यांसः सप्तमंत्राः, पितरः)
वे ही सत्ययुक्त, क्रान्तदर्शी पूर्वकालीन, सत्य मंत्रणावाले पितर
(देवानां सप्तमादः आपन्नृ) देवोंके साथ मिलकर आनन्दित
होनेवाले ये कि जिन पितरोंने (गूळं ज्योतिः) छिपे हुए
प्रकाशको (अन्व अविन्दन्) प्राप्त किया और (उपांसं)
उपाओं (अजनयन्) उत्पन्न किया ।

इस प्रकार इस मंत्रमें भी पितरों के उपापैदा करके सूर्य
प्रकाश देनेकी बातको कहा गया है ।

वील्लु चिद्दहल्ला पितरो न उक्थैरदि रजन्नजितरसो
रवेण । चक्रुर्दिवो बृहतो गातुमस्मे अहः सः विविदुः

केतुमुखाः ॥ क्र. १।७।१।१॥

(नः आद्विगरसः पितरः) हमारे अद्विगरस पितरोंने
(उक्थैः) शस्त्रोंसे, (रवेण) और उक्त्य अर्थात् वेदके
स्तोत्रोंसे उत्पन्न घोषसे (वील्लु चिन्) बलवान् तथा (दहल्ला)
दह (अदि) मेघको (रजन्) तोड़ गिराया । अर्थात् वेद
मंत्रोंके पाठसे इतना बड़ा शब्द हुआ कि उससे बादल टूट कर
नीचे आगिरे और । तब (बृहतः दिवः गातुः) बड़े मारी
शुक्रोंके से मार्ग बनाया । और इस प्रकार (अस्मे) हमारे
लिए (स्वः अहःकेतुं) सुख से प्राणयोग्य सूर्यको तथा (उखाः)
सूर्यकिरणों का (विविदुः) प्राप्त किया ।

इस मंत्रमें उक्त्यों की महिमा का वर्णन किया गया है और
साथ ही में उन उक्त्यों की सदायतापुं पितरोंने हमारे लिए दिन
व सूर्य को प्राप्त किया जिससे कि हमें प्रकाश प्राप्त हो सके,
यह दर्शाया गया है । पितर बादलोंको दटाकर उन्हें छिन्न भिन्न
कर हमारे लिए सूर्यप्रकाश पहुंचाते हैं यह इससे स्पष्ट होता है ।
उपरोक्त मंत्रके इसी भावको निम्न मंत्र भी प्रकट कर रहा
है ।

स वर्धिता वर्धनः पूयमानः सोमो मीड्वौ अभि नो
ज्योतिषावीत् । येना नः पूर्वं पितरः पदज्ञाः स्वर्विदो
अभि गा अद्रिमुष्णन् ॥ क्र. १।५।३।१ ॥

(सः) वह (वर्धनः) बढ़ता हुआ (वर्धिता) बढ़ाने-
वाला (पूयमानः) पवित्र करता हुआ (मिड्वान्) सुख वा
कामनाओंका वर्षक (सोमः) सोम (नः ज्योतिषा अभि
आवीत्) हमारी प्रकाशसे चारों ओर से रहा करे । (येन)
जिस सोमसे कि (नः पदज्ञाः स्वर्विदः, पूर्वं पितरः) हमारे
परम पदको जाननेवाले पूर्व पितरोंने (गाः) किरणोंको (अभि =
अभिलक्ष्य उद्देश्य करके अर्थात् किरणों की प्राप्तिका उद्देश्य करके
अर्थात् किरणोंकी प्राप्तिका उद्देश्य करके (अद्रि उष्णन्)
मेघका अपहरण किया अर्थात् उसे दूर दटाया जिससे कि सूर्य
किरणोंके आनेमें रुकावट न हो ।

पूर्व मंत्रोंका भवको इस मंत्रमें भिन्न रूपसे दर्शाया गया है ।
उसी बातकी यह मंत्र पुष्टि करता है । ' स्वर्विदः ' का अर्थ है
सूर्य को जाननेवाले । सुलोक कोमो स्वः कहते हैं अतः सुलोक
को जाननेवाले भी अर्थ है । याज्ञवल्क्य भी यह अर्थ स्वीकार
करते हैं । उन्हींसे स्वः शब्दका निर्वचन निम्न अ० २। पा०
४। ख० १४ में निम्न प्रकारसे किया है—

"स्वः आदिलो भवति । सु अरणः, सु ईरणः, स्वृतो
रसान्, स्वृतो मांसं ज्योतिषां, स्वृतो मांसेति वा । एतेन
वैश्याख्याता । " अर्थात् स्व अदिशब्दका नाम है क्योंकि
यह सूर्य (सु-अरणः सु ईरणः) पूर्णतया अंधकार को दूर
भगानेवाला है ।

सु अर्=स्वः । अथवा ' स्वृतो रसान् ' यह रसोंके प्रति
प्रदणके लिए जाता है । सूर्यका रस लेना प्रसिद्ध ही है । सूर्यके
रस लेनेकी बातको कालिदासने रघुवंश में इस प्रकार कहा
है—

'सहस्रगुणसुखं आदरे' हि रसं रविः'

अर्थात् सूर्य हजार गुणा वापिस करनेके लिए रसोंको पृथिवी

परसे लेता है । सुपूवक ऋ गौ । सुभ्र = स्वः । अथवा 'रुतो भासं ज्योतिषा' अर्थात् चन्द्रादि प्रकाशमानोंको प्रकाशित करनेवाला । अथवा 'रुतो भासा' दार्ष्टिक्येण सुक होनेसे सूर्यका नाम स्वः है । इधीषे तुलोक वी भी व्याख्या होगई ऐसा समझना चाहिए ।

इस मंत्रमें पितरोंको सूर्यका जाननेवाला कहा गया है, अतः इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि संभव है पितर सूर्यलोकमें भी विचरण करते हों । पितरोंकी सूर्यसे घनिष्ठता प्रतीत होती है । इसके अतिरिक्त हमें पितृयाण के प्रकरण में एक ऐसा मंत्रभी मिला है जिसमें कि पितरोंकी सूर्यकिरणोंके साथ सहप्रणित व सहगमन बताया गया है । यहाँपर पितरोंको सूर्यको जाननेवाले बतलाया गया है । अतः इन दोनों बातों को लक्ष्यमें रखकर विचारने से ऐसा ज्ञात होता है कि पितर पृथिवी लोक से सूर्य किरणोंके साथ सूर्य लोकमें जाते हैं और वहाँसे फिर तुलोकमें स्थित पितर लोकमें जाते हैं । अतः संभव है यही पितृयाण मार्ग हो । उपरोक्त दोनों मंत्रोंके भावको निम्न मंत्र और भी स्पष्ट रूपमें गृह्य कर रहा है—

अभिहृषयं न कृत्वातेभिरद्वं नक्षत्रैभिः पितरो घाम-
विशन् । राधां तमो अद्भुज्योतिरहन् वृक्षस्पति-
भिनदग्निं विदद्राः ॥ ऋ० १०।१८।११ ॥ तथा

अथर्व० २०।११।११

(वृक्षस्पतिः अग्निं भिनत्) जब वृक्षस्पतिने मेघको तोड़ गिराया और (याः विदत्) सूर्य किरणोंको प्राप्त किया तब (कृद्योतिः द्यावं अद्वं न) जैसे सुवृषके अलंकारोंसे काले घोड़ेको सोभायमान किया जाता है वैसे (पितरः) पितरोंने (नक्षत्रैभिः यां अभ्यञ्चन्) पितरोंने नक्षत्रों द्वारा तुलोकको दौंष्ट किया व सोभायमान किया । और फिर (राधां तमः अद्भुः) रात्रिमें अंधकारको रखा तथा (अहन् ज्योतिः अद्भुः) दिनमें प्रकाशको स्थापित किया । अतएव दिनमें प्रकाश होता है और रातमें अंधेरा । इस प्रकार इस मंत्रमें ' प्रकाश व अंधेरा पितर करते हैं ' यह दर्शाया गया है ।

आविरभूग्महि मावोनेमेषां विश्वं जीवं तमसो
निरमोचि । महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागाद्गुरुः
पन्था दक्षिणाया अदर्शि ॥ ऋ० १०।१०।७ ॥ १ ॥
[एयां माषोनें महि आविरभूत्] इन पितरोंका मघवा संबंधी महान् प्रकाश प्रकट हुआ, और प्रकट होकर उसने [विश्वं जीवं] सारे संसारकी तमसः निरमोचि] अंधकारसे

छुड़ाया । [पितृभिः दत्तं महि ज्योतिः आयात्] वह पितरोंसे दिया हुआ प्रकाश आया और आकर उसने [दक्षिणायाः पन्थाः अदर्शि] दक्षिणा का विस्तृत मार्ग दर्शाया ।

' माषोने ' का अर्थ है मघवा अर्थात् इन्द्र संबंधी प्रकाश सूर्यको वैश्व माघमें इन्द्र संज्ञा होता है अर्थात् सूर्य वैश्वमाघमें इन्द्र कहलाता है । अतएव माषोनें का यहाँ अर्थ सूर्यका प्रकाश ऐसा किया है । इसके अतिरिक्त प्रकृत प्रकरण में इधी अर्थको पुष्ट करता है ।

इस मंत्रमें पितरोंके प्रकाश देनेके महत्त्वको दर्शाया गया है इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हमें स्पष्ट पता चलता है कि पितरोंका काम उषाओंका उत्पन्न करना, अन्धकारको दूर करके सूर्यप्रकाश प्राप्त करना, तथा बादलोंको तोड़ फोड़कर उनसे छिपे हुए प्रकाश को प्राप्त करना है । तुलोकको नक्षत्रोंसे सुशोभित करके दिनरात बनानामी पितरोंका कार्य है । इस प्रकार पितर सूर्यप्रकाश प्रदाता है यह हमने देखा ।

३ पापसे छुड़ाना

अरायान् भूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितृन्
मृपूनेकशतं भूमस्ने नो मुन्धन्मवंहतः ॥

अथर्व० ११।१।१६

[अरायान्] न दान देनेवालोंको, [रक्षांसि] राक्षसोंको, [सर्पान्] सर्पोंको, [पुण्यजनान्] पुण्यजनोंको और [पितृन्] पितरोंको [भूमः] कहते हैं तथा [एकशतं] मृत्युन् एक सौ मृत्युओंको [मृपूः] कहते हैं कि [ते] से सब [नः अंधः] हमें पापसे [मुन्धन्तु] छुड़ावें । यहाँपर अन्धोंके साथ पितर भी पापसे छुड़ाते हैं यह दर्शाया गया है ।

४ सुख व कल्याण करना ।

विधामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव
शर्दिनो अश्रितमनीश्रमोनिः सुसंज्ञासः पितरो मूढतामः ॥
अथर्व० १८।१।१६

हे (विश्वामित्र) सबके मित्र, (जमदग्ने) हे अग्निके प्रकाशक, (वसिष्ठ) हे अतिशय श्रेष्ठ, (भरद्वाज) हे अन्ध-बल धारक, (गोतम) हे उत्तम स्तोता, (वामदेव) हे प्रबंधनीय व्यवहारवाले, (सुसंज्ञासः) उत्तम तथा स्तुति करने योग्य (पितरः) पितरों ! तुम (नः मूढत) हमें सुखी करो क्योंकि (शर्दिः अग्निः) वहकिदिष्ट अग्निने (नमोभिः)

अत्रोष्ठे इमें (अग्रमात्) प्रश्न किया है अर्थात् वह हम अत्र देता है ।

अथवा सर्दिः = छर्दिः = घर । सर्दिः का अर्थ घर करने पर छर्दिः का विभक्ति व्यत्यय करना पड़ेगा । सर्दिः = सर्दिम् । इस अवस्था में तृतीय पाठका अर्थ होगा कि " क्यों कि आग्निने हमारे घरोंको अर्थात् मरुद्विद्या है, अतः हे उपरोक्त विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखा करो । " अत्रिका ० अर्थ है जिसके अर्थों ताप नहीं रहे । (निघ० ३ । १७) इस मंत्रमें विधान-मित्र, अमशमि आदि शब्द पितरों की विशेषता दर्शाते हैं ।

सं नः सत्यस्य पठयो भवन्तु श्री नो अर्चन्तः शसु सन्तु गावः । सं नः अमशः सुहृवः सुहस्ताः सं नो भवन्तु पितरो हवेसु ॥ ऋ० ७।३।५।१२

तथा अथर्व० १५।१।१११

(अथर्वस्य पठयः) सत्य की रक्षा करनेवाले (नः सं भवन्तु) हमारा कल्याण करें । और (अर्चन्तः नः सं) घोड़े हमारे लिए कल्याणकारी हों । (व) और (गावः सं सन्तु) और हमारे लिए कल्याणकारी हों । (सुहृवः सुहस्ताः अमशः नः सं) श्रेष्ठ कर्मवाले कार्यकुशल कारीगर लोग हमारे लिए कल्याणकारी हों । (हवेसु) गुलाब जलिन (पितरः नः सं भवन्तु) पितर हमारा कल्याण करें ।

ऋतु का अर्थ नियष्टुमें मेधावी जन व कारीगर ऐसा है । (निघण्टु ३ । १५ ।)

५ गर्भ धारण करना

अरुहचतुशसः पृथितरमिय उक्षा विमर्ति सुवनामि चात्रयुः । मायाविनो मनिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भमाद्भुः ॥ ऋ० १।८३।१

(अमियः) अग्रणी - सुख - प्रसिद्ध [उषसः पृथितः] उषसे संबन्ध रखनेवाला सूर्य [अरुहचत्] सबको प्रकाशित करता है । [चात्रयुः] मृतजातके लिए अन्नही कामना करता हुआ अत्सव, [उक्षा] अलोक्य विचन करनेवाला सूर्य [सुवनामि विमर्ति] सुवनों का धारण पेशण करता है । [अस्य मायया] इसकी मायासे [मायाविनः] मायावीगण [मनिरे] पदार्थोंका निर्माण करते हैं और [नृचक्षसः पितरः] गर्भ आशुयः] मनुष्योंके देखनेवाले पितर गर्भ का धारण करते हैं ।

यहां सूर्यकिरणों को पितर कहा गया है ऐसा प्रतीत होता है । सूर्यकिरणें अलको अपने गर्भमें धारण करती हैं । सूर्यका

किरणोद्गाता अल ऊपर ले जाकर पुनः वृष्टिके समय बरसना प्रसिद्ध ही है ।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारेण पुष्करस्रजम् । यथेह पुरुषोऽसत् ॥ यतुः अ० १।३३ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [पुष्करस्रजं कुमारेण गर्भं आधत्त] पुष्करस्रज् कुमारेको गर्भमें धारण करो । [यथा] जिससे कि [इह पुरुषः असत्] यहाँ यह पुरुष बन जाये ।

इस मंत्रपर भाष्य करते हुए उवदाचार्य तथा महाधराचार्यने पुष्करस्रज् कुमारेका अर्थ अश्विनो कुमार जोकि देवोंके वैद्य हैं उनकासा सुन्दर कुमार ऐसा किया है । पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि देवोंके वैद्यकासा सुन्दर पुत्र उत्पन्न करो । स्वामी दयानंदजी ने इस मंत्रपर भाष्य करते हुए पुष्करस्रज् कुमारे का अर्थ ' विद्याग्रहणार्थं फूलकी माला धारणा किया हुआ कुमार ' ऐसा किया है । इस अर्थानुसार यह मंत्र विद्याभ्यासके प्रारंभके समयका वर्णन करता है, ऐसा प्रतीत होता है, तथा इससे निम्न परिणाम निश्चाले जा सकते हैं -

१ यहाँ आचार्यों के लिए पितृ शब्द का प्रयोग किया गया है ।

(२) विद्याभ्यासके प्रारंभ करनेके लिए शुभके पाठ जाते हुए विद्यार्थी को फूलोंकी माला अपने गलेमें बालकर जाना चाहिए ।

(३) बहुवचनान्त पितृशब्द एवही समयमें एक शिष्य के अनेक आचार्यों का होना दर्शाता है ।

पाठकों के धामने हमने दोनों भाष्योंका दिग्दर्शन करा दिया है । इस पर विशेष विचार पाठक स्वयं करें ।

६ पितरोंका संतति बढ़ाना आदि

द्विधा सूतधोऽसुरं स्वविदमत्याययन्त तृतीयेन कर्मणा । स्वा प्रजां पितरः पित्र्यं सद्य आधरे - प्वद्रघुस्तन्तुं आततम् ॥ ऋ० १०।५।१६

[सूतवः] आदित्यके पुत्र देवोंने [असुरं स्वविदं] बलवान् सु लोकेको जाननेवाले आदित्यकी (तृतीयेन कर्मणा) प्रभौ-रतः नमक तीर्थे कर्मसे (द्विधा) दो प्रकारका अन्त ब्रह्मदत्तका (-अस्यापयन्त) स्थापित किया । (पितरः) पितरोंने (स्वां प्रजां) अपनी प्रजाको उत्पन्न करके (अथरेषु पित्र्यं सद्यः आदयुः) आनेवाली संततिमें पौत्रिक देवबल स्थापित किया और इस प्रकार (उन्तुं आततं) संतति को विस्तृत बनाया ।

विनर संतति षडाक्षर उषमं वैशिक तेन स्थापन करते हैं,
ऐसा इस मंत्रमें बतलाया गया है ।

७ मनके प्रत्यावर्तन अर्थात् पुनर्जननमें पितरोंकी सहायता !

पुनर्नः पितरो मनो ददातु देव्यो जनः
जीवं मार्तं सचेमहि ॥

ऋ० १०।५७।५ तथा यजु० ३।५५

[नः पितरः] हमारे पितर तथा [देव्यो जन] देवोंका
सप [पुन न मनः ददातु] फिरसे हमें मनको देवे । हम
(जीवं मार्तं सचेमहि) प्राणादि इन्द्रियसमूहको प्राप्त करें ।

जन शब्द यह संघके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ है । यह मंत्र
पुनर्जननपर प्रकाश कालताहुआ पितरोंका मनोदि इन्द्रियोंके
देनेमें प्रहायक होना दर्शा रहा है ।

मनोन्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन

पितृणां च मन्मभिः ॥ ऋ० १०।५८।३

यह मंत्र थोड़ेसे पाठभेदसे यजुर्वेदमें निम्नप्रकारसे आया
हुआ है—

मनोन्वा ह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन

पितृणां च मन्मभिः ॥

यजु० अ० ३।५३

हम [नाराशंसेन सोमेन] नर जिसकी प्रशंसा करते हैं
ऐसे सोम [चंद्रमा] से [च] और [पितृणां मन्मभिः]
पितरोंके मनन करने योग्य स्तोत्रोंसे [नु] निश्चयसे [मनः]
मनको [आ हुवामहे] जुलाते हैं ।

यजुर्वेदमें ' सोमेन ' के स्थानमें ' स्तोमेन ' ऐसा पाठ है ।
वहापर ' स्तुतिवोधसे ' ऐसा अर्थ होगा । मनकी उत्पत्ति सोम
अर्थात् चन्द्रमासे है यह हमें पुरययूक्त [यजु० अ० ३।५]
से पता चलता है । यहापर मनके प्रत्यावर्तनमें सोम व पित-
रोंकी स्तुतिवोधसे साधन बताया गया है । उपरोक्त दोनों मंत्रोंमें
मनकी पुनः प्राप्ति पितरों द्वारा होती है यह स्पष्टतया दिखाया
गया है ।

८ पितरोंके स्तोत्र ।

तम्यु सभना गिरा पितृणां च मन्मभिः

नाभाकस्य प्रशास्तिर्निर्वः सिन्धूनामुनो-

दये सप्तस्वसा मप्यमा नम-वामन्यके समे ॥

ऋ० ८।४।२॥

[तं च समानया गिरा] उस वदनकी समान स्तुतिसे [च]
और [तम्युनां मन्मभिः पितरोंके मननीय स्तोम अर्थात् स्तुति-
वोध तथा [नाभाकस्य प्रशास्तिभिः] नामाकके प्रशंसापरक
स्तोत्रोंसे [सिन्धुभिर्दोमि] अच्छी प्रकार स्तुति करता हूँ । [य-
जो] मप्यमः] मप्यम वदन [१-१२५] वप उदवे सप्त स्वसा]
नदियोंके उद्गम स्थानमें घात शक्तिवाला है । [समे] सर
[अन्यके] जो हमसे द्वेष करते हैं, ऐसा दुष्टदुष्टिबल-पापवु-
धाले पापसंस्कार [नमन्तां] न रहें ।

इस मंत्रसे हमें पता चलता है कि पितरोंके कोई खास स्तोत्र
है। वे स्तोत्र अपना विशेष परिणाम रखते हैं ऐसा नीचे दिए
जानेवाले मंत्रसे प्रतीत होता है—

यह मंत्र विशेष विचारणीय है । उपरोक्त मंत्रकी व्याख्या
निरुक्तकार वास्वदेवाचार्यने अपने निरुक्तमें इस प्रकारकी है
' तं स्वभिर्दोमि समानया गिरा गीत्या स्तुत्या वितृणां
च मननीयैः स्तोमैः, नाभाकस्य प्रशास्तिभिः ।
ऋषिर्नामाको बभूव । यः सगन्दमानानामुनोदये सप्त
स्वसारमेनमाहवाभिः । स मप्यमः इति निरुच्यते ।
अथैव एव भवती । नमन्तामन्यके समे, भुवश्चन्यके समे
येनो द्विपत्तिं दुषिष्याः पावधिय-पापसंस्कराः ॥

निरुक्त १०।५

हमने जो ऊपर अर्थ किया है वह निरुक्तानुसार ही
किया है ।

नामाक सापेके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे तथा पितरोंके मन-
नीय स्तोत्रोंसे वदनकी स्तुति करनेसे पाप-संस्कार नष्ट होते हैं
अर्थात् पितरोंके स्तोत्र पाप संस्कारोंको दूर करनेमें सहायक हैं,
यह इस मंत्रके कथनका अभिप्राय प्रतीत होता है । इसके विवाय
पितरोंकी स्तुतिवोधसे और क्या विशेष लाभ है यह निम्न मंत्र
दर्शाता है—

स्वहे यत् पितरदिचक्र इन्द्र विश्वा वाम क्षरितारो
असन्वन् । स्वे गावः सुदुघास्त्वे ह्यसास्त्वे वसु देवपते
वानिष्ठः ॥ ऋ० ७।१८।१॥

हे इन्द्र ! (स्वे) तेरेमें (क्षरितारः नः पितरः विश्वा=वे-
श्वानि वामः=वामानि) स्तुति करते हुए हमारे पितरों ने क्षरि
प्रशंसीय पदार्थों वा धनो को (अशन्वत) प्राप्त किया ।
(यत्) क्यों कि (स्वे सुदुघाः गावः) तेरे पास सुखसे दोही
जानेवाली गौरें हैं । (स्वे अश्वः) तेरे पास घोड़े हैं और
साय ही तू (हि) निश्चयसे (देवपते वसु वानिष्ठः) कामनी

करनेवाले के लिए या स्तुति करनेवालेके लिए धनका संमाजक अर्थात् विभाग कर के देनेवाला है ।

इस मंत्रमें यह बताया गया है कि पितरोंने स्तुति करके सब कुछ प्राप्त किया और जो कोई अन्य चाहे तो वह भी स्तुति करके प्राप्त कर सकता है । पितरोंकी स्तुतिका फल यहाँपर दिखाया गया है ; अब कुछ ऐसे मंत्र नीचे दिए जाते हैं जिनमें से कि प्रत्येक मंत्र पितरों के मित्र मित्र कार्योंका उल्लेख है ।

पितरोंसे दीर्घायु ।

वर्षमा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मनुजः
घृतेन । च्युषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं
वर्धन्तु ॥ अयर्थ० १८६।१०

[सोम्यासः पितरः मां वर्षमा अञ्जन्तु] घीम संपादन करनेवाले पितर मुझे तेजसे व्यक्त करें । [देवाः मनुजा घृतेन] देव मुझे माधुर्यसे घृत से व्यक्त करें । [च्युषे मां प्रतरं तारयन्तः] देखने के लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, [जरदष्टिं मां] त्रिषका खान पान शिथिल हो गया है ऐसे मुझको [जरसे] इलावस्या तक [वर्षन्तु] बर्षों अर्थात् त्रिषक मुझसे छाने पीनेकी शक्ति जोग हो जाती है उसमुझसेतक मुझे पहुँचाएँ । दशांभव दीर्घायुवाला मुझे बनाएँ, उससे पूर्व मैं शीघ्र न होऊँ ।

इस मंत्रमें पितरों से दीर्घायुके लिए कहा गया है । दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णावस्थातक पहुँचानापितरों का कार्य है ।

पुनन्तु मा पित्राः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः ।
पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण घातायुषा । पुनन्तु मा
पितामहाः पुनन्तु पपितामहाः । पवित्रेण घातायुषा
विश्रमापुर्व्यवत्वे ॥ यजुः अ० १५।३७

[सोम्यासः पितरः मा पुनन्तु] घीम संपादन करनेवाले पितर मुझे पवित्र करें । [पितामहाः मा पुनन्तु] पितामह मुझे पवित्र करें । [प्रपितामहाः] प्रपितामह मुझे पवित्र करें । [पवित्रेण घातायुषा] पवित्र शी वर्ष की आयुसे । अर्थात् ये उपरोक्त पितृगण मुझे पवित्र शी वर्ष की आयु दें ! मेरा शी वर्षका जीवन पवित्रतापूर्वक स्वर्गात् हो, और इस प्रकार पवित्रतासे आयु स्वर्गात् करता हुआ [विश्रमापुर्व्यवत्वे] सम्पूर्ण आयु की जितनी कि मनुष्य की हो, उतनी है, प्राप्त करे । पवित्रतापूर्वक जीवन स्वर्गात् करनेसे ही पूर्णायु भोगी या सकता है, अन्यथा नहीं ।

११ (अ. सु. भा. कं. १८)

निम्न मंत्रसे ऐसा अर्थात् होता है कि पितर मृतको पुनरुज्जीवित करते हैं । मंत्र इस प्रकार है ।

यस्ये अह्यं प्रतिदितं पराचैरवानः प्राणो य उ वा ते
परेतः तस्य संगरय पितरः सनीढा घासाद् पासं
पुनरावेदान्तु ॥ अयर्थ० १८१।२६

[ते यत् अह्यं पराचैः प्रतिदितम्] तेरा जो अंग उलटा होकर हट गया है, और [यः ते प्राणः, अवानः परेतः] जो तेरा प्राण वा अंगन दूर चला गया है, शरीर से निकल गया है, [तत् ते] उस उपरोक्त तेरे अह्य वा प्राण या अंगन को [सनीढाः पितरः] साथ रहनेवाले पितर [संगम्य] मिलकर [घासाद् घासं इव] [यदां लुप्तोपमा प्रतीत् होती है] जैसे घाससे घास बांधी जाती है, उसी प्रकार [पुनः आवेशयन्तु] फिर प्रविष्ट करावे अर्थात् फिरसे प्राण अंगन आदि तुझे दें, यानि पुनरुज्जीवित करें ।

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है । वह उस हालतमें शव वा मृत देह कहलाता है । इस मंत्रमें निकले हुए प्राणों का पुनः समावेश करनेका वर्णन है । इससे मृत को पुनरुज्जीवित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है । इस के विषय कोई शरीर का अवयव उलटा हो गया हो वा हट गया हो, तो उसे भी पितर ठीक ठीक बसाएषान बैठाने हैं ऐसा ज्ञात होता है ।

सायणाचार्य ने 'घासाद् घासं' का अर्थ इस प्रकार किया है- 'अपते मुज्यते अशिमक्षिति घासः । भोगायतनं शरीरम् । घासाद् भोजनाधिकरणशरीरात् घासं अन्वत् शरीरं पुनः आवेशयन्तु ।' अर्थात् त्रिषके खान्ये अर्थात् उसका नाम है घास । भोगायतन शरीरका नाम घास है, क्योंकि इसमें भोग भोगे जाते हैं । अतः घासात् अर्थात् भोजनाधिकरण शरीरसे घास मानि दूसरे शरीरको फिर देते हैं । मरने के बाद एक शरीर छुटकर दूसरा शरीर देते हैं वह अभिप्राय है ।

इस प्रकरण में संक्षेपसे इतना ही पितरों के कार्यों के विषय में लिखना पर्याप्त है । इसके अतिरिक्त अन्य पितरों के कार्य दर्शानेवाले मंत्र अन्य प्रकरणों में यथास्थान दिये जाएंगे । उनका यहाँ उपयुक्तता अधिक होनेसे यहाँ पर के नहीं दिये हैं ।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।

इस प्रकरण के हम दो विभाग करेंगे । प्रथम विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि पितरों के लिए दान, नमस्कार, स्तुति आदि उल्लेख वर्णन है । द्वितीय विभाग में पितरों के

लिए वह ऋषि पितरोंस यज्ञ का सम्बन्ध दर्शानेवाले मंत्रोंका उल्लेख करेंगे । इस दूसरे विभाग का शार्पक 'पितर और यज्ञ' होगा । प्रथम विभागमें छोटे छोटे कई शार्पक होंगे । इस विभाग का साम्राहिकरूपसे शार्पक देखा कठिन है ।

१ पितरों के लिए नमस्कार ।

'नमः' का अर्थ अक्षमा होता है, परन्तु पितरोंके लिए आये हुए 'नमः' का अर्थ नमस्कार ही है, क्योंकि कि पितरोंके अक्षमा खस नाम 'स्वधा' है और अतएव वहां पितरोंके लिए अक्ष अक्षेपत जाता है वहां स्वधा का प्रयोग होता है ।

इद पितृभ्यो नमो अक्षवध य पूर्वसो य अपरास ईयु । य पार्थिव रजस्यानिपत्ता ये वा नून सुष्टुजनासु विक्षु ॥
अ० १०।१५।२ ॥ तथा यज्ञ अ० ११।६८

यहा मत्र अक्षवं में योद्धे पाठमस्ते निम्न प्रकारसे है—
इद पितृभ्यो नमो अक्षवध ये पूर्वसो य अपरास ईयु ।
य पार्थिव रजस्यानिपत्ता ये वा नून सुष्टुजनासु विक्षु ॥
अथर्व० १०।१५।२

(ये) जो कि (पूर्वास) पूर्वकाली- पितर [ईयु] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जा कि [अपरासः] अर्थात्-चीन कालक पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हैं; [पितृभ्यः] अथ इद नम अस्तु] उन पितरोंके लिए आज यह नमस्कार है । [ये पार्थिवे रजसि आनिपत्ता] और जो कि पितर प्रायैवी लोकपर स्थित हैं (वा) अथवा (ये) जो कि [नून] निश्चय [सुष्टुजनासु विक्षु] उत्तम बल वा धन युक्त प्रजाओंके । स्थित हैं उन पितरोंके लिए भी नमस्कार हो । अथर्ववेदमें विष्णु के स्थान पर विक्षु पाठमद है । वहापर ' ये वा नून सुष्टुजनासु विक्षु ' का अर्थ एसा हागा—'अथवा जो कि पितर निश्चय के उत्तम बलवाली दिशाओंमें स्थित हैं ।'

नमो यमाय नमो अस्तु मत्स्यवे सम पितृभ्य उत ये नयन्ति । उत्पारणस्य यो वेद तमन्ति पुरो दुधे स्मा अरिष्टवातये ॥

अथर्व० ५३०।१२

[यमाय नम अस्तु] यमके लिये नमस्कार हो। [मत्स्यवे नम] मत्स्यके लिए नमस्कार है । [पितृभ्यः नम] पितरोंके लिए नमस्कार हो । [उत ये नयन्ति] और जो कि ले चलते हैं अर्थात् जो नायक (Leaders) हैं उनके लिये भी नमस्कार है । [य उत्पारणस्य वेद] जो उत्पारण अर्थात् पार लगानेके

उपाय वा मार्ग को जानता है (त अग्नि) उध अग्नि को (अग्नि अरिष्टवातये) इस जंबके कन्याण क विस्तार के लिए (पुरो दुधे) आगे रखता हू अर्थात् उस ऐसी जगिको सदा में अपने साथेन धारण करता हू ।

यदा गार्हपत्यमसपयैव पूर्वमग्निं वपूरीयम् ।
अथा सरस्वत्ये नारि पितृभ्यश्च नमस्कुक्लुः
अथर्व० १५।२।२०

(यदा पूर्वं इय वधु गार्हपत्य अग्निं अक्षपयैव) जब पहिले यह वधु गार्हपत्य अग्नि का पूजा करे [अथ] तब उसके बाद (नारि) हे नारी ! तू [सरस्वत्ये पितृभ्य च] सरस्वती व पितरोंके लिए [नमः कुक्लुः] नमस्कार कर ।

इस प्रकार हमने देखा कि इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंके लिए नमस्कारका विधान है ।

२ पितरोंके लिए स्वधा ।

अग्ने वाजजित्वा वाजन्त्वा सारिष्यन्त वाजजित्वा सम्प्राप्तिं नमो देवेभ्य स्वधा पितृभ्य सुयमे मे भूयास्तम् ॥ यज्ञ० अ० २।५ ॥

[वाजजित्वा अग्ने] हे अक्षको जीतनेवाली अग्नि ! [वाज सारिष्यन्त त्वा] अक्षके प्रति जाती हुई तुझको, (स सम्प्राप्तिं) शुद्ध करता हू । [देवेभ्य नम] देवोंके लिये नमस्कार हो । तथा (पितृभ्यः स्वधा) पितरोंके लिये स्वधा हो । [मे] मेरे लिए [सुयमे भूयास्तम्] नमः और स्वधा बल व पराक्रम देनेवाले हो । अथवा मनः और स्वधा, मुझे नियममें रखनेवाले हो ।

यथायं देवोंके लिए नम और पितरोंके लिए स्वधा का निर्देश है । 'वाज सारिष्यन्त त्वा सम्प्राप्तिं' से पता चलता है कि अक्ष पक्षिकोंके लिए शुद्ध अग्नि का ही प्रयोग करना चाहिये । अशुद्ध बलि अक्ष पक्षिकोंके लिए अनुपयुक्त है ।

पितृभ्य स्वधायिभ्य स्वधा नमः । पित्ता मह्य्या स्वधायिभ्य स्वधा नमः । प्रथिता मह्य्या स्वधायिभ्य वधा नमः । अश्रन् पितरोऽमीमदन्त पितरोऽपीहृपन्त पितर ॥

पितर शुन्धयश्चम् यज्ञ० अ० ११।६।५

[स्वधायिभ्यः पितृभ्यः] स्वधा प्राप्त करनेवाली अक्ष [स्वधाव] है ऐसे पितरोंके लिए [स्वधा] स्वधा और नमस्कार हो । [स्वधायिभ्यः पितामह्य्या स्वधा नमः] स्वधा लेनेवाले पितामह्योंके लिये स्वधा और नमस्कार हो ।

[स्वधायिभ्यः प्रपितामहेभ्यः स्वधा नमः] स्वधा लेनेवाले प्रपितामहोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो । [पितरः] हे पितृ गणो ! [अक्षन्] उस स्वधाको खाओ [पितरः] हे पितरों! [अममिदन्त] उस स्वधाको खाकर आनन्दित होओ । [पितरः] हे पितरों उस स्वधाको खाकर [अतितृप्त] अत्यन्त तृप्त होओ । [पितरः ह्युत्पन्नम्] हे पितरों शुद्ध होओ । इससे स्पष्ट है कि पितरोंका स्वभाव ही स्वधा खानेका है ।

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये ।

तेषां लोकः स्वधानमो यतो देवेषु कल्पताम् ॥

यजु० अ० ११।४५

[यमराज्ये] यमके राज्यमें [ये पितरः समानाः समनसः] जो पितर समान तथा समनस अर्थात् एक विचार वा संकल्पवाले हैं, [तेषां लोकः स्वधा नमः यज्ञः] उन पितरोंका लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ [देवेषु कल्पताम्] देवोंमें समर्थ होते ।

व्याकरोमि हविषामहेतौ तद्गन्गा यज्ञं कल्पयामि ।

स्वधां पितृभ्यो अजरां क्रुगोमि दीर्घेषामुषुषा

समिमान्स्वजामि ॥ अथर्व० १२।२।३२

मैं [एतां] इन दोनोंको [हविषा] हविषा [व्याकरोमि] प्रथिद्ध करता हूँ । [तौ अहं] उन दोनोंको मैं [गन्गाया विरु-स्ययामि] गन्गाया विशेष सामर्थ्यवान् बनाता हूँ । [पितृभ्यः स्वधां अजरां क्रुगोमि] पितरोंके लिये स्वधाको अक्षय्य करता हूँ । [इमान् दीर्घेषामुषुषा] इन्हें दीर्घायु द्वारा [संष्टयामि] संतुष्ट करता हूँ अर्थात् इन्हें दीर्घायु देता हूँ । इस मंत्रमें पितरों के लिये अक्षय्य स्वधा का वर्णन है ।

स्वधाकरणे पितृभ्यो यज्ञेन देवताम्यः ।

दानेन राजन्यो वशाया मातृहृदं न गच्छति ॥

अथर्व० १२।४।३२

[पितृभ्यः स्वधाकरणे] पितरोंके लिए स्वधाकारसे अर्थात् स्वधा देनेसे और [देवताम्यः यज्ञेन] देवताओंके लिये यज्ञ करनेसे तथा [दानेन] दान करनेसे [राजन्यः वशायाः मातृः हृदं न गच्छति] क्षत्रिय वशामाताके तिरस्कारको प्राप्त नहीं होता । यज्ञां पर स्वधाका महत्त्व दर्शाया गया है । पितरोंके लिये स्वधान देनेसे वशामाता सुखे होती है। स्वधा न देने वालेका वह तिरस्कार करती है ।

एतत् तं प्रवतामह स्वधा ये च स्वामनु ॥

अथर्व० १८।४।७५

हे [पतितामह] प्रतितामह ? [ते एतत्] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [स्वधा] स्वधा होवे । [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो ।

तत शब्द पितृवाचक है । इसमें निम्न ऐनरेय आ० का प्रमाण है—'एतां वाव प्रजापतिः प्रथमां वाचं व्याहरद् एकाक्षरं द्वयक्षरां तदेति तातेति । तयैतैतत् तववत्या वाचा प्रतिपद्यते ।' इति ऐ० आ० १।२।३ ॥ आश्वलायनने भी 'अपने पितरोंका नाम न जानता हुआ पुत्र तत शब्दका प्रयोग करे' इस आशयवाला सूत्र बनाया है—'नामान्यविद्वैस्तत पितामहप्रपिता-मेहेति' आश्व० २।६ ॥ इस मंत्रमें प्रपितामह के लिए स्वधाका विधान है ।

एतत् ते तवामह स्वधा ये च स्वामनु ॥

अथर्व० १८।४।७६

[तवामह] हे पितामह ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [हवि] स्वधा होवे । [ये च त्वां अनु] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे ।

एतत् ते तव स्वधा ॥ अथर्व० १८।४।६७ ॥

हे [तत] पिता ! [ते एतत् स्वधा] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे । इन उपरोक्त अथर्ववेदके ३ मंत्रोंसे पता चलता है कि प्रपितामह, पितामह तथा पिता, इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके नामपर अलग अलग स्वधा दी जाती है ।

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥

अथर्व० १८।४।८५ ॥

हे [पितरः] पितरों ! [वः] तुम्हारे लिए [नमः] नमस्कार होवे । [पितरः] हे पितरों ! [वः] तुम्हारे लिए [स्वधा] स्वधा होवे ।

इस मंत्रमें पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार दोनोंके देनेका उल्लेख है ।

इयं नो नृचक्षा दिव्यः सुवर्णः सहस्रपाच्छतयोः निर्वयोधः

स नो नि यच्छाद् वसु यद् पराभूत्तमस्मात्तमनु

पितृषु स्वधावत् ॥

अथर्व० ७।४।१२

(नृचक्षाः) मनुष्योंका देखनेवाला, (दिव्यः) दिव्य अर्थात् देवदुर्गोसे युक्त, (सुवर्णः) उत्तम गतिवाला, (सहस्रपाद्) हजारों पैरोंवाला अर्थात् शीघ्रगामी (शतयोनिः) शैकडाका कारण यानि शैकडाका उत्पन्न करनेवाला (वयोधाः) अश्व, बल, आयु ।

देनेवाला जो [रवेनः] रवेन है [घः] वह [नः] हमें [यत् परामृतं वसु] जो शत्रुओंसे हरण किया हुआ धन है उसे [निवच्छात्] वापस दे और वह धन [अस्माकं पितृषु स्वधावत्] हमारे पितरोंमें स्वधाकी तरह होवे अर्थात् पितरोंमें जो स्थान स्वधाको प्राप्त है वही स्थान उसे प्राप्त होवे, या वह धन पितरोंमें स्वधावत् अर्थात् आत्मधारण शक्ति करनेवाला होवे। उस धनसे पितर स्थावत्की बनें, स्थावरी होवे। यद्वापर स्वधाका अर्थ आत्मधारण ऐसा प्रतीत होता है। स्वधा कया चीज है यह एक विचारणीय विषय है, तथापि आगे चलकर हम घोटाळा स्वधापर प्रकाश डालने की वांछीश करेंगे।

३ पितरोंको स्वधा देनेसे लाभ।

सोदक्रामत् सा पितृनगच्छत् तां पितर उपोह्यन्त
स्वध पृहीति ॥ अथर्व० ८।१३।५॥
तां स्वधां पितर उपजीवन्ति उपजीवनीयो भवति
य एवं वद् ॥ अथर्व० ८।१३।८

[सा] वह विराट् [उत अक्रामत्] ऊपरकी उछली ।
[सा] वह [पितृन् अगच्छत्]-पितरोंके पास गई । [तां] उसे पितरः उप आह्वयन्त] पितरोंने अपने पास बुलाया कि [स्वधे] हे स्वधा ! [एहि इति] तू हमारे पास आ । [पितरः तां स्वधां उपजीवन्ति] पितर उस स्वधाका उपभोग करते हैं, यानि उस स्वधाको खाकर जीते हैं । [यः एवं वेद] जो इस प्रकार जानता है कि पितर उस स्वधाको खाकर जीते हैं, वह भी [उपजीवनीयः भवति] उस स्वधाका उपभोग करने योग्य बनता है अर्थात् उस स्वधाके आश्रयसे जीता रहता है ।

इन मंत्रोंसे यह बात स्पष्ट है कि पितर स्वधाके आश्रयसे जीते हैं, अतः पितरोंकी स्वधा देनी चाहिए और जो पुरुष इस रहस्यको जानता है, उसे भी स्वधा मिलती रहेगी और इस प्रकार वह भी स्वधा खाकर सुखपूर्वक जीवन निवाह कर सकेगा ।

४ जलद्वारा पितृतर्पण ।

हिंदू लोग मृत पितरोंका जो जलद्वारा तर्पण करते हैं उसका आधार संभवतः निम्न तीन मंत्र हैं। इन मंत्रोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका विधान पाया जाता है। मंत्र इस प्रकार हैं—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीछालं परिप्लुतम् ।
स्वधा स्य तर्पयत मे पितृन् ॥ यजु० अ० २।मं. ३४
इह मंत्रका देवता ' आपः ' अर्थात् जल है । [ऊर्जं] बल्को, [अमृतं] अमृतको, [घृतं] घीकी, [पयः] दूधको, [कीछालं] अक्षको तथा [परिप्लुतं] फूलों फलोंसे निकले हुए छारभागको [वहन्ती] बदन करते हुए [आपः] हे जलो ! तुम [स्वधा स्य] स्वधा होवो । अर्थात् पितरोंका अन्न बनो और [मे पितृन् तर्पयत] मेरे पितरोंको अपने उपरोक्त रसभागोंसे तृप्त करो ।

मंत्र स्पष्ट है इसपर विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । स्पष्ट शब्दोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका निर्देश है। दूसरा मंत्र इस प्रकार है—

ये ते पूर्वे परागता अपरे विष्टरश्च ये ।

तेभ्यो धृतस्य कुक्ष्येणु वातघाता म्युन्दसी ॥

अथर्व० १८।१।७१

[ते] वे [ये पूर्वे परागताः] जो पूर्वकालीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ये अपरे पितरः] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं [तेभ्यः] उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरोंके लिए [वातघाता म्युन्दसी] धँसकों धाराओंवली उमकती हुई [घृतस्य कुक्ष्या] जलकी कुक्षा छुद नदी [एणु] प्राप्त होवे । यह मंत्र भी उपरोक्त प्रथम मंत्रके भावकोही पुष्ट कर रहा है। पहिले मंत्रकी तरह यह मंत्रभी स्पष्ट है। कुक्ष्याका अर्थ निघण्टुमें ' छत्रिमा सरित् ' अर्थात् बनासी नदी यानि नहर ऐसा दिया है। पितरोंको अन्ते तर्पण करनेके लिए नहर बहानी चाहिए ऐसा भाव इस मंत्र का मालूम पड़ता है। उपरोक्त दोनों मंत्रों के भावकी ही पुष्ट करता हुआ तीसरा मंत्र इस प्रकार है—

पुत्रं पौत्रमग्नि तर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः । स्वधां पितृभ्यः अमृतं दुहाना जापो देवीरुभया स्तर्पयन्तु ॥

अथर्व० १८।१।१५

[पुत्रं पौत्रं अग्नि तर्पयन्तीः] पुत्रपौत्रादियोंकी पूजतया तृप्त करते हुए [इमाः मधुमतीः आपाः] ये मधुर जल हैं। [पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुहाना] पितरोंके लिए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए [देवीः आपाः] ये दिव्यजल उमयान्] दोनों पुत्र पौत्रोंको [तर्पयन्तु] तृप्त करें ।

उपरोक्त तीनों मंत्रोंमें जलद्वारा पितृतर्पण का उल्लेख है ।

हिंदुओं का जलद्वारा पितृतर्पण करना इन मंत्रोंके आधार पर है ।

किन पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए यह अभीष्ट नहीं कहा जा सकता, तथापि इतना जरूर पता चलाता है, कि जलद्वारा पितृतर्पण करना चाहिए ।

यत् ते पितृभ्यो ददतो यत्ने वा नाम जग्दुः ।
संदेश्यात् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु औपधीः ॥
अथर्व० १।१।११॥

[यत् यज्ञे पितृभ्यः ददतः ते नाम जग्दुः] यदि यज्ञमें पितरों के लिए दान करते हुए तेरा नाम उन्होंने लिया हो अर्थात् तेरे पर दोषारोपण किया हो तो [सर्वस्मात् संदेश्यात् पापात्] उस सर्व संदेश्य अर्थात् किसीके आदेशसे-कहनेसे किए गये पापसे [इमाः औपधीः त्वा मुञ्चन्तु] ये औपधी-याँ तुझे छुटाएं । इस मंत्रमें पितरों के लिये यज्ञमें दान देने का उल्लेख है ।

५ पितरोंका भाग ।

पितृणां मागस्य । अयां शुक्रमापो देवीर्वर्षां अस्मा-
स्तु घत्त । प्रजापतेर्वो घाम्नास्मै लोकाय सादये ॥
अथर्व० १०।५।१३

इस मंत्रका ' आपः ' देवता है । हे जलो ! तुम [पितृणां मागः स्य] पितरोंका भाग-अंश हो । [देवीः आपः] हे दिव्य जलो ! [अयां शुक्रं वर्षाः अस्मास्तु घत्त] जलोंका बीर्य व तेज हमारेमें धारण करो अर्थात् हमें दे । [अस्मै लोकाय] इस लोकके लिए, [प्रजापतेः घाम्नां वः सादये] प्रजापतिके तेजसे तुम्हें सिद्धलाता हूँ स्थित करता हूँ । इस मंत्रमें जलोंको पितरोंका भाग-अंश बतलाया है ।

त्रिधा भानो निहितो यः पुरा वो देवानां पितृणां
सर्पानाम् । अंशान् जानीष्वं विभजामि तां वो यो
देवानां स इमां पारयाति ॥ अथर्व० ११।१।५॥

[यः देवानां पितृणां सर्पानां] तुम देवों, पितरों व मनु-
ष्योंका [यः त्रेधा मागः] जो तीन प्रकारका भाग [पुरा निहि-
तः] पहिलेसे रखा है, उससेसे अपने अपने [अंशान्]
अंशोंके भागोंका [जानीष्वं] जानो अर्थात् मनुष्य, पितर व
देवोंका जो तीन प्रकारका भाग हमने कर रखा है, उसमेंसे
अपने अपने भागको जानते हुए लो ! [तां विभजामि]
उन भागोंको मैं बाँटता हूँ । [वः देवानां यः सः इमां]

तुम देवोंका जो अंश है वह इस ऋग्वेदान्त पाचक पत्नीको
[पारयाति] पार लगवै अर्थात् जिस कार्यका इसने प्रारंभ
किया है उसमें यह पार हो जावे । इस मंत्रमें देव, मनुष्य व
पितरोंके लिये अलग अलग भाग देनेका उल्लेख है ।

६ पितरोंके शर्मका विस्तार करना ।

यत्र श्रासस्तन्वो वितन्वतो प्रिया शर्मं पितृणाम् ।
अथ स्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिश्चित्तं यावथ द्वेषः ॥
ऋ० ६।१६।१२

[यत्र श्रासः तन्वः] जहाँपर श्रावोर अर्थात् श्रावोर
गण शरीर [पितृणां प्रिया शर्मं वितन्वते] पितरोंके प्यारे
घरोंका विस्तार करते हैं वहाँपर [तन्वे तने च] अपने
शरीरके लिये व हमारी संततीके लिये [अचित्तं
छर्दिः यच्छ स्म] शत्रुभोंसे अज्ञात घरको दे जिससे कि शत्रु
हमारा व हरी संतानका विनाश न कर सकें [द्वेषः] द्वेष कर-
नेवालोंको भाव रखनेवालोंको [यावथ] दूर कर । हम
सब मित्रतापूर्वक शत्रु रहित हुए हुए रहें । शर्मका अर्थ
निषण्डमें सुख व घर इन दोनों अर्थोंमें आया है ।

शर्मं = गृहं । निषण्ड ३।४॥
शर्मं = सुखं । निषण्ड ३।६॥

'पितृणां प्रिया शर्मं' इत पदशुभ्रायका अभिप्राय पितरोंके देशक
है अर्थात् जहाँ पर वंशपरंपरासे पितृगण निवास करते चले आ
रहे हैं हम मातृभूमिके नामसे स्वदेशको पुकारते हैं, इस
प्रकार इस मंत्रमें स्वदेशके विस्तार करनेका निर्देश है । 'छर्दिः
गृहं ।' निषण्ड ३।४॥ 'अचित्तं छर्दिः' से यह दर्शाया है कि
गुप्त रूपसे भी शत्रु हमारे घरमें न रहें चाहिए, अन्यथा
हमारा भेद उन्हें मिलता रहेगा ।

पितर और यज्ञ ।

इस विभागमें प्रायः वे मंत्र दिए जायेंगे, जिनमें कि पितरोंके
यज्ञमें आने जाने व इवि खाने आदि का वर्णन होगा । इस
विभागसे हमें यह बात सुगमतया पता लग सकेगी कि पितरोंके
लिए यज्ञरि करने चाहिए, उन्हें इवि देना चाहिए, और इस
प्रकार करनेसे पितर हमारी आयु संपत्ति आदिकी वृद्धि करते
हैं तथा अन्य कष्टोंके दूर करनेमें सहायक होते हैं ।

उपहृताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निषियु प्रियेषु ।
त आगमन्तु त इह ध्रुवनवधिमवन्तु तेऽवन्वस्मान् ॥
ऋ. १०।१।५ ॥ तथा यजुः अ० १९।१७॥

यह मंत्र अथर्ववेदमें भी है। वही प्रारंभमें योडासा पाठभेद है।
'उपहृताः पितरः'के स्थानपर 'उपहृता नः पितरः' है। 'केवल'नः'
और अधिक है। उच समान है। देखो अथर्व १८।३।४५॥

[विधेयुर्वाहित्वेयुर्निधिषु] भौतिकारक यज्ञ संबन्धी निधि-
वैमि [सोमय स] सोम संवादन करनेवाले [पितरः] जो
पितर [उपहृताः] सुलाए गए हैं [ते आगमन्तु] वे पितर
आओ । [ते] वे पितर [इह] इस यज्ञमें [अधिसुवन्तु]
हमारी प्रार्थनायें ध्यानपूर्वक सुनें और [अधि सुवन्तु] हमें
उपदेश करें, तथा ते अस्मान् अवन्तु हमारी रक्षा करें ।

'वाहित्वेयु'—वाहित्वेयु नाम है यज्ञघा, उसमें होनेवाला वाहित्वेयु,
अर्थात् यज्ञ संबन्धी। इसके अतिरिक्त 'सोम्याशः' पद भी
इसी अर्थकी पुष्टि करता है। व स्काचार्यने निरुद्धमें सोम्याशः
का अर्थ सोमका संवादन करनेवाले ऐसा किया है । और सोम
यज्ञमें संवादन किया जाता है । प्रकरणसे भी यही अर्थ होता
है, क्योंकि इससे पूर्वके मंत्रोंमें यज्ञ प्रकरणका वर्णन है ।

निधिषु अर्थ निरुद्धाचार्य यास्कने अपने निरुद्ध ही भूमिकामें
निम्न प्रकार किया है—

निधिः शेषधिरिति । शेषधिरा अर्थ है सुखका मण्डार ।
निरु० अ० २१ पा० ११ अं. ४॥

इस प्रकार इस मंत्रमें पितरोंके यज्ञमें आने, प्रार्थना सुनने,
उपदेश करने व रक्षा करनेका उद्देश हमें मिलता है ।

आप्या जानु दक्षिणतो निषेधेन यज्ञमग्नि गृणीत
विद्वे । मा हिंसिष्ट पितरः केन चिद्धो यद्र आगः
पुरुषता कराम ॥ ऋ १०।१५।६ तथा

यज्ञः अ० १९।६२
यह मंत्र अथर्व वेदमें योडेसे पाठभेदके साथ आया है—

आप्या जानु दक्षिणतो निषेधेन नो हविरग्नि गृणन्तु
विद्वे । मा हिंसिष्ट पितरः केन चिद्धो यद्र आगः
पुरुषता कराम ॥ अथर्व. १८।१।५२ ॥

(विद्वे) सञ्ज तुम पितरों । (जानु आच्य) दायां घुट-
नां टेकर (दक्षिणतः निषेध) दाईं और बैठ कर (इमं
यज्ञं) इस यज्ञका (अग्निगृणीत) स्वीकार करो । (पितरः)
हे पितरों । (यत् वः आगः पुरुषता कराम) जो तुम्हारा अथ
राध पुरुषत्व अर्थात् मनुष्यत्वंके कारण हम करते हैं। (केन
वित्) ऐसे किसी भी अपराधके कारण (मा हिंसिष्ट) हमें
मर्य मारो अर्थात् क्योंकि हम मनुष्य हैं और मनुष्य मात्र

मृतका पात्र होता है, अतः यदि अपराध हो भी जाए, तो भी
समा करो, हमारी हिंसा मत करो ।

'जानु आच्य' का अर्थ हमने दायां घुटना टेकर ऐसा
किया है, जो कि उतपथ ब्राह्मणके निम्न वाक्यके आधारेपर
है। अथर्वेन पितरः । प्राचीनार्वाकितिनः सध्वं जान्वाच्योपाशोर्दं
स्तान्प्रशोते'... इत्यादि ॥ उतपथ २।४।२।२४ उतपथके इस
वाक्यसे प्रतीत होता है कि दायां घुटना टेकर पितर यज्ञमें
बैठते हैं । निम्न मंत्रमें पितरोंके लिए मासिक यज्ञका विधान
है ।

परा याच पितरः सोम्यामो गंभीरीः पायैमिः पूर्वाग्निः ।
अथा मामि पुनरायात नो गृह्णात् शविरिंशु सुभ्रमः
सुवीराः ॥ अथर्व० १८।४।६३

(सोम्याशः पितरः) हैं सोमसंवादक पितरों । (गंभीरीः
पूर्वाग्निः पयिमिः) गंभीर पूर्वाग्नि-मार्गोद्गाता (परायात) वापस
नले जाओ। जहासे आए थे वहा पर लौट जाओ । (अथ
पुनः) और फिर (सुभ्रमः सुवीराः) हे वरुण प्रजापाले
तथा सुवीर पितरों । (माधि) मासके अन्तमें यानि महीने
महीनेके बाद (नः गृह्णात्) हमारे घरोंमें (हविः, अर्घुं) हवि
के खानेके लिए (आयात) आओ ।

' पूर्वाग्नि-पुरं यातोति पूर्वाग्निः ।' नगरको जानेवाले रतेहा
नाम पूर्वाग्नि है । प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा
उसमें देव देवान्तरमें स्थित पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए
ऐसा इस मंत्रका भाव है ।

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदः सदः सदत
सुगणीतयः । अत्ता हवींषि प्रयतानि वाहित्वेयु रधि
सर्ववीरं दुषातन ॥ ऋ १०।१५।११

यह मंत्र यजुर्वेद व अथर्व वेदमें भी योडेसे पाठभेदके साथ
है । देखो—यजु. १९।५५९। तथा अथर्व १८।३।४५ अर्थ इस
प्रकार है—

(अग्निष्वात्ताः सुगणीतयः पितरः) हे अग्निष्वात्त व वरुण
नेता पितरों । (इह) इस यज्ञमें (आगच्छत) आओ ।
(सदः सदः सदत) घर घरमें स्थित होओ । (अथ) और
(वाहित्वेयु प्रयतानि हवींषि अत्ता) यज्ञमें दिए गए हविषोंको
खाओ । और हमें (सर्ववीरं रधि दुषातन) सर्व प्रकारकी
घोरतासे पूर्ण घनको दो ।

इस मंत्रमें पितरोंको यज्ञमें हवि खिलायेजा-व बनसे बीरता
पूर्ण धन मांगनेका वचन है ।

सहस्रवारं घृतघारमुत्समश्रितं व्यच्यमानं सलिलस्य वृष्टे ।
ऊर्ध्वं दुहानमनवरस्कुरान्तमुपासते पितरः स्वधामिः ॥

अथर्व. १८ व १३६

[घृतघारं सहस्रवारं उरधं] सैंकड़ों बहजारों घाराओवाले
स्रोतसे तरह जो हजारों व सैंकड़ों घाराओंसे युक्त है ऐसे,
और जो [सलिलस्य वृष्टे व्यच्यमानं] अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त
है ऐसे, [ऊर्ध्वं दुहानं] अन्न व बलको देनेवाले, [अनवरस्कुर-
रन्तं] कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविषो
[पितरः] पितर [स्वधामिः] स्वधाओंके साथ [उपासते]
सेवन करते हैं ।

यहाँपर हवि शब्दका अर्थात्पूर्व मंत्रसे करना पड़ता है
क्योंकि ईर्ष्य मंत्रमें आए हुए विशेषज्ञोंका कोई भी विशेष्य
नहीं है ।

वितृण स्वधाके साथ हवि खाते हैं । इस कथनसे यह स्पष्ट
होता है कि स्वधा कोई भिल वस्तु ही है । यहाँ पर भी पूर्व
मंत्रकी तरह पितरोंके हवि सेवनका उल्लेख है ।

पितरोंका यज्ञमें धनदान ।

आसीनासो अरुणोनामुपस्ये रवि घत्त दाशुषे मर्याप ।

पुत्रेभ्यः पितरस्त्वस्य वस्वः प्रयच्छत त इरीर्ज
दधात ॥ ऋ. १०।१५।७ ॥

यजु. अ. १९।६३ ॥ तथा अथर्व. १८।३।४३ ॥

[अरुणोनां उपस्ये] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लाल
लाल चमकती हुई ज्वालाओंके समीपमें [आसीनासः] बैठे
हुए पितरों ! [दाशुषे मर्याप] दानी मनुष्यके लिए [रवि-
घत्त] धनको दो । [तस्य] और उस दानी मनुष्यके लिए
[रवि घत्त] धनको दो । [तस्य] और उस मनुष्यके
[पुत्रेभ्यः वरवः प्रयच्छत] पुत्रोंके लिए भी धनको दो [ते]
उपरोक्तानुसार धन दान करनेवाले तुम [इह] इस यज्ञमें
[ऊर्ध्वं] अन्नको घारण करो ।

परायात पितर आ च यात्वायं वो यज्ञो मधुना समक्तः।
वृत्तो अस्मान्बे ऋषिणेह मन्त्रे रविं च नः सर्ववीरं
दधात ॥ अथर्व. १८।३।१४ ॥

[पितरः] हे पितरों ! [परायात] यज्ञ समप्ति पर वापस
मौट जाओगे । [च] और फिर [आयात] आओ क्योंकि

[अयं यज्ञः चः मधुना समक्तः] यह यज्ञ तुम्हारे लिए [मधुना
समक्तः] मधुर भावसे सिंचित हुआ है । [इह] इस
यज्ञमें [ऋषिणा] पनोंको [एतौ] दो । [मन्त्रं सर्ववीरं रविं
च] और कल्याणकारी तथा सर्व बीरतासे युक्त रवि अर्थात्
सम्पत्ति सम्पत्तिसे [नः] हमें [दधात] पुष्ट करो। मनुष्यका अर्थ
है मधुरसंपूर्ण आज्य । देखो. ऐ. ब्रा. २।२। 'एतद् वै मधु
दैव्यं वद् आज्यवम् ।'

आपो अग्निं प्र हिणुत वितृणुषेमं यज्ञं पितरो मे
लुबन्ताम् । आसीनामूर्ध्वमुप ये सचन्ते ते नो रविं
सर्ववीरं नियच्छात् ॥ अथर्व. १८।३।४०

[आपः] हे आप । तुम [अग्निं वितृणु उपरिणुत]
अग्नि को पितरों के पास भेजो । [मे पितरः] मेरे वितृण
[इमं यज्ञं लुबन्ताम्] इस अन्नसे सेवन करो । [ये] जो
पितर [आसीना ऊर्ध्वं उपचरन्ते] उपस्थित अर्थात् हमारे
से दिये गए अन्नका सेवन करते हैं [ते] वे पितर [नः] हमें
सर्ववीरं रविं] सब प्रकारकी बीरतासे युक्त धन-संपत्ति को
[नियच्छात्] निरन्तर देते रहें ।

इस मंत्रमें आप अर्थात् जलोके कहा गया है कि वे अग्निको
पितरों के पास ले जाएं, जिससे कि अग्नि में होम हुआ हवि
पितरों को पहुँच सके ।

इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हम इस परिणाम पर पहुँच
सकते हैं कि वितृण यज्ञमें आकर हवि का ग्रहण करते हैं
तथा प्राणियोंको धन देते हैं । इससे पितरोंका यज्ञसे संबन्ध
प्रतीत होता है । पितरोंको यज्ञमें सुलभा जाता है, यहाँपर उन्हें
हवि दी जाती है, जो कि हवि वे अग्नि द्वारा स्वीकृत करते
हैं । यह बात अथर्व. १८।३।४० से स्पष्ट होती है । इसका अग्नि-
त्राय यह है कि जिस रूपमें हवि होमी जाती है उस रूपमें
पितर नहीं लेते, परन्तु अग्नि द्वारा सूक्ष्म अदृश्य रूपमें परि-
णत हुई हुई हवि लेते हैं अर्थात् यज्ञमें अग्निमें होमी हुई
हवि पितरोंको पहुँचती है । इसलिये जिसको सर्ववीरोपेत धन
सम्पत्ति चाहिये उसे यज्ञ करना चाहिये व पितरोंको हवि देनी
चाहिये । इन उपरोक्त बातोंका हम इन मंत्रोंसे सहज अनुमान कर
सकते हैं ।

सं विद्यान्वित्रह पितरः स्वानः स्थोनं कृषन्तः प्रति-
रन्त आनु । उभ्यः शक्रेम हविषा मन्त्रमाणा उपयोग्
जीवन्तः शरद्ः पुरुषीः ॥ अथर्व. १८।२।२९

[३३] एष दक्षिणे [नः] एतौ [स्वः विनः] इति के विदुषा [स्वोने कृष्णः] सुख उपाय करते हुए [सं विदुषु] मोक्ष होवे । और [काणुः प्रीतिस्त] कानुषकी हृदि करे । और उपाय दक्षिणे [नक्षत्राणः] यतिरात् अथ नू सर्वथा धर्म ठानर हम [उदे व् पुर्ववः वरधः] निरन्तर रहत छे दर्शनछ [जीवनः] जीवन कारण करते हुए [वेधः] इन टीपे कपु देखेदति निराधी [हविषा] हविषारा [हविष] परिचर्याके लिये समर्थ बने रहे ।

अह मंत्रमी उपायके परिणामको पुष्ट कर रहा है । निम्न मंत्र विशेष विचारण है क्योंकि इनमें विनयिके लिये मांड व यतिके हवनका विधान मिलता है ।

एष वसो आठवेद विदुषो अश्रमामेव निरिच्छान् पराक । मेदसः कुत्वा उपजहन्तु मया दधाना द्विवः स नमन्ता स्वारा ॥ यजुः ४० ३०।२०

(आठवेदः) हे अश्रम ! (विदुषः वर वह) विनयिके लिये दयाका दान कर, (यज) यहाँ (पराके) दूसर (निरिच्छान्) शिथल (एषान् देव) इन विनयिकों व जानता है । (मेदसः कुत्वाः सन् उपजहन्तु) यारीकी छोटी छोटी नदीको इनको प्राप्त होवे और (एषा स्वराः आदिवः) उनके साथ आराधना (सं नमन्तान्) हमें प्राप्त होवे । (स्वारा) उपायके कथन सत्य है ।

यद्यपर अतिक्रमिणयिके लिये यारीकी नहरें पहुँचानेके लिये बहा गया है । निम्न मंत्रमें विनयिके लिये मानसिक चरके देनेका विधान है-

अनुपवाद् मांसमोक्षरोत् सीटनु । लोकहृद्दः पदिहृत्तो मजामहे ये देवारा हुतमाया इहस्थ ॥

अपर्वः १८।१।२०४

अग्नी व मांसशाली यह यहाँ बेदी पर आवे । (लोकहृत्तः पदिहृत्तः) म्यानीके बननेवाले व माणिके बननेवालोंको (यजन्ते) इन पूजने हैं । (ये) जो कि पुन (इह) यहाँ (देवाना हुतमायाः) देवोंमें दिव्ये हुए मांसका डेनेवाले हो । वेदमें मांस शब्द मांसके लिये आया है । दाहकावादन इसके जो निर्वचन किये हैं, वे इसी बातका सिद्ध कर रहे हैं । साधही जा उन्होंने मंत्र पेश किया है उसमें भी स्पष्ट शब्दोंमें बर्णनके मांस खानेका निषेध है । दाहकावादन मांसके विद्वन्वचमें निम्न किये हैं- देखो विद्वन्- १।१।२३

(१) मांस-अग्ने- (मांस-अग्ने) अर्थात् मांसमहर्षी दीर्घात् इत् नही होवे ।

(२) मांस-मांस अग्ने अर्थात् मांस पाव देता होता है ।

(३) अग्नेऽग्निर्मांस-मांस अग्नेने कर जाता है । मांसमहर्षी मन बहुत खाता है ।

इसके अतिरिक्त मनुने मनुस्मृतमें मांसको जो निषेध किया है वह भी देखने लायक है । वह इस प्रकार है-

मां म नक्षत्रिशासुत्र वाच मानिनादुप्राप्त् एतन्मांसस्य मानसं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५।१५५ अर्थात् विश्व प्राणीका मांस मैं इस जन्ममें खाता हूँ, पर जन्ममें वह मुझे खाया । यह मांसका मन्त्र है ऐसा विद्वान् लोकोंका वचन है ।

इसी सूत्रके ४२ वे मंत्रमेंभी ऐसाही वर्णन है । वह मंत्र इस प्रकार है-

सं ते मय्य दनोद्वं दन्नांसं निरुयमि ते । सं ते सन्तु स्वधावन्ती मनुमन्ती दृष्टरुद्रः ॥ अर्धः १८।१।२३

(सं) तेरे लिये (दं मंसे) विश्व मंत्र अर्थात् मयमें दिलेदेनेके मंत्र परद्वं मरुद्वं अर्थात् और (दं मोदं) विश्व मांसके (मनु मंसे) विश्व मांसको (ते) तेरे लिये (निरुयमि) देता हूँ । (सं) वे सब (स्वधावन्तः मनुमन्तः दृष्टरुद्रः) स्वधावाले, मनुमन्तके सुक तथा चर्षी परिपूर्ण (ते सन्तु) तेरे लिये होवे ।

इस मंत्रमें मांसका विधान है । प्राचीन सूत्रकारों के मंत्रोंमें भी कई अन्वयोंमें मांसविषय काया जाता है ।

अत्र विद्वतो नादुपवा दधानामाहुवाचमन् अनीमद्वन् विद्वतो दधानामाहुवाचिद

यजु ४० २।१

(विनः) हे विनयो ! (अत्र) इस दक्षिणे [मांसदधन्] प्रसन्न होकी और (दधानायं) करने करने मांसो अदुपवा एविते हुए [आहुवदधन्] एव जो सार आकर रण करी अर्थात् मनु होकर खाओ । विश्व प्रकार कि [अनीमद्वन्] वे विन [यधानामं] करने करने मांसके अदुपवा ही उपाय [मन्तु] प्रसन्न हुए और [अर्धरादिद] अग्निमें दधे खाया ।

यजुवद आठवमें ' दधानामाहुवाचमं ' का अर्थ विद्वन् है ' दधानायं अनीमद्वि ' श् ०२।१।२।३ ॥ विद्वतो के लिये

यज्ञ में काष्ठ हवि का भाग करके रखा जाता है जिसे खा कर वे प्रसन्न होते हैं । यह इससे सूचित होता है । अतः यज्ञमें पितरोंके लिए माय रखना चाहिए ।

यत् यो मुदं पितरः सोमं च ते नो सधध्वं स्व-
शसो हि भूताः । अर्वाणः कवयः आ श्रुतोऽ सुविद्वान्
विद्वेषे ह्यमानाः ॥ अथर्व० १०१११९

[पितरः] हे पितरो ! [यः यत् मुदं सोमं च] तुम्हारा जो हर्षप्रद व सोम्य कार्य है [तेनो] उस द्वारा [सधध्वं] हमें श्रेष्ठ करो अर्थात् सुख करो । [हि] निश्चयसे तुम [स्वयययः] अपने यज्ञसे ही यशस्वी [भूत] होते हो । [अर्वाणः] मतिवाले अर्थात् निरालस्यो, [कवयः] कान्तदर्श तथा [सुविद्वानः] उत्तम धनवाले, [ह्यमानाः] बुझाए नये [ते] वे तुम [विद्वेषे] यज्ञमें हमारी चरोंके प्रार्थनसे [आशुभेत] आकर सुनो ।

अब तकके मंत्रोंसे हमने देखा कि पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है और बर्हानर उन्हें हवि देकर प्रसन्न किया जाता है । प्रसन्न हुए हुए वे आहुत, धनवादि की इच्छा पूर्ण करते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि पितरोंसे कामपूर्ति करानेके लिए यह कथनमुद्र है ।

पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान ।

सोदकानन्द सा पितृनागच्छत् तां पितरोऽप्यत ।
सा मासि मनमवत् ॥ अथर्व० ८११२१३ ॥
तस्मात् पितृभ्यो मास्तुनमामां ददाति म पितृपाणं
पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ अथर्व० ८११२१४

(सा) वा विराट् (नत् अकामत्) ऊपरकी उल्लेखी और (सा) वा (पितृन् अयं चत्) पितरोंके पास गई । (तां) उल्लेखी (पितरः अप्यत) पितरोंसे प्राप्त किया । फिर (सा) वा विराट् (मासि) मासमें (संभवत्) संवत्सुर हुई ॥ अथर्व० ८११२१३ (तस्मात्) इस लिए (पितृभ्यः मासि) पितरोंके लिए मासमें (ददाति) देते हैं । (यः एवं वेद) जो इस प्रकार अर्थात् पितरोंको मासि में दिया जाता है ऐसा जानता है, वा (पितृपाणं पन्थां) पितृपाण मासको [प्रजानाति] अच्छी प्रकार जानता है ;

यहांपर जो कहा गया है उससे इतना परिणाम अवश्य निश्चलता है कि पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान करना चाहिए, उनके लिए कुछ देना चाहिए ।

३२ (अ. द्. मा. कां. १८)

पितरोंका आसन ।

येऽस्माकं पितारतेषां बर्हिरग्नि ॥ अथर्व० १०१११८ ॥
[ये] जो [अस्माकं पितरः] हमारे पितर हैं, [तेषां] उनका (बर्हिः) आसन [अग्नि] है ।

कुशाघासका नाम बर्हि है । बर्हिंको संवाधन करके कहा गया है । यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाघासनिर्मित आसन होना चाहिए, ऐसा इससे पता चलता है ।

अग्नि और पितर ।

(१)

इस प्रकरणमें हम अग्नि व पितरोंका संबन्ध तथा पितरोंके प्रति अग्निके कार्योंकी दशयोंसे । पाठक इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंकी ध्यानपूर्वक पढ़ें व उनसे निकलते हुए परिणामों पर गौर करें ।

यज्ञमें अग्निका पितरोंको लाना ।

ये तातुदुद्वेवा जेहमाना होवाविदुः स्तोमवशासो अर्कैः ।
अग्निं यादि सुविद्वेषेभिः अर्वाश् सत्यैः कव्यैः पितृभिः
धर्मसद्भिः ॥ अ० १०११५१९

(देवता जेहमाना) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनने हुए (होवाविदुः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोम तशासः) स्तोमोंके बनानेवाले [ये] जो पितर [अर्कैः] पूजनीय स्तुतियोंसे [तातुदुः] अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, ऐसे [सुविद्वेषेभिः, सत्यैः, कव्यैः, धर्मसद्भिः पितृभिः] उत्तम धनवान् अर्थात् समृद्ध, सत्यवचनी, कवि अथवा कथ्य नागवालेपितरोंके लिए दिए गये हव्य का । अतः कव्योंके लेनेवाले, यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [अग्ने] हे अग्नि तू [आवादि] अ । ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्नेग देवैः समथं दधानाः । अग्निं यादि सखं देववृद्धैः परैः पूर्वैः पितृनिर्वर्तयद्भिः ॥ अ० १०११५१०

[ये] जो पितर [सत्यासः] सत्यवचनी [हविरदः] हविके जाननेवाले, [हविष्पाः] हविकी रक्षा करनेवाले तथा [इन्नेग देवैः समथं दधानाः सन्ति] इन्द्र व देवोंके साथ एक ही रथपर चढ़ते हैं ऐसे [सखं देववृद्धैः] हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (पूर्वैः परैः) प्राचीन व अर्वाचीन [धर्मसद्भिः पितृभिः] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (आ यादि) आ । उपर निर्दिष्ट देवों मंत्र एकठां बात कर रहे हैं । इन देवोंमें अग्निंको, पितरोंको अग्ने साथ लानेके लिए

कहा गया है । पितरोंका यज्ञदिमें साथ लाना अग्निका काये है, यह इन मंत्रोंमें स्पष्ट होता है । यह अग्नि ही है इसका निर्णय मंत्रोंमें स्वयं पाठक कर सकेंगे । इस अग्निका यज्ञ व हविष विशेष सम्बन्ध है, यह आगे आनेवाले मंत्रोंमें स्वयं स्पष्ट हो जायगा । उन सब मंत्रोंको लक्ष्यमें रखते हुए ही अग्निके विशेषमें निर्णय करना चाहिए । यह अग्निविषयक निर्णय पितरोंपर प्रकाश डाल सकेगा । ऐसा हमारा कहन है ।

अग्निका पितरोंको हवि खानेके

लिए ले आना ।

उद्यान्तस्तथा निधीमहद्युमात् समिधीमहि ।

उद्यानुशात आ वह पितृन् हविषे अक्षव ॥

अ० १०।१६।२

तथा यजु अ० १९।७० ॥

तथा अथर्व० १८।१।५६॥

इ अग्ने । (उद्यान्त) कामना करते हुए हम (त्वा निधीमाह) तैरा स्थापना करते हैं । और । उद्यान्त समिधी महि) कामना करत हम तुझे प्रदीत करने हैं । (उद्यान्) कामना करता हुई है अग्नि तू (हविषे अक्षवे) हविके खानेके लिए (उद्यत पितृन्) कामना करत हुए पितरोंको (आ वह) ले आ । यहापर अग्निमें हवि खानेके लिए पितरोंके ले आनेके लए कहा गया है ।

सुमन्तरसंधिमीहि सुमन्त समिधीमहि ।

सुमान् सुमत आ च्वह पितृन् हविषे अक्षवे ॥

अथर्व० १८।१।५७॥

हे अग्नि । (सुमत) दीक्षिमान होते हुए हम (त्वा उद्यामहि) तुझ प्रकाशित करें । (सुमत) और दीक्षिमान हम (समिधीमहि) तुझे मन्त्री प्रकार प्रदात करें । (सुमान्) दीक्ष हुआ हुआ तू (सुमत पितृन्) प्रकाशमान पितरोंको (हविषे अक्षवे) हवि मक्षणार्थ (आ वह) ले आ । उपरालक मंत्रके भाव का हा यह मंत्र भी समर्थन कर रहा है ।

ये निखाताय परोता य दग्धा ये चोद्विता ।

सर्वास्तानग्ने आवह पितृन् हविषे अक्षवे ॥

अथर्व० १८।२।३७॥

(अम) हे अग्नि । (ये निखाता) आ पितर जमीनमें गाढे गए हैं और (ये परोता) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दग्धा) जो पितर अग्निमें जलाए गए हैं (ये च) और जो पितर (उद्विता) जमीनके ऊपर

रखे गए हैं, (तान् सर्वांन्) उन सब पितरोंको तू (हविषे अक्षवे) हवि मक्षणार्थ (आ वह) ले आ ।

इस मंत्रमें यह बताया है कि चार प्रकारका अत्येष्टि घटकार होता है । (१) गङ्गना, (२) बहाना, (३) जलाना, (४) हव में घुला छेड़ना । यहां पर इन चारों घटकारोंमें घट्टण पितरोंको हवि खानेके लिए अग्निको घुलानेके लिए कहा गया है । इस मंत्र पर विद्युत् प्रकाश ' प्रेत व अंधेष्टि नामक' धीरे धीरे नीचे काटेंगे ।

अग्निका पितरोंको हवि पहुंचाना ।

ऊपर हमने देखा कि अग्नि पितरोंको हवि खानेके लिए अपने साथ ले आती है । अब हम देखेंगे कि यह पितरोंके पास हवि ले भी जाती है और वहां चढ़े देती है ।

त्वमग्र ईडितो आतवेदोऽवाहृद्व्यानि सुरभीनि हृत्वी । प्रादा पितृभ्यः स्वधया त अक्षवद्वि स्व देव प्रयता हवीषि ॥ अ० १०।१।५। १२ तथा अथर्व० १८।३।५२ ॥

यह मंत्र यजुर्वेदमें पाठभेद से निम्न प्रकार आया है—

त्वमग्र ईडितः कष्यवाहनावाहृद्व्यानि सुरभीनि हृत्वी । प्रादा पितृभ्य स्वधया त अक्षवद्वि स्व देव प्रयता हवीषि ॥ यजु ए० १९।१६

(आतवेद अग्ने) हे आतवेदत् अग्नि । (ईडितः त्व) एतति किया गया तू (हृद्व्यानि) हृद्योंको (सुरभीनि हृत्वी) सुगन्धित बनकर (प्रावाद्) बहान कर । और फिर (पितृभ्य प्रादा) पितरोंको दे । (ते) ये पितर (प्रयता हवीषि) दी गई हवियोंको (स्वधया अक्षन्) स्वधायके साथ लायें । [देव] हे प्रकाशमान अग्नि ! [त्व] तू भी [अडि] उन हवियोंका खा ।

इस मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि वह हविषोंको ले आकर पितरोंको दे, ताकि वे चढ़ें खावे । यजुर्वेद में स्थित उपरीक मंत्रमें अग्निका विशेषण ' कष्यवाहन ' आया हुआ है । पितरोंके लिए दा गई हवि का नाम कष्य है । और कवी

कि अग्नि उस कष्यको पितरोंको पहुंचाती है अत लक्षे कष्य वाहनके नामसे पुकारा गया है । हम आगे भी देखेंगे कि पितरोंके प्रति हविको ले आनेवाला अग्निको कष्यवाहनके नामसे कहा गया है ।

अभूद् दत्ता प्रादितो आतवेदा सा च न्यह्य उपनयो

वृभिः । प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षरद्वि एवं देव प्रयथा हवींषि ॥ अथर्व० १८।४।१५

(सार्यं ग्रंथं) सार्यकाल और प्रातःकाल (वृभिः उप-वन्धः) नरों से बन्धना की जाती हुई (जातवेदाः) जातवे-दस् अग्नि (प्रहितः दूतः अमृत) भेजा हुआ दूत है । क्यों कि तू भेजा हुआ दूत है अतः हे (देव) प्रकाशमान अग्नि ! (प्रयथा हवींषि) हमारे से दी गई हवींषियों [पितृभ्यः प्रादाः] पितरोंके लिए दे जिसे कि (ते) से पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बनाकर भेजा है, [स्वधया अमृत] स्वधाके साथ हमारे द्वारा दी गई हवींषियोंको खावें । [त्वं आदि] तू सी उन हवींषियोंको खा । इस मंत्र से हमें पता चलता है कि जिस अग्नि-की सार्य व प्रातः बंधना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास से हवींषियों को ले जाकर पितरोंको पहुंचाती है । हमारे से दी गई हवींषियोंको पितरों तक पहुंचानेके लिए अग्नि माध्यम है, यह यहां पर स्पष्ट होतः है ।

उपरोक्त दोनों मंत्र इस बातको स्पष्ट कर रहे हैं कि अग्नि पितरोंके पास हवि पहुंचाती है और पितर उसे अपना दूत बनाकर हवि लानेके लिए भेजते हैं ।

यो अग्निः कम्पवाहनः पितृन् दक्षदृष्टावृचः

म्रेतु इत्याग्नि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ।

ऋ० १०।१६।११ ॥ तथा यजुः अ० १९।१५

[यः अग्निः] जो अग्नि [कम्पवाहनः] कम्प का अर्थात् पितरोंको हविका वहन करनेवाली है और जो [दृष्टावृचः पितृन् यजत] यज्ञ वा सत्य से बड़नेवाले पितरोंका यजन करता है वह अग्नि [देवेभ्यः पितृभ्यः च इत्याग्नि प्रनोचति] देवों और पितरों के लिये हवियों को कहे अर्थात् देवों व पितरोंसे कहे कि मैं तुम्हारे लिए हव्य ले आई हूँ ।

पूर्व मंत्रमें हम अग्नि देख आए हैं कि अग्नि पितरोंका दूत बनकर उनके लिए हवींषियोंको ले जाती है । हवि ले जानेपर पितरोंको वह सूचित करती है कि तुम्हारे लिए मैं हवि ले आई हूँ इसी भावको इस मंत्रमें कहा गया है । यहांपर अग्निको 'कम्पवाहन' कहा गया है । देवों व पितरों दोनों की अग्नि हवि पहुंचाती है यह भी इससे पता चलता है । निम्न मंत्रमें भी अग्निको कम्पवाहनके नामसे कहा गया है ।

अग्रये कम्पवाहनाय स्वधा नमः ॥ अथर्व० १८।१।११

(कम्पवाहनाय अग्रये) कम्पका वहन करनेवाली अग्नि

के लिए (स्वधा नमः) स्वधा और नमस्कार होवे ।

पितरोंके लिए दी जाती हविका नाम कम्प है और देवोंके लिए दी जाती हविका नाम हव्य है ।

अग्नि का दूरगत पितरोंको जानना ।

समिन्धवे अमर्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् । स वेद

निहितान् निधीन् पितृन् परावतो गतान् ॥

अथर्व० १८।४।१७

(अमर्यं) मरणधर्मसे रहित (घृतप्रियं) जिसको धी बहुत प्रिय है ऐसी (हव्यवाहं) हव्योंका वहन करनेवाली अग्निको पितृगण (समिन्धवे) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं । और (सः) वह अग्नि (निहितान् निधीन्) छिपे हुए खजानोंकी तरह (यहां छुपेपमा है) (परावतो गतान् पितृन्) दूरगत पितरोंको (वेद) जानती है ।

यहांपर यह बताया गया है कि छिपे हुए खजानों की तरह जो पितर सर्वथा आँसोंके ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं (चाहेवे दूर देशमें आनेसे अदृश्य हों या परलोक-वासी होनेसे अदृश्य हों) उन्हें अग्नि जानती है । इसी लिए अग्निसे कहा गया है कि वह पितरोंको हवि पहुंचाए और इसी लिए वही पहुंचा सकता है ।

ये स्नेह पितरों से तु नेह वादच विभ्र यां च न

प्रविभ्र । एवं वेद्य यति ते जातवेदः स्वधाभिर्मयं

सुकृतं जुषस्व ॥ ऋ० १०।१५।१३

(ये च इह पितरः) जो पितर यहांपर हैं, (ये च न इह) और जो यहांपर नहीं हैं, (यां च विभ्रः) तथा जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यां च न प्र विभ्रः) तथा जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जितने भी वे पितर हैं उन सबको (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (त्वं वेद्य) तू जानती है । (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञे) उत्तम प्रकारके किए हुए यज्ञको (जुषस्व) प्रीतिपूर्वक प्रार्थन कर ।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अग्निको विद्यमान अविद्यमान, ज्ञात अज्ञात, आदि सब प्रकारके पितरोंको जाननेवाला बताया गया है । निम्न मंत्रमें अग्नि का पितरोंको पितृलोकोमें पहुंचानेका निर्देश है ।

यद् वो अग्निरब्रह्मादेकमहं पितृलोके गमयं जात-

वेदाः । यद् व पतत पुनराप्याशयामि साकृगाः स्वर्गे

पितरो मादृक्वदम् । अथर्व० १८।४।१४

हे पितरो ! (वः यत् एकं अहम्) तुम्हारे त्रिष अह्ना-
को (पितृलोकं गमयन् जातेवेदाः अग्निः) पितृलोकमें ले
जातो हुई आश्वेदम् अग्निने । अजहात्) छोड़ दिया है । (वः
तद् एतत्) तुम्हारे उस इस अह्वयेधे मैं (पुनः) फिर
(आप्यावयामि) पूर्ण कराता हूँ । (छाव्याः पितरः)
अग्निने सब अह्वयेधे सुक हुए हुए पितरो । (स्वर्गं मादवध्वम्)
स्वर्गमें अग्नित्त होओ ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि अग्नि मरनेके अनन्तर
पितरोंको पितृलोकमें ले जातो हुई उनके शरीरके दिव्यो अह-
वको दर्शन छोड़ जाती है ।

इसके शिवाय पितृदाण में हम निर्देश कर आए थे कि
अग्नि पितृदाण मार्गको जानती है । वहाँ हमें पता चलता है
कि अग्नि पितरोंकी जानती है, पितृलोक को जानती है ।
इतना ही नहीं अपितु पितृलोकमें जाकर पितरोंको हवि पहुँ-
चाती है और वहासे उनको हमारे दक्षमें भी अपने साथ ले
जाती है । हमने पितृदाण में यह भी देखा है कि पितर सुर्ग-
द्विर्लोक साथ जाते हैं । इन बातोंसे ऐसा पता चलता है कि
पृथिवी लोक की दृष्टिके शार्थिक अग्नि पितरोंको ले जाती
है । तथा सुलोकमें वहाँ अग्नि सूर्यहृपमें परिणत होकर ले
जाता है । इस प्रकार सुलोकमें जानेके पितृदाण मार्गका कुछ
पता दिया जा सकता है । अब तकके विवेचनसे इतना हमें जरूर
ब-लाना है कि पितरोंको अग्नि अपने माय पितृलोकमें ले
जाती है और वहासे अपने साथ पुनः दक्षदिमें हवि आदि जानेके
लिए ले भी जाती है ।

अधिका मृत पुरुषको पितरोंके पास पहुँचाना ।

पुनः स्वेतश्वावयपु प्र विद्वाननष्टपशुमुवनरय गोवाः ।।
स स्वैतभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्नद्वैभ्यः सुविद-
त्रिभ्यम् ॥ ऋ० १०।१०।३

तथा अथर्व० १८।२।५४

(अनष्टपशुः सुवनरय गोवाः पूवा) हैं मृत मनुष्य !
निन्तर प्रकाशमान प्राणिमात्राका रक्षक पूवा, (विद्वान् त्वा
इतः प्रचय वयत्) जनता हुआ अपनी रश्मियों द्वारा तैरो
आत्माको इस पृथिवी लोकसे प्रष्ट मार्ग की ओर ले जावे ।
(सः अग्निः) वह अग्नि (वा) तुमसे (एतेभ्यः पितृभ्यः)

इन पितरोंके लिए वा (सुविद्वान्त्रिभ्यः देवेभ्यः) उत्तम धन-
वाले देवोंके लिए (परिददत्) देवे ।

यह मंत्र भी उपरोक्त परिणामकी दृष्टि रूपसे पुष्ट कर रहा
है । दास्यवादीने पूवाः स अर्थ आदित्य किया है । (निर०
७।३।५) तदनुसार मूत्र मृत पुरुषकी आत्माको अपनी
रश्मियोंसे ले जाता है ऐसा प्रतीत होता है । पितृदाणमें जो
मंत्र (ऋ० १०।१०।१०) हमने दिया है उसीकी यह मंत्र पुष्टि करता
हुमा प्रतीत होता है ।

मैनमग्ने विद्दहो मग्नि शीघो मास्य स्वर्चं चिह्नितो
मा शरीरम् । यदाश्रुतं ह्यनयो जातवेदोऽग्नेने प्र
हिसुवात् पितृभ्यः ॥ ऋ० १०।११।३

यह मंत्र अपश्वेदमें सोरहे पाठनेके साथ निम्न प्रकार
आया है ।

मैनमग्ने विद्दहो मग्नि शूणुषो मास्य स्वर्चं चिह्नितो
मा शरीरम् । श्रुतं यदा क्वासि जातवेदोऽग्नेने प्र
हिसुवात् पितृभ्यः ॥

अथर्व० १८।२।५

(अग्ने) हे अग्नि ! (एने मा विदहः) इस देवको इस
प्रकारसे मत अर्थ कि त्रिषसे इसे विष्टण कर हो । (मा
अग्नि शीघः) इसे शीघ्रगुल मत कर । (अस्य त्वं मा
चिह्नितः) इसकी चमकीको मत चैक । (मा शरीरं) और
इस प्रेतके शरीर कोभी मत चैक अपनाइ इसकी स्वभा व
शरीर पूर्णतया जल दे, कोई भी भाग दग्मकियासे अशोष्ट
न रहे और (जातवेदः) हे जातवेदम् अग्नि ! (यदा श्रुतं
ह्यनयोः) जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्ण-
तया जल दे (अय) तब (एने) इसकी (पितृभ्यः
प्रहिसुवात्) पितरोंके लिए भेज दे अर्थात् पितृलोकमें पितरों-
के पास पहुँचा दे ।

यह मंत्र कपि अश्वेष्टि-संस्कार-नियमक है तथापि अग्निका
पितरोंके लिए प्रेत जला देनेका कार्य दर्शनके लिए वही दिया
गया है । इस मंत्रके उत्तरार्धसे ऐसा पता चलता है कि जब-
तक देह खर्पूया जल नहीं जाती, तबतक आत्मा देहके
आसपास ही मंडलती रहती है । इस परिणामानुसार ही
आत्माको शीघ्र मुक्त करनेके लिए व इसके लिए निर्धारित
स्थानपर भेजनेके लिए शरीरका दहन करना अधिक उत्तम
प्रतीत होता है ।

श्रुतं यदा कारसि जातवेदोऽथेमेन परिदत्तात् पितृभ्यः ।
ऋगच्छान्यसुनीतिमेतामया देवानां वशानीभवाति ॥

ऋ. १०।१६।२ ॥

(जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (यदा श्रुतं कारसि)
जब इस प्रेतके पूर्णतया पकव अर्थात् दमध कर दे, (अथ
एनं पितृभ्यः परिदत्तात्) तब इसको पितरोंके लिए संपदे ।
(यदा) जब यह प्रेत (एतां असुनीतिं गच्छति) इस
प्राणोंके नवन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल
जाते हैं (अथ) तब प्राणोंके निकल जानेके बाद प्रेत (मृत
शरीर) (देवानां वशानीः भवाति) देवोंके वश हो जाता है ।

प्रेत देशोंके वश किस प्रकार होता है वह इसी मंत्रके बाद
के मंत्र अर्थात् ऋ. १०।१६।३ ॥ में दर्शाया है ।

सूर्यं चक्षुरांश्छन्दु वातमात्मा यां च गच्छ पृथिवीं च
धर्मन्वा । अपो वा गच्छ यदि तन्न ते हितनोपधीषु
प्रतिविष्ठा शरीरैः ॥

ऋ. १०।१६।३

हे प्रेत ! तेरी (चक्षुः सूर्यं गच्छतु) आस सूर्यको जावे ।
(आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायुको जावे ।
और हे प्रेत ! (धर्मन्वा) धर्मसे शर्थात् कर्म फलजन्य
धर्मसे अथवा पार्थिवदि तत्त्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव
तत्त्व है वह पृथिवी में जावे इत्यादि रीतिसे (यां च
पृथिवीं च गच्छ) घाँ व पृथिवीको जा, अर्थात् ओ
सुका अंश तेरे में है वह धर्म जावे व पृथिवीका है वह
पृथिवीमें जावे । (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोमें
अलांश आवे (यदि तन्न ते हितं) यदि वहां का कोई अंश
तेरेमें विद्यमान हो ; और इसी प्रकार (अपधीषु शरीरैः
प्रतिविष्ठा) अपधीषोमें शरीरोंको स्थित हो अर्थात् अप-
धिका अंश अपधीमें चला जावे ।

यह ऋग्वेदके १० वें मण्डलका सम्पूर्ण १६ वां सूक्त
अंत्येष्टिधरकार विषयक है, अतः हम इस संपूर्ण सूक्त पर आगे
चलकर स्वतंत्र विचार करेंगे । यहाँ पर हमें इतना ही देखना
या, कि अग्नि प्रेतको क्या करता है, और तदनुसार हमने
देखा कि प्रेतको अग्नि पितृलोकमें पितरोंके पास पहुंचाती है ।

मरनेपर पितृलोकमें जाना ।

श्रीशानामासुः प्रतिर स्वग्ने पितृणां लोकेऽपि गच्छ-
न्तु ते मृताः । सु गार्हपत्योचितपश्चराति सुवासुषा
अयत्नी धेस्रमै ॥ अथर्व० १२।२।७५॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (एवं जीवन्तः आसुः प्रतिर) तू
जीवितोंको आसुको बढा और जब (ते मृताः) वे मर जायें
तब (पितृणां लोके अपि गच्छन्तु) पितृलोकमें जायें, अर्थात्
जबतक वे जीवित हैं तबतक उनका आसु वृद्धि करता रह
और जब मरे तब पितृलोकमें पहुंचा दे (अराति वितपन्)
न दान देनेवालेको विशेष रूपसे तपता हुआ (सुगार्हपत्यः)
उत्तम गार्हपत्य तू (अरमै) इस जांबके लिए (अयत्नी उपा
यवा) कल्याणकारिणी प्रत्येक उपायो (धेदि) धारण कर,
अर्थात् इसके लिए प्रायश्च उपाय कल्याण करनेवाली हो । इस
मंत्रमें अग्निसे उपा देनेकी प्रार्थना की गई है, परन्तु उपा
तो सूर्य देता है अतः यहाँ अग्नि सूर्यके लिए आवा है ऐसा
प्रतीत होता है । इसके सिवाय सूर्यसे भी दीर्घायुकी प्रार्थना
करनेवाले मंत्र है तथा पहिले हम यह भी देख आए हैं कि
सूर्य किरणोंसे पितर पितृलोकमें जाते हैं, अतः अग्निसे वह
सूर्यका प्रदण है और सूर्यसे कहा गया है कि वह मृतकों पितृ-
लोकमें ले जये । पितृलोककी अवधि पूर्ण होने पर अग्नि
फिर वापिस मरुलोकमें जीवात्मकी लीटा लाता है, यह निम्न
मंत्र हमें दर्शा रहा है—

अवमूज पुनरग्ने पितृभ्यो ण्त आहुतश्चरति स्व-
धाभिः । आयुर्वसान उपवेतु शेषः संगच्छतां तन्वा
जातवेदः ॥ ऋ. १०।१६।५ ॥

यही मंत्र अवधैवेदमें योद्धे पत्र भेदके साथ निम्न प्रकार
आया है—

अवमूज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्व-
धावान् आयुर्वसान उपयातु शेषः संगच्छतां तन्वा
सुवर्चा ॥ अथर्व० १८।२।१० ॥

(आग्ने) हे अग्नि ! (यः) जो (तं आहुतः) तेरे
में अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ (स्वधाभिः चरति)
स्वधाओंद्वारा अर्थात् स्वधाओंको खाता हुआ विचरण करता
है उधको (पितृभ्यः) पितरोंसे (पुनः) फिर लाकर (अव-
मूज) यहाँ छोड, अत्रथे कि (शेषः) यह पुनर्जन्म लिया
हुआ अवश्य (उपयातु) कटुधियों को प्राप्त करे तथा (जात-
वेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (तन्वा संगच्छतां) यह शरीरने
सुक होवे । शेष नाम संतान का है । 'शेष इत्यपत्यनम शिष्यते
इति ' । निरु० ३ । २ ॥ अथवा एष मंत्रका अर्थ निम्न
प्रकार भी किया जा सकता है ।

हे अग्नि ! जो पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओसे विचरण कर रहा है, उसे पितरों के लिए दे अर्थात् उसे पितृलोक में पहुंचा । वहा सय अर्थात् मृत पुरुष की संतान दीर्घ जीवन धारण करती हुई अपने पर जाए । यह तेज्युक शरीरको प्राप्त होवे ।

इस अर्थके अनुष्ठार इस मंत्रका भी विनियोग अंत्येष्टि-संस्कार में किया जा सकता है । मंत्रके पूर्वाभिधे मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है तथा उत्तरार्धे से दाह संस्कार में आई हुई मृत पुरुषकी संतान के लिए दीर्घायु की प्रार्थना है ।

ऋष्यात् अग्नि ।

जिस अग्निदा अंत्येष्टि संस्कार में विनियोग किया जाता है उस अग्निदा नाम ऋष्यात् अग्नि है । ऋष्यात् अग्निदा अर्थ है मांषाहारी अग्नि अर्थात् जिसमें मांस होमा जाता है वह अग्नि । अंत्येष्टि संस्कारमें मृत देहको होमा जाता है अतः इसका नाम ऋष्यात् अग्नि है । इसके सिवाय कईोंका ऐसा भी मत है कि अम्यत्र पितृवह्निदमि भी मांस होमा जाता है और अतः उस अग्निदा नाम ऋष्यात् अग्नि है । हम पीछे 'पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ' इस शीर्षकके नीचे देख आए हैं कि दो एक मंत्र हमें ऐसे भी मिले हैं जिनमें कि पितरोंके लिए वरा मांस आदि देनेका निर्देश मिलता है । आदि करनेवाले लोक पितरोंके लिए मांसका विधान मानते हैं परंतु मांस देनेके समय उसके स्थानपर मांस (उरद) देते हैं । परंतु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मृत शरीर होमा जानेके कारण ही क्या और मांसके होमने की कल्पना वेदमें की गई है, क्योंकि मृत शरीरमें वरा और मांस तथा भेद होते हैं । अस्तु, अब हम देखते हैं कि, ऋष्यात् अग्निसे क्या कार्य है व पितरोंसे उसका क्या विधेय संबन्ध है ।

ऋष्याद्मग्निं महिणोमि कूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः ।
हृहवाप्यमितरो जातवेदा देवेभ्यो हभ्यं वहतु प्रजाजनन् ॥
श्ल० १० । २६ । १९ । ॥ यजुः अ० ३५ । १९ ॥
अथर्व० १२ । २ । ८ ॥

(ऋष्याद् अग्निं कूरं महिणोमि) मांस मसुक अग्निको कूर मिप्रवाता हूँ । (रिप्रवाहः) पावका वहन करनेवाली वह अग्नि (यमराज्ञः गच्छतु) अर्थात् यम राजा है उस प्रदेशोंको चली जावे । (हृह) वही पर (अयं इतरः जातवेदा प्रजाजनन्) यह दूसरी ऋष्यात् अग्निसे मित्र जातवेदस्

अग्नि आगवां हुई (देवेभ्यः हभ्यं वहतु) देवोंके लिए हभ्यो का हनन करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे ।

इस मंत्रमें ऋष्यात् अग्नि को यमराज के देहमें भोजनका निर्देश है और साथ ही ऋष्यात् अग्नि देवोंके हभ्यके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है यह भी बताया गया है । इसका आशय यह है कि ऋष्यात् अग्निका संबन्ध यमलोकसे है अर्थात् कि वितर रहते हैं ।

यो अग्निः ऋष्यात् मन्विषेत् द्यो गृहमिमं परवर्जितं
जातवेदसम् ॥ तं हरामि पितृपशान् कूरं स धर्मनि-
न्यात् परमे सधस्ये ॥

अ० १० । १६ । १० ॥

यह मंत्र योदेसे पठान्तरसे अथर्ववेदमें निम्न प्रकार आया है ।

यो अग्निः ऋष्यात् मन्विषेत् गृहमिमं परवर्जितं
जातवेदसम् ॥ तं हरामि पितृपशान् कूरं स धर्मनिष्ठां
परमे सधस्ये । अ० १२ । २ । १० ॥

(यः ऋष्यात् अग्निः) जो मांषाहारी अग्नि (इमं इतरं जातवेदसं परदन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निसे देख कर (यः गृहं मन्विषेत्) तुम्हारे घर में घुस गई है । (तं देवं) उस दीप्यमान ऋष्यात् अग्निसे (पितृपशान् हरामि) पितृवह्नके लिए बरता हूँ । (सः) वह (परमे सधस्ये) परम सधस्यमें (धर्म) दृष्टको (इत्यात्) प्राप्त होवे । यहीपर इस बातको स्पष्ट किया गया है कि ऋष्यात् अग्नि पितृवह्नके लिए काम आती है । इसका यह मतलब प्रतीत होता है कि पितृवह्न में मांसकी आहुतियां हैं जिसेके लिए दूसरी अग्नि अनुपयुक्त है । इसी अग्नि में पितरोंके लिए मांस व वषादा होम (जैसा कि पूर्व देख आए हैं) होता होगा । इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि ऋष्यात् अग्नि से भिन्न दूसरीको जातवेदस् के नामसे कहा गया है । ऋष्यात् अग्निसे जातवेदस् से नहीं कहा गया । इसका मतलब यह है कि पितृवह्नको लोककर अन्यत्र सर्वत्र जातवेदस् अग्निका विनियोगही होता है । खाद्य पितृवह्न वा पितरोंके अन्य कर्मोंके लिए जैसे शवदहनादिके लिए ऋष्यात् अग्निका प्रयोग होता है ।

ऋष्याद्मग्निमिपितो हरामि वान्त् इहन्त् बज्रेण मृष्टुम् ।
नि तं धाम्नि माह्वेवस्त्विद्वान् पितृणां लोकेऽपि भागो
अस्तु ॥ अथर्व० १२ । २ । ९

(इतितः) प्रेरणा किया गया है (जनान् मृत्युं ददन्तं) मनुष्योंको मृत्युसे दृढ करता हुई अर्थात् मनुष्योंमें मृत्युसंख्याको बढ़ाती हुई (ऋष्यादे अग्निं) ऋष्यात् अग्निंको (वज्रेण) वज्रद्वारा [इरामि] दूर भगता हूं । [विद्वान्] ज्ञानी में [तं गार्हपत्येन निशामि] उस ऋष्यात् अग्निंका गार्हपत्यद्वारा पूर्णतया शासित करता हूं ताछी मृत्यु मनुष्योंमें दृढ न होने पावे । इस प्रकार ऋष्यात् अग्निं-पर' शासन करनेके कारण (पितृणां लोकैऽपि) पितरोंके लोकमें भी (मागः आसु) मेरा माग हो ।

ऋष्यात् अग्निं पर शासन करनेसे अर्थात् उसे वचमें करनेसे पितृलोकमें माग मिलता है, ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है अर्थात् पितृलोकमें यदि माग चाहिए तो ऋष्यात् अग्निंको वचमें करना चाहिए । ऋष्यात् अग्निंके रहनेका स्थान मृत्युदत्ता पितृलोक ही है ऐसा इस नीचेके मंत्रसे ज्ञात होता है ।

ऋष्याद्मग्निं दशमानमुच्यते प्रतिगोमि पथिभिः
पितृमार्गैः । मा देववनिः पुनरागा अत्रैवेधि पितृषु
जायुधि त्वम् ॥

अर्थ = १२।२।१०

(दशमानं उच्यते ऋष्याद् अग्निं) दशमान, प्रसंघाके योग्य, नांघमरुक अग्निंको (पितृमार्गैः पथिभिः) पितृमार्ग-मार्गों द्वारा (प्रतिगोमि) पितृलोकमें भेजता हूं । (देववनिः पुनः मा अत्र आगाः) देवमान मार्गों द्वारा फिर वहां वापिस लौटकर मत आ । (एधि) वही पर इन्द्रिको प्राप्त हो । (पितृ-पु एव त्वं जायुधि) पितरोंमें ही तू जागती रह, अर्थात् दन्हीमें तू शासनानता पूर्वक रह ।

ऋष्यात् अग्निंका पितरोंसे कोई विषेय संबन्ध है, अतएव उसे पितरों में ही रहनेके लिए तथा वापिस न आनेके लिए आदेश इस मंत्रमें दिया गया है ।

दशमान-दशम्वृतवतो से यह शब्द बना है । प्लुत गतिका अर्थ उछल उछलकर आना है । यहाँ पर ऋष्यात् अग्निंको दशमान विषेयन दिया है । इसका मतलब यह प्रतीत होता है कि ऋष्यात् अग्निं मांघको चटक चटक कर आती है । उस चटकनेको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मालो उछल उछल कर आत रही है, इसी कारण संभव है इसे दशमानसे पुकारा गया है ।

अपावृत्त्य गार्हपत्यात् ऋष्याद्। प्रेत दक्षिणा ।

प्रियं पितृभ्यः आगमने मङ्गम्यः कृणुता प्रियम् ॥

अर्थ = १२ । २ । १४

(गार्हपत्यात्) गार्हपत्य अग्निंसे (अपावृत्त्य) हटकर अर्थात् गार्हपत्य अग्निंको छोडकर (ऋष्याद्) ऋष्यात् अग्निं के साथ (दक्षिणा प्रेत) दक्षिण दिशाका जाओ । (आगमने पितृभ्यः प्रियं कृणुत) अपने लिए तथा पितरों के लिए प्रिय करो । (मङ्गम्यः प्रियं) मङ्गलानियोंके लिए प्रिय करो ।

हमें वेदमंत्रों के देखनेसे पता चलता है कि पितरों की दक्षिण दिशा है । और उपरोक्त मंत्रोंसे यह भी माली प्रकार ज्ञात हो चुका है कि ऋष्यात् अग्निं पितरोंमें रहती है । इन दो बातोंको लक्ष्यमें रखते हुए इस मंत्रको देखनेसे इसका भाव समझमें आ सकता है । यहाँपर ऋष्यात् अग्निंके साथ दक्षिण दिशामें जानिका आदेश है । इसके प्रियाय यह भी हमें पता चलता है कि क्योंकि पितरोंकी दक्षिण दिशा है, अतः पितृलोक दक्षिणमें है । ऋष्यात् अग्निंके इतने विषेयनसे ऋष्यात् अग्निंके कार्य क्या हूँ व उसका पितरोंसे संबंध है इत्यदि बातें पठकोंके स्थानमें आगई होंगी । सब अग्निंके अन्य कार्योंको दर्शानेवाले मंत्रोंके दिया जाता है । निम्न मंत्रमें अग्निंका पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए दस्युओंका वशसे हटाना बतलाया गया है । मंत्र इस प्रकार है ।

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुताद्भरन्ति ।
परापुरो निपुरो ये भरल्यप्रिष्टानरमाद् प्र भ्रमाति
दशात् ॥ अर्थ = १०।२।२८ ॥

(ज्ञातिमुखाः) ज्ञातियोंके सदृश मुखवाले अर्थात् जो सजातीय हैं और जो कि (अहुताद्) अहुत अर्थात् न दिए हुएको खातेवाले हैं यानि जबरदस्ती को छीनकर आ जानेवाले हैं ऐसे (ये दस्यवः) जो उपस्रय करनेवाले (पितृषु प्रविष्टः) पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए (चान्ति) निचरण करते हैं, और (ये) जो (परापुरः) पुरोंको तथा (निपुरः) पौरोंको (भरन्ति) हरण करते हैं (तान्) उन दस्युओंको [अग्निः] अग्निः [अस्मान्] वहात्] इस वशसे [प्र धमामि] दूर भगा देता है, यज्ञमें आने नहीं देता ।

भरन्ति = हरन्ति (' इमहोर्भरन्त्यपि ' से ह को म हो गया है ।

इसमंत्रसे यह प्रतीत होता है कि अन्य ज्ञातिगण जिनका कि पितरोंमें गिनती नहीं है और जो हमारा व हमारी सततिका चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हावियों को जा कि पितरोंके उद्धारके दी गई है खाते रहते हैं । पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरोंमें बैठकर हाव खान नहीं देती । इससे यह भा परिणाम निकाला जा सकता है कि पितरोंके लिए जो भी कुछ देना हो वह अग्नि द्वारा अर्थात् यज्ञ करके ही देना चाहिए ताकि वह पितरोंको ही मिले । अग्नि ज्ञाति मुख लाक्षाको न खेन देगी ।

अग्निके शरीरका पितरोंमें प्रवेश ।

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या त तन् पितृध्वाविशेत् ।
पुष्टिर्वा ते मनुष्येषु पमयन्ते तथा रविमस्मासु धदि ॥

पमयन् ११।३।३॥

(अग्नि) हे अग्नि ! (य ते महिमा) जो तूरी महिमा (देवेषु स्वर्ग) देवोंमें सुख पहुचानेवाली है और (या ते तन्) जो तेरा शरीर (पितृध्वाविवेश) पितरोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है तथा (या ते पुष्टिः) जो तेरी पोषकता (मनुष्येषु पमयेत्) मनुष्योंमें फैला हुई है (तथा) उससे (अस्मासु राव भेदि) हमारे अन्दर राव को धनसम्पत्ति को रखा पितर अर्थात् हमें धनसम्पत्ति दे ।

यहां पर अग्नि अपने गारासे पितरोंमें प्रविष्ट हुई हुई है यह बात दिखाई गई है । अग्नि सदा पितरोंमें विद्यमान रहती है ऐसा इच्छा अभिप्राय मालूम पड़ता है । निम्न मंत्रमें पितरोंसे यह प्रार्थना की गई है कि न तो अग्नि हमसे द्वेष करे और नहीं हम अग्नि से द्वेष करें । मंत्र निम्न है—

यो नो अग्नि पितरो हृस्वन्तरा विवेशामृतो पर्येषु ।
मन्यह त परि गृह्णाम देव मा सो अस्मान् द्विक्षत
मा सम तम् ॥ अथर्व० ११।३।३ ॥

(पितर) हे पितरों ! (य अमृत अग्नि) जो अमर-रणशील अग्नि (य मर्त्येषु हृषु) हम मरणशीलोंके हृदयोंमें (आविवेश) प्रविष्ट हुई हुई है (त देव) उस प्रकाशमान अग्निका (अह मपि परि गृह्णामि) मैं अपने अन्दर सब ओरसे ग्रहण करता हूँ स्थापित करता हूँ । (स) वह अग्नि (अस्मान् मा द्विक्षत) हम मर्त्योंसे द्वेष मत करे और (वय मा त) हम उससे द्वेष मत करें । दोनों परस्पर

द्वेष करते हुए मिलकर रहें ।

उपरोक्त मंत्रमें पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि अग्नि हमसे द्वेष न करे व हम अग्निसे द्वेष न करें । नीचे लिखे मंत्रमें अग्निसे प्रार्थना की गई है कि द्वेष तथा पितर हमारे साथ जबरदस्ती न करें । मंत्र इस प्रकार है—

मो पू णो अत्र जुहुन्त देवा सा एव अने तित्वा ।
उदशाः । पुराणोः सद्योः केदारन्तमहदेवानामसुर
स्यमेकम् ॥ अ० ३।५।११ ॥

(अग्नि) हे अग्नि ! (अत्र) यहांपर (देवा मो न सुजुहुन्त) देव त्प हमारे साथ जबरदस्ती मत करे । और (पूर्वं पदशाः पितर मा) पुरातन अर्थात् पूर्वकालीन पदश पितृगण जबरदस्ती मत करें । क्योंकि हे अग्नि ! [केतु] प्रकाशक तू [पुराणो सद्यो] पुरातन यानाष्टुषीके [अन्त] अन्दर सूर्यकण्ठे प्रकाशित होता है [अथाहार] और क्योंकि तू [दवानो एक महत् असुरत्वं] देवोंका एक महत् प्राणदाता है ।

यहांपर अग्निसे कहा गया है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्तीका व्यवहार न करें । हमारी इच्छाके विरुद्ध हठ करके वे हमें किसी भी कार्यमें प्रवृत्त न करें । सूर्यके लिए यहाँ पर अग्नि शब्दको प्रयुक्त किया गया है ऐसा ज्ञान होता है क्योंकि बु तथा पृथिवी दोनोंपर सूर्य प्रकाशित होता है, अग्नि नहीं । इसके अतिरिक्त 'महद्वाता असुरत्वमेकं' से भी यही पता चलता है । सूर्यमें सब देवोंको प्राणशक्ति देनेका सामर्थ्य है, जैसा कि असुरत्व बता रहा है ।

असुरत्व-असुर नाम है प्राणका । 'मणो या असुरा'
श० १।१।२।१॥ अक्षु प्राण राति ददातीति असुरा
प्राणदाता आत्मा । असुरत्व भाव असुरत्वम्-
आत्माकी प्राण देनेकी शक्ति । सूर्यको देवोंकी आत्मा
कहा गया है । 'सूर्यो वै सर्वेषा देवानामात्मा'
श० ११।३।१।१॥

जुहुन्त-हू प्रकाशकरण धातुके लृत् लकार का रूप है ।
'प्रकाशकरणे' का अर्थ होता है हठ पूर्वक जबरदस्तीसे
कोई काम करना ।

पितरोंकी रक्षार्थ अग्निकी उत्पात्ति ।

होताजनिष्ठ चेतन पिता पितृभ्य उतये ।

प्रयक्षन्नेन्यं वसु शक्वेम वाजिनो यमम् अ० ३।५।१

दाया जलाया गया हो। अतः अग्निष्वात् का भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो। हम प्रारंभ में देख आए हैं कि उदत्तय प्राप्नोने भी यही अर्थ दिया है जो कि वेदमंत्रों के पदा चल रहा है। इस प्रकार वेद व मद्राग आग्निष्वात् के ईषी अर्थ पर समझते हैं कि 'ओ अग्नि द्वारा जलाया गया हो।' पाठक हृषपर विचार करें क्यों कि इससे पितरों पर विशेष प्रकाश पड़ता है। अग्निष्वात् का उररोफ लर्ष होने पर निश्चयसे अग्निष्वात् पितर पृतपितरहो हैं यह सिद्ध होता है और उनसे जैसा कि आगे देवोंगे यज्ञमें सुलाधार रक्षा करने, धनादि देने, यह हवि क्षितानेका विशेष है। इसका अग्निष्वात् रूपसे यह है कि मृत पितरों के लिए कुछ न कुछ व्यवस्था करना चाहिए इतना अग्निष्वात् चन्द्रया प्रथाका काल में के बाद अब हम अग्निष्वात् पितरों के पदादि में आने, हमारा रक्षा करने आदि दर्शानेवाले मंत्रोंको उद्धृत करते हैं।

अग्निष्वाताः पितर एह गच्छत सद्गः सद्गः सद्गुत सुमणीतयः । अथा हवींदि मयत्तानि बाँधिष्याव रवि सव्योरां द्यावात ॥ १०१११११

यह मंत्र बोहेसे पठनेसेकै छात्र मनुवेद तथा अथर्ववेदमें भी आया है। देखो यज्ञः १११५१ तथा अथर्व० १८। २। ४४ ॥ अथर्वश्र प्रकाश है-

हे इक्ष्मन् नेता अग्निष्वात् पितरो । इस मंत्रमें आओ । पर परमें स्थित होओ, और यज्ञमें लिए गए हवियोंको स्याओ। हमें सब प्रकारकी वारतासे पूर्ण बनको दो।

इस मंत्रमें अग्निष्वात् पितरोंको यज्ञमें सुलाने, हवि क्षिताने तथा योगनेका स्पष्ट रूपसे उल्लेख है।

आधान्तु नः पितरः सोम्यालोऽग्निष्वाताः पयिभिर्द्वेषयानिः । अग्निम् यतो स्वधया महत्तोऽग्नि सुवन्तु तेऽन्नवहस्मान् ॥ यज्ञः १०१५८४

(सोम्यासः) भीम संयादन् करनेवाले । नः अग्निष्वाता पितरः । हमारे अग्निष्वात् पितर [देवयानिः पयिभिः] देवयान मार्गों द्वारा [अग्निम् यतो स्वधया] इस यज्ञमें आये। [स्वधया मन्ताः] स्वधासे तुम हीकर आनन्दित होते हुए [पयिभुवन्तु] हमें उपदेश करें और [ते अन्नम् अवन्तु] वे हमारा रक्षा करें।

इस मंत्रमें भी पूर्व मंत्रादुधारा वक्ष्यमें पितरोंके आने स्वधासे मृत होने, उपदेश करने व हमारा रक्षा करनेकी प्रार्थना है।

अग्निष्वात्तुद्धमो हवामहे वातातोऽसोमयी व वातुः । ते नो विदामः शुद्धया भवन्तु वरं रयात् पययो रयीणाम् ॥ यज्ञः १०१११११

(ऋद्रमन्तः) ऋद्रुर्धेवाते (अग्निष्वात्तु) अग्निष्वात् पितरोंको (हवामहे) हम बुद्धते हैं, (दे) जो कि (वातातो) सोमयीय वातुः) जिस में मनुष्य पदांशको पाते हैं ऐसे ऋद्रुमें सोमयागको करते हैं, (ते विगाथा) वे मेघावी पिटा (ऋद्रुद्धयाः भवन्तु) हमारे लिए शुद्धयुक्त हुलाने कायक होयें अर्थात् हमें उन्हें हुलानेमें कुछ न हो, हुलाने हीवे हमारा प्रार्थना का स्वीकार कर ला आवे। (वरं) हम (देव) पययः रयात्) यज्ञमें रक्षाकी होयें।

'ऋद्रुद्धयः' का अग्निष्वात् लुत् रूप नहीं होत। अन्तः 'अद्य-माअने' से बना है।

इस मंत्रमें अग्निष्वात् पितरोंको सोमयाग करनेके लिए आमन्त्रित किया गया है। तथा प्रार्थना की गई है कि वे शुभनतासे हमारे अग्निष्वात् की रक्षाकरें। निम्न मंत्र में मिहद्विष प्रकारके पितरोंके लिएद्विष मिष प्रकारके पदांशका उल्लेख है।

यूना बभ्रुनीकायाः पितृणां सोमवर्षा, बभ्रवो पूमनीकायाः पितृणां बाँधिपदां, छृण्णा बभ्रुनीकायाः पितृणामग्निष्वात्तानां छृण्णाः पूमन्तर्द्वयवर्षाः

यज्ञः २५१४१

(यूनाः) धूर्के रंग जैसे तथा (बभ्रुनीकायाः) भूरे जैसे पशु वा पदार्थ (सोमवर्षा पितृणां) सोम रक्षण करनेवाले पितरोंके हों। (बभ्रवः) भूरे तथा (यूमनीकायाः) धूर्के जैसे पशु वा पदार्थ (बाँधिपदां पितृणां) कृपा बाध पर बैठनेवाले पितरोंके हों। (छृण्णाः) काले तथा (यूमनीकायाः) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ (अग्निष्वात्तानां पितृणां) अग्निष्वात् पितरोंके हों। येच 'हृण्णाः पूमन्तर्द्वयवर्षाः' इस मंत्र भाष्यको संबन्ध प्रतीत नहीं होता और नहीं अर्थ स्पष्ट होता है। इस प्रकार अग्निष्वात् पितरोंका मकरण यहाँ पर प्रायः उक्त होता है। यह प्रकरण विशेष विचारणीय पूर्व महत्त्वपूर्ण है।

(१)

बाँधिपत् पितर ।

कांठ विदुन्मन्त्रविद्व्रां सोमिहित नवात् च विक्रमां च विष्णोः । बाँधिपदो ये स्वधया सुवन्तु भवन्तु पितरस्त इहाग्निष्वाः ॥ १०११५१११ यज्ञः १०१५१११

अथर्व० १८११४५१।

(सुविद्वान् वितृन् अर्द्धं विष्णोः आ आविस्वि) उत्तम धनवाले पितरोंको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है । (न पातं विक्रमणं च) और न गिरानेवाले अर्धात् अत्रेय विक्रम यानि पराक्रमको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है । अतः (ये बर्हिषदः स्वधया सुतस्य पितवः भजन्त) जो बर्हि अर्थात् कुशा (दर्म) पर बैठनेवाले पितर स्वधाके साथ निचोढ़ कर उपादित सोमरूपी अन्नका सेवन करते हैं (ते) तुम पितरों ! (इह) इस यज्ञमें (आगमिष्ठाः) बार बार आओ ।

क्रियाओं पर प्रकाश डालेंगे और अन्तमें उस प्रेतसंबंधी जो प्रार्थना है वही उनका उल्लेख करेंगे ।

(१)

प्राण निकलने के कुछ समय पूर्व ।

मनुष्य देहसे प्राण के निकल जानेपर उसकी प्रेत संज्ञा होती है । जब प्राण निकल जानेको हों उस समय क्या करना चाहिए यह निम्न मंत्र दर्शा रहा है ।

इदं हिरण्यं बिभृदि वस्ते पित्राभिः पुरा ।
स्वर्गं यतः पितृहस्तं निर्मृद्धि दक्षिणम् ॥

अथर्व० १८१४५६

हे मरणासन्न पुरुष ! [इदं हिरण्यं बिभृदि] इस सोने की धारण कर, [यत्] जिस सोनेको कि [पुरा] पहिले [ते पित्रा अभिः] तेरे पिताने धारण किया था । इस प्रकार हे मनुष्य ! [स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणं हस्तं निर्मृद्धि] स्वर्ग को जति हुए पितरोंके दाहि हाथको सुसोमित कर ।

निर्मृद्धि-मूज 'शौचालम्कारयोः' से बना है । मृज् घातुका अर्थ छुट्ट करना व सुसोमित करना है ।

इस मंत्रमें दर्शाई गई किया हम अभीतक कई हिंदुभ्राजानियों में पाते हैं । मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दाहि हाथमें सोनेकी खंगूठी पहनाई जाती है । सायणाचार्यने 'हिरण्यं' का अर्थ सोनेकी खंगूठी किया है, अतः संभव है उनके समय में यह रिवाज हिन्दुजाति में सर्वथाधारण होगा ।

इस मंत्र पर उनका माथ्य भी इसी बातका समर्थन कर रहा है ।

२ प्राण निकलनेपर प्रेतका जलस्नान ।

प्राण निकल जानेपर मृत देहको जलसे स्नान कराया जाता है । इस बातका निर्देश निम्न मंत्रमें मिलता है ।

येन मृतं स्नपयन्ति इमधूमि येनोन्दते ।
त वै ब्रह्मन्प त देवा अपा भागमधारयन् ॥

अथर्व० ५११११५

किन्हीं किन्हीं रूपमें अभीतक विद्यमान है । संभव है संपूर्ण भारत में भी यह रिवाज प्रचलित होगा । कच्छ प्रांतकी ' लुहणा ' जाति में कोई कोई प्रेत के शरीर पर पकाय घुवण अलंकार रहने देते हैं और मरनेके बाद भी गोबर से लीपों हुई जमीन पर प्रेतको झुलाकर तुलसी सुवर्णादि उषे देते हैं । युक्तप्रान्त में भी प्रेत को सुवर्ण देनेका रिवाज है । कोई कोई तो प्रेत के दांतोंमें सोने की छोटी छोटी कीलें भी लगवाते हैं, ताकि प्राण जाते हुए मुख सुवर्णहीन न रहे ।

यहां पर बर्हिषद् पितरों को यज्ञमें बुलानेका निर्देश है ।
बर्हिषदः पितरः ऊत्तवागिमा वो हभ्या चक्रमा जुष-
ध्वम् । त आ गता तसा दान्तमेनाथानः सपोरशपो
दृषात् ॥ क्र० १०१५१॥ यजु. अ० १९१५॥
अथर्व० १८११५॥
(बर्हिषदः पितरः) हे कुशासन पर बैठनेवाले पितरों ।
(ऊत्त) रक्षा द्वारा (उर्वाक्) हमारी और होयो अपर्णात्
हमारी रक्षा करो । [वः] तुम्हारे लिए (इमा हभ्या चक्रमा)
इन हथ्यों को करते हैं, (जुषध्वम्) इनको सेवन करो । (ते)
वे तुम (शंसमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साथ (आ
गत) आओ । (अथ) और (नः) हमें (शं) रोगों का
घमन तथा (न्योः) भयोंका दूर मगना और [अरपः] पाप
रहित आचरण दो ।

यहां पर बर्हिषद् पितरों से रक्षण, रोगों का घमन, भयों का दूरीकरण आदि करने की प्रार्थना है ।
इस प्रकार ये अग्नि व पितरों संबंधी विचार वेद में हमें मिलते हैं । इस प्रकरण में कई मननीय विचार हमें मिलते हैं जिनपर विशेष दिचार करना नितान्त जरूरी है । जिन जिन संशोध वे विचार मिलते हैं उन ग्रन्थोंके उनके मंत्रार्थसहित हमने पाठकों के सामने रख दिय है ।

प्रेत व अंत्येष्टि ।

इस प्रकरण में हम शरीर से प्राण निकलने के बादसे अर्धात् प्रेत बननेके प्रारंभ से उसके अंतिम संस्कार दहन तक की ध्य

कौशेया कि हमें ज्ञात हुआ है यह मृत को सुवर्णसे अलंकृत करनेका रिवाज गुजरात प्रांत, युक्तप्रान्त व महाराष्ट्रमें किसी रूपमें अभीतक विद्यमान है । संभव है संपूर्ण भारत में भी यह रिवाज प्रचलित होगा । कच्छ प्रांतकी ' लुहणा ' जाति में कोई कोई प्रेत के शरीर पर पकाय घुवण अलंकार रहने देते हैं और मरनेके बाद भी गोबर से लीपों हुई जमीन पर प्रेतको झुलाकर तुलसी सुवर्णादि उषे देते हैं । युक्तप्रान्त में भी प्रेत को सुवर्ण देनेका रिवाज है । कोई कोई तो प्रेत के दांतोंमें सोने की छोटी छोटी कीलें भी लगवाते हैं, ताकि प्राण जाते हुए मुख सुवर्णहीन न रहे ।

हे [ब्रह्मज्य] ब्राह्मणको मतानेवाले ! [येन मृतं स्नपयान्ति] जिसमें मृत पुरुषको स्नान करते हैं, [येन श्मश्रूणि च उन्दते] जिसमें दाढ़ामुच्छेदके बाल गोल करके हैं, [तं च अथा भाग दत्वा ते आधारयन्] उस जलको भागको अर्धात् जलको देवोंने तेरे लिए निर्धारित किया है । वहाँपर जल द्वारा प्रेतको स्नान करानेका स्पर्श रूपसे निर्देश हमें मिलता है ।

३ स्नानके बाद वस्त्र पहिनाना ।

स्नान करानेके बाद नवीन स्मगामोचित वस्त्रके पहिनानेका निम्न प्रथम निर्देश है—

एतत् स्वा वामः प्रथमं श्वागच्छपादह वदिहा विभः पुराः । इष्टापूर्वमुत्सुक्यम् विद्वान् यत्र ते दत्त बहुधा विषन्धय ॥ अथर्व० १८।१।५७

हे मृत पुरुष ! [एतत् प्रथमं वाम] यह स्नान मोचित मुख्य वस्त्र [त्व तु भा अगन्] तुम प्राय हुआ है । [यद् इह पुरा अग्निभः] जिस वस्त्रका पहिने यह व त् प र्ना करता था [तत्] उस वस्त्रमें [अथ ऊर्ध्व] छात्र दे । [वशा] जहाँ [ते बहुधा] बरबन्धुपु दने] तथा अथः विबन्धुभूमिमें जो दान है, उसको [विदन्] जानता हुआ [इष्टापूर्व] अर्थात् तजजन्य फलको [अनुसक्तम्] प्राप्त की

विबन्धु = जिसका बन्धु नहीं रहा है अर्थात् ऊनाय गरीब आदि ।

इस संक्षेपे मानपर परान् वशोके व्याप कर दाबको नवीन स्नान मोचित वस्त्र पहिने का उद्देश है ।

४ स्नानान भूमिकी तरफ प्रयाण ।

स्नानान का ग्रामसे बाहर होना ।

अथम जावा बरुधन् गृहेश्वर्यर्त्नं निर्वहत परिग्रामादितः मथुर्यमग्वासाद्दूत प्रवेत्ता सम्युत्प्लुत्वा गमयां चकार अथर्व० १८।३।२७

(जीवः) गणपार्ति लोमेंने (इमे इव) - ३१ गृहेश्वरः) घरोंसे (अथ अग्धन) बाहर कर प्रिया है (त) इसका तुम लोग (इतः ग्रामान्) इस प्रथम (वाग निवर्त्तन) बाहर को आर समाप्त भूमिमें ले जाओ । क्योंकि । अस्वय स्युः दूतः आशोन् यमका जा मृत्यु दूत है उस (प्रचलाः) प्रष्टष्ट शानी मृत्युके इमके (अमन) प्राणिकी (पितृभ्य गमयां चकार) पितरोंके लिए अर्थात् पितरोंके पाप विमूनामके (गमयां चकार)

भेज दिए हैं। अतः क्योंकि यह विगमप्राण हो चुका है । इस-लिए इससे रावको प्रथमे बाहर दहनादि क्रियाके लिए ले जावो ।

इस भंशमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे पक्षे बाहर कर देना चाहिए व तदनन्तर ग्रामसे बाहर ले जाना च दिए । स्नानभूमि ग्रामसे बाहर होनी चाहिए ऐसा इसका अभिप्राय है ।

अथ पूर्वक दृष् गानुका भयं बाहर करना है । वहा पर स्युको यमका दूत बताया गया है ।

शरीरसे प्राणके छूट जानेपर स्नान आदि काराकर वस्त्र बदल कर उसे स्नानान भूमिमें ले जाने की बाह्य आर्ता है । हिन्दुलोग दाबकी, बाहोंकी शरदा बनाकर उस पर पाप फूस टालकर उसे नार आदमी कंधेपर रखकर स्नानानमें ले जाते हैं । मुसलमान लाम र्मा इमी प्रकारसे ले जाते हैं । ईसाई लोग गादीमें सब टालकर स्नानानभूमिमें ले जाते हैं । नीचे दिए गए तीन मन्त्रोंके साधन माधने दाबकी बैलगादोंमें ले जाना चाहिए देखा पना चलता है ।

इमी युनाजिम ल वही अनुनीताप वीदवे ।

ताभ्यां यमस्य सादन्ं समिथोश्चाव गत्पतात् ॥

अथर्व० १८।३।१६

हे मृतपुरुष ! (इमी वही) वहल करनेवाले इन दो बैलोंकी (ते वीदवे) तेरे वस्त्र करनेके लिए (युनाजिम) बैलगाड़ीमें जोड़ता हू । किस लिये ? (अनुनीताप) जिसमेंसे प्राण निकल गए है उस असुनेत अर्थात् गमशाण देहके बदन करनेके लिए अथवा अनुनीतरु अर्थ है जौक मुसलमान ल लेजाया जा सके । जिसके उठानेमें तकलीफ होनी हो । (ताभ्यां) उन बैलोंसे (यमस्य वादन्ं इति) वह यमका घर है इस प्रकार (से अव-ग गन्तान्) भली भांति जान ।

इद एवंमपरं निवानेचगेत्ते पूर्वे पितरः परेतः ।

पुरो गवा ये अग्निशाची अस्य ते स्वा यहस्ति सूहृत्पु गोक्ष्म ॥ अथर्व० १८।४।४४

[इदं] यह सामने स्थित (पूर्वे) पुरातन तथा । अथर्व) आजकी (निवानं) बैलगाड़ी है । (येन) जिस पुरानी बैल गाड़ीसे (ते पूर्वे पितरः परेत) तेरे पुरातन पितर वहासे गए हैं । (अथ्य) इस आजकी बैलगाड़ीके (अग्निशाचः) दोनों और जुलकर चाते हुए, (जेषा कि बैलगाड़ीमें बल होनी और पाशमें जुते हुए होते हैं) [पुरोगवाः] अगले भागमें

अर्थात् धुरामे जुते हुए जो बैल हैं (ते) वे बैल (ता) तुम्हें (सुकृदां लोकं) सुकृदांके लोकमें (बहन्ति) प्राप्त करावे ।

नियानं = नीचीनं पराहसुखं यागित् अनेन प्रेता इति नियानं शब्दम् । स्मशानमें पहुंचनेपर बैलोंका गादोसे खोलना—

आ प्रत्यवेधामपतन्मृज्यो यद् वामभिमा
अत्रोचुः । अस्मादेतमध्वनौ तद् वशीमो दातुः
पितृष्विह भोजनौ मम ॥

अर्थ० १८।४।१७

हे प्रेतबाहक बैलो ! (तुवां) तुम दोनों (आ प्रत्यवेधाम्) बैलगाड़ीसे बिरुक्त होओ। (तत्) उस (वश्यमाग) जो आगे कडा जायगा निन्दारूप वाक्य से (अप मृज्यो) झुट होओ। उस निन्दारूप वाक्य को जिससे कि स्वर बुद्ध होनेकी कडा गया है, कहते हैं— (अभिमाः) दोष देनेवाले पुरुषोंने (मां) तुम दोनोंको ' पुंगवौ किल अस्पृश्यं अनिरीक्ष्यं प्रेतं ऊडवन्तौ ' इत्यादि निन्दारूप, (यत् उचुः) जो वाक्य कडा है, उससे झुट होओ। (अप्यौ) हे हिंसा करने के अयोग्य बैलो ! (अस्मात्) इस निन्दा की कारणमत्त गाड़ी से [एतं] जो छूट आना है (तत्) वह [वशीयः] श्रेष्ठा होवे। और तब [इह] इस पितृमेघ में [पितृषु दातुः मम] पितरोंका उद्देश्य करके अग्नि की देते हुए वा हविष्को देते हुए मेरे [भोजनौ] पालना करनेवाले होओ।

इन मंत्रोंके अनुसार बैलगाड़ी द्वारा प्रेतका स्मशानमें ले जान वैदिक प्रथा प्रतीत होती है ।

७. स्मशानभूमिसे विघ्नकारियोंका भगाना ।

अथ स्मशान में प्रेतके पहुंच जानेपर जित स्थान पर प्रेतको जलाना वा गाड़ना है, वह, सेदुष्टोंके दूर करनेकी प्रार्थना का निम्न मंत्रमें उल्लेख है । तदनुसार प्रार्थना करके अगली विधि करना चाहिए ।

अपेतो यन्तु एणयोऽसुम्ना देवरीयवः अथ
लोकः सुतावतः । धुमिरहोमिरक्तुभिर्व्यंक्तं
यमो ददाववमानमर्म ॥ यजुः अ० ३५।१४

[देवरीयवः] देवोंकी हिंसा करनेवाले [असुम्नाः] दुःख देनेवाले [पगवः] झुट भयवहार करनेवाले लोक [इतः] इस स्थानमें जहां कि प्रेत की संश्लेषि करना है, [अपयन्तु] दूर दूर जावे । क्योंकि [लोकः] यह स्थान [अथ सुताव-

तः] इस सोमाभियव करनेवाले याज्ञिक का है । [अर्मै] इसके लिये [यमः] यम [युभिः अहोभिः] प्रकृशमान दिनों व (अक्तुभिः) रात्रियोंसे [व्यक्त अवधानं] स्पष्ट समाप्ति [ददातु] देता है। अर्थात् इस जीवनमें अथ उसके लिए दिन व रात्रिकी समाप्ति हो चुकी है। भावार्थ यह है कि यम ने उसका यह जीवन समाप्त कर दिया है, अब उसके लिए दिन व रात्रि नहीं होनी हैं। इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि हे दुष्टलोगो ! इस स्थान से भाग जाओ जहां कि हमने इस प्रेतका संश्लेषि संस्कार करना है, जिससे कि संस्कारमें द्रुम विघ्न न डाल सकी। इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी ऐसी ही प्रार्थना है। मंत्र इस प्रकार है—

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोक-
मक्रन् । अहोभिरन्निरक्तुभिर्व्यंक्तं यमो ददाववसान-
मर्म ॥ अ० १०।१४।१६
अर्थ० १८।१।५५ ॥

हे दुष्टो ! [अपेत] यहासे चले जाओ। [वीत] भाग जाओ। [विसर्पतातः] सर्पैया दूट जाओ। क्योंकि [अर्मै] इस मृत पुरुषके लिये [पितरः एतं लोकं अक्रन्] पितरोंने यह स्थान [स्मशानभूमिका] किया है— चुना है— निर्धारित किया है। दोष उत्पार्थका अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है। केवल ' अद्रिः ' यद् विशेष है, जिसका शब्दार्थ है जलोत्थ। परन्तु यह पेय पदार्थोंके लिए यहां आया है। मरनेपर सांसारिक पेय पदार्थोंकी भी समाप्ति हो जाती है। इस प्रकार यह मंत्रभी उपरोक्त प्रयोजनके लिए ही है।

अपेत वीत वि च सर्पतातो येऽत्र स्य पुराणा ये च
नूतनाः । अदाद् यमोऽवसानं पृथिव्या अद्रिज्जितं
पितरो लोकेमर्म ॥ यजुः १२।४५

[ये] जो द्रुम [पुराणाः] पुरातन विघ्नकर्ता और [ये नूतनाः] जो तुम नवीन विघ्नकारी लोग [अत्र] यहां स्मशान-भूमिमें [स्य] हो वे तुम [अपेत] यहांसे चले जाओ। [नूत] भाग जाओ। [विसर्पतातः] सर्पैया दूट जाओ। क्योंकि (यमः) यमने (अर्मै) इस मृतके लिए (पृथिव्याः अवसानं अदात्) पृथिवीकी समाप्ति दी है यानि इसका पृथिवीपरका जीवन समाप्त कर दिया है उसलिये [पितरः] पितरोंने इसके लिए [इमं लोकं] यह स्मशानभूमिका स्थान [अक्रन्] किया है अर्थात् चुना है क्योंकि इसका यहां अंश्लेषि संस्कार होना है। इस प्रकार इन मंत्रोंमें स्मशानमें विघ्नकारी-

यौंके भगनेका उल्लेख है तदनुसार उन्हे भगाकर अगला विधि करनी चाहिये ऐसा इन मंत्रोंका आशय है ।

(६) प्रेतको जलाना, गाडना आदि ।

प्रेतके ममशानभूमिपर पहुँच जानेके अनन्तर उसे ग डबने, बहाने, जलाने वा हवामें सुला छोडनेकी क्रिया की जाती है । नीचे लिख मंत्रमें इन इन चारों क्रियाओंका उल्लेख पाया जाता है ।

ये निसाता ये परोसा ये दुग्धा ये चोडिता ॥
सर्वोस्तानमे भगवद पितृन् हविषे अक्षवे ॥

अधर्व १८।२।३४

(अने) दे अग्नि । (ये निखाता) जो पितर जमानमें गाढे गए हैं और (ये परास्ताः) जो पितर दूर बहा दिए गए हैं तथा (ये दुग्धा) जो जला दिए गए हैं (च) और (ये चोडिता) जो पितर जमानके ऊपर हवामें रखे गए हैं, [तावु सर्वान्] उन सब पितरोंको तु [हविषे अक्षवे] इष्टि भक्षुषार्थ (आ वद) ले भा ।

महापर चार प्रकारके स्मरण-धर्म बरौए गए हैं । [१] गाडना, [२] बहाना, [३] जलाना और [४] हवामें जमानपर सुला छोडना ।

[१] गाडना—उक्त प्रेत जमानमें गाढे जाते हैं अिनका कि आयेष्टि संस्कार अग्नि द्वारा नहीं किया जाता । ये चीन हैं इसपर हमने योडाषा विचार करना है । जो मनुष्य अन्धाधी होकर अपना दहत्याग करते हैं उनके देहको न जल नैके लिए हम तथोमें बहा गया है, क्योंकि अन्धाध प्रथमें प्रेषित करते हुए पुष्टववा सर्वमेध दाय करना पडता है । इस दायमें वह अग्नि सम्बन्धी सर्व कायोंसे मुक्त हो जाता है । अतएव उसे मरनेपर अग्नि द्वारा नहीं जलाया जाता । अन्धाधके शरीरको जलाना चाहिएवा नहीं इस विषयमें अभातक हमें श्रुतिका निश्चय श्रात नहीं है, पर स्मृति नियम करती है । अतः ' निखात ' से अन्धाधोका भी प्रदह विदाया सचता है । इसके आतिरिक्त वर्तमान समयमें विशेषतः सुखलमान व ईर्ष्या लोग सुदोको न जलाते हुए गाडते हैं । अतः उनके प्रेतोंका भी निखातसे प्रदह किया जा सचता है, अेषा कि हम ऊपर कह आए हैं । मुद्देकी चार अवस्थायें ही सचती हैं उनमेंसे एक निखात है ।

[२] जलाना वा

[३] जलमें बहाना] ये दो अवस्थायें विशेषतः

हिन्दुओंमें पाई जाती हैं ।

[४] जमानपर वासुमें रखना यह चौथी अवस्था पारकिदोमें पाई जाती है ।

इस प्रकार ये चारों अवस्थायें वर्तमान समयमें हमें मिलती हैं । वेदमें मूठोंके दो विभाग मिलते हैं [१] अग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें पडाए जाते हैं तथा [२] अग्निदग्ध अर्थात् जो अग्निमें नहीं जलाए जाते । अनग्निदग्धमें जलानेकी अवस्था की छोडकर दोष चीनों अवस्थायें अन्तर्हित हो सचती हैं ।

यदि हम स्मरण रीतिसे हिन्दुओंके अग्नेष्टिसंस्कारका अवलोकन करें तो हम देखेंगे कि उपरोक्त चारों अवस्थाओंमें विन्ध रूपमें उनके अग्नेष्टि संस्कारमें विद्यमान हैं । इससे यह अनुमान भी किया जा सकता है कि किसी न किसी समय ये चारों प्रयागे हिन्दुओंमें प्रचलित होंगे । यद्यपि इस समय वे अक्षय रूपमें ही अवशिष्ट रह गई हैं । इस समयका हिन्दुओंका प्रेतसंस्कार इन सकेलौ उचित इस प्रकारसे होता है : इस देखनेसे ऊपरका परिणाम स्पष्ट प्रमाण होगा ।

[१] प्रायः आजकल हिन्दुलोग सुदो अग्निमें जलाते हैं और जलनेके बाद तीसरे दिन [२] एक अग्नि [पत्तार] लेकर उसको जमानमें रख देते हैं । इसी प्रकार मूठकी इष्टिवा चुनकर एक मिट्टीके बरतनमें रखते हैं अथवा इक्षुपर लटका देते हैं अथवा [३] बहुतसे लोग अग्निदग्ध नदी वा घण्टीमें बहा देते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ लोग क्षीमा मुद्देको ही नदीमें बहा देते हैं । यदि इतनाभी न हो सखा तो चावलों वा अग्नेष्टि पिण्ड बनाकर उसके ऊपर मृत पितरोंकी पूजा कर उसे पिण्डको बहा देते हैं । [४] मरनेके बादके दसदिने उपरोक्त कथनानुसार पिण्ड बनाकर परके बाहर सुला रख देते हैं, ताकि उसे कौदा स्वर्ग करें । जबतक कौदा स्वर्ग नहीं करता, तबतक अग्नेष्टि श्रिया पूर्ण नहीं हुई ऐसा समझा जाता है । यह अक्षय देवामें सुदोकी पराधिनाकी तरह सुला छोडने की क्रिया का है ।

इस प्रकार ये चारों विधियां केवल हिन्दुओंमें भी किसी रूपमें पाई जाती हैं वह हम देख सकते हैं । उपरोक्त मंत्रमें जो चार विधियां दर्शाई गई हैं वे वे ही हैं ऐसा हम कह सकते हैं । अतएव ' ये चोडिताः ' अर्थात् जो ऊपर रख दिए हैं यानि जो हवामें जमान के ऊपर रख दिए हैं, यही प्रतीत होता है । इसी प्रकार ' ये परास्ता ' का अग्निदग्ध जो जलद्वारा दूर बहा दिए हैं यही प्रतीत होता है । अस्तु, इसमें कही गई अवस्थाओं पर हमने

ने यथाशक्ति प्रकाश डालनेकी कोशिश की है। पाठक इसपर विशेष विचार कर उचित निष्कर्ष निकालें।

नीचे लिखे तीन मंत्रोंमें प्रेतके भूमिमें गाढनेका उल्लेख है। मंत्र इस प्रकार हैं—

अभिरशोर्गोमिं पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।

अवीयु भद्रं तन्नरपि स्वधा पितृषु सा स्वयि ॥

अ० १८।२।५२ ॥

हे प्रेत ! [त्वा] तुझे [मातुः पृथिव्याः] मातापृथिवीके [भद्रया वस्त्रेण] कल्याणकारी वस्त्रसे [अभि शोर्गोमि] आच्छादित करता हूँ अर्थात् जमीनमें तुझे गाढता हूँ। [अवीयु भद्रं तत् स्वयि] जीवितोंमें जो कल्याण है वह मेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो और [पितृषु स्वधा] जो पितरोंमें स्वधा है [सा स्वयि] यह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यथापर १५१ शब्दोंमें प्रेतके गाढनेका निर्देश है।

इदमिद् वा क नाभं दिवि पर्यासि सूर्यम्

माता पुत्रं यथा सिचाम्येनं भूम ऊर्जुं हि ॥

अ० १८।२।५० ॥

हे मृत पुरुष (इदं इत् वा क) यही है (न अपरं) दूसरा नहीं है। (दिवि सूर्यं पर्यासि) जो पुत्रोक्तमें तू सूर्य देखता है। (यथा पुत्रं माता सिचा) जिस प्रकार पुत्रको माता अपने आंचलसे ढांपती है उस प्रकार हे (भूमे) पृथिवी तू (एनं) इस मृत पुरुषको (अभि ऊर्जुं हि) चारों ओर से ढांप। इस मंत्रके पूर्वार्धकी उत्तरार्धसे कैसे संगति है यह अभी तक कुछ स्पष्ट नहीं हुआ। उत्तरार्ध का भाव स्पष्ट है।

असौ वा इह ते मनः ककुत्सकामि वामयः । अन्येनं

भूम ऊर्जुं हि ॥ अथर्व० १८।२।६६ ॥

(असौ) हे फलाने नामवाले प्रेत ! (इह ते मनः) यहाँ तेरा मन है। हे (भूमे) पृथिवी ! (वामयः ककुत्सलं इव) जिस प्रकार छियां अपने बच्चेको वल्लसे ढांपती हैं या कुल छियां अपने शिरको ढांपती हैं उस प्रकार [एनं] इस प्रेतको [अभि ऊर्जुं हि] अती प्रकार ढांप।

इन उपरोक्त मंत्रोंमें प्रेतके जमीनमें गाढने का उल्लेख है। इससे गाढनेकी प्रथामी वैदिक ही है यह पता चलता है। अब तक अंत्येष्टिके मंत्रोंको देखनेसे हम कह सकते हैं कि हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदिवाँसों जो सुँदके जन्मे गाढने आदिकी प्रथायें प्रचलित हैं, वे सब वैदिक हैं। या यों कह सकते

हैं कि वे सब वेदोंसे उनके पास गई हुई हैं। उनका आदि स्रोत वेद ही है।

(७) अंत्येष्टि—संस्कार ।

काष्ठ संवय करके उसपर प्रेत रखकर अग्नि प्रज्वलित कर जाता है। अग्नि के प्रज्वलित हो जानेपर निम्न मंत्रोंसे अग्निमें प्रार्थना की जाती है। आवश्यक दो एक मंत्र हम यहाँ देते हैं।

मैनमने विद्महे माभिशोचो मास्य स्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् । यदा श्रुतं कृणवो जाववेदोऽधेमेनं प्रहिणुतात् पितृभ्यः ॥ अ० १०।१६।१॥

[अग्ने] हे अग्नि ! [एनं मा विददः] इस प्रेत को इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो। [मा अभिशोचः] इसे शोकाकुल मत कर। [अस्य स्वचं मा चिक्षिपः] इसकी स्वचा को मत बखेरा (मा शरीरं) इसके शरीर को भी मत बखेरा। अर्थात् इसकी स्वचा व शरीर को पूर्णतया जला दे। कोई भी भाग जलने से अवशिष्ट न रह जावे। और [जातवेदः] हे जातवेदस् अग्नि ! [यदा श्रुतं कृणवः] जब इसे पूर्णतया पकव बना दे अर्थात् जलादे, [अयं तव [एनं] इसको [पितृभ्यः प्रहिणुतात्] पितरोंके लिए भेज दे यानी पितृलोक्तमें पितरों के पास पहुँचा दे।

यह मंत्र अथर्व वेद [१८ । २ । ४] में भी आया है। इस मंत्र को हम पहिले 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहाँ पर जो कुछ विशेष बक्तव्य इस मंत्रपर या वह दे आए हैं। अतः यहाँ पुनः लिखना व्यर्थ है।

श्रुतं यदा करसि जाववेदोऽधेमेनं परिदृसात् पितृभ्यः । यदा गच्छात्सुनीतिमेतामया देवानां वशनीर्भवाति अ० १०।१६।२॥

हे जातवेदस् अग्नि ! जब इस प्रेत को पूर्णतया दग्ध कर दे तब इसे पितरों के लिए ढाँप दे। जब इस प्रेत के प्राण निकल जाते हैं तब यह देवों के वशमें होता है।

यह मंत्र भी पूर्ण व्याख्यासाहित्य उपरोक्त मंत्रके साथ 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहाँपर देखने से यह मंत्र स्पष्ट हो जायगा।

अज्ञो भागस्तपसा तं तपस्य तं ते शोचिस्त्वपत्तु तं ते शर्धिः ॥ यारटे शिवास्तन्वो जातवेदस्तामिर्वैर्नं सुकृतासु लोकम् ॥ अ० १०।१६।३ ॥

अथर्व० १८।२।६॥

[अत्र. भागः] हे अग्नि इस प्रेत का जो अत्रभाग [आत्मा] है [त] उसे तू [तपसा तपस्व] अपने तपसे तथा । [तं] उस अत्रभाग को [ते शोचिः] तेरी शोचमान ज्वाला [तपत्] तपावे । [तं] उस अत्र भागको [ते अर्चिः] भासमान ज्वाला [तपत्] तपावे । और फिर [आतवेव] हे आतवेदस् अग्नि । [याः ते शिवाः तपः] तेरे जो कल्याणकारी ज्वालामुखी तनू हैं [ताभिः] उन द्वारा इस अत्र भाग को [सुकृतां लोकं] सुकर्म करनेवालों के लोकमें [वह] प्राप्त करा ।

इस मंत्र से भी यही परिणाम निकलता है, जैसा कि हम पहिले दर्शा आए हैं । अर्थात् शरीर के जल जाने तक आराम शरीर के प म ही रहती है और शरीर दहन के अनन्तर अग्नि द्वारा अन्यत्र ले जाई जाती है । यह सम्पूर्ण सूक्त इसी भावके मंत्रोच्चारण है जिसका कि अर्थोद्दिष्ट में विनियोग होता है । इस प्रकार प्रेतदहन के समय आग्नेय से मार्शनार्थ करनी चाहिए, ऐसा इन मंत्रों का अभिप्राय है ।

उपरोक्तानुसार अग्निसे प्रार्थनाय करके अंशोद्विपरक मंत्रों से अग्निमें आहुतियाँ देनी चाहिए । यजुर्वेद का ३९ वां अध्याय अंशोद्विपरक है । हम यहाँ वेदी मंत्र देगे जिनका कि हमारे प्रकरण से संबंध है अर्थात् जिन मंत्रों में यम या पितर विषयन किसी प्रकार का निर्देश है ।

यमाय स्वाहाऽन्तकाय स्वाहा सृत्नवे स्वाहा । ब्रह्मणे स्वाहा । ब्रह्महत्याय स्वाहा विक्षेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा । यात्रापृथिवीभ्यां स्वाहा ॥ यजुः ३९।१३ ॥

[यमाय स्वाहा] यम के लिए स्वाहा । [अन्तकाय स्वाहा] अन्तक के लिए स्वाहा । [सृत्नवे स्वाहा] मृत्युके लिए स्वाहा । [ब्रह्मणे स्वाहा] ब्रह्मके लिए स्वाहा । [ब्रह्महत्याय स्वाहा] ब्रह्महत्या के लिए स्वाहा । [विक्षेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा] सब देवों के लिए स्वाहा । [यात्रा पृथिवीभ्यां स्वाहा] धृ तथा पृथिवी के लिए स्वाहा ।

इस मंत्रमें यम के लिए भी एक आहुतिका निर्देश है । इसी प्रकार के अन्य मंत्रों से आहुतियाँ देकर प्रेत से कटा जाता है कि हे प्रेत । -

सूर्यं पशुर्गच्छतु वातमारामां च गच्छ पृथिवीं च धमेणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रसिषिन्धा शरीरैः ॥ ऋ० १०।१।३ अथर्व० १८।२।१०

तेरी आत्मा सूर्यको जावे । तेरे प्राण वायु को जवे । और हे प्रेत । तू कर्मफलजन्य धर्म से वा पार्थिवीदे तत्वोंके धर्म से [पृथिवीका अंश पृथिवीमें जावे इस प्रकार से] धृ व पृथिवी को जा, उन उनके अंश उनमें मिल जावे । इसी प्रकार जलोमें जलाश जावे यदि जलो वा कोई अंश तेरे में स्थिर हो । इसी प्रकार ओषधियोंमें गरीशंशोत् स्थित हो । इस मंत्रपर जे विद्येय वक्ष्य या वह हम पहिले दे आए हैं । इस प्रकार प्रेत का अग्नि संस्कार हो जानेपर उसकी आत्मा से कटा जाता है कि—

सहस्रणीयाः कवया वे गोपापन्ति सूर्यम् । ऋषीन् तपस्वतो यम तपोर्जा अपि गच्छतात् ॥ ऋ० १०।१५।५० अथर्व० १८।२।१८ ॥

[सहस्रणीयाः कवया] हजारों को ले आनेवाले अर्थात् हजारों के नायक, प्रान्तदर्ता, [ये] जो कि [सूर्यं गोपापन्ति] सूर्यकी रक्षा करत हैं, ऐसे [तपस्वतः] तपोयुक्त, [तपोर्जात्] तपसे उत्पन्न [ऋषीन्] ऋषियों को [यम] हे नियमवान् । तू [गच्छतात्] प्राप्त हो, अर्थात् इनमें जकर तू जन्म ले ।

८ प्रार्थनायें ।

इस प्रकार प्रेतदहन की किया समाप्त हो जानेपर उसके लिए पीछे की जानेवाली प्रार्थनाओंका उल्लेख निम्न मंत्रों में है ।

सप्त प्राणानष्टौ मन्वस्तास्ते वृथासि मद्गणा । भया यमस्य सादनमग्निदूतो अरत्कृतः ॥ अथर्व० २।१२।५

[ते] तेरे [तान् सप्त प्राणान्] सप्त प्राणोंको, [अष्टौ-मन्यः] आठों नाडियों को [मद्गणा] मद्र से [वृथासि] काटता हूँ । तू [अग्निदूता] अग्नि को दूत बनाकर [अरत्कृतः] शीघ्रता करता हुआ [यमस्य] यमके [स दत्ते] घरकी [अयाः] जा ।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमेष्ठ्योमन् । हित्वायावच्च पुनरस्तमेहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्थाः ॥ ऋ० १०।१५।८० अथर्व० १८।३।५८

(पत्ने ष्योमन्) उच्छ्रुत् ष्योममें अर्थात् स्वर्ग में (पितृभिः) पितरोंके साथ (संगच्छस्व) तू जा । (यमेन सं) और यमके साथ स्वर्ग में जा । (इष्टापूर्तेन) इष्टापूर्तके साथ स्वर्गमें जा । (अवयं हित्वाय) निन्ध कर्मोंका त्याग करके (पुनः) फिर (अस्ते एहि) घरको आ, अर्थात् पुनर्जन्म ले । और

(सुवर्चाः) उत्तम तेजसे युक्त हुआ हुआ (तन्वा संगच्छस्व)
सारीर धारण करके दुनियामें विचरण कर ।

भिन्न भिन्न अर्थमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग

पितृ शब्दवाले मंत्रोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुवचनमें प्रयुक्त पितृशब्द खास अभिप्रायसे प्रयुक्त किया गया है । एकवचन व द्विवचनमें आया हुआ पितृ शब्द खास महत्त्वका नहीं है यह बात आगे दिये जानेवाले मंत्रोंके समन्वयसे पाठक सुगमतासे जान सकेंगे । अथवाक आए हुए मंत्रोंके देखनेसे पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात अवश्यमेव आगई होगी, कि उन मंत्रोंमें सर्वत्र बहुवचनान्त पितृशब्द ही प्रयुक्त है । इस प्रकारमें हम उन जोड़ेसे मंत्रोंको देंगे कि जिनमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग उस अभिप्रायसे नहीं किया गया, जिस अभिप्रायसे कि अथवाकके मंत्रोंमें किया गया है । पाठक वर्षे हमारे इस कथनका अनुभव स्वयमेव मंत्रोंके देखनेसे कर सकेंगे । यह प्रकरण, अथवाकके मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके प्रयोगका अभिप्राय आगे आनेवाले मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्रायसे भिन्न है । यह दर्शाता हुआ हमें पूर्वेक मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्राय-निर्णयमें पूर्ण सहायक होगा ऐसी आशा है । इस प्रकार यह प्रकरण बहुवचनान्त पितृ शब्दके अभिप्राय-निर्णयमें महत्त्वशाली होगा, यह पाठकोंकी सहाय्यर ध्यानमें रखना चाहिये ।

१ हिंसा अर्थमें ।

प्र तु वोचा सुतेषु वां वीर्यां यानि चक्रयुः ।

हतासो वां पितरो देवराजः इन्द्रायानो

जीवयो युवम् ॥ ऋ० ६।५।१॥

हे इन्द्रायानो ! (वां) तुम दोनों (सुतेषु याने वीर्यां चक्रयुः) उत्पन्न पदार्थोंमें जो पराक्रम करते हो, उनका. (तु) निश्चय से (प्रवोचा) मैं प्रवचन करता हूँ । अथ प्रवचन का प्रकार बताते हैं—हे इन्द्रायानो ! (वां) तुम्हारे (पितरः) हिंसा करनेवाले (देवराजः) देवोंसे शत्रुता करनेवाले (हतासः) नष्ट हो गए हैं । (युवं) तुम दोनों (जीवयो) जीवित हो ।

पितरः—विधित हिंसाकर्मां धातुसे पितर शब्द बनाया गया है, क्योंकि देवशत्रुका यह विशेषण है । अतः यहाँ पितरका अर्थ हिंसा करनेवाले ही है । मंत्र भी इस अर्थका योग्य है ।

१४ (अ. सु. भा. कां. १८)

२ ज्ञानी लोक पितर

कथमनयः कति सूर्यासः कथुषासः कथुस्विदापः ।

नोपस्थिजं वः पितरा वदामि पृच्छामि वः क्वयो

विद्वन्ने कम् ॥ ऋ० १०।८।१८

(अनयः कति) आमेयां कितनी हैं ? (सूर्यासः कति) सूर्य कितने हैं ? (उपस्थिजं वः) उपस्थि कितनी है ? (आपः कतिस्वत्) भला आप कितने हैं ? (क्वयः पितरः) हे ज्ञानतदर्शा ज्ञानी पितरों ! (वः उपस्थिजं न वदामि) तुम्हारा स्पर्धा करता हुआ यानि परीक्षा लेनेके अभिप्रायसे उपसोक्त पद नही पूछता हूँ भवितु है नही ज्ञानता अतः (विद्वन्ने) जाननेके लिए (वः पृच्छामि) तुमसे पूछता हूँ । मंत्र स्पष्ट है । ज्ञानी लोकोंको पितरसे संबोधन किया गया है ।

३ राज-सभाके सभासद पितर ।

सभा च मां समितिश्चावतां प्रजापतुहितरौ

संविदाने । येना संगम्या उप मां स शिक्षाच्चः

वदामि पितरः संगतेषु ॥ अ० ५।१।११

(संविदाने) परस्पर मेल रखनेवाली एक मतको प्राप्त हुई हुई (प्रजापतेः) प्रजापति राजाकी (दुहितरौ) दो दुहितारों (सभा च समितिः च) सभा और समिति (मां) मेरी (आवतां) रक्षा करें । (येना संगम्या) जिस जिस सभासदसे मैं संगत होऊँ यानि उसकी संगति करूँ (सः) वह वह सभासद (मां उपशिक्षात्) मुझ शिक्षा दें । (पितरः) हे सभासदः ! (संगतेषु) संमेलनमें मैं (चाह वदामि) प्रिय शब्द ।

इस मंत्रमें राजाकी राजसभासदोंके प्रति उक्ति है । उनको पितरके नामसे कहा गया है ।

४ सैनिक पितर ।

स्वानुसदः पितरो ययोधाः कृच्छ्रे श्रितः शक्तीवन्तो

गभीराः । चित्रमेना इपुबला अमुधाः सतोवीरा

उरयो व्रातसाहाः । ऋ० ६।७।५।१॥

यजुः २९।४६॥

इस मंत्रकी देवता'रथयोगाः'अर्थात् लडाईमें परशरक सैनिक हैं । अर्थ इस प्रकार है—

(इवापुष्यसः) रात्रुओंके अण में बैठनेवाले वा रात्रुओंके अणका नाश करनेवाले, (बयोषाः) अण देनेवाले (हृष्यु धितः) कृष्टिवाइयोंमें भी रियर रहनेवाले (शर्कावन्तः) शक्तिवाले या शक्ति नामक अरुद्रके पुत्र, (गभीराः) गंभीर, (चित्रमेनाः) दर्शनीय सेनावाले (इपुषलाः) बाण दे बलजिनका अर्थात् बाणके लक्ष्मणवाले (न्युध्माः) जिनकी रात्रुओंसे हिला नहीं हो सकनी ऐसे, (एतीश्रीः) संयंतानी, (उरवः) विद्यालक्ष्य, (तातसाहा) रात्रुषुमुदाय का पराजय करनेवाले (पितरः) रक्षा करनेवाले पररक्षक होते हैं।

माङ्गलासः पितरः सोम्यासः शिवं नो पावापृषिषो ब्रनेहसा । एषा नः पात्रु दुःखितात्तामृषीं रक्षा मा किर्ता अघरांस ह्दात

श्र० ६।७५।१० ४

पत्रुः २१४७४

यह मंत्र ऊपरोक मगधे अगला मंत्र है । यह संपूर्ण एक दुष्ट विघ्नक है । इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार है-

[माङ्गलासः] हे माङ्गलाना, [सोम्यासः] सोम संपादन करनेवाले अर्थात् यज्ञादि कर्मके करनेवाले [ऋनाइयः] कल्पसे बटनेवाले वा सस्यसे बटनेवाले [पितरः] रक्षो ! [अनेहसा पावापृषिषो] अहिंसक पुत्र तथा वृषिको [नः शिवे] हमारे लिए कल्याण के करनेवाले हो । [एषा] पीपक सेनापति [नः] हमारी [दुःखितात्] पापके [पात्रु] रक्षा करे और [मा किः अघरांसः नः ईशात] कोई भी पापों हमारे ऊपर शासन मत करे । [रक्षा] उससे एषा हमारी रक्षा करे । इन मंत्रोंमें ऐनिकोंको पितर कहा गया है क्योंकि वे हमारी रक्षा करते हैं ।

५ प्राण—पितर

यो यशो विश्वतस्तन्मिद्वत् एवृषासं देवकर्मैरिभिरापतः ।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रववाप वष्येषासवे ततस

श्र० १०१३०१११

(यः यज्ञः) जो यह जीवनरूपी यज्ञ (विद्वतः तन्ममिः) चारों ओरसे क्षय, दिन, मास वा वर्षरूपी तन्ममि (तता) लक्ष्मणमें विस्तृत है और (एकशतं देवकर्मैः) एकसौ देवकर्मोंके अर्थात् सौ वर्षको अयुध (आरतः) बौशर्द्धमें फैला हुआ है उस यज्ञको (इमे पितरः) ये जीवनाधार प्राण पितर (वयन्ते) बुनते हैं । (ये आययुः) जो कि प्राण इस यज्ञ में आए हुए हैं, वे (तते आशने) इस विस्तृत जीवन-यज्ञमें बैठते हैं व कहते हैं कि (प्रवय अपवय) आगे बुनते जाओ और पीछेछा ठीक करते जाओ ।

इस मंत्रमें कपटे मुननेके लक्ष्मणरूपे जीवनरूपी यज्ञका वर्णन है । प्राण इस जीवनके रक्षक होनेसे पितर हैं ।

स्वाहा पूर्णे शरते स्वाहाऽमावभ्यः स्वाहा प्रथिरथेभ्यः ।
स्वाहा पितृभ्यः ऊर्ध्वर्षाईभ्यो धर्मपावभ्यः स्वाहा पावापृषिषोभ्यां स्वाहा विवृभ्यो देवेभ्यः ॥

पत्रुः अ० ३८।१५ ३

इस संपूर्ण मंत्रका अर्थ हम यहाँ नहीं देंगे क्योंकि हमारा प्रयोजन शिके 'स्वाहा पितृभ्यः ऊर्ध्वर्षाईभ्यः' इतने से ही है । अतः हतने ही मंत्र खंडका अर्थ हम देते ।

(ऊर्ध्वर्षाईभ्यः पितृभ्यः स्वाहा) शरीरमें जिनकी उच्छ स्थिति है ऐसे प्राणोंके लिए स्वाहा । संपूर्ण मंत्रमें 'पूर्ण, शरते' आदि प्राण के लिए हैं । अतः 'ऊर्ध्वर्षाई' विशेषण प्राणों का है । यह मंत्र रातपव में इसी प्रकार ब्याख्यात है । देखो श० १४१२।३२॥

६ पातक-रक्षक आदि अर्थ में ।

यत्तमिन्नु शार्दो अन्ति देवा यत्रा नम्रका जरसे तन्-
नाम् । पुधासो यत्र पितरो मन्विते ना नो मप्या
रीरिपलायुर्गन्तोः ॥ श्र० १८५।५ पत्रुः २५।२२

(देवाः) हे देवो ! (नु) नियमके (शतं इत्) सौ ही (शरदः) वर्षे (अन्ते) मनुष्यके पास है । (यत्र) जिन सौ वर्षोंमें आप देवगण (नः तन्तो जरसे यत्र) हमारे शरीरों में सुधापा गते हो । (यत्र) और जिन सौ वर्षोंमें (पुत्रासः) पुत्रगण (पितरः) संतानोत्पत्तिके लायक होकर व अन्वेषण चलान करनेके लायक होकर पितर बनते हैं । इस सौ वर्ष की (आयुः) आयुको (गन्तेः मर्ये) पूर्ण रूपसे प्राप्त करने से पहिले ही दीचमें (नः) हमें (मा रीरिपत) मत नष्ट करो ।

नाता नो दोषि दुःखानः आरिरिपेक्षयाग मर्दिता
सोम्यानाम् । तसा पिवा पितृवमः विवृतां कर्षु
शोक्युयते वयोषाः ॥ श्र० ७१।७।७

यह इन्द्र (नः) हमारा (नाता) रक्षक, (दुःखानः) हमारा देखनेवाला, (आरिरिपेक्षया) उपदेश क्षात्रिकता, (मर्दिता) सुख देनेवाला, (वसा) मित्र, (पिता) पातक, (सोम्य नां पितृनां पितृवमः) सोम्य पितरों में श्रेष्ठ पिता, (वषा) बगानेवाला, तथा (शोकं टपते) लोभों की ध्वन्या करनेवाले के लिए (वयोषाः) अण-बल-आयु का देनेवाला है,

इस प्रकार हे उपासक ! (बोधि) तू जान ।

ते हि यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाञ्जन्मना
मज्जिये इतः । उभे विमृत उभयं भरीमभिः पुत्र
रैतांसि पितृमिश्र मिच्छतः ॥ ऋ० १०।६५।१४॥

(मातरा) सब जगत् की निर्माण करनेवाली, (मही)
बही (देवी) दिव्य गुणोंवाली (यज्ञिये) पूजनीय (ते
यावापृथिवी) वे यावापृथिवी (देवान्) देवोंके (जन्मना
इतः) जन्मसे प्राप्त करती हैं अर्थात् उनको उत्पन्न करती हैं ।
(उभे) दोनों यु और पृथिवी (भरीमभिः) भरणपोषणसे
(उभयं विमृतः) दोनों मनुष्य व देवोंका धारण पोषण करती
हैं । और (पितृभिः) पालक इन्द्रादि देवोंके धाय मिलकर
(पुत्र रैतांसि) बहुत जलोंसे [सिञ्चतः] सिंचन करती हैं
अर्थात् प्रखर वृष्टि करती हैं ।

७ इषु पितर ।

दक्षिणा दिग्निन्द्रोऽधिपतिस्त्विन्द्रियाजी रक्षिता पितर
इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितुभ्यो
नम इषुभ्यो नम इषुभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं
वयं द्विभस्त्वं वो जन्मे वृषभः ॥ अथर्व० ३।२७।२॥

दक्षिण दिशाका इन्द्र अधिपति है । यह तिर्यक् गतिवाले
सर्पादिसे रक्षा करनेवाला है । उसके बाण पितर हैं अर्थात्
रक्षक हैं । इत्यादि ।

इस मंत्रमें बाणोंको पितर कहा गया है, क्योंकि वे हमारी
रक्षा करते हैं ।

जनकपितर ।

वाणसो न ये ध्रुवो जिगरनवोऽग्नीनां न जिह्वा
विरोकिणः । वर्मणवन्तो न योधाः क्षिमीन्तः पितृणां-
न शंसाः सुरातयः ॥ ऋ० १०।७८।३७

[ये] जो मनुष्य [वातायः न] वायुओंकी तरह
[ध्रुवः] ध्रुवोंकी कंपानेवाले हैं, तथा जो [जिगरनवः]
कियाशील [अग्नीनां जिह्वाः न] अग्निदी की उवालाओं
की तरह [विरोकिणः] दीप्यमान हैं, और जो [वर्मणवन्तः]
योधाः न] स्वचधारी योद्धाओंकी तरह [क्षिमीन्तः]
घूरता के कार्यके करनेवाले हैं, व [पितृणां शंसाः न] जनक
पितरोंकी बाणियों की तरह [सुरातयः] उत्कृष्ट दान देनेवाले
हैं, ऐसे मनुष्य हमारी सर्वदा रक्षा किया करें ।

ध्रुवा एव सः पितरो युगे युगे क्षेमकामातः सदसो
न युञ्जते । अयुर्वीसो हरिपाचो हरिद्रव आ चां रवेण
पृथिवीमनुश्रवुः ॥ ऋ० १०।१४।१५॥

(वः) तुम्हारे (पितरः) उत्पन्न करनेवाले (ध्रुवा एव)
निश्चयसे स्थिर हैं । तुम (युगे युगे) युग युगमें (क्षेमकामा-
तः) कल्याण करनेकी इच्छावाले हो इत्यादि । इस संपूर्ण
सूक्तमें ' यज्ञमें सोमलता से सोम निकालने के लिए लए हुए
पत्थरोंका वर्णन है । '

८ पूर्वज पितर ।

चाकृत् प्र तेन ऋपथो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः
पुराणे । पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा तान्य इमं यज्ञम-
यजन्त पूर्वं ॥ ऋ० १०।१३०।६।

(पुराणे यज्ञे जाते) पुरातन यज्ञके हो जानेपर (तेन)
उस यज्ञ द्वारा (ऋपथः) ऋषियुग, [मनुष्याः] अन्य मनुष्य
समुदाय व [नः पितरः] हमारे पूर्वज [चाकृत्प्रे]
उत्पन्न हुए । [ये पूर्वं इमं यज्ञं अयजन्त] जिन पूर्वके
देवोंने इस सृष्ट्युत्पत्तिरूपी यज्ञको किया था [तान्] उन देवोंको
[मनसा चक्षसा] मनरूपी आंखसे अथवा [चक्षसा मनसा]
सूक्ष्म पदार्थोंके देखनेके साधनभूत मनसे [पश्यन्] देखता
हुआ मैं [मन्ये] उन देवोंका मनन करता हूँ ।

यह सूक्त सृष्ट्युत्पत्तिपर कुछ कुछ प्रकाश डालता हुआ
प्रतीत होता है । इस मंत्रमें आए हुए ऋषि, पितर व मनुष्य
समवतः क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्यके घेतक प्रतीत होते
हैं, जैसा कि पुराणसूक्तमें सृष्ट्युत्पत्तिमें ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यकी
उत्पत्ति दर्शाई गई है । इतिवृत्तोंके लिए पितरका प्रयोग वेदमें
हुआ है, जैसा कि अभी हम ऊपर दर्शा आए हैं ।

ऋतुपितर ।

नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरः शोषाय, नमो वः
पितरो जीवाय, नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो
घोराय, नमो वः पितरो मन्थवे, नमो वः पितरः पितरो नमो
वः गृह्णायः पितरो दत्त सतो वः पितरो देय्ये तद्दः पितरो
वापः ॥ यजुः अ० २।३२॥

इस मंत्रपर शतपथ ब्राह्मणने इतनी ही टिप्पणी चडाई है।
कि ' इस मंत्रमें ६ बार नमस्कार है वह इसलिए है क्योंकि
कि ६ ऋतुएं होती हैं । शतपथका वचन इस प्रकार है—

‘ पद्भृत्यो नमस्करोति पद्भ्याः ऋतवः ऋतवः पितरः तस्मान् ।
पद्भृत्यो नमस्करोति- शं० २।१।३।२४।

इस प्रकार इस मंत्रमें ऋतुओंको पितर कदा गया है ऐसा प्रतीत होता है । ब्राह्मणमें स्थान स्थानपर ऋतुओंको पितर कदा गया है । उदाहरणार्थ-

शं० २।६।३।१। कौ० ५। ७। गो उ० १। २४ ॥
तथा ६। १५। शं० २। ६। १। ३२।
ते० १।४।१०।८। तथा १।३।१०। ५।

इत्यादि । इस स्थापनानुसार मंत्रार्थ इस प्रकार है-

[पितरः] हे पितरो ! [वः रथाय] तुम्हारी रथभूत वधतके लिए [नमः] नमस्कार है । षष्ठतन्त्रमें मधु आदि रसका बाहुल्य होता है अतः रससे यहाँ षष्ठतन्त्रमें मधु का उपलक्षण है । [पितर व रथाय नमः] हे पितरो ! तुम्हारी शेषक प्रथमके लिए नमस्कार है । प्रथममें गरमी पचनेसे मव रम सुख जाते हैं अतः गोपकसे प्रथमका यहाँ प्रहण किया गया है । [पितरः व जीवाय नमः] हे पितरो ! तुम्हारी जावनदात्रा वर्षाके लिए नमस्कार है । जीवन नाम जन्मका है क्योंकि वह जीवन देता है । वर्षाऋतु जावनदात्री है । [पितर व स्वधायै नमः] हे पितरो ! तुम्हारी अन्न दनशाली शरद् ऋतुके लिए नमस्कार है । स्वधा नाम अन्नका है । और शरद् ऋतुमें अन्न बहुत होता है । स्वधा शरद् ऋतु की उपलक्षण है । [पितर व घोराय नमः] पितरो ! तुम्हारी शीतयुक्त हेमन्तके लिए नमस्कार है । हेमन्तमें बडा घोरा शत पडता है अतः घोरासे हेमन्तका प्रहण है । [पितरः व मन्वेने नमः] हे पितरो ! तुम्हारी मनुभूत शिशिरके लिए नमस्कार है । शिशिरऋतुमें औषधिया जल जाते हैं, अतः तत्सदृशसे मनु शिशिरका उपलक्षण है । [पितरः] हे पितरो ! [न गृह्यात् दत्त] हमें घर दो अर्थात् हमारे घरोंका समृद्ध करो । [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे लिए [सत देव्यै] जो कुछ हमारे घरमें है हम देवों हे पितरो ! [व एतव वास] तुम्हारा यह वस्त्र है अर्थात् यह ओटने पहिनेका साधन है उसे लो । शतपथ ब्राह्मणमें इस मंत्रकी व्याख्यानमें नमः का अर्थ यज्ञ किया है इसका आभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इन प्रत्येक ऋतुमें यज्ञ करना चाहिये व उम उम ऋतुमें उपवस पदार्थकी यज्ञमें इति कालनी चाहिए ।

गो-संयामक पितर ।

न क्रियेयां निन्दिता मर्त्येषु येऽस्माकं पितरो गोपुयोधाः ॥
इन्द्र एषां दंडिता मादिनावानुद्रोऽग्निं ससृजे वंस-
नाषात् ॥ शं० ३।३।१।४।

(ये अस्माकं पितरः) ये जो हमारे पितर (गोपु योधाः) इन्द्रपौत्रे सन्नेकाले हैं (एषां) इनका (मर्त्येषु) मनुष्योंमें (न कि निन्दिता) कोई भी निन्दक नहीं है । (मादिनावान्) अत्यन्त पूजनीय वा महिमावाला तथा (दसनावान्) कर्मशाल (इन्द्रः) आत्मा (एषां गोत्राणि) इनके इन्द्रियसमूहोंकी (दंडिता उरससृजे) हृद्य बनाता है ।

इस मंत्रमें गोशब्द इन्द्रियवाची है । इन्द्रियोंको वध करनेके लिए मनुष्यको उनके साथ युद्ध करना पडता है । जो योद्धा इन्द्रियोंपर विजय पा लेता है अर्थात् उन्हें अपने कानुमें कर लेता है, उसका फिर दुनियामें कोई भी निन्दक नहीं रहता, क्योंकि इन्द्रिया ही निन्दको जड हैं । इन्द्रिय-सयम करना वस्तुतः एक बडी भारी लडाईं फतेह करना है । अतएव यहाँ इन्द्रियसंयम करनेवाले पितरोंको योद्धाके नामसे पुकारा गया है । इन्द्रियसयम होनेपर आत्मा उन्हें हृद्य बनाती है । संयमित इन्द्रियोंवाले पुरुषको सुख दुःख आदि इन्द्र कदपि सता नहीं सकते । उसका इन्द्रियसमूह इतना हृद्य बन जाता है कि उसे सांसारिक कोई भी आपाति सता नहीं सकती । इस प्रकार इस मंत्रमें इन्द्रियसयमका महत्त्व दर्शाया है ।

सोम और पितर ।

एव सोम प्रचिकितो मनोपा एव रजिष्ठमनु नेपि
पषाम् । तव प्रणीती पितरो न इन्द्रो देवेषु रत्नमम
जन्त धीराः ॥ शं० १।११।१। ॥
यजु ११।५२ ॥

हे सोम ! (एवं मनीषा प्रचिकित) तू अपने मन की गतिसे यामि अपनी बुद्धिसे सब उचित अनुचितको जानता है, इसलिए (एवं) तू (रजिष्ठ पन्था अनुनेपि) सरल व सुगम मार्गपर अपने पंथे पीछे लेजाता है । (इन्द्रो) हे इन्द्र ! (तव प्रणीती) तेरे नेतृत्व से (ना धीराः पितरः) हमारे धीर पितर (देवेषु रत्न अनजन्त) देवोंमें रत्नकी प्राप्ति करते हैं अर्थात् देवोंमें शिरोमणि बन जाते हैं, या देवोंसे रत्न यानि संवत्ति प्राप्त करते हैं ।

इन्द्रु- सन्दी क्लेदनेसे इन्द्रु शब्द बनता है । क्लेदनका मर्म है गीला होना । अमृतसे गीला करनेवाला यानि अमृत देनेवाला । औष्य गुणोंसे युक्त ।

इस मंत्रमें सोमके नेतृत्व की महिमा दर्शाई है । पितर सोमके नेतृत्वसे देवोंमें उच्च पदको प्राप्त करते हैं, ऐसा यहाँसे पता चलता है ।

यो न इन्द्रुः पितरो ह्यसु धीतोऽमार्यो मर्या
आविवेश । तस्मै सोमाय हविषा विधेम
सृळीके अस्य सुमतौ स्याम ॥ ऋ० ८।४८।१२०

४ (पितरः) पितरों । (यः इन्द्रुः पीतः) जो हृदयोंमें पिघा गया (अमृत्यः इन्द्रुः) मरणरहित इन्द्रु (नः मर्यान्) हम मरणधर्मा मनुष्योंमें (आविवेश) प्रविष्ट हुआ हुआ है, (तस्मै सोमाय) उस सोमके लिए (हविषा) हविषा (विधेम) हम पूजा करते हैं । (अस्य) इस सोमके (सृळीके) सुखमें और (सुमतौ) सुमतिमें (स्याम) हम रहें ।

इस मंत्रमें सोमको हवि देनेका व सुखेच्छुको सोमकी सलाहमें रहनेका निर्देश है । यह सोम हमारेमें प्रविष्ट हुआ हुआ है, यह बात भी यहाँसे पता चल रही है ।

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु ष्वावापृथिवी भा ततन्य ।
तस्मै ते इन्द्रो हविषा विधेम ययं स्याम पवयो
रषीणाम् ॥ ऋ० ८।४८।१३ यजु० १९।५४ ॥

७ प्रोम । (त्वं) तू (पितृभिः संविदानः) पितरोंके साथ मिला हुआ (यावापृथिवी) दुलोक व पृथिवी लोकका (अनु भा ततन्य) अनुकूलतासे विस्तार करता है । (इन्द्रो) हे इन्द्रु । (तस्मै ते) उस तेरे लिए हम (हविषा विधेम) हविषोंसे पूजा करते हैं, जिससे कि (ययं) हम (रषीणां पतयः स्याम) धनोंके स्वामी होवें । इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सोम पितरोंके साथ मिलकर शु व पृथिवीका विस्तार करता है । उसको हवि देनेसे धनसंपत्ति मिलती है ।

स्वधा हि नः पितरः सोम पूर्वं कर्माणि चक्रुः
पवमान धीराः । वन्वन्नवातः पारिधी रषीर्णु
वीरोमरिद्वीमैषवा भवा नः ॥ ऋ० ९।१९।११ ॥

यजु० १९।५३ ॥

(पवमान सोम) ने पावित्र सोम [स्वधा हि] तेरेसे ही अर्थात् तेरी सहायता द्वारा ही (नः पूर्वं कर्माः पितरः) हमारे धीर पूर्वज पितरोंने (कर्माणि चक्रुः) श्रेष्ठ कर्मोंको किया ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सोमका सहायता द्वारा हमारे पूर्वज पितर श्रेष्ठ कर्म करनेमें समर्थ हुए । सोम राक्ष-
सोंका विनाश करता है । वीर अश्वोंवाला हीरक सोमको शासक बननेके लिए कहा गया है ।

पितृमान् सोम ।

अस्यै कल्पवाहनराय स्वाहा सोमाय पितृमते
स्वाहा । अपइवा असुरा रक्षांसि वैदिषद्ः ।

४ यजु० २।२२ ॥

कल्पका वहन करनेवाली अग्निके लिए स्वाहा हो । उत्तम पितावाले सोमके लिए स्वाहा हो । (केदिषद्ः असुराः रक्षांसि) पृथिवीपर स्थित असुर व राक्षस (अपइनाः) नष्ट हो जावें । यहाँ सोमको उत्तम पितावाला कहा गया है । अग्नि व सोम पृथिवीस्थ असुर व राक्षस नष्ट करते हैं, ऐसा मंत्रको संगति लगानेसे पता चलता है ।

सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥

अ० १।४।७२ ॥

श्रेष्ठ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो । यहाँ सोमके लिए स्वधा व नमः देनेका उल्लेख है ।

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ।

अथर्व० १।८।७३ ॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो । इन मंत्रोंके देखनेसे इतना स्पष्ट होता है कि सोम व पितरोंका परस्पर विशेष संश्लेष है । यह सोम कौन है यह कहना कठिन है जबतक कि संपूर्ण सोमवपयक मंत्रोंका समन्वय न किया जायके ।

अङ्गिरस् पितर

प्र वो मदे महि नमो भरवममाटन्यं शवसानाय
साम । येना नः पूर्वं पितरः पद्महा अर्चन्तो
अङ्गिरसो गा अविन्दन् ॥ ऋ० १।६२।२ ॥

यजुः ३।१।७

हे मनुष्यो ! (वः) तुम (मदे शवसानाय) बड़े मारी बलवान् इन्द्रके लिए (महि नमः) महान् नमस्कार तथा (आ-
ङ्ग्यं साम) आङ्ग्य नामके सामसे (प्रमार्धं) गायन

करके स्तुति करो (येन) जिष आङ्गूष्य सामद्वारा (अर्चन्तः) अर्चना करते हुए (नः) हमारे (पूर्वं पदज्ञः अङ्गिरसः पितरः) पुरातन पदज्ञ अङ्गिरस् पितरोंने (गाः अविन्दन्) सूर्यकिरणोंको प्राप्त किया था ।

हम पहले भी देख आए हैं कि पितरोंके सूर्यकिरणोंके प्राप्त करनेका उल्लेख हमें मिलता है । यद्वापर पुनः अङ्गिरस् पितरों द्वारा सूर्यकिरणोंकी उपलब्धिका जिज्ञा है । आङ्गूष्य सामकी महिमा यहाँ व्यक्त हो रही है । अङ्गिरस् पितर किन पितरोंके नाम है इसका विचार हम फिर करेंगे ।

आङ्गूष्यं साम-आङ्गूष्यका अर्थ है स्तुतिसमूह अथवा आ-घोष । आघोषका अर्थ है जोर का शब्द-आवाज । देखो निरुक्त आङ्गूष्यः स्तोमः आघोषः । नि० अ. ११ पा० ११ खं. १२ श. ४५। अतः आङ्गूष्यका अर्थ हुआ स्तुतिसमूहवाला या आ-घोष या यानि जो जोर जोरसे बोला गया है ऐसा । अतएव आङ्गूष्य सामका अर्थ हुआ कि जो सामस्तुति पूर्ण मंत्रोंसे युक्त है अथवा जो साम जोर जोरसे गाया गया है । क्योंकि सामसे दुःख दूर होते हैं अतः इसका नाम साम है । इत्यति शब्दव्यति दुःखानि येन तत् साम । पदज्ञ-परम पद (परमारणा) को जाननेवाला । आत्मज्ञ । आत्मा वे पदं । को० २।३६।

वः अथमार्थमें द्वितीयाका प्रयोग हुआ हुआ है । अथवा इसे षष्ठ्यन्त भी माना जा सकता है । गाः- सूर्यकिरणें ।

उपरोक्त मंत्रके भावका ही निम्न लिखित मंत्र भी समर्थन कर रहा है ।

य उदाजन् पितरः गोमयं वसुधैनाभिन्दन् परिवारसरे वल्गु । दीर्घानुत्सवमङ्गिरसो वी अस्तु प्रति गृष्णीत मानवं सुमेधसः ॥ ऋ० १०।१।२१॥

(ये पितरः) जिन अङ्गिरस् पितरोंने (परिवारसरे) परिवारमें (वलं) मेघको (ऋतेन) यज्ञ वा सत्यद्वारा (अभिन्दन्) विशारण किया और (गोमयं वसु) सूर्यकिरणरूपी घनको (उल् आञ्ज्) प्राप्त किया ऐसे हे (सुमेधसः) उत्तम मेधावाले (अङ्गिरसः) अङ्गिरस् पितरों । (वः) तुम्हारी (दीर्घानुत्सवं अस्तु) दीर्घानु होवे । (मानवं प्रति गृष्णीत) तुम मनुष्य जातिपर अनुग्रह करो ।

इस मंत्रमें भी पूर्वोक्त मंत्रानुसार अङ्गिरस् पितरों द्वारा मेघभेदन करके सूर्यकिरणोंकी प्राप्तिका उल्लेख है । साथ ही ऐसे

पितरोंकी दीर्घानुयी प्रार्थना की गई है व उनसे मनुष्य-जातिपर कृपादि रहनेको कहा गया है ।

धावापृथिवी अनु मा दीधीयां विद्वे देवासो अनु मा रमध्वम् । अङ्गिरसः सोम्यासः पापमार्च्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ अथर्व० २।१२।५ ॥

(धावापृथिवी) तु और पृथिवी (मा अनु दीधीयां) मेरे अनुकूल प्रकाशित होवे । (विद्वे देवासः) हे सब देवा । (मा अनु रमध्वम्) मेरे अनुकूल कार्यका प्रारंभ करो । (अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः) हे अङ्गिरस् तथा सोम संपादन करनेवाले पितरों । (अपकामस्य कर्ता) बुरी कामनाओंका करनेवाला (पारं वा ऋच्छतु) पापको प्राप्त होने ।

इस मंत्रमें अङ्गिरस् पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि वे पापकामनाओंके करनेवाले को पापके कुण्डमें डाल दें ठाकि आपसे वह पापकामनायें कारना भूल जावे ।

अङ्गिरसो नः पितरो नवरदा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः । तेषां धयं सुमतौ पशिया- नामपि भद्रे सौमनसे स्वाम ॥ ऋ० १०।१।६॥

अ० १०।१।५८ ॥

यजु० १९।५० ॥

(नः नवरदाः अथर्वाणाः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः पितरः) हमारे नवरदा, अथर्वा, भृगु, सोम संपादन करनेवाले अङ्गिरस् पितर हैं । (धयं) हम (तेषां) उन उपरोक्त विशेषणविशिष्ट पितरोंकी (सुमतौ) उत्तम सलाहमें और (भद्रे) कल्याणकारी (सौमनसे) उत्तम संकल्पमें (स्वाम) स्थित होवें ।

इस मंत्रमें पितरोंकी शुभ सलाहमें तथा शुभ संकल्पमें रहनेका निर्देश किया गया है ।

' नवरदा ' शब्दपर चौदावा निर्देश हम कर आए हैं । इसपर विशेष विचार अपेक्षित है ।

अथर्वाणः—'अथर्वाणोऽथर्वन्तः' यथैतिथरति कर्मा तत्प्रतिषेधः ॥'

नि० ११।२।१८ ॥

अथर्व अथर्वन् अथर्वणवाले यानि स्थिर निखलप्रकृतियाले होते हैं । चलनामैक धर्म धातुयै धर्वन् शब्द बनता है । जो निरचल हो वह अथर्व ।

मृगवः—अर्धपि ऋगः संवभूव । मृगुः मृज्यमानः,
न देहे । नि० ३३ ॥

अर्थात् मृग ऋषि उवाच। अंमें पैदा हुआ था । मृगुका अंग
है जो आगमें मूना हुआ हो, अतएव इसकी शरीरमें अस्थि
नहीं होती ।

मन्त्रियः—यज्ञके योनव-मूर्त्ता, दान सत्कारादिके योग्य
अथवा यज्ञमें बैठने लायक ।

पितरोंकी उत्पत्ति ।

अब आगे उन मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा जो कि अमृतक
के विभागमें नहीं आ सके हैं । यद्यपि इन मंत्रोंमें पितृ शब्द
बहुवचनान्त ही प्रयुक्त हुआ हुआ है तथा ये मंत्र पहिले दिए
गए मंत्रोंका सा ही महत्त्व भी रखते हैं परन्तु हमने जो मंत्रों-
के विभाग बनाए हैं उनमेंसे किसीमें भी ये नहीं आसके हैं और
अतएव ऐसे बचे हुए मंत्रोंको इच्छा कर उपरोक्त शीर्षकके नामसे
यहाँपर दिगा गया है ।

निम्न लिखित मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिश्रन्धी निर्देश
मिलता है ।

नवभिरस्तुवत पितरोऽमृज्यन्तादितिधिपत्न्यासीत्
यजु० १४११ ॥

(नवभिः अस्तुवत) नव प्राणोंसे प्रजापतिने स्तुति की
जिससे (पितरः अमृज्यन्त) पितर उत्पन्न हुए । [अदितिः
अधिपत्नी आर्षात्] प्रजापतिकी अस्मद् शक्ति पालन करने—
वाली थी ।

इस मंत्रकी व्याख्या श० ८।१।३।७ में है । शतपथ के
अनुसार यह अध्याय सृष्टि-उत्पातिपर प्रकाशकाल रहा है ऐसा
ज्ञात होता है । इस अध्यायकी व्याख्या प्रारंभ करते हुए शतपथ
ब्राह्मणेने लिखा है कि 'अथ सृष्टीसप्तदशमिति । एतद्दे प्रजापतिः
सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वा कामयत प्रजाः सृज्य
प्रजावेवेति' इत्यादि ।

'नवभिरस्तुवत' की शतपथने निम्नलिखित व्याख्या की
है— नवभिरस्तुवतेति । नव दे प्राणाः सप्त शीर्षवन्धो द्वौ
शैरेष तदस्तुवत ।'

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि ऋतु, सूर्य, चन्द्र
आदि अन्तोंकी तरह पितरोंकी भी आस रंगसे उत्पत्ति होती

होगी, क्योंकि सामान्य मनुष्यकी उत्पत्ति में पितरोंकी उत्पत्ति
का समावेश हो सकता था, फिर भी इस मंत्रमें विशिष्ट रूपसे
पितरोंकी उत्पत्तिकी उल्लेख किया गया है ।

यशामेवाप्तुवमाहुर्वशा मृत्युसप्तमवत् ।

बरोदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराः

पितर ऋषयः ॥ अथर्व० १०।१०।२६ ॥

[यशां एव अमृतं आहुः] यशाको ही अमृत कहते हैं और
[यशां मृत्युं उपासते] यशाको ही मृत्यु मानते हुए उसकी
उपासना करते हैं । [देवाः मनुष्याः असुराः पितरः ऋषयः]
देव, मनुष्य, असुर, पितर तथा ऋषियोग [इदं सर्वं] यह सब
[यशा अभवत्] यशा ही हुई हुई है ।

इस मंत्रसे हमारा ज्ञानः ही अभिवाय है नीतिर भी यशा
से उत्पन्न होते हैं ।

देवाः पितरो मनुष्याः गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

उच्छिष्टाज्जाज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि प्रियाः ॥

अ० ११।७।२७ ॥

[देवाः पितरः मनुष्याः] देव, पितर, मनुष्य [ये च]
और जो [गन्धर्वाप्सरसः] गन्धर्व तथा अप्सरस् हैं वे तथा
[दिवि प्रियाः] दुलोक के आश्रयमें स्थित [देवाः]
सूर्य चन्द्र आदि देवगण हैं [सर्वे] ये सब [उच्छिष्टात्]
उच्छिष्ट से [जाज्ञिरे] उत्पन्न हुए हैं ।

उच्छिष्ट यह परमात्मा का नाम है क्योंकि परमात्मा उच्च
अर्थात् सबको उत्कमण करके भी शिष्ट अर्थात् शेष बच रहा है ।

यहाँपर उच्छिष्टसे पितरों की उत्पत्ति दर्शाई गई है ।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिविषयक वर्णन
मिलता है ।

दाक्षिणा व पितर ।

एवमगन् दक्षिणा मद्रतो नो अनेन दत्ता सु-
दुषा वयोधाः । यौवने औवानुप पृञ्चती जरा
पितृभ्यः उप सेपरागमादिमान् ॥

अथर्व० १८।१।५० ॥

[सुदुषा] उषम तथा कामनाओं को पूर्ण करने-
वाली [वयोधाः] अशक्तों देनेवाली [अनेन दत्ता]
इससे दी हुई [इयं दक्षिणा] यह दक्षिणा [मद्रतः

नः आ आगन्] कन्याणवारी स्थानसे अथवा कल्याणवारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है । इससे हमारा अस्तित्व नहीं होगा । [यौवने जीवन्तु उपपूजयन्ती जरा ह्य] जिस प्रकार युवावस्था के चले जानेपर जीविके वृद्धावस्था अवश्य आती है, उस प्रकार यह दक्षिणा [इमान्] इन जीविके [पितृभ्यः] पितरों के लिए भली प्रकार [उप संप्राणयात्] प्राप्त करावे अर्थात् पितरों के पास उत्तम रीतिसे पहुंचावे ।

इस मंत्रमें स्वयं चन्द्रोमें दक्षिणाका माहात्म्य दर्शाया गया है । दक्षिणा देनेसे पितरों की प्राप्ति होती है । जिस प्रकार युवावस्थाके चले जानेपर वृद्धावस्था अवश्यभाविनी है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवाले की पितरों की प्राप्ति भी अवश्यभाविनी है एसा इस मंत्रमें उपमाद्वारा स्वयं सूचित किया गया है । पाठक दक्षिणाके इस महत्त्वपर अवश्यमेव विचार करें ।

मरने पर पितरों में गणना ।

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामावेद्यामि देवो भो धाया प्रतितारयायुः । परापरैता यद्युविद् वो अस्त्वया मृताः ।
पेवृपु संभवन्तु ॥ अथर्वं १८।१।४८॥

(पृथिवीं त्वा पृथिव्यां आवेद्यामि) मिट्टी से बने हुए हे मृतपुरुष । तुझको मिट्टी में मिला देता हूँ अर्थात् तुझे पृथिवी में गाढता हूँ । (धाता देवः नः आयुः प्रतितारति) धारक देव हमारी आयु को बचावे । हे (परापरैताः) प्रकृततया हम से दूर चले गए पितरों ! (यः) तुम्हारे लिए धाता देव (यद्युविद् अस्तु) वास करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रय-दाता हो । (अध) और (मृतः) मृत (पितृपु संभवन्तु) पितरों में अच्छी तरह होवें अर्थात् पितरों में जा मिलें ।

इस मंत्र के पूर्वार्थ में मृत देहके गाढने का निर्देश मिलता है । यह मानव देह पार्थिव तरंगों के आधिपत्य से बना हुआ है, अतएव यद्यपि मृत देहको पृथिवी (मिट्टी) के नाम से पुकारा गया है । इसी भावको निम्न लिखित देहि में कहा गया है—

खाकका पुतला बना खाक की तलबीर है ।

खाक में मिट्टी कायगा खाक दामन गीर है ॥

मंत्र के उत्तरार्थमें मृतों के पितरों में होनेका निर्देश है । इसका अभिप्राय यह है कि मरनेपर पितरों में मृतुष्य जा मिलता है यानि मरने के बाद से उसकी पितृसंज्ञा हो जानी है

अश्विनौ तथा पितर ।

युवं भुज्यं भुरमाणं विभिरगंतं स्वयुक्तिमिर्विहन्ता पितृभ्यः आ । यासिष्टं वार्तिवृणणा विजेन्यन् दिवो-
दासाय महि चेति वामवः ॥ ऋ० १।११।२॥

(भुज्यं) हे कामनाओं की बर्षा करनेवाले अश्विनौ ! (युवं) तुम दोनों (भुरमाणं) पुष्टिकारक (भुज्यं) भोगलाभक और जो कि (विभिः गतं) घोड़ों द्वारा लाकर लाया जाता है, ऐसे पदार्थ को (स्वयुक्तिभिः) अपनी युक्तियों अर्थात् योजनाओं द्वारा (पितृभ्यः) पितरों के लिए (आ निः वहन्तौ) धारों और से लाकर पहुंचाते हो । इदमिष्टं (विजेन्यन् वार्तिः) दूरस्थ विद्यमान पदार्थों के लाने के लिए (यासिष्टं) जाओ । (दिवोदासाय) दिवोदासके लिए (वा अवः) तुम्हारा संरक्षण (महि) महान है यह सब को (चेति) मातृम है ।

दिवोदासः—प्रकाशाका देनेवाला, चाहे वह ज्ञान प्रकाश हो वा अन्य कोई हो ।

इस मंत्रमें पितरों के लिए भोग्य पदार्थ अश्विनौ पहुंचाते हैं एसा उल्लेख है ।

सरस्वती और पितर ।

सरस्वती या सरयं यया स्वधाभिर्देवि विदुभिर्मदन्ती ।
भासधास्मिन् वार्दिपि मादपस्वानवीधा ह्यभाषेछामे

ऋ० १०।१।८॥

यह मंत्र योद्धे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें इस प्रकार आया है—
सरस्वति या सरयं ययाधोवयैः स्वधाभिर्देवि विदुभिर्मदन्ती । सहासार्धमिच्छे भद्र भागं रायस्त्वोर्ध्वं पजमानाय चेहि ॥ अथर्वं १०।१।१३॥

(सरस्वति देवि) हे-सरस्वती देवी ! (या) जो तू (विदुभिः स्वधाभिः मदन्ती) पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई (सरयं) पितरोंके साथ समान रूपपर आरोहण करती हुई (ययाधो) आई है । वह (अस्मिन् वार्दिपि) इस वक्षमें (आसय) बैठकर प्रसन्न हो । (अस्मे) हमें (अनवीधः इधः) रोगरहित अन्नको अर्थात् अन्नके खाने से किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अन्नको (आ चेहि) दे ।

अथर्ववेदमें जो पाठभेद है वह विशेष करके उत्तरार्थमें ही है । उस उत्तरार्थका अर्थ इस प्रकार है-हे सरस्वती ! तू [अन्न]

इस यज्ञमें [यजमानाय] यजमानके लिए [सहस्राधं इवः मागं] हजारोंके पूजनाय अन्नके भागको और [रायस्पोषं] घनकी पुष्टिको [घेहि] दे । इस मंत्रमें सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रूपपर चटना, स्वधा खाना व यज्ञमें आना दर्शाया गया है ।

सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
सहस्राधामिळो अन्नभागं रायस्पोषं यजमानेषु घेहि ॥

ऋ० १०११०१॥

अथर्ववेदमें यह मंत्र बाँटेखे पाठभेदके साथ है—

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।

आसपादिमन् वाहिंषि मादयच्छमभमीवा इष आधेह्यस्मे ॥

अथर्व० १८११०२॥

[दक्षिणा] दक्षिण दिशासे आकर [यज्ञं अभिनक्षमाणाः पितरः] यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर [यां सरस्वतीं हवन्ते] जिस सरस्वतीको बुलते हैं, ऐसी ही सरस्वती ! वृ [अन्न] यहाँ इस यज्ञमें [यजमानेषु] यजमानोंमें [सहस्राधं इवः मागं] हजारोंके पूजनाय अन्नके भागकी तथा [रायस्पोषं] घनकी पुष्टिको [घेहि] दे ।

पितरोंकी दक्षिण दिशा है यह हमें अन्य वेदमंत्र दर्शाते हैं, अतः हमने ऊपर दक्षिणाके अर्थ [आगत्य] आकर इतना अव्याहार करके अर्थ किया है । इस मंत्रमें पितर सरस्वतीकी यज्ञमें बुलाते हैं यह दर्शाया गया है ।

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितृणां हविशस्यं यत् ।

इमानि ते वदित्वा शंतमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्वामः ॥

अथर्व० ७६८१२॥

[सरस्वती] हे सरस्वती ! [इदं ते घृतवत् हव्यं] यह तेरे लिए घृतपात्रा यानि पीछे मिश्रित हव्य है । [यत् इदं हविः पितृणां आस्यं] जो यह हवि पितरोंके लिए दिया जानेवाला है । [इमानि ते शंतमानि वदितानि] ये तेरे लिए कल्याणकारी वचन हैं । [तेभिः] इनसे [वयं] हम [मधुमन्तः स्वाम] मधुयुक्त बनें ।

आस्य—असु छेपणे से बना है । शब्दार्थ फैंका जानेवाला है, भाषार्थ दिया जानेवाला ॥

इस मंत्रमें पितरोंके लिए जो हव्य दिया जाता है, वह सरस्वतीको भी दिया जाता है यह दर्शाया गया है और घाय ही में सरस्वतीको इच्छादि देनेका लाभ दर्शाया है ।

१५ (अ. सु. मा. कां. १८)

इस प्रकार इन उपरोक्त मंत्रोंसे सरस्वती व पितरोंका संबन्ध विशेष है यह हमें यहाँ स्पष्ट पता चलता है ।

गौ व पितर ।

देवाः पितरो मनुष्याः गन्धर्वाप्तरसश्च ये ।

ते स्वा सर्वे गोप्यन्ति सातिशान्नमतिद्रव ॥

अथर्व० १०१११॥

(देवाः पितरः मनुष्याः) देव, पितर, मनुष्य (ये च) और जो (गन्धर्वाप्तरसः) गन्धर्व, तथा अप्सर्स् हैं, (ते सर्वे) वे सब (स्वा गोप्यन्ति) तुम गौकी रक्षा करोगे, (सा) वह तू (अतिशान्नं) अतिशान्न नामक यज्ञको (अतिद्रव) शीघ्रतासे प्राप्त कर ।

यहाँपर अतिशान्नमें आनेवाली गौ की पितर भी रक्षा करते हैं ऐसा दर्शाया है ।

प्रजापतिर्मंडामेवा रराणो विश्वैर्देवैः पितृभिः संविदानः ।

शिवः सतीरुप नो गोष्ठमाकृत्स्वावां वयं प्रजया सं स्रेदम ॥

ऋ० १०१६१४॥

[प्रजापतिः] प्रजापति [विश्वैः देवैः पितृभिः संविदानः] सब देवों व पितरोंके साथ मिला हुआ एक मतसे [मद्यं] मेरे लिए [एताः] ये गायें [रराणः] देता है । वह प्रजापति [शिवः सतीः] कल्याणकारीणी होखीहुं उन गौओंकी [नः] हमारे [उपगोष्ठं आ अकः] गोष्ठके समीप करे अर्थात् हमारे गोष्ठमें वे गौयें स्थित होंगे । और इस प्रकार उन गौओंके प्राप्त करनेपर [वयं] हम [तावां प्रजया सं स्रेदम] उन गौओंकी संतानसे संगत होंगे अर्थात् उन गौओंकी संतान हमें प्राप्त होती रहे ताकि ऐसी गौओंका वंशच्छेद न हो जावे ।

गोष्ठ—जहाँपर गौयें बांधी जाती हैं, उस स्थानको गोष्ठ कहा जाता है ।

इस मंत्रमें उक्त गौयें पितरोंकी सहपतिसे हमें मिलती हैं, यह दर्शाया गया है ।

इन्द्र व पितर ।

स तु श्रुचीन्द्र नृपनस्य ब्रह्मण्यतो वीर कार-

धायः । एवं आषिः प्रदिधि पितृणां प्राद्वद्

मभूय सुहव पृष्टी ॥

ऋ० १२१८॥

हे वीर इन्द्र ! [सः] वह [कारधायः] स्तोत्राओं वा शिल्पियों का धारक वृ [नृपनस्य ब्रह्मण्यतः] नवीन धनकी प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालेकी अथवा

नवीन स्तोत्र करनेकी इच्छावाले ही (धृषि) प्रायः-
नाथे सुन (हि) क्योंकि (आ इष्टो) आयजन करनेपर
अथवा कामनाके होनेपर (सुः इवः) सुखसे सुनाने योग्य (एवं)
तु (पितृणां प्रदिवि) पितरोंके प्रकृत स्वयंदासमें (शश्वत्) घना
(व्याधिः) बन्धु ब्यास रहनेवाला (बभूव) होता है ।

इस मंत्रमें इन्द्रको पितरोंका बन्धु कहा गया है । क्योंकि
यह पितरोंकी उनके कार्योंमें बन्धुवत् सहायता करता है ।

जुष्टी नरो ब्रह्मणा यः पितृणामक्षमभ्ययं न
किलारिषाथ । पच्छक्वरीषु बृहता रवेणेन्द्रे
शुभ्रमदधाया वसिष्ठ्याः ॥ अ० ८१३३१४ ॥

(वशिष्ठः) हे उत्तम वास करनेवाले ! (यत्) क्योंकि तुम
(शक्वरीषु) शक्वाओंके अर्थात् शक्वाओंमें गानमें (बृहता रवेण)
बड़े भारी शब्दसे यानि शक्वाओंके ऊंचे स्वरमें गानेमें (इन्द्रे शुभ्रं)
इन्द्रमें बलको (अदधाया) स्थापित करते हो, अतः हे (नरः)
नेतागणो ! (जुष्टी) प्रसन्नता वा सेवासे और [ब्रह्मणा] ज्ञान-
से तुम [यः पितृणां] तुम्हारे पितरोंका [अय्ययं अर्थ] न
नष्ट होनेवाले अक्षको [किल] निश्चयसे [न रिषाथ] नष्ट
होने नहीं देते । इस मंत्रमें सैनिकोंके लिए पितर आया है
ऐसा प्रतीत होता है । यह मंत्र पूर्ण रूपसे स्पष्ट नहीं हुआ
है ।

नवग्व पितर ।

तमु न' पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रसो
अभिवाजयन्वः । नक्षत्रामं तदुरिं पर्वतेष्वाम-
शेषवाचं मतिभिः अविष्टम् ॥ अ० ११२१२१ ॥
अथर्व० २०१३६१११ ॥

[सप्त विप्रसः] सप्त संख्यावाले मेधावी तथा [नवग्वाः
नः पूर्वे पितरः] नवग्व हमारे पुरातन पितर [तं] उक्त इन्द्रको
[तु] निश्चयसे [अभिवाजयन्वः] चारों ओरसे बलवान् बना-
ते हुए, [नक्षत्रामं] आगत शत्रु वा पापका नाश करनेवाले
[तदुरिं] तारक [पर्वतेषां] पर्वतस्थ [अशेषवाचं] शोहरहि-
त वा अनतिक्रमणीय वणीवाले [चाविष्टं] बलवत्तम इन्द्रकी
[मतिभिः] मनवीय स्तोत्रोंसे स्तुति करते हैं ।

निष्कण्ठर यास्कान्वायने अ० १०११७१६ की व्याख्या
करते हुए नवग्व शब्द का व्याख्या इस प्रकार की है— 'नव-

गतयो नवनीतगतयो वा । अर्थात् नवप्रकारकी गतिवाले
अथवा नवनीत यानि मन्त्ररूप अर्थात् गतिवाले सुदान्तरणवाले ।
महर्षि स्वामी दयानन्दजीने ' नवीन गतिवाले ' ऐसा अर्थ
किया है ।

सामणाचार्य निम्नलिखित अर्थ करते हैं—'नवग्वाः नवमिमांसेः
सप्तमस्तुतिष्वन्तः' । अर्थात् जो नवमासवाले सप्त [यज्ञ-
विशेष] को करनेवाले हैं ।

इस मंत्रमें आरमाका वर्णन व ' सप्त विप्रसः ' से ५ प्राण,
मन व बुद्धि का अभिप्राय है । और इस प्रकार मंत्रमें प्राणोंको
पितरसे कहा गया जान पड़ता है ।

काम और पितर ।

कामो ज्ये प्रथमो नैनं देवा आतुः पितरो न
मत्याः । तत्तस्वमसि ज्यायान् विश्वहा महोत्तस्मै
ते काम नम इत् ह्योमि ॥ अ० ११२१११ ॥

[काम. प्रथमः जज्ञे] काम प्रथम पैदा हुआ । [एनं] इष-
को [न देवाः आतुः न पितरः न मत्याः] न तो देवों ही
पापा, न पितरोंने और नहीं मनुष्योंने । (ततः) इस कारणसे
हे काम ! तु (विश्वहा) सब प्रकारसे (ज्यायान्) बड़ा है ।
हे महान् काम ! (तस्मै ते) उक्त तेरे लिए (नमः इत् ह्योमि)
मैं नमस्कार करता हूँ ।

यहापर कामको जाननेमें पितरों की भी अद्यमर्थता दर्शाई
गई है ।

मणि और पितर ।

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा ।
स मायमधि रोहद्ग मणिः श्रेष्ठयाय मूर्धतः ॥
अथर्व० १०१११२ ॥

(देवाः पितरः मनुष्याः यं सर्वदा उपजीवन्ति) देव, पितर
व मनुष्य सदा जिस मणिके आश्रय से जीते हैं [सः अर्थ
मणिः] वह यह मणि [श्रेष्ठयाय] श्रेष्ठ पदकी प्राप्ति करनेके
लिए [मां मूर्धतः अधिरोहद्ग] मेरे शिरपर स्थित होने अर्थात्
ऐसे मणि को मैं शिरपर धारण करता हूँ ।

इस मंत्र में यह बतलाया गया है कि देव, पितर व मनुष्य
मणिके आश्रयसे जीते हैं । यहाँ यह भी पता चलता है कि
पितर व देव मनुष्योंसे मिले हैं ।

ब्रह्मोदन पाचक पितर ।

वरुः प्रयस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्व लोके । पितामहाः पितरः प्रज्ञोपजाहं पक्का पञ्चदशस्ते अस्मि ॥ अथर्व० १११।१२॥

हे ब्रह्मोदन ! [सहस्रपृष्ठः] हजारों पीठोंवाला अर्थात् अखंड फैला हुआ वृ [सुकृतस्व लोके] सुकृतके लोकमें [महता महिम्ना] अपनी बड़ी भारी महिमासे [वरुः] विस्तीर्ण होता हुआ [प्रयस्व] फैल । [पितामहाः पितरः प्रजा उपजा] पितामहोंका समूह, पितर, संतति तथा संततिकी संतति और [पंचदशः अहं] पंचदश मैं [ते पक्का अस्मि] तेरा पकाने वाला हूँ ।

पंचदश—पंद्रहवाँ अथवा ५ प्राण, ५ इन्द्रिया व ५ भूतोंके बना हुआ ।

इस मंत्रमें पितामह, पितर आदियोंको ब्रह्मोदन पाचक कहा गया है । अर्थात् ये सब ब्रह्मोदन पकाते हैं ।

ब्रह्मचारी व पितर ।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः प्रपृग् देवाः अनु-
क्षयन्ति सर्वे । गन्धर्वा पुनमन्वायन् प्रपस्त्रिषद्यत्
त्रिषायाः षट् सहस्राः सर्वाण्य न्य देवास्तपसा
पिपति ॥ अ० ११।५।२॥

[पितरः देवजनः देवाः] पितर, देवजन तथा देव [सर्वे] ये सब [प्रपृग्] अलग अर्थात् स्वतंत्र रूपसे [ब्रह्मचारिणं अनुक्षयन्ति] ब्रह्मचारीकी रक्षार्थं अनुगमन करते हैं । [गन्धर्वाः एनं अनुआयन्] गन्धर्वगण इस ब्रह्मचारीके पीछे पीछे चलते हैं । (षट् सहस्राः त्रिषायाः त्रयः त्रिषद्यत्) छे हजार तीन सौ तैंतीस (६३३) (सर्वाण्य देवान्) इन सब देवोंको (सः) वह ब्रह्मचारी (तपसा पिपति) अपने तप द्वारा पूर्ण करता है—पालन करता है ।

इस मंत्रमें दर्शाया गया है कि पितर भी ब्रह्मचारीकी रक्षाके लिए सड़के पीछे पीछे सदा फिरते रहते हैं ताकि ब्रह्मचारीकी किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँच सके ।

पितरों की शक्ति का नियंत्रण ।

सा छेष इमी रिति नाचमानाः पितृणां
शाकीरनुबच्छमानाः । इन्द्रानिन्म्यां कं वृषणो मन्त्रित्
वा ह्यमी विषणया उपस्ये ॥ अ० १।१०९।३॥

(रमीन् मा छेष इति नाचमानाः) संततिरूपी रमितियोंको हम मत काटें, इस प्रकार वाचना करते हुए, तथा (पितृणां शाकीः अनुबच्छमानाः) पितरोंकी शक्तियोंको नियंत्रित करते हुए और अतएव (वृषणः) वीर्ययुक्त हुए हुए (विषणयाः उपस्ये) वृद्धिके समीपमें अर्थात् बौद्धिक कार्योंमें (इन्द्रानिन्म्यां) इन्द्र व आने से (कं मन्त्रित्) सुख प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं । (हि) निश्चय से [तो] वे इन्द्रगामी [अमी] न नष्ट होनेवाले हैं ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि न तो सर्वथा संततिका उच्छेद ही करना चाहिए और नही सर्वथा संततिकी वृद्धि ही करनी चाहिए । पितरोंकी शक्ति अर्थात् उत्पादक शक्तिका नियंत्रण करना चाहिए, जिससे वृद्धि की व बलकी वृद्धि होती है । बही पितरों की शक्तिके उत्पादक शक्ति का अभिप्राय है ।

देवों के पितर ।

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे
मृणुनेदमुक्तम् । सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं
स्वस्वयेनं जरसे वहाय ॥ अथर्व० १।३।०२॥

[देवाः] हे देवो ! [ये वः पितरः ये च पुत्राः] जो तुझो पितर हैं और जो पुत्र हैं वे सब तुम [सचेतसः] सावधान हुए हुए (मे इदं उक्तं) मेरे इस कथनको (मृणुने) सुनो । (वः सर्वेभ्यः) तुम सबके लिए मैं (एतं) इस मनुष्यके (परिददामि) सौंपता हूँ, (एनं) इसे (स्वस्ति) कस्याण पूर्वक (जरसे वहाय) वृद्धावस्थाके लिए पहुंचाओ अर्थात् यह वृद्धावस्था- आनेके पूर्व ही अलगसुमें मरने न पावे ।

परिददामि रक्षाके लिए सौंपता हूँ । परिउपसर्गपूर्वक दा धातुका अर्थ रक्षणार्थ देना है । इस मंत्रमें देवोंके पितर व पुत्रोंका उल्लेख है ।

देवाः पितरः पितरो देवाः । यो अस्मि सो
अस्मि । अथर्व० ६।१२३।३॥

(देवाः पितरः) देवगण पितर हैं और (पितरः देवाः) पितर देव हैं । (यः अस्मि) जो मैं हूँ (सः अस्मि) वद मैं हूँ ।

सावधानाचार्यने इस मंत्रका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है— जो देव वसुध्यादि रूप हैं वे हमारे पितर हैं और जो

हमारे पितर हैं वे वसुहृदादि रूप हैं । इस प्रकार परस्परके अ-
तिहारसे पितरोंका देवात्मक होना दृढ किया है । [यः अरिम्]
जितका मैं हू उसका ही मैं हूँ । अर्थात् एक ही पिताका हूँ ।
क्योंकि शिश्वा संभावित व्यतिक्रम होती है अतः मैं निश्चयसे
कहता हूँ कि मैं अपने पिताका ही पुत्र हूँ । अपने इस अभिप्राय
की पुष्टिके लिए सावधानाचार्यने मीमांसा सूत्रका प्रमाण दिया है—
'स्वपराधायात् वसुश्च पुत्रदर्शनात्' ।

अस्तु इस मंत्रका अभिप्राय हमें इतना दृष्टता है कि पितर
देवत्वको प्राप्त होते हैं । इस मंत्रके अभिप्रायवाले और मंत्र
पक्षमें आनुके हैं ।

पितरोंके ऊर्ज, रस आदिके लिए नमस्कार ।

नमो वः पितरः ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥

अथर्व० १८।१।८॥

[पितरः] हे पितर ! [वः ऊर्जे नमः] तुम्हारे अणव वा
बलके लिए नमस्कार है । [पितरः] हे पितरो ! [वः रसाय
नमः] तुम्हारे रस-अन्नरस [दुग्ध आदि] के लिए नम-
स्कार है ।

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्ववे ॥

अथर्व० १८।१।८२॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे [भामाय] क्रोध-
के लिए [नमः] नमस्कार हो । [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारे
[मन्ववे] मनुष्यके लिए [नमः] नमस्कार हो । भाम तथा
मनुष्य दोनों क्रोधके विशेष भेद हैं । भाम साधारण क्रोधका नाम
है । मनुष्यको इस सार्वत्रिक क्रोध रूढ़ करनेके हैं ।

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यद्
क्रूरं तस्मै ॥

अथर्व० १८।१।८३ ॥

[पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यद् घोरं] ओ
कर्म है [तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है । [पितरः]
हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यद् क्रूरं] जो क्रूर कर्म है
[तस्मै] उसके लिए [नमः] नमस्कार है ।

नमो वः पितरो याच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यद्
रस्योर्जं तस्मै ॥

अथर्व० १८।१।८४॥

(पितरः) हे पितरो ! (वः) तुम्हारा (यद्) जो
(याच्छिवं) वस्त्वानमय कर्म है, [तस्मै] उसके लिए [नमः]
नमस्कार है । [पितरः] हे पितरो ! [वः] तुम्हारा [यद्

रस्योर्जं] जो सुखमय कर्म है [तस्मै नमः] उसके लिए
नमस्कार है ।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंके विविध कर्मोंके लिए नमस्कार
किया गया है ।

पितरोंका इष्टार्थ ।

अग्नीतिभिः तिसृभिः सामगेभिराग्निस्वामिभं-

सुमिराग्निगरोभिः । इष्टार्थं भवतु नः पितृणामामुदे

हरसा दैव्येन ॥

अथर्व० २।१२।४ ॥

[तिसृभिः अग्नीतिभिः] तीन अग्नीतियोंके साथ, [साम-
गेभिः] साम गायत्रियोंके साथ, [आग्निदेभिः] आग्निदेवियोंके
साथ, [वसुभिः] वसुओंके साथ तथा [अग्निगरोभिः] अग्-
निगरोके साथ मिलकर [पितृणां] पितरोंका [इष्टार्थं]
इष्टार्थ [नः भवतु] हमारा रक्षा करे । [दैव्येन हरसा]
दिव्य तेजस्वला [अमुं] इस दुष्ट दुष्टको (आरदे) प्रहण
करता हूँ अर्थात् उधका नाश करता हूँ ।

इष्टार्थका लक्षण निम्न लिखित है—

आग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चातुपासनम् ।

आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमिरयमिषीयते ॥ १ ॥

वापीकूपलक्षणादि देवतायजनानि च ।

अन्नप्रदानमाहामाः पूर्वमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

इस मंत्रमें पितरोंका इष्टार्थ हमारा रक्षण करता है यह
दर्शाया है । पुत्रोंके रक्षणार्थ पितरोंको इष्टार्थ करना चाहिए
ऐसी प्रतिष्ठावि यहाँसे निकलती है ।

यदीदं मातृभ्यो वा पितु नः परिभ्रातुः

पुत्रात्पथेतसः पुन आगन् । यावन्तो अस्मान् पितरः

सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मनुष्यः ॥

अथर्व० ६।१।६।११

[यदि यद् इदं पुनः] यदि यह जो पाप [नः मातुः, पितुः]
मातृ, पुत्रात् चेतसः वा] हमारी माताके पाससे, पिताके पास
से, माईके पाससे, पुत्रके पाससे अथवा मनके पाससे [परि
भागत्] प्राप्त हुआ है अर्थात् इनके कारण यह पाप आया है,
तो [यावन्तः पितरः अस्मान् सचन्ते] जितने भी पितर हमारे
साथ संगत हुए हुए हैं [तेषां सर्वेषां] उन सबका (मनुष्यः)
क्रोध (शिवः अस्तु) कल्याणकारी होवे ; उसके हमारे
नुकसान न होने पावे ;

इस मंत्रमें पापके कारणसे उत्पन्न पितरोंके क्रोधको शान्त करके उसे कल्याणकारी बनानेकी प्रार्थना है ।

पितरोंसे मिलकर श्रेष्ठ होना ।

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मांस्ते न
यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्य ॥ अ० १८।१।८६॥

(ये पितरः अत्र) ये जो अन्य पितर यहाँ हैं और (ये) जो (यूयं पितरः) तुम पितृगण [अत्रंस्थ] यहाँपर हो, [ते] ये अन्य पितर [युष्मान् अनु] तुम्हारे अनुकूल होंगे और [यूयं] तुम [तेषां श्रेष्ठाः भूयास्य] उनमें श्रेष्ठ होओ ।

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः । अस्मॉरुतेऽनु
वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्य ॥ अ० १८।४।८७ ॥

[ये] जो [पितरः] पितृगण [इह] यहाँ हैं उनके अनु-
ग्रहे [वयं] हम [इह] यहाँ [जीवाः स्मः] जीवित हैं,
[ते पितरः अस्मात् अनु] ये पितर हमारे अनुकूल बने रहें ।
(वयं) हम (तेषां श्रेष्ठाः भूयास्य) उनमें श्रेष्ठ होंगे ।
अथवा ये हमारे अनुकूल हों और हम उनके । दोनों मिलकर
परस्पर श्रेष्ठ होंगे ।

इन मंत्रोंमें पितरोंके साथ पारस्परिक अनुकूल व्यवहारोंके
श्रेष्ठ बननेका संकेत है ।

पितरोंके लिए धन, बल व आयु ।

दम्नाः देवः सविता वरेण्यो दधत् रत्नं दक्षं
पितृभ्यः आयुषि । पिबाद् सोमं ममदेनमिष्टे
परि श्मा चिद् क्रमते अस्व घर्मणि ॥

मध्व० १।१।४१॥

(दम्नाः) दानशील (वरेण्यः) श्रेष्ठ स्वीकार करने योग्य
(सविता देवः) सूर्य देव (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (रत्नं)
रत्नको, (दक्षं) बलको और (आयुषि) आयुको (दधत्)
धारण करता हुआ (सोमं) सोमका (पिबाद्) पीए।
(एनं) इस सविता देवको (इष्टे) यज्ञमें सोमपान कराके
(ममत्) प्रयत्न करे । (अस्व घर्मणि) इस सविता सूर्यके
घर्ममें स्थित हुई हुई (जमा) पृथिवी (चित्) भी (परि क्रमते)
गिच्छता करती है । इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि सूर्य
देवोंके लिए धन व आयुको देता है । यहाँपर हमें 'परि

जमा चित् क्रमते अस्व घर्मणि ' से यह भी स्पष्ट पता चलता
है कि पृथिवी सूर्यके चारों ओर परिक्रमा करती है । पृथिवीके
सूर्यके चारों ओर घूमनेके भौगोलिक सिद्धान्तको यह मंत्र पुष्ट
कर रहा है । जमा शब्द निघण्टुमें पृथिवीवाची नामोंमें पठित
है ।

पितर व तृतीय ज्योति ।

एतद् वा ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं
ददाति । अजस्तमोऽस्य हन्ति द्रुमासिल्लोके
अधधानेन दक्षः ॥ अथर्व० १।५।११॥

(पितरः) हे पितरों ! (वः) तुम्हारे लिए (एतद् तृतीयं
ज्योतिः) यह तीसरी ज्योति परमात्मा (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानार्थ
(पञ्चौदनं अजं) पंचौदनवाले अर्थात् ५ भूत से बने शरीर से
युक्त जन्मरहित जीवात्माको (ददाति) देता है । (अधधानेन
दक्षः) भद्रा रखने के कारण दिया हुआ (अत्रः) यह
अन्न जीवात्मा (अस्मिन् लोके) इस लोक में (तमोऽसि)
अज्ञानान्धकारोंको (अप हन्ति) नष्ट करता है, दूर करता है ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया कि भद्रा रखने के कारण परमात्मा
पितरोंको ऐसी आत्मा देता है कि जो घरे अज्ञा-
नान्धकारोंको दूर करके प्रकाशका मार्ग दर्शाती है । यहाँ
भद्राका माहात्म्य प्रकट हो रहा है ।

पितरोंमें सुखद रास्ता बनाना ।

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात् कामदुषा म
एषा । इदं धनं निदधे ब्राह्मणेयु कृष्वे पन्थां पितृषु
यः स्वर्गः ॥ अथर्व० १।१।२८॥

(इदं हिरण्यं) यह सोना (मे अमृतं ज्योतिः) मेरा
अमरत्व प्रकाश है । (क्षेत्रात्) क्षेत्रसे उत्पन्न यह (पक्वं)
पका हुआ अन्न (मे एषा कामदुषा) मेरी यह कामनाओंकी
पूर्ति करनेवाली शक्ति है । (इदं धनं ब्राह्मणेयु निदधे) यह
धन मैं ब्राह्मणोंमें स्थापित करता हूँ अर्थात् वन्दे देता हूँ ।
और इस प्रकार (पितृषु पन्थां कृष्वे) पितरोंमें रस्ता बनाना
हूँ (यः) जो कि रस्ता (स्वर्गः) स्वर्ग है—सुखप्राप्तक है ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि ब्राह्मणोंको धन दान
करनेसे पितरोंके बीचमें सुखद मार्ग बनाया जा सकता
है । पितरोंके बीचमें यदि सुखपूर्वक विचारण करना हो तो ब्राह्म-
णोंको धन दान करना चाहिए ऐसा इस मंत्रका आशय प्रतीत
होता है ।

बभ्रेरप्ययो मुखमेतद् विमृद्वाग्वाय छोकं कृणुहि
प्रविद्वात् । एवं गात्रानु सर्वा विमृद्वा कृष्वे पन्थो
वितृषु यः स्वर्गः ॥ अथर्व० ११।१।३१ ॥

(अथर्वो) हे अथर्व्यु ! (बभेः) पोषण करनेवाले ऋद्धौदन
के (एतत्सुखं) इस सुखके । अर्थात् उषके रूप के छिलकेको
(विमृद्वा) विशेष रूपसे खाऊ कर । (प्रविद्वात्) हे प्रकृष्ट ज्ञानवान् ।
(आग्वाय छोकं कृणुहि) उन चाबलों में घी डालनेके लिए
स्थान बना । (एतेन सर्वाणि गात्राणि विमृद्वा) घी द्वारा उष
ऋद्धौदनके सर्व अवयवको परिभाषित कर । इस औदन द्वारा
में (वितृषु पन्था कृष्वे) पितरों में मार्ग बनाता हूँ (यः)
जो कि मार्ग (स्वर्गः) सुखप्रापक है ।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यदि पितरोंमें सुख-
पूर्वक विचारण करना हो तो खूब धीमिथित चाबलों (ऋद्धौदन)
का होम करना चाहिये ।

मृत पितरोंका अनुगमन निषेध ।

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।

इवैव भव मानुषा मा पूर्वाननुगाः ।

वितृषुषु षण्मासि ते इत्थम् ॥ अथर्व० ५।१०।१७

(ते आवतः आवतः) तेरे समीपसे समीप और (ते
परावतः) तेरे दूरसे भी (आवतः) दूरदेशसे (ते अक्षुं) तेरे
प्राणक्षे (हृदं बन्धामि) दृढता से बाँधता हूँ । (इह एव भव)
यहाँ ही रह । (मा पूर्वान् अनुगाः) पूर्व मृत पुरुषोंके पीछे
मत जा अर्थात् विनष्ट मत हो । और (मा वितृषु अनुगाः)
इसी प्रकार पूर्व मृत पितरोंके पीछे भी मत जा ।

मा ते मनस्त्र गान्मा तिरौ भून्मा धीवेम्यः प्रमदो
मानु गाः वितृषु विक्षे देवा अभिरक्षन्तु खेह ॥

अथर्व० ८।१।०॥

हे आमुकी कामना करनेवाले मनुष्य ! (ते मनः) तेरा मन

(तत्र मा गाव) वहाँ मृत्यु कोबमें मत जाए । (मा तिरः मृत)
और तेरा मन अन्तर्हित भी मत होने । (मा धीवेम्यः प्रमदः) पू
जाँचोंके लिए अर्थात् जीवित रहनेके लिए अथावधान मत रह ।
(वितृषु मा अनुगाः) मृत पितरोंके पीछे मत जा । (विक्षे
देवाः) सब देवगण (त्वा इह अभिरक्षन्तु) तैरी यहाँ ही रक्षा
करें अर्थात् सब देव ऋषे यहाँपर बनाए रखें, मरने न दें ।

इन वारोक्त मंत्रोंमें मृत पितरोंके अनुगमन करनेका

अर्थात् मरनेके विषय में अनुगमन का निषेध किया गया है ।
और दोषायु प्राप्त करनेके लिए कहा गया है ।

पितरोंमेंसे यक्ष्मा के दूर करने की प्रार्थना ।

अद्गादृग्मात् वयमस्या अपयक्ष्मं निदध्मति ।

तन्मा प्रापत् पृथिवी मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्त
रिक्षम् आपो मा प्रापन् मक्षमेतद्गने यमं मा प्रापत्
वितृषु सर्वात् ॥ अथर्व० १४।२।१९४

(अस्या अज्ञात् अज्ञात) इसके प्रायेक अंगसे (वयं यक्ष्मं
नि अप दध्मि) हम यक्ष्मके बिलकुल बाहिर निकाल
देते हैं । (तत् पृथिवी मा प्रापत्) वह यक्ष्म पृथिवी को मत
प्राप्त होवे । (उत देवान् मा) और देवोंको भी मत प्राप्त होवे ।
(दिवं मा) तुलोक को भी मत प्राप्त होवे । (उह अंतरिक्ष-
मा) विद्याल अंतरिक्षके भी मत प्राप्त होवे (एतत् मलं)
यह यक्ष्मरूपी मेल (अपः मा प्रापत्) जलों को भी मत प्राप्त
होवे । (ओम्) हे अग्नि ! (यमं मा प्रापत्) यमको भी मत
प्राप्त होवे । (न्व) और (सर्वान् वितृषुं) सब पितरों को
भी मत प्राप्त होवे ।

इस मंत्रमें यक्ष्म रोगके दूर करनेकी तो प्रार्थना है ही, पर
यहाँ एक बात विशेष महत्वमें रखने जैसी है और वह यह
कि यम व पितरोंको यक्ष्मके न प्राप्त होनेके प्रार्थना अग्नि
से की गई है। इसका कारण स्पष्ट ही है। हम पहिले देख आ, ए
है कि अग्नि यमलोकेमें पितरोंके पास जाती है। अतः अग्नि
द्वारा ही यक्ष्मरोगके बड़ा पड़ुं करने की संभावना है। अतएव
अग्नि से कहा गया है कि यम व पितरोंके यक्ष्म प्राप्त
मत होवे ।

वधूदर्युं पितर ।

ये पितरा वधूदर्या इमं बहदुमागमन् ।

ते अस्थे वध्वे संप्रान्ये प्रत्रावच्छमं यच्छन्तु ॥

अथर्व० १४।२।१९॥

[ये] जो [वधूदर्याः] वधू को देखने की इच्छावाले
[पितरः] पितृगण [इमं बहदुं] इस रथके [आगमन्]
प्राप्त हुए हैं, [ते] ये पितर [संप्रान्ये अस्थे वध्वे] उषम
पत्नी इस वधूके लिए [प्रत्रावत् चर्म] छतटिकाके सुखको
[यच्छन्तु] देंगे । अर्थात् इसे छतटिकाके सुख देवे ।

जब कन्या विवाहके नन्तर पतिवृद्धको जाने लगती है तब
रथमें का अन्य वाहन में उबार होनेपर उसे जो पितर

आए हैं उनसे प्रार्थना की गई है कि इस बधू को उतम घंतान
देकर सुखी करो ।

**कन्याका सदा पितरों (श्वशुरकुल)
में रहना ।**

भगमस्या वचं आदिभ्यश्चि वृक्षादिव सजम् ।
महाशुभं इव पर्वतो ज्योक् पितृभ्यास्ताम् ॥
अथर्व० १।१।११॥

(इच्छात् सजं इव) जिस प्रकार वृक्षसे फूलोंकी माता
ग्रहण करते हैं, वही प्रकार मैं वर (अस्याः) इस कन्या
का (भगं वचं) ऐश्वर्यशाली तैजकी मैं (आदिभि) ग्रहण
करता हूँ अर्थात् इस कन्या को पत्नी रूपसे मैं स्वीकृत करता
हूँ । यह बधू (महाशुभः पर्वतः इव) बड़े मूलबाले पर्वत की
तरह (ज्योक्) सदा (पितृषु आस्ताम्) पितरोंमें अर्थात्
अपने (कन्याके) श्वशुर कुलमें स्थिर रह, जिस प्रकार बड़ी
मूलवाला पर्वत जड़ोंके सूत्र जमीन के अन्दर गहरा जाने से
निश्चल होता है, वही प्रकार यह निश्चल श्वशुरकुलमें रहे ।

पृथा ते कुलना राजन् वासु ते परि ददासि
ज्योक् पितृभ्यासाता आशीर्षाः शमोप्यात् ॥
अथर्व० १।१।१३॥

इस मंत्रमें वरके श्वशुरकुल की वरके प्रति वाप्ति है । कन्या-
का पिता कन्यादान करता हुआ वरसे कहता है कि- (राजन्)
हे राजमान वर ! (पृथा) यह बधू [ते कुलया] तेरे कुलका
रक्षण करनेवाली है [तां] इस प्रकारकी इस बधू को [ते
परिददासि] तुझे हम सौंपते हैं । यह कन्या [ज्योक्] सर्वदा
[पितृषु आसाते] तेरे [वरके] पितरों में अर्थात् श्वशुरकुल
में स्थित रहे । [आशीर्षाः सं ओप्यात्] सिरिषे लेकर सब
आश्रिमें इसकी वृद्धि होती रहे अर्थात् श्वशुरकुलमें यह शीघ्र न
होवे सर्वदा वृद्धिकी प्राप्त होती रहे ।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंका अभिप्राय श्वशुरकुल प्रतीत
होता है ।

पूषाकी पितरोंको प्रेरणा ।

आ तापे वलमन्दुमः पूषन्नो वृनीमहे ।
देव पितृन्भोदयः ॥ अ० १ । १२ । ५ ॥

(दस) हे दर्शनवा या दुष्टके नाथ करनेवाले (मंदुमः)
ज्ञानवान् (पूषन्) पूषा ! (ते अत्रः श्रुगीमहे) हम तेरी

उप रक्षाको चाहते हैं (येन) जिससे कि तू (पितृन्
अभोदयः) पितरों को प्रेरित करता है ।

पृथा पितरों को अपनी रक्षा द्वारा प्रेरित करता रहता है
पृथा वहांपर जात होता है ।

ब्रह्मगौके दूध पीने से पितरों में पाप ।
कूरमस्या आशसनं तुष्टं विशिष्यतस्यते
क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥
अथर्व० ५।११।५।

[अस्याः] इस ब्रह्मगौका- [आशसनं] मारना [कूर्]
कूरता का काम है । यदि [विशिष्यते] उसका मांस खाया
जावे तो वह [तुष्टं] व्याध लगानेवाला होता है । [अस्याः-
यत् क्षीरं पीयते] इसका जो दूध पिया जाता है [तद्] वह
दूध पीना (वै) निश्चय से (पितृषु किल्बिषं) पितरों में पाप
पैदा करनेवाला होता है ।

संपूर्ण सूक्ष्म देखने से ब्रह्म-गौका अर्ध ब्राह्मण की जमीन,
बागी किंवा गाय प्रतीत होता है । यदि राजा ब्राह्मण की जमीन
को छीन ले वा उसपर कर लगावे अथवा अन्य किसी प्रकार
का अत्याचार करे, तो उसे इससे क्या नुकसान होता है, इसका
यहांपर वर्णन है । इसके अनुसार पितर शब्द से राजकर्म-
चारियोंका ग्रहण है ।

पालक अर्थमें पितर ।

अण्वसाई क्षेमसाह मध्ये तदुरि ।
वर्षं वतुष्वं पितरो महतां मन इच्छत ॥
अथर्व० १।१।१५

(अण्वसे, क्षेमसे तदुरि) हे अण्वसा, क्षेमसा तथा तदुरी
नामक जातिवाले मण्डूको ! (वर्षं मध्ये वतुष्वं) वर्षोंके बीच-
में आनन्दित होओ । (पितरः) हे पालक जनो ! तुम
(महतां मन इच्छत) वातुओंका (मनः) मनन करने योग्य
ज्ञान प्राप्त करो । अर्थात् किंच वातुसे कब व कैसी वृष्टि
होती है इत्यादि वातुसंबन्धी ज्ञानके मनन करनेका प्रयत्न
करो ।

इस मंत्रके आध्यात्मिक अर्थमें पितर इन्द्रियोंके लिए आया
प्रतीत होता है । आध्यात्मिक अर्थ इस प्रकार है-

(अण्वसे) हे इक्ष्वाकि ! (क्षेमसे) हे पिता नाभि !
(तदुरि) हे ब्रह्म तक पहुंचानेवाली नाभि ! तथा (मध्ये)
हे मध्यमें रहनेवाली सुमुन्ना नाभि ! तुम (वर्षं वतुष्वं) ब्रह्म-

ज्ञानसे उत्पन्न आनन्दशक्ति आनन्दित होओ । (पितर) हे इन्द्रियगणो ! तुम (मन इच्छत) मनके साथ संगत हानेकी इच्छा करो अर्थात् मनके साथ एकाग्र होओ, ताकि तन्मज्ञान का लाभ होसके । 'खण्डखा - कण आत्मान खनतीति खण्डखा । खडार छोट्ट । खैमखा - खै र्थयै स मन् प्रत्यय । जो स्थिरता उत्पन्न करे । तदुरा - तत्प्रद इयतीति तदुरी ।'

मेधाके उपासक पितर ।

यां मेधां देवगणा पितरश्चोपासते ।

तथा मामद्य मेधयामे मेधाविनं तुरु स्वाहा ।

यजु० १२।१४ ॥

(यां मेधां) जिस बुद्धि (देवगणा पितर च) देवगण तथा पितृगण [उपासते] उपासना करते हैं, हे अमे ! [तथा मेधया] उध मेधाये [अय] आज [मां] मुझे [मेधाविनं] मेधावा [ऊह] कर । [स्वाहा] ।

इस मंत्रमें उध मेधाको मांगा गया है, जिसकी कि पितर उपासना करते रहते हैं ।

पितरोंका देवत्व लाभ ।

महिम्न एषां पितरश्च नेशिरे देवा देवेष्वद्भ्युरपि कृतम् । सम विष्वत्पुत्र्य वापत्विषु रेषां तन्पुत्रु नि विविशु, पुन ॥

श्रु० १०।५।१४ ॥

[एषा महिम्न पितर, च न ईशिरे] इन देवोंकी महिमाके पितर भी स्वामी बने अर्थात् पितरोंने देवोंकी महिमाको प्राप्त किया यानि देव बन गए । और इस प्रकार [देवा] देव हुए हुए [देवेषु अपि कृतु अदभु] देवोंमें भी कर्म करने लगे ताकि देवत्वसे भी ऊंचे पदका लाभ हो [चत] और (यानि अत्रेषु) जो तेज प्रकाशित हो रहे हैं वे (सम विष्वत्पु) एकत्रित हुए । तथा (पुन) फिर [एषां] इन पितरोंके [तन्पुत्रु] शत्रुओंके (निविशु) पूर्णतया प्रविष्ट होगये । पितरोंके देवत्व लाभका इस मंत्रमें पता चलता है ।

यज्ञका पितरोंमें जाना ।

द्वान् दिवमगन् यन्स्वतो मा द्रविणमपु मनुष्यान् न्तरिक्षमगन् यश्स्वतो मा द्रविणमपु पितृन् पृथिवीमगन् यश्स्वतो मा द्रविणमपु य कं च ऊकोगमगन् यश्स्वतो मा भद्रममृ ॥ यजु ८।६० ॥

(यज्ञ) यज्ञ (देवान् दिव अगद्) देवोंको व तुको गया है । (तत) इस कारणसे (मा द्रविण अपु) मुझे धनसे व्याप्त करे अर्थात् धन मिले ।

इसी प्रकार यज्ञ मनुष्य व अतरिक्ष, पितर व पृथिवी, तथा विश्विष्वी लोकका गया हुआ है वहसे मुझे धनप्राप्ति करावे । पितरोंके लिए यज्ञ करनेसे धन लाभ होता है ऐसा यहाँ हमें मंत्रमें पता चल रहा है । इस मंत्रमें यज्ञके महत्त्वका वर्णन है ।

जनक अर्थमें पितर ।

ऐन्द्र प्राणो अद्गोऽअद्गो निद्रीष्यदैन्द्र उदानो अद्गो अङ्गे निधीतः । देवावद्भूमिरे ते ससमेतु सलक्ष्मा यद्विपुत्र्य भवाति । देवत्रा यन्तमवसे सखायौऽनु स्वा माता पितरौ मद्दद् ॥

यजु ६।२० ॥

(ऐन्द्र प्राण) अरमाधवनी प्राण (अद्गो अद्गो) प्रत्येक अङ्गोंमें (निर्दोष्यत्) प्रकाशित होंगे । (उदान अङ्गे अङ्गे निर्धीत) उदान वायु प्रत्येक अङ्गमें स्थित होंगे । (देवा स्वष्ट) स्वष्टा देव (यत् सलक्ष्मा विपुत्र्य भवाति) जो एकधा होते हुए भी विविध रूपवाला होगया है उसे (स समेतु) भली प्रकार एकत्रित करे वा एकसा बनावे । (अवसे) रक्षाके लिए (देवत्रा यत् स्वा देवोंक प्रति जाते हुए तरे (माता पितरः) माता पिता (अनु मद्दद्) प्रसन्न होंगे ।

विषाणका ओषधि व पितर ।

रुद्रस्य मूत्रमस्वमृत्स्य नामि । विषाणका नाम वा अषि पितृणां मूलादुरियमा वापीकृतनाशिनी ॥

अथर्व० १।४४।१॥

इस मंत्रमें विषाणका नामक ओषधि का वर्णन है । हे ओषधि ! तू (रुद्रस्य मूत्र अषि) भवकर रुद्रनेवाले रोगसे छुड़ानेवाली है । अर्थात् तैरे सेवनसे भयंकर रोगका भी घटन होजाता है । तू (अमृत्स्य नामिना) अमरताकी जननी है । तैरे सेवनसे अमरत्व प्राप्त हो सकता है । (विषाणका नाम अषि) तू विषाणका नामवाली है । तू (पितृणां मूलात् उत्पिता) पितरोंके मूलसे प्रकट हुई हुई है तथा तू (वापीकृत-नाशिनी) वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोगका नाश करनेवाली है ।

इस मंत्रमें विषाणका ओषधिकी पितरोंके मूलसे उत्पन्न हुई हुई बताया गया है । पितरों के मूल से उत्पन्न होनेका क्या अभिप्राय है, तथा वे पितर कौन हैं, अिनके कि मूलसे इस ओषधिकी उत्पत्ति होती है, इत्यादि वैदिकी खोज करनेका

विषय है । संभव है वैद्यग्य इसमें विशेष प्रकाश ढाल सके ।
वैद्यग्य इस विषयमें सहायता करेंगे तो उत्तम होगा ।

स्वर्गवर्णन ।

यथा सुदार्यः सुकृता मद्मन्त्रि विहाय रोगं तन्वः

स्वाधाः । अद्भुताः अद्भुताः स्वर्गे तत्र परमेम पितरौ
च पुत्रान् ॥ अथर्व० ६ । १२० । ३ ॥

[यत्र] अर्धपर [सुदार्यः सुकृतः] कष्ट हृदयबाले भेद
कर्मोंके करनेबाले [स्वाधाः तन्वः रोगं विहाय] अपने
घरारके रोगका त्याग करके अर्थात् रोगरहित शरीरसे युक्त
हुए हुए [मद्मन्त्रि] आनन्द भोगते हैं, [तत्र स्वर्गे]
अर्धपर स्वर्गमें [अद्भुताः] अप्रक्य न होते हुए [अद्भुताः
अद्भुताः] शरीरबलबलसे कुटिल गतिबाले न होते हुए अर्थात्
अद्भुतिके टेढ़े न होनेसे सुन्दर गति करते हुए [पितरौ]
माता, पिता तथा [पुत्रान्] पुत्रोंकी देखें ।

इस मंत्रमें स्वर्गका वर्णन है । अर्धपर नीरोगी होते हुए
पुत्रय सुखी रहते हैं, वह स्वर्ग है, ऐसा मंत्रज्ञ आशय
रहीत होता है ।

पितरोंका धन आदि देना ।

मन्माहुतमहुतमाहुतमाहुत दधं पितृमिरनुमर्तं मनुष्यैः
मस्मान्मे मन उदिव रारजोत्यमिष्टदोहा सुदुर्तं
कृणोतु ॥ अथर्व० ६ । ७१ । २ ॥

(यत्) जो प्रथम मंत्रोक्त गाय, घोड़ा, सोना आदि धन
[हुतं] दिया हुआ अथवा [अहुतं] क्लिप्तसे न दिया हुआ,
स्वयं कर्माया हुआ और जो [पितृभिः दत्तं] पितरोंसे दिया
हुआ जिसकी कि [मनुष्यैः अनुमर्तं] मनुष्योंसे अनुमाय
ही है अर्थात् जो साधिका न्यायसे [मा] मुझे [आत्रगाम]
प्रप्त हुआ है, और [दस्मात्] जिस धनसे [मे मनः उद
इव रारजोति] मेरा मन उदयकी प्राप्ति हुआ हुआ अत्यंत
सौभाग्यमान हो रहा है, [तत्] उस धनको [शोता अग्निः]
दाता अग्नि [अहुतं] उपमत्तसे दिया हुआ बनावे ।
अर्थात् उषको मे सम्मार्गमें लयात्कं ऐसी मुझे सम्मति प्रदान
करे ।

ब्राह्म्य व पिता, पितामह आदि ।

स सर्वानन्दैशानुभ्यचलत् ॥

अथर्व० १५ । ६ । २४ ॥

१३ (अ. सु. मा. कां० १८)

सं प्रजापतिश्च परमेशी च पिता च पितामह-
श्चानुभ्यचलत् ॥ अथर्व० १५ । ६ । २५ ।
प्रजापतिश्च वै स परमेश्वरश्च वितुश्च पितामहस्य
च दिव्यं धाम भवति य एवं वेद ॥

अथर्व० १५ । ६ । २६ ॥

(सः) उस ब्राह्मणे (सर्वान् अन्तर्देशान्) सब भीतर
देशोंमें (अनुभ्यचलत्) विचरण किया ॥ १५ । ६ । २४ ॥
(तं) उस ब्राह्मणके (अनु) पीछे (प्रजापतिः च परमेशी
च पिता च पितामहः च) प्रजापति अर्थात् राजा, परमेशी
यानि कंचेपदबलि विश्वान् वा संन्यासी पिता तथा पितामह
विचरने लगे ॥ १५ । ६ । २५ ॥ (यः) जो शक्ति (एवं)
इस प्रकार अर्थात् द्वितीय मंत्र (१५ । ६ । २५) में कहे
अनुशर (वेद) जानता है, वह प्रजापति, परमेशी, पिता
तथा पितामहका (दिव्यं धाम) दिव्य घर बनता है अर्थात्
उषाके घरमें यह पूजनीय-वर्ग आता है दूसरेके घरमें
नहीं ।

ब्राह्म्य अर्थात् अतिथिका महत्त्व यहां दिखाया गया है ।
अतिथिके पीछे ये सब घूमते रहते हैं ताकि अतिथि इनके
घरको अपने आगमनसे पवित्र करे ।

स महिमा सद्गुमूर्त्वात्तं पृथिव्या अगच्छत् स
समुद्रोऽभवत् ॥ अथर्व० १५ । ७ । १ ॥

सं प्रजापतिश्च परमेशी च पिता च पितामह-
श्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूशानुभ्यवर्षयन्त ॥

अथर्व० १५ । ७ । २ ॥

(सः) उस ब्राह्मणे (महिमा) अपनी महिमासे (सद्गुः
मूर्त्वा) बेगवान् होकर (पृथिव्याः अन्तं अगच्छत्)
पृथिवीके अन्तको प्राप्त किया । और (सः) वह ब्राह्मण
(समुद्रः अभवत्) समुद्र हुआ ॥ १५ । ७ । १ ॥ (तं) उस
ब्राह्मणके (अनु) पीछे पीछे प्रजापति, परमेशी, पिता, पिता-
मह, (आपः) भेद कर्म, (श्रद्धा च) और श्रद्धा (वर्षं
भूत्वा) वर्ष बनकर (व्यवर्षयन्त) बर्षमान हुए वा वर्षाव
करने लगे । यहां परभी व १५ की महिमा गाई गई है ।

पितरोंका जल्पिके विषयमें अज्ञान ।

नैतां विदुः पितरौ मोक्ष देवाः येषां जल्पिश्चात्यन्तरे-
दम् । त्रिते स्वानमद्भुराप्ये नर आदित्यापो बर्षेनात्रुषिष्टाः

अथर्व० १५ । १५ । १ ।

(देवां) जिन ३३ देवोंको (अग्निः) दुःस्वप्नकी कारण-
भूत जो यह वाणी (इदं अन्तर) इस अन्तके बीचमें
(चरति) विचरण कर रही है, (एतां) इस वाणीको (न
पितरः विदुः न उत देवाः) न तो पितर ही जानते हैं और
नहीं देव । (वरुणेन अमुनिष्ठाः) वरुण द्वारा भर्त्सा प्रहार
उपदेश दिए गए (आदिश्याथः नरः) आदिश्य नरोंने
(स्वप्ने) स्वप्नका (आप्ये त्रिते) आप्य त्रितमें (अदधुः)
स्थापित किया ।

इस मंत्रमें प्रकृत विषयमें इतना ज्ञात होता है कि पितर
अग्निको नहीं जानते ।

नारायंस पितर ।

***पितरो नारायंसाः ॥ यजुः । ८ । ५ ॥

(नारायंसाः) नर जिनही प्रशंसा करते हैं वे (पितरः)
पितर नारायंस पितर कहलाते हैं ।

पिता-पितामह आदि पितर ।

जीवं ददन्ति विमपन्ते अश्वरे दीर्घामनु प्रसितिं
दीधिनुनैः । वामं पितृभ्यो य इदं सनेरिरे मनः
पतिभ्यो जनयः परिष्वजे । ऋ० १०।४०।१० ॥

यद् मंत्र योकेसे पाठमेइके साथ अथर्ववेदमें है—
जीवं ददन्ति विमपन्तश्चरं दीर्घामनु प्रसितिं
दीधिनुनैः । वामं पितृभ्यो य इदं सनेरिरे मनः
पतिभ्यो जनयः परिष्वजे । ऋ० १०।१।१६ ॥

(नरः) जो नर (जीवं ददन्ति) पतिवोंके आश्रयके
उद्देश्य से रोते हैं अर्थात् जो रिश्रवोंकी बहुत परवाह करते
हैं, उनकी दुर्दर्शापर रोते हैं तथा जो (अश्वरे विमपन्ते)
यज्ञमें उन रिश्रवोंको प्रशिक्षण करते हैं अर्थात् उनके घाय
यज्ञ में बँठते हैं, अथवा जो रिश्रवोंको शिष्या नहीं करते,
और जो (दीर्घां प्रसितिं) गुजाओंका संघा संघा आदिगन
रिश्रवोंको (अनुप्रदीप्युः) देते हैं अर्थात् उनके सब प्रेम
करते हैं, और (वे) जो (पितृभ्यः) पितरोंके लिए (वामं)
सुन्दर संतानको (धमीरिरे) पैदा करते हैं, ऐसे [पतिभ्यः]
पतिवोंके लिए [जनयः] परिश्रवा [परिष्वजे] आदिगन के
लिए [मनः] सुख देती हैं अर्थात् ऐसे पतिवोंको ही
वास्तव में पत्नीसुख मिलता है ।

इस मंत्रमें पत्नीसुख अर्थात् गार्हस्थ्यसुख किन्को मिलता
है, यह उक्तमतया दर्शाया गया है । पितरोंके लिए
संतानोत्पत्ति करने व यज्ञमें पत्नीके बैठानेका भी यहाँ
निर्देश है ।

(२) यम ।

अब तक के प्रकरणों में पितरों का विषय या वह प्रायः समाप्त हुआ है। अब हम आगे के प्रकरणों में यम पर विचार करेंगे। यमविषयक मंत्रों के हम दो विभाग करेंगे। प्रथम विभाग में उन मंत्रों का उल्लेख होगा जिनमें यमको कोई खास विशेषण प्रयुक्त हुए हुए न होंगे द्वितीय विभाग में विशेषणविशिष्ट यम होगा। विशेषणविशिष्ट यमवाले मंत्र यमकी उत्पत्ति, स्थिति आदि विषयों में कुछ प्रकाश डालने में सहायक हो सकेंगे। द्वितीय विभागके शीर्षक का नाम 'वैवस्वत यम' रखेंगे क्योंकि वैवस्वत विशेषण ही प्रायः यमके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ मिलता है।

प्राणापहारी यम ।

यम मृत्युकी अधिष्ठात्री देवता है। प्राणियों के जीवन के अपहरण का कार्य यम करता है। मृत्यु यमका ही दूत है, यह हमें आगे पता चलेगा। प्राणियोंके मारनेका काम यम करता है, यह निम्न मंत्रों से स्पष्ट हो रहा है।

पदुल्लको वदति मोघमेतत् याकपोतः पद्ममनौ
कृणोति । यस्य दूतः प्रहितः एष एतत्तस्मै यमाय
नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ऋ० १०।१६।५।४ ॥

[उल्लकः अत् वदति] उल्लूको अश्रुम बोलता है [एतत्] यह उसका बोला हुआ [मोघं] निष्फल हो, अर्थात् इस उल्लूके जिस आनेवाली आपत्तिकी सूचना दी है वह निष्फल होवे। [कपोतः] और कव्तर [अनौ यत् पदं कृणोति] अग्निमें जो पैर करता है अर्थात् पैरसे अग्नि छेकता है, वह भी निष्फल हो। इस अपराङ्गुन से सूचित आपत्ति का भी निराकरण हो। [एषः] यह उल्लूक वा कव्तर [यस्य प्रहितः दूतः] जिसका भेजा हुआ दूत है उस [मृत्यवे यमाय] मारनेवाले यम के लिए [नमः] नमस्कार [अस्तु] होवे।

इस मंत्र में उल्लूक के बोलने वा कव्तर के पैर से अग्नि छेकने आदि अपराङ्गुन से उत्पन्न आपत्तिनिवारण की प्रार्थना है। ऋषद्वैवेद सू० ६ मंत्र २७, २८ तथा २९ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है। पाठक वहाँ देख सकते हैं। ऐसे अपराङ्गुन मृत्यु की संभावना को सूचित करते हैं, ऐसा जान पड़ता है।

अतएव इन अपराङ्गुनोंके करनेवालोंको यमका दूत कह कर पुकारा गया है। शकुन व अपराङ्गुन संबन्धी वेदमंत्र हैं यह पाठकोंको लक्ष्यमें रखना चाहिए। अस्तु, यहाँ यम उर्ध्वी अर्थ में है जिस अर्थ में कि वह प्रसिद्ध है।

यः प्रथमः प्रवत्तमासत्त्वाद् बहुभ्यः पन्ध्यामनुपस्पृशान् ॥
शोऽश्चेदो द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु
मृत्यवे ॥ अथर्व० १।२८।३॥

[यः] जिस यमने [अनुपस्पृशान्] स्पर्श करते हुए [बहुभ्यः प्रथमः] बहुतोंसे पहिले होकर [प्रवत्तं पन्धां आसत्त्वाद्] प्रकृष्ट मार्गको प्राप्त किया तथा [यः] जो [अस्य द्विपदः] इस दो पैरोंवाले मनुष्यजगत्का व [अस्य चतुष्पदः] इस चारपैरोंवाले पशुजगत्का (ईशे) स्वामी है, (तस्मै) उस [मृत्यवे यमाय] मृत्यु करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

यहाँ पर भी यम उर्ध्वी अर्थ में है जिस अर्थमें कि पूर्व मंत्रमें प्रयुक्त हुआ हुआ है।

नमोऽस्तु ते निर्ऋते त्विगमेजोऽयस्मयान् विवृतान्
बन्धपाशान् । यमो मर्षं पुनरिव स्वां ददाति तस्मै
यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ अथर्व० १।६३।२॥

हे (तिग्मतेजः निर्ऋते) हे तेज मष्ट करनेवालों निर्ऋति । (ते नमः अस्तु) तैरे लिए नमस्कार है। [अयस्मयान् बन्धपाशान्] लोहेकी बनी हुईं बंधियोंको (विवृतान्) खोलदे, काटदे। (यमः) यमने (त्वां) तुझे (मर्षं) मेरे लिए (पुनः इत्) फिर भी (ददाति) दिया है अर्थात् पुनः यमने मुझको तुझे सौंपा है। (तस्मै) उस (मृत्यवे यमाय) प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार होवे।

तिग्मतेजः- 'तिग्म तसौ हिंसायां च' से हिंसा अर्थ में तिग्म शब्द बनानेपर इसका अर्थ होगा कि जो तेजस काश करे वह तिग्मतेजः।

निर्ऋतिका अर्थ है कष्ट, दुःख, अनिष्ट।

यम यहाँ पर भी उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ है ।

एवोश्चरमान् निर्रुते नेहा स्वमयस्मयान् विचूता
बन्धपाशान् । यमो मग्न पुनरिव स्वा इवाति तस्मि
यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ अथर्वं १।८।३।३ ॥

(निर्रुते) हे निर्रुति ! (त्वं) तू (अनेहा) न
मारनेवाली होती हुई (अस्मान्) हमारे (एवो) उधो
पूर्वोक्त प्रकारसे (अयस्मयान्) लोहमय-लोहके बने हुए
(बन्धपाशान्) बेकिपोंको (विचूत) खालदे काट दे ।
(यमः त्वा पुनः इव) यमने तुझको फिर भूँ (मग्नं
ददाति) मुझे छोपा है । (तस्मै मृत्यवे यमाय) बंध
प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए (नमः अस्तु) नमस्कार
होवे ।

मा यो मृगो न पवसे जरिता भूद्रजोष्यः । पया
यमस्य गात्रुप ॥ श्र० १।३।८।५ ॥

हे मरुतो ! [यवसे मृगः न] जिस प्रकार पशु घास
आदि मक्ष्य पदार्थोंसे पूषक नहीं होता अर्थात् छःछमें उसे
जैसे सदा घास आदि मक्ष्य पदार्थ स्वतंत्रतासे मिलते रहते
हैं, उन्हीं प्रकार (वः जरिता) तुम्हारी स्तुति करनेवाला
(अजोष्यः) अप्रतिकर अथवा असंबन्धी अर्थात् अपभोग-
चामसो की प्राप्ति से रहित (मा) मत होवे । उपासकको भी
मृगकी तरह स्वतंत्रतासे अपभोगचामसा प्राप्त होती रहे ।
और वह उपासक (यमस्य पथा) यमके मार्ग से
(मा उपगात्) मत जावे यानि वां प्र मृत्युको प्राप्त मत
होवे ।

इस मंत्र में भी स्पष्ट रूपसे प्राणापहरण करनेवाले यमका
ही उल्लेख है ।

देवेभ्य कमृणीष मृत्युं प्रजापे किममृतं नावृणीत ।
मृदस्पति यज्ञमकृषः त ऋषिं प्रियां यमस्तन्वं
प्रारिरेचीत् ॥ श्र० १०।१३।४ ॥

इस मंत्रका उत्तरार्ध शोभसे पाठभेदके साथ अथर्ववेद में
इस प्रकार से आया है—

हृदस्पतिपुत्रममृतुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं मा
रिरेच ॥ अथर्वं १०।१३।४ ॥

[देवेभ्यः] देवोंके लिए [कं मृत्युं] किस मृत्युको
(अमृणीत) रक्षित किया है अर्थात् देवोंके लिए मृत्यु

कौनसी है ? [प्रजापे] उत्पन्न होनेवाली मनुष्यादि संततिके
लिए [किं अमृतं न अमृणीत] क्यों अमरता रक्षित नहीं
की ? अर्थात् प्रजाको अमर क्यों नहीं बनाया ? मनुष्योंके
[मृदस्पति ऋषि] मृदस्पति ऋषिको अमरताप्राप्तिके लिए
[यज्ञं अकृषत] यज्ञ बनाया, टोमी [यमः] यमने उनको
[प्रियां तनुं] प्रिय शरीरको छीन लिया अर्थात् टोमी उन्हें
अमरताका काम न हुआ । शृपवा अथर्ववेदके पाठभेदानुसार
इस मंत्रका अर्थ इस प्रकारभी हो सकता है—

(देवेभ्यः कं मृत्युं न अमृणीत) देवोंसे कौन मरता
न था ! अर्थात् देवभी श्व मरते थे । तब (मृदस्पतिः
ऋषिः यज्ञं अतनुत) देवोंसे मृदस्पति ऋषिने अमरताकी
प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए (अमृतं अमृणीत)
अमरताको प्राप्त किया पर (प्रजापे) प्रजाके लिए (किं
अपि अमृतं न) कोईभी अमरता न प्राप्त की अतएव (यमः)
प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे (प्रियां तन्वं)
उनकी प्यारी देह (प्रारिरेचीत्) छीन लेता है अर्थात्
प्रजाको मृत्यु होती है ।

यक्षोपर आलंकारिक रूपसे देवोंकी अमरता व मनुष्योंकी
मरुवरताका वर्णन किया गया है ।

ये दक्षिणतो उद्भूति जातवेदी दक्षिणाया दिशोभि
दासम्यस्मान् । यममृत्वा ते पराज्यो मय्यन्तां
प्रथमेनान् प्राप्तिस्तरेण हन्मि ॥ अथर्वं १।४।१। २ ॥

[जातवेदः] हे जातवेद ! वे जो शत्रु [दक्षिणतः]
दाहिनी ओरसे [उद्भूति] यज्ञ करके हम पर आक्रमण
करते हैं और जो [दक्षिणायाः दिशः] दक्षिण दिशासे [अ-
स्मान्] अभिदाशनित] हमें दास बनानेके लिए आक्रमण करते
हैं [ते] वे शत्रु [यमं मृत्वा] यमको प्राप्त करके [पराज्य]
पीठ मोह कर भागत हुए [मय्यन्तां] व्यथित होवे अर्थात्
उनका दुर्दशापूर्वक नाश होवे । [एनान्] इन शत्रुओंकी मैं
[प्रतिघेण] प्रति शत्रुसे हन्मि] मारता हूँ ।

प्रतिघर सायणाचार्यने इसका अर्थ किया है किजिससे आभि
चारिक कर्मका निवारण हो ।

इदो वो मीवा अशरित विशात्वाः पृष्टीर्षोऽपि यमेन
समजोगमत् ॥ अथर्वं १।३।२।३ ॥

[विशात्वाः] हे विशाचो ! [वः मीवाः] तुम्हारी गर्दनको
[एदः] एदने [अशरित] काट जाला है । [यानुपातः] हे

पीडा देनेवाली [[वः पृथीः अपि] तुम्हारी पक्षस्थि भी वह
इन्द्र (भृगुपातु) काट डाले । [विरवतः वीर्या वीरुद ।] सम्पूर्ण
तथा वीर्यसे युक्त औषधि । [वः] तुम्हें [यमेन सं भर्मी-
गमत्] यमके साथ मलो भांति संयुक्त करे अर्थात् मार डाले ।

इस मंत्रमें शत्रुविनाशार्थे जहरीली औषधियोंके प्रयोग करनेका
निर्देश है । यमका अर्थ यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है ।

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋत्यो बभ्रुः शर्वोस्ता नीलशि-
खण्डः । देवजनाः सेनयोस्तस्थिर्वास्तस्ते अस्माकं परि-
हृञ्जन्तु वीरान् ॥ अथर्व० ६।१६।१३ ॥

(यमः) यम, (मृत्युः) मृत्यु, (अघमारः) पापसे वा
पापके कारण मारनेवाला, (निर्ऋत्यः) निरन्तर पीडा देनेवाला
(बभ्रुः) पालक, (शर्वः) हिंसक (अस्ता) षडाकर कैक
द देनेवाला, (नीलशिखण्डः) नील शिखण्ड (तै) उपरोक्त
(देवजनाः) तथा देवजन मिलकरके (सेनया उत्पत्तिर्वांसः)
सेना द्वारा आक्रमण के लिए तैयार हुए हुए (अस्माकं वीरान्)
हमारे वीर सैनिकोंको (परिहृञ्जन्तु) छोड़ देवे अर्थात् लडाईं
में हमारे सैनिकोंका विनाश करे । यद्यपि उपरोक्त सब शत्रु-
सैनिकोंका विनाश करे । यहाँपर भी यमकी गिनती मारनेवालोंमें
की गई है ।

उपेष्टध्नीं जातो विचृतोर्धमस्य मूलबर्हणात् परि
पाङ्गेनम् । अत्यन्तं नेपद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुष्याय
शतशरदाय ॥ अथर्व० ६।११०।२॥

(उपेष्टध्नीं जातः) उपेष्टध्नीमें पैदा हुए हुए तथा (विचृतोः)
विचृत में पैदा हुए हुए इष्ट कुमारकी (यमस्य मूलबर्हणात्) यम-
के मूलोच्छेदनसे हे अग्नि! (परि पाङ्गे) रक्षा कर । इसे मर-
नेसे बचा । (एनं) इस पुत्रको (विश्वानि दुरितानि) सर्व
पापों विमोक्षे (अति) बचाकर (शतशरदाय दीर्घायुष्याय)
सौ वर्षोंकी दीर्घायुके लिए (नेपद्) ले चल । इसे सौ वर्षकी पूर्ण
दीर्घायु प्राप्त होवे ।

उपेष्टध्नी-उपेष्टा नामक नक्षत्रमें उत्पन्न संतान उपेष्टका नाश
करती है । इस निषयमें तैत्तिरीय ब्राह्मणका निम्न बचन है-
' उपेष्ट एषा अश्विधेति तज्जपेष्टध्नी ' ।

तै० ब्रा० १।५।२।८ ॥

विचृत-हिंसक स्वभाववाले, मूल नक्षत्रका नाम है । इसमें
पैदा हुई हुई संतान मष्ट हो जाती है । इसमें निम्न तै० ब्रा०
का बचन है- ' मूलं एषा अयुषामेति तन्मूलबर्हिणी ' ॥

तै० ब्रा० १।५।२।८ ॥

यहाँपर यमका ओ संततिका मूलोच्छेदन अर्थात् जडसे नाश
करना है, उससे बचानेकी प्रार्थना है । एवं यम यहाँपर विनाश
करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त है ।

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परितु मृत्युरमृतं
न पतु । इमन् रक्षतु पुरुषाना जग्मिणो मोक्षेचाम-
ससो यमं गुः ॥ अथर्व० १०।३।१६२ ॥

(नः) हमें (विवस्वान् अमृतत्वे) विवस्वान् सर्व अमर-
तामें (दधातु) स्थापित करे । (मृत्युः परा एतु) मृत्यु दूर
भाग जाय । (अमृतं नः पतु) हमें अमरत्व प्राप्त होवे ।
(इयान् पुरुषान्) इन पुरुषोंकी (विवस्वान्) सर्व (जग्मिणः)
आरक्षतु) तुझापे तक रक्षा करे । (एषा असवः सो यमं गुः)
इनके प्राण यमको मत जावे ।

इस प्रकार इन मंत्रोंके अवलोकनसे यम एक नाशक शक्ति
है, यह प्राणियोंके प्राण हरण करनेवाला है । यह हमें स्पष्ट
रूपसे पता चलता है । यम अम्य अर्थमें भी वेदोंमें प्रयुक्त है जैसा
कि हम आगे चलकर दिखायेंगे, पर इष्टके साथ साथ यम नाश
करनेके अर्थमें भी प्रयुक्त है । इसीको हम यं भी कह सकते हैं कि
प्राणियोंके प्राण हरण करनेके महकमेके अधिकारीका नाम यम
है । हम आगे चलकर देखेंगे कि यम इस महकमेका राजा है ।
इसकी बाकायदा प्रजा है, इसका लोक है, इसके दूत हैं, रत्यादि ।

अश्विनौ व यम ।

वील्लुगमभिराशुर्हेमभिर्वा देवानां वा जूतिभिः क्षाशदाना ।
तत्रासभो नासत्या सहस्रमाजा यमस्य प्रघने जिगाय ॥
श्र० १।११६।२॥

हे (क्षाशदाना) चीराफाटी करनेवाले (नासत्या) अश्विनौ
(विल्लुगमभिः) बलसे गिरनेवाले अर्थात् शक्तिशाली, (आशु-
हेमभिः) क्षीणगामी घोड़ोंसे (वा) अथवा (देवानां जूतिभिः)
देवोंकी श्रेणाओंसे (तत् रासभः) उस रासभ अर्थात् गर्दमने
को कि तुम्हारी अश्विनौकी (सवारी है) (दमस्य) यमकी
(प्रघने स्वाजा) जिसमें बहुत धनकी प्राप्ति होती है ऐसे संभाम
में (घटसं) हजारोंको जात लिया ।

इस मंत्रमें अश्विनौ व यमकी लथाईका आलंछारिक वर्णन
है । यम मारनेवाला है, और अश्विनौ देवोंके वैध होनेसे जिलाने
वाले हैं । यहाँपर यमका पराजय व अश्विनौके रासभकी जीतका
वर्णन है ।

क्षाशदाना-शरत् घातने से यह शब्द बना है । इसका अर्थ
चीराफाटी करनेवाला है ।

राशभ-गर्दभ, गधा । यद् आश्विनोको सवारी हे देवो
विष्णुः १।१५॥

अमुत्र भूपादध यद् यमस्य वृहस्पते अभिवास्तेरमुञ्च ।
मलौहतामश्विना मृदुमस्मरेवानामो भिषजा प्राचीमि
यशु २०।२, अथर्व० ७।५।१॥

[वृहस्पते] हे वृहस्पति । [यमस्य अमुत्र भूयत् अभि-
वास्ते] इस परलाकमें यमके वृष्टे [अमुच] हमें छुड़ा
अर्थात् यम हमें मारने न पावे । [अम] इ अग्नि' [देवानां
भियजा अश्विना] दक्के दैव अश्विनी [अचामि] अपनी
राक्षियों से कामभयों [अस्त यशु] हमारी श्रुतको [प्रलौ-
हतां] दूर करे ।

अश्विनौ मृत्यु दूर करनमें र्व हैं एसा यहां पर भ्यक्त
होता है । यमको दिसासे अचानके लिए प्रार्थना की गई है ।

इस प्रकार अश्विनोका जिस यमके मुझाबला पहता है वह
मा यम वही दे, जा हम ऊपर दर्शा आए हैं । उपरोक्त यमकी
ही पुष्टि इन मन्त्रोंसे हो रहा है ।

विष्टारी ओदन व यम ।

विष्टारिण ओदन ये पचन्ति नैनात्पचिः सचते कदा
चन । आस्ते यम उपयाति देवान् स गन्धर्वैर्मदय
सोम्यभि ॥ अथर्व० ७।३।३

[ये] जो [विष्टारिण ओदन] विस्तारवाले अर्थात् फैले
हुए ओदनको [पचन्ति] पकाते इ [एनात्] उनको [अवति]
परिदत्ता [कदाचन] कभी मा [न सचत] प्राप्त नहीं होती
अर्थात् वे कभी मा गरीब नहीं होते । वह ओदन पाचक [यमे
आस्ते] यममें स्थित होता है, [देवान् उपयाति] देवों को
प्राप्त होता है और [सोम्यभि गन्धर्वै] सोम्य गंधर्वों के
साथ [समस्ते] अनान्दित होता है ।

विष्टारी ओदन पाचक की यममें स्थित होती है, ऐसा यहां
दर्शाया गया है ।

एव इस मन्त्रमें विष्टारी ओदनका महिमाका वर्णन किया
गया है । यहां यमका अर्थ नोगदाश्राफ अर्द्धिवादि यदुत्तम प्रतीत
होता है । पर तु इससे अगले मन्त्र अर्थात् ७।३।४ में यम
उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ प्रतीत होता है । वह
मन्त्र इस प्रकार है-

विष्टारिणोदन ये पचन्ति नैनात् यम परिमुष्णति
रेत । रपीद भूवा रययान ईयते पक्षी इ भूयति
दिवः समेति ॥ अथर्व० ७।३।४ ॥

(ये) जो (विष्टारिण ओदन पचन्ति) विस्तृत ओदन
को पकाते हैं (एनात् रेत यम न परिमुष्णति) उनका
वीर्य क्षमार्थ यम अपहरण नहीं करता । (इ) नियमसे वह
ओदन पाचक (रपी भूवा) रथ पर सवार होकर (रययाने)
रथ से जाने योग्य अर्थात् उत्तम मार्ग में (ईयते) विचारण
करता है । अर्थात् वह रपादि यानों से सवत हुआ हुआ धर्म
विचरण करता है । (पक्षी भूवा) पक्ष-पक्षोवाला होकर
अर्थात् विमानादि वायुयानोंमें सवार होकर (दिव घनेति)
दुलोक में विचरण करता है । वह आवाज, भूमि आदि धर्म
स्थानों में अव्याहत गति से विचरण कर सकता है । सबके
जानके लिए कहीं भी रोक टोक नहीं ।

यम जो सबका कामधर्म हरण कर लेता है, वह भी इसका
वीर्य नहीं करता । इस प्रकार इन दोनों मन्त्रों में विष्टारी ओद
नकी महिमा गाई गई है । यमको भी इसके पाचकके काम
ने हार माननी पड़ती है एसा इस बारे में अभिप्राय व्यक्त
होता है ।

विष्टारी ओदन विष्टारीका अर्थ है विस्तारवाला अर्थात्
जिसका परिमाण बड़ा विस्तृत है । ओदन चान्द यहान्न अन्न
का उपलक्षण है । विष्टारी यन्न ओदन से किया जाता है ।
इस अन्नदानयज्ञकी महिमा इस सूक्त में दर्शाई गई है ।

यमका कर्ता अग्नि ।

यय यो होता किं स यमस्य कमभ्यूहे यासमञ्जित
देवा । अहरहर्जायव मग्नि मास्वया देवा पृथिरे
दृष्यवाहय ॥ अ० १०।१२।३॥

(अय य होता) यह जो दान-आदान करनेवाली अग्नि
दे (स) वह (यमस्य कि) यमकी कर्ता है । वह (क
अपि ऊहे) अन्नका मा वहन करती है (दत्) जिस अन्न
को (देवा समञ्जित) देव लोके खाते हैं । वह अग्नि
(अह अह जयते), प्रतिदिन हवनके समय उत्पन्न होती
है अर्थात् हृद्य प्रज्वलित किया जाता है । और यह (माग्नि
माग्नि) अत्येक माघमें वा अत्येक पक्षमें माघिक व पाक्षिक
यज्ञमें प्रकट होती है । (अय) और (देवाः) देवयण

(हव्यवाहं) हव्यका वदन करनेवाली इस अग्निको (दधिरे) स्थापित करते हैं ।

इस मंत्रमें अग्नि को यम की करनेवाली बताया गया है । यहाँपर यम का अर्थ वायु भी हो सकता है क्योंकि अग्नि वायु को शुद्ध करती है । प्रचण्ड अग्नि के उद्गम होनेपर हवा खूब श्रेष्ठ घे चलने लगती है । इसके अतिरिक्त इस मंत्रसे यह भी पता चलता है कि दैनिक, पाक्षिक तथा मासिक यज्ञ करने चाहिये ।

क = अक्ष । माघ = माघ तथा पक्ष ।

यमकी बेडी ।

मुञ्चन्तु मा शपथ्याद्यो वरुण्यादुत् ।

अथो यमस्य पद्वीशात् सर्वस्माद्देवकिंस्त्रिपात् ।

॥ ऋ० १०।१७।१६॥

यजुः-१२।१०॥

अथर्व. ६।१६।२॥

तथा ७।११।२॥

(मा)मुझे औषधियाँ (शपथ्यात्) शाप देनेसे होनेवालेपापसे (मुञ्चन्तु) छुड़ावें । (अथ उत) और (वरुण्याद्) वरुण संघर्षी किए गए पापसे छुड़ावें । [अथ] और [यमस्य] यमकी [पद्वीशात्] पैरोंकी बेडियोंसे छुड़ावें । [सर्वस्मात् देवकिंस्त्रिपात्] सभी देवोंके संघर्षी पापोंसे औषधियाँ मुझे छुड़ावें । पद्वीशः— पादबंधन, शृङ्खला = पैरों की बेडी ।

उत् त्वाहायं पञ्च शालादयो दशशालादुत् ।

अथो यमस्य पद्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिंस्त्रिपात् ॥

अथर्व० ८।७।२८ ॥

[त्वा] तुझे [पंचशालात्] पंचभूतमें होनेवाले पापसे [अथ उत] और [दशशालात्] दशों दिशाओंमें होनेवाले पापसे [अथ] और [यमस्य पद्वीशात्] यमकी पैरोंकी बेडियोंसे तथा [विश्वस्मात्] सारे [देवकिंस्त्रिपात्] देवोंके प्रति दिए गए पापोंसे [उत् त्वाहायं] बचाकर ऊपर ले गया हूँ ।

इन मंत्रोंमें यमकी बेडियोंसे छूटनेकी प्रार्थना है । यहाँपर भी यम मारनेवाला ही है, यह स्पष्ट पता चल रहा है । आगे चलकर यमविषयक वर्णन जब हम देखेंगे तो यमकी पद्वीश आदिका सुलागा स्वयमेव हो जाएगा ।

वैवस्वत यम ।

यस्ये यमं वैवस्वतं मनो जगाम द्रुकम् ।

तप्त आवर्षयामतीह क्षयाप औदते ॥ ऋ० १०।१८।१॥

[ते] तेरा [यत् मनः] जो मन [द्रुकं] बहुत दूर [वैवस्वतं यमं] विवस्वान् के पुत्र यमके पास [जगाम] चला गया है, [ते तत्] तेरा वह मन पुनः [इह] इस लोकमें [क्षयाप] निवास करनेके लिए व [जीवसे] जीवन धारण करनेके लिए हम [आवर्षयामसि] लौटाते हैं ।

यहाँपर वैवस्वत यम के पास चले गए मनके प्रत्यावर्तनका उल्लेख है । यमको वैवस्वत विशेषण दिया गया है । वैवस्वत का अर्थ है विवस्वान् की संतान । इससे यह पता चलता है कि मारनेवाला यम विवस्वान् का लड़का है । इसपर हम योहाथा प्रकाश आगे चलकर हलेंगे ।

क्षयाप=निवास करनेके लिए, रहनेके लिये । 'क्षि निवासगम्योः

यमादहं वैवस्वतात् सुबन्धोमैन आभरम् ।

जीवातवे न मूलवेऽथो अरिष्टताये ॥

ऋ० १०।६०।१०

[अहं] मैं [वैवस्वतात् यमात्] विवस्वान् के पुत्र यमसे [सुबन्धोः मनः आभरम्] सुबन्धु अर्थात् उतम बन्धुका मन छीन करके ले आता हूँ । किस लिए ? [जीवातवे] इस लोकमें जीनेके लिए [मूलवे न] मरनेके लिए नहीं । [अथ] और [अरिष्टताये] सुखके विस्तारके लिए

इस मंत्रका भाव भी पूर्वके मंत्रसे मिलता है । यहाँपरभी यमको विवस्वान् के पुत्रके नामसे कहा गया है । निम्न लिखित मंत्र हमारी ऊपरकी स्थापनाकी स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है । इसमें यमकी माता व विवस्वान् दोनोंका उल्लेख है । विव— स्वान् कौन है यह भी पाठकोंका इससे स्पष्ट रूपमें पता चल जायगा । मंत्र इस प्रकार है—

त्वष्टा दुहिते वहतुं कृणोतीवीदं विश्वं भुवनं तमेति ।

यमस्य माता पर्युद्यमाना महोज्ञाया विवस्वतोऽननाशा ॥

ऋ० १०।१७।१ ;

अथर्व० १८।११।३॥

(त्वष्टा दुहिते वहतुं कृणोति) त्वष्टा अपनी पुत्री का विवाह रचता है (इति) इस कारण (इदं विश्वं भुवनं) यह सारा भुवन (समेति इकृष्टा होता है । (परि उन्नयमाना) बढ़ाती जाती हुई (यमस्य माता) यम की जननी व (महः विवस्वतः जाया) महान् विवस्वान् की पत्नी (ननाश) नष्ट हो जाती है ।

इसी सूक्त के प्रथम मंत्रसे पता चलता है कि त्वष्टा की पुत्री का नाम धारण्यु है और उस का त्वष्टा विवस्वान् के घाय

विवाह करता है । इस मंत्र से हमें यह पता चलता है कि त्वष्टा-
की पुत्री सरण्यु यमकी माता है व विवस्वान्की पत्नी है अर्थात्
विवस्वान् यमका पिता है । अब हमें यह देखना है कि यम-
का पिता यह विवस्वान् कौन है ।

दासकाचार्य इस मंत्रके वहरार्थकी व्याख्या करते हुए लिखते
हैं, कि 'यमस्वनात् पर्युदयमाना महती जादा विवस्वतो ननाया,
रात्रिणादियस्यादिलोदयेऽन्तर्धाने ।' अर्थात् यमकी माता
व्याही जाती हुई जो कि महान् विवस्वान्की जाया है नष्ट
हो गई । 'आगे जादा विवस्वतो ननाया' का इष्टीकरण करते
हैं कि 'रात्रि सूर्यकी जादा, सूर्यके उदय होनेपर छिप
जाती है ।'

इस प्रकार विवस्वान्का अर्थ हुआ आदित्य अर्थात् सूर्य । इस
उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न परिणाम पर पहुँचते हैं—यमकी
माताका नाम सरण्यु है व पितृकानाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है ।
अर्थात् यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है, अतएव उसे वेदमंत्रोंमें
वैवस्वतके नामसे पुकारा गया है । वैवस्वत यमकी ही सर्वत्र
विशेषण है अन्यथा नहीं, अतएव वैवस्वतके साथ यम न भी
प्रयुक्त हुआ हुआ हो, तो भी उल्टीका प्रहण होता है ।

निम्न लिखित मंत्रोंमें अकेले 'वैवस्वत' शब्दकाही
प्रयोग है ।

मद्रं वै वरं वृणते मद्रं पुञ्जन्ति दक्षिणम् । मद्रं
वैवस्वते चक्षुर्बहुद्रा जीवतो मनः ॥

ऋ० १०।११६।२ ॥

इस मंत्रमें द्रष्टृ स्वप्नके नाश करनेकी प्रार्थना है । अर्थात् इस
प्रकार है—

सब लोक [वै] निश्चयसे [मद्रं वरं वृणते] कल्याणकारी
वर्षों ही चाहते हैं । [दक्षिणं मद्रं] बडे हुए कल्याणसे ही
अपना [पुञ्जन्ति] योग रखना चाहते हैं [वैवस्वते मद्रं
चक्षुः] विवस्वान्के पुत्रकी मैं कल्याणकारी चक्षुःकी अर्थात्
उसकी दृष्टि को चाहता हूँ, ताकि दुःस्वप्न हमें बाधा न
पहुँचावे । क्योंकि [बहुद्रा] बहुतेके विषयोंमें [जीवतः]
जीते हुए अर्थात् लगे हुए मेरा [मनः] मन उनमें विचरण
करता रहता है, अतः दुःस्वप्न आनेकी संभावना है ।

होता है । परन्तु यह दर्शाया गया है कि कल्याणकारी विचार
उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त है । दुःस्वप्न नहीं आसकता । उक्त मंत्रमें
मंत्र इस प्रकार है—
'से प्रार्थना की गई है
वेचनासे तो पुष्ट है

आगे चलकर 'यम व स्वान' इस प्रकारमें हमें स्पष्ट रूपसे
ज्ञान होगा कि स्वप्नका यमसे कितना संबंध है । दुःस्वप्न
यमका शत्रु है अर्थात् दुःस्वप्नके मृत्यु भी हो सकती है ।
अस्तु । वहीपर यह सब स्पष्ट रूपसे हम दर्शानेका प्रयत्न करेंगे ।

वैवस्वतः वृणवद् मागधेभं मधुमागो मधुना सं
सृजाति । मासुर्मदेन हृषिंते न मागन् परं वा
वितापरादो जिहीरे ॥ अथर्व० १।११।२४

(वैवस्वतः) विवस्वान्का पुत्र (मागधेभं वृणवद्)
जागने करे अर्थात् बंटवारा करे । [मधुमागः] उतम माग
करनेवाला वह हमें (मधुना संसृजाति) हमें मधुसे युक्त करे ।
अर्थात् हम भी उतम बंटवारा करनेवाले हों व सर्वदेव
बने । (वद् एनः) जो पाप (मनुः नः आगन्) मातासे हमें
प्राप्त हुआ है अर्थात् माताका अपराध करनेसे यदि हमने
कोई पाप किया है तो वह (वद् वा) क्षमा या क्षिप्त पापसे
(पिना अपराधः) हमने विताया अपराध किया है
जिसे कि विता (जिहीरे) क्षीणित हुआ है, वह सब
उपरोक्त श्रांत होवे ।

इस प्रकार इस प्रकारमें हमें यज्ञके संबन्धमें निम्न
लिखित मुख्य बातोंका पता चलता है—

- (१) यम नामक कोई प्राणिकी जीवनोंका अपराध
करनेवाला है ।
- (२) उसके पिताका नाम विवस्वान् (सूर्य) है, अतएव
उसका दूरा नाम वैवस्वत भी है ।
- (३) उसकी माताका नाम सरण्यु है जो कि त्वष्टाकी
पुत्री है ।

इतने यमसंबन्धी विवेचनके बाद हम यह देखेंगे कि यमका
रहनेका कोई स्थान है वा नहीं, वह प्रजिर्वाही मारकर कदा-
पर लेजाता है, इत्यादि ।

यमलोक व यमराज्य ।

इस प्रकारमें हम यमके लोक व उसके राजके संबन्धमें
विचार करेंगे अर्थात् यमलोक यदि है, तो कहाँपर है, इसपर
प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे । निम्न लिखित मंत्र यह
प्रतिपादन कर रहे हैं कि यमका एक खास लोक है—

उमंशये राष्ट्रभृव किंविषयाणि पद्महृत्तमद्रुदं प्र
व वातावरण रहने परत । फणाको नर्णमैरसमानो यमस्य लोके अथि
आनेके लिए वैवस्वतद्वारायात् ॥ अथर्व० १।११।२४
ही है, यह उपरोक्त वि-

हे [समंश्ये] तन्निद्रिवाली तथा हे [राष्ट्रम्] राष्ट्र का मरण पोषण करनेवाली अप्सराओ ! [किञ्चिदपानि] सर्व पाप व (यद् अक्षयत्) जो पाप इन्द्रियों द्वारा किया है (तत्) वह पाप (नः) हमें (अनुदत्तं) अनुकूलतासे दिया हुआ ही अर्थात् उस पापसे हमें हानि न पहुँचे इस प्रकारसे दो, उस पापको दूर करो । और (ऋणात् ऋणं पृथग्मानः) ऋणसे व्याज आदि द्वारा ऋणको बढाता हुआ उसमर्ग अर्थात् ऋण देनेवाला (यमस्य लोके) यमके लोकमें (आधिरज्जुः) हाथमें रस्सी लिए हुए (नः न आयात्) हमें प्राप्त न होवे अर्थात् हमें ऋणसे भी मुक्त कर दो ताकि यमलोकमें हम सुखपूर्वक रह सकें ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि जबतक ऋण न चुकाया जावे तबतक मनुष्य सबसे मुक्त नहीं हो सकता । मरनेवाला यदि ऋण बिना चुकाए मरेगा तो यमलोकमें भी उसे वह ऋण चुकाना पड़ेगा । वतमर्ग बहावर भी अपना ऋण लेनेके लिए पीछा करता हुआ आ पहुँचेगा । ऋण लेना कितना कष्टप्रद है यह इससे पता चलता है ।

यथापाद् यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥

अथर्व० १२।१।३॥

इस मंत्रके अर्थके स्पष्टीकरणके लिए पूर्व मंत्रको भी साथमें लेना चाहिए । पूर्व मंत्र इस प्रकार है—

ब्रह्मज्यं देवमन्य आ मूलादनु संदह ॥

अथर्व० १२।१।२॥

हे [अज्ये] आहिंसा करनेके अयोग्य ! हे देवी ब्रह्मणी ! [ब्रह्मज्यं] ब्रह्मकी हिंसा करनेवाले घातकको [आमूलात्] जड़से लेकर ऊपरतक [अनुसंदह] संपूर्ण जला दे ॥ १२। १।२ ॥ [यथा] जिससे कि वह ब्रह्मघातक [यमस्य सादनात्] यमके सदनसे भी [परावतः] दूर स्थित (पापलोकान्) पापियोंके लोकको [अयात्] जावे ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि घोर कर्म करनेवाले पापियोंके यमलोकमें स्थान नहीं मिलता, वे उस यमलोकसे भी परे स्थित पापलोकमें जाते हैं । इसके उलट यह भी ज्ञात होता है कि यमलोकमें जानेवाले पापियोंके अतिरिक्त जन हैं । अतः यमलोक निवृत्त स्थान नहीं है ।

इदं यमस्य साधुनं देवमानं यदुच्यते ।

इयमस्व घमते नाळीरयं गीमिः परिष्कृतः ॥

ऋ० १०।१३।५० ॥

(इदं यमस्य साधुनं) यह यमका घर है । (यत् देवमानं उच्यते) जो कि देवों द्वारा बनाया गया है, इस प्रकार कहा जाता है । (अस्व इयं नाळीः) इस यमकी प्रीतिके लिए यह स्तुतिरूपी नागी (घमते) सचचारण की जाती है । (अये) यह यम (गीमिः) स्तुतियुक्त नागोंसे (परिष्कृतः) शोधित होवे ।

इन मंत्रोंसे हमें साधारणतया इतना पता चलता है कि यमलोक करके कोई स्थान अवश्य है । निम्न लिखित मंत्रोंके देखनेसे ऐसा पता चलता है कि यमका उस लोकमें राज्य है अर्थात् यम वहांका राजा है । उस लोकका यम राजा होनेसे उसका नाम यमलोक पडा है । अतएव वह लोक उसके नामसे अर्थात् यमलोकके नामसे पदिद्ध है ।

पुमान् पुंसोऽधिष्ठिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्यस्व यतमा मिया ता वै । यावन्ताश्चे प्रथमं समेयधुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम् ॥ अथर्व० १२।३।१ ॥

(पुमान् पुंसः अधिष्ठिष्ठ) हे दुष्ट ! पुंसोंका अधिष्ठिता वन अर्थात् सचचाधिकार को प्राप्त कर । (चर्म) सुखको (हि) प्राप्त कर । (तत्र) उस सुखमें (यतमा ते प्रिया) जो तेरी प्यारी है वधे (ह्यस्व) तुला । (अये) पहिले (यावन्तौ) जितने समर्थ हुए हुए तुम पतिपत्नी दोनों (प्रथमं) मरणसे पूर्व की आयु में (समेयधुः) प्राप्त किया है (तत्त्वां वयः) वह तुम्हारा अन्न वा आयु (यमराज्ये) यमके राज्य में समान हो ।

इस मंत्रमें बड़े महत्त्वका उपदेश है । सबसे पूर्व मनुष्य की उन्नति करनेके लिए कहा गया है । तदनंतर सुख प्राप्त करके अपने अनुसार पत्नीके सुननेके लिए कहा गया है । इसीकी स्वयंवर कह सकते हैं । इस प्रकारके विवाहके बाद दुम्पती मिलजुलकर अपने मजिन्थको संज्वल बनानेका प्रयत्न करें । जितना वे इस लोकमें कमावेंगे उतना यमलोकमें मिलेगा यह ' वां वयः यमराज्ये समानं ' से दर्शाया है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि स्त्रियां भी पतिके साथ यमलोकमें जाती हैं । अर्थात् जितना मृत पितरोंके प्रति हमारा कर्तव्य है, उतना ही मृत मामी, दादी आदि धांवर्गके लिए भी है ।

समस्मिहोके समु देवयाने सं समा घमसें यमराज्येषु । पूतौ पवित्रैरुव तद्वयेषां यद् यद् रतेो अचि र्वां संघमूव ॥ अथर्व० १२।३।३ ॥

(अग्निम् लोकं) इस लोकमें (स) अच्छी तरह वा साथ साथ तुम पतिव्रता (एतं) विचारण करो । (उ) और (देवयाने) देवोंके मार्गमें (सं) मिलकर विचरण करो । (यमराज्येषु) यमराज्यमें (सं एतम्) साथ मिलकर विचरण करो । (यत् यत् रेतः) जो बीज (यो अग्नि संकभूतं) तुम दोनोंमें उपवस हुआ है, (तत्) उस बीजको (पवित्रैः) पवित्राचरणों द्वारा (पूतो) पवित्र हुए हुए तुम दोनों (उप-हृदयो) अपने पास घुलाओ, अर्थात् पवित्र नाशमें ही बीजका उपयोग करो, व्यर्थ नष्ट मत करो ।

इस मंत्रमें बीजके अनुपयोगके लिए गृहस्थ दंपतीको उप-देश दिया गया है । इसके विवाह एक महत्त्वपूर्ण बान यह दर्शाई गई है कि पतिव्रता में इतना अधिक भ्रम होना चाहिए कि वे सर्वत्र साथ ही रहें । चाहे वे इस लोकमें हों, चाहे यमलोकमें वा अन्य किसी लोकमें । उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वे किसी भी हालतमें जुदा न हो सकें । यह वैदिक आदर्श यहाँ स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है । इस प्रकार यह मंत्र विशेष महत्त्वका है । इसका मनन करना चाहिए ।

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रददुषे हुदे ।

अथाहुनारिकं लोकं निरुन्धानस्य थाघिताम् ॥

अथर्व० १२।१।३६ ॥

(वशा) वशा गौ (यमराज्ये) यमके राज्यमें (प्रददुषे) प्रच्छन्नके दानोंके लिए (सर्वान् कामान्) सर्व प्रकार का कामना-ओंको (हुदे) पूर्ण करती है । (अथ) और (थाघितां) मार्गों हुईं के (निरुन्धानस्य) रोकनेवालेका अर्थात् यदि कोई सुपात्र वशाको मागे और उसको यदि न दी जावे तो न देने-पालेका (लोकं) लोकको (नारकं) महावष्टप्रद (आहुः) कहते हैं अर्थात् न देनेवाले को नरक मिलता है ।

इस मंत्रमें वशा गौकी महिमाका वर्णन है । वशा गौको दान करनेवाले को यमराज्यमें किसी भी प्रकारका वष्ट नहीं होता । उसकी सर्व कामनायें पूर्ण होती हैं और इसके प्रतिक्लृप्त वशाको न देनेवालेको नरक मिलता है ।

एतत् तु देवः सविता धासो ददाति भर्तवे ।

सर्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्यं चर ॥

अथर्व० १८।१।३१ ॥

हे पुरुष ! (सविता देवः) श्रेष्ठ देव (ते) तेरे लिए (भर्तवे) पदिनमेके लिए (एतत् वासः) यह वस (ददाति)

देता है । (तत् तार्यं) उस तुष्टि करनेवाले वरदान (वसानः) पदिनकर (यमस्य राज्ये) यम के राज्यमें (चर) विचरण कर ।

इस मंत्रमें मृत पुरुषको जो कि यमलोकमें पहुँच गया है, उसको वस देनेका विधान है ।

निम्न लिखित मंत्रमें उद्य मृत पुरुषको तिलमिश्रित धान देनेका उल्लेख है, तथा यमराज्ये इनको उद्य पुरुषके देनेके लिए अनुमति मांगी गई है—

यास्य धानाः अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।

सास्ते सन्तुदम्नी प्रभ्वीः सास्ये यमो राजानुधम्यताम् ॥

अथर्व० १८।१।३३ ॥

(ते) तेरे लिए (याः तिलमिश्राः स्वधावतीः) यागः) जिन तिलोंके मिश्रित अर्थात् तिलमिले हुए स्वधावाले धानों को (अनुकिरामि) अनुकूलता से फँकता हूँ, (ताः) वे धान (ते) तेरे लिए (उदम्बीः) उद्य करनेवाले व (प्रभ्वीः) प्रभूत मात्रा में यानि बहुत मात्रामें (एन्तु) होंमें । (ताः) उन्हें (ते) तुझे देनेके लिए (यमः राजा) यम राजा (अनुधम्यतां) अनुमति देवे । यमके राज्यमें विना यमकी अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता, अतः उसकी अनुमति मांगी है ।

इस मंत्रमें यमलोकमें गए हुए के लिए अर्थात् मृतके लिए तिलमिश्रित धान देनेका उल्लेख है । ये तिलमिश्रित धान यमराज्यमें जाकर किष्ट रूपमें परिणत हो जाते हैं, यह निम्न लिखित मंत्र बतला रहा है—

धाना धेनुरभषद् धासो अस्यादितलोऽभवत् ।

सर्वं यमस्य राज्ये अक्षिणामुपजीवति ॥

अथर्व० १८।१।३२ ॥

यमलोकमें जाकर सपरोफ मंत्रानुसार दिए गए (धाना) धान (धेनुः) वृष करनेवाली गौ (अभवत्) बनता है । (अस्याः) और इस धानरूपी गौका (धासः) बछड़ा (तिलः) तिल (अभवत्) बनता है । (धे) निन्दव्यये (यमस्य राज्ये) यमके राज्यमें वह (तां) उस धानों की बनी हुई गायवर ही (उप जीवति) अश्रित हुआ हुआ जीना है ।

यहाँ पर धान तथा तिल यमराज्यमें जाकर किष्ट स्वरूप में परिणत हो जाते हैं, यह दर्शाया गया है । इन दोनों मंत्रानुसार धान व तिल यमलोकमें रहते हुए के लिए देने चाहिए

क्योंकि उसके जीनेके ये एकमात्र आधार हैं ।

इन मंत्रों में हमने देखा कि यमलोकमें यमका राज्य है । यमराज्यमें भी यमलोकका ही प्रदण है । वहीं पर यम मृतोंको ले जाकर रखता है ।

निम्न लिखित मंत्रमें यमका आए हुए मृत पुरुषको अपने राज्यमें स्थान देनेका उल्लेख है-

ददाम्यस्मा भवसानमेतद् ये एव आगन् मम चेदभू-
दिह । यमश्चिकिरवान् प्रायेतद्वाह ममैव राय उप-
तिष्ठतामिह ॥ अथर्वं १८।२।३७॥

(अस्मि) इस मृत पुरुषके लिए (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूँ । क्योंकि (एव यः) यह जो है वह (आगन्) यमलोकमें आया है और (इह) यहाँपर आकर (मम चेत्) मेरा ही (अमृत) हो गया है अर्थात् क्योंकि यह यहाँ आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूँ, अपने राज्यमें नहीं निकालता । इस उपरोक्त प्रकारसे (चिकिरवान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त ' ददाम्यस्मै ' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोकमें आए हुए के प्रति कहता है । और यह भी कहता है कि (एव) यह आगन्तुक (मम रामे) मेरे घनके लिए (इह) यहाँ यमराज्यमें (उप तिष्ठताम्) उपरिष्ठत होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे घनका भाग ले अपथा यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे घनका भाग मिले अपथा यह भी अन्य प्रजाजनकी तरह मेरे लिए दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे ।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमकी यमराज्यमें आए हुए के प्रति उक्ति है । अबतक के मंत्रोंसे यह पता चला कि यमका यमलोकमें राज्य है अर्थात् वह यहाँ का राजा है । अब हम यह देखेंगे कि यमलोक कहाँपर है अर्थात् इसकी स्थिति कहाँ है ।

यमकी दक्षिण दिशा ।

इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा तिष्ठन् यमः ॥

अथर्वं १।७।२०॥

(इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्) इन्द्र पूर्व दिशामें स्थित हुआ हुआ है । और (यमः) यम (दक्षिणा तिष्ठन्) दक्षिण दिशामें ठहरा हुआ है ।

इस मंत्रसे हमें इतना पता चलता है कि यम दक्षिण दिशा में रहता है, यानि यमलोक दक्षिण दिशामें है ।

युलोकमें यमलोक ।

नरा वा प्रांसं पूषणमगोक्षमग्निं देवेद्वमभ्यर्चन्ते गिरा ।
स्यर्वासासाचन्द्रमसा यमं दिवि त्रितं वातमुपसमपतु-
मन्दिवना ॥ ऋ० १०।६४।३॥

(नरा प्रांसं, पूषणं, अगोक्षं, देवेद्वं अग्निं) नरोंसे प्रसंग करके योग्य, पुष्टि करनेवाले, सर्वसाधारणसे जाननेके अयोग्य तथा जिसको देवोंने प्रज्वलित किया है ऐसी अग्निकी (गिरा अभ्यर्चन्ते) स्तुतियुक्त वागियोंसे तु अभ्यर्चना करता है । (स्यर्वासासा चन्द्रमसा) सूर्य तथा यज्ञोंके निर्वाह करनेवाले चन्द्रमाकी, (दिवि यमं) युलोकमें विद्यमान यमकी, (त्रितं वातं) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुकी, (उपसं) उपासी, (अस्तुं) रात्रिकी व (अग्निनी) देवोंके वैद्य अग्निनी की भी स्तुति कर ।

यहाँ पर इतना बताया गया है कि यमकी युलोकमें स्थिति है । पूर्व मंत्रों यह पता चला था कि यमकी दिशा दक्षिण है । इसका मतलब यह हुआ की सुमें दक्षिणकी ओर फर्की पर यमलोक है ।

हमें पितृलोकके प्रकारमें ' उदन्वती वीरवना ' इत्यादि मंत्रसे पता चला था कि तीन यु हैं । उनमेंसे प्रथम में जल रहता है, द्वितीयमें सूर्यादि नक्षत्रगण रहते हैं तथा तृतीयमें पितर रहते हैं ।

अब हमने यह देखा है कि इन तीनोंमेंसे यमकी यु हीनधी है । इसके निर्णयके लिए हमें पितृलोकमें आया हुआ ' तिष्ठो यावः सन्नितुर्वा उपस्था ' इत्यादि मंत्र सहायता देता है । इस मंत्रमें यह कहा गया है कि, तीन युलोक हैं, जिनमेंसे दो सूर्य के समान हैं । ये दो सूर्यके समानपक्षों यु जलवाली व नक्षत्रोंवाली हैं । बीचमें सूर्य है और उसके ऊपर नीचे ये दोनों यु हैं । आगे चलकर इस मंत्रमें कहा है कि तीसरी जो यु है, वह यमलोकमें है, जिसमें वीरगण निवास करते हैं । इसी युको संक्षयमें रखते हुए संभवतः गांतामें कहा है, कि ' इतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं ' । वीर लड़ाईमें मरनेपर स्वर्गमें जाता है और वह स्वर्ग यही यमलोकमें विद्यमान यु है । जैसा कि ' विरा पाटु ' विशेषणसे प्रतीत हो रहा है । इस प्रकार इन दोनों मंत्रों का अभिप्राय यह हुआ कि यमलोकमें जो यु है, वह उदन्वती अर्थात् जिसमें जल रहता है वह भी नहीं है और जिसमें नक्षत्र रहते हैं वह भी नहीं है । परिशुभ न्यायसे जो तीसरी

सब गई वह यमलोकमें है। यह मानना पड़ेगा। तीसरी पुमें पितर रहते हैं अतः पितर यमलोकमें रहते हैं यह भी इसका अभिप्राय हुआ। यमलोकका यम राजा है, अतः पितर उसकी प्रजा हुए। पितर यमराज्यमें रहने हैं इस परिणामको निम्न मंत्र पुष्टि कर रहा है—

ये समाना समनसः पितरो यमराज्ये ।
तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पवाम् ॥

यजुः ११।१५।।

(यम-राज्ये) यमके राज्यमें (ये पितरः समानाः सम-नसः) जो पितर समान तथा समनस् अर्थात् एक संस्कारवाले हैं, (तेषां) उन पितरोंके अर्पण दिए गए (लोकः, स्वधा, नमः, यज्ञ) लोक, स्वधा, नमस्कार व यज्ञ (देवेषु कल्पतां) देवोंमें समर्थ होवे अर्थात् विकल न हों।

इस मंत्रमें पितर यमराज्यमें हैं यह दर्शाया है। पितरोंका स्थान तीसरी पु है। अतः वह पु यमके राज्यमें ही है, यह इस मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है।

यमका राज्य तीसरी पुमें है और उसके आगे पुलोक समान हो जाता है वह निम्नलिखित मंत्र बता रहा है—

यत्र राधा वैवस्वतो यमराज्योपन दिवः ।

यमार्मुर्धवतीरापस्तत्र मासृत कृधीन्द्रायन्द्रो एरिस्ववः ॥

ऋ० २।११३।८३

(यत्र) जहाहा (वैवस्वतः राजा) विवस्वान् का पुत्र यम राजा है, जहां कि (दिवः अवरोधनं) पुलोकको समाप्ति है, वहां तथा जहां (अमृतः) ये (पयस्वतीः आप) बड़े बड़े जल हैं, (तत्र) वहां (मां अमृतं हृषिं) मुझे अमृत बना। (इन्द्रो) हे इन्द्र ! (इन्द्राय) ऐश्वर्यके लिए (परि-स्ववः) चारों ओरसे बढ़ अर्थात् मुझे ऐश्वर्य दे।

इस उपरोक्त विवेकनसे हम निम्न लिखित परिणाम पर पहुंच सकते हैं— यमलोक जहां कि यमका राज्य है, दक्षिण दिशाकी ओर स्थित तृतीय पुमें है। वहां पितर रहते हैं। यम उनका राजा है व वे उसकी प्रजा हैं। यह बात पितर व यमके सहकार्य नामक शीर्षकमें और भी अधिक स्पष्ट हो जाएगी। निम्न मंत्रमें अलंकार रूपमें उग्र विराट्का वर्णन प्रतीत होता है। उस विराट्की बौद्धिक कल्पना करके उसका वर्णन किया गया है—

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः द्विरो ।

अग्निंललाटं यमः कृकाटम् ॥ अथर्व० १।७।११॥

उग्र विराट् बौद्धो (प्रजापतिः च परमेष्ठी च) प्रजापति व परमेष्ठी ये दोनों (शृङ्गे) दो शृंग हैं यानि मूढवस्था-नीय हैं। (इन्द्रः द्विरो) इन्द्र उसका बिर है अर्थात् इन्द्र गिरः स्थानीय है। (अग्निः ललाटं) अग्नि उसका कटाट (माया) है और (यमः) यम उसको (कृकाट) पर्वनका भाग है।

यमको विराट्की रचनमें गर्दनमें स्थान मिलता है अर्थात् यमकी स्थिति उसके शरीरमें गर्दनस्थानीय है।

इस प्रकारसे हमें यमलोक, यमराज्य तथा उसको स्थिति का पता लगा है। अब अगले प्रकरणमें हम यमराजाके शरीरपर विचार करेंगे।

यमके दंत ।

इस प्रकरणमें यमके दंतोंका अस्तित्व, स्वरूप तथा चार्प दर्शाया जाना। निम्न लिखित मंत्रोंमें यमके दंत होनेके विषयमें उल्लेख है—

कृणोमि ते प्राणायानौ जरां मृत्युं दीर्घमायु स्वस्ति ।

वैवस्वतेन प्रहिवान् यमदूताभ्यालोऽपसेषामि सर्वांश्च

अथर्व० ८।२।१३३

(ते) तेरे (प्राणायानौ) प्राण और अग्निको (कृणोमि) विधा करता हूं। और (दीर्घं आयुः) दीर्घ आयुकी तथा (स्वस्ति) कल्याणको भी तेरे लिए स्थिर करता हूं। (जरां मृत्युं) बुढ़ापे व मृत्युकी दूर भगता हूं। (वैवस्वतेन प्रहि-तान् चारतः सर्वांश्च यमदूतान्) विवस्वान्के पुत्र यमद्राघ मंत्रे हुए संशारमें विचरण करते हुए सब यमके दूतोंको (अत्र सेषामि) दूर भगा देता हूं।

इस मंत्रमें यमदूतोंका उल्लेख है। यम उन्हें प्राणियोंको ले आनेके लिए संशारमें भेजता है। उन दूतोंको दूर भगानेका निर्देश वहां है।

नयतामूय मृत्युदूता अपोऽमृततः परः

सहसा हन्यन्तः मृणोद्वेनान् मय्य भवस्व ॥

अथर्व० ८।८।११०

(मृत्युदूताः) हे मृत्युके दूतों ! (अमृत) इन पशुओंको (नयत) ले जाओ। हे (यमदूताः) यमके दूतों ! (अत्र उममत) इन्हें कष्टकर बांध लो ताकि छूट कर भाग न जावें। (परः सहसाः) हजारोंकी संघषामेंसे भी अधिक (हन्य-न्ताम्) मार डालो। (एनान्) इन पशुओंको (भवस्व

मर्त्य) मरकी सुखे अर्थात् पूजा (पूजेद) चर चर कर बने।

इस मंत्रमें मनुष्योंके विनाशके लिए यमदूतके कड़ा गया है। कारण यमदूतोंका कार्य है, यह यहाँ पर स्पष्ट ही रहा है। इस प्रकार इस मंत्रमें यमदूतोंका उल्लेख व कार्य दर्शाया गया है। अब हम देखेंगे कि ये यमदूत कौन हैं व इनका स्वरूप क्या है।

यमदूत—श्वान (कुत्ते)

अभिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरश्रौ शबलौ साधुना पथा । अथा पितृन्सुविद्वान् उपेदि यमेन वे सधमाद् मरन्ति ॥ ऋ० १०।१४।१०॥

यहाँ मंत्र अर्थात् वेदमें जोड़ेसे पाठभेदके साथ इस प्रकार है—
अपि द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरश्रौ शबलौ साधुना पथा । अथा पितृन्सुविद्वान् अपेदि यमेन वे सधमाद् मरन्ति ॥ अर्थ ० १०।१।१०॥

(सारमेयौ) सारमेय, (चतुरश्रौ) चार आँखोंवाले, (शबलौ) चित्रविचित्र रंगबिरंगी (श्वानौ) दो कुत्तों से (अति) बनकर (साधुना पथा) उत्तम मार्गसे (द्रव) जा । (अथ) और (सुविद्वान् पितृन्) उत्तम ज्ञान वाचन से उपेत—मुक्त पित्रोंके (चर इति) समीप जा । (ये) जो कि पितर (यमेन सधमाद् मरन्ति) यमके अथ अत्यन्त अनन्वित हो रहे हैं ।

सारमेयौ—साधुनाचार्यने इसका अर्थ किया है कि सरना नामकी देवकी कुत्ती है, उसके बच्चे। सरना अन्त म् गतौ अत्ये वातुनइधे अन करने पर बनता है । जिसका अर्थ है ' बहुत दौड़नेवाली ' । उसका पुत्र सारमेय । बौद्धिक साहित्यमें सारमेयका अर्थ कुणः प्रबलित है । अष्टः । तथापि हम सारमेय का अर्थ बहुत दौड़नेवाला देखा कर सकते हैं ।

इस मंत्र में उक्तकी कड़ा गया है कि यमके दोनों कुत्तोंसे जो कि रंगबिरंगी हैं, उनके बच्चेकर उत्तम मार्गसे पितरोंके पास जाँ जो कि पितर यमके साथ आनन्दित हो रहे हैं । अर्थात् इस मंत्रमें यमके कुत्तोंकी यमदूतके नामसे नहीं कड़ा गया है तथापि आये आनेवाले मंत्रोंमें उन्हें यमदूतके नामसे कड़ा गया है व उनमेंसे प्रत्येकके रंग आदिका वर्णन है । यहाँ पर उन्हें शबल कहा है जिसका कि स्पष्टीकरण यहाँ है ।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरश्रौ पथिरशौ नृचक्ष्मौ । साम्यामेनं परिदेदि राजन् स्वस्ति चात्मा जननीवञ्च धेदि ॥ ऋ० १०।१४।११॥ अर्थ ० १०।१।१४

(यम) हे यम ! (ते यौ) तेरे जो (रक्षितारौ) रक्षा करनेवाले (चतुरश्रौ) चार आँखोंवाले (पथिरशौ) यम-लोकमें जानेके रस्ते को रक्षा करनेवाले तथा (नृचक्ष्मौ) मनुष्योंके देखनेवाले (श्वानौ) दो कुत्ते हैं, हे राजन् ! (ताभ्यां) उन दोनों कुत्तों द्वारा (पुनं) इसको (स्वस्ति) कल्याण (देदि) दे अर्थात् वे कुत्ते इसे हानि न पहुँचावें देखा कर । (च) और (अस्मै जननीञ्च धेदि) इसके लिए नीरोमिता—रोगरहितता दे । इसे कभी रोग न सतावें ।

इस मंत्रमें यमके कड़ा गया है कि वह अपने कुत्तोंसे किसी भी प्रकारका अकल्याण न होने देवे, सर्वथा कल्याण व आरोग्य देता रहे ।

उरुणसावसुतृना वदुम्बलौ यमका दूतौ चरतौ जनों अष्टः । तावस्मभ्यं दशये मूर्षाय पुनर्दातानसुखेष्ट मद्रम् ॥ ऋ० १०।१४।१२॥ अर्थ ० १०।१।१२॥

(उरुणसौ) लम्बी नाइवाले, (असुतृनौ) प्राणोंके भक्षणसे तृप्त होनेवाले, (वदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतौ) यमके दूत-उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनों असुचरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते रहते हैं । ताकि अचर मिलेन ही उनके प्राणोंसे अपना तृप्ति करे । (तौ) ऐसे वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिए (स्याव दशये) मृत्युके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जानेके लिए (अथ) आज (इह) यहाँ (मरं अस्तु) कल्याणकारी प्राणकी (पुनः) फिर (दातौ) देवें । वे हमारे प्राणोंको छीनकर हमें मार न बनें, अग्नि उलटा प्राणोंको देवें ताकि हम यहाँ अविद्य रह सकें ।

इस मंत्रमें पूर्व पंक्तिके यमदूत कुत्तोंके स्वरूप का वर्णन है । वे लम्बी लम्बी नाइवाले, अत्यन्त बलवान् व प्राणोंके भक्षण से तृप्त होनेवाले हैं । उनसे प्राणोंकी भिक्षा उत्तारार्थ में माँगें गई है ।

श्यामश्च त्वा मां शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरशौ श्वानौ । अथविदि मा वि दीप्यो मात्र विदुः पराङ् मयाः ॥ अर्थ ० १०।१५॥

(इत्थाम्) काला (च) और (शबलः) चितकषरा।
 ऐसे रंगबिरंगी (यौ) जो दो (यमस्य) यमके (पथिरथी)
 यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले (रवानौ) कुत्ते हैं वे
 (त्वा) तुझे (मा प्रेषितौ) मत बाधा पहुँचवें। (अर्बुद्
 एहि) हमारे घन्मुख भा। (मा विदीप्यः) विरह मत
 हो अर्थात् हमें छोड़कर चले जानिही कोशिश मत कर। (अत्र)
 यहाँ इस संघारमें (पराङ्मनाः) विक्षेपित हुआ हुआ
 (मा तिष्ठः) मत स्थित हो। संघारसे उदासीन श्रुति धारण
 मत कर।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि यमके जो दो कुत्ते हैं,
 उनमेंसे एक तो काले रंगका है तथा दूसरा काले सफेद आदि
 रंगोंसे मिश्रित चितकषरा है। इस मंत्रमें जो काला व चित-
 कषरा हरके यमके दूत पुणोद्या वर्णन है, वह आलंकारिक
 रूपसे रात व दिनका वर्णन प्रतीत होता है। काला कुत्तारात
 है और शबल कुत्ता दिन है। वे दिनरात मनुष्योंके पीछे प्राण
 हरण करनेके लिये लगे हुए हैं। ज्यों ज्यों दिन व रात
 गुजरने जाते हैं त्यों त्यों मनुष्यकी आयु क्षीण होती जाती है।
 अतः संभव है वे दिन व रात वास्तवमें यमके दूत हैं और
 उनका यमके श्वान (कुत्ते) करके वर्णन किया हो। यहाँ पर
 एक और भी संज्ञा उठ सकती है और वह यह कि श्वान
 शब्दसे ही कौनो यमके हन कुत्तोंका उल्लेख किया गया? कुत्तेके
 लिए दूसरे अनेक शब्द विद्यमान हैं ही। परन्तु पाठकोंकी
 ध्यानमें रखना चाहिए कि श्वान शब्द हमारी ऊपर की कल्पनाकी
 और भी टूट करता है। श्वान शब्दके अर्थपर विचार करनेसे
 उपरोक्त संज्ञा स्वयमेव शांत हो जाती है और इस श्वान द्वारा किए
 गए आलंकारिक वर्णनका महत्त्व प्रतीय होने लगता है। श्वानका
 अर्थ है (श्व = श्व = कल, न = नहीं) जो आने-
 वाली कलमें न रहे अर्थात् जो आज तो है पर वह कल न
 रहेगा। जो दिन व रात एक बार निकल गए, वे फिर दुबारा
 लौटकर नहीं आते। जब पाठक श्वान शब्द के महत्त्वकी समझ
 गए होंगे कि क्यों यमके दूतोंको श्वानके नामसे कहा गया है
 और उससे किससे किस प्रकार दिन व रातका वर्णन किया
 गया है। परन्तु जबतक इस विषयमें पूर्ण खोज न की जावे
 तबतक निश्चयसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता। पाठक इस
 पर विचार करेंगे ऐसा आशा है। उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्थके
 भावको नीचे लिखे मंत्रमें अधिक स्पष्ट किया गया है

इदेषि पुरय मर्षेण मनसा सह ।
 दूतौ यमस्य मानुषा अधि जीवपुरा इहि ॥

अपर्व० ५।३०।६४

हे पुरय ! (सर्वेण मनसा सह) सर्वों मनके साथ अर्थात्
 मन लगाकर (इह) यहाँ इस संघारमें रहता हुआ (एधि)
 इच्छी प्राण कर। (यमस्य दूतौ) उपरोक्त यमके दोनों
 दूतोंके [मा अनुषा] पीछे मत जा अर्थात् यमलोकमें मत
 जा। [जीवपुराः] जीवोंके पुरोंकी अर्थात् शरीरोंकी [अधि
 इहि] प्राण कर शरीर को छोड़कर यमलोकमें मत जा।

उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्थका इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे पक्षपादन
 किया गया है। यमके दूतों का अनुकरण करने अर्थात् मरनेका
 निषेध करते हुए देह धारण कर मन लगाकर संघारमें रहनेका
 उपदेश है।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे निम्न वाक्य निकलता है-

- (१) यमके दूत दो कुत्ते हैं।
- (२) वे दोनों कुत्ते लम्बी नाकशाल व चार आँखोंवाले हैं।
- (३) उनमेंसे एककुत्ता काला व एक चितकषरा है।
- (४) उनकी श्रुति प्राणोंके मक्षण से होती है। वे मनुष्यों
 के पीछे सर्वदा प्राणाग्रहरण के लिए लगे रहते हैं। यमलोकमें
 जानेके मार्गकी वे सर्वदा रक्षा करते रहते हैं।

यमका दूत ' मृत्यु ' ।

अवेमं जीवा अरचन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत् परिग्रामादितः
 मृत्युर्पमस्यासीद्दूतः प्रचेता असन् पितृभ्यो गमया-
 चकार ॥ अथर्व० १८।२।२७ ॥

प्राणधारी लं गौने इस शवकी परोसे बाहर कर दिया है।
 उसको तुम लोग इस ममसे बाहर अंशुष्टि संस्कारके लिए
 शमशानभूमिमें ले जाओ; यमका दूत जो मृत्यु है उसने इसके
 प्राणोंको पितरोंके पास यमलोकमें भेज दिया है। अतः क्योंकि
 यह विगतप्राण हो चुका है, इस वास्तने इसके शवको प्राण से
 बाहिर दहनदि के लिये ले जाओ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि मृत्यु यमका दूत है, वह
 मृतके प्राणोंको पितरोंके पास पहुँचाता है। इसका आभिप्राय
 यह हुआ कि मरनेपर जीव पितृलोकमें जाता है।

यह मंत्र मूर्त्तपूर्वोंके निम्न लिखित परिणामों को प्राप्त करता
 है।

(१) यम प्राणोंका अग्रहरण करनेवाला है, क्योंकि मृत्यु उसका ही दूत है ।

(२) पितृलोक यमके राज्यमें है; क्योंकि मृत के प्राणोंको पितरों के पास पितृलोकमें यमका दूत मृत्यु पहुंचाता है ।

पाठरूपण यमके दूतोंसंबन्धी इस उपरोक्त विवेचनसे यह कदापि न समझें कि यमके ये तीन (दो कुत्ते व तीसरा मृत्यु) ही दूत हैं । और भी अनेक दूत हैं । पर ये उनमें से प्रधान-मुख्य हैं, अतः इनका विशद रूपसे वर्णन किया गया है । हम इस प्रकारके प्रारंभमें ही एक ऐसा मंत्र देख आए हैं जिससे यह न पता चलता है कि यमके अनेक दूत हैं । उनका निर्देश मात्र है । विशेषों का मात्र विगतवार वर्णन है । उस यमके अनेक दूत बनानेवाले मंत्रकी मूल रूपसे हम पुनः यहां दिग्दर्शन करते हैं-

नपतान् मृत्युदूता यमदूता अयोम्मता । परः सदृशाः
ह्यन्वन्तां तुणेह्वेनान् मर्यां भवस्य ॥

अथर्व० ८।८।११ ॥

इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे मंत्र हैं, जिनमें यमके अनेक दूत होनेका उल्लेख है ।

यमका पितृयाणमार्ग जानना ।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नेपा गव्यूतिरपमर्तवा
उ । यत्रा नः पूर्वं पितरः परेयुरेना ज्ञानाः पच्या
अनु स्ताः ॥

ऋ० १०।१४।२ ॥

अथर्व० १८।१।५० ॥

(प्रथमः यमः) वह प्रसिद्ध यम (नः गातुं विवेद) हमारे मार्ग को जानता है । (एषा गव्यूतिः) वह मार्ग किरीसे भी (अपमर्तवा न) अग्रहरण नहीं किया जा सकता । (यत्र) जिस मार्ग में (नः पूर्वं पितरः) हमारे पुरातन पितर (गेयुः) गए हुए हैं । (एना) इस मार्गमें (ज्ञानाः) उत्पन्न प्राणी-मात्र (स्ताः पच्याः) अपने अपने पद्यों के अनुसार (अनु) जाते हैं ।

यहांपर यम उस मार्गको (पितृयाणको) जानता है, जिसमें कि पितर जाते हैं व अन्य उनका अनुगमन करते हैं वई दर्शाया है ।

यमकी स्वर्गमें पहुंचानेके लिए सहमति ।

नमः सु ते निर्वृत तिमतेजोऽपस्मयं विचृत्वा बन्धमेतम् ।
यनेन त्वं सप्या संविदानोत्तमे नाके भाषि रोहथैनम् ॥

यजुः १२।६३ ॥

हे [निर्वृत] निर्वृति ! [ते नमः] तेरे लिए नमस्कार है । [तिमतेजः] तिमतेजवाली तू [अयस्मयं एतं बन्धं] लोहेके इस बन्धनको [विचृत्वा] काट डाल । [त्वं] तू [य-
मेन यस्या संविदानाः] यम व यमके साथ मिलकर [एनं]
इसको [उत्तमे नाके] उत्तम स्वर्गमें [अपिरोहय] पहुंचा ।
इस मंत्रमें निर्वृतिका यमके साथ एकमत होकर स्वर्गमें पहुंचानेका उल्लेख है । अर्थात् स्वर्गमें जानेके लिए यमकी भी सहमति चाहिए ।

यमका दीर्घायु देना ।

ऊर्ध्वो मागो य इमं जजानाद्दामाज्ञानामाधिपत्यं प्रगाम ।
तमर्चत विश्वमित्रा इविमिः-स नो यमः प्रतरं जीवसे
धात् ॥ अथर्व० १८।४।५४ ॥

[यः] जिस [ऊर्ध्वः भागः] अन्नके विभाग करनेवालेने [इमं] इस अन्नको [जजान] पैदा किया है और जो [अरमा] अरमा होनेसे [अज्ञानां आधिपत्यं] अज्ञानके स्वामित्वको प्राप्त हुआ है ऐसे [तं] उसकी हे [विश्वमित्रा] सबके मित्रों ! [इविमिः] इविमिद्वारा [अर्चत] पूजा करो । [मः] वह [यमः] यम [नः] हमें [प्रतरं जीवसे धात्] बहुत जीनेके लिए धारण करे अर्थात् दीर्घायु देवे ।

यमकी मनुष्योंसे रक्षा ।

सूर्यो माह्वः पावश्रिः श्रियया वायुरन्तरिक्षाद् यमो
मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥

अथर्व० १६।४।४ ॥

[सूर्यः] सूर्य [अहः] दिनमें अर्थात् दिन में होनेवाले कष्टोंसे [मा पातु] मेरी रक्षा करे । [अग्निः] अग्नि [पृथिव्याः] पृथिवीसे, [वायुः अन्तरिक्षात्] वायु अन्तरिक्षसे, [यमः मनुष्येभ्यः] यम मनुष्यों से तथा [सरस्वती पार्थिवेभ्यः] सरस्वती पार्थिव पदार्थोंसे मेरी रक्षा करे ।

यमकी मृत्युसे रक्षा ।

अपत्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राज्ञो घाता सविता
ब्रह्मरूपतिः । सोमो राजा वह्नो अधिना यमः
प्रास्मान् परिपातु मृत्योः ॥ अथर्व० १२।२०।११ ॥
[यं पौरुषेयं वधं] जिस पुत्रसंबन्धी वधको अर्थात् पुरुष के वधको मृत्युओंने [अपत्यधुः] छिाहर किया है, उस वध के कारण होनेवाली [मृत्योः] मृत्युसे [इन्द्रार्मा]

इन्द्र और अग्नि, [घाता] धारण करनेवाला, [सविता] प्रणवा करनेवाला, [वृद्धस्पति] वागिदोषा अधिपति, [सोमः राजा] सोम्य स्वभावावाला राजा, [धरण] वरण, [अश्विना] देवों के वैद्य अश्विनौ, [यम] यम तथा [पूषा] पंचक देव [अस्मान्] हमारी [परि पाठु] रक्षा करें।

मंत्रोंक प्रत्येक देवतासे पुरुष की हिंसा से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। सबके सोम यम से भी मृत्युसे रक्षा करनेके लिये कहा गया है। यम के अनेक कार्य हैं जैसा कि पाठ कींको यमके प्रहरणसे पता चलेगा। वहा पर विंकि योडेसे मंत्रों का जिनका कि अन्यत्र समावेश नहीं हो सक्ता है, दर्शाए गए हैं।

यमके प्रति हमारे कार्य।

यमके लिए हवि।

परिविवास भवतो महीरनु बहुभ्यः पन्यामनुरहरमानम। वैवस्वतं सङ्गमन जनानां यम राजान हविषा दुवस्य ॥

अ० १०१५११॥

[प्रवत] प्रष्ट, उत्तम तथा निश्चय योगित प्राणियोंका [अनु] लक्ष्य की [मही. परिविवास] पृथिवीवर आए हुए तथा [बहुभ्यः] बहुतेके लिए [पन्या] यमलोकके मार्ग की [अनुपस्पानं] दर्शाते हुए [जनाना सङ्गमनं] जिसमें मनुष्य जमा होते हैं ऐसे [वैवस्वतं] विवस्वान् के पुत्र [यम राजानं] यम राजा की [हविषा दुवस्य] हवि देकर पूजा कर।

हमने पहिले देखा है कि यम के दत्त मनुष्योंके पीछे सर्वदा लगे हुए हैं। यदापर उसी भाव को भिन्न रूपसे दर्शाया है। यम सबके पीछे लगा हुआ है। जिध जिसकी अवधि पूर्ण हुई कि उसे यमलोक का मार्ग वह दर्शाता है।

यमाय सोमं सुनुत यमाय जुहता हविः।

यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरद्दृष्टः ॥

अ० १०१५१३॥

यह मंत्र योडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है—

यमाय सोमः पवते यमाय कियते हविः।

यमं यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरद्दृष्टः ॥

अथर्व० १०१२११॥

[यमाय सोमं सुनुत] यमके लिये दक्षमें सोम को निचो-
को। [यमाय हवि जुहुत] यमके लिये यज्ञ में हवि दी।

[ह] निधयसे [अरद्दृष्टः अग्निदूतः दृष्टः दमं गच्छति] क्षीयता करता हुआ, अग्नि जिसका दूत है ऐसा यज्ञ रमको जाता है।

इस मंत्रमें यमके लिए सोम व हवि देनेका उद्देश है। यमके लिए किया गया यज्ञ उसे प्राप्त होता है यह भी साथ दर्शाया गया है।

यमाय घृतवद्विजुहोत प्र च तिष्ठत।

स नो देवेष्वाममहीर्घायुः प्रजीवसे ॥

अ० १०१५११५॥

अथर्ववेदमें योडेसे पाठभेदके साथ यह मंत्र इस प्रकार है—
यमाय घृतवत पयो रान्त्स हविजुहोतन।

स नो जीवन्वा यमहीर्घायुः प्रजीवसे ॥

अथर्व० १०१२१३॥

(यमाय) यमके लिये (घृतवत् हवि) घोड़े परिपूर्ण हविको (जुहोत) दो। और इस प्रकार (प्रतिष्ठत) प्रतिष्ठित होओ। (सः) वह यम (न) हमें (प्रजीवसे) उत्तम प्रकारसे जंनेके लिए (देवेषु) देवोंमें (नः) हमें (हीर्घायुः अर्ध-
मत्) दीर्घायुको देवे।

इस मंत्रमें यमके लिये घोड़े परिपूर्ण हविके देनेकी वहीर्घायु देनेकी प्रार्थनाका उद्देश है।

यमके लिये अन्नकी हवि

यद् यामं चक्षुर्निखनन्तो अग्ने कार्पावणा अन्नविदो न विद्यया। वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यय यशिर्य मधु-
मदस्तु नोऽन्नम्

अथर्व० ६११२११॥

(अग्ने) पहिले (निखनन्तः) भूमि खोदते हुए अर्थात् हवि करते हुए (अन्नविदः) अन्नको जाननेवाले अर्थात् अन्न-
की प्राप्ति किस प्रकारसे होती है इस बातके जाननेवाले अथवा अन्नकी प्राप्ति करनेवाले (कार्पावणाः) किसानोंने (न विद्यया) अज्ञानके कारण (यद् याम चक्षुः) जो यमसंबंधी अराधय किया अथवा (अन्नविदः न) अन्नको प्राप्त करनेवालीकी तरह [यद् यामं चक्षुः] जो कृषिसंबन्धी नियमसमूह बनाया [तत्] उस उत्पन्न अन्नको [वैवस्वते राजनि] वैवस्वत राजा यममें [जुहोमि] देता हू [अथ] और तब [नः] हमारा [यशिर्य अर्धं मधुमत् अस्तु] यज्ञके योग्य जो अन्न है, वह मधुरतावाला होवे।

इस मंत्रमें नवान् उत्पन्न अष्टका अंश यमके लिये देनेका निर्देश है ।

यमकी पूजा ।

ते हि घावापृथिवी भूरिरेतसा नराशंसश्चतुरभूयो यमोऽदितिः । देवस्त्वष्टा ऋषिणोदा ऋमुक्षणः प्ररो-
दसी महतो विष्णुराहिरै ॥ ऋ० १०।९.२।११ ॥

(ते भूरिरेतसा घावापृथिवी) वे बहुत जलवाली पृथु और पृथिवी, (यमः) यम, (आदितिः) आदिति, (त्वष्टा देवः) त्वष्टा देव, (ऋषिणोदाः) ऋषि, (ऋमुक्षणः) ज्ञानी वा कारी-
गर गण, (रोदसी) रुद्रकी परनी, (महतः) देवगण तथा (विष्णुः) विष्णु ये सब (नराशंसः चतुरभूयः) नराशंस चतुर-
रंग यज्ञमें (आहिरै) पूजे जाते हैं । यहाँ अन्योके साथ यमकी भी पूजाका उल्लेख है ।

यमके लिये घर बनाना ।

यथा यमाय हर्म्यमवपत्र पंचमानवाः ।

एषा वषामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत ॥

अथर्व० २।८।५५ ॥

(यथा) जिस प्रकार (पंचमानवाः) पांचमानवोंने (यमाय) यमके लिए (हर्म्यं) घरको (अवपत्र) बनाया है, (एष) उसी प्रकार मैं भी (हर्म्यं वषामि) घर बनाता हूँ (यथा) जिससे कि (मे) मेरे (भूरयः) बहुतसे घर (असत) हो जावें ।

पंचमानवाः—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण व पाँचवा निषाद । अथवा देवमनुष्यादि पूजन, जैसा कि ऐत-
रेय ब्राह्मणमें कहा है— ' सर्वेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थ्यं देवमनुष्याणां गन्धर्वाभरुषां सर्पाणां पितॄणां च । एतेषां वा एतत् पंचजनानां उक्थ्यम् ' इति । ऐ. ब्रा. ३।३१ ॥

इस मंत्रमें १४ दर्शाया गया है कि जिसको अपने घरोंके बढानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवावे । पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं ।

यमके लिये स्वघा-नमः ।

यमाय विनुमते स्वघा नमः ॥ अथर्व० १।८।७७ ॥

(पितृमते यमाय) उत्कृष्ट पिताके पुत्र यमके लिए स्वघा और नमस्कार है । यहाँ यमके लिए स्वधाका निर्देश है ।

१८ (अ. सु. भा. कां. १८)

इस प्रकार इस विभागमें संक्षेपसे यमके लिए हमें क्या करना चाहिए, यह दर्शाया गया है ।

यम और स्वप्न ।

इस प्रकरणमें यमके साथ स्वप्नका क्या संबंध है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, इत्यादि बातोंको चर्चा होगी ।

स्वप्नका पिता यम ।

यो व जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि

स्वप्न । वृहणानी ते माता यमः पिताररुनामासि ॥

अथर्व० ६।४६।१४ ॥

हे स्वप्न ! (यः) जो तू (न जीवः असि न मृतः) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है वह तू (देवाना अमृतगर्भः असि) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वदा रहनेवाला है । (ते) तेरी (वृहणानी माता) वृहणानी माता है और (यमः पिता) यम पिता है । (अरहः नाम असि) तू अरह नामवाला है ।

देवानां—यहाँ देवानां का अर्थ इन्द्रियोंका है । स्वप्न इन्द्रियोंमें अमृत रूपसे बसा हुआ है । क्योंकि जागृत अवस्थामें इन्द्रियोंके अनुभवोंसे उत्पन्न वाचनाओंसे वह उत्पन्न होता है । हमारे अन्दर वाचनायें स्थायी हैं, अतः स्वप्न उन वाचनाओंसे उत्पन्न होनेसे अमृत है, अतएव उधे यहाँ अमृतगर्भसे कहा गया है ।

अरहः—धीसा देनेवाला, हिंसक । ' श्रुतिर्हिंसनयोः ' से बना है । तै. ब्रा. ३।२।१४ के अनुसार अरह नामवाला अक्षर ।

वृहणानी—वृहण अर्थात् अंधकार की गत्नी ।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमको स्वप्नका पिता कहा गया है । अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है । अतएव कई बार स्वप्नसे मृत्यु-
भी हो जाता है ।

यमस्व लोकादध्या बभूविष प्रथमदा मर्त्यान् प्रयुनक्ति धीरः । एकाकिंसा सस्यं यासि विद्वा-
नस्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥

अथर्व० ११।५६।१४ ॥

हे स्वप्न ! तू (यमस्य लोकात्) यमके लोकसे (अधि आ बभूविष) प्रकट हुआ हुआ है । (धीरः) धीठ तू (प्रमदा) बढे आभिमानीसे (मर्त्यान्) मरणधर्मा मनुष्यों-
को (प्रयुनक्ति) अपने साथ संयुक्त करता है—अर्थात् अपने

प्रभावसे उनमें प्रविष्ट हो जाता है, अतएव मनुष्योंको स्वप्न आता है । (विद्वान्) जानता हुआ अर्थात् जानदूषकर तू (अमुरस्य दोनौ) अत्माके उलम्बि के स्थान हृदय में (स्वप्न मिमानः) स्वप्नको उत्पन्न करता हुआ (एकादिना) अकेले स्वप्नदर्शां पुरष वा मृत्युके साथ [घरपं] समान वाहनपर सवार हुआ हुआ [पाधि] विचरण करता है ।

पूर्व मंत्र में यमको स्वप्नका पिता दर्शाया गया है । इस मंत्र में उसीकी पुष्टिके रूपमें बताया गया है कि स्वप्न यमलाक्ष्में उत्पन्न होकर यहापर सभार में आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है ।

स्वप्न, यम का करण ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं देवजामोनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न उषा स विद्य स नः स्वप्न दुष्पन्प्यात् पाधि ॥ अथर्व० ११४१२ ॥

ह स्वप्न । [ते जनित्रं विद्य] तेरी उत्पत्तिकी हम जानते हैं । तू [देवजामोनां पुत्रोऽसि] देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है और [यमस्य करणः] यमके कार्योंका साधक है । तू [अन्तः आधि] अन्त करनेवाला है । [मृत्युः अधि] तू मारनेवाला है । हे स्वप्न ! (तं त्वा) उस दुष्टको [तथा] उसी उपरोक्त उषा [सं विद्य] हम जानते हैं । [सः] तू तू स्वप्न ! [नः दुष्पन्प्यात्] बुरे स्वप्न से हमारी [पाधि] रक्षा कर ।

इस मंत्र में स्वप्नको देवपत्नियोंका पुत्र कहा गया है । पूर्व मंत्रकी टिप्पणियोंमें हमने स्वप्नकी उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंसे उत्पन्न वायना जोसे स्वप्नकी उत्पत्ति होती है । उसी कथनकी पुष्टि इस मंत्र में ' देवजामोनां पुत्रः अधि ' से की गई है । देवों अर्थात् इन्द्रियोंको पत्निया इन्द्रियविषयजन्य वासनायें हैं । स्वप्न उनका पुत्र है । यहाँ पर विशेष बात कही गई वह यह कि स्वप्नको यमका करण बताया गया है । पाणिनि मुनिने कृष्णका लक्षण अष्टाध्यायी में किया, है कि— ' साधकतमं ' (अष्टा. १. १. ४. २) अर्थात् जो कार्यसाधनमें समीपतम साधन है, वह करण है । कार्यसाधक सब साधनों में जो साधन अधिक आवश्यक है वह करण कहलाता है । इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि यमके

मारने के कार्योंमें स्वप्न सब से अधिक आवश्यक साधन है पाठक स्वप्नके इस विशेषण से उसकी भयंकरताका अनुमान सहज कर सकते हैं ।

इसमें मंत्र के भावकी ही नीचे लिखे मंत्रमें छन्दभेदके कदा गया है—

देवानां पत्नीनां गर्भं यमस्य कर दो मद्रः स्वप्न ।

स मम यः पापस्तद्विपते प्राहेणमः ।

मा मृतानामसि मृत्युगुरुनेमुंसम ॥ अथर्व० ११५७१ ॥

हे (देवानां पत्नीनां गर्भं) देवोंकी पत्नियों के गर्भरूप तथा (यमस्य कर) यमके हाथ स्वप्न ! (यो मद्रः) जो कल्याणकारी तेरा अंग है (य) वह अंग (मम) मेरा होवे । (य. प. ३) और जो तेरा पत्नी-अनिष्टकारी अंग है [तत्] उस अंगको [दिषते] द्वेष करनेसे लक्ष्मे प्रति [प्रहिमः] हम भजते हैं । [मृतानां] मृतियों-स्त्रीभित्तों-कुरोंके बीचमें [मृत्युगुरुनेः] काले पक्षोंके [कौएके] [मुखं] मुखकी तरह तू [मा अधि] हमारे लिए बाधक मत हो, अर्थात् बिध प्रकर से मियोंको वा कुरों के लिए कौए का मुख अनिष्टकारी होता है, उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं प्राद्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ अथर्व० ११५११ ॥

हे स्वप्न ! [ते जनित्रं विद्य] तेरी उत्पत्तिकी हम जानते हैं । तू [प्राद्याः पुत्रः अधि] प्राची का पुत्र है और [यमस्य करणः] यम के कार्योंका साधक है ।

इस मंत्र में स्वप्नको प्राची का बेटा कहा गया है । गठिया आदि चरोंके जकड़नेवाले रोग ' प्राची ' कहलाते हैं । उन रोगोंके कारण चरों में पीड़ा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नहीन अवस्था बनी रहती है। अतएव स्वप्नको प्राचीका पुत्र कहा गया है । यमका करण की व्याख्या ऊपर कर आए हैं ।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ अथर्व० ११५१२ः

११५११ः

हे स्वप्न ! तू (अन्तः अधि) प्राणान्त करनेवाला है । तू (मृत्युः अधि) मारनेवाला है ।

निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आनेसे स्वप्न विगड़कर अंतमें मृत्यु हो जाती है, अतएव स्वप्नकी यहाँ अन्तक व मृत्युके नामसे कहा गया है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं निर्मूल्याः पुत्रोऽसि यमस्य
करणः । अन्तकोऽसि सृष्टुरसि । तं त्वा स्वप्न तया
सं विद्य स नः स्वप्न दुष्कर्म्यात् पाहि ॥

अथर्व- १६।५।४॥

मंत्रका अर्थ हम ऊपर दे आए हैं । वहाँ पर ऐसा ही मंत्र
आया है । इस मंत्र में स्वप्न की निर्मूर्तिका पुत्र कहा गया
है । निर्मूर्ति से स्वप्न की उत्पत्तिका अभिप्राय यह है कि
निर्मूर्ति अर्थात् कष्ट, दुःख आदि से मनुष्य को निद्रा नहीं
आती । स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्था में कि गाढ़ निद्रा-
का अभाव होता है । और कष्टादि की दशा में मनुष्य को
गाढ़ निद्रा नहीं आती । इसी अभिप्राय से स्वप्नको निर्मूर्ति-
का पुत्र कहा है । शेष मंत्रकी व्याख्या पूर्ववत् ही है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रममृताः पुत्रोऽसि यमस्य
करणः । अन्तकोऽसि । इत्यादि अथर्व- १६।५।४ व ५॥

अथर्व- १६।५।५॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्नको अभूति अर्थात् अनैश्वर्य
द्राक्षिष का पुत्र कहा है । दरिद्रता के परितापसे भी मनुष्य-
को निद्रा नहीं आती । इस प्रकार शरीरों से भी स्वप्न (वास्त-
विक निद्राके न आने) की उत्पत्ति है । शेष व्याख्या पूर्ववत्
ही समझनी चाहिए ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं निर्मूल्याः पुत्रोऽसि यमस्य
करणः । अन्तकोऽसि । इत्यादि पूर्ववत् ॥

अथर्व- १६।५।६ ॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्रमें स्वप्न को निर्मूर्ति का पुत्र कहा
गया है । निर्मूर्तिका अर्थ है ऐश्वर्य-संपत्ति का निकल जाना,
नष्ट हो जाना । संपत्तिशाली की संपत्ति नष्ट हो जानेसे उसे
भी निद्रा नहीं आती । वह सुखकी निद्रा से नहीं सो सकता ।
इस प्रकार संपत्तिविनाश का भी स्वप्न पुत्र है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं परामृत्याः पुत्रोऽसि यमस्य
करणः । अन्तकोऽसि । इत्यादि ॥

अथर्व- १६।५।७॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्र में स्वप्न को परामृत्तिका पुत्र कहा
गया है । परामृत्तिका अर्थ है परामव अर्थात् हार जाना,
तिरस्कार को प्राप्त होना । परामवसे वा तिरस्कारसे मनुष्य को
इतना मानसिक कष्ट होता है कि, उसके लिये निद्रा हारम हो
जाती है । और इस प्रकार परामृति से स्वप्न की उत्पत्ति
होती है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य
करणः ॥ अथर्व- १६।५।८॥

हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्तिको हम जानते हैं, तू देवोंकी परि-
नों का पुत्र है और यमके कार्योंका साधक है । इस मंत्रका
भाव हम पूर्व दर्शा आए हैं । देवपरियोंका तो पुत्र स्वप्न किस
प्रकार है, यह वहाँ विशदरूपसे दर्शा आए हैं ।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्डका ५ वां सूक्त
संपूर्ण यम व स्वप्नविषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है
इस सूक्ते व इससे व दिए गए पहिले के मंत्रोंसे यम व
स्वप्नका संबन्ध स्पष्ट होता है : स्वप्न यमलोकमें रहता है,
वहाँसे मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ है, उसका पिता यम है,
वदशानी उसकी माता है । वऽ अपने पिता यमके कार्योंका
निकटतम साधक है । इत्रके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तवि-
क निद्राका अभाव किन किन कारणोंसे होता है तथा उससे
क्या दुष्परिणाम होते हैं, स्वप्न यमका करण किस प्रकार है,
इत्यादि बातोंका संक्षेप इस सूक्तमें स्पष्ट रूपसे हमें देखने की
मिला है । इस प्रकार यह सूक्त तथा स्वप्नविषयक अन्य मंत्र
भी यमके स्वरूप, दर्शानेमें पर्याप्त सहायक हैं । यमविषयक
पूर्व स्थापना की ये मंत्र भी पुष्ट कर रहे हैं, यह पाठक निवेच-
नसे समझ सके होंगे ।

अब यहाँ यमविषयक वे मंत्र दिए जायेंगे जो कि निर्धारित
प्रकरणोंमें से किशो में भी शामिल नहीं किए जा सके हैं । इस
प्रकरण में दिए गए मंत्र भी अबतक आए हुए यमसे ही संब-
न्ध रखते हैं, यह बात पाठकों को भूलनी नहीं चाहिए । और
यह न समझना चाहिए कि इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रोंमें शायद
यम अन्य अर्थोंवाला हो । अन्य अर्थोंमें प्रयुक्त यम हम सबसे
अंतिम ' भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त यम ' नामक शीर्षकमें देंगे ।

यम कौन है ?

यो जमार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रियाय प्रथमो लोके
तम् । वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा
सपर्यत ॥ अथर्व- १८।३।३

(यः) जो (मर्त्यानां प्रथमः ममार) मनुष्योंमें सबसे
प्रथम मरा और (यः) जो (एतं लोकं प्रथमः प्र इयाय)
इस लोक-यमलोक को सबसे पहिले गया उस (जनानां संग-
मनं) जनो के संगमन (वैवस्वतं यमं राजानं) विवस्वान्के
पुत्र यमराजाकी (हविषा सपर्यत) हवि द्वारा पूजा करो ।

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकेमें आकर माँ और पिता सबसे पहिले उस लोकमें गया, अतः उस लोक का नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पड़ा । इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो मनुष्य सबसे प्रथम मरता, है वह इस कल्पमें यम बनता है ।

सगमनका अर्थ है जिसमें प्राणी जाकर जमा होते हैं । यमाज्ञाकी हवि द्वारा पूजा करनेका भी यहाँ निर्देश है । अर्थात् यम को भी हवि देनी चाहिये ।

यम व विवस्वान् ।

यमः परोवरो विवस्वान् सन् परं नातिपश्यसि किञ्चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो सुबो विवस्वानन्दात्तान् ॥

अधर्व० १८।२।३२॥

(यमः परं) यम परे है अर्थात् दूर है और (विवस्वान्) सूर्य उससे (अवरः) समीप है । (ततः परं) उस यम से परे मैं (किञ्चन न आनि पश्यामि) कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूँ वा नहीं समझता हूँ । (यमे मे अध्वरः आधिनियिष्टः) यमके अन्दर मेरा अध्वर अर्थात् हिंशारहित यज्ञ स्थित है । (विवस्वान् सुबोः अन्त आततान्) सूर्यने गुलोक को अपने प्रकाशसे फैला रखा है ।

इस मंत्र में पिता पुत्र, यम व विवस्वान् की स्थान की दृष्टिसे तुलना को गई है । यम का स्थान सूर्यसे परे है और उससे परे कोई नहीं है । हमने यमलोक नामक प्रकरणमें देखा था कि तीन प्रकारकी सुर्मसे दो सूर्यके समीप है तथा तीसरी यमके राज्यमें है । उसके दृष्टिमें रहते हुए इस मंत्रके यम विवस्वान् परे है, इस कथनका अभिप्राय यह हुआ कि यम जिस युग्ममें है वह सबसे परे है अर्थात् वह गुलोककी समानिपर है । उसके आगे गुलोक समाप्त हो जाता है । हमारी समझमें यहाँ पर स्थान की दृष्टिसे ही तुलना है । परका अर्थ उत्कृष्ट भी हो सकता है और अवर का अर्थ अधम भी हो सकता है, परन्तु ऐसा अर्थ करनेसे उसका भाव यथार्थमें आना कठिन है । उपरोक्त अर्थोंकी पुष्टि करनेवाले मंत्र हम पूर्व देख आए हैं और अतः उस दृष्टिसे इस मंत्रका अर्थ विशेष संगत प्रतीत होता है । सुबो- इसका अर्थ गुलोक है जैसा कि ' भू-भुव-स्वः ' इसमें सुबो का अर्थ है ।

इषुमान् यम ।

दक्षिणार्धे वा दिवा इन्द्रायाधिपत्ये तिरश्चिरात्रये रक्षित्रे यमामेषुपते । एवं पतिद्वार्य नो गोपापताह्मार्कमंतोः । दिष्टं नो अत्र बरसे नि नेपजरा मृत्यवे परि णो द्वाावय परवेन सह संमवेन ॥ अधर्व० १२।३।५९॥

[दक्षिणार्धे दिवो अधिपत्ये] दक्षिण दिशाके स्वामी के लिए [तिरश्चिरात्रये रक्षित्रे] क्षीट पतङ्गादि तिर्यक् गमन करनेवालोंसे रक्षा करनेके लिए [इषुमते इन्द्राय यमाय] बग-घारक ऐदवर्गवाली यमके लिए [एतं वा] इस तुलना [परिदयः] सौतेले हैं । [अहमांके ऐतोः] हमारी गंतियों [तं] उसकी तणा [नः] हमारी [गोपयत] रक्षा कर । (दिष्टं नः अत्र जरसे नि नेपज) हमारे पूर्वजन्मके कर्म अर्थात् जडीब हर्मों यहाँ मुझसे तक पहुँचाव । (नः) हमें (अत्र) मुझापा (मृत्यवे परि ददातु) मृत्युको सौते अर्थात् वृद्धावस्थासे पूर्व हमारी मृत्यु न हो । (अय) मरनेके बाद (पक्वेन सह संमवेन) पक्व परिपूर्ण परमात्मासे जा मिलें ।

यम और ऋण ।

अपमिलमप्रतीतं मन्त्रेण यमस्य येन बलिना चरामि । इत् तदने अनुगो अवामि एवं पादान् विचूर्तं वेत्या सर्वान् ॥ अधर्व० ६।१।१०।१४

(यत) क्योंकि मैं (अपमिलं) जो देना है पर वह (अमतीतं) नहीं दिया है ऐसा ऋण हूँ अर्थात् मेरे पर वह ऋण है । (यमस्य येन बलिना) यमके जिस बलवान् ऋणसे मैं ऋणी हुआ हुआ (चरामि) विचरण कर रहा हूँ, [अने] हे अग्नि ! [तत्] वह उपरोक्त जो ऋण है उससे मैं तेरे द्वारा (अनुगः) ऋणरहित होऊँ । क्योंकि (एवं) तू [सर्वान् पादान्] सब पादोंको [विचूर्तं वेत्या] काटना वा खोलना जानती है ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि अग्निकी सहायतासे यमके ऋणसे मुक्त हुआ जा सकता है अग्नि सर्व प्रकारके ऋणोंको काटना जानती है ।

यमका अग्निको स्थिर करना।

इपीकां जरतीमिष्ट्वा तिलिपञ्चं दण्डनं नडम् ।
तमिन्द्र इष्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥

अथर्वं= १२।२।५४॥

[इष्मं] इन्ने [जरती इपीकां] जरती इपीकासे [इष्ट्वा] याग करके और [तिलिपञ्चं] तिलिपञ्च, [दण्डनं] दण्डन व [नडं] नडके [इष्मं] समिधा बना करके [यमस्य] यमकी [तं अग्निं] उस अग्निको [निः आदधौ] निधयसे स्थापित किया।

जरती इपीका = सूटे अर्थात् मूले हुए कानें।

तिलिपञ्च = तिलोंके गुच्छे। दण्डन = यह भी एक प्रकारकी कानिकी जातकी वनस्पति है। नडनके जिधकी कलमें बनयी हैं।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यमकी अग्निमें इन वीजोंसे दाग करना चाहिए जिससे कि यमकी अग्नि स्थिर बनी रहे।

यमके भाग जल।

यमस्य भाग स्य । अर्षां शुक्रमापो देवी वचो
अरमासु घत्त । प्रजापतेषां घाम्नाऽरमे लोकाय
सादये ॥ अथर्वं= १०।५।१२ ॥

हे जलो ! तूम [यमस्य भाग स्य] यमके भाग हो। [देवीः आपः] हे दिव्य जलो ! [अर्षां शुक्रं वचोः अरमासु घत्त] जलोंका शुद्ध तेज हमारेमें स्थापित करो। [वः] तूमहें [प्रजापतेः घाम्ना] प्रजापतिके तेजसे [अरमे लोकाय सादये] इस लोकेके लिए स्थित करता हूँ।

इस मंत्रमें जलोंको यमका अंश बताया गया है। ननसे तेज मांगनेकी प्रार्थना की गई है।

... यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्वयः

स्वाहा... ॥ यजुः अ० १।३५ ॥

(यमनेत्रेभ्यः) यम जिनका नेता है, ऐसे (दक्षिणासद्वयः) दक्षिण दिशा में बैठनेवाले (देवेभ्यः स्वाहा) देवोंके लिए यह आहुति है।

... .. ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासद्वतेभ्यः

स्वाहा... ॥ यजुः अ० ९।३१ ॥

(ये देवाः यमनेत्राः) जो देव यमनेत्र अर्थात् यम जिनका नेता है ऐसे तथा (दक्षिणासद्वः) दक्षिण दिश में बैठने—

वाले हैं (तेभ्यः) उनके लिए (स्वाहा) स्वाहापूर्वक यह आहुति हो।

इन मंत्रोंसे दक्षिण दिशावालोंका यम नेता है, ऐसा पता चलता है।

... यमस्य त्रयोदशी.. ॥ यजुः= २।५४ ॥

यमकी त्रयोदशी है।

... यमाय कृष्णः यजुः= ३४।३० ॥

यमके लिए काला पशु होवे। यजुर्वेदके इस मंत्रमें भिन्न भिन्नके लिए भिन्न भिन्न पशुओंका विधान है। परन्तु इस विधानका क्या रहस्य है; यह एक विचारणीय समस्या है।

तस्या यमो राजा वरत आसीद्

रजतपात्रं पात्रम् ॥

[तस्याः] उस विराट्स्वपी गौका [यमः राजा] यम-राजा [वरतः आसीत्] बछटा या व दूध दोहने के लिए [पात्रं] बरतन [रजतपात्रं] चान्दीका बरतन था।

यहाँपर आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है, पर यह अलंकार किसका किस प्रकार है यह एक विचारणीय बात है। यहाँ दिए हुए कई मंत्र, खास करके पिछले विशेष विचारणीय हैं क्योंकि इनका अभिप्राय बराबर स्पष्ट नहीं हो रहा है।

यम व पितरोंका संबंध।

यम व पितर विषयक के अतकके विवेचनसे पाठकगण पितर व यमके पारस्परिक संबंधमें कुछ न कुछ अवश्य परिचित हो गए होंगे। यमके तथा पितरों के अलग अलग दिए गए विवरणोंसे यम क्या है व पितर क्या हैं, यह भी पाठकोंके ध्यानमें सदा आगया होगा। यम व पितरों के संबंध का खास खास स्थानोंपर हमने निर्देश भी किया है। उन निर्देशोंसे जो बातें हमें पता चली हैं उनसे यह स्पष्ट है कि यम पितरों का राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं। पितर यमलोक में रहते हैं। उसीका नाम वितृलोक भी है।

इन्हीं उत्पत्तिक परिणामों की पुष्टि निम्न मंत्र स्पष्ट रूपसे करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

यम पितरोंका अधिपति।

यमः वितृणामधिपतिः स मावदु । अरिमन्
मक्षप्यसिमन् कर्म५स्वा पुरोधाचामरवी प्रतिधः

यामस्यां धियामस्यामाकृत्यामस्यामाशिव्यस्यां

देवहृत्यां स्वाहा ॥

अथर्वं ० ५।२।४।१॥

[सः पितृणां अधिपतिः] यह पितरोंका स्वामी [राजा]
[यमः] यम [मा अवतु] निम्न लिखित कर्मोंमें मेरी रक्षा
करे। (अश्विनम् मन्त्रेण) एष ब्रह्मज्ञान का प्राप्तिमें। (अस्मि-
न् कर्मणि) इष धेनु कर्ममें। [अस्यां पुरोवाया] इष पुरो-
हितार्थके काम में। (अस्यां प्रतिष्ठायां) इष प्रतिष्ठाके कार्य
में। [अस्यां धियो] इष चेतनायुक्त कार्योंमें। [अस्या
आकृत्यां] इष संकल्पमें। [अस्यां आशिवि] इष
आशीर्वादके कार्यमें। [अस्यां देवहृत्यां] इष देवोंके आवा-
हनके कार्यमें।

इस मंत्रमें यमको पितरोंका स्वामी कहा गया है। पितरोंके
ऊपर यमके अधिकारको यहाँ पर स्पष्ट किया गया है। यह
अधिकार किस रूपमें है अर्थात् यम पितरोंका किस तरह
स्वामी है, यह नीचेके मंत्रसे स्पष्ट हो रहा है-

स यत् पितृन्नुपचक्षत् यमो राजा भूत्वा-

नुपचक्षत् रथधाकारं अन्नादं कृत्वा ॥

अथर्वं ० १५।१।२।१॥

(सः) वह मातृ (यत्) जब [पितृन् अनुपचक्षत्]
पितरोंका लक्ष्य करके चला अर्थात् पितरोंमें आया तब [यमः
राजा भूत्वा] यम पितरों का राजा बनकरके तथा पितरों
के लिए [रथधाकारं अन्नादं कृत्वा] रथधा करके दिए हुए
को जीवनयात्रा का साधनभूत अन्न बनता हुआ [अनुप्य-
चक्षत्] उस मातृके पीछे पीछे पितरों में आया।

मातृ नाम अतिथि का है। यहाँपर यम पितरोंका राजा
बनकर उनमें रहता है, यह दर्शाया गया है।

पितरोंका यम राजा है, इस बातकी निम्न मंत्रमें सुष्टि
कर रहे हैं।

मां रवा वृक्षः संभाषिष्ट मा देवी पूयिवी मही ।

लोकं पितृषु विरवैचरत् यमराजसु ॥

अथर्वं ० १८।२।२५ ॥

[रवा वृक्षः] मा संभाषिष्ट] दुसरे वृक्ष अर्थात् वनस्पातियां
बाधा मत पहुँचावें। वृक्ष यहाँ वनस्पतियोंका उपलक्षण है।
[देवी मही पूयिवी मा] और दिव्य गुणोंवाली विस्तृत
पूयिवी भी दुसरे बाधा मत पहुँचाए। [यमराजसु पितृषु] लोकं
किरवा] यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त

करके [एषत्स] वृद्धिको प्राप्त हो।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे यमका पितरोंके राजा होनेको दर्शाया
गया है। पितरयमका प्रजा हैं। यमराजमें भी पितर रहते
हैं, इसका यहाँपर स्पष्ट रूपसे उल्लेख है। यह मंत्र प्रेतको
लक्ष्य करके कहा गया है। इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी उप-
रोक्त मंत्रके भावको पुष्ट किया गया है।

प्राणो अपानो ध्यान आयुश्चरुणये सूर्याप ।

अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितृन् गच्छ ॥

अथर्वं ० १८।२।४६ ॥

(प्राणः) प्राण, (अपानः) अपान, (ध्यानः) ध्यान,
(आयुः) आयु और (चक्षुः) आँख (सूर्याप इच्छये)
सूर्यके दर्शनके लिए अर्थात् इस संघारमें जीवन धारण करनेके
लिए होंवें। और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करनेपर हे
प्रेत ! तु [अपरिपरेण पथा] अकुटिल मार्ग. द्वारा [यमराज्ञः
पितृन्] यम जिनका राजा है, ऐसे पितरोंको (गच्छ) जो,
प्राप्त हो।

अपरिपरेः - परि परितः सर्वतः परः परभावः कुटिलभावः
अपथा शत्रुः न विद्यते यस्मिन् सः अपरिपरेः=अर्थात् जियमें
सर्वथा कुटिलता वा शत्रु आदि नहीं है वह अपरिपरे।

इस मंत्र में भी पितरों का जो विशेषण दिया गया है,
वह यम का पितरोंके राजा होनेको ही सिद्ध कर रहा है।

यम-श्रेष्ठ पितर ।

सप्तर्षीन् वा इदं भूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् ।

पितृन् यमश्रेष्ठान् भूमरते नो मुञ्चन्वंहसः ॥

अथर्वं ० ११।६।११ ॥

[सप्त ऋषीन्] सात ऋषियोंको [इदं भूमः] यह कहते
हैं। (देवीः अपः) दिव्य जलोंको हम कहते हैं। [प्रजा-
पति] प्रजापतिको हम कहते हैं और [यमश्रेष्ठान् पितृन्]
यमके कारणसे जो श्रेष्ठ हैं ऐसे पितरोंको हम [भूमः]
कहते हैं कि [ते] उपरोक्त सब [नः] हमें [अंहसः मुञ्च-
न्तु] पापसे छुडावें।

यहाँपर पितरोंको यमश्रेष्ठ कहा गया है। यहाँपर यमका
अर्थ योगमें कहे गए आर्हिंसा, अस्तेय आदि भी हो सकता
है। जो इन षट् यमोंके पालनेसे श्रेष्ठ हुए हैं। वे यमश्रेष्ठ
ऐसा भी इसका अर्थ हो सकता है। अथवा यम जिनमें श्रेष्ठ
है ऐसा भी होगा।

अस्तु । उपरोक्त विवरणसे यह पता चला कि यम पितरोंकी राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं ।

यम व पितरोंके सहकार्य ।

इसमें यह दिखाना जायगा कि कौन कौनसे कार्य यम तथा, पितर मिलकर करते हैं ।

यमके साथ हवि खाना ।

ये नः पूर्वं पितरः सोमपासोऽनुहिरै मोमपीथं

वसिष्ठाः । तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशन्निः

प्रतिकाममनु ॥ अ० १०।१।५।८॥ यजु० ११। १५१ ॥

(ये पूर्वं सोम्यासः वाधिष्ठाः पितरः) हमारे जिन पुरातन सोम संपादन करनेवाले तथा उत्तमधनवाले पितरोंने यज्ञमें (सोमपीथं) सोमपानकी (अनु ऊहिरै) किया था, (तेभिः) उन (उशन्निः) यमके साथ सोमपानकी कामना करते हुए पितरोंके साथ, (उशन् यमः) पितरोंके साथ सोमपानकी इच्छा करता हुआ यम (संरराणः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ (हवींषि) हवियोंकी (प्रतिकामं) यथेच्छ (अनु) खावे ।

इस मंत्रमें पितरोंके साथ हवि खानेकी इच्छा करता हुआ यम उनके साथ हवि खाता है यह दर्शाया गया है ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः अनुजहिरै सोमपीथं वसिष्ठाः । तेभिर्यमः संरराणो हवींष्यु- शान्नुशन्निः प्रतिकाममनु ॥ अथर्व० १८।३।४६ ॥

इस मंत्रका उत्तरार्ध उपरोक्त अ० १०।१।५।८ के साथ सर्वथा मिलता है ।

(नः ये पितुः पितरो ये पितामहाः) हमारे जिन पिताके पितरोंने और उनके भी जिन पितामहोंने जो कि उत्तम धन-संपन्न थे, (सोमपीथं) यज्ञमें सोमपान (अनुजहिरै) स्वीकृत किया था अर्थात् सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ-इत्यादि पूर्ववत् ॥

इस मंत्रमें भी प्रथम मंत्रेण बातको ही पुनः कहा गया है । इस प्रकार यमका पितरोंके साथ हवि खानेका कार्य ये मंत्र बता रहे हैं ।

यम व पितरोंके साथ जाना ।

इयामि ते मनसा मन ह्वेमान् गृह्णोऽप्यनुषुषाण हि । सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योना-

रत्वा वासा उपवान्तुं शम्माः ॥

अथर्व० १८।२।२१ ॥

(ते मनः मनसा हयामि) तेरे मनको मन द्वारा बुलाता हूँ । (इह) यहाँ (इमान् गृह्णाम्) इन घरोंसे (अनुषुषाणः उप एहि) प्राणि करता हुआ अन्दर आ । तू (पितृभिः) पितरोंके साथ [सं गच्छस्व] विचरण कर । (यमेन सं) यमके साथ विचरण कर । [स्योनाः] सुखदायक, [शम्माः] शक्तिशाली [वाताः] वायु [त्वा उपवान्तु] तेरे लिए बहे ।

यहाँपर यम व पितरोंके साथ जानेको कहा गया है, उसका अभिप्राय यह हुआ कि यम व पितर साथ साथ विचरण करते हैं ।

पितर व यमका मिलकर सुख देना ।

दक्षिणां दिशामभि नक्षमणौ पर्यावर्तेयामभि पात्रमेतत् । तस्मिन् वां यमः पितृभिः संवि- दानः पक्वाय शर्म बहुलं निपच्छात्

अथर्व० १२।३।८ ॥

[दक्षिणां दिशं] दक्षिण दिशाकी [अभिनक्षमणौ] ओर जाते हुए तुम दोनों [एतत् पात्रं अभि] इस पात्रकी ओर [परि आवर्तेयाम्] घूँट आओ । [तस्मिन्] उस पात्रमें [पितृभिः संविदानः यमः] पितरोंके साथ मिला हुआ यम (पक्वाय) पक्व होनेके लिए अर्थात् पूर्ण आयु देनेके लिए (वां) तुम दोनों को (बहुलं शर्म) बहुत सुख (नि- पच्छात्) देवे ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम पितरों के साथ मिलकर सुख देता है । यहाँ पात्र शब्दसे किशदा अभिप्राय है, यह व्यक्त नहीं होता ।

यम व पितरोंकी सहमतिसे स्वर्गप्राप्ति ।

अयस्मये हुपदे बेधिपे इहामिहितो मृत्युभिर्नि सहस्रम् यमेन सं पितृभिः संविदानं तपानं नाकं अथिरो ह्ये- मम् ॥ अथर्व० ३।६३।३ ॥

१८।४।४॥

(इह) यहाँ [अमिहितः] सबत्र स्थित हुई हुई है निःकृति ? तू (ये सहस्रं) जो हजारों हैं ऐसे (मृत्यामः) मृत्युके पाशोंसे (अयस्मये हुपदे) लोहमयी लकड़ी की बनी हुई बेधीमें (बेधिपे) बाँधती है । (त्वं) तू [यमेन पितृभिः सं विदानः] यम और पितरोंके साथ मिलकर उनकी सहमतिसे

[इम] इहो [इत्तम नाक अपिरोहण] उत्तम स्वर्गमें पहुँचा ।

निर्ऋतिसे यहाँ श्रायना को गई है कि वह यम व पितरोंमें मिलकर स्वर्गमें पहुँचावे । परन्तु इहका क्या अभिप्राय है अर्थात् निर्ऋति किध प्रकार स्वर्गका पहुँचाती है, इसका स्वर्ग से क्या तात्पर्य है यह विचारणीय है ।

पितरोंका स्धूना धारण करना व यमका स्थान देना ।

उत्ते स्तन्नामि पृथिवीं स्वत्परीमं लोण निदधन्मो
बह रिषम् । एतां स्धूणां पितरो धारयन्तु वेऽत्रा
यम सादना ते भिनोतु ॥ ऋ० १०।१८।१३॥
यह मंत्र योडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी आया है ।
उत्ते स्तन्नामि पृथिवीं स्वत्परीमं लोण निदधन्मो बह
रिषम् । एतां स्धूणां पितरो धारयन्तु ते तत्र यम
सादना ते ह्योतु ॥ अथर्व० १८।३०।१२॥

(ते) तेरे लिये (पृथिवी) पृथिवीको (उत्स्तन्नामि) ऊपरको ढाँढकर रखता हूँ । फिर (स्वत् परि) तरे पर उध (लोण) मिट्टीके टेलोंको जो कि उठा रखा है (निदधत्) रखता हुआ (मो बह रिषम्) मैं मल नष्ट हूँ । (एता स्धूणा) इस ऋभेको तरे लिये (पितर धारयन्तु) पितर धारण करें । (अत्र) और उध आभारस्तमपर (ते) तेरे लिये (यम) यम (सादना परोको (भिनोतु) बनावे ।

आङ्गिरस् पितर व यम ।

मातली कस्यैर्यमो आङ्गिरोभिर्भृत्स्पतिकंस्वीमि
र्षावृधान । योश्च देवा वावृषुष्यं च देवान्स्ववाहान्ये
स्वयय म मरुन्ति ॥ ऋ० १०।१९।११॥

यह मंत्र पाठान्तरसे अथर्ववेदमें है—

मातली कस्यैर्यमो आङ्गिरोभिर्भृत् स्पतिकंस्वीमर्वावृ-
धान । योश्च देवा वावृषुष्यं च देवास्ते नोऽवन्तु
पितरो हवेपु ॥ अथर्व० १८।१४०॥

(मातली) इत (कस्य) कस्य स्तानेवाले पितरोंसे,
(यम) यम (आङ्गिरामि) आङ्गिरस् पितरोंसे तथा (वृह
स्पति) वृहस्पति (ऋष्वामि) ऋष्याओंसे (वावृधान)
वृद्धको प्राप्त होता है । यान् देवा वावृषु (जिनको देव
बढ़ाते हैं (ये च) और जा (देवान्) देवोंको बढ़ाते हैं,
(अन्ये) उनमेंसे अन्य मातला, यम और वृहस्पति तो

(स्वाहा मरुन्ति) बषट्कारसे दो हुई इविसे प्रसन्न होते हैं
और (अन्य) इनसे भिन्न दूसर कस्य आङ्गिरस् आदि (स्वय
या) स्वाधाकारसे प्रसन्न होते हैं ।

अथर्ववेदमें जो यावासा पाठभेद है वह इस मंत्रके अर्थ
को अधिक स्पष्ट करता है । उसके अनुसार मयायै इस
प्रकार है—

इन्द्र कस्य पितरोंसे, यम आङ्गिरस् पितरोंसे तथा वृहस्पति
ऋष्याओंसे स्तुति करनेवाले पितरों से बढता है । जिन पितरों-
को ये उपरोक्त देव बढ़ाते हैं तथा जिन देवोंको ये उपरोक्त
पितर बढ़ाते हैं ऐसे वे पितर मुझसे आनेपर हमारी रक्षा करें ।
इस प्रकार इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम आङ्गि
रस् पितरोंसे बढता है यानि यथास्वी होता है ।

इम यम प्रस्तर मा हि सीदाङ्गिरोभिः पितृभि
सविदान । आ स्वा मन्त्रा, कविशस्ताः बहुर्वायेना
राजन् इविषा मादयस्व ॥ ऋ० १०।१९।१४
अथर्व० १८।१६०॥

हे यम ! (आङ्गिरोभिः पितृभिः सविदान,) आङ्गिरस्
पितरोंसे मिला हुआ तू (इम प्रस्तरं) इस कैलप हुए आसन
पर (आसीद) बैठ । (स्वा कविशस्ता मन्त्रा) तुझे कवि
शस्त्र मंत्र (आ बहवु) सुलोकें । (एना) इस (इविषा)
इविषा (मादयस्व) प्रसन्न हो ।

कविशस्त्र मन्त्र— कवि अर्थात् क्रान्तदर्शा ज्ञानी लोकोंसे
जिनको प्रसन्न को गई है ऐसे मन्त्र, प्रशसनीय मन्त्र । इस मन्त्र
में प्रशंसापरक मन्त्रोद्धार यमके आङ्गिरस् पितरोंके साथ जुला-
कर यममें विस्तृत आसन पर बैठानेका उद्देश है ।

यमका अंगिरस् पितरोंके साथ आना ।

आङ्गिरोभिरागहि यज्ञियेभि यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्त हुवे य पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या
निषथ ॥ ऋ० १०।१९।११॥

यह मंत्र योडेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी है—

आङ्गिरोभिरागहि यज्ञियैरागहि यम वैरूपैरिह मादयस्व ।
विवस्वन्त हुवे य पिता तेऽस्मिन् बर्हिष्या निषथ ॥
अथर्व० १८।१५५॥

हे यम ! (वैरूपैः) विविधरूपवाले (यज्ञियैः) पूजनीय
यज्ञके योग्य (अगिरोभिः) अगिरस् पितरोंके साथ (इह आगहि इह
यज्ञमें आ । और (मादयस्व प्रसन्न) हो । (विवस्वन्त हुवे)

में विवस्वान् को भी बुलाता हूँ (यः) जो कि विवस्वान् (ते पिता) तेरा पिता है । वह तेरा पिता (अस्मिन् यज्ञे) इस यज्ञमें (अर्धिये आ नियम) आसनपर बैठकर यजमान को आनन्दित करें ।

इस मंत्रमें यमको अंगिरस पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया गया है । इसके अतिरिक्त यह मंत्र यमका पिता विवस्वान् है इस पूर्वोक्त परिणाम का समर्थन कर रहा है । विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलानेका यहाँ निदेश है ।

अबतक के इन मंत्रोंमें अंगिरस पितर व यमके संबन्धका व परस्परके व्यवहारोंका हमें पता चलता है । ये सब मंत्र यमका पितरोंसे विशेष संबन्ध है यह स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन कर रहे हैं । यम बहुतसे काम पितरोंसे मिलकर ही करता है । इससे यमराज्यमें पितरोंकी स्थितिपर भी थोड़ासा प्रकाश अवश्य पड़ता है ।

इस प्रकार विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त यम संबन्धी मंत्र समाप्त होते हैं । पाठक इन पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तथा जो उचित हो वह प्रहण करें । अब हम अगले प्रकरणमें उन मंत्रों पर विचार करेंगे जिनमें कि यम इस अर्थके अतिरिक्त अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है ।

१ नियमन अर्थ में यम ।

इस विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि यम नियमन, नियामक आदि इन्हीं के सदृश अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है ।

यथा ते अन्न उचयानि वेचो जुष्टानि सन्तु

मनसे हृदे च । शक्रेम रायः सुधुरो यमं तेऽधि

अवो देवमर्कं दधानाः ॥ ऋ० १।१३।१० ॥

(वेधः अग्ने) हे मेधावी अग्नि ? (एता उचयानि) ये नैदिक स्तोत्र (ते मनसे हृदे च) तेरे मन व हृदय के लिए (जुष्टानि सन्तु) प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों । (देवमर्कं वधः दधानाः) देवोंसे श्रेणित अन्न वा धन को धारण करते हुए हम (ते सुधुरः रायः यमं शक्रेम) तेरे उत्तम तथा धारण करने योग्य अथवा जो उत्तम प्रकारसे दारिद्र्यका नाश करनेवाले धनका नियमन कर सकें । अथःअन्न । निघण्टुः-२ । ७ ॥ अथः धन । निघ० २।१०

यज्ञैरथर्था प्रथमः पयस्तते तपः सूर्यो मत्तपा

वेन आजनि । आ या आजग्नुद्यामा काश्यः सखा

यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ १।२३।५ ॥

१९ (अ. घु. भा. कां. १८)

(अथर्था) स्थिरप्रकृति विद्वान् ने (प्रथमः) सबसे पहिले (यज्ञैः) यज्ञोंद्वारा (पयः तते) मार्ग का विस्तार किया । (ततः) तब (मत्तपाः वेनः सूर्यः) मत्तरसक चमकीला सूर्य (आजनि) उत्पन्न हुआ । और फिर (यजनाः काश्यः सखा) कामना करते हुए कविको पुत्रके साथ मिलकर सूर्यने (गाः आ आजत्) किणोंको फेंका अर्थात् सर्वत्र प्रकाश किया । (यमस्य जातं अमृतं) नियमन के लिए उत्पन्न अमृत का हम (यजामहे) यजन करते हैं—उसकी पूजा करते हैं । यहाँ सूर्योदयका वर्णन है । सखाः—सह । निघ० ४।२॥

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनतिन्द्र एनं प्रथमो

अप्पतिष्ठत् । गन्धर्वो अस्य रक्षानामगुम्णात्

सूरादश्वं वसवो निरतष्ट ॥ ऋ० १।१६३।२ ॥

यजु० २९ । १३ ॥

इस मन्त्रका देवता अश्व है । (वसवः सूरात् अश्वं निरतष्ट) वसुओंने सूर्य से घोड़े को बनाया यानि उत्पन्न किया । फिर (यमेन दत्तं) नियामक अग्निसे दिए हुए उस घोड़ेको (त्रितः) त्रिनों कोकोंमें विस्तृत वायुने (आयुनक्) रथादिमें जोड़ा (इन्द्रः एनं प्रथमः अध्वतिष्ठत्) इन्द्र उसपर सबसे पहिले सवार हुआ । (गन्धर्वः अस्य रक्षानां अगुम्णात्) गन्धर्वने उस घोड़ेको रक्षण पकड़ी । रक्षाना = घोड़े बांधनेके रस्ती ।

२ जीवात्मा अर्थ में यम ।

यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिबते यमः ।

अत्रा नो विद्वपतिः पिता पुराणो अनुवेनति ॥

ऋ० १०।२३।५।१ ॥

(यस्मिन् सुपलाशे वृक्षे) जिस उत्तम पत्तोंवाले अर्थात् हरेभरे, भोगसामग्री से परिपूर्ण संसाररूपी वृक्षपर (यमः) इन्द्रियोंका संयमन करनेवाला जीवात्मा (देवैः) दिव्य गुणोंपेत इन्द्रियोंके साथ (संपिबते) संसारिक सुखदुःखों का उपभोग करता है, (अत्र) उस संसाररूपी वृक्षपर [विश्वपतिः] मनुष्य प्रजाका रक्षक [पिता] उत्पादक परमात्मा (पुराणान् नः) पुरातन समयसे भाँफे करते आए हुए हमारी (अनुवेनति) अनुकूलतासे कामना करता है ।

३ ज्ञानेन्द्रियां-यम ।

इदं सवितायैजानीदि पश्यमा एक एकजः

यस्मिन् शशिबमिच्छन्ते य एकात्मक एकजः ॥

अथर्व० १०। ८ । ५ ॥

हे (सवितः) सविता ! (इदं विजानीहि) इह बातको तू भली प्रकार समझ कि (यन् यमाः) पांच ज्ञानेन्द्रिया तथा एक मन ये मिलकर छः यम हैं। तथा (एकः एकजः) एक जीवामा अकेला ही जन्म लेनेवाला है। और (एषो यः एकः एकजः) इनमें जो एक अकेला उत्पन्न होनेवाला है (तस्मिन्) उध जीवा नामें ये छः मनसाहित ज्ञानेन्द्रिया (हु) निश्चयसे (आपित्वं) बन्धुत्व को (इच्छन्ते) चाहती हैं।

४ आचार्य यम ।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा धमेणानयेमं मेखलया सिनामि ॥ अथर्व० ६।१३३।३ ॥

(यत्) कर्मांक (अहं) मैं (मृत्योः ब्रह्मचारी) मृत्युका ब्रह्मचारी (अस्मि) हूँ, अतः (भूतात् पुरुषं) प्राणीमात्रमें से पुरुषको (यमाय) यम के लिए अर्थात् आचार्यके लिये (निर्याचन्) मागत हुआ आया हूँ । (तं एनं) उस इह पुरुषको (अहं) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानसे, (तपसा) तपद्वारा, धमेण श्रमद्वारा तथा (अनया मेखलाया) इह मेखलाद्वारा (सिनामि) साधता हूँ।

५ वायु-यम ।

यमाय स्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा ।

स्वाहा घर्माय । स्वाहा घर्मः पित्रे ॥ यजु ३८।१॥

इह मंत्रकी शतपथ १४।२।११ में ब्याख्या है। वहाँ पर यमका अर्थ निम्नलिखित किया गया है- 'यमाय स्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहेति । अयं वै यमो योऽयं पवने तस्मा एवेनं जुहोति तस्मादाह यमयत्वेत्यङ्गिरस्वते पितृमते इति...॥' तदनुसार इह मंत्रका अर्थ इह प्रकार हुआ (पितृमते अङ्गिरस्वते यमाय स्वा स्वाहा) पितृमान् अङ्गिरस्वत् वायुके लिए तुझे स्वाहा कर के दी गई आहुति हो । (घर्माय स्वाहा) यज्ञके लिए स्वाहा ।

(घर्मः पित्रे) यज्ञ रक्षकके लिए स्वाहा ।

६ सूर्य-यम ।

यमाय स्वा मखाय स्वा सूर्यस्य स्वा तपसे ।

देवस्यैवा सविता मथ्यानवतु शृयिभ्याः सँ स्पृहास्त्यदि आर्चिरसि शोचिरसि तपोऽसि यजु ३७।११॥

इह मंत्रकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मणने इह मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ सूर्य किया है। शतपथ ब्राह्मणका वचन इस प्रकार है- 'य प्रोक्षति यमाय त्वेलेष वै यमो य एय तपस्येय हीदं सर्वं यमयत्येतनेदं सर्वं यतमेय उ प्रययस्तदेतमेवैतत् प्रीणाति तस्मादाह यमाय त्वेलिा ॥ घ० १४।१।३।४॥ शतपथके इस वचनानुसार इह मंत्रका अर्थ इह प्रकार किया जा सकता है- (यमाय स्वा) सूर्यके लिए तुझे, (मखाय स्वा) यज्ञके लिए तुझे, (सूर्यस्य तपसे स्वा) सूर्यके तपके लिए तुझे, (सविता देवः स्वा) सविता देव तुझे (मथा अनवतु) मनुष्ये दुक्त करे । तू (शृयिभ्याः संस्पृहाः पाहि) शृयिवाके संस्पृहा अर्थात् उपद्रवजन्य संस्पृहासे रक्षा कर। तू (अर्चिः) दीप्यमान(अधि) है। (शोचिः अधि) दुष्टोंको शोक करानेवाला है । (तपः अधि) दुष्टोंको तपानेवाला है।

इह प्रकार यहाँपर यमवाले मंत्र तथा बहुवचनान्त पितृ शब्दवाले मंत्र समाप्त होते हैं। यम व पितर विशेषक जो जो भी सिद्धान्त स्थापित किए जा सकते हैं वे सब इनमें आ लुके हैं। यम व पितरविषयक नवीन सिद्धान्त अब आगे संभवतः देखनेको नहीं मिलेगे इससे आगे हम जैसाकि अन्वय निर्देश भी कर आए हैं, यम व पितर संबन्धी संपूर्ण सूक्तोंपर विचार करेंगे, जिससे कि यदि कोई महत्त्वपूर्ण मंत्र जिसमें कि यम वा पितृ शब्द न होनेसे छूट गया होगा तो वह भी पाठकोके सामने आ सकेगा । सम्पूर्ण सूक्तोंपर विचार करने से प्रकृत विषयपर विचार करनेके लिए व विशेष निर्णयपर पहुँचनेके लिए पर्याप्त सहायता मिलनेकी संभावना है।

यम और पितरोंके ऋग्वेद सूक्त ।

अब हम यम और पितरोंके संबन्ध रखनेवाले सूक्तों पर अर्थात् जिन सूक्तोंका देवता यम अथवा पितर है, उनपर सूक्तके क्रमसे विचार करेंगे। यद्यपि इन सूक्तोंमें आए हुए बहुतसे मंत्रों पर पहिले विचार किया जा चुका है, तथापि यहाँपर पूर्वापर प्रक्रमके साथ उनपर विचार करनेसे उनका भाव अधिक खुल सकेगा। साथ ही पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात भी आ सकेगी कि उनके जो पहिले अर्थ दे आए हैं वे कदातक संगत हैं और उनसे निकाला हुआ परिणाम कदातक ठीक है। संपूर्ण सूक्तके भावके साथ यदि तो उन मंत्रोंकी संगति लग सकेती है तो उन मंत्रोंका अर्थ ठीक है अन्यथा अवश्यमेव अर्थमें खींचातानी की गई है यह स्पष्ट हो आयागा। और इसीलिए पाठकोसे भी निवेदन है कि वे भी यदि किसी मंत्रके अर्थ वा भावसे असहमत हों तो वे प्रथम उस मंत्रके सूक्तके भावके साथ उस मंत्रकी संगति देखें और फिर अर्थपर विचार करें। संपूर्ण सूक्तके साथ संगतीकरण करते हुए मंत्रका अर्थ करना अधिक पूर्ण व ठीक होगा। यद्यपि सबके सब मंत्रोंके अर्थोंकी कौष्टीकीके लिए हम दहाँ साधन उपस्थित नहीं कर सकते, तथापि जिन सूक्तोंपर यहाँ विचार करना है, उनमें वे प्रायः सभी मंत्र आ जायेंगे जो कि प्रकृत विषयमें एक बड़ा भारी महत्त्वपूर्ण भाग ले रहे हैं अर्थात् जिनके आधारपर यम व पितर विषयक परिणाम निकाले गए हैं। पहिले ऋग्वेदके सूक्तोंपर क्रमसे विचार करेंगे। ऋग्वेदमें ५ सूक्त ऐसे हैं जो कि प्रकृत विषय से संबन्ध रखते हैं। पहिले तीन सूक्त अर्थात् १४, १५ और १६ लगता-तार इसी विषयसे संबन्ध रखनेवाले हैं।

१ ऋग्वेद मं० १० । सू० १४

१-१६ यम ऋषिः । देवताः-१-५, १३-१६ यमः । ६ दिङ्गोक्ताः । ७-९ सिद्धगोक्ताः पितरो वा । १०-१३ क्षान्ति । परेषिवासं प्रवतो महीरजु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् । वैवस्वते सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्यम्

ऋ० १०।१४।२

(प्रवतः) प्रवृत्त कर्म करनेवालोंको, उतम कर्म करनेवालोंकी तथा निरुद्ध कर्म करनेवालोंको (महोः) स्मृतिप्रदेशोंको (अनुपरोषिवानम्) प्राप्त करते हुए तथा (बहुभ्यः पन्था अनुपस्पशानं) बहुतोंके लिये मार्गको दिखवाते हुए और

(जनानां सङ्गमनं) जिसमें मनुष्य जाते हैं ऐसे (वैवस्वते) विवस्वतके पुत्र (यमं राजानं) यम राजाकी (हविषा दुवस्य) हविदानपूर्वक पूजा कर । " प्रवतः महोः अनुपरोषिवानम् " इसका अभिप्राय यह है कि सबको उनके कर्मानुसार उचित स्थानपर जन्म देता है। जैसे कोई भारतवर्षमें जन्म लेता है तो कोई अन्यत्र । भारतवर्षमें भी जीव स्वाकर्मनुसार भिन्न भिन्न प्रान्तमें जन्म लेता है। इस जन्मस्थानकी व्यवस्था यम करता है एसा इसका भाव प्रतीत होता है। अथवा इस मंत्रभागका अर्थ यं भी किया जा सकता है- (प्रवतः अनु महोः परेषिवासं) अरुद्ध, उरुद्ध तथा निरुद्ध योनिरस्य जीवोंके उदरस्येषु पृथिवी पर आए हुए यमके .. इत्यादि । इसका अभिप्राय यह है कि अन्तमें नाना योनिरस्य जीवोंको यमने दमलोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है और उसका यह कार्य है इसकी प्रति आगे 'जनानां संगमन' यह कर रहा है।

" बहुभ्यः पन्थां अनुपस्पशानम् " इसका अभिप्राय यह है कि नाना योनिरस्य जीवोंमेंसे जिस जिसकी आयु संपूर्ण होती है, उस उसकी वह यमलोकका रस्ता दिखाता जाता है । इस प्रकार इन कर्मोंके करनेवाले यम राजाको हवि देकर उसकी पूजा करना चाँहिए यह मंत्रका आशय है ।

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद् नैषा गम्यतिरपमर्तवा
उ । यत्रा नः पूर्वं पितरः परेयुरेना जज्ञानाः पन्था
अनु स्वाः ॥ ऋ० १०।१४।२॥

(यमः नः गातुं प्रथमः विवेद्) यमने हमारा मार्ग सबधे पहिले जाना। (एषा गम्यतिः न अपमर्तवा) यह मार्ग अपहरणके लिए नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पाया नहीं जा सकता। वह मार्ग कौनसा है यह मंत्रके उत्तरार्धसे दर्शाते हैं- (यत्र नः पूर्वं पितरः परेयुः) जहाँपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं और (एना) इस मार्गसे (जज्ञानाः) जात प्राणमात्र (स्वाः पन्थाः अनु) अपने अपने पन्थोंके अनुसार जाते हैं ।

इस मंत्रको प्रथम मंत्रोंके 'जनानां सङ्गमनं यमं राजानं'का स्पष्टीकरण कहा जा सकता है। अन्त में यमलोकमें सब प्राणियोंके जानेके लिये जो मार्ग है उसका दहाँ निर्दिष्ट है। यम हमारा यमलोकमें जानेका मार्ग सबधे पहिले जानता है क्योंकि

वह उस मार्गका अधिष्ठाता है । इस मार्गके छुटकारा पाना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगा ही । इसी भावको और भी अधिक स्पष्ट मंत्रके उत्तरार्थसे करते हुए कहा गया है कि उस मार्गसे हमारे पूर्वज गए और जाते प्राणीमात्र भी अपने कर्मानुसार जायगा ।

इस प्रकार इस मंत्रमें वमलोके जानेके मार्गका वर्णन है । उस मार्गसे सबको जाना होगा । कोई भी इससे बच नहीं सकता । अतएव वमको पूर्व मंत्रमें 'जनानां संगमनं' कहा है । यह मंत्र अथर्ववेदमें (१८।१।५०) भी है ।

अगले तृतीय मंत्रके छठे मंत्र तक नया प्रकरण द्युक्त होता हुआ प्रतीत होता है । इन चार मंत्रोंमें वम व आर्द्दिगस् पितरोंकी चर्चा है ।

मातली कर्ष्ययमो अर्द्दिगरोभिर्दृहस्पतिर्ऋषमिर्वा-
वृषानः । याम्य देवा वावृषुषे च देवात्स्वाहान्ये
स्वधयान्ये मद्दन्ति ॥ ऋ० १०।१।११॥

(मातली) इन्द्र (कर्ष्यः) कष्योते, (वमः अर्द्दिगरो-
मिः) वम अर्द्दिगरोमिसे और (वृहस्पतिः ऋषमिः) वृहस्पति
गृध्राभिसे अर्थात् ऋचासंबन्धी ज्ञान रखनेवालोंसे (वावृषानः)
शुद्धिको प्राप्त होता है । (यान् देवाः वावृषुः) भिनका देवोंने
बनाया है तथा (ये देवान्) जो देवोंको बनाते हैं, उनमें से
(अन्ये) अन्य अर्थात् मातली, वम तथा वृहस्पति (स्वाहा)
वषट्कार से दी गई हविष्यद्वारा (मद्दन्ति) प्रसन्न होते हैं
और अन्ये दूसरे कष्य, अर्द्दिगस् तथा ऋक्व (स्वधया)
स्वधाकार से दी गई हविष्यद्वारा प्रसन्न होते हैं । यह मंत्र अथ-
र्ववेद (१८।१।५०) में है । वहाँ पर जो चतुर्थ पाद है वह
इस मंत्रके चतुर्थ पादके भिन्न है । अथर्ववेदके पाठानुसार कष्य,
अर्द्दिगस् कौन है यह स्पष्ट हो जाता है । अथर्ववेद में आए
हुए इस मंत्रका चौथा पाद इस प्रकार है— 'ते नोऽबन्तु पित-
रो हविषु ।' अर्थात् मंत्रोक्त कष्य, अर्द्दिगस् आदि जो पितर
हैं वे हमारी आज्ञान करनेपर रक्षा करें ।

कष्य— पितरोंको प्रायः बहुतेके मंत्रोंमें कविके नामसे कहा
गया है । और अतएव उन्हें जो हवि दी जाती है उसका
नाम 'कष्य' है । देवोंके लिये दी जाती हवि 'हव्य' के
नामसे कही जाती है । दोनों हविषोंका भेद करनेके लिए
पितरोंकी हविको कष्यके नामसे कहा गया है तथापि कई
स्थानोंपर पितरोंके लिये हवि शब्दसे भी हव्यका विधान है

ही । यहाँ पर कष्य शब्दसे कष्य खानेवाले पितरोंका
प्रश्न है ।

इमें वम प्रस्तर मा हि सीदाहिगरोमिः संविदानः ।
आ त्वा मंत्राः कविदास्ता बहन्वेना राजन्हविषा
मादयस्व ॥ ऋ० १०।१।११॥

(अर्द्दिगरोमिः पितृमिः संविदानः) अर्द्दिगस् पितरोंके
घाय एकमत हुआ हुआ है वम । त् (इमं प्रस्तरं) इस विस्तृत
फैले हुए आसनपर (आशोद) बैठ । (त्वा) तुझे (कवि-
दास्ताः मंत्राः) ऋत्तदशोमों द्वारा स्तुति किन् गए मंत्र (आ
बहन्तु) बुलावे । (एना) इस (हविषा) हविष्यद्वारा
(मादयस्व) प्रसन्न हो ।

इस मंत्रमें वमका अर्द्दिगस् पितरोंके घाय वम में विस्तृत
आसनपर बैठनेका वर्णन है । उसकी मंत्रोंद्वारा स्तुति कर-
के उसे यज्ञमें हवि दी जाती है । ये अर्द्दिगस् पितर कौन हैं
इस पर स्वमंत्र बिचार करेंगे । इन तीन चार मंत्रोंके उनका
व वमका संबन्ध दिखाया गया है । उपरोक्त मंत्रके भावको
अगले मंत्रमें और भी अधिक स्पष्ट किया गया है—

आर्द्दिगरोमिरागहि वशिषेमिः वम वैरूपीरिह मादयस्व ।
विवस्वान् हुवे यः पिता वेऽस्मिन् वसे बर्हिष्या
नियत ॥ ऋ० १०।१।५१॥

हे वम ! [वैरूपेः] विविध स्वरूपवाले, [वशिषेमिः]
यज्ञके योग्य पूजनीय [अर्द्दिगरोमिः] आर्द्दिगस् पितरोंके घाय
[इह आ गहि] इस हमारे यज्ञमें आ । यज्ञमें आकर दी
गई हविको खाकर [मादयस्व] आनन्दित हों । [विवस्व-
न्] हुवे विवस्वान् (पूर्व)को मैं बुलाता हूँ [वः] जो कि विवस्वा-
न् [ते पिता] तेरा पिता है । वह विवस्वान् [अस्मिन् वसे
बर्हिषि आ नियत] इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी
हुई हविको खाकर आनन्दित होवे ।

यज्ञमें वम व अर्द्दिगस् पितरोंको बुलाकर उन्हें हवि दी
जाती है, वमका पिता विवस्वान् [पूर्व] है, उसे भी घाय
में यज्ञमें बुलाया जाता है व हवि खानेके लिये दी जाती है ।
अर्द्दिगस् पितर नाना रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वस्व भिन्न
भिन्न हैं । इस भिन्न भिन्न स्वरूपका अगले मंत्रमें स्पष्टीक-
रण किया गया है । यह मंत्र योंके पाठान्तरके घाय अथर्ववे-
द [१८।१।५१] में भी आया है ।

अंगिरसो नः पितरो नवन्वा अथर्वाणो मृगवः सोम्या-
सः । तेषां वषं शुभतौ यज्ञियानानपि भद्रे सौमनसे
स्थान ॥ ऋ० १०।१।१४३

(नः नवन्वाः अथर्वाणः मृगवः सोम्यासः अंगिरसः पितरः)
हमारे नवन्व, अथर्वा, मृग, सोमसंपादन करनेवाले अंगिरस
पितर हैं । (तेषां वषं यज्ञियानां) उन यज्ञार्थ अंगिरस पितरों की
(शुभतौ) उत्तम सहायता तथा (भद्रे सौमनसे) शुभसंरक्षणों
में (स्थान) होंगे

वेदमें नवन्व तथा दशन्व शब्द कई स्थानोंपर आते हैं ।
निष्पत्तकार वास्तव्याचर्यने इस मंत्रमें आए हुए नवन्व शब्दोंके
विवेचन निम्न लिखित किए हैं—

नवन्व—नवगतयो नवनीतगतयो वा ।

वि० ११।१८४

अर्थात् नव प्रकार की गतिवाले अथवा नवनीत अर्थात्
नवखन की तरह गतिवाले । सायणाचार्य अपने भाष्यमें इस
शब्दका अर्थ इस प्रकार करते हैं— 'नवन्वाः नवामर्मसैः सत्रम
मुत्तिवन्तः ।' अर्थात् नव मांसका सत्र दाग करने से इनका
नाम नवन्व है ।

अथर्वा— अथर्वाणोऽथर्वणवन्तः, यद्यद्विधराति कर्नाच-
त्पतिवेषः । वि० ११।१।१८४

अथर्वाः शिखर अर्थात् निश्चल प्रकृतिवाला होता है । चल-
नावक वर्षे घाटसे चलने शब्द बनता है । जिसका अर्थ है।
अक्षिर - बलायमान । इससे उभटा अथर्वा-निश्चल ।

मृगः— अर्वाणि मृगः संबन्धः । मृगः मृगवमानः, न देहे ।
वि० ३।१३ मृग आदिही जवालाओंमें पैदा हुआ या मृगका
अर्थ है जो आर्यमें सुना हुआ 'हो, जिसकी शरीरमें आत्मा न
हो । सोम्यासः—सोमसंपादिनः । वि० ॥ जो यज्ञमें सोमरस
देयर करते हैं वे सोम्य कहलाते हैं ।

इस प्रकार इन विशेषणोंसे पूर्वमंत्रोंके ' वैरुनैरिह मादयस्व'
में अक्षिरम् पितरोंको जो वैरुन कहा या उषका इस मंत्रमें
सहीकरण करके दिखता है कि अक्षिरम् पितर वैरुन किध
प्रकारसे हैं । मंत्रके उत्तरार्थमें उनकी नेत्र घलाहमें रहने को
कहा गया है । यह मंत्र अथर्व (१८।१।१८) में तथा बजुर्वेद
(१।१।५०) में भी आया हुआ है । यहाँपर तीसरे मंत्र
के अक्षिरम् पितरका जो प्रकरण शरंभ हुआ या बह शला
होता है ।

अन अगले दो मंत्रोंमें अर्थात् ७ वें व आठवें में पुनः उषी
प्रकरणका निर्देश करते हुए मंत्र पुरुषकी आत्माको यमलोकमें
जहाँ कि पूर्व पितर गए हुए हैं वहाँ यम व वरुणके दर्शन
करनेके लिए कहा गया है ।

प्रेहि प्रेहि पथिमिः पृथ्वीभिः यत्रा नः पूर्वे पितरः
पर्युः । उभा राजाना स्वधवा मदन्ता यमं पथ्यासि
वरुणं च देवन् ॥ ऋ० १०।१।१४३

हे मृत पुरुष ! (यत्र) जिस लोकमें (नः पूर्वे पितरः)
हमारे पूर्वज पितर (पर्युः) गए हुए हैं, उस लोकमें
(पृथ्वीभिः पथिमिः) पहिलेके मार्गद्वारा (प्रेहि प्रेहि) अथर्व
जा । उस लोकमें जाकर (स्वधवा मदन्तौ) स्वधासे आन-
न्दित होते हुए अथवा तुम होते हुए (उभा राजाना) दोनों
राजा (यमं वरुणं देवं च) यम तथा वरुण देव को (पथ्यासि)
देख ।

इस मंत्रमें प्रथम दो मंत्रोंके भावकी बिलकुल व्युत्पत्ति कर
दिया है । सबसे प्रथम यहाँ यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट ही
जाती है कि जिस लोकमें हमारे पितर गए हुए हैं वह लोक
यमलोक है अथवा उस लोक में यमका राज्य है, क्योंकि यम
उस लोक का राजा है ऐसा उत्तरार्थ में कहा है । दूसरी बात
यम भी स्वधासे तुम होता है, यह यहाँपर स्पष्ट होती है ।
तीसरी बात यमके साथ ही वरुण भी रहता है । चौथी बात
यमलोकमें जानेके मार्ग पितृयाण कहलाते हैं । इस प्रकार प्रथ-
म दो मंत्रोंके भावको जिस प्रकार अधिक स्पष्ट किया गया
है, यह पठक स्वयं देख सकते हैं । यह मंत्र योकेसे पाठान्तर-
के साथ अथर्ववेद (१८।१।५४) में भी है ।

सं यच्छस्व पितृभिः संयमेनेष्टापूतेन परमे ज्योमन् ।
हिस्वावावयं पुनरस्तमेदि सं यच्छस्व उन्वा सुवर्चाः

ऋ० १०।१।१४४

हे मृत पुरुष ! (परमे ज्योमन्) उत्कृष्ट ज्योममें अर्थात्
स्वयं (पितृभिः सं यच्छस्व) पितरोंके साथ जा । (यमेन
सं) यमके साथ जा । (इष्टापूतेन) इष्टापूतके साथ अर्थात्
अपने उपासित कर्मके साथ जा । (अयं हिवाय) निन्दित
कर्मोंका त्यागकर के अर्थात् सुकर्मोंके साथ (पुनः) फिर
(अस्तं एदि) अपने घरको वापस आ, अर्थात् पुनर्बन्ध
केकर आ और तब (सुवर्चाः) उत्तम तेज—काण्ठसे युक्त
हुआ हुआ तू (उन्वा सं यच्छस्व) शरीरको धारण करके

संसारमें विचरण कर ।

इस मंत्रसे हमें कई बातें पता चलती हैं। सबसे प्रथम वे दोनों मंत्र अर्थात् सातवाँ व अष्टावें मृत पुरुषको संबोधन करके बड़े गए हैं। मंत्रका उत्तरार्ध इस बातकी पूर्णरूपसे पुष्टि कर रहा है। दूसरी बात स्वर्गमें जानेके लिए वितर तथा दम मृत पुरुष की आत्मा को पृथिवीपर लेने आते हैं। तीसरी बात 'परमे स्थानम्' से दमलोक जाहूँ लोके है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले आते हैं। अथवा दमलोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मानुसार जीव जाता है। इष्टायुतके साथ जानेका स्थान इसी बात की पुष्टि कर रहा है। इष्टायुतका लक्षण निम्न लिखित है—

आग्निहोत्रं ततः सत्यं वेदानां धानुपारुणम् ।

आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥

वापीश्वरवागादिदेवतापतनानि च ।

अन्नप्रश्नमारामाः पूर्वमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अथर्ववेद (१८११/५८) में भी यह मंत्र आया हुआ है ।

अपेत वीत वि च संप्रतातोऽस्मा एतं पितरौ लोक-
मकम् । अहोभिरिन्द्रैरनुभिर्न्यक्तं यमो ददाववसान-
नस्मे ॥ १०१११११॥

(अथ इत) हे विष्णुकारी जनो ! दशदि चले जाओ ।
(वीत) माग जाओ । (वि संप्रतातः) सर्वथा यह स्थान
छोड़कर हट जाओ । (अस्मे) इस प्रेतके लिए (वितरः)
पितरोंने (एतं लोकं अकम्) यह स्थान किया है । (अस्मे)
इस मृतके लिए (यमः) दमने (अहोभिः) दिनेभि व (अग्नेः)
पैय जलसे तथा (अन्नुभिः) रात्रिदिशि [अन्नके अवसान]
स्पष्ट समाप्ति [ददातु] दी है ।

इस मंत्रमें शक्ती अंलिष्टि क्रिया के लिए स्थान को वितर
निर्धारित करते हैं ऐसा उल्लेख है । यहाँ शरीरसे प्राणोंके निक-
ल जानेके बादका वर्णन है । उत्तरार्धमें यह स्पष्ट कहा है कि
इसके लिए अब दिन रात आदि की समाप्ति हो चुकी है
अर्थात् यह मर गया है । अब पूर्वार्धानुसार मरने पर वितर
इसके लिए स्थान बनाते हैं इसके दो ही अभिप्राय हो सकते
हैं— [१] दा तो जो वितर स्थान बनाते हैं वह स्थान
भूमिका हो सकता है अथवा [२] वह दमलोकका हो सकता है।
यदि दूसरा विकल्प माना जाए तो इसके दमलोकपर थोड़ासा
प्रकाश आवश्यक पद सकता है और वह यह कि जैसा उत्तरार्धमें
दर्शाया है दमलोकमें दिन व रात नहीं होते और वहाँ जल
भी नहीं है ।

अवसान = समाप्ति । यह मंत्र अथर्ववेद [१८११/५९]
में भी है ।

अब दमके दूत दो जनोंका वर्णन अगले तीन मंत्रोंमें
अर्थात् मंत्र १० से लेकर १२ तक में है ।

अति द्रव सारमेयीं शानौ चतुरस्रौ शकटी साधुना
पया । अथा वितृन्नुविदर्शो उपोदि यमेन वे सप-
मार्दं मदन्ति ॥ १०११११०॥

हे पितृलोकमें जाते हुए शिव । [सारमेयीं चतुरस्रौ] सार-
मेय, चार आँखोंवाले [शकटी] चित्तकर [शानौ] दो
कुली [अति] बचकरके [साधुना पया] कन्दानुसार
उत्तम मार्गसे [द्रव] जा । [अथ] एवं [सुविदमन्
वितृन्] उत्तम धन वा ज्ञानसे युक्त पितरोंकी [उप इति]
प्राप्त हो । [वे] जो कि वितर [यमेन सपमार्दं मदन्ति]
दमके साथ आनन्दित होते हुए दम होते हैं ।

सारमेद— साधनाकार्यमें सारमेदका अर्थ दिया है कि
सर्मा नामकी देवीकी कुली है । उसका बच्चा सारमेय । सर्मा
शब्द समूची धातुसे बन करनेपर बनता है, विशेष अर्थ है
बहुत दौलतवाली । उसका पुत्र सारमेय । सारमेयका अर्थ
हुआ बहुत दौलतवाली का पुत्र । लौकिक साहित्यमें सारमेय
का अर्थ कृपा प्रचलित है । दमके कुलीका वर्णन इस मंत्रमें
किया गया है । उनको चार आँखें हैं, तथा चित्तकर रंगके
हैं । इस मंत्रमें दम व पितरोंका संबन्ध भी ब्यक्त हो रहा
है । अगले मंत्रमें दमसे कहा गया है कि वे इस शक्तिके उच
कुलीसे ब्रह्मण तथा आरोग्य प्रदान करे ।

यौ ते शानौ यम शशिशरी चतुरस्रौ पथिरस्रौ नृचक्ष
सौ । तान्प्यामेनं परि देहि राजन् म्यष्टि चात्स्ना
अननीवन्न धोहि ॥ १०११११११॥

हे यम ! [ते] तेरे [यौ] जो [शशिशरी] रक्षा
करनेवाले [चतुरस्रौ] चार आँखोंवाले [पथिरस्रौ] दमलोक
में जानेके मार्गकी रक्षा करनेवाले तथा [नृचक्षस्रौ] मनुष्योंके
देखनेवाले [शानौ] दो कुली हैं, हे राजन् ! [तान्दां]
उन दोनों कुलों द्वारा [एनं] इस शक्तिके [स्वस्ति] कल्या-
ण [देहि] प्रदान कर । [च] और [अस्मे] इस शक्तिके
लिए [अननीवं] रोगरहितता अर्थात् आरोग्य [धोहि]
धारण कर । इसे नीरोपी कहा ।

इस मंत्रमें जीवित पुरुषके लिए दमके कुलीसे कल्याण व
आरोग्य मांगा गया है । यह मंत्र अथर्ववेद (१८११/१२)
में है ।

ऊरुगासावसुतृपा उद्दुम्बलौ यमस्य दूतो चरतौ जनों अजु।
तावस्मभ्यं दशये सूर्याय पुनर्दातामसुमधेद्यं मन्त्रम्॥
ऋ० १०।१४।१२

(उरुणघी) लम्बी नाकवाले, (अजुतृपा) प्राणोंके खानेसे तृप्त होनेवाले, (उद्दुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् (यमस्य दूतो) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनों अजु चरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं। (तौ) इस प्रकारके वे यमदूत कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सूर्याय दशये) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण करनेके लिए (अयं) आज (इह) इस संसारमें (मर्तं अजुं) कल्याणके देनेवाले प्राणको (पुनः) फिर (दातौ) देंगे।

इस मंत्रमें यमके कुत्तोंका थोड़ाछा और अधिक वर्णन हमें मिलता है। वे लम्बी नाकवाले, प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले, अत्यन्त बलशाली हैं। वे सर्वदा मनुष्योंके पीछे लगे रहते हैं। इधी सूक्तके आठवें मंत्रमें हम देख आए हैं कि वहां पुन-अङ्गका वर्णन मिलता है। इस मंत्रका उत्तरार्ध भी पुनर्जन्म विषयक निर्देश कर रहा है। 'सूर्याय दशये' से ऐसा पता चलता है कि संभवतः ५४ लोकमें रहकर ही सूर्यदर्शन हो सकता है अथवा नही। यह मंत्र भी अथर्ववेद (१८।२।१२) में है। यमके कुत्तों पर अधिक प्रकाश डालनेके लिए हम प्रसंगवश अथर्व० ८।१।१९ को उद्धृत करते हैं, जिससे कि यमके श्वान-विषयक कल्पनाको जो कि हम आगे देनेवाले हैं, समझनेमें पाठकोंको सहायता मिलेगी।

श्वामश्च रथा माश्वबलश्च मेपिचौ यमस्य यौ पथिरधी
शानौ । अवालेहि मा वि दीप्यो मात्र विष्टः पराङ्मनाः ॥
अथर्व० ८।१।१९॥

(श्वामः) काला (च) और (श्वबलः) चितकबरा ऐसे (यौ) जो दू (यमस्य) यमके (पथिरधी) यमलोकके मार्ग-की रक्षा करनेवाले (शानौ) कुत्ते हैं, वे (त्वा) तुझे (मा) मत बाधा पहुंचावें। (अवाक् एहि) तू हमारे सम्मुख आ। (मा विदीप्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें छोड़कर चले जान की कोशिश मत कर। (अत्र) यहां इस संसारमें (पराङ्मनाः) विक्षिप्त चित्तवाला होकर (मा विष्टः) मत स्थिर हो। अर्थात् संसारसे उदासीन श्रुति धारण मत कर।

इस मंत्रके पूर्वार्धमें यमके कुत्तोंका स्वरूप दर्शाया है। उनमेंसे एक काला है व दूसरा चितकबरा है। इस प्रकार १० वें मंत्रसे १२वें

मंत्रतकमें तथा इस अथर्ववेदके मंत्रमें जो यमके श्वानोंके लिए विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं उनसे ऐसा पता चलता है कि आलंकारिक रूपसे दिन व रात का वर्णन हन मंत्रोंमें है। यमके दोनों कुत्ते दिन व रात हैं। काला कुत्ता रात है व चितकबरा कुत्ता दिन है।

इस कल्पनाका आधार इन मंत्रोंमें कुत्तोंके लिए प्रयुक्त हुए विशेषण हैं। हम खास खास विशेषणोंके आधार पर पाठकोंको उपर्युक्त कल्पनाका दिग्दर्शन करावेंगे। यमके श्वानोंके लिए कहा है कि (जनाय अजुचरतः) अर्थात् वे मनुष्योंके पीछे पीछे प्राणापहरणके लिए लगे हुए विचरण कर रहे हैं। ज्यों ज्यों रात व दिन गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्योंको आयु क्षीण होती जाती है। और एक दिन व रात आती है जब मनुष्यका प्राणान्त हो जाता है। दिन वह रात सारमेय भी हैं, क्योंकि जल्दी जल्दी आकर चले जाते हैं। ये श्वबल अर्थात् चितकबरे भी हैं। दिन सफेद है, व रात काली है इस प्रकार दोनों मिलकर श्वबल हैं। ये नृचक्षुष अर्थात् मनुष्योंको देखने वाले भी हैं। ये अजुतृपा अर्थात् प्राणोंको खाकर तृप्त होनेवाले हैं। जबतक शरीरसे प्राण नहीं छूटता तबतक मनुष्यके साय दिन रात लगे ही हुए हैं। प्राण छूटे कि दिन रात उसके लिए समाप्त हुए। उसके प्राणोंके लिए ही मानो दिन रात पीछे पीछे लगे हुए थे वे प्राण मिले कि उस मनुष्यको दैन रातसे पोछा छूटा। यहां पर एक और भी संशय उठ सकता है कि और वह यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके दूत कुत्तोंका उल्लेख किया गया ? क्या कुत्तेके वाचक अन्य शब्द नहीं हैं ? परंतु पाठकोंको यहां पर ध्यानमें रखना चाहिए कि यह श्वान शब्द हमारी उपरोक्त कल्पनाको विशेष दृढ़ करता है। श्वान शब्दके अर्थ पर विचार करनेसे उपरोक्त शंकाका तो उत्तर मिलही जाता है पर दिन रातका यमके श्वान होनेका रहस्यभी पूर्ण रूपसे खुल जाता है। श्वानका अर्थ है— (श्वा = श्वः = कल न-नहीं) जो अग्निवाली कलमें नहीं रहेगा अर्थात् जो आज तो है पर कल न रहेगा। पाठक देख सकते हैं कि यह अर्थ पूर्ण रूपसे दिन व रात पर घट रहा है। जो दिन व रात आज है वे ही फिर दुबारा लौटकर कल नहीं आवेंगे। इस प्रकार आलंकारिक वर्णनसे यमके दूत श्वान दिन और रात हैं।

यहांपर यमके श्वानविषयक प्रकरण समाप्त होता है। अब आगेके तीन मंत्रोंमें अर्थात् १३ से १५ तकमें यमके लिए हवि देने, दक्ष करने आदिका निर्देश है।

यमाय सोम सजुत यमाय जुहुवा हवि ।

यम ह यज्ञो गच्छत्याग्निदूतो भरहृत् ॥

ऋ० १०।१४।१३॥

(यमाय सोम सजुत) यमके लिए यज्ञमें सोमको निवे-
को । (यमाय हवि जुहुत) यमके लिए हवि प्रदान करो ।
(भरहृत्) नाना प्रकारके द्रव्योंके हासनेसे जो अतहृत्
किया हुआ, (अग्निदूत अग्निको अपना दूत बना करके (ह)
निश्चयसे (यज्ञ) यज्ञ (यम गच्छति) यमको प्राप्त होता है ।

यमके लिए सोम, हवि आदि यज्ञमें देने चाहिए । यज्ञ
यमको निश्चयसे प्राप्त होता है ।

यह मन्त्र योहेंसे पाठा तर्के साथ अथर्ववेद [१८।२।१]
में है ।

यमाय घृतवद्विजुहोष प्र च तिष्ठत ।

स नो देवेष्वा यमद् दीर्घायु प्रजीवसे ॥

ऋ० १०।१४।१४॥

[यमाय] यमके लिए [घृतवत् हवि] घोषाली हवि
[जुहोत] प्रदान करो । और हवि देकर [प्रतिष्ठत] प्रति-
ष्ठाको प्राप्त करो अथवा दीर्घ जीवनका लाभ करो । [सः]
वह यम [प्रजीवसे] अच्छी प्रकारसे अग्निके लिए [देवेयु]
देवोंमें [नः] हमें [दीर्घायु] ब्रह्मा आयुष्य [आ यमत्]
देवे ।

यमके लिए घीसमिश्रित हवि देकर प्रतिष्ठा वा दीर्घ जीवन
प्राप्त करो । यमको हवि देनेसे वह देवोंमें दीर्घायु देता है ।
यह मन्त्र भी अथर्व० [१८।२।२] में कुछ पाठभेदके साथ
आया है ।

[त्रिपुण्णी— ' प्रतिष्ठत ' — ऐंसा प्रतीत होता है कि
यमके लिए घोषाली हवि देनेसे मनुष्यकी औद्यारिक व पार-
लौकिक स्थिति उत्कृष्ट हो सकती है ।]

यमाय मधुमत्तमं राज्ञे हव्यं जुहोयन ।

इदं नम ऋषिभ्य पूर्वजेभ्य पयिहृन्म च ॥

ऋ० १०।१४।१५॥

[यमाय राज्ञे] यम राजाके लिए [मधुमत्तमं हव्यं]
अत्यंत मधुर हव्यका [जुहोयन] प्रदान करो । [पयिहृ-
न्म] रस्ता बननेवाले मार्ग प्रदर्शक [पूर्वजेभ्य.] जो सब
से पूर्व उत्पन्न हुए हैं व [पूर्वेभ्य] हमसे पूर्वके हैं ऐसे
[ऋषिभ्य] ज्ञानिवीके लिए [इदं नम] यह नमस्कार है ।
इस मन्त्रमें यम राजाके लिए मधुरतम हवि दत्त व प्राचीन

ऋषियोंके छिप नमस्कार का विधान है। इस प्रकार इस प्राणा-
पहार। यमका वर्णन करनेके बाद अन्तिम मन्त्रमें उपसंहार करते
हैं । इस उपसंहारके मन्त्रमें उध यम [सर्वनियंता परमात्मा]
का वर्णन है ।

त्रिकदुकेभिः पतति पल्लुचारिकमिद् बृहत् ।

त्रिपुण्याधत्री छन्दोषि सर्वा वा यम आहिता ॥

ऋ० १०।१४।१५॥

[एक इत् बृहत्] अकेला ही वह सर्वनियंता महान्
यम [त्रिकदुकेभि] तीन कदुकासे [चत्सर्वा] छहों तर्कों
को [पतति] प्राप्त होता है अधीत व्याप्य करके स्थित है ।
[त्रिपुण् गायत्री] त्रिपुण् गायत्री आदि [ता सर्वा छदाषि]
वे सब छन्द [यमे] उध नियंतापरमात्मामें [आहिता]
स्थित हैं ।

पत् सर्वा— पु, धृषिषी, आप, ओषधी, दिन व रात वे छ
सर्विया हैं । शायणाचार्यने त्रिकदुका अर्धं यागविधेय करके
लिखा है । छहों तर्कोंमें वह यम व्याप्त है, इतना अपश्य
पता चलता है। त्रिपुण् गायत्री आदि सर्व उध यम [नियामक
परमात्मा] में स्थित हैं ।

सद्यस्मै हम देव रहे हैं कि परमात्माकी मित्र मित्र शक्ति
या अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हुई कार्य कर रही हैं । सूर्य,
चन्द्र, अग्नि, विद्युत् आदि शक्तियाँ यद्यपि अन्तमें परमात्मामें
ही समाविष्ट होती हैं, तथापि इनकी अपनी स्वतंत्र सत्तासे
इनकार नहीं किया जा सकता । अर्थात् ये परमात्माकी शक्ति-
याँ होती हुई भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हुई सद्यस्मै
कार्य कर रही हैं । ये सब परमात्माकी ही मित्र शक्तियाँ हैं
अर्थात् इनके नामसे परमात्माकी ही सत्ता व महत्ताका बाध
होता है, जैसा कि हमें ऋ० १।१६४ मन्त्र ३६ दर्शा रहा है

इन्द्र मित्र वरुणमग्निनाहुरयो दिव्य स सुपर्णो गन्-
ध्मान् । एक सदिप्रा बहुधा वदन्त्यामिं यमं मातरिषा
नमाहुः ॥ ऋ० १।१६४।४६॥

परन्तु इसका अमिश्रण यह कदापि नहीं कि इन्द्र मित्रादि
की सत्ता ही नहीं । इनकी स्वतंत्र सत्ता से इनकार करना
परमात्माकी मित्र मित्र सत्ताओंसे इनकार करना है । उपरोक्त
मन्त्रमें गिनाई गई परमात्माकी मित्र मित्र सत्ताओंमें यम भी
एक है । यमका सर्वत्र अर्थ वाप्य करनेका यह मन्त्र विशेष
करता है । इस प्रकार इस सूक्तमें जो यमका वर्णन है वह

परमात्मा की विनाशक शक्ति व मरनेके बाद जीवों की व्यवस्था करनेवाली शक्ति का वर्णन है । यह शक्ति अग्नि वायु आदिकी तरह अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है । जिस प्रकार वायु आदि की स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार यमकी भी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता । परमात्मा की भिन्न शक्तियों में से एक यम नामक शक्ति है जिसका कि यम व पितरमें लक्ष्य किया गया है । कोई यह न समझ ले कि यम परमात्मा की शक्तिवशेष भिन्न कोई अलग ही शक्ति है, अतः इस सूक्तके अंतमें इस शक्ति के निवारणार्थ इस मंत्रसे उपसंहार कहते हुए ऋ० १। १६४।४६ मंत्र के आशय को दर्शाया गया है । इस अंतिम मंत्रका यह प्रयोजन है कि अन्तिम यम तो वही एक परमात्मा है, पर जो सूक्तमें यमका वर्णन है वह उसकी एकदेशीय शक्ति का वर्णन है । हमारे ख्यालमें इसी प्रकार इस मंत्रकी सूक्तके साथ संगति है । यम यह एक स्वतंत्र सत्तावाली परमात्माकी शक्ति है, जो वायु अग्नि आदिसे भिन्न है, सूक्ष्म पाठक इस विवेचन पर और भी अधिक विचार कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार सारांश ।

प्रथम मंत्र ।

- १ कर्मानुसार जन्मस्थानका निर्णय यम करता है ।
- २ यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है ।
- ३ यम को सब जन प्राप्त होते हैं ।

द्वितीय मंत्र ।

- ४ यम ने यमलोक में जाने के मार्ग को सबसे प्रथम जाना ।
- ५ यमलोक के मार्गसे कोई भी बच नहीं सकता । अर्थात् प्रलोक को यम लोक में अवश्य जाना पड़ता है ।
- ६ यमलोकमें हमारे पूर्व पितर गए हुए हैं ।

तृतीय मंत्र ।

- ७ यम अङ्गिरस् पितरों से बड़ता है ।

चतुर्थ व पंचम मंत्र ।

- ८ यम को अङ्गिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है ।
- ९ अङ्गिरस् पितर नाना स्वरूपवाले हैं ।

- १० यमके पिता विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलाया जाता है ।

षष्ठ मंत्र ।

- ११ अङ्गिरस् पितरोंके नाना रूप नवम्ब, अथर्वन्, अशु आदि हैं ।

सप्तम मंत्र ।

- १२ प्रथम त्रितुलोक (यमलोक) में भेजा जाता है ।

- १३ यमलोकमें यम व वरुण राजा है ।

- १४ यम व वरुण स्वर्गासे आनन्दित होते हैं ।

अष्टम मंत्र ।

- १५ प्रेत को यम व पितर लेने आते हैं । वह अपने दृष्टार्थको साथ लेकर उनके साथ यमलोक में जाता है ।

- १६ प्रेत यमलोकसे पुनः वापिस लौटता है ।

नवम मंत्र ।

- १७ स्मशानभूमिसे विन्धकारियों को भगाया जाता है ।

- १८ यमलोकमें दिन रात नहीं होते ।

दशम मंत्र ।

- १९ यमके दो कुत्ते हैं जिनकी चार आँखें हैं तथा वे स्वयं चितकचरे हैं ।

- २० भूत आत्मा पितरोंको प्राप्त होती है ।

- २१ पितर यमके साथ आनन्दित होते हैं ।

एकादश मंत्र ।

- २२ यमके श्वान यमलोकके मार्गकी रक्षा करते हैं ।

- २३ वे मनुष्योंको सर्वदा देखते रहते हैं ।

द्वादश मंत्र ।

- २४ यमके श्वान लम्बी नाकवाले हैं ।

- २५ प्राणोंको खाकर सृष्ट होनेवाले हैं ।

- २६ ये श्वान यमके दूत हैं ।

- २७ वे मनुष्योंके सर्वदा पीछे पीछे फिरते रहते हैं ।

- २८ यमके दोनों श्वानोंमेंसे एक काला व दूसरा चित-वशग है ।

- २९ भयङ्गनः वे यमके दोनों श्वान दिन व रात हैं ।

त्रयोदश मंत्र ।

- ३० यमके लिए यज्ञमें शीम निचोटा जाता है व हवि दा जाता है ।

३१ अग्निको अपना दूत बनाकर दक्ष यमके पास पहुंचता है ।

चतुर्दश मंत्र ।

३२ यमके लिए घोरिमिथित हवि दी जाती है जिस से कि उत्कृष्ट स्थिति उपलब्ध होती है ।

३३ यम देवोंमें जानेके लिए हविर्दाता को दीर्घायु देता है ।

पंचदश मंत्र ।

३४ यमराजाके लिए अतीव मधुरतम हव्य देना चाहिये ।

३५ पूर्वत्र सब ऋषियोंका सरकार करना चाहिए ।

षोडश मंत्र ।

३६ छहों उर्वियोंको अकेले ही उष महान् मद्गने व्याप्त कर रखा है ।

३७ त्रिष्टुप् आदि सब छंद भी उषी यम (सब निया-मक-परमात्मा) में स्थित हैं- यमके अन्तर्गत हैं ।

२ ऋग्वेद मं० १० सू० १५

इस सूक्तमें जीवित तथा मृत दोनों पितरोंको यज्ञमें बुलाने आदि का वर्णन है । किस मंत्रमें जीवित पितरोंके प्रति कथन है व किसमें मृत पितरोंके प्रति यह निर्णय प्रत्येक मंत्र स्वयं करता है ।

उदीरतामवर उपरास उन्मथ्यामाः पितरः सोम्यास ।

अस्युं य ईयुर्वृका ऋतज्ञा स्ते नोऽवन्तु पितरो हवेयुः ॥
ऋ० १०।१५।१४

हे (सोम्यासः) सोम संपादन करनेवाले (अवेर) निरुष्ट, (उत् परासः) और उत्कृष्ट (उत्) तथा (मथ्यामाः) मध्यम (पितरः) पितरो ! [उदीरतां] उन्नतिको प्राप्त होओ । [ये अत्रुकाः] जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने [अस्युं ईयुः] प्राण को प्राप्त किया है अर्थात् ओ प्राणधारी पितर हैं [ते] वे [ऋतज्ञाः] सत्य व दक्षको जाननेवाले [पितरः] पितर [हवेयुः] बुलाए जानेपर [नः] हमारा [रक्षन्तु] रक्षा करें ।

निर्दृक्त०

सोम्यासः—सोम संपादन करनेवाले ।

अवृकाः—अनभिप्राः—आशुसहित ।

उदीरतां= उत् ईरताम् । उत् उपसर्गपूर्वक ईर गतो धातु । ऊपर गति करना अर्थात् उन्नति करना ।

सब प्रकारके उत्तम, मध्यम तथा निरुष्ट पितर अपनी उन्नति करें । हमारे सहायतायें बुलानेपर आकर हमारा रक्षण करें ।

' अस्युं य ईयुः ' पदसे यह ज्ञात होता है कि इस में जीवित पितरों से प्रार्थना की गई है । १६ मंत्र अथर्ववेद (१०।१५।४)

में तथा यजुर्वेद (१५।५९) में भी आया है ।

इदं पितृभ्यो नमो अस्वघ ये पूर्वासो य उपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निपता ये वा नूनं सुवृज-नासु विशु ॥
ऋ० १०।१५।१२ ।

[अय] आज [पितृभ्यः] पितरोंके लिए [इदं नमः अस्तु] यह नमस्कार हो । किन पितरोंके लिए ? [ये] जो कि [पूर्वासः] पूर्वकालीन पितर [ईयुः] स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि [उपरासः] अर्वाचीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं और [ये] जो कि पितर [पार्थिवे रजसि] पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर [आ निपताः] स्थित हैं [वा] अथवा [ये] जो कि [नूनं] निश्चय से [सुवृजनासु विशु] उत्तम बल वा धनयुक्त प्रजाओंमें स्थित हैं ।

पुरातन कालके, अर्वाचीन कालके जो पितर हैं और जो इस समय पृथिवीलोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधन्य संपन्न प्रजाओंमें विद्यमान हैं, उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है ।

विश्व शब्द निष्पट्टुमें मनुष्यवाची नामाने पठित है । देखो निष्पट्ट २।३ इजनका अर्थ निष्पट्टुमें बल ऐसा किया गया है । निष्पट्ट २ । ९ ॥ इस मंत्रमें सर्व प्रकारके पितरोंका अर्थात् प्राचीन, अर्वाचीन, जीवित, मृत सबके लिए नमस्कार का निर्देश है । पूर्वासः अर्थात् प्राचीन कालके पितर इस अर्थत मृत ही हैं । जो पार्थिव लोकपर विद्यमान हैं, वे ही जीवितोंमें गिने जा सकते हैं । अतः इसके सिवाय षोष दोनों अर्वाचीन व प्राचीन पितर निःसंदेह मृत पितर ही हैं । इसके यह स्पष्ट हुआ कि मृत पितरोंको भी नमस्कार करना चाहिए ।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।१।४६) तथा यजुर्वेद (१९।६८) में भी आया हुआ है ।

आहं पितृन्सुविदत्राँ अविस्ति नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त विश्वस्य द्वाहागमिष्ठाः ॥ ऋ० १०।१५।३॥

(सुविदत्रान् पितृन्) उत्तम धनसंपन्न पितरोंको (आ अविस्ति) अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूँ । (विष्णोः नपातं विक्रमणं च) और सर्वव्यापक परमात्माके न गिरानेवाले अर्थात् उन्नति करानेवाले शौर्यको प्राप्त करता हूँ । (बर्हिषदः पितरः) कुशासन पर बैठनेवाले पितर जो कि (स्वधया) स्वधाके साध (सुतस्य विश्वः) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए अन्नका (भजन्त) सेवन करते हैं यानि खाते हैं (ते) वे पितर (इह) इध यज्ञमें (आगमिष्ठाः) आये ।

धनधान्यसंपन्न पितरोंको व व्यापक परमात्माके शौर्यको मैं प्राप्त करता हूँ । स्वधाके साध पक्व अन्न को खानेवाले पितरों। इध यज्ञमें आओ ।

सुविदत्रः—सुविदत्रः कल्याणविद्यः । निह० अ० ६। पा० ३। सं० १४। सुविदत्रका अर्थ निष्कण्डमें धन भी है । निष्क० ७।१०॥ पितवः = पितुः+असू = पितरवः = अन्नका । नपात = न पातयति = जो न गिरावे ।

'आहं सुविदत्रान् पितृन् आविस्ति' से जीवित पितर प्रतीत होते हैं । क्योंकि सुविदत्र पितरोंको तमी प्राप्त किया जा सकता है, जब कि उनके यहाँ उनसे जन्म लिया जावे । और जन्म जीवित पितरों से ही मिलता है । यह मंत्र अथर्ववेद [१८।१।४५] में तथा यजुर्वेद [१९।५६] में आया है ।

बर्हिषदः पितर ऊलवागिमा वो इव्या चक्रमा जुषन्धम् । त आ गतावसा दन्तमेनाऽथा नः शं योररपो दधात ॥ ऋ० १०।१५।४॥

{ बर्हिषदः पितरः } हे बर्हिषत् पितरों! (अर्वाक्) हमारे प्रति (कृति) रक्षणार्थ आओ । (नः) तुम्हारे लिए (इव्या) हृष्यो को (चक्रम) करते हैं, उनका (जुषन्धम्) प्रीतिपूर्वक सेवन करो । (ते) वे तुम (दन्तमेन अवसा) कल्याणकारी रक्षण के साध (आगत) आओ । (अथ) और तब (नः) हमें (अरपः) पापराहित आचरण, (शं) कल्याण और (योः) दुष्टविधोम (दधात) दो ।

बर्हिषत् पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदलेमें हम उनका इव्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें । व हमारे रोग तथा भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें ।

बर्हिषदः—बर्हिष् में अथवा बर्हिष् पर बैठनेवाले । निष्कण्ड में बर्हिष् शब्द अन्तरिक्ष एवं जलवाची है । अन्तरिक्षमें जल रहता है अतः जलका भी नाम बर्हिष् पद गया ऐसा प्रतीत होता है । बर्हिष् = अन्तरिक्ष । निष्कण्ड १।३॥ बर्हिष् = जल । निष्कण्डु—१।१२॥ अन्तरिक्ष में पितर रहते ऐसा हमें वेदमंत्रोंसे (जैसा कि हम पूर्व दर्शा आये हैं) पता चलता है। तदनुसार ' बर्हिषदः ' का अर्थ हुआ अन्तरिक्षस्थ पितर । निष्कण्डु—३।३। में बर्हिषत्, महत् वाची नामों में भी पठित है । तदनुसार महान् पितर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है । बर्हिष् कुशा-घास का भी नाम है । तदनुसार इसका अर्थ कुशाघास के आसनपर बैठनेवाले ऐसा भी हो सकता है । वेदमें बर्हिष् यज्ञ के लिए माँ प्रयुक्त हुआ हुआ है, अतः यज्ञ में बैठनेवाले ऐसा अर्थ भी हम कर सकते हैं । प्रसङ्गानुसार उचित अर्थ लेना चाहिए । बर्हिषत् पितरोंके विषयमें विशद विवरण हम अन्धत्र प्रकाशित करेंगे ।

शंयोः— शमनं च रोगाणां शान्तं च भयानाम्॥ निहक० ४।३।२४॥ अरपः—रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः॥ निहक० ४।३।२४॥ न रपः = अरपः— पापराहित । यह मंत्र यजुर्वेद (१०।१५।५) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५१) में भी है ।

उपहृताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु दिवेषु । त आ गमन्तु त इह ध्रुवन्धधि मुवन्तु तेष्वग्मवस्मान् ॥ ऋ० १०।१५।५॥

(ते) वे (सोम्यासः) सोम संशानन करनेवाले (पितरः) पितर (दिवेषु बर्हिष्येषु) प्रीतिकारक यज्ञसंबन्धी निधियोंमें (उपहृताः) सुलाए गए हैं (ते) वे पितर (इह) इध यज्ञमें (आगमन्तु) आये । (ते अधिध्रुवन्तु) वे पितर हमारी प्रार्थनायें प्यान देकर सुनें, (अधिध्रुवन्तु) हमें उपदेश करें तथा (अस्मान् ते अवन्तु) हमारी वे रक्षा करें ।

याज्ञिक कार्योंमें पितर हमारे सुलाए जानेपर आये । आकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें ।

बर्हिष्य— बर्हिष् नाम यज्ञका है । उसमें होनेवाला बर्हिष्य अर्थात् यज्ञसंबन्धी । सोम्यासः— याज्ञिकाचार्यने निहकमें ' सोम्यासः ' का अर्थ ' सोम का संपादन करनेवाले ' ऐसा किया

है । निधिः - निधिः शेषधिरिति । नि० अ० २ । पा० १ । खं० ४ । अर्थात् सुख का भण्डार ।

यह मंत्र यजुर्वेद (१९।५७) में तथा अथर्ववेद (१८।१।७५) में है ।

आप्या जानु दक्षिणतो निषेयं यज्ञमग्नि गृणीत विधे । मा हिंसिष्ट पितरः केन चिद्यो यद् भागः पुरयता कराम ॥

ऋ० १०।१५।६३

(विधे) तुम सब पितरो ! (जानु आर्य) दायां घुटना टेककर (दक्षिणतः निषेय) दाईं ओर बैठकर (इयं यज्ञं) इस यज्ञ का (अभि गृणीत) स्वीकार करो । (पितरः) हे पितरो ! (यत् वः भागः) जो तुम्हारा अपराध (पुरयता कराम) पुरयत्व के कारण अर्थात् मनुष्यत्व के कारण हम करते हैं ऐसे (केन चित्) किसी भी अपराध के कारण (मा हिंसिष्ट) हमारो हिंसा मत करो ।

हे पितरो ! दाईं ओर दायां घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो । यदि हम मनुष्यों से किसी अपराधका अपराध अनजाने हो जाए तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो ।

जानु आर्य- इसका अर्थ हमने ' दायां घुटना टेककर ' ऐसा किया है, जिसका आधारभूत शतपथ ब्राह्मण ३। निम्न वचन है— ' अथैनं पितरः प्राचीनावीर्यतनः तस्यं अन्व रक्षे- पृषीदस्तानवर्षीत्... ' इत्यादि । शतपथ २।४२ २ ॥

इस मंत्रमें जिन्हें पितरों का उल्लेख है वे जीवित पितर हैं ऐसा ' आच्यजानु ' से प्रतीत होता है । मृत पितर दहरहित होनेसे यज्ञमें घुटना टेककर नहीं बैठ सकता । देवधारी पितरोंके लिए ही यह करना संभव है और दहभरी पितर जीवित पितर ही हो सकते हैं, मृत पितर नहीं । यह मं यजुर्वेद (१९।६२) में तथा अथर्ववेद (१८।१।५२) में है ।

आसीनातो अरुणीनामुपम्ये रयि धत्त दाशुधे मर्त्याय । पुत्रेभ्य पितरस्तस्य वस्यः प्र वच्छत त ह्यूर्जं दधान ॥

ऋ० १०।१५।१० ॥

(अरुणीनां उपम्ये आसीनास) यज्ञमें प्रदम कर गई आग्निकी लाल लाल ज्वालालाओंके धर्मापमें बैठ हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरो ! (दाशुधे मर्त्याय) दायां मनुष्यके लिए (रयि धत्त) धनको दो । (तस्य उस दानके (पुत्रेभ्यः वस्यः प्रवच्छत) पुत्रोंके लिए धनका दान करो । (तं) वे तुम (इह) यहाँपर उप दानों व दानोंक पुत्रोंके लिए

(ऊर्जं) अक्षसे (दधात) पृष्ट करो ।

हे पितरो ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अक्षका दान करके उन्हें पृष्ट करो ।

अरुणी- यद्यपि निषण्डु १।१५ में उपाकीं दिरण ऐसा अर्थ है, तथापि यहाँपर प्रकृत प्रकरणमें यज्ञका वर्णन होनेसे यज्ञकी रक्षण उजालाओंसे ही अभिप्राय है । ऊर्जः— अक्ष । निषण्डु २।७॥

यह मंत्र अथर्ववेद (१८ । ३ । ४३) में तथा यजुर्वेद (१९।६३) में आया है ।

ये नः पूर्वे विचरः सोम्यासोऽन्वहिरे सोमपीयं वसिष्ठाः । तैमिर्यमः संरराणो हवीष्यु धानुनाद्रिः प्रतिकाममनु ॥

ऋ० १०।१५।८ ॥

(ये) जिन (नः) हमारे (पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः) पुरातन सोम संपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उत्तम धनवाले पितरों ने (सोमपीयं) सोमपान को यज्ञमें (अनु र्हिरे) प्राप्त किया था, (तैमिः) उन (उशान्तिः) यमके साथ सोमपान करने का हवि खाने की कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ (उशान्) सोमपान करने का हवि खानेकी कामना करता हुआ, (संरराणाः) पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ (यमः) यम (हवीष्ये) हवीष्योंके (प्रतिकामं) इच्छानुसार (अनु) खावे ।

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दां गई हविष्योंके खावे । हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें पर्वीन्द्र मात्रामें हवि देनी चाहिए ।

वसिष्ठे विषथमं निम्न लिखित व्र ह्यगोत्रे बचन है—

(१) यद्वं तु अंशं तन वसिष्ठो अथा यद्वस्तुतमो वसति तेनो एव वसिष्ठः ॥ शं० ८।१।१।६ (२) येन वै अंशः तेन वसिष्ठः ॥ शं० २। ३।९ (३) एष (प्रजापतिः) वै वसिष्ठः ॥ शं० २। ४।१२ (४) प्राणो वै वसिष्ठः ऋषिः ॥ शं० ८।१।१।६ (५) सा ह वागुवाच (हे प्राण !) यद्वा अह वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽस्यति ॥ शं० १४।१।२।१४ (६) आग्निर्वै देवानां वसिष्ठः ॥ ए० १।२८ यह वचन ऋ० २।९।१ पर है । (७) वायवै वसिष्ठः ॥ शं० १४।१।२।२॥

इन वचनानुसार वशिष्ठ का अर्थ उत्तम वाध करानेवाला अर्थात् उत्तम आश्रयदाता ऐसा अर्थमी किया जा सकता है । यज्ञ नाम धनका भी है । तदनुसार उत्तम धनवाले ऐसा अर्थ भी हो सकता है ।

इस मंत्रके वर्णन से यद्यत् मृत पितरोंका उल्लेख है । यम के साथ हवि खानेवाले पितर जीवित नहीं हो सकते ।

इस मंत्रके लेकर इस सूक्तकी समाप्तिपर्वन्त मृत पितरोंके संबन्धमें निर्देश है । यह मंत्र यजुर्वेद (१९ । ५१) में आया है ।

निम्न दो मंत्रों (१११२) में अग्निही पितरोंके साथ यज्ञ में सुलाया गया है—

ये तातृपूर्ववत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमवष्टासो अर्कैः । आग्ने यादि सुविदत्रेभिरवर्वाङ् सत्यैः कथ्यैः पितृभिर्धर्मसद्भिः ॥ ऋ० १०।१५।१॥

(देवना जेहमानाः) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए (होत्राविदः) यज्ञोंके जाननेवाले (स्तोमवष्टासः) स्तोमोंके बनानेवाले (ये) जो पितर (अर्कैः) अर्चनाय रतोग्रोंसे (तातृपुः) इस संसारसागरसे सर्वथा तर गए हैं ऐसे (सुविदत्रेभिः सत्यैः, कथ्यैः धर्मसद्भिः पितृभिः) उत्तम धनवाले अपवा कथ्याणकारी विशावाले अर्थात् उत्तम ज्ञानी, (सत्यैः) सत्यवचनी [कथ्यैः] कथ्यनाम है पितरोंके उद्देश्यसे दी गई इहिका, उसको खानेवाले तथा यज्ञमें आकर बैठनेवाले पितरोंके साथ (अर्वाङ्) हमारे प्रति (आग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) यज्ञमें आ ।

देवबन्धे प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें सुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं ।

धर्म-यज्ञ । निघण्टु ३।१८॥

अर्क- मंध, रतोत्र । अर्कके अनेक अर्थ हैं— ' अर्को देवो भवति, यदेनमर्चति । अर्को मंत्रो भवति यदनेनार्चन्ति । अर्क-मन्त्रं भवति, अर्चति मृतानि । अर्को दृष्टो भवति, संवृत्तः कटुकिन्ना । निहक ५।१।५ ॥ सुविदत्रः— सुविदत्रः कल्याणविद्य । निहक ६।३।१५ ॥ इसका अर्थ धन भी है । निहक ७।३।१ ॥

इस मंत्रके ' देवत्रा जेहमानाः ' के भावको अगला मंत्र विशेष रूपसे स्पष्ट करता है । उसमें भी अग्नि द्वारा देवयोनिमें गए हुए पितरोंका ही आवाहन किया गया है ।

ये सत्यासो हविरदो हविष्णा इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः । आग्ने यादि सहस्रं देववन्दैः पीः पूर्वैः पितृभिर्धर्मसद्भिः ॥ ऋ० १०।५।१० ॥

(ये) जो पितर (सत्यासः) सत्यवचनी, (हविषः) हविषके खानेवाले, (हविष्णाः) हविकी रक्षा करनेवाले तथा (इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः) जो इन्द्र व देवोंके साथ समान रूपपर आरूढ होते हैं, ऐसे (सहस्रं देववन्दैः) हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए (पूर्वैः पीः) पुरातन तथा अर्वाचीन (धर्मसद्भिः पितृभिः) यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ (अग्ने) हे अग्नि ! तू (आयाहि) आ ।

देवोंके साथ एकरथाहूढ अर्थात् देवोंके साथ विचरण करनेवाले पितरोंको यज्ञमें अग्नि लाती है ।

यह मंत्र पूर्व मंत्रकेही आशय को स्पष्ट कर रहा है। प्राचीन पितर तथा देवोंमें विचरण करनेवाले पितर जीवित पितर नहीं हो सकते । इन्धके सिवाय यदा एक और भी महत्त्वपूर्ण बातका पता चलता है और वह यह कि मरनेके बाद शरीर एकदम पुनर्जन्म नहीं लेता, कमसे कम सबके सब जीव तो एकदम नहीं हो लेते । दूसरे शब्दोंमें इसे यूँ भी कह सकते हैं कि परलोकवासी जीवोंका इस लोकावासी जीवोंसे संबन्ध बना रहता है । वे इस लोकमें आकर यदाके जीवोंके कार्योंमें हिस्सा बटोरते हैं व समय समयपर रक्षा आदिके कार्य भी करते हैं । उनको हमारे समाचार पहुंचानेवाली अग्नि है । अतः जीवित पितरोंकी तरह उनका भी समय समयपर संस्कार करना चाहिए, ऐसा इक्ष्वा अभिप्राय हुआ । इस विषयमें विशेष प्रकाश डालनेवाले मंत्रकी मूल लेखमें उद्धृत किया जा चुका है । उन मंत्रोंपर विशेष विचार करना जरूरी है ।

अग्निष्वात्ताः पितर एव गच्छत सद्ःसद्ः सद्व सुप्रणीतयः । असा हवीपि प्रयतानि चर्द्धिष्यथा रधि सर्ववीरं दधातन ॥ ऋ० १०।५।११ ॥

हे [सुप्रणीतयः] उत्तम प्रकारसे ले जानेवाले [अग्निष्वात्ताः पितरः] अग्निष्वात्त पितरो ! [इह] इस यज्ञमें [आगच्छत] आओ । [सद्ः सद्ः सदन] घर घामें स्थित होओ । [वय] और [चर्द्धिपि प्रयतानि हवीपि अत्त] यज्ञमें दी गई हवियोंको खाओ और हमें [सर्ववीरं रधि दधातन] सर्व प्रकार की वीरतासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन देकर पुष्ट करो । हे अग्निष्वात्त पितरो ! घर घामें आओ । शंभोमें तुम्हारे

उद्देश्य से ही गई हवियोंको खाओ, तथा उससे बदले में वीर धंती का प्रदान करो ।

सुप्रणीति- जिसकी नीति उत्तम है अर्थात् जो उत्तम पथप्रदर्शक है । यह मंत्र यजुर्वेद [१९।५९] में तथा अथर्ववेद [१८।३।४४] में भी आया हुआ है ।

त्वमत्र ह्यङ्गितो जातवेदोऽथाह् दृष्यानि सुरभीणि कृवां । प्रदा वितृभ्य स्वधया ते अमुसादि एवं देव प्रयथा हवीषि ॥

ऋ० १०।१५।२॥

हे [जातवेदः अग्निः] जातवेदस् अग्नि ! [ह्यङ्गितः एवं] स्तुति किया गया तू [दृष्यानि] दृष्योंको [सुरभीणि कृवां] सुगंधित बनाकर [अथाह्] वहन कर [वितृभ्यः] उन दृष्योंको पितरोंके लिए [प्रादाः] दे । [ते] वे पितर [स्वधया अक्षतः] उन दृष्योंको स्वधाके साथ खावें । [देव] हे प्रकाशमान अग्नि ! [एवं] तू भी [प्रयथा हवीषि] ही गई हवियोंको [अङ्गि] खा ।

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिए हवियोंको सुगंधित बनाकर ले आती है और ले जाकर पितरोंको देती है ताकि वे खावें ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि दूरस्थ पितरोंके पास हवि पहुंचानेका साधन अग्नि है । अतः अग्निद्वारा दूरस्थ पितरोंको हवि पहुंचाना चाहिए ।

जीवित पितरोंको अग्निद्वारा हवि देनेसे तृप्ति नहीं हो सकती, अतः अग्निद्वारा हवि मृत पितरोंको ही दी जा सकती है और उसीके द्वारा वे तृप्त हो सकते हैं । स्थूल रूपमें विद्यमान हवि जीवितोंके लिए उपयोगी है और अग्निद्वारा सूक्ष्म रूपमें की गई हवि मृतोंके लिए उपयोगी है । इसमें हेतु यह है कि जीवित पितरोंका भौतिक देह उस अग्निद्वारा ही गई सूक्ष्मरूप हविये तृप्त नहीं हो सकता, यह बात निर्विवाद ही है । इसके प्रति कूल मृत पितरोंका भौतिक देह नहीं है अर्थात् उनके पास स्थूल हविके प्रहण करनेका एक मात्र साधन स्थूल शरीर नहीं है, अतः उनके लिए स्थूल हवि निरुपयोगी है, पर सूक्ष्म शरीरके आवाशिष्ट होनेसे उसके संरक्षणके लिए उन्हें सूक्ष्म रूपमें हवि चाहिए, जो कि अग्नि द्वारा उन्हें मिल सकती है और उससे वे तृप्त हो सकते हैं । जीवित दशमं स्थूल शरीर होते हुए भी सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है व स्थूल शरीरके साथ साथ तृप्त होता रहता है । स्थूल शरीरकी खौराकमेंसे सूक्ष्म

शरीरकी पोषा बहुत अंश मिलता रहता है, पर स्थूल देहके अलग हो जानेपर सूक्ष्म देहकी स्थूल शरीरके द्वारा जो खौराक उपलब्ध होती थी, वह बंद हो जाती है । अतः के बिना देहकी स्थिति नहीं रह सकती, अतएव अग्निद्वारा सूक्ष्म देहकी खौराक पहुंचाई जाती है । और यही कारण प्रतीत होता है कि अग्नि की सर्वत्र कथा गया है कि वह मृत पितरोंके पास हवि ले जाए उनके हवि खानेके लिये ले आए, इत्यादि । हमारी समझमें अग्नि द्वारा मृत पितरोंको हवि पहुंचानेका कारण यही है कि उनके सूक्ष्म शरीरकी अन्न मिलना रहे । मृत पितरोंको स्वसूक्ष्म देह संरक्षणार्थ हविही आवश्यकता रहती है और अतएव वेदमें ऐसे मंत्र हमें उपलब्ध होते हैं । इसके अनुसार इस मंत्रमें मृत पितरोंके उद्देश्यसे हवि देनेका उद्देश्य है ऐसा हम मान सकते हैं । यह मंत्र अथर्ववेद (१८।३।४२) में तथा यजुर्वेद (१९।६९) में भी आया हुआ है ।

ये चेद पितरो ये च नेह योश्च विद्य यो न च न प्रविप्र । एवं वेत्य यति ते जातवेदः

स्वधाभिव्यंजं सुकृतं तुरश्व व ॥ ऋ० १०।१५।१३ ॥

(ये च इह पितरः) जो पितर यहांपर विद्यमान हैं, (ये च न इह) और जो पितर यहांपर विद्यमान नहीं हैं, (यान् च विद्य) और जिन पितरोंको हम जानते हैं, (यान् च न प्रविप्र) और जिन पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके (यति ते) जिनने भी वे पितर हैं उन सबको (एवं) तू (वेत्य) जानती है । (स्वधाभिः) स्वधाओंके साथ (सुकृतं यज्ञं) उत्तम प्रकारसे किए हुए यज्ञको तू (उपस्व) प्रीतिपूर्वक सेवन कर ।

जो पितर इस संसारमें विद्यमान हैं और जो नहीं हैं, तथा जिनको हम जानते हैं और जिनको हम नहीं जानते अर्थात् जो हमारे जन्मसे भी पहिले इस लोकासे चले गए हैं, उन सब पितरोंको अग्नि जानती है ।

पूर्व मंत्रमें मृत पितरोंको हविही आवश्यकता क्यों है यह दर्शाने हुए हमने यह भी दर्शाया था कि अग्नि द्वारा उन्हें हवि पहुंचाने में हेतु क्या है । इस मंत्रमें अग्नि द्वारा हवि पहुंचानेका दूसरा हेतु दर्शाया गया है और वह यह कि अग्नि सब प्रकार के पितरोंके विषयमें परिचय रखती है । अतएव वहाँ एक ऐसा है कि जो पितरोंके पास चाहे वे कहीं पर भी हों हवि पहुंचा सकती है । यह दूसरा हेतु है जिसके कि

कारण अग्नि द्वारा हवि पहुँचानेका वेदमंत्रोंमें निर्देश है । अग्निर्बन्धे विशेष विवेचन हम पाहिले अग्नि व पितरमें कर आए हैं, वहाँसे पाठक देख सकते हैं । यह मंत्र यजुर्वेद (१९ । ६०) में है ।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः

स्वधया मादयन्ते । तेषिः स्वराजसुनीतिमेतां

यथावशां तन्वं कल्पयस्व ॥ ऋ० १०।१५।१४॥

(ये) जो पितर (अग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा जलाए गए हैं, (ये) और जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि द्वारा नहीं जलाए गए हैं, ऐसे जो दोनों प्रकार के पितर (दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते) छुलोकके बीचमें स्वधयासे आनन्दित हो रहे हैं, (तेष्यः) उन दोनों प्रकारके पितरोंके लिए (स्वराज्) स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम (यथावशां) कामनाके अनुसार (एता अनुनीति तन्वं कल्पयस्व) इस प्राणों द्वारा ले जानेवाले शरीरकी बना ।

जिनका अंत्येष्टि-संस्कार अग्निद्वारा किया गया है व जिनका अग्निद्वारा नहीं किया गया, ऐसे छुलोकमें रहनेवाले पितरों का पुनर्जन्म होता है ।

असुनीति— जो प्राणोंद्वारा ले जाया जावे । अर्थात् जिसका संचालन प्राणों द्वारा होता है । यह शरीर असुनीति है; क्यों कि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है ।

अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध ।

[' ये निरवाता ये प्रोक्ताः ' इत्यादि अर्थवत् । १८।२।३४ में जो प्रेतके अंत्येष्टि-संस्कारके चार प्रकार दर्शाए हैं उनमेंसे दग्ध को छोड़कर शेष तीन संस्कार अर्थात् गादना, बहाना और हवामे खुला छोड़ना इन विधियोंसे जिन प्रेतोंका अंत्येष्टि-संस्कार हुआ है, वे अनग्निदग्ध हैं, तथा जिनकी अंत्येष्टि अग्निसे हुई है, वे अग्निदग्ध हैं ।

अग्निध्वात् व अनग्निध्वात् ।

प्रसंगवश योदाशा यहाँपर अग्निध्वात् व अनग्निध्वात्के विषयमें लिखना जरूरी है । उपरोक्त मंत्र (ऋ० १०।१।५ । १४) और यजुर्वेद (१९।६०) में आया हुआ है । वहाँपर जो योदाशा पाठभेद है वह अग्निध्वात् व अनग्निध्वात्के अर्थ-निर्णय की स्वयमेव कर देता है । ऋग्वेदका पाठ ऊपर हम दे आए हैं । यजुर्वेदका पाठ इस प्रकार है—

ये अग्निध्वात्ता ये अनग्निध्वात्ता मध्ये दिवः

स्वधया मादयन्ते । तेष्यः स्वराजसुनीतिमेतां

यथावशां तन्वं कल्पयति ॥ यजुः १९।६० ॥

इन दोनों मंत्रोंकी तुलना करनेसे पाठकोंको दोनों मंत्रोंमें कितना व कहां पाठभेद है यह बात सुगमतासे पता चल सकती है । ऋग्वेदस्थ मंत्रमें जहाँ ' अग्निदग्धाः ' पद है वहाँ पर यजुर्वेदस्थ मंत्र में ' अग्निध्वात्ताः ' ऐसा पद है । और इसी प्रकार ऋग्वेदके मंत्र में जहाँ ' अनग्निदग्धाः ' है, वहाँपर यजुर्वेदके मंत्रमें ' अनग्निध्वात्ताः ' ऐसा आया है । शेष भाग दोनों वेदोंके मंत्रमें सन्ध्या समान है । योदाशा लकार व पुरुषभेद अंततम पदमें है और वह यह कि यजुर्वेदस्थ मंत्रमें ' कल्पयति ' है और उसके स्थानमें ऋग्वेदमें ' कल्पयस्व ' है । इसका अग्निध्वात्ता व अनग्निध्वात्ताः—

अग्निदग्धाः = अग्निध्वात्ताः और अनग्निदग्धाः = अनग्निध्वात्ताः अर्थात् जो अग्निदग्धका अर्थ है वहाँ अग्निध्वात्ताका अर्थ है और जो अनग्निदग्धका अर्थ है वहाँ अनग्निध्वात्ताका । अग्निदग्धका अर्थ स्पष्ट ही है कि जो अग्निसे जला हुआ हो । अतः अग्निध्वात्ताका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे जला हुआ हो । इसी प्रकार अनग्निदग्धका अर्थ है कि जो अग्निसे न जला हुआ हो । अतः अनग्निध्वात्ताका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे न जला हुआ हो ।

' अग्निध्वात्ताः ' का विग्रह इस प्रकार है— ' अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः ते अग्निध्वात्ताः । ' अर्थात् जिनका अग्निने खाद लिया है, जिनको अग्निने चखा है अर्थात् जिनको अग्निने जलाया है । इस प्रकार ब्याकरणशास्त्र में उपरोक्त कथन का ही पौष्टक है । अग्निध्वात्ताके अर्थके विषयमें शतपथ का निम्न लिखित वचन है—

यानग्निरेव ददन्स्वदयति ते पितरो अग्निध्वात्ताः ।

श० २।६।१० ॥

अर्थात् जिनको अग्नि ही जलानी हुई स्वाद लेकों है वे पितर अग्निध्वात्ता कहलते हैं । इसका यह अग्निध्वात्ता हुआ कि जिनका अंत्येष्टि-संस्कार अग्निद्वारा होता है वे अग्निध्वात्ता पितर हैं । अंत्येष्टि-संस्कार के बिना अग्नि को पितरों के जलाने का अन्य कोई अवसर ही नहीं । इस प्रकार शतपथ ब्रह्मसूत्रानुसार भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि होती है । अतः अग्निध्वात्ताका अर्थ हुआ कि जिसका अंत्येष्टि-संस्कार अग्नि से हुआ है और

अग्निष्वात्ताया अयं हुया अिसका अंधेष्टिसंस्कार अग्निसे नही हुआ है। अग्निष्वात्ता व अग्निदग्ध के इस विवेचनानुसार अपरोक्ष मंत्रमें मृत पितरों का ही उल्लेख है, यह साबित होता है।

संपूर्ण सूक्तका मंत्रधार सारांश।

मंत्र १

१ बंधित पितर सेवामोमें अथवा रक्षामे हुलाए जानेपर हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र २

२ प्राचीन, अर्वाचीन, पृथिवीदृश्य आदि पितरों के लिए नमस्कार करना चाहिए।

मंत्र ३

३ बर्हिषत् पितरों को दक्ष में गुणना चाहिए।

मंत्र ४

४ बर्हिषत् पितरों को हवि देनी चाहिए।

५ बर्हिषत् पितर हमारे रोग, मरादि को दूर करते हैं।

मंत्र ५

६ पितर यज्ञमें आकर हमारी प्रार्थनाओंको सुनते हैं, हमें उपदेश देते हैं, तथा हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र ६

७ पितर यज्ञ में दार्वा घुटना टेककर बैठते हैं व यज्ञ का स्वीकार करते हैं।

मंत्र ७

८ पितर यज्ञ में बैठकर दानी मनुष्य को व उसके पुत्रोंको

धन देते हैं। उसे अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं।

मंत्र ८

९ सोमपान करनेवाले पुरातन मृत पितरोंके साथ यम श्विको खाता है।

मंत्र ९

१० अग्नि देवावको प्रथम विष्ट हुए महादि में बैठनेवाले पितरोंके साथ यज्ञमें आती है।

मंत्र १०

११ पितर इन्द्र तथा देवोंके साथ समान रथपर आरूढ़ होकर विचरण करते हैं।

मंत्र ११

१२ अग्निष्वात्ता पितर कुलाजैपर परधामे आते हैं, हविदां खाते हैं व सर्ववीर्यमोषित संतति देते हैं।

मंत्र १२

१३ अग्नि हयोकी सुगंधित बनाकर ले जाती है व ले जाकर पितरोंको खानेके लिए देती है।

मंत्र १३

१४ जो पितर यज्ञ में व जो यज्ञ नहीं हैं, जिन पितरोंको इस ज्ञानसे है व जिनको हम नहीं जानते इन्द्रदि सर्व प्रकारके पितरोंका अग्नि जानती है।

मंत्र १४

१५ पुलोहके मध्यमें स्वभासे तृप्त होनेवाले पितर चाहे अग्निदग्ध हों व हे अग्निदग्ध हों, उनका पुनर्जन्म होता है।

३ ऋग्वेद मं० १० सू० १६

इस सूक्तमें विशेषतः अत्येष्टि संस्कार संबंधी मंत्रोंका उल्लेख है। इस सूक्तको देवता अग्नि है।

मैनमन्ने वि ददो मामि शोशो मारय रथंच
चिक्षिपो मा शरीरम् । यदा श्रुत हृणवो
जातवेदोऽग्नेमेन प्र हिलुगाव पिदुभ्यः ॥

श्रु० १०।१६।१॥

(अग्नि) हे अग्नि । (एन मा विदहः) इस प्रेतको इस प्रकारसे मृत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट प्रदात हों। (मा भाभ दायः) इसे शोकानुल मृत कर। (अरय त्वंच

मा चिक्षिपः) इसकी रचना अर्थात् चमकीको मृत कैल। इसके शरीरमें विद्यमान रथका भाग आदि को इस प्रकारसे जला दे कि कोई भी मांस अवशेष न रहने पावे। (जातवेदः) हे जातवेद अग्नि ! (यदा श्रुत हृणवः) जब तू इस पितरको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अप) तप (एन) इस प्रेतकी आत्माको (वितृ००० प्रहृष्टतात्) पितरोंके पास भेज दे अर्थात् पितृलोकांमें इस प्रेतकी आत्मा चली जावे।

प्रेतदहनके समय अग्निसे किस प्रकारकी प्रार्थना करनी

बाहिए इस बातका इस मंत्रमें उल्लेख है । इस मंत्रके उत्तरार्धमें एक महत्त्वपूर्ण बातका निर्देश मिलता है और वह यह है कि जबतक देह संपूर्णतया जल नहीं जाती, अथवा संपूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती, तबतक आत्मा उस देहको छोड़कर स्थानान्तर में नहीं जाती । उग्र देहके आघपासही मंडळती रहती है । उग्र देहका मोह उसे बांधे रखता है । इस निर्देशानुसार आत्माको देहसे अलग मुक्त करनेके लिए व उसके लिए निर्धारित मन्त्री स्थानपर घोषणासे प्रवृत्तानेके लिए शरीरका शीघ्र दहन करना ही अधिक उचित है, क्योंकि अग्निदेहके शिवाय शरीरको संपूर्णतया शीघ्र नष्ट करनेका अन्य कोई सुगम उपाय नहीं है ।

मंत्रके चतुर्थ पादमें यह भी पता चल रहा है कि मृत-रमा शरीरसे प्रयत्न होकर पितृलोकमें जानी है । अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजती है । इस मंत्रसे जो महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं, वे विशेष विचारणीय हैं । यह मंत्र अथर्ववेदमें योद्धिसे पाठभेदके साथ है । (अथर्व- १८।२।४)

श्रुतं वदा कस्मि जातवेदोऽयमेतं परि दद्यात् पितृभ्यः ।

यदा गच्छात्समुत्तीतिमेवामया देवानां वशनीर्भवाति ॥
ऋ० १०।१६।२ ॥

(जातवेदः) है जातवेदस्य अग्नि ! (यदा श्रुतं कर-
सि) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया पच अर्थात् दग्ध कर दे,
(अथ) तब (एतं पितृभ्यः परि दद्यात्) इसको पितरोंके लिए
छोप दे । (यदा) जब यह प्रेत (एतां असुर्नाति गच्छाति) इस
प्राणीके वयनको प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल
जाते हैं (अथ) तब प्राणीके निकल जानेपर प्रेत (मृत-
शरीर), (देवानां वशनीः भवाति) देवोंके वश हो जाता
है ।

अग्नि शरीरको पूर्णतया दग्ध करके आत्माको पितृलोकमें भेज देती है । अग्निद्वारा प्रयत्न प्रयत्न हुए हुए शरीरके तत्त्व अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं ।

यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।१) में भी आया है । इस मंत्रका पूर्वार्ध प्रथम मंत्रके उत्तरार्धके समान है । आत्माके पुत्र शरीरके, अथि समय आत्मा शरीरसे प्रयत्न होती है जिसे कि हम लौकिक मात्रामें मरना कहते हैं, शरीर व आत्मा इस प्रकार दो विभाग हो जाते हैं । उन दो विभागोंका आगे चलकर क्या होता है अर्थात् वे कहाँ कहां जाते हैं वह बात

इस मंत्रमें दर्शाई गई है । मंत्रके पूर्वार्धमें आत्माका क्या होता है, वह दर्शाया गया है तथा उत्तरार्धमें शरीरका क्या होता है वह दर्शाया गया है । पूर्वार्ध स्पष्ट है । उत्तरार्धमें कहाँ गई बातका स्पष्टीकरण अगला तीसरा मंत्र स्वयं स्पष्ट कर रहा है । महोपर सिर्फ इतना ही कहा गया है कि जब प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाता है । यह मृत देह देवोंके वश किस प्रकार हो जाता है इसका स्पष्टीकरण इस प्रकारसे है—

सूर्यं षष्ठ्यं गच्छतु वायमारामा यां च गच्छ प्रथिवीं
च धर्मणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमो-
षधीषु प्रति विद्या शरारिः ॥ ऋ० १०।१६।३ ॥

हे प्रेत ! तेरी (चतुः सूर्यं गच्छतु) आंख सूर्य को जावे।
(आत्मा वातं) तेरी आत्मा (प्राण) वायु को जावे । और
हे प्रेत ! (धर्मणा) धर्मसे अर्थात् धर्मदण्डजन्य धर्मसे अथवा
पार्थिवी तत्त्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पार्थिव तत्त्व हैं वे
पृथिवीमें जा मिलें, जो जलीय हैं वे जलमें जा मिलें इत्यादि
प्रकारसे (यां च प्रथिवीं च) सुव पृथिवी लोकको जा
अर्थात् पार्थिव तत्त्व पृथिवीमें जा मिलें और जो सुलोका
अंश हो वह सुलोकमें जा मिलें । जहां जहासे जो जो
अंश तेरे शरीरमें आया हो, वहां वहां वह वह अंश
चला जावे । (वा) अथवा (अपो गच्छ) जलोंमें जलोंमें
अंश जावे । (यदि तत्र ते हितं) यदि वहाँका कोई अंश
तेरेमें विद्यमान हो । और इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीर-
शेष स्थित हो अर्थात् ओषधिद्वारा अंश ओषधियोंमें चला जावे ।

मरनेपर शरीरमें विद्यमान तत्त्व अपने अपने स्थानपर जहासे
आए हुए होते हैं वहां चले जाते हैं । सूर्यदि देवोंके अंश उन
जनमें वापिस चले जाते हैं । हरेक देव अपने-अपना अंश
शरीरसे बांध लेता है । इस प्रकार इस मंत्रमें दृष्टीय मंत्रके
चतुर्थ पाद ' अथ देवानां वशनीर्भवाति ' का स्पष्टीकरण
दिया गया है । यह मंत्र अथर्ववेद (१८।२।३) में भी आया
हुआ है ।

अग्नी मागस्तपसा सं तपस्व सं ते सोचिस्तपतु सं
ते अग्निः । यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्तात्रैर्बर्हिर्न
सुहृतासु लोकम् ॥

ऋ० १०।१६।४ ॥

हे अग्नि ! इस प्रेतका जो (अन्नः मागः) अन्न अर्थात्

न जन्म केनेदाना भाग (अग्निः) है (तं) उसको वृ (सप्तमा तपस्व) अपने तपसे तथा । (तं) उस अन्न भागको (ते सोमिः) तेरी दीपदान उवाच (तपुः) तपसे । (तं) उस अन्न भागको (ते अग्निः) मानमान तेरी उवाच (तपुः) तपसे । और फिर (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (याः ते शिवाः स्वः) जो तेरे कदापकरी उवाचान-वे रूपी तपु अर्थात् शरीर हैं (तमिः) उन शरीरों द्वारा इस अन्न भागको (सुहृन्वा लोके) सुहर्म बरनेवालोके लोकमें (वह) प्रण कर ।

हे अग्नि ! तू इस शरीरके अन्न भाग आत्मको अपनी आत्मापुनर्विहित उवाचाओंसे सुद्ध करके पुनर्लोकमें ले जा ।

जैसा कि हम ऊपर दर्शां काए है कि मनेवर शरीर दो विभागोंमें विभक्त हो जाता है, जिसमेंसे एक भाग तो मृत शरीर तथा दूसरा भाग अन्न आत्मा है । मृत शरीरके कदा करना चाहिए तथा अग्निदेहके अन्तर्गत वह द्विष द्विष रूपमें रहा बर्हा जाता है, वह दृष्टीय जन्ममें स्पष्ट रूपसे दर्शना जा चुका है । द्वितीय-प्रश्नमें संकेतस्वप्ने अन्न भाग आत्मके अग्नि-मी प्रवेश किया जा चुका है । इस मंत्रमें उवांचा अग्निस्वप्ने वर्धन वा स्पष्टीकरण है । अष्टमधु नृनीय व अष्टमं मंत्र द्वितीय मंत्रके ही स्पष्टीकरण है । इस मंत्रसे भी दर्शां पता चलता है कि अग्नि ही मृतानाको सुहृत्को लोके ले जाती है । यह मंत्र भी अपवर्षेदमें (१८।१।२८) में पाया जाता है ।

तव सूत्र पुनर्ग्रे निवृत्तयो वस्त आहुतश्चाति स्वधामिः ।
आहुतवपान तप वेदु बोधः सगच्छतां तन्वा वातवेदः ॥
श्रु० १०।१६ प ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (वः) जो (ते आहुतः) तेरेमें अग्नेतिके समय आहुत किया हुआ (स्वधामिः धरति) स्वधामोसे विचरण करता है उसको (पुनः) फिर (निवृत्तः) पितरोंके लिए तारर छोड़ अर्थात् वह पुनर्जन्म ले । अथवा ' निवृत्तः ' को पंचमी मानकर भी कर्म कर सकते हैं; और वह इस प्रकार कि फिर पितृलोकमें विद्यमान पितरोंसे लकर इस संशयसे छोड़ । दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है । इस प्रकार यह पुनर्जन्म लिया हुआ (वपः) अपत्य संतान (वपतातु) वृद्धीबढ़ाओ प्राप्त करे, तथा (जातवेदः) हे जातवेदस् अग्नि ! (तन्वा संपच्छतां) वह अपत्य शरीरसे

नयी मानि संगत होवे अर्थात् तन्म शरीरअग्निसे संलग्न रहे ।

अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न लिखित प्रकारसे भी किया जा सकता है ।

हे अग्नि ! जो मृत पुण्य तेरेमें अग्नेतिके समय आहुत किया हुआ स्वधामोसे विचरण कर रहा है उसे पितरोंके लिए वे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजा-कर छोड़ । क्योंकि इस अर्थके अन्त मंत्र मिलते हैं जिन्में कि अग्निका मृत को निवृत्तलोकमें पहुंचानेका उच्छेध है, अतः यह कर्म भी हो सकता है । यहाँ दोष अर्थात् पंडित देशरथ यह मंत्रका संतान दीर्घांतुको प्रण हुईं हुईं परीक्षा करिये जाए । वह संतान सुंदर शरीरको प्राप्त करे । इस अर्थात्-उवाच मंत्रके पूर्वार्थमें वृत्त पुण्यके लिए प्रार्थना की गई है व उवाचार्थमें उस पुण्यको अहित ईशतिके लिए दीर्घांतु अति-रक्षा प्रार्थनाय कहते हैं । दोष नान संतानका है । ' दोष इत्यन-लनाम लिखते इति ' । निरुक्त ३।२३ । इस मंत्रसे अग्निके एक और विरोध दर्शां पता चलता है और वह यह कि पुन-र्जन्मके लिए आत्मको पितरोंके पास पहुंचानेका कर्म भी अग्निका ही है । पर मंत्र मोक्षसे पाठनेके समय अग्निदेद (१८।१।१०) में भी आया हुआ है ।

वसे इत्याः वाकुल आनुवोद विरीतः सर्वं तव वा
धापदः । अग्निप्यदिहापदं हृणोतु सोमश्च सो
माह्वयो जातिवेद्यः ॥ श्रु० १०।१६।१७

हे प्रेत ! (ते) तेरे (वः) जिस अंगको (इत्याः वाकुलः) काले अग्निहकारी पक्षीके (आनुवोदः) पीठा पहुंचा-चाई है, (तव वा) अथवा (विरीतः, सर्वः धापदः) कहीं की अतिके अन्तुकोने वा, सर्वे वा जंगली हिसक पशुने तुझे पीठा पहुंचाई है तो (अग्निः) अग्नि (विधाद्) इन उपा-योंके धरसे (तव) उस तेरे अंगको (अयदं हृणोतु) रोप-रहित करे । (सोमः च) और सोम भी तेरे उस अंगको नोरीय करे । (वः) जो कि सोम (माह्वयात् अविदेशः) माह्वयो में प्रविष्ट हुआ हुआ है ।

काले अग्निहकारी पक्षी वा कहीं कंडोले जादि अन्तु, धरदि दिव्यपुत्र प्राणियों व जंगली अनावरोंसे पहुंचाए गए बहको अग्नि व सोम दूर करें । बिनाधी अन्तु सर्वदि मंत्रोंके प्राणियोंसे होती है उनको अग्नेतिके इस मंत्रका विनिवेश होता है ऐसा इस मंत्रका अग्निप्राय प्रतीत होता है ।

मंत्रके शब्दार्थ स्पष्ट है । इन प्राणियोंके कटि मरु अंगेको अग्नि नोरोग करती है, इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि वरु यम प्राणियोंके विपन्नदिन यम अंगको ऐसा जला देती है कि फिरसे वरु रोग औरीमें नहीं आ सकता । उस शवको मरुनमें इन प्राणियोंके विपन्न अन्तु हिमानी अवस्थामें बचने नहीं पाते । इस मंत्रमें सर्पादि विपन्न प्राणी व अंगली हिंसक जानवरोंके आकांक्ष वेद सोममें भी नोरोग को आ सकती है ऐसा कहा गया है ।

अनेकमें परि गोनिर्व्ययस्य सं प्रोणुष्य पीवसा मेदवा व । नेत्वा घृग्युर्रमा अर्हवाणो दृष्टम् विचिद्वन्तु पर्यश्चराते ॥

ऋ० १०।१६।७ ॥

हे प्रेत ! (गोनिः) श्लेष्मे उपज्य हुई हुई (अन्तेः वनं) अग्निकी प्वालाकनी कवचमें (परि व्ययस्य) अपनेको चारों ओरसे ढक ले । अर्थात् अग्निकी प्वालाओंके बीचमें तू हो व । जिसमें कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके । (संः) वरु द (पीवसा मेदवा) अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बुधि (प्रोणुष्य) अपने आपको आच्छादित कर । इस प्रकार करनेमें (हरसा घृग्युः) अपने देहमें पर्याप्त करनेवाला, (दृष्टम्) प्रालम्ब, (अर्हवाणः) अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अतएव (विचिद्वन्तु) तुम मंत्रको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि (त्वां) तुम्हें (नेत्) नहीं (पर्यश्चराते) इधर उधर बकरीया अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर मरुनावरण कर डालेगा ।

सुरदेको जलाते हुए भी पर्याप्त मात्रामें जालना चाहिए ताकि अग्नि सूत्र बोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डाले । यथा कौडी भी भाग जले बिना रुद्धे न पावे ।

इस श्लोकके प्रथम मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि हे अग्नि ! तू मरुत स्वर्ग विप्रियो मा शरीरम् अर्थात् इस प्रेतकी चमड़ी तथा शरीरको बिना जलाए हुए इधर उधर मत बखेर, संपूर्णतया इसे जला दे । यहाँ पर वरु संपूर्ण दहनको अर्थमें रखते हुए सुरदेके कहा गया है कि तू अग्निकी प्वालाकनी कवचको पहिन ले व अपने अंदर विद्यमान चर्बुधि अपने आपको अपट ले, जिसमें कि अग्नि तुम्हें पूर्णतया जला दे । मंत्रका अभिप्राय यह है कि प्रेतका पूर्ण रूपसे दहन होना चाहिए व उसके लिए पर्याप्त घृत्नका उपयोग करना चाहिए । सो = धी ।

वेदमें गौसे उपज्य पशुओंके नाममें गो शब्दसे कहे गये हैं । देखो, निरुजमें गो शब्दको व्याख्या । नि० अ० २। पा. २४ इमममे चमसं मा वि जिह्वारः धियो देवानामुन सोम्यागान् । एव यदचममो देवपानस्तस्मिन् देवाः मन्वता मादृपन्ते ॥ ऋ० १०।१६।८ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (इमं चमसं) इस शरीररक्षणी चमसको (मा वि जिह्वारः) मत विचलित कर । क्योंकि यह चमस (देवानां उत सोम्यानां) देवों और सोम संपादन करनेवालोंका (धियोः) प्यारा है । (एवः) यह (यः) जो (चमसः) चमस है वह (देवपानः) देवपान है अर्थात् इसमें देवपान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं । (तस्मिन्) उस चमसमें (अमृताः देवाः) अनरमणीय देव (मादृपन्ते) पान करके प्रसन्न होते हैं ।

यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है । यह देवोंका प्रिय है । इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि ! इस शरीरको दुर्दशा मत कर ।

चमस—चमचा । वरुमें जिष पात्रमें सोमरस डालकर पान किया जाता है उसका नाम चमस है ।

इन इथी सूक्तके दूसरे व तीसरे मंत्रमें देव आण्डे कि इन शरीरका किस प्रकार देवोंसे संबन्ध है । इसके अतिरिक्त यान स्थानपर देवोंमें ऐसा वर्णन है । अथर्ववेद १० काण्ड सू० २ में भी ऐसा ही वर्णन है ।

अवतकके मंत्रोंमें अंत्येष्टिसंबंधी वर्णन किया गया है । अगले तीन मंत्रोंमें कव्याद् अग्निको उपलक्ष्य करके कहा गया है । इस अंत्येष्टि-संस्कारमें प्रयुक्त अग्निका नाम कव्याद् अग्नि है । कव्याद् अग्निका अर्थ है मांसमसृष्ट अग्नि । और यह मांसमसृष्ट अंत्येष्टिमें शवदहनद्वारा अग्निको करना पड़ता है । वैधा कि अवतकके मंत्रों द्वारा स्पष्ट है । इस प्रकार शवके सामने मांसमसृष्ट (कव्याद् अग्नि) इस अग्निका क्या करना चाहिए इस विषयमें अगले तीन मंत्र प्रकाश डाल रहे हैं ।

कव्यादग्निं प्र क्षिगोनि दूर्गं वनराशो मच्छतु रिषवाद्ः । इहैवापनिवरो अतवेदा देवेभ्यो इव्यं वदतु पवानम् ।

ऋ० १०।१६।९॥

(कव्याद् अग्निं दूर्गं प्रक्षिगोनि) मांसमसृष्ट अग्निको बुर निवसता है । (रिषवाद्ः) पाप का दहन करनेवाक; वह अग्नि (वनराशः मच्छतु) जहाँका यम राजा है, उन अं-

सोको चलो जावे । (इह) यहाँपर (अथ इतरः जातवेदाः प्रजानन्) यह दूसरी क्रम्यात् अग्निसे भिन्न जातवेदस् अग्नि सर्व कर्मोंको यथावत् जानती हुई (देवेभ्यः इभ्यं बहवु) देवोंके लिए हव्योद्या बहन करे अर्थात् उन्हें पहुँचावे ।

यह सब दहन करनेवाली अतएव मांसभक्षक (क्रम्यात्) अग्नि फिर लौटकर हमारे घरोंमें वापिस न आजावे, अतः मैं इसे दूर भेज देता हूँ, वह यमलोकमें चली जावे । यहाँके कार्य संवादन करनेके लिए जातवेदस् अग्नि है । वही देवोंके लिए हव्योद्या बहन करती रहे ।

इस मंत्रमें क्रम्यात् अग्निको यमराजके देवोंमें भेजनेका बलिष्ठ है । इससे ऐसा पता चलता है कि सबदहनान्तर बहु क्रम्यात् नाम पाई हुई अग्नि पृथिवीलोकसे यमलोकमें जाती है । प्रथम, द्वितीय व त्रुपथं मंत्रोंके साथ इस मंत्रपर विचार करनेसे यह परिणाम निकलता है कि, सबदाहके अनन्तर बहु क्रम्यात् अग्नि आत्माको यमलोकस्थ पितृलोकमें ले जाती है । एकवार जिस अग्निसे सबदहन किया जा चुका वह अग्नि फिर देवोंके लिए हव्यादिके बहनके लिए अर्थात् यज्ञादि कर्मके लिए उपयुक्त नहीं रहती यह बात भी इस मंत्रसे स्पष्ट होती है । क्रम्यात्-कव्य=मांस, उद्यद्य भक्षक क्रम्यात् । निरुक्त अ. ६ । पा. ३ । खं. १२ ॥ रिप्रवाहः- रिप्रं पावं तस्य वोटा । निरुक्त अ० ४ । पा. ३ । खं. २१ ॥ यह मंत्र वज्रवेद (३५ । १९) में तथा अथर्ववेद (१३ । २ । ८) में भी आया हुआ है ।

यो अग्निः क्रम्यात् प्रविवेद्य वो गृहमिमं पश्यद्विषत् जातवेदसम् । तं हरामि पितृयज्ञाय देवं स घर्ममि-
न्वात् परमे सधस्ये ॥ ऋ० १० । १६ । ११ ॥

(यः क्रम्यत् अग्निः) जो माँवाहारी अग्नि (इमं इवरं जातवेदसम् पश्यन्) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निको देखकर (यः गृहं प्रविवेद्य) तुम्हारे घरमें घुस गई है, (तं) उस (देवं) देदीप्यमान-अत्यन्त प्रकाशमान क्रम्यात् अग्नि-को (पितृयज्ञाय हरामि) पितृयज्ञके लिए हरता हूँ, हटाता हूँ । (सः) वह क्रम्यात् अग्नि (परमे सधस्ये) परम सधस्यमें (घर्मं) दण्डको (इन्वात्) प्राप्त करे ।

तुम्हारे घरोंमें जातवेदस् अग्निनेके रहते हुए भी जो क्रम्यात् अग्नि घुस गई है, उसे मैं दूर करता हूँ ताकि तुम पितृयज्ञ कर सको । यह अग्नि परम लोकमें यज्ञको प्राप्त करती रहे ।

इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें क्रम्यात् अग्निको दूर भगाकर यमलोकमें भेजनेका निर्देश है । उस मंत्रके साथ इस मंत्रकी संगति लगानेके लिए व विरोध हटानेके लिए इस मंत्रके ' तं हरामि पितृयज्ञाय देवं ' इस तृतीय पादस्य अर्थ ऐसा करना चाहिए कि ' पितृयज्ञ करनेके लिए उस क्रम्यात् अग्निको हटाता हूँ ' । अर्थात् यह क्रम्यात् अग्नि पितृयज्ञके लिए अनु-पयुक्त है । यह तो परम सधस्य जो यमलोक है उसमें चली जावे और वहाँ पर अपने मागको प्राप्त करती रहे । इस प्रकार इस मंत्रका अर्थ पूर्व मंत्रके भावको लक्ष्यमें रखते हुए करनेके दोनों मंत्रोंको संगति की जा सकती है । क्रम्यात् अग्निका परों-मेंसे निकालनेका व उधे यमलोकमें भेजनेका अभिप्राय जनता-मेंसे घृणु दूर करनेका अभिप्राय प्रतीत होता है । ' परम सधस्य ' - वह बड़ा स्थान जिसमें सब इकट्ठे रहते हैं । यहाँ-पर पूर्व मंत्रके साहाय्यसे यमलोक ऐसा अर्थ है । वैसे तो यम-लोक भी परम सधस्य ही है । यह मंत्र कुछ पाठभेदके साथ अथर्ववेद (१२ । २ । ७) में आया है ।

इस प्रकार यहाँपर क्रम्यात् अग्निका विषय समान्य हो जाता है । अब आगेके मंत्रोंमें अग्निने प्रति सामान्य कथनका उल्लेख है ।

यो अग्निः कव्यवाहनः पितृन् यस्यस्तावृषः ॥
मेदु हव्यानि वोचति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ॥
ऋ० १० । १६ । ११ ॥

(यः अग्निः) जो अग्नि (कव्यवाहनः) इन्द्रका अर्थात् पितरोंकी हविष्ठा बहन करनेवाली है और जो (कृतावृषः) यज्ञ वा सत्यसे बढनेवाले (पितृन्) पितरोंका यजन करती है, वह अग्नि, (देवेभ्यः पितृभ्यः) व हव्यानि प्रवोचति देवों और पितरोंके लिए हव्योद्या प्रवचन करे अर्थात् वह देवों व पितरोंको कहे कि ' मैं तुम्हारे लिए यह हविष्ठा भेजाई हूँ ' ।

अग्नि पितरोंका कव्यसे धरदार करती है व उनके लिए तथा देवोंके लिए मनुष्यों द्वारा दी गई हविष्ठाका बहन करती है । कव्य—उद्य हव्यका नः । है जो कि पितरोंके उद्देशसे दिया जाता है । कृतावृषः—ऋत नाम है यज्ञ व सत्यका । जो यज्ञ व सत्यके बढनेवाले अथवा जो शत्रु व यज्ञसे बढनेवाले हैं । यह मंत्र यजुर्वेद (१५ । ६५) में भी है ।

उद्यन्तस्य वा नि धीमद्यन्तः समिधीमहि ।
उद्यन्तुशत आ वह पितृन् हविषे अक्षसे ॥

हे अग्नि ! (उद्यतः) तेरी कामना करते हुए हम (त्वा) तेरी (निधीमहि) स्थापना करते हैं । और (उद्यतः) तेरी कामना करते हुए हम (समिधीमहि) तुझे प्रर्पित करते हैं । [उद्यत्] हमारी कामना करती हुई हे अग्नि ! तू [हविषे आगये] हविके खानिके लिए [उद्यतः पितृन्] कामना करते हुए पितरोंको [आवह] प्राप्त करा-ले आ ।

हे अग्नि ! हम यज्ञादिमें तेरी कामना करते हुए तेरी स्थापना करें व तुझे प्रक़ाशित करें । तू हमारे यज्ञोंमें पितरोंको हवि खानिके लिए ले आया कर ।

इस मंत्रमें अग्नि पितरोंको यज्ञादिमें हवि यज्ञगार्थ ले आती है ऐसा हमें निर्देश मिलना है । यह मंत्र यजुर्वेद (१९।७०) में व अथर्ववेद [१८।१।१६] में भी आया हुआ है । अगले दो मंत्रोंमें स्मशानभूमिके उष स्थानका वर्णन प्रतीत होता है जहाँ कि मुरादा जलाया गया हो ।

यं त्वमग्ने समद्रहस्तसु निर्वापया पुनः ।

क्रियाःस्वन्न रोहद्र पाठद्वयं स्वदृश्या ॥

ऋ० १०।१६।१३ ॥

(अग्ने) हे अग्नि ! (यं) जिस मंत्रको तूने (समद्रहः) जलाया है (तं च) उसे (पुनः) फिर सम्पूर्णतया दहन हो चुकने पर (निर्वापय) सुसा बाल । (अत्र) इस सुर्वेके अन्दरने स्थानपर (क्रियासु) कितना जल छिदकना चाहिए कि जिससे (व्यल्कशा) विविध शाखाओंवाली (पाकदूर्वा) परिपक्व दूर्वा घास [रोहद्रु] उगे ।

घबके सम्पूर्णतया दहन हो चुकनेपर आगकी सुसा बालना चाहिए व बर्हापर इतना पानी छिदकना चाहिए कि जिससे फिरसे बर्हापर दूर्वा घास निकल आवे ।

शाश्वरिनको इतना पानी डालकर सुसाना चाहिए कि उष आगये जो जमीनपर परिणाम हुआ है वह दूर हो जावे और उषपर पुनः नाना शाखाओंवाली दूर्वाघास उग सके और जमीन बेसी भी बेसी ही फिरसे हरीमरी हो जावे । इसके लिए यह भी आवश्यक है कि, जिस स्थानपर एक घबको जलाया गया हो बर्हापर पुनः दूसरा घब नहीं जलाना चाहिए । इस मंत्रसे स्मशानभूमिसंबन्धी वैदिक कल्पना की जा सकती है और कल्पनाके अनुसार वर्तमान समयकी स्मशानभूमियोंके विषयमें पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं व स्मशानभूमिके वास्तविक स्वरूपको समझ सकते हैं । इस प्रकार यह मंत्र अंत्येष्टिक्रियाकी समाप्ति किस प्रकारसे होनी चाहिए,

इस बातपर विशेष प्रकाश डाल रहा है ।

शीतिके शीविकावति ह्यदिके ह्यधिकवति ।

मण्डूकया ३ सु संगम ह्यं स्व १ शि हर्षय ॥

ऋ० १०।१६।१४ ॥

(शीतिके) हे शैत्ययुक्त ! [शीतिकानति] हे शैत्ययुग-संगम ओषधियोंवाली ! (ह्यदिके) हे हर्षित करनेवाली (ह्यदिकावति) तथा हे आनन्दित करनेवाले फलफूलयुक्त बर्सावाली पृथिवी ! [मण्डूकया] मेंढकोंके साथ [सु सङ्गम] अच्छी तरह संगत हो अर्थात् तेरे में इतना अधिक पानी हो कि मेंढक आनन्दसे तेरे अन्दर रह सकें । मेंढक पानीवाली जमीनमें रहता है । अतः मेंढकोंके साथ संगत होनेका अभिप्राय यह है कि जमीन अत्यंत जलवाली हो । [ह्यं अग्निं सुर्षय] इस अगिके आनन्दित कर अर्थात् यह पूर्ण रूपसे तेरेपर प्रक़लित हो सके ।

पूर्व मंत्रके कथनानुसार जल छिदकनेसे पृथिवी का कैसा स्वरूप हो जायगा यह इस मंत्रमें दर्शाया गया है । इस प्रकार यह सूक्त बर्हापर समाप्त होता है । सामान्यतया इस सूक्तमें अंत्येष्टिपर विचार किया गया है, यह पाठक स्वयं जान सके होंगे

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रबारासारांश ।

मंत्र १

१ अग्नि मृत देहको सम्पूर्णतया जला देनेपर आत्माको पितृलोक में भेजती है ।

२ इसका अभिप्राय यह हुआ कि जबतक मृत देह रहती है तत्काल उसकी आत्मा भी वहीं रहती है ।

मंत्र २ व ३

३ शरीरके पूर्ण रूपसे जल जानेपर देहके घटक अपने अपने स्थानपर चले जाते हैं अर्थात् हरेक देव अपना अपना अंश वापिस लौटा लेता है । आंश सुर्वमें चली जाती है, प्रण वायुमें आ मिलते हैं इत्यादि ।

मंत्र ४

४ शरीरका जो अत्र भाग आत्मा है उसे अग्नि अपनी नानाविध आर्वियोंसे शुद्ध करके सृष्टियों के लोकोमें ले जाती है ।

मंत्र ५

५ अग्नि फिर आत्माको पितृलोकसे वापिस लौटा लाती है व इदम्य पितरोंको धीपती है अर्थात् पुनर्जन्म देती है ।

मंत्र ६

६ काले पश्यासे, षोडशमकीचे आदि छोटे छोटे जन्तुअसे, सर्पांदेखे तथा जंगली हिंसक जानवरो से पहुंचाए गए वधोका अग्नि निवारण करती है ।

७ सोम भी यही कार्य करता है ।

मंत्र ७

८ रावके पूर्ण दहनके लिए पृथ्वी पर्याप्त मात्रा डालनी चाहिए जिससे कि अग्निही बड़ी ज्वालएं निकले व रावको क्षीप्र ही मरमावधोप कर डालें ।

मंत्र ८

९ यह शरीर सूर्यादि देवोंका रक्षण करनेका चमस है । इधमें ये देव अपने अपने अंगछे आकर बसते हैं ।

मंत्र ९

१० ऋग्वात् अग्नि पापका बहन करनेवाली है । उसका वाघरपान दमलोक है ।

११ वह वज्रादि कार्योंके लिए अनुपयुक्त है ।

मंत्र १०

१२ ऋग्वात् अग्निको परमें प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये ।

उध परोंमेंसे निश्चल डालना चाहिये ।

मंत्र ११

१३ अग्नि पितरोंके निमित्तसे दी गई हविष्का बहन करती है । वह देवों व पितरोंकी हविद्द्वारा पूजा करती है ।

मंत्र १२

१४ अग्नि पितरोंको हवि खानेके निमित्त ले आती है ।

मंत्र १३

१५ रावके पूर्ण दहनके अनन्तर अग्निको सुप्ता डालना चाहिये ।

१६ वहापर इतना अधिक पानी डालना चाहिए कि नाना-राखाओंवाली दूजापाच उग भावे ।

१७ और इसके लिए जहापर एक रावका दहन किया गया हो वहापर दूधोका नदी करना चाहिए, अन्यथा पानी डालनेसे अग्निका प्रभाव दूर न हो सकेगा व उस स्थान पर पाच न उग सकेगी ।

मंत्र १४

१८ जमीन पानीसे इतनी तरबतर होनी चाहिए कि उसके गर्भके अंदर मच्छक निवास कर सके ।

४ ऋग्वेद मं० १० सू० १३५

इस सम्पूर्ण सूक्तकी देवता यम है । यमका अर्थ इस सूक्तमें क्या है यह एक विचारणीय विषय है । यास्कआचार्यने निरुक्तमें इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ आदित्य किया है । निरुक्त ५२।२९ ॥ परन्तु इस स्थापनाके अनुसार सम्पूर्ण सूक्त लगाना पर्याप्त कठिन है । यहाँ साधनाचार्यके मतानुसार अर्थ दिया है ।

यसिम्न वृक्षे सुपलाये देवैः संपिबते यमः ।

अत्रा नो विश्वपिः पिवा पुराणौ अनु वेनपि ॥

क० १०।१३५।१ ॥

(वृक्षे) यह उपोपमा है । इसकी तरह (सुपलाये) शोभान उद्यानसे युक्त, अथवा सुन्दर पत्तोंवाले वृक्षमें । इस प्रकारके वृक्षका मूल जिस प्रकार गरमी आदिके दूर करनेसे सुखकर होता है उस प्रकार सुखकर जिस स्थानमें (देवैः)

परिजनमृत देवोंके साथ (यमः) निर्दंता वैवस्वत (विवस्वात् का पुत्र) (सं पिबते) पान करता है । (विश्वपिः) प्रजाओंका अपिपति (नः पिता) सुप्ते नचिकेताका जनक वाज्रथ्रवस् (अत्र) इस यमके स्थानमें (पुराणात्) वहापर चिर-कालसे निवास करते हुए पितरोंके (अनु) सर्वांग यह नचिकेता रहे इस प्रकारकी भेरे लिए कामना करता है । 'नः' वहापर व्यत्ययसे बहुवचन हुआ हुआ है । नचिकेता नामके कुमारको वाज्रथ्रवस् पिताने यमलोक भेज दिया था । वहापर यह यमको प्रसन्न करके फिर इस लोकमें वापिस लौट आया था । यह बात इन मंत्रोंसे प्रतिपादन की जा रही है । अथवा कुमार नामवाला नचिकेतासे भिल दूषरा कोई क्षत्रिय था । उसने यम (दच्छतीति यमः आदिरवः) अर्थात् आदित्य की इस सूक्त-द्वारा स्तुति की—उत्तम पत्तोंवाले वृक्षकी तरह सुंदर स्थानमें

(यमः) आदित्य (देवैः संविषते) रदिनयोके साय गमन करता है । उपसर्गके साय आनेसे ' विभक्ति ' यथांश गत्यर्थक है । स्वल्पवचने आधने पद हुआ हुआ है । (यम) इस स्थानमें स्थित [विश्रान्तिः] प्रजाओंका प्रह्लाष वर्षा आदि देनेसे पालक और प्रायस्वरूपे सभका जनक यह आदित्य (पुराणान्) पुरातन स्तुति करनेवाले हम लोकोकी (अनुवेनति) अनुग्रहपूर्वक कामना करता है । अथवा इस स्थानमें स्थित हमारे पूर्व पुरोधोंकी [अनुवेनति] अनुग्रहसे कामना करता है ।

वृषः = अर्थात् कि श्रेष्ठ मृत आराममें कर्मोंकी यकान्दको दूर करनेके लिए विश्रान्ति लेती है ।

पिता = यम ।

पुराणां अनुवेनन्तं चरन्ते पापयानुया ।

असृष्टकर्म्यपाकानां वस्त्रा अष्टद्वयं पुनः ॥

श्ल० १०।१३५।२ ॥

(पुराणान् अनुवेनन्ते) पुरातन पितरोंके प्रति मेरे अनुगमन करनेकी कामना करते हुए अर्थात् वे पुरातन मृत पितरोंका अनुगमन कर्क यानि यमलोकमें जाते इस प्रकारकी इच्छा करते हुए (अनुया पापया चरन्ते) इस पापपूर्ण निरुद्ध बुद्धिके साय वर्तमान पिता वाञ्छवस्तुके (सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए सुखको पिलाने ' मृत्युके पास जा ' इस प्रकार कहा वतः) (असृष्टम्) मानसिक दुःखसे दुःखित हुए हुए मैंने (नचिकेताने) धरसे पहिले देखा । अर्थात् जब मैं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा था, ऐसी हालत में जब पितरने मुझे यह कहा कि ' मृत्युके पास जा ' तो मैंने बड़ी दुःखमयी निगाहसे उधकी ओर देखा और फिर (तस्मै अष्टद्वयम्) पिताकी आज्ञानुसार उध मृत्युको प्राप्त करनेकी इच्छा की । [आदित्यके पक्षमें] अथवा [पुराणान्] पुरातन स्तुति करने-वाले पितरों की अनुग्रहसे कामना करते हुए [चरन्ते] उधव और भरत के रूपमें द्युलोकमें परिश्रमण करते हुए आदित्य की ओर [अनुया पापया] इस निरुद्ध बुद्धिद्वारा [असृष्टम्] निन्दा करता हुआ कि यह आदित्य आत्ममयी वस्तु है इस प्रकारसे [अन्वयपर्य] मैंने दृष्टिपात किया । अमृतपुत्रोंमें पोषापोषण करना । [पुनः] अब फिर उध आदित्यकी महिमा को जानता हुआ [तस्मै अष्टद्वयम्] उध आदित्य को, स्तुतिपूर्वक व परिचर्यादि कर्मों द्वारा प्राप्त करने की इच्छा करता-हूँ ।

यं कुमार नवं रयमचकं मनसाकुणोः ।

एकेवं विश्वतः प्राञ्चमरश्चक्रधि तिष्ठसि ॥

श्ल० १०।१३५।३ ॥

नचिकेता नामवाले कुमार को यम इस ऋग्वेद व अगली ऋचासे अलवानेका प्रयत्न करता है— हे कुमार ! [नवं] बिलकुल नया जिसको कि इससे पहिले तुने कर्मों नहीं देखा और जो [अचकं] पहिलोंसे रहित व [एकेवं] एकैप है तो नी [विश्वतः प्राञ्चं] सर्वत्र प्रकृषे रूपसे गति करता है ऐसे [यं रथे] मेरे पास आनेके लिए अभ्यवसाय रूपी जिस रथको तुने [मनसा अकुणोः] मन से बनाया और बनाकर [अपरयन्] कर्तव्य अकर्मण्य विभाग को न जानता हुआ उध रथपर दू [अभितिष्ठसि] सवार हुआ हुआ है । आदित्यके पक्षमें-अथवा स्तुति करनेवाले कुमार नामक ऋषिके आदित्य प्रत्यक्ष हुआ हुआ देह व आत्माके विवेकको बतला रहा है-हे कुमार ऋषि! चक्रसे रहित (एकेवं) एक प्राण ईषाध्यानाय है जिसका ऐसे इस अग्निवद, सर्व ओर गति करनेवाले शरीररूपी जिस रथको अन्तःकरण द्वारा खींचा है, उध शरीररूपी रथको मेरा स्वरूप न जानने के कारण न जानता हुआ, भोगमगन के स्वरूपमें स्वीकार करता है अर्थात् शरीर से भोग भोगता है ।

मन्दारा शरीर का निर्माण इस प्रकार से होता है संस्कारात्मक मनसे धाम अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है । कामना उत्पन्न होनेपर पुण्यात्मक वा अपुण्यात्मक कर्म किये जाते हैं । और उध कर्मद्वारा भोग देनेके लिए इस शरीरका आरंभ होता है । इस प्रकार परंपरारूपसे मन का शरीरनिर्माण प्रव है ।

एकेव-एक है ईषा जिसकी । ईषा-पुत्रा ।

इध संश्रमे कुमारके प्रति यमको ठाक है ऐषा म- प्रिक्रिय का कथन है ।

यं कुमार प्रावर्तयो रयं विप्रैर्यदपरि ।

तं सामाप्तु प्रावर्तयं समितो नाम्वाहितं ॥

श्ल० १०।१३५।४ ॥

हे कुमार नचिकेता ! [यं रथं] जिस पूर्वकी अचिन्तित रथको जिसमें कि तू सवार होकर आया है, (विप्रैः यः परि) मेधावी-सर्ला लोगों के ऊपर से अर्थात् अंतारिध से से मेरे पास (आवर्तयः) ले आया है, (तं) उध रथका जो कि रथ [नावि से आ हितं] नौका की तरह चारनेवाली लुद्धिमें स्थित है, उधका [साम] पिताद्वारा की गई सामवनासे (अनु

प्रावर्तत) अनुगमन किया है। अर्थात् जब तू भूलोकके संकल्प रूपी रथमें चढ़कर आया तब तेरी रक्षामें तेरा अनुकरण पिता की सान्त्वनाके किया ।

आदिरथ के पक्षमें--अथवा हे कुमार ऋषि ! तूने जिस शरीररूपी रथ को उधपर सवार होकर संसार में प्रवृत्त किया है, उस रथके पीछे पीछे मेघावायियों के बीचमें घाम अर्थात् चक्कू सामादि साधव स्तोत्र य [नावि] नौका की तरह तारक वेदरूपी वाणीमें स्थित कर्म इस लोकके प्रवृत्त होते हैं, उसका अनुकरण करते हैं ।

कः कुमारमजनयद्रथं को निरवर्तयत् ।

कः स्वित्तदथ नो म्यादनुदेयी यथाभवत् ॥

ऋ० १०१३५।५ ॥

[कः कुमारं अजनयत्] किंच पुरयने इष कुमार को उत्पन्न किया ? निन्दा अर्थमें कि शब्द है । इस प्रकारके बालक को यमके पास भेजनेवाला पिता कैसे अच्छा हो सकता है ? अच्छा, यह बात जानो दो । [कः] किंच पुरयने इष बालक-को यमके पास जानेके लिए (रथं) रथको [निरवर्तयत्] प्रवृत्त किया ? वह भी मूर्ख था, यह प्रश्नका अभिप्राय है । [यथा] जिस प्रकारसे यह कुमार [अनुदेयी अमवत्] अनुदेयी होता है [तत्] इस बातके कथनको [अथ] इस कालमें [नः] हमें [कः रित् म्यात्] मला कौन कहेगा ? पार्श्वके यमके पास जाकर फिर वहाँसे उससे छूटनेका उपाय बताता हुआ भी बुद्धिमान् नहीं कहा जा सकता, यह इसका अर्थ है । [आदिरथके पक्षमें] अथवा कुमार नामक ऋषि अपने सर्वात्म्यभावको जानता हुआ अपने अतिरिक्त दूसरोंकी सत्ताको अक्षमबता को निन्दावाची कि शब्दसे दिखलाता है--सुप्त कुमारको किंच पिताने पैदा किया ? किंहीं भी नहीं । 'अजो निरथः श्यातः' इति श्रुत्युक्तरूप में है। और किंचने शरीररामक रथका संचालन किया ? मेरे विशय बुद्धता संचालन नहीं है और वेष्टेही अन्यनिर्वैर्य (संचालन करने योग्य) का होना भी अक्षम है । इस समय सर्वात्म्यानुभव दशामें उस प्रकारको कौन मला हमें कह सकता है, जिस प्रकार से कि अनुदान करने योग्य घेरेसे भिन्न अन्य पदार्थ की सत्ता क्लेशे ? वह प्रश्न भी सुनिश्चयीय है ऐसा इसका अर्थ है ।

यथा मवदनुदेयी ततो अग्रमजापत् । पुरस्तादाश्रम
आततः पश्चाच्चिरपणं कृतम् ॥ ऋ० १०१३५।६ ॥

(अनुदेयी) पिताको पंछेसे पुनः वापिस देने योग्य (यथा) जिस प्रकारसे यह कुमार होवे ऐसा (ततः) उस वाक्अवत् पितासे [अमं] तमके पास जा इस प्रकारके बचनके आगे वर्तमान बचन कि नविकेताको यमके साथ जानना चाहिए ' तं ये प्रथवंतं गन्तांतीति होवाच ' इत्यादि [ती० मा० ३।१३।८] प्राज्ञगममें कहा गया बचन उत्पन्न हुआ । (पुरस्तात्) उससे पहिले (पुनः) उक्त अप्रका मूलभूत ' यमके परको जा ' यह बचन अति विस्तृत हुआ हुआ था । अतः उसका परिहार नहीं हो सकता था, इस वास्ते पीछेसे क्रोधको छोड़कर (निर-यणं कृतं) उस यमसे बचकर निकल आनेके उपायको पिताने किया । (आदित्यपक्षमें) अथवा [अनुदेयी] अपनेको अनुदातभवआत्मस्वरूपसे भिन्न अन्य पदार्थकी सत्ता जिस प्रकारसे है, उसके गुणानुसार (ततः) उस मादाविशिष्ट आत्माका [अमं] अष्टव्यविकारका आद्य मनस्तरब उत्पन्न करनेकी इच्छाप्रकारण उत्पन्न हुआ । [पुरस्तात्] सद्यसे पहिली अवस्थामें [पुनः] मूल अष्टव्यविकार मादात्मक कारण ही विस्तृत था । [यत्] तमस् की उत्पत्तिके बाद [निरयणं] उक्त अर्थको उस कारणसे निगमन अर्थात् घटपटादिभेदसे स्वरूपका आत्मन प्रदाने किया । अर्थात् कारण-जगत्को कार्य जगत्के स्वरूपमें लाया । तथा मिट्टीका विद्यार घटादि मिट्टीसे भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार आदित्यके अनुग्रहसे प्रज्ञाभावको प्राप्त मेरा विद्यार यह प्रथम घेरेसे भिन्न नहीं है । इस प्रकारसे अतिरिक्त पितादिका पूर्वोक्त आक्षेप का समर्थन किया है ।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुत्पद्यते ।

इयमरथ मथ्यते नाळीरथं गीर्षिः परिभ्रूतः ॥

ऋ० १०१३५।७ ॥

यह [यमस्य] नियन्ता आदित्यका वा विवस्वान् के पुत्रअ [सादनं] देवान है । जो कि सदन [देवदानं उत्पद्यते] देवों द्वारा बनाया गया है, ऐसा कहा जाता है। अथवा देव अर्थात् रश्मियों का निर्माण-साधन कहा जाता है। इस यमकी प्रीत्यर्थ [इयं नाळीः] यह बाधाविशेष बंध-बन्धना जाता है। अथवा नाळी यह वाणीका नाम है। यह स्मृतिरूप वाणी इसकी प्रीत्यर्थ उच्चारण की जाती है। इस प्रकार होनेपर यह यम स्तुतिपद्ये परिभ्रूत अर्थात् शोभायमान होता है । ' परिभ्रूतः संपुर्णव्यवः ' इत्यादिसे सुहागम होता है । ' परिनिविभ्रः ' इत्यादिसे यत् हुआ है । ' गतिरनेतर ' इत्यादिसे गतिका प्रकृतिलक्षण ।

५ ऋग्वेद मं० १० सू० १५४

यह सूक्त अश्वेष्टि-संस्कार-विषयक है। इसमें प्रेत से कहा गया है कि तू किन किनको प्राप्त हो, जैसा कि मंत्रोंको देखनेसे पाठकोंको रवय स्पष्ट हो जायगा। इस सूक्तका ऋषि विवस्वान् की दुहिता यमी है। विद्यमान यजमानादियोंका वर्तन इसमें प्रतिपादित किया जायगा, अतः वे इस सूक्तके देवता हैं।

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।

बेभ्यो मधु प्रधावति तौश्विदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।१॥

[एकेभ्यः] कर्षोंके लिए [सोमः पवते] सोम रस बहता है। और [एके] कर्ष [घृतं उपासते] आज्यका उपयोग करते हैं। इनको व [बेभ्यः मधु प्रधावति] जिनके लिए मधु चारारूपसे बहता है, [तान् चित् अपि] हे प्रेत ! उनको भी तू [गच्छतात्] प्राप्त हो।

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जो अज्यका उपयोग करते रहते हैं, तथा जिनके लिए मधुकी कुल्यायें बहती रहती हैं, ऐसे यज्ञकर्ताओंको हे प्रेत ! तू प्राप्त हो।

स्यद्वन्द्वानि अस्तिष्टिक्रिया प्रेतकी आरमाके प्रति इस सूक्तकी ऋचाओंके अनुसार उसके संबंधी आदिषोडश कथन है।

तपसा ये अनाधृष्यास्त्वपसा ये स्वयंपुः।

तपो ये अकिरे महस्तांश्विदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।२॥

(ये) जो लोक (तपसा) कृच्छ्रचंद्रादृग्णादि नानाविध तप करने कारणसे (अनाधृष्याः) किमी भी प्रकारसे कष्टोंको नहीं पहुँचाए जा सकते, जिनको पाप नहीं सता सकते, व (ये) जो लोक (तपसा) उसके कारणसे (स्वः ययु) स्वर्गको गए हुए हैं, और (ये) जिन्होंने (महः तपः अकिरे) महान् तप किया है, हे प्रेत ! इन (तान् चित् अपि गच्छतात्) तपस्वियोंको भी तू जाकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें तेरी स्थिति होवे।

हे प्रेत ! जो तपके कारण किंसीभी प्रकार पराभूत नहीं हो सकते, व जो तप ही के कारण स्वर्गको प्राप्त हुए हुए हैं, तथा जिन्होंने महान् तप किया है, उनको तू वहांसे जाकर प्राप्त हो।

प्रथम मंत्रमें यज्ञादि कर्मकाण्डका साहाय्य दर्शा कर प्रेतको तत्कर्म करनेवालोंमें जानेको कहा है व इस मंत्रमें तपःप्रभाव

२२ (अ. सु. मा. कां. १८)

दिलसाकर तपस्विनोंमें जानेका निर्देश किया गया है।

ये युष्पन्ते प्रजनेपु शूरासो ये तन्व्यजः।

ये वा सदस्यदक्षिणास्तांश्विदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।३॥

हे प्रेत ! (ये शूरासः) जो शूरीर गण (प्रजनेपु) संप्रामोंमें (युष्पन्ते) युद्ध करते हैं, और (ये) जो उन संप्रामोंमें (तन्व्यजः) शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, (वा) अथवा (ये) जो लोक (सदस्यदक्षिणाः) हजारों दान करते हैं (तान् चित् अपि) उनको भी तू (गच्छतात्) प्राप्त हो।

जो शूरीर गण युद्धोंमें अपने प्राण देकर वीरगतिको प्राप्त हुए हुए हैं, वा जो लोक नाना तरह के दानोंको देकर अपने को संसारमें अमर कर गए हैं, ऐसे लोगोंको हे मृतात्मा ! तू प्राप्त हो-तेरे लिये सन्नति होवे।

इस मंत्रसे यह स्पष्ट होता है कि दानों व शूरीर गण भी मृत्युके पश्चात् सन्नति को प्राप्त करते हैं। गांतामै ' हतो वा प्राप्स्यसि स्वयम् ' आदि युद्ध में मरनेसे सन्नति होती है, ऐसे छोटक वाक्योंकी यह वेदमंत्र स्पष्टि करता है। शूरीरतपसे युद्धमें शरीर त्याग करनेवाले को परलोक में सुख मिलना है यह अर्थ लोगोंका बड़ा पुराना दृढ विश्वास चल आता है, इस विश्वासके मूलभूत ऐसे ऐसे वेदमंत्र ही हैं।

ये चित्पूर्वै ऋतपास ऋतावान ऋतावृषः।

वितृन्तस्त्वतो यम तौश्विदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।४॥

[ये चित्] और जो [पूर्वै] पूर्व पुरुष [ऋतपासः] सत्यका पालन करनेवाले अथवा यज्ञोंके नियम नियमपूर्वक करनेवाले, [ऋतावानः] सत्य वा यज्ञसे युक्त और ईर्ष्यालिये [ऋतावृषः] सत्य व यम के बंधक थे, तथा [तपस्वः] तपसे युक्त [वितृन्] पूर्व पितरोंको [तान् चित् अपि] इन सबको भी हे [यम] नियमवान् प्रेतगमा ! तू प्राप्त हो।

जो पितर सत्यके रक्षक हैं, यज्ञादि नियमनियमसे करनेवाले हैं, तथा तपस्वी हैं, ऐसे पितरोंको हे मृतात्मा ! तू परलोकमें जाकर प्राप्त हो।

सहस्रणीयाः कवयो ये गोपावन्ति सूर्यम् ।
अधीन्वपस्वतो यम तपोर्जा अपि गच्छताम् ॥

ऋ० १०११५४५ ॥

(ये) जो (कवयः) ज्ञातदर्शी ज्ञानी लोक (सहस्रणीयाः) हजारों प्रशंसनीय नैतिकीयोंवाले हैं और जो (सूर्यं गोपावन्ति) इस सूर्यः रक्षण करते हैं, ऐसे (तपस्वतः श्रयोन्) तपसे युक्त श्रयोर्जो जो कि (तपोर्जा) तपसे ही उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसी को भी है नियममें स्थित प्रेतात्मा । तू यद्यपि जाकर प्राप्त हो ।

जो कान्तदर्शाः श्रविण नामा प्रकारके विज्ञानसे परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसीको हे प्रेतात्मा । तू इस लोकसे जाकर प्राप्त हो, उनमें जाकर तू स्थित हो । निवृत्त लोकोंमें मत जा ।

इस सूक्तके मंत्रोंपर दृष्टिपात करनेसे साधारणतया हमें पता चलता है कि इस संसारमें रहकर वैचे अर्थात् किष्ट प्रकारके कर्मोंको करनेसे मृत्युके अनन्तर उत्तम गति, उत्तम लोक वा उत्तम स्थान स्वर्ग प्राप्त होता है । इस सूक्तमें ५ मंत्र हैं । पाँचों मंत्रोंमें भिन्न भिन्न कर्म करनेवाले लोकोंको विनाया गया है और प्रेतात्मासे कदा गया है कि इन इनको तू इस लोकसे जाकर प्राप्त कर । अर्थात् इन ५ प्रकारके जनोंमेंसे ही किसीको तू जाकर प्राप्त हो । इनसे हीन दत्तोंको प्राप्त मत हो । ये पाँच प्रकारके जन इस लोकके नहीं, अपितु परलोकके हैं, ऐसा मंत्रों

से पता चलता है । अतः ' तान् चित् अपि गच्छताम् ' का अर्थ यह नहीं किवा जा सकता कि इन ५ प्रकारके इस लोकमें स्थित जनोंमें जाकरके तू पुनर्जन्म ले । सद्गतिकी प्राप्तिके लिए इस सूक्तमें यज्ञार्थ करना, तप करना, सकार्दमें पराक्रमके धाम शरीर-त्याग करना, नानाविध दान करना, सत्याचरण इत्यादि धामन बताए गए हैं । यह संपूर्ण सूक्त अधर्ववेद (ऋग्वेद १८ सूक्त १ मंत्र १४ से १८) में देखा जा रहा है ।

सम्पूर्ण सूक्तका मंत्रवार शरीर ।

मंत्र १

१-२३ करनेसे सद्गति, उत्तम लोक प्राप्त होता है ।

मंत्र २

२-तप करनेसे परामन नहीं होता व तपस्वीको स्वर्ग मिलता है ।

मंत्र ३

३-जो संभावनोंमें सुन्दर शरीर छोड़ते हैं, उन्हें भी स्वर्ग उपलब्ध होता है ।

४-जो अत्यन्त दानी हैं वे भी स्वर्गको प्राप्त करते हैं ।

मंत्र ४

५-नपरवी श्लरक्षक उत्तम गतिको लाभ करते हैं ।

मंत्र ५

६-हजारों प्रकारकी नीतियोंवाले व सूर्यरक्षक श्रविण स्वर्गको प्राप्त करते हैं ।

उपसंहार ।

वितृलोक ।

इस प्रकरण का आदिसे अन्ततक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ५ वितृलोक हैं जिनमें कि पितर रहते हैं । उनके नाम इस प्रकार ह- [१] पृथिवी [२] अंतरिक्ष [३] तुलोक [४] पितृका कुल वा घर [५] पितरोंका देश अर्थात् जिस देशमें प्राचीन बालके हमारे पूर्व पितर रहते चल आए हैं वह देश । इन सब लोकोंमें हमारे पितर निवास करते हैं ऐसा हमें इस प्रकरण से स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है ।

वितृयाण ।

पितर जिस मार्गसे जाते हैं उस मार्गका नाम वितृयाण है । इस मार्गको एक तो अग्नि जानता है [देखो ऋ० १०१२१७] और दूसरा वह मनुष्य, जो कि अतिथि आदियोंके सत्कारमें

सर्वदा तत्पर रहता है । जो मनुष्य वैचरिषक है वह कभी भी वितृयाणमार्गको प्राप्त नहीं करता । यह वितृयाणमार्ग ' सूर्य-किरण ' भी है ऐसा ऋ० १११०११७ से पता चलता है । अर्थात् अन्तरिक्ष व तुलोकमें रहनेवाले पितर इस मार्गसे जाते हैं, ऐसा इससे जान पड़ता है । ऊपर जो ५ वितृलोक दर्शाए गए हैं उनमेंसे इन दो अंतरिक्ष व तुलोकमें जानेका मार्ग सूर्यकिरण हीनी चाहिए । हमने ऊपर देखा है कि अग्नि भी वितृयाणमार्गको जानती है । हम आगे चलकर यह भी देखेंगे कि अग्नि सर्व प्रकारके पितरोंको चाहे वे हमारे सामने हों वा अदृश्य हों, किसीभी रूपमें कहीं पर भी हों, जानती है; उनके लिए हवि पहुँचाती है । इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पृथिवीसे अन्तरिक्ष व तुलोकस्थ पितरोंके पास जानेका जो वितृयाणमार्ग है, वह

पृथिवीकी हृद तक तो जो अग्नि जानेका मार्ग है वह है और आगे जो सूर्यकिरणों के जाने का है वह है ।

पितरों के कार्य ।

पितरों के अनेक कार्य हैं जिनमें से मुख्य मुख्य कार्य ये हैं—[१] ऋतुओंसे, सर्पादि कुटिल जंतुओं से तथा अन्य आकस्मिक आपत्तियोंसे रक्षा करना, [२] सूर्यप्रकाश देना, [३] पापसे छुड़ाना, [४] सुख देना व कल्याण करना, [५] गर्भ धारण करना, [६] मनके प्रत्यावर्तन व पुनर्जन्ममें सहायता करना, [७] नाना प्रकारके रोगों व नाना, [८] दीर्घायु देना, [९] श्रुतका पुनर्दृग्जीवित करना, [देखो अध्याय १८।२।२६] इत्यादि ।

पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।

हमें पितरोंके लिए क्या करना चाहिए अर्थात् हमारे पितरोंके प्रति जो कर्तव्य है वे इस प्रकार हैं— [१] नित्य प्रति पितरोंको अन्नदानपूर्वक नमस्कार करना चाहिए । [२] उनको स्वधा देनी चाहिए । [३] पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए । किन्तु पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए, इस विषयमें सत्यवेदके ऋषि १८ सू. ४ मंत्र ५७ स्वयं निर्णय करता है । मंत्र इस प्रकार है—

ये च जीवा ये च मृता ये जाया ये च यज्ञियाः ।

तेभ्यो धृतस्य कुर्व्येत मधुघारा म्बुन्दती ॥

अर्थ स्पष्ट है । दहीपर सत्रे प्रकारके पितरोंका जलद्वारा तर्पण करनेका उल्लेख है । [४] पितरोंके दार्म्य का विस्तार करना । हमें चाहिए कि हम हमारी जन्मभूमि के नित्यप्रति विस्तार करने के कार्योंमें लगे रहें । पराधीन होकर न रहें । इत्यादि और भी अनेक कार्य हैं ।

पितर और यज्ञ ।

ब्रह्मण्येव पितर यज्ञमें आते हैं और दांया घृदना टेकर बटते हैं । वे हमारी प्रार्थनायें सुनते हैं, हमारी कामनायें पूर्ण करते हैं व सर्वदा हमारी रक्षा करते हैं । पितरोंके लिए मासिक यज्ञ करना चाहिए । यज्ञमें 'अग्निध्वान्त' पितर भी आते हैं । स्वर्गके साथ हविका भक्षण करके हमें वीरतायुक्त धनादि देते हैं । यजु० अ० ३५।२० तथा अध्याय १८।४।२० तथा अ० १८।४।४२ ये तीनों मंत्र विचारणीय हैं, क्योंकि इनमें पितरोंके लिए क्या व मांसवाले चर देनेका विधान पाया जाता है । अस्तु । यथापि इस प्रकारसे इतना पता अवश्यमें ब लगता है कि सर्व

प्रकारके पितरोंके लिए यज्ञ करना चाहिए व उनको हविके तृप्त करना चाहिए । इसके विवाय प्रत्येक मासमें पितरोंके लिए दान करना चाहिए जैसा कि अध्याय ८।१।२।३ व ४ से पता चलता है ।

अग्नि और पितर ।

इस प्रकरणको देखनेसे हमें निम्न बातोंका स्पष्ट पता चलता है— [१] अग्नि यज्ञमें पितरोंको हविभक्षणार्थ ले आती है । [२] अग्नि पितरोंको हवि पहुंचाती है और अल एव अग्निचा नाम कथ्यवाहन भी है । पितरोंके निमित्तसे ही गर्ह हवि कथ्य कहाती है । [३] अग्नि धृतराज्ये पितरोंको जानती है इतनाही नहीं अपितु जो यहाँ है व जो यहाँ नहीं है और जिनको हम जानते हैं व नहीं जानते उन सबको अग्नि जानती है । [४] अग्नि पितरोंको पितृलोकमें भिजवाती है । [५] अग्नि प्रेतान्माको पितरोंके पास पहुंचाती है । [देखो अ० १०।१।७।३ और १०।१।६।१] [६] अग्नि उषा देती है, अवितांको अशु बढती है और मरे हुए पितरोंके लोकमें जाते हैं । [अध्याय १२।२।४५] [७] अग्नि पितरोंमें प्रविष्ट ज्ञातिमुख दस्युओंको यज्ञसे मगाती है । [८] अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रवेश करती है ।

कव्यात् अग्नि ।

संभवतः जिस अग्निचा अंशोष्टिमें विनियोग होता है उस अग्निचा नाम कव्यात् अग्नि है । इस प्रकरण से निम्नलिखित बातोंका पता चलता है—

कव्यात् अग्निसे यज्ञके राज्यमें भेज दिया जाता है, क्योंकि वह देवोंको हविके वहन करनेके लिए अनुपयुक्त है । कव्यात् अग्निचा संबंध यम-लोकसे है । उषका शवदहन जैसे कार्योंमें प्रयोग होता है । कव्यात् अग्निपर शासन करनेसे पितृलोकमें भाग मिलता है । पितर कव्यात् अग्निसे साथ दक्षिण दिशामें जाते हैं । पितरोंके रहनेकी दक्षिण दिशा है ।

अग्निध्वान्त पितर ।

अग्निध्वान्त पितर व पितर हैं जिनका कि अंशोष्टि संस्कार अग्निद्वारा होता है, जैसा कि हमें ऋतुयम भाष्य २।६।१।७से पता चलता है । इसी बातको यजु० अ० ११।६० व अ० १०।१।४।४ भी स्पष्ट करते हैं । अग्निध्वान्त पितरोंको यज्ञमें बुलाया जाता है, हवि ध्विज्याई जाती है व उनसे घन मांगा जाता है । अग्निध्वान्त पितर यज्ञमें आकर स्वभासे तृप्त होते हैं व उप-

देव करत है । उनको यज्ञों सोमपान करनेके लिए युलाया जाता है ।

प्रेत व अंत्येष्टि ।

इस प्रकारमें हमें निम्न बातें मिलती हैं-- (१) मरनेसे पूर्व मरण सत्रके दावे हाथमें सुवर्णका आभूषण अंगुठी आदि कुछ पहिनाया जाता है । (२) प्राण निकलनेपर शवको जल-रनान कराया जाता है । (३) रनानके बाद रमशानोचित वस्त्र पहिनाया जाता है । (४) स्नानान प्रारंभ बाहिर होना चाहिए । (५) शवको बैलगाड़ासे लेजाया जाता है । (६) रमशन—भूमिसे विघ्न-कारियोंको दूर भगाना चाहिए । (७) प्रेतको जलाया जाता है । (८) प्रेतको जलमें बहाया जाता है । (९) प्रेतको जमीनमें गाढा जाता है । (१०) हवामें सुन्ध छोड़ दिया जाता है । (११) अंत्येष्टि की समाप्तिपर श्राध्नायें की जाती हैं ।

भिन्न भिन्न अर्थमें पितर ।

चरान करनेके अर्थके अतिरिक्त अन्य निम्न लिखित अर्थोंमें जो बहुवचनान्त पितृ शब्दका प्रयोग वेदमें पाया जाता है-- (१) हिंसा अर्थमें, (२) शानी अर्थमें, (३) राजसभाके गभासद के अर्थमें, (४) सैनिक अर्थमें, (५) प्राण अर्थमें, (६) पालक रक्षक आदि अर्थोंमें, (७) इपु अर्थमें, (८) ऋतु अर्थमें ।

यम ।

इन प्रकरणोंको देखने से हमें यमके सम्बन्धमें निम्नलिखित बातोंका पता चलता है । (१) यम मृत्यु की अधिष्ठात्री देवता है अर्थात् प्राणियोंके प्राणपहरण का कार्य यम करता है । (२) विश्वरी ओदन पाचक वर यम कुछ भी बिगाड़ नहीं करता । (३) अग्नि यमका रता है । पर इस संग्राममें यम संभवतः वाजुके लिए आया है । (देखो ऋ० १०।५।२३) । (४) यम विवत्राम् का पुत्र है । (५) यमको माता का नाम सपुहू है जो कि रत्नपती की पुत्री है । (देखो ऋ० १०।१०।१)

यमलोक व यमराज्य ।

इस प्रकारमें यमलोक के विषयमें जहां कि यमका राज्य है निम्नलिखित बातोंका पता चलता है-- (१) यमलोकमें यमका राज्य है अर्थात् वह बड़ा का राजा है । (२) मृत पितर वरुने से मृत नानी, दारी, माता आदिका भी ग्रहण होता है । (३) वशा गौके दान से यमके राज्यमें दिव्यां भी

प्रकारका वृष्ट नहीं होता । (४) यमलोकस्थके लिए वस्त्र, तिलमिश्रित धान आदि देना चाहिए ऐसा अथर्व० १८।१।२१ व १८।१।२३ से पता चलता है । (५) यम अपने राज्यमें आए हुए को स्थान देता है । (६) पितरोंको तरह यमकी भी दक्षिण दिशा है ।

पुलोकमें यमलोक ।

यमलोक कहापर है इस बातपर यह प्रकरण प्रस्ताव बालता है । (१) अथर्व० १।१।२० में जो यह कहा है कि यमकी दक्षिण दिशा है उससे इतना पता चलता है कि यमलोक दक्षिण दिशामें है । (२) यमलोक पुलोकमें दक्षिणकी ओर है । [३] पितर यमराज्यमें रहते हैं अर्थात् यम पितरोंका राजा है । (४) पितृलोक यमके राज्यमें है । [५] यमलोक दक्षिणकी ओर पुलोककी समाप्तिपर है ।

यमदूत ।

यमके अनेक दूत हैं, जिनमेंसे दो कुत्ते अंधे हैं । ये दोनों कुत्ते सन्धी सन्धी नाकबले व चार आंखोंवाले तथा लोकेके मार्गदर्शक हैं । इनमेंसे एक कुत्ता बाला है व दूसरा चितकण्य । ये दोनों निरन्तर मनुष्योंके पीछे लगे हुए हैं । ये प्राणोंसे नृत्त होनेवाले हैं । संभवतः इस प्रकारके ये दोनों कुत्ते दिन व रात है । आलंकारिक वर्णनसे दिन व रातका यह वर्णन है । यमके कुत्तोंके प्रायः बहुतसे विशेषण दिन व रातमें पाए जाते हैं । (देखो अथर्व० ८।१।६) मृत्यु भी यमका दूत है ऐसा इस प्रकरणमें आए हुए अथर्व० १८।२।२७ व १८।३।२७ से पता चलता है ।

यमके कार्य ।

यमका मुख्य कार्य तो प्राणियोंके प्राणपहरणका ही है, पर इसके अतिरिक्त और भी छोटे मोटे कार्योंका उल्लेख पाया जाता है । यम पितरोंका राजा है व पितृलोक यमलोकमें है वह हम ऊपर देख आए हैं । कहापर हमें एक नई बात ज्ञात हो रही है कि यम पितृयाणमार्गको जानता है, जिससे कि पितर जाते हैं । स्वर्गमें जानेके लिए यमको अनुमति लेनी पडती है । यम हमें दीर्घायु देता है और मनुष्योंसे हमारा रक्षण करता है । यम शत्रुसे भी हमारी रक्षा करता है ।

यमके प्रति हमारी कार्य ।

यमके लिए हवि देनी चाहिए । यमको सोमपान करना चाहिए । यमके लिए यज्ञ करना चाहिए । यमके लिए किदा हुआ यज्ञ अग्निको दूत बनाकर यमके पास पहुंच जाता है ।

(ऋ० १-११४।१३) यमके लिए घृतवाली हवि देनेसे वह हमें देवोंमें जानेके लिए दीर्घायु प्रदान करता है। पंच मानव यमके लिए घर बनते हैं और जो अपने घर बटानेकी इच्छा रखता हो उसे यमके लिए घर बंधवाने चाहिए। (अथर्व० १८।४। ५५) इसके सिवाय यमके लिए स्वधा और नमः देने चाहिए।

यम और स्वप्न।

इस प्रकारकी पढ़नेसे हमें यह पता चलता है कि यमका स्वप्नके साथ क्या संबन्ध है, स्वप्नकी उत्पत्ति कैसी होती है इत्यादि। इस प्रकरणकी निम्न लिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) स्वप्नका पिता यम है अर्थात् यमसे स्वप्नकी उत्पत्ति होनेसे वह यमका पुत्र है। अतएव बुरे भयानक स्वप्नोंसे मृत्यु हो जानेकी संभावना बनी रहती है।

(२) स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर वहासे इस लोकमें आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हो गया है।

(३) स्वप्न यमका कारण अर्थात् मारनेके कार्यका साधक है। (अथर्व० ६।४६।२)

(४) स्वप्न प्राणान्त कर देनेवाला है, मार डालनेवाला है।

(५) बुरी भावनायें व मर्यादरोग जो कि निद्राको नहीं आने देते, ये सब स्वप्न की जननी रूप हैं।

यम कौन है ?

मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य यम नामवाला जो कि विवस्वान् का पुत्र था, वह इस लोकमें जन्म लेकर सबसे प्रथम मरा और फिर वहासे मृत्युलोकमें गया और वहाका राजा बन गया। (देखो अथर्व० १८।३।१३)

यम व पितरोंका संबन्ध

हम पहिले ही इस विषय पर थोड़ीसी नज़र डाल आए हैं। वहापर हमें जो कुछ मालूम हुआ है उसीकी इस प्रकरणमें विशेष रूपसे पुष्टि की गई है—

(१) यम पितरोंका अधिपति है। (२) पितरोंपर यमका आधिपत्य राजाके रूपमें है। पितर यमको प्रजा हैं व वह उनका राजा है।

यमके राज्यमें पितरोंका उच्च स्थान है ऐसा हमें यम व पितरोंके सहकार्ययुक्त मंत्र दर्शाते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि पितर यमके साथ हवि खाते हैं, उसके साथही यज्ञ तंत्र विचरण करते हैं। यम पितरोंकी सहमतिये स्वर्ग भिद्यता है इत्यादि।

भिन्न भिन्न अर्थमें प्रयुक्त यम।

उपरोक्त यमके अर्थको छोड़कर निम्न—लिखित अन्य अर्थोंमें भी यम शब्द वेदोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है— [१] युगल अर्थमें। [२] नियम अर्थमें। [३] जीवात्मा अर्थमें। [४] ज्ञानेन्द्रियोंके अर्थमें। [५] आचार्य अर्थमें। [६] वायु अर्थमें और [७] सूर्य अर्थमें।

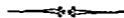
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

अष्टादश काण्डकी विषयसूची ।

१ तपासियों का लोक ।	२	वितरों के लिये प्रत्येक मासमें दान ।	८९
२ ऋषि, देवता और छन्द ।	३	„ का भासन ।	९१
३ धम, पितर और जन्मवेष्टि ।	५	जग्नि और पितर ।	९१
४ अष्टादश काण्डका मनन ।	६९	यज्ञमें अग्निका वितरोंको छाना	९१
[१] पितर ।	९१	जग्निका पितरोंको हवि छानेके लिये छे जाना ।	९०
वितृलोक ।	९१	अग्निका वितरोंको हवि पहुँचाना ।	९१
वितृलोक-पृथिवी ।	९१	अग्निका दूरगत् पितरोंको जानना ।	९१
वितृलोक-भंतरिक्ष ।	९०	„ सृष्ट पुरुषको वितरोंके पास पहुँचाना ।	९२
„ सु ।	९१	मरनेपर वितृलोकमें जाना ।	९३
„ विष्णुका कुल वा घर ।	७१	कव्यात् जग्नि ।	९४
„ वितरोंका देव ।	७२	जग्निके शरीरका वितरोंमें प्रवेश ।	९६
वितृदान ।	७२	वितरोंकी रक्षण अग्निही उत्पत्ति ।	९१
[२] वितरोंके कार्य ।	७५	वैश्वानर अग्निका वितरोंको धारण करना ।	१००
रक्षा करना ।	७५	अग्निष्वात्त पितर ।	९१
सूर्य प्रकाश देना ।	७६	बर्हिषद् पितर ।	९८
पापसे छुड़ाना ।	७८	द्रेव व भंयेष्टि ।	९९
सुख व कल्याण करना ।	७९	प्राण निकलनेके कुछ समय पूर्व ।	९१
गर्भ धारण करना	७९	प्राण निकलनेपर द्रेवका जलरान ।	९१
संतति बढ़ाना आदि ।	७९	स्नानके बाद वस्त्र पहिनाता ।	१००
पुनर्जन्ममें सहायता ।	७९	स्नानान्तर्गम की तरह प्रयाण । स्नानका का	१००
वितरोंके स्तोत्र ।	८१	प्रणसे शहर होकर ।	९१
वितरोंसे दीर्घायु ।	८१	„ से विष्णुकारियोंको भगाना ।	१०१
वितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।	८१	द्रेवको खलाना, गाठना आदि ।	१०२
वितरोंके विद् नमस्कार ।	८२	भंयेष्टि—संस्कार ।	१०३
„ „ स्वधा ।	८२	प्रार्थनावें ।	१०४
वितरोंको स्वधा देनेसे लाभ ।	८४	भिन्न भिन्न अर्थमें वितृशब्द ।	१०५
जलद्वारा वितृवर्ण ।	८५	हिंसा अर्थमें ।	९१
वितरोंका भाग ।	८५	शानी लोक वितर ।	९१
“ के शर्मका विस्तार करना ।	८५	राज समाके समासद् पितर ।	९१
वितर और यज्ञ ।	८५	सैनिक वितर ।	९१
वितरों का यज्ञमें धनदान ।	८७	प्राण वितर ।	१०६
		पाटक रक्षक आदि अर्थमें	९१

ह्यु पितर ।	१०७	पितरोंका देवरन काम ।	१२०
जनक पितर ।	"	यशष्ठा पितरोंमें जाना ।	"
पूर्वज पितर ।	"	जनक अर्थमें पितर ।	"
ऋतु पितर ।	"	विषाणका भोवधि व पितर ।	"
गो-संपामक पितर ।	१०८	स्वर्गवर्णन ।	१२१
सोम और पितर ।	"	पितरोंका धन आदि देना ।	"
पितृमान् सोम ।	"	शत्रु व पिता, पितामह आदि ।	"
आंगिरस् पितर ।	"	पितरोंका जल्पिके विषयमें अज्ञान ।	"
पितरोंकी उरपात्ति ।	१११	नराशंस पितर ।	१२२
दक्षिणा व पितर ।	"	पिता, पितामह आदि पितर ।	"
मरनेपर पितरोंमें गणना ।	११२	(२) यम ।	१२३
अश्विनौ तथा पितर ।	"	प्राणापहारी यम ।	"
सरस्वती और पितर ।	"	अश्विनौ व यम ।	१२५
गौ व पितर ।	११३	विष्टारी भोदन व यम ।	१२६
इंद्र व पितर ।	"	यमका कर्ता अग्नि ।	"
नवरात्र पितर ।	११४	यमकी बेटी ।	१२७
काम और पितर ।	"	वैवस्वत यम ।	"
मणि ,, "	"	यमलोक व यमराज्य ।	१२८
ब्रह्मैतद्गनपाचक पितर ।	११५	यमकी दक्षिण दिशा ।	१३१
ब्रह्मचारी व पितर ।	"	दुलोकमें यमलोक ।	"
पितरोंकी शक्ति का निर्यंत्रण ।	"	यमके दूत ।	१३२
देवोंके पितर ।	"	यमदूत—यान (कुत्ते)	१३३
पितरों के ऊर्ज आदि के लिए नमस्कार	११६	यमका दूत—सुर्यु ।	१३४
पितरों का इष्टापूर्त ।	"	यमका पितृयाग—मार्ग जानना ।	१३५
,, से मिलकर श्रेष्ठ होना ।	११७	यमकी स्वर्गमें पहुँचानेके छिये सहमति ।	"
,, के छिये धन, बळ व आयु ।	"	यमका दीर्घायु देना ।	"
पितर व तृतीय ज्योति ।	"	यमकी मनुष्योंसे रक्षा ।	"
पितरोंमें सुखद रस्ता बनाना ।	"	यमकी मृत्युसे रक्षा ।	"
मृत पितरोंका अनुगमन नियेध ।	११८	यमके छिये हवि ।	१३६
यक्ष्मा दूर करनेकी प्रार्थना ।	"	यमके छिये अन्नकी हवि ।	"
वधूदसं पितर ।	"	यमकी पूजा ।	१३७
कन्याका पितरोंमें रहना ।	११९	यमके छिये घर बनाना ।	"
पूजाकी पितरोंको बेरणा ।	"	यमके छिये स्वध्या नमः ।	"
ब्रह्मगौके दूध पीनेमें पाप ।	"	यम और स्वप्न ।	"
पालक अर्थमें पितर ।	"	स्वप्नका पिता यम ।	"
मेघाके उपासक पितर ।	१२०	स्वप्न—यम का करण ।	१३८

यम कौन है ?	१३९	अग्निद्रग्ध और जनमिद्रग्ध ।	१५९
यम व विवरवान् ।	१४०	अग्निष्वात्त व जनमिष्वात्त ।	"
ह्युमान् यम ।	"	ऋग्वेद म १० सू. १६	१६०
यम और ऋण ।	"	" " १० " १३५	१६६
यमका अग्निहो स्थिर करना ।	१४१	" " १० " १५४	१६९
यमके भाग जल ।	"	(४) उपसंहार ।	१७०
यम व पितरोंका संबंध ।	"	विनृलोक ।	"
यम—पितरोंका अधिपति ।	"	विनृयाग ।	"
यम—श्रेष्ठ पितर ।	१४२	पितरोंके कार्य ।	१७१
यम व पितरोंके सहकार्य ।	१४३	पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।	"
यम के साथ हवि खाना ।	"	पितर और यज्ञ ।	"
यम व पितरोंके साथ जाना ।	"	अग्नि और पितर ।	"
पितर व यमका मिलकर सुख देना ।	"	ऋग्यात् अग्नि ।	"
यम व पितरोंकी सहमतिसे स्वर्गप्राप्ति ।	"	अग्निष्वात्त पितर ।	"
पितरोंका श्यूना धारण करना ।	१४४	मेत्र व अत्येष्टि ।	१७२
अगिरस् पितर व यम ।	"	भिन्न भिन्न अर्थमें पितर ।	"
यमका अगिरस् पितरोंके साथ जाना	"	यम ।	"
निधमन अर्थमें यम ।	१४५	यमलोक व यमराज्य ।	"
जीवात्मा अर्थमें यम ।	"	धुलोकमें यमलोक ।	"
ज्ञानद्रिया यम ।	"	यमदूत ।	"
आचार्य यम ।	१४६	यमके कार्य ।	"
वायु यम ।	"	यमके प्रति हमारे कार्य ।	"
सूर्य—यम ।	"	यम और स्वप्न ।	१७३
(३) यम और पितरोंके ऋग्वेद—सूक्त ।	१४७	यम कौन है ?	"
ऋग्वेद म १० सूक्त १४	"	यम व पितरोंका संबंध ।	"
" " १० " १५	१५४	भिन्न भिन्न अर्थमें प्रयुक्त यम ।	"





अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

उन्नीसवां काण्ड

अथर्ववेदके १८ वें काण्डमें विनृयज्ञ या अन्त्येष्टि कर्म होनेके पश्चात् यहाँ अठारहवें काण्डकी समाप्तिके साथ ही वास्तविक अथर्ववेद समाप्त होता है । पिप्पलाद संहिता अथर्ववेदकी अठारहवें काण्डसे ही समाप्त होती है । बीसवां काण्ड तो ऋग्वेदके इन्द्र सूक्तका ही संग्रह है और उन्नीसवां काण्ड कुछ फुटकर रहे अथर्ववेदके सूक्तोंका संग्रह दीखता है । वास्तवमें अथर्ववेद अठारहवें काण्डसे ही समाप्त होना चाहिये था ।

यजुर्वेद वाजसनेयी संहितामें ३९ वें अध्यायमें अन्त्येष्टि कर्म होते ही यजुर्वेदका कर्म काण्ड समाप्त हुआ है । ४० वां अध्याय मङ्गलविद्या प्रकरणका अध्याय है और वह पराविद्याका है । ३९ वें अध्यायतक अग्राविद्या समाप्त होनेपर ४० वें अध्यायमें परा विद्या आ गयी वह ठीक ही है । परन्तु अथर्ववेदमें वैद्या नहीं है ।

अथर्ववेदके उन्नीसवें काण्डमें सूक्तक्रम ऐसा है—

१ यज्ञः, २ आपः, ३ जातवेदाः, ४ आकृतिः, ५ जगतो राजा, ६ जगद्गोत्रः पुरुषः, ७-८ नक्षत्राणि, ९-११ शान्तिः, १२ यथा, १३ एकवीरः, १४-१६ अमयं, १७-१८ सुरक्षा, १९ अमं, २० सुरक्षा, २१ छंदोसि, २२ ब्रह्मा, २३ अथर्वणिः, २४ रात्रं, २५ अश्वः, २६ हिरण्यधारणं, २७ सुरक्षा, २८-३० दर्भमणिः, ३१ औदुम्बरमणिः, ३२-३३ दर्भः, ३४-३५ अश्विनमणिः, ३६ सप्तवारोमणिः, ३७ बलप्रतिः, ३८ यक्षमनारानं, ३९ कुट्टनाशनम्, ४० मेघा, ४१ राष्ट्रं बलं ओजस्य, ४२ ब्रह्मपत्नः, ४३ ब्रह्मा, ४४ मेघज्यम्, ४५ आत्रनम्, ४६ अस्तुतमणिः, ४७-५० रात्रिः, ५१ आत्मा, ५२ कामः, ५३-५४ कालः, ५५ रायशोषप्रतिः, ५६-५७ दुष्प्रनाशनम्, ५८-५९ यज्ञः, ६० अंगानि, ६१ पूर्णायुः, ६२ सर्वविपत्यम्, ६३ आयुर्वर्धनं, ६४ दीर्घायुत्वम्, ६५ अवनं, ६६ अहुरक्षय-

णम्, ६७ दीर्घायुत्वम्, ६८ वेदोक्तं कर्म, ६९ आपः, ७० पूर्णायुः, ७१ वेदमाता, ७२ परमात्मा ।

यह अथर्ववेदके उन्नीसवें काण्डमें सूक्तक्रम है । यह विषयवार नहीं है । इसका विषयवार संग्रह किया जाय तो ऐसा बनेगा—

यज्ञ—

१ यज्ञः, ५८-५९ यज्ञः, ४२ ब्रह्मयज्ञः,

आपः—

२, ६९ आपः,

सुरक्षा—

१४-१६ अमयं, १७-१८, १९, २०, २७ सुरक्षा, ६५ अवनम्,

शान्तिः—

९-११ शान्तिः,

दीर्घायुः—

६१ पूर्णायुः, ६३ आयुर्वर्धनं, ६४ दीर्घायुर्वर्धनं, ६५ दीर्घायुर्वर्धनं, ७० पूर्णायुः,

मणिधारणं—

२६ हिरण्यधारणं, २८-३० दर्भमणिः, ३२-३३ दर्भः, ३१ औदुम्बरमणिः, ३४-३५ अश्विनमणिः, ३६ अस्तुतमणिः, ४६ अस्तुतमणिः, ४५ आश्विनमणिः,

रोगनाशनं—

३८ यक्षमनारानं, ३९ कुट्टनाशनम्, ४० मेघा, ४१ राष्ट्रं बलं ओजस्य, ४२ ब्रह्मपत्नः, ४३ ब्रह्मा, ४४ मेघज्यम्, ४५ आत्रनम्, ४६ अस्तुतमणिः, ४७-५० रात्रिः, ५१ आत्मा, ५२ कामः, ५३-५४ कालः, ५५ रायशोषप्रतिः, ५६-५७ दुष्प्रनाशनम्,

राष्ट्रम्—

४१ राष्ट्रं, ४१ राष्ट्रं बलप्रतिः, ४२ ब्रह्मपत्नः, ४३ ब्रह्मा, ४४ मेघज्यम्, ४५ आत्रनम्, ४६ अस्तुतमणिः, ४७-५० रात्रिः, ५१ आत्मा, ५२ कामः, ५३-५४ कालः, ५५ रायशोषप्रतिः,

ईश्वर—

३ जातवेदा, ५ जगतो राजा, ६ जगद्बीज पुरष,
२२, ४३ ब्रह्मा, ५१ आत्मा, ७२ परमात्मा,

मेधा—

४० मेधा, ७२ वाम, १९ वामं,

कालः—

१२ तया, ४७ ५० रात्रिः, ५३-५४ काल, ७-८
नक्षत्राणि,

वेद—

२१ छंदमि, २३ अथर्वानि, ६८ वेदोक्तं कर्म, ७१
वेदमाता,

सर्वमियत्वं—

१२ सर्वप्रियत्वं,

अंगानि—

६० अंगानि, ४ आकृति ।

इत तरह वर्गीकरण किया जाय तो एक तरह विचारके सूत्र एक स्थानपर मिल सकते हैं और एक स्थानपर एक विषयके सूत्र मिलनेसे अर्थ भी ठीक तरह हो सकता है । अध्ययन भी शीघ्र हो सकता है ।

यह देवल उधोसर्वे काण्डके विषयमें ही है ऐसी बात नहीं, पर अथर्ववेदके १३ से १८ तथा २० वां काण्ड ये सब काण्ड छोड़ दिये जाय तो बाकीके काण्डोंके सूत्रोंके विषयवार ही बांटना चाहिये । यह अत्यंत आवश्यक बात है । पाठक इसका अधिक विचार करें ॥

१९ वें काण्डके समापित

अमय

इदमुद्धेयोऽवसानमागां (१९।१७।१)— इस कल्याणके अर्थके मैं पहुंचा हू ।

शिशे मे धावापृथिवी अमूतां— मेरे लिये धावा-पृथिवी इत्यादि करनेवाले हो ।

असोर्तानां प्रदिशा मे भवन्तु— दिशा उपदिशाएं मेरे लिये शीघ्र रहित हो ।

न च त्वा द्विभ्यः— हम तेरा द्वेष नहीं करते ।

अमयं नो अस्तु— हमारे लिये अमय हो ।

यत इन्द्र भयामहे ततो नो अमयं कृधि (१९।१५।१)— हे इन्द्र ! जहसि हमें मय लगता है, वहासि हमारे लिये

निर्मयता करे ।

रथं न ऊतिभिः नि द्विषो विमृधो जहि— तू अपनी रक्षाके सामर्थ्यसे हमारे द्वेषियों और शत्रुओंका नाश कर ।

अयं अनुराध इन्द्रं हयामहे (१९।१५।२)— हम अनुकूल सिद्धि देनेवाले इन्द्रकी स्तुति करते हैं ।

अनुराध्यास द्विषा वतुष्पदा— हम द्विषाओं और वतुष्पादोंसे अनुकूलता प्राप्त करें ।

मानः मेना अरुण्योरुपगुः— अनुशर सेनाएं हमारे पास न आ जाय ।

विपूचीन्द्रिद्रुहो विनाशय— हे इन्द्र ! शत्रुसेनाओं चारों ओरसे विनष्ट कर ।

इन्द्रव्रातोत वृत्रहं परस्फानो वरेण्यः (१९।१५।३)— इन्द्रसह, शत्रुनाशक, शत्रुभेदक और श्रेष्ठ है ।

स रक्षिता चरमता, स मध्यतः, स पश्चात्, स पुरस्तातो अस्तु— वह हमारा दूरसे, मध्यसे, पीछेसे, आगेसे रक्षक हो ।

उप लोकमनुनैपि विद्वान् (१९।१५।४)— तू जानता हुआ हमें विद्याल कार्यस्थानमें ले जाता है ।

स्वयंज्योतिरभयं स्वस्ति— जहां आत्मज्योति और निर्भयता है ।

उमा त इन्द्र स्वचिरस्य याह— तुम समयके पाहू बड़े तप है ।

उप क्षयेम शरणा बृहन्ता— हम तेरे बड़े आश्रयमें रहेंगे ।

अमयं नः करत्यन्तरिक्षं (१९।१५।५)— अन्तरिक्ष हमें निर्भय करे ।

अमयं धावापृथिवी उमे इमे— ये दोनों धावापृथिवी हमें निर्भय करें ।

अमयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु— पीछेसे, आगेसे, ऊपरसे, नीचेसे हमें अमय हो ।

अमयं मित्रादभयममित्रात् (१९।१५।६)— मित्रसे और अमित्रसे हमें अमय हो ।

अमयं ज्ञातादभयं पुरोयः— जाने हुएसे और जो जानने है उससे अमय हो ।

अमयं नक्तमभयं दिवा नः (१९।१५।६)— रात्रोंमें तथा दिनमें अमय हो ।

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु— सब दिशाएं मेरे मित्र हो ।

असपत्नं पुरस्तात्पश्चाच्चो अमयं कृतम् (१९।१६।१)-
आगसे और पीछेसे हमें शत्रुहित अमय हो ।

दिवो मादित्या रक्षन्तु (१९।१६।२)- शुक्रोक्थे
आदित्य मेरी रक्षा करें ।

भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म- भूतोंको बनानेवाले
सब ओरसे मेरा कवच बनें ।

स मा रक्षतु, स मा गोपायतु, तस्मा आत्मानं परि
ददे (१९।१७।१-१०)- वह मेरा रक्षण करे, वह
मेरा पालन करे, उसके पास मैं अपने आपको देता हूँ ।

अग्निं ते यस्तुयन्तमृच्छन्तु ये माघायवः प्राच्या
दिशोऽग्निदासात् (१९।१८।१-१०)- बधु-
वान् अग्नि को वे प्राप्त हों जो पापी पूर्व दिशासे हमें दास
बनाते हैं । इस तरह सब दिशाओंकि विषयमें है ।

सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु (१९।१९।१-११)-
वह आपको सुख और मुर्खा देवे ।

अप न्यधुः पौरुषेयं वर्धं (१९।२०।१)- पुरुष्ये प्राप्त
होनेकाला बध दूर हो ।

पूषास्मान् परिपातु सृत्योः- पूषा हमें सृत्युसे रक्षा करें ।

तानि मे घर्माणि बहुलानि सन्तु (१९।२०।२)- वे
कवच मेरे लिये बहुत हों ।

इन्द्रो यच्छ्रे वर्म तदस्मान्पातु विश्वतः (१९।२०।३)-
इन्द्रने जो कवच किया है वह हमें चारों ओरसे सुरक्षित
रखे ।

वर्म मे घावापृथिवी (१९।२०।४)- घावा पृथिवी मेरा
कवच बनें ।

मा मा प्रायत्प्रतीचिका- मुझे विरोधी प्राप्त न हो ।

वृषा त्वा पातु वाजिभिः (१९।२०।५)- बलवान्
बलवानोंके साथ तेरी रक्षा करें ।

गोप्सून् कल्पयामि ते (१९।२०।६)- तेरे लिये मैं
रक्षण करता हूँ ।

मा प्राणं मायिनो दधन् (१९।२०।७)- कपटी शत्रु
मेरे प्राणको न दहावें ।

आयुषायुः कृतां जीव (१९।२०।८)- आयु बढ़ानेवालोंकी
आयुसे जीवित रह ।

आयुषमान् जीव, मा मृथा- दीर्घायु होकर जीवित रह,
मत् मर जा ।

प्राणेनात्मन्वर्ता जीव, मामृत्योरुदगाहशम्-
आत्मावालोंके प्राणसे जीवित रह, मृत्युके वशमें न जा ।

यश्चिरण्यं तेनायं कृणवद्दीर्याणि- जो सुवर्ण है, उससे
यह बल बनाता है ।

असपत्नं पुरस्तात्पश्चाच्चो अमयं कृतम् (१९।२०।१४)-
आगसे और पीछेसे हमारे लिये निःशत्रुता तथा अमय हो ।

अव तां जहि हरसा (१९।२१।१)- उनको अपने
तेजसे सुरक्षित रख ।

अविभ्यदुद्रोऽर्चिषा-न बरता हुआ अपने तेजसे शूर बन ।

उपा

अया देवाहितं वाजं सनेम (१९।१३।१)- इस उपासे
देवोंका हित करनेवाला बल प्राप्त करेंगे ।

मदेम शतहिमः सुधीराः- उत्तमं धीर बनकर सौ हिम-
काल आनन्दसे रहेंगे ।

अपनी शक्ति

श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्तु (१९।५८।१)-
कान, आंख और प्राण हमारा छिन्नविच्छिन्न न हो ।

अच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः- हम आयुष्य और तेजसे
अविच्छिन्न रहें ।

प्राणः अस्मान् उपह्वयताम् (१९।५८।२)- प्राण हमारा
आदर करे ।

उप वयं प्राणं हवामहे- हम प्राणोंका आदर करें ।

वर्चो गृहीत्वा पृथिवीं अनु सं चरेम (१९।५८।३)-
तेज प्राप्त करके पृथिवीपर संवार करेंगे ।

ईश्वर

रथिमस्मासु छेहि (१९।३।३)- घन हमें दे ।

यतो भयममयं तन्नो अस्तु (१९।३।४)- जहाति भय
है वहामें हमें निर्भयता हो ।

इन्द्रो राजा जगतश्चर्यमोतां अधि क्षमि विपुरुषं
यदस्ति (१९।५।१)- जो कुछ विविध रूपवाला
इस पृथिवीपर है उसका तथा स्थावर जंगम सबका इन्द्र
ही राजा है ।

सहस्रायुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । स भूमिं
विश्वतो वृत्वा अत्यतिप्रदद्यांगुलम् (१९।६।१)-

द्वारों बाहुओं, आँखों और पाँवोंवाला एक पुरुष है, वह शृणिकोंके चारों ओर व्यापकर दशांगुल विषसे बाहर माँ है ।

पुरुष मयेदं सर्वे यद्भूतं यच्च भाव्यं, उत अमृततृष्ये-
श्वरः (१९।६।४)— जो भूलकालमें हुआ, जो वर्त-
मान कालमें है, और जो भविष्यमें होगा वह सब पुरुष
ही है, वही अमृतत्वका अधिपति है ।

प्राहणोऽस्य मुखमासीद्ब्राह्म राजन्योऽभवत् । मध्ये
तदस्य यद्वेदयः पद्भ्यां शूद्रेऽजायत (१९।६।९)—
ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उसके सिर, बाहू, पैद
और पाँव हैं ।

अयुतोऽहं, अयुतो म आत्मा (१९।५।११)— मैं पूर्ण
हूँ, मेरा आत्मा पूर्ण है ।

अयुतं मे चक्षुः अयुतं मे श्रोत्रं— मेरा आँख और कान
पूर्ण हैं ।

अयुतो मे प्राणो, अयुतो मेऽपानः— मेरा प्राण और
अपान पूर्ण हैं ।

अयुतो मे व्यानो, अयुतोऽहं सर्वः— मेरा व्यान पूर्ण
है, मैं सब पूर्ण हूँ ।

वेद

यस्मात्कोशादुद्भ्रमरा वेदं. तस्मिन्नन्तरय दध्म पनम्
(१९।७२.१)— जिस पेटोसे हमने वेद बाहर निकाले
उस पेटोमें हम फिर उनको रखते हैं ।

कृतमिदं ब्रह्मणा धीर्येण— मंत्रोंकी वीर्यसे इष्ट कर्म किया ।
तेन मा देवास्तपसावतेह— उस तपसे सब देव मेरी
रक्षा करें ।

ब्रह्म

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता धीर्वाणि (१९।२३।३०)— ज्ञानके
श्रेष्ठत्वसे पराक्रम करनेकी शक्ति बढ़ती है ।

उद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृणुमहे (१९।६।८।१)— वेदको
उठाकर हम कर्म करते हैं ।

व्यायुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मयज्ञसं मह्यं
दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् (१९।७।११)— वायु,
प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन, ज्ञानका बर्चस मुझे दे
और ब्रह्मलोकको जा ।

सर्वप्रियत्व

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु । प्रियं सर्वे-
स्य पश्यत उत शूद्र उतायें (१९।६।२।१)—
मुझे देवोंमें प्रिय कर, राजाओंमें मुझे प्रिय कर, सबको
मैं प्रिय बनूँ, शूद्र और आर्योंमें मैं प्रिय बनूँ ।

अंगानि

अरिष्टानि मे सर्वा, आत्मानिभृष्टः (१९।६।०।२)—
मेरे सब अंग बहूँ हों, मेरा आत्मा उरशाहयुक्त हो ।

काम

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्
(१९।५२।१)— प्रारंभमें काम उत्पन्न हुआ, वह
मनका पहिला वीर्य था ।

त्वं काम सहमासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सखा
आ सखीयते (१९।५२।२)— हे काम ! तू सान-
र्यके साथ मनमें रहता है, तू व्यापक पराश्रमी और
मित्रबन्धु आचरण करनेवालेके साथ मित्र बन कर
रहता है ।

त्वमुद्रः पृतनासु सासदिः सह बीजो यजमानाय
घेदि (१९।५२।२)— तू उत्तरीय, युद्धमें साहस
बतानेवाला यजमानके लिये सानर्ष्य और शक्ति दे ।

शर्म्य (सुख)

प्रजापतिः प्रजामिरुदकामर्त्तां पुरं प्रणयामि च,
तामाचिशत तां प्रविशत सा चः शर्मं च वर्मं
च यच्छतु (१९।१९।११)— प्रजापति प्रजाओंके
साथ उल्लसत हुआ, उस कालमें मैं तुम्हें ले जाता हूँ,
उसमें जाओ, उसमें प्रवेश करो, वह आपकी सुख और
संरक्षण देवे ।

काल

कालो भूतिमखृजत (१९।५३.६)— कालने सृष्टि
बनायी है ।

कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः (१९।५३।७)—
योग्य काल आनेपर सब प्रजा आनन्दित होती हैं ।

कालो ह सर्वस्येश्वरः (१९।५३।८)— काल सबका
स्वामी है ।

कालः प्रजा असृजत (१९५३१०)— काल प्रजाको उत्पन्न करता है ।

नक्षत्राणि

मनैतानि शिवानि सन्तु (१९५०११)— मेरे लिये वे नक्षत्र कल्याण करनेवाले हों ।

अशर्विणानि शिवानि दान्मानि सहयोगं मजन्तु मे (१९५०१२)— अष्टादश नक्षत्र मेरे लिये कल्याणकारी और पुत्र हो और मेरे साथ उत्तम सहयोग करें ।

स्वस्ति नो अस्तु, अमयं नो अस्तु (१९५०१७)— हमारा कल्याण हो, हमारा अमय हो ।

कवच

वर्ना सीव्यध्वं बहुला पृथ्वि (१९५०१४)— कवच बहुत और बड़े सोओ ।

अया धाञ्जं देवाहितं सनेम (१९५३११)— इससे देवोंका हित करनेवाला बल हम प्राप्त करें ।

कौले

पुरः हृषुध्वं आयसीरपृष्टाः (१९५०१४)— नगर से-देहे कौलेके शत्रुके अधीन न होनेवाले बनाओ ।

मा वः सुश्रोत्रमसो दंढता तं (१९५०१४)— दुम्हारे बर्तन न चूरे, उनको दुम्ह बनावो ।

गोशाला

वज्रं हृषुध्वं, स हि वो नृपाजः (१९५०१४)— गोशाला बनावो और वह दुम्हारे मानवोंका दूध पीनेका स्थान हो ।

जल

ता अपः शिवाः (१९५३५)— वह जल कल्याण करनेवाला है ।

अपोऽप्यहमं करणीः— जल रोग दूर करनेवाला है ।

यद्यैव तृप्यते मयः, तास्तु आ दत्ते मेघजाः— जिससे मुझ बड़ेगा, वैसा यह जल तुम्हें अपूर्वो रूप बनेगा ।

निपगम्ये भिषक्तारा आपः (१९५३३)— वैद्यके लिये यह जल अधिक रोग नाश करनेवाला होगा है ।

जीवाः स्य (१९५३११)— जल जीवन देनेवाला है ।

अपजीवाः स्य— करीब करीब जीवन देनेवाला जल है ।

संजीवाः स्य— सम्मत्तया जीवन देनेवाला जल है ।

जीवलाः स्य— जीवन शक्तिसे युक्त जल है ।

जीवयाद्यं सर्वमायुर्जाव्यासम्— हम जीवने, पूर्ण आयु-तक जीवित रहेंगे ।

पुष्टि

औदुम्बररो वृषा मणिः सं मा सृजतु पुष्टया (१९३११२)— अं दुम्बर मणि बलवान् है वह मुझे पुष्टि देवे ।

औदुम्बरस्य तेजसा घाता पुष्टिं दधातु मे (१९३११३)— औदुम्बर मणिदे तेजसे घात मुझे पुष्टि देवे ।

पयः पशुनां रसमोरघानां वृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् (१९३११५)— पशुओंसे दूध और ऋषिब्रह्मोंका रस शानपति सविताने मुझे दिया है ।

तेजोऽसि तेजो मयि धारय (१९३११३)— तू तेज है, मुझमें तेज धारण कर ।

रयिरसि रयिं मे धेष्टि— तू धन है, मुझे धन दे ।

पुष्टिरसि पृष्टया मा समरिषि (१९३११३)— तू पुष्टि है, मुझे पुष्ट कर ।

रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् (१९३११४)— सब वीर पुत्रोंके साथ धन हमें दे ।

मेधा

दग्मे छिद्रं मनसो यच्च वाच सरस्वती मनुमन्तं जगाम (१९४०११)— जो मेरे मनमें और वषीमें दोष है, दिया कौबो पुष्टिके पाम गयी है (उससे यह दोष हुआ है) ।

विश्वैस्तेद्वैः सह संविदानः सं दधातु वृहस्पतिः— सब देवोंकी सहाय्यमें वृहस्पति उस दोषको दूर करें ।

मा न आपो मेधां मा प्रश्न प्रथयिष्टन (१९४०१२)— हमनारे मेधाके, तथा ज्ञानको जल बिनष्ट न करे ।

अहं सुमेधा वर्तस्वी— मैं उत्तम बुद्धिवान् और तेजस्वी बनूं ।
मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः (१९४०१३)— मेरी मेधा, दीक्षा और जो तप है उच्छा नाश न हो ।

शिवा नः सन्त्वायुषे शिवा भयन्तु मातरः— यह जल हमारी आयुके लिये कल्याणकारी हो, जो माताएं हमें सुख दें ।

दीर्घ आयु

सर्वमायुरशीय (११।६।११) — मैं पूर्ण आयुको प्राप्त करू।
आयुः प्राणं प्रजां...वर्धय (११।६।३१) — मेरी अथु
प्राण और प्रजाको बढ़ा।

आयुरस्मात्तु घेहि (११।६।४१) — हमें आयुष्प दे।
जीवेम शरतः शते (११।६।५१) — हम सौ वर्ष जँडे।
भूयतीः शरदः शतात् (११।६।७१) — ती वर्षोंसे भी
अधिक जँवे।

जीव्यासमहं — (११।७।१) — मैं जीवित रहूँ।
सर्वमायुर्जीव्यासं — संपूर्ण आयु तक जीवित रहूँ।
जरामृत्युर्भवति यो विभर्ति (११।७।११) — जो
[शरीर पर दुर्बलके] धारण करता है उसको श्वा-
वस्थाके पश्चात् मृत्यु होता है।

आयुष्मान् भवति यो विभर्ति (११।७।२१) — जो
दुर्बल धारण करता है वह दीर्घायु होता है।

आयुषे स्वा वर्धसे त्वा भोजसे च यथाय च
(११।७।३१) — दीर्घायु, तेज, सामर्थ्य और बलके
लिये (दुर्बलके) धारण करता हूँ।

तत्त आयुष्यं भुवत्, तत्ते वर्चस्यं भुवत् (११।७।४१) —
वह सुवर्ण तुझे आयु बढ़ानेवाला हो, तेज बढ़ानेवाला हो।

इदं वर्धनामि ते मणि दीर्घायुस्वाय तेजसे
(११।७।५१) — इस मणिको तेरे शरीर पर दीर्घायु
और तेजके लिये बांधता हूँ।

तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे मर्त्या अहुः (११।७।६१) —
सब देव उस तुझे श्वावस्था तक मरण-पोषणके लिये
देते हैं।

त्यया सहस्रकाण्डेन आयुः प्रवर्धयामहे (११।७।७१) —
तुझ सहस्र काण्डवालेके द्वारा हम अपने आयु बढ़ाते हैं।

देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः (११।७।८१) —
दिव्य मणि हमें दीर्घ आयु देवे।

यज्ञः

इमं यद्यं गिरा वर्धयन्त (११।१।१) — इस यज्ञका वर्णन
हमारा वाणिज्य करे।

इमं यद्यं अवत (११।१।२) — इस यज्ञकी रक्षा करो।

रूपं रूपं वयो वयः संरभ्य यनं परिष्वजे (११।१।३) —
रूप और वयके अनुसार इस यज्ञको हम सुरक्षित
रखते हैं।

यद्यमिमं चतस्रः प्रदिशाः वर्धयन्तु (११।१।४) — इस
यज्ञको चारों दिशाएँ बढ़ावे।

समना सदेवाः (११।५।१) — एक विचारवाले दिव्य
भावके दही बँडे।

यद्यस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुंसे च (११।५।५) — यद्यका
यह आँसु तथा मूत्र सुख है।

वाचा ध्रोत्रेण मनसा जुहोमि — वाणी, कान और मनसे
हवन करता हूँ।

इमं यद्यं विततं विश्वकर्मणा (११।५।५) — इस
यज्ञका विश्वकर्मने विस्तार किया।

देवा यन्तु सुमनस्यमानाः — उत्तम प्रयत्न मनवाले देव
इस यज्ञके पास जाय।

इमं यद्यं सद्यपनांभिरित्य (११।५।६) — इस यज्ञके
प्रति परमके साथ जाओ।

त्वं... व्रतपा असि (११।५।११) — तू व्रतका पालक है।

यद्दो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां (११।५।१२) —
यदि हमने आप विद्वानोंके व्रत तोड़े हैं।

अग्निष्ट्व विश्वाहा पूणान्तु — अग्नि वह शेष दूर करे।
वा देवानामपि पंधामगन्मः (११।५।१३) — हम
देवोंके मार्गपर आ गये हैं।

यच्छपनयाम तदनु प्रवोदुम् — यदि समर्थ हुए तो उस
यज्ञ मार्गसे आगे बढ़ायें।

सोऽध्वरार स कर्तु कल्पयाति — वह अधिष्ठाक
कर्मोंके और कर्मोंको वह बढ़ाता है।

प्रह्य यद्यस्य तस्यै (११।४।२) — ज्ञान ही यज्ञमें सुख्य
तत्त्व है।

अंहोमुचे प्र मरे मनीषां (११।४।३) — पापसे छुड़ाने-
वालिनी प्रवंधा गाते हैं।

सुभ्रावणे सुमतिं वावृणानः — उत्तम रक्षा करनेवालेके
विषयमें उत्तम बुद्धि धारण करते हैं।

सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः (११।४।३) —
यज्ञमार्गकी कामनाएँ सत्य हों।

रात्री

अदिष्टासस्त उर्विं तमस्वति रात्रि पारमशीमहि
(१९।४७।२) — न विनष्ट होते हुए हम, हे वही

अन्वेषी रात्रिं । हम पार होंगे ।

तमिनो अथ पायुभिः नु पाहि (१९।४७।५) — उन
रक्षकसे हमारा रक्षण हो ।

रक्षा माकिः (१९।४७।९) — हमारी रक्षा कर ।

मा नो अथशंस ईशत-पापी हमारे ऊपर स्वामित्व न करे।

मा नो दुःशंस ईशत-दुष्ट कीर्तिवाला हमपर स्वामित्व
न करे।

परमेभिः परिभिः स्तेनो धावतु तस्करः (१९।४७।७) —
बड़े मार्गसे चोर और डाकू दौड़ जाय ।

परेणाघातुर्यतु — पापी दूरसे भाग जाय ।

त्वयि रात्रि घत्तामसि स्वपिष्यामसि जागृहि
(१९।४७।९) — हे रात्री ! तैरे अन्दर हम रहेंगे,
घोसोंगे, तू आगती रह ।

त्वं रात्रि पाहि नः (१९।४८।३) — हे रात्रि ! तू हमारी
रक्षा कर ।

गोपाय नो विमावरि (१९।४८।४) — हे तेजस्विनी
रात्रि ! हमारी रक्षा कर ।

सा नो विचेऽधि जाग्रहि — यह तू हमारे धनके लिये
जागती रह ।

अस्मां प्रायस्व नर्याणि जाता (१९।४९।३) — हमारी
रक्षा कर, मानवोंका हित करनेके लिये तू उत्पन्न हुई है ।

असाम सर्वधीरा भवाम सर्ववेदसः (१९।४९।६) —
सर्व वीरोंसे और सर्व धनोके युक्त हम हों ।

यो अथ स्तेन आयात्यघातुर्मर्त्योऽरिभुः । रात्री तस्य
प्रतीत्य प्र गीवाः प्र शिरो हनत् (१९।४९।९) —
जो चोर पापी शत्रु आज आ रहा है रात्री उसका गला
और शिर काटे ।

प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिपत् ।
यो मलिन्धुरुपायति संपिष्टो अपायति
(१९।४९।१०) — पाँवोंकी कटौ, हाथोंकी तोड़ दे, जो
पापी हमारे सभीष आ प्राय वह पीडा जाकर बापस हो ।

रात्रिं रात्रिं अरिभ्यन्त तरेम तन्वा धर्यं (१९।५०।३) —
प्रत्येक रात्रीमें विनष्ट न होते हुए हम अपने शत्रुसे
सुरक्षित रहेंगे ।

गम्भीरमपुत्रा इव न तरेयुररातयः — गंभीर जला-
शयसे पापी न पार हो जैसे विष्णु नौकाके [लोग पार
नहीं होते ।]

एव ! रात्रिं प्र पातय यो अस्मां अभययायति (१९।५०।४)
हे रात्रि ! जो हमपर भावा करता है उससे गिरा दे ।

राष्ट्र

तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय घत्तन (१९।२४।१) — हे
ब्रह्मणस्पते । उस शक्तिसे उसको राष्ट्रके लिये धारण कर ।

आयुधे महे क्षत्राय घत्तन (१९।२४।२) — दीर्घायु
तथा बड़े क्षत्रवर्णके लिये धारण करो ।

एनं जरसे नयां — इसको इन्द्रावस्थातक ले चलो ।

घर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः (१९।२४।४) —
तेजसे इसको जराके पथात् मृत्यु आजाय, इसको दीर्घायु
करो ।

जरां गच्छ (१९।२४।५) — इन्द्रावस्थाको प्राप्त हो ।

भवा गृहीतामभिशाक्तिया उ — प्रजाओंको विनाशसे
बचानेवाला हो ।

शतं च जीव शरदः पुरुचीः, ससृमि चारुविं भजासि
जीवन् (१९।२४।६) — अति दीर्घ ऐसे सौ वर्ष
जीवित रह और जीवित रहनेपर धनोंको बांट ।

हिरण्यवर्णो वज्ररः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं
विशस्व (१९।२४।८) — सुवर्ण जैसा रंगवाला,
अरारहित, उत्तम वीर, जराके पथात् मृत्युवाला होकर
अपनी प्रजाके साथ रहकर आराम कर ।

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वविदः तपो दीक्षामुपसे
दुरध्रे । ततो राष्ट्रं धलमोजञ्च जातं तदस्मै देवा
उप सं नमन्तु ॥ (१९।२४।९) — जनताका कल्याण
करनेका इच्छा करनेवाले ऋषियोंने पहिले तप किया
और दीक्षा ली । उससे राष्ट्र बल और भोज हुआ इस-
लिये सब ज्ञानी इस राष्ट्रके धामने शुक जाय ।

जयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरंकिनो ये
धरन्ति । तांसे रन्धयामि हरसा। (१९।६९।१)
जो अदुर लोहके जाल और लोहके पाश लेकर संचार
करते हैं, उनको मैं विनष्ट करता हूँ ।

सहस्रक्रथिः सपत्नान् प्रमुण्यन्पाहि वज्रः — हजार
नौकावाला वज्र शत्रुओंको मारे और हमारा रक्षण करे ।

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभण
 श्रृषणीनाम् (१९१३१२)— त्वराशाल, होड़ण,
 बलके समान भयंकर, शत्रुको मारनेवाला मनुष्योंको
 हिलानेवाला बर है ।

संक्रन्दनोऽनिमिष परवीरः शतं सेना अजयत्—
 ललकारनेवाला, परतें भी न शरदनेवाला अद्वितीय वीर
 सौ सेनाओंको जीतता है ।

वलविहायः स्वविरः प्रवीरः सहस्रान् धात्री सह
 मान उग्र. (१९१३१५)— अपने और शत्रुके बलको
 जाननेवाला, युद्धमें स्थिर रहनेवाला, बडा बर, साहसी,
 बलिष्ठ, उग्र शूर और शत्रुका पराजय करनेवाला है ।

अभिधीरो अभिपत्या सहाजित्— विशेष बर, सत्त्व-
 वान् और बलमें शत्रुको जीतनेवाला शूर होता है ।

दर्म घोरमनु हर्षघ्नमुग्रं (१९१३१६)— इस उग्रबराका
 हर्ष बडाभी ।

प्रामजित गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्जम प्रमृणन्त
 मोजसा (१९१३१६)— प्रमद्या विजेता, गेओंको
 जीतनेवाला वज्रबाहु विजयी और अपनी शक्तिके शत्रुको
 मारनेवाला वीर है ।

दुश्च्यवनः पृतनापाड्योद्योऽस्माकं सेना अघतु
 प्रयुस्तु (१९१३१७)— जो हिल नेके लिये अशक्य,
 शत्रुसेनाका पराभव करनेवाला, जिसके साथ युद्ध करना
 अशक्य है, वह युद्धमें हमारी सेनाकी रक्षा करे ।

रक्षोहामित्रां अपपाघमानः (१९१३१८)— राक्षसोंको
 मारनेवाला शत्रुको बाधा पहुंचाता है ।

प्रभञ्जन् छद्मन्, प्रमृणन्मित्रान् अस्माकमेघ्यधिता
 तनूनाम् (१९१३१८)— शत्रुका नाश करता हुआ,
 अभिग्राहक वध करके, हमारे शरीरोंका रक्षक है ।

अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु (१९१३१९)— हमारे
 वीर ऊंचे हो जाय ।

अहमान् देवासोऽवता ह्वेषु— देव युद्धोंमें हमारी रक्षा करे ।
 वर्च मा घेहि मे तर्वा सह औजो घयो घलम्
 (१९१३१९)— मेरे शरीरमें तेज, सामर्थ्य, पराक्रम,
 शक्ति और बल स्थापन कर ।

ऊर्जे त्वा घलाय त्वौजसे सहसे त्वा । अभिभूया-
 य त्वा राष्ट्रभूयाय पर्युहामि शतशारदाय

(१९१३१९)— शक्ति, बल, सामर्थ्य, साहस, शत्रुध-
 पराजय, राष्ट्रसेवा और सौ वर्षकी अ दुर्क लिये तुझे मैं
 पशुना हूँ ।

सम्य ! सर्वां मे पाहि ये च सज्याः समासद्ः
 (१९१५५५)— हे सम्य ! मेरी समझका रक्षण कर,
 और सभ्य समाजद ईश्वर भी समझी रक्षा करे ।

रोगनाशन

न तं यक्ष्मा अरुन्धने (१९१२८१)— रोग उसको
 रोकना नहीं ।

विष्वक्त्रस्त्रमाद्यक्ष्मा मृगा अश्व्या ह्वेषते (१९१३८१)
 जेत मृग और घेजे भाग जाते हैं वैधे रोग उससे भाग
 जाते हैं ।

तफमानं सर्वे नाशय, सर्वाश्च यालुघान्यः (१९१३९१)
 सब रोगोंका नाश कर, दातना देनेवालोंका नाश कर ।

स-हुष्टो विश्वमेपजः (१९१३९५)— वह दुष्ट सब
 अपविष्य दुक है ।

एवा दुष्पुण्यं सर्वमभिये सं नयामसि (१९१५०१)—
 इस तरह सब दुष्ट स्त्रम अभियेके पास ले जाते हैं ।

स म म यः पापस्तद् द्विपते प्र द्विषमः (१९१५०३)—
 जो मेरेमें पाप है वह द्वेष करनेवालेके पास भेजते हैं ।

आयुषोऽसि प्रतरणं (१९१५०९)— तू आयुष्का
 बढानेवाला है ।

प्राण प्राणं प्रायस्व (१९१५१४)— हे प्राण ! प्राणकी
 रक्षा कर ।

निर्क्षते निर्क्षत्या नः पाशेष्यो मुख— हे दुर्गति ! दुर्ग-
 तिके पाशोंसे हमें छोड़ ।

मुख न पर्यहसः (१९१५१८)— पापसे हमें बचाओ ।
 शत्रुनाश

दर्मे सपत्नर्दमनं द्विषतस्तपनं हृद्- (१९१२८१)—
 यह दर्मभंगि शत्रुको दबानेवाला और द्वेष करनेवालोंके
 हृदयको तपानेवाला है ।

द्विषतस्तापयन्हृद्ः, शत्रूणां तापयन्मनः (१९१२८१)—
 द्वेष करनेवालेके हृदयोंको ताप देता है, और शत्रुओंके
 मनको तपता है ।

दुर्हादः सर्वास्त्वं दर्मं धर्म इषामि संतापयन्— दुष्ट
 हृदयवाले सब शत्रुओंको, हे दर्म ! गर्माके समान ताप दे ।

धर्म इवामितपन् दर्मं द्विपतः (१९१२८३)— धर्मके समान, हे धर्म ! द्वेष करनेवालोंको तथा ।

हृदः सपत्नानां भिन्धि— शत्रुओंके हृदयोंको तोड़ दे ।

भिन्धि दर्म सपत्नानां हृदयं द्विपतां मणे (१९१२८४)
हे धर्ममणे ! शत्रुओं और द्वेष करनेवालोंके हृदय तोड़ दे ।

शिर पर्यां विपातय— इन दुष्टोंका शिर गिरा दे ।

भिन्धि दर्म सपत्नान् (१९१२८५)— हे धर्म ! शत्रु-
ओंको तोड़ दे ।

भिन्धि मे पृतनायतः— मुझपर केन्द्र भेजनेवालेको तोड़ दे ।

भिन्धि मे सर्वान् दुर्हादः— सब दुष्ट हृदयवालोंको तोड़ दे ।

भिन्धि मे द्विपतो मणे— हे मणे ! द्वेष करनेवालोंको तोड़ दे । ऐसे ही ९-१० मंत्रमें वाक्य हैं । ऐसे ही १९१२९ में वाक्य है ।

तेनेन धर्मिणं कृत्वा सपत्नान् जहि वार्यैः (१९१३-११)
वक्र शक्तिसे इसको क्वचशला करके अपने बंधोंके शत्रुको पराभूत कर ।

त्वं राष्ट्राणि रक्षसि (१९१३-१३)— तू राष्ट्रोंका रक्षण करता है ।

मणि क्षत्रस्य वर्धने (१९१३-१४)— यह मणि क्षात्र-
तेजको बढ़ाता है ।

वनूपानं कृणोमि ते— मैं तेरे शरीरका रक्षक (इस
मणिको) बनाता हूँ ।

त्वमसि सहमानः सहमस्मि सहस्वान् (१९१३-१५)—
तू साहस युक्त हो, मैं साहस करनेवाला हूँ ।

बभौ सहस्वन्तौ भूच्या सपत्नान् सहिपीवहि— हम
दोनों बलवान् होकर शत्रुओंका पराभव करेंगे ।

सहस्व नो अभिमार्ति, सहस्व नो पृतनायतः
(१९१३-१६)— हमारे शत्रुका और हमपर केन्द्र
करनेवालेका पराभव कर ।

सहस्व सर्वान् दुर्हादः— सब दुष्ट हृदयवालोंका पराभव कर ।

सुहादो मे बहून् हृधि— वक्रम हृदयवाले मेरे बहुत मित्र का ।

स नोऽयं दर्मः परिपातु विश्वतः (१९१३-१७)—
यह धर्ममणि हमारी सब ओरसे रक्षा करे ।

तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः— वक्रके हमपर भेजने-
वालोंके केन्द्र पराभव करेगा ।

स नोऽयं मणिः परिपातु विश्वतः (१९१३-१७)—
यह यह मणि हमारी चारों ओरसे रक्षा करे ।

नुदन्सपत्नानघरांश्च कृण्वन् (१९१३-१८)— शत्रु-
ओंका दूर कर और उनको नीचे कर ।

त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत् । (१९१३-१९)— तू हमसे
पापोंको दूर करके हमें पवित्र करे ।

तीक्ष्णो राजा विषासही रक्षोदा विश्वचर्षणिः
(१९१३-२०)— यह मणि वीर राजा राक्षसोंका वध
करनेवाला, शत्रुका पराभव करनेवाला और सर्व जनोंका
हित कर्ता है ।

ओजो देवानां बलमुग्रमेतत्तं ते यन्नामि जरसे स्वस्त्ये-
यद् देवैका उप बल है, उसको तेरे शरीरपर बांधता
हूँ । इससे तू वृद्धावस्था तक कल्याण प्राप्त करके जायेगा ।

दर्भेण त्वं कृणवद्भीर्याणि (१९१३-२१)— धर्ममणिके
तू अनेक पराक्रम करेगा ।

दर्भं विशद्भ्रतात्मना मा व्यथिष्ठाः— धर्ममणिका धारण
करनेसे तू अपनी शक्ति बढनेके कारण दुःखी न होगे ।

सूर्य इवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः— सूर्यके समान चारों
दिशाओंमें प्रकाशित होता रहे ।

सर्वं रक्षतु जगिडः (१९१३-२२)— जंगिडमणि सबको
रक्षा करे ।

अयो भराति दूषणः (१९१३-२३)— जंगिडमणि शत्रुका
विनाश करता है ।

जंगिडः प्र ष आयुंषि तारिपत्— जंगिडमणि हमारे
दीर्घ आयुष्य करे ।

स जंगिडस्य महिमा परि षाः पातु विश्वतः
(१९१३-२४)— यह जंगिडमणिका महिमा सब
ओरसे हमारी रक्षा करे ।

जंगिडः परिपाणः सुर्मगलः (१९१३-२५)— जंगिडमणि
चारों ओरसे रक्षा करनेवाला और कल्याण करनेवाला है ।

अमीवाः सर्वाश्चानयन् जहि रक्षांसि भोष्ये
(१९१३-२६)— सब रोग दूर कर, तथा सब राक्ष-
सोंको मरा दे, हे भोष्ये !

स नो रक्षतु जंगिडः (१९१३-२७)— जंगिडमणि
हमारी रक्षा करे ।

परिपाणमरातिहम्-- यह जोगदमणि सब प्रकारसे रक्षा करनेवाला तथा शत्रुको दूर करनेवाला है ।

परिपाणोऽसि जंगिडः (१९१३५१३)-- तू जंगिडमणि रक्षक हो ।

शतवारो भर्नानशयक्षमान् रक्षांसि तेजसा (१९१३६११)-- शतवारमणि यक्षमरोग और राक्षसोंका खनेत्रसे नाश करता है ।

वर्धसा सह मणिर्दुर्णामि चातनः-- तैत्रके साथ यह मणि दुष्ट न मवाले रोगोंको दूर करता है ।

शतं वीरानजनयत्-- सौ वीरोंको जन्म देता है ।

शतं यक्षमानपावतम्-- सैबकों रोगोंको दूर करता है ।

दुर्णसिः सर्वाग्दृश्याव रक्षांसि धूनुते-- दुष्ट नामवाले सब रोगोंको नष्ट करके सब राक्षसोंको कंपाता है ।

तत्ते यधामि आयुषे वर्धस जोजले च यलाय चास्तु- तस्त्वाभि रक्षतु (१९१४६११)-- अस्तुतमणि तेरे शरीरपर दोषोंसे, तेज, ओज, बलके लिये बाधता हूँ, वह तेरी रक्षा करे ।

अस्मिन्मणाषेकशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणा अस्मिन्- स्तुते (१९१४६१५)-- इस अस्तुतमणिमें सौ वीर्य हैं और हजार प्राण शक्तियाँ हैं ।

दुर्हादिः पृष्टीरपि शृणाञ्जन (१९१४५११)-- हे अञ्जन ! दुष्ट हृदयवालोंकी पसलियाँ तोड़ ।

आजने दिशः प्रादिशः करच्छिदास्ते (१९१४५१३)-- यह अञ्जन दिशा-उपदिशाएँ तेरे लिये कम्पन करनेवाली करे ।

सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु (१९१४५१४)-- इस अञ्जनसे तेरे लिये सब दिशाएँ निर्भय हों ।

शान्ति

शान्ता न. सप्तधौषधीः (१९१५११)-- सब औषधियों हमें शान्ति देनेवाली हों ।

शान्तं नो अस्तु कृताकृतं (१९१५१२)-- किया और न किया कर्म हमें शान्ति देनेवाला हो ।

ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः (१९१५१३)-- त्रिवधे मयंकर परिणाम होता है वह हमें शान्ति देवे ।

इन्द्रो मे शर्म यच्छतु (१९१५१२)-- इन्द्र मुझे सुख देवे ।

ग्रह्या मे शर्म यच्छन्तु -- ग्रह्या मुझे सुख देवे ।

सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु (१९१५१२)-- सब देव मुझे सुख देवे ।

शं मे अस्तु, अभय मे अस्तु (१९१५१३)-- मुझे सुख हो, निर्भयता मुझे प्राप्त हो ।

सर्वमिय शमस्तु नः (१९१५१४)-- सब मुझे सुख देने-वाला हो ।

शं नः परंन्यो भवतु प्रजाप्यः (१९१०११०)-- हमारी प्रजाके लिये परंन्य सुख देवे ।

शं नः सत्यस्य पतयो मयन्तु (१९१११)-- सत्यके पाठक हमें सुख देनेवाले हों ।

यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः (१९१११५)-- तुम सदा हमें कन्याण साधनोंसे सुरक्षित रखो ।

सर्वमिय

प्रियं मा दर्भं कृणु ब्रह्मराज्न्याभ्यां शूद्राय चार्याय च (१९१३२१८)-- हे दर्भ ! ब्राह्मण, धत्रिय, वैश्य, शूद्रोंको मैं प्रिय बनू ऐसा कर ।

इस तरह इस काण्डमें सुभाषित है। कई सूक्तोंमें सुभाषित अधिक है। समान सुभाषितके वाक्य होनेसे उनमेंसे एक ही वाक्य लिया है। पाठक वहाँके अन्य सुभाषित स्वयं देखें ।

पाठक इस काण्डका अच्छी तरह अध्ययन करके लाभ उठावे ।

अनुवादकर्ता

श्री. दा. सातघलेकर

अध्याय- ' स्वाध्याय-अण्डल '

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

उत्तरीसर्वां काण्ड ।

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१ भूमिका	३	३ अणुबीजः पुत्रयः	५	३९ कुण्डनाशनम्	४०
२ १९ वै वाणके सुमादित-	४	४ नक्षत्राणि	७	४० मेघा	४१
१ अमय	८	८ नक्षत्राणि	८	४१ रात्रं बलमोक्ष	४२
२ त्वा	५	९ शान्तिः	९	४२ ब्रह्मयज्ञः	४२
३ अग्नी शक्ति	५	१० शान्तिः	१२	४३ ब्रह्मा	४३
४ ईश्वर	७	११ शान्तिः	१४	४४ भैषज्यम्	४४
५ वेद	६	१२ शान्तिः	१५	४५ आसनम्	४५
६ ब्रह्म	६	१३ एकवीरः	१५	४६ अस्तुतमणिः	४७
७ सर्वप्रियम्	६	१४ अमयम्	१८	४७ रात्रिः	४८
८ अंगानि	६	१५ अमयम्	१८	४८ रात्रिः	४९
९ काम	६	१६ अमयम्	१९	४९ रात्रिः	५०
१० अर्ध (सुख)	६	१७ मुरझा	२०	५० रात्रिः	५१
११ काल	६	१८ सुरक्षा	२१	५१ आरमा	५३
१२ नक्षत्राणि	७	१९ शर्म	२२	५२ कामः	५३
१३ कवच	७	२० सुरक्षा	२३	५३ कालः	५४
१४ त्रिले	७	२१ उन्दाधि	२४	५४ कालः	५६
१५ योशाला	७	२२ ब्रह्मा	२४	५५ रायस्वोपप्राप्तिः	५७
१६ ब्रह्म	७	२३ अथर्वाणः	२५	५६ दुष्वप्रनाशनम्	५८
१७ पुष्टि	७	२४ रात्रुम्	२६	५७ दुष्वप्रनाशनम्	५९
१८ मेघा	७	२५ अश्वः	२७	५८ यज्ञः	६०
१९ दीर्घ आयु	८	२६ हिरण्यधारणम्	२७	५९ यज्ञः	६१
२० दक्षः	८	२७ सुरक्षा	२८	६० अज्ञानि	६१
२१ रात्री	९	२८ दर्भमणिः	२९	६१ पूर्णाहुः	६२
२२ रात्रु	९	२९ दर्भमणिः	३०	६२ सर्वभित्तम्	६२
२३ रोगनाशन	१०	३० दर्भमणिः	३१	६३ आयुर्वेपनम्	६२
२४ शत्रुनाश	११	३१ औदुम्बरमणिः	३२	६४ दीर्घाहुन्वम्	६२
२५ शान्ति	१२	३२ दर्भः	३४	६५ भवनम्	६३
२६ सर्वाभय	१२	३३ दर्भः	३५	६६ अशुक्लदण्डम्	६३
१ यज्ञः	१	३४ अंगिष्ठमणिः	३६	६७ दीर्घाहुन्वम्	६३
२ भावः	२	३५ अंगिष्ठः	३७	६८ देशेकं कर्म	६३
३ आतेवेदाः	२	३६ शान्तारो मणिः	३८	६९ आपः	६४
४ आश्रितः	३	३७ बलप्राप्तः	३९	७० पूर्णाहुः	६४
५ अग्रेतो राश	४	३८ यक्षनाशनम्	३९	७१ वेदमाता	६४
				७२ परमात्मा	६४





अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

एकोनविंशं काण्डम् ।

(१) यज्ञः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — यज्ञः, चन्द्रमास्य ।)

सं सं स्रवन्तु नर्घः१ : सं वाताः सं पंतत्रिणः ।
 यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्त्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ १ ॥
 इमं होमां यज्ञमवतेमं संस्त्रावणा उत ।
 यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्त्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ २ ॥
 रूपरूपं वयोवयः संरभ्येनं परिं भ्वजे ।
 यज्ञमिमं चर्तस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्त्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥ (३)

(१) यज्ञः ।

अर्थ— (नद्यः सं सं स्रवन्तु) नदिया बहती रहें, (वाताः सं) वायु बहते रहें, (पंतत्रिणः सं) पक्षी चरते रहें । (इमं यज्ञं गिरः वर्धयत) इस यज्ञको हमारी वागिया बढावें । (संस्त्राव्येण हविषा जुहोमि) सुखको प्रवाहित करनेवाले हविषे मैं हवन करता हूँ ॥ १ ॥

मनुष्यकी वागिया यज्ञका भाव समाजमें या राष्ट्रमें बढावें । इसमें सबका कल्याण होया । जैसा नदियोंका प्रवाह चलता रहा, वायु चलता रहा तो मनुष्योंका सुख बढता है, उसी तरह यज्ञ होते रहें, तो मनुष्योंका कल्याण होता रहता है । यज्ञमें (१) विद्वानोंका संस्कार (देवपूजा), (२) संगतिकरण अर्थात् एकता और (३) दान अर्थात् दानोंकी सहायता ये तीन कर्तव्यके भाग मुख्य हैं । इनसे राष्ट्रका कल्याण होता है ।

हे (होमाः) यज्ञो ! (इमं यज्ञं अवत) इस यज्ञकी रक्षा करो । हे (संस्त्रावणाः) प्रवाहो ! (उत इमं) और इस यज्ञकी सुरक्षा करो । हमारी वागियां इस यज्ञका संवर्धन करें । मैं सुखको प्रवाहित करनेवाले हविषे हवन करता हूँ ॥ २ ॥

सब यज्ञकी सुरक्षा करें क्यों कि यज्ञसे सबका कल्याण होता है ।

(रूपं रूपं वयोवयः) प्रत्येक रूप और प्रत्येक आयुके अनुसार (संरभ्य) देखकर (एनं परिभ्वजे) इस यज्ञकर्ताको चारों ओरसे सुरक्षित रखता हूँ । (इमं यज्ञं चतस्रः प्रदिशः वर्धयन्तु) इस यज्ञकी चारों दिशाएँ संवर्धित करें । मैं सुखको बढानेवाले हविषे हवन करता हूँ ॥ ३ ॥

रूप और आयुके अनुसार यज्ञमानको सुरक्षित रखता हूँ । चारों दिशाओंमें रहनेवाले लोग यज्ञ करनेकी इच्छा जनतामें बढावें ।

(२) आपः ।

(ऋषिः — सिन्धुद्वीपः । देवता — आपः ।)

शं न आपो ह्यैमवतीः शम्भुं ते सन्तुत्स्याः । शं तै सनिप्यदा आपः शम्भुं ते सन्तु वृष्याः ॥ १ ॥
 शं न आपो धन्वन्त्याः शं तै सन्तुवन्प्याः । शं तै खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिरामृताः ॥ २ ॥
 अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः । भिपग्भ्यो भिपक्तरा आपो अच्छा वदाममि ॥ ३ ॥
 अपामहं दिव्यानामपां स्रोतस्यानाम् । अपामहं प्रणेजनेश्वा भवथ वाजिनः ॥ ४ ॥
 ता अपः शिवा अपोऽयस्मंकरणीरपः । यथैष तृप्यते मयत्तास्त आ दत्त मेपजीः ॥ ५ ॥ (८)

(३) जातवेदाः ।

(ऋषिः — अथर्वद्विराः । देवता — अग्नि ।)

दिवस्पृधिष्याः परन्तरिक्षाद्दनुस्पतिभ्यो अध्योपधीभ्यः ।

यत्रयत्र विभृतो जातवेदास्ततं स्तुतो जुषमाणो न एहि

॥ १ ॥

(२) आपः ।

अर्थ— (हैमवती आपः ते श) हिमवान परसे आनेवाले जलप्रवाह तेरे लिये सुखदायी हों । (उत्स्याः ते शं उ सन्तु) योतसे बहनेवाले जलप्रवाह तेरे लिये सुखदायी हों, (सनिप्यदा आपः ते श) वेगम आनेवाले प्रवाह तुझे सुखदायक हों, (वृष्याः ते श उ सन्तु) वर्षासे आये जलप्रवाह तेरे लिये सुखदायक हों ॥ १ ॥

(धन्वन्त्या आप ते श) मरुदेशमें होनेवाले जलप्रवाह तुझे आनन्द देनेवाले हों । (वन्प्याः ते शं सन्तु) दरमें बहनेवाले जलप्रवाह तेरे लिये सुखदायी हों, (खनित्रिमाः आप ते शं) खोदकर प्रग किये बल तेरे लिये सुखदायक हों । (याः कुम्भेभिः आमृताः शं) जो जल बर्तने भरकर रखा है वह तुम सुखदायक हों ॥ २ ॥

(अनभ्रयः खनमानाः) झुलके बिना छोड़े हुए (गम्भीरे अपसः) गभीर जलके जगडा (विप्राः) शर्माके समीप (आपः) जल (भिपग्भ्यो भिपक्तराः) वैशिके लिये अधिक रोगनाशक होते हैं । इन जलके विषयमें (अच्छा वदाममि) हम उत्तम बोलते हैं ॥ ३ ॥

जलविशेषों जो आते हैं वे जलका उपयोग करके रोग दूर करते हैं । इसलिये जलके विषयमें हम उत्तम ही बोलते हैं । (दिव्यानां अपां अह) आकाशमें बहनेवाले जल, (स्रोतस्यानां अपां) स्रोतसे मिलनेवाले जलके विषयमें (अपां प्रणेजने) इन जलोंके प्रयोगके विषयमें (अश्वाः वाजिनः भवथ) घोड़े अधिक बलवान् होते हैं ॥ ४ ॥

जलका योग्य उपयोग और प्रयोग करनेमें घोड़े अधिक बलवान् होते हैं । मनुष्य भी जलप्रयोगसे नाराज और बलिष्ठ होते हैं ।

(ताः आपः शिवाः) वह जल कल्याण करनेवाला है । (आप अयस्मंकरणीः अपः) वह जल रोगोंकी दूर करनेवाला है । (यथा एष मयः तृप्यते) जिस तरह सुख बट सकता है (ताः ते मेपजीः आ दत्त) वे जल तेरे लिये रोग दूर करनेवाले हैं, उनका स्वीकार करो ॥ ५ ॥

जलविशेषोंसे रोग दूर होते हैं । इसलिये मनुष्य जलोंसे योग्य प्रयोग द्वारा अरोग्य प्राप्त करे ।

(३) जातवेदाः ।

(दिव्यः) दुर्लभके, (पृथिव्याः) धृतिवाँके, (अन्तरिक्षात् परि) अन्तरिक्षके (वनस्पतिभ्यः ओषधिभ्यः) वनस्पतियों और ओषधियोंसे (यत्र यत्र जातवेदाः विभृतः) जहाँ जहाँ आग्नि मरा रहता है, (तता स्तुतः) बहाते प्रशंसित होकर (जुषाणः) सेवा करने योग्य होकर (नः एहि) हमारे समीप आवे ॥ १ ॥

इन सब स्थानोंमें आग्नि है, दुर्लभके पूर्व, अन्तरिक्षमें विष्णु, पृथ्वीपर आग्निके रूपमें, ओषधिवनस्पतियोंमें अनेक रूपसे आग्नि रहता है । वह हमारा सहायक बने ।

यस्ते अप्सु महिमा यो वनेषु य ओषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः ।

अग्ने सर्वास्तुन्वः सं रभस्व तामिर्न एहिं द्रविणोदा अजस्रः

॥ २ ॥

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनुः पितृष्वामिवेश ।

पृष्टिर्पा ते मनुष्येषु प्रप्रयेऽग्ने तर्पा रयिमुस्मासु धेहि

॥ ३ ॥

श्रुत्कर्णाय क्वये वेद्याय वचोभिर्वाकैरुप यामि रातिम् ।

यतो मयमभयं तन्नो अस्त्वव देवानां यज हेटो अग्ने

॥ ४ ॥ (१२)

(४) आकृतिः ।

(ऋषिः — अथर्वाङ्गिराः । देवता — अग्निः ।)

यामाहुतिं प्रथमामर्थवा या जाता या हव्यमकृणो जातवेदाः ।

तां त एतां प्रथमो जोहवीमि तामिष्टुप्तो बंहतु हव्यमग्निप्रये स्वाहा

॥ १ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (यः ते अप्सु महिमा) जो तेरा जलोमें महिमा है, (यः वनेषु) जो वनोंमें, (यः ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः) जो औषधीषों, पशुओं और जलोमें है, (सर्वाः तन्वः संरभस्व) तुम्हारे ये सब शरीर उषण रीतिसे पचनित करके (तामिः नः एहिं) उनके साथ हमारे पास आओ और हमारे लिये (द्रविणोदाः अजस्रः) धन देनेवाला अविनाशी हो ॥ २ ॥

(यः ते देवेषु स्वर्गः महिमा) जो तेरा देवोंमें सुखदायी महिमा है, (या ते तनुः पितृषु आविवेश) जो तेरा शरीर पितरोंमें, पालकोंमें रहा है, (या ते पुष्टिः मनुष्येषु प्रप्रये) जो तेरी पोषक शक्ति मानवोंमें फैली है, हे अग्ने ! (तया अस्मासु रयिं धेहि) उससे हमारे अन्दर धन स्थापन कर ॥ ३ ॥

(श्रुत्कर्णाय क्वये वेद्याय) ध्वनेवाले कान त्रिकुके हैं, जो कवि और जानने योग्य हैं उसके पास (वचोभिः वाकैः) वचनों और वाक्योंसे (रातिं उप यामि) दान माँगता हूँ । (यतः भयं) जहाँसे भय होना संभव हो (तत् नः अमयं अस्तु) वहाँसे हमें अमय हो । हे अग्ने ! (देवानां हेडः यज) देवोंके क्रीषकों शान्त कर ॥ ४ ॥

श्रुत्कर्णः— श्रवण करनेवालोंका कर्ना सुनना योग्य है । कविः—ज्ञानी । वेद्यः—जानने योग्य । उषणक अग्ने भापनसे दान माँगता है । जहति भयको संभावना ही, वहाँसे निर्भयता प्राप्त हो । वहाँसे भय दूर हो । देवोंका क्रोध अपने ऊपर ही देवा अपना आचरण रहना चाहिये ।

(५) आकृतिः ।

(अथर्वा) अथर्वानि (यां प्रथमां आहुतिं) जिस प्रथम आहुति (अकृणोत्) हवन किया, (या जाता) जो आहुती बनो और (जातवेदाः या हव्यं अकृणोत्) जातवेद अग्नेने जिसका हवन किया, (तां एता प्रथमः ते जोहवीमि) उसको मैं पहिले सेरे लिये हवन करता हूँ, (तामिः स्तुतः अग्निः हव्यं बहतु) उनसे प्रशंसित हुआ अग्नि हवन किये हुएसे ले जाय, ऐसे (अग्नेये स्वाहा) अग्निसे लिये समर्पण करना हूँ ॥ १ ॥

अथर्वानि प्रथम अग्नि उत्पन्न करके उसमें प्रथम आहुति दी । अग्निने उसको पहिला हव्य करके स्वीकार किया । यज्ञसे यज्ञ शुरू हुआ ।

अग्निर्जाता अथर्वणः । ऋ. १०।२।१५; अथर्वा तथा प्रथमो निरमन्यदग्ने । वा. य. १।१।२२, यज्ञैरथर्वां प्रथमः पयस्तते । ऋ. १।८।३५, अथर्वानि अग्नि प्रथम उत्पन्न किया जिससे यज्ञ शुरू हुआ ।

आकृतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु ।

यामाशार्नेमि केचली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥ २ ॥

आकृत्या नो बृहस्पतु आकृत्या नु उपा गहि ।

अथो भगस्य नो घेह्यथो नः सुहवो भव ॥ ३ ॥

बृहस्पतिर्म आकृतिमाङ्गिरसः प्रति जानातु वार्चमेताम् ।

यस्य देवा देवताः संवभुवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वेत्स्मान् ॥ ४ ॥ (१६)

(५) जगतो राजा ।

(ऋषिः — अथर्वान्गिराः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विपुरुषं यदस्ति ।

ततो ददाति द्वाशुपे वरुनि चोद्द्राधु उपस्तुतश्चिदुर्वाक् ॥ १ ॥ (१७)

अर्थ— (सुभगां आकृतिं देवीं) सौभाग्यवाली इच्छा देवीको (पुरः दधे) भागे धर देता हूँ । यह (चित्तस्य माता) चित्तकी माता (नः सुहवा अस्तु) हमारे लिये सुभगतपे बुलाने योग्य हो । (यामाशां केचली यमि) जिस दिशामें मैं उस कामनाको और जाता हूँ, (सा मे अस्तु) वह मेरी हो, (एनां मनसि प्रविष्टां विदेयं) इसको मनमें प्रविष्ट हुई प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

मनकी इच्छा यह मुख्य है । उसके सब कर्म शुरू होते हैं । इसलिये यह मनकी इच्छा मुख्य है, उसके चित्त धार्य करने लगता है । जिस उत्तम कार्य करनेकी इच्छा मैं करता हूँ वह भिन्न हो जाय ।

हे बृहस्पति ! (आकृत्या आकृत्या नः नः उपागहि) प्रबल इच्छा शक्तिके साथ तू हमारे पास आ । (अथो भगस्य नः घेहि) और भाग्य हमें दे । (अथो नः सुहवा भव) और सुभग रीतिसे बुलाने योग्य हो ॥ ३ ॥

हानीके पास प्रबल इच्छा हो, जिससे भाग्य प्राप्त होगा ।

(आंगिरसः बृहस्पतिः) आंगिरस कुलका बृहस्पति (मे आकृतिं एतां वार्चं) मेरी इस प्रबल इच्छावाली वाणीको (प्रति जानातु) जाने । (यस्य देवा देवताः सं वभुवुः) जिसके साथ देव और देवता रहते हैं, (स सुप्रणीताः काम) वह उत्तमरीतिसे प्रयोगमें लाया काम (अस्मान् अन्वेतु) हमारे समीप आ जाये ॥ ४ ॥

प्रबल इच्छासे प्रेरित हुई वाणी शक्तिवाली होती है । उसके साथ दिव्य शक्तियाँ रहती हैं, ऐसी इच्छा हमारी सफल होती रहे ।

(५) जगतो राजा ।

(इन्द्रः) इन्द्र, प्रभु (जगतः चर्षणीनां) पशु, पक्ष आदि जंगमोंका, मनुष्योंका, (अधि क्षमि विपुरुषं यदस्ति) धृतिवी पर जो भी अनेक रंगरूपवाले पदार्थ हैं उन सबका (राजा) एक अद्वितीय राजा है । (ततो द्वाशुपे वरुनि ददाति) वहापे वह दाताको अनेक प्रकारके धन देता है । (उपस्तुतः चित्) उधका स्तुति करनेपर (अर्वाक राधः चोदत्) वह इधर धन भेजता है ॥ १ ॥

स्वावर जंगमका एक अद्वितीय राजा परमेश्वर ही है । जो भी यहाँ बरतुमात्र है उसपर उधका अधिकार है । वह दाताको धन देता है । स्तुति करनेवालेके पास वह धन भेजता है । उसके गुणोंकी जाननेसे मनुष्य उच्च होता है ।

(६) जगद्धीजः पुरुषः ।

(ऋषिः — नारायणः । देवता — पुरुषः ।)

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । न भूमिं विश्वतो वृश्वात्यविष्टृशङ्कुलम् ॥ १ ॥
 त्रिभिः पद्भिर्घामरोहृत्पादस्येहार्भत्रत्पुनः । तथा व्यक्रामद्विष्वङ्गनानशने अनु ॥ २ ॥
 तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्वायांश्च पुरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामूर्त्तं दिवि ॥ ३ ॥
 पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यत्त्वं भाव्यम् । उतामृतस्वस्यैश्वरो यदन्येनाभेवत्सह ॥ ४ ॥
 यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् । मुखं किमस्य किं चाह किमूरु पादा उच्येते ॥ ५ ॥
 ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्योऽभवत् । मध्यं तदस्य यद्वैश्वर्यं पृथ्वा शूद्रो अजायत ॥ ६ ॥

(६) जगद्धीजः पुरुषः ।

अर्थ— (सहस्र-बाहुः) हजारों बाहुवाला, (सहस्र-अक्षः) हजारों आंखोंवाला, (सहस्रपाद्) हजारों पावोंवाला एक (पुरुषः) पुरुष है, (सः भूमिं विश्वतः वृश्वा) वह भूमिको चारों ओरसे घेर कर (दशांशुलं अत्य-तिष्ठत्) दस अंगुल विश्वको व्याप कर रहा है ॥ १ ॥

सहस्रो मनुष्योंके बाहु, आंख, पांव आदि अवयव जिसके अवयव हैं ऐसा मानवसमाजको विष्टृशङ्कुल पुरुष पृथिवीके चारों ओर है । सब मानवोंके सब अवयव इसके अवयव हैं । दस अंगुल रूप विश्वको घेर कर रहा है । पृथ्वीके चारों ओर जो मानवसमाज है वह मिलकर एक पुरुष है ।

(त्रिभिः पद्भिः घां यरोहृत्) तीन अंगोंसे शुलोक पर चढ़ा है और (अस्य पात् इह पुनः अभवत्) इसका एक अंग यहाँ पुनः पुनः होता है । (तथा विष्वङ् अशन-अनशने अनु व्यक्रामत्) तथा चारों ओर खानेवाले और न खानेवाले- वैतन और जड़ रूपसे व्याप रहा है ॥ २ ॥

इसके तीन अंग शुलोकको व्याप रहे हैं और एक अंग यहाँ जड़ और चेतन रूपमें दीक्ष रहा है । यही यह वारंवार बनता है ।

(तावन्तः अस्य महिमानः) इसके वतने महिमा हैं । वह (ततो ज्वायान् च पुरुषः) पुरुष तो वनसे बड़ा है । (अस्य पादः विश्वा भूतानि) इसका एक अंग ये सब भूत हैं और (अस्य त्रिपाद् दिवि अमूर्त्तं) इसके तीन अंग शुलोकमें अमर हैं ॥ ३ ॥

(यद् भूतं यत् च भाव्यं) जो बना है, और जो बनेगा (इदं सर्वं पुरुष एव) वह सब पुरुष ही है । (उत अमृतत्वस्य ईश्वरः) और वह अपरंपरका स्वामी है (यत् अन्येन सह अभवत्) जो दूसरे-जड़के-साथ होता है ॥ ४ ॥

जो भूतकालमें हुआ और जो भविष्यमें होगा वह सब यह पुरुष ही है । यह अनारवका स्वामी है जो जड़के साथ रहता है । (यत् पुरुषं व्यदधुः) जो विद्वान् इस पुरुषका वर्णन करते हैं उन्होंने इसको (कतिधा व्यकल्पयन्) कितने प्रकारसे कल्पना की है ? (अस्य मुखं किं) इसका मुख कौन है, (किं बाहू) इसके बाहु कौन हैं, (किं ऊरु) बाँपें, कौन हैं और (पादा उच्येते) पांव कौन कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

पुरुष करके जिसका वर्णन किया जाता है उसके मुख, बाहु, उदर और पांव कौन हैं ? (अस्य मुखं ब्राह्मणः) इस पुरुषका मुख ब्राह्मण-ज्ञानी- है, (राजन्यः बाहू अभवत्) क्षत्रिय इसके बाहु हुए हैं, (मध्यं तन् अस्य यत् वैश्यः) इसका मध्यम ग वैश्य है, (पद्भ्यां शूद्रः अजायत) पावके लिये शूद्र हुआ है ॥ ६ ॥ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये इस पुरुषके मुख, बाहु, मध्यभाग और पांव हैं, अर्थात् चार वर्ण ये इस पुरुषके चार अंग हैं ।

चन्द्रमा मनसो ज्ञातश्चक्षोः सूर्यो अजायत । मुख्वादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ॥ ७ ॥
 नाम्ना आसीदुन्नरिंक्षं शीर्ष्णां द्यौः ममरर्तत । पञ्चा भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन् ॥ ८ ॥
 विराडग्रे समभवद्विराजो अधि पूरुषः । स जातो अत्यरिच्यत पृथाद्भूमिमथो पुरः ॥ ९ ॥
 यत्पुरुषेण हविषा देवा पञ्चमत्तन्वत । वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इक्ष्मः शरद्विः ॥ १० ॥
 तं यज्ञं प्रावृषा प्रोक्षन्पुरुषं जातमग्रशः । तेन देवा अयजन्त सांघ्या वसवश्च ये ॥ ११ ॥
 तस्मादक्षा अजायन्त ये च के चोभयादतः । गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ १२ ॥
 तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ १३ ॥
 तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृत पृषदाज्यम् । पशूस्तांश्चक्रे वायुव्यानिर्णया ग्राम्याश्च ये ॥ १४ ॥

अर्थ— (मनसः चन्द्रमाः जातः) उसके मनसे चन्द्रमा हुआ है, (चक्षोः सूर्यः अजायत) आँखसे सूर्य हुआ । (मुख्वात् इन्द्रः च अग्निः च) उनके मुखसे इन्द्र और अग्नि हुए हैं । (प्राणात् वायुः अजायत) उस पुरुषके प्राणसे वायु हुआ है ॥ ७ ॥

उस पुरुषके (नाम्नाः अन्तरिक्ष आसीत्) नामसे अन्तरिक्ष हुआ, (शीर्ष्णां द्यौः सं भवर्तत) सिरसे बुलोक हुआ । (पञ्चा भूमिः) पाँचसे भूमि हुई, (दिशः श्रोत्रात्) कानसे दिशाएँ (तथा लोकाँ अकल्पयन्) और उस प्रकार अर्थ लोकाँकी कल्पना— प्रजापतिके शरीरके अंगोंपर— की गई है ॥ ८ ॥

(अग्रे विराट् समभवत्) प्रथम विराट् उत्पन्न हुआ, (विराजः अधि पूरुषः) विराट्के उपर अधिष्ठाता पुरुष हुआ । (सः जातः अति अरिच्यत) वह उत्पन्न होते ही कैल गया, (भूमि अथो पश्चात् पुरः) प्रथम भूमिपर और पश्चात् नाना शरीरोंमें फैल गया ॥ ९ ॥

(यत् पुरुषेण हविषा) जब पुरुषरूप हविसे (देवाः यज्ञं अनन्वत) देवोंने यज्ञ किया, (वसन्तः अस्य आज्यं आसीत्) वसन्त ऋतु इसका पी पा, (ग्रीष्मः इक्ष्मः) ग्रीष्म ऋतु छाय या और (शरत् हविः) शरत् ऋतु या ॥ १० ॥

देवोंने यज्ञमें इन ऋतुओंमें होनेवाले पदार्थ ही यज्ञकी सामग्री थी ।

(तं अग्रशः जातं) उस प्रथम उत्पन्न हुए (यज्ञं पुरुषं) यज्ञीय पुरुषको (प्रावृषा प्रोक्षन्) वृष्टीके जलसे विचित्र किया, (तेन) उससे (सांघ्याः वसवः च ये देवाः) साध्य और वसू करके जो देव हैं वे (अयजन्त) यज्ञ करते रहे ॥ ११ ॥

(तस्मात् अथा अजायन्त) उससे घोड़े उत्पन्न हुए (ये च के च उभयादतः) जिनके दोनों ओर दाँत होते हैं । (गावः जज्ञिरे तस्मान्) उससे गौँसे उत्पन्न हुई, (तस्मात् अजावयः जाताः) उससे भड़कियाँ और मेढियाँ उत्पन्न हुई ॥ १२ ॥

(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्वस्वकी आहुति देनेके यज्ञसे (ऋचः सामानि जज्ञिरे) ऋचाएँ और छाम गान उत्पन्न हुए । (तस्मात् छन्दः ह जज्ञिरे) उस यज्ञसे छन्द अर्थात् अथर्ववेद उत्पन्न हुआ (तस्मात् यजुः अजायत) उस यज्ञसे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ ॥ १३ ॥

(तस्मात् सर्वहुतः यज्ञात्) उस सर्व हुवन करनेके यज्ञसे (पृषद्-आज्यं संभृतं) दही और घी उत्पन्न हुआ । (तान् घ्रायध्यान् पशून्) उन वायव्य पशुओंसे (आरण्याः ग्राम्याः च ये) आरण्य पशु और ग्राम्य पशु ऐसे पशु उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥

सुप्तास्यासन्परिषयस्त्रिः सुप्त समिधः कृताः । देवा यद्यज्ञं तन्वानां अयध्नन्पुरुषं पशुम् ॥१५॥
मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सुप्त सप्ततीः । राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादार्षि ॥१६॥ (३३)

(७) नक्षत्राणि ।

(अपि. — गार्ग्य. । देवता — नक्षत्राणि ।)

चित्राणि साकं द्विवि रौचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि ।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः संपर्यामि नाकम् ॥ १ ॥
सुहृवमग्रे कृत्तिका रोहिणी चास्तु मद्रं मृगशिरः शमार्द्रा ।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे ॥ २ ॥
पुष्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु ।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा अनुराधा मूलं अ-रिष्ट ॥ ३ ॥

अर्थ— (देवाः यत् यज्ञं तन्वानाः) देव जो यज्ञ कर रहे थे (अस्य सप्त परिषयः आसन्) उस यज्ञके सात परिषदिये (त्रिः सप्त समिधः कृताः) तीन गुणा सात समिधाएं की थीं और (पुरुषं पशुं अयध्नन्) परमेश्वरहृषी पुरुषको ध्यानके लिये चित्तमें बाधा था । उस पर ध्यान वे लगाते थे ॥ १५ ॥

(सृष्टनः देवस्य) बड़े देवके अर्थान् (सोमस्य राज्ञः) सोम राजाके (मूर्ध्नः) शिरसे (सप्ततीः सप्त) सात बार सात (अंशवः) किरणें (अजायन्त) उत्पन्न हुईं (जातस्य पुरुषान् अपि) जब वह पुरुषसे उत्पन्न हुआ ॥ १६ ॥
ये किरण सूक्ष्म प्रकाशमय तत्त्व हैं जिनसे यह सृष्टि बनी है । वडा देव सोम राजा-सर्वाधार शान्त प्रभु है । जिससे ये तत्त्व प्रगट होकर सब सृष्टि बनी है ।

सब मानव समाज जो इस पृथिवी पर चारों ओर है वह सब मानव-समाज इस पुरुषका शरीर है । हजारों मुख, हजारों बाहु, हजारों उदर और हजारों पांव इस पुरुषके हैं यह वर्णन इस तरह देखना और समझना चाहिये ।

(७) नक्षत्राणि ।

(चित्राणि) चित्राविचित्र (साकं द्विवि रौचनानि) साथ साथ बलोकमें प्रकाशित होनेवाले (सरीसृपाणि) सदा गतिशील (भुवने जवानि) , भुवनमें वेगवार, (अ-हानि) विनष्ट न होनेवाले नक्षत्रोंको (तुर्मिशं सुमति इच्छमानः) तथा अनिष्टनाशक उत्तम बुद्धिकी इच्छा करता हुआ मैं (गीर्भिः नाकं संपर्यामि) अपनी बाणियोंसे सुखपूर्व स्वर्गलोककी प्रशंसा गाता हूँ ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (कृत्तिका रोहिणी सुहृवंच अस्तु) कृत्तिका और रोहिणी ये नक्षत्र मेरे लिये सुखसे प्रायना करने योग्य हों । (मृगशिरः मद्रं) मृगशिर नक्षत्र कल्याण करनेवाला हो, (शमार्द्रा शं) शमार्द्रा नक्षत्र शान्ति देनेवाला हो । (पुनर्वसू सूनृता) पुनर्वसू नक्षत्र उत्तम वाक्याक्ति देनेवाला हो, (पुष्यः चारु) पुष्य नक्षत्र मेरे लिये उत्तम हो । (आश्लेषा भानुः) आश्लेषा नक्षत्र प्रकाश देने, (मघा मे अयनं) मघा नक्षत्र मेरे लिये प्रगति देनेवाला हो ॥ २ ॥

(पूर्वा फल्गुन्यौ पुष्यं) पूर्वा फल्गुनोंके दो नक्षत्र पुष्पकारक हों, (अत्र हस्तः चित्रा शिवा) यहाँ हस्त और चित्रा कल्याणकारी हों । (स्वाति मे सुखः अस्तु) स्वाती नक्षत्र मेरे लिये सुखदायी हो, (राधे विशाखे) हे राधे और विशाखे ! तुम दोनों (सुहृवा) उत्तम प्रार्थना करने योग्य हो । (अनुराधा ज्येष्ठा मूलं अ-रिष्ट) अनुराधा ज्येष्ठा और मूल ये नक्षत्र विनाशक न हों ॥ ३ ॥

अन्नं पूर्वा रासतां मे अपाढा ऊर्जे देव्युत्तरा आ वहन्तु ।

अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम्

॥ ४ ॥

आ मे महच्छतमिपुवरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म ।

आ रेवतीं चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्या आ वहन्तु

॥ ५ ॥ (३८)

(८) नक्षत्राणि ।

(ऋषिः— गार्ग्यः । देवता— नक्षत्राणि, प्रह्वणस्पतिः ।

यानि नक्षत्राणि दिव्यं न्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।

प्रकल्पयन् चन्द्रमा गान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु

॥ १ ॥

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे ।

योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु

॥ २ ॥

स्वास्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु ।

सुहवमग्रे स्वस्त्यै मर्त्यै गत्वा पुनरायाभिनन्दन्

॥ ३ ॥

अनुहवं परिह्वं परिवाद् परिह्वम् । सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान्परा तान्संचितः सुव ॥ ४ ॥

अर्थ—(पूर्वा अपाढा मे अन्नं रासतां) पूर्वा अपाढा नक्षत्र मुझे अन्न देवे । (उत्तरा देवी ऊर्जे आ वहन्तु) उत्तरा अपाढा नक्षत्र उत्तम बल देवे । (अभिजिन् मे पुण्यं रासतां एव) अभिजित नक्षत्र मुझे पुण्य देवे । (श्रवणः श्रविष्ठाः सुपुष्टिं कुर्वतां) श्रवण और श्रविष्ठा मुझे उत्तम पुष्टि देवे ॥ ४ ॥

(महच्छतमिपक्) बड़ा शतमिपक् नक्षत्र (मे वरीयः आ) मेरे लिये धन देवे । (द्वया प्रोष्ठपदा मे सुशर्म आ) दोनों प्रोष्ठपदा नक्षत्र मुझे उत्तम सुख देवे । (रेवती अश्वयुजौ च) रेवती और अश्वयुज नक्षत्र (मे भगं आ) मेरे लिये धन देवे और (भरण्यः मे रयिं आ वहन्तु) भरणी नक्षत्र मेरे लिये ऐश्वर्य ले आवें ॥ ५ ॥

(८) नक्षत्राणि ।

(यानि नक्षत्राणि) जो नक्षत्र (दिवि अन्तरिक्षे) गुजोक्तं अन्तरिक्षमें (अप्सु भूमौ) प्रलोमें भूमिपर (यानि नगेषु दिक्षु) जो पर्वतोंपर तथा दिशाओंमें है । (चन्द्रमा यानि प्रकल्पयन् एति) चन्द्रमा जिनका भोग करता हुआ जाता है । (सर्वाणि यानि मम शिवानि सन्तु) सब ये नक्षत्र मेरे लिये कल्याणकारी हों ॥ १ ॥

(अष्टाविंशानि) अठारस नक्षत्र (शिवानि शग्मानि) कल्याण और सुखदायी हों । (ये सह योगं भजन्तु) मेरे साथ योग प्राप्त करें । (योगं प्र पद्ये) योग प्राप्त हो, (क्षेमं प्र पद्ये) क्षेम प्राप्त हो । (क्षेमं च प्र पद्ये योगं च) क्षेम और योग प्राप्त हो । (अहोरात्राभ्यां नमः अस्तु) दिन और रात्रीके लिये मैं नमन करता हूँ ॥ २ ॥

(मे सु-अस्ति) मेरे लिये अस्तकाल कल्याण करनेवाला हो, (सुप्रातः) सुखदायी प्रातःकाल हो, (सुसायं) सायंकाल सुखदायी हो । (सुदिवं) दिन सुखदायी हो, (सुमृगं) पशु सुखकारक हों, (सुशकुनं मे अस्तु) पक्षी सुखदायी हों । हे भग ! (सुहवं स्वास्तितं) प्रार्थना सुखदायक हो । (अमर्त्यै गत्वा) अमरत्वको प्राप्त होकर तू (पुनः अभिनन्दन्) पुनः सबको प्रसन्न करता हुआ (आ अयं) आओ ॥ ३ ॥

हे (संचितः) संचिता— सर्व प्रकार प्रभो ! (अनुहवं) स्वर्ग, (परिह्वं) धंपर्य, (परिवाद्) निदा, (परिह्वं) घृणा या छीक आदि, (सर्वैः मे रिक्त कुम्भान्) सबके साथ मेरे खाली पटे (तान् परा सुव) इन सबको दूर कर ॥ ४ ॥

अपपापं परिश्रवं पुण्यं मक्षीमहि क्षवंम् ।

शिवा तं पाप नासिकां पुण्यमश्राभि मेहताम् ॥५॥

इमा या ब्रह्मणस्पते विपूचीर्वात ईरंते । सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतंमास्कुधि ॥६॥

स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ ७ ॥ (४५)

(९) शान्तिः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा (शन्तातिः ?) । देवता — शान्तिः, बहुदैवत्वम् ।)

शान्ता धौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्वंन्तरिक्षम् ।

शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोपधीः ॥ १ ॥

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।

शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥ २ ॥

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता । ययैव संसृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥ ३ ॥

इदं यत्परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम् । येनैव संसृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥ ४ ॥

अर्थ— (अपपापं परिश्रवं) पाप और छोक दूर हों । (पुण्यं क्षवं मक्षीमहि) पुण्यकारक अन्न दान भक्षण करेण । पाप । (शिवा पुण्यगः च) कन्याण करनेवाली और पुण्य मार्गसे जानेवाली (ते नासिकां अभि मेहतां) तेरी नाक पर मूत्र करें । तेरा अपमान करें ॥ ५ ॥

शिवा— कल्याण करनेवाली, भाव ।

हे (ब्रह्मणस्पते) हे ज्ञानपते ! (इमाः याः विपूचीः) इन नाना दिशाओंमें (घातः ईरंते) वायु चलता है, है । (ताः सध्रीचीः कृत्वा) उनको योग्य मार्गसे चलनेवाले करके (मह्यं शिवतमाः कुधि) मेरे लिये सुखदायी कर ॥ ६ ॥

(नः स्वस्ति अस्तु) हमारा कल्याण हो, (नः अभयं अस्तु) हमें निमयता प्राप्त हो । (अहोरात्राभ्यां नमः अस्तु) दिन रात्रिके लिये नमस्कार हो ॥ ७ ॥

(९) शान्तिः ।

(धौः शान्ता) बुलोक शान्ति देवे । (पृथिवी शान्ता) पृथिवी शान्ति देवे । (इदं उक्त अन्तरिक्षं शान्तं) यह बड़ा अन्तरिक्ष शान्तिकारक हो । (उदन्वतीः आपः शान्ताः) उदलनेवाले जल शान्ति देवे । (ओपधीः नः शान्ता सन्तु) ओपधियों हमारे लिये शान्ति देनेवाली हों ॥ १ ॥

(पूर्वरूपाणि शान्तानि) पूर्व समयके रूप शान्ति देवें । (नः कृत-अकृतं शान्तं अस्तु) हमने किये वा न किये कार्य हमारे लिये शान्ति देनेवाले हों । (भूतं भव्यं च शान्तं) भूत और भविष्य शान्तिकारक हों (सर्व एव नः अस्तु) सब हमारे लिये शान्ति देनेवाली हों ॥ २ ॥

(इयं या परमेष्ठिनी) यह जो परमस्थानमें स्थित (ब्रह्मसंशिता वाक् देवी) जानके तेजस्वी बनी बाबा देवी है (यया घोरं एव संसृजे) जिससे भयंकर कार्य होते हैं (तया एव नः शान्तिः अस्तु) उससे हमें शान्ति प्राप्त हो ॥ ३ ॥

(इदं यत् परमेष्ठिनं) यह जो परमस्थानमें स्थित (वां ब्रह्मसंशिता मनः) आप दोनोंका ज्ञानसे तेजस्वी बना पन है, जिससे घोर परिणाम होता है, वह हमारे लिये शान्ति देवे ॥ ४ ॥

२ (अथर्व. भाष्य, काण्ड १९)

इमानि यानि पञ्चन्द्रियाणि मनःपष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।

यैरेव संसृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ ५ ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः ।

शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्वर्थमा ॥ ६ ॥

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्त्रांछमन्तंकाः ।

उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः ॥ ७ ॥

शं नो भूमिर्विष्यमाना शुमुल्का निर्हतं च यत् ।

शं गावो लोहितक्षीराः शं भूमिरव तीर्थीः ॥ ८ ॥

नक्षत्रमुल्कामिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः शमुं सन्तु कृत्याः ।

शं नो निखाता वल्गाः शुमुल्का देशोपसर्गाः शमुं नो भवन्तु ॥ ९ ॥

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा ।

शं नो मृत्युधूमकेतुः शं रुद्रास्तित्गमतेजसः ॥ १० ॥

शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमप्रयः ।

शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः ॥ ११ ॥

अर्थ— (इमानि यानि पञ्चन्द्रियाणि) जो ये हमारे पांच इन्द्रिय हैं, (मनःपष्ठानि) मन जिनमें छटा है (ब्रह्मणा संशितानि मे हृदि) ज्ञानसे तेजस्वी बने मेरे हृदयमें रहते हैं । जिनसे सर्वकार कर्म होते हैं, उनसे हमें शांति प्राप्त हो ॥ ५ ॥

मित्र हमारे लिये सुखदायी हो, वरुण हम सुखदायक हो, विष्णु और प्रजापति हमें सुखदायी हों, इन्द्र, बृहस्पति और भूमा हमें शांति देनेवाला हो ॥ ६ ॥

अमत्र हमारे लिये शांति दे । वरुण हमें शांति दे, (विवस्त्रान् अन्तकः श) विवस्त्रान् हमें शांति दे, और अन्त करनेवाला देव हमें शांति दे । (पार्थिवान् अन्तरिक्षा उत्पाताः) पृथिवी और अन्तरिक्षमें होनेवाले उत्पात और (दिविचरा ग्रहाः नः श) बुलोकमें संचार करनेवाले ग्रह हमें शांति देवे ॥ ७ ॥

(विष्यमाना भूमिः न शं) भूजाल होनेवाली भूमि हमें शांति दे, (उल्काशं) उल्का शांति देवे (यत् निर्हतं) जो पृथिवीपर गिरा है वह भा शांतिकारक हो । (लोहित-क्षीरा गावो शं) रक्तके समान दूध देनेवाली गावें भी हमें शांति देवे । (अथतीर्थी भूमिः श) फट जानेवाली भूमि भा शांति देनेवाली हो ॥ ८ ॥

(उल्कामिहत नक्षत्रं नः श अस्तु) उल्कासे फेंका गया नक्षत्र हमें शांति देवे । (अभिचाराः नः शं) शत्रुका आश्रय भी हमें शांति देनेवाला हो, (एतथाः श उ सन्तु) शांतक किशोर भा शांति देनेवाली हों । (निखाता-न श) गढे हमारा लिये शांति दे । (वल्गाः श) दिसाके कार्य हमें शांति दे । (देशोपसर्गा उल्का न उ श भवन्तु) देशमें उपसर्ग पहुँचानेवाले उल्का आदि हमें शांति दे ॥ ९ ॥

(चान्द्रमसाः ग्रहाः नः श) चंद्रमा सबकी ग्रह हमें शांति देवे । (राहुणा आदित्यः शं) राहुके साथ सूर्य हमें शांति देवे । (धूमकेतुः मृत्यु न श) धूमकेतु मृत्यु हमें शांति देनेवाला हो, (तित्गमतेजसः रुद्राः श) तीक्ष्ण तेजवाले रुद्र हमें शांति देवे ॥ १० ॥

(रुद्रा शं) रुद्र हमें शांति दे । (वसव शं) वसु हमें शांति दे । (आदित्या शं) आदित्य हमें शांति दे । (अश्वय शं) अग्नि हमें शांति दे । (देवाः महर्षय न श) देव और महर्षि हमें शांति दे । (देवा शं) देव हमें शांति दे । (बृहस्पतिः शं) बृहस्पति हमें शांति दे ॥ ११ ॥

ब्रह्मं प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयोऽग्रयः ।

तैर्मै कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु ।

विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु

॥ १२ ॥

यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः ।

सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु

॥ १३ ॥

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्घाँः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः

शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः ।

ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह कूरं

यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः

॥ १४ ॥ (५९)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— ब्रह्म, प्रजापति, धाता, (लोकाः) सप्त लोक, (वेदाः) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चार वेद, सप्त ऋषि, अग्नि (तैः मे स्वस्त्ययनं कृतं) इन सबने मेरा स्वस्त्ययन अर्थात् सुखदायक मार्ग किया है । (इन्द्रः मे शर्म यच्छतु) इन्द्र मुझे सुख देवे । (ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु) ब्रह्मा मुझे सुख देवे । (विश्वे देवाः मे शर्म यच्छन्तु) सब देव मुझे सुख देवे । (सर्वे देवाः मे शर्म यच्छन्तु) सब देव मुझे सुख देवे ॥ १२ ॥

(यानि कानि चिद् शान्तानि) जो कुछ शान्तिदायक है, ऐसा (लोके सप्तऋषयः विदुः) लोकमें सप्त ऋषि जानते हैं, (सर्वाणि मे शं भवन्तु) वे सब मेरे लिये सुखशान्तिदायक हों, (मे शं अस्तु) मेरे लिये शान्ति हो, (मे अभयं अस्तु) मेरे लिये विभयता हो ॥ १३ ॥

पृथिवी शान्ति देवे, अन्तरिक्ष शान्ति देवे, सुलोक शान्ति देवे, (आपः) जल शान्ति देवे, (ओषधयः वनस्पतयः) औषधि-वनस्पतियों शान्ति देवे, सब देव शान्ति दें (सर्वे देवाः मे शान्ति) सब देव मेरे लिये शान्ति देवे । (शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः) शान्तिमेंके साथ शान्ति कथी शान्ति हो । (ताभिः शान्तिभिः सर्वं शान्तिभिः अहं शं अयामः) उन शान्ति पूर्ण सब शान्तिमेंके इस शान्तिही प्राप्त हों । (यत् इह घोरं) जो यहाँ घोर है, (यत् इह कूरं) जो यहाँ कूर है, (यत् इह पापं) जो यहाँ पापमय है, (तत् शान्तं) वह शान्त हो, (तत् शिवं) वह कल्याणकारी हो, (नः सर्वे एव शं अस्तु) हमें सब शान्तिदायक हो ॥ १४ ॥

॥ यहाँ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

(१०) शान्तिः ।

(ऋषि — वासिष्ठ । देवता — बहुदेवत्वम् ।)

शं न इन्द्राग्नी भवतामर्षोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातर्हव्या ।	
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रांपूषणा वाज्रमार्ता	॥ १ ॥
शं नो भगः शम् नः शंमो अस्तु श नः पुंग्विः शम् सन्तु रायः ।	
श नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु	॥ २ ॥
श नो धाता शम् पर्ता नो अस्तु शं न उरुची भवतु स्वधामिः ।	
शं रोदमी बृहती शं नो अग्निः शं नो देवानां सुहवानि मन्तु	॥ ३ ॥
शं नो अग्निर्व्योतिरिनीमो अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम् ।	
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इपिरो अमि वांतु वातः	॥ ४ ॥
शं नो धावापृथिवी पूर्वहृती शमन्तरिक्षं हृष्ये नो अस्तु ।	
शं न ओषधीर्विनो भवन्तु शं नो रजस्र्पातिरन्तु जिष्णुः	॥ ५ ॥

(१०) शान्तिः ।

अर्थ— (इन्द्र-अग्नी भवोभि न. श मरतां) इन्द्र और अग्नि अपने रक्षणके साधनोंके साथ हमारे लिये शान्तिदायक हों । (रात-हव्या इन्द्र-वरुणा न श) अथवा दान करनेवाले इन्द्र और वरुण हमारे लिये शान्तिदायक हों । (इन्द्रा-सोमा सुविताय श योः) इन्द्र और सोम सबके लिये हमें शान्ति दे और भवको हर हर । (इन्द्रा-पूषणा वाजसार्ता नः श) इन्द्र और पूषा बरुण दानक मम्य हमें शान्ति दें ॥ १ ॥

(भग. न. श) भग देव हमें शान्ति दे, (शस. न श उ अस्तु) प्रसन्नगीत देव हमें शान्ति दे । (पुराधि. न. श) विशाल बुद्धि हमें शान्ति देव । (राय श उ सन्तु) दिव्य हमें शान्तिदायक हों । (सुयमस्य सत्यस्य शस न श) स्वतन्त्र नियमयुक्त सत्यका प्रसन्नक हमें शान्ति देव । (पुङ्गवित अर्यमा न श अस्तु) बहुत प्रसिद्ध अर्यमा हमें शान्ति देव ॥ २ ॥

(धाता न श) धरणकर्ता देव हमें शान्ति देव, (घर्तान. शं उ अस्तु) आश्रयदाता हमें शान्ति देव । (स्वधामि उरुची न श भवतु) अपने धारक वा शिल्पिकोंके साथ यह कैला हई पृथिवी हमें शान्ति देनेवाला हों । (बृहती रोदसी श) बड़ा पु और अन्तरिक्ष हमारे लिये शान्ति हों । (अग्नि न श) पहाड़ हमारे लिये शान्ति देव । (देवानां सुहवानि न श सन्तु) देवोंकी प्रार्थनाएँ हमें सुखदायक हों ॥ ३ ॥

(ज्योति अनीको अग्निः नः श अस्तु) तबस्वा प्रदात सुखवाला अग्नि हमें शान्ति देनेवाला हों । (मित्रा-वरुणा न श) मित्र और वरुण हमें सुखदाया हों, (आश्विना श) आश्विनो हमें शान्ति देंवें । (सुकृतां सुकृतानि न श) अच्छे कर्म करनेवालोंके अच्छे कर्म हमारे लिय सुखदाया हों, (इपिरो वात न. श अमि वांतु) गतिमान वायु हमारे लिये शान्तिदायक बने ॥ ४ ॥

(पूर्वहृती धावापृथिवी न. श) प्रथम प्रार्थनामें पु और पृथिवी हमें शान्ति देनेवाला हों । (अन्तरिक्ष न हृष्ये श अस्तु) अन्तरिक्ष हमारे देखनेके लिये शान्तिदायक हों । (विनो ओषधीः न शं भवन्तु) खेतन करनेवाले औषधिकां हमारे लिये शान्तिदायक हों । (जिष्णु रजस्र्पाति. न श अस्तु) अथवा रजस्र्पातिकका पाण्ड हमारे लिये शान्ति देनेवाला हों ॥ ५ ॥

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः ।	
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलापः शं नस्वष्टा ग्रामिरिह शृणोतु	॥ ६ ॥
शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः ।	
शं नः स्वरूपां मितर्यो भवन्तु शं नः प्रस्वः शम्बस्तु वेदिः	॥ ७ ॥
शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः ।	
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः	॥ ८ ॥
शं नो आदितिर्भवतु वृतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।	
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्बस्तु वायुः	॥ ९ ॥
शं नो देवः सविता त्रायमाणः शं नो भवन्तुपसो विभातीः ।	
शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शं नः क्षेत्रस्य पतिरस्तु शंभुः	॥ १० ॥ (६९)

अर्थ— (वसुभिः देवः इन्द्रः नः शं अस्तु) वसुओंके साथ इन्द्र देव हमारे लिये शान्तिदाता हो । (आदित्येभिः सुशंसः वरुणः शं) आदित्योंके साथ प्रशंसनीय वरुण हमें शान्ति देवे । (रुद्रेभिः जलापः रुद्रः नः शं) रुद्रोंके साथ जलरूपी रुद्र हमें शान्ति देवे । (ग्रामिः त्वष्टा इह नः शं शृणोतु) शक्तियोंके साथ त्वष्टा यहाँ हमें शान्तिदेवें ॥ ६ ॥

(सोमः नः शं भवतु) सोम हमारे लिये शान्तिदायक हों । (ब्रह्म नः शं) ब्रह्म हमारे लिये शान्ति देवे (ग्रावाणः नः शं) परमर हमारे लिये शान्ति दें । (यज्ञाः नः शं सन्तु) यज्ञ हमारे लिये शान्ति दें । (स्वरूपां मितर्यः नः शं) यूपोंकी स्थितियों हमारे लिये शान्ति दें । (प्रस्व नः शं) उन्पन्न होनेवाले पशुधर्म हमें शान्ति दें । (वेदिः शं अस्तु वेदि हमें शान्ति देवे ॥ ७ ॥

(उरुचक्षाः सूर्यः नः शं उदेतु) विशेष प्रकाशवाला सूर्य हमारे लिये शान्ति देता हुआ उदित हो । (चतस्रः प्रदिशाः नः शं भवन्तु) चारों दिशाएँ हमारे लिये सुखदायिनी हों । (ध्रुवयः पर्वताः नः शं भवन्तु) स्थिर पर्वत हमें शान्ति दें । (सिन्धवः नः शं) नदियाँ हमें सुखदायी हों (आपः उ शं सन्तु) जल हमारे लिये शान्ति दें ॥ ८ ॥

(अदितिः वृतेभिः नः शं भवन्तु) पृथिवी अपने अनेक प्रतीके हमें शान्ति देनेवाली हो । (स्वर्काः मरुतः नः शं भवन्तु) उत्तम गतिवाले वायु हमारे लिये शान्ति दें । (विष्णुः नः शं) विष्णु हमें शान्ति देवे, (पूषा नः शं अस्तु) पूषा हमें शान्ति देवे । (भवित्रं नः शं अस्तु) उत्पत्ति स्थान हमें शान्ति देनेवाला हो । (वायुः शं उ अस्तु) वायु शान्ति देनेवाला हो ॥ ९ ॥

(त्रायमाणः सविता देवः नः शं) रक्षण करनेवाला सविता देव हमें शान्ति देवे । (विभातीः उपसः नः शं भवन्तु) तेजस्वी त्वाएँ हमें शान्तिदायक हों । (पर्जन्यः नः प्रजाभ्यः शं भवतु) पर्जन्य हमारी प्रजाओंके लिये शान्ति देनेवाला हो, (शंभुः क्षेत्रस्य पतिः नः शं अस्तु) सुखदायक क्षेत्रका पति हमें शान्ति देनेवाला हो ॥ १० ॥

(११) शान्तिः ।

(ऋषिः — वसिष्ठः । देवता — यदुदैवत्यम् ।)

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्धन्तः शम् सन्तु गावः ।

शं नः ऋभवंः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १ ॥

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिर्स्तु ।

शमभिपाचः शम् रातिपाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥ २ ॥

शं नो अज एकपादेवो अस्तु शमहिर्वृष्टयः शं संमुद्रः ।

शं नो अपा नपात्पेरुर्स्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥ ३ ॥

आदित्या रुद्रा वसवो भुपन्तामिदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः ।

शूष्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ॥ ४ ॥

ये देवानामृत्विजो यज्ञियासो मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।

ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरम्मभ्यमिदमस्तु शस्तम् ।

अशीमहिं गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे वृहते सादनाय ॥ ६ ॥ (७५)

(११) शान्तिः ।

अर्थ— (सत्यस्य पतयः नः शं भवन्तु) सर्वके पालक हमें शान्ति देनेवाला हों । (अर्धन्तः नः शं) शोके हमें शान्ति दें, (गावः शं उ सन्तु) गोवं शान्तिदायक हों । (सुकृतः सुहस्ताः ऋभवः नः शं) उत्तम काम करनेवाले ब्रह्म कारीगर हमें शान्तिदायक हों । (पितरः हवेषु नः शं भवन्तु) पितर प्रार्थनाके समय हमें शान्ति देनेवाले हों ॥ १ ॥

(विश्वदेवाः देवाः नः शं भवन्तु) सर्व देव हमें शान्ति देनेवाले हों । (धीभिः सह सरस्वती शं अस्तु) बुद्धियोंके साथ सरस्वती हमें शान्ति देनेवाली हों । (अभिपाचः शं) चारों ओरसे आनेवाले मुखदायक हों, (रातिपाचः शं उ) दान देनेके लिये आनेवाले शान्तिदायक हों । (दिव्याः नः शं) गुणोत्कर्म रहनेवाले हमें शान्ति दें, (पार्थिवाः अप्याः नः शं) पृथिवीपर होनेवाले, जलमें होनेवाले हमें शान्ति देनेवाले हों ॥ २ ॥

(अज एकपाद् देवः नः शं अस्तु) अजना एकपाद् देव हमें शान्ति देवे । (वृष्टयः अहिः शं) जहमें रहनेवाला अहि शान्ति देवे । (संमुद्रः शं) समुद्र शान्ति देवे । (पेरुः अपा नपात् नः शं अस्तु) दुःखोंसे पार करनेवाला, जलोंके न गिरानेवाला देव हमें शान्ति देवे । (देवगोपा पृश्निः नः शं भवन्तु) देवोंके द्वारा सुरक्षित पृथिवी हमें शान्ति देनेवाली हो ॥ ३ ॥

(इदं नवीयः क्रियमाणं ब्रह्म) यह नवीन किया स्तोत्र आदित्य, छद् और वसु सेवन करें । (दिव्याः पार्थिवाः) जो गुणोत्कर्म, जो पृथ्वीपर (गोजाता) जो गोमें उत्पन्न और (उत ये यज्ञियाः) जो यहके लिये योग्य हैं वे सब (नः शूष्वन्तु) हमारी प्रार्थना सुनें ॥ ४ ॥

(ये देवानां यज्ञियासः ऋत्विजः) जो देवोंके यज्ञके योग्य ऋत्विज हैं, (मनोः अमृताः ऋतज्ञाः यजत्राः) मनवशीलके अमर सत्यज्ञानी याज्ञक हैं (ते अद्य नः उरुगायं रासन्तां) वे आज हमें विशेष उपदेश दें । (यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात) तुम कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा करो ॥ ५ ॥

हे मित्र और वरुण ! हे अग्ने ! (तद् अस्तु) वह सब हमें शान्तिदायक हों । (शं योः अस्मभ्यं इदं शस्तं अस्तु) सुख प्राप्ति और दुःख दूर होना यह सब हमारे लिये प्रशस्त रीतिसे प्राप्त हो । (गाधं उत प्रतिष्ठां अशीमहि) ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा हमें प्राप्त हो । (वृहते सादनाय दिवे नमः) बड़े आभय स्थानरूप गुणोत्कर्म लिये नमस्कार करते हैं ॥ ६ ॥

(१२) शान्तिः ।

(ऋषिः — वसिष्ठ । देवता — उषा ।)

उषा अप् स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ।

अया वाजं देवहितं सनेमू मर्दम शतहिमाः सुवीराः

॥ १ ॥ (७६)

(१३) एकवीरः ।

(ऋषिः — अप्रतिरथः । देवता, — इन्द्रः ।)

इन्द्रस्य बाहू स्वविरो वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू ।

तौ योक्षे प्रथमो योग आगते याम्यां जितमसुराणां स्वयुर्वत्

॥ १ ॥

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्पणीनाम् ।

संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः

॥ २ ॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुनाऽयोध्येन दुश्चयवनेन घृष्णुना ।

तदिन्द्रेण जयत तत्सहस्रं युषो नर इषुहस्तेन वृष्णा

॥ ३ ॥

(११) उषा ।

अर्थ— (उषा) उषा (सुजातता) उत्तम रीतिसे उत्पन्न होनेके कारण (वर्तनिं सं वर्तयति) मार्गको सम्यक् विधिसे दर्शाती है और (स्वसुः तमः अप्) अपनी बहिन रात्रीके अन्धकारको दूर करती है । (अया देवहितं वाजं सनेम) इस उषासे हम देवोंके लिये हितकारक बल प्राप्त करेंगे । (सुवीराः शतहिमाः मर्दम) उत्तम वीर संतानोंसे युक्त घर से हिमकालतक आनन्द प्रसन्न रहेंगे ।

(१३) एकवीरः ।

(इन्द्रस्य बाहू) इन्द्रके बाहू (स्वविरो वृषाणौ) स्थिर आर बलवान्, (चित्रा इमा वृषभौ) विलक्षण पा दुःखोंसे पार करनेवाले (योगे आगते) समय आनेपर (प्रथमः तौ योक्षे) पहिले मैं उनको जोड़ता हू । याम्यां जितं यत् असुराणां स्वः) जिनको सहायतासे जीत लिया जो प्राण अर्पण करनेवालोंका जो स्वर्ग है ॥ १ ॥

इन्द्र (आशुः) शीघ्र कार्य करनेवाला, (शिशानः) तीक्ष्ण, (वृषभः न भीमः) बलके समान भयंकर (घनाघनः) शत्रुको घारनेवाला, (चर्पणीनां क्षोभणः) मनुष्योंकी हलचल करनेवाला, (संक्रन्दनः अनिमिषः) ललकारनेवाला आर आँसुकी पलकें भी न झारनेवाला अर्थात् सतत कार्यकर्ता (एकवीरः इन्द्रः) अद्वितीय वीर इन्द्रने (साक शतं नाः अजयत्) साथ सँकड़ों शत्रुसेनाको जीत लिया ॥ २ ॥

(संक्रन्दनेन) ललकारनेवाले (अनिमिषेण जिष्णुना) निभररहित अलस्यरहित, अजशील, (अयोध्येन) युद्ध रीतिसे लिपि जिषके साथ अशत्रय है, (दुश्चयवनेन घृष्णुना) स्थानप्रद्वारनेके लिये अशत्रय और शत्रुओंका घर्पण करने-ले (इषुहस्तेन वृष्णा) बाण हाथमें धरनेवाले बलवान् (इन्द्रेण) इन्द्रकी सहायतासे, है (युधः नरः) युद्ध करनेवाले आ नेताओ ! (तत् जयत) उस अभिलषितको जीतो । (तत् सहस्रं) उस शत्रुको परास्त करो ॥ ३ ॥

स इपुहस्तैः न निपङ्गिभिर्गुणी संसृष्टा स युध इन्द्रो गुणेन । संसृष्टजित्सोमपा वाहुशुश्रुषुर्ग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता	॥ ४ ॥
वलविज्ञायः स्वधिरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः । अभिवीरो अभिपत्वा सहोजिजैत्रमिन्द्र रधुमा तिष्ठ गोविदन्	॥ ५ ॥
इमं वीरमनुं हर्षधन्मुग्रमिन्द्र सखायो अनु सं रंभध्वम् । ग्रामजितं गोजितं वज्रपाहुं जयन्तमजम् प्रमृणन्तमोजंसा	॥ ६ ॥
अभि गोत्राणि सहसा गार्दमानोऽद्राय उग्रः श्रतमन्युरिन्द्रः । दृश्यवनः पृतनापाड्योध्योऽस्माकं सेना अवतु प्र युस्तु	॥ ७ ॥
वृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्रो अपवारधमानः । प्रभञ्जंछत्रं प्रमृणन्मित्रान्स्माकंभेष्यिता तनूनाम्	॥ ८ ॥
इन्द्र एषां नेता वृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः । देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु मध्ये	॥ ९ ॥

अर्थ— (स इपु हस्तै) वह बाण हाथमें धरनेवाले वारोंके साथ, (स निपङ्गिभि) वह तर्कणवाले वीरोंके साथ रहेवाला (घणी) वशमें रखनेवाला, (युध ससृष्टा स) युद्धोंको करनेवाला, (गुणेन इन्द्र) समूहोंके साथ वह इन्द्र (संसृष्टजित्) सनाके जीतनेवाला, (सोमपा) सोमरस पानेवाला, (वाहुराघी) वाहुबलसे युक्त (उग्रधन्वा) मयकर धनुष्य धरनेवाला (प्रतिहिताभिः अस्ता) शत्रुसेनाके भेजे शस्त्रोंको नितर बितर करनेवाला वीर है ॥ ४ ॥

(वलविज्ञाय) अपने और शत्रुके बलको जाननेवाला, (स्वधिर) युद्धमें स्थिर रहनेवाला, (प्रवीर) उत्तम वीर, (सहस्वान्) बलवान्, (वाजी) शक्तिमान् (सहमान उग्रः) शत्रुको दवानेवाला उग्र वीर (अभिवीर) शत्रुके चारों ओर वीर रहत है (अभि-सत्वा) चारों ओर बलवान् वारोंसे युक्त (सहोजित्) बलोंसे शत्रुको जीतनेवाला तू है । हे इन्द्र ! हे (गो-विदन्) भूमिको अपने वशमें रखनेवाला वार ! (जैत्रे रथं वा तिष्ठ) विजयी रूपर बैठ ॥ ५ ॥

हे (सखाय) मित्रो ! (इमं उग्र वीरं इन्द्र) इस उग्रवीर इन्द्रको (अनु हर्षध्वं) आनन्दित करो और (अनु स रंभध्वं) उनके अनुकूल प्रयत्न करा । वह (ग्रामजित) शत्रुके ग्रामोंको जीतनेवाला, (गोजित) गाँवोंको जीतनेवाला, (वज्रपाहु) वज्रके धामन बाहुवाला, (अजम् जयन्ते) युद्ध जीतनेवाला (ओजसा प्रमृणन्ते) और वेगध शत्रुको कुचलनेवाला है ॥ ६ ॥

(गोत्राणि सहस्रा अभि गार्दमान) गोरक्षक बाँहोंको अपने बलसे धरनेवाला, (अ-द्राय) शत्रुपर दया न करनेवाला, (उग्रः श्रतमन्युः) उग्रवीर शत्रुको उसाहोंसे युक्त (दृश्यवन) स्थानभ्रष्ट करनेके लिये अशक्य (पृतना पाद्) शत्रुसेनाका पराभव करनेवाला (अयोध्य इन्द्र) शत्रुके साथ युद्ध करना अशक्य है ऐसा यह इन्द्र (युस्तु अस्माकं सेनाः प्र अवतु) युद्धमें हमारी सेनाओंका रक्षण करे ॥ ७ ॥

हे वृहस्पते ! (अभिप्रान् अपवारधमान) शत्रुओंको बाधा पहुचानेवाला (रक्षो-हा) शत्रुओंका नाश करता हुआ (रथेन परि दीया) रथसे शत्रुको घेर । (शत्रुन् प्रभञ्जन्) शत्रुओंको कुचलता हुआ और (अभिप्रान् प्रमृणन्) शत्रुओंका नाश करता हुआ और (अस्माकं तनूनां अविता) हमारे शरशोंका रक्षण करता हुआ (पधि) आगे बढ़ ॥ ८ ॥

(इन्द्रः एषां नेता) इन्द्र इनका नेता है, (वृहस्पति दक्षिणा) वृहस्पति दक्षिण हाथकी ओर रहे, (यज्ञ सोमः पुर पतु) यज्ञनाय सोम भाग चले । (अभि भञ्जतीनां) शत्रुको तोड़नेवाली, (जयन्तीनां) जीतनेवाली (देवसेनानां) देवसैन्योंके (मध्ये) मध्यमें (मरुतः अभि यन्तु) मरुत आगे बढ़ें ॥ ९ ॥

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्षं उग्रम् ।

महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदेस्थात्

॥१०॥

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।

अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मान्देवासोऽवता हवेषु

॥११॥ (८७)

अर्थ— (वृष्णः इन्द्रस्य) बलवान् इन्द्रका (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजाका (आदित्यानां मरुतां) आदित्यों और मरुताका (उग्रं शर्षः) प्रबल सामर्थ्य प्रकट हो रहा है । (महा-मनसां) बड़े मनवाले (भुवनच्यवानां देवानां) भुवननोंको हिलानेवाले देवोंका (जयतां) जीतनेके समय (घोषः उदस्थात्) घोषका शब्द ऊपर उठ रहा है ॥ १० ॥
(समृतेषु ध्वजेषु) ध्वज इच्छु होनेपर (अस्माकं इन्द्रः) हमारा इन्द्र विजय करे । (अस्माकं या इषवः ता जयन्तु) हमारे जो बाण हैं वे जीते । (अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्तु) हमारे वीर ऊंचे रहें । (हवेषु अस्मान् देवासः अवत) युद्धमें हमें देव सुरक्षित रखें ॥ ११ ॥

इस सूक्तमें विजय पानेके लिये क्या करना चाहिये वह स्पष्ट है । इन्द्रके समान जो बनेगे वे विजय प्राप्त करेंगे । इस दृष्टिसे इस सूक्तमें इन्द्रके गुणोंका जो वर्णन आया है वह मनपूर्वक देखने योग्य है—

१ बाहु स्थविरौ वृषाणौ— बाहु सुदृढ और बलवान् हों ।

२ वृषमी पारारिण्यू— हाथके समान बलिष्ठ और दुःखसे छुवानेमें समर्थ ।

३ असुराणां स्वः जितं— असुरोंका सर्वस्व जीता । प्राण दान करनेवालोंको प्राप्त होनेवाला स्वर्ग प्राप्त किया ।

४ आशुः शिषानः— त्वरासे कार्य करनेवाला और तीक्ष्ण स्वभाव होना,

५ भीमः घनाघनः— भयंकर आघात करके शत्रुका नाश करनेवाला,

६ स्वर्षणीनां क्षोभणः— मानकोंका क्षोभकारक हलचल करनेवाला,

७ संक्रन्दनः अनिमिषः एकयोरः— गंजना करनेवाला, आँसुकी पलकें न झारकनेवाला अद्वितीय वीर,

८ साकं शतं सेना अजयत्— एक साथ ही सेनाको जीतनेवाला,

९ जिष्णुः अयोधयः दुश्च्यवनः घृष्णुः— विजयी, जिसके साथ युद्ध करना अशक्य है, जिसको स्थापने प्रष्ट करना कठिन है और जो शत्रुको धर्म्य करता है ।

१० इषुहस्तः घृष्णः— बाण हाथमें धरनेवाला बलवान् वीर,

११ जयत, सहध्वं— विजय करो, शत्रुको पराभूत करो ।

१२ निपक्षो घशी— कवचधारी, तर्कधारी, सबको वचनमें रखनेवाला,

१३ युधः संघघ्रा— युद्धोंको सम्यक् रीतिसे करनेवाला,
१४ संसृष्टजित् वाहुशर्षी— युद्ध जीतनेवाला, बाहुबल जिसमें विशेष है,

१५ उग्रघन्वा अस्ता— उग्र घनुष्य धरनेवाला, शत्रुपर बाण फेंकनेवाला,

१६ बलविश्रायः स्थविरः प्रवीरः— अपने और शत्रुके बलको यथावत् जाननेवाला, युद्धमें स्थिर रहनेवाला, विशेष वीर ।

१७ सहस्वान् वाजी सहमानः उग्रः— शत्रुको पराभूत करनेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, उग्रवीर,

१८ अभिधीरः अभि-सत्वा, सहोजित्— वीरोंके साथ रहनेवाला, बलशाली, अपने बलसे शत्रुको जीतनेवाला,

१९ जैत्रं रथं आ तिष्ठ— विजयी रथपर चढ़ ।

२० धीरं अशु ह्यर्ष्वं— वीरका उत्साह बढ़ाओ ।

२१ उग्रं अशु सं रभध्वं— उग्र वीरको प्रोत्साहन दो ।

२२ ग्रामजितं गोजितं— ग्रामको जीतनेवाला, गौशाली जीतनेवाला,

२३ वज्रवाहुं जयन्तं— वज्रके समान बाहुवाला, विजयी वीर,

२४ ओजसा प्रमृणन्तं— बलसे शत्रुको नष्ट करनेवाले,

२५ गोत्राणि सहसा गाघमानः— गौरवके स्थान बलसे प्राप्त करनेवाला,

२६ शतमन्युः— शत्रुको प्रहारसे शत्रुपर क्रोध करनेवाला,

२७ दुश्च्यवनः घृतनायाद् अयोधयः— रथानग्रष्ट करनेके लिये अशक्य, शत्रुसेनाको जीतनेवाला, जिसके साथ युद्ध करना अशक्य है ।

(१४) अभयम् ।

(ऋषिः— अघर्षा । देवता— घावापृथिवी ।)

इदमुच्छ्रेयोऽवसानमार्गां शिवे मे घावापृथिवी अभूताम् ।

असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वां द्विष्मो अभयं नो अस्तु

॥ १ ॥ (८८)

(१५) अभयम् ।

(ऋषि — अघर्षा । देवता— इन्द्रः, मन्त्रोक्ताः ।)

यतं इन्द्र भयामहे ततो नो अभयं कृधि ।

मघर्वं छग्धि तव त्वं न ऊतिभिर्वि द्विषो वि मृधो जहि

॥ १ ॥

इन्द्रं वयमनुराधं हवामहेऽनु राध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा ।

मा नः सेना अरंरूपीरुषं गुर्विपूंचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय

॥ २ ॥

२८ युस्तु अस्माक सेना अवतु— युद्धोमें हमारी सेना
आवा रक्षण कर ।२९ रक्षाहा, अभिभान् अपराग्रमान्— रागसाका
नाशक, शत्रुओंको बाधा पहुंचानेवाला ।३० शत्रून् प्रमज्जन्, अभिभान् प्रमृणन्— शत्रुओंका
नाश करके दुष्टोंको कुचलनेवाला,

३१ अस्माक तनूना अघिता— हमारे शरीरोंका रक्षक

३२ अभिमज्जतीनां जयतीनां देवसेनानां— शत्रुघा
विनाश करके जय पानेवालों देवसेना ।३३ महामनसा भुवनच्यवानां जयतां देवानां घोष
उदस्थान्— बड़ मनवाले, भुवनोंको हिलानेवाले,
जय करनेवाले देवोंका जयघोष हो रहा है ।

३४ अस्माक इष्य जयन्तु— हमारे बाग जय प्राप्त करें ।

३५ अस्माक वीरा उत्तरे भवन्तु— हमारे वीर ऊंच हों,

३६ अस्मान् देवासः हवेषु अवसत— हमें देव युद्धोंमें
सुरासत रखे ।ये वचन विचारमें लेनेस पता लग सकता है कि किन
गुणस जय होता है । इनके विरुद्ध दुर्गुणसे परामव होता है ।

(१४) अभयम् ।

अर्घ्य— (इद श्रेय अवसान उन् अगाम्) इद श्रेय लक्ष्यतक मैं पहुंच गया हू । (घावा—पृथिवी मे शिवे अभूतां) युलोक और भूलोक मेरे लिये सुख देनेवाले हों । (प्रदिश मे असपत्नाः भवन्तु) दिशाएं मेरे लिये शत्रुरहित हों । (त्वा न द्विष्म वै) तैरा हम द्वेष नहीं करते । (न अभय अस्तु) हमारे लिये अभय हो ॥ १ ॥

' न वै त्वा द्विष्म '— हम तैरा द्वेष नहीं करते । यह वचन मुख्य है । हम स्वयं कितोका द्वेष नहीं करेंगे । पर दूसरे द्वेष करने लग, तो हम उनको रहने नहीं देंगे । क्योंकि चारों दिशाओंमें निर्मयता और शान्ति स्थापन करना है ।

(१५) अभयम् ।

(हे इन्द्र) हे इन्द्र ! (यतः भयामहे) ऋषिसे हमें भय होता है (ततः) बहास (नः अभय कृधि) हमें निर्भय कर । ह (मघवन्) इन्द्र ! (त्वं छग्धि) ऐसा करनेमें तू समर्थ है । (त्वं तव ऊतिभि) तू अपने रक्षण सामर्थ्योंसे (द्विषः वि जहि) द्वेष करनेवालोंको जीत और (मृध वि जहि) हिंसकोंका नाश कर ॥ १ ॥

(वय अनुराध इन्द्र इवामहे) हम अनुकूल सिद्धि करनेवाले इन्द्रकी स्तुति करते हैं । (द्विपदा चतुष्पदा अनु राध्यास्म) दो पांववालों और चार पांववालोंसे हम अनुकूल सिद्धि प्राप्त करें । हे इन्द्र ! (अरंरूपी सेनाः नः मा अप गु) अनुदार सेनाएं हमारे पास न आ जाय । (विपूंचीः द्रुहः वि नाशय) सब द्रोहियोंकी सेनाओंका नाश कर ॥ २ ॥

इन्द्रं चातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः ।

स रक्षिता चरमतः स मध्यतः स पश्चान्स पुरस्तान्नो अस्तु ॥ ३ ॥

उरुं नो लोकमनुं नेपि विद्वान्त्स्वर्भूर्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।

उग्रा तं इन्द्र स्वविरस्य चाहू उप क्षयेम श्रणा वृहन्ता ॥ ४ ॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।

अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥ ५ ॥

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।

अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ ६ ॥ (१४)

(१६) अभयम् ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

असपन्नं पुरस्तात्पश्चान्चो अभयं कृतम् । सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥ १ ॥

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्यां रक्षन्त्वभयः ।

इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादुश्विनावभितः शर्मं यच्छताम् ।

तिरश्चीन्ध्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतां मे सर्वतः सन्तु वर्म ॥ २ ॥ (१६)

अर्थ— (इन्द्रः प्राता) इन्द्र रक्षक है (उत वृत्रहा) और वह शत्रुनाशक है । वह (परस्फानः वरेण्यः) शत्रुनाशक और सर्व श्रेष्ठ है । (सः) वह (चरमतः स मध्यतः) अन्तरे, मध्ये, (स पश्चात् स पुरस्तात्) पीछेसे और आगेसे (नः रक्षिता अस्तु) हमारा रक्षक हो ॥ ३ ॥

तू विद्वान् हो इसलिये तू (उरुं लोकं नः अनु नेपि) हमें विशाल लोकमें ले जा । (यन् स्वः ज्योतिः) बड़ा सुखमय ज्योति है और (अभयं स्वस्ति) हमारे लिये निर्भयता और सुख है । हे इन्द्र ! (ते स्वविरस्य चाहू उग्रा) तेरे युद्धमें स्थिर रहनेवालेकी दोनों भुजाएं बलों वर्य हैं । (वृहन्ता श्रणा उप क्षयेम) हम तेरे बड़े आश्रयस्थानमें रहेंगे ॥ ४ ॥

(अन्तरिक्षं नः अभयं करति) अन्तरिक्ष हमें निर्भय करे । (उभे इमे द्यावापृथिवी अभयं) दोनों ये तु और पृथिवी हमें निर्भय करे । (पश्चात् अभयं, पुरस्तात् अभयं) पीछेसे और आगेसे अभय हो, (उत्तरात्, अधरात् नः अभयं अस्तु) ऊपरसे और नीचेसे हमें अभय हो ॥ ५ ॥

(मित्रात् अभयं अमित्रात् अभयं) मित्रसे और शत्रुसे हमें अभय हो, (ज्ञातात् अभयं, यः पुरः अभयं) ज्ञान हुरूपसे अभय हो, जो आगे है, उससे अभय हो, (नः अभयं नक्तं अभयं दिवाः, राशीमे और रित्नेमे हमारे लिये अभय हो, (सर्वाः आशाः मम मित्रं भवन्तु) सब दिशाएं हमारी मित्र बनें ॥ ६ ॥

(१६) अभयम् ।

(पुरस्तात् असपन्नं) आगेसे शत्रु न रहे, (नः पश्चात् अभयं कृतं) हमें पीछेसे अभय हो । (सविता मा दक्षिणतः) सविता मुझे दक्षिणसे और (शचीपतिः मा उत्तरात्) शकिका स्वामी उत्तर दिशासे निर्भय करे ॥ १ ॥

(मादित्याः दिवा मा रक्षन्तु) आदित्य धूलोकेसे मेरी रक्षा करें, (भूम्यां अन्नयः रक्षन्तु) भूमिमें अग्नि रक्षण करें । (इन्द्राग्नी पुरस्तात् मा रक्षतां) इन्द्र और अग्नि आगेसे रक्षण करें, (अश्विनां अभितः शर्मं यच्छतां) अश्विनो अन्दरसे सुख दें । (अश्विन्या तिरश्चीन् रक्षतु) गौ तिरछेकी रक्षा करें । (भूतकृतः जातवेदाः) भूतोंको यज्ञनेवाला जातवेद अग्नि (मे सर्वतः वर्म सन्तु) मेरा सब ओरसे रक्षक बन्य हो ॥ २ ॥

(१७) सुरक्षा ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

अग्निमां पातु वसुभिः पुरस्तात्तस्मिन्क्रमे तस्मिच्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।	
स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं ददु स्वाहा ॥ १ ॥	
वायुर्मान्तरिक्षेणैतस्यां दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिच्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।	
स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं ददु स्वाहा ॥ २ ॥	
सोमो मां रुद्रैर्दक्षिणाया दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिच्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।	
म मां रक्षतु म मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं ददु स्वाहा ॥ ३ ॥	
वरुणो मादित्यैरेतस्यां दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिच्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।	
म मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं ददु स्वाहा ॥ ४ ॥	
सूर्यो मां द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्यां दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिच्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।	
स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं ददु स्वाहा ॥ ५ ॥	
आपो मौषधिमतीरेतस्यां दिशः पातु तासुं क्रमे तासुं श्रये तां पुरं प्रैमि ।	
ता मां रक्षन्तु ता मां गोपायन्तु ताम्यं आत्मानं परिं ददु स्वाहा ॥ ६ ॥	
विश्वकर्मा मां सप्तऋषिभिरुदीच्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिच्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।	
स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं ददु स्वाहा ॥ ७ ॥	

(१७) सुरक्षा ।

अर्थ—(वसुभिः पुरस्तात्) वसुओंके साथ आगेसे (अग्नि मां पातु) अग्नि मेरो रक्षा करे । (तस्मिन् क्रमे) उसमें मैं चलता हूँ । (तस्मिन् श्रये) उसमें आश्रय लेना हूँ । (तां पुरं प्रैमि) उस नगरमें मैं जाता हूँ । (स मां रक्षतु) वह मेरी रक्षा करे । (स मां गोपायतु) वह मुझे बचावे । (तस्मां आत्मानं परिं ददु) उसके लिये मैं अपने आपको देता हूँ । (स्वाहा) मैं समर्पण करता हूँ ॥ १ ॥

(वायु मां अन्तरिक्षेण) वायु मुझे अन्तरिक्षसे (एतस्यां दिशं पातु) उक्त दिशासे सुरक्षित रखे । (आपो पूर्ववत्) ॥ २ ॥

(सोम मां रुद्रैर्दक्षिणाया दिशं पातु) सोम मुझे रुद्रोंके साथ दक्षिण दिशासे सुरक्षित रखे ॥ • ॥ ३ ॥

(वरुण मां आदित्यै एतस्यां दिशं पातु) वरुण मुझे आदित्योंके साथ इस दिशासे सुरक्षित रखे ॥ • ॥ ४ ॥

(सूर्यो मां द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्यां दिशं पातु) सूर्य मुझे दुनोक और पृथिवी लोकमें पश्चिम दिशासे सुरक्षित रखे ॥ • ॥ ५ ॥

(आपो ओषधिमतीः एतस्यां दिशं मां पातु) जल और यधि युक्त मुझे इस दिशासे सुरक्षित रखे ॥ • ॥ ६ ॥

(विश्वकर्मा सप्तऋषिभिः मां उदीच्यां दिशं पातु) विश्वकर्मा सप्तऋषियोंके साथ मुझे उत्तर दिशासे सुरक्षित रखे ॥ • ॥ ७ ॥

इन्द्रो मां मरुत्वानितसा दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिन्मूले तां पुरं प्रैमिं ।

स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं ददु स्वाहा ॥ ८ ॥

प्रजापतिर्मा प्रजननवान्त्सह प्रतिष्ठाया ध्रुवाया दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिन्मूले तां पुरं प्रैमिं ।

स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं ददु स्वाहा ॥ ९ ॥

बृहस्पतिर्मा विश्वेदेवैरुर्वाया दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिन्मूले तां पुरं प्रैमिं ।

स मां रक्षतु स मां गोपायतु तस्मां आत्मानं परिं ददु स्वाहा ॥ १० ॥ (१०६)

(१८) सुरक्षा ।

(आपिः — अथर्वा । देवता — मन्त्रोक्ताः ।)

अग्निं ते वसुवन्तमृच्छन्तु । ये मांघ्रायवः प्राच्या दिशोऽभिदासात् ॥ १ ॥

वायुं तेऽन्तरिक्षवन्तमृच्छन्तु । ये मांघ्रायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ २ ॥

सोमं ते रुद्रवन्तमृच्छन्तु । ये मांघ्रायवो दक्षिणाया दिशोऽभिदासात् ॥ ३ ॥

वरुणं त आदित्यवन्तमृच्छन्तु । ये मांघ्रायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ ४ ॥

सूर्यं ते घावापृथिवीवन्तमृच्छन्तु । ये मांघ्रायव प्रचीच्या दिशोऽभिदासात् ॥ ५ ॥

अपस्त ओषधीमतींश्चच्छन्तु । ये मांघ्रायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ ६ ॥

विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु । ये मांघ्रायव उदीच्या दिशोऽभिदासात् ॥ ७ ॥

अर्थ— (इन्द्रः मरुत्वान् मा पतस्या दिशः पातु) इन्द्र मरुतोंके साथ मुझे इस दिशामें सुरक्षित रखे ॥ • ८ ॥
(प्रजापतिः प्रजननवान् प्रतिष्ठाया सह ध्रुवायाः दिशः मा पातु) प्रजापति प्रजननशक्तोंके और प्रतिष्ठासे युक्त ध्रुव दिशामें मुझे सुरक्षित रखे ॥ • ९ ॥

(बृहस्पतिः विश्वैः देवैः मा ऊर्वाया दिशः पातु) बृहस्पति सब देवोंके साथ मुझे ऊर्ध्व दिशामें सुरक्षित रखे ॥ • १० ॥

(१८) सुरक्षा ।

(ये अघ्रायवः) जो पापी (मा) मुझे (प्राच्या दिशः अभिदासात्) पूर्व दिशासे आकर दास बनाना चाहते हैं, (ते वसुवन्तं अग्निं ऋच्छन्तु) वे वसुओंके साथ अग्निके मात हों ॥ १ ॥

जो पापी (पतस्या दिशः) इस दिशासे आकर दास बनाना चाहते हैं, वे (अन्तरिक्षवन्तं वायुं) अन्तरिक्षमें रहने-वाले वायुके (ऋच्छन्तु) आधीन हों ॥ • २ ॥

जो पापी दक्षिण दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (रुद्रवन्तं सोमं ऋच्छन्तु) रुद्रसे युक्त सोमके आधीन हों ॥ • ३ ॥

जो पापी इस दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (आदित्यवन्तं वरुणं ऋच्छन्तु) आदित्य युक्त वरुणके आधीन हों ॥ • ४ ॥

जो पापी पश्चिम दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (घावापृथिवीवन्तं सूर्यं) घावापृथिवीसे युक्त सूर्यके वधमें होकर रहें ॥ • ५ ॥

जो पापी इस दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (ओषधीमती आपः) औषधि युक्त अलोंके वधमें होकर रहें ॥ • ६ ॥

जो पापी उत्तर दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (सप्तऋषिवन्तं विश्वकर्माणं) सप्त ऋषि युक्त विश्व-कर्माके वधमें होकर रहें ॥ • ७ ॥

इन्द्रं ते मरुत्वन्तमृच्छन्तु । ये मांघ्रायव एतस्यां दिशोऽभिदासात् ॥ ८ ॥
 प्रजापतिं ते प्रजननवन्तमृच्छन्तु । ये मांघ्रायवो ध्रुवायां दिशोऽभिदासात् ॥ ९ ॥
 बृहस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु । ये मांघ्रायव ऊर्ध्वायां दिशोऽभिदासात् ॥ १० ॥ (११६)

(१९) शर्म ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — चन्द्रमा, मन्त्रोक्ताश्च ।)

मित्रः पृथिव्यादक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
 तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ १ ॥
 वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
 तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ २ ॥
 सूर्यो दिवोदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
 तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ३ ॥
 चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
 तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ४ ॥
 सोम ओषधीभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
 तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ५ ॥
 यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
 तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ६ ॥
 समुद्रो नदीभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः ।
 तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ७ ॥

अर्थ— जो पापी इस दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (मरुत्वन्तं इन्द्रं) मरुत्वान् इन्द्रके वशमें होकर रहे ॥ ० ८ ॥
 जो पापी ध्रुव दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (प्रजननवन्तं प्रजापतिं) प्रजनन सामर्थ्यसे युक्त प्रजा-
 पतिके वशमें होकर रहे ॥ ० ॥ ९ ॥
 जो पापी ऊर्ध्व दिशासे आकर मुझे दास बनाना चाहते हैं, वे (विश्वदेववन्तं बृहस्पतिं) विश्वे देवोंके साथ बृहस्पति
 के वशमें होकर रहे ॥ ० ॥ १० ॥

(१९) शर्म ।

(मित्रः पृथिव्या उदक्रामत्) मित्र प्रथिवीसे ऊपर चढा । (वः तां पुरं प्र णयामि) आपको उस किल्लेमें मैं ले
 जाना हूँ, । तां आ विशत्) उद्यम जाओ, (तां प्र विशत्) उद्यम प्रविष्ट होओ, (सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु)
 वह तुम्हें सुख और राज् कवच देवे ॥ १ ॥

(वायुः अन्तरिक्षेण उदक्रामत्) वायु अन्तरिक्षसे ऊपर चढा ॥ ० ॥ २ ॥

(सूर्यः दिवा उदक्रामत्) सूर्य युलोकसे ऊपर चढा ॥ ० ॥ ३ ॥

(चन्द्रमा नक्षत्रैः उदक्रामत्) चन्द्रमा नक्षत्रोंके साथ ऊपर चढा ॥ ० ॥ ४ ॥

(सोमः ओषधीभिः उदक्रामत्) सोम ओषधियोंके साथ ऊपर चढा ॥ ० ॥ ५ ॥

(यज्ञः दक्षिणाभिः उदक्रामत्) यज्ञ दक्षिणाओंसे ऊपर चढा ॥ ० ॥ ६ ॥

(समुद्रो नदीभिः उदक्रामत्) समुद्र नदियोंसे ऊपर चढा ॥ ० ॥ ७ ॥

ब्रह्मं ब्रह्मचारिभिरुदकामृत्तां पुरं प्र णयामि वः ।

तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्मं च वर्मं च यच्छतु

॥ ८ ॥

इन्द्रो वीर्येणोदकामृत्तां पुरं प्र णयामि वः ।

तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्मं च वर्मं च यच्छतु

॥ ९ ॥

देवा अमृतेनोदकामृत्तां पुरं प्र णयामि वः ।

तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्मं च वर्मं च यच्छतु

॥ १० ॥

प्रजापतिः प्रजाभिरुदकामृत्तां पुरं प्र णयामि वः ।

तामा विशत् तां प्र विशत् सा वः शर्मं च वर्मं च यच्छतु

॥ ११ ॥ (१२७)

(२०) सुरक्षा ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — नाना देवताः ।)

अप न्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी घाता सवित्रा बृहस्पतिः ।

सोमो राजा वरुणो अश्विनां यमः पूषास्मान्परिं पातु मृत्योः

॥ १ ॥

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिषां प्रजाभ्यः ।

प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु

॥ २ ॥

यत् तनुष्वनघ्नन्त देवा घुराजयो देहिनः । इन्द्रो यत्क्रे वर्मं तदुस्मान्पातु विश्वतः ॥ ३ ॥

वर्मं मे घावापृथिवी वर्माह्वर्मं सूर्यः । वर्मं मे विश्वे देवाः क्रन्मा मा प्रापत्प्रतीचिका ॥ ४ ॥ (१३१)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अथ— (ब्रह्म ब्रह्मचारिभिः उदकामृत्) शान ब्रह्मचारियोंके साथ उल्कांत हुआ ॥ ० ॥ ८ ॥

(इन्द्रः वीर्येण उदकामृत्) इन्द्र वीर्यसे ऊपर चढा ॥ ० ॥ ९ ॥

(देवा अमृतेन उदकामृत्) देव अमृतके साथ ऊपर चढे ॥ ० ॥ १० ॥

(प्रजापतिः प्रजाभिः उदकामृत्) प्रजापति प्रजाओंके साथ ऊपर चढा ॥ ० ॥ ११ ॥

(२०) सुरक्षा ।

(यं पौरुषेयं वधं अप नि अधुः) भिन्न पुरुषने फेके शस्त्रको दूर रखते हैं । इन्द्र, अग्नि, घाता, सविता, बृहस्पति, सोम राजा, वरुण, अश्विनौ, यम, पूषा, ये सब (अस्मान् मृत्योः परि पातु) हमें मृत्युसे छुड़चित रखें ॥ १ ॥

(भुवनस्यः यः पतिः) भुवनके पति प्रजापति वायुने (प्रजाभ्यः यानि चकार) प्रजाओंके लिये जो कवच किये (प्रदिशः दिशः च यानि वसते) दिशा उपदिशाओंमें जो कवच बसते हैं (तानि वर्माणि मे बहुलानि सन्तु) वे कवच मेरे लिये बहुत हों ॥ २ ॥

(ते तनुषु) टेरे अतीमें (देहिनः घुराजयो देवाः) देहधारी त्रेखी देव (यत् अनघ्नन्त) जो शक्ति धारण करते हैं, (इन्द्रः यत् वर्मं चक्रे) इन्द्रने जो कवच बनाया (तत् विश्वतः अस्मान् पातु) वह सब ओरसे हमारी रक्षा करें ॥ ३ ॥

(घावा पृथिवी मे वर्मं) गुलोक और पृथिवीं मेरा कवच हों, (अहः वर्मं) दिन मेरा कवच हो, (सूर्यः वर्मं) सूर्य मेरा कवच हो, (विश्वे देवाः मे वर्मं क्रन्) विश्वे देव मेरा कवच करें, (प्रतीचिका मा मा प्रापत्) विरोधी मुझे प्रह्न न हों ॥ ४ ॥

॥ यद्वां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

(२१) छन्दांसि ।

(ऋषि — ब्रह्मा । देवता — छन्दांसि ।

गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यै

॥ १ ॥ (१३०)

(२२) ब्रह्मा ।

(ऋषि — अङ्गिरा । देवता — मन्त्रोक्तदेवता ।

आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥ १ ॥ पृष्ठाय स्वाहा ॥ २ ॥

सप्तमाष्टमाभ्या स्वाहा ॥ ३ ॥ नीलनखेम्यः स्वाहा ॥ ४ ॥

हरितेम्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ क्षुद्रेम्यः स्वाहा ॥ ६ ॥

पर्यायिकेम्यः स्वाहा ॥ ७ ॥ प्रथमेभ्यः शृङ्गेभ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥

द्वितीयेभ्यः शृङ्गेभ्यः स्वाहा ॥ ९ ॥ तृतीयेभ्यः शृङ्गेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥

उपोत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ उत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ १२ ॥

उत्तरेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥ ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥

शिखिभ्यः स्वाहा ॥ १५ ॥ गणेभ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥

महागणेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥ सर्वेभ्योऽङ्गिर्नाम्नो विदगणेभ्यः स्वाहा ॥ १८ ॥

पृथक्सहस्राभ्या स्वाहा ॥ १९ ॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २० ॥

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठ दिवमा तंतान ।

भूतानां ब्रह्मा प्रथमानं जज्ञे तेनाहति ब्रह्मणा स्वर्धितुं कः ॥ २१ ॥ (१५३)

(२१) छन्दांसि ।

अर्थ— गायत्री, उष्णिक अनुष्टुप, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप, जगता ये वेदके छन्द हैं ॥ १ ॥

(२२) ब्रह्मा ।

आंगिरसोंके पहिले पञ्चानुवाकोंके साथ २ छठके लिये, ३ सप्तम अष्टमके लिये, ४ नाले नखोंवालेके लिये, ५ हरोंके लिये, ६ क्षुद्रोंके लिये ७ पर्यायिक लोंके लिये, ८ पहिले शृङ्गोंके लिये, ९ क्षुद्र शृङ्गोंके लिये, १० तासुर शृङ्गोंके लिये, ११ अतारोंके जो उत्तम हैं उनके लिये, १२ उत्तमोंके लिये १३ उच्चतरोंके लिये, १४ ऋषियोंके लिये, १५ शिखावालोंके लिये, १६ गणोंके लिये १७ बह गणोंके लिये १८ गणोंको जाननेवाले सब अंगिरोंके लिये, १९ अलग अलग सहस्रवाले दोनोंके लिये, २० ब्रह्माके लिये हम अर्पण करते हैं ।

अथर्ववेदमें २० काण्ड हैं, उन प्रत्येक काण्डके अनुवाक सूक्त और गण आदिका वे सङ्गाय हैं, उनमें ब्रह्मा ऋषियोंका भाषकेत है । बास काण्डोंके लिये ये बास सूक्त हैं ।

(ब्रह्म—ज्येष्ठा वीर्याणि संभृता) ब्रह्मज्ञान जिनमें श्रेष्ठ हैं एते सब प्रकारके बलके उपदेश यहाँ इच्छित किये हैं । (अग्रे ज्येष्ठ ब्रह्म) प्रारम्भमें ज्येष्ठ ब्रह्मने (दिव्य आततान) युवाकके विस्तृत किया । (ब्रह्मा उत भूताना प्रथम जज्ञे) ब्रह्मा भूतोंके पहिले उत्पन्न हुआ । (तेन ब्रह्मणा क स्वर्धितु अहति) उस ब्रह्माके साथ स्वर्धा करनेके लिये कौन समर्थ होता है ॥ २१ ॥

इस वेदमें ब्रह्मज्ञान तथा अन्य सामर्थ्य इच्छित समर्पित हुए हैं । सबसे प्रारम्भमें ब्रह्म प्रकृत हुआ । उसने आकाश उत्पन्न किया । पश्चात् ब्रह्मा उत्पन्न हुआ त्रिघने सृष्टीकी रचना की । वह सबसे अधिक सामर्थ्यवान् था, अतः सबसे स्वर्धा करनेमें कोई समर्थ नहीं था ।

(२३) अथर्वानः ।

(ज्ञापिः — अथर्वा । देवता — मन्त्रोक्ताः चन्द्रमास्य ।)

आयर्वणानां चतुर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥१॥	पञ्चर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥
षड्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ ३ ॥	सप्तर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥
अष्टर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥	नवर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥
दशर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥	एकादशर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥
द्वादशर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ ९ ॥	त्रयोदशर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥
चतुर्दशर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥	पञ्चदशर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ १२ ॥
षोडशर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥	सप्तदशर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥
अष्टादशर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ १५ ॥	एकोनविंशतिः स्वाहा ॥ १६ ॥
विंशतिः स्वाहा ॥ १७ ॥	महत्काण्डाय स्वाहा ॥ १८ ॥
तुचेभ्यः स्वाहा ॥ १९ ॥	एकर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ २० ॥
द्वुर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ २१ ॥	एकानुर्भुजेभ्यः स्वाहा ॥ २२ ॥
रोहितेभ्यः स्वाहा ॥ २३ ॥	सूर्याभ्यां स्वाहा ॥ २४ ॥
ब्राह्म्यां स्वाहा ॥ २५ ॥	ब्राह्म्यापत्याभ्यां स्वाहा ॥ २६ ॥
विषासह्ये स्वाहा ॥ २७ ॥	मङ्गलिकेभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥
ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २९ ॥	

ब्रह्मज्येष्ठा संमृता वीर्याणि ब्रह्माग्ने ज्येष्ठं दिवमा तंतान ।

भूतानां ब्रह्मा प्रथमोतं जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः

॥२०॥ (१८३)

(२३) अथर्वानः ।

अर्थ— १ अथर्ववेदके चार ऋचावालोंके लिये, २ पाँच ऋचावालोंके लिये, ३ छः ऋचावालोंके लिये, ४ सात ऋचावालोंके लिये, ५ आठ ऋचावालोंके लिये, ६ नौ ऋचावालोंके लिये, ७ दस ऋचावालोंके लिये, ८ ग्यारह ऋचावालोंके लिये, ९ बारह ऋचावालोंके लिये, १०-तेरह ऋचावालोंके लिये, ११ चौदह ऋचावालोंके लिये, १२ पंद्रह ऋचावालोंके लिये, १३ सोलह ऋचावालोंके लिये, १४ सत्तरह ऋचावालोंके लिये, १५ अठारह ऋचावालोंके लिये, १६ उन्नीस ऋचावालोंके लिये, १७ बीसके लिये, १८ बडे काण्डोंके लिये, १९ तीन ऋचावालोंके लिये, २० एक ऋचावालोंके लिये, २१ छुद्रोंके लिये, २२ एक चरणकी, जिसकी ऋचा यहीं कडा जाता, उनके लिये, २३ हरके लिये, २४ दो सूर्योंके लिये, २५ ब्राह्मियोंके लिये, २६ ब्राह्मणियोंके लिये, २७ विषासह्येके लिये, २८ मंगलिकोंके लिये, २९ ब्रह्मके लिये हम समर्पण करते हैं ।

३० वें मंत्रका अर्थ पूर्व स्थानमें २२।२१ में दिया है ।

'महाकाण्ड' का संकेत २० वें काण्डसे है, चार, पाँच आदि संख्यासे उन ऋषियोंका संकेत है कि जिनके सूक्त इतनी संख्याके मंत्रोंके हैं । गोपय भा. १।१।५ में इस विषयमें देखने योग्य है । छुद्रसे यजुर्वेद, पर्यायिकसे ओ पर्याय हैं, एकानृचका अर्थ आधा मंत्र, रोहित प्रतिपादक काण्ड रोहित पदसे, विषासह्येसे १७ वां काण्ड इस तरह बोध होता है ।

(२४) राष्ट्रम् ।

(ऋषि — अथर्वा । देवता — प्रह्मणस्पतिः, नाना देवता ।)

येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन् । तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय घत्तन ॥ १ ॥

परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय घत्तन । यथैनं जरसे नयां ज्योक्क्षेत्रेऽधि जागरत् ॥ २ ॥

परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय घत्तन । यथैनं जरसे नयां ज्योक्क्षेत्रेऽधि जागरत् ॥ ३ ॥

परिं घत्त घत्त नो वर्चसिंमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः ।

बृहस्पतिः प्रायच्छुद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ ४ ॥

जरां सु गच्छ परिं घत्त्व वासो भवां गृहीनामभिशास्तिपा उ ।

शतं च जीवं शरदः पुरुचीं रायश्च पोषंष्टुपसंन्ययश्च ॥ ५ ॥

परीदं वासो अधिधाः स्वस्तयेऽधूर्वापिनामभिशास्तिपा उ ।

शतं च जीवं शरदः पुरुचीर्विद्वानि चारुर्वि मंजासि जीयन् ॥ ६ ॥

योगयोगे तवस्तरं वाजैवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमृत्ये ॥ ७ ॥

हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व ।

तदुमिराह तदु सोमं आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ॥ ८ ॥ (१९१)

(२४) राष्ट्रम् ।

अर्थ — (येन) जो पोषाक्ष (सवितारं देव) सविता देवको (देवाः परि अधारयन्) देवोंने पढ़नाया या, हे ब्रह्मणस्पते । (तेन इम) उसय इष पुरुषको (राष्ट्राय परि घत्तन) राष्ट्रके लिये परिधान कराओ ॥ १ ॥

(इमं इन्द्र) इष इन्द्रको (आयुषे) दीर्घायुके लिये और (महे क्षत्राय) बड़े क्षात्रतेजके लिये (परि घत्तन) यह वस्त्र पहनाओ । (यथा एनं जरसे नयां) जिससे यह वस्त्र इसको बुढापेके लिये ले जाय, (क्षेत्रे ज्योक् अधि जागरत्) और यह क्षात्रकर्ममें देरतक जागता रहे ॥ २ ॥

(इम सोमं) इस सोमको (आयुषे, महे श्रोत्राय) दीर्घायु और बड़ा श्रुततेजके लिये यह वस्त्र (परि घत्तन) पहनाओ । (यथा एनं जरसे नयां) जिससे इसको बुढापेके लिये ले जाय और (श्रोत्रे ज्योक् अधि जागरत्) ज्ञान प्राप्तिके लिये यह सतत जागता रहे ॥ ३ ॥

(परि घत्त) वस्त्र पहनाओ, (नः इमं वर्चसा घत्त) हमारे इषको तत्रके साथ रने, (जरा मृत्युं दीर्घ आयुः कृणुत) इद अवस्थाके पथात् इषको मृत्यु आव और दीर्घ आयु प्राप्त हो । बृहस्पतिन (राज्ञे सोमाय परिधातव उ) राजा सोमका परिधान करनेके लिये (एतत् वासः प्रायच्छत्) यह वस्त्र दिया है ॥ ४ ॥

(जरां सु गच्छ) बुढापेको भली प्रकार प्राप्त हो, (चायः परि घत्स्य) वस्त्र पहने । (गृहीनां अभिशास्तिपा उ भव) प्रजाओंका विनाशसे बचानेवाला हो । (शतं च जाय शरदः पुरुचीं) दायं सो वर्षं जीवित रह, (रायः च पाय उपसंन्ययस्य) धन और पुष्टिका प्राप्त हो ॥ ५ ॥

(स्वस्तये इद वास परि अधिधा) अपने कर्तव्य करने लिये यह वस्त्र तुने पहना है । (चापीनां अभिशास्तिपा उ अभः) कुंभिका या गोवींका विनाशसे बचाव करनेवाला तू हो गया है । (पुरुचीः शरदं शतं च जीवं) दायं सो वर्षं जीवित रह । (जीवन् चारु वसुमि वि मंजासि) जीवित रहकर सुदूर धनको अपने मित्रोंको बाट ॥ ६ ॥

(योगयोगे) प्रत्येक उयोगमें (चाजैवाजे) और प्रत्येक युद्धमें (सखाय) हम सब मित्र इच्छे होकर (तवस्तर इन्द्र जनये दद्यामहे) बलवान् इन्द्रको अपनी सुरक्षाके लिये बुलाते हैं ॥ ७ ॥

(हिरण्यवर्णो) सु. ११ जैतु रगवाला, (अ-जरः) बुढापेस रहित (सुवीरः) उत्तम वीरोंमें सुक (जरा-मृत्युः) जरावरणाके पथात् मृत्यु प्राप्त करनेवाला (प्रजया सं विशस्व) अपनी प्रजाके साथ रहकर आराम कर । (तत् वासिः आह) वह अ मने कहा, (तत् उ सोमं आह) वह सोमने कहा, (तत् बृहस्पतिः सविता इन्द्रः) वही बृहस्पति, सविता और इन्द्रने कहा है ॥ ८ ॥

(२५) अश्वः ।

(ऋषिः — गोपथः । देवता — चाजो ।)

अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनाजिम प्रथमस्य च । उत्कूलमुद्धो भवोदुह्य प्रति धावतात् ॥ १ ॥ (१९२)

(२६) हिरण्यधारणम् ।

(ऋषिः — अथवाः । देवता — अग्निः, हिरण्यं च)

अग्नेः प्रजातं परि यद्विरण्यममृतं दुधे अधि मर्त्येषु ।

य एनद्वेदु रा इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो विभर्ति ॥ १ ॥

यद्विरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्वं ईषिरे ।

तत्त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजत्यायुष्मान्भवति यो विभर्ति ॥ २ ॥

आयुषे त्वा वर्चसे त्वाजमे च बलाय च ।

यथा हिरण्यतेजसा विभासांसि जनां अनु ॥ ३ ॥

यद्वेदु राजा वरुणो वेदं देवो बृहस्पतिः ।

इन्द्रो यद्वृत्रहा वेदु तत्त आयुष्यं भुवत्तत्तं वर्चस्यं भुवत् ॥ ४ ॥ (१९६)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

(२५) अश्वः ।

अर्थ— (अश्रान्तस्य प्रथमस्य च) न यकनेवाले और प्रथम आनेवालोंके (मनसा त्वा युनाजिम) मनके साथ तुमसे संयुक्त करता हूँ । (उत्कूलं उद्धो भव) किनारेपरसे जलदी ले जानेवाला हो, (उदुह्य) ऊपर ले जाकर (प्रति धावतात्) फिर वापिस दौड़ आ ॥ १ ॥

(२६) हिरण्यधारणम् ।

(अग्नेः प्रजातं) अग्निसे उत्पन्न हुआ, (यत् हिरण्यं) जो सोना है वह (मर्त्येषु अमृतं परि दुधे) मानवोंपर अमृत रखता है । (य एनत् वेदु) जो यह जानता है (म इत् एनं अर्हति) वही निश्चयसे इस सुवर्ण धारणके लिये योग्य होता है । (यः विभर्ति जरामृत्युः भवति) जो इसको धारण करता है उसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मृत्यु हाता है ॥ १ ॥

(यत् हिरण्यं सुवर्णं) अश्व अतम रंगवाले घोनेको (प्रजावन्तः पूर्वं मनवः सूर्येण ईषिरे) प्रजाओंके समेत पहिले मनुजोंने सूर्यसे पाया (तत् त्वा) वह तुम (चन्द्रं वर्चसा सं सृजति) चमकता हुआ तेजसे युक्त करता है, (यः विभर्ति) जो इसे धारण करता है वह (आयुष्मान् भवति) आयुष्मान् होता है ॥ २ ॥

(आयुषे त्वा) आयुष्यके लिये तुम (वर्चसे त्वा) तेजके लिये तुम, (ओजसे च बलाय च) शक्ति और बलके लिये तुमसे मैं पहनता हूँ । (यथा) इसको धारण करके (जनां अनु) लोगोंमें (हिरण्यतेजसा विभासांसि) घोनेके तेजसे तू चमकता रह ॥ ३ ॥

(राजा वरुणः यत् वेदु) राजा वरुण जिससे जानता है, (देवो बृहस्पतिः वेदु) देव बृहस्पति जिसको जानता है, (वृत्रहाः इन्द्रः यत् वेदु) वृत्रहा षष् करनेवाला इन्द्र जो जानता है, (तत् तं आयुष्यं भुवत्) वह सुवर्ण लेने आयुषी वृद्ध करनेवाला होने, (तत् तं वर्चसं भुवत्) वह तेरा तेज बढ़ानेवाला होने ॥ ४ ॥

॥ यदां तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

(२७) सुरक्षा ।

(ऋषि- भृगुवह्निराः । देवता - त्रिवृत, चन्द्रमाद्यः ।)

गोमिद्धा पात्वृषभो वृषा त्वा पातु वाजिभिः । वायुश्चा ब्रह्मणा पातिचन्द्रस्त्वा पातिचन्द्रियैः ॥ १ ॥

सोमस्त्वा पात्वोषधीभिर्नक्षत्रैः पातु सूर्यैः । माद्रस्त्वा चन्द्रो वृत्रहा वार्तः प्राणेन रक्षतु ॥ २ ॥

तिस्रो दिवस्तिस्त्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।

त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्धिः ॥ ३ ॥

त्रीनाकांस्त्रीन्त्समुद्रांस्त्रीन्ब्रह्मांस्त्रीन्वैष्टपान् । त्रीन्मातरिश्चनस्त्रीन्सूर्यान्त्रोमृन्कल्पयामि ते ॥ ४ ॥

घृतेन त्वा समुक्षाम्यग्न आज्येन वर्धयन् । अश्वेन्द्रस्य सूर्यस्य मा प्राणं मायिनो दमन् ॥ ५ ॥

मा वः प्राणं मा वोऽपानं मा हरो मायिनो दमन् । भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवा दैव्येन धावत ॥ ६ ॥

प्राणेनाग्निं सं सृजति वार्तः प्राणेन संहितः । प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवः अजनयन् ॥ ७ ॥

आयुषायुःकृता जीवायुष्मान्जीव मा मृषाः । प्राणेनात्मन्वर्ता जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥ ८ ॥

(२७) सुरक्षा ।

अर्थ— (वृषभः त्वा गोमिः पातु) बैल तेरा रक्षण गोबोकें साथ करे । (वृषा वाजिभिः त्वा पातु) घोडा घोडोंके साथ तेरा रक्षण करे । (वायुः ब्रह्मणा त्वा पातु) वायु ज्ञानधे तेरा रक्षण करे, (चन्द्रः चन्द्रियैः त्वा पातु) चन्द्र इन्द्रियोंके साथ तेरा रक्षण करे ॥ १ ॥

(सोमः ओषधीभिः त्वा पातु) सोम ओषधियोंके साथ तेरी रक्षा करे । (सूर्यं नक्षत्रैः पातु) सूर्य नक्षत्रोंके साथ रहकर तेरी रक्षा करे । (चन्द्रः वृत्रहा माद्रयः त्वा) वृत्रको मारनेवाला चन्द्र महिनोंके साथ तेरा रक्षण करे । (चातः प्राणेन रक्षतु) वायु प्राणके साथ तेरी रक्षा करे ॥ २ ॥

(तिस्रः दिवः) तीन दुलोक (तिस्रः पृथिवीः) तीन भूमियां, (त्रीणि अन्तरिक्षाणि) तीन अन्तरिक्ष, (चतुरः समुद्रान्) चार समुद्र, (त्रिवृतं स्तोमं) तीन गुणा स्तोम, (त्रिवृताः आपः आहुः) तीन गुणा जल हैं ऐसा कहते हैं, (त्रिवृद्धिः त्रिवृताः ताः त्वा रक्षन्तु) तीन गुणा तीन गुणित होकर वे तेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥

(त्रीन् नाकान्) तीन खर्गोंके (त्रीन् समुद्रान्) तीन समुद्रोंके, (त्रीन् ब्रह्मान्) तीन तेजोंके, (त्रीन् चष्टपान्) तीन विशेष तपनेवाले लोकोंके, (त्रीन् मातरिश्चनः) तीन वायुओंके, (त्रीन् सूर्यान्) तीन सूर्योंके, (त्रो गोप्तृन् कल्पयामि) तेरी सुरक्षा करनेवाले बनाता हूँ ॥ ४ ॥

(घृतेन त्वा समुक्षामि) पाछे तुझे छिद्रकता हूँ, हे अग्नि ! (आज्येन वर्धयन्) पीछे तुझे बढ़ाता हूँ । (अश्वेः चन्द्रस्य सूर्यस्य) अश्विके, चन्द्रके और सूर्यके (प्राणं) प्राणको (मायिनः मा दमन्) कपटी लोग न दबावे ॥ ५ ॥

(मायिनः) कपटी लोग (वः प्राणं मा) तुम्हारे प्राणको, (वः अपानं मा) तुम्हारे अग्निके तथा (हरः बलवो मा दमन्) न दबावे । (विश्ववेदसः देवाः) सब धनवाले देव (भ्राजन्ताः) चमकते हुये (दैव्येन धावत) अपनी दिव्य शक्तिके साथ तुम्हारे सहाय्यार्थ दौड़ें ॥ ६ ॥

(प्राणेन अग्निं सं सृजति) प्राणसे अग्निके समुक्त करता हूँ । (चातः प्राणेन संहितः) वायु प्राणके साथ जुड़ा हुआ है । (देवाः) सब देवाने (विश्वतोमुखं सूर्यं) बाएँ और सुबहवाले सूर्यको (प्राणेन अजनयन्) प्राणके साथ उत्पन्न किया है ॥ ७ ॥

(आयुः कृता आयुषा जीव) आयु बनानेवालोंके आयुषे तू जीवित रह । तू (आयुष्पान् जीव) दीर्घायु होकर जीवित रह (मा मृषाः) मत मर जा । (आत्मन्वर्ता प्राणेन जीव) आत्मावालोंके प्राणसे जीवित रह । (मृत्योः वशं मा उदगाः) मृत्युके बशमें न जा ॥ ८ ॥

देवानां निहितं निधिं यमिन्द्रोऽन्वविन्दत्पथिभिर्देवयानैः ।

आपो हिरण्यं जुगुप्सुस्त्रिवृद्धिस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्धिः ॥ ९ ॥

त्रयस्त्रिंशद्देवतास्त्रीणि च वीर्याणि प्रियायमाणा जुगुपुरर्ष्वान्तः ।

अस्मिन् चन्द्रे अधि यद्विरण्यं तेनायं कृणवद्द्वीर्याणि ॥ १० ॥

ये देवा दिव्येकादश स्य ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥ ११ ॥

ये देवा अन्तरिक्षं एकादश स्य ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥ १२ ॥

ये देवा पृथिव्यामेकादश स्य ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥ १३ ॥

असपत्नं पुरस्तात्पश्चाच्चो अमयं कृतम् । सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥ १४ ॥

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वश्रयः । इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादुश्विनां वामितः शर्म यच्छताम् ।

तिरश्चीन् अश्या रक्षतु जातवेदा भूतकृता मे सर्वतः सन्तु वर्म ॥ १५ ॥ (१११)

(२८) दर्भमणिः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा (सपत्नक्षयकामः) । देवता — दर्भमणिः, मंत्रोक्ताश्च ।)

इमं वज्राभि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे । दुर्मं सपत्नदुर्ममनं द्विपतस्तपनं हुदः ॥ १ ॥

अर्थ— (देवानां निहितं निधिं) देवोंके गुप्त खजानेको (यं इन्द्रः) जिसको इन्द्रने (देवयानैः पथिभिः) देवयान मार्गसे (अन्वविन्दत्) हूट निधला, वहाँ (आपो त्रिवृद्धिः हिरण्यं जुगुपुः) जलोंके तीन गुणोंके साथ सुवर्णकी रक्षा की, (ताः) वे जल (त्रिवृता त्रिवृद्धिः) तीन गुणा तीन गुणोंके साथ (त्वा रक्षन्तु) तैरों रक्षा करें ॥ ९ ॥

(त्रयः त्रिंशत् देवताः) तैतीष्य देवताओंके तथा (वीर्याणि प्रियायमाणाः) तीन वीर्योंके । अण्डु अन्तः प्रियायमाणाः) जतोंके अन्दर प्यारसे (जुगुपुः) इसकी रक्षा की । (अस्मिन् चन्द्रे अधि यत् हिरण्यं) इस चमकवाले मणिपर जो सुवर्ण है, (तेन अयं वीर्याणि कृणवत्) उसके प्रभावसे यह पुरुष वीरताके कर्म करें ॥ १० ॥

(दिवि ये एकादश देवाः स्य) तुलोकमें जो ग्याह देव हैं, (अन्तरिक्षे ये एकादश देवाः स्य) अन्तरिक्षमें जो ग्याह देव हैं और (पृथिव्यां ये एकादश देवाः स्य) पृथिवीपर जो ग्याह देव हैं, (ते देवासः) वे देव (इदं हविः जुषध्वं) इस हविको मोग करें ॥ ११-१३ ॥

(पुरस्तात् नः असपत्नं) आगेमें हमारे लिये शत्रुका भय न रहे, (पश्चात् नः अमयं कृतं) पीछेसे हमारे लिये अमय किया है । (सविता दक्षिणतः मा) धनिता दक्षिण दिशासे मेरी रक्षा करे और (शचीपतिः उत्तरात् मा) इन्द्र उत्तर दिशासे मेरी रक्षा करे ॥ १४ ॥

(आदित्याः मा दिवः रक्षन्तु) आदित्य मेरी तुलोकसे रक्षा करें, (अश्रयः भूम्याः रक्षन्तु) अग्नि भूमिपर मेरी रक्षा करे । (इन्द्राग्नी पुरस्तात् मा रक्षतां) इन्द्र और अग्नि आगेसे मेरी रक्षा करें । (अदित्नी वामितः शर्म यच्छतां) अश्विनो मेरी बायाँ ओरसे आश्रय दें । (तिरश्चीन् अश्या रक्षतु) पशुओंकी रक्षा भी करे । (भूतकृतः जातवेदाः मे सर्वतः वर्म सन्तु) भूतोंको बनानेवाले अग्नि सब ओरसे मेरी रक्षक बनें ॥ १५ ॥

(२८) दर्भमणिः ।

(दीर्घायुत्वाय तेजसे) दीर्घायुकी प्राप्ति और तेजसिताके लिये (इमं मणिं ते वज्राभि) इस मणिको ठेके शरीरपर बांधता हूँ । (दुर्मं सपत्नदुर्ममनं) वह दर्भमणि शत्रुका नाश करता है और (द्विपतः हुदः तपनं) देवोंके हृदयको संतपन उत्पन्न करनेवाला है ॥ १ ॥

द्विपुत्रस्तापयन्हुदः शत्रूणां तापयन्मनः । दुर्हादोः सर्वास्त्वं दर्भं घर्म इवाभिसंतापयन् ॥ २ ॥
 घर्म इवाभितपन्दर्भं द्विपुत्रो नितपन्मणे । हुदः सपत्नानां भिन्द्वांस्त्वं इव विरुजं वृक्षम् ॥ ३ ॥
 भिन्द्वांस्त्वं दर्भं सपत्नानां हृदयं द्विपुत्रां मणे । उद्यन्त्वचमिव भूम्याः शिरं एषां विपातय ॥ ४ ॥
 भिन्द्वांस्त्वं दर्भं सपत्नान्मे भिन्द्वांस्त्वं मेषु पृथनायतः । भिन्द्वांस्त्वं सर्वान्दुर्हादीं भिन्द्वांस्त्वं द्विपुत्रो मणे ॥ ५ ॥
 छिन्द्वांस्त्वं दर्भं सपत्नान्मे छिन्द्वांस्त्वं मेषु पृथनायतः । छिन्द्वांस्त्वं सर्वान्दुर्हादीन् छिन्द्वांस्त्वं द्विपुत्रो मणे ॥ ६ ॥
 वृक्षं दर्भं सपत्नान्मे वृक्षं मेषु पृथनायतः । वृक्षं मे सर्वान्दुर्हादीं वृक्षं मे द्विपुत्रो मणे ॥ ७ ॥
 कुन्तं दर्भं सपत्नान्मे कुन्तं मेषु पृथनायतः । कुन्तं मे सर्वान्दुर्हादीं कुन्तं मे द्विपुत्रो मणे ॥ ८ ॥
 पिशं दर्भं सपत्नान्मे पिशं मेषु पृथनायतः । पिशं मे सर्वान्दुर्हादीं पिशं मे द्विपुत्रो मणे ॥ ९ ॥
 विष्यं दर्भं सपत्नान्मे विष्यं मे पृथनायतः ।
 विष्यं मे सर्वान्दुर्हादीं विष्यं मे द्विपुत्रो मणे ॥ १० ॥ (१०१)

(२९) दर्भमणिः ।

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— दर्भमणिः ।)

निषं दर्भं सपत्नान्मे निषं मे पृथनायतः । निषं मे सर्वान्दुर्हादीं निषं मे द्विपुत्रो मणे ॥ ११ ॥
 तुन्द्वांस्त्वं दर्भं सपत्नान्मे तुन्द्वांस्त्वं मेषु पृथनायतः । तुन्द्वांस्त्वं सर्वान्दुर्हादींस्तुन्द्वांस्त्वं द्विपुत्रो मणे ॥ १२ ॥
 रुन्द्वांस्त्वं दर्भं सपत्नान्मे रुन्द्वांस्त्वं मेषु पृथनायतः । रुन्द्वांस्त्वं सर्वान्दुर्हादीं रुन्द्वांस्त्वं द्विपुत्रो मणे ॥ १३ ॥

अर्थ— (द्विपुत्रः हुदः तापयन्) दोषयोके हृदयोको यह सताप उत्पन्न करता है तथा (शत्रूणां मनः तापयन्) शत्रुओंके मनोको ताप देता है । हे दर्भ ! (सर्वांन् दुर्हादः) सब दुष्ट हृदयवालोंको (त्वं घर्म इव अभि संतापयन्) तू गर्भके समान सब प्रक रसे ताप दे ॥ २ ॥

हे (दर्भ) दर्भमणि ! (घर्म इव अभितपन्) गर्भके समान शत्रुको ताप देना हुआ, हे मणे ! (द्विपुत्रः नितपन्) द्वेषियोंको संताप देकर, (सपत्नानां हृदः भिन्द्वां) शत्रुओंके हृदयोंको तोड़ दे, (इन्द्रः वलं विरुजं इव) इन्द्रके समान बल रासकको तोड़ ॥ ३ ॥

हे दर्भमणे ! (द्विपुत्रां सपत्नानां हृदयं भिन्द्वां) द्वेष करनेवाले शत्रुओंका हृदय तोड़ दे । (उद्यन् भूम्याः त्वचं इव) उद्यनेवाले लोप जैसे [यहनिर्माणके लिये] मृत्तिके पृष्ठभागको खोद देते हैं, उस तरह (एषां शिरः वि पातय) इनके शिरोंको तोड़कर गिरा दे ॥ ४ ॥

हे दर्भ ! (मे सपत्नान् भिन्द्वां) मेरे शत्रुओंको तोड़ दे, (मे पृथना यतः भिन्द्वां) मेरे ऊपर सेना भेजनेवालोंको तोड़ दे । (सर्वांन् मे दुर्हादः भिन्द्वां) सब दुष्ट हृदयवालोंको तोड़ दे । हे मणे ! (मे द्विपुत्रः भिन्द्वां) मेरे द्वेष करनेवालोंको तोड़ दे ॥ ५ ॥

(छिन्द्वां) छेद दे, (वृक्ष) बट दे, (कुन्त) कर दे, (पिश) पीस बाल, (विष्य) बीब टाल, हे दर्भमणे ! (मे सपत्नान्) मेरे शत्रुओंको, (मे पृथनायतः) जो मेरे ऊपर सेना भेजते हैं, (सर्वांन् दुर्हादः) सब दुष्ट हृदयवालोंको और (मे द्विपुत्रः) मेरा द्वेष करनेवालोंको ॥ ६-१० ॥

(११) दर्भमणिः ।

हे दर्भमणे ! (निष) भोंक दे, (तुन्द्वां) छेद दे, (रुन्द्वां) रोक दे, (मृत्) मार दे, (मण्य) मग्य दे, (पिण्डु) पीस दे, (ओष) पका दे, (दह) जला दे, (जहि) मारकर गिरा दे, (मे सपत्नान्) मेरे शत्रुओंको,

मृण दर्भं सपत्नान्मे मृण मे पृतनायतः । मृण मे सर्वान्दुर्हादीं मृण मे द्विपतो मणे ॥४॥
 मन्थं दर्भं सपत्नान्मे मन्थं मे पृतनायतः । मन्थं मे सर्वान्दुर्हादीं मन्थं मे द्विपतो मणे ॥५॥
 पिण्डुं दर्भं सपत्नान्मे पिण्डुं मे पृतनायतः । पिण्डुं मे सर्वान्दुर्हादीं पिण्डुं मे द्विपतो मणे ॥६॥
 ओषं दर्भं सपत्नान्मे ओषं मे पृतनायतः । ओषं मे सर्वान्दुर्हादीं ओषं मे द्विपतो मणे ॥७॥
 दहं दर्भं सपत्नान्मे दहं मे पृतनायतः । दहं मे सर्वान्दुर्हादीं दहं मे द्विपतो मणे ॥८॥
 ज्जहि दर्भं सपत्नान्मे ज्जहि मे पृतनायतः । ज्जहि मे सर्वां दुर्हादीं ज्जहि मे द्विपतो मणे ॥९॥ (२३०)

(३०) दर्भमणिः ।

(ऋषिः— ब्रह्मा । देवता — दर्भमणिः)

यत्तं दर्भं जराभृत्युः शतं वर्मसु वर्मं ते । तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नां जहि वीर्यैः ॥ १ ॥
 शतं ते दर्भं वर्माणि सहस्रं वीर्याणि ते । तस्मै विश्वे स्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः ॥ २ ॥
 त्वामाहुर्देववर्मं त्वां दर्भं ब्रह्मणस्पतिम् । त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्मं त्वं राष्ट्र्याणि रक्षसि ॥ ३ ॥
 सपत्नक्षयणं दर्भं द्विपतस्तपनं हृदः । मणिं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं कृणामि ते ॥ ४ ॥
 यत्समुद्रो अम्यक्रन्दत्पर्जन्यो विद्युता सह । ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दुर्भो अजायत ॥ ५ ॥ (२३५)

(मे पृतनायतः) तुष्कार सैन्य भेजनेवालोंको, (मे सर्वां दुर्हादीं) सब दुष्ट हृदयवालोंको, (मे द्विपतः) मेरा द्वेष करनेवालोंको ॥ १-१० ॥

सब मंत्र समान पदवाले हैं इसलिये सब मंत्रोंका भाव इकट्ठा दिया है ।

(३०) दर्भमणिः ।

अर्थ— हे दर्भ ! (यत् ते जराभृत्युः) जो सुदृढके पश्चात् मृत्यु लानेका चाफि है, तथा (ते शतं वर्मसु वर्मं) ओ तेरा सैकड़ों कवचोंमें उत्तम कवच है, (तेन इमं वर्मिणं कृत्वा) उपरसे इसको कवचधारा बनाकर (वीर्यैः सपत्नान् जहि) अपने पराक्रमसे शत्रुओंको मार ॥ १ ॥

हे दर्भ ! (ते शतं वर्माणि) तेरे सौ कवच हैं, (ते सहस्रं वीर्याणि) तेरे हजारों वीर्य हैं, (विश्वे देवाः) सब देवोंने (त्वां अस्मै जरसे भर्तवै) तुझे इसको वृद्धावस्थाका प्राप्ति होनेके लिये और मरणयोगके लिये (अदुः) दिया है ॥ २ ॥

(त्वां देववर्मं आहुः) तुझे देवोंका कवच कहते हैं, हे दर्भ ! (त्वां ब्रह्मणस्पतिं) तुझे ब्रह्मणस्पति कहते हैं । (त्वां इन्द्रस्य वर्मं आहुः) तुझे इन्द्रका कवच कहते हैं । (त्वं राष्ट्र्याणि रक्षसि) तू राष्ट्रोंका रक्षण करता है ॥ ३ ॥

हे दर्भ ! (सपत्न-क्षयणं) शत्रुनाशक, (द्विपतः हृदः तपनं) द्वेष करनेवालोंके हृदयोंको संताप देनेवाला, (क्षत्रस्य वर्धनं) क्षात्रत्रेयका संवर्धन करनेवाला, (ते तनूपानं मणिं कृणामि) तेरे शरीरका रक्षक इस मणिको मैं करता हूँ ॥ ४ ॥

(यत् समुद्रः अम्यक्रन्दत्) जो समुद्र गर्जना करता रहा, (विद्युता सह पर्जन्यः) बिजलीके साथ मेघ गर्जना करता रहा (ततः हिरण्यः बिन्दुः) वहाँसे सुवर्णका बिन्दु उत्पन्न हुआ, (ततः दुर्भः अजायत) उपरसे दर्भमणि उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

(३१) औदुम्बरमणिः ।

(ऋषि - सविता (पुष्टिकामः) । देवता - औदुम्बरमणिः ।)

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा । पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् ॥ १ ॥
 यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् । औदुम्बरो वृषा मणिः सं मां सृजत पुष्ट्या ॥ २ ॥
 करीषिणीं फलवतीं स्वधामिनीं च नो गृहे । औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे ॥ ३ ॥
 यद् द्विपाञ्च चतुष्पाञ्च यान्यन्नानि ये रसाः । गृहेऽहं त्वेषां भूमानं विभ्रदौदुम्बरं मणिम् ॥ ४ ॥
 पुष्टिं पशूनां परिं जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यत् च धान्यम् ।
 पयः पशूनां रसमोपधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥ ५ ॥
 अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ।
 महामौदुम्बरो मणिर्द्विषानि नि यच्छतु ॥ ६ ॥
 उप मौदुम्बरो मणिः प्रजयां च धनेन च ।
 इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्सह वर्चसा ॥ ७ ॥

(३१) औदुम्बरमणिः ।

अर्थ— (वेधसा) ज्ञानीने (औदुम्बरेण मणिना) औदुम्बर मणिके (पुष्टिकामाय) पुष्टि चाहनेवालेके लिये प्रयोग किया । जिष्ठसे (सविता) सवित (मे गोष्ठे) मेरी गोशालामें (सर्वेषां पशूनां स्फातिं) सब पशुओंकी वृद्धि (करत्) करे ॥ १ ॥

(यः नः गार्हपत्य अग्निः) जो हमारा गार्हपत्य अग्नि (पशूनां अधिपा असत्) पशुओंका अधिपति है, (औदुम्बरः) वृषा मणिः) बलवान् औदुम्बरमणि (मा पुष्ट्या स सृजत) मुझे पुष्टिके साथ पुष्ट करे ॥ २ ॥

(करीषिणीं) गोबरके सादसे भरपूर करनेवाली गीं, (फलवतीं) संतानसे युक्त होकर (नः गृहे स्वर्धा इरां च) हमारे घरमें अन्न और पय भरपूर देवे । (औदुम्बरस्य तेजसा) औदुम्बर मणिके तेजसे (धाता मे पुष्टिं दधातु) धाता मुझे पुष्टि देवे ॥ ३ ॥

(औदुम्बरं मणिं विभ्रत्) औदुम्बर मणिका धारण करके (अहं) मैं (यत् द्विपात् च चतुष्पाद् च) जो द्विपाद और चतुष्पाद और (यानि अन्नानि ये रसाः) जो अन्न और रस हैं (एषां भूमानं गृहे) इनका बहुतायतसे प्राप्त करता हू ॥ ४ ॥

(पशूनां पुष्टिं अहं परि जग्रभ) सब पशुओंकी पुष्टि मैंने की है, (सतुष्पदां द्विपदां यत् च धान्यं) बार पाँचवाले, द्विपाद और जो धान्य है । (पशूनां पयः) पशुओंके दूधको और (ओपधीनां रसं) ओपधियोंके रसको (बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात्) बृहस्पति सविता मुझे देवे ॥ ५ ॥

(अहं पशूनां अधिपा असानि) मैं पशुओंका अधिपति होऊँ । (पुष्टपतिः मयि पुष्टं दधातु) पुष्टका पति मुझे पुष्टि देवे । (औदुम्बरः मणिः महं द्विषानि नि यच्छतु) औदुम्बर मणि मेरे लिये धन देवे ॥ ६ ॥

(औदुम्बरो मणिः) औदुम्बर मणि (प्रजया च धनेन च) प्रजा और धनके साथ (इन्द्रेण जिन्वितो मणिः) इन्द्रे प्रेरा हुआ वह मणि (वर्चसा सह मा उप आ गन्) तेजके साथ मेरे समीप आया है ॥ ७ ॥

द्वेषो मणिः संपन्नहा धनंसा धनंसातये । पशोरक्षस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु ॥ ८ ॥

यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्टया सह जज्ञिये । एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती ॥ ९ ॥

आ मे धनं सरस्वतीं पर्यस्फातिं च धान्यम् । सिनीवालयुपां वहादुयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥

त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयिं पुष्टं पुष्टपतिर्जजान ।

त्वथीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमसत्सहस्रारारारतिममतिं क्षुधं च ॥ ११ ॥

ग्रामणीरंसि ग्रामणीरुत्थायाभिपिक्तोऽभि मा सिञ्च वर्चसा ।

तेजोऽसि तेजो मयिं धारयाधिं रयिरंसि रयिं मे धेहि ॥ १२ ॥

पुष्टिरंसि पुष्टया मा समद्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु ।

औदुम्बरः स त्वमस्मासुं धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ

रायस्पोपायु प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् ॥ १३ ॥

अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीरायं वक्ष्यते ।

स नः सनि मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् ॥ १४ ॥ (१४९)

सर्ध— (सपन्नहा देवः मणिः) समुआंको दूर करनेवाला यह दिव्य मणि (धनसा) धनको जतनेवाला होकर (धनसातये) धनकी प्रातिके लिये [धारण किया है ।] यह (पशोः अक्षस्य भूमानं) पशु और अन्नकी सशुद्धि तथा (गवां स्फातिं नि यच्छतु) गोवांकी हमें वृद्धि देने ॥ ८ ॥

हे वनस्पते ! (यथा अग्रे त्वं) जैसे पहिले तू (पुष्टया सह जज्ञिये) पुष्टिके साथ उत्पन्न हुई, (एवा सरस्वती) वैधी ही सरस्वती (मे धनस्य स्फातिं द्या दधातु) मेरे लिये धनकी वृद्धि देने ॥ ९ ॥

सरस्वती, सिनीवाली और (अयं औदुम्बरो मणिः) यह औदुम्बर मणि (मे) मेरे पास (धनं पर्यस्फातिं च धान्यं) धन, धान्य और दूधकी सशुद्धि (आ वहात्) लावे ॥ १० ॥

(त्वं वृषा असि) तू बलवान् है, (मणीनां अधिपाः) मणियोंका अधिपति है । (पुष्टपतिः त्वयिं पुष्टं जजान) पुष्टपतिने तुझमें पुष्टि उत्पन्न की है । (त्वयिं इमे वाजा) तुझमें ये बल हैं, (सर्वा द्रविणानि) सब धन तुझमें है । (सः त्वं औदुम्बरः) वह तू औदुम्बर मणि, (अस्मात् अरारतिं अमतिं क्षुधं च) हमसे केशुधी, निर्दुद्धता तथा क्षुधाको (सहस्र) दूर हटा दे ॥ ११ ॥

(ग्रामणीः असि) तू ग्रामका नेता है, (ग्रामणीः उत्थाय) ग्रामका नेता होकर बठकर (अभिपिक्तः) तू अभिपिक्त हो, (वर्चसा मा अभिपिञ्च) तेजसे मुझे अभिपिक्त कर । (तेजः असि) तू तेज है, (मयि तेजः धारय) मुझमें तेज धारण कर, (रयिः असि) तू धन है, (मे रयिं अधि धारय) मुझमें धनका धारण कर ॥ १२ ॥

(पुष्टिः असि मा पुष्टया समद्ग्धि) तू पुष्टि दे मुझे पुष्टिके युक्त कर, (गृहमेधी) तू गृहमेधी होकर (मा गृहपतिं कृणु) मुझे गृहपति कर । (सः औदुम्बरः) वह तू औदुम्बर मणि है (त्वं अस्मासु रयिं धेहि) तू हममें धन स्थापन कर । (नः सर्ववीरं च नि यच्छ) हमारे लिये वीर पुत्र पौत्रवाला धन दे । (अहं त्वां) मैं तुझे (रायः पोषाय प्रति मुञ्चे) धनकी पुष्टिके लिये पहनता हूँ ॥ १३ ॥

(अयं औदुम्बरः मणिः) यह औदुम्बरमणि (वीरः वीराय वक्ष्यते) वीर है, वह वीरको बांधा जाता है । (सः नः मधुमतीं सनि कृणोतु) वह हमें मधुरताके साथ लामसे संयुक्त करे । (सर्ववीरं रयिं च नः नि यच्छान्) और वीरोंसे युक्त धन हमें दे ॥ १४ ॥

यो जायमानः पृथिवीमदृह्यो अस्तंभान्तरिक्षं दिवं च ।

यं विभ्रतं ननु पाप्मा विवेद स नोऽयं दुर्मो वरुणो दिवा क्रः ॥ ९ ॥

सपन्नदा शतकाण्डः सहस्वानोपघीनां प्रथमः सं बभूव ।

स नोऽयं दुर्मः परि पातु विश्वतस्तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः ॥ १० ॥ (२५९)

(३३) दर्मः ।

(ऋषिः — मगुः । देवता — दर्मः ।)

सहस्रार्घः शतकाण्डः पर्यस्वानपामभिर्वीरुषां राजस्यम् ।

स नोऽयं दुर्मः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः ॥ १ ॥

घृतादुल्लुप्तो मधुमान्पर्यस्वान्भूमिदृहोऽच्युतश्चयावपिष्णुः ।

नुदन्त्सपत्नानघरांश्च कृष्वन्दर्मा रोह महतामिन्द्रियेण ॥ २ ॥

त्वं भूमिमत्येष्योऽस्र त्वं वेद्यां सीदसि चारुध्वरे ।

त्वां पवित्रमृषयोऽमरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यसत् ॥ ३ ॥

अर्थ— (यः जायमानः) जिसने जन्मे ही (पृथिवी अदृह्यत्) पृथिवीको दृढ किया, (यः अन्तरिक्षं दिवं च अस्तंभान्) जिसने अन्तरिक्ष और दुर्लोकको स्थिर किया, (यं विभ्रतं) जिसके धरनेवाले (पाप्मा न नु विवेद) पापी नहीं प्राप्त कर सकता, (सः अयं दुर्मः) वह यह दर्ममणि (वरुणः) वरुण-धैर्य बनकर (दिवा क्रः) प्रकाश करे ॥ ९ ॥

(सपन्नदा) शत्रुको धारनेवाला, (शतकाण्डः) सौ काण्डोंवाला, (सहस्वान्) शक्तिमान् (ओपघीनां प्रथमः सं बभूव) औषधियोंमें पहिला हुआ है । (सः अयं दुर्मः) वह यह दर्ममणि (विश्वतः नः परि पातु) सब ओरसे हमारा रक्षण करे । (तेन) उसके मैं (पृतन्यतः पृतनाः) सेनावालेही सेनाको (साक्षीय) जाँचता ॥ १० ॥

(३३) दर्मः ।

(सहस्र-अर्घः) सहस्रों प्रथमसे मूष्यवान् (शतकाण्डः) सौ काण्डोंवाला, (पर्यस्वान्) दृष्ये परिपूर्ण, (अपां अग्निः) जलोंमें रहनेवाला अग्नि (वीरुषां राजस्यम्) औषधियोंका राजस्य द्रव्य बैसा, (सः अयं दुर्मः) वह यह दर्ममणि (नः विश्वतः परि पातु) हमें चारों ओरसे सुरक्षित रखे । (देवः मणिः नः सायुषा सं सृजाति) नई दिव्य मणि हमें आयुके साथ संतुष्ट करे ॥ १ ॥

(घृतात् उल्लुप्तः) पीछे सोँचा हुआ, (मधुमान् पर्यस्वान्) मधु और दृष्ये मण, (भूमि-दृहः) भूमिको दृढ करनेवाला, (अच्युतः) न गिरनेवाला, (चयावपिष्णुः) शत्रुओंको गिरानेवाला, (सपत्नान् नुदन्) शत्रुओंको दूर करनेवाला, (अघरांश्च कृष्वन्) शत्रुको नाश करनेवाला, तू हे दर्म ! (महतां इंद्रियेण वा रोह) बड़ेके बॉम्बेसे शत्रुपर आक्रमण हो ॥ २ ॥

(त्वं भूमिं ओजसा अन्येषु) तू भूमिको अपने बलसे उत्कर्षण करके जाता है, (त्वं मध्वरे वेद्यां चादः सीदसि) तू मगुके वेदोंमें सुन्दर रीतिसे बैठता है । (ऋषयः त्वां पवित्रं अमरन्त) ऋषियोंने तुझे पवित्र जान कर धारण किया, (त्वं अस्तत् दुरितानि पुनीहि) तू इनके पापोंको दूर करके हमें पवित्र बना ॥ ३ ॥

तीक्ष्णो राजा विपासही रक्षोहा विश्वचर्षणिः ।

ओजो देवानां बलमुग्रमेतच्च तै बभामि जरसे स्वस्तये ॥ ४ ॥

दुर्भेण त्वं कृणवद्दीर्घाणि दुर्भं विश्रंदात्मना मा व्यधिष्ठाः ।

अतिष्ठाया वर्चसाधान्यान्सूर्यं इवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५ ॥ (२६४)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

(३४) जङ्घिमणिः ।

(ऋषि — अङ्गिराः । देवता — वनस्पतिः, लिंगोक्ताः ।)

जङ्घिडोऽसि जङ्घिडो रक्षितासि जङ्घिडः । द्विपाचतुष्पादुसाकं सर्वं रक्षतु जङ्घिडः ॥ १ ॥

या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये । सर्वांन्विनक्तु तेजसोऽरसां जङ्घिडस्करत् ॥ २ ॥

अरसं कृत्रिमं नादर्मरसाः सप्त विश्रसः । अपेतो जङ्घिडांमतिमिपुमस्तेव शातय ॥ ३ ॥

कृत्यादूपण एवायमथो अरातिदूपणः । अथो सहस्वां जङ्घिडः प्र ण आयुषि तारिषत् ॥ ४ ॥

अर्थ— (तीक्ष्ण राजा) बार राजा, (विपासाहिः) शत्रुको पामृत करनेवाला, (रेखाहा) राक्षसको मारनेवाला (विश्वचर्षणिः) सब मानवोंका स्वामी, (देवानां ओजः) देवोंका यह सामर्थ्य है, (पतत् उग्र बलं) यह उग्र बल है, (त ते) उषको तेरे शरीर पर (जरसे स्वस्तये यभामि) इत्यादिव्याधी प्राणिक लिये और वन्याणके लिये बाँपता हूँ ॥ ४ ॥

(त्व दुर्भेण धीर्घाणि कृणवत्) तू दर्भमणिस पलाकम कर (दुर्भं विश्रत्) दर्भमणिको धारण करके (आत्मना मा व्यधिष्ठाः) स्वयं दुःखित न हो । (अथ अन्यान् वर्चसा अतिष्ठाया) अब दूसरोंके तेजके कारण ऊपर होकर (सूर्यं इव) सूर्यके समान (चतस्रः प्रदिशः आ भाहि) चारों दिशाओंमें प्रकाशित हो ॥ ५ ॥

॥ यहाँ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

(३४) जङ्घिमणिः ।

अर्थ— (जङ्घिडः असि) तू अङ्घिड है, (जङ्घिडः रक्षितासि) तू अङ्घिड अर्थात् रक्षक है । (अस्माकं द्विपात् चतुष्पाद् सर्वं जङ्घिडः रक्षतु) हमारा दो पाववाला और चार पाववाला जो है उस सबका यह अङ्घिमणि रक्षण करे ॥ १ ॥

(या गृत्स्यः त्रिपञ्चाशीः) जो हिंसक कृच तान गुणा पचास हैं और (शतं कृत्याकृतः च ये) जो सौ हिंसक कर्म करनेवाले हैं, (सर्वांन् तेजसः विनक्तु) उन सबको यह तेजके दूर करे, यह (जङ्घिडः अरसान् करत्) अङ्घिमणि सत्त्वहीन करे ॥ २ ॥

(अरस कृत्रिमं नादं) बनावटी शब्दको नि सत्त्व बनाने, (सप्त विश्रसः अरसाः) सात प्रवाहोंको नारस बनाने, इ अङ्घिड । (इतः अमर्ति अप) यहाँस सुद्धिहीनताको दूर कर, (अस्ता इतु इव शातय) बाण फेंकनेवाला जैसा बाणको फेंकता है उस तरह दूर कर ॥ ३ ॥

(अथ कृत्यादूपणः एव) यह हिंसक कृत्योंका नाशक है, (अथ उ अरातिदूपण) यह शत्रुका विनाशक है । (अथो जङ्घिडः सहस्वान्) और यह अङ्घिमणि सामर्थ्यवान् है, यह (नः आयुषि प्रतारिषत्) हमारे आयुओंको बढ़ाने ॥ ४ ॥

स जङ्गिडस्य महिमा परि णः पातु विश्वतः । विष्कन्धं येन सासह संस्कन्धमोज्ज ओजसा ॥ ५ ॥
 त्रिधां देवा अञ्जनयन्निष्ठितं भूम्यामधि । तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥ ६ ॥
 न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः । विधाघ उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ ७ ॥
 जयोपदान भगवो जङ्गिडामितधीर्य । पुरा तं उग्रा प्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ ॥ ८ ॥
 उग्र इचै वनस्पत इन्द्रं ओज्जमानमा दधौ । अर्मावाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योपधे ॥ ९ ॥
 आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्टधाम्यम् । तुक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥ १० ॥ (२७७)

(३५) जङ्गिडः ।

(ऋषिः — अंगिराः । देवता — वनस्पतिः ।

इन्द्रस्य नाम गृह्णन्तु ऋषयो जङ्गिडं ददुः । देवा यं चक्रुर्मैपुत्रमग्रं विष्कन्धदूर्पणम् ॥ १ ॥
 स नो रक्षतु जङ्गिडो धनपालो धनेव । देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणभरातिहम् ॥ २ ॥

अर्थ— (जङ्गिडस्य सः महिमा) अत्रिजनपिका वह महिमा है (नः विश्वतः परि पातु) कि वह हमारी सब ओरके रक्षा करे । (येन विष्कन्धं सासहे) जिसके हम रोगको दूर करते हैं (ओजसा संस्कन्धं ओजः) अपने बलके संस्कन्ध रोगको भी दूर करते हैं ॥ ५ ॥

(देवाः त्वा मिः अञ्जनयन्) देवोंने तुझे तीन बार वनस्पत किया, (भूम्यां ऋषि निष्ठितं) भूमिपर तू स्थिर है । (पूर्व्याः ब्राह्मणाः) पूर्व आँकेके ब्राह्मण (ते उ त्वा आङ्गिरा इति विदुः) उस तुझे आङ्गिरा करके जानते हैं ॥ ६ ॥

(पूर्वा ओषधयः न त्वा) पुरानी औषधियाँ तुझे लाभकी नहीं, (या नवाः त्वा न तरन्ति) जो नवीन औषधियाँ हैं वे भी लाभकी नहीं । (विधाघः उग्रः जङ्गिडः) रोगोंको विशेष बाधः पहुंचानेवाला उग्र यह अङ्गिडमणि है, यह (परिपाणः सुमङ्गलः) वैश्वदेव और नक्षत्र मङ्गल करनेवाला है ॥ ७ ॥

(अथ उपदान भगवः जङ्गिड) हे दान देनेवाले भगवान् अङ्गिड ! हे (अमितधीर्य) अपूर्वमित शक्तिवाले । (पुरा ते उग्रा प्रसत) वन शत्रु तुझे प्राप्त करनेके पूर्व (इन्द्रः वीर्यं उप ददौ) इन्द्रने तुझमें वीर्य रखा है ॥ ८ ॥

हे वनस्पते ! (ते इत् उग्रः इन्द्रः) तेरे अन्दर उग्र इन्द्रने (आज्जमानं सा दधौ) बंधों शक्ति रखी है, (स्वर्षाः अमीवाः चातयन्) तू सब रोगों को दूर करके, हे ओषधे ! (रक्षांसि जहि) रक्षकोंको मार ॥ ९ ॥

(आशरीकं विशरीकं) तीव्रनेवाला, डकके करनेवाला (बलासं) सासों, (पृष्टधाम्यं) पीठकी शंभारी (तुक्मानं विश्व शारदं) शरदे ऋतुमें होनेवाला उग्र आदिको (जङ्गिडः अरसान् करत्) अत्रिजनपि निःशस्त्र करता है ॥ १० ॥

(३५) जङ्गिडः ।

(इन्द्रस्य नाम गृह्णन्तः) प्रमुखा नाम लेते हुए (ऋषयः) ऋषियोने (जङ्गिडं ददुः) अत्रिडमणि दिया है । (अग्रे देवाः) शारभमें देवोंने (यं विष्कन्धदूर्पणं भेयजं चक्रुः) जो रोग दूर करनेवाला औषध करके किया था ॥ १ ॥

(धनपालः धना इव) धनका स्वामी जैसा धनोका रक्षण करता है उस तरह (सः जङ्गिडः नः रक्षतु) यह अत्रिड हमारी रक्षा करे । (यं देवाः ब्राह्मणाः) जिसकी देवी और ब्राह्मणोंने (परिपाणं अरातिहं चक्रुः) रक्षक और शत्रुनाशक किया है ॥ २ ॥

दुर्हार्दिः संघोरं चक्षुः पापकृत्वान्भागमम् ।

तांस्त्वं महस्रक्षो प्रतीयोधेन नाशय परिपाणोऽसि जङ्घिडः ॥ ३ ॥

परिं मा दिवः परिं मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्परिं मा वीरुष्यः ।

परिं मा भूतात्परिं मोत भव्याद्दिशोर्दिशो जङ्घिडः पात्वसान् ॥ ४ ॥

य ऋणवो देवकृता य उतो बभूतेऽन्यः । सर्वान्विश्वमेपजोऽरसां जङ्घिडस्करत् ॥ ५ ॥ (१७९)

(३६) शतवारो मणिः ।

(श्रापिः — प्रदा । देवता — शतवारः ।)

शतवारो अनीनशयक्षमात्रक्षांसि तेजसा । आरोहन्वर्चसा सह मणिर्दुर्णाम्चातनः ॥ १ ॥

शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुघान्याः । मध्येन यक्षं बाधते नैनं पाप्मार्ति तत्रति ॥ २ ॥

ये यक्षमासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः । सर्वा दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥ ३ ॥

शतं वीरान्जनयच्छतं यक्षमानपावपत् । दुर्णाम्नः सर्वाण्डृत्वाव रक्षांसि ध्रुते ॥ ४ ॥

अर्थ— (दुर्हार्दिः) दुष्ट हृदयवालेके (संघोरं चक्षुः) क्रूर नेत्रको और (पापकृत्वान् भागमम्) पाप कर्म करनेके लिये आये हुएको (तान् रथं सहस्रखक्षः) उनको तू है सहस्र आंखवाले । (प्रतियोधेन नाशय) सावधानतासे विनष्ट कर । (परिपाणः असि जङ्घिडः) तू सरक्षण करनेवाला अङ्घ्रिमणि है ॥ ३ ॥

(दिवः मा परि पातु) शुलोकसे भरा रक्षण करे, (पृथिव्याः मा परि) पृथिवीके ऊपर, (अन्तरिक्षात् परि) अन्तरिक्षसे, (वीरुष्यः मा परि) औपथिवीसे, (मा भूतात् परि) भूतोंसे (भव्यात् मा परि) होनेवालेसे (दिशः विशः जाङ्घिडः अस्मान् पातु) दिशा दिशाओंसे यह अङ्घ्रिमणि हम सब सबका रक्षण करे ॥ ४ ॥

(ये देवकृताः ऋणवः) जो देवोंसे यने हिंसक कृत्य हैं, (ये उन उ बभूतेऽन्यः) जो कोई दूसरे हिंसक हैं (सर्वान् तान्) उन सबको (विश्वमेपजः जङ्घिडः) सब औपथिवीगणवाला अङ्घ्रिमणि (अरसान् करत्) निःशस्त्र बनावे ॥ ५ ॥

(३६) शतवारो मणिः ।

(शतवारः मणि) शतवार मणि (वर्चसा सह आरोहन्) तेजसे साथ धारी पर बांधा हुआ (दुर्णाम्-चातनः) दुष्ट नामवाले रोगोंको दूर करता हुआ (तेजसा यक्षमान् रक्षांसि अनीनशत्) अपने तेजसे अनेक रोगोंको और रोगजन्तुओं [राक्षसों] का नाश करता है ॥ १ ॥

(शृङ्गाभ्यां रक्षः नुदते) शींगलसे राक्षसोंको दूर करता है, (मूलेन यातुघान्याः) मूलसे यातना देनेवालोंको दूर करता है, (मध्येन यक्षं बाधते) मध्यसे रोगको दूर करता है, (पाप्मा पनं न अति तत्रति) पापी रोग इष्टको लाप नहीं सकता ॥ २ ॥

(ये यक्षमासः अर्भकाः) जो रोगबीज सूक्ष्म हैं, (ये च महान्तः शब्दिनः) जो बड़े शब्द करनेवाले रोग हैं, (सर्वान् दुर्णाम-हा शतवारः मणि अनीनशत्) इन सबको दुष्ट नामवाले रोगोंका नाश करनेवाला शतवार मणि नाश करता है ॥ ३ ॥

(शतं वीरान् जनयत्) छौ शीतोंको जन्म देता है, (शतं यथान् अपावपत्) सैकड़ों रोगोंको दूर करता है, (सर्वान् दुर्णाम्नः इत्वा) दुष्ट नामवाले सब रोगोंको मार कर, (रक्षांसि अयध्रुते) सब राक्षसों रोगबीजों-को रूपा देता है ॥ ४ ॥

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शतवारो अयं मणिः । दुर्णाम्नुः सर्वास्तदुद्वाव रक्षांस्रकमीत् ॥ ५ ॥
शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम् । शतं शंशुर्जां शतवारिण वारये ॥ ६ ॥ (२८५)

(३७) यलप्राप्तिः ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — अग्निः ।)

इदं वर्चो अमिनां दत्तमागन्मर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् ।

त्रयस्त्रिंशदानि च वीर्याणि तान्यग्निः प्र ददातु मे ॥ १ ॥

वर्च आ धेहि मे तन्वांश्च सह ओजो वयो बलम् ।

इन्द्रियाय त्वा कर्मणि वीर्यायि प्रति गृह्णामि शतशारदाय ॥ २ ॥

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा । अभिभूपाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय ॥ ३ ॥

ऋतस्य धूर्तवेभ्यो माञ्जः संवत्सरेभ्यः । धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ ४ ॥ (२८९)

(३८) यक्षमनाशनम् ।

(ऋषिः — अथर्वा । देवता — गुल्गुलः ।)

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते । यं मेपजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥ १ ॥

अर्थ— (हिरण्यशृङ्गः ऋषभः) शोके सीगवाला बलवान् (अयं शतवारः मणिः) यह शतवार मणि है ।
(दुर्णास्रः सर्वास्तदुद्वाव) यह दुष्ट नामवाले रोगोंको मारकर, (रक्षांसि अवकमीत्) राक्षसोंको हटा देता है ॥ ५ ॥
(महं दुर्णाम्नीनां शतं) मैं दुष्ट नामवाले शैकड़ों रोगोंको, (गन्धर्वाप्सरसां शतं) गंधर्वा और अप्सरस नामक शैकड़ों रोगोंको (शश्वतीनां शतं) कुत्तोंके साथ रहनेवाले शैकड़ों रोगोंको (शतवारिण वारये) इस शतवार मणिसे धर करता हूँ ॥ ६ ॥

'शतवार' यह 'शतावर' है या क्या इसका विचार वैय करें ।

(३७) यलप्राप्तिः ।

(इदं वर्चः) यह तेज (अमिना दत्तं मागन्) अग्निने दिया आया है, यह 'मर्गः यशः' तेज, यश,
(सहः ओजः) साहस और सामर्थ्य, (वयः बलं) शक्ति और बल देता है । (यानि त्रयस्त्रिंशत् वीर्याणि) जो तैत्तिरीय वीर्य हैं (तानि अग्निः मे प्र ददातु) उनको अग्नि मुझे देवे ॥ १ ॥

(मे तन्वां) मेरे शरीरमें (वर्चः सहः) तेज, साहस, (ओजः वयः बलं) ओज, शक्ति और बल (आ धेहि) स्थापन कर । (इन्द्रियाय) इन्द्रिय सामर्थ्यके लिये, (कर्मणि वीर्याय) कर्मशक्ति और वीर्यके लिये (शतशारदाय) सौ वर्षधी आयुके लिये (त्वा प्रति गृह्णामि) तुझे मैं धारण करता हूँ ॥ २ ॥

(ऊर्जे त्वा बलाय त्वा) गत्बके लिये, बलके लिये, (ओजसे सहसे त्वा) सामर्थ्य और साहसके लिये, (अभिभूपाय त्वा राष्ट्रभृत्याय) शत्रु पराभवके लिये और राष्ट्रसेवाके लिये तथा (शतशारदाय पर्यूहामि) सौ वर्षधी आयुके लिये तुझे मैं पहनता हूँ ॥ ३ ॥

(ऋतस्यः त्वा आर्तवेभ्यः) ऋतुओंके लिये, ऋतुओंसे बने दुओंके लिये (माञ्जः संवत्सरेभ्यः) महिनों और संवत्सरोके लिये (धात्रे विधात्रे) धाता और विधाताके लिये ' समृधे भूतस्य पतये यजे) समृद्धिके लिये तथा भूतोंके पतितके लिये यज्ञन करता हूँ ॥ ४ ॥

(३८) यक्षमनाशनम् ।

(यक्ष्मा तं न अरुन्धते) रोग उसको रोकता नहीं, (शपथः एतं न अश्नुते) शपथ इनके समीप पहुँचता नहीं, (यं) जिसके पास (मेपजस्य गुल्गुलः सुरभिः गन्धः) औषध रूप गुल्गुलका तप्तम सुगंध (अश्नुते) प्राप्त होता है ॥ १ ॥

विष्वंस्तम्माद्यस्मां मृगा अश्वां इवेरते । यद्गुल्गुलु संन्धवं यद्वाप्यासिं समुद्रियंम् ॥ २ ॥
उमयोरग्रभं नामाम्ना अरिष्टतातये ॥ ३ ॥ (१९७)

(३९) कुष्ठनाशनम् ।

(ऋषिः — भृशंगिराः । देवता — कुष्ठः)

ऐतुं देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि । तुक्मानं सर्वं नाशयु सर्वांश्च यातुधान्युः ॥ १ ॥
श्रीणिं ते वृष्टु नामानि नद्यमारो नद्यारिपः । नद्यायं पुरुषो रिपत् ।
यस्मै परिव्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवां ॥ २ ॥
जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता । नद्यायं पुरुषो रिपत् ।
यस्मै परिव्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवां ॥ ३ ॥
उत्तमो अस्योर्षानामतुङ्गान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव । नद्यायं पुरुषो रिपत् ।
यस्मै परिव्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवां ॥ ४ ॥
त्रिः श्वाभ्युभ्यो अङ्गिरभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि । त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः ।
स कुष्ठो विश्वमेपजः । साकं सोमेन तिष्ठति ।
तुक्मानं सर्वं नाशयु सर्वांश्च यातुधान्युः ॥ ५ ॥

अर्थ— (तस्मात् यद्यमाः विष्वंच.) उषसे सब रोग दूर भागते हैं (मृगाः अश्वाः इव ईरते) जैसे मृग और अश्व दौड़ जाते हैं । (यत् गुल्गुलु संन्धवं) जो नू गुल्गुलु नदीसे प्राप्त हुआ हो, (यत् वा अथि समुद्रियं अस्ति) अथवा तू समुद्रसे प्राप्त हुआ हो ॥ २ ॥

(उमयोः नाम अग्रभं) जैसे दोनोका नाम लिया है (अस्मै अरिष्टतातये) इसको नारोगताके लिये ॥ ३ ॥

३९) कुष्ठनाशनम् ।

{ आयमाणः देयः कुष्ठः) रक्षण करनेवाला दिग्भ्य गुणयुक्त कुष्ठ वनस्पति (हिमवतस्परि ऐतुं) हिमवान् पर्वतपरसे आवे । (सर्वं तुक्मानं नाशय) तू हरएक तरहको दूर कर, (सर्वाः यातुधान्यः) और सब यात्रुवाले देनेवाले रोगोंको दूर कर ॥ १ ॥

हे कुष्ठ ! (ते श्रीणि नामानि) तेरे तीन नाम हैं, (नद्यमारः) न मारनेवाला, (नद्यारिपः) न हानि पहुँचानेवाला, (नद्यायं पुरुषः रिपत्) हानि न पहुँचाने यह पुरुष । (यस्मै तथा सायं प्रातः अथो दिवा परिव्रवीमि) त्रिमके लिये तेरी मैं शामको, प्रातःकालको और दिनभर प्रार्थना करता हूँ ॥ २ ॥

(ते माता जीवला नाम) तेरी माता जीवन् कानेवाली है (जीवन्तः नाम ते पिता) जीता रहनेवाला तैसा पिता है ॥ ३ ॥

(उत्तमो अस्यः अस्ति) औषधियोंमें तू उत्तम है, (अनद्धान् जगतां इव) जैसा बिल बलनेवाल में और (श्वपदां व्याघ्रः) श्वपदोंमें व्याघ्र होता है ॥ ४ ॥

(श्वाभ्युभ्यो अङ्गिरभ्यः त्रिः) अङ्गिर कुलेत्पन्न श्वाम्बुओंके तीन बार, (आदित्येभ्यः परि त्रिः) आदित्योंके तीन बार, (विश्वदेवेभ्यः त्रिः जातः) विश्वे देवोंके तीन बार उत्पन्न हुआ । (सः कुष्ठः विश्वमेपजः) वह कुष्ठ सब रोगोंको औषधि है । वह (सोमेन साकं तिष्ठति) सोमके साथ रहता है । तू सब रोगोंका नाश कर और दातना देने वाले सब रोगोंका नाश कर ॥ ५ ॥

अश्वत्थो देवसर्दनस्तृतीयस्यामितो दिवि । तत्रामृतस्य चक्षुषं ततः कुष्ठो अजायत ।

स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।

तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः

॥ ६ ॥

हिरण्ययी नौरचरद्विरण्यवन्धना दिवि । तत्रामृतस्य चक्षुषं ततः कुष्ठो अजायत ।

स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।

तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः

॥ ७ ॥

यत्र नार्वप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः । तत्रामृतस्य चक्षुषं ततः कुष्ठो अजायत ।

स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।

तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः

॥ ८ ॥

यं त्वा वेदु पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः । यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः ॥ ९ ॥
शीर्षलोके तृतीयकं सदुन्दिर्वथ हायनः । तक्मानं विश्वघापीर्याधराञ्च परा सुव ॥ १० ॥ (३०४)

(४०) मेघा ।

(ऋषिः — मृगता । देवता — बृहस्पतिः, विश्वे देवाश्च ।)

पन्मे छिद्रं मनतो यच्च वाचः सरस्वती मनुमन्तं जगाम ।

विश्वैस्तदेवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः

॥ १ ॥

अर्थ— (अश्वत्थः देवसर्दनः) अश्वत्थ देवोका रहनेका स्थान है । (इतः तृतीयस्यां दिवि) यहासे तीसरे गुलोकमें बह रहता है । (तत्र अमृतस्य चक्षुषं) वहां अमृतका स्रोत है, (ततः कुष्ठो अजायत) वहासे कुष्ठ उत्पन्न हुआ ॥ • ॥ • ॥ ६ ॥

(हिरण्ययी नौरः) सोनेकी नौरा (दिवि हिरण्यवन्धना) गुलोकमें सोनेसे बाधी है । वहां अमृतका स्रोत है, वहासे कुष्ठ उत्पन्न हुआ है ॥ • ॥ • ॥ ७ ॥

(यत्र न नार्वप्रभ्रंशनं) जहां नीचे गिरना नहीं है (यत्र हिमवतः शिरः) जहां हिमवानका सिर है ॥ • ॥ • ॥ ८ ॥

(पूर्वः इक्ष्वाकः यं त्वा वेदु) प्राचीन इक्ष्वाकूने तुझे जाना था, तथा हे कुष्ठ ! (काम्यः वा यं त्वा वेदु) कामके पुत्रने तुझे जाना था । (यं वा वसो) जिसको बसुने जाना था, (यं आत्स्यः) जिसको आत्स्यने जाना था, (तेन विश्वभेषजः असि) उस कारण तू सबका औषध है ॥ ९ ॥

यहां (यं वायसः) जिसको कौशले और (यं मात्स्यः) जिसको मात्स्यने जाना था । ऐसा पाठभेद है ।

(तृतीयकं शीर्षलोकः) तीसरे दिन आनेवाला ज्वर, सिरमें होनेवाला रोग, (सदुन्दिः) सदा दर्द करनेवाला जो रोग है वह, (यां च हायनः) जो खण्डना पीडा देता है, हे (विश्वघापीर्यं) अनेक प्रकारके नष्टकर्णवाले ! (तक्मानं अघराञ्च परा सुव) रोगको नीचिकी ओरसे दूर कर ॥ १० ॥

(४०) मेघा ।

(यत् मे मनसः छिद्रं) जो मेरे मनका छिद्र है, (यत् च वाचः) जो वाणीका चिद्र-दोष है, (तथा सरस्वती मनुमन्तं जगाम) तथा विद्या क्रीधी पुरुषको प्राप्त हुई है, उबसे जो दोग होता है (विश्वैः देवैः सह संविदानः) सब देवोंके साथ मिलकर (बृहस्पतिः तत् सं दधातु) बृहस्पति उस छिद्रको भर दे ॥ १ ॥

६ (अथर्व. भाष्य, पाठ १९)

मा न आपो मेघां मा ब्रह्म प्र प्रथियेन ।

सुष्यदा यूयं स्पन्दध्रुमुपहूतोऽहं सुमेधा वृत्रंस्वी

॥ २ ॥

मा नो मेघां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टे यचर्षः ।

शिवा नः शं सन्त्वार्युपे शिवा भवन्तु मातरः

॥ ३ ॥

या नः पीपरदुक्षिन्ता ज्योतिष्मती तमस्तिरः । तामस्मे रासतामिर्षम्

॥ ४ ॥ (३०६)

(४१) राष्ट्रं बलमोजश्च ।

(ऋषिः — ब्रह्माः । देवता — तपः ।)

मद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदुस्त्वपौ दीक्षामुपनिषदुरग्रे ।

ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जाते तदस्मै देवा उपसंनमन्तु

॥ १ ॥ (३०७)

(४२) ब्रह्मयज्ञः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — ब्रह्म ।)

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरंभो मिताः । अध्र्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः ॥ १ ॥

ब्रह्म सुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ।

ब्रह्मो यज्ञस्य तत्र च ऋत्विजो ये हविष्कृतः । शमिताय स्वाहा

॥ २ ॥

अर्थ— हे (आपः) ब्रह्मा । (नः मेघां मा प्र मथियेन) हमारी बुद्धिका मयन न करो, (मा ब्रह्म) हमारे ज्ञानको न क्षीण करो, (सु-स्यदा यूयं स्पन्दध्रुव) सुगम प्रवाहसे तुम चहते रहो । (उपहृतो अह) श्रापित हुआ मैं (सुमेधा वर्चस्वी) उत्तम बुद्धिवान् और तेजस्वी बनू ॥ २ ॥

(न मेघा मा हिंसिष्ट) हमारी मेघाको हानि न पहुचाओ । (न दीक्षां मा) हमारी दायाको हानि न पहुचाओ, (यत् नः तप) जो हमारा तप है (मा हिंसिष्ट) उसका नाश न करो, (न आयुपे शिवा सन्तु) हमारा आयुके लिये कल्याणकारी हों, (मातर शिवा भवन्तु) माताएँ-अपघाराएँ हमारे लिये कल्याण करनेवाली हों ॥ ३ ॥

हे अग्निवो । (या ज्योतिष्मती नः पीपरत्) जो प्रकाशवाली हमें पूर्ण करता है और (तमः तिरः) अन्धकारसे पार करती है, (तां ह्य अस्मे रासतां) उस अन्नको हमें दे दो ॥ ४ ॥

(४१) राष्ट्रं बलमोजश्च ।

(मद्र इच्छन्तः स्वर्विदुः ऋषयः) कल्याणकी इच्छा करनेवाले आत्मज्ञानी ऋषि (अग्रे तप दीक्षा उपसेदु) प्रारम्भमें तप और दीक्षाका आचरण करने लग (ततः राष्ट्रं बल मोजः च जात) उससे राष्ट्र हुआ, और बल और धामय्यं भी उत्पन्न हुआ । (तत् अस्मै) इसलिये इसके सामने (देवाः उप सं नमन्तु) शानी पुरुष विनम्र हों ॥ १ ॥

ऋषियोंके प्रयत्नसे राष्ट्र बना है इसलिये शानी लोग राष्ट्रके सामने विनम्र होकर राष्ट्र सेवा करें ॥

(४२) ब्रह्मयज्ञः ।

(ब्रह्म होता) ब्रह्म होता हुआ है । (ब्रह्म यज्ञाः) ब्रह्म ही यज्ञ हुए हैं । (स्वरंभो मिता) स्वरु ब्रह्ममें मापे हैं । (ब्रह्मणा अध्र्युर् जात) ब्रह्मसे अध्र्यु हुआ है, (ब्रह्मणा हविः अन्तर्हित) ब्रह्मके अन्दर दबिरखा है ॥ १ ॥

(घृतवती सुचः ब्रह्म) पीछे भरी सुचाएँ ब्रह्म हैं, (ब्रह्मणा वेदिः रुद्धिता) ब्रह्मसे वेदी तैयार बा गयी है । (यज्ञस्य तत्र ब्रह्म) यज्ञका तत्र ब्रह्म है । (ये हविष्कृत ऋत्विज) जो हवि तैयार करनेवाले ऋत्विज हैं । (शमिताय स्वाहा) शान्त जो है उसके लिये समर्पण हो ॥ २ ॥

अंहोमुचे प्र मेरे मनीषामा सुत्राव्यो सुमविमावृणानः ।

इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृणाम्य सत्याः संन्तु यजमानस्य कामाः ॥ ३ ॥

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममश्वराणां ।

अपां नपातमक्षिनां हुवे धियं इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तमोजः ॥ ४ ॥ (३११)

(४३) ब्रह्मा ।

(ज्ञायिः — ब्रह्मा । देवता — ब्रह्म, बहवो देवताः ।)

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

अग्निमा तत्र नयत्वग्निमेघां दधातु मे । अग्नये स्वाहा ॥ १ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

वायुमा तत्र नयतु वायुः प्राणान्दधातु मे । वायवे स्वाहा ॥ २ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

सूर्यो मा तत्र नयतु सूर्यः सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा ॥ ३ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

चन्द्रो मा तत्र नयतु चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा ॥ ४ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ— (अंहोमुचे मनीषां प्र मेरे) पापसे छुड़ानेवालेके लिये प्रथमा गाता हूं। (सुत्राव्यो सुमति आवृणानः) उत्तम रक्षण करनेवालेके लिये उत्तम मति देता हूं। हे इन्द्र ! (इदं हव्यं प्रति गृणाम्य) यह हवि स्वीकार कर। (यजमानस्य कामाः सत्याः संन्तु) यजमानकी इच्छाएं सत्य हों ॥ ३ ॥

(अंहो-मुचं) पापसे छुड़ानेवाले, (यज्ञियानां वृषभं) पृथ्वीके अन्दर सामर्थ्यवान्, (अश्वराणां प्रथमं विराजन्तं) यहाँमें प्रथम विराजमान (अपां न-पातं) जलाँधी न गिरानेवालेकीं और (अभियाना हुवे) अधिनी देवीकीं प्रार्थना करता हूं, मुझे (धियः) बुद्धियां, (ओजः) सामर्थ्य और (इन्द्रियेण इन्द्रियं) इन्द्रिय शक्ति देइय दे ॥ ४ ॥

(४३) ब्रह्मा ।

(दीक्षया तपसा सह) दीक्षा और तपके साथ (यत्र ब्रह्मविदः यान्ति) जहाँ ब्रह्मज्ञानी जाते हैं। (अग्निः मा तत्र नयतु) अग्नि मुझे वहाँ ले जाय और (अग्निः मे मेघां दधातु) अग्नि मुझे मेघा बुद्धि देवे। अग्निकेलिये अर्पण हो ॥ १ ॥

॥ • ॥ (वायुः मा तत्र नयतु) वायु मुझे वहाँ ले जाय (वायुः प्राणान् मे दधातु) वायु मेरे अन्दर प्राणोंकी धारण करे ॥ • ॥ २ ॥

॥ • ॥ (सूर्यः मा तत्र नयतु) सूर्य मुझे वहाँ ले जाय (सूर्यः मे सूर्यः दधातु) सूर्य मुझमें आँसु रखे ॥ • ॥ ३ ॥

॥ • ॥ (चन्द्रो मा तत्र नयतु) चन्द्र मुझे वहाँ ले जाय और (चन्द्रः मे मनः दधातु) चन्द्र मुझमें मन स्थापन करे ॥ • ॥ ४ ॥

॥ • ॥ (सोमः मा तत्र नयतु) सोम मुझे वहाँ ले जाय और (सोमः मे पयः दधातु) सोम मुझे दूध देवे ॥ • ॥ ५ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥ ६ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

आपो मा तत्र नयन्न्मृतं मोषं तिष्ठतु । अन्नः स्वाहा ॥ ७ ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्मं दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ८ ॥ (३:९)

(४४) भैषज्यम् ।

(ऋषिः — भृगुः । देवता — आजनम्, वरुणः ।)

आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे । तदाञ्जनं त्वं शतते शमापो अभयं कृतम् ॥ १ ॥

यो हरिमा जायान्योऽङ्गभेदो विसर्पकः । सर्वं ते यक्ष्ममद्वैभ्यो बहिर्निर्द्वन्त्वाञ्जनम् ॥ २ ॥

आञ्जनं पृथिव्यां जातं भद्रं पुरुषजीवनम् । कृणोत्वप्रमायुक्तं रथज्जतिमनांसम् ॥ ३ ॥

प्राणं प्राणं त्रायस्वाप्तो असि मृड । निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशैभ्यो मुञ्च ॥ ४ ॥

सिन्धो गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम् । वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्विवस्पर्यः ॥ ५ ॥

अर्थ— ॥ ० ॥ (इन्द्र मा तत्र नयतु) इन्द्र मुझे बहा ले जाय, और (इन्द्र. मे बल दधातु) इन्द्र मुझे बल देवे ॥ ० ॥ ६ ॥

॥ ० ॥ (आप मा तत्र नयन्तु) अन्नप्राण मुझे बहा ले जाय और (अमृतं मा उप तिष्ठतु) अमृत मुझे प्राप्त हो जाय ॥ ० ॥ ७ ॥

॥ ० ॥ (ब्रह्मा मा तत्र नयतु) ब्रह्मा मुझे बहा ले जाय और (ब्रह्मा मे ब्रह्म दधातु) ब्रह्मा मुझे ब्रह्म देवे ॥ ० ॥ ८ ॥

(४४) भैषज्यम् ।

(आयुषः प्रतरण असि) तू आनुका बढानेवाला है, (विप्र भेषज उच्यसे) तू विशेष रूढ़िवाला औषध बढाता है । (तत्वाञ्जन ! त्वं शतते) तू ही अचन ! तू शान्ति बढानेवाला है, (आपः) जलो ! (अभयं कृतं) मेरे लिये निर्भयता और सुख करो ॥ १ ॥

(यो हरिमा) जो पण्डुरोग है, (जायान्य) जो कासे होनेवाला रोग है, (अङ्गभेद.) अंगोंको तोड़नेवाला दर्द है, (विसर्पक.) विसर्पक फुन्सीका रोग है, ये (सर्वं यक्ष्म ते अङ्गभेद.) सर्व रोग खेरे अङ्गोंसे (आञ्जन बहिः निर्द्वन्तु) यह अचन बाहर निकाले ॥ २ ॥

(आञ्जनं पृथिव्यां जातं) यह अचन पृथिवीपर उत्पन्न हुआ है । यह (भद्रं पुरुषजीवनं) कल्याणकारी और मनुष्योंको जीवन देनेवाला है, यह मुझे (प्रमायुक्तं कृणोति) मन्मथहित करता है, (रथज्जति) और रथके समान वेगवाला और (अनांसं) पापहित बनाता है ॥ ३ ॥

हे (प्राण) प्राण ! (प्राण त्रायस्व) मेरे प्रत्येक प्राणकी रक्षा कर, हे (असो) प्राण ! (असवे मृड) प्राणको सुखी कर । हे (निर्ऋते) दुर्गति ! (निर्ऋत्या पाशैभ्यः नः मुञ्च) दुर्गतिके पाशोंसे हमें छुडा ॥ ४ ॥

(सिन्धो गर्भो असि) तू सिन्धुका गर्भ है, (विद्युतां पुष्पम्) बिजुलियोंका तू फूल है, (वातः प्राण) वायु तरा प्राण है, (सूर्यः चक्षुः) सूर्य चक्षु है, (दिवः पयः) गुलेक पाण्डिक रस है ॥ ५ ॥

नदीयोंकी यतीशक्ति और विद्युतका तेज गुन्दारे अन्दर है ।

देवाञ्जनं त्रैककुटुं परिं मा पाहि विश्वतः । न त्वा तरन्त्योपधयो वाह्याः पर्वनीया उत ॥ ६ ॥
 वीरुदं मध्यमवांसुपद्रुहोहामीवचार्तनः । अमीवाः सर्वाश्चातयन्नाशयदभिमा इतः ॥ ७ ॥
 वृह्दीइदं राजन्वरुणानृतमाह पुरुषः । तस्मात्सहस्रवीर्यं मुख नः पर्यहंसः ॥ ८ ॥
 यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यद्विचिम । तस्मात्सहस्रवीर्यं मुख नः पर्यहंसः ॥ ९ ॥
 मिश्रथं त्वा वरुणश्चानुप्रेयतुराञ्जन । तौ त्वानुगत्य दूरं भोगाय पुनरोदतुः ॥ १० ॥ (३२९)

(४५) आज्ञनम् ।

(ज्ञापः — भृगुः । देवता — आज्ञनम्, मन्त्रोक्तदेवताः ।)

ऋणाहणमिव संनयन्कृत्यां कृत्याकृतौ गृहम् । चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हादिः पूष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ १ ॥
 यदुस्मात्सु दुष्वघ्न्यं यद्रोषु यच्च नो गृहे । अनामगस्तं च दुर्हादिः प्रियः प्रति मुञ्चताम् ॥ २ ॥
 अपामर्जं ओर्जसो वावृधानमप्रेञ्जितमधि जातवेदसः ।
 चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्तं ॥ ३ ॥

अर्थ— हे (देवाञ्जन) दिव्य अज्ञान । तू (त्रै-ककुटुं) तीन लोकोंमें घेष्ट है । (मा विश्वतः परि पाहि) मेरी सभ ओरसे रक्षा कर । (वाह्याः उत पर्वनीयाः) बाघ और पर्वतपर होनेवाली (ओपधयः) तथा न तरन्ति) भापधियां गुप्तसे बढकर नहीं होती ॥ ६ ॥

(रशोहा अमीवचातनः) राक्षसोंका मारनेवाला और रोगोंको हटानेवाला यह (इदं मध्यं वि अवासूपत्) इस मध्यस्थ नमं आया है [हमारे पास उत्तरकर आया है] यह (सर्वाः अमीवाः चातयन्) सभ रोगोंको दूर करता है, और (इतः अभि भा नाशयत्) यद्यति आक्रमक रोगोंका नाश करता है ॥ ७ ॥

(हे वरुण राजन्) वरुण राजा ! (पुरुषः यद्गु इदं अनृतं आह) पुरुष यहाँ बहुत असत्य बोलता है, हे (सहस्रवीर्यं) हजारों शक्तिपैले युक्त । (तस्मात् अघ्न्यं नः परि मुञ्च) उस पापसे हमें छुडाओ ॥ ८ ॥

हे (आपः) जलो ! हे (अघ्न्याः) न मारने योग्य । हे वरुण ! (इति यद् ऊचिम) ऐसा जो हमने कहा, हे हजारों शक्तिपैले ! तू उस पापसे हमें छुडाओ ॥ ९ ॥

हे आज्ञन । मिश्र और वरुण (त्वा अनु प्रेषतुः) तेरे पीछे आते हैं, (तौ त्वा दूरं अनुगत्य) वे दोनों तेरे पीछे दूरतक जाकर (भोगाय पुनः ओदतुः) भोगके लिये फिर पुष्टे लावें ॥ १० ॥

(४५) आज्ञनम् ।

हे अज्ञान ! (ऋणात् ऋणं संनयन् इव) ऋणसे ऋण वापस करनेक समान (कृत्याकृतः गृहं कृत्यां) दिव्यकर्म करनेवालेके घर सभके हिंस्रकर्मको लाँटा देते है । (चक्षुः मन्त्रस्य दुर्हादिः) आँखके इशारेसे ज्ञानि करनेवाले दुष्ट हृदयवालेकी (पुष्टीः अपि शृणु) पसलियां तोड ॥ १ ॥

(यत् अस्मात्सु दुष्वघ्न्यं) जो हमारे अन्दर दुष्ट खन्न है, (यत् गोषु) जो गीओंमें और (यत् च नः गृहे) जो हमारे घरमें है, (प्रियः दुर्हादिः अ-नाम-गः) प्रिय दुष्ट हृदयवाला अयशस्वी (तं प्रति मुञ्चतां) उसको धारण करे— [दुष्टके पास बढ लग जावे ।] ॥ २ ॥

(अपां ऊर्जः) जलोंकी शक्ति और (ओजसः वावृधानः) क्षामर्यसे बढनवाला (जातवेदसः यज्ञे अग्निजातं) जातवेद आग्नेय बलपक्ष हुआ, (चतुर्वीरं पर्वतीयं यत् आज्ञनं) चार कीरोंकी शक्तिवाला जो पर्वतपर हुआ अज्ञान है वह (दिशः प्रदिशः ते शिवाः करत् इत्) दिशा और उपादिशा तेरे लिये कल्याण करनेवाली बरे ॥ ३ ॥

चतुर्वारं वष्यत आज्ञंते ते सर्वा दिशो अर्भपास्ते भवन्तु ।

ध्रुवस्तित्थासि सवितेव चार्यं इमा विशो अमि हर्न्तु ते चलिम् ॥ ४ ॥

आक्षेत्रकं मणिमेकं कृष्णुष्व स्नाहोकेना पिवेकमेपाम् ।

चतुर्वारं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या वन्देभ्यः परिं पात्वसान् ॥ ५ ॥

अग्निमाग्निनावतु प्राणायानायायुषे वचंस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभृतये स्वाहा ॥ ६ ॥

इन्द्रो मेन्द्रियेणावतु प्राणायानायायुषे वचंस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभृतये स्वाहा ॥ ७ ॥

सोमो मा सौम्येनावतु प्राणायानायायुषे वचंस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभृतये स्वाहा ॥ ८ ॥

भगो मा भगेनावतु प्राणायानायायुषे वचंस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभृतये स्वाहा ॥ ९ ॥

मरुतो मा गणैरवन्तु प्राणायानायायुषे वचंस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभृतये स्वाहा ॥ १० ॥ (३३९)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अर्थ— (चतुर्वारं) चार बारों की शक्तिवाला अज्ञान तेरे शरीरपर बाधा जाता है, इसके (ते सर्वाः दिशाः) अर्भपाः भवन्तु) मेरे लिये सब दिशाएँ निर्भय हों । (सविता इव चार्यः च ध्रुवः तित्थसि) पवित्र के समान सधा आर्य बनकर अपने स्थानपर स्थिर हो । (इमाः विशाः तै चलिं अमि हर्न्तु) ये सब प्रभारें तेरे लिये बलि लाकर अपंग करे ॥ ४ ॥

(एकं अक्षु) एकको आशुमें, (एकं मणिं आ कृष्णुष्व) एकको मणि बना, (एकेन स्नाहि) एकके साथ स्नान कर, (एषां एकं पिय) इनमेंसे एकको पी ले, यह (चतुर्वारं) चार बारोंके बलवाला अज्ञान (चतुर्भ्यो नैर्ऋतेभ्यः वन्देभ्यः) चार राक्षसी वन्दनोंके तथा (ग्राह्या) पकड़नेवाले रोगसे (असान् पात्रे पातु) हमारा रक्षण करे ॥ ५ ॥

इस मंत्रमें जो गुप्त ज्ञान कहा है उसका अन्वेषण करना चाहिये ।

(अग्निमा अग्निः मा अवतु) अग्निके साथ अग्नि मेरी रक्षा करे । (प्राणाय अपानाय) प्राणके लिये, अपानके लिये, (आयुषे वचंसे) आयुके लिये, तेजके लिये, (ओजसे तेजसे) सामर्थ्यके लिये, कान्तिके लिये, (स्वस्तये सुभृतये स्वाहा) कल्याणके लिये, उत्तम ऐश्वर्यके लिये धनप्राप्त करेते हैं ॥ ६ ॥

(इन्द्रः इन्द्रियेण मे अवतु) इन्द्र इन्द्रशक्तिके मेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

(सोमः मा सौम्येन अवतु) सोम ध्यानकी शक्तिके मेरी रक्षा करे ॥ ८ ॥

(भगः मा भगेन अवतु) भग मेरी ऐश्वर्यमे रक्षा करे ॥ ९ ॥

(मरुतो मा गणैः अवतु) मरुत मेरी गणोंसे रक्षा करे ॥ १० ॥

॥ यहाँ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

(४६) अस्तृतमणिः ।

(ऋषिः— प्रजापतिः । देवता— अस्तृतमणिः ।)

प्रजापतिश्चा बध्नात्प्रथममस्तृतं वीर्याणि कम् ।

तत्रै बध्नाभ्यायुषे वर्चसु ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वामि रक्षतु ॥ १ ॥

ऊर्ध्वंस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दमन्पणयो यातुधानाः ।

इन्द्र इव दस्यूनं धूनुष्व पृतन्यतः सर्वान् शत्रुन्वि पृहस्वास्तृतस्त्वामि रक्षतु ॥ २ ॥

शतं च न प्रहरन्तो निम्रन्तो न तस्तिरे ।

तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो बलमस्तृतस्त्वामि रक्षतु ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परिं घापयामो यो देवानामधिराजो ध्रुव ।

पुनस्त्वा देवाः प्र णयन्तु सर्वेऽस्तृतस्त्वामि रक्षतु ॥ ४ ॥

अस्मिन्मणाविकेशतं वीर्याणि सहस्रं प्राणः अस्मिन्नस्तृते ।

व्याघ्रः शत्रून्मि तिष्ठ सर्वान्यस्त्वां पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वामि रक्षतु ॥ ५ ॥

घृतादुल्लोमो मधुमान्पर्यस्वान्तसहस्रप्राणः शतयोनिर्वयोधाः ।

शंभूश्च मयोभूश्चोर्जस्वांश्च पर्यस्वांश्चास्तृतस्त्वामि रक्षतु ॥ ६ ॥

(४६) अस्तृतमणिः ।

अर्थ— (प्रजापतिः त्वा) प्रजापतिने तुझे (प्रथमं कं अस्तृतं वीर्याय अबध्नात्) पहिले मुखदायी अस्तृत मणिको वीर्यके लिये बांधा था । (तत् ते आयुषे) वह तेरे शरीरपर आयुके लिये, (वर्चसे ओजसे) तेजके लिये, सामर्थ्यके लिये (बलाय च) बलके लिये बांधता है । (अस्तृतः त्वा अमि रक्षतु) अस्तृत मणि तेरा रक्षण करे ॥ १ ॥

(अस्तृत अप्रमादं इमं रक्षन्) अस्तृत मणि प्रमाद न करता हुआ, इसका रक्षण करनेके लिये (ऊर्ध्वः तिष्ठतु) ऊपर स्थित रहे । (यातुधानाः पणयः त्वा मा दमन्) यातना देनेवाले पणि तुझे हानि न पहुँचावें । (इन्द्र इव दस्यून अथ धूनुष्व) इन्द्रके समान शत्रुओंको हिला दे । (पृतन्यतः सर्वान् शत्रुन् वि सहस्र) सैनासे हमला करनेवाले सब शत्रुओंको पराभूत कर । (अस्तृतः त्वा अमि रक्षतु) अस्तृत मणि तेरा रक्षण करे ॥ २ ॥

(शतं च प्रहरन्तः न) प्रहार करनेवाले सौ और (निम्रन्तः न तस्तिरे) मारनेवाले भी इसके सामने ठहर नहीं सकते । (तस्मिन् इन्द्रः) उसमें इन्द्रने (चक्षुः प्राणं यथो चलं पर्यदत्त) दृष्टि, प्राण और बल दिया । मृत्युत मणि तेरा रक्षण करे ॥ ३ ॥

(इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परिघापयामः) इन्द्रके ऋचसे तुझे हम ढाँपते हैं । (यः देवानां अधिराजः ध्रुव) जो देवोंका अधिराज हुआ है । (पुनः त्वा सर्वे देवाः प्रणयन्तु) फिर तुझे सारे देव प्रेरित करें, अस्तृत मणि तेरा रक्षण करे ॥ ४ ॥

(अस्मिन् मणौ) इस मणिमें (एक शतं वीर्याणि) एक सौ वीर्य हैं (अस्मिन् अस्तृतस्ते सहस्रं प्राणाः) इस अस्तृत मणिमें हजार प्राणकी शक्तियाँ हैं । (व्याघ्रः सर्वान् शत्रुन् अमि तिष्ठ) व्याघ्र चनकर सब शत्रुओंको पराभूत कर । (यः त्वा पृतन्यात्) जो तेरे ऊपर सैन्यसे आक्रमण करे (सः अधरः अस्तु) वह नीचे गिरे । अस्तृतमणि तेरा रक्षण करे ॥ ५ ॥

(घृतात् उल्लुप्तः) पीस लियेला हुआ, (मधुमान् पर्यस्वान्) मधुसे भरा, दूधसे पूर्ण, (सहस्रप्राणः शतयोनिः) सहस्र प्राणशक्तियाँ इसके पाठ हैं, सौ वस्त्रपति स्थान हैं, (ययोधाः शंभूः) आयुका धारण करनेवाला, कल्याण करनेवाला, (मयोभूः च ऊर्जस्वान् च) मुख देनेवाला शक्तिमान (पर्यस्वान् च) रघसे पूर्ण यह मणि है । यह अस्तृत मणि तेरा रक्षण करे ॥ ६ ॥

यया त्वमुत्तरोऽमो अमपुतः संपन्नहा ।

मजातानामनदृशी तथा त्वा नखिता कर्दम्वृत्तम्बानि रक्षतु

॥ ७ ॥ (ः३६)

(४७) रात्रिः ।

(ऋदिः — मापघ , इवता — रात्रिः)

आ रात्रिं पार्थिवं रजः पितुरंप्रापि धामभिः ।

दिवः सदांसि वृहती वि तिष्ठन् आ त्वंपं वतेते तमः

॥ १ ॥

न यस्याः पारं ददृशे न योर्युवद्विश्वंमस्यां नि विश्वते यदेजति ।

अरिष्टामन्त उर्वि तमम्बन्ति रात्रिं पारमंशीमहि भद्रे पारमंशीमहि

॥ २ ॥

ये तै रात्रिं नृचक्षुसो द्रुधारां नवृतिर्नवं । अश्रातिः सन्त्यष्टा हुतो तै नम संस्रतिः

॥ ३ ॥

पुष्टिश्च पद् च रेवति पञ्चाशत्पञ्चं सुन्नपि । चत्वारंश्चत्वारिंशच्च त्रयंस्त्रिंशच्च वाजिनि

॥ ४ ॥

द्वौ च ते विश्वतिथं ते राज्यैकादशावमाः । तेभिर्नो अथ पायुभिर्नु पाहि दुहितर्दिवः

॥ ५ ॥

रक्षा माकिर्नो अघर्षंस ईशत मानो दुःशर्म ईशत । मानो अघ गर्वा स्तेनो मार्वीनां वृक ईशत ॥ ६ ॥

अर्थ— (यथा स्व उत्तरः अस्तः) जैसा तू उत्तर दे और (अस्तपतन-सपन्नहा) शशुरित और दृष्टुभेही नालेबला है, तथा (सजातानां वशी अस्तु) सजातों की वश करनेबला है, (तथा त्या सरिता इत्तु) पैसा देने काबिलाने किया है । अस्तु न मपि तेरा रक्ष करे ॥ ७ ॥

(६७) रात्रिः ।

हे रात्रि ! तूने (पितुः धामभिः) धृष्टी की गिराई स्थानों, धमेत (पार्थिवं रजः) धृष्टिके प्रदेशोंके (आ प्रप्रापि) भर दिया है । तू (वृहती) बना (दिवः सदांसि) दुष्टादके स्थानोंकी (वि विष्ठसे) भरकर रहती है । (त्वंपं तम आ वतेते) तेजस् अथवा पुन का रहा है ॥ १ ॥

(यस्याः पारं न ददृशे) जिसका पार दिखाई नहीं देना, (न योर्युवत्) जिसमें न पुत्र अथवा अथवा प्रवीण होता है, (विश्वं अस्यां नि विश्वते) सब इसमें आराम करते हैं, (यत् एजति) जो चलता है [वह इसमें विश्रान करता है] हे (उर्वि तमम्बन्ति रात्रिः) बड़ी अन्धकारवाली रात्रि ! (अ-रिष्टासः) न बिनाइ होने हुए हम (ते पारं अशोमहि) तेरे पार पहुँचेंगे, (भद्रे ! पारं अशीमहि) हे कल्याण करनेवाली ! तेरे पार हम जायेंगे ॥ २ ॥

हे रात्रि ! (ये ते नृचक्षुसः) जो तेरे मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले और (अश्रातः) देखनेवाले रक्षक हे (नवतीः नव) नव्हे और नौ, (अश्रातिः अष्टाः सप्त) अठो और आठ (उन उ ते सप्त सप्तनिः) और सात और सप्तार है ॥ ३ ॥

(पुष्टिः च पद्) साठ और छ, हे (रेवति) चलव कि रात्रि ! (पञ्चाशत् पञ्च) पचास और पाब, हे (सुन्नपि) सुख देनेवाली रात्रि ! (चत्वारः चत्वारिंशत् च) चार और चालीस, हे (वाजिनि) शक्तिवाली रात्रि ! (त्रयः त्रिंशत् च) और तीस है ॥ ४ ॥

(द्वौ च ते विश्वतिथः च त) दो और बीच, हे रात्रि ! (अघमाः एकादश) कर्मकेम ग्यारह रक्षक हैं । हे (दिवः दुहितः) सुलोककी पुत्री ! (तेभिः पायुभिः) उन रक्षकोंके (अथ नः नु पाहि) आज हमारी रक्षा कर ॥ ५ ॥

(रक्षा माकिः) हमारी रक्षा कर (अघर्षंसः मा नः ईशत) पापा हमपर रक्षानी न हो, (मानः दु यंस ईशत) न हमपर दुष्ट कर्तव्यवाला स्वामित्व को, (अघ गर्वा स्तेन नः मा) आज गर्वोंका और न हमपर अधिकार चलव, (अघोर्ना वृक मा नः ईशत) भेड़ियोंके उडिये हम वश करे ॥ ६ ॥

माश्वानां भद्रे तस्करो मा नृणां यातुधान्यः ।

परमेभिः पथिभि स्तेनो धावतु तस्करः । परेण दुस्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ ७ ॥

अथ रात्रि तुष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु । हनु वृकस्य जम्भयास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥ ८ ॥

त्वयि रात्रि वसामसि स्वपिष्यामसि जागृहि । गोभ्यो नः शर्म यच्छाश्वेभ्यः पुरुषेभ्यः ॥९॥ (३५५)

(४८) रात्रिः ।

(ऋचिः — गोपायः । देवता — रात्रिः ।)

अथो यानि च यस्मा ह यानि चान्तः परीणहि । तानि ते परि दधसि ॥ १ ॥

रात्रि मातृकृपसे नः परि देहि । उषा नो अहे परि ददात्वहस्तुभ्यं विमावरि ॥ २ ॥

यत्किं चेदं पतयति यत्किं चेदं सरीमुपम् । यत्किं च पर्वतायासत्वं तस्माच्च रात्रि पाहि नः ॥ ३ ॥

सा पश्चात्पाहि सा पुरः सोत्तरादधरादुत । गोपायं नो विमावरि स्तोतारंस्त इह स्मसि ॥ ४ ॥

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति ।

पशून्ये सर्वात्रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति ॥ ५ ॥

अर्थ— हे (भद्रे) कन्याण करनेवाली रात्री । (अश्वानां तस्करः मा) घोड़ोंका चोर, और (नृणां यातुधान्यः मा) मनुष्योंको कष्ट देनेवाले हमें कष्ट न देवें । (स्तेनः तस्करः) चोर और डाकू । (परमेभिः पथिभिः घावतु) दूरके मार्गसे भाग जाय । (दुस्वती रज्जुः परेण) दातवाली रस्सी [धार], (परेण आघायुः अर्षतु) दूरके मार्गसे पार्य भाग जाए ॥ ७ ॥

हे रात्रि । (अथ) और (तुष्टधूमं) धूपा लगानेवाले (अहिं) सांपको (अशीर्षाणं) सिरसे हीन कर । (वृकस्य हनु जम्भय) मेढियेके अबड़ेको पीस (तेन तं द्रुपदे जहि) उससे उसको तू कीचड़में मार ॥ ८ ॥

हे रात्रि । (त्वयि वसामसि) तेरे अन्दर हम रहते हैं, तेरे आश्रयसे (स्वपिष्यामसि) हम सोयेगे, (जागृहि) तू जाग । (नः गोभ्यः शर्म यच्छ) हमारे गौओंके लिये सुख दे और (अश्वेभ्यः पुरुषेभ्यः) घोड़ोंके लिये और पुरुषोंके लिये सुख दे ॥ ९ ॥

(४८) रात्रिः ।

(अथो यानि च यस्मा ह) और जो हम जानते हैं, (यानि च परीणहि अन्तः) जो संदूकमें हैं (तानि ते परि दधसि) वे सब तेरे लिये अर्पण करते हैं ॥ १ ॥

(रात्रि मातः) हे रात्रि माते । (नः उपसे परि देहि) तू हमें तथाके अर्पण कर । (उषा नः अहे परि ददातु) उषा हमें दिनके सुपुर्द करे । हे (विमावरि) तेजस्विनी रात्रि । (अहे तुभ्यं) दिन तुम्हारे सुपुर्द हमें करे ॥ २ ॥

(यत् किं च इदं पतयति) जो कुछ यहाँ उबना है, (यत् किं च इदं सरोरुपं) जो कुछ यहाँ रीगता है, (यत् किं च पर्वते अयासत्वं) जो कुछ पर्वतपर आँव है, हे रात्रि । (तस्मात् त्वं नः पाहि) उससे तू हमारी रक्षा कर ॥ ३ ॥

(सा पश्चात् पाहि) वह तू पीछेसे हमारी रक्षा कर, (सा पुरः) आगेसे, (सा उत्तरात् अधरात् उत) वह तू ऊपरसे और नीचेसे हमारी रक्षा कर । हे (विमावरि) तेजस्विनी रात्री । (नः गोपाय) हमें सुरक्षित रख । (ते इह स्तोतारः स्मसि) तेरे हम यहाँ स्तोतागण हैं ॥ ४ ॥

(ये रात्रि अनुतिष्ठन्ति) जो रात्रीमें अनुष्ठान करते हैं, (ये च भूतेषु जाग्रति) जो प्राणियोंमें जागते हैं, (ये सर्वात्र पशुन् रक्षन्ति) जो सब पशुओंकी रक्षा करते हैं, (ते न आत्मसु जाग्रति) वे हमारे लोचनमें जागते हैं, (ते नः पशुषु जाग्रति) वे हमारे पशुओंमें जागते रहते हैं ॥ ५ ॥

वेदु वै रात्रि ने नाम घृताची नाम वा असि ।

तां त्वा भरद्वाजो वेद सा नो विचेऽधि जाप्रति

॥ ६ ॥ (३६३)

(४९) रात्रिः ।

(ऋग्नि - गोपथा, भरद्वाजश्च । देवता - रात्रिः ।)

इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्रीं देवस्य सवितुर्भगस्य ।

अश्वसभा सुहवा संभृतश्रीरा पंश्रीं घावापृथिवी महित्वा

॥ १ ॥

अति निर्भान्यरुहद्गम्भीगे वपिष्ठमरुहन्त श्रविष्ठाः ।

उशती राध्यनु सा मद्राभि तिष्ठते मित्र इव स्वधामिः

॥ २ ॥

वयं वन्दे सुभगे गुज्रात् आजगत्रात्रि सुमना इह स्याम् ।

अस्मास्त्रायस्तु नर्याणि जाता अथो यानि गव्यानि पुष्ट्या

॥ ३ ॥

सिंहस्य राध्यशती पीपस्य व्याघ्रस्य द्वीपिनो वर्च आ ददे ।

अश्वस्य ब्रध्नं पुरुषस्य मायुं पुरु रूपाणि कृणुपे विभाती

॥ ४ ॥

शिवां रात्रिमनुस्यं च हिमस्य माता सुहवा नो अस्तु ।

अस्य स्तोमस्य सुभगं नि वोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु

॥ ५ ॥

अर्थ— हे रात्रि ! (ते नाम वेद वै) तेरा नाम हम जानते हैं । (घृताची नाम वै असि) तू धी देनेवाली है । (तां त्वा भरद्वाजः वेद) उव तुझको भरद्वाज जानता है, (सा नः विचे अधि जाप्रति) वह तू हमारे धनपर जागती रह ॥ ६ ॥

(४९) रात्रिः ।

(इषिरा) इच्छा करने योग्य, (योषा युवति) तरुण स्त्री जैसी (दमूना) अपने अर्पण अपना मन रखनेवाली, सवितुः भगस्य देवस्य) सविता भग देवकी (रात्री) यह रात्री (अनु-अश्व-भा) शीघ्र देखरेख करनेवालेसे प्रकाशित, (सु-हवा) मुखसे प्रार्थना करने योग्य, (संभृत श्रीरा) इच्छी सोमावाली, यह रात्री (महित्वा घावा-पृथिवी आ पश्री) अपने महत्त्वसे बुलोक और भूलोकको मर देती है ॥ १ ॥

(गम्भीरः) विश्वानि अति अरुहत्) गहरा अन्धेरा सब जगतपर छा गया है । (श्रविष्ठाः श्रविष्ठं अरुहन्त) बड़ी शक्तिवाली बड़े ऊँचे आकाशपर चढ़ी हैं । (उशती रात्री) इच्छा करनेवाली रात्री और (सा मद्रा अभि तिष्ठते) वह वक्ष्याण करनेवाली रात्री संसुप्त भाती है, (मित्रः स्वधामिः इव) मित्र जैसा अपनी शक्तियोंके साथ आता है ॥ २ ॥

(वयं) वरण करने योग्य, (वन्दे) वन्दन करने योग्य, (सुभगे) उत्तम भाग्यवाली, (सु-जाते) उत्तम जन्मवाली, हे रात्रि ! तू (वा जगन्) आ गयी है, (सुमना इह स्याम्) यहाँ उत्तम मनवाली हो । (अस्मान् प्रायस्व) हमारी रक्षा कर । (नर्याणि जाता) मनुष्योंके हितके लिये जो उत्पन्न हुई हैं, (अथो) और (यानि गव्यानि पुष्ट्या) जो गायोंको पुष्टि करनेवाली हैं उन सबकी रक्षा कर ॥ ३ ॥

(उशती रात्री) इच्छा करनेवाली रात्री (सिंहस्य) सिंहके, (पीपस्य) हरिनके, (व्याघ्रस्य) बाघके, (द्वीपिनः) गंडेके (वर्चः आ ददे) तेजको लेती है । (अश्वस्य ब्रध्नं) घोड़ेके पंढेके (पुरुषस्य मायुं) पुरुषके शब्दको लेती है और (विभाती) समकृती हुई रात्री (पुरु रूपाणि कृणुपे) बहुत रूपोंको दिखाने करती है ॥ ४ ॥

(शिवां रात्री) कल्याण करनेवाली रात्री (अनुस्यं) सूर्यके पीछे (हिमस्य माता) सर्दीकी यह माता (न सुहवा अस्तु) हमारे लिये बुराई स्तुति करने योग्य हो । हे (सुभगे) उत्तम भाग्यवाली ! (अस्य स्तोमस्य) हे स्तोत्रको (नि वोध) जाने, (येन विश्वासु दिक्षु वा वन्दे) जिससे मैं सब दिशाओंमें तेरी वन्दना करता हूँ ॥ ५ ॥

स्तोमस्य नो विभावरि रात्रि राजेव जोषसे ।

असाम् सर्ववीरा भवाम् सर्ववेदसो व्युच्छन्तीरनुपसः ॥ ६ ॥

शम्या ह नाम दधिषे मम दिप्सन्ति ये धना ।

रात्रीहि तानसुतुपा य स्तेनो न विद्यते यत्पुनर्न विद्यते ॥ ७ ॥

भद्रासि रात्रि चमसो न विष्टो विष्वं गोरूपं युवतिर्भिर्भिर्पि ।

चक्षुष्मती मे उशती वर्षुपि प्रति त्वं दिव्या न क्षाममुक्थयाः ॥ ८ ॥

यो अद्य स्तेन आर्यत्यद्यायुर्मर्त्यां रिपुः । रात्री तस्यं प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरों हनत् ॥ ९ ॥

प्र पादौ न यथार्थति प्र हस्तौ न यथाश्रिपत् । यो मलिम्बुरुहपार्थति स संपिष्टो अपायति ।

अपार्थति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति ॥ १० ॥ (३०६)

(५०) रात्रिः ।

(ऋषिः — गोपथः । देवता — रात्रिः ।)

अर्धं रात्रि तृष्टधूममशीपाणमार्दि कृणु । अक्षौ वृकस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जडि ॥ १ ॥

अर्थ— हे (विभावरि) प्रकाशवाली रात्रि । (नः स्तोमस्य) हमारे स्तोत्रको तू (राजा इव जोषसे) राजाके समान प्यार करती है । (व्युच्छन्तीः उपसः) चमकनेवाली उपाभोगें (सर्ववीराः असाम) धारे वीर पुत्रोंके साथ हम हों और (सर्व-वेदसः भवाम) सब धनोंके साथ हों ॥ ६ ॥

(शम्या ह नाम दधिषे) आराम देनेवाली इस अर्थका नाम तू धारण करती है । (ये मम धना दिप्सन्ति) जो मेरे धनोंको हानि पहुंचाते हैं, (तान् असुतुपा रात्री इहि) उनके प्राणोंको ताप पहुंचानेवाली तू रात्री हो । (यः स्तेनः न विद्यते) जो चोर है वह न रहे (यत् पुनः न विद्यते) वह फिर भी न हो ॥ ७ ॥

हे रात्रि ! तू (भद्रा असि) कल्याण करनेवाली है । (चमसः न विष्टः) जैसा परोसा हुआ पात्र होता है । (युवतिः विष्वक् गोरूपं विभिर्पि) तू युवती होकर चारों ओर गोकुल रूप धारण करती है । (मे उशती चक्षुष्मती वर्षुपि) मुझे इच्छती हुई तू नेत्रोंके युक्त अपने आश्चर्यकारक शरीर दिखला । (त्वं दिव्या न) तू आकाशके मन्त्रोंके समान (क्षां प्रति अमुक्थयाः) प्रणियोंके भी सुभूषित कर ॥ ८ ॥

(यः अद्य स्तेन आयति) जो आज चोर आता है जो (अद्यायुः मर्त्यां रिपुः) पापी मर्त्यं मनु है, (रात्री तस्य प्रतीत्य) रात्री उसके उलट जाकर उसका (ग्रीवा प्र शिरः प्र हनत्) गला और शिर काट डाले ॥ ९ ॥

हे रात्री ! (पादौ प्र) उसके पावोंको काट डाल, (न यथा आयति) जिससे वह फिर न आ सके । (हस्तौ प्र) दाएँ लोह दे (यथा न आश्रिपत्) जिससे वह हानि न पहुंचा सके । (यः मलिम्बुः उप आयति) जो पापी आता है वह (संपिष्टः अपायति) पीसा हुआ चला जाय । (अपायति सु अपायति) वह चला जाय, अच्छी तरह चला जाय, (शुष्के स्थाणौ अपायति) सूखे खंबे पर चला जाय ॥ १० ॥

(५०) रात्रिः ।

हे रात्रि ! (तृष्टधूमं मार्दि) तुझा उत्पन्न करनेवाले विषवाले सामको (अद्य अशीपाणं कृणु) शिरसे हीन कर । (वृकस्य अक्षौ निर्जह्याः) अक्षियोंके आँखोंको निकाल दे । (तेन त्वं द्रुपदे जडि) उससे तू उसकी इत्येके साथ मार ॥ १ ॥

ये तै रात्र्यनुद्वाहस्त्रीर्णशृङ्गाः स्वाश्रवः । तेषिर्नो अथ पारयाति दुर्गाणि विश्वहा ॥ २ ॥
 रात्रिरात्रिमरिप्यन्तस्त्रेम तन्वा वृष्यम् । गम्भीरमष्टुवा इव न तरेयुररातयः ॥ ३ ॥
 यथा श्याम्पाकः प्रपतन्नपुत्रानानंविद्यते । एवा रात्रि प्र पतय यां अस्मां अम्पघायति ॥ ४ ॥
 अपं स्तेने वासो गोश्रजमुत तस्करम् । अथो गो अवेतुः शिरोऽभिघाय निनीपति ॥ ५ ॥
 यद्यथा रात्रि सुभगे विभजन्त्ययो वसुं । यदेतदुस्मान्मोजय यथेदुन्यानानुपायसि ॥ ६ ॥
 उपसेनः परिं देहि सर्वान्नात्र्यनागसः । उपा नो अहे आ भजादहस्तुर्म्यं विमावति ॥ ७ ॥ (१७८)

अर्थ— हे रात्रि ! (ये ते तर्णशृङ्गाः) जो तेरे तंके सीमबाले (स्वाश्रवः) रहे तेरा (अनद्वाहः) देत है, (तेषिः नः अथ) इनके साथ हमें आज (विश्वहा दुर्गाणि अति पारय) कदा संकटोंके पार पहुंचा दे ॥ २ ॥

(यथे तन्वा अरिप्यन्तः) हम शरीरके हानि न उठाते हुए (रात्रि रात्रि तरेम) अन्ये ६ रात्रोंके पार हो जायें । (अरातयः अष्टुवाः इव) यन्तु नौका रहितोंके समान (न तरेयुः) पार न हों ॥ ३ ॥

(यथा श्याम्पाकः) जैसा लालीचा दाना (प्र पतन्) उड़ता हुआ (अपघान् न अनुविघने) दुंदुनेर निवृत्त नहीं, हे रात्रि ! (एवा) इस तरह (प्र पतय) उड़को उड़ा दे (यः अस्मान् अम्पघायति) जो हमसे पार-काम करता है ॥ ४ ॥

(वासः स्तेने अप) बरौंके बोरको छू कर (गो अजं उत तस्कर) पंजरोके से जानेवालेको तथा छेदनेको छू कर । (अथो यो अवेतुः शिरः) और जो चरेके शिरको (अभिघाय निनीपति) बांधकर ले जाता है, उड़को भी छू कर ॥ ५ ॥

हे (सुभगे रात्रि) मायबाली रात्रि ! (यत् अथ घसु विभजन्ती) जो आज तू घन बाँटती हुई । (आ अयः) आसी है । (तत् एतत् अस्मान् मोजय) वह हमें उपनोपके लिये दे, (यथा इत् अन्त्यान् न उपायसि) किन्तु यह दुर्गोंके पार न थाय ॥ ६ ॥

हे रात्रि ! (अनागसः सर्वान् नः) निष्पार हम सबको (उपसे परि देहि) उपाके लिये दे दो । (उपा नः अहे आ भजात्) उपा हमें दितके लिये दे, हे (वि-मावति) प्रकणवाली ! (अहः तुर्म्यं) दिन दुन्हारे पास हमें सोय दे ॥ ७ ॥

चार रात्री सूक्त

यहां गोपय ऋषिके चार सूक्त रात्रिके वर्णनके हैं । इनमें एक तीसरा सूक्त भरद्वाजका भी अर्थात् गोपय और भरद्वाज इन दोनोंका है । इनमें जो रात्रीका वर्णन है वह विशेष विचार पूर्वक देखने योग्य है ।

१ वि-मा-वति— विशेष तेजस्वी ४८।२; ४; ४९।६; ५०।७;

२ संभूत-धीः— इच्छां हुई सोमावाली ४९।१;

३ विभाती— विद्येय तेजस्वी ४९।४;

४ ह्युच्छन्ती— विद्येय प्रकाशनेवाली ४९।६ ।

विद्येय चमकनेवाली, विशेष प्रकारके प्रकाशने युक्त यह रात्री है । हमारी इस देशमें जो रात्री होती है, उसमें विशेष

प्रकाशका दर्शन नहीं होता इसलिये यह वर्णन हमारे देशमें होनेवाले रात्रीका नहीं होगा ऐसा प्रतीत होता है । तथा—

१ तेषिर्नो अथ पारयाति दुर्गाणि विश्वहा ॥ ५० २

२ रात्रि अरिप्यन्तस्त्रेम तन्वा वृष्यम् ॥ ५० ३

३ अरिघासस्त उर्वि तमस्वनि रात्री पारम-
शोमहि । अत्रे पारमशोमहि ॥ ५० ४

१ हमें सब संकटोंके पार ले जाती है । २ इस रात्रीको हम अपने शरीरके साथ विनष्ट न होते हुए पार जायेंगे । ३ विनष्ट न होकर बली अंधकारमय रात्रीके पार जायेंगे, हे कुर्याय करनेवाली रात्री ! हम पार हो जायेंगे ।

रात्रोंमें सुरक्षित पार होयें यह कथन आजकी १२ पद्योंकी रात्रीके विशेषमें नहीं है, क्योंकि इस रात्रीके पार हम जायेंगे

(५१) आत्मा ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — आत्मा, सविता च ।)

अयुतोऽहमयुतो मे आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽधिनीर्वाहुभ्यो पृष्णो हस्ताभ्यां प्रसृत आ रमे ॥ २ ॥ (३८०)

(५२) कामः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — कामः ।)

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

स कामं कामेन वृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ १ ॥

यह हर एक अनाडी मनुष्य भी जानता है । प्रतिदिन मनुष्य सोता है और दूसरे दिन उठकर पार होता ही है । इसलिये यह प्रार्थना (ऊर्वी तमस्वती रात्रौ) षडे अन्वकारवाली विशाल रात्रीकी ही होगी । जो रात्री २३ मास रहती है अथवा ६ मास उत्तरीय ध्रुवके पास रहती है । उस रात्रीको यह प्रार्थना होगी । क्योंकि दीर्घकाल तक वही रात्री रहती है इसलिये प्रार्थनाकी सार्थकता वही हो सकती है । इस रात्रीके विशेषण देखिये—

१ वृहती (४७१)— बड़ी ।

२ यस्याः पारं न दृश्यते । (४७२)— जिसका पार सोखता नहीं इतनी यह रात्री दीर्घकाल टिकनेवाली है ।

३ ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव । (४७३)— हे रात्री ! तेरे अन्दर पहारेदार मनुष्योंका निरीक्षण करनेवाले ९९ हैं ।

४ ये भूतेषु जाप्रति । (४८५)— जो मनुष्योंके रक्षणार्थ जागते हैं ।

ये जो जागता पढ़ारा करना है वह अति दीर्घ रात्रीके लिये ही हो सकता है । इसलिये यह रात्री अनेक महिने रहनेवाली उत्तरीय ध्रुवके पास होनेवाली रात्री होगी ।

जिस समय दीर्घ रात्री होती है, उस समय दिक्षपञ्चमं भय होता है जिसका वर्णन इन मंत्रोंमें है, चंर, वाक्, छुट्टेयोंका भय होता है, वह इन मंत्रोंमें है । पशुओंको चोरी भी है । हमारी छोटी रात्रीमें भी ये भय होते हैं, पर जितना वर्षन इन मंत्रोंमें है ततना नहीं होता । इन मंत्रोंमें वर्षन किया मय दीर्घ रात्रीमें ही हो सकता है । ' वृहती उर्वी ' आदि पद उस रात्रीके दर्शक है । इसलिये निश्चय यह है कि यह मन्वकारक रात्रीका वर्णन दीर्घ रात्रीका है ।

(५१) आत्मा ।

अर्थ— (अहं अयुतः) मैं पूर्ण हूँ, (मे आत्मा अयुतः) मेरा आत्मा पूर्ण है, (मे चक्षुः अयुतं) मेरा नेत्र पूर्ण है, (मे श्रोत्रं अयुतं) मेरे कान पूर्ण हैं, (मे प्राणः अयुतः) मेरा प्राण पूर्ण है, (मे अपानः अयुतः) मेरा अपान पूर्ण है, (मे व्यानः अयुतः) मेरा व्यान पूर्ण है, (अहं सर्वः अयुतः) मैं सब पूर्ण हूँ ॥ १ ॥

(सवितुः देवस्य प्रसवे) सविता देवकी प्रेरणासे (अधिनीर्वा हुभ्यो) अधिनीके बाहुओंसे और (पृष्णः हस्ताभ्यां) षष्ठीके हाथोंसे (प्रसृतः) प्रेरण हुमा मैं (आ रमे) इस कार्यका प्रारंभ करता हूँ ॥ २ ॥

(५२) कामः ।

(अग्रे कामः समवर्तत) प्रारंभमें काम उत्पन्न हुआ । (तच्च मनसः रेतः प्रथमं यत् आसीत्) वह मनका पहिला बोध या बीज था । हे काम ! (वृहता कामेन सयोनी साः) बड़े कामके साथ उत्पन्न होनेवाला वह काम (यजमानाय रायस्पोषं धेहि) यजमानके लिये धनकी पुष्टि दे ॥ १ ॥

त्वं कामं सहस्रासि प्रतिष्ठितो त्रिभुविभावां सख्य आं संखीयते ।

न्वमुग्रः पृथेनासु सास्राहिः सह ओजो यजमानाय घेहि ॥ २ ॥

दुराचक्रमानाय प्रतिपाणायार्क्ष्ये । आस्मां अमृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्स्त्रुः ॥ ३ ॥

कामेन मा काम आगन्हृदयाद्दृश्यं परिं । यदुभीषामदो मनुस्तदैतूप मामिह ॥ ४ ॥

यत्काम कामयमाना इदं कृण्वसि ते हविः ।

तन्नः सर्वं समृष्यतामथेतस्य हविषो वीहि स्वाहा ॥ ५ ॥ (१८५)

(५३) कालः ।

(ऋषिः— मृगुः । देवता— कालः ।)

कालो अघो बहति सप्तारश्मिः सहस्राधो अजरो भूरिरेताः ।

तया रंहन्ति क्वचयो विपश्चितस्तस्य चक्रा सुर्वनानि विश्वा ॥ १ ॥

सप्त चक्रान्वहति काल एष मत्सस्य नामोत्तमृत्वं न्वष्यः ।

स इमा विश्वा सुर्वनान्यञ्जत्कालः स ईयते प्रथमो नु देवः ॥ २ ॥

अर्थ— हे काम ! (त्वं) तू (सहस्रासि प्रतिष्ठितः मसि) सामर्थ्यके साथ रहता है । तू (त्रिभुः विभावा) व्यापक तथा तेजस्वी और (संखीयते सख्यः) मित्रके समान बर्तनेवालेके साथ तू मित्र बनकर रहता है । (सर्वं उग्रः) तू उग्र नीरु है, (पृथेनासु सास्राहिः) संघामोंमें विजय करनेवाला, (यजमानाय सहः ओजः आ घेहि) यजमानके लिये छाहृष्ट और बल दे ॥ २ ॥

(दुरात् चक्रमानाय) दुरासे कामना करनेवाले (प्रतिपाणाय अर्क्ष्ये) प्रति रक्षणके उपरहित कार्यके लिये (अस्मै मादान् अमृण्वन्) इह कामकी घोषणा सब दिशाएँ झनती है कि (कामेन स्वः अजनयन्) इस कामसे दिव्य सुख निर्माण किया है ॥ ३ ॥

(कामेन मा कामः आगन्) कामसे येही और काम आ गया है । (हृदयात् हृदयं परिं) हृदयसे हृदयकी ओर भी काम आ गया है । (यत् अमोषां अद्ः मनुः) जो उनका यह मन है (तल मां इह उप पतु) यह मेरे पाप नशे करे ॥ ४ ॥

हे काम ! (यत् कामयमानाः) जिसकी इच्छा करते हुए (ते इदं हविः कृण्वसि) तेरे लिये यह इति करते हैं (तत् नः सर्वं समृष्यतां) यह सब हमारे लिये छिद हो जाय । (अथ पतस्य हविषः वीहि) और इस इच्छा तू स्वीकार कर, (स्वाहा) तुम्हारे लिये समर्पण हो ॥ ५ ॥

'काम' का अर्थ 'इच्छा आकांक्षा' है । यही सब छष्टिमें बड़े बड़े कार्य कर रहा है । यह छष्टि करनेकी कामना परमेश्वरने की और छष्टि बनायी । मनुष्य भी वाना प्रकारकी कामनाएं करता है और अनेक छोटे बड़े कार्य करता है । इस इच्छेसे देखा जाय तो इह कामका राज्य ही सब स्थानोंपर है । यह देखना चाहिये ।

(५३) कालः ।

(कालः अश्वः) कालरूपी घोवा (बहति) विश्वरूपी रथके भीनता है । (सप्त-रश्मिः) इसके छाल किरण हैं, (सहस्र-अक्षः) हजार अक्ष हैं, वह (अ-जरो) अजररहित और (भूरि-रेताः) बहुत धीर्यवान् है (तं विपश्चितः कवयः आ रोहन्ति) उपपर ज्ञानी कवि बचते हैं, (तस्य चक्रा विश्वा भुयनाति) उसके चक्र सब भुवन हैं ॥ १ ॥

(एषः कालः सप्त चक्रान् बहति) यह काल छाल चक्रोंकी भीनता है । (अद्ः सप्त नामोः) इसकी सप्त नामियां हैं, (मनुः नु अमृत्वं) इसका अक्ष अमृत है । (सः इमा विश्वा भुयनाति अञ्जत्) यह इन सब भुवनोंके प्रकट करता है । (सः प्रथमः देवः कालः ईयते) यह काल पहिला देव है और वह चलता रहता है ॥ २ ॥

पूर्णः कुम्भोऽधि काल आर्हितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्दः ।

स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्कालं तमाहुः परमे व्योमिन्

॥ ३ ॥

स एव सं भुवनान्यामरत्स एव सं भुवनानि पर्यैत् ।

पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्दे नान्यत्परमस्ति तेजः

॥ ४ ॥

कालोऽमं दिवंमजनयत्काल इमाः पृथिवीरुत । काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि विष्टते ॥ ५ ॥

कालो भूतिर्मसृजत काले तपति सूर्यः । काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ॥ ६ ॥

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् । कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ७ ॥

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् । कालो ह सर्वस्वेश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः ॥ ८ ॥

तेनैषितं तेन जातं तद् तस्मिन्प्रातिष्ठितम् । कालो ह ब्रह्म भूत्वा विमर्ति परमेष्ठिनम् ॥ ९ ॥

कालः प्रजा असृजत कालो अग्नें प्रजापतिम् । स्वयंभूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत ॥ १० ॥ (३९५)

अर्थ— (पूर्णः कुम्भः काल अधि आर्हितः) भरा हुआ घटा [यह विश्व] कालके ऊपर रखा है । (तं वै पश्यामः बहुधा नु सन्दः) उसको हम देखते हैं जो अनेक प्रकारके होता है । (सः इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ्क) वह काल इन सब भुवनोके सामने है, (परमे व्योमिन् तं कालं आहुः) परम आकाशमें उसको काल करते हैं ॥ ३ ॥

(सः एव भुवनानि सं आमरत्) वह ही सब भुवनोका मारगोपग करता है, (सः एव भुवनानि सं पर्यैत्) वहा सब भुवनोको ब्यापता है । (पिता सन्) वह पिता होता हुआ (एषां पुत्र अभवत्) इनका पुत्र हुआ है । (तस्मात् वै परं तेजः नान्यत् अस्ति) उससे अधिक तेज कोई नहीं है ॥ ४ ॥

(कालः अमं दिवं अजनयत्) कालने ही इस दुनोको बनाया है । (उत कालः इमाः पृथिवीः) और कालने ही ये भूमियां बनायी हैं, (काले ह भूतं भव्यं च) कालमें जो भूतकालमें हुआ और भविष्यमें होगा वह सब रहता है तथा कालमें (इषितं ह विविष्टते) जो प्रेरित होता है वह सब रहता है ॥ ५ ॥

(कालः भूतिं असृजत) कालने सृष्टि बनायी है । (सूर्यः काले तपति) सूर्य कालमें ही तपता है । (काले ह विश्वा भूतानि) कालमें ही सब भूत रहे हैं (काले चक्षुः विपश्यति) कालमें आँख विशेष शक्तिसे देखता है ॥ ६ ॥

(काले मनः) कालमें मन, (काले प्राणः) कालमें प्राण, और (काले नाम समाहितं) कालमें नाम रहा है । (कालेन आगतेन) काल आगतेन (इमाः सर्वाः प्रजाः) ये सब प्रजाएं (नन्दन्ति) आनंदित होती हैं ॥ ७ ॥

(काले तपः) कालमें तप होता है, (काले ज्येष्ठं) कालमें ज्येष्ठ रहता है, (काले ब्रह्म समाहितं) कालमें ज्ञान इच्छा हुआ है, (कालः ह सर्वस्व ईश्वरः) काल ही सबका ईश्वर है, (यः प्रजापतेः पिता आसीत्) जो प्रजापतिको पिता था ॥ ८ ॥

(तेन इषितं) उसने प्रेरित किया है, (तेन जातं) उससे उत्पन्न हुआ है, (तत् उ तस्मिन् प्रातिष्ठितं) वह निःसंदेह उसमें रहा है । (कालः ह ब्रह्म भूत्वा) काल निःसंदेह ब्रह्म बनकर (परमेष्ठिनं विमर्ति) परमेशोको मारण करता है ॥ ९ ॥

(कालः प्रजा असृजत) कालने प्रजाएं निर्माण की हैं, (कालः अग्नें प्रजापतिं) कालने पहिले प्रजापतिको बनाया है, (स्वयंभूः कश्यपः कालात्) स्वयंभू कश्यप कालसे बना है, (कालात् तपः अजायत) कालसे तप बना है ॥ १० ॥

कालसे सब कुछ बना है । काल ही सबका कारण है । यह विचार करके जानना योग्य है ॥

(५४) कालः ।

(ऋषिः — भृगुः । देवता — कालः ।)

कालादापः सममवन्कालाद्ब्रह्म तपो दिशः । कालेनोदति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥ १ ॥

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही । द्यौर्मही काल आर्हिता ॥ २ ॥

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्पुरा । कालाद्वज्रः सममवन्यजुः कालादजायत ॥ ३ ॥

कालो यज्ञं समैरयदेवेभ्यो भागमर्क्षितम् । काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥ ४ ॥

कालेऽयमङ्गिरा देवोऽर्षर्वा चार्धि तिष्ठतः ।

इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान्विधृतीश्च पुण्याः ।

सर्वोल्लोकानभित्त्वा ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥ ५ ॥ (४००)

॥ इति षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

(५४) काल ।

अर्थ— (कालात् आप सममवन्) कालसे ब्रह्म उत्पन्न हुए हैं, (कालात् ब्रह्म तपः दिशः) कालसे ज्ञान, तप और दिशाएँ उत्पन्न हुई हैं । (कालेन सूर्यः उदेति) कालसे सूर्य उदयको प्राप्त होता है, (पुनः काले नि विशते) पुनः यह सूर्य कालमें ही प्रविष्ट होता है ॥ १ ॥

(कालेन वातः पवते) कालसे वायु बहता है, (कालेन पृथिवी मही) कालसे ही पृथिवी बनी हुई है । (काले द्यौर्मही आर्हिता) कालमें ही बड़ी द्यौँ रही है ॥ २ ॥

(पुत्र काल ह भूत भव्यं च) पुत्र कालने ही भूत और भविष्य (पुरा जनयत्) पहिले बनाये हैं, (कालात् ऋच सममवन्) कालसे ऋचाएँ उत्पन्न हुईं और (कालात् यजु अजायत) कालसे यजु उत्पन्न हुआ है ॥ ३ ॥

(कालः) कालने ही (अभित्त्वा यज्ञ भाग) अलग यज्ञभागको (देवेभ्य समैरयत्) देवोंके लिये प्रेरित किया है । (काले गन्धर्वे-अप्सरसः) कालमें ही गन्धर्व और अप्सराएँ हुई हैं । (काले लोकाः प्रतिष्ठिताः) कालमें सब लोक रहे हैं ॥ ४ ॥

(काले अय मङ्गिरा देवः) कालमें यह अङ्गिरा देव और (अर्षर्वा च अर्धि तिष्ठतः) और अर्षर्वा अर्धिहाता होकर रहा है । (इमं च लोकं परमं च लोकं) इस लोकको और परम लोकको तथा (पुण्यान् लोकान् च) सब पुण्य लोकोंको और (पुण्या विधृती च) उष्ण मर्यादाओंको तथा (सर्वान् लोकान् अभित्त्वा) सारे लोकोंको अतिक्रम (परमः देवः कालः) परमदेव काल (ब्रह्मणा सः ईयते) ब्रह्म-ज्ञान-के साथ सर्वत्र जाता है ॥ ५ ॥

॥ यहाँ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥

(५५) रायस्पोषप्रसिः ।

(आशिः — मृगुः । देवता — अग्निः ।)

रात्रिरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घ्रासमस्मै ।

रायस्पोषेण समिषा मर्दन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥

या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तथा नो मृड ।

रायस्पोषेण समिषा मर्दन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ २ ॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्यं दाता ।

वसोर्वसोर्वसुदानं एषि वयं त्वेन्धानास्तन्व्यं पुषेम ॥ ३ ॥

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्यं दाता ।

वसोर्वसोर्वसुदानं एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋषेम ॥ ४ ॥

अपश्वा दुग्धाक्षस्य भूयासम् । अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्र्ये ।

सम्भ्यः सभां मे पाहि ये च सम्भ्याः सभासदः ॥ ५ ॥

त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्रमायुर्व्यश्रिवत् । अर्हरहर्बलिमिच्छे हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घ्रासमपे ॥ ६ ॥ (४०३)

(५५) रायस्पोषप्रसिः ।

अर्थ— (रात्रिं रात्रिं मप्रयातं) रात रातमें खड़े हुए कहीं भी न जानेवाले (अस्मै तिष्ठते अम्हाय) इस ठहरे हुए षोडेको (घ्रासं इव भरन्तः) घास देते हैं, उस तरह अग्निके लिये शुद्ध हवि लानेवाले हम सब (रायस्पोषेण इषा सं मर्दन्तः) घन और पुष्टिके तथा अन्नके साथ आनन्द करते हुए (ते प्रतिवेशाः) तेरे पड़ोसी हम, हे अग्ने ! (मा रिषाम) कष्ट न मोगे ॥ १ ॥

(या ते वसोः वातः इषुः) जो तुम बसानेवालेका वायुरूप बाण है (सा ते एषा) वह तेरा ही यह बाण है, (तथा नः मृड) उससे हमें कुछ दे ॥ • ॥ २ ॥

(सायं सायं) प्रति सायंकाल (अग्निः नः गृहपतिः) अग्नि हमारा गृहपति होकर रहता है । वह (प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता) प्रत्येक प्रातःकालमें उत्तम मनका दाता होता है । वह (वसोः वसोः वसुदानः एषि) हमें प्रत्येक उत्तम वस्तुका दान देनेवाला हो, (त्वा इन्धानाः वयं) तुझे प्रदीप्त करनेवाले हम वी वयं समूह होते रहेंगे ॥ ४ ॥

(प्रातः प्रातः) प्रत्येक प्रातःकालमें (अग्निः नः गृहपतिः) अग्नि हमारा गृहपति हुआ है, वह (सायं सायं सौमनसस्य दाता) प्रत्येक सायंकालमें उत्तम मनका दाता है । वह (वसोः वसोः वसुदान एषि) हमें प्रत्येक उत्तम वस्तुका दान देनेवाला हो, (त्वा इन्धानाः शतं हिमाः ऋषेम) तुझे प्रदीप्त करनेवाले हम वी वयं समूह होते रहेंगे ॥ ४ ॥

(दुग्धाक्षस्य अ-पश्वा भूयासं) अन्न अन्नवालेके पीछे मैं न होंऊं । (अन्नादाय अन्नपतये) अन्नका स्वीकार करनेवाले अन्नके पति (रुद्राय अग्र्ये नमः) रुद्रको अग्निके लिये मैं नमस्कार करता हूँ । (सम्भ्यः मे सभां पाहि) समाजके योग्य तू है, मेरी समाजी रक्षा कर । (ये च सम्भ्याः सभासदः) जो समाजमें बैठनेवाले समासद हैं वे भी समाजी रक्षा करें ॥ ५ ॥

हे इन्द्र ! (त्वं पुरुहूत) तू बड़हो द्वारा प्रार्थना करने योग्य हो । (विश्वं आयुः उपश्लुष्य) तेरा उपासक सारी आयु मोगे । (अहः अहः बलिं इत् ते हरन्तः) प्रतिदिन तुझे बलि काते हुए हम, हे अग्ने ! (तिष्ठते अम्हाय घ्रासं इव) ठहरे षोडेका घास देते हैं उस तरह तुझे हम हवि देते हैं ॥ ६ ॥

(५६) दुष्वमनाशनम् ।

(ऋषिः — यमः । देवता — दुष्वमनाशनम् ।)

यमस्य लोकादध्या बभूविद्य प्रमदा मर्त्यान् प्रुनक्षि घीरः । एकाकिना सरथं यासि विद्वान्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ	॥ १ ॥
बन्धस्त्वार्त्रे विश्वचया अपश्यत्परा रात्र्या जनिंतोरेके अह्नि । ततः स्वप्नेदमध्या बभूविद्य भिपग्भ्यो रूपमंपगृहमानः	॥ २ ॥
बृहद्वावासुरेभ्योऽधि देवानुपावर्तत महिमानंमिच्छन् । तस्मै स्वप्नाय दधुरार्थिपत्यं त्रयस्त्रिंशसः स्वप्नान्नानाः	॥ ३ ॥
नेतां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्रांत्यन्तरेदम् । त्रिते स्वप्नमदधुराप्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः	॥ ४ ॥
यस्य क्रूरमभजन्त दुष्कृतोऽस्वप्नेन सुकृतः पुण्यमायुः । स्वर्मादसि परमेण बन्धुना तप्यमानस्य मनसोऽधि जज्ञिषे	॥ ५ ॥

(५०) दुष्वमनाशनम् ।

अर्थ— (यमस्य लोकात्) यमके लोके (अध्या बभूविद्य) तू इधर आया है। (घीरः प्रमदा मर्त्यान् प्रुनक्षि) तू बुद्धिवान् हर्षके मनुष्योंके स्वप्नमें प्रयुक्त करता है। (असुरस्य योनौ) प्रणमें रहनेवालेके स्थानमें (स्वप्नं मिमानः) स्वप्नको रचता हुआ (विद्वान्) जानता हुआ (एकाकिना सरथं यासि) तू अकेलेके साथ समान रूपसे बैठकर आया है ॥ १ ॥

(विश्वचया बन्धः) पूर्ण शक्तिशाले बन्धनने (रात्र्याः जनितोः पुरा) रात्रीके उत्पन्न होनेके पूर्व (एके अह्नि) एक दिन (त्वा अग्ने अपश्यत्) तुझे प्रथम देखा या है (स्वप्न) स्वप्न। (ततः इदं अध्या बभूविद्य) बहबि तू इधर आया है, (भिपग्भ्यः रूपं अपगृहमानः) और देवोंके अपने रूपको तू छिपाता है ॥ २ ॥

बृहद्वावा महिमानं इच्छन्) बड़ों गाँववाला, अपना महत्व चाहता हुआ, स्वप्न (असुरेभ्यः देवान् अधि उपावर्तत) असुरोंके देवोंके पास आया है। (स्वप्नान्नानाः त्रयस्त्रिंशसः) स्वप्नमें रहनेवाले तीनों देवोंने (तस्मै स्वप्नाय आधिपत्यं दधुः) उक्त स्वप्नके लिये आधिपत्य दिया है ॥ ३ ॥

(पितरः पतां न विदुः) पितर इस स्वप्नको जानते नहीं, (उत न देवाः) और देव भी इस स्वप्नको जानते नहीं, (येषां जल्पि-इदं अन्तरा चरति) जिनका यार्तालाप इस स्वप्नके अन्दर चलता है। (वरुणेन अनुशिष्टाः आदित्यासः नरः) वरुणने शिक्षित किये आदित्य और मनुष्य (स्वप्नं आप्ये त्रिते अद्भुः) स्वप्नको त्रलके पुत्र त्रितमें रबते हैं। [जल पुत्र प्राणके कारण स्वप्न होता है ऐसा मानते हैं] ॥ ४ ॥

(यस्य क्रूरं दुष्कृतः अभजन्त) जिस स्वप्नके क्रूर फलको दुष्कर्म करनेवाले अपराधमें बाँटते हैं और (सुकृतः अस्वप्नेन पुण्यं यायुः) पुण्य कर्म करनेवाले स्वप्न न जानेके पुण्यमय आयुको भोगते हैं। (परमेण बन्धुना स्वः मदसि) परम बन्धु परमात्माके साथ रहनेसे स्वर्गसुखका आनन्द मिलता है। तू स्वप्न (तप्यमानस्य मनसः अधि जज्ञिषे) अपने वानिके मनमें उत्पन्न होता है ॥ ५ ॥

विद्य त्ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद्भिन्न स्वप्न यो अधिपा इहा ते ।

यशस्विनो नो यशसेह पाद्भाराद् द्विषेभिरप याहि दूरम्

॥ ६ ॥ (४१२)

(५७) दुष्वप्रनाशनम् ।

(ऋषिः — यमः । देवता — दुष्वप्रनाशनम् ।

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति । एवा दुष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि ॥ १ ॥

सं राजानो अगुः समृणान्यगुः सं कृष्ठा अगुः सं कला अगुः ।

समसासु यदुष्वप्न्यं निर्दिपते दुष्वप्न्यं सुवाम

॥ २ ॥

देवानां पत्नीनां गर्भं यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न ।

स मम यः पापस्तद् द्विपते प्र हिंमः । मा तूष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥ ३ ॥

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्य स त्वं स्वप्नार्थ इव कायमर्थ इव नीनाहम् ।

अनास्माकं देवपीयुं पियारं वप यदसासु दुष्वप्न्यं यद्रोपु यच्च नो गृहे ॥ ४ ॥

अर्थ— हे स्वप्न । (ते सर्वाः पुरस्तात् परिजाः विद्य) तेरे सब साथी परिजनोको हम जानते हैं । (यः इह ते अधिपाः विद्य) जो यहाँ तेरा अधिपति है, हम जानते हैं । (जः यशस्विनः) हम यशस्वियोंकी (इह आरात् यशसा पाहि) यहाँ समीपमें यशके साथ रक्षा कर । (द्विषेभिः दूरं अप याहि) शत्रुओंके साथ दूर चला जा ॥ ६ ॥

स्वप्न पुण्यकर्म करनेवालोंको कष्ट नहीं देते । पापियोंको इनके कष्ट भोगने पड़ते हैं । अतः मनुष्य पुण्यकर्म करे और आनन्द प्रपन्न रहे ।

(५७) दुष्वप्रनाशनम् ।

(यथा कलां) जैसे कलाको, (यथा शफं) जैसे खुरको तथा (यथा ऋणं संनयन्ति) जैसे ऋणको दे देते हैं [जैसे १६ वें भाग कलाको देते हैं, जैसे एक एक पांव चलकर मार्गको समाप्त करते हैं, जैसा ऋण योडा योडा देकर तन्मग्न हो जाते हैं] वैसे ही (सर्वं दुष्वप्न्यं) सब दुष्ट स्वप्नको (अप्रिये सं नयामसि) अप्रिय शत्रुपर ले जाते हैं ॥ १ ॥

(राजानः सं अगुः) राजे इच्छे होकर शत्रुपर जाते हैं, जैसे (ऋणानि सं अगुः) ऋण भी इच्छे होकर दूर होते हैं, (कृष्ठाः सं अगुः) कुछ रोग जैसे दूर होते हैं, (कलाः सं अगुः) चन्द्रकी कला इच्छा होकर जैसी जाती हैं, वैसे (असासु यद् दुष्वप्न्यं) हमें जो दुष्ट स्वप्न आता है वह (दुष्वप्न्यं) दुष्ट स्वप्न (द्विपते सं निः सुवाम) द्वेष करनेवालेके ऊपर घकेल देते हैं ॥ २ ॥

(देवानां पत्नीनां गर्भं) हे देशीशक्तिोंके गर्भ । हे (यमस्य कर) यमके हाथ । हे स्वप्न । (यः भद्रः) जो तेरा कल्याणका फल है (सः मम) वह मुझे प्रप्त हो । (यः पापः तद् द्विपते प्र हिंमः) जो पापका भाग है उसको शत्रुपर भेजते हैं । (तूष्टानां कृष्णशकुनेः मुखं मा असि) तू तृषित्तिक, काले पशुका मुख जैसा अक्षयण सूचक न बन ॥ ३ ॥

हे स्वप्न । (तं त्वा तथा सं विद्य) उस दुसरी हम पूर्णतया जानते हैं, (त्वं अश्वः इव कायं) तू घोडा जैसा शरीरको हिलाकर घुलीको सटक देता है, (अश्वः इव नीनाहं) घोडा जैसा आने ऊपर रखे वस्तुको फेंक देता है, (यत् अस्माकं दुष्वप्न्यं) जो हमारे अन्दर दुष्ट स्वप्न होता है, (यत् गोपु) जो गौके विषयमें (यत् च नः गृहे) जो हमारे घरके संबंधमें होता है, उस स्वप्नको (अनास्माकं देवपीयुं पियारं वप) हवसे मित्र देवोंके निदक दुष्टपर फेंक देते हैं ॥ ४ ॥

अनास्माकन्तर्देवपीयुः पिपारुनिष्कर्मिव प्रति मुञ्चताम् ।

नवारत्नीनर्पमया अस्माकं ततः परि । दुष्वप्स्यं सर्वं द्विपते निर्देयामसि ॥ ५ ॥ (४१७)

(५८) यज्ञः ।

(ऋषिः — प्रहा । देयता — यज्ञः, बहवो देवताश्च ।)

घृतस्य जृतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती ।

श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमार्यपो वर्चसः ॥ १ ॥

उपासान्प्राणो ह्ययताम्यं वयं प्राणं हवामहे ।

वचो जग्राह पृथिव्यन्तरिक्षं वर्चः सोमो वृहस्पतिर्विधत्ता ॥ २ ॥

वर्चसा द्यावापृथिवी संग्रहणी बभूवधूर्वचो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम ।

यशसं गावो गोपतिमुप तिष्ठन्त्यायतीर्यशो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम ॥ ३ ॥

मजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथुनि ।

पुरः कृणुध्वमार्यसीरर्ध्वा मा वः सुस्रोत्रमसो दंहता तम् ॥ ४ ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्मानाः ॥ ५ ॥

अर्थ— (अनास्माकः देवपीयुः पिपासुः) जो हमारा नहीं, जो देवोंका निरह है, दोष कुछ है वह (तत् निष्कर्मिव प्रति मुञ्चतां) उस स्वप्नपलके हारके समान परने । (नव-अस्त्वन्तं अपमयाः) नो हाथ परे इट जा । (अस्माकं ततः परि) हमारे दुष्ट स्वप्न लक्षणे परे जाय । (सर्वं दुष्वप्स्यं द्विपते निर्देयामसि) सब दुष्ट स्वप्न हम लक्षणे काते हैं जो हमारा देव करता है ॥ ५ ॥

(५८) यज्ञः ।

(समना सदेवा) मन लगकर देवी शक्तियोंके साथ (घृतस्य जृतिः) पीछी अविच्छिन्न मति (हविषा संवत्सरं वर्धयन्ती) इच्छित संवत्सराके बढ़ानी है । (नः श्रोत्रं चक्षुः प्राणः अच्छिन्नाः अस्तु) हमारी शान, आँख और प्राण ये शक्तियाँ अविच्छिन्न रहें, (आयुषः वर्चसः वयं अच्छिन्नाः) आयु और तेजके हम अविच्छिन्न हों ॥ १ ॥

(प्राणः अस्मान् उपह्वयतां) प्राण हमें बुलावे, (वयं प्राणं उपह्वयामहे) हम प्राणको बुलावे । (पृथिवी वर्चः जग्राह) पृथिवीने तेज ग्रहण किया है । (अन्तरिक्षं वर्चः) अन्तरिक्षने तेज ग्रहण किया है, (सोमः वृहस्पतिः विधत्ता) सोम और वृहस्पति तेज धारण करते हैं ॥ २ ॥

(द्यावापृथिवी) पृ और पृथिवी (वर्चसः संग्रहणी बभूवधुः) तेजका संग्रह करनेवाले हुए हैं । (वर्चः गृही-त्वा पृथिवीं अनु संचरेम) तेजका लेकर हम पृथिवीपर संचार करेंगे, (यशसं गोपति गावः उपतिष्ठन्ति) यशस्वी गौके स्वामीके पास गौके आती हैं । (यशः गृहीत्वा आयतीः) यश लेकर आनेवाली गौओंके (गृहीत्वा) लेकर हम (पृथिवीं अनु संचरेम) पृथिवीपर घूमेंगे ॥ ३ ॥

(मजं कृणुध्वं) गोशाला बनाओ, (सः हि वः नृपाणः) बड़ी तुम्हारे मानबोध दूख पीनेका स्थान हो । (वर्मा सीव्यध्वं) बबक सीकर तैयार करो, वे (बहुला पृथुनि) बहुत हों और बड़े भी हों । (अधृष्टा पुरः आयसीः कृणुध्वं) शत्रुके आधीन न होनेवाले किलोंके नगर लौटके आओ । (वः चमसः मा सुस्रोत्रं) तुम्हारे प्राण न चूहे, (तं दंहता) लक्षणे घुटके बन-आ ॥ ४ ॥

(यज्ञस्य चक्षुः मुखं प्रभृतिः च) यज्ञकी दृष्टि और मुख विशेष भरण पोषण करनेवाले हैं । (वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि) बर्णने, कानोंसे और मनसे मैं आहुति यज्ञमें शलता हूँ । (विश्व-कर्मणा इमं विततं यज्ञं) विश्वधर्मने चलाये हुए इस यज्ञके पास (सुमनस्यमानाः देवाः यन्तु) उत्तम मनवाले देव आते ॥ ५ ॥

ये देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हृद्यं क्रियते भागधेयम् ।

इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम्

॥ ६ ॥ (४९३)

(५९) यज्ञः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — अग्निः ।)

त्वमेमे व्रतपा असि देव आ मर्त्येषुवा । त्वं यज्ञेष्वीड्यः

॥ १ ॥

यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुर्वा देवा अविदुष्टरासः ।

अग्रिष्टद्विश्वादा पूणातु विद्वान्तसोमस्य यो ब्राह्मणो आविवेश

॥ २ ॥

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्रवाम तदनुप्रवोढुम् ।

अभिविद्वान्तस यज्ञास्त इद्वोता सोऽध्वरान्तस ऋतुकल्पयाति

॥ ३ ॥ (४९६)

(६०) अङ्गानि ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — वाक्, अङ्गानि च ।)

वाच्य आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।

अपलिताः केशा अशीणा दन्ता बहु बाहोर्बलम्

॥ १ ॥

ऊर्वोरौजो जर्धयोर्जवः पार्दयोः । प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥ २ ॥ (४९८)

अर्थ— (ये देवानां ऋत्विजः) जो देवोंके ऋत्विज हैं, (ये च यज्ञियाः) जो पूजनीय हैं, (येभ्यः भागधेयं हृद्यं क्रियते) जिनके लिये स्वीकार करने योग्य हृद्य किया जाता है, (इमं यज्ञं पत्नीभिः सह एत्य) इस यज्ञके पत्नियोंके साथ आकर (यावन्तः देवाः) जितने देव हैं वे सब (तविषा मादयन्तां) हविषे तृप्त हो ॥ ६ ॥

(५९) यज्ञः ।

हे अमे ! हे देव ! (त्वं मर्त्येषु व्रतपा असि) तू मर्त्योंमें हमारे व्रतोंका रक्षक है । (यज्ञेषु त्वं ईड्यः) तू यज्ञोंमें स्तुतिके योग्य है ॥ १ ॥

हे (देवाः) हे देवों ! (यत् वयं विदुर्वा च व्रतानि प्रमिनाम) यदि हमने आप विद्वानोंके कोई व्रत तोड़े होंगे, (अविदुष्टरासः) न जानते हुए तोड़े होंगे, (तत् विश्वादा अग्निः) तो उसको सब खानेवाला अग्नि (पूणातु) पूर्ण करे, (सोमस्य यः विद्वान् ब्राह्मणान् आविवेश) सोमको जाननेवाला जो ब्राह्मणोंमें जाकर बैठता है, वह उस दोषको पूर्ण करे ॥ २ ॥

(देवानां पन्थां अपि आ अगन्म) हम देवोंके मार्गपर आ गये हैं । (यत् शक्रवाम) यदि हम समर्थ हुए तो (तत् अनु प्रवोढुः) उसकी भांग ले जिनके लिये यत्न करेंगे । (स विद्वान् अग्निः) वह शानी अग्नि, (स यज्ञान्) वह पूजां करे, (सः इन् होता) वह निःसंदेह इत्तन करता है, (सः अध्वरान्) वह यज्ञोंका और (सः ऋतुन् कल्पयाति) वह ऋतुओंकी सामर्थ्यवान् बनाता है ॥ ३ ॥

(६०) अङ्गानि ।

(मे आसन् वाक्) मेरे मुखमें उत्तम वाक् शक्ति रहे, (जसोः प्राणः) मेरे नाभमें प्राण रहे, (अक्ष्णोः चक्षुः) मेरे आँखोंमें उत्तम दृष्टि रहे, (कर्णयोः श्रोत्रं) मेरे कानोंमें उत्तम श्रवण शक्ति रहे, (केशाः अपलिताः) मेरे बाल खेत न हों, (दन्ताः अशीणाः) मेरे दाँत मलिन न हों, न गिर जाय, (बाहोः बहु बलं) मेरे बाहुओंमें बड़ा बल रहे, (ऊर्वोः ओजः) मेरे आँधोंमें सामर्थ्य रहे, (जर्धयोः जवः) मेरी पिङ्गलियोंमें बेग रहे, (पार्दयोः प्रतिष्ठा) मेरे पाँवोंमें स्थिर रहनेकी शक्ति हो, (मे सर्वा अरिष्टानि) मेरे सब अवयव नीरोग हों, (आत्मा अनिभृष्टः) मेरा आत्मा उखाह उफ़क-न गिरा हुआ हो ॥ १-२ ॥

(६१) पूर्णायुः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — ब्रह्मणस्पतिः ।)

तन्नस्तन्वाग्निं मे सहे द्रुतः सर्वमायुरशीय । स्योनं मे सीद पुरुः पूणस्व पर्वमानः स्वर्गे ॥१॥ (४१७)

(६२) सर्वप्रियत्वम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — ब्रह्मणस्पतिः ।)

प्रियं मां कणु देवेषु प्रियं राजसु मा कणु । प्रियं सर्वस्य पदपत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥ (४१७)

(६३) आयुर्वर्धनम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — ब्रह्मणस्पतिः ।)

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान्यज्ञेन बोधय । आयुः प्राणं प्रजां पशून्कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥१॥ (४१७)

(६४) दीर्घायुत्वम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — अग्निः ।)

अग्ने सामधमाहार्यं बृहते जातवेदसे । स मे ध्रुवां च मेघां च जातवेदाः प्र यच्छतु ॥ १ ॥

इध्मेन त्वा जातवेदः समिधा वर्धयामसि । तथा त्वमस्मान्वर्धय प्रजया च धनेन च ॥ २ ॥

यदग्ने यानि कानि चिदा ते दारुणि दुष्मसि । सर्वं तदस्तु मे शिवं तज्जुषस्व यविष्ठय ॥ ३ ॥

एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्रः समिद्धं च । आयुरसासु घेहमृतत्वमाचार्यायि ॥ ४ ॥ (४१५)

(६१) पूर्णायुः ।

अर्थ— (मे तन्नः तन्वा) मेरा शरीर मोटा ताजा हो, (द्रुतः सहे) शत्रुओंका मैं पराभव करूंगा, मुझे दानेवालेको मैं अपने सामर्थ्यसे दूर करता हूँ । (सर्वं आयुः अशीय) मैं पूर्ण आयुको प्राप्त करूंगा (मे स्योनं सीद) मेरे मुखदायाँ स्थानपर बैठ, (पुरुः पूणस्व) अपने आरको परिपूर्ण कर, (पदपतः स्वर्गे) पवित्र होता हुआ मुखपूर्ण स्थानमें रहूँगा ॥१॥

(६२) सर्वप्रियत्वम् ।

(देवेषु मा प्रियं कणु) देवोंमें मुझे प्रिय बना, (राजसु मा प्रियं कणु) राजाओंमें मुझे प्रिय कर, (सर्वस्य पदपतः प्रियं) सब देवनेके लिये मैं प्रिय बनूँ (उत शूद्रे उत आर्ये) चाहे वह शूद्र हो चाहे आर्य हो ॥ १ ॥

(६३) आयुर्वर्धनम् ।

हे (ब्रह्मणस्पते) शानके सामिन् (उत्तिष्ठ) उठ, (यज्ञेन देवान् बोधय) यज्ञसे देवोंको समझा दो । आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्तिको तथा यज्ञमानको (वर्धय) बढ़ाओ ॥ १ ॥

(६४) दीर्घायुत्वम् ।

हे अग्ने ! (बृहते जातवेदसे) बड़े जातवेदके लिये (समिधां माहार्यं) समिधा लाया हूँ, (स्वः जातवेदाः) वह जातवेद, (मे ध्रुवां च मेघां च प्र यच्छतु) मुझे ध्रुवा और मेघा देवे ॥ १ ॥

जातवेदाः— जिससे वेद हुए । परमात्मा, अग्नि ।

हे जातवेद ! (इध्मेन समिधा त्वा वर्धयामि) जलनेवाली समिधासे मैं तुझे बढ़ाता हूँ । (तथा त्वं अस्मान्) वैया तू हमें (प्रजया च धनेन च वर्धय) प्रजा और धनसे बढ़ा ॥ २ ॥

हे अग्ने ! (यानि कानि चिद्) जो कोई (दारुणि) लकड़ियों (ते आ दुष्मसि) तेरे लिये हम लाकर डालने हैं, (यविष्ठय ! तत् जुषस्व) हे द्रुण अग्ने ! उसका तू घेवन कर । (तत् सर्वं मे शिवं अस्तु) वह सब मेरे लिये बरगणकारी हो ॥ ३ ॥

हे अग्ने ! (एताः ते समिधः) ये तेरे लिये समिधाएं हैं, (त्वं इन्द्रः) तू प्रदीप्त होकर (समिन् भव) तेजस्वी हो । (असासु आयुः घेहि) हमें आयुष्य दे और (आचार्यायि अमृतत्वं) आचार्यके लिये अमरपन दे ॥ ४ ॥

(६५) अवनम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — जातवेदा सूर्यश्च ।

हरिः सुपर्णो दिव्मार्सहोऽर्चिषा ये त्वा दिप्सन्ति दिव्मुत्पतन्तम् ।

अव तां जहि हरसा जातवेदोऽर्चिष्यदग्रोऽर्चिषा दिव्मा रोह सूर्य

॥ १ ॥ (४३६)

(६६) असुरक्षयणम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — जातवेदाः सूर्यो वज्रश्च ।)

अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्कितो ये चरन्ति ।

तांस्तै रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रक्राष्टिः सप्तान्प्रमृणन्त्याहि वज्रः ॥ १ ॥ (४३७)

(६७) दीर्घायुत्वम् ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — सूर्यः ।)

पश्येम श्रदः श्रतम् ॥ १ ॥ जीवेम श्रदः श्रतम् ॥ २ ॥

बुध्येम श्रदः श्रतम् ॥ ३ ॥ रोहेम श्रदः श्रतम् ॥ ४ ॥

पूर्वेम श्रदः श्रतम् ॥ ५ ॥ भवेम श्रदः श्रतम् ॥ ६ ॥

भूयेम श्रदः श्रतम् ॥ ७ ॥ भूर्यसीः श्रदः श्रतात् ॥ ८ ॥ (४४५)

(६८) वेदोक्तं कर्म ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — कर्म ।)

अभ्यंसश्च न्यचंसश्च बिलं वि ष्यामि मायया । ताम्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृणमहे ॥ १ ॥ (४४६)

(६५) अवनम् ।

अर्थ— (हरिः सुपर्णः) दुःखोंका हरण करनेवाला उत्तम चिरणवाला सूर्य (दिव्यं आरुह) शुलोक पर आरुह हुआ है । (दिव्यं उत्पतन्तं त्वा) शुलोक पर चढ़ते समय हुआ (ये दिप्सन्ति) जो हानि पहुँचाते हैं, हे (जातवेदः) भग्न ! (तान् हरसा अथ जहि) उनको अपने उवाकसे मार गिरा दे । हे सूर्य ! (अर्चिष्यत्) न करता हुआ (उग्रः) उग्र होकर (अर्चिषा दिव्यं आ रोह) तेजसे शुलोक पर चढ़ ॥ १ ॥

(६६) असुरक्षयणम् ।

(अयोजालाः) लोहेका जाल लेकर जो आते हैं, (मायिनः असुराः) जो काटो अथुर (अयस्मयैः पाशैः अङ्कितः ये चरन्ति) लोहेके पाश हाथमें लेकर चलते हैं । हे (जातवेदः) भग्न ! (तान् ते हरसा रन्धयामि) उनको मैं तेरे तेजसे बिनष्ट करता हूँ । तू : सहस्र-क्राष्टिः वज्रः) सहस्र नोकवाला वज्र बन कर (सप्तान् प्रमृणन्त्याहि) शत्रुओंका नाश करता हुआ हमारी रक्षा कर ॥ १ ॥

(६७) दीर्घायुत्वम् ।

हम सौ वर्ष देखें ॥ १ ॥ हम सौ वर्ष जीवें ॥ २ ॥ हम सौ वर्ष ज्ञान लेते रहें ॥ ३ ॥ हम सौ वर्ष बढ़ते रहें ॥ ४ ॥ हम सौ वर्ष पुष्ट होते रहें ॥ ५ ॥ हम सौ वर्ष अच्छी तरह रहें ॥ ६ ॥ हम सौ वर्ष सजते रहें ॥ ७ ॥ सौ वर्षोंसे भी अधिक जीवें ॥ ८ ॥

(६८) वेदोक्तं कर्म ।

(अभ्यसः च) अभ्यासक और (न्यचसः च) व्यासक (बिलं मायया विष्यामि) बिलमें कुशलतासे मैं जाता हूँ । (ताम्यां वेदं उद्धृत्य) उन दोनोंसे वेदको उठाकर (अथ कर्माणि कृणमहे) कर्मोंको हम करते हैं ॥ १ ॥

बड़े और छोटे संदेहोंको मैं चाबीसे खोलता हूँ । दोनों हाथोंसे वेदको बाहर निकालता हूँ । उग्र वेदको देखकर हम कर्मोंको करते हैं ।

(६२) आपः ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — आपः ।)

जीवा स्यं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥१॥ उपजीवा स्योप जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥२॥
संजीवा स्य सं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥३॥ जीवला स्यं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥४॥

(७०) पूर्णायुः ।

(४५०)

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — इन्द्रसूर्योदयः ।)

इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा जीव्यासंमहम् । सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ १ ॥ (४५१)

(७१) वेदमाता ।

(ऋषिः — ब्रह्मा । देवता — गायत्री ।)

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।

आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् । मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ १ ॥ (४५२)

(७२) परमात्मा ।

(ऋषिः — भृग्वहिरा ब्रह्मा । देवता — परमात्मा देवाश्च ।)

यस्मात्कोशाद्ब्रह्मराम वेदं तस्मिन्नन्तरं दध्म एनम् ।

कृतमिदं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह ॥ १ ॥ (४५५)

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

॥ इत्येकोनविंशं काण्डं समाप्तम् ॥

(६१) आपः ।

अर्थ— (जीवा स्य) तुम जीवनवाले हो, (जीव्यासं, सर्व आयुः जीव्यासं) मैं जीवूँ, मैं सब आयुतक जीवूँ ॥ १ ॥ (उपजीवा स्य) तुम जीवनवाले हो, (उप जीव्यासं) मैं जीवूँ, सब आयुतक जीवूँ ॥ २ ॥ (सजीवा स्य) तुम वरदा जीवनवाले हो, मैं वरदा जीवनवाला बनूँ, सब आयुतक जीवूँ ॥ ३ ॥ (जीवला स्य) तुम जीवन कुल हो, मैं जीवूँ, सब आयुतक मैं जीवूँ ॥ ४ ॥

(७०) पूर्णायुः ।

हे इन्द्र ! (जीव) जीवो । हे सूर्य (जीव) जीवो, (देवा जीवा.) हे देवो ! जाते रहो । (मह जीव्यासं) मैं जीवूँ । (सर्व आयुः जीव्यासं) सब आयुतक अधिकित रहूँ ॥ १ ॥

(७१) वेदमाता ।

(मया वरदा वेदमाता स्तुता) मैंने वेदमाताका स्तुति की, वह वेदमाता (द्विजानां प्र चोदयन्ती) द्विजोंको प्रेरणा देनेवाली और (पावमानी) पवित्र करनेवाली है, आयुः, प्राण, प्रजा, पशु कीर्ति, धन, ज्ञान, तेज (मह्यं दत्त्वा) मुझे देकर (ब्रह्मलोकं व्रजत) ब्रह्मलोकको गलो ॥ १ ॥

(७२) परमात्मा ।

(यस्मात् कोशात्) जिस सफूटके (वेदं ब्रह्मराम) वेदकी हमने निष्काला (तस्मिन् अन्तः) उसीमें (यत्नं अथदध्म) इस वेदको हम पुन रखते हैं । (ब्रह्मण वीर्येण इदं कृतं) ज्ञानके वीर्यसे जो कर्म करना या वह किया । (तेन तपसा) उस तपसे (देवा इह भवन्) देव यहाँ इधारी रखा करें ॥ १ ॥

॥ यहाँ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥

॥ यहाँ १९ वाँ काण्ड समाप्त हुआ ।



अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

विंशं काण्डम् ।



अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

द्विंशं काण्डम् ।

अथर्ववेदमें इन्द्र देवताका वर्णन

अथर्ववेदमें इन्द्र देवताके मंत्र इस तरह हैं—

प्रथम काण्ड

सूक्त	श्रद्धि	मंत्रसंख्या	
२	अथर्वी	१	
७	चातनः	१	
९	अथर्वी	१	
१६	गातनः	१	
१९	मद्गा	१	
२०	अथर्वी	१	
२१	अथर्वी	४	
२६	मद्गा	१	
३५	अथर्वी	१	१९

द्वितीय काण्ड

५	सृष्टुराथर्वणः	७	
१२	मरद्वाजः	१	
२७	वपिभंलः	१	
२९	अथर्वी	१	
३६	पतिवेदनः	१	११

तृतीय काण्ड

१	अथर्वी	४	
२	अथर्वी	२	
३	अथर्वी	४	
४	अथर्वी	१	
८	अथर्वी	१	

१०	अथर्वी	१	
११	मद्गा भृग्वंगिराश्व	३	
१४	मद्गा भृग्वंगिराश्व	१	
१५	अथर्वी	३	
१६	अथर्वी	२	
१९	वसिष्ठः	३	
२७	अथर्वी	१	
३१	मद्गा	२	२८

चतुर्थ काण्ड

४	अथर्वी	१	
११	भृग्वंगिराः	१२	
२२	वसिष्ठः अथर्वी वा	७	
२४	भृग्वरः	७	२७

पञ्चम काण्ड

३	वृहद्विद्वोऽथर्वी	२	
८	अथर्वी	६	
२३	कण्वः	१३	
२४	अथर्वी	१	
२६	मद्गा	२	२४

षष्ठ काण्ड

५	अथर्वी	१	
३३	जाटिकायनः	३	
४०	अथर्वी	२	
५८	अथर्वी	२	

६५	अथर्वा	१	१०	कण्डिह	३
६६	अथर्वा	३	१३	अभतिरय	११
६७	अथर्वा	३	१५	अथर्वा	५
७१	कवच	३	७०	मन्त्रा	१
८२	मग	३			
९३	अथर्वा	३			
९८	अथर्वा	३			
९९	अथर्वा	३			
१०३	उच्छोचन	३			
१०४	प्रधोचन	३			

३०

विंश काण्ड

सप्तम काण्ड

१२	शौनक	१			
२४	मन्त्रा	१			
३१	मृगगिरा	१			
४४	प्रह्वय	१			
५०	वेवेरा	९			
५१	शैगिरा	१			
५४	मृगः	१			
५५	मृग	१			
५८	कौरपयि	२			
७३	अथर्वा	३			
७६	अथर्वा	१			
८४	मृग	२			
८६	अथर्वा	१			
९१	अथर्वा	१			
९२	अथर्वा	१			
९३	मृगगिरा	१			
९७	अथर्वा	८			
९८	अथर्वा	१			
११०	मृग	३			
११७	अथर्वागिरा	१	४१		

अष्टम काण्ड

४	वातन	२५	
८	मृगगिरा	२४	४९

नवम काण्डके अष्टादशवें काण्डतक इन्द्रके मन्त्र नहीं हैं ।

एकोनविंश काण्ड

५	अथर्वागिरा	१	
---	------------	---	--

१	विश्वामित्र	१
२	सूक्तमद	१
३-५	इरिम्बिठिः	१३
६	विश्वामित्रः	९
७	मृकच्छ ३, विश्वामित्र १	४
८	मरद्वाज १, कुन्दा १, विश्वामित्र १	३
९	नोषा २, मेघाटिथिः २	४
१०	मेघाटिथिः	२
११	विश्वामित्र	११
१२	वसिष्ठ ६, अत्रि १	७
१३	वामदेव १, गौतम १, कुन्दा १, विश्वामित्र १	४
१४	शौभरि	४
१५	गौतम	६
१७	कृष्ण ११, कण्डिह १	१२
१८	मेघाटिथिः प्रियमेधध ३, वसिष्ठ ३	६
१९	विश्वामित्र	७
२०	विश्वामित्र ४, सूक्तमद ३	७
२१	सम्भ	११
२२	त्रितोक्त ३, प्रियमेध ३	६
२३-२४	विश्वामित्र	१८
२५	गौतम ६, अष्टक १	७
२६	गुन देव ३, मधुच्छन्दा ३	६
२७-२९	गोमुख्यशस्त्रिकिनी	१५
३०-३२	वद सर्वदरिषा	१३
३३	अष्टक	३
३४	सूक्तमद	१८
३५	नोषा (मरद्वाज)	१६
३६	मरद्वाज	११
३७	दक्षिण	११

३८	इरिम्बिठि ३, मधुच्छन्दाः ३	६	७६	वसुकः	८
३९	मधुच्छन्दाः १, गोपूकल्यश्वसूक्तिनी ४	५	७७	वामदेवः	८
४०	मधुच्छन्दाः	३	७८	शंसुः	३
४१	गोतमः	३	७९	वसिष्ठः शक्तिर्वा	२
४२	कुहस्तुतिः	३	८०	शंसुः	२
४३	त्रिशोकः	३	८१	पुरुहन्मा	२
४४	इरिम्बिठिः	३	८२	वसिष्ठः	२
४५	शूनःशेषो देवरातः	३	८३	शंसुः	२
४६	इरिम्बिठिः	३	८४	मधुच्छन्दाः	३
४७	सुकक्षः ३, इरिम्बिठिः ३, मधुच्छन्दाः ६	१२	८५	प्रगाथः २, मेध्यातिथिः २	४
५०	मेध्यातिथिः	२	८६	विश्वामित्रः	१
५१	प्रस्कन्वः २, सुष्टिगुः २	४	८७	वसिष्ठः	७
५२-५३	मेध्यातिथिः	६	८९	कृष्णः	११
५४-५५	रेमः	६	९२	त्रियमेधः १२, पुरुहन्मा ९	२१
५६	गोतमः	६	९३	प्रगाथ ३, देवजामयः ५	८
५७	मधुच्छन्दाः ३, विश्वामित्रः ४, गृत्समदः ३, मेध्यातिथिः ६	१६	९४	कृष्ण.	११
५८	नृमेधः २, जमदग्निः २	४	९५	गृत्समदः १, सुदाः पैजवना ३	४
५९	मेध्यातिथिः २, वसिष्ठः २	४	९६	पूरणः	५
६०	सुकक्षः सुतकक्षो वा ३, मधुच्छन्दाः ३	६	९७	कलिः	३
६१	गोपूकल्यश्वसूक्तिनी	६	९८	शंसुः	२
६२	शौभरि ४, नृमेधः ३, गोपूकल्यश्वसूक्तिनी ३	१०	९९	मेध्यातिथिः	२
६३	भुवनः षाषलो वा, ३ मरद्वाजः गोतमः ३, पर्वतः ३	९	१००	नृमेधः	३
६४	नृमेधः ३, विश्वमनाः ३	६	१०१	मेध्यातिथिः	३
६५-६६	विश्वमनाः	६	१०४	मेध्यातिथिः २, नृमेधः २	४
६७	पहच्छेपः ३, गृत्समदः ४	७	१०५	नृमेधः ३, पुरुहन्मा २	५
६८-७१	मधुच्छन्दाः	६०	१०६	गोपूकल्यश्वसूक्तिनी	३
७२	पहच्छेपः	३	१०७	वत्सः ३, वृहद्विः १०, कुरमः २	१५
७३	वसिष्ठः ३, वसुकः ३	६	१०८	नृमेधः	३
७४	शूनःशेषः	७	१०९	गोतमः	३
७५	पहच्छेपः	३	११०	श्रुतकक्षः सुकक्षो वा	३
			१११	पर्वतः	३
			११२	सुकक्षः	३
			११३	भर्गः	२
			११४	शौभरिः	२
			११५	वत्सः	३
			११६	मेध्यातिथिः	९
			११७	वसिष्ठः	३

११८	भर्ग. २, मेधातिथि २	४
११९	आयु-१, श्रुष्टिगु १	२
१२०	देवतिथिः	२
१२१	वसिष्ठः	२
१२२	शून रोपः	३
१२४	वामदेवः ३, भुवन- ३	६
१२५	सुकीर्तिः	५
१२६	वृषाकपिरिन्द्राणां च	३३
१२७	भुधः १, तिरधिरागिरिषो ५	
	युताभो वा सुकृष् ३	९
१३८	वसु	३

६७७

काण्डोंमें इन्द्रके वर्णनके ये मंत्र हैं—

प्रथम काण्डमें	१२ मंत्र
द्वितीय काण्डमें	११ मंत्र
तृतीय काण्डमें	२८ मंत्र
चतुर्थ काण्डमें	२७ मंत्र
पचम काण्डमें	२४ मंत्र
षष्ठ काण्डमें	३६ मंत्र
सप्तम काण्डमें	४१ मंत्र
अष्टम काण्डमें	४९ मंत्र
	<u>३२८</u>

इतने मंत्र आठ काण्डोंमें हैं । नवम काण्डसे अठारहवें काण्डतक इन्द्रके मंत्र नहीं हैं ।

सर्षीसर्वे काण्डमें	२० मंत्र हैं ।
वीशर्वे काण्डमें	६७७ मंत्र हैं ।
अष्टम काण्डतक	<u>२२८</u> मंत्र हैं ।
	९५५

अर्षवैदेमें कुल मंत्रसंख्या ५९७७ है इसमें ९२५ मंत्रोंमें इन्द्रका वर्णन है । कुल मंत्रोंका यह छठवां भाग है । इन्द्र देवता शत्रुसे युद्ध करके उसका पराभव करनेवाली देवता है । इस देवताके मंत्रोंमें युद्धके वर्णन ही हैं । इन्द्रके साथ युद्ध करनेवाले सैनिक ' मरुत् देवता ' हैं । इस देवताके मंत्र भी इस इन्द्रका विघ्नात्प्रेषणसमय विचारमें लेने चाहिये । क्योंकि इन्द्रान्विश काण्ड रहनेवाले मरुत् ही हैं । ये तो युद्ध

करनेका कार्य अग्निनी देवताका है, अतः अग्निनी देवताके मंत्रोंका भी विचार इस इन्द्रके मंत्रोंके विचारके साथ करना चाहिये । इसी तरह द्र देव भी युद्ध देव ही है । त्वष्टा वज्र करके इन्द्रको देता है । इस तरह द्र, त्वष्टा आदि देवताओंका भी विचार युद्धक्षेत्रमें कार्य करनेवाले इन्द्र देवताके मंत्रोंके साथ होना चाहिये । इस तरह विचार करनेपर वेदका युद्धक्षेत्रका विचार सम्यक्का हो सकता है ।

हम यहाँ केवल इन्द्रके मंत्रोंका ही विचार करना चाहते हैं और सब विचारसे जानना चाहते हैं कि इन्द्र देवता देवोंके युद्ध मंत्रोंके क्षेत्र हैं ।

अब हम देखते हैं कि इस इन्द्रका वर्णन कितने श्रावितोंमें किया है—

श्राविका नाम	मंत्रसंख्या
१ अथर्वा	९८
२ मयुच्छदाः	९५
३ विश्वमनाः	६७
४ वसिष्ठः	७३
५ गं, भूस्वश्रुक्तिनी	५७
६ विश्वमित्रः	४५
७ नृवर्गिराः	३८
८ शत्रुसमदः	३५
९ गीतमः	३४
१० मेधातिथिः	३३
११ कृष्णः	३३
१२ चातनः	२७
१३ वृषाकपिरिन्द्राणां च	२३
१४ इरिम्बिठिः	२२
१५ नृमेघः	१९
१६ नोषाः	१८
१७ प्रियमेघः	१८
१८ शूगुः आपर्वणः	१६
१९ शूनःरोपः	१६
२० पुरुदन्ता	१३
२१ कण्वः	१३
२२ वरु सर्वहरिर्वा	१३
२३ भरद्वाजः	१३
२४ सुकृष्णः	१२
२५ जदो	१२
२६ वृहदिवः	१२

२७	शामदेवः	१२
२८	अप्रतिरघः	११
२९	अंधिराः	११
३०	वसुक्तः	११
३१	सभ्यः	११
३२	सौमरिः	१०
३३	वत्सः	९
३४	शंशुः	९
३५	पुदच्छेपः	९
३६	भृगुः	८
३७	प्रगाथः	८
३८	सृगारः	७
३९	त्रिचोकः	६
४०	पर्वतः	६
४१	सुवनः	६
४२	सुतकसः	६
४३	रेमः	६
४४	पूरणः	५
४५	सुकोर्तिः	५
४६	देवनामयः	५
४७	तिरथिरांगिरसः	५
४८	मर्गः	४
४९	कुरुषः	४
५०	अष्टकः	४
५१	मेधातिथिः	३
५२	मुदाः वैजवनः	३
५३	भगः	३
५४	प्रस्कण्डः	३
५५	प्रशोचनः	३
५६	जाटिकायन्ः	३
५७	कुस्त्युतिः	३
५८	कबंधः	३
५९	कलिः	३
६०	युतानः	३
६१	वच्छोचनः	३
६२	कौशपायः	२
६३	जमदग्निः	२
६४	देवातिथिः	२
६५	पुष्टिगुः	२

६६	श्रुष्टिगुः	१
६७	बुधः	१
६८	शौनकः	१
६९	पतिवेदनः	१
७०	आयुः	१
७१	अत्रिः	१
७२	कपिजलः	१

इतने ऋषियोंके मंत्र इन्द्रका वर्णन कर रहे हैं । अब यह वर्णन कसा है यह दाखिये—

इन्द्रकी मूर्तियां

इन्द्र वीर है इसलिये उसकी मूर्तियां अच्छी रहेगी यह स्वाभाविक हो है देखिये—

हरि-दमशाकः हरि-केशः । अ. २०।३।३ (१८९)

' पीली मूर्तियोंवाला और पीले केशोंवाला इन्द्र है । '

और देखिये—
इन्द्रः स्वश्मभृणि हरितानि सचां अभि मुष्णते ।
अ. २०।७।५ (४८५)

' इन्द्र अपने पीले रंगके मूर्तियोंके वालोंपर पानी लगाता है । ' इस वर्णनसे पता लगता है कि इन्द्रके बाक, मूर्तियोंके, दाढ़ोंके तथा सिरके (हरि, हरित्) पीले रंगके थे ।

इन्द्रका गला

इन्द्रका गला ' तुषि-प्रविः ' (१५) बडा था । मुखकी जितनी चौडाई होती है उससे गला बडा होना चाहिये । कमसे कम वीरका गला तो अच्छा मजबूत होना चाहिये । वैसा मजबूत गला इन्द्रका था । देखिये—

तुषिप्रियो घपोदरः सुवाहुः अघसो मदे ।

इन्द्रो वृत्राणि जिघ्रते ॥ अथ. २०।५।२ (१५)

इन्द्र (तुषि-प्रविः) बडी गर्दनवाला, (घपा-उदरः) बडे पेटवाला, (सुवाहुः) उत्तम बाहुवाला (अघसः मदे) सोमरक्षके उसाहसे (वृत्राणि जिघ्रते) वृत्रोंको मारता है ।

इन्द्रका पेट (घपा-उदरः) पुष्ट था, पेटपर चर्बी थी । ऐसा इस मंत्रसे दीखता है । यह उसकी अदम्य शक्तिका लक्षण है ।

इन्द्रकी दो शिखाएं थीं

इन्द्रकी दो शिखाएं थीं ऐसा कहा है । देखिये—

यस्य त्रिबर्हसो वृहत्सदः दाघार रोदसी ।

अ. २०।६।५ (३७८)

'जिस (हि-यहंस) दो शिखावाले इन्द्रका (बृहत् सह) बड़ा बल (रोदसी दाधार) आकाश तथा पृथिवीका धारण करता है ।

'बहंस' पदका अर्थ मोरके शिरपरका तुरी तथा पक्षीकी रूप है । बोरके अर्थमें शिखा अर्थ है । इन्द्रकी दो शिखाएँ या अथवा शिरमें दो तुरी ये ऐसा यहाँके मन्त्रके अर्थसे स्पष्ट दीखता है ।

इन्द्रका सोम पीना

इन्द्र सोम पीता था और अपना पेट भर देता था । दाक्षये इन्द्रका वर्णन ऐसा किया है—

या सोमपातमः कुक्षिः समुद्र इव पिब्यते ।

अ २०।७।१।१

'जो पेट सोम अधिक पीनेसे समुद्रके समान फूलता है ।'

इन्द्र (सोम-पा-तम) अत्यधिक सोम पीनेवाला है, इसलिये सोम पीनेपर उसका पेट समुद्र जैसा फूलता है ।

'सोमपा, सोमपा-तरः, सोमपातमः' य पद उसके अत्यधिक सोम पीनेका वर्णन कर रहे हैं ।

इन्द्रका साफा

इन्द्रके साफेका वर्णन इस तरह वेद कर रहा है—

हरिशिप त्वा रथे आचदन्तु । अ २०।३२।२(११२)

तुद्द अर्द्धि हरिशिपो य आयसः । अ २०।३०।४ (१८५)

(हरिशिप) सुनहरी साफावाले इन्द्रको रथम बिठला र ले आवे । (हरि-शिप) सुनहरी साफावाले इन्द्रने दिक्की मारा । इस तरह उस इन्द्रके साफेका वर्णन है । यह पासा सुनहरी था । (आयस) फौलादेके शिरछाणके ऊपर नहरा साफा वह चाधता था ।

'सु-शिमी' (म ११) — उत्तम सापा बाधनेवाला, शिप' का दूसरा अर्थ 'हस्त' है । 'सुशिमी' का अर्थ उत्तम हनुवाला भी होता है । पर 'आयसः सुशिपः' (१८५) का अर्थ फौलादेके शिरछाणपर उत्तम सापा बाधनेवाला ऐसा होता है । अर्थात् वार इन्द्र मस्तकपर लेहेका शिरछाण रखता है और उसपर जरीका सापा बाधता है ।

इन्द्रका पोपास

इन्द्रका सब पोपास अरतारीका होता है इसलिये इन्द्रके (इन्द्र हिरण्ययः) (२५८) — सुवर्णमय इन्द्र है ऐसा कहते हैं । इन्द्रके तरफ देखनेसे वह सुवर्णका बना है ऐसा दीखता है ।

पीसके लेकर साफेका सब पोपास उत्तम हीमतवाले अरतारीके रूपमेंका होता है । जैसा किसी राजा महाराजाका होता है । 'हरिशिपः' (३७८) — सुवर्णका सोमा सब शरीरपर होती है । सब शरीरका पोपास उत्तम अरतारीका हीमतेसे उसकी सोमा वैधी दीखती है ।

इन्द्र शरीरसे बड़ा है

'तन्या वाधृधान' (४३) — शरीरसे बड़ा इन्द्र होता है । इन्द्रका प्रत्येक शरीरका अवयव हृष्टपुष्ट तथा बलशाली होता है । किसी अवयवमें किसी प्रकारकी दुर्बलता नहीं होती । बोरका शरीर ऐसा ही बलवान् होना चाहिये ।

इन्द्र बेल जैसा बलवान् है

इन्द्र अत्यंत बलवान् है, बेल जैसा वह शक्तिशाली है इस कारण उस इन्द्रको 'वृषभः' (१) — बेल जैसा बलवान् कहा जाता है, बलिष्ठोंमें वलियु इन्द्र है ।

'शृगवृष' (२०) — शींगवाल बेलके समान इन्द्र बलवान् है । शींगशाला बेल जैसा शत्रुपर एकदम चढ़ाई करता है और शींगोंसे शत्रुको मारता है, वैसा इन्द्र अपने वज्रसे शत्रुको मारता है ।

'वृषणः' (५१) — बलवान्, शक्तिवान् इन्द्र है ।

'सुप्रमी' (५८) — सामर्थ्यवान्,

'तथिपः' (४४) — शक्तिमान्, बड़ा सामर्थ्यवान्, धैर्यवान्, व्यवसायमें कुशल, शूर, बलवान् वीर,

'ते वृष्णि शवः' (४०) — हे इन्द्र ! तेरा बल सामर्थ्ययुक्त है । तेरा सामर्थ्य अप्रतिम है ।

'साजः' (२८) — सामर्थ्यवान् इन्द्र है ।

'तथिपीभिः आवृतः' (३८) — इन्द्र अनेक शक्तियोंसे युक्त है । अनेक बन्धुशाली योजनावए वह करता है । इस तरह इन्द्रके अतुल सामर्थ्यका वर्णन वेदमंत्रोंमें किया है, अब उसके सौंदर्यका वर्णन देखिये—

इन्द्रका सौंदर्य

इन्द्र जैसा सामर्थ्यवान् है वैसा सुन्दर भा है । जो हृष्टपुष्ट और बलवान् होता है वह शरीरसे सुन्दर ही दीखता है । देखिये—

'दस्म' (३८) — दर्शनीय, सुन्दर,

'सुश्र' (३८) — तेजस्वी, कान्तिमान् ।

इन्द्र तेजस्वी है, देखने योग्य सुन्दर भी है । एक तो उसका शरीर सप्रमाण है, सुदीर्घ है, तेजस्वी है, इस कारण एक

प्रकारका स्वास्थ्यका प्रभाव उसपर रहता है, अतः वह देखनेमें सुन्दर दीखता है । अच्छे तेजस्वी पुरुष प्रभावशाली होते ही हैं वैसा इन्द्र वीर भी प्रभावी है ।

इन्द्र विद्वान् है

इन्द्रके वर्णनमें उसके विद्वान् होनेका भी वर्णन है । वह जैसा बलवान् शूर है वैसा वह विद्वान् भी है देखिये—

'विश्वस्य विद्वान्' (११८)— इन्द्र सब विद्याओंका ज्ञाता है, विश्वमें जो ज्ञानने योग्य है उसको वह यथायोग्य रीतिसे जानता है । विश्वमें ज्ञानने योग्य कोई विद्या उसको नहीं आती ऐसा नहीं है । सब विद्याओंका उत्तम प्रकारसे वह ज्ञाता है ।

बृहते विप्राय धर्मकृते विपश्चिते पनस्यधे
साम गायत । अ. २.१६.२५ (३०४)

'बृहते' बड़े (विप्राय) ज्ञानी, प्राज्ञ, (धर्मकृते) धर्मके अनुकूल कार्य करनेवाले (विपश्चिते) विद्वान् (पनस्यधे) स्थूल इन्द्रके लिये सामगायन गाओ । 'उसका स्तोत्र गाओ ।

इस मंत्रमें दिये सब विशेषण विद्वान् इन्द्रके शुभगुणोंका वर्णन करते हैं । वे सब विशेषण उसकी विशेष विद्वत्ता दर्शाते हैं ।

जरासहित तरुण इन्द्र

इन्द्र इतना सामर्थ्यवान्, बलवान्, प्रभावी, विद्वान् है वैसा वह अरारहित तरुण भी है । उसकी आयु कितनी भी हुई होगी, तो भी वह 'अ-जुयं' (२१०)— अरारहित है अतएव वह 'युवा' (६६)— तरुण है । आयु कितनी भी हुई हो जिसके विचार तरुण है वह बृद्ध होनेपर तरुण ही है । ऐसा तरुण विचारोंसे मुक्त सबको रहना चाहिये । तरुण विचार जिसके हैं वह शरीरसे भी झीग नहीं होता । अतः सदा विचारोंका ताण्ड्य अपने मनमें सबको रखना योग्य है ।

तेजस्वी इन्द्र

इन्द्रके वर्णनमें 'द्युमसमा' (१२१)— अत्यंत तेजस्वी इन्द्र है । 'स्वेष-सं-दृक्' (२४०)— कान्तिमान्, दीप्तिमान् दीखनेवाला इन्द्र है । ऐसे पद उनका तेजस्वी होना बताते हैं । इन्द्र कदापि निस्तेज, निरुसाही, बलहीन, सामर्थ्यहीन नहीं होता, वह सदा सतेज, उसाही, बलवान्, सामर्थ्यवान् रहता है । ऐसा ही वीरोंको होना चाहिये । शूर पुरुष ऐसे ही होने चाहिये ।

२ (अर्ध. स्वा., काण्ड २०)

आनंदी स्वभाववाला इन्द्र

इन्द्र उसाही तथा बलवान् रहता है अतः उसमें आनन्द स्वभावसे ही रहता है । देखिये— 'मन्दसान' (४९५)— आनन्दी स्वभाववाला इन्द्र है । 'मदाय आयातु' (६०२)— आनंदका अनुभव करनेके लिये इन्द्र यहा आवे । ये वर्णन उसके आनंदी स्वभावके दर्शक हैं । 'मद्' पदका अर्थ प्रेम, सदिच्छा, गर्व, अपने सामर्थ्यका अभिमान, आनंद, अति-सतोप, वीर्य, सौंदर्य, शहद, पेय जिससे उत्साह बढ़ता है ।

इन्द्रके बाहु

इन्द्रके वर्णनमें उनके बाहुओंका वर्णन इस तरह हुआ है—
'सुबाहुः' (१५)— इन्द्रके बाहु उत्तम हैं, अर्थात् सुशौल और बलिष्ठ हैं ।
'वज्रयाहुः' (५९)— जैसा वज्र सामर्थ्यवान् होता है उस प्रकार इन्द्रके बाहु सामर्थ्यवान् हैं ।
'वाहोजाः' (वाहु-भोजाः) (३१)— बाहुओंके विशेष बलसे इन्द्र बलवान् हुआ है ।

इन्द्रके बाहु ऐसे बलवान् हैं, इस कारण वह सुदृढ़ शत्रुओंका पूर्ण पराभव कर सकता है । वीरोंका व्यायाम आदिसे अपने बाहु ऐसे बलवान् करने चाहिये ।

मुष्टियुद्ध करनेवाला इन्द्र

'मुष्टिद्वयया वृत्रा निरुणधामहै' (४५९)— मुष्टियुद्धमें वृत्रोंको दूर रखता है मुष्टियुद्ध करके वृत्रोंका पराजय करता है । ऐसे वर्णनमें पता चलता है कि इन्द्र मुष्टियुद्ध करनेमें भी प्रवीण था और मुष्टियुद्ध करके वृत्रादि शत्रुओंको परास्त करता था ।

बहुत अन्नसे युक्त इन्द्र

इन्द्र सामर्थ्यवान् है, उसके शरीरका प्रत्येक अवयव दृढ़पट्ट है, ऐसे वर्णन देखनेसे पता चलता है, कि वह पौष्टिक अन्न भी पर्वत प्रमाणमें अपने पास रखता होगा और उसका उपभोग भी यथेच्छ करता होगा । नहीं तो शरीर दृढ़पट्ट होनेकी संभावना ही नहीं होगी । इस विषयके प्रमाण अत्र देखिये—

पुरु-भोजाः (३८)— बहुत भोजन करनेवाला, बहुत अन्नसामग्री अपने पास रखनेवाला, पौष्टिक अन्न पर्वत प्रमाणमें अपने पास रखनेवाला ।

पुरु-क्षुः (२३४)— बहुत अन्नसे युक्त, अनेक प्रका-
रके पौष्टिक अन्न अपने पास रखनेवाला ।

ध्रु-मत्तः (३८)— अज्ञ पर्याय प्रमाणमें अपने पास रखनेवाला, अनेक प्रकारके पुष्टिकारक, बलवर्धक तथा उन्माह-वर्धन खाद्य पेय अपने पास इन्द्र पर्याय प्रमाणमें रक्षता या । इस कारण वह सदा सामर्थ्यवान् रहता था ।

इन्द्र महान् है

उक्त सब वर्णन देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्र एक अत्यन्त महान् वीर पुरुष है । देखिये इस इन्द्रकी महत्ता बताने-वाले वर्णन—

वृहत् (६९)— इन्द्रका बल बड़ा शक्तिवाला है, महान् है,

मंहिष्ठः (६९)— इन्द्र विहाल है ।

इन्द्र- महान् परः च (४६०)— इन्द्र बड़ा और श्रेष्ठ है, इसमें इन्द्रका जैसी महत्ता वर्णन हुई है, उसी तरह उसकी श्रेष्ठता, उच्चता तथा महत्ता भी दिखाई देती है ।

वी- न प्रथिना शवः (४१२)— युलोकके समान उसका शयन फैला है । युलोक जैसा विस्तीर्ण है वैसा उसका सामर्थ्य भी अत्यन्त बड़ा विस्तृत है । उसके सामर्थ्यकी बराबरी दुसरा कोई कर नहीं सकता, ऐसा वह अप्रतिम सामर्थ्यवान् है ।

वाञ्छिणे महित्यं अस्तु (४६२)— वज्रधारी इन्द्रके लिये महत्त्व है । वज्रके द्वारा वह सब शत्रुओंकी दूर करता है इनान्तिये उसका महत्त्व बड़ा है ।

ओजसा महान् अभिष्ठि- (४६८)— इन्द्र सामर्थ्यसे बड़ा है और सब शत्रुओंको दबा देनेवाला मशरूफी वीर है । उसके बराबर दूसरा कोई सामर्थ्यशाली नहीं है जो इस इन्द्रकी बराबरी कर सके ।

नुभिः पृथ्वा इन्द्रः शवसे मदाय धावृषे (३३८)— वीरोंके धाय रहकर वृषोंको मारनेवाला इन्द्र सामर्थ्य और उत्साहके लिये प्रशंसित होता है । इन्द्र वृषोंको मारता है, वृत्र प्रजाको बध देता है इसलिये उसका बध करनेसे प्रजा सुखी होती है, सामर्थ्य और उत्साह इन्द्रमें होते हैं । इन सात्रगुणोंके लिये सब वीर पुरुष इन्द्रका वर्णन करते हैं और उसके बधेपनका गुणगान करते हैं ।

न गिरनेवाला इन्द्र

इन्द्र न गिरनेवाला है, अपने ध्येयसे वह कभी पतित नहीं होता है, इसलिये उसका महत्त्व चारों ओर फैला है, देखिये—

'न-पात्' (२०)— न गिरनेवाला, या न गिरानेवाला इन्द्र है ।

'प्र-न-पात्' (२०)— विशेष रीतिसे न गिरनेवाला या न गिरानेवाला इन्द्र है । वह अपने कर्तव्यसे कभी विमुख नहीं होता ।

'उर-गाय' (५००)— विशय प्रगति करनेवाला इन्द्र है ।

ये पद उसके कर्तव्यनिष्ठाके दर्शक हैं । वीरोंका ऐसा ही होना चाहिये ।

कल्याण करनेवाला मित्र इन्द्र है

'शिवः सखा इन्द्रः' (३२)— इन्द्र सबका कल्याण करनेवाला मित्र है । इन्द्र सदा दूसरोंका हित करता है, श्रम करता है, कष्टोपन करता है । सबका वह सखा है, मित्र है, शुद्ध है । कभी किसीका बुरा करनेका विचार भी उसके मनमें नहीं आता है । शत्रुका बुरा करता है । पर वह अपरिहार्य है । शत्रुका नाश किये बिना अनताका हित हो नहीं सकता, इस कारण वह सब शत्रुओंका नाश करता है, यह आवश्यक ही है ।

इन्द्रका मन

इन्द्रका मन मनुष्योंकी सहायता करनेके कार्यमें लतप रहता है, इसलिये वह 'नृ-मनाः' (२४६)— मनुष्योंकी सुख-शुद्धि करनेमें त्रिषका मन सदा लगा है, मानवोंके हितके कार्य करनेमें जो अपना मन प्रेरित करता है । तथा—

'एभिः धुभिः सुमनाः' (१२२)— इन तेजस्वी-ताओंसे तेजस्वी बना मन है त्रिषका ऐसा तेजस्वी मनवाला इन्द्र है ।

'मनस्वान् प्रथमः देवः' (११८)— शुद्ध तथा उद्यम मनसे युक्त यह पहिला देव है ।

ऐसे इन्द्रके मनके वर्णन वेदमंत्रोंके अन्दर दीखते हैं ।

'सर्पा' (४६)— अपने प्रथमसे प्रकाशित इन्द्र है । इस कारण—

'शुनः' (५३)— उत्तम गुणोंसे वह युक्त है और

'शाचि-पूजनः' (१९)— शक्तिमान् लोग भी त्रिषका पूजन करते हैं ऐसा इन्द्र उत्तम मनसे तथा प्रभावी शक्तियोंसे युक्त है ।

आर्योंका रक्षण

इन्द्र आर्योंका रक्षण करता है, इस कारण उसको दाहोंका नाश करना आवश्यक होता है । देखिये—

'आर्यं वर्णं प्रावत्' (५१)— इन्द्र आर्योंकी रक्षेय सुरक्षा करता है । आर्योंका रक्षण करना और अनार्योंका नाश करना ये इन्द्रके अत्यन्त आवश्यक कर्तव्य ही हैं । 'आर्य'

(१०३)— श्रेष्ठ पुत्र्य होता है। सदाचारी श्रेष्ठ पुत्र्योंका संरक्षण करना और दुराचारी नाथ पुत्र्योंका सुधार हो सकता है तो उनका सुधार करना, नहीं तो उन दुराचारियोंको दूर करना वीर पुत्र्योंका राष्ट्रमें कर्तव्य ही होता है।

‘दासानि आर्याणि करः’ (२४१)— इन्द्र दासोंको आर्य करता है। दास उनका नाम है जो दुराचारी दुष्ट होते हैं। उनको इन्द्र सदाचारीका पालन करनेके लिये बाधित करता है और उनकी उन्नति करके उनको आर्य बनाता है। अनाथोंकी सदा कतल करके उनका नाश करता है ऐसा नहीं, परंतु उनको सुधारनेका अवसर देना है। वे सुधरे तो वे आर्योंमें शामिल होते हैं, उनको आर्योंके अधिकार सबके सब प्राप्त होते हैं। न सुधरे तो उनको दूर किया जाता है। अनाथोंको आर्य बनानेका यह विधि इन्द्रका था।

‘यः दासं वर्णं अधरं गुहा कः’ (२०१)— यह इन्द्र दास वर्णको—अर्थात् दास लोगोंको—नीच स्थानमें—गुहामें—रखता है। आर्योंके स्थानसे पृथक् स्थानमें दास रहें। ऊंचे स्थानपर आर्य रहें और नीचले स्थानपर दास रहें ऐसा इन्द्रकी व्यवस्थाका आशय है। भ्राममें जो ऊंचा स्थान हो वहाँ आर्य रहें और जो नीचला स्थान हो वहाँ दास, अर्थात् अथवा हीनाचार करनेवाले लोग रहें ऐसी व्यवस्था इन्द्र करता था।

‘आर्यं स्वं ज्योतिः मनवे विदत्’ (१०)— आरम-ज्ञानसे परिपूर्ण आर्य तेज मनुष्यको प्राप्त हो। इस तरह आर्यत्वके प्रसारके लिये इन्द्र प्रयत्न करता था।

पुरुषार्थके कर्म करनेवाला इन्द्र

इन्द्र बलवान् है, विद्वान् है, आर्योंकी रक्षा करता है आदि इस इन्द्रके अनेक गुण यथातक देखे। ये सब उत्तम पुरुषार्थके गुण हैं। पुरुषार्थ प्रयत्न करनेवाला इन्द्र है इस विषयमें उसके वर्णनोंमें कैसा भाव प्रकट होता है देखिये—

‘शतक्रतुः’ (१०६)— एकदो प्रकारके पुरुषार्थके प्रयत्न करनेवाला इन्द्र है। अनेक कार्य वह जनताके हित करनेके लिये करता रहता है।

‘पुरुकृत्’ (१२१)— बहुत कर्म करनेवाला इन्द्र है।

‘तुषि कूर्मिः’ (२३६)— अनंत कर्मोंका करनेवाला इन्द्र है।

‘अभिमाति पाह्यं’ (१०७)— शत्रुका प्यासव कर-नेके लिये जो जो करना योग्य तथा आवश्यक है वह सब इन्द्र करता है।

‘सिधं युगे युगे नश्यम्’ (४१२)— इन्द्रका कर्म प्रत्येक युगमें नया नया होता है। युगके अनुसार परिस्थिति बदलनेसे जो कर्म जैसे करने चाहिये वे कर्म वैसे करता है, इस कारण इन्द्रके कर्मोंसे जनताका हित होता है।

‘पौंस्यैः कृत्वा नर्यः’ (५०३)— पौरुषके अनेक कर्म करनेके कारण इन्द्र (नर्यः) जनताका हित करनेवाला हुआ है।

‘कत्तु अस्य इन्द्रस्य पौंस्यं अकृतं अस्ति’ (६४३)— कौनसा पौरुषका जनताके हित करनेवाला कर्म इन्द्रने नहीं किया है? अर्थात् सबका हित करनेके लिये जो कर्म आवश्यक हैं वे सब कर्म इन्द्र सदा करता रहता है। जनताका हित हो, प्रजाजननोंकी उन्नति हो एतदर्थ वह सदा प्रयत्नशील रहता है।

‘तानि पौंस्या सना मा भुवन्’ (४१२)— आपके वे पौरुषके कर्म पुराने नहीं हुए हैं। वे सदा ताजे जैसे हैं। अर्थात् इन्द्र सदा उत्तमोत्तम कर्म जनताके हितके लिये करता रहता है।

‘उत सुप्तानि मा जारिपुः’ (४१२)— इन्द्रके तेज क्षीण नहीं हुए हैं। उनके तेज सदा चमकते रहते हैं। वह इन्द्र कभी भी थकता नहीं, थान्त नहीं होता, सदा उत्साही रहता है और आलस्य छोड़कर जनताके कल्याणके लिये अवश्य कर्म अितने करने पड़े करता ही रहता है।

‘अस्य कामं विघतः न रोपति’ (३६१)— इस इन्द्रके अनुकूल जो कार्य करते हैं उनपर वह कदापि रुठ नहीं होता। इसकी इच्छा जनताका हित करनेकी होती है, अतः जो लोग जनताका हित करनेके लिये प्रयत्नशील होते हैं उनपर इन्द्र संतुष्ट रहता है और उनका भला वह करता है।

इस तरह इन्द्र जनताके हित करनेके कार्य स्वयं करता है। और जो दूसरे वैसे कर्म करते हैं उनको भी सहायक होता है।

लोगोंके लिये प्रयत्न करनेवाला

इन्द्र लोगोंका उत्तकितके लिये सदा प्रयत्न करता है, इसलिये उसे ‘लोक-कृत्तु’ (३७४)— लोगोंके लिये कुशलतापूर्वक प्रयत्न करके स्थान बनानेवाला, कुशल कार्यकर्ता कहते हैं।

स्थिर नीतिवाला

‘स्थिरः’ (११६)— इन्द्र स्थिर है। इसका अर्थ यह है कि उसकी नीति जनताका हित करनेके विषयमें स्थिर रहती है। उसमें कभी म्यूनता नहीं होती। मुख्य उद्देश्यके विषयमें उसके कार्यक्रम अच्छी तरह सुस्थिर रहते हैं। आम एक, कल दूसरा, परछु तीसरा ऐसा नहीं होता। जनताका हित निश्चयसे

होगा ऐसे ही कार्य वह करेगा, इस उद्देश्यमें उसकी स्थिर नाति रहती है ।

लोगोंकी साक्षी

लोग भी कहते हैं कि 'इन्द्रः नः मृळ्ययाति' (११५) इन्द्र हम सबको घुस देता है । यह सब जनताका अनुभव है ।

इन्द्र अपूर्व है

'अ-पूर्य्यः' (६५)- इन्द्र अपूर्व है । इसके पहिले ऐसा जनताका हित करनेवाला कोई नहीं हुआ था और इसीसे हम कहते हैं कि लोग भी ऐसा कोई नहीं होगा । इस कारण इसको सब लोग 'अङ्ग' (११६)- श्रिय फाके कहते हैं । सबकी यह अत्यंत श्रिय हुआ है ।

आगे बढनेवाला

इन्द्र सदा शर्म करनेके लिये आगे बढनेवाला है । वह कभी अच्छा प्रदत्त करनेके समय पीछे नहीं रहता । इस कारण उसको 'अधि-गुः' (२१६)- आगे बढनेवाला कहते हैं । 'पुरः प्रेदि' (१६)- आगे बढ, शत्रुपर आक्रमण कर, हमला कर, 'धृष्णुया म जिगाति' (३२३)- धैर्यसे शत्रुपर हमला करता है ।

यह इन्द्रका आगे बढना शत्रुपर करनेकी चढाईके सम्यक्ता है । दूरा और अपनी सेनासे शत्रुपर चढाई करते हैं, वैसी चढाई करनेमें इन्द्र विशेष उत्साह बतता है ।

न गिरनेवालेको गिरानेवाला

इन्द्र सुरिश्चर शत्रुको उखाडकर दूर फेंकनेवाला है । अतः उसको 'यः अ-च्युत-च्युतः' (२०६)- न गिरनेवाले शत्रुको गिरानेवाला कहते हैं । यह इन्द्र स्वयं अपने स्थानपर स्थिर रहेगा और शत्रुको स्थानग्रह करनेवाला है । सुरिश्चर प्रबल शत्रुको भी अपने स्थानसे हिलाकर दूर करनेवाला है । न हिलनेवालेको समूल उखाडकर फेंकनेवाला इन्द्र है ।

गुप्त न रहनेवाला

इन्द्र इस तरहके कार्य करता रहता है इसीलिये वह हमेशा 'अ-गोहाः' (३९९)- यह इन्द्र छिपकर न रहनेवाला है । अपने प्रबल कार्योंसे वह सबके लिये स्तुत्य हुआ है । 'सत्रा-जितः' (३९९)- केनाके साथ रहकर शत्रुकी जितनेवाला है । यह निल विजयी होनेके कारण यह इन्द्र कहीं भी छिपकर नहीं रह सकता ।

सार्वजनिक हितके कार्य करता है

इन्द्र सदा सार्वजनिक हितके कार्य करता है, इस कारण

उसको 'नर्यः'— नरोंका हित करनेमें तत्पर रहनेवाला कहा है ।

'नर्यापसं (नर्यं-अपस्)' (३०)- सार्वजनिक हितके कार्य सदा करता है ।

'पुरुणि नर्या दधानः' (४७)- सार्वजनिक हितके बहुत कार्य करनेवाला ।

'अस्य महः इन्द्रस्य पुरुणि सुकृता मदानि कर्म' (४८)- इस बड़े इन्द्रके अनंत परमोत्तम बड़े महत्कर्म सार्वजनिक हितके लिये होते हैं । यह जो कार्य करता है वे सब सार्वजनिक हितके ही कार्य होते हैं ।

इस कारण इसकी सर्वत्र प्रशंसा होती है ।

त्वासे कार्य करनेवाला

इन्द्र जो कार्य करना चाहता है वह त्वर करता है और उतमसे उतम रीतिसे प्रयत्न और सुकृत करता है । कभी बीचमें लपुटी अवस्थामें छेदता नहीं । इसीलिये उसको—

'त्वरः' (२१६)- त्वरासे कार्य करनेमें कुशल;

'सुर्वाणिः' (२२६)- त्वर परन्तु उतम कार्य करनेमें प्रवृत्त।

'तृत्तुजानः' (२३७)- प्रत्येक कार्य अतिशीघ्र तथा उतम करनेमें कुशल,

'यः धर्मणा तृत्तुजानः तुविष्मान्' (५०२)- जो स्वभाव धर्मसे ही शीघ्रतासे कार्य समाप्त करनेमें कुशल और बलवान् है ।

'सुरापाद्' (६०)- त्वरासे लडाईमें शत्रुको पराजित करता है ।

यह सामर्थ्य इन्द्रका है । इस कारण इन्द्रके सामर्थ्यकी सर्वत्र प्रशंसा होती है ।

इन्द्रका सामर्थ्य

'शक्रः' (११५)- सामर्थ्यवान्, इन्द्र,

'शची-यः' (१२१)- शक्तिमान् इन्द्र है, शचीका अर्थ शक्ति है ।

'सत्य-धुम्भः' (६९)- सत्ता सामर्थ्य जिसके पास है ।

'उदः शवसस्पति' (१४०)- बलका बड़ा स्वामी इन्द्र है ।

'स्व-धावः' (१४३)- अपनी धारण शक्तिसे युक्त इन्द्र है ।

‘महान् ओजसा चरसि’ (३३०)- बड़े सामर्थ्यके साथ इन्द्र चलता है ।

‘कन्दु वयः दधे’ (३२९)- किध प्रकारकी अद्भुत शक्ति इन्द्रमें है ।

‘दिवि ओपशं चक्राणः’ (१७१)- गुलोकमें सामर्थ्य प्रकट करता है ।

‘न पुराणः न नूतनः अन्य ते धीर्यं न अनुशकन्’ (११)- कोई प्राचीन अथवा कोई अर्वाचीन कीर तेरे पराक्रमकी बराबरी नहीं कर सकता है । ऐसा इन्द्रका सामर्थ्य अद्भुत है ।

‘त्या न किः आ नियमत्’ (३३०)- तुझे कोई रोक नहीं सकता । तेरी गति अप्रतिहत है ।

‘अग्निघृतः स्थिरः रणाय संस्कृतः’ (३३१)- इन्द्र कभी पीछे नहीं हटता, युद्धस्थानमें स्थिर रहता है और युद्धके लिये सदा तैयार रहता है ।

‘उग्रः सत्रा शर्वासि दधानः’ (३३५)- उग्रवीर इन्द्र है, साथ साथ अनेक सामर्थ्योंको धारण करनेवाला भी है ।

‘वज्री नः विश्वा सुपथा कृणोतु’ (३३५)- वज्रधारी इन्द्र अपने सामर्थ्यके हमारे लिये सब मार्ग उत्तम सुगम करता है ।

इस तरह इन्द्र सामर्थ्यवान् है इस कारण सर्वत्र उसकी प्रशंसा गायी जाती है ।

प्रशंसित इन्द्र

इन्द्रकी प्रशंसा सब करते हैं, इस विषयमें देखिये—

‘पुरु-ऋतः’ (३२)- ऋतुओं द्वारा प्रशंसित इन्द्र है ।

‘मस्रः’ (४४)- सुपुत्र्य, महनीय ।

‘पनीयस्’ (७१)- जिसकी सब स्तुति करते हैं ।

‘अर्कः’ (२२०)- अर्चनीय, पूजनीय ।

‘गूर्त-ध्रवाः’ (२२०)- जिसका यथा चारों ओर फैला है ।

‘स्तोतृणां मद्रुहत्’ (१७७)- स्तुति करनेवालोंका कल्याण करता है ।

‘सुधिद्रांसं चरणीनां चर्हृत्वं उपस्तुति’ (४०९)- मानवों द्वारा प्रशंसित, उत्तम विद्वान् इन्द्रको स्तुति कर ।

‘दानौकसः’ (२२०)- इन्द्र दानका घर ही है, उदार दाता है ।

इस तरह इन्द्रकी सब लोग सदा प्रशंसा करते हैं । इस स्तुतिसे स्तुति करनेवालोंका हित होता है । वह इन्द्र बलवान् है, शूर है, युद्धमें कुशल है इत्यादि उसके गुण स्तुतिमें वर्णन किये जाते हैं । स्तुति सुननेवालेके मनमें ये गुण उत्पन्न हैं यह भाव जन्म जाता है और इन गुणोंको अपनेमें धारण करनेकी प्रबल इच्छा स्तुतिको सुननेवालोंमें उत्पन्न होती है । यदि वे गुण किंसाने अपनेमें धारण किये तो वह बलवान्, शूर, युद्धमें कुशल होता है और इस तरह उसकी उन्नति होती है । स्तुतिसे यह लाभ है ।

इन्द्रकी गौवें

इन्द्रके पास उत्तम गौवें होती हैं । वह स्वयं दूध पीता है, अपने बैलियोंको दूध पीनेके लिये देता है, तथा योग्य मनुष्योंको गौवें देता है । इन्द्र गौका उत्तम रीतिसे पालन करता है, अतः उसके पासकी गौवें उत्तमोत्तम होती हैं ।

‘गोमान्’ (१६)- गौओंको अपने पास रखनेवाला,

‘गोपतिः’ (१३३)- गौओंकी पालना करनेवाला,

‘शाच्चि-गुः’ (१९)- शक्तिशाली गौओंको निर्माण करनेवाला, दृष्टपुष्ट गौओंको अपने पास रखनेवाला,

‘अ-गो-रुघः’ (४०६)- गौओंको न रोकनेवाला, उनकी उत्पत्तिमें बाधा न डालनेवाला, गौओंकी उत्पत्ति करनेवाला ।

‘गवां पुरस्ठत्’ (७१५)- गौओंका उद्धारक,

‘गविष्’ (४०६)- गौओंकी इच्छाके अनुसार उत्पत्ति करनेवाला,

‘पुरुभोजसं गां सत्तान’ (५१)- बहुत अन्न देनेवाली गायको इन्द्र प्राप्त करता है । गाय बहुत दूध देती है ऐसी गौओंको इन्द्र अपने पास रखता है ।

‘यः बलस्य अपघा गा उदाजत्’ (२००)- जिससे बलने छिपकर रखी गौओंको ऊपर निकाला ।

‘राम्याणां धेनाः आविः अकृणोत्’ (४५)- रात्रिमें शत्रुने छिपायी गौवें इन्द्रने प्रकाशमें लायीं । शत्रुको परास्त करके उसके पासकी गौवें अपने आर्धान करके रखी ।

अंगिरस्यो गुहासतीः गाः आविःकृण्वन् उत आ अजत् (१७४)- अंगिरा ऋषियोंके लिये गौवें, ओ किंसाने छिपकर रखी थीं, उसको बाहर निकाला और उनका दान उन ऋषियोंके लिये किया ।

‘गव्यं अदृष्यं द्रुतं घयति’ (६८)- बैकड़ों गौवें और घोड़े इन्द्र दानमें देता है ।

‘देवतः मद्ः गोदाः’ (३०५)— धनवान् इन्द्रका
द्वयं गोओंको देनेवाला है ।

इस तरहके वर्णन यथा रहे हैं कि इन्द्र गोओंको उत्तम
पालना करता है । अधिक दुधरूपी अन्न देनेवाली गोवं तैयार
करता है और उनका दान श्रियोंके लिये करता है ।

इन्द्र घोड़ोंकी पालना करता है

इन्द्र जैसी उत्तम गोओंकी पालना करता है, उसी तरह वह
उत्तम घोड़ोंकी पालना करनेवाला भा है । देखें—

‘हयंभ्यः’ (हरि-अभ्यः) (६८)— लाल या पीले
घोड़ोंको रखनेवाला इन्द्र है ।

‘हरि-भियः’ (१४३)— घोड़े जिसको अत्यंत भिय
है ऐसा इन्द्र है ।

‘हरि-वः’ (१९४)— लाल घोटे अपने पास रखने-
वाला इन्द्र है ।

‘हरीणां स्याता इन्द्र’ (४०३)— घोड़ोंको आश्रय
द देनेवाला इन्द्र है ।

‘अश्वस्य पौरः’ (७१५)— घोड़ोंकी पालना करने-
वाला इन्द्र है ।

‘केशिना’ (९)— लंबे बालवाले इन्द्रके घोड़े हैं ।

‘ब्रह्मयजौ’ (९)— इशारेके साथ रथको जुड़नेवाले
इन्द्रके घोड़े हैं । इशारा होते ही अपने स्थानपर रथके साथ खड़े
होनेवाले जिसके घोड़े हैं ।

‘केशिना ब्रह्मयजा हरी त्वा आचहताम्’ (९)—
लंबे बालवाले, इशारेके जुड़ जानेवाले दो घोड़े तुझे-इन्द्रको-
यहां ले आवे ।

‘इन्द्रं मयान् सप्तान’ (५१)— इन्द्र घुटदौड़के
घोड़ोंको तैयार करता है । घुटदौड़में जीतनेवाले घोड़े इन्द्र
तैयार करता है । घोड़ोंको ऐसी शिक्षा वह देना है जिससे घुड़-
दौड़में उनके घोड़े जीतते हैं ।

घच्चोयजा आ संमिच्छः हयैः सचा (२५८)—
शब्दके इशारेके साथ रथके साथ जुड़नेवाले घोड़ोंका साथी इन्द्र
है अर्थात् ऐसे उत्तम घोटे जिसके पास रहते हैं, ऐसा इन्द्र है ।

ते हरी सुयमा (६०३)— तेरे दोनों घोटे उत्तम
रीतिसे खाधीन रहनेवाले हैं ।

त्वां सरपतिं नरः घृषेणु अर्चतः काष्ठासु हवामहे
(६४४)— सब हम ठग तुझे जैसे उत्तम पालक इन्द्रको,
घनुओंके पिर जानेपर- तथा घुटदौड़के मैदानोंमें- बुलाते हैं ।
सहाय्यार्थ सुलाते हैं ।

रघुप्यदा सतयः आ घहन्तु (६२)— जलदी दौड़ने-
वाले घोटे तुम्हें यहाँ ले आवे ।

अरुषीः हरयः आ ससृजिरे (१३४)— लाल घोटे
इन्द्रको यहाँ लाते हैं ।

मध्यक् हरिभ्यां अयाहि (१३६)— मेरे पास
घोड़ोंके आओ ।

अस्मत् आरे मा मुमुचुः (१४३)— हमसे दूर तु
अपने घोड़ोंको न छोड़ ।

गवेषण रथं हरिभ्यां युजे (५६)— गोओंको इन्द्रने-
वाले रथको मैं दो घोड़ोंको जोतता हूँ ।

कशिना घृतस्नु हरी रथे रवा अर्वाञ्चं वहतां
(१४४)— लंबे बालवाले, घी त्रिनके शरीरसे चूता है सा
दीखता है ऐसे तेजस्वी, दो घोटे रथमेंसे तुझे हमार पास ले
आवे । इसमें ‘घृत-स्नु’ गद है । घी जैसा पदार्थ त्रिनके
शरीरसे टपकता है । यह वर्णन इन्द्रके घोड़ोंको तेजस्विताद्य है ।

हरिभ्यां लप याहि (१४५)— घोड़ोंसे यहाँ आओ ।
दो घोटे अपने रथको जोड़कर, उस रथमें बैठकर यहाँ आओ ।
इन्द्रके रथको दो घोटे जोते जाते हैं, यह इस वर्णनका अर्थ है ।

केशिना हरी इन्द्रं वक्षतः (१७८)— लंबे बालों-
वाले दो घोटे इन्द्रको ले आते हैं ।

स्थिराय हरी तुरा हिन्वन् (१८८)— युद्धमें स्थिर
रक्षक युद्ध करनेवाले इन्द्रको दो घोटे तुरासे चलाते हैं ।

हर्यता हरी यजिणं मंदिनं इन्द्रं रथे वहतः
(१८७)— भिय दो घोटे यज्ञकारी आतींदित इन्द्रको रथमेंसे
ले आते हैं ।

अस्य रथे विपक्षसा शोणा घृष्णू नृवाहसा
काम्पा हरी युजन्ति (१६५)— इस रथको दोनों ओर
लाल रंगके दो भिय घोटे शरवीर इन्द्रको ले चलनेके लिये जोते
जाते हैं ।

तव ऊतिभिः सुप्राचीः मर्त्यः अश्ववावती गोषु
प्रथमः गच्छति (१५४)— तेरी सुरक्षासे सुरक्षित हुआ
मानव गोओं और घोड़ोंवालोंमें पहिला होकर जाता है ।

सर्वरथा हरी इह विभुञ्ज (६१७)— सब रथोंके
दो दो घोटे यहाँ छोड़ ।

मदच्युता हरी युक्व (३४०)— मद गिरानेवाले दो
घोटे रथको जोत ।

यमरथ रथं हरी वहतः (४८४)— नियामक इन्द्रके
रथको दो लाल घोटे चलाते हैं ।

त्वा अर्चना ऊतासः नि रणधामहे (४५९) —
तेरी प्रेरणासे घोड़ेसे सुरक्षित हुए हम शत्रुको रोक सकते हैं ।

अर्वाङ्घ्रिः हरिभिः यः जोयं ईयते (१८८) — वेग-
वाले घोड़ेसे यह इन्द्र जोयसे शीघ्र जाता है । इस मंत्रमें
'हरिभिः' अनेक घोड़ोंके साथ इस अर्थका प्रयोग है ।
अन्यत्र 'हरी' दो घोड़े ऐसा ही प्रयोग है ।

उप्रासः तविपासः इन्द्रवाहः सधमादः एतं
नृपति उग्रं चक्रयाहुं प्रवक्षसं सत्यशुभम् ई अस्मन्ना
आ वहन्तु (६०४) — सध बलवाले इन्द्रके घोड़े उस उग्र-
वीर मनुष्योंके पालक वज्रके समान बाहुवाले, बलवान्, सत्य
सामर्थ्यवाले इस इन्द्रको हमारे पास ले आवे ।

इन्द्रका रथ

घोड़ेके वर्णनके मंत्रमें इन्द्रके रथका भी वर्णन आया है ।
इन्द्र घोड़ेपर बैठता नहीं, वह सदा रथमें ही बैठता है । अतः
कहा है—

रथे-प्टाः (२३६) — इन्द्र रथमें बैठता है ।

ते रथः सुख्याम (६०३) — तेरा रथ उत्तम रीतिसे
रिपार है, रथ मजबूत है ।

उरुधुमे रथे चचोयुजा- इन्द्रवाहा हरी युञ्जति
(६५०) — चौड़े जूओंवाले उत्तम रथमें इशारेसे ही जुड़
जानेवाले इन्द्रके दो लाल रथके घोड़े ओड़े जाते हैं ।

अनिमानः सुवह्ना — (२३८) — अपार महिमावाला
और सुन्दर रथवाला इन्द्र है । वह इन्द्रका रथ (सुवह्ना) उत्तम
चलनेवाला है । वेगसे वह जाता है और अन्दर बैठनेवालेको
कुछ भी कष्ट नहीं होता । ऐसा उसका उत्तम रथ है ।

अर्मकः कुमारकः नन् रथं अधितिष्ठन् (५८४) —
छोटा बालक इन्द्र नये रथपर चढ़कर बैठा । इस तरह वह शूर
और धैर्यवान् कुशल वीर है । कुमारपदसे उस इन्द्रकी यह
कुशलता स्पष्टतासे प्रकट हो रही है ।

इस प्रकार घोड़ों और रथका वर्णन इन्द्रके विषयमें वेदमें
आया हुआ है । इन्द्र रथमें बैठकर ही इधर उधर जाता है ।
सबके घोड़े अनेक हैं, वे सैनिकोंके बैठनेके लिये काममें आते
होंगे । क्योंकि इन्द्रके रथको दो ही घोड़े जीते जाते हैं ।

इन्द्रका अतुल सामर्थ्य

इन्द्रके अतुल सामर्थ्यके विषयमें वेदमेंत्रोंमें बहुत ही वर्णन
है, स्पष्टा अब योदाना दिग्दर्शन करना है—

मीमः (७१) — इन्द्र महामर्त्यकर है, इन्द्र शत्रुको कैसा
धीसता है वह भाव इस शब्द द्वारा प्रकट हुआ है ।

तवस् (६९) — इन्द्रका सामर्थ्य विशेष है ।

पुरुशाकः (२४८) — बहुत शक्तिशाली है ।

आञ्जिष्ठः (२८७) — इन्द्र बहुत ओजखी है, महा-
बलाढ्य है ।

सहसावान् (२४९) — साहसकों शक्तिसे वह युक्त
है । शत्रुका पराजय करनेका उसका सामर्थ्य विशेष अधिक है ।

शवस्सपतिः (४९५) — वह बलका स्वामी है ।

अप्रतिमानं ओजः (९२२) — उसका अप्रतिम सामर्थ्य
है । उसके समान दूसरे किछोका भी बल नहीं है ।

ते वीर्यं भूरि (७३) — इन्द्रका पराक्रम बहुत बड़ा है ।

विश्वायु शवसे अपावृत्तं (६९) — संपूर्ण आयुपर्यंत
वह बलके लिये प्रसिद्ध है । तब आयुपर्यंत वह बलसे होनेवाले
कार्य करता रहता है ।

विश्वं केचलं सह सत्वा दधिषे (७४) — सब
प्रकारका श्रद्ध सामर्थ्य तू-इन्द्र- धारण करता है । जगत्में जो
सामर्थ्य करके है वह सब इन्द्रमें है ।

वृषमः घृषण्यावान् सत्यः सत्वा पुरुमायः सह-
स्वान् पर्यते (२३२) — बलवान् सामर्थ्ययुक्त सत्वा सत्व-
वान्, अनेक कर्मोंको कुशलतासे करनेवाला, शत्रुका पराभव
करनेवाला जो इन्द्र है उसकी स्तुति होती है । वह इन्द्र 'पुरु-
मायः' है । इस पदका अर्थ अनेककर्म करनेवाला, कुशलतासे
कर्म करनेवाला, अनेक कष्ट प्रयोगसे भी शत्रुको जीतनेमें
प्रवीण ऐसा होता है । 'माया' का अर्थ 'कुशलता तथा
कष्ट प्रयोग' ऐसा दोनों प्रकारका है । यह इन्द्र युद्धकीशक्त्यसे
शत्रुको परास्त करता है, तथा आवश्यक्ता होनेपर कष्ट प्रयोग
करके भी शत्रुका नाश करता है । ये दोनों अर्थ यहाँ लेन
सचित हैं ।

यः शवसा विश्वानि आततान (५४) — जो इन्द्र
अपने बलसे सब शत्रुओंको फैलाकर मारता है । शत्रु एकत्रित
होने नहीं देता, उनको फैलता है और नष्ट ग्रह करता है ।

नक्षहामं तत्तुरिं पर्वतेषां अद्रोघवाचं शविष्टं तं
मतिभिः अभि— (२३३) — शत्रुको दबानेवाला, खकी-
योंका तारण करनेवाला, पर्वतपरके किलेमें रहनेवाला, दोहरहित
माषण करनेवाला बलवान् है उसकी बुद्धिसे स्तुति करते हैं ।
'तत्तुरि' का अर्थ त्वरसे तथा प्राप्त करनेवाला, शीघ्रतासे
शत्रुका नाश करनेवाला है । पर्वतपरके किलेमें इन्द्र रहता है,
दोहरहित माषण करता है, माषणमें उसकी उत्तम सभ्यता
प्रकट होती है, माषण सबको प्रिय लगे ऐसा उत्तम होता है ।

सर्व प्रहारका सामर्थ्य इन्द्रमें रहता है, इसलिये उसका भाग्य दोहरावित होता है ।

स्यवलः अनपच्युतः (२८८)— वह बलवान् है और अभी न लिखेवाला है । अपने बलमें वह उच्यत होता रहता है ।

शूयस्य धुरि धोमहि (४०८) बलके कारण तुम अप्रत्यानमें हम रहते है ।

यः तिग्मशुभो यूपभो न भीमः पकः कृष्टीः प्रच्यावयति (२४३)— यह इन्द्र तीखे शींगबाल बेलके समान महामयंकर है, वह अर्कला हीं सब शत्रुघनाको म्याभ्र करता है, विनष्ट करता है । अकेला हीं अपने बलके कारण म्य शत्रुओंको पराजित करता है ।

न महिमानं, न वीर्यं, न रायः उद् अश्नुयन्ति (४८२)— कोई वीर तेरी मदिरा, तेरा वीर्य, तेरे धनकी चामकी नहीं कर सकता ।

रभोदाः (२३६)— इन्द्र बल देनेवाला है ।

अनूयीं वाञ्छी यमः (४०८)— पीना रहित, बलवान् निशामक होता है ।

ते वीर्यस्य उश्मिजः चकिरन् (४१६)— तेरे पाकपोंकी कीर्ति उभयतिरकी इच्छा करनेवालोंमें गई है ।

पूरवः त अस्य वीर्यस्य विदुः (४९५)— लोग तेरे इस पराक्रमकी अच्छी तरह जानते हैं ।

चिकितुषे अयुषीय मग्म (५०६)— जो जानी वा बलवान् होता है उसका स्तोत्र गाया जाता है ।

दाधसे राधे मन्वा (३४२)— बलके आर धनके लिये संपदित होनेकी आवश्यकता अत्यंत है ।

विश्वो शयसा वृषया महिमा आ पमाथ (५२१)— सारे बल और सामर्थ्यकी महिमानें भर दिया है अर्थात् अहां प्राणि और सामर्थ्य है वही महिमा बढ़ जाती है ।

तयं यलान् सहस्रं अभिजात (५५८)— तू बल और साइबके कारण प्रसिद्ध हुआ है ।

ते वृषयानि वर्धाम (९०३)— तेरे बलोंका वर्गन करके हम उसको बढ़ाते हैं ।

शुधिमुष्मः महिषः (६१३)— इन्द्र महा सामर्थ्यवान् और मयिके समान बलवान् है ।

महान् ऊरुः सत्यः वृषः इन्द्रः (६१३)— बड़ी महिमावाला छल देव इन्द्र है ।

इन्द्रः शुभ्रं दधे (७०७)— इन्द्र प्रबल बल धारण करता है ।

पुण्यं शयः (७१९)— इसका प्रमादी बल पैला है ।
अग्रहिमानं वोजः (९२२)— इस इन्द्रका अग्रिम सामर्थ्य है ।

अपारण मदना पुण्येन विश्वा महान्सि कति प्रत्यक्षाणः (९०२)— अपरंपार महा सामर्थ्यसे अपने सब सामर्थ्योंकी वद अति तोइय बनाता है ।

श्रुतिः प्राक् अपाक् उद्दह् न्यक् ह्यसे (७२०)— मानवों द्वारा पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर दिशाओंमें घड़ापटार्थ तू गुलाबा जाता है ।

इस तरह इन्द्रके प्रबल सामर्थ्यका वर्णन वेद कर रहा है । इस वर्णनकी पठनेसे अपनेमें सामर्थ्य बढ़ाना चाहिये यह स्पष्टीकृत श्रुति करनेवालोंमें उत्पन्न होनी है जो मानवोंकी उन्नतिके लिये अत्यंत आवश्यक है ।

किलेमें रहनेवाला इन्द्र

'अग्नि-चः' (११५)— यदाही किलेमें इन्द्र रहता है । यह इस वंशकी मुश्रितताके लिये पहाड़ों किलेमें रहता है । किलेमें रहनेसे अपनी सुश्रितता निश्चित होती है । पर यह शत्रुओंके किले तोड़ता है देखिये—

शत्रुके किले इन्द्र तोड़ता है

इन्द्र स्वयं पर्वतपरके किलेमें रहता है । शत्रुके द्वारा उस किलेकी भूषिके बनाता है । पर स्वयं इन्द्र शत्रुके किले तोड़ता है, इनमें श्रेष्ठ करता है, तथा उनको अपने संरक्षणमें लेता है । शत्रुको बर्धमे दटाता है और उसमें अपने लोगोंको बसाता है । इन्द्रके वर्णनमें ये वर्णन बहुत हैं, उनमेंसे योडे देखिये—

पूभिन् (५-भिन्) (४३)— शत्रुके नगरोंके किलेको तोड़नेवाला इन्द्र है ।

पुरां दर्मा (२२०)— शत्रुकी पुरियोंको तोड़नेवाला, अयं मनिस्ता पुरः विभिनत्ति (३२५)— यह इन्द्र अपने बलमें शत्रुकी नगरियोंके किलेको तोड़ता है ।

शद्वयतीनां पुरां दत्ता अस्ति (४०१)— तू शत्रुके शरे किलोंको तोड़ता है ।

शारदाः पुरः सासदानः अवातिरः (४५५)— शरद् शत्रुसे रहनेके लिये बनाये शत्रुके किले साइबसे इन्द्रने तोड़े ।

इदं पुरं वोजसा संहसि (१२५)— इस किलेको तू अपने बलसे तोड़ता है ।

यावोजसा नव नवति पुरः विभेद् (३१)— अपने शत्रुके बलसे शत्रुके निन्यानव किले तोड़ दिये ।

नवनवर्ति पुरः सद्यः (२४७)— निन्यानवें किलोंको तोड़ दिया ।

ऋषिध्वना परिपूता अनानुदः वृंगदस्य शताः पुरः अभिनत् (१२६)— ऋषिध्वाने द्वारा घेरी हुई कंचूस वृंगदकी सौ नगरियोंको तूने तोड़ दिया ।

अवन्धुना सुध्रवसा उपजग्मुषः पतान् द्विदश जनयश्चः पण्डि सहस्रा नवति नव दुष्पदा रथया चक्रेण नि अवृणक् (१२७)— विना सहाय लेते हुए अहेले सुध्रवाने हमला किया हुए इन बीस जनराजाओंको तथा उनके साठ हजार निन्यानवें सैनिकोंको अवश्य रथचक्रने मार डाला । साठ हजार सैनिकोंका परामव करनेके लिये अतिना बल चाहिये उतना इन्द्रके पास बल था यह इसका भाव है ।

त्वं अस्मै महे यूने राक्षे कुत्सं अतिथिग्वं आयुं अरन्धयः (१२८)— तूने इस तक्षण राजाका हिल करनेके लिये कुत्स, अतिथिव और आयुको मारा ।

निघेशने शततमा अविधेयीः वृष्टं अहन् (२४७)— रहनेके लिये तूने मौवें किलमें प्रवेश किया, उस समय तूने वृष्टको मार दिया ।

उत नमुचि अहन् (२४७)— और नमुचिको भी मारा ।

इस तरह शत्रुके किले तोड़नेका वर्णन वेदमें है । साठ साठ हजार शत्रु सैनिकोंका वध किया, इस कार्यके लिये इन्द्रका सैन्य कितना होगा, इसकी कल्पना पाठक करें । किलोंमें रहकर लड़ने-वालेके पास बोटा सैन्य हुआ तो चल सकना है । पर शत्रुके किले तोड़ना, उनमें रहे शत्रुओंका नाश करना, साठ सत्तर हजार शत्रुके सैनिकोंका नाश करना आदि कार्य करनेके लिये शत्रुके सैन्यकी अपेक्षा तीन गुणा तो सैन्य अवश्य ही चाहिये । उतना इन्द्रके पास था यह इस वर्णनमें मिथ्य होता है ।

इन्द्रका संरक्षण सामर्थ्य

इन्द्र एक समय निन्यानवें किले शत्रुके लेता है और मौवें किलमें आकर रहता है, इससे इन्द्रका युद्ध करनेका सामर्थ्य कितना बड़ा है यह स्पष्ट होता है । युद्ध करनेका सैनिकीय सामर्थ्य होता है । इस सामर्थ्यसे बहिरके शत्रुओंके संरक्षण किया जाता है और आन्तरिक उपद्रवकारियोंके भी संरक्षण होता है । इसलिये इन्द्र सचमुच संरक्षण करनेवाला है अतः कहा है—

अविना (६६)— इन्द्र रक्षण करनेवाला है ।

सत्पतिः (६८)— उत्तम पालन करनेवाला है ।

३ (अथर्व. स्वा., ऋण्ड २०)

कुण्डपाय्यः (२०)— यज्ञके कुण्डका संरक्षक । आर्य यज्ञ करते थे और अनार्य यज्ञका नाश करते थे । इसलिये यज्ञके कुण्डका रक्षण करनेका अर्थ आर्य जातिका रक्षण करना है ।

त्वं समथः वर्म वसि (१०४)— तू मेरा बडा कवच है । जैसे कवच रक्षण करना है वैसे तू मेरा रक्षण करता है ।

इन्द्रः सर्वाभ्यः आशाम्यः परि अमथं करत् (११८)— इन्द्र सब दिशाओंमें अनिवालि शत्रुओंसे निर्मयताका निर्माण करता है ।

सखायः ! योगे योगे वाजे वाजे तवस्तरं इन्द्रं ऊतये ह्यमामहे (१६१)— हे मित्रो ! हम सब मिलकर शत्रुके साथ संबंध होनेपर प्रत्यक्ष युद्धमें बलशाली इन्द्रको अपनी सुरक्षा करनेके लिये बुलाते हैं ।

सखा इन्द्रः पुरस्ताव उत मध्यतः सखिम्यः घरिवः कृणोतु (१७)— हमारा मित्र इन्द्र आगेसे और मध्यसे हमारे मित्रोंके लिये ग्रेष्ठ संरक्षण देवे, अपना घन देवे ।

घने हिते येन आविध (३९)— युद्ध शुरू होनेपर अपनी शक्तिसे तू हमारा संरक्षण करता है । यही 'घन' नाम युद्धका है, क्योंकि युद्धमें विजय प्राप्त होनेपर शत्रुका धन अपने अधीन होता है ।

सहस्रिणीभिः ऊतिभिः वाजेभिः नः हवं उपागमत् (१६२)— हजारों संरक्षक योजनाओं और सामर्थ्योंसे हमारे पास वह इन्द्र आता है और हमारा संरक्षण करता है ।

हे इन्द्र ! वानृधानस्य विश्वा घनानि जिग्युषः ते ऊति आवृणीमहे (१७२)— हे इन्द्र ! तुम जैसे बड़नेवाले और घनोंकी भीतनेवाले धीरके संरक्षणको हम चाहते हैं । तेरा शक्तिसे हमारा संरक्षण होता रहे ।

नः अवृकेभिः वरुचैः त्रायस्व (२४९)— हमारा संरक्षण सरल साधनोंसे कर । उनमें कष्ट प्रयोग करनेका आवश्यकता न रहे ।

तन्वा ऊती वावृधस्व (२५३)— अपने शरीरसे अपनी संरक्षक शक्तिका बडाओ ।

स वाजेपु नः प्राधिपत् (३३८)— वह इन्द्र युद्धमें हमारा संरक्षण करता है ।

नः अयिता भव— (३२२)— तू हमारा संरक्षक दो ।
सुरुपकृत्तुं ऊतये जुह्मसि (३४४)— उत्तम सुंदर रूप बनानेवाले इन्द्रको हम अपनी सुरक्षाके लिये बुलाते हैं ।

मावते दानुष ते धिभूतयः ऊतयः (३४२)— भरे जैसे दाताके लिये तेरा विभूतिश संरक्षक होती है ।

अस्माकं तनूनां अविता भूत (१९१)— त हमारे शरीरोंका संरक्षक है ।

चर्चणिप्राः विशाः प्रचर (४८३)— प्रजाका संरक्षक तू है इस लिये प्रजामें उनके रक्षणार्थ संचार कर ।

मखीयतः आविथ (४९६)— मित्रोंके साथ रहने-वालोंका संरक्षण कर ।

पूतनासु प्रतन्तये कारं चकार (१९६)— शत्रुके सैन्यको अंतर्नेके लिये तुमने पुरुषार्थ किया ।

वित्राभिः ऊतिभिः अस्नात् अथ (५२१)— वित-क्षण संरक्षक साथनोंसे हमारा संरक्षण कर ।

चित्रः ऊती सदायुष सखा कया नः आभुवत् (७२९)— वितक्षण संरक्षक सदा महान् मित्र इन्द्र विस महान् सामर्थ्यसे युक्त है जिससे वह हमारा संरक्षण करता है ।

यः ऊती अजरं प्रहेतारं अप्रनिहतं आश्रं जेतारं ह्यतारं रयीतम् अतूतं नुग्न्वावृधं (६६६)— आरके मरुक्षणके शिष्य जराहीन, विजयी, अपराजित, शीघ्र विजय प्राप्त करनेवाले, प्रेरणा देनेवाले, बडे रथी इन्द्रको प्राप्त करो । वह आपका उत्तम संरक्षण करेगा ।

इस प्रकार इन्द्र संरक्षणका कार्य करता है । इसके हम संरक्षक मंत्री भी कह सकते हैं । इनके मुख्य कार्योंमें जनताका मरुक्षण आन्तरिक उपद्रवियोंसे तथा बाध शत्रुओंमें करनेका कार्य अन्तर्भूत हुआ है और यह कार्य वेदमन्त्र स्पष्ट रीतिसे बता रहे हैं । इस कारण यह संरक्षक मंत्री ही है ।

युद्ध करनेवाला इन्द्र

इन्द्र युद्धका देवता है । युद्धमें शत्रुको परास्त करना यह इसका मुख्य कार्य है । देखिये इसके वर्णन—

पुरो योधः (१०४)— आगे रहकर युद्ध करनेवाला, अप्रभागमें रहकर युद्ध करनेवाला ।

भर कृन्तुः (२७९)— युद्धमें कर्तुरव दशानेवाला ।

पृन्सु सासहिः (३७८)— युद्धमें साहस करनेवाला विजयी वर ।

परि-जमा (४४६)— युद्धमें चारों ओर घूमकर युद्ध करनेवाला ।

समन्सु वृष्टता (६१४)— युद्धमें घेरनेवाले शत्रुओंका इन्द्रः शुभं दधे

करता है । ९ (२००)— जो संग्रामोंसे शत्रुको

हे इन्द्र ! वाजेसु सासहिः मय (११०)— हेन्द्र ! तू युद्धमें शत्रुको भीतनेवाला हो ।

त्वां वाजे हयामहे (६५)— तुझे हम युद्धमें समर्थ बुलाते हैं ।

युधा युधं घृण्युया उप एषि (१२५)— युद्धोंमें तैयारीसे युद्धके प्रति तू अपनी धकक शक्तिके साथ बाटा है ।

वाजेसु दापुयं विभ्र (१५०)— युद्धोंमें शत्रुघ्न पराभव करनेवाला तू है ऐसा हम जानते हैं ।

संयती क्रन्दसी यं विद्ययेने (२०५)— युद्धमें युद्ध करनेवाला सैन्य जिसको अपनी सहायताके लिये बुलाता है ।

घृन्सेषु पूतनास्ये पृन्सु तृषु धवःसु अमिमातिषु साक्ष्य (१११)— धनप्राप्तिके कार्योंमें, युद्धोंमें, शत्रुघ्न पराभव करनेके समर्थोंमें, दश प्रात करनेके कार्योंमें, शत्रुघ्न सामना करनेके समर्थोंमें तू हमारा साथी हो ।

युध्यमाना अघसे यं ह्यन्ते (२०६)— युद्ध करने-वाले वीर अपने सुरक्षाके लिये जिन इन्द्रको बुलाते हैं ।

स्वराट् इन्द्रः स्वरिः अमत्रः रणाय आववसे (२२४)— स्वराज्य चरानेवाला इन्द्र अपने घर्मे शक्तिमान् और सामर्थ्यवान् होकर युद्धके लिये तैयार है ।

युधे इष्णानः आपृष्णानि क्रुधायमान शत्रून् नि रिणाति (२२८)— युद्धको इच्छा करनेवाला जब यज्ञ-क्रांति शत्रुपर प्रेरित करता है तब शत्रुओंको नीचे गिराता है ।

अस्मिन् वाजे नः ऊतये ऊर्ध्वः तिष्ठ (२८२)— इस युद्धमें हमारे संरक्षणके लिये खडा रह ।

ममन्सु ज्योतिः कर्ता (२८३)— युद्धोंमें तेजस्विता प्रकट करनेवाला इन्द्र है ।

यथा अमित्रान् सासहानः (२८३)— युद्धसे शत्रु-ओंको पराजित करनेवाला इन्द्र है ।

तं महत्सु आजिषु उत अमं हयामहे (३३८)— उस इन्द्रको हम जैसे बडे युद्धोंमें सहायार्थ बुलाते हैं वैसे छोटे संघर्षोंमें भी बुलाते हैं ।

कं इनः, कं वसौ दधः (३४०)— जिसको माता और जिसको घनमें रखा ! इन्द्रने क्या क्या किया !

धृषाणां घनः अमयः (४२५)— इन्द्र वृत्रोंको मारने-वाला हुआ है ।

वाजेसु वाजिनं प्रायः (४२५)— युद्धोंमें अंदाकी रक्षा कर ।

समन्सु यस्य संस्ये हरी न वृण्वते (४३१)— युद्धोंमें जिसके जते हुए पीठोंको कोई रोक नहीं सकता वह इन्द्र है ।

उग्रामिः ऊतिमिः सहस्रप्रघनेषु नः अथ (४५१)-
उग्र वीरताके संरक्षणके साधनोंसे सहस्रों प्रकारके घन जिसमें
मिलते हैं ऐसे युद्धों हमारी रक्षा कर । 'सहस्र-प्र-घन'
यह युद्धका नाम है । शत्रुका पराभव करनेसे शत्रुके सहस्रों
प्रकारके घन विषयों वीरको प्राप्त होते हैं ।

इन्द्रं वयं महा घने इन्द्रं अमै हवामहे (४५२)-
इन्द्रको हम जैसे बड़े युद्धोंमें सहायार्थ बुलाते हैं, वैसे छोटे
युद्धोंमें भी बुलाते हैं ।

अस्मिन् यामनि नः शिक्ष (५१६)- इस बढाईमें
हमें योग्य आदेश दे (कि हम अपनी तैयारी कैसी करें ?)

अज्ञाता वृजना दुराध्यः अशिवासः नः मा अच-
क्रमुः (५१७)- अज्ञात, कपटी, दुष्ट, अशुभ शत्रु हमपर
आक्रमण न करें ।

युधा देवेभ्यः वरिवः चक्रयं (५३९)- युद्धसे देवोंके
लिये घन प्राप्त किया है ।

नृभिः युतः अभियुध्याः तं आजि त्वया सौश्र-
वसे जयेम (५३७)- वारोंसे घिरा हुआ तू युद्ध करता
है, उस युद्धको हम तेरे साथ रहकर यशस्वी रीतिसे जीतेगे ।

अदेवीः मायाः असहिष्ठ (५३८)- अदुर्गके कण्ट
जालोंको पराभूत किया ।

जना ममसत्येषु संतस्थानाः समीके रवां विद्धयन्ते
(५५०)- वीर लोग युद्धमें खड़े रहनेपर युद्धकी सहायतार्थ
युद्धमें बुलाते हैं ।

सुतुकान् स्वपून् शत्रून् नि युवति, वृत्रं हन्ति
(५५१)- उत्तम संतानोंवाले, उत्तम शस्त्रालयवाले शत्रुओंको
वह इन्द्र दूर करता है और वृत्रको मारता है ।

अस्य शत्रुः आरात् चित् भयतां (५५२)- इस
इन्द्रके शत्रु दूरसे भी चपसे बरते रहते हैं ।

अस्मै जन्या युम्ना नि नमन्तां (५५२)- इसके
सामने सब मानवी तेजस्वी वीर विनम्र होकर रहते हैं ।

शत्रुं आरात् दूरं यः उग्रः शम्भः तेन अपवाधस्य
(५८३)- शत्रुको पाससे और दूरसे भी, जो उग्र वज्र है
उससे बाधा पहुँचाओ ।

शत्रुः इन्द्रः विश्वा द्विपः अति ओहते (५८३)-
सामर्थ्यवान् इन्द्र सब शत्रुओंको दूर करता है ।

अमीके संगे लोककृत् (६१४)- समीपके युद्धमें
वीरोंके लिये योग्य स्थान देनेवाला इन्द्र है ।

अहिं अघराचः अहन् (६१५)- अहि नामक शत्रुको
मारकर नीचे गिराया ।

समीके इन्द्रं हवामहे (७१६)- युद्धमें सहायार्थ
हम इन्द्रको बुलाते हैं ।

इन्द्रके युद्धविषयक सामर्थ्यका यह वर्णन है । इससे पता
चल सकता है कि इन्द्रकी युद्धमें प्रवीणता कितनी है । इसलिये
हम इन्द्रको युद्धमेंभी कहते हैं । पाठक भी इन वर्णनोंमें युद्ध-
मंत्रोंके गुण देख सकते हैं ।

शत्रुका पराभव करनेवाला इन्द्र

शत्रुका पराभव हमेशा इन्द्र करता है । इस विषयमें इन्द्रके
वर्णन देखने योग्य हैं, उनमेंसे कुछ देखिये—

शत्रून् जहि (३४)- शत्रुआको पराभूत कर,

दस्यून् हस्वो (५१)- दस्युओंका हनन करनेवाला,

उग्रः (५३)- इन्द्र अत्यंत उग्र वीर है ।

शत्रून् जेता (११८)- शत्रुओंको जीतनेवाला,

दस्योः हन्ता (४०१)- दस्युओंका बध करनेवाला,

शत्रून् विद्धयमान इन्द्रः (४३)- शत्रुओंको मारने-
वाला इन्द्र है ।

अकैः दासं अतिरत्- (४३) अपने तेजसे इन्द्र
अपने शत्रुको मार डालता है ।

वल विमेद (५२)- वल नामक शत्रुको इन्द्रने मारा ।

विवाचः सुतुदे (५२)- विश्व भाषण करनेवालोंको
दूर किया ।

अभिकृतानां दमिता अमचत् (५३)- यज्ञविरोधि-
योंको दबानेवाला इन्द्र है ।

भरे वाजसातौ नृतमः (५३)- युद्धमें तथा अन्नदान
करनेके समय इन्द्र सब नेताओंमें अतिश्रेष्ठ है ।

ऋष्वान् (५३)- सबका बहान सुनता है ।

समस्तु ऊतये (५३)- युद्धोंमें रक्षण करनेके लिये
इन्द्र सहायक होता है ।

चर्षणी-सहः (६८)- शत्रुसेनाका पराभव इन्द्र
करता है ।

यः दस्योः हन्ता (२०७)- दस्युओंका बध करनेवाला
इन्द्र है ।

यः पर्वतेषु क्षियन्ते शंबरं, यः आजायमानं अहिं,
शयानं दानुं जघान (२०८)- जिस इन्द्रने पर्वतपर
रहनेवाले शंबरको, बलवान् अहिंको और विभ्राम करनेवाले
दानुको मारा ।

यः कसौमि शरर पर्यतरत् (१०९)- त्रिंशते शत्रुसे शरको माता ।

यां आरोहन्त रौहिण्य मस्फुरत् (११०)- अक्षयमे ऊपर चरनेवाले रौहिण्यो इन्द्र न कृता ।

वाधे सुपूर्तिक प्र भरामि (१११)- शत्रुको बापा पहुंच जानेके लिये यह लगन स्तेज में बालगा हू ।

वरे कन्या वारिष्ठ आमुंरि उग्र आजिष्ठ तजसे तर-
लिनं (११२)- छेप कन करनेके समय वारिष्ठ, शत्रुको मारन वाला, उग्र, बलवान्, मानधरवार, माहमा इन्द्रको हम पुत्रति है ।

धृतमत आजसा ज्ञानभि सपथे (११३)-
निदोषक बनुरार चरनेवाला इन्द्र अपन बन्धु तथा शत्रुको साथमेंसे लगन राहसे आगे बढ़ना है ।

अनिभूतिः (११४)- शत्रुका परामत्र करनेवाला इन्द्र है ।

त्वोतास वय घना यत्र माददीमिद्वि युधि
स्पृघ सजयेम (११५)- हे इन्द्र ! तेरे द्वारा संरक्षित हुए हम मारक वज्र हाथमें धरते हू और उल्लस युद्धमें स्वर्धा करनाने पर शत्रुओंको लगन रातिस जानते हैं ।

त्रय अस्तमि-श्रीरामि त्रया युजा पृतन्यत सास
धाम (११६)- हम कल वरनेवाले शत्रुके साथ तथा तेरे नाप गृहर के-यमें हमत्र करनाने पर शत्रुको पराजित करेंगे ।

स्वोजा इन्द्र पृतना व्यानत् (११७)- अपनी निज शक्तिसे समर्थ हुआ इन्द्र शत्रुसेनाको जीता है ।

पृतनास्तु ग्य आनिष्ठ (११८)- ज्योंमे शपथ पर्यंत और युद्ध कर ।

विभ्वा भुयना अभिभूय (११९)- मर्त्य शत्रुसेनाका पर भव कर ।

श्रुती-पाह (१२०)- शत्रुको जीतनवाला इन्द्र है ।

अभिष्ठिमि-उशिग्मि पृतना जिगाय (१२१)-
इष्ट साथी वारिके साथ रहकर शत्रुसेनाको इन्द्रने जीत लिया ।

इन्द्र-तुज बर्हणा भाविवेश (१२२)- इन्द्र-स्वरसे शत्रुसेनामें पुसता है ।

सत्रासाहा (१२३)- इन्द्र मारक साथ रहकर शत्रुको पराभूत करता है ।

चरेण्य (१२४)- यह छेप विजयी है ।

सहो-दा (१२५)- वह साहस षड नेवाला है ।

य पृथिवी उत यां सखान (१२६)- जिध इन्द्रने प्रीति और शत्रुको जीता । अर्थात् पृथिवीपरके शत्रुओंको

पराभूत किया और आकाशमें अनिवासे शत्रुओंकी जीत लिया ।

त्वया युजा प्रति युवे (१२७)- तेरे साथ रहनेके इन्द्रके साथ रहनेमें मैं शत्रुको योग्य कर दे हू ।

विभ्वा द्विपः अपामिन्धि (१२८)- हर शत्रुका नाश कर, उनमें फूट बाल, उनका मतेक्य न हो देना कर ।

मायामि उलिसस्पत् दस्युन् अवधृनुयाः (१२९)-
कपटोंके व्यवहार करनेवाले शत्रुओंको इन्द्रने नाश किया ।

याध मृघः परिजहि (१३०)- बाधा करनेवाले शत्रुओंको पराभूत कर ।

धृष्णी ! धृष्ण (१३१)- हे शत्रुका धर्म-नकरनेके इन्द्र ! तू शत्रुका परना करनेवाला है ।

मूरि परा ददि (१३२)- तू बहुत शत्रुओंको हू करता है ।

धृषत् (१३३)- शत्रुका धर्म करनेवाला इन्द्र है ।

तुधि-प्राम (१३४)- इन्द्र बहुत शत्रुओंको पर कर रक्ता है ।

ने रियः न दमन्ति (१३५)- छत्र इन्द्रको शत्रु नहीं दबा सकते ।

मिधृदद्या नि स्वापय, अवुष्यमाने सस्तां (१३६)-
मिध, कारणके बिना जो बरभय करते हैं उनको मुक्तो । वे न जानते हुए सोते ही रहें । शत्रुओंको निद्राके बंध करना यह एक युद्धना न हो है ।

अया देवदिन राज सनेम (१३७)- रखते देवोंका महत व नकारा बल प्राप्त करेंगे ।

द्विपः अवयजति (१३८)- इन्द्र शत्रुओंको हू करता है ।

अयत्त वाजी सहस्रम सिपासति (१३९)- शत्रुसे पैदा न जानेवाला इन्द्र हजारों घोड़ोंको प्राप्त करता है ।

कुण्डपात्त्या दूर पताति (१४०)- कुटिल शत्रु दूर भाग जाते हैं ।

सर्वे परिकोशं जहि (१४१)- सब आक्रोश करनेवाले हुए शत्रुओंको पराजित कर ।

कुकदाश्व जमय (१४२)- छिपकर हमला करनेवाले शत्रुको पीस डाल ।

उग्र चर्यणीसह त्वां ह्रमहे (१४३)- शत्रुको तथा शत्रुका सेनाको जीतनेवाला तुम इन्द्रको हम सहयोगी बुलाते हैं ।

ममिभ्रान् सुसहान् वृधि (१४४)- शत्रुओंको सुवय

कर । अर्थात् ऐसा कर कि शत्रुके हमले बड़े कष्टदायी न हों ।
वनको हम सहजदोषे दूर कर सकें ऐसा बल हममें बढाओ ।

अवकक्षी अजुरः (५३०)— शत्रुको दूर करनेवाला
इन्द्र बरारहित है, वह तरुण ही है ।

संवन्नन-उभयंकरः उभयायी (५३०)— धेड़ोंकी
सहायता करनेवाला इन्द्र दोनों पक्षोंको मिलाता है । दो पक्ष
मिलनेसे शक्ति बढती है ।

विश्वासां पृतनानां तरुता (५८८)— सब शत्रुकी
सेनाको इन्द्र जीत लेता है ।

वृत्रहा ज्येष्ठः गृणे (५८८)— वृत्रको मारनेवाला इन्द्र
सबसुख श्रेष्ठ है ऐसी उषकी स्तुति होती है ।

महाद्विपः अथ जहि (५९४)— ज्ञानका द्वेष करने-
वाले सब शत्रुओंको पराजित कर ।

अराघसः पणीन् पदा नि वाघस (५९५)— दान
न देनेवाले पणियोंको पाँवसे बाधा पहुँचाओ ।

शत्रवे वधं अस्ता असि (६१६)— शत्रुपर तू वध-
कारक शस्त्र फेंकता है ।

यः नः जिघांसति (६१६)— जो हमारा वध करता
है वह हमारा शत्रु है ।

अनानुदिष्टः महाद्विपः हन्ति (६२०)— किसीके न
रहनेपर भी इन्द्र ज्ञानके द्वेष करनेवालोंको मारता है

त्वं तरुष्यतः तूर्य (६६४)— तू सब शत्रुओंको जीत ।
ते मन्यवे विश्वा स्पृघः शययन्त (६६५)— तेरे
क्रोधके सामने सब शत्रु ढीले पड़ते हैं ।

अस्य मन्यवे विश्वा विशाः कृपयः सं नमन्ते
(६७२)— इस इन्द्रके क्रोधके सामने शत्रुके सब सैनिक या
सब प्रजाजन नम्र होते हैं ।

प्राचः अपाचः उदीचः अधराचः अमित्रान् अप-
नुदस्व (७३५)— पूर्व पश्चिम, उत्तर दक्षिण दिशासे सब
शत्रुओंको दूर हटाओ ।

सर्वे इन्द्रस्य शत्रवो हताः (९१२)— इन्द्रके सब
शत्रु मारे गये ।

सप्तम्यः शत्रुम्यः शत्रुः अम्यः (९२१)— छालों
प्रकारके शत्रुओंका तू शत्रु है । पदाती, अधारोही, इस्वारोही,
रथी, बलचर, अन्तरिक्षचर, पहाड़ी ऐसे सात प्रकारके शत्रु
होते हैं । इन सब शत्रुओंका पराभव इन्द्र करता है, इस कारण
इन्द्र सदा विजयी है ।

त्वं गुणस्य वधत्रैः अवातिरः (९२२)— तूने
गुणको शत्रुके मारा है ।

इन्द्र ! अशत्रुः जम्बिपे (६१५)— हे इन्द्र ! तू शत्रु-
रहित उत्पन्न हुआ है ।

अभ्रातृव्यः, अ-नाः, अन्-आपिः (७०४)— तेरे
लिये कोई शत्रु नहीं, कोई दुश्मन नेता नहीं, कोई मित्र नहीं ।
तू ही अपना भाई नेता और मित्र है । तू ही सर्वत्र स्वतंत्र
वीर है ।

युधा इत् आपित्वं इच्छसे (७०४)— युद्धसे ही तू
मित्रता करनेको इच्छा करता है । युद्ध करके शत्रुको दूर करता
है, जो बचते हैं वे तुम्हारे मित्र होकर रह सकते हैं ।

इस तरह इन्द्र शत्रुओंके साथ युद्ध करता है, शत्रुओंको दूर
करता है, प्रजाका संरक्षण करता है । युद्ध करना और मानकोंका
संरक्षण करना ये इसके मुख्य कार्य हैं । इस कारण हम इस
इन्द्रको युद्धमें शत्रु अथवा संरक्षण मंत्रों कह सकते हैं ।

इन्द्रने अनेक राजसोंको मारा है । उनमेंसे कई आजके
देशोंके संबंध रखनेवाले हैं ऐसा दीक्षता है । 'असुर' ये
असीरियन दीखते हैं, 'रक्षस्' या 'राक्षस' ये रशियन प्रतीत
होते हैं, 'अहि' ये अफगाणिस्थान-अहिगणस्थानके होंगे,
'घलु' ये बलुची होंगे, 'कुत्र' ये रुसमें उरतुं प्रांत है
वहाके होंगे । इस तरह ये इन्द्रके शत्रु थे । ये उपद्रवां थे ।
इनके नगर किले थे । उनको इन्द्रने तोबा और अपने अनुया-
यियोंके रहनेके लिये नगर दिये ।

यदातक जो वेदबचन दिये हैं उनपर हमने टीका टिप्पणी
बिलकुल की नहीं । वे बचन इतने स्पष्ट हैं कि उनके पढ़नेसे
इन्द्र युद्ध करनेवाला, शत्रुका पराजय करनेवाला, अपना प्रजाका
रक्षण करनेवाला है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है ।

आखेंडलः (१९)— शत्रुके टुकड़े करनेवाला इन्द्र है ।
पृतनापाद् (१०५)— शत्रुसेनाका पराभव करनेवाला ।

यनेपु उशद्यग्व्यंसं अहन् (४५)— वनोंको जलाने-
वालेने सन बड़ी छातीवाले शत्रुको मारा ।

नम्या सख्या परावति मायिचं नमुचि नि वर्यः
(१२५)— शत्रुको नमानेवाले मित्रोंके साथ रहकर दूर रहने-
वाले कपटी नमुचिको इन्द्रने मारा ।

अतिथिगवस्य वर्तनी करञ्जं उत पर्णयंत्वं तेजिष्ठ-
या वधीः (१२६)— अतिथिगवके मार्गमें आकर विरोध
करनेवाले करंज और पर्णयको तूने तेज शस्त्रसे मारा ।

शत्रुतुर्याप सृहतां नमृष्टां संयतं स्वस्ति नः
आ भर (२८१)— शत्रुको मारनेके लिये बड़ी संयममें रहने-
वाली, कल्याण करनेवाली घनसंगति हमें मार दो ।

इस प्रकार इन्द्रके शौर्यके वर्णन देखने योग्य हैं । अब इसके शत्रुके विषयमें बोझावा देखिये—

वृत्र वध

वृत्र-हा (१६)— वृत्रको मारनेवाला इन्द्र है ।
 वृत्राणि जिघ्रते (१५)— वृत्रोंको इन्द्र मारता है ।
 वृत्राणि जहि (१६)— वृत्रोंको जात ।
 वृत्राणि मन् (५३)— वृत्रोंको मारनेवाला इन्द्र है ।
 वृत्रहा अहिं अवधोत् (३१)— वृत्रवध करनेवाले इन्द्रने अहिंको मारा ।

इन्द्रः वृत्राणि अप्रति जघन्वान् (५६)— इन्द्रने वृत्रोंको अप्रतर्क्य रीतिसे मार दिया ।

वार्शहन्व (१०५)— वृत्रवध करनेका कार्य ।
 दशसहस्राणि वृत्राणि अप्रति नि यर्ह्य (१२४)— दस हजार वृत्रोंको अप्रतिम रीतिसे इन्द्रने मारा ।

बल सर्वाञ्च तुनुदे (१०४)— बल अमुरको नीचे गिराया ।

नुमुचे शिर अपा फेनेन उदवर्तय (१०८)— नमुचि राघुसका शिर जलोंके फेनसे उठा दिया ।

विभ्वा सृघ अजय (१०८)— सब शत्रुओंको जीत ।
 आयसः हरिशिमः अहिं तुदत् (१८५)— धौलादके वज्रसे सुनहरी साँकेको बाँधनेवाले इन्द्रन अहि नामक शत्रुको मारा ।

अहिं हरत्वा सप्त सिंघून् अरिणात् (२००)— अहिंको भारकर षात नदियोंको बहाया ।

कियेधा ईशान येन तुजता तुञ्जन् वृत्रस्य मर्म विदत् (२२१)— अनेक भूमियोंमें रहनेवाले इस इन्द्रने वज्र फेंकनेके समय वृत्रका मर्मस्थान कहाँ है यह जाना । शत्रुके मर्म स्थानको जानकर उन्ही स्थानपर आघात करना योग्य है ।

आग्निं अस्ता वराह तित्रो विध्यत् (२२२)— वज्रको शत्रुपर फेंकनेवाले इन्द्रने वराहको बीचमें बाँधा ।

अस्य शशसा वज्रेण शुपन्तं वृत्र इन्द्रः विवृञ्चत् (२२५)— अपने बलसे वज्रसे करते हुए वृत्रके इन्द्रने टुकड़े कर डाले ।

देवधीतौ त्वं नृभि मूर्तीणि वृत्राणि हंसि (२४६)— युद्धमें तू वीरोंके साथ रहकर बहुत वृत्रोंको मारता है ।

वृत्रहत्ये शिवाः मूः (२५२)— वृत्रका वध करनेके समय तू सबका कल्याण करनेवाला हो ।

दस्युदा अमचः (२०२)— दस्युओंको मारनेवाला तू हुआ है ।

दाशुपे वृत्राणि हन्ति (३२३)— दाताके हितके लिये शत्रुओंका तू मारता है ।

एक वृत्राणि जिघ्रसे (३०५)— तू अकेला ही वृत्रोंको मारता है ।

वृत्रहा जनुपः परि (६४३)— बन्धसे ही इन्द्र वृत्रोंको मारता है ।

अपः पविर्वास वृत्र परा हन् (५११)— जल-प्रवाहका रोकनेवाला वृत्रका इन्द्रने मारा ।

अप्रतिध्रुत इन्द्रः दधीचो अस्थिमि नयतीः नय वृत्राणि जघान (२६०)— अप्रतिध्रुत इन्द्रने दधि पीकी अस्थियोंसे बनाये वज्रसे निम्नानवे वृत्रोंको मारा ।

दोधतः वृत्रस्य शिर वृष्णिना शतपर्वणा वज्रेण वि विभेद् (६०४)— काँपनेवाले वृत्रका शिर बलवान् षेकड़ों घातावले वज्रसे तोड़ दिया ।

इन्द्रके शास्त्रास्त्र

इन्द्रके शस्त्रास्त्रोंमें वज्र मुख्य है । यह धौलादका बना है, अनेक तीक्ष्ण धाराएँ इसके हीर्ताई और त्वष्टासे यह बनाया होता है । वज्रके आघातसे इन्द्रके सब शत्रु मर जाते हैं और इन्द्र विजयी होता है ऐसा यह वज्र है । यह हाथमें पकटा जाता है और शत्रुपर फेंका जाता है । इस वज्रके विषयमें कुछ वर्णन अब देखिये—

इन्द्रस्य हिरण्ययः हर्यत वज्रः (७०)— इन्द्रका धोनेका तेजसी वज्र है । यह वास्तवमें धौलादका होता है पर उसपर सुनहरी नकशा होती है ।

त्य महान् उच पर्यत पर्यशः शकटिय (७४)— तूने— इन्द्रने महान् पर्यतके वज्रसे टुकड़े किये ।

वज्रः हरित रथा न विव्यञ्चत् (१८५)— वह सुवर्णका वज्र वेगसे शत्रुका वेध करता है ।

हरिं मरः सहस्रशोकाः समघत् (१८५) सुवर्णसे मरा वह वज्र सहस्रों दीर्घियोंवाला हो गया है ।

यज्रहस्तः (२११)— इन्द्र हाथमें वज्र लेता है ।

स अस्य वज्रः हरितः, य आयसः, हरिः निकामः, हरिः आ गमस्त्योः, धुस्त्रो सुशिमः हरिमन्युसायकः, इन्द्रे हरिता रूपा निमिमिक्षिरे (१८४)— वह इस इन्द्रका वज्र नीले धौलादका है, यह प्राण हरण करनेवाला वज्र इस इन्द्रको प्रिय है, वह इन्द्र शत्रुके प्राण हरण करनेवाले

वज्रको हाथोंमें पकड़ता है, वह तेजस्वी उत्तम शस्त्र बांधनेवाला इन्द्र शत्रुके प्राण हारण करनेवाले क्रोधसे फेंके जानेवाले बाणको धारण करता है, उस इन्द्रमें सारे सुन्दर रूपा मिले हैं ।

इस वचनमें कहा है कि यह इन्द्रका वज्र फोलादका है अतः नीला है, उसपर सुनहरी नकशी है । इन्द्र इसको दोनों हाथोंसे किसी समय बायें हाथसे और किसी समय बाँधे हाथसे पकड़ता है, वह इन्द्र शत्रुपर मारनेके लिये (सायकः) बाण भी बतता है ।

अस्मै रणाय त्वष्टा स्वयं स्वपस्तमं वज्रं तक्षन् (२२१)— इस इन्द्रके लिये युद्ध करनेके हेतुसे दिव्य तथा उत्तम कार्य करनेवाला वज्र त्वष्टाने निर्माण करके दिया । त्वष्टा यह कारीगर है जो वज्र, बाण, रथ आदि बनाता है ।

अपां चरध्वे तिरश्चा वज्रं प्र भर (२२७)— जल-प्रवाहोंके प्रवाहित होनेके लिये वृत्रपर वज्रको तिरच्छा मार ।

दक्षिणे हस्ते वज्रं धीष्व (२४०)— दाहिने हाथमें वज्रको धारण कर ।

दर्शतः वज्रः हस्ताय प्रति घायि (५८९)— दर्शनीय वज्र हाथमें लिया है ।

भोजसा वज्रं शिशान (६००)— तू अपने बलसे वज्रको तीक्ष्ण बना ।

सजोपसं अर्कं याहोः विमर्षिं (६००)— तू अपने शक्तिमान् तेजस्वी वज्रको बाहुओंसे धारण करता है ।

गभस्तौ वज्रः मिम्यक्ष (६०३)— हाथोंमें वज्र चमकता है ।

वित्र वज्रहस्त अद्रितः (६४५)— आश्चर्यकारक वज्र हाथमें धारण करनेवाला, पहाड़ी किलेमें रहनेवाला इन्द्र ।

अस्ता (३०)— शत्रुपर शस्त्र फेंकनेमें कुशल इन्द्र है ।

ते अंकुशः दीर्घः अस्तु (१७)— तेरा अंकुश लंबा हो ।

इन्द्रस्य मही दुष्टरा समिपः शतानीका हेतयः (३२५)— इस इन्द्रकी बड़ी दुष्टर उत्तम इच्छाएँ हैं और पैरोंमें नोकवाले उसके पास शत्रु हैं ।

इस तरह इन्द्रके शत्रोंका वर्णन है । साँसेकी गोली भी वह मारता था ऐसा अमले मंत्रोंसे प्रतीत होता है—

साँसे म इन्द्रः प्रायच्छत् तदंग यातुचातनम् ।
अप. १।१६।२

‘ इन्द्रने मुझे सीधे (साँसेकी गोली) सी है, हे प्रिय । वह सीधा यातना देनेवाले दुष्ट शत्रुओंको दूर करनेवाला है ।

इदं विष्कंधं सहते, इदं याधते अप्रिणः ।

अनेन विश्वासहे या जातानि पिशाच्याः ॥
अप. १।१६।३

यह सीधा शत्रुको पराभूत करता है, साक शत्रुओंको यह दूर करता है । जो (पिशाच्याः) रक्त पीनेवालोंका जातिवाँ है वे सब जातियाँ इस सीधेसे पराभूत होती हैं ।

यदि नो गां हंसि यद्यद्वं यदि पुरुषम् ।
तं त्वा सोसेन विध्यामो या नो असो अवीरहा ॥
अप. १।१६।४

‘ यदि तू हमारी गौको मारेगा, यदि घेंडेको मारेगा, यदि मनुष्यको मारेगा, तो उष तुझको मैं सीधेसे बाँधूंगा जिससे हमारेमें कोई वीरोंको मारनेवाला नहीं रहेगा ।

यहां ‘ साँसेन विध्यामः ’ सीधेसे बाँधते हैं, ऐसा कहा है, यह साँसेकी गोलीसे बाँधना ही होगा, पर बंदूकका नाम वेदमें नहीं मिला । तो यह सीधेसे बाँधना किध तरह होता है इसकी खोज पाठक करे । परन्तु यहाँ ‘ विध्यामः ’ बाँधनेका अर्थ स्पष्ट है । वज्र भी दूरसे फेंका जाता था, बाण भी दूरसे फेंके जाते थे, सीधेसे बाँधना भी दूरसे ही होता था ।

सैन्य बल

इन्द्रके पास मर्कोंका सैन्य उदा तैयार रहता था ।

एपां अनोर्कं शधसा प्र दविद्युतत् (९०)— इनका सैन्य बलसे चमकता रहता है ।

वाजिनीवसुः (१४९)— सैन्यके साथ रहनेवाला इन्द्र है । इन्द्रने साथ वीरोंकी सेना तैयार रहती है ।

शतानीकाः (३२३)— सैकड़ों सैनिक इन्द्रके साथ रहते हैं ।

हे वीर ! सैन्यः असि (३३९)— हे वीर इन्द्र ! तू सेनाके साथ रहता है, तू सेनाके साथ कार्य करता है, सेनाका संचालन तू करता है ।

इन्द्र वीर है

इन्द्र वीर है, इसीलिये वह युद्ध करता है और विजय प्राप्त करता है । अतः कहा है—

नूतमः (२३४)— नेताओंमें श्रेष्ठ वीर इन्द्र है ।

सदायूधः वीरः (४०२) सदा बढनेवाला वीर इन्द्र है ।

शूरः उत स्थिरः पच (३९८)— इन्द्र शूर है और युद्धमें अपने स्थानमें स्थिर रहता है, भाग नहीं जाता अथवा चंचल भी नहीं होता ।

पुरुवीरः (२३४)— इन्द्र बहुत वीरोंके साथ रहनेवाला बड़ा वीर नेता है ।

उग्रः (६६)— यह उग्रवीर है ।

वीरयुः असि (३६८)— वीरोंको योग्य स्थानमें योजनापूर्वक रखनेवाला इन्द्र है ।

मानुषाणां क्षितीना उत देवानां विद्या पूर्वयाया
असि (४४) — मानवी प्रजाओंमें तथा देवी प्रजाओंमें वह
इन्द्र पहिले अनुग्रह हमला करनेके लिये जानेवाला है ।

प्रताय एष्ये इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा धियः
मर्जयन्तः (२१७) — आचान कालम स्वाभित्य इनेकले
इन्द्रको हृदयमें, मनमें तथा बुद्धिमें स्तुति करके अपनी बुद्धि-
शक्ति पवित्र करते हैं ।

नृपतिः (६०३) — मनुष्योंका पालनकर्ता इन्द्र है ।

नृणां नयः नृपतम क्षपावान् (४९७) — नेताओंमें
मुख्य नेता, मानवोंका उत्तम धेरु सचालक पृथिवीका राजा
वह है ।

त्रिदोह रथः शते नृन् अनु धावहृत् (४९८) —
तीन उमानिओंवाला रथ इन्द्रका रथ सेहको नेताओंको साथ ले
आता है ।

स्वपतिः इन्द्र (६०२) — अपना स्वामी इन्द्र है ।

त्य ईशिषे (६०६) — तू स्वपर स्वाभिन करता है ।

इन्द्रः विश्वा मृतानि येषामरे (७१७) — इन्द्र सब
मृतोंको स्थापन रखता है ।

जगतः तस्युपः स्वर्दश ईशानं अभिनोनुम
(७२२) — जगत् तथा स्थावर विधुके तेजस्वी स्वामी इन्द्रको
हम नमन करते हैं ।

त्वानान् अन्य न, न दिव्यः, न पार्थिवः, न जात,
न जानिष्यते (७२३) — तेरे अथा दृष्टा कोई, न दिव्य,
न पार्थिव, न हुआ और न होगा । ऐसा तू अद्वितीय है ।

जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे (३७९) — विजय, दश
और सबका निवदन करनेके लिये तू है ।

त्वं अभिभूः असि (३८५) — तू सब अनुग्रहोंका
पराभव करनेवाला है ।

ससवान् (४९८) — तू विजया है ।

अभिभूतिः (७३५) — तू सब अनुग्रहोंका पराभव
करनेवाला है ।

प्रजाका पालक इन्द्र

इन्द्र प्रजाका उत्तम पालन करता है, प्रजाका पालन करनेके
लिये ही वह युद्ध आदि करता है इसलिये उसके वर्णनमें
कहा है—

विदपतिः (२३) — इन्द्र प्रजाका पालनकर्ता है ।

सत्पतिः (३४) — वह उत्तम पालक है ।

राजा (६०) — वह पचा प्रजाका रजन करनेवाला है ।

चर्षणी धृतः (१०८) — वह प्रजाओंका धरत
करनेवाला है ।

चर्षणिमा इन्द्रः मद्रा युधा देवेभ्य पतिवः स्वहार
(४९) — प्रजापालक इन्द्रने बड़े युद्धमें देवोंके लिये श्रेष्ठ दण
दा पत्र प्राप्त करके दिया ।

सर्विभ्यः सरता (१२०) — मित्रोंके लिये वह दण
भित्र है ।

वाजानां पतिः (३७०) — वह बलोंका स्वामी है, वह
धनोंका स्वामी है ।

र्येष्टराजं (२७९) — वह इन्द्र श्रेष्ठ राजा है ।

जनानां अयः (३४३) — तू जनोंका स्वामी है ।

स रवं राजसि (३७९) — वह तू अकेला रहल
करता है ।

यः एक इत् विद्वानः रुधैः अग्न्यस्यति (४०५) —
जो अकेला ही सब प्रजाओंपर अधिकार रखता है ।

वार्याणां ईशान (४२९) — वार्याण्य धनोंका वह
स्वामी है ।

दिव्यस्य जनस्य पार्थिवस्य जगतः राजा भुवः
(२४०) — दिव्य जनोंका और पार्थिव जगत्का इन्द्र राजा
हुआ है ।

चर्षणीनां सभ्राज नृपाहं मंहिष्ठ नरं इन्द्रं गीर्भिः
स्वोत (२७७) — मानवोंके राजा, अनुग्रह वारियोंके बँटने-
वाले बड़े नेता वर इन्द्रकी स्तुति कर ।

विश्वे पृतना अभिमूतरं नरं इन्द्रं सजुः ततश्च
राजसे उजजुः व (३३२) — सब अनुग्रहोंका पालन
करनेवाले नेता इन्द्रको सबने मिलकर निश्चित किये राज्यका
शासन करनेके कार्यमें लगाया ।

पञ्चक्षितीनां चर्षणीनां वसुनां इरज्यति (४५९) —
पाँच मानवोंके धनोंका इन्द्र राजा हुआ है ।

वाजस्य दीर्घधवसः पतिः (४८४) — बलका और
श्रेष्ठ यशका स्वामी इन्द्र है ।

शक्रः विश्वानि नर्याणि विद्वान् (५०९) — धर्म
इन्द्र मानवोंके हितके सब कार्य जानता है ।

शवसा पतिः मयन् (५११) — मानवोंके वह राजा
हुआ है ।

क्षितीनां वृषभः (५३४) — सब मनुष्योंमें वह बलिष्ठ है ।
त्वं जनानां राजा (५९६) — तू जनोंका राजा है ।

विश्वे भुवः आभुवः (६०३) — तू अपना प्रभाव
सब स्थानोंपर बाँटता है ।

विश्वा जातानि ओजसा अभिभूः असि (१०१)-
तू सब शत्रुओंका अपने सामर्थ्यसे पराभव करनेवाला है ।

यहां तथा अन्य अनेक स्थानोंमें 'जनानां राजा ।
क्षितीनां वृषभः । पञ्चक्षितीनां इरज्यति' आदि
वचनोंमें इन्द्रको मानवोंका राजा कहा है । यह संरक्षण भी
मानवोंका ही करता है, यात्रक श्रावत्र उषको अपनी रक्षाके
लिये बुलते हैं, उनके सहाय्यार्थ यह उनके पास जाता है,
उनका रक्षण करता है, उन मानवोंकी पालना करता है । इस
तरह इन्द्र सदा मानवोंका हित करता रहता है ।

स्वस्तिदा विशां पतिः वृत्रहा वि मृधो वशी ।
धृषा इन्द्रः पुर पतु नः सोमपा अभयं-करः ॥ १ ॥
वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गमया तमो यो अस्मां अभिदासति ॥ २ ॥
वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्थुमिन्द्र वृत्रहन् अमित्रस्य अभिदासतः ॥ ३ ॥
अपेन्द्र द्विपतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि महच्छमं यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अथर्व. १।२१

(विशांपतिः स्वस्तिदा) प्रजाओंका पालक राजा कल्याण
करनेवाला हो, (वृत्रहा) शत्रुको मारनेवाला (वि मृधः वशी)
विशेष हिंसकोंकी वशमें करनेवाला, (सोमपा) शोषमान करने
वाला (अभयं-करः) और प्रजाको अभय करनेवाला है ॥ १ ॥
हे इन्द्र ! (नः मृधः वि जहि) हमारे शत्रुओंको मार
वाल, (पृतन्यतः नीचा यच्छ) सेना द्वारा हमपर हमला
करनेवालोंको नीचे रखो । (यः अस्मान् अभिदासति) जो
हमें दास बनानेकी इच्छा करता है उसको (अधमं तमः
गमय) हीन अंधकारमें पहुँचाओ ॥ २ ॥

(रक्षः मृधः वि जहि) राक्षसोंकी तथा हिंसकोंकी मार
वाल, (वृत्रस्य हनू रुज) वृत्रके अबलोंको तोड़ दे । हे
(वृत्रहन् इन्द्र) वृत्रनाशक इन्द्र (अभिदासतः अमि-
त्रस्य मन्थुं वि रुज) हमारा नाश करनेवाले शत्रुको क्रोधको
तोड़ दे ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! (द्विपतः मनः अप) देशोंका मन बदल दे,
(जिज्यासतः वधं अप) आयुका नाश करनेवालेको दूर कर,
(महत् शर्मं वि यच्छ) हमें बड़ा दुःख दे (वधं वरीयः
यावय) शत्रु हमसे दूर रहे ॥ ४ ॥

इन्द्रका वर्णन इन मंत्रोंमें देखने योग्य है ।

इन्द्रस्तुत्पापाणिमत्रो वृत्रं यो जघान यतीनां ।

धिमेद वलं मृगुनं ससहे शश्रून् ॥ ३ ॥

४ (अथर्व. स्वा., काण्ड २०)

मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

अहश्रहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वयं
ततक्ष ॥ ६ ॥

अथर्व. २।५

(यतीः न) यत्न करनेवाले पुरुषके समान (यः तुरा-
पाद् मित्रः इन्द्रः) जिस त्वरासे शत्रुपर हमला करनेवाले
मित्र इन्द्रने (वृत्रं जघान) वृत्रको मारा (वलं धिमेद)
बलका नाश किया और (शश्रून् ससहे) शत्रुओंका पराभव
किया ॥ ३ ॥

(इह) यहां (महे रणाय मत्स्व) बड़े युद्धके लिये
आर्नदित हो ॥ ४ ॥

(पर्वते शिश्रियाणं) पर्वतके आश्रयमें रहनेवाले (अहिं
ध्रहन्) अहिंको मारा । (अस्मै त्वष्टा स्वयं वज्रं ततक्ष)
इस इन्द्रके लिये त्वष्टाने दिव्य वज्र तैयार करके दिया था ॥ ६ ॥
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र ।

कृपवानो अन्यान् अधरान् सपत्नान् ॥

अथर्व. २।२९।३

(सहसा) अपने बलसे (क्षेत्राणि जयन्) क्षेत्रोंका
जीता है और (अन्यान् सपत्नान् अधरान् कृपवन्)
दूसरे शत्रुओंको नीचे दबा देता है ।

अमित्रसेनां मघवन् अस्मान् शश्रूयतीमभि ।

युवं तामिन्द्र वृत्रहन् अग्निश्च दहतं प्रति ॥

अथर्व. ३।१।३

हे (मघवन्) इन्द्र ! हमारे साथ शत्रुता करनेवाली जो
शत्रुकी सेना हमपर आक्रमण करनेके लिये आ रही है (तान्)
उस शत्रुकी सेनाको हे वृत्रको मारनेवाले इन्द्र और अग्नि ! तुम
दोनों मिलकर उस सैन्यको जला दो ।

प्र ते वज्रः प्रमृणन् पतु शश्रून् ।

जहि प्रतीचो अनुचः पराचः ॥

अथ. ३।१।४

'तेरा वज्र शत्रुओंको मारता हुआ आगे बढ़े । पीछे रहने-
वाले, साथ आनेवाले और आगे होनेवाले शत्रुको मर दाल ।'

इन्द्र सेनां मोहय अमित्राणाम् ।

तान् विपूचो विनाशय ॥

अथ. ३।१।५

'हे इन्द्र ! शत्रुकी सेनाको मोहित कर और उनको चारों
ओरसे विनष्ट कर ।'

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो प्रग्तु ओजसा ।

चक्षूंषि अग्निः आदत्तां पुनरेतु पराजिता ॥

अथ. ३।१।६

'इन्द्र शत्रुकी सेनाको मोहित करे, सैनिक उनको बेगधे मारें,
अग्नि उनकी आँखें बंद करे और फिर वह पराजित हो जावे ।'

यो विभ्रजितविश्वभृत् विद्वचकर्मा । (अथ. ४।१।१५)
जो सबकी जीतेवाला, सबका भाग-पोषण करनेवाला और
सब कर्म करनेवाला है ।

यो दानयानां बलं आरुरो ज । (अथ. ४।२।४२) —
जो दानयोंके बलकी लोहता है ।

यः संप्रामाप्रयति सं युधे यशो । (अथ. ४।२।४०) —
जो स्वाधीन रहनेवाला युद्धके प्रति ले जाता है ।

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उचरत्वात् ।

इन्द्रानमित्रं नः पश्चात् अनमित्रं पुरस्तादि ॥

अथ. ६।४०।३

‘ हे इन्द्र ! नीचेसे, ऊपरसे, पीछेसे और आगेसे हमें शत्रु-
रहित कर । ’

इन्द्रश्चक्रार प्रथमं नैर्हस्तं असुरेभ्यः । (अथ. ६।१५।५।१)
इन्द्रने प्रथम अयुधोंके लिये निहन्त्यापन अर्थात् निर्बलपन किया ।
इससे अयुध परामुक्त हुए ।

निर्हस्तः शत्रुः अभिदासप्रस्तु ये सेनाभिर्मु-
घ्नायान्यत्यस्मान् । समर्पयेन्द्र महता घघेन
द्रावेषामघहारी विविधः ॥ १ ॥

आतन्व्याना आयच्छन्तोऽस्यतो ये च घाघय ।

निर्हस्ताः शत्रवः स्थन इन्द्रोऽथ पराशरोत् ॥ २ ॥

निर्हस्ता सन्तु शत्रवोऽद्वैषां ग्लापयामसि ।

अथैषां इन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहे ॥ ३ ॥

अथ. ६।१६

(नः अभिदासन शत्रुः निर्हस्तः अस्तु) हमारेपर
हमला करनेवाला शत्रु हस्तारहित हो । (ये सेनाभिः अस्मान्
युधे आयन्ति) जो घन्म लेकर हमारे साथ युद्ध करनेके
लिये आते हैं, हे इन्द्र ! (महता घघेन समर्पय) उनको
बड़े बड़े साथ मार डाल । (परां अघहारी विविधः
द्रातु) इनका पापी वार (वध होकर भाग जावे ॥ १ ॥

हे (शत्रवः) शत्रुओं ! (ये आतन्व्यानाः) जो तुम
धनुष्य तानकर (आयच्छन्तः अस्वस्तः च घाघय)
लौचने हुए और बाण छोड़ते हुए बल आनेही तुम (निर्हस्ताः
स्थन) हस्तारहित हो जाओ, (इन्द्रः अथ वः पराशरोत्)
इन्द्र आज ही तुम्हें मार डाले ॥ २ ॥

(शत्रवः निर्हस्ताः सन्तु) छप शत्रु हस्तारहित हो
जाय, (परां अंशा ग्लापयामसि) इनके अंगोंकी हम
निर्बल बना देते हैं, हे इन्द्र ! (परां वेदांसि) इन शत्रु-
ओंके बनोंको (शतशः वि भजामहे) सैकड़ों प्रकारसे आप-
सर्वें बांट देते हैं ॥ ३ ॥

इम सूक्ते पता लगता है कि शत्रुको पराजित करके शत्रुसे
प्राप्त धन आपसमें बांट लेते थे ।

परि घर्मानि सर्वतः इन्द्रः पूषा च सन्नतुः ।
मुहान्त्यधाम् सेना अभिभ्राणां परस्ताराम् ॥ १ ॥

अथ. ६।१७

इन्द्र और पूषा (सर्वतः घर्मानि परि सन्नतुः) सब
मार्गोंमें भ्रमण करें, जिससे (अभिभ्राणां सेनाः) शत्रुओंकी
सेना (परस्ताराम् मुहान्तु) दूरतक मीहित हो जाय ।

इससे पना बरता है कि इन्द्रके साथ पूषा भी युद्धमें जाता था ।

निरमं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति ।

नेयांघ्येन हविषेन्द्र एनं पराशरोत् ॥ १ ॥

परमां तं परायतं इन्द्रो नुदतु वृत्रहा ।

यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाम्यः ॥ २ ॥

अथ ६।१५

(यः सपत्नः पृतन्यति) जो शत्रु सेनाद्वारा आक्रमण
करता है (अमं ओकसः निः नुद) उसको पहले निकल
बाह (एनं निर्वाघ्येन हविषा) इस शत्रुको बाधाराहित

समर्पणसे (इन्द्रः पराशरोत्) इन्द्र मार डाले ॥ १ ॥

(वृत्रहा इन्द्रः) इन्द्रनाशक इन्द्र (तं परमां परा-
धतं नुदतु) उस शत्रुको दूरसे दूरके स्थानको भगा देवे

(यतः शश्वतीभ्यः समाम्यः) जिससे शश्वत बालकके
(पुनः न आयति) फिर नहीं आ सके ॥ २ ॥

इम तरह शत्रु कायम दूर हो इसलिये उसका किये जाते थे ।

इन्द्रो ज्याति न पराजयाता अधिराजो राजसु
राजयाते । चकृत्य रंहयो वंघञ्चोपसद्यो नमस्यो
मवेह ॥ १ ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं मूः अमिभूति-
र्जनानाम् । त्वं देवीर्दिदा इमा वि राजायुम्भ-
त्क्षत्रं अजरं ते अस्तु ॥ २ ॥

प्राच्या दिशमन्वमिन्द्रासि राजोतोदीच्या
दिशो वृत्रहन्छत्रहासि । यत्र यन्ति स्त्रीत्या-
स्ताजितं ते दक्षिणतो वृषम एषि हव्यः ॥ ३ ॥

अथ. ६।१८

(इन्द्रः ज्याति) इन्द्रकी जय होती है (न पराज-
याते) कभी पराजय नहीं होती । (राजसु अधिराजः
राजयाते) राजाओंके जो सबसे श्रेष्ठ अधिराजा होता है

उसकी शोभा बढती है । हे इन्द्र, हे राजा (इह चकृत्य
रंहयः) यहाँ शत्रुका नाश करनेके कारण स्तुतिके योग्य हुआ
है (वन्धः उपसद्यः नमस्यः मव) वन्दनीय, पास जाने
योग्य और नमस्कार करने योग्य हो ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (त्वं अधिराजः) तू राजाधिराज है, (श्रव-
स्युः) कीर्तिमान है, (त्वं जनानां अमिभूतिः मूः) तू
प्रजाजनोका सहायकर्ता है, (त्वं इमाः देवी विदाः विराज)

तू इन दिव्य प्रजाजनोंपर विराजमान हो, (ते आपुष्पम् क्षत्रं अजटं अस्तु) तेरा दोषांशु युक्त क्षत्रतेज अरारहित हो ॥ २ ॥

(हे इन्द्र ! त्वं प्राच्याः दिशः राजा असि) हे इन्द्र ! तू पूर्व दिशाका राजा है, हे (वृष्रहन्) इन्द्रको मारनेवाले ! (उत उदीच्या दिशः शत्रु-हा असि) और तू उत्तर दिशाके शत्रुओंका नाश करनेवाला है, (यत्र खोत्या यन्ति) अर्थात् नदियाँ जाती हैं वहातकके प्रदेशको (तत् ते जितं) तुने जीत लिया है तथा (वृषभः हव्यः दक्षिणतः पपि) बलवान् और आदरसे पुकारने योग्य होकर दक्षिण दिशामें तू जाता है ॥ ३ ॥

इस तरह इन्द्रके पराक्रमका वर्णन अर्पणवेदमें है । इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अथ यावच्छेष्ठाभिर्मघवन् शूर जिन्य । यो नो द्वेषघरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥ १ ॥ अथ. ७३१ ' हे इन्द्र ! (यावत् श्रेष्ठाभिः बहुलाभिः ऊतिभिः) अति श्रेष्ठ विविध प्रकारके संरक्षणोंसे (अथ नः जिन्य) आज हमें जीवित रखा है (मघवन् शूर) धनवान् शूर वीर ! (यः नः द्वेषि) जो हमारा द्वेष करता है (सः अघरः पदीष्ट) वह नीचे गिर जाय । (यं उ द्विष्मः) त्रिषका हम सब द्वेष करते हैं (तं उ प्राणः जहातु) उसकी प्राण छोड़ देवे ॥ १ ॥

इन्द्रके संरक्षणके कार्य बहुत हैं इस विषयमें ऐसे मंत्रोंमें भी वर्णन है वह ऐसे मंत्रोंमें देखा जा सकता है ।

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
तथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥
अथ. ८१८

(पुरंदरः) शत्रुके किलोंको तोड़नेवाला शूर बलवान् (मन्थिता इन्द्रः) मन्थन करनेवाला इन्द्र (मन्थतु) शत्रुकी सेनाका मन्थन करे, (तथा अमित्राणां सहस्रशः सेनाः) जिस शक्तिसे शत्रुओंके हजारों सैनिकोंका (हनाम) हम मारें ।

इहसे जालं बृहत् इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शत-
वीर्यस्य । तेन शतं सहस्रं अयुतं न्ययुर्दं जघान
शक्रो दृस्यूनां अभिघाय सेनया ॥ ७ ॥

हे शूर इन्द्र ! (सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य बृहत्तः ते) सहस्रोंद्वारा पूजित सैकड़ों सामर्थ्योंवाले बड़े तुम इन्द्रका (बृहत् जालं) बड़ा जाल है । (तेन अभिघाय) उस जालसे परस्पर तथा (सेनया) अपनी सेनाके द्वारा (शक्रः) सामर्थ्यवान् इन्द्र (दृस्यूनां शतं जघान) शत्रुओंके सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ों सैनिकोंको मारता है । ॥ ७ ॥

यहां हजारों, लाखों शत्रुओंको मारनेका उल्लेख है । अर्थात् ऐसी बड़ी लड़ाईयाँ इन्द्र जीतता है, इतना बल इन्द्रका है ।

इन्द्रकी कपटनीति

इन्द्र दुष्ट शत्रुओंसे कपटनीति भी बतता था, इस विषयमें कहा है—

अभिभूति-ओजाः मायामिः दृस्यून् (४८)—
शत्रुका परामर्श करनेके सामर्थ्यसे युक्त इन्द्रने कपट प्रयोगोंसे भी शत्रुओंको मारा है । अर्थात् कपटी शत्रुओंसे यह इन्द्र कपटका प्रयोग भी करता था ।

वृजनेन वृजनात् सं पिपेश (४८)— कपटसे कपटियोंको उस इन्द्रने पीस डाला ।

जो शत्रु कपट करते थे उनको कपटसे वह मारता था ।

वर्षनीतिः मायिनां प्र अभिनात् (४५)— कपट-
नीतिमें कुशल इन्द्र कपटी शत्रुओंको मारता है । वर्षं (वर्षन्)— कपट, कुटिलता, माया । इनका उपयोग करके इन्द्र दुष्टोंकी दशाता था । ' वर्ष-नीतिः ' (४५)— कपटनीतिमें कुशल वीर ।

शर्चनीतिः (४५)— सेनाके दलोंको चलानेकी नीति विषकी उत्तम है । शैत्यके सघोंका उत्तम उपयोग बड़े चातुर्यसे करनेका नाम ' शर्च-नीति ' है ।

मानवोंपर दया

इन्द्र मानवोंपर दया करता है, इस विषयमें—
एकः देवत्रा मर्तान् दयसे (५८) देवोंमें इन्द्र अकेला ही मनुष्योंपर दया करता है ।

मनोः वृधः (४०१)— मनुष्योंको बढानेवाला इन्द्र है । मानवोंका कल्याण करनेके लिये इन्द्र सदा दक्ष रहता है ।

मघवा विशं विशं पर्यशायत् (१२)— धनवान् इन्द्र प्रत्येक प्रजाजनको देखमाल करता है ।

वृषा जतानां धेनाः अधचाकशत् (१२)— बलवान् इन्द्र लोगोंको धरिना सुनता है, जनताका कहना सुनता है और उनके हितके कार्य सदा करता है ।

इन्द्रका दातृत्व

इन्द्र धन आदि देता है इस विषयमें ये वर्णन हैं—
अश्वस्य, गोः यवस्य वसु नः दुरः असि (१२०)— घोड़े, गौँ, जौ और धान देनेवाला इन्द्र है ।

विश्वामिः दातृभिः एव रातिः घायि (१६९)— सब धारण करनेवालोंने तोरेसे दान प्राप्त किया है ।

दाशुषे अर्यः महमानं गयं वि (१०८)— दाताको इस श्रेष्ठ इन्द्रने बड़ा धर दिया है ।

सनधृतः मघवा इन्द्रः सूरिभिः मा वितिष्ठति (४८४) — विर्यात दानी धनवान् इन्द्र ज्ञानियोके साय बैठता है ।

अरातयः सस्तां, रातयः बोधन्तु (४९०) — कंठघ्नो जाय, दानी आगने रहें ।

यसु प्रयच्छसि (१७) — तू धन देता है ।

अश्वधात् गोमत् ययमत् उरुधारा इव दोहसे (३२) — घोड़े, गौँवें, जँसे युक्त धन बची धारासे देता है ।

सुदानुः (३८) — उत्तम दाता इन्द्र है ।

विद्वद्भुः (४३) — धनका दान करनेवाला इन्द्र है ।

भूरिदात्रः (४३) — बड़ा दानी ।

यस्य दुर्धरं राघः (६९) — जिसका अप्रतिम दान है ।

प्रभूवसुः (७२) — बहुत धनका दाता ।

धनंजयः (१५०) — युद्धको जीतनेवाला, धनको जीतनेवाला ।

संशुभ्य मा मर (१२१) — धनका धंधल करके दान दे ।

भरेषु वाजसातये इन्द्रं उपश्रुवे (१०९) — युद्धोंमें अन्न या धनका दान करनेके लिये हम इन्द्रको बुलाते हैं ।

तव इदं वसुः अभितः चोक्तिते (१२१) — तैसा यह धन धारा और दानसे फैलता है ।

तं भवीयसा वसुना पृणक्षि (१५४) — तू वसुको पर्याप्त धनधं मर देता है ।

नुविराघः (५८) — बहुत धन देनेवाला इन्द्र है ।

मघवा (६८) — धनवान् इन्द्र

शुद्धयि (६८) — बहुत धनी इन्द्र है ।

पुरुवसुः (३२२) — बहुत धनवान्

मघवा वस्वः राय ईशते (८९) — इन्द्र धनवान् है यह निवाचक धनका स्वामी है ।

वसुनः इनस्पतिः (१२०) — इन्द्र धनका स्वामी है ।

माकाम-करीनः (१२०) — कामना पूर्ण करनेवाला इन्द्र है ।

यथा त्वं, अहं वस्वः एकः ईशीय (१६७) — जैसा तू धनका स्वामी है, वैसा मैं धनका अकेला स्वामी हूँ ।

मनीषिणे दित्सेयं (१६८) — ज्ञानीको धनका दान करुं ।

न देवः, न मर्तः, ते राघसे वर्ता अस्ति (१७०) — न देव या न मानव कोई भी तेरे दान देनेमें विरोध करनेवाला नहीं है । तू दान करता है, उसमें किसीसे विरोध नहीं हो सकता ।

धृता-मघ (३०) — जिसकी धनवान् होनेके लिये प्रसिद्धि है ।

शता सहस्रा (३८) — इन्द्र सैकड़ों और हजारों प्रकारके धनोंसे युक्त है ।

हिरण्यं भोगं ससान (५१) — सुवर्ण तथा भोग्य पदार्थ वह प्राप्त करता है ।

धनानां संजितः (५३) — धनोंको जीतनेवाला इन्द्र है ।

स्पर्द्धं वसु वा मर (२७४) — स्पृहणीय धन लाकर मर दे ।

कार्म्यं वसु सहस्रेण मंहते (३२४) — वह इष्ट धन घरसमुष्णा देता है ।

पिशांकरूपं गोमन्तं मधु ईमहे (३२८) — पीले रंगवाला अर्पाय सुवर्णमय गौँबोंसे युक्त धन हमें शीघ्र प्राप्त हो ऐसा चाहते हैं ।

त्वा पुरुवसुं विप्र (३४२) — तू बहुत धनवाला है यह हम जानते हैं ।

अनशंरतिं वसुदां उपस्तुहि (३६१) — हानि न करनेवाला जिसका दान है ऐसे धनदाता इन्द्रकी स्तुति कर ।

इन्द्रस्य रातयः मद्राः (३६१) — इन्द्रके दान कल्याण करनेवाले हैं ।

मनः दानाय चोदयन् (३६१) — अपने मनको दान देनेमें प्रवृत्त कर ।

अस्य अंशः उद्विच्यते (३६६) — इस इन्द्रका धन बढ़ता ही रहता है ।

जिग्युषः धनं (३६६) — विजयी वीरका धन होता है ।

तुर्वीमघः (३६९) — बड़े धनवाला इन्द्र है ।

अस्य राघः न पर्येतवे (४०७) — इसके धनके दानकी कोई मर्यादा नहीं है ।

सुग्यानाय मामुवं रयिं ददाति (४११) — यह करनेवालेको इन्द्र बहुत धन देता है ।

सानसि सजितवानं सदासहं वरिष्ठं रयिं ऊतये मा मर (४५८) — लाभकारी विजयी वसुको जीतनेवाले श्रेष्ठ धनको हमें अपनी सुरक्षा करनेके लिये लाकर मर दो ।

चित्रं वरेण्यं राघः अर्वाक् संचोदय ते विमु प्रमु असत् (४७२) — विलक्षण श्रेष्ठ धन हमारे पास मेज दे, वैसा धन तेरे पास बहुत है ।

तुविद्युत् इन्द्र ! रमस्वतः यशस्वतः अस्मान् राये सुचोदय (४७३) — हे तेजस्वी इन्द्र ! प्रयत्न करनेवाले और यशस्वी बने हमको धन प्राप्त करनेके लिये उत्तम रीतिसे प्रेरित कर ।

रदावसु (५२२) — धनका दाता इन्द्र है ।

विश्वं चार्यं पुष्यसि (६१५) — सब प्रकारके धनको बढ़ाता है ।

असे वृहत् पृथु भ्रवः गोमत् वाजवत् विश्वायुः
अश्विनं घोहि (४७४)— हमें वधा विस्तृत यशस्वी गौओं
और अश्विंसे युक्त पूर्ण आयुक्त टिकनेवाला धन दे ।

सहस्रसातमं शुक्रं वृहत् भ्रवः रथिनीः इवः
अस्मे घोहि (४७५)— सहस्रों प्रकारका आनंद देनेवाला
तेजस्वी बड़े यशवाला धन और रथरुं छाया रहनेवाला अन्न हमें
भरपूर दो ।

गोषु अश्वेषु सहस्रेषु शुश्रिषु नः आशंसय
(४८७)— गोओं, घोहों तथा सहस्रों तेजस्वी धनोंमें तू
हमें रख ।

इस तरह इन्द्रके धनी होने और धनका दान करनेके विषयमें वेदमंत्रोंमें वर्णन है ।

सत्यकी प्रेरणा करनेवाला इन्द्र

यः रथस्य कृशस्य ब्रह्मणः नाघमानस्य करिः
चोदिता (२०३)— जो इन्द्र उपासकको, कृशको, शर्मा
याचक कविकों उरसाह बटानेके लिये उत्तम प्रेरणा देता है ।

यस्य प्रदिशि अश्व्यासः गावः ग्रामाः रथासः
(२०४)— इस इन्द्रकी आशामें घोड़े, गौवें, गांव और रथ
रहते हैं । इसलिये वह हरएक प्रकारकी प्रेरणा देता है और
सहायता करता है ।

यस्य अमितानि वीर्यां (४०७)— इस इन्द्रके अपरि-
मित पराक्रम हैं इसलिये वह उत्तम प्रेरणा सब मर्कोंको करता
है और उनकी उत्पत्ति करनेमें मग्न्य होता है ।

विचर्षणिः (१४)— विशेष रीतिये देखनेवाला, विचार
पूर्वक देखभाल करनेवाला, हलचल करनेवाला, चपल, कार्य
शीघ्रतासे करनेमें चतुर इन्द्र है ।

सदावृधः विश्वगूर्तः ऋभ्रपाः घृष्णु-भोजाः
अघृष्णु इन्द्रः (५९०)— सदा बढनेवाला, सभीघं
प्रशंसित, सब बड़े कार्य करनेवाला, शत्रुका धर्षण करनेवाला
बलसे युक्त, निबर इन्द्र है । इसलिये वह सबको उत्तम प्रेरणा
देता है ।

अपाळहः उग्रः पृतनासु सासहिः (५९१)—
विजयी, उग्रवीर, युद्धोंमें साहस दगनिवाला इन्द्र है ।

अयजकोंका दमन करता है

अयज्युं मर्यं शासः (४९५)— यज्ञ न करनेवाले
मानवोंको दण्ड देनेवाला इन्द्र है ।

अमुन्यो संसदं विपुर्चा व्यनाशयः, सोमपाः
हस्रः भवन् (१८१)— यज्ञ न करनेवालोंको सोमाकी
छिन्नभिन्न करके उनकी नष्ट करता है और यज्ञ करनेवालोंको
सब बनाता है ।

ये यक्षिणां नाधं आरुहं न शेकुः, ते क्रपयः इर्माः
एव न्यविशन्त (६०७)— जो यज्ञकों नौकापर चढ़ नहीं
सकते वे पापी ऋणमें ही पड़े रहते हैं ।

आपत्ति दूर करनेवाला इन्द्र

निर्कृतीनां परिवृजं चेत्य (४१०)— आपत्तियोंको
दूर करनेका उपाय इन्द्र अच्छी तरह जानता है । इस कारण
आपत्तियां उसको नहीं सताती ।

देवाः सुन्वन्ते इच्छन्ति, स्वप्नाय न स्पृह्यन्ति
(१०१)— देव यज्ञ करनेवालोंको चाहते हैं, सुस्त मानवोंको
नहीं चाहते ।

अतन्द्र प्र मादं यन्ति (१०१)— आलस्य छोडनेवाले
ही विशेष उरसाहको प्राप्त होते हैं ।

अ-दाशुपां वेदः अन्तः रथः द्वि, तेषां वेदः नः
आ भर (३४३)— कंजूस मानवोंका धन अन्दरसे छूट
निकाल और उनकी धन हमें लाकर दे ।

निदे वक्तवे अराडणे नः मा रथि (१०२)—
निदक, व्यर्थ बडबडानेवाले कंजूसके आधीन हमें न कर ।
उनका शासन हमपर न हो ।

द्रविणोद्रेषु दुपृतिः न शस्यते (११९)— धनका
दान करनेवालोंके लिये निंदा योग्य नहीं है । उन दाताओंकी
प्रशंसा ही हीनी योग्य है ।

पाप

अधं नः पश्चान् न नशत् (११७)— पाप हमारे
पाँठे नहीं लगे ।

न पापत्वाय रासीय (५२२)— पाप करनेके लिये
रूठ नहीं है ।

घमंडियोंका नाशक इन्द्र

यः शर्वां शश्वतः महि एतः दधानान् अमन्यमा-
नान् जघान (२०७)— जो शूर इन्द्र है, वह सदा पाप
करनेवाले और बारंबार कहनेपर भी न मुननेवाले हैं उनको
मारता है ।

यः शघंते ऋध्यां न अनुददाति (२०७)— जो
इन्द्र घमंडीका घमंड नहीं सहन करता ।

महतः मन्यमानान् योग्य (५३७)— अपने
आपको बहुत बडा माननेवाले जो घमंडी हैं उनसे युद्ध कर ।

शासदानान् बाहुभिः साक्षाम् (५३७)— उन
घमंडी शत्रुओंका हम बाहु युद्धों पराभव करेंगे ।

मयकी दूर करनेवाला इन्द्र

इन्द्रः महत् मयं अर्मापाद् अपचुच्यवत् (११९)—
इन्द्र बड़े मयके कारणको पराजित करके दूर मगाता है ।

अविमृषया इन्द्रेण सजगमानः (२६५)- निर्मय इन्द्रके
साय तू मिलकर जाता है । इस कारण तू निर्मय हुआ है ।

संगठन करनेवाला इन्द्र

यदा नवतु कृणोपि आत् इत समूहात् (७०५)-
जब वे इन्द्र । तू आषण करता है, उसस तू समूह बनाता है ।
इन्द्रके मायगर्भे संगठन करनेकी शक्ति होती है ।

लोगोंकी बसानेवाला इन्द्र

वसु (३२७)- लोगोंकी बसानेवाला इन्द्र है । यह
इन्द्र लोगोंकी बसती करानेकी सुव्यवस्था करता है ।

इन्द्र घर रहनेके लिये देता है

त्रिधातु त्रिवरूथ स्वस्तिमत् शरणं छाँदः मधु
मधवद्भ्यः च यच्छ, एभ्य दिष्टु याचय (५२४)-
तीन धातुओंस बना, तीन छप्परोंवाला, कल्याणकारी, आशय
करने योग्य पर मुझे दे दो, तथा ऐसे घर धनवानोंकी भी मिलें
ऐसा कर और इनस सब धातुओंकी दर कर । जिससे वहाँ
सुखसे सब मानवोंका रहना हो सके ।

उत्तम मार्ग

सुपथा शीमे अवाहं याहि (६०३)- उत्तम मार्गसे
शीघ्र हमारे पास आओ । ये मार्ग रथके मार्ग हैं । ऐसे रथके
मार्ग उत्तम होन चाहिये । इन्द्र उत्तम मार्ग निर्माण करता है ।

दुःख देनेवालोंको दण्ड

शुफारुजः आरुजासि (६१०)- दुःख देनेवाले दुष्ट
धातुओंकी तू योग्य दण्ड देता है । इससे प्रजाजन आनन्दमें रह
सकते हैं ।

देवकी सहायता

देवयु देवासः प्राचे प्रणयन्ति (१५५)- देवत्व
प्राप्त करनेवालोंके देव आगे बढ़ाने हैं । देवोंके गुणोंकी देखकर
उन गुणोंको अपने अन्दर धारण करनेसे देवत्व प्राप्त होता है ।
ऐसे देवत्व प्राप्त करनेवालोंको देव इन्द्रपक्षसे सहायता करते हैं ।

ब्रह्मप्रिय वरा इच जोषयन्ते (१५५)- ज्ञान
जिसको प्रिय है, जो ज्ञान प्राप्त करता है, उसका देव श्रेष्ठ
पुरुषको सहाय्य करनेके समान सहाय्य करते हैं ।

इन्द्रका महारत्म्य

इन्द्रस्य शतेन घामसिः महयामसि (१०८)-
इन्द्रका महत्व उसके सैकड़ा स्थानोंस वर्णित होता है । इन्द्रका
महत्व इतना बड़ा है ।

महिम्. (२१६)- इन्द्र सबसुख महात्म्यसे युक्त है ।

यश हर्मे प्राप्त हो

ज्येष्ठ भोजिष्ठं पपुरिध्वः वा मर (५१८)- श्रेष्ठ

सामर्थ्यवान् परिपूर्ण यद्य इम मरए दे ।

इन्द्र सच्चा है

इन्द्रमें सचाई है वह कभी छल्यमार्गसे दू, नहीं जाता । इस
कारण कहा है-

सत्यः (५०५)- इन्द्र छल है, सचा है, कभी अछल
मार्गपर जाता नहीं ।

सत्यस्य स्तु. (१३३)- इन्द्र छलका प्रसारक है । उस
छल मार्गसे जानेसे लाभ होता है, यह अपने आचरणसे सबको
बताता है ।

युद्धसे लूट

असुरभ्याः भुज वा मर (३३६)- असुरोंसे लूट
भर दे । असुरोंका परामव करके उनसे धन आदि पदार्थ मरपूर
प्रमाणमें प्राप्त कर । दात्रके नगर तोड़े, उनपर अपना कबजा
किया तो वहासे यथेच्छ लूटकरके विजयी वीरोंको धन यथेच्छ
प्रमाणमें प्राप्त होता है । ऐसा धन इन्द्रके पास आता रहता
है । विजय प्राप्त करनेवाले वीरको ऐसा धन मिलता ही है ।

इन्द्रके वर्णन

इस समयतक हमने इन्द्रके वर्णन देखे । वेदवचनोंकी देकर
उनेके यहाँ सरल अर्थ किये हैं । उन वचनोंपर विशेष विचाराण
करके अधिक टोका-टिप्पणी नहीं की है । क्योंकि इन वचनों-
पर अधिक टोका-टि-पणी करनेकी कोई जरूरत ही नहीं है ।
इतने ये वचन स्पष्ट हैं ।

इन वचनोंके मननसे इन्द्रके स्वरूपका पता पाठकोंके लग
सकता है । इन्द्र लोगोंका संरक्षण करता है, धातुओंसे युद्ध
करके, उनका परामव करके बाहरके धातुओंको दूर करता है ।
अन्दरसे और बाहरसे संरक्षण करके प्रजाको शान्तिका आनंद
देना ये इस इन्द्रके मुख्य कार्य हैं । इसीलिये इस इन्द्रकी हम
'युद्धमंत्री' अथवा 'संरक्षकमंत्री' कह सकते हैं । इनके
कर्तव्य यहाँ इस निबंधमें दिये हैं । उनका विचार पाठक करें
और युद्धमंत्रीके कर्तव्य क्या है, इस विषयमें वेदका कथन क्या
है, यह पाठक देखें और उसका मनन करके निश्चय करें कि
राज्यके युद्धमंत्री ऐसे होने चाहिये ।

अथर्ववेदके अनेक नामोंमें 'क्षत्रवेद' भा एक नाम है ।
यह नाम अथर्ववेदकी इसलिये मिला है कि, इसमें इन्द्रके मन
पाँचवे मागसे भी अधिक सप्तयामें है । इन इन्द्रके मंत्रोंके
कारण ही इस वेदकी क्षत्रवेद कहा है ।

पाठक इस प्रकारका अधिक विचार करके क्षात्रमावका
योग्य बोध प्राप्त करें और इस बोधकी राहूँ । उपरतिके कार्योंमें
लगा देव ।

अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

वर्षिकं काण्ड ।

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ	पृष्ठ	देवता	पृष्ठ
१ अथर्ववेदमें इन्द्र देवताका वर्णन	३	३४ इन्द्रकी गोवं	१३	१ इन्द्रः, महतः, अग्निः		१
२ इन्द्रकी मूर्च्छियां	७	३५ इन्द्र घोड़ोंकी पालना करता है	१४	२ इन्द्रः, ,, ,, द्रविणोदाः		१
३ इन्द्रका गला	७	३६ इन्द्रका रथ	१५	३ इन्द्रः		२
४ इन्द्रकी दो शिखाए	७	३७ इन्द्रका अतुल सामर्थ्य	१५	४ इन्द्रः		३
५ इन्द्रका सोम पीना	८	३८ किलेमें रहनेवाला इन्द्र	१६	५ इन्द्रः		३
६ इन्द्रका छाफा	८	३९ शत्रुके किले इन्द्र तोड़ता है	१६	६ इन्द्रः		५
७ इन्द्रकी पोषाक	८	४० इन्द्रका संरक्षण सामर्थ्य	१७	७ इन्द्रः		६
८ इन्द्र शरीरसे बडा	८	४१ युद्ध करनेवाला इन्द्र	१८	८ इन्द्रः		७
९ इन्द्र बैल-जैसा बलवान्	८	४२ शत्रुका पराभव करनेवाला इन्द्र	१९	९ इन्द्रः		८
१० इन्द्रका सौन्दर्य	८	४३ वृजवध	२२	१० इन्द्रः		९
११ इन्द्र विद्वान् है	९	४४ इन्द्रके शाखात्र	२२	११ इन्द्रः		९
१२ ज्वररहित तरुण इन्द्र	९	४५ सैन्य बल	२३	१२ इन्द्रः		१२
१३ तेजस्वी इन्द्र	९	४६ इन्द्र वीर है	२३	१३ इन्द्रावृहस्पति, मरुतः, अग्निः		१४
१४ आनन्दी स्वभाववाला इन्द्र	९	४७ प्रजाका पालक इन्द्र	२४	१४ इन्द्रः		१५
१ इन्द्रके बाहु	९	४८ इन्द्रकी कण्ठ नीति	२७	१५ इन्द्रः		१६
१६ मुष्टि युद्ध करनेवाला इन्द्र	९	४९ मानवीर दया	२७	१६ इन्द्रः		१८
१७ बहुत अन्नसे युक्त इन्द्र	९	५० इन्द्रका दातृत्व	२७	१७ इन्द्रः		२१
१८ इन्द्र महात्न है	१०	५१ सखीकी प्रेरणा करनेवाला इन्द्र	२९	१८ इन्द्रः		२४
१९ न गिरेनेवाला इन्द्र	१०	५२ अयात्रकोंका दमन करता है	२९	१९ इन्द्रः		२५
२० कल्पान करनेवाला मित्र इन्द्र है	१०	५३ आपति दूर करनेवाला इन्द्र	२९	२० इन्द्रः		२६
२१ इन्द्रका मन	१०	५४ पाप	२९	२१ इन्द्रः		२७
२२ आर्षोका रक्षण	१०	५५ धमण्डियोंका नाशक इन्द्र	२९	२२ इन्द्रः		३०
२३ पुरुषार्थके कर्म करनेवाला इन्द्र	११	५६ भयको दूर करनेवाला इन्द्र	२९	२३ इन्द्रः		३१
२४ स्थिर नीतिवाला	११	५७ संगठन करनेवाला इन्द्र	३०	२४ इन्द्रः		३२
२५ लोगोंकी साक्षां	१२	५८ लोगोंको घटानेवाला इन्द्र	३०	२५ इन्द्रः		३३
२६ इन्द्र अपूर्व है	१२	५९ इन्द्र धर रहनेके लिए देता है	३०	२६ इन्द्रः		३५
२७ आगे बढनेवाला	१२	६० उत्तम मार्ग	३०	२७ इन्द्रः		३५
२८ न गिरेनेवालोंको गिरेनेवाला	१२	६१ दुःख देनेवालोंको दण्ड	३०	२८ इन्द्रः		३६
२९ शुभ न रहनेवाला	१२	६२ देवकी सहायता	३०	२९ इन्द्रः		३७
३० सार्वभौमिक तत्के कार्य करता है	१२	६३ इन्द्रका महारम्य	३०	३० इन्द्रः		३८
३१ त्वरासे कार्य करनेवाला	१२	६४ यश हमें प्राप्त हो	३०	३१ इन्द्रः, हरिः		३९
३२ इन्द्रका सामर्थ्य	१२	६५ इन्द्र सचका है	३०	३२ इन्द्रः, हरिः		४०
३३ प्रशंसित इन्द्र	१३	६७ इन्द्रके वर्णन	३०	३३ इन्द्रः		४१

सूक्त	देवता	श्रुति	सूक्त	देवता	श्रुति	सूक्त	देवता	श्रुति
३४ इन्द्र		४२	७१ इन्द्र		९१	१०७ इन्द्र		१२८
३५ इन्द्र		५०	७२ इन्द्र		९३	१०८ इन्द्र		१३०
३६ इन्द्र		५४	७३ इन्द्र		९३	१०९ इन्द्र		१३०
३७ इन्द्र		५७	७४ इन्द्र		९५	११० इन्द्र		१३१
३८ इन्द्र		६१	७५ इन्द्र		९६	१११ इन्द्र		१३१
३९ इन्द्र		६२	७६ इन्द्र		९६	११२ इन्द्र		१३२
४० इन्द्र, मरुत		६३	७७ इन्द्र		९८	११३ इन्द्र		१३२
४१ इन्द्र		६३	७८ इन्द्र		१००	११४ इन्द्र		१३०
४२ इन्द्र		६४	७९ इन्द्र		१००	११५ इन्द्र		१३३
४३ इन्द्र		६४	८० इन्द्र		१०१	११६ इन्द्र		१३३
४४ इन्द्र		६५	८१ इन्द्र		१०१	११७ इन्द्र		१३३
४५ इन्द्र		६५	८२ इन्द्र		१०२	११८ इन्द्र		१३४
४६ इन्द्र		६६	८३ इन्द्र		१०२	११९ इन्द्र		१३४
४७ इन्द्र, सूर्य		६६	८४ इन्द्रः		१०३	१२० इन्द्र		१३५
४८ सूर्य, वी		६८	८५ इन्द्र		१०३	१२१ इन्द्र		१३५
४९ विल		६९	८६ इन्द्र		१०४	१२२ इन्द्र		१३६
५० इन्द्र		७०	८७ इन्द्र		१०४	१२३ सूर्य		१३६
५१ इन्द्र		७०	८८ बृहस्पति		१०५	१२४ इन्द्र		१३६
५२ इन्द्र		७१	८९ इन्द्र		१०६	१२५ इन्द्र		१३७
५३ इन्द्र		७०	९० बृहस्पति		१०८	१२६ इन्द्र		१३८
५४ इन्द्र		७३	९१ बृहस्पति		१०९	१२७ कुन्ताप सूक्त		१४२
५५ इन्द्र		७४	९२ इन्द्र		११८	१२८ कुन्ताप सूक्त		१४३
५६ इन्द्र		७५	९३ इन्द्र		११६	१२९ कुन्ताप सूक्त		१४१
५७ इन्द्रः		७६	९४ इन्द्र		११६	१३० कुन्ताप सूक्त		१४६
५८ इन्द्र, सूर्य		७७	९५ इन्द्र		११७	१३१ कुन्ताप सूक्त		१४६
५९ इन्द्र		७८	९६ इन्द्र, यक्ष्मनाशालाम्, गर्भ		११९	१३२ कुन्ताप सूक्त		१४७
६० इन्द्र		७९	सत्तार, दुष्यन्तम्		१२०	१३३ कुन्ताप सूक्त		१४८
६१ इन्द्र		८०	९७ इन्द्र		१२३	१३४ कुन्ताप सूक्त		१४८
६२ इन्द्र		८१	९८ इन्द्र		१२३	१३५ कुन्ताप सूक्त		१४९
६३ इन्द्र		८१	९९ इन्द्र		१२४	१३६ कुन्ताप सूक्त		१४९
६४ इन्द्र		८३	१०० इन्द्र		१२४	१३७ अलक्ष्मिनाशनम्, इन्द्र,		
६५ इन्द्र		८४	१०१ आग्नि		१२४	दधिक्रा, सोम पवमान		१५०
६६ इन्द्र		८४	१०२ आग्नि		१२५	१३८ इन्द्र		१४२
६७ इन्द्र, मरुत, अग्नि		८५	१०३ अग्नि		१२५	१३९ अश्विनौ		१५२
६८ इन्द्र		८७	१०४ इन्द्र		१२६	१४० अश्विनौ		१५३
६९ इन्द्र		८८	१०५ इन्द्र		१२६	१४१ अश्विनौ		१५४
७० इन्द्र		८९	१०६ इन्द्र		१२७	१४२ अश्विनौ		१५४
					१२८	१४३ अश्विनौ		१५५



अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

विंशं काण्डम् ।

[सूक्त १]

(ऋषिः — १ विश्वामित्रः, २ गोतमः, ३ विरूपः । देवता — १ इन्द्रः, २ मरुतः, ३ अग्निः ।)

इन्द्रं त्वा वृषमं वयं सुते सोमं हवामहे । स पाहि मघ्नो अन्धसः ॥ १ ॥

मरुतो यस्य हि क्षयं पाथा दिवो विमहसः । स सुगोपातमो जनः ॥ २ ॥

उक्षाभाय वशाभाय सोमपृष्टाय वेधसे । स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥ ३ ॥ (३)

[सूक्त २]

(ऋषिः — [गृत्समदो मेघातिथिर्वा ?] । देवता — १ मरुतः, २ अग्निः, ३ इन्द्रः, ४ द्रविणोवाः ।)

मरुतः पोत्रात्सुष्टुमः स्वर्काद्दतुना सोमं पिबतु ॥ १ ॥

अभिराग्नीधात्सुष्टुमः स्वर्काद्दतुना सोमं पिबतु ॥ २ ॥

(सूक्त १)

(हे इन्द्र) हे इन्द्र ! (वयं सोमि सुते) हम सोमरथ निबोढनेपर (वृषमं त्वा) तुम बलवानको (हवामहे) बुलाते हैं, तेरी प्रार्थना करते हैं, (मघ्नोः अन्धसः पाहि)

इस मधुररसका पान कर ॥ १ ॥ (ऋ. ३।४०।१)

(दिवः विमहसः मरुतः) हे तुलोकके समान तेजस्वी मरुत् वीर ! (यस्य क्षये) जिसके घर, जिसके यज्ञगृहमें (पाथ) तुम रक्षा करते हैं (सः जनः सुगोपातमः) वह मनुष्य अत्यंत उत्तम रक्षक होता है ॥ २ ॥ (ऋ. १ ८६।१)

(उक्षाभाय वशाभाय , बैलघे लाये धान्य जिसका अन्न है, गौसे उत्पन्न दूध, धी जिसका अन्न है, (सोमपृष्टाय वेधसे) सोमका दहन जिसपर होता है, उषज्ञानी (अग्नये) अग्निके लिये (स्तोमैः विधेम) स्तोत्रोंसे हम साकार करते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।४३।११)

वृषमं हवामहे— बलवानकी हम स्तुति करते हैं ।

मघ्नो अन्धसः पाहि— मधुररसका पान कर ।

दिवः विमहसः मरुतः यस्य क्षये पाथ, स जनः सुगोपातमः— तुलोकके समान विशेष तेजस्वी वीर सैनिक

१ (अथर्व. भाष्य, काण्ड २०)

जिसके घर अन्न लेते या रथपान करते हैं, वह मनुष्य उत्तम रक्षक होता है ।

वेधसे स्तोमैः विधेम— ज्ञानीका साकार हम स्तोत्र गाकर करते हैं ।

उक्षाभायः— बैलघी सेतोछे उत्पन्न अन्न खाये, सोम अन्न ।

वशाभायः— गौसे उत्पन्न दूध, दही, घी, छाछ आदि पीये । दूध और अन्न ।

सोमपृष्टः— सोमका रथ पीये ।

वेघाः— ज्ञानी कर्तृत्ववान् ।

सु-गोपा-तमः— अत्यंत उत्तम रक्षण करनेवाला वीर बने ।

(सूक्त २)

(मरुतः पोत्रात्) मरुत् वीर पीताके पाससे (सुष्टुमः स्वर्कात्) सोमन स्तोत्र युक्त, उत्तम मंत्र युक्त (दतुना सोमं पिबतु) ऋतुके अनुसार सोमरथ पीवे ॥ १ ॥

(अग्निः आग्नीधात्) अग्नि अग्निको प्रदीप्त करनेवालेके पाससे उत्तम स्तोत्र युक्त और उत्तम मंत्र युक्त ऋतुके अनुसार सोमरथ पीवे ॥ २ ॥

इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात्सुष्टुमः स्वर्काद्दत्तना सोमं पिबतु ॥ ३ ॥

देवो द्रविणोदाः पोत्रात्सुष्टुमः स्वर्काद्दत्तना सोमं पिबतु ॥ ४ ॥ (७)

[सूक्त ३]

(ऋषिः — हरिश्चिठिः । देवता — इन्द्रः ।)

आ याहि सुपुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं बृहिः संदो मम ॥ १ ॥

आ स्वां ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतार्चन्तो हवामहे ॥ ३ ॥ (१०)

(इन्द्रः ब्रह्मा) इन्द्र ब्रह्मा (ब्राह्मणात्) ब्रह्मके पाससे उत्तम स्तोत्र युक्त और उत्तम मन्त्र युक्त ऋग्वेदके अनुसार सोमरस पीवे ॥ ३ ॥

(द्रविणोदाः देवः) धनदाता देव (पोत्रात्) शोम रसको पवित्र कनिशकेके पाससे उत्तम रतुति युक्त और उत्तम मन्त्र युक्त ऋग्वेदके अनुसार सोमरस पीवे ॥ ४ ॥

ऋतुना सोमं पिबतु— ऋग्वेदके अतुकूल रसपान करे । जिस ऋग्वेदमें जितना सोम पीना शरीर स्वास्थ्यके लिये योग्य है, उतना ही उस ऋग्वेदमें पीवे अधिक न पीवे । सब ज्ञान-पान ऋग्वेदके अनुसार ही होना चाहिये ।

पोता— रसको पवित्र, शुद्ध, निर्दोष जो बनाता है ।

आग्नीध्र— अग्निको प्रदात करनेवाला ।

ब्रह्मा— यज्ञका मुख्य अध्यक्ष । यह अथर्ववेदी ही होना चाहिये ।

द्रविणोदाः— धन देनेवाला, (द्रविण-) धनका (दा) दाता ।

सु-स्तुमः— उत्तम स्तोत्रोंसे जिसको प्रशंसा होती है ।

सु-मर्कः— उत्तम मन्त्र जिसके साथ बोले जाते हैं ।

इष सूक्तं क्र. २३६, ३७ के मंत्रोंका है ।

(सूक्त ३)

हे इन्द्र ! (आ याहि) आओ, (ते सुपुमहि) तुम्हारे लिये हमने यह रस तैयार किया है, (इम सोमं पिब) इस सोमरसका पान करो, (मम इदं बृहिः वा सदाः) और मेरे लिये इस आसनपर बैठो ॥ १ ॥ (क्र. ८१७११)

हे इन्द्र ! (केशिना ब्रह्मयुजा हरी) लंबे घालोंवाले, ज्ञानके साथ जुष्ट जानेवाले घोड़े (स्वा आ वहनां) तुम्हें यहाँ ले आवे । (नः ब्रह्माणि नः उप शृणु) हमारे मंत्रोंको समीपसे सुनो ॥ २ ॥ (क्र. ८१७१२)

हे इन्द्र ! (वयं सोमिनः) हम सोमयाग करनेवाले (ब्रह्माणः) ज्ञानी लोग (सुतार्चन्तः) सोमरस तैयार करते (सोमयां स्वा) सोम पीनेवाले तुमको (युजा) लंबे साथ रहनेवाले वज्रके साथ (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ३ ॥ (क्र. ८१७१३)

आतिथ्य सरकार— 'मम इदं बृहिः वा सदाः ।' मेरे लिये इस आसनपर बैठ । जो अतिथि पर आज्ञाय उसको इस रीतिसे सम्मानपूर्वक बैठनेके लिये आसन देना चाहिये ।

सोमं पिब— सोम रस पीओ, ऐसा कहकर उस अतिथि को आसरेसे रस देना चाहिये ।

केशिनी ब्रह्मयुजा हरी तथा आघहतां— लंबे बंदी जितने शतमें हैं, जो घोड़े इशारेसे, ज्ञानसे, संकेतमात्रसे रथके साथ जुष्ट जाते हैं, ऐसे घोड़े शिक्षित होने चाहिये । इन्द्रकी ऐसे घोड़े यज्ञ स्थानपर ले आवे ।

नः ब्रह्माणि उ शृणु— हमारे मंत्र समीप बैठकर ध्यान कर ।

वयं ब्रह्माणः स्वा हवामहे— हम ब्राह्मण तुम्हें बुलाते हैं ।

युजा— साथ रहनेवाले वज्रके साथ यहाँ आओ । यज्ञका किंचित करनेके लिये राक्षस आ जाय तो उस राक्षसके लडाई नाश कर ऐसा यहाँ संकेतमात्रसे सूचित किया गया है ।

[सूक्त ४]

(ऋषिः — हरिश्चन्द्रः । देवता — इन्द्रः ।)

आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतिरुपं । पिबा सु शिमिन्धन्वसः ॥ १ ॥	
आ ते सिञ्चामि कुक्षोरान् गात्रा विधावतु । गृभ्राय जिह्वया मधुं ॥ २ ॥	
स्वादुद्ये अस्तु संसुदे मधुमान्त्वेऽ त्वं । सोमः शर्मस्तु ते हृदे ॥ ३ ॥ (१३)	

[सूक्त ५]

(ऋषिः — हरिश्चन्द्रः । देवता — इन्द्रः ।)

अयमं त्वा विचर्षणे जनीरिवामि संवृतः । प्र सोमं इन्द्र सर्पतु ॥ १ ॥	
तुविप्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे । इन्द्रो वृत्राणि जिघ्रते ॥ २ ॥	
इन्द्रं प्रेहि पुरस्त्वं विश्वभ्येशान् ओजसा । वृत्राणि वृत्रहं जहि ॥ ३ ॥	

(सूक्त ४)

हे (सु शिमिन्) उत्तम साक्षा घ्राण करनेवाले इन्द्र । (सुतावतः नः आ याहि) सोमरस तैयार करनेवाले हमारे पास आओ । (अस्माकं सुष्टुतीः उप) हमारी उत्तम स्तुतियोंको पापसे ध्रुवन कर । आर (अन्धसः सु पिब) इस रसको पीओ ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१७।४)

(ते कुक्षयोः) तैरो बालोमे (आ सिञ्चामि) मैं इस रसका सिंचन करता हूँ । यह रस तैरे (गात्रा अनु विधावतु) गात्रोंमें अनुकूलतासे दौड़ जाय । (जिह्वया मधु गृभ्राय) जिह्वयि इस मधुररसका आस्ताद प्रहण कर ॥ २ ॥

(ऋ. ८।१७।५)

(संसुदे ते) उत्तम दाता ऐसे तैरे लिये यह (स्वादुः अस्तु) मीठा रस, (त्व त्वे मधुमान्) तैरे शरीरके लिये मधुर रस । यह (सोमः त हृदे शं अस्तु) सोमरस तैरे हृदयके लिये शान्ति देनेवाला हो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१७।६)

सु-शिमिन्— उत्तम साक्षा सिरपर बांधनेवाला, उत्तम हनुवाला ।

अन्धसः सु पिब— रसका उत्तम रीतिसे पान कर । अनु-घः— मिक्षसे प्राणका बल शरीरमें बढता है वह पौष्टिक रस, सोमका रस ।

गात्रा अनुवि धावतु— अंग प्रलीगमें सुपारेनाम हो, प्रलेक अंगमें स्फूर्ति उत्पन्न हो । सोमरस पीनेसे प्रलेक अंगमें उत्साह आता है ।

जिह्वया मधु गृभ्राय— जिह्वयि मधुररसका आस्ताद लेते हुए रसपान करना चाहिये । सोमरसमें गीका दूध और मधु मिलाया जाता है । इससे यह मीठा लगता है ।

सोमः तं हृदे शं अस्तु— सोम हृदयके लिये शान्ति देता है ।

मधु, मधुमान्, स्वादुः, शं— ये पद सामरसका मीठा-पन बता रहे हैं । शब्द उरुमें डालते हैं यह बात 'मधु, मधु-मान्' इन पदोंसे स्पष्ट हो रही है ।

(सूक्त ५)

हे (विचर्षणे इन्द्र) विशेष कार्यमें कुशल इन्द्र । (अयं अमि संवृतः सोमः) यह गोदुग्धसे मिलाया हुआ सोमरस (त्वा प्र सर्पतु) तैरे पास चलता आये (जनीः ह्य) जैसी क्षिपी पतिके पास जाती है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१७।१)

(तुविप्रीवः वपोदरः) बड़ो गर्दनवाला, चबोवाले पेट-वाला (सु-बाहुः) उत्तम बलवान् बाहुवाला (इन्द्रः) इन्द्र (अन्धसः मदे) सागररसके उत्साहमें (वृत्राणि जिघ्रते) इत्रोंको मारता है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१७।८)

(इन्द्र) हे इन्द्र । (पुरः प्रेहि) आगे चल (त्वं ओजसा विश्वस्य ईशानः) तू अपनी शक्तिमें विश्वका स्वामी है । हे (वृत्रहन्) इत्रको मारनेवाले इन्द्र । (वृत्राणि जहि) इत्रोंको मार ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१७।९)

दुर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसुं प्रयच्छसि । यजमानाय सुन्वते ॥ ४ ॥
 अयं तं इन्द्र सोमो निपूतो अधिं बर्हिषि । एहीमस्य द्रवा पिबं ॥ ५ ॥
 शाचिगो शाचिपूजनाय रणाय ते सुतः । आस्रण्डल प्र हूयसे ॥ ६ ॥
 यस्ते शृङ्गवृषो नपात्प्रणपात्कुण्डपाच्यः । न्युस्मिन्दध्र आ मनः ॥ ७ ॥ (१०)

(ते अंकुशः कीर्ण अस्तु) तेरा अंकुश लबा हो
 (येन) जिससे (सुन्वते यजमानाय) सामयाग कानवाल
 यजमानके लिये तू (घसु प्र-च्छसि) धन देता है ॥ ४ ॥

(श्र. ८।१७।१०)

हे इन्द्र ! (अयं सोमः ते) यह सोमरस तेरे लिये
 (निपूत बर्हिषि प्रधि) छानकर भासनपर रखा है,
 (एहि) आभा, (हं द्रव) इसके पाश दाँडकर आभो और
 (पिब) पीओ ॥ ५ ॥ (श्र. ८।१७।११)

हे (शाचिगो) शाकियुक्त गौओंवाले, हे (शाचि
 पूजन) शाकियुक्तोंसे पूजित ! हे (आस्रण्डल) शत्रुका
 खरन करनेवाले इन्द्र ! (ते रणाय सुत) तेरे भासके
 लिये यह रस तैयार किया है और (प्र हूयसे) तू मुलाया
 जाता है ॥ ६ ॥ (श्र. ८।१७।१२)

(यः ते शृङ्गवृषः) यह जो तेरा शींगवाले बैल जैसा
 बल है, (न-पात्) न पतित होनेवाला सामर्थ्य है, तथा जो
 (प्र-न-पात्) विशेषतः न गिरनेवाला बल है और (कुण्ड-
 पाच्य) रखा करनेवाला संरक्षणका सामर्थ्य है (स्मिन्
 मनः आ दध्रे) उस सामर्थ्यमें मैं अपने मनको स्थिर करता
 हूँ ॥ ७ ॥ (श्र. ८।१७।१३)

इसके विशेषण दक्षिण—

१ शिचर्षणिः— विद्यय वर्ममें कुशल, जनोका विशेष
 दित करनेवाला, जिसके अनुकूल लग रहते हैं ।

२ तुवि-श्रीय— बडा गर्दन जिसकी है, मन्त्रवृत्त गल-
 याला, प्रायः गला या गर्दन वारोक्त रहती है, इन्द्रने व्ययाम
 करके अपनी गर्दन बलवान् था या ।

३ घपोद्दर— (घपा) चरबी (उद्दर) उदरपर
 जिसके है । पुष्ट पेटवाला ।

४ सुबाहु— बड़े बलवान् बाहुवाला, जिसके बाहु दृष्ट-
 पुष्ट बलवान् हैं ।

५ ओजसा विश्वस्य ईशान— अपना शाक्तिते
 विश्वका स्वामी बना है ।

६ शाचिगु— दृष्टपुष्ट गौवें जिसका है जो पुष्ट गौओंका
 दूध पता है ।

७ शाचि-पूजन— जिसका पूजा शाकियुक्त पुरुष करते हैं ।
 अर्थात् शाकियुक्तोंके लिये आ जो पूजनाय है ।

८ आस्रण्डल— शत्रुके खण्ड खण्ड करनेवाला । शत्रुका
 विनाश करनेवाला ।

९ शृङ्ग-वृष— शींगवाले बैलके समान जो बलवान् है ।

१० न-पात्— जो गिरता नहीं और माही स्वयं अथ-
 पतित होता है ।

११ प्र-न-पात्— विशेषरहितके जो गिरता गिरता नहीं ।

१२ कुण्ड-पाच्य— (कुण्ड-कुण्डि दाहे रक्षण च)
 रक्षक और पालक, शत्रुका दाह करके जो अपना संरक्षण
 करता है ।

ये इन्द्रके-वीरके गुण हैं । वीर इन गुणोंसे युक्त होना
 चाहिये यह बोध यही मिलता है ।

जनीः इव— बिना शत्रु ताह पतिके पास जाती है,
 जियाँ अपने पतिके साथ रहें यह लजका कर्तव्य है ।

इन्द्रः वृत्राणि जिघ्रते— इन्द्र वृत्रोंको मारता है । यही
 इन्द्र १६ पुलिगमें है और वृत्र पद नपुंसक लिंगमें है । नपुंसक
 लिंगस उधका शाकिकी होनाता बताई है । वीर इन्द्र शाकिकी
 शत्रुका मारता है ।

वृत्रहन् ! वृत्राणि जाहि— हे वृत्रको मारनेवाले वीर !
 तू वृत्रोंको मार । अपने पौरुषसे उनका वध कर ।

वृत्र— घेरनेवाला शत्रु, शत्रु जो अपनेको चारों ओरसे
 घेराता है, मेघ, वृत्र, अहुर ।

घसु प्रयच्छसि— तू धन देता है ।

सुतः निपूतः (म. ५), अग्नि संवृतः (म. १)—
 सोमरस निकाला, छाना गया, और दूधके साथ मिलाया है ।
 इसके पश्चात् (पिब) पीया जाता है । यह मनका उत्साह
 बढ़ानेवाला पेय है ।

[सूक्त ६]

(ऋषिः— विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रं त्वा वृषमं वयं सुते सोमं हवामहे । स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥	
इन्द्रं क्रतुविदं सुतं सोमं हयं पुरुष्टुत । पिबा वृषस्व तार्त्विम ॥ २ ॥	
इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वंभिर्देवैभिः । तिर स्तवान विष्पते ॥ ३ ॥	
इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सप्तपते । क्षयं चन्द्रासु इन्दवः ॥ ४ ॥	
दाधिष्वा जठरं सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम् । तव द्युक्षासु इन्दवः ॥ ५ ॥	
गिर्वेणः पाहि नः सुतं मघोर्धाराभिरज्यसे । इन्द्र त्वादातमिद्यशः ॥ ६ ॥	
अभि द्युज्ञानि वृनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता । पीत्वी सोमस्य वावृधे ॥ ७ ॥	
अर्वावर्तो न आ गहि परावतंश्च वृत्रहन् । इमा जुषस्व नो गिरः ॥ ८ ॥	
यदन्तरा परावतंमर्वावतं च ह्यसे । इन्द्रेह ततु आ गहि ॥ ९ ॥ (१९)	

(सूक्त ६)

हे इन्द्र । (सुते सोमं) सोमरस तैयार करनेपर (वयं वृषमं त्वा) हम उस शक्तिमानको (हवामहे) बुलाते हैं, (सः मध्वः अन्धसः पाहि) यह तू खादु रखको पी ॥ १ ॥
(अर्थ— २०११-१; ऋ. ३।४-११)

हे (पुरुष्टुत इन्द्र) बहुशक्ति द्वारा प्रशंसित इन्द्र । (क्रतु-विदं) कर्मका तरसाह बढानेवाले (सुतं सोमं हयं) सोम-रसको तू चाह और (तार्त्विम पिब) अर्वावत तृप्ति करनेवाले इस रखको पी और (वृषस्व) बलवान बन ॥ २ ॥
(ऋ. ३।४-१२)

हे (स्तवान) स्तुति किये गये (विष्पते इन्द्र) प्रजा-पालक इन्द्र । (नः धितावानं यज्ञं) हमारे धनसे समृद्ध इस यज्ञको (विश्वेभिः देवेभिः प्र तिर) संपूर्ण दिव्य पुरुषों या देवोंके साथ आकर बढा दो ॥ ३ ॥ (ऋ. ३।४-१३)

हे (सप्तपते इन्द्र) सप्तर्षियोंके पालक इन्द्र । (इमे सुताः चन्द्रासः इन्दवः सोमाः) ये निछोडे हुए चमकाल आनेद बढानेवाले सोमरस (तव क्षयं प्र यन्ति) तेरे आश्रयमें आते हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ३।४-१४)

हे इन्द्र । (वरेण्यं सुतं सोमं) स्वीकार करने योग्य इस सोमरसको अपने (जठरे दधीष्व) पेटमें धारण कर, (द्युक्षासः इन्दवः तव) तुलोकमें रहनेवाले ये सोमरस तेरे लिये ही हैं ॥ ५ ॥ (ऋ. ३।४-१५)

हे (गिर्वेणः इन्द्र) स्तुतिके योग्य इन्द्र । (नः सुतं पाहि) हमारे द्वारा तैयार किये इस रखको पी । (मघोः धाराभिः अज्यसे) इस मधुररसकी धाराओंसे तू संचार करता है । (यथाः त्वादातं इत्) हमारा यद्य निःसदेह तेरी ही देन है ॥ ६ ॥ (ऋ. ३।४-१६)

(वनिनः अक्षिता द्युज्ञानि) तुम्हारे भूके अक्षय धन (इन्द्रं अभि सचन्ते) इन्द्रकी ओर आते हैं । (सोम-स्य पीत्वी वावृधे) सोमरसको पीनेवाला बढा होता है ॥ ७ ॥ (ऋ. ३।४-१७)

हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले इन्द्र । (अर्वावतः परावतः च) पासे या दूरसे (नः आ गहि) हमारे पास या आओ, और (इमाः नः गिरः जुषस्व) इन हमारी स्तुतियोंका स्वीकार करो ॥ ८ ॥ (ऋ. ३।४-१८)

हे इन्द्र । (अर्वावतं) समीपसे (परावतं) दूरसे (यत् अन्तरा) मध्यसे भी (ह्यसे) तुमने हम पुकारते है । (ततः इह आ गहि) वहाँसे यहाँ आओ ॥ ९ ॥ (ऋ. ३।४-१९)
इस सूक्तमें इन्द्रके विशेषण देखिये । ये शीरेके गुण बता रहे हैं—

१ वृषमः— बलके समान बलवान्, सहायताकी इष्टि करनेवाला ।

२ पुरु-स्तुतः— बहुशक्ति द्वारा प्रशंसित, जो रक्षण करता है उस शक्तिशाली स्तुति सब करते ही रहते है ।

[सूक्त ७]

(क्रापिः — १. ३ सुकक्ष, ४ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

उद्धेदुमि श्रुतामघं वृषमं नर्यापसम् ।	अस्त्वारमेपि सूर्य	॥ १ ॥
नव यो नवतिं पुरो बिभेद वाहो जसा ।	अहिं च वृत्रहावर्षीत्	॥ २ ॥
स न इन्द्रः शिवः सखाश्चावृत्रो मघवमत् ।	उरुघारिव दौहते	॥ ३ ॥
इन्द्रं क्रतुविर्दं सुतं सोमं हर्षं पुरुष्टुत ।	पिवा वृषस्त्वा तातापिम्	॥ ४ ॥ (३३)

३ स्तवानः— रक्षांके योग्य,
 ४ विश्व-पतिः— प्रजाओंका स्यायोग्य रीतिसे पालन देनेवाला,
 ५ सत्यपतिः— सज्जनोंका पालन करनेवाला,
 ९ गिर-वनः— त्रिकोंका प्रशासक होता है ऐसा वीर,
 ७ पुत्र-इन्द्र— इन्द्रकी मातादेवाला, इन्द्रकी मातादेवाला, देनेवाला शत्रुका नाश करनेवाला । ये वीरके गुण इस सूक्तमें हैं हैं ।
 सोमरखके विषयमें इस सूक्तमें जो कहा है वह सब दोषधे-
 १ मधु अग्ना— मधु पेय रस,
 २ क्रतुविद्— कर्तव्यकर्मका स्वामी देनेवाला, जिसके नियम कर्तव्यकर्मका ज्ञान होता है,
 ३ तातापिः— तृप्ति करनेवाला,
 ४ सोमाः सुतः चन्द्रासः इन्द्रवः— ये सोमरख मरुते हैं, चमकालिये रस हैं । अग्नेरमें चमकते हैं ।
 ५ सुक्तासः इन्द्रवः— सुलोके रहनेवाले ये सोम हैं । हेमालयके मोक्षान पर्वत पर १२००० फुटपर यह सोम तनस्पति उगता है, इसलिये इसको 'सु-स' कहा है । अग्नेमें सुलोकेमें इसका निवास है ।

तातापि पिब वृषरथ— तृप्ति करनेवाले इस रथको पीना बलवान बन । यह रस पीनेसे सामर्थ्य बढ़ता है ।
 विश्वेभिः देवेभिः यज्ञं प्र निर— सब देवोंकी शक्ति-शक्ति इस यज्ञको पूर्ण कर । सब देवोंकी शक्ति यज्ञसे प्राप्त होती है ।
 सोमरस चमकता है, इसलिये इसको 'चन्द्र, इन्द्रु' ये नाम हैं । अर्थात् इस सोममें परस्पर रहता है जिसके कारण रसमें चमक रहती है । इसी कारण यह अस्वाह बढता है, तब बढता है ।

(सूक्त ७)

हे सूर्य ! (श्रुतामघं वृषमं) प्रसिद्ध ऐश्वर्यवान्, बैल बैला बलवान् (नर्य-अपसं) मानवोंके हितके लिये कर्म करनेवाले (अस्ता) वज्र फेंकनेमें कुशल, इन्द्रको मिलनेके लिये ही (अभि उत पपि घ इत्) तू तपस होता है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१३।१)
 (यः बाहु-भोजसा) जो अपने बाहुबलसे शत्रुके (नव नवतिं पुरः) न्यायसे पुनर्दोष (बिभेद) विश्वमित्र करता है (च वृत्रहा अहिं अघवीत्) और इन्द्रके सारने-वाले अहिको भी मारा ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१३।२)
 (सः नः इन्द्रः शिवः सखा) यह हमारा इन्द्र कल्प करनेवाला मित्र है । वह हमें (सखासु योमत् यवमत्) पौधों, गौवों और बौधे परिपूर्ण धन (उरुघारा इव दौहते) बलों पारसे दृष्ट देनेवाली गौके समान प्रदान करे ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१३।३)

'इन्द्रं क्रतुविर्दं' इस मंत्रका अर्थ अर्थात् २०।१।२ में (श्रु ५ पर) देखिये । (ऋ. ३।४०।२)
 इन्द्रके विशेषण इस सूक्तमें देखिये—
 १ श्रुता-मघः— प्रसिद्ध ऐश्वर्यवान्, जिसके ऐश्वर्यको चारों ओर प्रशंसा होती है ।
 २ वृषमः— बैलके समान बलवान्, इष्ट फलही वृष्टि करनेवाला, सामर्थ्यवान्,
 ३ नर्यापसं— (नर्य-अपसं)— मानवोंके हितके कर्म करनेवाला,
 ४ अस्ता— शत्रुपर वज्र फेंकनेमें कुशल,
 ५ शिवः सखा— दितकर मित्र,
 ६ वाहोजसा यः नव नवतिं पुरः बिभेद— जो अपने बाहुओंके सामर्थ्यसे शत्रुके न्यायके शत्रुके मित्र मित्र

[सूक्त ८]

(ऋषिः — १ भरद्वाजः, २ कुत्सः, ३ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

एवा पाहि प्रतया मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृषस्त्रोत गीभिः ।
 आधिः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥ १ ॥
 अर्वाङ्गेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पित्रा मदाय ।
 उरुव्यचा जठा आ वृषस्व पितृव नः शृणुहि ह्यमानः ॥ २ ॥
 आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तैव कोशं सिसिचे पिबंष्यै ।
 सस्रं प्रिया आर्ववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणित्त्रभि सोमास इन्द्रम् ॥ ३ ॥ (३६)

करता है । 'पुरः' से बहने पुरिया, दिलेवाली होती है । ये तोड़ना यथा पीरपथा कार्य है । यह इन्द्र करता है ।

७ वृत्रहा अहि अवर्धात्— वृत्रको मारनेवालेने अहिको मारा । 'अ-र्धा' कम न होनेवाला शत्रु । जिसको शक्ति बढ़ती रहती है ऐसा शत्रु । 'अहि-गण-स्थान' यह नाम 'अरुणागिस्थान' का था । 'सर्प-गण-स्थान' का 'हृष्य-गण-स्थान' हुआ, जिसका 'अरु-गणि-स्थान' हुआ ऐसा कई मानते हैं । अहि तथा सर्प जातिके मत्स्य आर्थके शत्रु थे ।

८ घन 'अश्वघत्', गोमत् ययमत्' अश्व, गोवं और अँके रूपमे था ।

९ सोमं पिब, वृषस्व— सोम पी और बलवान् बन । इससे स्पष्ट निर्दिष्ट होता है कि से मास पीनेसे पीनेवालेका बल बहुत बढ़ जाता है ।

(सूक्त ८)

(एवा प्रतया पाहि) इस प्रकार पूर्वके समान सोम-रसके पी । (त्वा मन्दतु) तुझे यह रस आनन्द देवे, (ब्रह्म श्रुधि) हमारे शत्रुको घ्न, (उत गीभिः वावृषस्त्र) और हमारे शत्रुको घ्न कर जा । (सूर्यं आधिः कृणुहि) सूर्यको प्रकट कर, (ह्यः पिपिहि) अश्वोंको पुष्टिसे युक्त कर, (शत्रून् जहि) शत्रुओंको मार, हे इन्द्र । (गाः अभि तृन्धि) किरगोंको छेदकर बाहर निकाल ॥ १ ॥

(अ. १।१।१)

(अर्वाङ्गं पाहि) इतर भा, (स्वा सोमकामं आहुः) तुझे सोमास चाहनेवाला कहते हैं । (अयं सुतः) यह रस

तैयार है, (तस्य मदाय पिय) बलको आनन्दित होनेके लिये पी । (उरु-वृष्याः जठरे आ वृषस्व) बहा बलवान् तू अपने पेटमें बाल, (ह्यमानः) तुलाया हुआ (पिता इव नः शृणुहि) पिताके समान हमारा प्रार्थना घ्न ॥ २ ॥

(अ. १।१.०५, १६)

(अस्य कलशः आपूर्णः) इसका कलश भर दिया है । (स्वाहा) यह उतम रीतिसे तुझे समर्पित हो । (सेक्ता इव कोशं) मरनेवाला जैसा पात्रको मरता है वैसा (पिबंष्ये सिसिचे) पीनेके लिये यह पात्र भर रखा है । ये (प्रियाः सोमासः) पिय सोम ! मत्स्य) आनन्दके लिये (अभि प्रदक्षिणित्) चारों ओरसे (इन्द्रं स आववृत्रन् उ) इन्द्रको घेरकर लौटा लिये हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रका वर्णन इस सूक्तमें देखिये—

१ ब्रह्म श्रुधि— वेदके मंत्रोंका श्रवण कर ।

२ गीभिः वावृषस्त्र— शत्रुको घ्नते लेई खीरि बड़ती जाय ।

३ शत्रून् जहि— शत्रुओंको मार ।

४ गाः अभि तृन्धि— [शत्रुके अर्थान रही] गौओंके कितने तोड़कर बाहर ला । शत्रु गौओंको सुराकर अपने ताँबेमें रखता है इन्द्र उत पाँकारको तोड़कर गौओंको बाहर लाता है । इस तरह सूर्य किरगोंको बाहर लाता और प्रकाशको फैलाता है ।

अभि प्रदक्षिणित्— अतिपिके अग्ने सोपे हाथको, दक्षिणकी ओर रखना, यह संयनकी वैदिक रीति है । स्वयं उत्तरीकी ओरसे जाना और अतिपिके दक्षिणकी ओर रखना ।

तं वीं दुस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्घसः ।

अभि वत्सं न स्वसरेषु घेनव इन्द्रं गीर्भिर्नैवामहे
युष्मं सुदानुं तविपीमिरावृतं गिरिं न पुरुमोजसम् ।

॥ १ ॥

धुमन्तं वाजं शतितं सहस्रिणं मधू गोमन्तप्रीमहे
तत्त्वां यामि सुवीर्यं तद्द्रव्यं पूर्वचित्तये ।

॥ २ ॥

येना यतिभ्यो भृगवे घने हिते येन प्रस्कण्वमाविष
येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णिं ते शवः ।

॥ ३ ॥

सद्यः सो अस्य महिमा न संनये गं क्षोणीरनुचक्रदे

॥ ४ ॥ (४०)

(सूक्त ९)

(तं वीं दस्सं) आपके उस दर्शनोप (ऋणीपहं) शत्रु
ओषा पराम करनेवाले (वसोः अन्घसः मन्दानं) स्वहे
निवासक अक्षय अनानन्दत होनेवाले (इन्द्रं) इन्द्रकी हम
(गीर्भिः नवामहे) गीर्भसे प्रशंसा गाले हैं । यैषो (घेनवः
स्वसरेषु घससं अभि न) गीर्वे शोभोम रहे अपने दरसके
[लिभे हंभारतो है ।] ॥ १ ॥ (ऋ. ८।८।१)

(सु-दानुं) युगोद्धमें रहनेवाले अति तेजस्वी (सु-दानुं)
उत्तम दान देनेवाले, (तविपीमिः आवृतं) अनेक शक्ति-
योगे युक्त (पुरुमोजसं गिरिं न) बहुत भोजन देनेवाले
पर्वतके समान, (धुमन्तं) अक्षय पूर्ण (वाजं) शक्तिमान्
(गोमन्तं) गीर्भोवाले (मधू) सत्वर हम (शतितं सह-
स्रिणं इमहे) शक्यों और हजारों घन मांगते हैं ॥ २ ॥

(ऋ. ८।८।२)

(तत् सुवीर्यं द्रव्यं) उस वीर्यको उत्तम शीतसे बढ़ाने-
वाले ज्ञानको (पूर्व-चित्तये) प्रथम विचार करनेके लिये
(त्वा यामि) तैरे पास मैं मांगता हूँ । जब (घने हिते)
युद्ध शुरु हुआ तब (येन) जिस शक्तिसे (यतिभ्यः
भृगवे) यतियोंके लिये, भृगुके लिये रख्य किया और (येन
प्रस्कण्वं आविष) जिस शक्तिसे प्रस्कण्वकी रसा की ॥ ३ ॥

(ऋ. ८।३।५)

(येन समुद्रं असृजः) जिस सामर्थ्यसे समुद्रको तैरे
उत्पन्न किया और (महीः अपः) बड़े अलप्रवाह पैदा किये,
हे इन्द्र ! (ते वृष्णि शवः) वह सुखकी हृदिकरनेवाला तेरा
हो बल है । (सः अस्य महिमा सद्यः न संनये) वह
इसका महिमा कर्मा नष्ट नहीं होता, (यं क्षोणीः अनुच-

क्रदे) जिसका वर्धन सब मनुष्य घर रहें हैं ॥ ४ ॥

(ऋ. ८।३।५)

इस सूक्तमें इन्द्र वीरके गुण ये बड़े हैं—

१ दस्सं— दर्शनोप, सुन्दर, वृक्ष,

२ ऋणी-सह— शत्रुओंका नाश करनेवाला, हानि पहुँ-
चानेवालोंको दूर करनेवाला,

३ वसोः अन्घसः मन्दानं— जिससे प्राणियोंका निवास
होता है, जिससे प्राणोंका धारण होगा है उस प्रकारके अक्षय
आनन्दित होनेवाला,

४ सुदानुः— सुलोकमें रहनेवाला,

५ सुदानुः— दान देनेवाला,

६ तविपीमिः आवृतः— नाना शक्तियोंसे युक्त,

७ पुरुमोजासः— अनेक प्रकारके अन्न अपने पास
रखनेवाला,

८ धुमानं— अन्न पास रखनेवाला,

९ गोमान्— गीर्भे पास रखनेवाला,

१० घने हिते आविष— युद्ध शुरु होनेपर रक्षण
करता है ।

११ वृष्णि शवः— बल बढ़ानेवाला सामर्थ्य जिसका है ।

१२ यं क्षोणीः अनुचक्रदे— जिसका सब लोग वर्धन
करते हैं ।

१३ येन समुद्रं असृजः, महीः अपः— जिसने समुद्र
और बड़े नदी प्रवाह उत्पन्न किये ।

१४ अस्य महिमा न संनये— इसका महिमा कप
नहीं होता ।

ये गुण इन्द्रके, वीरके हैं । वीरमें ऐसे गुण रहने चाहिये ।

[सूक्त १०]

(ऋषिः — १-९ मेघधातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।

सत्राजितो घनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रया इव ॥ १ ॥

कणा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्रीतमानशुः ।

इन्द्रं स्तोमेभिर्मुह्यन्त आयवः प्रियमेघासो अस्वरन् ॥ २ ॥ (४२)

[सूक्त ११]

(ऋषिः — १-१२ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ. ३।३४।१-११)

इन्द्रः पुमिदातिरहासंमर्केर्विद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् ।

मक्षजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उमे ॥ १ ॥

मस्त्रस्य ते तविषस्य प्र जतिभिर्यमि वाचममृताय भूपन् ।

इन्द्रं क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावां ॥ २ ॥

(सूक्त १०)

(वाजयन्तः रयाः इव) बलशाली रयां-रयो वीरोंकी तरह (सत्राजितः) एक साथ जीतनेवाले (घनसाः) घन देनेवाले (अक्षित उतयः) जिनका संरक्षण अक्षय है, ऐसे (स्ये मधुमत्तमा गिरः) मीठे स्तुति बचन और (स्तोमासः) स्तोत्र (उतु ईरते स) उठते हैं ॥ १ ॥ - (ऋ. ८।३।१५)

(भृगवः कृणवा इव) सृष्टुअनि कण्ठोंकी तरह (सूर्या इव) सूर्यके समान (विश्वं घीतं इत् आनशुः) संपूर्ण अभिषेक प्राप्त किया है । (प्रियमेघासः आयवः) प्रियमेघ नामक पुरुष (स्तोमेभिः इन्द्रं महयन्त अस्वरन्) स्तोत्रोंसे इन्द्रकी बर्षा स्तुति करते रहे ॥ २ ॥ (ऋ. ८।३।१६)

इस सूक्तमें वीरोंके ये गुण कहे हैं—

१ सत्राजितः— साथ साथ रहकर युद्धमें जीतनेवाले,

२ घन-साः— घनका दान करनेवाले,

३ अक्षित-उतयः— जिनका संरक्षण कमी कम नहीं होता ।

४ वाजयन्तः— बलयुक्त, शक्तिशाली,

५ रयाः— रथ अर्थात् वीरोंकी ।

ये रथी वीर हैं ऐसे वीर होने चाहिये ।

१ मधुमत्तमा गिरः स्तोमासः उतु ईरते— मीठे

१ (अथर्व. मान्य. काण्ड २०)

स्तोत्र गाने जाते हैं । सबको मिलाकर ईश्वरकी मीठी स्तुतियोंका कंचे खरबे गान करना योग्य है ।

१ प्रियमेघासः आयवः अस्वरन्— जिनकी बुद्धिमें प्रेम है ऐसे लोग एक स्वरसे ईश्वरकी स्तुति करते हैं ।

३ इन्द्रं स्तोमेभिः महयन्तः— इन्द्रकी-प्रशुको स्तोत्रोंसे महती गाने हैं । प्रशुके यथाका गान करना चाहिये ।

(सूक्त ११)

(पुमिद्) शत्रुके किलोंकी तोड़नेवाले (विद्व-वसुः) घन देनेवाले (शत्रून् वि दयमानः इन्द्रः) शत्रुओंकी मारनेवाले इन्द्रने (मर्केः दासं आतिरत्) अपनी तेजः शक्तियोंसे दास रूप शत्रुको मार डाला । (मक्ष-जूतः, तन्वा वावृधानः) शानसे प्रेरित हुए, अपने शरीरसे बढने-वाले (भूरि-दात्रः) बड़े दानी इन्द्रने (उमे रोदसी आपृणात्) दोनों वृ और पृथिवीको अपने तेजसे भर दिया ॥ १ ॥

(तविषस्य मस्त्रस्य ते) सर्व शक्तिमान्, पृथनीव ऐसे तेरे समीप (जूतिं वाचं प्र ह्यमि) वेगवली वाणीको मैं प्रेरित करता हूँ । और (अमृताय भूपन्) अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये समर्पित करता हूँ । हे इन्द्र ! तू (मानुषीनां क्षितीनां) मानवी प्रजाओंका (उत दैवीनां विशां) और देवी प्रजाओंका (पूर्वयावा असि) पहिला नेता है ॥ २ ॥

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्षणीतिः ।

अहन्व्यसिमुशधुग्वनेवाविधेना अकृणोद्राम्याणाम् ॥ ३ ॥

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः ।

प्रारोचयन्मनेवे केतुमहामविन्दज्ज्योतिर्वृहते रणाय ॥ ४ ॥

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवदधानो नर्यां पुरूणि ।

अचेतयद्विर्य इमा जरित्रे प्रेमं वर्षीमतिरच्छुक्रमांसाम् ॥ ५ ॥

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि ।

वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेय मायाभिर्दस्यूरभिर्भृत्योजाः ॥ ६ ॥

युधेन्द्रो मृद्धा वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः ।

विवस्वतः सदेने अस्य तानि विप्रा उक्येभिः कृवर्यो गृणन्ति ॥ ७ ॥

सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां संसर्वांसं स्वरिपश्च देवीः ।

ससान यः पृथिवीं घामुतेमामिन्द्रं मदुन्त्यनु धीरणासः ॥ ८ ॥

(शार्धनीतिः इन्द्रः) दलोंको पलानेवाले इन्दने (वृत्रं अवृणोत्) दृक्को घेर लिया । (वर्षणीतिः मायिनां प्र अमिनात्) नाना रूपोंको लेनेवाले इन्दने कपटी शत्रुओंको विशेष रीतिसे नष्ट किया । (घनेषु उशधुग्वं व्यसं अहन्) वर्णोंको प्रचण्ड रूपसे अलानेवालेने व्यस-दुःख देनेवाले शत्रु-को मार दिया और (राम्याणां घेनाः आधिः अकृणोत्) रात्रोंमें छिपायी गोवोंको-फिरणोंको-प्रकट किया । शत्रुने छिपायी गोवोंको बाहर निकाला ॥ ३ ॥

(स्वर्षा इन्द्रः) स्वयं प्रकाशी इन्दने (अहानि जनयन्) दिनोंको उत्पन्न किया, (अभिष्टिः) अपना अर्मष्ट प्राप्त करनेवाले इन्दने (जिगायोशिग्भिः) अपने साधियोंके साथ रहकर (पृतना जिगाय) शत्रुघेनाको भीत लिया । (मनवे) मनुष्यमात्रके हितके लिये (अदां केतुं प्रारोचयत्) दिनोंके संकेतों-सर्पको-प्रकाशित किया और (वृहते रणाय) बड़ा रमणीयताके लिये (ज्योतिः अविन्दत्) प्रकाशको प्राप्त किया ॥ ४ ॥

(इन्द्रः) इन्द्र (तुजः) त्वरासे (बर्हणा आ विवेश) शत्रुघेनामें घुस गया । वह (नृवत्) नेताके समान (पुरूणि नर्यां दधानः) बहुत शीरके कर्म करता है । (जरित्रे इमाः धियः अचेतयत्) अपने अपनी स्तुति करनेवालेके लिये

ये बुद्धिवा सचेत की और (आसां इमं शुक्रं वर्णं) इन उपायोंके इध स्वच्छ प्रकाशको (प्र अतिरत्) अधिक प्रकट किया ॥ ५ ॥

(अस्य महः इन्द्रस्य) इस महान् इन्द्रके (पुरूणि सुकृता महानि कर्म) बहुत सुकृतके बड़े कर्म हैं भिनकी लोग (पनयन्ति) स्तुति करते हैं । (वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेय) कपटसे कपटियोंको अपने पीछे डाला । (अभिभूति-व्योजाः) शत्रुका पराभव करनेके सामर्थ्यवाले इन्दने (मायाभिः दस्यून्) अपनी शक्तियोंसे दुष्टोंको दूर किया ॥ ६ ॥

(सत्पतिः चर्षणिप्राः इन्द्रः) सज्जनोंके पालक और मानवोंके मनोरथ परिपूर्ण करनेवाले इन्दने (मृद्धा युधा) अपनी महिमासे और युद्ध करके (देवेभ्यः वरिवः चकार) देवोंके लिये श्रेष्ठता निर्माण की । (विपस्वतः सद्ने) विवस्वानके घरमें (विप्राः कचयः) ज्ञानी कवि (अस्य तानि उक्येभिः गृणन्ति) इस इन्द्रके उन कर्मोंका स्तोत्रोंसे गान करते हैं ॥ ७ ॥

(सत्रासाहं) साथ रहकर जीतनेवाले (वरेण्यं) श्रेष्ठ विजयी, (सहोदां) साहचर्यम बल देनेवाले (स्वः देवीः अपः च संसर्वांसं) स्वप्रकाश और दिव्य बलको जीतने-

ससानात्स्यो उत सूर्यं सत्तानेन्द्रः ससान पुठमोजसं गाम् ।

हिरण्यर्पमुतभोगं ससान हृत्वी दस्पुन्रार्यं वर्णमावत् ॥ ९ ॥

इन्द्र और्षधीरसनोदहानि वनस्पतीरसनोदन्वारिषम् ।

॥ १० ॥

विभेदं वलं नुनुदे विवाचोऽर्थाभवद्मिताभिक्रतूनाम्

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रं मुसिन्मरे नृत्तं वाजसातौ ।

शृण्वन्मृगप्रभृतयं समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं घनानाम्

॥ ११ ॥ (५३)

बाले (इन्द्रं) इन्द्रके घाय (घोरपासः अनुमदन्ति) बुद्धिमान् ज्ञानी लोग आनन्द मगते हैं, (यः पृथिवीं उत इर्मां घां ससान) त्रिपदे पृथिवी और इष युक्तोक्ते जीता है ॥ ८ ॥

(इन्द्रः अत्यान् ससान) इन्द्रने घोड़े जीते हैं । (उत सूर्यं ससान) और सूर्यको जीता है, (पुठमोजसं गां ससान) बहुत अन्न देनेवाली घायको जीता है, (हिरण्यं उत भोगं ससान) सुवर्णको और भोगको जीता है, (दस्पुन् हृत्वी) उसने दस्पुओंको मारकर (आर्यं वर्णं प्रावत्) आर्य वर्णकी रक्षा की है ॥ ९ ॥

(इन्द्रः औषधीः महानि-असनोत्) इन्द्रने आयुषियों और दिनोंको जीता, (वनस्पतीन् अन्वारिषं अखनोत्) वनस्पतियों और अन्वारिषको जीता, (वलं विभेदं) वल नामक शत्रुको तोड़ दिया, (विवाचः नुनुदे) विरुद शेरनेवालोंको दूर किया और (अथ अभिक्रतूनां क्षमिता अमवत्) और यज्ञके विरोधियोंका दमन करनेवाला हो गया है ॥ १० ॥

(शुनं मघवानं) उषन शुनबाले घनवान् (असिन् मरे वाजसातौ) इष सुद्धमं घनोको जीतनेके लिये (नृत्तं) श्रेष्ठ नेता बने (शृण्वन्तं वरुं) सबका सुननेवाले समन्त (समत्सु ऊनयं) सुद्धमं रक्षणार्थं (वृत्राणि घ्नन्तं) शत्रुओंको मारनेवाले (घनानां संजितं) घनोंको जीतनेवाले (इन्द्रं हुवेम) इन्द्रको इम सुनाने ॥ ११ ॥

इष सुद्धमं इन्द्रवारके गुण देखिये—
१ पूर्वम्— शत्रुके किले तोड़नेवाला, शत्रुके पुरियोर अपना अधिकार अमानेवाला,

२ दासं अकैः आतिरत्— दास नामक शत्रुको शस्त्रोंसे मार,

३ विद्वत्सुः— घनका दान करनेवाला,

४ शश्वन् विद्यमानः— शत्रुओंका नाश करनेवाला,

५ मरु-जूलः— शानसे प्रेरित होनेवाला,
६ तन्वा वावृघानः— शरीरसे बड़ा, बलवान् शरीरवाला,
७ मुरिदात्रः— बहुत दान देनेवाला,
८ अमे रोवसी आपृणात्— दोनों लोकोंको तेजसे मरनेवाला,

९ तथियः— बलवान्,
१० मरुः— पृथ्वीय,
११ अमृताय भूपन्— अमरत्वके लिये वेशभूषा करनेवाला,

१२ मानुषानां क्षितीनां देवीनां विशां पूर्वयावानमानवी और देवी प्रजाओंका अर्पण नेता,

१३ शर्धनीतिः— शिष्टकी नीति बलके आश्रयसे चलती है,

१४ वृत्तं अवृणोत्— त्रिपदे शत्रुको घेरा था,
१५ वर्पनीतिः मायिनां प्र अमिनात्— अनेक रूप धारण करनेवाले इन्द्रने कपटियोंका परामव किया ।

१६ वर्प-नीतिः— अनेक रूप धारण करनेवाला इन्द्र है ।

१७ व्यंसं महानत्— व्यंसको मार,

१८ उशघृत्— प्रशकित होनेवाला, तेजस्वी;

१९ स्वर्पा— प्रक्षरशुक्र,

२० अमिष्टिः उशिग्मः पृथनाः जिगाय—इष्ट कार्य करनेवाले अपनी शक्तिसे शत्रुघेनाओंको जीत लिया ।

२१ मृहते रणाय ज्योतिः अधिगत्— बड़े आनन्दके लिये प्रघस प्राप्त किया ।

२२ इन्द्रा तुजः बर्हेणा आविवेश— इन्द्र त्वरसं कार्य करनेवाला वेपथे शत्रुघेनामें घुस गया ।

२३ नृवत्— नेता हुआ ।

२४ पुक्राणि नर्यां घघानः— बड़े शीघ्र कर्म करता है ।

२५ इमा धियः अचेतयत्— ये बुद्धियां सचेत करता है ।

२६ अस्य महः इन्द्रस्य महानि पुक्राणि सुकृता

आपश्चित्पिप्यु स्तुर्योऽं न गात्रो नक्षत्रं जरितारस्त इन्द्र ।
 याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि घीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ ४ ॥
 ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराघसं जरित्रे ।
 एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिन्धूर सर्वने मादयस्व ॥ ५ ॥
 एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अम्यर्चिन्त्यकैः ।
 स न स्तुतो वीरवेद्वातु गोमधुयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥
 ऋजीषी वृजी वृषमस्तुराषाट्कुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा ।
 युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदुर्वाह्माघ्यदिने सर्वने मत्सदिन्द्रः ॥ ७ ॥ (६०)

वृत्राणि अपती जघन्वान्) इन्द्रने वृत्रोंको अघातन रातिसे मारा है ॥ ३ ॥

(स्तर्यः गावः न) बंध्या गोओंके समान (आपः पित्युः चित्) जलप्रवाह पृष्ट हुए हैं । हे इन्द्र ! (ते जरितारः ऋतं नक्षत्रं) तेरो स्तुति करनेवाले सत्य यज्ञको प्राप्त होते हैं । (नः अच्छा नियुतः आ याहि) तू हमारे पास घोषा घोषोंके आ आओ (वायुः न) जैसा वायु आता है । (त्वं हि घीभिः धाजान् विदयसे) तू अपने बुद्धियुक्त कर्मोंसे अन्नो और बलोंको बांटता है ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! (ते मदा) ये आनेददायक सोमरस (जरित्रे तुविराघसं शुष्मिणं त्वा) स्तोत्रोंके लिये पर्याप्त धन देनेवाले विशेष शक्तिवाले तुझको (मादयन्तु) आनन्दित करें । तू (एकः) अकेला ही (देवत्रा) देवोंमेंसे (मर्तान् दयसे हि) मानवोंपर दया करता है । हे शूर ! (अस्मिन् सवने मादयस्व) इस सोमभागमें आनंदित हो ॥ ५ ॥

(वज्रबाहुं वृषणं इन्द्रं) वज्र बाहुपर धारण करनेवाले बलवान् इन्द्र ही (वसिष्ठासः एव इत् अकैः) वसिष्ठ इस तरह स्तोत्रोंके (अम्यर्चिन्ति) पूजा करते हैं । (नः स्तुतः सः) हमसे स्तुति किया गया वह इन्द्र (वीरवत् गोमात् घातु) वीर पुरुओं और योओंके साथ रहनेवाला धन हमें देवे । (यूयं सदा नः स्वस्तिभिः पात) तुम सदा हमारी कल्याणोंके साथ रक्षा करो ॥ ६ ॥

(ऋजीषी) सोमपान करनेवाला (वृजी) वज्र धारण करनेवाला (वृषमः) घोड़के समान बलवान् (तुराषाट्) दरवाघे शत्रुओंको दबानेवाला, (कुष्मी) बलवान्, (राजा) शासक, (वृत्रहा) वृत्रको मारनेवाला, (सोमपावा) सोम पीनेवाला, (हरिभ्यां युक्त्वा) दो, पंडोंको जोड़कर

(अर्घाह उप यासत्) हमारे पास आये, (इन्द्रः माघ्य-दिने सवने मत्सत्) इन्द्रने मघ्यदिनके रक्षणके समय आनन्दित हो जाय ॥ ७ ॥

इस सूक्तमें वीरके लक्षण ये कहे हैं—

१ इन्द्रं समर्थं महय—संप्राममें इन्द्रकी महिमा गाओ ।

२ यः शवसा विभ्वानि आततान्—वह अपने बलसे विचकों फैलाता है ।

३ इवतः मे घचांसि उपधोता—प्रायना करनेवाले मेरा माषण कह सुनता है ।

४ हे इन्द्र ! देवजाभिः घोषः अयाभिः—हे इन्द्र ! तू देवोंका बन्धु है ऐसा घोष सुनते हैं ।

५ विवाचि शुक्रयः यत् इरजयन्त—विद्वद् बोलनेवालोंकी वाणीमें शोकको बिरोध करनेवाले शब्द होते हैं ।

६ शवेयणं रथं हरिभ्यां युजे—गोओंको इंद्रनेवाले रथको मैं दो घोडे जोतता हूँ ।

७ ब्रह्माणि जुजुपाणं उप अस्युः—स्तोत्र सेवन करनेवालेके पास पहुंचते हैं ।

८ स्व महित्वा रोदसां वि याघिष्ट—वह अपने महत्त्वसे दोनों लोकोंको भरता है ।

९ इन्द्रः वृत्राणि अपती जघन्वान्—इन्द्र अग्रिम रातिसे वृत्रोंको मारता है ।

१० नः अछ निपुतः आयाहि—हमारे पास घोषोंके आशा ।

११ त्वं हि घीभिः धाजान् विदयसे—तू अपने बुद्धियुक्त कर्मोंसे हमें बल देता है ।

१२ शुष्मी—बलवान्,

१३ तुविराघाः—बहुत धनवाला,

[सूक्त १३]

(ऋषिः — १ घामदेवः, २ गीतमः, ३ कुत्सः, ४ विश्वामित्रः ।
देवता — १ इन्द्रावृहस्पती, २ मरुतः, ३-४ अग्निः ।)

इन्द्रश्च सोमं पिबतं वृहस्पतेऽसिन्पुत्रे मन्दसाना वृषण्वध ।
आ वां विशुत्विन्दवः स्वासुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम् ॥ १ ॥
आ वो वहुन्तु सर्पयो रघुपदौ रघुपत्वानः प्र जिगात वाहुभिः ।
सौदता बुद्धिरु वः सर्दस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः ॥ २ ॥
इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्येषु सुरये मा रिपामा वयं तव ॥ ३ ॥
ऐभिर्त्से सरथं पाक्ष्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यधाः ।
पत्नीवतस्त्रिशतं त्रींशं देवाननुष्वमा वहं मादयस्व ॥ ४ ॥ (६४)
॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

१४ देवता एकः मर्तान् दयसे— देवोंमें अकेला तु मानवोंपर दया करता है ।

१५ मदा स्वा मादयन्तु— ये सोमरस दुधे आनन्द देवें ।

१६ शूर ! अस्मिन् सवने मादयस्व— हे शूर ! इस सवनमें आनन्द मरा ।

१७ वज्रबाहुः वृषणाः— वज्रके समान कठिन बाहु-वाला और बलवान् ।

१८ सः नः घोरवत् गोमत् घातु— वह हमें घोर पुत्रों और गौबोंके साथ रहनेवाला घन देवें ।

१९ ऋजीषी— सोमरस पीनेवाला,

२० वज्री— वज्र बर्तनेवाला,

२१ तुरापाङ्— त्वरासे घञ्जुका परामव करनेवाला,

२२ राजा— शासक,

२३ वृत्रहा— वृत्रको मारनेवाला,

२४ सोमपावा— सोमरस पीनेवाला,

२५ हरिभ्यां युक्त्या— दो घोषोंके जोड़कर ।

(सूक्त १३)

हे वृहस्पते ! तू और इन्द्र (मन्दसाना वृषण्वध) आनन्द मनाते हुए, बलवानोंके निवास देनेवाले इम दोनों (अस्मिन् यजे) इस यज्ञमें (सोमं पिबत) सोमरस पीओ । (सु-आमुवः इन्द्रवः) वसम रीतिसे सिद्ध हुए ये सोमरस (घां वा विशन्तु) दुग्धारे अन्दर जाय । (अस्ते

सर्ववीरं रयिं नि यच्छतं) इनको सब पुत्रपौत्रोंसे दुष्क धन दे दो ॥ १ ॥

(अ. ४।५-१।०)

(रघु-पदः सतयः वः वा घहन्तु) शीघ्र चलने-वाले घोड़े आनेको इधर ले आवें । (रघु-पत्वानः वाहुभिः प्र जिगात) मुझाओंसे शीघ्र लड़ते हुए आगे बढ़ो । (बुद्धिः सौदत) आधनवर बैठो, (वः उध सदः कृतं) दुग्धारे तिमि विशुद्ध स्थान किया है । हे मरुतो ! (मध्वः अन्धसः मादयध्वं) मधुर रसके आनन्दित हो जाओ ॥ २ ॥

(अ. १।८५-६)

(रथं इव) रथको समाने हैं उस तरह (इमं स्तोमं) इस स्तोत्रको (अर्हते जातवेदसे) योग्य जातवेद-अग्नि-के लिये (मनीषया सं महेम) बुद्धिसे धरते हैं । (अस्व संसद्) इसके साथ बैठनेमें (ना भद्रा प्रमतिः) इनपर कल्याणकारिणी सुदि विरहित होती है । हे लमे ! (तव सरथे वयं मा रिपाम) तेरी मित्रतामें हम हमारे न लड़ें ॥ ३ ॥

(अ. १।१५।१)

हे अग्ने ! (पमिः सरथं सर्वाङ् वा याहि) इन देवोंके साथ एक रथन बैठकर इधर जा । अथवा (नाना रथं वा) अनेक रथोंपर बैठकर ले जा । (हि अश्याः विभवः) क्योंकि आपके घोड़े पैमवधंपन्न हैं । (पत्नीवतः) पत्नी-योंके साथ (त्रिशतं त्रींशं च देवान्) तीस और तीस देवोंके (अनु-स्वघं वा घह) उनकी अपनी धाराशाक्तिके

[सूक्त १४]

(अग्निः — १-४ लीमरिः । देवता — इन्द्रः ।)

वयमु त्वामपूर्व्यं स्थूरं न कश्चिद्भरन्तोऽवस्वर्वः । वाजे चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

उप त्वा कर्मभूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो ध्रुवत् ।

त्वामिद्व्यवितारं ववुमहे सखाय इन्द्र सान्निभम् ॥ २ ॥

यो न इदामिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुपे । सखाय इन्द्रभूतये ॥ ३ ॥

हर्यंश्च सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत ।

आ तु नः स वयति गव्यमृष्यं स्तोतृभ्यो मघवां शतम् ॥ ४ ॥ (६८)

अनुकूल रखकर यहाँ ले आ और (मादयस्व) उनको प्रसन्न कर ॥ ४ ॥ (ऋ. - ३।६।९)

इसमें इन्द्र, वृद्धस्वति, मरुत् और अग्नि का वर्णन है । इनके गुण ये हैं—

१ मन्दसानौ— आनन्दित रहनेवाले,

२ ध्रुवपवसू— बल बढ़ानेवाला घन अपने पाश रखनेवाले ।

३ सर्ववीरं रयिं नि यच्छलं— वीर पुत्रोंके साथ रहनेवाला घन दो । पुत्रपौत्र जिससे बढ़ते हैं ऐसा घन चाहिये । पुत्रहीन घन नहीं चाहिये ।

४ रघुष्यदः रघुपत्वानः सप्तयः— घोड़े बलहीन होनेवाले चाहिये ।

५ जात-वेदाः— वेद जिससे हुए, ज्ञानप्रसारक,

६ अय संसद् नः भद्रा प्रमतिः— इसके साथ रहनेसे कल्याण करनेवाली बुद्धि होती है ।

७ तव सख्ये मा रिपाम— तेरी मित्रतामें हमें हानि न पहुँचे ।

८ एभिः सरथं वा नानारथं वा याहि— इन देवोंके साथ एक रथमें या नाना रथोंमें बैठकर आओ । रथमें बैठकर देव आते हैं । अग्निके साथ देव आते हैं ।

९ अश्वाः विभवः— घोड़े सामर्थ्यवान् हैं, वैभववान् हैं, कीमती हैं ।

१० परनीयतः भ्रिशलं श्रीन् च देवान् अनुष्यद्यं मा वह— परनीयों समेत ३३ देवोंको ले आओ, उनको जो अन्न चाहिये वह दो ।

११ मादयस्व— उनको आनन्दित रख । सब आनन्द प्रसन्न रहें ।

॥ यहाँ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त १४)

हे (अ-पूर्व्यं) अर्ध इन्द्र! (कश्चित् स्थूरं न भरन्तः) कोई विशेष घन अपने पास न रखनेवाले परंतु (अवस्वर्वः) अपनी सुरक्षा चाहनेवाले (वयं) हम (चित्रं त्वां) आश्चर्यमय तुझको (वाजे उ हवामहे) युद्धमें सहायार्थ बुलाते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।२।१)

(कर्मन् ऊतये त्वा) युद्धके कर्ममें रक्षाके लिये तुझे बुलाते हैं । (सः यः) वह तू (युवा) तरुण (उग्रः) वय वीर (ध्रुवत्) शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य धारण करनेवाला (नः उप चक्राम) हमारे समीप आ । (त्वां इदं द्वि व्यवितारं ववुमहे) तुझे ही रक्षक करके हम स्वीकार करते हैं । हे इन्द्र ! (सखायः सान्निभं) सब साथी तुम बड़े दानीको हम अपना रक्षक करते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।२।१२)

(यः नः इदं इदं वस्यः) जिसने हमारे पास यह इस तरहका घन (पुरा प्र आनिनाय) पहिले लाया, हे (सखायः) मित्रो ! (तं इदं उ) उसी इन्द्रकी (यः ऊतये स्तुपे) तुम्हारी रक्षाके लिये स्तुति करता हूँ ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।२।१६)

(हर्यंश्च) लाल अश्वोंवाले (सत्पतिं) सज्जनोंका पालन करनेवाले (चर्षणी-सहं) शत्रु सैन्यके जीतनेवाले इन्द्रकी मैं स्तुति करता हूँ । (सः हि यः अमन्दत स्स) वही है जो आनन्द मनाता है । (सः मघवा तु) वही घनवान् इन्द्र (नः स्तोतृभ्यः) हम स्तोताओंकी (गव्यं अश्वयं शतं वयति) सौ गव्यों और घोड़ोंके समूह लाकर देता है ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।२।१९)

इस सूक्तमें वीर इन्द्रके जो गुण बताये हैं वे ये हैं—

[सूक्त १५]

(अपि) — गोतमः । देवता — इन्द्रः ।)

(अ. १. ५७. १-६)

संहिषाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तुवसे मति भरे ।

अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राघो विश्वायं शर्वसे अपावृतम् ॥ १ ॥

अर्धं ते विश्वमनु हासदिएय आपो निभ्रव सर्वना हृविष्मतः ।

यत्पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्रथिता हिरण्ययः ॥ २ ॥

असौ भीमाय नमसा समध्वर उपो न शुभ्र आ मरा पनीयसे ।

यस्य धाम शर्वसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नार्यसे ॥ ३ ॥

इमे ते इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो ।

नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सर्षत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः ॥ ४ ॥

१ अपूर्व्यः— इसके समान दूसरा वीर नहीं हुआ ।

२ घाजे विश्वं— युद्धमें आधर्यकारक वीरता जो दिखाता है ।

३ युवा— सदा तरुण, आयु बढी होनेपर भी तरुण जैसा कार्य करनेवाला ।

४ उग्रः— उग्र शूरवीर,

५ धृपत्— शत्रुका पराभव करनेवाला धैर्यवान् ।

६ कर्मन् ऊतये— प्रत्येक युद्धके कर्ममें रक्षा करनेवाला,

७ अविता— संरक्षण करनेवाला,

८ सानसिः— विशेष दान देनेवाला,

९ यः नः इदं वस्य आनिनाय— जो हमारे पास इस तरहका धन लाता है । 'वस्य' धन वह है कि जो मानवोंको बसानेवाला है ।

१० हर्यम्वा— लाल धेड़ोंवाला,

११ सत्पतिः— सज्जनोंका रक्षक,

१२ चर्षणी सहः— शत्रुके वीर मानवोंका पराभव करनेवाला,

१३ मघवा गव्यं अश्वयं शतं घयति— इन्द्र शिकड़ों गोओं और घोड़ोंके समूह देता है ।

(सूक्त १५)

' (संहिषाय) बड़े महान्, (बृहते) सबसे श्रेष्ठ, (बृहद्रये) बड़े धनवाले, (सत्यशुष्माय) सच्चे बलवाले, (तवसे) सामर्थ्यशाली इन्द्रके लिये (मतिं प्र भरे) स्तोत्र गाता है । (यस्य दुर्धरं राघः) त्रिमया अतुलनीय धनदान (प्रवणे अपां इव) गहराईमें जलके पूरके समान

(विश्व-आयु) सब मानवोंके लिये और (शवसे) बलके लिये (अपावृतं) प्रसिद्ध है ॥ १ ॥

(अथ विश्वं ते इष्टये इ अनु असत्) अथ सब विश्व तेरी इष्टी-तेरे यज्ञ-के लिये अनुकूल रहता है । (आपः निम्ना इव) जलप्रवाह नीचाईकी ओर आते हैं, उस तरह (हृविष्मतः सवना) हृविषालोंके हवन तेरे पास जाय । (इन्द्रस्य हिरण्ययः हर्यतः वज्रः) इन्द्रका सुवर्णमय तेजस्वी वज्र (पर्वते यत् न समशीत) पर्वतपर रहे भेषमें ही नहीं प्रभावित होता परंतु वह (अश्रिता) सबको चूर्ण करनेमें समर्थ रहता है ॥ २ ॥

(असौ भीमाय पनीयसे) इस भयंकर तथा स्तुतिके योग्य इन्द्रके लिये (उपः न) उषाके समान प्रकाशित (नमसा श्वध्वरे सं आ मर) नमस्कारपूर्वक शुद्ध यागमें हवि लाकर मर दे । (यस्य धाम नाम शर्वसे) त्रिमया स्थान और नाम यज्ञके लिये तथा (इन्द्रियं ज्योतिः अकारि) इंद्रियकी ज्योति प्रकाशके लिये बन ई गयी है (हरितः न अयसे) जैसे घोड़े गतिके लिये हैं ॥ ३ ॥

हे (पुरुष्टुत इन्द्र) बहुतां द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! हे (प्रभूवसो) प्रभू धनवाले ! (इमे ते ते वयं) ये वे हम तेरे ही हैं । (ये त्वा आरभ्य चरामसि) जो तेरा सहाय लेकर किरते हैं । हे (गिर्वणः) स्तुतिके स्वामिन् ! (त्वत् अन्यः) तेरे विवाय कोई दूसरा (गिरः नहि सघत्) हमारी स्तुतियोंकी स्वीकार कर नहीं सकता । (क्षोणीः इव) प्रजाओंका जैसा राजा (नः तत् वचः प्रति हर्यं) वैसा हमारे इस वचनका स्वीकार कर ॥ ४ ॥

भूरिं त इन्द्र वीर्यं त्वं स्वस्यस्तोतुर्मघवन्काममा वृण ।

अनुं ते घौरिहृती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे

॥ ५ ॥

त्वं तामिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन्पर्वशश्र्वकतिथि ।

अवासृजो निवृताः सर्ववा अपः सत्रा विषं दधिषे केवलं सहैः

॥ ६ ॥ (७४)

हे इन्द्र (ते वीर्यं भूरि) तेरा पराक्रम बड़ा है । (त्वस्वसि) हम भी तेरे ही हैं । हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र ! (मस्य स्तोतुः कामं आ वृण) इस स्तोताकी इच्छा पूर्ण कर । (वृहती घौः ते वीर्यं अनु) बड़ी घौतेरे पराक्रमका अनुमान कराती है । (इयं च पृथिवी) और यह पृथिवी भी (ते ओजसे नेमे) तेरी शक्तिके सामने झुकी है ॥ ५ ॥

हे (वज्रिन् इन्द्र) वज्रधारी इन्द्र ! (त्वं तं महान् ऊरुं पर्वतं) तूने उस महान् विशाल पर्वतके-मेघके- (वज्रेण पर्वताः चकतिथि) वज्रसे टुकड़े टुकड़े कर बाले । और (अपः) जलोंके जो (निवृताः) रुके प्रवाह थे उनको (सर्ववा अवासृजः) बड़नेके लिये छोड़ दिया । (विश्वं केवलं सहैः सत्रा दधिषे) संगुं शक्तिको तू साथ साथ धारण करता है ॥ ६ ॥

इस सूक्तमें जो वारके गुण बनाये हैं वे ये हैं—

१ महिष्ठः— महान्, श्रेष्ठ,

२ वृहत्— बड़ा,

३ वृहद्रयिः— बहुत धन जिसके पास है ।

४ सत्य-शुभ्रमः— सचा बल जिसके पास है, अपने बलसे जो निःसंदेह अपने कर्तव्य करता ही रहता है ।

५ तवस्— शक्तिमान्,

६ यस्य दुर्धरं राधः— जिसका दुर्धर अदम्य सामर्थ्य है, सिद्धि प्राप्त करनेका सामर्थ्य जिसमें अनुल है ।

७ विश्व-मायुः— सब मानसोंके हितके लिये जो कार्य करता है,

८ शिवः— सामर्थ्य, बल,

९ ते इष्टये विश्वं अनु असत् ह— तेरे इष्ट करनेके लिये सब तैयार रहते हैं ।

१० इन्द्रस्य हिरण्यपयः ह्यर्यतः वज्रः श्रयिता— इन्द्रका तेजसो वज्र सबका चूर्ण कर सकता है ।

११ मीमः— मयंकर,

१२ यस्य धाम नाम इन्द्रियं ज्योतिः अधसे अकारि— जिसका धाम और नाम इन्द्रके सामर्थ्यकी ज्योति यशके लिये प्रकट करता है ।

१३ पुत्रपुतः— बहुतों द्वारा प्रशंसित,

१४ प्रसू-वसुः— बहुत धनवाला,

१५ धर्षे त्वा-अमृत्य चरामसि— हम तेरे आचारके चलते हैं

१६ नृदि स्वदन्यः गिरः संघल्— तेरे सिवाय दूसरा ही हमारी स्तुतियोंका स्वीकार कर नहीं सकता ।

१७ गिर्वणः— प्रशंसके योग्य ।

१८ हे इन्द्र ! ते वीर्यं भूरि— हे इन्द्र ! तेरा पराक्रम बड़ा है ।

१९ तव स्वसि— हम तेरे हैं ।

२० हे मघवन् ! स्तोतुः कामं आ वृण— हे इन्द्र ! स्तोताकी इच्छा पूर्ण कर ।

२१ वृहती घौः ते वीर्यं अनु— यह बड़ी घौ तेरे सामर्थ्यका प्रकाश करती है ।

२२ इयं पृथिवी ते ओजसे नेमे— यह पृथिवी तेरे सामर्थ्यके सामने नमती है ।

२३ हे वज्रिन् ! इन्द्र ! त्वं तं महान् ऊरुं पर्वतं वज्रेण पर्वताः चकतिथि— हे वज्रधारी इन्द्र ! तूने उस बड़े महान् पर्वत-मेघके वज्रसे टुकड़े टुकड़े किये ।

२४ विश्वं केवलं सहैः सत्रा दधिषे— सब बल सामर्थ्य तू साथ साथ अपनेमें धारण करता है ।

[सूक्त १६]

(ऋषिः — १-११ अथास्यः । देवता — वृहस्पतिः ।)

(क्र १०६८।१-१२)

उदुप्रुतो न वयो भ्रंशमाणा वारदतो अश्रियस्येव घोषाः ।	
गिरिभ्रजो नोर्मयो मर्दन्तो वृहस्पतिगम्यर्का अनायन्	॥ १ ॥
सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भगं इवेर्दयमणं निनाय ।	
जने मित्रो न दम्पती अनक्ति वृहस्पते वाजयाशूरिवाजौ	॥ २ ॥
साध्वर्या अतिथिनीरिपिरा ग्गार्हाः सुवर्णा अनयधरूपाः ।	
वृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्यो निर्गो ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः	॥ ३ ॥
आप्रपायन्मधुंन फनस्य योनिमवक्षिपन्नर्कं उल्कामिव घोः ।	
वृहस्पतिरुद्धरन्नमनो गा भूम्या उद्रेव वि त्वचं विभेद	॥ ४ ॥
अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षाद्द्रुः शीपालमिव वारं आजत् ।	
वृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः	॥ ५ ॥
यदा वलस्य पीयतो जसु मेद्द्रुहस्पतिरग्नितपोभिरुकेः ।	
दुद्धिर्न जिह्वा परिविष्टमादंद्वाविर्निधीरकृणोदुसियाणाम्	॥ ६ ॥

(सूक्त ११)

(उदुप्रुत वयः न) जन्म तन्नेत्रो पक्षियोंकी तरह (भ्रंशमाणा.) अपनी रक्षा छत हुए (वायदतः अश्रियस्य घोषा इव) गर्जनेवाले मेघोंकी गर्जनके समान और (गिरि-भ्रज. मर्दन्त. ऊर्मयः न) पर्वतसे गिरनेवाले आनन्तपूर्ण जलवाहकके समान (अर्काः वृहस्पति अभि अनायन्) हमारे स्तोत्र वृहस्पतिकी स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

(आंगिरसः गोभिः सं नक्षमाणः) अंगरस विद्याकी जाननेवाला गोओंके साथ रहता है । (भगः इव अयमणं इन् निनाय) भगके- ऐश्वर्यवान्के समान अयमाहो- अश्रु मनव लेके हारे पास लाता है । (जने मित्रः न) जनमगु-हमें मित्रकी तरह । (सुवर्णा अनक्ति) पति परनी सजाकर प्रकाशते है । (माजौ व्याशून् इव) युद्धमें घोओंके समान, हे वृहस्पते ! (वाजय) हमें बलवान बना ॥ २ ॥

(साधु-प्रायाः) सज्जनोंके पास रहनेवाली, (अतिथिनीः) अतिथिके पास ले जाने योग्य, (रिपिराः) दुष-करी अश्रु देनेवाली (स्पर्हाः) इच्छा करने योग्य, (सुवर्णा.) उत्तम रंगवाली, (अनयधरूपाः) अनिदनीय छुंदर रूपवाली

(गाः पर्वतेभ्य पितूर्य) गोओंको पर्वतोंसे ल्यकर (निः ऊपे) फेंकते हैं (स्थिविभ्यः पयं इव) कौठियोंसे ल्यकर जो की जंगल फेंकते हैं ॥ ३ ॥

(अर्कः फनस्य योनि मधुना अवक्षिपन्) सूर्य जैसा यज्ञके स्थानको मधुमें भरना है, (घोः उल्का इव) गुल्लकमें उल्काको नीचे फेंकता है वैसा वृहस्पति (आप्र-पायन्) सींचता है, (वृहस्पतिः अपमनः गाः उद्धरन्) वृहस्पति बहानसे गोओंको उद्धार करता है, (भूम्याः त्वचं उद्रा इव विभेद) भूमिकी त्वचाको जलक समान तोड़ता है [जिससे पर्वत पास उरपन्न होता है ।] ॥ ४ ॥

(ज्योतिषा तमः अन्तरिक्षात् अप आजत्) प्रकाशसे अन्धकारको अन्तरिक्षमें हटाता है, (वातः उद्रः शीपाल इव) वायु जैसा पानीसे शीवालको हटाता है; (वृह-स्पतिः अनुमृश्या, वलस्य गाः आ चक्रे) वैसा वृहस्पति विचार करके बलकी गोओंको ल्यकर फैलाता है (वातः अर्ध इव) वायु जैसा मेघको फैलाता है ॥ ५ ॥

(यदा) जब (अग्नितपोभिः अर्कैः) अग्निके समान ताप करनेवाले अर्कोंसे- मेघोंसे (पीयतः वलस्य जसुं

बृहस्पतिरमृत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदाने गुहा यत् ।

आण्डेवं भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्त्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्

॥ ७ ॥

अक्षापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न द्वीन उदनि क्षियन्तम् ।

निष्टजंभार चमसं न वृक्षाद्बृहस्पतिर्विरवेणां विकृत्य

॥ ८ ॥

सोषार्मविन्दुत्तम स्वः१ः सो अग्निं सो अर्केण वि वंवाधे तर्मांसि ।

बृहस्पतिर्गोवंपुपो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार

॥ ९ ॥

हिमेवं पर्णां सुपिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्बलो गाः ।

अनानुकृत्यमपुनश्चकार याम्भ्रयांमासां मिथ उच्चरांतः

॥ १० ॥

अग्निं श्यावं न कुशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिशन् ।

राच्यां तमो अर्दधुज्योतिरहन्वृस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्राः

॥ ११ ॥

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति ।

बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात् ॥ १२ ॥ (८३)

सेद् । लउनेवाले बलके शास्त्रको तोड दिया, तर (दद्रिः परिधिष्टं जिह्वा आदद्) दातोमे चवाये हुए बलको जिह्वा खाती है, इस तरह (उस्त्रियाणां निधीः आधिः अकृणोत्) गौओंके निधियोंको [जो बलके आधीन थे उनको उस लोणके हितार्थ] प्रष्ट किया ॥ ६ ॥

(बृहस्पतिः आसां स्वरीणां) बृहस्पतिने जब इन हवाएव करनेवाली गौओंको (नाम अमत) नाम-पला-जान लिया (यत् सदाने गुहा) जो गुप्त सदानमें था, (पर्वतस्य त्मना उस्त्रिया उत् आजत्) पर्वतकी गुह मेंथे स्वयं गौओंको बाहर निकाला, श्वैः (शकुनस्य आण्डा भित्त्वा अग्ने) पक्षीके अण्डेको तोडकर बचा स्वयं बाहर आता है ॥ ७ ॥

(अक्षा पिनद्धं मधु) पत्थरमे ढके हुए मधुको-किलेमें बंद गौको- (पर्यपश्यत्) बृहस्पतिने वैसा देखा, (द्वीने उदनि क्षियन्तं मत्स्यं न) योडे जलमें रहनेवाले मत्स्यको जेठे देखते है। (बृहस्पतिः विरवेणा विकृत्य) बृहस्पतिने विशेष शब्द करनेवाले वज्रवे- उस किलेको- तोडकर (वृक्षात् चमसं न) वृक्षसे चमस बनाते है उस तरह उस किलेमे (तत् निः जभारं) उस मधुको-गौओंको-बाहर निकाल लाया ॥ ८ ॥

(स उपां अविन्दत्) उस बृहस्पतिने उपाको प्राप्त किया, (सः स्वः) उषने प्रदाएकी और (सः अग्निं)

उषने अग्निको प्राप्त किया, पश्चात् (सः अर्केण तर्मांसि वि चयधि) उषने सूर्यने अन्धरेको विनष्ट किया। (बृहस्पतिः) बृहस्पतिने (वलस्य गोवंपुपः) बलके गोरूप धारण करनेवालेने धरारेमे । पर्वणः न) जोहोमे चर्वा निकालते है वैमे (मज्जाम् नेर्जंभार) चर्वाको निष्काल लिया [अर्थात् बलको मारा ।] ॥ ९ ॥

(हिमा इव) इहवालमें । पर्णां सुपिता वनानि) पान गिर गये इस कारण इन [दुःसा दीवते है उम तच्छ] (बृहस्पतिना) बृहस्पतिने छीनी गई (गाः वलः कृपयत्) गौओं के लिये बल दुःखी हुआ। (अनानुकृत्यमपुनः चकार) जिसका कोई अनुकृत्य न कर सके, जो फिर हांगे-वाला नहीं, ऐसा यह बर्न हुआ। (यात् सूर्यामासा मिथः उच्चरातः) सूर्य और चन्द्र जिसका स्वयं वारंवार उच्चरण करते है [एता यह कर्म हुआ है] ॥ १० ॥

(कुशनेभिः दयायं अश्वे न) आभूषणोंसे श्याम घोड़ेकी सजाते हैं वैसे (पितरः नक्षत्रेभिः द्यां अग्निं अपिशन्) पितरोंने नक्षत्रोंसे शुलोकको सजाया । (राच्यां तमः अर्दधुः) रात्रोमें अन्धकार और (अहन् उपोतिः) दिनमें प्रकाशकी रखा। (बृहस्पतिः अद्रिं भिनदत्) बृहस्पतिने पर्वतको तोडा और (गाः विदद्) गौवे प्राप्त की ॥ ११ ॥

(इदं अभियाय नमः अकर्म) यह हमने भयको तोडने-

वाले [बृहस्पति] के लिये नमस्कार किया । यः पूर्वां
अन्वानोनधीति) जो पूर्वके अनुक्रमसे उपदेश करता है
(स बृहस्पति) वह बृहस्पति (गोभिः सः अश्वैः)
गौओं और घोड़ों तथा (सः घीरेभिः सः नृभिः) वह
बोरपुत्रों और नेताओंके साथ (नः घयः धात्) हमें दीर्घ-
आयु देवे ॥ १२ ॥

इस सूक्तमें जो वारोक्त कर्मोंका उल्लेख आया है वे वीर-
त्वके कर्म बृहस्पतिने किये हैं । यह बृहस्पति इन्द्रके समान ही
वज्रका प्रयोग करता है । इन्द्रके समान ही बलकी मारता है
और किल्लेमें बंद रहने गौओंको मुक्त करता है ।

१ हे बृहस्पते ! वाजो आशून् इव धाजय— हे
बृहस्पते ! युद्धमें घोड़ोंकी तरह हमें बलवान् कर ।

२ पर्वतत्रय गाः बृहस्पतिः निः उपे— पर्वतकी गुफासे
बृहस्पतिने गौंके छुड़ाई ।

३ साध्वर्याः अतिथिनोः इषिराः स्नाह्याः सुवर्णाः
मघधरूपाः— सज्जनोके पास रहने योग्य, अतिथिके योग्य,
दुषारु, स्पृहणीय, उत्तम रगवाली, सुंदर रूपवाली ये गौं
थी । वे बलने लुराई थीं उनको पर्वतकी गुफामें रखा था, वहाँसे
बृहस्पतिने छुड़ाई ।

४ बृहस्पतिः अदमनः गाः उज्जरन्— बृहस्पतिने
परप्रांती गृहामेसे गौंके छुड़ाया ।

५ बृहस्पतिः अनुमृष्य वलस्य गाः आ चक्रे—
बृहस्पतिने विचार करके बलकी अधीनतासे गौंको छुड़ाया ।

६ बृहस्पतिः अस्मिन्नतेभिः अर्कैः चलस्य पीयतः
जसुं भत्— बृहस्पतिने अर्कके समान अश्वोंसे बलके राजका
भेद किया ।

७ उस्त्रियाणां निर्धाः आविः अकृणोत्— गौंको
निषिद्धो प्रकट किया । गौंको बाहर निकाला ।

८ बृहस्पतिः स्वरीणां आसां सद्ने गुहो यत्
नाम त्यद् अमत— बृहस्पतिने हंशारव करनेवाली गौंकोका
स्थान पर्वतकी गुहामें है यह जान लिया ।

९ उस्त्रियाः पर्वतस्य त्मना अजत्— गौंके पर्वतकी
गुहासे स्वयं बाहर आ गयीं ।

१० अश्ना पितरं मधु पर्यपश्यत् बृहस्पतिः
धिरवेण विकृत्य तत् निः जभार— परप्रांसे मधु तथा

है, गृहामें गौंके बंद है, यह बृहस्पतिने देखा, विशेष शब्द करने-
वाले वज्रसे उस गुहाको तोड़ा और गौंको बाहर निकाला ।

११ बृहस्पतिः गोयुपयः चलस्य मज्जनं पर्वणः
नि जभार— बृहस्पतिने गोस्पृश्यां बलकी मज्जा बाहर
निकाली और पर्व तोड़ दिये ।

१२ बृहस्पतिना गाः चलः अकृपयत्— बृहस्पतिने
गौंकोके सुला किन्ना इससे बलको बहा दुःख हुआ ।

१३ अनानुकृत्यं अपुनः चकार, यात् स्यामासा
मिथ उचचरातः— यह श्रुत्य जो बृहस्पतिने किया, उसका
कोई अनुकरण कर नहीं सकता, न कोई फिर ऐसा कर सकता
है, इसका वर्णन सूर्य और चन्द्र द्वारा करते हैं ।

१४ बृहस्पतिः अद्भिः भिनत्, गाः विदत्— बृ-
स्पतिने पर्वतको तोड़ा और गौंके प्राप्त कीं ।

१५ इदं अश्रियाय नमः अकर्म— यह हम अश्रमें
स्थित बृहस्पतिको नमस्कार करते हैं ।

१६ बृहस्पतिः गाभिः अश्वैः घीरेभिः नृभिः नः
घयो धात्— बृहस्पति गौंको, घोड़ों, बोरपुत्रों और नेता-
ओंके साथ हमें पूर्ण आयु देवे ।

इस सूक्तमें बृहस्पतिको यह प्रशंसनीय कर्म है ऐसा वर्णन है ।
यह बृहस्पति वज्र बर्तता है, क्लिया तोड़ता है, बलको मारता
है और गौंको सुला करता है । ऐसे ही इन्द्रके कर्म अन्यत्र
वेदमंत्रोंमें कहे हैं । बृहस्पतिको 'अश्रिय' १२ वें मंत्रमें
कहा है । अश्रमें रहनेवाला सूर्य होता है । विद्युत् भी मेषोंमें
रहती है ।

यह तथा ऐसे वर्णनके मूक आलेखारिक वर्णनके माने जाते
हैं । 'वत्' मेष है, विद्युत् वज्र है, सूर्य किरणें गौंके हैं । तथाके
पूर्व ये सूर्यकिरण रूपी गौंके बलने अपने किल्लेमें बंद की थीं ।
यह क्षानपतिने खोली और बाहर निकाली ।

स उया अविदत्, स स्वः, सः अस्मि, सः अर्कैण
तमांसि वि चक्राधे (मंत्र ९)— उस बृहस्पतिने प्रथम
उया, पश्चात् प्रधात्, अस्मि और पश्चात् सूर्य लाया और अन्य-
कारको दूर किया । इस मंत्रसे स्पष्ट है कि रात्रिके अन्धेने,
मेघने किरणोंको छिपाया था । सूर्य अनेक बह बल राक्षस मर
गया और गोसुधी किरणें स्वेच्छा विहार करने लगीं ।

यह सूक्त तथा ऐसे वर्णन करनेवाले अन्य मूक इस अर्क-
कारके वर्णन समझने योग्य हैं ।

[सूक्त १७]

(ऋषिः — १-११ छण्डः, ११ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

(क्र. १०४३।१-११)

अच्छां म् इन्द्रं मृतयः स्वर्षिदः सुधीचीर्विषां उशतीरनुपत । परिं स्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्व्युं मघवानमृतयं	॥ १ ॥
न घां त्वद्विगपं वेति मे मनस्त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रय । राजैव दस्म नि पुरोऽधिं वर्हिष्यसिन्सु सोमिवपानंमस्तु ते	॥ २ ॥
विपुवदिन्द्रो अमतेकृत क्षुधः स इद्रायो मघवा वखं ईशते । तस्येद्रिमे प्रवृणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृपमस्यं शुष्मिणः	॥ ३ ॥
वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्तसोमास इन्द्रं मन्दिनंश्चमूपदः । प्रैषामनीकं शर्वसा दविद्युतद्विदत्संमर्नवे ज्योतिरार्यम्	॥ ४ ॥
कृतं न श्रुषी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत् । न तर्से अन्यो अनुं वीर्यं शकृन्न पुराणो भयवन्नोत नूतनः	॥ ५ ॥

(सूक्त १७)

(मे मृतयः) मेरी शुद्धिपूर्वक की हुई स्तुति (स्वर्षिदः सुधीचीः) आत्मज्ञानसे युक्त सीधी (विश्वाः उशतीः) सब कामना युक्त (अच्छा इन्द्रं मा अनूपत) अच्छी तरह इन्द्रको प्राप्त होनी है। ये स्तुतियां (मघवानं जनये) इन्द्रको अपनी रक्षाके लिये इन्द्रके पास वैसा जाती हैं (शुन्व्युं न मर्यं पतिं) खूब पवित्र मानव पतिको (यथा जनयः परि स्वजन्ते) वैसी जियां आलिंगन देती हैं ॥ १ ॥

हे (पुरुहूत) सबके द्वारा जिसकी स्तुति होती है ऐसे इन्द्र । (मे मनः त्वद्विगपं) मेरा मन तेरे पास जाकर (न घा अपवेति) बाध नहीं फिंता, (त्वे इत्कामं शिश्रय) तेरे ऊपर ही मैंने अपनी कामना रखी है । हे (दस्स) दसोनीय । (राजा इव वर्हिषि अधि निपदः) राजाके समान इस आसनपर बैठ । (मसिन्सु सोमे ते सु अवापानं मस्तु) इस सोमसमे तेरा उत्तम पान हो ॥ २ ॥

(अमतेः उत क्षुधाः) दुर्बुद्धि और भूखको (इन्द्रः विपुवत्) इन्द्र सब प्रकारसे शत्रुको दूर करनेवाला है । (सः इत् मघवा वखः रायः ईशते) वह इन्द्र नियमसे निवा-

सक घनका स्वामी है । (हेमे सप्त सिन्धवः) ये सप्त नदियां (प्रवृणे) नीचले मार्गमें बहनी हुई (तस्य वृपमस्य शुष्मिणः इत्) उस बलवान और उतसर्दी वीरके (घयः वर्धन्ति) शक्तिको बढ़ाती हैं ॥ ३ ॥

(सुपलाशं वृक्षं वयः आसदन् न) उत्तम पत्तोंवाले वृक्षपर पक्षी बैठते हैं उस तरह (मदिनः चमूपदः सोमासः इन्द्र) आनंद बशनेवाले पत्रमें रखे सोमरस इन्द्रका आश्रय करते हैं । (एषां अनीकं शवसा प्रद्विद्युत्) इनका सैन्य बलसे कमजोर रहा और (आर्यं स्वः ज्योतिः मनवे विदत्) आत्मज्ञान पूर्ण आर्य तेज मनुष्यके लिये प्राप्त हुआ ॥ ४ ॥

(देवने श्रुषी कृतं न विचिनोति) खेलमें जुवा खेलनेवाला जीतनेवाले पाठको वैसा इच्छा करता है उस प्रकार (यत् संवर्गं सूर्यं मघवा जयत्) सबको समेटनेवाले सूर्यको इन्द्रने जीता । (मघवन्) हे इन्द्र । (न पुराणः न उत नूतनः) पुराणा वा नया (अन्यः ते तत् वीर्यं न अनुशकन्) दूसरा कोई तेरे वीरतकी बराबरी नहीं कर सकता है ॥ ५ ॥

विश्वंविशं मघवा पर्यशायत जनानां घेना अवचाकशदृषा ।	
यस्याहं शक्रः सर्वनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः	॥ ६ ॥
आपो न सिन्धुमभि यत्सुमक्षरन्त्सोमासु इन्द्रं कुल्या इव हृदम् ।	
वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना	॥ ७ ॥
वृषा न क्रुद्धः पतयद्रजःस्ता यो अर्धपत्नीरकुणोदिमा अपा ।	
स सुन्यते मघवा जीरदानुवेऽविन्दुज्ज्योतिर्मनेवे हविष्मते	॥ ८ ॥
उज्जायतां परशुज्योतिपा सह भूया क्रतस्य सुदुघा पुराणवत् ।	
वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्णं शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः	॥ ९ ॥
गोमिष्टरेमामति दुरेवां यधेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम् ।	
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम	॥ १० ॥
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुत्तरस्मादधरादघायोः ।	
इन्द्रः पुरस्तादुत मघ्यता नः सखा सखिम्यो वरिवः कृणातु	॥ ११ ॥

(मघवा विश्वं विश्वं पर्यशायत) इन्द्र प्रलेख प्रजा-जनको प्राप्त होता है (वृषा जनानां घेना अवचाकशदृषा) वह शक्तिमान इन्द्र लोगोंकी बाणीका सुनता है । (यस्य अहं सघनेषु शक्रः रण्यति) जिसके सोमभागमें समय इन्द्र आनन्द मनात है, (सः तीव्रैः सोमैः पृतन्यतः सहते) वह तीखे सोमरसमें शत्रुसे भाँका जीत जाता है ॥ ६ ॥

(आपः न सिन्धुं अभि) जैसे जलप्रवाह नदीको ओर जाते हैं, और (कुल्या हृदं इव) जैसे नाले तालाबके पास जाते हैं, वैश (सोमासः इन्द्रं समक्षरन्) सोमरस इन्द्रके पास बहते हैं । (सादने विप्राः अस्य महाः वर्धयन्ति) यहशालाके बाह्येण इस इन्द्रके महानको बढ़ाने हैं, जैसे (दिव्येन दानुना वृष्टिः यवं न) आकाशसे दानरूप भायी वृष्टि जोके घटानी है ॥ ७ ॥

(क्रुद्धः वृषा न) क्रुद्ध हुए साँके समान (रजःसु आ पतयत्) शरैर स्यासोमं ओ पहुँचता है, (य इमाः आपः अर्धपत्नीः अकृणात्) जिसने इन जलप्रवाहोंको भाँगीकी परानी रूप बनाया- भाँगीका सहायक बनाया, (सः मघवा) उस इन्द्रने (सुघते जीरदानुवे हविष्मते मनचे) सोमभाग करनेवाले, दान देनेवाले, हवि अर्पण

करनेवाले अनुषणके लिये (ज्योतिः अविन्दत्) प्रकाश प्रकट किया ॥ ८ ॥

(ज्योतिपा सह परशुः उज्जायतां) ज्योतिके साथ वज्र ऊपर चढ़े, विजय प्राप्त करे; (क्रतस्य सुदुघाः पुराणवत् भूया-) यज्ञकी दुधारु गाँबें पुराणों जैसी- परिचित जैसी होंगे । (मरुषः शुचिः भानुना धिरोचतां) पवित्र भूमि अपने लाल तेजसे प्रकाशे; उसी तरह (सत्पतिः स्वः न शुक्रं शुशुचीत) धर्मजोका पालक इन्द्र सूर्यके समान शुद्ध रीतिके चमके ॥ ९ ॥

हे (पुरुहूत) बहनों द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! (यधं गोभिः दुरेवां अमनि तरेम) हम गोओंसे दुर्गति और निर्दुद्धतकी दूर करेंगे, (विश्वां क्षुध यवेन) सब भूखको जैसे दूर करेंगे, (यधं राजभिः) हम क्षत्रियोंके साथ (प्रथमाः) सुखिया श्रेष्ठ (अस्माकेन वृजनेन घनानि जयेम) अपने निज बलसे घनोंको जीतेंगे ॥ १० ॥

(बृहस्पतिः नः अघायोः) बृहस्पति हमें पार्षदों (पश्चात् उत्तरस्मात् अधरात्) पीछेसे ऊपरसे और नीचेसे (परि पातु) बचावे । (नः सखा इन्द्रः) हमारा मित्र इन्द्र (पुरस्तात् उत मघ्यतः) हमें सामनेसे और

बृहस्पते युषमिन्द्रंश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।

घृत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्युयं पात स्वस्तिभिः सदां नः ॥ १२ ॥ (क्र. ७२, ७१०) (२८)

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ १ ॥

मघवे बचावे और (सखिभ्यः चरिवः कृणोतु) हमारे मित्रोंके लिये धन देवे ॥ ११ ॥

हे बृहस्पते ! (युवं इन्द्रः च) तू और इन्द्र दोनों (दिव्यस्य उत पार्थिवस्य वस्वः) दिव्य और पार्थिव धनके (ईश्याथे) स्वामी हैं । इसलिये (स्तुवते कीरये चित् रयिं घृत्तं) स्तुति करनेवाले ज्ञानोंके लिये धन दो । और, सदा नः युयं स्वस्तिभिः पात) सदा हमारी दुःख कल्याणोंके साथ रक्षा करो ॥ १२ ॥ (क्र. ७१७, १०)

इस सूक्तमें बृहस्पति और इन्द्रको लक्ष्य करके जो वीरके गुण बड़े हैं वे ये हैं—

१ मे स्वर्षिदः सध्रीचीः विश्वा उशतीः मतयः इन्द्रं अकृच्छ अनूपत— अरुमशामसे युक्त, मरलता युक्त, सब सद्यज्ञीवाली मेरी स्तुतियां इन्द्रकी ही होती हैं ।

२ यथा जनयः शुभ्र्यु मयं पतिं परि स्वजन्ते— जैसा जिनों शुद्ध मानव पतिकी ही आलिंगन देती हैं, उस तरह मेरी स्तुतियां इन्द्रकी ही स्तुति करती हैं ।

३ मघवानं ऊतये— इन्द्रकी स्तुति हम अपनी रक्षाके लिये करते हैं ।

४ हे पुरुहूत ! त्वे इत् मे मनः कामं शिथय, न घा त्वद्विग् अपवेत्ति— हे बहुतों द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! तेरे ऊपर मेरा मन यथेच्छ आश्रय करना है, और वह तेरेमें कमी पीछे इतना नहीं ।

५ हे दरुम ! राजा इव वर्हिपि अधि निपद— हे दर्शनय ! राजाके समान तू इस आसन पर बैठ ।

६ इन्द्रः अमतेः उत क्षुधः विपूवृत्— इन्द्र दरिद्रता और भूखको दूर करता है ।

७ सः मघवां वस्वः रायः ईशते— वह धनवान् इन्द्र निवास करनेवाले धनोंका स्वामी है ।

८ इमे सत सिन्धवः प्रवणे वृषमस्य शुभिमणः तस्य घयः घर्घन्ति— ये सत नदियां जैसा नीचेके स्थानमें बहती हैं, उस तरह उस बलवान् समर्थ इन्द्रका बल बढ़ती हैं ।

९ एषां अनीकं शवसा दविद्युत्— इनका सैन्य बलसे घमका ।

१० मनवे आर्य स्वः ज्योतिः विदत्— मानवके लिये आर्य तेज प्राप्त किया ।

११ मघवा सूर्यं जयत्— इन्द्रने सूर्यको प्राप्त किया ।

१२ न पुराणः च उत नूतनः अन्यः त तत् वीर्यं न अनुशकत्— पुराणा या नया कोई दूसरा तेरे वीर्यका अनुकरण नहीं कर सकता ।

१३ विश्विंशं मघवा पर्यशायत्— प्रत्येक मनुष्यको इन्द्र देखता है ।

१४ जनानां घेसा वृषा अबचाकशत्— मानवोंका कड़ना बलवान् इन्द्र घुनता है ।

१५ स पुनन्यतः सहते— वह सना समेत आनेवाले शत्रुका पराजय करता है ।

१६ सादने विप्राः महः घर्घन्ति— यज्ञमें जानी इसका महत्व बढाते हैं ।

१७ क्रुद्धः वृषा न रजःसु आ पनयत्— क्रोधित बैलकी तरह यह सब स्थानोंमें जाता है ।

१८ स मघवा जीरदानवे मनवे ज्योतिः अविन्दत्— वह धनवान् इन्द्र दानी मानवके लिये प्रकाश देता है ।

१९ परनुः ज्योतिषा सह उज्जायताम्— शत्रु तेजसे विजयी हो ।

२० क्रानस्य सुदुघा भूयाः— यज्ञकी गाँवें बहुत हों ।

२१ द्राधिः मानुता अरुपः विरोचताम्— शुद्ध अपने तेजसे घमके ।

२२ सप्तपतिः स्वः न शकं शशचीत— सप्तर्षीका पालक आरुमज्योतिके समान विशुद्ध ऐतिसे प्रकाशता रहे ।

२३ गोभिः दुरेवां अमतिं तरेम— गौंभसे दरिद्रताको और बुद्धिहीनताको दूर करेंगे ।

२४ यवेन विश्वां क्षुधं तरेम— जामें सब प्रकारकी भूखको दूर करेंगे ।

२५ वयं राजभिः प्रथमा असाकेन वृजनेन धनानि जयेम— हम क्षत्रियोंके साथ रहकर पहिले होकर हमारे प्रबल प्रयत्नसे धनोंको जॉतेंगे ।

२६ बृहस्पतिः अघायोः नः परि पातु— जानपति पापोंसे हमारी रक्षा करे ।

[सूक्त १८]

(ऋषि — १-२ नेषानिति प्रियमेघश्च; ४-६ यमिष्ठ । देवता — इन्द्रः ।)

वृषमुं त्वा तदिदर्या इन्द्रं त्वायन्तः सखायः । ऋषा उषयेभिर्ज्वरन्ते ॥ १ ॥
 न घैमन्यदा पपन वज्रिभ्रपमो नविष्टौ । तवेदु स्तोमं चिक्रेत् ॥ २ ॥
 इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्रायं स्पृहयन्ति । यन्ति प्रमादुमर्तन्त्राः ॥ ३ ॥
 वयमिन्द्र त्वायवोऽमि प्र पौनुमो वृषन् । विद्वा त्वंम्य नो वमो ॥ ४ ॥
 मा नो निदे च वक्तवोऽप्यो रन्धीराव्यो । त्वे अपि क्रतुर्मम ॥ ५ ॥
 त्वं वर्मासि सुप्रयः पुरोयोषश्च वृषहन् । त्वया प्रतिं ब्रुवे युजा ॥ ६ ॥ (१०७)

१० इन्द्रः न सखा सखिम्य वरिव कृपोतु—
 इन्द्र इत्यादिभिः हन निन्देके लिखे घन दवे ।

१८ बृहस्पते युव इन्द्रः च दिव्यस्य उत पार्थिवस्य वरिव ईशाघ— दे वृषवत् । तु और इन्द्र मिलकर दुम दोनों दिव्य और पार्थिव घनके स्वामी हो । युजु-मिच्छे मनुष्य वही इच्छते वस करता है वृह ५ न ।

२९ स्तुवसे वीरये रयि घञ— स्तुति करनेवाले शान्ति घन दा ।

३० यूय सदा न स्वस्तिमि पात— तुम वदा हमारा रक्षण कल्प घनके साथ करो ।

॥ यहा द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त १८)

हे इन्द्र । (वय उ तत्-इत् अर्थाः) हम उस-तुम्हारी मित्रके प्रयोजन सिद्ध करनेके इच्छुक (त्वायन्त सखायः) जे शश आनेकी इच्छा करने तेरे मित्र (ऋषाः) अथ नेत्रके लेय-ज्ञानवान- (उषयेमि त्वा उरन्ते) स्नात्रैस तेरा स्तुति करते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१।१६)

हे (वज्रिन्) बज्रवरी इन्द्र । (अपस नविष्टौ) इस यज्ञकर्ममें (न घ इ अण्यत् आपपन) किसी सम्पत्की मैंने स्तुति नहीं की । (तघ इत् उ स्तोम चिक्रेत्) तेरी स्तुति करना ही मैं जानता हूँ ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१।१७)

(देवा सुन्वन्तं इच्छन्ति) देव यज्ञकर्ताके चाहते हैं, (स्वप्राय न स्पृहयन्ति) आलसी मनुष्यके चाहते नहीं । (अनन्त्रा प्र-माद यन्ति) आलस्य छानेवाले हा विशेष आनन्द देनेवाले सोमके प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१।१८)

हे इन्द्र । हे (वृषन्) शक्तिन् । (वय त्वायषः) हम ०८ पक्ष आनेवाले तेरी (अभि प्र पौनुम) ही स्तुति करते हैं । हे (वसो) वसनेवाले । (न अय्य तु विद्धि) हमारे इस कर्मके जान ॥ ४ ॥ (ऋ. ७।१।१४)

(अयं) तु भ्रेष्ट हो, इन्द्रिय (निदे वक्तवो) निन्दक, पुरा माषन करनेवाले और (अ-राष्टो) कृत्तिके (न मा रन्धी) अर्थ न हमें भतर रख, (मम भ्रतु त्वे अपि) मेरा वरत्न-मेरा कर्म तेरे लिखे हा है ॥ ५ ॥ (ऋ. ७।१।१५)

(त्व सुप्रयः घर्म असि) तू मेरा बड़ा कवच है, हे (वृषहन्) बज्रके मारनेवाले इन्द्र । तू (पुरो-योषः च) आगे बढकर युद्ध करनेवाला है । (त्वया युजा प्रतिं ब्रुवे) तेरे साथ रहकर मैं शत्रुओंको उतर देता हूँ ॥ ६ ॥

(ऋ. ७।१।१६)

इस सूक्तमें बारताके वर्णन ये हैं—

१ हे वज्रिन्— बज्रधारी इन्द्र ।

२ वृषन्— बलवान्,

३ वसु— वशादेवाता, सबका आधार,

४ त्व सुप्रयः घर्म असि— तू हमारा विशाल कवच है,

५ वृषहन्— बज्रके मारनेवाला,

६ पुरोयोषः— आगे होकर शत्रुस युद्ध करनेवाला, शत्रु

पर आक्रमण करके उसके साथ युद्ध करनेवाला ।

मौक्तिका वर्णन इस सूक्तमें यह है—

१ वय तदिदर्या त्वायन्तः सखायः— हम तेरे पास आनेवाले, तेरे प्राणिका वरुष मनमें रखनेवाले तेरे मित्र हैं ।

२ त्वा उरन्ते— तेरा स्तुति करते हैं ।

३ न अण्यत् आपपन— मैं दूसरकी स्तुति नहीं करता ।

[सूक्त १९]

(ऋषिः — १-७ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ. ३.३७।१-७)

वार्षंहत्यायु शर्वसे पृतनापाहाय च	। इन्द्र त्वा वंर्तयामसि	॥ १ ॥
अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो	। इन्द्रं कृण्वन्तु वाघतः	॥ २ ॥
नामानि ते शतक्रतो विश्वामिर्गीर्भिरीमहे	। इन्द्रामिमातिपाहौ	॥ ३ ॥
पुरुष्टुतस्य घामाभिः शतेन महयामसि	। इन्द्रस्य चर्षणीधृतः	॥ ४ ॥
इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहन्सुपर्त्रुवे	। भरेषु वाजसातये	॥ ५ ॥
वाजेषु सासहिर्भव च्वामीमहे शतक्रतो	। इन्द्रं वृत्राय हन्तवे	॥ ६ ॥
द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृतसुर्तुषु श्रवःसु च	। इन्द्र साक्ष्वामिमातिपु	॥ ७ ॥ (११२)

४ तव स्तोमं चिकेत— तेरा स्तोत्र ही हम जानते हैं ।
 ५ घर्ष त्वायबः अमि प्र णोनुमः— हम तेरे पास आते और तुझे द्रो प्रणाम करते हैं ।

६ नः अद्य विद्धि— हमारे इस स्तोत्रको तू जान ।

७ मम क्रतुः त्वं अपि— मेरा यज्ञ तेरे लिये ही है ।

८ इच्छन्ति देवाः सुन्यन्ते— देव यज्ञकर्ताको चाहते हैं ।

९ स्वप्नाय न स्पृहयन्ति— देव सुप्तको चाहते नहीं ।

१० अतन्द्राः प्र-मार्दं यन्ति— वयोमो विशेष आनन्दको प्राप्त करते हैं ।

११ निदे वक्तव्ये वराक्षणे नः मा रन्धीः— निन्दक, दुष्ट भायी तथा कंजूसके अधीन हमें देकर हमारा नाश न कर ।

(सूक्त १९)

(वार्षंहत्याय) शत्रुओंको मारनेके लिये, (शवसे) बल प्राप्तिके लिये, (पृतनापाहाय) शत्रुघेनाओंको जीतनेके लिये, हे इन्द्र । (त्वा आ वर्तयामसि) तुझे हम अपनी ओर मोड़ लाते हैं ॥ १ ॥

हे (शतक्रतो इन्द्र) सैकड़ों शक्तियोंवाले इन्द्र । (वाघतः) तेरे वपाशक (ते मनः उत चक्षुः) तेरे मनको और चक्षुको (अर्वाचीनं सु कृण्वन्तु) शघर्षकी ओर उत्तम गीतिसे करें ॥ २ ॥

हे (शतक्रतो इन्द्र) सैकड़ों शक्तियोंवाले इन्द्र । (अमि-माति-पाहौ) शत्रुओंपर विजय पानेके लिये (विश्वामिः गीमिः) सब वाणिज्य (ते नामानि ईमहे) तेरे नामोंको हम लेते हैं ॥ ३ ॥

४ (अथर्व. भाष्य, काण्ड २०)

(पुरुष्टुतस्य) अनेकों द्वारा प्रशंसित (चर्षणी-धृतः) मनुष्योंको सहाय देनेवाले (इन्द्रस्य) इन्द्रके (शतेन घामभिः) सौ स्थानों या सामर्थ्योंसे (महयामसि) उधकी महिमा गाते हैं ॥ ४ ॥

(पुरुहन्त इन्द्रं) बहुतों द्वारा प्रशंसित इन्द्रको (वृत्राय हन्तवे) शत्रुको मारनेके लिये और (भरेषु वाजसातये) युद्धोंमें धन प्राप्त करनेके लिये (उप युवे) बुलाते हैं ॥ ५ ॥

हे (शतक्रतो इन्द्र) सैकड़ों कर्म करनेवाले इन्द्र । (वाजेषु सासहिः भव) तू युद्धोंमें शत्रुको जीतनेवाला हो । (वृत्राय हन्तवे) शत्रुको मारनेके लिये (त्वा ईमहे) तुझे बुलाते हैं ॥ ६ ॥

(द्युम्नेषु) धन प्राप्त करनेमें, (पृतनाज्ये) सेनाके साथ युद्ध करनेके समय, (पृतसु त्रुषु) सेनाओंका शीघ्र पराभव करनेके समय, (श्रवःसु च) यश प्राप्तिके समय, (अमि-मातिपु) शत्रुओंका सामना करनेके समय, हे इन्द्र । (साक्ष्व) हमारे साथ रह ॥ ७ ॥

इसमें बोरलाके निर्देश ये हैं—

१ वार्षंहत्या— शत्रुको मारना,

२ शवः— बल,

३ पृतना-साह्य— शत्रुघेनाका परामव करना,

४ शतक्रतुः— सैकड़ों शक्तिवाला,

५ अमिमाति-साह्य— शत्रुका परामव करना,

६ चर्षणी-धृत— मनुष्योंका आघात,

७ वृत्राय हन्तव— वृत्र, शत्रुको मारना,

[सूक्त २०]

(ऋषिः — १-४ विश्वामित्रः; ५-७ शतसमदः । देवता — इन्द्रः ।)

शुष्मन्तमं न ऊतये द्युम्निर् पाहि जागृविष् । इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ १ ॥
 इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनैषु पञ्चसु । इन्द्र तानि तु आ वृणे ॥ २ ॥
 अगन्निन्द्र श्रवो बृहव् पुंसं दधिष्व दुष्टरम् । उते शुष्मं तिरामसि ॥ ३ ॥
 अर्षावतो न आ गृह्यो शक्र परावर्तः । उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत् आ गहि ॥ ४ ॥
 इन्द्रो अङ्ग महद्भुपममी पदपं चुष्यवत् । स हि स्थिरो चिचर्षणिः ॥ ५ ॥
 इन्द्रश्च मूलयाति नो न नः पश्चादपं नशत् । भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ६ ॥
 इन्द्र आशाभ्युपरि सर्वाभ्यो अभयं करत् । जेता शत्रुन्विचर्षणिः ॥ ७ ॥ (११८)

८ भरेषु घाजसातये— युद्धो में घन प्राप्त करना,

९ घाजेषु सासहिः— युद्धो में विजयी,

१० पूतनाजयं— शत्रुसेनाका पराभव,

११ शूद्रसु सुषु— शीघ्र पराभव करनेके लिये,

१२ अभिमाति— शत्रुको जीतना ।

मकि— १ ते मनः चक्षुः अर्षाचीनं कृष्यन्तु—
तेरा मन और आंख हमारी और साक्षरिण हो,

२ ते नामानि ईमहे— तेरे नाम लेते हैं ।

३ शतेन घामभिः महयामसि— सधको स्थानोषे
सेरी माहिमा गाते हैं ।

४ त्वां ईमहे— तेरी प्रार्थना करते हैं ।

५ साक्षव— हमारे साथ रह ।

(सूक्त १०)

हे (शतक्रतो इन्द्र) हे सैकड़ों घमर्ष्यवान् इन्द्र ।
(नः ऊतये) हमारी रक्षा करनेके लिये (शुष्मन्तमं)
बल बढ़ानेवाले (द्युम्निर्) चमकीले तेजको, (जागृवि
सोमं) घावपान रखनेवाले सोमारसको (पाहि) पी ॥ १ ॥
(अ. ३।३।१८)हे शतक्रतो इन्द्र । (पञ्चसु जनैषु) पांच प्रकारके जनैषु
(या ते इन्द्रियाणि) जो तेरी शक्तियाँ हैं, (तानि ते
आ वृणे) उनको तुमसे में प्राप्त करता हूँ ॥ २ ॥
(अ. ३।३।१९)हे इन्द्र । (शूद्रसु ध्रुवः अगन्) तुने बड़ा यश प्राप्त
किया है । (दुष्टरं पुंसं दधिष्व) दुष्टर तेजको धारण कर ।
(ते शुष्मं उव् तिरामसि) तेरे ज्वालाहको हम बहुत बढाते
हैं ॥ ३ ॥ (अ. ३।३।१०)हे (शक्र) सामर्थ्यवान् । (अर्षावतः नः आ गहि)
पाछे हमारे पास आ (अथ उ परायतः) और दूरे भी
आ । हे (अद्रिवः इन्द्र) पहाको दिलेमें रहनेवाले इन्द्र ।
(य ते उ लोकः) जो तेरा स्थान हो (ततः इह आ
गहि) वहासे यहाँ आ ॥ ४ ॥ (अ. ३।३।११)हे (अंग) शिव । (इन्द्रः महत् भयं) इन्द्र बड़े
भयके (अभी-पद्) साथ मुहावला करता है और उषको
(अप चुष्यवत्) पूर भगाता है, (हि सः स्थिरः चिच-
र्षणिः) क्योंकि वह स्थिर है और सबका देखनेवाला है ॥ ५ ॥
(अ. ३।३।१२)(इन्द्रः च नः मूलयाति) इन्द्र हमें सुखी करता है
इसलिये (अयं नः पश्चात् न नशत्) पाप हमारे पाँछे
नहीं लगता और (भद्रं नः पुरः भवाति) कल्याण हमारे
सन्मुख रहेगा ॥ ६ ॥ (अ. ३।३।११)(इन्द्रः सर्वाभ्यः आशाभ्यः परि) इन्द्र सब दिशा-
ओंसे (अभयं करत्) निर्भयता करता है क्योंकि वह
(शत्रुन् जेता विचर्षणिः) शत्रुओंको जीतनेवाला और
सबका विशेष रीतिसे देखनेवाला है ॥ ७ ॥
(अ. ३।३।१२)

इस सूक्तमें वीर इन्द्रके गुण ये वर्णन किये हैं—

१ शतक्रतो— सैकड़ों शक्तिवाला, सैकड़ों कर्मोंका कर्ता,

२ इन्द्रः— (इन्द्र-द्र-) शत्रुका विदारण करनेवाला,

३ शक्रः— सामर्थ्यवान्,

४ अंगः— शिव,

५ नः ऊतये— हमारी रक्षा करनेके लिये यत्न कर,

[सूक्त २१]

(ऋषिः — १-१२ सव्यः । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ. १.५३।१-११)

न्यूडुषु वाचं प्र महे मरामहे गिर इन्द्राय सद्ने विवस्वतः ।	
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदुन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेपुं शस्यते	॥ १ ॥
दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरामि दुरो यवस्य वसुं इनस्पतिः ।	
शिवानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि	॥ २ ॥
शचीव इन्द्र पुरुकृत्युमत्तम् तवेदिदमभितर्क्षकिते वसु ।	
अतः संगृह्यामिभूत् आ भरू मा त्वापतो जरितुः कार्यमूनयीः	॥ ३ ॥

१ पञ्चसु जनेषु ते इंद्रियाणि आ वृणे— पञ्च जनोंमें जो तेरी शक्तियाँ हैं उनको मैं प्राप्त करता हूँ ।

(सूक्त २१)

७ वृहत् श्रवः अगन्— तुम्हारा भय बधा है ।

८ दुष्टं पुत्रं दधीष्व— तू दुष्टा तेज धारण करता है ।

९ ते श्रुयं वत् तिरामसि— तेरे बलका हम बहुत वर्णन करके बजाते हैं ।

१० अद्रिवः— वज्रधारी, क्लिमें रहनेवाला,

११ महत् मयं अमीपत् अप सुकययत्— बड़े भयका मुझबला करके उसको दू करता है ।

१२ सः द्वि स्थिरः विश्वर्यणिः— वह स्थिर रहता है और सब प्रजाका विशेष निरीक्षण करता है ।

१३ इन्द्रः नः मूलयाति— इन्द्र हमें सुखी करता है ।

१४ अघं नः पश्चात् न नशत्— इस कारण पाप हमारा पीजा नहीं करता ।

१५ मद्रं भवानि नः पुरः— कन्या हमारे धामने रहता है ।

१६ इन्द्रः सर्वाभ्यः आशाम्यः अमयं करत्— इन्द्र सब दिशाओंसे निर्भयता करता है ।

१७ शशून जेता विश्वर्यणिः— वह इन्द्र शत्रुओंको जीतनेवाला और सब प्रजाओंको देखभाल करता है ।

सोमका वर्णन—

१ श्रुषिन्मत्तमः— बल रहनेवाला,

२ पुत्नी— वनवाँला, तेजस्वी, अंधेमें वन रहनेवाला,

३ जग्मुचिः— सब व रहनेवाला, सुस्ती आने न देने वाला । खैरसके पानेसे ये लाभ होते हैं ।

(महे वाचं नि सु प्र मरामहे) महान् इन्द्रके लिये हम सप्तम स्तुति करेंगे । (विवस्वतः सद्ने इन्द्राय गिरः) विवस्वानके स्थानमें इन्द्रके लिये स्तुतिमें होती रहती हैं । (ससतां इव) सोनेवालोंके रत्न जैसे प्या चुराता है, उस तरह (नू चित् दि रत्नं अविदन्) शीघ्र ही उस मज्जने रत्न इन्द्रके प्राप्त किया । (दुष्टुतिः द्रविणोदेपु न शस्यते) निन्दा धनका दान करनेवालोंके लिये योग्य नहीं होती ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (अभ्यस्य पुरः) तू शीघ्रका दान करता है, (गोः दुरः असि) तू गौओंका दाता है, (यवस्य दुरः) तू जौका दाता है, (वसुनः इनः पतिः) तू धनका स्वामी और रक्षक है, (शिवानरः प्रदिवः) तू पुराने कालसे मानवोंका धरायक है, (अ-काम-कर्शनः) मज्जोकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला तू (सखिभ्यः सखा) मित्रोंके लिये मित्र है अतः (तं इदं गृणीमसि) उसकी यह स्तुति हम गाते हैं ॥ २ ॥

हे (शचीव पुरुकृत्युमत्तम् इन्द्र) शक्तिमन्, बहुत कर्मोंको करनेवाले तेजस्वी इन्द्र ! (तव इत् इदं वसु अमितः चोक्ति) तेरा ही यह सब धन है जो चारों ओर प्रतीत होता है । हे (अमिभूत्) सबको पराभूत करनेवाले । (अतः संगृह्य आ भरू) इसलिये इस धनको इकट्ठा करके भर दे । (त्वापतो जरितुः कामं मा ऊनयीः) तेरा भक्ति करनेवाले स्तोत्रकी कामनामें न्यूनता न कर ॥ ३ ॥

एभिर्दुभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुघ्नानो अमतिं गोभिर्ध्विना ।
 इन्द्रेण दस्युं दुरयन्त इन्दुभिर्पुतद्वेषसः समिपा रमेमहि ॥ ४ ॥
 समिन्द्र राया समिपा रमेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः ।
 सं देव्या प्रमत्या वीरशुभ्रया गोअग्रयाश्वावत्या रमेमहि ॥ ५ ॥
 ते त्वा मदां अमदन्तानि वृष्ण्या ते सोमांसो वृत्रहृत्वेषु सत्पते ।
 यत्कारवे दशं वृत्रापर्यप्रति वृहस्पते नि सहस्राणि वृहस्यः ॥ ६ ॥
 युधा युधमुप घेदैपि घृष्ण्या पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा ।
 नम्या यदिन्द्र सख्यां परावति निवर्हयो नमुचिं नाम मायिनम् ॥ ७ ॥
 त्वं कर्त्तव्यमुत पर्णयं वघीस्तेजिष्ठयातिषिग्वस्ये वर्तनी ।
 त्वं शूता वङ्गदस्यामिनत्पुरोऽनानुदः परिपूता ऋजिध्वना ॥ ८ ॥
 स्वमेतां जनराजो द्विदशां चन्धुनां सुश्रवसोपजग्मुपः ।
 पाँटि सहस्रां नवतिं नवं श्रुतो नि चक्रेण रथ्यां दुष्पदावृणक् ॥ ९ ॥

(एभिः दुभिः सुमनाः) इन तेजोंके उत्तम मनन
 शील हो, (एभिः इन्दुभिः) इन सोमसोपे प्रसन्नचित्त हो,
 (गोभिः अधिधना अमतिं निरुघ्नानः) गंभीर और
 फोड़के साथ हमारी निवृद्धतामय दारिद्रताको प्रतिबंध कर ।
 (इन्दुभिः दस्युं) सोमसोके बलसे शत्रुको (इन्द्रेण)
 इन्द्रकी सहायतासे (दुरयन्तः) पाड़ते हैं, (युत-द्वेषसः
 इपा सं रमेमहि) और शत्रुओंको दूर करके अशके साथ
 हम संयुक्त होंगे ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! (राया सं) हम घनसे युक्त हों, (इपा सं
 रमेमहि) अशके युक्त हों, (अभिद्युभिः पुरुश्चन्द्रैः
 वाजेभिः सं) तेजस्वी आल्हाददायक शांकरोंके साथ हम
 युक्त हों तथा (गो-अग्रया अश्वावत्या वीरशुभ्रया)
 गौओंकी प्रधानता और घोड़ोंसे युक्त तथा वीरोंके बलसे प्रभाव
 (देव्या प्रमत्या सं रमेमहि) श्रीमान्मयी दिव्यशक्तिते
 हम संयुक्त हों ॥ ५ ॥

हे (सत्पते) सज्जनोंके स्वामी ! (वृत्रहृत्वेषु) इन्द्रके
 मारनेके क्रममें (ते मदाः ते सोमांसः त्वा अमदन्)
 उन आनन्ददायक सोमसोपे तुझे आनन्द दिया और (तानि
 घृष्ण्या) उन वीरोंके क्रममें तुझे प्रसन्न किया । (यत्
 कारवे वृहस्पते) जो तूने यज्ञकर्ता स्तोत्रोंके लिये (दश
 सहस्राणि वृत्राणि) दस हजार वृत्र वेद्योंको (अप्रति

नि वर्हयः) अप्रतिम रीतिसे मार डाला ॥ ६ ॥

वृ (युधा युधं घृष्ण्या) युद्ध करनेके उत्साहसे युद्धके
 प्रति शत्रुको घृष्ण करनेकी तैयारीसे (घ इत् उप एपि)
 जाता है । (पुरा इत् पुरं ओजसा सं हंसि) अपने
 श्लेषसे शत्रुके इस किलेको अपने बलसे तोड़ता है । हे इन्द्र !
 (यत् नम्या सख्या) शत्रुको नमानेवाले मित्रके साथ
 (परावति) दूर रहनेवाले (नमुचिं नाम मायिनं)
 मायाकी नमुचिको (नि वर्हयः) मार डाला ॥ ७ ॥

(अतिशयग्वस्य वर्तनी) अतिशयकी गई देनेवाकेकेमार्गमें
 जानेवाले (कर्त्तं उत पर्णयं) करझको और पर्णयकी
 (त्वं तेजिष्ठया वघीः) तूने तेज शस्त्रसे मार डाला ।
 (ऋजिध्वना परिपूता) ऋजिध्वनि घेरा हुई (अनानुदः
 घेष्टस्य) अशानशील बंधुदके (शता पुरः) शौ किले
 (त्वं अमिनत्) तूने तोड़ दिये ॥ ८ ॥

(अथन्धुना सुश्रवसा उपजग्मुपः) विना सहाय
 अकेले सुश्रवाने हमला किये हुए (एतान् द्विः दश जन-
 राजः) इन बीस जनराजोंको तथा उनके (पाँटि सहस्रा
 नवतिं नवं) सठ हजार निगानेरी सेनाओंको (दुष्पदा
 रथ्या चक्रेण) असह्य रथचक्रसे तुमने (नि अवृणक्)
 मार डाला, इसलिये (श्रुतः) इन्द्रकी प्रशंसा हुई ॥ ९ ॥

त्वमाविद्य सुश्रवसं तन्नोतिभिस्तनु त्रामभिरिन्द्र त्वंयाणम् ।

त्वमस्मै कुत्समतिधिग्ब्रमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः

॥ १० ॥

य उदृचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवर्वमा अर्ताम ।

त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः

॥ ११ ॥ (१२९)

(त्वं तव ऊतिभिः) तू अपनी रक्षापाषाणोंसे (सु-
श्रवसं आविद्य) सुश्रवाको रक्षा की, और हे इन्द्र ! (तव
त्रामभिः त्वंयाणं) तूने अपनी रक्षाओंसे त्वंयाणको रक्षा
की । (त्वं अस्मै महे यूने राज्ञे) तूने इस महान् तहण
राजाका हित करनेके लिये (कुत्सं अतिधिग्बं आयुं) कुत्स,
अतिधिव, आयुको (अरन्धनायः) वशमें किया ॥ १० ॥

हे इन्द्र ! (उदृचि) वेदमंत्रके पाठमें (ये देवगोपाः)
दुष्ट देवके द्वारा सुरक्षित हुये जो (ते सखायाः) तेरे मित्र
हम हैं वे (शिवन्माः अस्ताम) उत्तम कल्याणके युक्त हैं ।
(त्वां स्तोषामः) हम तेरी स्तुति करते हैं । (त्वया
सुवीराः) तेरे साथ रहनेके उत्तम वीर पुत्रोंसे युक्त होकर
हम (द्राघीयः आयुः प्रतरं दधानाः) दीर्घ आयुको
आधिक लंबा बनाकर धारण करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

इस सूक्तमें वीरताका वर्णन करनेवाले ये मंत्रभाग हैं—

१ अश्वस्य दुरः, गोः दुरः असि, यवस्य दुरः-
घोडे, गौंसे और जौका तू देनेवाला है ।

२ घसुतः इनस्पतिः— घनका तू स्वामी है ।

३ शिक्षानरः प्रदिवः अकामकरोनः— सतत मान
मोक्ष सहायक और उनके कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला है ।

४ सखिभ्यः सखा— मित्रोंका तू मित्र है ।

५ शचीव इन्द्र ! पुरुकृतं सुप्रत्तम— हे शक्तिमान्
तेजस्वी इन्द्र ! अनेक कर्मोंके कर्ता तू हो ।

६ तव इत् इदं अभितः वसु सेकिने— यह जो पारों
और धन है वह तेरा ही है ऐसा मंत्र जानते हैं ।

७ अतः संगम्य, हे अभिभूत ! आ भर— इसलिये
जमा करके, हे वीर ! हमें धन लाकर भर दे ।

८ त्वायतः जरितुः कामं मा ऊनयीः— तेरे आश्र-
यमें आये स्तोत्राकी इच्छामें न्यून न हो ।

९ पमिः धूमिः सुमनाः— इन तेजस्वी विचारोंके
उत्तम मनवाला हो ।

१० अमतिं गोमिः निरुद्धानः— दरिद्रताको गौंसे
प्रतिरक्षित कर ।

११ दस्युं दस्यस्त— शत्रुको हम फाड़ते हैं ।

१२ युतद्वेषसः इषा संरभेमहि— द्वेषियोंको धर
करके अन्नको प्राप्त करेंगे ।

१३ राया सं, इषा सं रभेमहि— धन और अन्नसे
हम युक्त हों ।

१४ अभियुभिः पुरुष्यन्द्रैः वाजेभिः सं रभेमहि—
दिव्य तेजस्वी बलोंके साथ हम युक्त हों ।

१५ गो अग्रय अश्ववत्या वीरशुभ्रमया देव्या
प्रमत्या सं रभेमहि— गौरों जिनमें अमरान् रक्षतीं हैं,
धोशेंसे जो युक्त हैं, वीरोंके बलसे युक्त दिव्य बुद्धिसे हम
संगत हों ।

१६ हे सत्पते ! वृत्रहृत्पेपु तानि ते वृष्ण्या ते
अमदन्— हे सजनोंके पालक ! वृत्रोंकी मारनेके समय तेरे
पौरुष कर्म तुझे आनन्दित करते हैं ।

१७ यत्कारवे वहिष्मते दश सहस्राणि वृत्राणि
अप्रति नि वह्यः— जो तूने यज्ञकर्ता कविके हित करनेके
लिये दस हजार वृत्र सैन्योंको अप्रतिम रीतिसे मारा ।

१८ युधा युघं धृष्ण्या उप पयि— एक युद्धसे
दूसरे युद्धके प्रति तू धैर्यसे जाता है ।

१९ पुरा इदं पुरं भोजसा सं हंसि— एक क्लिष्टे
दूसरे क्लिष्टोंके बलसे तोड़ता है ।

२० हे इन्द्र ! सख्या नम्या परावति माथिनं नमुचिं
नि वह्यः— मित्रके साथ दूर रहे मायावी-रूपटी नमुचिको
तूने मारा ।

२१ त्वं करंजे उत पर्णये तेजिष्ठया वधीः— तूने
करंज और पर्णपको तेजस्वी शयसे मारा ।

२२ त्वं वंगदस्य ऋजिभ्वना परिपृता शता पुरा
अभिनत्— तू वंगदकी ऋजिभ्वाने घेरी हुई सौ नगरे तोड़ दीं ।

२३ त्वं पतान् जनराष्ट्रः द्विः दश अरन्धुना सु-
भ्रवसा उपजग्मपः पष्टि सहस्रा नवति नव रथ्या
सकेपे तुपदा नि आचृणक्त— तूने इन बीस जन राजा-
ओंको, जो अड़ेले सुभ्रकोंके साथ तब रहे थे, उनको तथा उनके

[सूक्त २२]

(ऋषि. — १-३ विशोकः, ४-६ प्रियमेघ । देवता — इन्द्रः ।)

अभि त्वा वृषभां सुते सुतं सृजामि पीतये । तृष्पा व्यश्नुही मर्दम् ॥ १ ॥	
मा त्वां मूरा अविष्यवो मोपहस्त्वान् आदमन् । मार्कीं ब्रह्मद्विषीं वनः ॥ २ ॥	
इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राघसे । सरौं गौरो यथां पिव ॥ ३ ॥	
अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रं मर्चं यथां विदे । सृजुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ४ ॥	
आ हरयः ससृञ्जिरेऽरुपीरधिं वृहिपिं । यत्राभि संनवांमहे ॥ ५ ॥	
इन्द्राय गावं आशिरं दुदुहे वञ्जिणे मधुं । यस्तींमृपहुरे विदत् ॥ ६ ॥ (१३५)	

घाठ इमार । न-यानवे सेनेकोको अथय रथचक्रके मारये मार बाला ।

१४ त्वं सुध्रवसं तद्योतिमि. आधिध— तुले अपनी रक्षा साधनोंस सुध्रवाकी रक्षा की ।

१५ तव प्रामभि. तूर्वयार्ध— तेरे रक्षा साधनोंसे तूर्व-यागकी रक्षा की ।

१६ त्व कुत्स अतिघमव आयु असौ महे यूने राधे अरन्धय — तू न कु-ध, अतिघमव और आयुको इस बडे तरण राजके लिये मारा ।

१७ हे इन्द्र ! देवगोपा ते सखायः शिष्यतमा अन्नाम— हे इन्द्र ! देवोंसे सुरक्षित हुए हम उपम करमाणसे युक्त हो ।

१८ स्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः— तुम्हारी छदाप्यताइ हम उपम वीर पुत्रपौरोंसे युक्त होकर अपनी दार्घ आयुको अधिक दार्घ बनाकर धारण करेंगे ।

इतमें वीरत्वके निर्देश पाठक देखें ।

(सूक्त २२)

हे (वृषभ) शक्तिमन् ! (अभि सुते) गोमरस निकालन पर (पीतये) पीनेके लिये (त्वा सुत सृजामि) तेरे पास इस रथको भेजता हू । (तृष्प) इससे तूत हो, (मद् वधश्नुहि) आनन्ददायक इस रथको पी ॥ १ ॥

(ऋ ८।४।१२२)

(अविष्यव. मूराः) अपनी सरक्षण चाहनेवाले मूढ (त्वा मा वमन्) तुझे मत दबावें । (उपहस्त्वान्) मा आ वमन्) उपहास करनेवाले तुझे न दबावें । (ब्रह्मद्विष

मार्कीं वन) गानका द्वेष करनेवाले तुझे न प्राप्त कर सकें ॥ २ ॥ (ऋ. ८।४।१२३)

हे इन्द्र ! (इह) यहाँ (गोपरीणसा त्वा) गौदुग्धसे मिश्रित सोमरससे तुझे (महे राघसे मद्गन्तु) बडे घन प्रापिके लिये प्रणय रखें । (गौरो यथा सरः) मृग जैसा तालावपर पीता हे वैसा तू इस रथके (पिव) पी ॥ ३ ॥

(ऋ ८।४।२४)

(गोपति) गोओंके पालक, (सत्यस्य सृजुं) सत्यके प्रचारक, (सत्पति) सञ्जनोंके पालक (इन्द्र) इन्द्रकी (गिरा अभि प्र अर्चं) अपनी वाणीसे स्तुति कर (यथा विदे) जैसी जानते हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।६।१।४)

(अरुपीः हरया वा ससृञ्जिरे) लाल घोडे उरुको ला रहे हैं । (वृहिपि अधि) वह आकर आसनपर बैठा है । (यत्र अभि संनवांमहे) जहा हम मिलकर उरुकी स्तुति करते हैं ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।६।१।५)

(वञ्जिणे इन्द्राय) वज्रधारी इन्द्रके लिये (गाव मधु आशिरं दुदुहे) गौवें मधुर दूध डुदरती हैं । (यत् सी उपहुरे विदत्) जो उसको समीपमें पाया ॥ ६ ॥

(ऋ ८।६।१।६)

इस सूक्तमें वीरताका वर्णन यह है—
१ वृषभू.— बेल जैसा शक्तिमान् इन्द्र ।
२ गोपति — गोओंका पालक ।
३ सत्यस्य सृजु — सत्यका प्रचारक,
४ सत्पति— सत्यका, सञ्जनोंका पालक,
५ वज्री इन्द्रः— वज्रधारी इन्द्र,
६ वञ्जिणे इन्द्राय गाव मधु आशिरं दुदुहे— वज्रधारी इन्द्रके लिये गौवें मीखा दूध देती हैं ।

[सूक्त २३]

(ऋषिः — १-९ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

(क्र. ३।४।१-९)

आ तू न इन्द्र मय्यग्निघ्नानः सोमपीतये । हरिभ्या याह्यद्विवः	॥ १ ॥
सुचो होतो न ऋत्विर्यस्तिस्तिरे बर्हिर्ानुपक् । अयुञ्जन्मातरद्रयः	॥ २ ॥
इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद । वीहि शूर पुरोलाशम्	॥ ३ ॥
रारन्धि सर्वनेषु ण एषु स्तोमेषु वृत्रहन् । उक्थयेष्विन्द्र गिर्वणः	॥ ४ ॥
मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शर्वसुस्पतिम् । इन्द्रं वृत्सं न मातरः	॥ ५ ॥
स मन्दस्वा ह्यन्धसो रावसे तन्वा महे । न स्तोतारं निदे करः	॥ ६ ॥
व्यपिन्द्र स्वायवो हविष्मन्तो जरामहे । उत त्वमस्मयुर्वसो	॥ ७ ॥
मारि असाद्वि मुमुचो हरिप्रियावाड् याहि । इन्द्रं स्वधावो मत्स्वेह	॥ ८ ॥
अर्वाञ्च स्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना । घृतस्नुं वार्हिरासदे	॥ ९ ॥ (१४४)

(सूक्त २३)

हे (अद्विघः इन्द्र) वज्रधारी इन्द्र । (नः सोमपीतये घ्नानः) हमारे सोमपानके लिये पुलया हुआ तू (मय्यक्) मेरे पास (हरिभ्या आ याहि) योहोसि आ जावो ॥ १ ॥

(नः ऋत्वियः होता) हमारा ऋत्वेक होता (सत्तः) बैठ गया है, (बर्हिः आनुपक् त्तिस्तिरे) आसन योग्य रीतिसे फँलाया है, (प्रातः अद्रयः अयुञ्जन्) पातःकालसे हो पर्यर [सोमरस निकालनेके लिये] जोड़े गये हैं ॥ २ ॥

हे (ब्रह्मवाहः) मन्त्रोंके धारक ! (इमा ब्रह्म क्रियन्ते) ये मंत्र पाठ किये जाते हैं (वीहिः आ सीद) आसनपर बैठ । हे शूर ! (पुरोलाशं वीहि) इस अन्नको खा ॥ ३ ॥

हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले (गिर्वणः इन्द्र) स्तुतिके योग्य इन्द्र । (नः एषु) हमारे इन (सर्वनेषु स्तोमेषु उक्थयेषु) सबनों, स्तोत्रों और मीलोंमें (रारन्धि) आनन्द प्राप्त कर ॥ ४ ॥

(मातरः वृत्सं न) माताएं बछड़ेको प्यार करती हैं, उस तरह (सोमपां) सोमरस पीनेवाले (उरुं शर्वसुस्पतिं) विशाल बलके स्वामी इन्द्रको (मतयः रिहन्ति) स्तुतियें बर्णन करती हैं । प्यार करती हैं ॥ ५ ॥

(सः अन्धसः मन्दस्व हि) वृत्र तू इस सोमरससे आन-

न्दित हो, (तन्वा महे राघसे) शरीरसे बड़े धनके लिये यत्नशाल बन । (स्तोतारं निदे न करः) स्तुति करनेवालेकी निन्दा हो ऐसा न कर ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! (व्यं स्वायवः हविष्मन्तः जरामहे) हम तेरा आश्रय करके हवि लेकर तेरी स्तुति करते हैं । हे (वसो) वसनेवाले ! (उत त्वं अस्मयुः) तू हमारा सहायक हो ॥ ७ ॥

हे (हरि-प्रिय) योहोसो प्यार करनेवाले । (मा आरे असात् मुमुचः) उनको हमसे दूर न छोड़ । (वीहिः आ सीद) पास आ । हे (स्वधावः इन्द्र) अपनी धारक शक्तिके रक्षक इन्द्र ! (इह मत्स्व) यहाँ आनन्दित हो ॥ ८ ॥

हे इन्द्र ! (केशिना घृतस्नुं) बड़े बलोंवाले, यो जैसा जिनके शरीरसे रस सक्ता है ऐसे घोड़े (वीहिः आसीदे) आसन पर बैठनेके लिये (सुखे रथे) सुखकारक रथमें (स्वा अर्वाञ्चं वहतां) तुझे शर लावें ॥ ९ ॥

१ अद्विघः— वज्रधारी, अथवा पहाड़ी किलेमें रहनेवाला,

२ शूरः— शरवीर,

३ वृत्रहन्— वृत्रको मारनेवाला,

४ शर्वसः पतिः— बलका स्वामी,

५ एषु— वसनेवाला,

६ हरिप्रियः— योहोपर प्रेम करनेवाला,

७ स्व-धा-वः— निज शक्तिके दुक ।

[सूक्त २४]

(ऋषिः — १-९ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

(क्र. ३।४७।१-९)

उप नः सुतमा गृहि सोममिन्द्र गवांशिरम् । हरिभ्यां यस्ते अस्मयुः	॥ १ ॥
तमिन्द्र मदमा गृहि वहिष्ठां प्रावभिः सुतम् । कुविद्वस्वित्य तृष्णवः	॥ २ ॥
इन्द्रमित्या गिरो ममाच्छागुरिपिता इतः । आवृते सोमपीतये	॥ ३ ॥
इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह इवामहे । उक्थेभिः कुविदागमत्	॥ ४ ॥
इन्द्र सोमाः सुता इमे तान्दधिष्व शतक्रतो । जठरं वाजिनीवसो	॥ ५ ॥
विद्या हि त्वां घनंजयं वाजेषु दधूपं कवे । अघां ते मुञ्जमीमहे	॥ ६ ॥
इममिन्द्र गवांशिरं यवांशिरं च नः पिव । आगत्या वृषभिः सुतम्	॥ ७ ॥
तुम्पेदिन्द्र स्व ओक्थेके सोमं चोदामि पीतये । एष रारन्तु ते हृदि	॥ ८ ॥
त्वां सुतस्य पीतये प्रसामिन्द्र हवामहे । कुशिकासो अक्थेवः	॥ ९ ॥ (१५३)

(सूक्त २४)

हे इन्द्र ! (नः सुतं गवांशिरं सोम) हमारे निचोडे दूध मिलाये सोमरसके समीप (हरिभ्यां) तुम्हारे दो घोड़ोंके साथ (उप आ गृहि) आओ, (यः ते अस्मयुः) आ तोरा हमारे पास आनेका स्वभाव है ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! (वहिष्ठां प्रावभिः सुतं) आसनपर रहे, परपरके वृटे (त मदं आ गृहि) लक्ष आनन्ददायक सोमरसके समीप आओ । (कुवित् नु अस्य तृष्णवः) इससे तुम होनेवाले बहुत है ॥ २ ॥

(इतः इयिताः मम गिरः) यहासे भेजी मेरी स्तुतिदा (इत्या इन्द्रं मच्छ अनुः) इस तरह इन्द्रके पास सीधी पहुँची है, (आवृते सोमपीतये) उसको इपर लाने और सोम पीनेके लिये ॥ ३ ॥

(इन्द्रं सोमस्य पीतये) इन्द्रको सोमके पीनेके लिये (स्तोमैः इह हवामहे) स्तोत्रोंसे यहा हम बुलाते हैं । (उक्थेभिः कुविद्वस्वित्य आगमत्) स्तोत्रोंसे बुलानेपर वह बहुत बार आया है ॥ ४ ॥

हे (शतक्रतो वाजिनीवसो इन्द्र) सैधकों कर्म करनेवाले, सेनाको बसानेवाले इन्द्र ! (इमे सोमाः सुताः) ये सोमके रस तैयार हैं । (तान् जठरे दधिष्व) उनको पेटमें धाण कर ॥ ५ ॥

हे (कवे) ज्ञानी । (त्वा घनंजयं) तुमने हम घनको जीतनेवाला और (वाजेषु दधूपं) युद्धमें शत्रुकी पराजय करनेवाला (विद्या) जानते हैं (अघां ते मुञ्जं इमहे) इसलिये तुमसे कुछ मांगते हैं ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! (इमं नः गवांशिरं यवांशिरं च) इस हमारे गोदुग्ध मिलाये, सप्तु मिलाये (वृषभिः सुतं) बलवानोंने निचोडे सोम रसको (जागत्य पिव) आकर पी ॥ ७ ॥

हे इन्द्र ! (स्वे ओक्थे) अपने स्वानमें (पीतये) पीनेके लिये (तुभ्य इत् सोमं चोदामि) तेरे लिये सोमको प्रेरता हू । (ते हृदि एष रारन्तु) यह तोरे हृदयमें आनन्द देवे ॥ ८ ॥

(अक्थेवः कुशिकासः) अपनी सुरक्षा चाहनेवाले कुशिक गोत्री हम (सुतस्य पीतये) निचोडे सोमरसको पीनेके लिये हे इन्द्र ! (प्रसं त्वां इमहे) तुम पुरातन वीरको हम बुलाते हैं ॥ ९ ॥

इस सूक्तमें नीचे लिखे वर्णन वीरके हैं—

- १ शतक्रतुः— सैधकों कर्म करनेवाला वीर,
- २ वाजिनीवसुः— सेनाको बसानेवाला, सेन्यकी उत्तम व्यवस्था करनेवाला, सेनाका संचालन करनेवाला ।
- ३ घनंजयः— शत्रुको जीतकर घन लानेवाला,

[सूक्त २५]

(अंगिः — १-५ गीतमः, ७ अष्टकः । देवता — इन्द्रः ।)

(क्र. ११८३१-५)

अर्ध्वावति प्रथमो गोपुं गच्छति सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तत्रोतिभिः ।	
तमितृणक्षि वसुना भवीयसा सिन्धुमापो यथाभितो विचेतसः	॥ १ ॥
आपो न देवीरुपं यन्ति होत्रियंमवः पश्यन्ति विरतं यथा रजः ।	
प्राचेर्देवासाः प्र णयन्ति देव्युं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वरा इव	॥ २ ॥
अधि द्वयोरदघा उक्थ्यं चर्वा यतसुंचा मिथुना या संपर्यतः ।	
असंयचो व्रते ते श्चेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते	॥ ३ ॥
आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वयं इन्द्रामयः शम्या ये सुकृत्यया ।	
सर्वे पणेः समाचिन्दन्तु भोजनमश्वावन्तं गोमेन्तुमा पशुं नरः	॥ ४ ॥

४ वाजिपु दृष्ट्यं— युद्धोमें धैर्यवान्,

५ कविः— दूरदर्शी, कान्तदर्शी, ज्ञानी, शत्रु भविष्यमें क्या करेगा यह पहिलेसे जाननेवाला,

६ प्रतनः— पुरातन कालसे प्रसिद्ध, अनुभवी ।

सोम रस तैयार करनेकी राति—

१ गवाशिरः— गौका दूध सोमरसमें मिलाया जाता था ।

२ मद्ः— आनन्ददायी, उरसाह बढानेवाला,

३ प्राचभिः सुतः— पत्थरोंसे कुटकर रस निकालते हैं ।

४ जठरे दधिन्व— पेटमें धारण कर, पी ।

५ यवाशिरः— औंका भाटा मिलाते हैं ।

६ वृषमिः सुतः— बलवान् पुरुषोंने रस निकाला ।

(सूक्त २५)

हे इन्द्र ! (तव ऊतिभिः) तेरी सुरक्षाओंसे (सुप्रावीः मर्त्यः) उत्तम सुरक्षित हुआ मनुष्य (अर्ध्वावति गोपु प्रथमः गच्छति) घोड़ों और गौओंवालोंमें पहिला होकर जाता है । (तं इत् भवीयसा वसुना पृणक्षि) उसकी दूध पर्याप्त घनसे भर देता है (यथा सिन्धुं अभितः विचेतसः आपः) जैसे सिन्धुकी चारों ओरसे विचार न करनेवाले जलप्रवाह प्राप्त होते हैं ॥ १ ॥

(देवीः आपः न) दिव्य जलप्रवाहोंकी तरह हमारी स्तुतिवा (होत्रियं उपयन्ति) द्युस होमके योग्यके समीप

५ (अयर्व. भाष्य, काण्ड २०)

जाती हैं । (यथा रजः विततं) जमा अन्तरिक्ष लोक फैला हुआ है उस तरह तेरी (अवः पश्यन्ति) रक्षण शक्तिकी चारों ओर फैली हम देखते हैं । (देव्युं देवाभ्यः प्राचैः प्र णयन्ति) देवत्व प्राप्त करनेवालेकी देव भागे बढाते हैं । (ब्रह्मप्रियं वरा इव जोषयन्ते) ब्रह्म जिसको प्रिय है उसको बरोंके समान सब देव प्रसन्न रखते हैं ॥ २ ॥

(द्वयोः अधि उक्थ्यां चर्वा अद्घाः) दोनोंके बीचमें रतुतिके बचन रखे रहते हैं, (या मिथुना यत घृन्वा संपर्यतः) जो मिथुन-पति और पत्नी-सुचा उठाकर तेरी पूजा करते हैं । (असंयुक्तः ते व्रते श्चेति पुष्यन्तं) उपद्रव रहित होकर मेरे प्रतीमें जो रहता है वह पुष्ट होता है, (सुन्वते यजमानाय भद्रा शाक्तः) यज्ञ करनेवाले यज्ञ-मानकी कल्याणकारक शक्ति प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

(अङ्गिराः आवत् प्रथमं वयः दधिरे) अंगिरसोंने प्रथम अन्न और बलको धारण किया, (ये इन्द्राग्रयः) जिन्होंने अन्नको प्रदत्त करके (सुकृत्यया शम्या) उत्तम यज्ञ कर्मोंसे शान्ति स्थापन की, (नरः) उन बीरोंने (गोमन्तं अश्वावन्तं पशुं सर्वे भोजनं) गौं, घोड़े और अन्य पशुशाले सब योग्य पदार्थोंको (पणेः समाचिन्दन्त) पाणियोंसे प्राप्त किया ॥ ४ ॥

यज्ञैरथर्था प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा धेन आजनि ।

आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ ५ ॥

वर्हिर्वा यत्स्वंपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते द्विवि ।

प्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्यपुस्तस्येन्द्रो अभिपित्वेषु रण्यति ॥ ६ ॥

प्रोग्रां पीति वृष्णं इयमि सत्यां प्रयै सुतस्य हयंश्च तुभ्यम् ।

इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः श्रुत्यां गृणानः ॥ ७ ॥ (अ. १०. १०. ५. ३) (१६०)

(अथर्था यज्ञैः प्रथमः पथ तते) अथर्वाने पहिले यज्ञोस माग पेश्या। (तत व्रतपाः धेनः सूर्यः आजनि) पथम् व्रतपालक तेजस्वी सूर्य प्रश्न हुआ। काव्यः उशानाः सचा गां आ आजत्) काव्यपुत्र उशानाने उष यज्ञक साथ गोबोका चलाया। इत तरह यमस्य जात अमृत यजामहे) । तयमासे कर्म करनेसे उत्पन्न हुए अमृतर्ष्या यज्ञ कर्म हम करत है ॥ ५ ॥

(यत् वर्हिं स्वपत्याय वृज्यते) जब कुशा उत्तम कर्म करनेके लिये काटते हैं, (अर्क वा श्लोक द्विवि आघोषते) जब सूक्ष्म बोलनेवाले अपने मंत्रको सुलोकमें घोषित करते हैं, (यत्र कारुः उक्थ्यः प्रावा वदति) जहाँ निपुण स्तना त्रैसा पत्थर [सोम वृत्नेका] शब्द करता है, (इन्द्र तस्य अभिपित्वेषु) इन्द्र उसके समीप रहने-म (रण्यति) आनन्द मनाता है ॥ ६ ॥

हे (हयंश्च) लाल पीछेवाले इन्द्र ! (वृष्णे तुभ्यं) बलवान् तुझे (सत्यां उग्रं पीति) सबे उरुवाह वर्षक सोम पानके पथ (प्रयै प्र इयमि) जानेके लिये मैं प्रेरित करना हू । हे इन्द्र ! (धेनाभिः इह मादयस्व) स्तुति योसे यहाँ आनन्दित हो, (विश्वाभि धीभि) सारी सुदिबोसे यहाँ (श्रुत्यां गृणान) शक्तिके साथ तुम्हारी स्तुति होता है ॥ ७ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके वीरताके ये वर्णन हैं—

१ हे इन्द्र ! तव ऊतिभि सुमाधीः मर्त्यः अदवा वति गोपु प्रथमः गच्छति— हे इन्द्र ! तेरी सुरक्षाओंस सुरक्षित हुआ मनुष्य घोड़ों और गौबोवालोंमें पहिला होकर जाता है ।

२ त इत् भवीयसा वसुना पृणाक्षि— उस मनुष्यको तू पर्याप्त धनसे भर देता है ।

३ वितत अथ पश्यन्ति— तेरा रक्षण सामर्थ्य चारों

ओर फैल रहा है यह सब देखने है । चारों ओरसे तू उरुवाह रक्षण करता है, यह सब जानते हैं ।

४ देवास देवेषु प्राचं प्रणयन्ति— देव देवत प्राप्त करनेकी इच्छाबलिखा साथे मार्गोंसे आगे ले जाते हैं ।

५ प्रहसिप्रं जोययन्ते— ज्ञान पर प्रेम रखनेवालोंके प्रसन्न रहते हैं ।

६ असंयतः ते मते क्षेति पुष्यति— जो अपर रहित है वह तेरे नियममें रहता है और पुष्ट होता है ।

७ भद्रा शक्तिः यजमानाय— यज्ञकर्ताको कल्याण करनेवाली शक्ति प्राप्त होती है ।

८ अंगिरा प्रथमं ययः क्षिरे— अगिरसोंने प्रथम शक्ति प्राप्त की ।

९ ये इन्द्रायः सुकृतयथा श्रम्या— जो अग्नि प्रदीप्त करके यज्ञ करते हैं वे अपने शुभ कर्मोंसे शान्ति स्थापन करते हैं ।

१० नरः पणोः अश्वाघन्तं गोमन्त पशु सर्वं भोजन समधिन्दन्त— वीरनेता लोग पणिके घोड़ों, गौबों और पशु आदि सब भोग-भोजन आदि अपने कृपणमें करते रहे । पणियोंसे ये भोग अगिरसोंने वारताधि प्राप्त किये ।

११ अथर्था यज्ञैः प्रथमः पथ तते— अथर्वाने यज्ञोस प्रथमतः मार्ग फैलाया । लोगोंको महत्ता मार्ग बताया ।

१२ काव्यः उशाना सचा गा अ. आजत्— कवि पुत्र उशानाने साथ गोबे भी चलाई ।

१३ अमृत यजामहे— अमर देवता हम यज्ञ कर रहे हैं ।

१४ हे हयंश्च इन्द्र ! सत्यां सुतस्य उग्रं पीति वृष्णे तुभ्यं इयमि— हे घोबोवाले इन्द्र ! सब सोमरसका उग्र पान तेरे पास मैं भेजता हूँ ।

१५ श्रुत्यां गृणानः— इन्द्र सामर्थ्यवान् है ऐसी स्तुति होता है ।

[सूक्त २६]

(ऋषिः — १-३ शुनःशेषः; ४-६ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ. १३०।७-९)

योगैयोगे त्वस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमृतये ॥ १ ॥
 आ धां गमद्यदि ध्रवंत्सहस्रिणींभिरुतिभिः । वाजैभिरुप नो हवंम् ॥ २ ॥
 अनुं श्रुत्स्योक्तो हवे तुविप्रतिं नरम् । यं ते पूर्वं पिता हवे ॥ ३ ॥
 युञ्जन्ति ब्रह्ममरुपं चरन्ते परिं तस्युपः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ४ ॥ (ऋ. १६।१-२)
 युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणां धृष्णू नृवाहसा ॥ ५ ॥
 केतुं कृष्वन्केतवे पेशो मर्या अपेशते । समुपद्भिर्जायथाः ॥ ६ ॥ (२६६)

[सूक्त २७]

(ऋषिः — १-६ गोपूकत्यश्वसूक्तिनौ । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ. ११४।१-६)

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीयं वस्व एक इत् । स्तोता मे गोपंसा स्यात् ॥ १ ॥

(सूक्त २६)

(सखायः) हम सब मित्रमिलकर (योगं योगे) प्रलेक संयोगमें (वाजे वाजे) प्रलेक संग्राममें (त्वस्तरं) अधिक शक्तिवाले (इन्द्रं) इन्द्रको (उतये हवामहे) हमारा रक्षा करनेके लिये बुलाते हैं ॥ १ ॥

(यदि श्ववत्) यदि वह हमारा शयना सुनेगा, तो वह (सहस्रिणीभिः ऊतिभिः) हजारों संरक्षण सामर्थ्योंके और (वाजेभिः) बलोंके साथ (नः हवं उप आ गमत् घ) हमारा प्रायनाके स्थान पर वह निःसंदेह आ जायगा ॥ २ ॥

(प्रतनस्य ओकसः) पुराने परिचित ऐसे मेरे घरके पास (तुवि-प्रतिं नरं अनु हवे) बहुतांका सामना करनेवाले नेता इन्द्रको मैं बुलाता हूँ, (यं ते) जिस तुमको (पिता) मेरे पिताने (पूर्वं हवे) पहिले बुलाया था ॥ ३ ॥

(तस्युपः परिचरन्तं) स्थावरके चारों ओर घूमनेवाले किरण (अरुपे ब्रह्मं युञ्जन्ति) तबस्वी सूर्यको जोड़े जाते हैं । (रोचना दिवि रोचन्ते) वे किरण बुलोकमें प्रकाशते हैं ॥ ४ ॥

(अस्य रथे विपक्षसा) इसके रथमें दोनों ओर (शोणा धृष्णू नृवाहसा काम्या हरी युञ्जन्ति) लाल रंगके, शूर, बोरको लं जानेवाले प्यारे घोड़े जोड़े जाते हैं ॥ ५ ॥

(अकेतवे केतुं कृष्वन्) अहार्नीको ज्ञान और (अपे-शासे पेशाः) स्पहीनको रूप बनाते हुए, हे (मर्याः) मानकी ! (उपेद्भिः सं मजायथाः) उपाओंके साथ सूर्य उत्पन्न होता है ॥ ६ ॥

इस सूक्तमें वीरताके मंत्रभाग ये हैं—

१ सखायः योगे योगे वाजे वाजे ऊतये त्वस्तरं इन्द्रं हवामहे— हम सब एक विचारके लोग एक स्थानपर मिलकर, प्रलेक संग्राममें तथा प्रलेक योग्य प्रसंगमें हमारा सुरक्षाके लिये शक्तिमान् इन्द्रको सहायतामें बुलाते हैं ।

२ यदि श्ववत्, सहस्रिणीभिः ऊतिभिः वाजेभिः नः हवं घ उप आ गमत्— यदि वह हमारा प्रायना सुनेगा, तो हमारा सुरक्षा साधनके साथ और बलोंके साथ वह हमारे समीप निःसंदेह आ जायगा ।

३ यं ते पूर्वं पिता हवे, प्रतनस्य ओकसः तुविप्रतिं नरं अनु हवे— जिस सुमे मेरे पिताने बुलाया था, उस ठेरे परिचित मेरे प्राचीन घरके पास अनेक शत्रुओंका सामना करने-वाले तुम इन्द्र बोरको मैं बुलाता हूँ ।

४ अस्य रथे विपक्षसा शोणा धृष्णू नृवाहसा काम्या हरी युञ्जन्ति— इसके रथकी दोनों ओर लाल, शूर, नेताको लं जानेवाले प्रिय घोड़े जोड़े जाते हैं ।

५ अकेतवे केतुं कृष्वन्— अहार्नीको ज्ञान देना, जो अन्येमें है उसको प्रकाश देना ।

६ अपेशासे पेशाः कृष्वन्— स्पहीनको सुरक्ष करना ।

(सूक्त २७)

हे इन्द्र ! (यथा त्वं) जैसा तू वैसा (यत् अहं वस्वः एकः ईशीय इत्) यदि मैं धनका लकेला एक ही स्वामी

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपतं मनीषिणं । यदुहं गोपतिः स्याम् ॥ २ ॥
धनुर् इन्द्रं सनुता यजमानाय सुनुते । गामश्रं पिप्युषीं दुहे ॥ ३ ॥
न तं वर्तास्ति राधंम् इन्द्रं देवो न मर्त्यः । यदित्समि स्तुतो गुधम् ॥ ४ ॥
यज्ञ इन्द्रं मवर्धयुषद्भूमिं व्यवर्तयत् । चक्राण ओषुषं दिवि ॥ ५ ॥
वायुघानस्य तं व्यं विश्वा धनानि जिग्युषः । ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥ ६ ॥ (१७२)

[सूक्त २८]

(ऋषिः — १-४ गोपत्यश्वसूक्तिनो । देवता — इन्द्रः ।)

(ऋ ७ १४७-१०)

वृणुन्तविश्वमतिरन्मदे सोमस्य रोचना । इन्द्रो यदाभिनद्वलम् ॥ १ ॥
उद्गा आजुदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहां सतीः । अर्वाञ्चं नुनुदे चलम् ॥ २ ॥

हाऊ ली (म स्तोता गोपता म्यात्) मेरा स्तोता गोवांछा
सामी रोग ॥ १ ॥

यत् अह गोपतिः स्याम्) यदि मैं गोओंका स्वामी
हाऊ, है (पाचोपते) शक्ति के स्वामी इन्द्र । (अस्मै
शिक्षये) अथकोपन द्वाँर (मनीषिणे दित्सयं) मनन-
शीलता भी दे दूँ ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (सुनुवत यजमानाय) सोमयात्री यजमानके
लिये (ने सनुता धनु) तेरी सलत्रिय गोही है । (पिप्युषी
यां अश्वं दुहे) वह पुष्ट होकर गौ और घोडा देती है ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! (न द्यवः न मर्त्यः) न देव और न ही मर्त्य
(ने राधंमं वर्ता अस्ति) तरे दातृत्वका रोहनेवाला कोई
है, (स्तुतः यत् मयं दित्समि) जब स्तुति करनेपर तू
धन देगा चाहता है ॥ ४ ॥

(यज्ञः इन्द्रं अवर्धयत्) यज्ञने इन्द्रका महात्म्य बढ़ाया,
(यत् भूमिं व्यावर्तयत्) जो इन्द्र भूमिके उपचक्र बनाता
है । (दिवि ओषुषं चक्राण) और यलोक्षमें अपना सामर्थ्य
प्रकट करता है ॥ ५ ॥

हे इन्द्र ! (वायुघानस्य) बहनेवाले और (विश्वा
धनानि जिग्युषः) सब धनोंको जीतनेवाले ऐसे तेरी (ते
ऊति) सुरक्षा हमें मिले ऐसा (या वृणीमहे) हम माँगते
है ॥ ६ ॥

इन्द्रका महत्त्व नाँबके मंत्रभागोसे प्रकट होता है —

१ हे इन्द्र ! न द्येव न मर्त्यः ते राधसे वर्ता अस्ति,
स्तुतः यत् मयं दित्समि — न देव और नाही मर्त्य तेरे
दक्षिणका विरोध कर सकता है, स्तुति करनेपर जिसको तू धन
देना चाहता है ।

२ यज्ञः इन्द्रं अवर्धयत् — यज्ञ इन्द्रकी महिमा बढ़ाना है,
३ भूमिं व्यवर्तयत् — इन्द्रने भूमिके अधिक उपचक्र
बनाया है,

४ दिवि ओषुषं चक्राणः — इन्द्रने यलोक्षमें अपना
सामर्थ्य प्रकट दिया है ।

५ हे इन्द्र ! विश्वा धनानि जिग्युषः वायुघानस्य
ते ऊति वा वृणीमहे — हे इन्द्र ! सब धनोंको विजयसे
प्राप्त करनेवाले और अपनी महिमासे बड़नेवाले तेरा रक्षण हमें
प्राप्त हो यह हमारी माँग है ।

मयम और द्वितीय मंत्रमें ' तेरे जैसा मैं यदि धन का स्वामी
बनूँ तो मैं धनका दान करूँगा ' ऐसा कटकर इन्द्रसे मज्ज स्पर्धा
कर रहा है । यह भक्तिरसका एक उत्तम उदाहरण है । ' मेरा
स्तोता गोओंका स्वामी होगा । ' यह वाक्य भी इन्द्रकी बराबरी
करनेवाला मज्जका वाक्य है । तृतीय मंत्रमें ' पुष्ट गाय, गौ और
घोडा देनी है ' इसमें गायके बदले घोडा मिलता है ऐसा
समझना योग्य है ।

(सूक्त २८)

(इन्द्रः) इन्द्रने (सोमस्य मदे) सोमरस पानेसे उत्पन्न
हुए उत्साहमें (अन्तरिक्षं) अन्तरिक्षको तथा (रोचना)
प्रकाशित स्थानोंको (व्यावर्तयत्) व्याप लिया (यत् चलं
अभिनत्) और तब चलको लोड दिया ॥ १ ॥

(अंगिरोभ्यः) अंगिरसोंके लिये (गुहा सतीः गाः
आविष्कृण्वन्) गुहामें रहनेवाली गौओंको बाहर निकालकर
(उत् व आ धाजत्) प्रदान किया और (चलं अर्वाञ्चं
नुनुदे) चलकी नाँबे मिला दिया ॥ २ ॥

इन्द्रेण रोचना दिवो दृहानि दंष्टितानि च । स्थिराणि न पराणुदे ॥ ३ ॥
 अपामूर्धिमर्दान्निव स्तोमं इन्द्राजिरायते । वि ते मदा अराजिषुः ॥ ४ ॥ (१७६)

[सूक्त २९]

(काविः — १-५ गोपूकृत्यश्वसूक्तिनो । देवता — इन्द्रः ।)
 (क्र. ८।१४।११-१५)

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्धुवर्धनः । स्तोतृणामृत भद्रकृत् ॥ १ ॥
 इन्द्रमित्केशिना हरीं सोमपेयाय वक्षतः । उप यज्ञं सुरार्थसम् ॥ २ ॥
 अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः । विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ३ ॥
 मायामिहृत्सिसृप्सत इन्द्र धामारुक्षतः । अत्र दस्यूरधुतयाः ॥ ४ ॥
 असुन्वामिन्द्र संसदं विपूर्षा व्यनाशयः । सोमपा उत्तरो भवन् ॥ ५ ॥ (१८१)

(इन्द्रेण दिवः) इन्द्रने युक्त स्थानमें (रोचना दृहानि दंष्टितानि च) अमरनेव ले नक्षत्र सुहृद अर स्थापित किये वे (स्थिराणि न पराणुदे) स्थिर किये और वे दृढीये नहीं जा सकते ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! (अपां ऊर्मिः इव) जलोंकी लहरके समान (स्तोमः मद्ग्न इव) यह खोज आनन्द बढ़ाता हुआ (अजिरायते) शीघ्रगते बाहर आ रहा है, और उससे (ते मदाः वि अराजिषुः) तेरे आनन्द विराजते हैं ॥ ४ ॥

वीरताका वर्णन यह है—

१ वलं अभिनत्— इन्द्रने बलके तोड़ दिया ।
 २ वलं अर्वाञ्चं सुनुवे— इन्द्रने बलके नाँवे गिराया ।
 ३ अंगिरोभ्यः गुहा सती, गाः आविष्कृष्यन् आ अजत्— [बलने गोपे पकड़ कर आनी गुहामें बँद करके रक्षी थीं,] उन गोओंको आंगरा ऋषिके देनेके लिये इन्द्रने गुहासे उनका बाहर निकाला और अंगिराके पास ले जानेके लिये हुँकाला ।

४ इन्द्रेण दिवः रोचना दृहानि दंष्टितानि स्थिराणि न पराणुदे— इन्द्रने गुलाबमें अमरदार नक्षत्र दृढतासे स्थापित किये, उनको दूसरा कोई हटा नहीं सकता । [यहाँ यह इन्द्र परमात्मा ही है ।]

(सूक्त २९)

हे इन्द्र ! (त्वं हि स्तोमवर्धनः) स्तोत्रों द्वारा अमरक महल बजता है ऐसा तू है और (उक्थवर्धनः) स्तुतिगोष्ठे अमरका यज्ञ बढ़ता है ऐसा है । और तू (स्तोतृणां उत मद्रकृत्) स्तोताओंका कल्याण करनेवाला है ॥ १ ॥

(केशिना हरी) बालवाले दो घोंडे (इन्द्रं सोमपेयाय वक्षतः) इन्द्रको सोमपानके लिये ले जाते हैं । (सुःसृजस यज्ञं उप) उत्तम धाता इन्द्रको यज्ञके पास ले जाँदगे ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! (नमुचेः शिरः) तुमने नमुचिहा सिर (अपां फेनेन) जलोंके प्रागणे (उदवर्तयः) उखाड़ दिया । (यत् विश्वाः स्पृधः अजयः) तब सब शत्रुओंका जीता । ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! (धां आरुक्षतः) गुलाबपर बढनेकी इच्छा करनेवाले और (मायाभिः) रूपशोभे (उरिससृप्सत) धिसकनेकी इच्छावले (दस्यून) शत्रुओंको तुने (अथ अधुनुतयाः) नीचे गिरा दिया ॥ ४ ॥

हे इन्द्र ! (असुन्वां संसदं) मंगयाग न करनेवालोंकी समाके (विपूर्षा व्यनाशयः) तुने छिन भिन्न करके विनष्ट किया और (सोमपाः उत्तरः भवन्) सोमपध पीरर तू विजयी हो गया ॥ ५ ॥

इस सूकमें इन्द्रके विषयके मंत्रभाग ये हैं—

१ हे इन्द्र ! स्तोतृणां मद्रकृत्— हे इन्द्र ! तू स्तोताओंका कल्याण करता है ।

२ स्तोमवर्धनः, उक्थवर्धनः— स्तोत्रोंमें इन्द्रका यज्ञ बढ़ता है ।

३ सुराधाः— उत्तम धन देनेवाला,

४ नमुचेः शिरः अपां फेनेन, इन्द्र ! उदवर्तयः— नमुचिहा सिर जलोंके प्रागणे इन्द्रने उखाड़कर फेंक दिया ।

[सूक्त ३०]

(ऋषिः — १-५ वरु. सर्वहरिर्वा । देवता — हरिः [इन्द्रः] ।)

(ऋ. १०।९६।१-५)

प्र ते महे विदये शंसिपं हरी प्र ते वन्वे वनुषो ह्येतं मदम् ।	
घृतं न यो हरिभिश्चारु सेचन आ त्वा विशन्तु हरिर्वर्षसं गिरः	॥ १ ॥
हरिं हि योर्निमभि ये सुमस्वरान्दिहन्वन्तो हरीं दिव्यं यथा सदा ।	
आ यं पुणन्ति हरिभिर्न घेनव इन्द्राय शूषं हरिवन्तमर्चत	॥ २ ॥
सो अस्व वज्रो हरितो य आयसो हरिनिकामो हरिरा गमस्तयोः ।	
घुम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे	॥ ३ ॥
द्विषि न केतुरधि घायि ह्येतो विष्यचुद्रजो हरितो न रंहा ।	
तुददहि हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अमवद्धरिभरः	॥ ४ ॥

'म-मुचि' - यह रोग या रोगकृमि जो जलदा अपनी उकड़ छोड़ता नहीं । 'अपां फेनः' - समुद्र झाग, जलोंकी झाग, यह औषध है जिससे पूर्वोक्त रोग दूर होता है ।

५ विश्वाः स्पृधः अजयः— सब शत्रुओंको जीत लिया ।

६ दस्यून् अव धूनुयाः— शत्रुओंको नीचे गिरा दिया, दूर किया ।

७ असून्यां संसदं विपूषो व्यनाशयः— अयाज-कोकी समाको विनष्ट कर दिया ।

८ सोमपा उत्तरः भवन्— सोमयाजक तथा स्थानपर चढ़े ।

'अपां फेनः' समुद्र झाग यह औषध है, उससे 'नमुचि' नामक रोग दूर होता है । यह औषध प्रहरण है । वैद्योंको इसका विचार करना चाहिये ।

(सूक्त ३०)

(ते हरी) तेरे दोनों घोड़ोंको (महे विदये प्र शंसिपं) बड़े यज्ञमें मैं प्रशंसा करता हूँ । (ते वनुषः ह्येतं मदं प्र घ्न्ये) तुझे इष्ट आनन्दकारी रसको मैं तैयार करता हूँ । (घृतं न) धी के समान (यः हरिभिः चारु सेचते) जो घोड़ोंसे आकर प्रेमसे जलकी धीचता है, (हरिर्वर्षसं त्वा गिरः आ विशन्तु) ऐसे सुन्दर रूपवाले तुझमें हमारी स्तुतियाँ प्रविष्ट हों ॥ १ ॥

(हरि योर्नि ये हि अभि समस्वरन्) जो ऋषि

इन्द्रके आगमनके मूल कारण रूप घोड़ेकी स्तुति करते रहे (यथा दिव्यं सद्ः दिहन्वन्तः हरी) क्योंकि दिव्य यह स्थानके पास इन्द्रको ये ही घोड़े लाते हैं । (यं हरिभिः न घेनवः आ प्रीणन्ति) जिसको घोड़ोंके समान गँवें तृप्त करती है उस (इन्द्राय हरिवन्तं शूषं अर्चत) इन्द्रके संतोषके लिये घोड़ोंवाले बलधी पूजा करो ॥ २ ॥

(सः अस्य वज्रः) वह इस इन्द्रका वज्र (हरितः यः आयसः) नीला और पीलादका है (हरिः निकामः) यह प्राण हरण करनेवाला वज्र उसको बड़ा प्यारा है, (हरिः आ गमस्तयोः) भुआओंमें यह इन्द्र इस वज्रको पकड़ता है । (घुम्नी सुशिप्रः) तेजस्वी उत्तम हनु या धाकेवाला इन्द्र है, (हरि-मन्यु-सायकः) शत्रुके प्राण हरण करनेवाले, शीघ्र दुफ बाणको धारण करनेवाले (इन्द्रे हरिता रूपा निमि-मिक्षिरे) इन्द्रमें धारे तेजस्वी रूप मिले हैं ॥ ३ ॥

(द्विषि ह्येतः केतुः अधि घायि न) तुल्येष्टमें सुन्दर वज्र जैसा लगाते हैं, वैसा वह (वज्रः हरितः रंहा न यि व्यचत्) सुवर्णका वज्र मानो वेगसे चलता है, (यः आयसः हरिशिप्रः अहि तुदत्) जिस पीलादके वज्रके सुवर्णके धाकेको धारण करनेवाले इन्द्रने अहि नामक शत्रुको मारा । तब (हरिभरः सहस्रशोकाः अमवद्ध) सुवर्णसे भरा वह वज्र सदस्र शक्तिवाला हो गया ॥ ४ ॥

त्वंत्वंमहर्षया उपस्तुतः पूर्वैभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः ।

त्वं हर्षसि तव विश्वंमकथ्यं मसामि राधो हरिजात हर्षतम्

॥ ५ ॥ (१८६)

[सूक्त ३१]

(अग्निः — १-५ वरुः सर्वहरिर्वा । देवता — हरिः [इन्द्रः] ।)

(अ. १०।१६.६-१०)

ता वृज्जिणं मन्दिनं स्तोम्यं मदु इन्द्रं रथे बहते हर्षता हरीं ।

पुरूष्यस्मै सर्वनानि हर्षत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे

॥ १ ॥

अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन्हरयो हरीं तुरा ।

अर्वद्विज्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमानशे

॥ २ ॥

हे (हरिकेश इन्द्र) सुनहरी बालोवाले इन्द्र ! (पूर्वैभिः यज्वभिः उपस्तुतः) पूर्व समयके याजकोंने स्तुति किता हुआ (त्वं त्वं महर्षयाः) तू ही स्तुतिके लिये योग्य है । (तव विश्वं मकथ्यं) तेरी सब स्तुतिकेलिये (त्वं हर्षसि) तू योग्य है । हे (हरिजात) हे दुःख हरण करनेवालोंमें प्रसिद्ध ! (हर्षतं राघः असामि) तेजस्वी धन तेरा ही है ॥ ५ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रकी वारताका वर्णन अब देखिये—

१ इन्द्राय हरिवन्तं शूषं अर्चत— इन्द्रके शत्रुवध-कारी बलकी पूजा करो ।

२ अस्य वज्रः हरितः आयसः हरिः निकामः— इस इन्द्रका वज्र सुवर्णके सुशोभित फौलादका है, वह शत्रुको मार करनेवाला है इस कारण प्रिय है ।

३ हरिः आ गमस्त्योः— वह शत्रुका हरण करनेवाला वज्र दोनों हाथोंसे वह पकड़ता है ।

४ द्युज्जी सुजिगमः हरि-मन्थु-सायकः— यह इन्द्र तेजस्वी, उत्तम छाया धारण करनेवाला, शत्रुके प्राण हरण करनेवाला क्रोधो भाण जिसके पास रहता है ।

५ इन्द्रे हरिता रूपा निमिमिक्षिरे— इन्द्रमें सब चमकीले रूप रहे हैं ।

६ दिवि हर्षतः केतुः न अग्धि घ्रायि— आकाशमें सुवर्णका चक्र जैसा फटके [वैसा इन्द्रका वज्र चमक रहा है ।]

७ हरितः वज्रः रंहा न विव्यचत्— सुवर्णका वज्र वेगधे चला ।

८ हरिजिगमः यः आयसः अर्हि तुदत्— सुवर्णका चाका बांधनेवाले इन्द्रने अपने फौलादके वज्रधे अदिनामक अपने शत्रुको मारा ।

९ हरिभरः सहस्रशोकः अमवत्— सुवर्णके भरा हुआ वह वज्र सहस्र तेजोंसे चमकनेवाला हुआ ।

१० त्वं त्वं महर्षयाः— तू ही स्तुतिके लिये योग्य है ।

११ त्वं हर्षसि, तव विश्वं मकथ्यं— तू स्तुतिके लिये योग्य है, सब स्तुति तुम्हारी है ।

१२ हे हरिजात ! हर्षतं असामि राघः— हे शत्रुके प्राण हरण करनेवालोंसे प्रसिद्ध इन्द्र ! तेरा धन अर्धर्णनीय है ।

इस सूक्तमें ' इन्द्र ' के लिये ' हरि-केश ' कहा है । सुवर्णके रंगके केशवाला इन्द्र है । सुवर्णके बालोवाले लोग जहाँ होते हैं वहाँका यह वीर है । तीव्ररीय संदितावालोंको ' हरिष्य केगी ' कहते हैं । वही भाव ' हरि-केश ' में दीखता है ।

(सूक्त ३१)

(ता हर्षता हरी) वे दोनों प्रिय घोड़े (वृज्जिणं मन्दिनं स्तोम्यं इन्द्रं) वज्रधारी, आनन्द युक्त, स्तुतिके योग्य इन्द्रको (मदे) आनन्द प्राप्त करनेके लिये (रथे यइतः) रथमें ले आते हैं । (अस्यै हर्षते इन्द्राय) इस इच्छा करनेवाले इन्द्रके लिये (पुरूषिण सवनानि) बहुते सवन और (हरयः सोमाः) तेजस्वी सोमरस (दधन्विरे) बहते हैं ॥ १ ॥

(कामाय हरयः अरं दधन्विरे) इन्द्रको कामनातुसार सोमरस पूर्णतया बहे । (स्थिराय हरयः हरीं तुरा हिन्वन्) स्थिर इन्द्रके लिये वेगवाले सोमरसोंने दोनों घोड़ोंको तुराके चलाया । (अर्वद्विज्यो हरिभिः यः जोषं ह्यते) वेगवाले घोड़ोंके जो चुपचाप जाता है, (सः अस्य हरिवन्तं कामं आनयी) सब रथने इस इन्द्रकी कामवाली कामनाकी जाना ॥ २ ॥

हरिदमशाहृहरिकेश आयमस्तुरम्पे यो हरिपा अर्धघत ।

॥ ३ ॥

अर्धद्विषो हरिभिर्वाजिनीवमुरति विश्वा दुरिता पारिपुद्रा

॥ ४ ॥

सुत्रे यस्य हरिणी विपेततुः शिश्रे वाजाय हरिणी दर्विध्वतः ।

प्र यत्कृते चमसे मर्मृजद्वरी पीत्वा मर्दस्य हर्यतम्पान्धसः

॥ ५ ॥ (१९१)

उत स्म सत्रं हर्यनस्य पस्त्योऽङ्गुरन्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत् ।

मही चिद्धि धिषणाहर्ष्यदोर्जसा बृहद्वयो दधिपे हर्यतश्चिदा

[सूक्त ३२]

(ऋषिः — १-३ वरुः सर्षद्वरिवा । देवता — हरिः [इन्द्रः] ।)

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नवर्षनव्यं हर्षसि मन्म नु प्रियम् ।

॥ १ ॥

प्र पस्त्यमिसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हर्ये सुयौय

(हरि-इमशाहः) पीता मूषोवाला (हरि-केशः) पीलेबालोवाला, (आयस) पीलादका जैषा बना (तुरस्ये यः हरिपा अथर्घत) त्वरासे पीने जे पे रोक पासनकरी उराधसे बडता है (अर्धद्विः हरिभिः यः) बेगवान् घोरोसे जे । वाजिनी-वसु) सेनाको बसाता है वह (हरौ) दोनों घोरोको (विश्वा दुरिता अति पारिपु) धारी बडिनाइयोके पार ले गया ॥ ३ ॥

(सुवेव यस्य हरिणी विपेततुः) दो सुवके समान बिषके दोनो अर्धे अलग अलग चलते हैं । (शिश्रे हरिणी वाजाय दविष्टतः) दोनों अर्धे बेगके लिये वह अब रंपाता है, (यत्कृते चमसे) बिषके लिये चमस तैयार हुए लप (मर्दस्य हर्यतस्य अन्धसः पीत्वा) आनंदकारक त्रिष अन्नरसको पीकर वह अपने (हरौ मर्मृजत्) दोनों घोरोको पीछता है ॥ ४ ॥

(उत हर्यतस्य पस्त्योः सद्य स्म) यदि इच्छा करनेवाले इन्द्रा पर यौ, और पृथिवीमें है, तो वहसि (अत्यः वाजं न) घोषा जैसा युद्धम जाता है वैसा वह (हरिवान् अचिक्रदत्) घोरोवाला इन्द्र आया है । (मही धिषणा चित्) मही स्तुतिने (ओजसा अहर्षत्) बलसे उसको धर लाया है । और (हर्यतः चित् युद्धत् षयः वा दधिपे) उस इच्छा करनेवालेने बडो आयु धारण की ॥ ५ ॥

इस सूक्तमें इन्द्रके वीर कर्म ये हैं—

१ हरौ वज्रिणं इन्द्रं रये वहतः— दो फले वज्रधारी इन्द्रको रथमें बिठलाकर ले जाते हैं ।

२ स्थिराय हरौ तुरा इन्वन्— युद्धमें स्थिर रहनेवाले इन्द्रको दो घोरे त्वरासे ले चलते हैं ।

३ अर्धद्विः हरिभिः यः ज्योषं इयते— बेगवान् घोरोसे वह सत्वर जाता है ।

४ अर्धद्विः हरिभिः यः वाजिनी-वसु— संप्रणामी दो घोरे जे सेनाको बसाता है ।

५ हरौ विश्वा दुरिता अनि पारिपु— दो बड़े धर संकरोको पार करते हैं ।

६ अत्यः वाजं न हरिवान् अचिक्रदत्— घोरा युद्धमें जाता है उस तरह इन्द्र आता है ।

इन्द्रका वर्णन—

१ हरिदमशाह — सोनेके रंगके मूषोवाला,

२ हरिकेशः — सोनेके रंगके बालवाला,

३ आयसः— पीलादका वज्र धारण करता है,

४ हरिपा— घोरोका पासन करनेमें कुशल,

५ वाजिनी-वसुः— सेनोको अच्छी तरह बसानेवाला,

६ युद्धत् षयः दधिपे— बडो आयु धारण करता है ।

(सूक्त ३१)

त (महित्वा) आनी माहिमासे (रोदसी आ हर्यमाणः) युद्धके और पृथिवीको सर देता है । तदा (नव्यं नव्यं त्रियं मन्म) नवीन नवीन त्रिय स्तोत्रको त (हर्षसि) वाहता है । हे (असु-र) जीवन शक्ति देनेवाले इन्द्र ! (हरये सुयौय) दुःखोका दान करनेवाले सुयौके लिये (गोः हर्यते पस्त्यं) गोओके लुहनीय वाडेको (प्र आविष्कृधि) प्रकट कर ॥ १ ॥

आ त्वा ह॒र्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिंशिप्रमिन्द्र ।

पिवा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो ह॒र्यन्यज्ञं सधमादे दशोणिम्

॥ २ ॥

अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सर्वन् केवलं ते ।

ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषं जठर आ वृषस्व

॥ ३ ॥ (१९४)

[सूक्त ३३]

(ऋषिः — १-३ अष्टकः । देवता — इन्द्रः ।)

अप्सु धृतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व ।

मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वधस्व मदसुकथवाहः

॥ १ ॥

श्रोत्रां पीतिं वृष्ण इयमिं सत्यां प्रथे सुतस्य ह॒र्यश्च तुभ्यम् ।

इन्द्र घेनामि॒रिह मादयस्व घीभिर्वि॒श्वामिः श॒च्यां गृणा॒नः

॥ २ ॥

ज॒ती श॒चीव॒स्त्वर्ध वी॒र्येण॒ वयो॒ दर्शाना॒ उ॒शिजं॒ श्रत॒ज्ञाः ।

प्रजावदिन्द्र मनुषां दुरोण तस्युर्गुणन्तः सधुमार्धासः ॥ ३ ॥ ऋ. १०।९६।११-१३ (१९७)

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

महित्वा रोदसी आ ह॒र्यमाणः— वीर अपनी मदि-
मासे विद्यको भर दे ।

नव्यं प्रियं मग्म ह॒र्यसि— नवीन प्रिय स्तुतिके स्तोत्र
पाये जाते हैं ।

हृरये सूर्याय गोः ह॒र्यतं प॒स्त्यं प्र आ॒विष्कृ॒धि—
गोबैके वाडेको सूर्य प्रकाशमें खुला कर । सूर्य प्रकाशमें गोबै
विचरें ऐसा कर ।

हे इन्द्र ! (जनानां प्रयुजः) लोगोंके यज्ञके प्रयोग
(हरिंशिप्रं तथा) सुनहरि साधुनाले तुझे (रथे आ वहन्तु)
रथमें बिठलाकर ले आवें । (सधमादे) साथ साथ बैठकर
आनीदत होनेके यज्ञ स्थानमें (दशाणि यज्ञं ह॒र्यन्) दस
अंगुलियोंसे निचोडे पूजनीय सोमको साहनेवाला तू बैठ और
(प्रतिभृतस्य मध्वः) साम् रथे हुए मधुर रथका (यथा
पिब) यथेच्छासे पान कर ॥ २ ॥

हे इन्द्र ! हे (हरि-वः) घोडोंवाले वीर ! (पूर्वेषां
सुतानां अपाः) पूर्व समयके सोमरथको तूने लिया है ।
(अपो इदं सर्वन् ते केवलं) और यह सोमरथ तो तेरे
लिये ही केवल तैयार किया है । हे इन्द्र ! (मधुमन्तं सोमं
ममद्धि) मंझे सोमरथके पानसे आनीदत हो । और हे इन्द्र !
(जठरे) अपने पेटमें (वृषं सत्रा आ वृषस्व) बलवर्धक
इस सोमरथको साथ साथ डाल दे ॥ ३ ॥

६ (अथर्व. भाष्य, पाण्ड २०)

जनानां प्रयुजः हरिंशिप्रं त्वा रथे आ वहन्तु—
लोगोंके कर्मरथको रथमें बिठलाकर उस स्थान पर ले आवें ।

सधमादे— लोग साथ साथ बैठें और आनन्द प्राप्त कर-
नेकी बातें करें ।

हरिवः— घोडोंवाले वीर हों ।

(सूक्त ३३)

हे (हरि-वः) घोडोंवाले वीर ! (अप्सु धृतस्य)
जलोंमें मिलीये सोमरथका (इह पिब) यहाँ पान कर ।
(नृभिः सुतस्य) मानवोंने निचोडे सोमसे (जठरं
पृणस्व) पेटको भर दे ॥ १ ॥

हे (हरि-अश्व) आज घोडोंवाले इन्द्र ! (वृष्णे तुभ्यं
सुतस्य) बलवान ऐसे तेरे लिये निचोडे (सत्यां उग्रं
पीतिं) क्वचे रथसाधुवर्धक सोमपानके पास (प्रथे प्र ह॒र्यमिं)
आनेके लिये मैं तुझे प्रेरित करता हूँ । हे इन्द्र ! (घेनामिः
इह मादयस्व) हमारी स्तुतियोंसे आनन्द मना । जब तू
(विश्वामिः घीमिः) सब बुद्धियोंसे और (श॒च्यां गृणा॒नः)
शक्तिसे साथ प्रशंसित होता है ॥ २ ॥

(अथर्व. २-१२५।७ देखो)

हे (शचीवः) शक्तिमान इन्द्र ! (तव जती) तेरे
रथके साथमेंसे (तव वी॒र्येण) तेरे वीर्यसे (वयः वृ॒शानाः)
शक्तिकी प्राप्त करते हुए (उशिजः श्रत॒ज्ञाः) प्रेमसे यज्ञके

[सूक्त ३४]

(ऋषिः — १-१८ गृत्समन्तः । देवता — इन्द्रः ।)

यो जात एव प्रथमो मन्स्वान्देवो देवान्कर्तुना पर्यभूषत् ।	
यस्य शुष्माद्रोदसी अम्यसेतां नृम्णस्य मद्वा स जनासु इन्द्रः ।	॥ १ ॥
यः पृथिवीं व्यथमानामदृह्यः पर्वतान्प्रकुपितो अरम्णात् ।	
यो अन्तरिक्षं विममे वरींयो यो दामस्तंभ्रात्स जनासु इन्द्रः ।	॥ २ ॥
यो हत्वाहिमरिणात्सु सिन्धून्यो गा उदाज्जदपुषा वृलस्य ।	
यो अशर्मनोरन्तरि जजान संवृक्सुमत्सु स जनासु इन्द्रः ।	॥ ३ ॥
येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमघरं गुहाकः ।	
धृषीवु यो जिगीवां लक्ष्माददुर्यः पुष्टानि स जनासु इन्द्रः ।	॥ ४ ॥

ज्ञानो लोप मिले । हे इन्द्र ! (प्रजावत्) प्रकृति युक्त होकर (सधमाघासः गृणन्तः) एकत्र आनन्द्य रहनेवाले, ठीकी स्मृति करते हुए (मनुष्यः दुरीणे तस्युः) मानवोंके रहने योग्य घरमें रहे ॥ १ ॥

(जनासुः) लोगों । (स इन्द्रः) वह इन्द्र है ॥ १ ॥

(श्र. २।१२।१)

हरिचः— घोड़ोंके साथ रहनेवाला वीर,
शर्वचिः— सामर्थ्यवान् वीर,
तव ऊर्ता, तव धीयेण चयः दधानाः— तेरे रखने सुसजित और तेरे पराक्रमसे शक्तिमान होनेवाले वीर हो ।

(यः व्यथमानां पृथिवीं अदृह्यत्) जिसने दुखित पृथिवीको घृष्ट बनाया, (यः प्रकुपितान् पर्वतान् अरम्णात्) जिसने प्रकृतित पर्वतोंको रमणीय बनाया, (यः अन्तरिक्षं वरीयः विममे) जिसने अन्तरिक्षको ऊपर बनाया, (यः दामस्तंभ्रात्) जिसने दुर्गोष्को स्थिर बनाया, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ २ ॥ (श्र. २।१२।२)

उशिञ्जः क्षताहाः— प्रेमसे साथ बैठकर श्रेष्ठ कर्म करने वाले हों, और ये सक्षमा तत्व जाननेवाले हों ।

(यः अहिं हत्वा सप्त सिन्धून् अरिणात्) जिसने नेहको मार कर सप्त नदियोंको बहाया, (यः वृलस्य अपघा गा उदाजत्) जिसने वलकी गुहासे गौश्रीको ऊपर निकाला, (यः अशर्मनः अन्तः अग्नि जनान) जिसने परतोंके अन्दर आगको उत्पन्न किया, जो (समस्तु संवृक्ष्) को संभ्रामोंमें संवृक्षी करता है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ ३ ॥ (श्र. २।१२।३)

प्रजावत्— संतानोंमें युक्त हों, कोई संतानहीन न हो ।

सधमाघासः गृणन्तः मनुष्यः दुरीणे तस्युः— एकत्र रहकर आनन्द बटानेवाले, ईश्वरकी स्मृति करनेवाले लोप मानवोंके रहने योग्य घरमें रहे । उत्तम योग्य घरमें आनन्द्य रहें ।

॥ यहाँ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त ३४)

(यः मनस्वान् प्रथमः देवः) जो बुद्धिमान पहिला देव (जातः एव) प्रकट होते ही (क्रतुना देवान् पर्यभूषत्) अपने कर्मसे सब देवोंको सम्पृथित करता है, (यस्य शुष्मात्) जिसके बलसे और (नृम्णस्य मद्वा) धीयंती महिमासे (रोदसी अम्यसेतां) दोनों लोक कापते हैं, हे

(येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि) जिसने ये सब सुवन दिलनेवाले बनाये हैं, (यो दासं वर्णं अघरं गुहाकः) जिसने दास वर्णको नीच और गुहामें रहनेवाला किया है, (यः अर्यः जिगीवान्) जो श्रेष्ठ विजयी होकर (धृषीवु इव लक्षं पुष्टानि आदृक्ष्) व्याघ्रके समान उत्पत्ती और पोषक घनोको प्राप्त करता है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ ४ ॥ (श्र. २।१२।४)

यं सां पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नपो अस्तीत्येनम् ।
 सो अर्यः पुटीर्विजं इवा मिनाति श्रदसौ घत्त स जनास इन्द्रः ॥ ५ ॥
 यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नार्धमानस्य कीरिः ।
 युक्तप्राणो योऽविता सुंशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥ ६ ॥
 यस्याश्वासः प्रादिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः ।
 यः सूर्यं य उपसं ज्ञानं यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥ ७ ॥
 यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभयां अमित्राः ।
 समानं चिद्रयमातस्त्रिवांसा नानां ह्वयेते स जनास इन्द्रः ॥ ८ ॥
 यस्मान्न क्रुते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे ह्वन्ते ।
 यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥ ९ ॥
 यः शश्वतो मधेनो दधानानमन्यमानांछर्वां जघान ।
 यः शर्धेते नानुददाति श्रुष्यां यो दस्योहन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

(यं घोरं) जिस मयानकके विषयमें (पृच्छन्ति) पूछते हैं कि (सः कुह इति) वह कहा रहता है, (उत एनं आहुः) और इसके विषयमें कई कहते हैं कि (न एवः अस्ति इति) यह है ही नहीं । (सः अर्यः) वह श्रेष्ठ (विज इव पुष्टीः आमिनाति) पक्षीके समान कन्नूकी पुष्टियोंको विनष्ट भी करता है (अस्मै श्रत् घत्त) इसपर धदा धारण करो, हे लोगो । वही इन्द्र है ॥ ५ ॥ (ऋ. २।१२।५)

(यः रध्रस्य) जो उपासकका (यः कृशस्य) जो कृशका, (यः ब्रह्मणः) जो ज्ञानीका और (नार्धमानस्य कीरिः) याचना करनेवाले कविष्ठा (चोदिता) प्रेरक होता है, (युक्तप्राणः सुतसोमस्य यः अविता) जो परमोच्चि सोमरस निकालनेवालाका रक्षक है, जो (सुशिप्रः) उत्तम साफा बाँधता है, हे लोगो । वह इन्द्र है ॥ ६ ॥

(ऋ. २।१२।६)

(यस्य प्रादिशि) जिसके आदेशमें (अश्वासः) घोड़े आते हैं (यस्य गावः) जिसकी गौर्षे, (यस्य ग्रामाः) जिसके गाँव हैं, (यस्य विश्वे रथासः) जिसके षष रथ हैं । यः सूर्यं उपसं ज्ञानं) जिसने सूर्यको उपाकी उत्पन्न किया है, (यः अपां नेता) जो जलोंका नेता है, हे लोगो । वह इन्द्र है ॥ ७ ॥

(ऋ. २।१२।७)

(संयती क्रन्दसी यं विह्वयेते) आपसमें युद्धके लिये तैयार हुई घेनाएँ जिसकी बुलाती हैं । (परे अवरे उभयाः अमित्राः) श्रेष्ठ और कनिष्ठ दोनों प्रकारके शत्रु जिसकी बुलाते हैं, (समानं रथं चित्त्मानस्थिवांसा) समान रथपर बैठनेवाले वीर (नाना ह्वयेते) जिसको नाना प्रकारसे बुलाते हैं, हे लोगो । वह इन्द्र है ॥ ८ ॥ (ऋ. २।१२।८)

(यस्मात् क्रुते जनासः न विजयन्ते) जिसकी सहायताके बिना लोग विजय नहीं प्राप्त कर सकते, (युध्यमानाः अवसे यं ह्वन्ते) युद्ध करनेवाले अपने रक्षणके लिये जिसकी बुलाते हैं, (यः विश्वस्य प्रतिमानं बभूव) जो विश्वका आदर्श मान दण्ड हुआ है (यः अच्युत-च्युत्) जो न हिलनेवालोंको हिलानेवाला है, हे लोगो । वह इन्द्र है ॥ ९ ॥

(ऋ. २।१२।९)

(यः शश्वतो) जिस बाण धारण करनेवालेने (शश्वतः माहि एनः) सदासे बड़ा पाप (दधानान्) धारण करनेवाले (अमन्यमानान्) अविश्वाधियोंको (जघान) मारा । (यः शर्धेते) जो धर्मवादी (श्रुष्यां न अनुददाति) धर्मदंडको नहीं सहता, (यः दस्योः हन्ता) जो दस्युका मारनेवाला है, हे लोगो । वह इन्द्र है ॥ १० ॥

(ऋ. २।१२।१०)

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंशदां शूरघ्नवर्चिन्दत् । ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं म जनासु इन्द्रः	॥ ११ ॥
यः शम्बरं पर्यतरत्कर्मभिर्योऽचारुन्नापि वत्सुतम्प्यं । अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यम्भिन्नामूर्छित्स जनासु इन्द्रः	॥ १२ ॥
यः सप्तर्दिमृषमस्तुर्विष्मानुवास्तुजत्सर्वेभ्यः सप्त सिन्धून् । यो रौहिणमस्फुरद्ब्रजवाहुर्घामारोहन्तं स जनासु इन्द्रः	॥ १३ ॥
घावां चिदसौ पृथिवी नमेते शुष्मान्निदम्य पर्वता भयन्ते । यः सोमपा निचितो वज्रवाहुर्घो वज्रहस्तः स जनासु इन्द्रः	॥ १४ ॥
यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शंशमानमृती । यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राघः स जनासु इन्द्रः	॥ १५ ॥
जातो व्यरियत्पित्रोरुपस्थे भुवो न वेद जनितुः परस्य । स्तत्रिष्यमाणो नो यो अम्मद्वया देवानां स जनासु इन्द्रः	॥ १६ ॥

(यः पर्वतेषु क्षियन्तं शयन्) जिसने पर्वतमें रहने-
वाले मेघको (चत्वारिंशदां शरद्दि) चालीसवें वर्ष (अन्व-
चिन्दत्) दूढ़ निकाला, (य ओजायमानं अहि) जिसने
बल बढ़ानेवाले अहिंको-मेघको जो (दानुं शयानं) दानी
और विश्राम करनेवाला या ठसंधी (अघान) माए, हे
लोगो ! वह इन्द्र है ॥ ११ ॥

(ऋ. २।१२।११)

(यः कसीभिः शंबरं पर्यतरत्) जिसने बज्रोंसे
शंबरको-मेघको जीत लिया, (यः अचारुक्-अस्ना) जो
सुन्दर मुखसे (सुतस्य अपि वत्) सोमरश्मिको जीता है, (बहु
जनं यजमान) यज्ञ करनेवाले बहुत अनेकों (अन्त
गिरौ यस्मिन् वा मूर्छित्) जिस पर्वतमें इसने बड़ाया, हे
लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १२ ॥

(यः सप्तर्दिमः वृषम) जो सात किण्वाला बल-
वान् (तुविष्मान्) सामर्थवान् देव (सप्त सिन्धून्) सात
नदियोंको (सतंवे अवास्तुजत्) बहनेके लिये छोड़ देता
है । (य वज्रवाहुः) जिस वज्रधारीने (घां आरोहन्तं
रौहिणं अस्फुरत्) तुलोकपर बढनेवाले रौहिणको घाटा है,
हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १३ ॥

(ऋ. २।१२।१२)

(घावा पृथिवी असी चित् नमेते) तुलोक और
पृथिवी इसके सामने नम होते हैं (अस्य शुष्मात् चित्

पर्वता भयन्ते) इसके बलसे पर्वत मयमात होते हैं । (यः
सोमपा) जो सोमगान करनेवाला, (यः वज्रवाहुः वज्र-
हस्त निचितः) जो वज्रके समान बाहुवाला और हाथमें वज्र
पारण करनेवाला प्रसिद्ध है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १४ ॥

(ऋ. २।१२।१३)

(यः सुन्वन्तं अवति) जो, सोमरश्मि बालनेवालेको
रखा करता है, (यः पचन्तं) जो अन्न पकानेवालेको रखा
करता है, (यः शंसन्तं) जो भय बोलनेवालेको, (य उती
शशमानं) जो अपने रक्षणके साथ दान देता है उधरों
रखा करता है, (ब्रह्म यस्य वर्धनं) ज्ञान जिसके यज्ञका
वर्धन करता है, (सोमः यस्य) सोम जिसका बलवर्धन
करता, (इदं राघः यस्य) यह इति जिसका वर्धन करता
है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १५ ॥

(ऋ. २।१२।१४)

(जातः) प्रकट होते ही (पित्रो उपस्थे व्यक्ष्यत्)
मातापिताको गोदमें रहकर जो प्रसिद्ध होता है, (यः भुव)
जो भूमिको और (परस्य जनितुः न वेद) श्रेष्ठ उपादक
को मा नहीं जानता ? (य नः स्त्रिष्यमाणः) जो हमसे
स्वति होनेपर (अस्मत् देवानां प्रता) हमारे देवोंके
प्रतीको पूर्ण करता है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १६ ॥

यः सोमकामो हर्यश्वः सुरिर्यस्माद्रेजन्ते भुवनानि विश्वा ।

यो जघान् शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनासु इन्द्रः

॥ १७ ॥

यः सुन्वते दुध्र आ चिद्राजं दर्दीर्षि स किलांसि सत्यः ।

वयं तं इन्द्र विश्वहं प्रियासः सुवीरांसो विदथमा वदेम

॥ १८ ॥ (२१५)

(यः सोमकामः) जो सोम चाहता है। जो (हर्यश्वः) भूरे रंगके घोड़ोंवाला, (सुरिः) शानी है, (यस्मात् विदथा भुवनानि रेजन्ते) जिससे सब भुवन कापते हैं, (यः शम्बरं जघान्) जिसने शम्बरको मारा (यः च शुष्णं) जिसने शुष्णको मारा, (यः एकवीरः) जो एक मात्र वीर है, हे लोगो ! वह इन्द्र है ॥ १७ ॥

(यः दुध्रः चित्) जो दुर्धष होनेपर भी (सुन्वते) पचते वाजं आ दर्दीर्षि) सोमसे निकालनेवाले और अन्न पकानेवालेके लिये बल तथा अन्न देता है (सः सत्यः किल वसि) वह निःसंदेह सत्य है। हे इन्द्र ! (वयं ते विदथमः प्रियासः) हम तेरे सर्वदा प्रिय होकर (सुवीरासः) अपने वीर पुत्रोंके समेत (विदथं आ वदेम) तेरे गीत गाते रहेंगे ॥ १८ ॥ (श्र. २।१।१५)

इस सूक्तमें इन्द्रके गुणों और कार्योंका वर्णन किया है जो गुण देखकर इन्द्रको भक्त पहचान सकते हैं। वे गुण ये हैं—

१ यः मनस्वान् प्रथमः देवः— जो बुद्धिमान पहिला देव है। यह पहिला देव है। इससे पूर्व कोई देव नहीं है। सबमें जो आदिम देव है वह यह है। यह 'मनस्वान्' मननपूर्वक पूर्ण आयोजनापूर्वक सब कार्य करता है।

२ याः जात एव क्रतुना देवान् पर्यभूयत्— जो प्रकट होते ही सब देवोंको उत्पन्न करके अपने सामर्थ्यसे उन सब देवोंको सुन्दर सुभूषित करता है। यह (प्रथमः देवः) पहिला देव है, इससे पूर्व कोई देव बने ही नहीं, इसलिये इसको 'पहिला देव' कहा है। इसने सब देव उत्पन्न किये और उनको सुन्दर भी बनाया। सुभूषित भी किया। अर्थात् सब देवोंमें इस पहिले देवकी शक्ति ही कार्य करती, रही जिससे सब अन्य देव शक्तिमान दीखने लगे।

३ यस्य शुष्मत्, नृगणस्य महदा रोदसी अश्व-स्तेतां— इस देवकी शक्तिले, इसके पौरुषवधी महिमासे शुलोक और भूलोक अपने अपने कार्यके करनेमें दक्षिण रहते हैं। 'अश्वस्'— का अर्थ बारंबार वही कार्य करना। भूमिपर तथा आकाशमें बारंबार वे दो कार्य होते रहते हैं। नियमपूर्वक

कार्य होते रहते हैं, सूर्यका उदयास्त, वायुका बहना, वृष्टिका होना आदि जो कार्य बरंबार हो रहे हैं वे इस आदिदेवकी आयोजनासे ही हो रहे हैं। और होते रहेंगे ॥ १७ ॥

४ यः व्यथमानां पृथिवीं व्यदहत्— जो दुःखी हुई पृथिवीको दह बनाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पृथिवी प्रारंभमें थप देनेवाली थी। उस पृथिवीको उस देवने (अदहत्) सुदह बनाया। यह पृथिवी आजके समान दह नहीं थी। पीछेसे दह हुई है।

५ यः प्रकृपितान् पर्वतान् अरभ्यात्— जो प्रकृ-पित पर्वतोंको रमणीय बनाता है। जब लामुखी पर्वत थे, उनको शान्त तथा रमणीय उषी देवने बनाया।

इस वर्णनसे भूमि प्रथम गरामगरम थी, पर्वत ज्वाला फेकने-वाले थे, पीछेसे भूमि और पर्वत रमणीय हुए। हरियावल पीछेसे हुई ऐसा दीखता है ॥ २ ॥

६ यः अहिं हत्वा सप्त सिन्धून् अरिणात्— जिसने अहिंको मारा और सात नदियोंको थलया। 'अहि' मेघका नाम है, 'अहि' नामक एक जाती भी थी। 'अहि'—कम न होनेवाला 'अ-हि' पर्वतपर पड़े बर्फका भी नाम है। इस पर्वतपर पड़े बर्फको पिघलाकर नदियोंको महापुर लाना इन्द्रका या सूर्यका कार्य है।

७ यः वलस्य अपघा गा उदजात्— जिसने बलने छियाकर रखी गाँव बाहर निकाली। 'वल' कौन है इसकी खोज करनी चाहिये। गाँव यहाँ सूर्यकी प्रकाश किरणें हैं एषा प्रतीत होता है। उपःकालमें प्रकाश किरणें नीचे रहती हैं, वे ऊपर आती हैं। बल अन्वकार होगा। उसने प्रकाश किरणें नीचे रखी थी उनको उदय होनेपर सूर्यदेवने ऊपर लायी, यह रूपक अलंकार यहाँ होगा।

८ यः अघमनः अन्तः अग्निं जजान— जिसने पत्थरमें अग्नि उत्पन्न किया है। दो पत्थर एक दूसरेपर आघात करनेपर उससे अग्नि उत्पन्न होता है। दो मेघ पात आये तो उनमें विद्युत् अग्नि का प्रशाह शुरु होता है। यह उस पहिले देवका सामर्थ्य है।

९ समस्तु संवृक्— वह पहिला देव सामामोंमें शत्रुओंको घेर कर उनका नाश करता है । सामामोंमें वारोंमें बल उत्पन्न करता है जिस बलसे वार शत्रुको घेरते और उनका नाश कर सकते हैं ॥ ३ ॥

१० येन इमा विश्वा च्ययना कृतानि— जिसने ये सब सूर्य, चन्द्र, भूमि आदि घूमनेवाले बनाये हैं । इस देवकी आयेप्रनाथे यह सब विश्व नियत गतिसे घूम रहा है ।

११ यः दासं चर्षं अधरं गुहा क— जिसने दासको नीच और गुहा निवासी बनाया है । दास जानहीन है इस कारण नीच है । संस्कारहीन होनेके कारण गुहामें रहता है ।

१२ जिगीवान्— आर्यको विजयी बनाया है । यहाँ 'आर्य' और 'दास' का वर्णन है । 'आर्य' विजयी है और 'दास' नीच होते हैं । आगे बढनेवाले और पाँछे रहनेवाले यहाँ संस्कारोंके कारण बनेवाले गुण हैं ।

१३ इवम्रा इव लक्षं पुष्टानि आदत्— ब्याधके समान अपने लक्ष्मण मन रखता है और पोषक पदार्थ प्राप्त करता है । यही श्रेष्ठ बननेका उपाय है, अपने लक्ष्मण ध्यान रखना और पोषक धन प्राप्त करना । इससे प्रयत्न करनेवाला श्रेष्ठ बनता है विजयी बनता है ।

१४ यं घोरं पृच्छति स कुह इति— इस महा भयंकर सामर्थ्यवानके विषयमें पूछते हैं कि वह कहाँ रहता है । मनमशील जानी वह प्रथम प्रकट हुआ देव कहाँ रहता है इसीका विचार करते रहते हैं ।

१५ उत एनं आहुः एयः न अस्ति इति— कई आविषारी लोग कहते हैं कि यह प्रथम प्रकट हुआ ऐसा कोई देव है ही नहीं ।

१६ अस्मै अन्नं घत्त— इस आदिदेवपर भद्रा धारण करो, इससे श्रेष्ठता प्राप्त होती है ।

१७ स अर्यः— वह श्रेष्ठ होता है, जो इस प्रथम देवपर भद्रा रखता है वह श्रेष्ठ होता है और—

१८ विज्र इव पुष्टीः आमिनाति— पक्षोंके समान वह पोषक धन प्राप्त करता । 'विज्र'— पक्षी । पक्षी प्रदत्तसे अपने लिये पुष्टिकारक अन्न प्राप्त करता है, वैसा प्रयत्नशील मानव अपने लिये पोषणके साधन प्राप्त करेगा ॥ ५ ॥

१९ यः रधस्य, कृतास्य, नाघमानस्य, मरुणः क्वीरेः चोक्षिता— जो उपासक, कृष, प्रार्थना करनेवाले, शान्ति कविकी प्रेरणा करनेवाला है । 'रध'— धनी, उदार,

निर्धन, उपासक । नाघमान— उपासक, प्रार्थना करनेवाला । क्वीरे— स्तोता, कवि । प्रार्थना, प्रार्थना करनेवाला ।

२० सुशिप्रः— उत्तम हनुवाला, उत्तम ताका बांधनेवाला ।

२१ युक्तप्राणा सुतसोमस्य यः अयिता— यज्ञकर्ताका संरक्षक । परधरोसे सोमरस निहाल कर उसका जो यज्ञ करता है उसका रक्षक । गोमयज्ञ करनेवालेका रक्षक ॥ ६ ॥

सोमदागमें धर्मसमा होती है और उसमें जनकस्वामीके साधनोंका विचार होता है । इस कारण सोमयागकी प्रेरणा प्रसु करता है । अर्थात् इससे जनकमुद्रायक्षा कल्याण होता है ।

२२ यस्य प्रदिशि ग्रामाः विद्यथे रथासः अद्वयासः गाथः— जिसकी आशामें सब गाँव, रथ, घोड़े और गौँ रहती हैं । जिसकी आज्ञा सबको माननी पड़ती है । इतना जिसका सामर्थ्य है ।

२३ यः सूर्यं उपसं जज्ञान— जिसने उषा और सूर्यको बनाया,

२४ यः अर्पां नेता— जो जलोंको चलनेवाला है, जिसकी आज्ञासे नदियाँ बह रही हैं और वृष्टि होती है, वह आदिदेव है ॥ ७ ॥

२५ यं क्रन्दसी संयती विद्वधेते— परस्पर युद्ध करनेवाली सेनाएं जिसको अपनी सहायताके लिये बुलाती हैं ।

२६ परे अधरे उमया अमित्रा (यं विद्वधेते)— श्रेष्ठ और कनिष्ठ दोनों प्रकारके शत्रु जिसको अपनी सहायताके लिये बुलाते हैं ।

२७ समानं तं आतस्थिर्घांसा नाना हृषेते— समान रथपर बैठनेवाले वीर जिराओ अपनी सहायताके लिये बुलाते हैं ॥ ८ ॥

२८ यस्मात् श्वेते जनासः न विजयन्ते— जिसकी सहायता न हुई तो वीर लोगोंको जय प्राप्त नहीं होता ।

२९ युष्यमानाः अवसे यं हृषन्ते— युद्ध करनेवाले वीर जिसको सहायताके लिये बुलाते हैं ।

३० यः विश्वस्य प्रतिमानं समूच— जो विश्वका आदर्श नमूना हुआ है ।

३१ यः अच्युत-च्युत्— जो कभी न हिलनेवालोंको भी उलाहकर फेंक देता है ॥ ९ ॥

३२ यः शर्वा शश्वतः नहि एनः दधानान्, अमन्यमानान् जघान— जो लखान् खरसे बड़ा पाप करनेवाले अविश्वासी नास्तिकोंको नष्ट भ्रष्ट करता है ।

३३ यः शर्घते श्रुर्घां न अनुददाति— जो धर्मदंडकी धमकें नहीं सहता, उसकी धमकें उतार देता है,

३४ यः दस्योः इन्ता— जो दुष्टोंका विनाश करता है ॥ १० ॥

३५ पर्वतेषु क्षिप्यन्तं शंघरं चत्वारिंशदयां शारवि अन्वविन्दन्त— पर्वतोंमें रहनेवाले मेघको-बर्फको-चालीसवें वर्षमें जिसने प्राप्त किया ।

यहाँ ' चालीसवें वर्ष ' मेघको प्राप्त किया ' इसका तात्पर्य प्यानमें नहीं आता । विज्ञानकी दृष्टिसे इसकी खोज वैज्ञानिक करें । ' शंघर ' का अर्थ ' मेघ, हिम, बर्फ ' आदि प्रसिद्ध है, परन्तु इससे यहाँ कुछ भी बोध नहीं प्राप्त होता है । शंघोषकं विज्ञानकी दृष्टिसे इस विषयकी खोज करें ।

३६ यः ओजायमानं दानुं शयानं अहिं जघान- जिसने बलवान् होनेवाले दानी सोनेवाले अहिको मारा । ' अहि ' का अर्थ- सर्प, मेघ, बर्फ, शत्रु है । जो शत्रु अपना बल बढ़ाता रहा या उसको इन्द्रने मारा । ' अहि ' एक मानव जातीका भी नाम है । अहिके विषयमें भी खोज होनी चाहिये ॥ ११ ॥

३७ यः कसीमिः शंघरं पर्वतरात्— जिसने वज्रोक्षे शंघरको मारा । यदि ' शंघर ' मेघ है तो अनेक वज्र उसके मारनेके लिये क्रिष कारण लगते हैं । (३५ वां टिप्पणी देखिये ।)

३८ यः अचात्कस्ता सुतस्य अपिबत्— जो सुन्दर मुखसे सोमरस पीता है ।

३९ यस्मिन् गिरौ अन्तः यजमानं बहुजनं अमूर्च्छन्त— जिस पर्वतके अन्दर बैठकर यज्ञ करनेवाले बहुत जनोंकी भिद्यने बढ़ाया । मूर्च्छ- शक्ति प्राप्त करना, बढ़ना ॥ १२ ॥

४० यः सप्तरदिमः वृषभः तुविष्मान् सप्त सिन्धून् सतैष अवासृजन्त— जो सात किरणोंवाले बलवान्, घाम-प्यवान्ने सात नदियोंको बहुनेके लिये छोड़ दिया । ' सप्त-रदिमः '— सूर्य, सात किरण जिसमें हैं । (टिप्पणी ६ देखो) सूर्य प्रकाशता है और उसकी गर्मोक्षे बर्फ पिघलकर नदियाँ बहती हैं ।

४१ यः वज्रबाहुः धां आरोहन्तं रौहिणं अस्फुरत्— जिस वज्रधारिणी कुलोत्पन्न रहनेवाले सूर्यको स्फुरण बढ़ाया । ' रौहिणः ' सूर्य, ग्रह, शानि आदि ॥ १३ ॥

४२ दावापृथिवी आसै चित् नमते— दावापृथिवी इसके सामने नमते हैं । इसके सामने शाकिहान दीखते हैं ।

४३ अस्य शुष्मात् पर्वता मयन्ते— इसके बलसे पर्वत मयभीत होते हैं ।

४४ यः सोमपाः वज्रबाहुः वज्रहस्तः निचितः—

जो सोमरस पीनेवाला वज्रसमान बाहुवाला, वज्र हाथमें लेने-वाला प्रसिद्ध है ॥ १४ ॥

४५ यः सुन्वन्तं पचन्तं शंसन्तं शशमानं अवति— जो याजक, पाचक, स्तुति करनेवाले और दाताका रक्षण करता है ।

४६ यस्य ब्रह्म, सोमः, राघः वर्धन— जिसका यज्ञ-गान ज्ञान, यज्ञ और शक्ति वर्धन करते हैं ॥ १५ ॥

४७ जातः पित्रोः उपस्य व्यख्यत्— जो प्रकट होते ही मातापिताकी गोदमें दाँतमान होता है ।

४८ यः भुयः परस्य जनिस्तुः न वेद ?— जो भूमिकी और अश्रु उत्पादककी भी नहीं जानता ! अवश्य जानता है ।

४९ नः स्तविष्ममाणः यः अस्मत् देवानां व्रता— जिसकी हमारे द्वारा स्तुति होनेपर सब देवोंके व्रतोंको वह परिपूर्ण करता है ॥ १६ ॥

५० सोमकामः हर्यश्वः सूरिः— जो सोमपर ग्यार करता है, जिसके भूरे रंगके घांटे हैं जो ज्ञानी है । यहाँ घोड़ोंके अर्थ किरण लेना उचित है ।

५१ यः शंघरं जघान, यः शुष्णं— जो शंघरको और शुष्णको मारता है । (टिप्पणी ३५-३७ देखो)

५२ यः एकवीरः— जो एक वीर है ॥ १७ ॥

५३ यः दुधः चित् सुन्वते पचते वाजं आ दूर्द्विं— जो दुग्धमें प्रबल वीर है और यज्ञकर्ता और अन्नदान करनेवालोंके लिये बलवर्धक अन्न देता है ।

५४ सः सत्यः किल असि— वही एक सत्यका रक्षक है । उसे असत्य कभी प्रषेद नहीं होता ।

५५ वयं ते विश्वहः प्रियासः सुवीरासः चिदर्थं वा घदेम— हम तेरे-प्रभुके-सदा प्रिय हों, उत्तम वीर पुत्रोंके युक्त हों और तेरे नीत गति रहे ॥ १८ ॥

इस सूक्तको विशेष मनन

यह सूक्त ' हे जनासः ! स इन्द्रः ' हे लोगो ! वह इन्द्र यह है । इस तरह इन्द्रका स्वरूप बतानेवाला है । इसमें इन्द्रके गुण बताये हैं और इन्द्रका वर्णन भी किया है । इन्द्रका स्वरूप निश्चित करनेमें यह सूक्त बड़ी सहायता देनेवाला है ।

१ पहिला देव इन्द्र है ।

' मनस्वान् प्रथमः देवः ' (मं. १) बुद्धिमान् प्रथम देव इन्द्र है । सब देवोंमें जो प्रथम प्रकट हुआ वह यह इन्द्र है । इसके पूर्व और कोई देव प्रकट नहीं हुआ । सबसे आदिमें

यह द्रव प्रकट हुआ है, इसलिये हम इसको आदिदेव भी कह सकते हैं।

‘जात एव प्रतनुना देवान् पर्यभूयत्’ (म १) — प्रकट होते ही अन्न पुरुषार्थके अन्य देवोंको उत्पन्न करके, उन देवोंकी सुभूयित भी इसीने किया, अग्नि का तेज, अलमें शान्ति, वायुमें श्रवणशक्ति, सूर्यमें तेज, चंद्रमें आह्लादादायक शान्ति और रमणीय प्रकाश रखकर इन देवोंको सुभूयित इस आदिदेवने किया है। ये द्रव इन गुणोंके कारण उपयोगी तथा सुभूयित हुए हैं।

‘यस्य शुभ्रमात्, नृम्णस्य भद्रा रोदसी अभ्यसेतां’ (म १) — इसके बलसे और पौरुषकी महिमासे तु और भूमि अपने अपने कार्य बारबार उभोग नियममें रहकर रहते हैं। जैसा कोई किन्हीं विषयका अभ्यास करता है वैसा ये सब अपने अपने कार्यका अभ्यास करते हैं। बारबार बढ़ी कार्य करते जाते हैं।

‘व्यथमानां पृथिवीं अदहत्, प्रकृपितान् पर्वतान् अरम्णात्’ (म २) — प्रथम पृथिवी व्यवसाय देनेवाली थी, आर जहाँ शान्ति है वैसी नहीं था और पर्वत भी ज्वालामुखी जैसे थे। इस आदिदेवने पृथिवीको सुदृढ और शान्त बना दी और पर्वतोंको शांति उत्पन्न करके रमणीय बनाया। ऐसा होनेके लिये कितने वर्ष गये होंगे इसका अनुमान विज्ञानवेत्ता ही कर सकते हैं। पर्वत प्रकृतिथे थे वे रमणीय हुए हैं। यह सब आदिदेवने ही बनाया है। ऐसा कोई दुष्टरा नहीं कर सकता।

‘अहिं हत्वा सप्त सिन्धून् अरिणात्’ (म ३) — अहिंको मारकर सप्त सिन्धुको महापूर लाया। नदियों मरकर बहने लगी। मेघसे शृष्टि करके या बर्फको पिघलाकर नदियोंको बहाया।

‘चलस्य अपघा गा उदजात्’ (म ३) — चलने छिपाई गीबें सगके बाघेको तोड़कर ऊपर लाया। सूर्यकी किरणें ये गीबें हैं। उष कालमें सूर्य किरणें ऊपर आने लगती हैं। तत्पूर्व वे नीचे रहती हैं। उत्तर ध्रुव प्रदेशमें यह दृश्य अधिक सुंदर दीखता है। उष काल ३० दिनतक रहता है। इस समय प्रकाश किरण और अन्धकारका युद्ध हो रहा है और अन्धेरेको नष्ट करके प्रकाशके किरण बाहर आ रहे हैं। यह एक युद्धसा ही होता है। गीबें यहाँ किरणें हैं।

‘अद्रमनः अन्त अग्निं जजान’ (म ३) — परधरोंमें अग्नि रखा है। दो पत्थर एक दूसरेपर मारनेसे अग्नि उत्पन्न होता है। दो मेघोंमें विद्युदग्नि चमकता है। यह सब आदिदेवका सामर्थ्य है।

‘समस्तु सपृक्’ (म ३) — समस्तोंमें समुत्पन्नको घेरता है। वारोंके अन्दरका सामर्थ्य इन्द्रसे प्राप्त हुआ सामर्थ्य है। इन्द्र ऐसा करता है।

‘इमा विश्वा च्यजना क्रुनानि’ (म ४) — ये सब विश्व पूर्वनेवाले बनाये ये इस आदिदेवने ही बनाये हैं। यह सब विश्व अपने नियत गतिसे घूम रहा है वह अदिदेवकी योजनाके अनुसार ही है।

‘दासं वर्णं शुद्धा अधरे क.’ (म ४) — दासको नीच स्थानमें रहनेवाला बनाया। दास बंद है कि जो अपने अज्ञाननके कारण नाशको प्राप्त होता है। इस कारण जो अज्ञान होता है वह गुशामें रहता है। बड़े घर बना कर रहना यह ज्ञानके बिना नहीं हो सकता। इसलिये दासकी उसने नांवे रखा है। जो अज्ञानों हांग वे नीचे ही रहेंगे।

‘यः सूर्यं उपस जजान, य अयां जेता’ (म ७) — जिन्हने सूर्य और उपाको बनाया, जो जलोंको चलाता है, बादलोंको लाता है।

‘यः विश्वस्य प्रतिमानं यभूय’ (म ८) — जो विश्वके लिये आदर्श नमूना हुआ है। जो ‘अच्युतच्युत्’ — स्थिरोंको भी उठाकर फेंक देता है, ऐसा जो सामर्थ्यवान् है।

‘यः सतरदिम घृणमः तुविघमान् सप्त सिन्धून् सर्तधे अवासृजत्’ (म १२) — जो सात किरणोवाला बलवान् और सामर्थ्यवान् है उसने सात नदियोंको बहनेके लिये छोंक दिया। जिसके नामर्थसे ये सात नदियां प्रवाहित हो रही हैं। मानव देहमें दो आँख, दो कान, दो नाक और एक त्वचा ये सात इन्द्रियों भी सात आत्मशक्तिके प्रवाह हैं। अत्मा बलवान् और सामर्थ्यवान् है, उसमें सात किरण हैं और उससे ये सात प्रवाह चल रहे हैं। ‘सप्त आपः स्वपतो लोर्क इयुः तत्र जाप्रतो अस्त्रप्रजो सत्रसदो च द्वेषी’ (यजु ३४।५५) — सात नदियां छोनेके पश्चात् छोनेवाले आत्मके लोकमें जाती हैं उस समय दो देव — प्राण और अपान — जो इस यज्ञभूमिमें — इस शरीरमें — यज्ञके रखणके लिये दिनरात जागते हैं। ऐसा अन्यत्र सात प्रवाहोंका वर्णन आया है वह भी यहाँ देखने योग्य हैं। अध्यात्म क्षेत्रमें ये सात ज्ञानधरिताओंके प्रवाह आत्मिक बलसे चलते हैं।

‘यः घञ्जायाहुः घां आरोहन्तं रीद्विजं अस्फुरत्’ (म १३) — जिस बज्रधारी इन्द्रने तुलोकपर चढ़नेवाले सूर्यको स्फुरण दिया है। उतोजित किया है।

‘चावा पृथिवी अस्य नमेते’ (मं. १४)— बुलोक और पृथिवी इव आदि देवके धामने नम्र होकर रहते हैं । तथा ‘अस्य सुभमात् पर्वता भयन्ते’ (मं. १४)— इव आदि देवके भयसे पर्वत भी भयभीत होते हैं, इन्हें डरकर रहते हैं ।

उत्तर अथवा रत्नो

इस तरह इस आदि देवका वर्णन इस सूक्तमें है । इस आदि देवके विषयमें लोग पूछते हैं कि ‘यं शोरं पृच्छन्ति स कुह इति’ (मं. ५) इस भयंकर शक्तिमान आदि देवके विषयमें पूछते हैं कि यह कहा रहता है ! ऐसा प्रश्न करना योग्य है, पर इस विषयमें भ्रमा रहना चाहिये । ‘अस्य भद्र घट’ (मं. ५)— इस आदि देवपर भ्रमा रखिये । भ्रमा रखनेसे आपका वह भला होगा । कई नास्तिक कइते हैं कि ‘उत एनं आहुः एष न अस्ति इति’ (मं. ५)— इस आदि देवके विषयमें कई नास्तिक कइते हैं कि वह है ही नहीं । ऐसा अभ्रमा रखना योग्य नहीं है क्योंकि, वह—

‘स रघस्य, कृशस्य, नाघमानस्य, ब्रह्मणः कीरेः षोडिता’ (मं. ६)— वह निर्धन, कृश, धार्यना करनेवाले, कानी कविके लिये उत्तम प्रेरणा देनेकला है । उसकी प्रेरणाएं चर रही हैं, उनको भद्रसे सुनना चाहिये ।

‘स अयं’ (मं. ५); जिगीषान् (मं. ४)— वह धेड़ है और सदा विजयी है । ‘विज इव पुष्टिः आ मिनाति’ (मं. ५)— पत्नी जैसा अपने लिये पुष्टिकारक अन्न प्राप्त करता है, उस तरह उसका मनु उसकी शुभ प्रेरणासे अपनी उन्नतिके साधन प्राप्त करता है । ‘श्वश्री इव लक्षं पुशानि आदत्’ (मं. ४)— श्वाश्रुके समान अपने लक्ष्यके लक्ष्य करे इधरे वह अपने पीनक अन्न मागूर प्राप्त करता है । अपना लक्ष्य ठीक तरह अपने सामने रखना चाहिये और सत्य प्रयत्न करना चाहिये ।

यद् ‘अविता’ (मं. ६)— सच्चा संरक्षक है, सत्कर्ताका वह अवरुध संरक्षण करता है । इसलिये ‘यस्य प्रादिशि प्रामाः विश्वे रयासः अश्वासः गावः’ (मं. ७)— उसके आदेशमें सब गांव, रथ, घोड़े और गैंठें अपना संरक्षण विध रहता है । इसीलिये ‘यं क्रन्दसी संघर्षी विह्वयेते’ (मं. ८)— दोनों युद्धमात्र सेनाएं अपनी सहायताएं इवकी

बुलाती है, तथा ‘परे अवरे अमित्राः (यं विह्वयन्ते)’ (मं. ८)— दूरके और पासके शत्रुत्रिसको अपनी सहायताएं बुलाते हैं । ‘समाने रथं आतस्थिवांसा नाना हवन्ते’ (मं. ८)— समान रथपर बैठनेवाले नाना प्रकारके वीर युद्धमें सहायार्थ त्रिसको बुलाते हैं । ‘युद्धमानाः यं अवले हवन्ते’ (मं. ८)— युद्ध करनेवाले वीर अपनी घुरघुराके लिये त्रिसकी प्रार्थना करते हैं । ‘यस्मात् क्रते जनासः न विजयन्ते’ (मं. ९)— त्रिसकी सहायता न मिले, तो युद्धमें वीर विजयी नहीं होते । ऐसा उत्तर आदिम देवका सामर्थ्य है । इस कारण उत्तर विश्वास रखना योग्य है ।

पापीयोंको वह मारता है

‘यः शर्चा शश्वतः महि एतः दधानान् अमभ्यमानान् जघान’ (मं. १०)— जो बलवान हमेंशा पापी आचरण करनेवालोंको और अविद्याधियोंको मारता है । ‘शर्घते शृष्यां न अनु ददाति’ (मं. १०)— पशुओंके धर्मक नहीं सहाता, धर्मक उतार देता है । यह ‘दस्योः हन्ता’ (मं. १०)— दुष्टोंका विनाशक है ।

‘शंघरं अन्वविन्दत्, अहि जघान’ (मं. ११); ‘शंघरं पर्यतरत्’ (मं. १२)— शेर और अहिको अपने मारा । इस तरह दुष्टोंको जो मारता है ।

‘अस्य ब्रह्म, सोमा राघः वर्धन्ते’ (मं. १५)— इसका ज्ञान सत्त और हवि संवर्धन करते हैं, उपासक भक्तको बजते हैं । ‘स्तविध्यमाणः यः अस्मत् देवानां व्रता’ (मं. १६)— हमारे द्वारा स्तुति हुई तो हमारे अन्दरके सब देवोंके व्रतोंका पालन वह करता है ! हमारे देहमें जो देव हैं उनसे हमारी उन्नतिके आवश्यक सहायता प्राप्त होती है और उससे हमारी निःसंदेह सन्नति होती है । वह आदि देव ‘स सत्यः किल असि’ (मं. १८)— वह सच्चा निःसंदेह है । इस कारण ‘वयं ते विश्वहः प्रियासः सुवीरासः विदुषं आ चोदम’ (मं. १८)— हम सब सर्वदा तेरे लिये श्रिय होकर रहेंगे और उत्तम वीर पुत्रपौत्रोंके साथ दुन्दारे ही गीत गाते रहेंगे ।

उत्तर आदि देवकी भक्ति करेंगे । इस तरह इस सूक्तमें उत्तर आदि देवका वर्णन मनन करने योग्य है ।

[सूक्त ३५]

(ऋषिः — १-१६ नोषाः (भरद्वाजः ?) । देवता — इन्द्रः ।)

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हीमि स्तोमं माहिनाय ।

ऋचीपमायाधिगव औहामेन्द्राय ब्रह्माणि राततमा ॥ १ ॥

अस्मा इदु प्रयं इव प्र यंसि भराभ्याङ्गुपं बाधे सुवृक्ति ।

इन्द्राय इदा मनसा मनीषा प्रत्राय पत्ये धियो मर्जयन्त ॥ २ ॥

अस्मा इदु त्यमुपमं च्चपां भराभ्याङ्गुपमास्येनि ।

मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं बावृषध्वै ॥ ३ ॥

अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तपेष् तत्सिनाय ।

गिरंश्च गिर्वाहसे उवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय ॥ ४ ॥

अस्मा इदु सप्तमिव श्वस्येन्द्रायकं जुह्वाङ्गे समञ्जे ।

वीरं दानोकसं नन्दध्वै पुरां गूर्तश्रवसं दुर्माणम् ॥ ५ ॥

अस्मा इदु त्वष्टा तस्रद्वजं स्वर्पस्तमं स्वर्षेण रणाय ।

वृत्रस्यं चिद्धिदधेन मर्मं तुजनीशानस्तुजता कियेषाः ॥ ६ ॥

(सूक्त ३५)

(असौ इत् उ तवसे तुराय) इस बलशाले और शक्ति देनेवाले और (महिनाय) महिमावाले इन्द्रके लिये (प्रयः न) इविष्यावके समान ये (स्तोमं प्र हीमि) स्तोत्र में लाता हूँ । (ऋचीपामाय) ऋचाओंमें त्रिमयी इच्छा की है (अधिगवे) जो आगे बढनेवाला है (इन्द्राय) उष इन्द्रके लिये यह (ओहं) स्तोत्र तथा (राततमा ब्रह्माणि) अर्पण करने योग्य ज्ञानवचन हूँ ॥ १ ॥ (ऋ १.६.११३)

(असौ इन्द्राय) इस इन्द्रके लिये (इत् उ) ही (प्रय इव) इविष्यावके समान (आंगुपं प्र यंसि) यह स्तोत्र अर्पण करता हूँ । (बाधे सुवृक्ति) शत्रुको हटानेके लिये यह मुश्किल कभी स्तोत्र (प्र भरामि) भर देता हूँ । (प्रत्राय पत्ये इन्द्राय) पुरातन सनातन स्वामी इन्द्रके लिये ज्ञानी व्यग (इदा मनसा मनीषा) इत्ये, मन और बुद्धिसे (धियो मर्जयन्त) अपनी बुद्धियोंको शुद्ध करते हूँ ॥ २ ॥ (ऋ १.६.११२)

(अस इत् उ) इस इन्द्रके लिये (त्यं उपम स्वर्षां आंगुपं) उष उत्तम दिव्य स्तोत्रकी (आस्येन भरामि) अपने मुखसे भर देता हूँ । (मतीनां मंहिष्ठं सूरिं) बुद्धि-

वानोंमें श्रेष्ठ विद्वानकी (चावृषध्वै) प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिये (सुवृक्तिभिः अच्छोक्तिभिः) उत्तम दुःख निवारक वचन वचनसे यह सूक्त करता हूँ ॥ ३ ॥ (ऋ. १.६.११२)

(तथा इव रथं न) सुवार जैसा रथ (तत्सिनाय) अपने स्वामीके लिये तैयार करता है (तव उ) उस प्रकार (गिर्वाहसे मेधिराय इन्द्राय) स्मृतिके योग्य बुद्धिवाले इन्द्रके लिये (सुवृक्ति विश्वं इन्वं स्तोमं) दु खोंकी दूर करनेवाला सब सुखोंको प्राप्त करनेवाला स्तोत्र (गिरा सं हिनोमि) बर्णोंके द्वारा भेजता हूँ ॥ ४ ॥ (ऋ. १.६.११४)

(असौ इन्द्राय इत् इव) इस इन्द्रके लिये (अश्वस्था) यशकी इच्छासे (सप्तमिव) घोड़ेको रूपमें सोचते हैं उस तरह (अर्कं जुह्वा समञ्जे) स्तोत्रको अपनी जिहासे प्रकट करता हूँ । (वीरं) शूर (दानोकसं) दानके शर श्रेष्ठ (गूर्तश्रवसं) जिह्वाका यश फैला है ऐसे (पुरां दुर्माणं) शत्रुकी नगरियोंको तेरनेवाले इन्द्रकी (वन्दध्वै) बन्दन करनेके लिये यह स्तोत्र करता हूँ ॥ ५ ॥ (ऋ १.६.११५)

(अस्मा इत् उ) इस इन्द्रके लिये ही (रणाय) युद्ध करनेके हेतुसे (त्वष्टा) त्वष्टा कारीगरने (स्वर्षं स्वर्पस्तमं वज्रं तक्षत्) दिव्य और बड़ा कार्य करनेवाले वज्रको बनाया ।

अस्येदुं मातुः सर्वनेषु सुद्यो महः पितुं पपिषां चार्चन्नां ।

मुपायद्विष्णुः पचतं सहीयान्विष्यद्राहं तिरौ अद्रिमस्तां

॥ ७ ॥

अस्या इदु माथिदेवपत्नीरिन्द्राप्रार्कमहिहत्वं ऊवुः ।

परि द्यावापृथिवी जंअ उर्वा नास्य ते महिमानं परि एः

॥ ८ ॥

अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् ।

स्वरालिन्द्रो दमु आ विश्वगूर्तः स्वरिरमंत्रो ववक्षे रणांय

॥ ९ ॥

अस्येदेव शर्वसा शुपन्तं वि वृश्चद्वैण वृत्रमिन्द्रः ।

गा न न्नाणा अवनीरमुञ्चदामि श्रवां द्वावने सचेताः

॥ १० ॥

अस्येदुं त्वेपसा रन्तु सिन्धवः परि यद्वज्रेण सीमर्यच्छत् ।

ईशानकृद्वाशुषे दशस्यन्तुर्वीतये गाघं तुर्वणिः कः

॥ ११ ॥

अस्मा इदु प्र भ्रा तूतुंजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेषाः

गोर्न पर्व वि रंदा तिरश्रेष्यन्प्रांस्यां चुरध्वै

॥ १२ ॥

(कियेषाः ईशानः) अनेक भूमिकाओंमें रहनेवाले ईश्वर इन्द्रने (येन तुजता तुजन्) बिज बज्रको फेंकनेके समय (वृत्रस्य मने विद्द्) वृत्रका मर्मस्थान पड़वाना ॥ १० ॥ (ऋ. १।६।१।६)

(अस्य इदु उ मातुः सर्वनेषु) इसके माताके यज्ञोंमें (सद्यः) दत्ताक ही (महः पितुं पपिषान्) बड़े सोम-रसकी इष्टने पीना और (चारु अघ्ना) उतम अन्न खाये । (सहीयान् विष्णुः) अकिमान् विष्णुने (पचतं मुपा-यत्) पकानेवालेकी उद्या लिया (अद्रि अस्ता) बज्रको फेंकनेवालेने (वराहं तिरौ विष्यत्) वराहको-मेघको गोबमें बीया ॥ ७ ॥ (ऋ. १।६।१।७)

(अस्मै इत् उ इन्द्राय) इसी इन्द्रके लिये (देव-परमोः शाः चित्) देवराज्ञी क्रियोंने मी (अहिहत्वे अर्क ऊवुः) अहिका बध करनेके समयमें मंत्र बोले । (द्यावा पृथिवी) दुलोक और मूलोकर (उर्वा परि जंअ) उपने बवा प्रहार किया, (ते अस्य महिमानं न परि एः) वे दोनों लोक इसकी महिमाको वेर सच्चे नहीं ॥ ८ ॥ (ऋ. १।६।१।८)

(अस्य इत् पव महित्वं) इसकी महिमा (दिवः पृथिव्याः अन्तरिक्षात्) दु, पृथिवी और अन्तीरिक्षमें मी (परि प्र रिरिचे) बर मं दे । (विश्वगूर्तः स्वरार-

इन्द्रः) सबके द्वारा स्तुति किया हुआ यह स्वराट् इन्द्र (क्षमे) आने परमें (स्वरिः यमत्रः) अकिमान और सामर्थ्यवाद् होकर (रणांय वा ववक्षे) युद्धके लिये तैयार रहता है ॥ ९ ॥ (ऋ. १।६।१।९)

(अस्य इत् पव शवसा) इसके अपने बज्रमें (वज्रेण) बज्रसे (शुपन्तं वृत्रं) बरते हुए इन्द्रके (इन्द्रः वि वृश्चत्) इन्द्रने डकड़े कर जाये । (द्याणाः गा न) ऐकी हुई गौओंकी जैसे हड्डी करते हैं उस तरह (सचेताः द्वावने) देनेमें चतुर उस इन्द्रने (श्रवः) मशके लिये (अवनीः अमि अमुञ्चत्) नदियोंको बहाया ॥ १० ॥ (ऋ. १।६।१।१०)

(अस्य इत् उ त्वेपसा) इसीके बलसे (सिन्धवः रन्तु) नदियों रमणीय बनीं, (यत् वज्रेण सीं परि अयच्छत्) जब बज्रसे सनकी उड़ाने मयाशा बनायी । (ईशानकृत्) राजाओंकी बनानेवाले, (वाशुषे दशस्यन्) दायाही घन देनेवाले, (तुर्वणिः) तरासे कार्य करनेवाले इन्द्रने (तुर्वीतये गाघं कः) तुर्वीतिके लिये जड़की माघ बनाया ॥ ११ ॥ (ऋ. १।६।१।११)

(ईशानः कियेषाः) स्वामी और शोकमाद् (तूतु-जानः) तथा तरासे कार्य करनेवाला तू इन्द्र (अस्मा इत् उ वृत्राय) इसी वृत्रके कर (वज्रं प्र मर) बज्रका प्रहार कर । (गोः न पर्व) माघके पर्वोंकी तरह (अपां चुरध्वै)

अस्येद्दु प्र ब्रूहि पूर्वाणि तुरस्य कर्माणि नव्यं उच्यैः ।

युधे यद्विष्णान आयुधान्युघायमाणो निरिणाति शत्रून् ॥ १३ ॥

अस्येदुं मिया गिरयथ दृह्वा घावां च भूमां जनुपस्तुजेते ।

उपो वेनस्य जोशुवान ओणि सुघो श्रुवद्वीर्यायि नोघाः ॥ १४ ॥

अस्मा इदु त्यदनुं दाय्येपामेको यद्वने भूरेरीर्गानः ।

प्रेतसुं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्ये सुर्विमावदिन्द्रः ॥ १५ ॥

एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र प्रह्माणि गोतमासो अक्रन् ।

ऐपुं विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मधु धियावसुर्जगम्यात् ॥ १६ ॥ (१३१)

जलोके प्रवाहित होनेके लिये (शर्णांसि इत्यन्) जलोधी इच्छा करता हुआ तू (तिरश्चा वि रद) वज्रोको तिरच्छा वृत्रपर मार ॥ १३ ॥ (अ. १।६।१।१२)

(अस्य तुरस्य इत् उ) इस त्वरासे कर्म करनेवाले इन्द्रके (पूर्वा कर्माणि) पूर्व समयके बीरताके कर्मोकी (प्र ब्रूहि) स्तुति कर औ (उच्यैः नव्यः) स्तोत्रोंके स्तुति करने योग्य है । (युधे यत् इष्णानः) युद्धमें जब इच्छा करता है तब (आयुधानि ऋघायमाणः) शत्रुओंके प्रेरित करता है, तब वह (शत्रून् नि रिणाति) शत्रुओंको नीचे गिराता है ॥ १३ ॥ (अ. १।६।१।१३)

(अस्य इत् उ मिया) इसके मयधे (गिरयः च दृह्वा) पर्वत सुदृढ हुए और (घावां च भूमा) पुलोक और भूलोकके (जनुपः तुजेते) जन्मसे ही कापते रहे हैं । (वेनस्य ओणि) इस स्तुतियोग्यकी, रक्षणकीकी (उप उ जोशुवानः) स्तुति करनेवाला (नोघाः सघः चीर्याय सुवत्) स्ताता नरहात बीरताके कर्म करनेके लिये योग्य हुआ ॥ १४ ॥ (अ. १।६।१।१४)

(अस्मै इत् उ) इसके लिये ही (एपां त्यत् अनुदायी) इनमेंसे वह एक स्तोत्र दिशा गया, गाया गया । (भूतः एकः ईशानः यत् वझे) बहुत घनके एक स्वामी इन्द्रने उसको मना, स्वीकारा । (इन्द्रः) इन्द्रने (सुर्विं पतशं) उत्तम सोमके निकालनेवाले पतश की (प्र आवत्) रक्षा की, (सौवश्ये सूर्ये पस्पृधानं) त्रय स्वर्गकी संतान सूर्यसे स्पृशो कर रही थी ॥ १५ ॥ (अ. १।६।१।१५)

हे (हारियोजना इन्द्र) पोंकोंके जीटनेवाले इन्द्र । (गोतमासः ते एव सुवृक्किं प्रह्माणि अक्रन्) गोतमोंने

तेरे लिये ही उत्तम भाववाली प्रार्थनाएं की हैं । (एपु धिश्च-पेशसं धियं आधाः) इनमें सब प्रकारकी बननी बुद्धि बाल । (धियावसुः प्रातः मधु आजगम्यात्) बुद्धिमेंसे वसनेवाला इन्द्र प्रातःकाल शर्मि ही जा जाय ॥ १६ ॥

(अ. १।६।१।१६)

इस सूक्तमें इन्द्रका वर्णन इन शब्दोंसे हुआ है—

१ तद्यसे तुराय महिनाय ऋचीपमाय मध्रिगवे इन्द्राय राततमा प्रह्माणि प्र हर्मि (मं. १)— बलवान्, त्वरा करनेवाले, महिमायुक्त, मंत्रोंकी चाहनेवाले, आगे बढ़ने-वाले इन्द्रके लिये हम स्तोत्र करते हैं ।

२ प्रनाय परये अस्मै इन्द्राय घाघे सुवृक्किं आंग्यं प्र भरामि (मं. २)— प्राचीन स्वामी ऐसे इन्द्रके लिये इष्ट विचार दूर करनेके लिये स्तोत्र करता हूँ । इस स्तोत्रके पाठसे पाठके मनमें रहनेवाले सब दुष्ट विचार दूर हो सकते हैं और अच्छे विचार उसके मनमें आ सकते हैं । वेदके मंत्रोंमें इस तरह विचारोंकी परिमार्जित करनेकी शक्ति है ।

३ इदा मनसा मनीषा धिया मर्जयन्त (मं. २)— हृदय, मन, मनकी इच्छा और बुद्धियोंके वेदमंत्र परिशुद्ध करते हैं ।

४ मर्तानां मंहिष्टं सूरिं सुवृक्किमिः यच्छोकिमिः चावृषधये (मं. ३)— बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ दिव्यात् प्रभुकी दुःखनाशक उत्तम वचनोंसे हम प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं । वह स्तोत्र हमारे दुःखोंको दूर करता है और हमारे अन्दर अच्छे भाव उत्पन्न कर सकता है ।

५ तया रथं तविसनाय न (मं. ४)— सुतार जैदा अपने स्वामीके लिये रथ बनाता है उस तरह हम (गिर्वा-

हले मेधिराय इन्द्राय सुवृत्तिं विश्वं इन्द्रं स्तोमं गिरः सं दिनोमि) — स्तोत्रियोग्य सुदिमान इन्द्रके लिये उत्तम वचनोंवाला, सुष्ठ देनेवाला स्तोत्र हम अपनी मायासे गति हैं । ईशस्त्वुत्तिका स्तोत्र मनुष्यमें विचारोंकी शुद्धता कराता है, इसलिये उसके पाठसे मनुष्यका लाभ होता है ।

६ वीरं दानीकसं गुर्तध्वसं पुरां वर्मानं वन्दध्वै अकं जुहा सप्रज्जे (मं. ५) — वीर, दानी, यशस्वी, शत्रुके नगरोंकी तारनेवाले इन्द्रकी वन्दना करनेके लिये स्तोत्र हम अपनी मित्रासे बोलते हैं । ऐसे सूक्त बोलनेसे हमारेमें श्रुता, वीरता आती है ।

७ कियेधाः ईशानः तुजता तुजन् वृषस्य मर्म विदत् (मं. ६) — अनेक स्थानोंमें रहनेवाला इन्द्र वज्रकी शत्रुपर फेंकनेके समय उसका मर्मस्थान जानता है और उस मर्मस्थानपर अपना वज्र फेंकता है । इधी तरह शत्रुके मर्मस्थानपर ही वीर अपना शस्त्र फेंक । शत्रुको मारनेकी यह विद्या है ।

८ अग्निं अस्ता वराहं तिरो विध्वत् (मं. ७) — वज्र फेंकनेवाला इन्द्र वराहरूपी शत्रुपर तिरछा अस्त्र फेंकता है । ' वराह ' (बह+आहर) — उदक ले बलनेवाला मेघ । शत्रु शत्रुपर अपने शस्त्रअस्त्र योग्य रीतिये फेंकने चाहिये ।

९ ते यावा पृथिवी अस्य महिमानं न परि स्तः (मं. ८) — बुलोक तथा भूलोक इस प्रभुकी महिमाको बंद नहीं सकते । इसका महिमा यावा पृथिवीसे बहुत बड़ा है ।

१० अस्य महित्वं दिवः अन्तरिक्षात् पृथिव्याः परि प्ररिरेचे — (मं. ९) इस प्रभुकी महिमा यु, अन्तरिक्ष और पृथिवीसे बड़ा है ।

११ शवसा इन्द्रः वज्रेण वृत्रं विवृष्यत् श्वः अश्वनी अग्निं मुञ्चत् (मं. १०) — बलसे इन्द्रने वज्रसे वृत्रकी काटा और अपना श्व जलप्रवाहोंके रूपसे पृथ्वी पर छोड़ा ।

मेघोंको बिनष्ट किया और वृष्टिके द्वारा भदियां बहने लगीं । यही प्रभुका शस्त्र है । मेघके युद्धसे युद्ध करनेकी रीति यहाँ बनाई है ।

१२ अन्
इसके बलसे न।

सिन्धुदाः रुक् (मं. ११) —
*गी ।

१३ ईशानकृत् दाशुपे वशस्यन्, तुर्वणिः तुर्वी-
तये गाधं कः (मं. १२) — शाशकोंको बनानेवाला प्रभु दाताको धन देता है, इससे कार्य करनेवालेके लिये पार जाने-
वाला अलप्रवाह बनाता है । अर्थात् पुत्रपार्थ करनेवालेके लिये सर्वत्र सुगम मार्ग होता रहता है ।

१४ अस्य तुरस्य पूर्वा कर्माणि प्रधृष्टि (मं. १३) —
इस तुरासे कार्य करनेवाले इन्द्रके पूर्व कर्मोंका वर्णन कर ।

१५ युधे हृष्णानः आयुधानि ऋचायमाणः शशन्
नि रिणाति (मं. १३) — युद्धकी इच्छा करनेवाला वीर
आयुषोंको शत्रुपर फेंकता हुआ शत्रुओंको गिराता है । युद्ध
ऐसे करने चाहिये ।

१६ वेनस्य ओणि उप जोशुवानः सांधा रुधः
वीर्याय भुवत् (मं. १४) — प्रशंसनीय वीरकी संरक्षण
शक्तिका वर्णन करनेवाला वीर समझे स्तोत्र मानसे तत्काल
वीरताके कर्म करनेके लिये योग्य होता है । वीर इन्द्रके कान्धका
यह प्रभाव है, जो वह काण्ड पढेगा वह स्वयं वीर बनकर वीरो-
चित कार्य करने लगेगा ।

१७ इन्द्रः सूर्षि पतशं प्र भावत् (मं. १५) —
इन्द्र यशस्वताकी सुरक्षा करता है । वह यशस्वता ' सौषड्ये
न्यूयं पस्पृधानः ' (मं. १५) — सूर्यके साथ स्पर्धा करता
है । सूर्य जैसा नियमानुसार सब कार्य करता है वैसा जो कार्य
करेगा उसकी सुरक्षा प्रभु अवश्य करेगा । सूर्यहारा आदर्श है ।

१८ गोत्रमासः ते सुवृत्तिं ब्रह्माणि अक्रन्
(मं. १६) — गौत्रमोने तेरी उत्तम भाववाली स्तोत्रों की हैं ।
उनके मानसे मानेवालेके मनमें उत्तम भाव स्थिर होते हैं और
वह गायक श्रेष्ठ बनता है । इस तरह मंत्रपाठ मनुष्यको श्रेष्ठ
बनानेवाला है ।

१९ पशु विश्वपेशसं धियं चाः (मं. १६) — इन
मंत्रोंमें अपनी सब कार्य करनेवाली बुद्धिकी स्थिर रख । इससे
मानव उच्चतको प्राप्त होगा ।

२० धियावसुः प्रातः मभू आजगम्यात् (मं. १६) —
बुद्धियोंके घ्राण बसनेवाला प्रातः जलदीं चंटे और कार्य करनेके
लिये आवे । कार्य शुरु करे । प्रातःकाल जलदीं उठकर अपने
कार्यमें लगना चाहिये ।

इस सूक्तमें अनेक बोध दिये हैं । पाठक उनको अपने
जीवनमें धारण करे

[सूक्त ३६]

(ऋषिः — भरद्वाजः । देवता — इन्द्रः ।)

(क्र. ६।११।१-९)

य एक इन्द्रव्यश्वर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्युर्चि आभिः ।

यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्

॥ १ ॥

तद्यु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त त्रिप्रासो अभि वाजयन्तः ।

नक्षदामं ततुरि पर्वतेष्णामद्रोषवाचं मतिभिः शविष्ठम्

॥ २ ॥

तर्मीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः ।

यो अस्कृषोरुजरः स्वर्वान्तमा भर हरिवो मादुषर्ष्यं

॥ ३ ॥

(सूक्त ३६)

(या इन्द्रः) ओ इन्द्र (एक इत् आभिः गीर्भिः ह्ययः) एक ही मिथयसे इन स्तुतियोंसे प्रार्थना करने योग्य है । (तं इन्द्रं अम्यर्ष्यं) उस इन्द्रकी अर्चना करता हूँ । (यः वृषभः वृष्ण्यावान् सत्यः) जो बल देनेवाला, स्वयं बलवान् और सत्यनिष्ठ है और (सत्वा पुरुमायः सहस्वान् पत्यते) अपने बलसे अनेक कौशल्यसे कर्म करनेवाला और शत्रुभोंका पराजय करनेवाला है उस इन्द्रकी स्तुति की जाती है ॥ १ ॥

१ एकः इन्द्रः इत् आभिः गीर्भिः ह्ययः— एक ही प्रभु इन स्तुतियोंसे प्रार्थना करने योग्य है ।

२ तं इन्द्रं अम्यर्ष्यं— उस इन्द्रकी अर्चना करता हूँ ।

३ यः वृषभः वृष्ण्यावान् सत्यः— वही अद्वितीय बलवान् तथा सामर्थ्यशाली है और वही सत्य है ।

४ सत्वा पुरु-मायः सहस्वान् पत्यते— वह शत्रुवान् अनेक कौशल्यसे युक्त, शत्रुका पराजय करनेवाला होनेके कारण वही सबका शत्रु ही हुआ है । वही स्तुति करने योग्य है ।

मनुष्य बलवान्, सामर्थ्यवान्, सत्यनिष्ठ, सत्त्ववान् तथा अनेक कौशल्यके कार्य करनेवाला बने ।

(पूर्वे नव-ग्वाः) पुरातन नव महिदेवा यज्ञ करनेवाले (सप्त त्रिप्रासः) सात बुद्धिमान् ज्ञानी (द्वाजयन्तः) हविष्याद्य सिद्ध करनेवाले (नः पितरो) हमारे पितामह (नक्षत्-दामं ततुरि पर्वतेष्णं) शत्रुनाशक, तारक और पर्वतोपर रहनेवाले, (अद्रोष-वाचं शविष्ठं तं उ) द्रोहरहित मायण करनेवाले, अतिशय बलवान् ऐसे उस इन्द्रकी (मतिभिः अभि) बुद्धिपूर्वक स्तुति की थी ॥ २ ॥

'नक्षत्-दामः' आक्रमणकारी शत्रुको दबानेवाला । 'ततुरिः'— तारक, ताराकर्ता । 'अ-द्रोष-वाक्'—

द्रोहरहित मायण करनेवाला । 'नव-ग्वाः'— नौ गौएँ अधिक के पास हैं, नौ माघ तक यज्ञ करनेवाला, नौ माघका हिवाच ऐसा है— ६ माघ सूर्य प्रकाशके और प्रारंभिक तथा और अन्तिम सायंकालके प्रकाशके ३ माघ मिलकर प्रकाशके ९ महिने उत्तर ध्रुवके पास होते हैं । ६ माघ सूर्य किरणके हैं और ३ महिने उष-प्रकाश तथा सायं प्रकाशके बिना सूर्यके मिलकर ९ महिने यज्ञ करनेके समझनेवाले 'नव-ग्वा' कहलाते थे । इसी तरह 'द्वान-ग्वा' भी थे जो दस माघ यज्ञ करते थे । अर्थात् इस पक्षके ऋषि और एक मास किञ्चित् प्रकाशका स्वीकार करते थे । और दस माघ यज्ञ करते थे । 'नव-ग्वा' और 'द्वान-ग्वा' ये दो पक्ष थे यज्ञ विधिके संबंधमें । प्रकाशकी संभावना दस महिनेतक ही थी । इसके पश्चात् पूरे दो माघ दार्घ्यतम-गात्र अन्वधार रहता था । इन कालमें पानीका प्रवाह बंद होना, बर्फसे भूमि आच्छादित होना आदि कष्ट होता था । यह ऋतु समय था । यह अत्यंत समय था । इस समय गौएँ बाँधमें बंद रहती थीं । उष-कालके उदयके साथ गौएँ खली की जाती थीं । गौएँ इसी समय जुगायी जाती थीं, जिनकी राजकर्मवारी चोरोंसे वापस लाते थे । ये सब बातें मन्त्रोंमें पाठक देख सकते हैं । 'नव-ग्वाः'— नौ गौएँ जिनके पास हैं 'द्वान-ग्वा'— दस गौएँ जिनके पास हैं ।

'नक्षत्-दामं ततुरि पर्वते-स्यां अद्रोषवाचं शविष्ठं तं मतिभिः अभि अर्चं— शत्रुको दबानेवाले, तारक, पर्वतपर रहनेवाले, द्रोहरहित मायण करनेवाले, बलिष्ठ उस वीरकी बुद्धिपूर्वक उपासना कर । ऐसे वीरका सरकार करना चाहिये ।

(पुरु-वीरस्य नृ-वतः पुरु-क्षोः अस्य) बहुत वीरोंसे युक्त, बहुत सहायकोंसे युक्त, बहुत अलसे युक्त इस (रायः) धनको (तं इन्द्रं ईमहे) उस इन्द्रके पास हम

तन्नो वि वीचो यदि ते पुरा चिञ्जरितारं आनुशुः सुममिन्द्र ।

कर्त्तं भागः किं वयो दुध्र खिद्रः पुरुहूत पुरुवसोऽसुरमः

॥ ४ ॥

तं पुच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्टामिन्द्रं वेपीं वकर्ी यस्य नू गीः ।

तुविग्रामं तुविकूर्मिं रभोदां गातुभिपे नक्षते तुम्रमच्छं

॥ ५ ॥

अया ह त्वं मायया वावृधानं मनोजुवां स्वतवः पर्वतेन ।

अच्युता चिद्वीलिता स्वौजो रुजो वि ह्वाहा धृपता विरग्निः

॥ ६ ॥

मांगते है । हे (हरिवा) अधयुक्त इन्द्र ! (यः अस्कृद्योयुः अजरः स्वर्वात्) जो घन अविनाशो, क्षीण न होनेवाला और सुख देनेवाला है । (तं माद्यध्वे आ मर) वह घन हमें वषमोषके लिये भरपूर मर दे ॥ ३ ॥

१ तं इन्द्रं पुरुवीरस्य नृवसः पुरुक्षोः अस्य रायः ईमदे — उस प्रभुके पास हम ऐसा मांगते है कि जिसके साथ बहुत बौर रक्षणके लिये रहते हों, जो अनेक सहायकोंको अपने पास रखता है और जिसके साथ पर्याप्त अन्न होता है, अर्थात् हमें घन चाहिये, अन्न चाहिये, सहायक चाहिये और इनके संरक्षणके लिये संरक्षक बौर भी चाहिये ।

२ वह घन (अ-स्कृद्योयुः) विनष्ट न होनेवाला, (अ-जरः) क्षीण न होनेवाला और (स्व-वान्) सुख बढ़ानेवाला हो । इस घनसे (माद्यध्वे) हमारा आनन्द बढ़ता था । हमें किसी तरह दुःख न हो ! ऐसा घन हमें चाहिये ।

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (यदि ते जरितारः पुरा चित्) जो तेरे स्तोत्राओंमें पहिले समयमें (सुमं आनुशुः) सुख प्राप्त किया था (तत् नः वि वोचः) तो वह सुखका मार्ग हमें बताओ । हे (दुध्र) दुध्र (खिद्रः) शत्रुओंका नाश करनेवाले (पुरु-हूत) यहुतोंसे लुकाये जानेवाले (पुव-वसो) बहुत ऐश्वर्यवाले इन्द्र ! (असुर-मः ते) अशुरोंका नाश करनेवाला तेरा (कः भागः, वयः किं) कर्त्तव्यका कौनसा भाग है तथा-सामर्थ्यका भाग भी कौनसा है । वह भी बहो ॥ ४ ॥

१ ते जरितारः सु-मं आनुशुः — तेरे स्तोत्राण्यन्तम मन प्राप्त करते हैं । प्रभुकी स्तुति गानेसे शोभन विचारवाला मन होता है ।

२ पु-ध्र खित्-वः पुरु-हूत पुरु-वसो ! असुर-मः ते कः भागः ? — शत्रुके लिये अघ्न, शत्रुनाशक, यहुतोंसे प्रशंसित, बहुत घनवाले बौर ! तेरे पास जो अशुरोंका नाश करनेवाला शौर्यका भाग है वह कौनसा है ? तुम जिस सामर्थ्यसे अशुरोंका नाश करते है वह तुम्हारा सामर्थ्य किससा है ?

३ ते वयः किं ? — तेरी आयु क्या थी, तेरा सामर्थ्य कौन-सा था, जिससे तुम शत्रुका नाश करते हो ?

मनुष्य अपना मन शुभ विचारवाला करे, शत्रुका नाश करनेका सामर्थ्य प्राप्त करे, बहुत घन कमावे, अशुरोंका नाश करे ।

(वज्रहस्तं रथेष्टां तुविग्रामं तुविकूर्मिं रभोदां तं इन्द्रं) हाथमें वज्र धारण करनेवाले, रथारूढ बहुत शत्रुओंको पकड़नेवाले, बहुत कर्म करनेवाले, बल देनेवाले उस इन्द्रकी (पुच्छन्ती वेपीं) अर्चना करनेवाली यागादि कर्म करनेवाली (वकर्त्री गीः) गुणोंका वर्णन करनेवाली इस प्रथा स्तुति (यस्य) जिस यज्ञमानकी होती है वह (गातु इपे) सुखको प्राप्त होता है और (तुम्रं अच्छं नक्षते) शत्रुका सामना करता है ॥ ५ ॥

१ वज्रहस्तं रथेष्टां तुविग्रामं तुविकूर्मिं रभोदां तं इन्द्रं पुच्छन्तीं वेपीं वकर्त्री गीः यस्य, सः गातु इपे. तुम्रं अच्छं नक्षते — वज्र हाथमें धारण करनेवाला, रथपर आरूढ होकर लड़नेवाला, अनेक शत्रुओंको एक ही समयमें पकड़नेवाला, अनेक प्रकारके कर्म करनेवाला, बल लड़ानेवाला वह इन्द्र है, इस तरह उस इन्द्रकी अर्चना जो करती है, तथा साथ साथ यज्ञ कर्मोंको करती है, ऐसी स्तुति जिसकी वाणी करती है, वह सुख प्राप्तिके मार्गसे जाता है, और सुख प्राप्त करता है, और शत्रुका पराभव करनेका मार्ग भी ठीक तरह जानता है । तथा शत्रुका पराभव भी करता है ।

उक्त प्रकारके गुणोंका ध्यान करनेसे वे गुण मनुके अन्दर आते हैं, वह उक्त गुणोंसे युक्त होता है और उधसे वह सुखी होता है और शत्रुको दूर करके निर्मय होता है । ईश्वरके गुणोंसे मनुष्यकी उन्नति इस तरह होती है ।

हे (स्व-तवः) अपने निज बलसे युक्त इन्द्र ! (मनो-जुवा पर्वतेन) मनोवेगी अपने अायुध वज्रसे (मया मायया वावृधानं त्वं) अपने करत बाल्यसे बढ़नेवाले उध शत्रुका तुमने (वि रुजः) विशेष प्रकारसे वध किया । हे

तं वाँ धिया नम्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत्परितंसयध्वै ।
 स नोँ वक्षदनिमानः सुवधेन्द्रो विभ्रान्यति दुर्गहाणि ॥ ७ ॥
 आ जनाय द्रुहणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा ।
 तपा वृषन्विशतः शोचिषा तान्मैत्रद्विषेँ शोचय क्षामपथेँ ॥ ८ ॥
 भ्रुवो जनस्य दिव्यस्य राज्ञा पार्थिवस्य जगत्स्तेपसंसहक् ।
 धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुष्य दयसे वि मायाः ॥ ९ ॥

(स्वोऽजः) अपनी शक्ति बलवान् (विराटिन्) महात्
 सामर्थ्यवान् इन्द्र । तुने (अच्युताचित् धीच्छिना हृद्धा)
 न हिलनेवाली, बलवाली और दृढ शत्रुकी शक्तिकी (धृपता)
 पर्यक शक्तिसे भय धिया, तोड़ बाटा ॥ ६ ॥

१ हे स्व-तवः ! मनोजुवा परवतेन क्या घबृघान
 त्यं वि रुजः— हे नित्र सामर्थ्यवान् इन्द्र । मनके हमान
 अत्यन्त रूपसे शत्रुपर प्रहार करनेवाले परवान् वज्रसे, अपने
 कपटके कारण बर्बनेवाले वध शत्रुका तुमने नाश किया ।

'स्व-तवः' अपने नित्र सामर्थ्यसे युक्त । 'परवत'—
 (परवान्)— जिसमें पर है ऐसा वज्र, जिसमें गाँठें, नोकें
 तथा धाराएँ अनेक होती हैं वह वज्र । धारावाला वज्र ।

२ हे स्वोऽजः विराटिन् । अच्युता वाँछिता हृद्धा
 धृपता विरुजः— हे अपने बलसे बलवान् और महाप्रभावी
 इन्द्र । न हिलनेवाले छत्रिपर बलवान् और दृढ शत्रुके नागरिक
 कौलोंको अपने पर्यक सामर्थ्यसे तुमने तोड़ दिये ।

इस मन्त्रमें युद्धनिति कही है । शत्रुको अतिशक्ति अलक्षसे
 मरना गम्य है । तथा शत्रुकी नगरियोंकी भी तोड़ना तथा
 अपने आशान् करना उचित है । इस मंत्रके पद वीरकी शक्तिका
 वर्णन करनेवाले हैं ।

(नम्यस्या धिया) इस अर्चुं बुद्धिपूर्वक वाँ गईं स्तुति
 द्वारा (शविष्ठं प्रत्नं वाः तं) अत्यन्त बलवान् पुरातन वध
 इन्द्रकी (प्रत्नवत् परितंसयध्वै) शक्तिसे शक्तिसे अच्युत
 और बराबरा विस्तार करनेके लिये मैं प्रयत्न करता हूँ, इसको
 सुवधर (अनिमानः सुवहा) अपार महिमावाला, सुन्दर
 वाहनवाला (सः इन्द्रः) वह इन्द्र (विभ्रानि दुर्गहाणि)
 समस्त संकटोंसे (नः अति वसत्) हमें पार लेबावे ॥ ७ ॥

१ नम्यस्या धिया तं शविष्ठं प्रत्नं वाः प्रत्नवत्
 परितंसयध्वै— अर्चुं और बुद्धिपूर्वक किये इस स्तोत्रसे

उस बलवत् पुरातन इन्द्रका शक्तिसे ब्रह्मा वध करनेके
 लिये मैं कामगान करता हूँ ।

१ इस स्तोत्रको सुवधर 'अनिमानः सुवहा सः
 इन्द्रः विभ्रानि दुर्गहाणि नः अति वसत्'— अपार
 महिमावाला और सुन्दर रथवाला वह इन्द्र सब प्रकारके संकटोंसे
 हमें बचाकर पार ले बावे ।

हे इन्द्र ! (द्रुहणे जनान्) सज्जनोंका दोह करनेवाले
 दुष्टोंको हटानेके लिये (पार्थिवानि दिव्यानि) शक्तिसे और
 पुनोक्त (अन्तरिक्षा) और अन्तरिक्षके स्थानोंको (मा
 दीपय) अच्युत तप्त करे । हे (धृपन्) बलवान् देव !
 (विश्वतः तान्) चारों ओरसे उन दुष्टोंको (शोचिषा
 तप) अपने तेजसे तपसो । (म्रह्मद्विषेँ स्तां च नपः)
 जानके द्वेषितोंके दग्ध करनेके लिये धृपवी और अलोंको भी
 तपसो ॥ ८ ॥

दुष्ट जहाँ हाँगे बाँधे उनको हटानेका प्रयत्न करना चाहिये
 और उनको संतप्त करना चाहिये जिससे वे वहाँ न रहें ।

(स्तेपसंसहक् अ-जुष्य इन्द्र) दक्षिण, अराहित
 इन्द्र ! (दिव्यस्य जनस्य) दिव्य लोगोंका और (पार्थि-
 वस्य जगतः) धृप्योपरके लोगोंका भी (राज्ञा मुषः) व
 राजा है । (दक्षिणे हस्ते वज्रं धीष्व) दाहिने हाथमें
 वज्रको धारण कर । और (विश्वाः मायाः वि दयसे)
 सब दुष्टोंके कपटजालोंका नाश कर ॥ ९ ॥

१ स्तेपसंसहक् अजुष्य इन्द्र— तेज पुत्र दाँखेदाका
 करा-शय आदि रहित इन्द्र है ।

२ दिव्यस्य जनस्य पार्थिवस्य जगतः राज्ञा
 मुषः— पुलोहमें तथा भूलोहमें रहनेवाले लोगोंका व ही
 राजा हुआ है ।

३ दक्षिणे हस्ते वज्रं धीष्व— अपने दाहिने हाथमें
 वज्र धारण कर और उत्तरे—

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय वृहतीममृधाम् ।
 यया दासान्यार्याणि वृत्रा करोँ वज्रिन्सुतुका नाहुपाणि
 स नोँ नियुद्धिः पुरुहूत वेधो विश्ववाराभिरा गंहि प्रयज्यो ।
 न या अदेवो वरते न देव आभिर्याहि तूयमा मंद्रयद्रिक्

॥ १० ॥

॥ ११ ॥ (२४२)

[सूक्त ३७]

(ऋषिः — १-११ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टोश्चयावयति प्र विश्वाः ।
 यः शश्वतो अदाशुपो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः

॥ १ ॥

४ विश्वाः मायाः वि द्यसे— शत्रुके सब कपट-
 जालोंका नाश कर ।

यह भीम राज्यशासनका उपदेश कर रहा है । अपने पास
 राजाओंका सुयोग्य संप्रद करना और शत्रुके कपट प्रयोगोंके
 दूर करना चाहिये ।

हे (इन्द्र) इन्द्र ! (शत्रु-तूर्याय) शत्रुओंके नाश
 करनेके लिये (वृहतीं अ-मृधाम्) बली, अविनाशी, (संयतं
 स्वस्ति) संयममें रहनेवाली और कल्याण करनेवाली संपत्ति
 (नः आ भर) हमें दे । हे (वज्रिन्) वज्रधारी इन्द्र !
 (यया दासानि आर्याणि करः) जिससे दासोंकी आर्य
 बनाया जाता है और (नाहुपाणि) मनुष्योंके (वृत्रा)
 घेरनेवाले शत्रुओंको (सुतुका) सहजहीसे नष्ट-प्रष्ट किया
 जाता है ॥ १० ॥

१ शत्रुतूर्याय वृहतीं अमृधाम् संयतं स्वस्ति नः
 आ भर— शत्रुओंका नाश करनेके लिये विशाल, अविनाशी,
 स्थायी, रहनेवाली और कल्याण करनेवाली संपत्ति हमें दे दो ।

२ यया दासानि आर्याणि करः— जिससे दासोंके आर्य
 किये जाते हैं । 'दास'— दास, सेवक, दस्यु, दुष्ट । इनको
 श्रेष्ठ आर्य नागरिक बनाया जाता है । राज्यशासन व्यवस्था
 और समाज व्यवस्था ऐसी चाहिये कि जिससे दुष्ट मनुष्य श्रेष्ठ
 आर्य नागरिक बन जाय ।

३ नाहुपा वृत्रा सुतुका— मानवोंको घेरनेवाले शत्रु
 दूर किये जाय । वे जिससे मनुष्योंको कष्ट न दे सकें ऐसी अव-
 स्थामें वे पहुँचाये जाय ।

दुष्टोंको सज्जन बनानेका माय यहाँ है वह मनन करने योग्य
 है । प्रथम यह प्रयत्न किया जाय । उसमें यश न मिला तो
 दुष्टोंको दण्ड देना योग्य है ।

८ (अथर्व. माध्य. काण्ड २०)

हे (पुरुहूत) बहुत लोगोंसे मुलाने योग्य (वेधः)
 विधाता (प्रयज्यो) विशेष पूजनीय इन्द्र ! (सः) तू
 (विश्ववाराभिः नियुद्धिः) सब लोगोंसे प्रशंसित अश्वोंसे
 (नः आ गहि) हमारे पास आओ । (अदेवः) अश्वर
 (याः न वरते) जिन घोड़ोंको रोक नहीं सकता, (देवः न)
 और देव भी नहीं रोक सकता, (आभिः तूर्य आ) उन
 घोड़ोंसे शीघ्र ही (मन्द्रयद्रिक् आ याहि) भेरे पास आओ
 ॥ ११ ॥

रथके घोड़े अच्छे हों । उत्तम शिक्षित हों जिससे उनही
 उत्तम प्रशंसा होती रहे ।

(सूक्त ३७)

(यः तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीमः) जो तीक्ष्ण, शींगवाले बैलके समान बल-
 वाले बैलके समान भयंकर (एकः विश्वाः कृष्टोः प्र च्या-
 चयति) अकेला ही सभी शत्रुओंको स्थानसे भ्रष्ट कर देता
 है । (यः अदाशुपः शश्वतः गयस्य) जो दान न देने-
 वालेके अनेक घरोंको भी स्थानभ्रष्ट कर देता है, वह (सुष्वि-
 तराय वेदः प्रयता असि) तू यज्ञ करनेवालोंके लिये धन
 देता है ॥ १ ॥ (ऋ. ७।१९।१)

मानवधर्म— वीर तीक्ष्ण, शींगवाले बैलके समान बल-
 वान् और भयंकर हो । वह सब शत्रुओंको स्थानभ्रष्ट करे ।
 कोई शत्रु अपने स्थानपर स्थिर न रह सके । कंजूप तथा अनु-
 दार लोगोंके स्थान भी स्थिर न हों । ऐसे लोग राष्ट्रमें बलवान्
 न होने पावें । जो यज्ञ करता है और दान देता है उसको
 पर्याप्त धन प्राप्त हो ।

१ एकः भीमः विद्वाः कृष्टोः प्र च्याचयति—
 अकेला शर वीर सब शत्रुओंको अपने स्थानसे उखाड़ देता है ।

त्वं ह त्वदिन्द्र कुत्समावुः शुश्रूपमाणस्तन्वा समर्थे ।
 दासं यच्छृणुणं कुयं वं नृसिम्ना अर्न्वय आर्जुनेयापु शिक्षन् ॥ २ ॥
 त्वं धृष्णो धूपता वीतहृद्यं प्रावो विश्वामिहृतिभिः सुदासम् ।
 प्र पौरुकुत्सि त्रसदस्सुमावुः क्षेत्रसाता वृत्रहृत्स्येषु पुरुम् ॥ ३ ॥
 त्वं नृभिर्मर्मणो देववीती मूरीणि वृत्रा ह्यंश्च हंसि ।
 त्वं नि दस्युं सुसुरिं धुनि चास्वापयो दुभीतये सुहन्तु ॥ ४ ॥

१ अदाशुपः शश्वतः गयस्य ज्याययिता—कञ्स-
 के परोको उखाडनेवाला वीर हो । कञ्स राष्ट्रमें न रहे ।

२ सुधिवतराय वेदः प्रयंता— यज्ञकर्ताको धन दो ।
 सब लोग यज्ञकर्ताको धनका दान करते रहे । धनके अभावके
 कारण यज्ञ बंद करना न पड़े । राष्ट्रके दाता लोग राष्ट्रमें यज्ञ
 होते रहे इतना दान यज्ञकर्ताओंको देवे ।

हे इन्द्र ! (त्वं ह त्वत् तन्वा शुश्रूपमाणः) तूने सब
 अपने शरीरके शुश्रूषा करके (समर्थे कुत्सं आवः) युद्धमें
 कुत्सकी सुरक्षा की । (यत् आर्जुनेयापु अस्मै शिक्षन्)
 उस आर्जुनको पुत्र कुदम्बको धन दिया और (दासं शुष्णं
 कुयं नि अर्न्वयः) दास, शुष्ण और कुयवका नाश
 किया ॥ २ ॥ (ऋ ७१९१२)

'दास' उनको कहते हैं कि जो (दास उपश्रये) नाश
 करना है, घातपात करता है, लोगोंको नष्टशत्रु करता है । समाजमें
 उपद्रव मचाता है । 'शुष्ण' वह है कि जो लोगोंके धनो,
 भोगों और सुखोंका शोषण करता है । अपने सुखके लिये दूसरोंका
 नाश करता है । 'कु-यव' वह है कि जो अपने गुरे सड़े
 जाँधे अन्धे बलाकर लोगोंको देता है । इषधे खानेवालोंके
 श्वाहृत्स्यका विगाद होता है । इनका समाजके हितके लिये नाश
 करना चाहिये ।

१ तन्वा शुश्रूपमाणः समर्थे कुत्सं आवः— स्वयं
 अपने प्रयत्नसे युद्धमें अपने अनुयायी कुत्सकी रक्षा की । अपने
 जो अनुयायी होंगे उनकी सुरक्षा करनी चाहिये ।

२ दासं शुष्णं कुयं नि अर्न्वयः— घातपाती, शोषण-
 कर्ता तथा गुरे रोगोत्पादक धान्यका व्यवहार करनेवालोंका नाश
 कर । समाजसे इनको दूर कर ।

३ शिक्षन्— इनको उत्तम शिक्षा दो । उनपर शुभ
 संस्कार कर, जिससे वे वैसे घातपातके कर्म न कर सकें ऐसा
 कर ।

हे (धृष्णोः) शत्रुपर्यंक इन्द्र ! तूने (धूपता वीतहृद्यं
 सुदासं) अपने बलसे अज्ञात दान करनेवाले सुदासका
 (विश्वामिः ऊतिभिः प्र आवः) अनेक संरक्षणके साध-
 नोंसे संरक्षण किया । (वृत्रहृत्स्येषु क्षेत्रसाता) वृत्र बध
 करनेके युद्धमें तथा क्षेत्रका बंटवारा करनेके समय (पौरुकुत्सि
 त्रसदस्सुं पुरुं च प्र आवः) पुरुकुत्सके पुत्र त्रसदस्सु तथा
 पुरुका संरक्षण किया ॥ ३ ॥ (ऋ. ७१९१३)

१ धूपता विश्वामिः ऊतिभिः प्रावः— शत्रुको
 उखाडनेके बलसे सब सुरक्षाके साधनों द्वारा प्रजाका संरक्षण
 करो । अर्थात् शत्रुको उखाड दो और संरक्षणके साधनोंसे
 प्रजाका संरक्षण करो ।

हे (नृ-मनः) मनुष्योंके मनोंको आकर्षित करनेवाले इन्द्र !
 अथवा जिसका मन मनुष्योंका हित करनेमें लगा है ऐसे इन्द्र !
 (देववीती त्वं नृभिः मूरीणि वृत्रा हंसि) युद्धमें तू
 अपने वीरोंके द्वारा बहुत शत्रुओंको मारता है । हे (ह्यंश्च)
 हरिद्वर्णके घोड़ोंवाले इन्द्र ! तूने (दुभीतये सुहन्तु) समितिके
 लिये वज्रके द्वारा दस्यु, सुसुरि और धुनिको (नि अस्वा
 पयः) सुलाया, मास ॥ ४ ॥ (ऋ. ७१९१४)

'नृ-मनः'— मनुष्योंका, प्रजाजनका हित करनेमें
 जिसका मन तरहर रहता है, इसलिये प्रजाओंका मन जितपर
 लगा है, जिसने प्रजाओंका मन आकर्षित किया है । 'देव-
 वीती'— जहाँ देवोंका सरकार होता है, व्यवहार करनेवाले
 जहाँ एकत्रित होते हैं, वीर जहाँ एकत्रित होते हैं । यज्ञ, समा
 अथवा युद्ध । 'ह्यंश्च' लाल रंगके घोड़े जिसके रथको जोते
 हैं । 'सु-हन्तु'— जिससे शत्रु अच्छी तरह काटे जाते हैं वह
 वज्र, तीक्ष्ण धारावाला शस्त्र । 'दस्युः'— घातपात करनेवाला ।
 'सु-सुरिः'— शुभ शुभकर, कष्ट दे देकर नाश करनेवाला,
 'धुनिः'— हिलानेवाला, भगानेवाला, जो अपने निवास स्थानमें
 सुखसे रहने नहीं देता, ये सब समाजके शत्रु हैं । इनको दूर

तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत्पुरीं नवति च सद्यः ।

निवेशने शततमाविषेपीरहं च वृत्रं नमुचिमुताहन् ॥ ५ ॥

सना ता तं इन्द्र भोजनानि रातहव्याप दाशुपे सुदासे ।

वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजेम् ॥ ६ ॥

मा ते अस्यां सहसावन्परिष्टावघार्य भूम हरिवः परादै ।

त्रार्यस्व नोऽवृकेभिर्वरुथैस्तव प्रियासः सुरिपुं स्याम ॥ ७ ॥

करना चाहिये। 'द-भीतिः'— दमनके कारण जो भयभीत हुआ है।

१ नृ-मनः— मनुष्योंका हित करनेके लिये अपना मन लगा। प्रजाका हित करनेमें तत्पर हो। प्रजाके मनकी आकर्षित कर।

२ देववीतौ नृभिः भूरीणि हंसि— युद्धोंमें अपने वीरों द्वारा बहुत शत्रुओंका नाश कर।

३ दस्युं चुमुरिं धुनि नि अस्वापय— घातपाती, कष्टदायी और खबराहट करानेवाले शत्रुओंका वध कर। ये फिरसे न उठें ऐसा कर।

४ दभीतये भूरीणि हंसि— दमनके कारण जो भयभीत हुआ है, उसकी सुरक्षा करनेके लिये बहुत दुष्टोंका वध कर। प्रजापर कोई दमन न करे ऐसा कर।

हे (वज्रहस्त) वज्रधारी इन्द्र ! (तव तानि च्यौत्न्यानि) तेरे वे प्रसिद्ध बल हैं कि जो (यत् नव नवति च पुरः सद्यः) तूने शत्रुके नौ और नव्वे नगरोंका मेदन तरकाश ही किया था और (निवेशने शततमा अविषेपीः) अपने ठहरनेके लिये जब सौधी नगरोंमें तूने प्रवेश किया, उधों समय (वृत्रं च अहन्) वृत्रको तूने मारा और (उत नमुचिं अहन्) नमुचिकी भी मारा ॥ ५ ॥

(ऋ. ७।१९।५)

मानवधर्म— शत्रुके किलों, प्राकारों तथा नगरोंका नाश करना चाहिये और उनपर अपना स्वामित्व स्थापन करना चाहिये। तथा उनमें जो नाना रूपोंमें कष्ट देनेवाले शत्रु रहने हों उनका नाश करना चाहिये।

' वज्र-हस्त '— हाथमें वज्र, तक्षिण धाराका शस्त्र धारण करनेवाला वीर। यह वीर ' नव च नवति पुरः ' शत्रुके न्यायमें नगरियोंका मेदन करता है, नगरोंके बाहरके किलोंका तथा उनके प्राकारोंका नाश करके विजया होकर, उन नगर-

योंमें प्रवेश करता है और स्वयं सौधी नगरोंमें प्रवेश करके वध रहता है। ' वृत्र ' (आवृषोति) जो पेरकर हमला करता है और ' न-मुचि ' (न मुञ्चति) जो प्रयत्न करनेपर भी छोड़ता नहीं, किमी न किसी रूपमें बहा रहता है और कष्ट देता ही रहता है वह ' नमुचि ' है। ये सब शत्रु हैं। इनका नाश इन्द्र करता है।

हे इन्द्र ! (ते रातहव्याप दाशुपे सुदासे) उसे दस्यु देनेवाले दानी सुदासके लिये (ता भोजनानि सना) जो तूने भोगके योग्य धन दिये, वे सदा टिकनेवाले थे। हे (पुरु-शाक) बहुत शक्तिमान् वीर ! (वृष्णे ते) बलशाली ऐसे तुझे लानेके लिये रथको (वृषणा हरी युनज्मि) बलशाली, घोड़े जोतता हूँ। (ब्रह्माणि वाजं व्यन्तु) सोन बलशालों ऐसे तेरे पास पहुँचें ॥ ६ ॥

(ऋ. ७।१९।६)

१ दाशुपे सना भोजनानि— दाताके लिये उपभोग लेने योग्य शस्त्र टिकनेवाले भोग दो।

२ पुरु-शाकः— बहुत शक्तिवान् वन। अपनेमें बहुत सामर्थ्य बढ़ाओ। ' वृषा '— बलवान्; बल जैसा शक्तिवान्।

३ वाजं ब्रह्माणि व्यन्तु— बलवान् वाँके पास प्रशंसा के वर्णन पहुँचे। बलशाली ही प्रशंसा होती रहे।

४ वृषणा हरी रथे युनज्मि— बलवान् घोड़े में रथको जोतता हूँ। रथमें बलवान् घोड़े जोतने चाहिये।

हे (सहसावन् हरिवः) बलशाली और घोड़ोंवाले इन्द्र ! (तव अस्यां परिष्टौ) तेरी इस प्रशंसामें (परादै अघाय मा भूम) दुष्टरोंसे सहाय्य लेनेका पाप हमसे न दो। (नः अवृकेभिः वरुथैः प्रायस्व) हमें बाधा न करनेवाले संरक्षक साधनोंसे बचाओ। (सुरिपु तव प्रियासः स्याम) शानियोंमें हम तेरे अधिक प्रिय बनें ॥ ७ ॥

(ऋ. ७।१९।७)

प्रियास इत्तं मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः ।

नि तुर्वशं नि यादं अिशीहतिधिग्वायु शंस्यं करिष्यन् ॥ ८ ॥

सद्यश्चिन्तु तं मघवन्नभिष्टौ नरः शंसन्त्युक्थशांसं उपथा ।

ये ते हवैभिर्वि पर्णारदाशन्नसान्वृणीन् गुज्याय तसै ॥ ९ ॥

एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मय्यञ्चि ददतो मुषानि ।

तेषामिन्द्र वृत्रहृत्वे शिवो भूः सखां च शूरोऽधिता च नृणाम् ॥ १० ॥

मानघधर्म— मनुष्य शाघशाला येन । दूसरेकी गहायता से ही मय कार्य करनेका पाव कोई न करे । अपनी शक्तिमें अपने अर्थ कर । स्वावलम्बनशील बने । कृता रहित नरक्षक शाघनाश प्रजाजनोंका पचाव होता रहे और ज्ञानियोंमें भी अधिक विद्वान् बनकर प्रभुके प्यारे भक्त बने ।

१ सहस्राणाम्— परश्रम करनेकी शक्ति, मानुषका पराभव करनेकी शक्ति ऐसी अनेक शक्तियोंसे युक्त । 'हरिवः'— घोड़े पाछ रखनेवाला वीर ।

२ परादे अघाय मा भूम— दूसरासे सदायता लेकर ही अपने कार्य करनेकी स्थिति (पर-आ-दा) यह अत्यन्त किंभूष स्थिति है । अतः यह पापकी अवस्था है । ऐसी स्थितिमें हम रूढ़ना न पड़े । अर्थात् हम अपनी शक्तिये ही अपने सब कार्य के इतना हमारी शक्ति बढ चुकी हो ।

३ अशुक्लेभि चरुथेः प्रायस्व— 'शु' कृताका रूप है । अशुक्ले नृगता रहित वीरताका बोध होता है । 'वश्य परशरपरे सपथनीका नाम है । कृता राहृत रक्षाके साधनसे हमारा तारण हो ।

४ स्मृदिषु तव प्रियासः म्याम— हम ज्ञानियोंमें अधिक ज्ञानी बनें और इस हमारे ज्ञानकी अधिपताके कारण हम प्रभुके प्यारे बनें ।

हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र ! (ते अभिष्टौ) ३३ श्रुति करते हुए (नर-सखायः प्रियासः शरणे इत्तं मदेम) हम रख नेता समान कार्य करनेवाले तुम्हें प्रिय होकर अपने धर्म आनन्दके रहें । (अतिधिग्वायु शंस्यं करिष्यन्) अतिधिसत्कार करनेवालेके लिये प्रशंसागीय सुखकी अवस्था निर्माण करके (तुर्वशं यादं नि नि शिशीहि) तुम्हारा और योद्धा दान शत्रुओंकी अपने बशमें कर ॥ ८ ॥

(६ ७१११८)

मानघधर्म— धनवान् बनो, क्योंकि धनसे सब कार्य होते हैं । अपने देशमें सुखसे रहो, अपने ही देशमें दुःख भोग-

नेका अवगमन न आवे । अतिधिसत्कार करो । शत्रुओंको बशमें रगो । उनको बढने न दो ।

१ मघवन्— धनवान् बनना चाहिये, क्योंकि धनसे ही सब कार्य होते हैं । 'मघवन्' इन्द्र ही 'शतक्रतु' सैरहों कार्य करनेवाला होता है ।

२ सखायः प्रियासः नरः शरणे मदेम— हम सब एक साथ करनेवाले, परस्पर प्रीति करनेवाले नेता, अध्यायी होकर कार्यको संपन्न करनेवाले होकर अपने स्थानमें आनेदखे रहे । दुःखमें न रहें । हमें अपने देशमें दुःख भोगना न पड़े ।

३ अतिधिग्वायु शंस्यं करिष्यन्— अतिधिसत्कार करनेवालेका हित करो ।

४ तुर्वशं यादं नि शिशीहि— त्वरासे बशमें होनेवाले तथा नृकर्म शत्रुओंको दूर करो । 'यादः' (यादोवान्) जलमें जियका स्थान है, हीपमें रहनेवाला शत्रु ।

हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र ! (ते तु अभिष्टौ) तेरी स्तुति करनेके लिये (उक्थशांसः येनरः) स्तोत्र बोलनेवाले जो नेता (सद्यः चिन्तु उपथा शंसति) तटहाल ही शत्रुओंको बोलने हैं । (ते हवैभिः पर्णान् वि अदाद्यन्) उन्होंने अपने दानोंके पण्य करनेवालोंकी भी दान करनेवाले बना दिया है । (तस्मै गुज्याय असान् वृणीष्व) तब मित्रताके लिये हमारा स्विकार कर ॥ ९ ॥ (श्र. ७१११९)

'पणी' वे होने हैं कि जो पण्य करते हैं । वस्तुका रूप-विषय करते हैं । व्यापार-व्यवहार करनेवाले ये होते हैं । ये अपना धन बचना चाहते हैं । ऐसे लोगोंको भी (पणीन् चि अदाद्यन्) पण्य व्यवहार करनेवालोंको भी दाता बना दिया । यह परणाम स्तुतिके कारण पदनेसे हुआ । इसलिये उन्द्रकी स्तुति करनेकी तथा पढनी चाहिये ।

हे (तुभ्य इन्द्र) नेताओंमें अत्यंत प्रेष्ट इन्द्र ! (तुभ्य एते स्तोमा मघानि ददतः) तुम्हें ये संप धन देते हुए (असस्यं चः) हमारा और ला रहे हैं । (तेषां वृत्रहृत्वे

नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजुतस्तन्वा वावृधस्य ।

उप नो वाजान्मिमीह्युप स्तीन्युप पात स्वस्तिभिः सदा नः

॥ ११ ॥ (२५३)

॥ इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥४॥

[सूक्त ३८]

(प्रायिः — १-३ हरिभ्यदिः ४-६ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

आ याहि सुपुमा हि त इन्द्र सोमं पिवा इमम् । एदं वृहिः सद्रो मर्म ॥ १ ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहन्तामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

शिवः भूः) उनके लिये शत्रुका नाश करनेके युद्धमें सुम कल्याण करनेवाला हो, तथा उन (नृणां) सखा च शूरः (अधिता च) मानवोंका मित्र और शूर संरक्षक हो ॥ १० ॥

(ऋ. १।१९।१०)

मानवधर्म— मनुष्योंमें श्रेष्ठ बन । धनका दान कर । युद्धके समय मनुष्योंकी सहायता करके उनका कल्याण कर । मनुष्योंका संरक्षण कर और इसके लिये शूर बन तथा मनुष्योंके साथ मित्रवत् व्यवहार कर ।

१ नृत्तमः— नेताओंमें श्रेष्ठ नेता बन ।

२ मघानि ददतः अस्मभ्यं चः— धन देते हुए ये नेता हमारी ओर आ रहे हैं । हमें भी ये धन देने और उस धनसे हम यज्ञ करेंगे ।

३ वृष्टद्वये तेषां शिवः भूः— युद्धमें उन दाताओंका कल्याण हो ऐसा करो । युद्धमें उनका नाश न हो ।

४ नृणां सखा शूरः अधिता च भूः— मानवोंका मित्र तथा शूर संरक्षक हो ।

हे शू इन्द्र ! (स्तवमानः ब्रह्मजुतः) स्तुतिसे और ज्ञानसे प्रेरित होकर (स्तन्वा ऊती वावृधस्य) अपने शरीरसे और संरक्षण शक्तिसे बढता जा । (नः वाजान् उप मिमीहि) हमें भक्ष और बल दो । (सूयं नः सदा स्वस्तिभिः पात) आप हमें सदा कल्याणोंसे सुरक्षित करो ॥ ११ ॥

(ऋ. १।१९।११)

मानवधर्म— मनुष्य शूर हों । देवताकी स्तुतिसे और ज्ञान विज्ञानसे उनको प्रशस्ततम कर्म करनेकी प्रेरणा मिलती रहे । शरीर स्वस्थ, नीरोग और बलवान् बने और उनमें संरक्षण करनेका सामर्थ्य बढे । अन्न ऐसे प्राप्त हो कि भ्रिष्टसे बल बढे । रहनेके लिये उत्तम घर हों । मानवोंका कल्याण हो और उनका संरक्षण भी हो ।

१ शूरः— नेता शूर हो, मर्द न हो ।

२ स्तवमानः ब्रह्मजुतः— स्तुति और ज्ञानसे उनके प्रेरणा मिले । प्रशस्त कार्य करनेकी प्रेरणा उसको (स्तव) ईश स्तुतिसे मिले । ईश्वर स्तुतिसे मैं ईश्वर जैसा बनूंगा इस भावसे सत्कर्मको प्रेरणा मिलती है । वैधी प्रेरणा मिले ।

३ तन्वा ऊती वावृधस्य— अपना शरीर और अपने अन्दरकी संरक्षण करनेकी शक्ति बढायी जाय । देवताकी स्तुति और ज्ञानसे अपने शरीरके संवर्धनके उपाय तथा संरक्षणकी शक्ति बढानेके उपाय विदित होते हैं ।

४ वाजान् नः उप मिमीहि— अन्न खाकर बल हमें प्राप्त हो । उत्तम बल बढानेवाले अन्न हमें मिले और अन्न मिलनेपर उससे हमारा बल बढे । अन्नका उपयोग ऐसा किया जावे कि शरीरका बल घटे पर कभी न घटे ।

५ स्तीन् उप मिमीहि— रहनेके लिये घर हों । दिन घरके अंजित रहना पडे ऐसा कभी न हो ।

६ स्वस्तिभिः न पात— कल्याण करनेवाले साधनोंसे हमारी सुरक्षा हो । ऐसा न हो कि हम सुरक्षित तो हों पर हमारी हानि हो हानि होती जाय । तारक्यं हमारा कल्याण भी हो और हमारा उत्तम संरक्षण भी हो ।

॥ यहां चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त ३८)

हे इन्द्र ! (आ याहि) आ, (ते हि सुपुमा) हमने तेरे लिये सोमास निवाडा है । (इमं सोमं पिब) इस सोमको पी । (मम इदं वृहिः) मेरा यह आसन है, (आ सृष्टः) इन पर बैठ ॥ १ ॥

(ऋ. १।१७।१)

हे इन्द्र ! (केशिना) बालोंवाले (ब्रह्मयुजा हरी) इशारेसे जुबनेवाले दो घोडे (त्वा आ वृद्धतां) तुम यहाँ ले आओ । (नः ब्रह्माणि उप शृणु) हमारी प्रार्थनाओंकी सुन ॥ २ ॥

(ऋ. १।१७।२)

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥
 इन्द्रमित्राधिनां बृहदिन्द्रमर्केभिरार्कणः । इन्द्रं वाणीरनूपत ॥ ४ ॥
 इन्द्र इन्द्रयोः सचा संमिदल आ वचोयुजा । इन्द्रो वृत्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥
 इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्य रोहयदिवि । वि गोभिरिन्द्रमैरयत् ॥ ६ ॥ (२५९)

[सूक्त ३९]

(भाषि: — १ मधुच्छन्दाः, २-५ गोपूज्यम्बुच्छिकिनो । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रं वो विश्वत्सपरि हवामहे जनेभ्यः । असाकमस्तु केवलः ॥ १ ॥
 व्यन्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस रोचना । इन्द्रो यदभिन्द्दलम् ॥ २ ॥
 उद्रा आजुदङ्गिरोभ्य आविष्कृष्वग्नुहां सतीः । अर्वाश्च तुनुदे वलम् ॥ ३ ॥
 इन्द्रैण रोचना दिवो वृहहानि दंष्टितानि च । स्थिराणि न पराणुदे ॥ ४ ॥
 अपामूर्मिर्मर्दन्निषु स्तोमं इन्द्राजिरायते । वि ते मदा अराजिषुः ॥ ५ ॥ (२६४)

हे इन्द्र ! (वयं सोमिन. ब्रह्माणः) हम सोम लनेवाले ब्रह्माण (सुतावन्तः) सोमरस निकालनेपर (स्वा सोमपां युजा हवामहे) तुम सोम पीनेवालेको अपने पञ्जके साथ बुलाते हैं ॥ ३ ॥ (अ. ८११-१२)

कोई अतिथि आया तो (इदं यद्दि । मं १) यह आसन आपके लिये है ऐसा बोलकर उसको बैठनेके लिये आसन देना चाहिये ।

'केशिना ब्रह्मयुजा हरो' (मं. २)— संघे बालवाले इगोरसे रथके साथ जुड़नेवाले घोड़े हों । घेड़े ऐसे मिखाये जाय ।

(गाधिन. इन्द्रं इत्) गापा पहनेवाले इन्द्रका ही (वृहत्) ऊंचे स्तरसे गान करते हैं । (अर्कणः अर्कभिः इन्द्रं) मंत्रपाठ करनेवाले सूक्तसे इन्द्रकी ही स्तुति गाते हैं । (वाणीः इन्द्रं अनूपत) हमारी वाणियों इन्द्रकी ही स्तुति गाती हैं ॥ ४ ॥ (अ. ११७१)

(इन्द्रो वृत्री हिरण्ययः) इन्द्र वज्र धारण करता है और मुनहरी पोषाख करता है, वह इन्द्र (वचोयुजा आ संमिदलः) वाणीके साथ जुड़नेवाले (हयोः सचा इत्) दो घोड़ोंका साथी ही है ॥ ५ ॥ (अ. ११७२)

इन्द्रने (दीर्घाय चक्षसे) दूरका देखनेके लिये (सूर्ये दिवि आ रोहयत्) सूर्यको बुलानेके चढाया है और (गोभिः) गीबोंसे, किरणोंसे (अद्रिं वि परयत्) पर्वतको-मेषकी दूर किया ॥ ६ ॥ (अ. ११७३)

१ इन्द्रः वृत्री हिरण्ययः— इन्द्र वज्र धारण करता है और मुनहरीके भूषण धारण करता है, वा मुनहरीके साथ चमकनेवाला पोषाख धरता है ।

२ इन्द्रः हयोः सचा— इन्द्र घोड़ोंका मित्र है, घोड़ोंके साथ रहनेवाला है । ' वचोयुजा आ संमिदलः '— इगोरसे जुड़नेवाले घोड़ोंके साथ रह रहा है ।

घोड़े पालनेवाले घोड़ोंको अपने साथी समझे । घोड़ोंको इतने शिक्षित करे कि जिससे वे इगोरसे रथके साथ जुड़ जाय ।

३ इन्द्रः दीर्घाय चक्षसे सूर्ये दिवि आ रोहयत्— इन्द्रने दूरका दृश्य देखनेके लिये सूर्यको बुलानेके ऊपर चढाया है । इसके लिये इन्द्र पृथक् है वह सिद्ध होता है । इन्द्रने सूर्यको बुलानेके स्थापित किया है । सूर्यसे इन्द्र अधिक शक्तिवादी है ।

४ गोभिः अद्रिं परयत्— किरणोंसेमेषको दूर किया । गौ-किरण, जल, भूमि। अद्रि-पर्वत, वज्र, मेष । इस मंत्रमागका अर्थ समझना विचाराधीन है । सहज समझने योग्य यह मंत्र नहीं है ।

(सूक्त ३९)

(विश्वतः परि जनेभ्यः) सब ओरसे लोगोंसे पृथक् करके (यः इन्द्रं हवामहे) तुम्हारे लिये हम बुलाते हैं । (केवलः असाकं अस्तु) वह केवल हमारा होकर रहे ॥ १ ॥ (अ. ११७१)

२-५ (२६१-२६४) मंत्र अथर्व. २-१२८१-४ देखो ।

[सूक्त ४०]

(श्रापिः — १-३ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः मरुतश्च, १-३ मरुतः ।)

इन्द्रेण सं हि दक्षसे संजग्मानो अर्विभ्युषा । मन्दु समानवर्चसा	॥ १ ॥
अनवद्यैर्भिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति । गणैरिन्द्रस्य काम्यैः	॥ २ ॥
आदहं स्वधामनु पुनर्गर्भस्वमेरिरे । दधाना नाम यद्विष्यम्	॥ ३ ॥ (१६७)

[सूक्त ४१]

(श्रापिः — १-३ गीतमः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रो दधीचो अस्थमिर्वृत्राण्यप्रतिष्कृतः । जधानं नवतीर्नव	॥ १ ॥
इच्छन्नर्क्षस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम् । तद्विदच्छर्युणावति	॥ २ ॥
अत्राह गौरमन्यतु नाम त्वष्टुर्पीव्यम् । इत्या चन्द्रमसो गृहे	॥ ३ ॥ (१७०)

(सूक्त ४०)

(अविभ्युषा इन्द्रेण संजग्मानः) निहर इन्द्रके साथ जानेवाले (सं दक्षसे हि) व दीखता है । (मन्दु समानवर्चसा) आनन्ददायक और समान कान्तिवाले हुए घर हो ॥ १ ॥

(ऋ. १।६।७)

(अनवद्यैः) दोष रहित (अभिद्युभिः) बुलोककी और देखनेवाले (इन्द्रस्य काम्यैः गणैः) इन्द्रके भिय गणोंके साथ (मखः सहस्वत् अर्चति) यह बल बढ़ानेवाले गीत गाता है । यहमें बल बढ़ानेवाले स्तोत्र गये जाते हैं ॥ २ ॥

(ऋ. १।६।८)

(आत् अह पुनः) इसके नंतर पुनः (स्वधां अनु) अपनी धारण शक्तिके अनुसार वे (यद्विष्यं नाम दधानाः) पूज्य नाम धारण करते हुए (गर्भस्वमेरिरे) गर्भ माषकी प्राप्त हुए ॥ ३ ॥

(ऋ. १।६।४)

१ अविभ्युषा इन्द्रेण— निहर इन्द्र है । वैसा निहर बर हो ।

२ अभिभ्युषा संजग्मानः— निहर वीरके साथ जाना योग्य है ।

३ मन्दु समानवर्चसा— हार्थित और तेजस्वी बर हो ।

४ अनवद्यैः अभिद्युभिः गणैः— निर्दोष और तेजस्वी भियगणोंके साथ रहना योग्य है ।

५ मखः सहस्वत् अर्चति— यहमें बलयुक्त गीत गये जाते हैं ।

६ यद्विष्यं नाम दधानाः— पवित्र नाम धारण करके रहना उत्तम है ।

यह महतीका वर्णन है । मरुत् इन्द्रके साथ रहते हैं और वे युद्धादि करते हैं ।

(सूक्त ४१)

(इन्द्रः अप्रतिष्कृतः) जिसका कोई सामना नहीं कर सकता ऐसे इन्द्रे (दधीचो अस्थियभिः) दधीचकी दृष्टियोंके (नवतीः नव वृत्राणि जधान) निजानवे वृत्रोंको मारा ॥ १ ॥

(ऋ. १।८।१३)

(पर्वतेषु अपश्रितं) पर्वतोंमें पडा हुआ (यत् अश्वस्य शिरः इच्छन्न) जो घोड़ेका शिर या लथकी प्राप्त करना चाहता (तत् शर्यणावति विदत्) उसको शयणवर्तिमें पाया ॥ २ ॥

(ऋ. १।८।१४)

(इत्या चन्द्रमसो गृहे) इस तरह चन्द्रमके घरमें (अत्र अह) यहीं (त्वयुः सर्पिक्यं गोः नाम) त्वष्टाकी-सूर्यकी गौ (किरण) की (अमन्वत्) वह है ऐसा माना ॥ ३ ॥

(ऋ. १।८।१५)

१ दधीचके दृष्टियोंका वज्र बनाकर निजानवे वृत्रोंको मारा । ' दधीच ' (दधि-अच्) दही जिससे होता है वह दूध है । दूध पीनेवालेकी दृष्टी कैकवा भिजानवे रोगोंको दूर करती है । दूध पीनेवालेकी दृष्टीका चूर्ण औषधके रूपमें काम आता है । निजानवे वृत्र में निःशंकेद मेघ नहीं हैं । हृष्टि भी वज्र बन नहीं

[सूक्त ४२]

(ऋषिः — १-३ कुटस्तुतिः । देवता — इन्द्रः ।)

वाचंमष्टापर्दीमहं नर्वस्रक्तिमृतस्पृशंम् । इन्द्रात्परिं तन्वं ममे ॥ १ ॥
 अतुं त्वा रोदसी उभे कर्षमाणमकृपेताम् । इन्द्र यदस्युहामवः ॥ २ ॥
 उच्चिष्टन्नोर्जसा सह पीत्वी शिमे अवेषयः । सोममिन्द्र चमू सुतम् ॥ ३ ॥ (१७३)

[सूक्त ४३]

(ऋषिः — १-३ त्रिशोकः । देवता — इन्द्रः ।)

भिन्धि विश्वा अप द्विपः परि वाघो जही मृधः । वसुं स्प्राहं तदा भर ॥ १ ॥
 यद्दीलाचिन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शानि पराभृतम् । वसुं स्प्राहं तदा भर ॥ २ ॥
 यस्य ते विश्वमानुषो भूरदत्तस्य वेदति । वसुं स्प्राहं तदा भर ॥ ३ ॥ (१७६)

सकता । वृत् औषध चिकित्सा विषयक मन्त्र है । वैशोक इषका
 विचार करना चाहिये ।

२ पर्वतोंमें पडा घोडेका घिर शर्यणावतिमें मित्र । यह भी
 वैनी ही गूढ विद्या है । इसकी खोज होनी चाहिये ।

३ चन्द्रमसः शूधे त्वष्टुः अपीच्यं गो नाम अम-
 न्यत— चन्द्रमके घर त्वष्टाका दूर गया किरण मिल गया ।
 सूर्यका किरण चन्द्रमामें पहुंचता है और वह किरण चन्द्रमाक
 घर मिलता है ।

यह सूक्त गूढ अर्थ यतानेवाला है अत इसके विधानकी
 खोज विशेष होनी अत्यंत आवश्यक है ।

(सूक्त ४२)

(अष्टापर्दी) आठ पदवाली, (नव-घक्ति) नौ कोनों-
 वाली (ऋत-स्पृशं) सत्यको स्पर्श करनेवाली (तन्वं वाचं)
 सूक्ष्म वाणीकी (इन्द्रात् परि ममे) इन्द्रसे सव भारमें
 माया है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।७६।१०)

हे इन्द्र ! (यत् दस्युहा अमवः) जब तू दस्युओंका
 मारनेवाला हुआ तब (उभे रोदसी) दोनों यु और भूलोक
 (त्वा) तुझ (कर्षमाणं अनु अकृपेतां) कटक बोरके
 पंछि काप गये ॥ २ ॥ (ऋ. ८।७६।११)

हे इन्द्र ! (सुत सोमं चमू पीत्वी) सोमरसको चम-
 सोंमें डाले हुएको पीकर (ओजसा सह उच्चिष्टन्) बलके
 साथ उठते हुए तुमन (शिमे अवेषयः) दोनों हनुओंको
 कंषाया ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।७६।१०)

१ अष्टापर्दी नव-घक्ति ऋतस्पृशं वाचं परि ममे-
 आठ पादवाली, नौ पदवाली रचनावाली, सत्य वर्णन करनेवाली
 कविताकपी वाणी-काव्य रचनाकी मापकर बनाता है । कविता

इस तरह योग्य मापसे बनानी चाहिये । चरणोंमें अक्षर, नख-
 दीर्घ मात्रा, चरणोंकी संख्या इनका विचार पद्यरचनामें करना
 आवश्यक होता है ।

२ यत् दस्युहा अमवः उभे रोदसी त्वा कर्षमाणं
 अनु कृपेतां— जब इन्द्र दस्युओंको मारने लगा, तब समय
 उसके पराक्रमको देखकर यावा पृथिवी कांपने लगी । शर बोरके
 पराक्रम इस तरह फरने चाहिये ।

३ सुतं सोमं चमू पीत्वी ओजसा सह उच्चिष्टन्
 शिमे अवेषयः— सोमरस चमूमें पीकर जब इन्द्र बलके
 उठने लगा तब उसके दोनों ऊपर और नीचेके हनु कांपने लगे ।
 ' शिम ' का अर्थ ' हनु और साका ' ये दो हैं । यहा
 ' उभे शिमे ' दोनों शिम हैं, इन कारण यहा ' शिम ' का
 अर्थ हनु, जबडा है । वेगधे उठनेसे जबडा या हनु कांपते हैं ।

(सूक्त ४३)

(विश्वा द्विपः अप भिन्धि) सब शत्रुओंको चारों
 ओरसे भेद डाल । (वाघः मृधः परि जहि) बाघा करने-
 वाले शत्रुओंको मारकर हटा, (तत् स्प्राहं चमू आ भर)
 इच्छा करने योग्य धन लाकर भर दो ॥ १ ॥ (ऋ. ८।४५।४०)

हे इन्द्र ! (यत् धीलौ) जो बलशाली क्षत्रजिमें, (यत्
 स्थिरे) जो स्थिर स्थानमें, (यत् पर्शानि) जो भूमिमें
 रखा (पराभृतं) हुआ है वह इच्छा करने योग्य धन लाकर
 भर दो ॥ २ ॥ (ऋ. ८।४५।४१)

(यस्य ते भूरेः दत्तस्य) जो तेरे दिशे गये बडे धनको
 (विश्वमानुषः वेदति) मन मनुष्य अगनाता है । वह
 इच्छा करने योग्य धन लाकर भर दो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।४५।४२)

[सूक्त ४४]

(ऋषिः — १-३ इरिभ्यडिः । देवता - इन्द्रः ।)

प्र सभ्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः । नरं नृपाहं मंहिष्ठम् ॥ १ ॥
 यस्मिन्नकथानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवसाः । अपामशो न संपुद्रे ॥ २ ॥
 तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृनुमु ॥ महो वाजिनं सनिभ्यः ॥ ३ ॥ (८०)

[सूक्त ४५]

(ऋषिः — १-३ शुनःशोपो देवरातापरनामा । देवता - इन्द्रः ।)

अयमुं ते समवसि कपोतं इव गर्भधिम् । वचस्तर्चिन्न ओहम् ॥ १ ॥
 स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते । विभ्रनिरस्तु मृनुता ॥ २ ॥

१ विश्वाः द्विषः अप भिन्धिः— सब शत्रुओंको काट जले।

२ विश्वाः वाघः मूषः परि जहि— सब बाधा करने-वाले दुष्ट शत्रुओंको पाबिन करके दूर भगा दो।

३ यत् वीली स्थिरे, पशानि पराभूतं— जो धन बलशाली स्थानमें, सुस्थिर स्थानमें और भूमिमें रखा है।

४ तत् स्पहं वसु आ भर— वह स्पृहणिय धन लाकर भर दो।

५ यस्य ते भूरेः दत्तस्य विश्वमानुषः वेदति— जिससे तारे दिशे बँधे धनको सब मनुष्य जानते हैं कि यह धन मिला है। वैसा धन हमें लाकर भर दो। धन इच्छा करने योग्य सन्नति करनेवाला हो। विनशकारी न हो।

(सूक्त ४४)

(चर्षणीनां सभ्राजं) प्रजाजनोंके सम्राट् (नृपाहं मंहिष्ठं नरं) शत्रुके वीरोंको जीतनेवाले बड़े सामर्थ्यवान् वीर (नव्यं इन्द्रं) दाता इन्द्रको (गीर्भिः स्तोता) वाणीसे स्तुति करो ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१६।१)

(यस्मिन्) जिस इन्द्रमें (श्रवस्याविद्वानि उक्थयानि) यश देनेवाले शरी स्तोत्र (रण्यानि) रमणीय होती हैं (अपां अशो संपुद्रे न) जैसे जलोंके प्रवाह समुद्रमें आनन्दसे मिलते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१६।२)

(तं ज्येष्ठराजं) उस बड़े राजा (भरे कृनु) युद्धमें इच्छा, (सनिभ्यः महो वाजिनं) दानोंके लिये बड़े शक्तिमान् (तं सुष्टुत्या विवासे) उस इन्द्रको उत्तम स्तुतिसे प्रशंसित करते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१६।३)

१ (अथर्व. भाष्य, काण्ड २०)

४४ सूक्तमें इन्द्रके ये गुण कहे हैं—

१ चर्षणीनां सभ्राजं— लोगोंका सम्राट्,

२ नृ-पाहं— शत्रुके वीरोंका पराभव करनेवाला,

३ मंहिष्ठं नरं— बड़ा नेता वीर,

४ ज्येष्ठ राजं— श्रेष्ठ राजा

५ भरे कृनुं— युद्ध करनेमें अत्यंत कुशल,

६ महो वाजिनं— बड़ा बलवान्,

७ यस्मिन् विश्वा उक्थयानि श्रवस्या रण्यानि— इस इन्द्रमें जो भी स्तुति की जाय वह बड़ा उसके यशका वर्णन करनेवाला होनेके कारण वह स्तोत्र रमणीय ही होते हैं। वे सब उषमें शार्थ होते हैं जैसे (अपां अशो संपुद्रे न) जलोंके प्रवाह समुद्रमें अधिक नहीं होते। वे प्रवाह समुद्रमें मिल जाते हैं, वैसी ही वीर इन्द्रकी स्तुतियाँ इन्द्रमें सबको सब शार्थ होती हैं।

(सूक्त ४५)

(अथ उते) यह सोम तेरा है, (स्वं अतसि) इसकी ओर आ। (कपोतः गर्भधि इव) जैसे कबूतर अपनी छाँके पास जाता है, (नः तन् वचः) हमारे इस वचनका (ओहसे) तू प्यार करता है ॥ १ ॥ (ऋ. १।३.१४)

हे (राधानां पते) धनोंके स्वामी (गिर्वाहः) युद्धके स्वीकारनेवाले (वीर) वीर इन्द्र ! (यस्यते स्तोत्रं) जिससे तेरा स्तोत्र (मृनुता विभ्रतिः अस्तु) हमारे दिव्य वचनों से लकी विभूति हो ॥ २ ॥ (ऋ. १।३.१५)

कुर्वास्तिष्ठा न ऊतयेऽसिन्वाजे शतक्रतो । समन्येषु प्रवावहे ॥ ३ ॥ (८८)

[सूक्त ४६]

(ऋषि — १-३ इरिग्विडिः । देवता — इन्द्रः ।)

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कतारं ज्योतिः समस्तु । मामह्वारं युषामित्रान् ॥ १ ॥

स नः पमिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः । इन्द्रो विश्वा अति द्विपः ॥ २ ॥

स त्वं न इन्द्र वाजेभिर्दशस्या धं गातुया च । अच्छा च नः सुमं नेपि ॥ ३ ॥ (८८)

[सूक्त ४७]

(ऋषिः — १-३ सुकभः, ७-९ इरिग्विडिः, १०-६, १०-२२ मधुच्छन्दाः, १३-२२ प्रश्नपत्रः ।

देवता — इन्द्रः, १३-२१ सूर्यः ।)

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृषाय हन्तवे । स वृषा वृषभो सुवत् ॥ १ ॥

३ (शतक्रतो) सैक्यो कर्म करनेवाले इन्द्र । (असिम्न वाजे) इस बुद्धि (नः ऊतये) हमारी रक्षाके लिये (ऊतयः तिष्ठ) खडा रह, (अन्येषु सं प्रवावहे) अन्योको उप-स्थितिमें भी हम तेरी ही प्रशंसा करेंगे ॥ ३ ॥ (ऋ. १।३.०।६)

१ राधानां पतिः— धर्मोका स्वामी इन्द्र है ।

२ वौर ! यस्य ते स्तोत्रं समुता विभूतिः अस्तु— हे वौर इन्द्र ! तेरा स्तोत्र हमारे लिये सच्ची विभूतिके रूपमें हमारे सामने रहे ।

३ शतक्रतो— सैक्यो कर्म करनेवाले इन्द्र ।

४ अस्मिन् वाजे नः ऊतये ऊतयः तिष्ठ— इस बुद्धिमें हमारी रक्षा करनेके लिये खडा रह और हम री रक्षा करनेके लिये जो करना योग्य है वह सब कर ।

५ अन्येषु सं प्रवावहे— अन्य लोग उपस्थित हों तो भी हम ऐसा ही तेरे विषयमें आदर मावके बचन ही बोलेंगे ।

(सूक्त ४६)

(वस्यो अच्छ प्रणेतारं) जो उत्तम वस्तुओं और ले करता है, (समस्तु ज्योतिः कतारं) संभारमें दर्शाते करता है, और (युषा ममित्रान् सासदानं) बुद्धि शत्रुओंको पराभूत करता है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१६।१०)

(सः पुरुहूतः) वह अनेकों द्वारा प्राथित हुआ (पमिः पारयाति) उपस्थित इन्द्र (नावा) नाममें (नः स्वस्ति) हमें कल्याणके लिये पार ले आता है, (विदवा च) जो वाणी-काण्ड, शत्रुओंको दूर करता है ॥ २ ॥

(ऋ. ८।१६।११)

३ इन्द्र । (सः त्वं) वह तू (नः) हमें (वाजेभिः च गातुया च) भोजने और यज्ञके (दशस्य) परिपूर्ण कर (नः अच्छ सुमं नेपि) और हमें आनन्दको और ले जा ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१६।१३)

१ वस्यो अच्छ प्रणेतारं— इन्द्र उत्तमवस्तु और पुरुषात्मा है,

२ समस्तु ज्योतिः कतारं— बुद्धिमें उपोति बढाकर विषयका मार्ग दर्शाता है ।

३ युषा ममित्रान् सासदानं— बुद्धि शत्रुओंको पराभूत करता है ।

४ स पुरुहूतः— वह इन्द्र अनेकोंके द्वारा, प्रथि होता है ।

५ पमिः इन्द्रः— वह सच्चा पालक है ।

६ नावा नः स्वस्ति पारयाति— नौकासे हमें कल्याणके लिये पार ले जा ।

७ विदवा द्विपः अति— सच शत्रुओंको दूर कर ।

८ सः त्वं वाजेभिः गातुया च दशस्य— वह दश भोजने तथा यज्ञसे हमें परिपूर्ण कर ।

९ नः अद्य सुमं नेपि— हमें आज आनन्दको और ले जा ।

(सूक्त ४७)

(महे वृषाय हन्तवे) बड़े वृषके मारनेके लिये इन्द्रं वाजयामसि) उत्तम इन्द्रको हथ बढाते हैं, (स वृषा वृषभः सुवत्) वह शक्तिशाली वौर होते ॥ १ ॥

(ऋ. ८।१६।१०)

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः । धुम्नी श्लोकी ऽ सोम्यः ॥ २ ॥
 गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः । ववक्ष ऋषो अस्तृतः ॥ ३ ॥
 इन्द्रमिद्राथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणीरनूपत ॥ ४ ॥
 इन्द्र इद्रयोः सचा संमिष्ठ आ वचोयुजा । इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥
 इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्य रोहयाद्वि । वि गोभिरिद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥
 आ याहि सुपुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं बर्हिः संदो मर्म ॥ ७ ॥
 आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केगिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ ८ ॥
 ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥ ९ ॥
 युजान्ति ब्रह्मरुपं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते गेचना द्विवि ॥ १० ॥
 युजन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा स्ये । शोणां घृष्णू नृवाहसा ॥ ११ ॥
 केतुं कुण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुपस्त्रिंरजापथाः ॥ १२ ॥
 उदुत्यं जातनेदसं देवं वंहन्ति केतवः । दृशे विश्वायं सूर्यम् ॥ १३ ॥
 अप त्पे तावयो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः । स्राय विश्वचक्षसे ॥ १४ ॥
 अदृशन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अतु । ब्राजन्तो अग्रयो यथा ॥ १५ ॥
 तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचन ॥ १६ ॥
 प्रत्यह् दुवानां विशः प्रत्यह् दुदेपि मानुपीः । प्रत्यह् विश्वं स्वर्द्विद्ये ॥ १७ ॥

(इन्द्रः स दामने कृतः) वह इन्द्र दानके लिये हो प्रसिद्ध है (ओजिष्ठः स मदे हितः) वह बलवान् और आनन्दमें रहता है । (धुम्नी श्लोकी स सोम्यः) वह तेजस्वी, यशस्वी और सोमके योग्य है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१३।८)

(गिरा वज्रः संभृतः न) रज्जुतिविवज्र जैसा वह तैयार हुआ है, (स-बलः अनपच्युतः) वह बड़े बलवान् और न गिरनेवाला है, (ऋषवः अस्तृतः ववक्षे) वह बडा, न जीता हुआ और ऊंचा है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१३।९)

४-६ देखो २०।३।८।४-६ । ७-९ देखो २०।३।८।१-३ । १०-१२ देखो २०।३।६।४-६ ।

(केतवः स्यं जातवेष्टसं देवं सूर्यं) किरण उध बने हुए जगत्को जाननेवाले सूर्य देवकी (विश्वाय दृश) समस्त घंघाके देखनेके लिये (अतु उ वहन्ति) उध स्थानमें प्रकाशित करते हैं ॥ १३ ॥

(ऋ. १।५०।१; यजु. ७।४१; अथर्व. १३।२।१६)

(यथा त्पे तावयः) जैसे वे चौर (नक्षत्रा अक्षतुभिः अप यन्ति) वे नक्षत्र रात्रिके साथ भाग जाते हैं और (विश्वचक्षसे स्राय) विश्वको प्रकाशित करनेवाले सूर्यके लिये स्थान करते हैं ॥ १४ ॥

(ऋ. १।५०।२; अथर्व. १३।२।१७)

(यथा ब्राजन्तः अग्रयः) जैसे चमकनेवाले अग्नि होते हैं (अस्य केतवः रश्मयः) इसके ध्वज रूपी किरण (जनाय अतु वि अदृशन्) लोगोंके प्रति जाते हैं ऐसा दीखता है ॥ १५ ॥

(ऋ. १।५०।३; यजु. ८।४०; अथर्व. १३।२।१८)

हे (रोचन सूर्यं) हे प्रकाशक सूर्य । तू (तराणिः विश्वदर्शतः) तारक और विश्वको दर्शानेवाला है तथा (ज्योतिष्कृत असि) प्रकाश करनेवाला है । (विश्वं आभासि) तू जगत्को प्रकाशित करता है ॥ १६ ॥

(ऋ. १।५०।४)

(देवानां विशः प्रत्यह्) देवोंको प्रजाओंके प्रति और (मानुपीः प्रत्यह् उदेपि) मानवी प्रजाओंके प्रति तू उदित

येनां पावक चक्षसा भुरप्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥ १८ ॥
 वि धामेपि रजस्पृष्वहर्मिमानो अक्तुभिः । पश्यं जन्मानि सूर्य ॥ १९ ॥
 सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य । शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २० ॥
 अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूर्यो रथस्य नप्स्युः । तारिभिर्पाति स्वयुक्तिभिः ॥ २१ ॥ (३०६)

[सूक्त ४८]

(ऋषिः — (१-६) रिलम्, ४-६ सर्पराक्षा । देवता — सूर्यः गोः ।)

अभि त्वा वर्षसा गिरः सिञ्चन्तीराचरुण्यवः । अभि वृत्सं न घेनवः ॥ १ ॥
 ता अर्पन्ति शुभ्रियः पञ्चन्तीर्वर्षसा प्रियः । जातं जात्रीर्यथा हृदा ॥ २ ॥
 वज्रावपसाध्यः कीर्तिं प्रियमाणमावहन् । मह्यमायुर्धृतं पयः ॥ ३ ॥
 आयं गौः पुश्चिःकमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्तस्वुः ॥ ४ ॥
 अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादंपानतः । व्यंरुयन्महिपः स्वुः ॥ ५ ॥

होता है तथा (स्वः विशेषे विश्वं प्रत्यङ्) प्रकाशके दर्शनके लिये सब विश्वके प्रति दृ जाता है ॥ १७ ॥ (ऋ. १।५०।१८)

हे (पावक वरुण) पवित्र करनेवाले अष्ट देव । (येन चक्षसा) त्रिष आद्ये (त्वं जनान् भुरप्यन्तं अनु पश्यसि) तू मनुष्योंमें भरण-पौषण करनेवाले मनुष्यको देखता है उससे मुझे देख ॥ १८ ॥ (ऋ. १।५०।१६)

सूर्य । (अप्तुभिः अष्ट मिमानः) राजिषाद्ये दिनको मापता हुआ (पृथु रजः यां पपि) विस्तृत अन्तरिक्ष लोहको और युलेकको प्राप्त होता है और (जन्मानि पश्यन्) सब जन्म लेनेवालोंको देखता है ॥ १९ ॥

(ऋ. १।५०।२०)

हे सूर्य देव । (सप्त हरित) सप्त विरण (शोचिष्केशो विचक्षणं त्वा) शुद्ध करनेवाले विरण तथा दर्शक ऐसे तृणको (रथे वहन्ति) रथमें चलाते हैं ॥ २० ॥

(ऋ. १।५०।१८)

(सूर्य रथस्य) ज्ञानमय रथको (नप्यः सप्त शुन्ध्युवः अयुक्त) सात शुद्ध करनेवाले विरण जोड़े ह । (तारिभिः स्वयुक्तिभिः पाति) उनमें अपनी योजनाओंमें बद्ध जाता है ॥ २१ ॥ (ऋ. १।५०।१९)

इस सूक्तमें १-१२ मंत्र इन्द्र देवताके हैं और १३-२१ तृकके मंत्र सूर्य देवताके हैं ।

(सूक्त ४८)

(आचरुण्यवः) वारंवार प्रवृत्त होनेवालों (गिरः) हमारी स्तुतिशा (वर्षसा त्वा सिञ्चन्तीः) तेजसा तेरे पाद सिंचन करता है (वृत्सं घेनवः अभि न) बछड़ेके पाद जैसे गौंके वारंवार आती है ॥ १ ॥

(जातं जात्री यथा हृदा) उत्पन्न हुए बच्चको जैसे माताएँ हृदयके माध मिलाती हैं, उस तरह हमारी स्तुतिशा (वर्षसा पृञ्चन्तीः) तेजसे संयुक्त होती है (प्रियः शुभ्रियः ताः अर्पन्ति) और प्रिय शुभ्र सच्छ मावको प्रकट करता है ॥ २ ॥

(वज्रावपसाध्यः) शक, अस्वास्थ्यरोग आदि (कीर्तिः) तथा कीर्ति (प्रियमाणं आवहन्) मरनेवालेके पास जाते हैं । (मह्यं आयुः धृतं पयः) मुझे दीर्घ आयु, धौ और दूध मिले ॥ ३ ॥

(आयं गौः) यह गतिशांज चन्द्रमा (मातरं पुनः असदत्) अपनी माता भूमिको आगे करता है (पितरं च प्रयन्) और अपने पिता रुपां स्वयं प्रकाशी सूर्यको चारों ओर घूमता हुआ (पुश्चिः आक्रमीत्) आकाशमें भ्रमण करता है ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।१८।१।१)

(अस्य रोचना) इसकी ज्योती (प्राणात् अपानतः) प्राण और अपान करनेवालोंके (अन्तः चरति) अन्दर

त्रिंशद्दामा वि राजति वाक्पत्तङ्गो अंशिश्चिपत् । प्रति वस्तोरहृद्यभिः ॥ ६ ॥ (३१२)

[सूक्त ४९]

(ऋषिः — १-७ खिलम् । ४-१ तोघाः, ३-७ मेध्यानासिः ।)

यच्छक्रा वाचमारुहन्न्तरिक्षं सिपासथः । सं देवा अमदुन्वृषा ॥ १ ॥
 शक्रो वाचमधृष्टायोरुवाचो अधृष्णुहि । महिष्ठ आ मंदुर्दिर्वि ॥ २ ॥
 शक्रो वाचमधृष्णुहि धामधर्मन्विराजति । विमदन्वर्हिरासरन् ॥ ३ ॥
 तं वो दुस्ममृतीपहं वसोर्मन्दानमन्धसः ।
 अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनुव-इन्द्रं गोभिर्निवामहे ॥ ४ ॥
 द्यूक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
 क्षुमन्तं वाजं शतिर्न सहस्रिणां मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ५ ॥
 तत्त्वां यामि सुवीर्यं तद्गहं पूर्वचिचये
 येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥ ६ ॥
 येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णिं ते श्रवः ।
 सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरंतुचक्रुदे ॥ ७ ॥ (३१९)

संचार करती है और वह (महिषः स्वः वि अद्यपत्) बड़े स्वयं प्रकाशी सूर्यको ही प्रकाशित करती है ॥ ५ ॥

(सूक्त ४९)

(वस्तोः त्रिंशत् घाम) अहोरात्रके तीस घाम अर्थात् सुहृत् (अहः द्युभिः प्रति वि राजति) निधयसे इसके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं । उसकी प्रशंसाके लिये (वाक् पतङ्गः अशिश्चिपत्) हमारी वाणी सूर्यका आशय करती है ॥ ६ ॥

(यत् शक्रा वाचं आरुहन्) जब शक्तिसे वाणीपर आरोहण किया (अन्तरिक्षं सिपासथः) अन्तरिक्षको जीतना चाहा, तब (वृषा देवाः सं अमदन्) बलवान् देवोंने आनन्द मनाया ॥ १ ॥

(शक्रः वाचं अधृष्टाय) शक्तिवालेने वाणीको धरने-वालो बनाया, (उरुवाचः अधृष्णुहि) बड़ी वाणीको प्रबल बनाया । (महिष्ठः दिवि आ मद्) बड़ेने शुलाभमें हर्ष बनाया ॥ २ ॥

चन्द्र भूमिके चारों ओर अगम करता है और भूमि सहित चन्द्र सूर्यको चारों ओर घूमता है । इस प्रकार भूमि सहित चन्द्र सूर्यको प्रदक्षिणा करता है और अपने मार्गसे आकाशमें संचार करता है ।

(शक्रो वाचं अधृष्णुहि) शक्तिवालेने वाणीको प्रबल बनाया (धामधर्मन् विराजति) प्रति स्वानपर वह शासन करता है । (विमदन् वर्हिः आसदन्) आनन्द मनाता हुआ वह आसनपर बैठा है ॥ ३ ॥

इसके कारण सब स्थावर जंगमके ऊपर प्रकाशित होते हैं और वे सूर्य प्रकाशके महद्वजको व्यक्त करते हैं ।

४-७ देखो (२-१९, १९-४)

अहोरात्रके तीस सुहृत्तमि इसीका प्रकाश स्वयं लेखी बनाता है । इसलिये इस सूर्यकी प्रशंसा हमारों वाणीको करनी योग्य है ।

१ शक्रा वाचं आरुहन्— शक्तिमें वाणीपर बड़ी । वाणीमें शक्ति रहनी चाहिये । मानसिक शक्ति वाणीपर चउ गयी तो वाणीमें बड़ा सामर्थ्य उत्पन्न होता है ।

[सूक्त ५०]

(ऋषिः — १-२ मेघपातियिः । देवता — इन्द्रः ।)

कञ्ज्यो अतसीनां तुरो गृणीत मर्यः ।

नही न्वस्य महिमानमिन्द्रिपं स्वर्गिणन्तं आनुशुः

॥ १ ॥

कदुं स्तुवन्तं ऋतयन्त देवत ऋपिः को विप्रं ओहते ।

कदा हवं मघवन्नन्द्र सुन्वतः कदुं स्तुवत ॥ गंमः

॥ २ ॥ (३११)

[सूक्त ५१]

(ऋषिः — १-२ प्रस्कण्वः ३-४ पुष्टियुः । देवता — इन्द्रः ।)

अभि प्र वंः सुरार्धसुमिन्द्रमर्चं यथा विदे ।

यो जरितृभ्यो मघवां पुरूवसुः सहस्रेणैव शिषति

॥ १ ॥

२ अन्तरिक्षं सियासथः— अन्तरिक्षको अतनेकी शक्ति वाणीमें रहती है ।

३ वृषा देवा सं अमदन्— बलवान् देव इससे हर्ष रते हैं । किसीकी वाणीमें शक्ति उत्पन्न हुई तो देवता उससे प्रीति होते हैं और वे उसको उहायता करती हैं । उसकी वाणीमें शक्ति उत्पन्न होती है ।

४ शक्रः घाचं अधृष्टाय— सामर्थ्यवान् अपनी वाणीको शक्तिशाली बनाता है ।

५ उरुवाचः अधृष्टायुहि— वाणीको अपनी शक्ति है उसको जो बढाता है वह शक्तिशाली होता है ।

६ महिष्ठः दिवि आमदः— शक्तिशाली गुणोत्कर्म हर्षको बढाता है । अपनी सामर्थ्यशाली वाणीसे गुणोत्कर्म भी हर्ष बढाता है ।

७ शक्रः घाचं अधृष्टायुहि— सामर्थ्यवान्ने अपनी वाणीको बलवती बनाया ।

८ धामधर्मन् विराजती— उससे स्थान स्थानपर वह अपना शासन चलाता है ।

९ विमदन् बर्हिः आसदन्— आनंदित होकर वह आसनपर बैठता है, श्रेष्ठ स्थानपर विराजता है ।

(सूक्त ५०)

(तुरः मर्यः) त्वरासे कार्य करनेवाला मनुष्य (नव्यः) नवीन गाँत (कं अतसीनां गृणीत) किछ बेगसे प्रेरित

होते हुए गायेगा ! (अस्य महिमानं इन्द्रियं गृणन्तः) इसकी महिमा और शक्तिका गान करते हुए बौन (स्वः नही आनुशुः) स्वर्गघाम नहीं पाता ? ॥ १ ॥ (ऋ. ८।३।१३)

त्वरासे कार्य करनेवाला मनुष्य अपनी बुद्धिमत्ति नवीन गाँत गाता है और उस प्रभुकी महिमाका गान करके वह मनुष्य स्वर्गघामको प्राप्त करता है । सुख प्राप्त करता है । नवीनका गान करनेसे मनुष्य सुखी होता है ।

(कदु उ स्तुवन्तः) सब स्तुति करनेवाले (ऋतयन्तः) ऋतकी उपासना करनेवाले (देवता ऋपिः) देवता और ऋषि (कः विप्रः ओहते) बौन विशेष जानी करके तुम्हें सुनते हैं ? हे इन्द्र ! हे (मघधन्) धनवान् ! (कदा सुन्वतः हवं) क्या सोमरस निछोढ़नेवालेकी प्रार्थना सुनकर (कदु उ स्तुवतः आगमः) कब तुम स्तुति करनेवालेके पास जाते हैं ? (ऋ. ८।३।१४)

(सूक्त ५१)

(घः) इन्द्रके हितके लिये (सुरार्धसं इन्द्रं) सब दानी इन्द्रका (यथा विदे) जैसा मादम है उस तरह (अभि प्र वंः) स्तोत्र गाओ । (यः पुरुवसुः मघवा) जो बहुत धनवाला इन्द्र (जरितृभ्यः सहस्रेणैव शिषति) स्तोत्राओंको सहस्र गुणा देता है ॥ १ ॥

(ऋ. ८।४।११)

शतानीकिव प्र जिगाति घृष्णुया हन्ति वृत्राणि द्राशुषे ।

गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥ २ ॥

प्र सु श्रुतं सुरार्धसमर्चां शुक्रमभिष्टये ।

यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसुं सहस्रेणैव मंहते ॥ ३ ॥

शतानीका हेतयो अस्य दुष्टरा इन्द्रस्य समिपो महीः ।

गिरिर्न भुज्जमा मघवत्सु पिन्वते यदा सुता अमन्दिपुः ॥ ४ ॥ (३१५)

[शुक्र ५२]

(श्रुतिः — १-३ मेघ्यातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

वयं यं त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तवाहिपः ।

पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्पारिं स्तोतारं आसते ॥ १ ॥

(शतानीक इव) सैंकडों सैनिक त्रिकके साथ हैं ऐसे वीरके समान (घृष्णुया प्र जिगाति) धैर्यसे वह आगे बढ़ता है और (द्राशुषे वृत्राणि हन्ति) दाताके लिये शत्रुओंको मारता है । (गिरिः रसा इव) पर्वतसे जल आता है उस तरह (अस्य पुरुभोजसः दत्राणि प्र पिन्विरे) इस बहुत भोग देनेवाले इन्द्रके दान फैलते हैं ॥ २ ॥

(श्रु. ८।४।१२)

(श्रुतं सुरार्धसं शक्रं) प्रासिद्ध दानों इन्द्रको (अभिष्टये) त्रिकके लिये (प्र सु अर्च) अर्चना उत्तम प्रकार कर । (यः) जो (सुन्वते स्तुवते) सोमरस निकालनेवाले और स्तुति करनेवालेको (काम्यं वसु) इष्ट धन (सहस्रेण इव मंहते) सहस्र गुना देता है ॥ ३ ॥ (श्रु. ८।५।११)

(अस्य इन्द्रस्य) इस इन्द्रको (महीः दुष्टराः) बगीचा दुस्तर (समिपः) इच्छाएं तथा (शतानीका हेतयः) सैंकडों नोकवाले इष्टके शत्रु हैं । (यत् ई सुताः अमन्दिपुः) जब इस इन्द्रको सोमरस आनन्द देते हैं तब (गिरिः न) पर्वतके समान वह (मघवत्सु भुज्जमा पिन्वते) दानियोंको भोग देता है ॥ ४ ॥ (श्रु. ८।५।१२)

१ सुरार्धसं इन्द्र यथा विदे अभि प्र अर्च — उत्तम दान देनेवाले इन्द्रको बेसी आती है वैसी स्तुति गाओ । उसका गुणवर्णन करो ।

२ पुरुवसुः मघवा जरित्मुयः सहस्रेण इयः शिक्षति — बहुत धनवाला इन्द्र है वह स्तोताओंको सहस्र प्रकारके अन्न देता है । अतः उसको स्तुति करना लाभदायक है ।

३ शतानीक इव घृष्णुया प्र जिगाति — सैंकडों सैनिकोंको अपने साथ रखनेवाला वीर जैसा धैर्यसे शत्रुसैन्यमें घुसता है वैसा वह इन्द्र युद्धमें घुसता है ।

४ द्राशुषे वृत्राणि हन्ति — दाताकी रक्षा करनेके लिये शत्रुको मारता है, और दाताकी रक्षा करता है ।

५ गिरिः रसा इव अस्य पुरुभोजसः दत्राणि प्र पिन्विरे — पर्वतसे जैसा जल मिलता है, उस तरह इस बहुत भोग देनेवाले इन्द्रसे प्राप्त होनेवाले दान चारों ओर फैल रहे हैं ।

६ श्रुतं सुरार्धसं शक्रं अभिष्टये प्र सु अर्च — सुप्रासिद्ध उत्तम दान देनेवाले इन्द्रको अपने कल्याणके लिये उत्तम अर्चना कर ।

७ यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेण इव मंहते — जो इन्द्र सोमरस निकालनेवाले स्तोताके लिये इष्ट धन सहस्र प्रकारसे देकर उसको बड़ा मशान बनाता है ।

८ अस्य इन्द्रस्य मही दुष्टरा समिपः शतानीका हेतयः — इस इन्द्रके बड़े दुस्तर मनोभाव है और सैंकडों सैनिकोंके साथ रहनेवाले शत्रु भी इसके साथ हैं ।

९ यत् ई सुता अमन्दिपुः गिरिः न मघवत्सु भुज्जमा पिन्वते — जब इस इन्द्रको सोमरस आनन्दित करते हैं, तब वह पहाड़के समान शत्रुओंके अनेक भोग देता है । पर्वत जैसे फल, मूल, फूल देता है वैसा यह इन्द्र भी नाना भोग देता है ।

(शुक्र ५२)

(ययं सुतावन्तः वृक्तवाहिपः) हम सोमरस लिये, आसन बिछाए (स्तोतारः) तेरे स्तोतागण (पवित्रस्य

स्वरन्ति त्वा सुते नगे वमा निरंक उक्थिनः ।

कदा सत तृपाण ओरु या गम इन्द्रं मृच्छदीव वंसंगः ॥ २ ॥

ऋषेभिर्गुणारा धृपटान दधि महभिर्णम् ।

पिशङ्गरूप मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहं ॥ ३ ॥ (१०८)

[सूक्त ५३]

(ऋषय - १ मघवातिथि । देवता - इन्द्र ।)

क ई वेद सुते सचा पिर्नन्त वद्धयो दधे ।

अयं यः पुरो विभिनन्योजसा मन्दानः शिष्टपन्धसः ॥ १ ॥

दाना मृगा न वारणः पुत्रा चरथ दधे ।

नकिंष्ट्रा नि यमदा सुते गमा महाथेगस्योजसा ॥ २ ॥

य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय सन्कृतः ।

यदि स्तोतुर्मघवां शृणुवद्धवं नेन्द्रो योपत्या गमत् ॥ ३ ॥ (१११)

मघवणेपु) पवित्र अत्रधाराए जहा चलता हैं वहा द
नग्रहन्) उग्रका मारनेवाल । (आप न) जलोके मगान
या घ परि आसते) तर चारा आर बैठत हैं ॥ १ ॥

(ऋ ८।३।११)

हे (वसो) निवासक ! (उक्थिन एके नर) शीघ्र
ठ करनेवाले कई मनुष्य (सुते) सोमरथ निकालने पर
त्वा नि स्वरन्ति) तुझे प्रेमसे बुलाते हैं । हे इन्द्र !
कदा सुत तृपाण) कब सोमरथकी ओर प्यासा होकर
खन्दी वसग. इव) सु दर शब्द करनेवाले बैलका तरह
ओरुः आगम) धरम वृषा आगया ॥ २ ॥ (ऋ ८।३।१०)

हे (धृष्णो धृपत्) वीरोंके साथ वार ! (ऋषेभि
सहस्रिण वाज आ दधि) कृष्णाक द्वारा प्राथत होनपर
सहस्र गुणा अक्ष रा दना है । हे (विचर्षणे मघवन्)
गानी शाकमान इन्द्र ! हम (पिशङ्गरूप गोमन्त) पील
गमल सोनके समत गौओंके युक्त धन (मक्षू ईमहे)
त प्र मल एषा चाहते हैं ॥ ३ ॥

१ धृष्णो धृपत् — वारके साथ वीर इन्द्र ।

२ विचर्षण मघवन् — श्राद्धमान धनवान् इन्द्र ।

३ पिशङ्गरूप गोमन्त मक्षू ईमहे — घोना और
बैले इन शीघ्र मिल एषा चाहते हैं । ' पिशङ्गरूप ' — पीले
गवाला सुवर्ण हँसे चाँदिये । गौबे भी चाँहिये ।

(सूक्त ५३)

(सुन सचा पियन्त हैं क वेद) सोमरथ साथ बैठकर
पानवाउधों कौन ठाक तरह जानता है ? (कद् चय दधे)
लगन किछ शकिके धारण किया है ? (अय यः ओजसा
पुर विभिनन्ति) यह जो बलसे शत्रुके नगरोंके दिलोंको
जता है वह (शिमी अन्धसः मन्दान) हनुशला सोम
रथम जानग्दित होनेवाला है ॥ १ ॥ (ऋ ८।३।१०)

(वारण. मृगा न) मत्त हाथीका तरह (दाना)
गमत् होनेके कारण (पुत्रा चरथ दधे) इधर उधर
भ्रमग करता है । (सुते वा गमा) सोमरथके स्थानपर वृ
आ गमा तो (त्वान कि आ नि यमत्) तुझे कोई रोक
नहीं रहता । (महान् ओजसा चरसि) बढा होकर
पत्रसे वृ धूमता है ॥ २ ॥ (ऋ ८।३।१०)

(य उग्रः सन्) जो उग्रवीर है, (अनिष्टृतः) और
स्थानम पाछ हथिया नहीं जा सकता, (स्थिरोः रणाय
सकृत्त) स्थिर रहकर समामेके त्रिये तैयार है । (मघवा)
धनवान् इन्द्र (यदि स्तोतु ह्य शृणुवत्) यदि वह
स्तोताका प्रार्थना सुनता है (इन्द्र न योपति) तो इन्द्र
दूर नहीं रहेगा (वा गमत्) पान आयिगा ही ॥ ३ ॥

(ऋ ८।३।११)

[सूक्त ५४]

(ऋषिः — १-३ रेमः । देवता — इन्द्रः ।)

विश्वाः पृतना अभिभूतं नरं सजुस्तं वक्षुरिन्द्रं जजुनुष्यं राजसे ।

क्रत्वा वरिष्ठं वरं आसुरिभुतो ग्रमोजिष्ठं तवसं तस्विनम् ॥ १ ॥

समीं रेमासो अस्वरिन्द्रं सोमस्य पीतये ।

स्वर्पित्ति यदो वृधे धृतव्रतो होजसा समतिभिः ॥ २ ॥

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेपं विप्रां अभिस्वरा ।

सुदीतयो वो अद्रुहोपि कर्णे तस्विनः समृकभिः ॥ ३ ॥ (३३४)

१ कद्रु वयः द्रुधे— वह इन्द्र किस तरहका मामर्थ्य धारण करता है, यह (कः द्रुधे) कौन जानता है। उनके सामर्थ्यको कोई नहीं जानता ।

२ अयं ओजसा पुरः विभिन्नत्ति— यह इन्द्र अपने सामर्थ्यसे शत्रुको नगरियोंको तोड़ता है, उनपर अपना प्रभुत्व स्थापन करता है। पहिले शत्रुको नगरियां थीं, शत्रुका पराभव करके उनके किले इमने तोड़े ।

३ वारणः न पुरुषा चरथं द्रुधे— हाथीके समान बड़ इन्द्र वारों और घूमता है ।

४ त्वा न किः आ नि यमत्— तुम कोई रोक नहीं मर्हता ।

५ महान् ओजसा चरसि— तू बड़ा शक्तिसे विचरता है। वारोंकी ऐसी शक्ति चाहिये। जिसे कोई संस रोक न सके ।

६ यः उग्रः सन् अतिपूतः— जो वीर है और उसे कोई रोक नहीं सकता ।

७ स्थिरः रणाय संस्कृतः— बड़ वीर युद्धमें स्थिर रहकर युद्ध करनेमें संस्कार संपन्न है। फुलानासे युद्ध करता है ।

८ मघवा इन्द्रः स्तोतुः ह्यं शृणवन् न योपति, मा गमत्— इन्द्र घनवान् है, जब वह किसीकी पुकार सुनता है वह ठहरता नहीं, तत्काल उसके पास पहुंचता है । वरं ऐसे होने चाहिये ।

(सूक्त ५४)

(विश्वाः पृतनाः अभिभूतं नरं) सब शत्रुको घेना-ओंघ पराभव करनेवाले नेता (इन्द्रं सजुः ततश्चुः) इन्द्रको देवोंने मिलकर उत्पन्न किया और (राजसे जजनुः च) राज्यशासन करनेके लिये लगाया । (वरि क्रत्वा वरिष्ठं) श्रेष्ठ कार्योंमें कर्तृत्वसे श्रेष्ठ, (आसुरि) युद्धमें

१० (अथर्व. माध्य. ब्राह्म २०)

शत्रुको मारनेवाले (उन उग्रं) उग्रवीर (ओजिष्ठं तवसं तस्विनं) बलवान्, सामर्थ्यवान् और साहससे युक्त ऐसा यह इन्द्र है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१७।१०)

(ईं स्वर्पति इन्द्रं) इस स्वर्गके पति इन्द्रकी (सोमस्य पीतये) सोमसे पीनेके लिये (रेमासः सं अस्वरत्) स्तोताओंने मिलकर स्तुति की । (यत् धृतव्रतः ओजसा ऊतिभिः सं वृधे) तब निमग्नोके अनुदार चलनेवाला बलसे और संरक्षक साधनोंने आगे बढ़ा ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१७।११)

(अभिस्वरा विप्राः) एक स्वर्गके ब्राह्मण लेग (चक्षसा) अपनी दृष्टिसे (मेपं नेमि नमन्ति) शत्रु वीरको अपना संरक्षक बनाते हैं । (सुदीतयः अद्रुहः) दोगिलेवाले श्रेष्ठरहित (तस्विनः समृकभिः) बलवान् स्तोताओंके साथ (वः कर्णे) आपके कानमें सुनाते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१७।१२)

वीर इन्द्र इन गुणोंसे युक्त है—

१ विश्वाः पृतनाः अभिभूतं नरं इन्द्रं सजुः ततश्चुः— सब शत्रुसेनाओंका पराभव करनेवाले नेता इन्द्रकी सब देवोंने मिलकर एकमतसे अपना अध्यापना बना दिया ।

२ राजसे जजनुः— राज्यशासन करनेके लिये निर्माण किया । सुनाव करके सबने एकमतसे पसंद किया ।

३ क्रत्वा वरं वरिष्ठं आसुरि उग्रं ओजिष्ठं तवसं तस्विनं ततश्चुः— पुरुषार्थसे श्रेष्ठ कार्य करनेवालोंमें वीर, शत्रुका वध करनेवाले, उग्रवीर, सामर्थ्यवान्, बलवान्, श्रेष्ठतासे कार्य करनेवाले ऐसे वीर इन्द्रको सब देवोंने अपना राज्यशासन करनेके लिये चुनकर रखा ।

४ धृतव्रतः ओजसा समृतिभिः ईं स्वर्पति वृधे-निमग्नोके अनुदार चलनेवाले, ओजस्वी, संरक्षकके साधनोंसे

[सूक्त ५५]

(ऋषि — १-३ रेमः । देवता — इन्द्र ।)

तमिन्द्रं जोहवीमि मघर्षानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कृतं शर्वांसि ।

मंहिद्यो गीमिरा च यज्ञियो ववर्षेद्रापे नो विश्वा सुपथा कृणोतु वृजो ॥ १ ॥

या इन्द्र भुज आमरः स्वर्वा अस्तुरभ्यः ।

स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्षय ये च त्वे वृक्तर्षाँरिषः ॥ २ ॥

यमिन्द्र दाधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम् ।

यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन्तं धेहि मा पृणौ ॥ ३ ॥ (१३७)

सुप्त ऐसे स्वर्गके राक्षसके शासनर अननी इदि हा इस इन्द्रके देवोंने एकमठके इन्द्रको निपुक्त किया ।

५ अमिस्वरा विमा चक्षसा मेप नेमि नमन्ति— एक स्वर्गके ज्ञानी लोग अननी दृष्टिसे देव्य भेताको रक्षक निपुक्त करते हैं ।

४ सुदीतय मद्रुहः तरस्विनः समृकमिः वः कर्षे— उत्तम तेजस्वी, आपसमें मोह न करनेवाले वेगवान् देव ऋषाभांस आपके काममें करते हैं कि यह इन्द्र धेष्ट है ।

(सूक्त ५५)

(त मघवान) उस घनवान् (उग्र सत्रा शर्वांसि दधान) उग्रवीर सदा बलोंके धारण करनेवाले (अप्रतिष्कृत) पंछे न इष्टनेवाले (इन्द्र जोहवीमि) इन्द्रको मैं बार बार हुलाता हूँ । (महिद्यः) वह महान् (यज्ञियः) पूजनीय इन्द्र (नः राये) हमें सगति देनेके लिये (गीमिः आ ववर्षेत्) स्तुतियोंके हमारी ओर आ जाय । वह वृजो वज्रपात (नः विश्वा सुपथा कृणोतु) हमारे सब मार्ग उत्तम बनावे ॥ १ ॥

(ऋ ८।१७।१३)

हे (स्वर्वान् इन्द्र) तेजस्वी इन्द्र ! (या भुजः अस्तुरभ्यः आमरः) जो भोग तुने अस्तुरोंके लिये है, हे (मघवन्) घनवान् इन्द्र ! (स्तोतार अस्य वर्षय) स्तोत्रपठ करनेवालेके लिये इन भोगोंका वर्षन करी तू (ये च त्वे वृक्तर्षाँरिषः) जो तेरे लिये अन्न देते हैं ॥ २ ॥

(ऋ ८।१७।१)

हे इन्द्र ! (य त्व) जिसके लिये तू (अश्व गां अव्ययं भाग दाधिषे) घोडा, गौ तथा अव्यय भाग धारण करता है (तस्मिन् दक्षिणावति सुन्वति यजमाने) दक्षिणा

दनेवाले, अमरस निकालनेवाले यजमानमें (त धेहि) दन्वो द दे । (मा पृणौ) पन्थ स्पन्दहार करनेवालेको न दे ॥ ३ ॥

(ऋ ८।१७।१२)

१ तं उग्र शर्वांसि सत्रा दधान अप्रतिष्कृतं इन्द्र जोहवीमि— उस उग्रवीर, सब बलोंके साथ साथ धारण करनेवाले, पंछे न इष्टनेवाले इन्द्रको बारंबार मैं हुलाता हूँ । उद्रको मैं बारंबार स्तुति करता हूँ ।

५ महिद्यः यज्ञियः नः राये गीमि आ ववर्षेत्— महान् पूजनीय वह इन्द्र हमें सग देनेके लिये हमारी स्तुतियोंके हमारी ओर आ जाय ।

३ वृजो नः विश्वा सुपथा कृणोतु— वह वज्रपात इन्द्र हमारे रक्षकके सब मार्ग उत्तम निष्कृत हमारे लिये सुधकर बनावे ।

४ स्वर्वान् इन्द्र ! या भुजः अस्तुरभ्यः आमर— हे तेजस्वी इन्द्र ! जो भोग तुने अस्तुरोंके लिये है । स्तोतार अस्य वर्षय— स्तुति करनेवालोंके वे भोग अधिक प्रदानमें मिले एसा कर ।

५ ये च त्वे वृक्तर्षाँरिषः— जो तेरे लिये अन्न देते हैं उनको भी वे भोग अधिक प्रदानमें मिलें ।

रामसंज्ञक परामव करके उनको इन्द्र लुटे और जो भोग मिले वे भोग अपने अनुयायियोंको देवे ।

६ य त्वं अव्यय भाग गां अश्वं दाधिषे तं यजमाने धेहि, मा पृणौ— जिस भागको, गौ, अश्व आदिसे तू धारण करता है वह भाग दक्षिणाके ही दे दो । कर्षण न हो । दान देनेवालेको ही, दान न देनेवालेको, अन्न दान करनेवालेको ही न दे ।

[सूक्त ५६]

(ऋषिः — १-६ गोतमः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रो मदाय वावृधे शर्वसे वृत्रहा नृभिः ।	
तमिन्महत्स्वाजिपुतेमर्भं हवामहे स वार्जेपु प्र नोऽविपत्	॥ १ ॥
असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि पराद्रादिः ।	
असि दुभ्रस्यं चिद्वधो यजमानाय शिषसि सुन्वते भूरि ते वसु	॥ २ ॥
यदुदीरित आजयो घृष्णवै धीयते घना ।	
पुक्त्वा मंदुच्युता हरी कं हनुः कं वसो दघोऽसाँ इन्द्र वसो दधः	॥ ३ ॥
मर्दमदे हि नो द्वादिर्यथा गवामृजुकर्तुः ।	
सं गृभाय पुरु शतोर्भयाहस्त्या वसुं शिशोहि राय आ मर	॥ ४ ॥
मादयस्व सुते सचा शर्वसे शूर राषसे ।	
विवा हि त्वां पुरुवसुमुप कामान्त्ससृजमहेऽथा नोऽविता भव	॥ ५ ॥
एते तं इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यान्ति वार्यम् ।	
अन्तर्हि रूपो जनानामुर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेदु आ मर	॥ ६ ॥ (३४३)

(सूक्त ५६)

(नृभिः) मनुष्योंने (वृत्रहा इन्द्रः) इत्रको मारनेवाले इत्रको (शर्वसे मदाय वावृधे) बल और आनन्दके लिये बसाया है । (तं इत् महत्सु स्वाजिपु) उषको हम बड़े दुखोंमें (उत ई अर्भे) और उषे छोटे दुखोंमें (हवामहे) बुलाते हैं, (सः वाजेपु नः प्र नोऽविपत्) वह युद्धोंमें हमारा रक्षा करता है ॥ १ ॥

(ऋ. १।८।११)

हे वीर ! तू (सेन्यः असि हि) अकेला सेनाके परावर है । (भूरि पराद्रादिः) तू बहुत शत्रुओंको दूर करनेवाला है । (दघोऽसाँ वृधः चित् असि) छोटेको धवनेवाला है । (यजमानाय शिषसि) यजमानके लिये तू पान देता है । (सुन्वते ते भूरि वसु) वीररथ निकालनेवालेके लिये तेरे पास बड़ा धन है ॥ २ ॥

(ऋ. १।८।१२)

(यत् स्वाज्यः उदीरित) जब संग्राम शुरू होते हैं, (घना घृष्णवै धीयते) तब घन दरिके लिये रथे जाते हैं । (मंदुच्युता हरी पुक्त्वा) मंद गिरानेवाले दो घोड़ोंके श्वेत, (कं हनुः) किसको तुने मारा ? (कं वसो दधः) किसको धनमें रखा ? हे इन्द्र ! (अस्मान् वसो दधः) हमें धनमें रखा है ॥ ३ ॥

(ऋ. १।८।१३)

हे (ऋजुकर्तुः) सरल हृदय ! (मर्दमदे) प्रपन्न होनेपर तू (गवां युगा नः ददि हि) गौबोकें छुंभोकें देता है । (उभ्रया हस्त्या) दोनों हाथोंके (पुरु शता) छेड़कों प्रकाशका (वसु) धन (सं गृभाय) इकट्ठा कर, (शिशो-हि) हमें शीघ्र बुझाना कर और हमें (रायः आ मर) धन लाकर दे ॥ ४ ॥

(ऋ. १।८।१४)

(सुते मादयस्व) सोमरथ निकालनेपर अपनेको हर्षित कर दे । हे शूर ! (शर्वसे राषसे सचा) बल और धन देनेके लिये छाप साथ तैयार रह । (त्वा पुरुवसुं विवा हि) हम तुझे पानवाला करके जानते हैं । (कामान्त्ससृजमहे) अपनी कामनाएँ तेरे पास रखी हैं । (अथ नः अविता भव) अथ हमारा रक्षक हो ॥ ५ ॥

(ऋ. १।८।१५)

हे इन्द्र ! (त एते जन्तवः) वे तेरे अपासक लोग (विश्वे कार्ये पुष्यान्ति) सब प्रकार करने योग्य धनकी बताते हैं । (जनानां अर्यः) तू जनोका स्वामी है । (अदाशुषं जनानां वेदः) कंजुश मानवोंके पासका धन (अन्तः रथः हि) हृदय निकाल, (तेषां वेदुः न आ मर) वनका धन हमारे लिये मर दे ॥ ६ ॥

(ऋ. १।८।१६)

[सूक्त ५७]

(श्राव्यः — १-३ मधुच्छन्दाः, ४-७ विश्वामित्रः, ८-१० गृत्समद, ११-१६ मेघधातिथिः ।

देवता — इन्द्रः ।)

सुरूपकृन्मुतये सुदुषामिव गोदुहे । जुहुमामि धर्विधवि ॥ १ ॥

उर्ष नः सवना गृहि सोमस्य सोमपाः पिव । गोदा इद्रेवतो मर्दः ॥ २ ॥

अथा ते अन्तर्माना विद्यामं सुमतीनाम् । मा नो अर्ति ख्य आ गृहि ॥ ३ ॥

१ नृभिः वृषदा इन्द्रः राघसे मदाय वावृषे—
मनुष्य शत्रुनाशक इन्द्रको बल और आनन्द बढ़ानेके लिये
मदिमा गाते हैं । जो इस इन्द्रकी स्तुति गाते हैं उनका बल
बढ़ता है और बल बढ़नेसे दुर्ष भी बढ़ता है ।

२ तं महत्सु आजिषु उत अर्षे हवामहे— उष
इन्द्रको जैसे हम बच्चे बुढ़ोमें बुलाते हैं वसी तरह छोटी स्पर्धामें
भी सहभागके लिये बुलाते हैं ।

३ सः वाजेषु नः प्र अविषत्— वह बुढ़ोमें हमारी
रक्षा करता है ।

४ हे वीर ! सैन्यः अस्ति— हे वीर ! तू अकेला होना
हुआ सैन्य जैसा प्रभावी है । सब सैन्यकी शक्ति तुम्हारी
अर्पणको शक्तिके बराबर है ।

५ भूरि पराददिः— बहुत शत्रुओंको पर तू करता है ।

६ दधस्व वृषः अस्ति— छेदे सामर्थ्यशालिका सामर्थ्य
बढानेवाला तू है ।

७ सुन्वते यजमानाय भूरि वसु शिक्षति— यश
करनेवालेको तू बहुत धन देता है ।

८ यत् आजयः उदीरत् घना पूष्णवे धायते—
जब युद्ध छिद्र जाते हैं तब घन शर बोरके लिये ही रखा जाता
है । शय्या विजय होता है इसलिये सबको ही घन मिलता है ।

९ यां हनः !— किस शत्रुको तूने मारा ?

१० क वसौ दधः !— किसको धनमें रखा है ?

११ हे इन्द्र ! अस्मान् वसौ दध— हे इन्द्र ! तुने
हमें धनमें रखा है ।

१२ हे ऋजुकनुः ! मदेमदे गवां यूषा नः ददि-
हे सरल हृदयवाले इन्द्र ! प्रसन्न होनेपर गौओंके छुण्ड तूने
हमें दिये ।

१३ उभया हस्त्या पुण्ड्रता वसु सं पृमाय—
दोनों हाथोंसे पैरोंके प्रक्षारके घन इच्छा करके हमें दे ।

१४ शिदीहि, रायः आ भर— हमें तीव्र बुद्धिमान
कर और हमें धन लाकर भर दे ।

१५ राघसे राघसे सवना— बल और धनके लिये तू
तेवार है ।

१६ त्या पुण्ड्रसु विश्व— तुझे बड़ा धनवाला हम
आनन्द है ।

१७ कामान् उप समृज्महे— हमारी इच्छाएँ तुम्हारे
सामान रखते हैं ।

१८ नः अविता भव— हमारा रक्षक हो ।

१९ हे इन्द्र ! ते एते जन्तवः धिद्वं वायं पुष्पन्ति-
हे इन्द्र ! तारे व सततक समय प्रक रके धनको बढ़ाते हैं ।

२० जनानां अयः अदाशुयां वेदः अन्तः ययः,
तेषां वेदः नः भर— तू जवादा स्वामी है । कर्जुओंका धन
है व निश्चाल और वह धन हमें दे दो । हम इस धनमें बडे बडे
पशु करों जिनसे जगन्ना बल्याप होगा ।

(सूक्त ५७)

(गोदुहे सुदुषां हव) दोहन करनेके समय जिस तरह
उत्तम वृष देते

गाते हैं, उस तरह (धवि
धवि) प्र

सुरूपकृन्मु उतये जुहुमसि)

उत्तम रूप करने, इन्द्रको हम अपनी सुछा करनेके लिये
बुलाते हैं ॥ १ ॥ (अ १।५।१)

(नः सवना उप आ गृहि) हमारे यशमें आओ । तू
(सोमपाः) सोम पीनेवाला है मन (सोमस्य पिव)
सोमरस पी । (रिवतः मर्दः गोदा इत्) तुम जैसे धनवालेका
दुर्ष गौओंको देनेवाला है ॥ २ ॥ (अ १।५।२)

(अथ ते अन्तर्मानां सुमतीनां विद्याम) अब हम
तेरी अन्तर्की सुमतीयोको हम प्रश करे । (नः मा अर्ति
प्य) हमें परे न हटा, (मा गृहि) हमारे पाद आ ॥ ३ ॥

(अ १।५।३)

शुष्मन्तमं न ऊतयेद्युग्निं पाहि जार्गुविम् । इन्द्रो नोमं शतक्रतो ॥ ४ ॥
 इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनैषु पञ्चसु । इन्द्रो तानि त आ वृणे ॥ ५ ॥
 अर्गभिन्द्र श्रवो बृहद्दुग्मं दधिष्व दुष्टरम् । उच्चे शुष्मं तिरामसि ॥ ६ ॥
 अर्वावर्तो न आ गृह्यो शक्र परावतः । उ लोको यस्तं अद्रिव इन्द्रेह तत् आ गृहि ॥ ७ ॥
 इद्रो अङ्ग महद्भयमभी पदपं चुष्यवत् । स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ ८ ॥
 इन्द्रश्च मृलयति नो न नः पश्चादुषं नशत् । मद्रं भवाति नः पुरः ॥ ९ ॥
 इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अर्मयं करत् । जेता शत्रून्विचर्षणिः ॥ १० ॥

क ई वेद सुते सत्वा पिबन्तं कद्रयो दधे ।

अयं यः पुरो विभिनस्योजसा मन्दानः गन्तव्यः ॥ ११ ॥

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे

नर्किङ्गा नि यमदा सुते गमो मुदाश्वरस्योजसा ॥ १२ ॥

य उग्रः सन्ननिष्टुत स्थिरो रणांय संस्कृतः ।

यदि स्तोतुर्मघवां शुणवद्भवं नेन्द्रो योपत्या गमत् ॥ १३ ॥

वयं धं त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तयर्हिषः ।

पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृहन्नपरि स्तोतारं आसते ॥ १४ ॥

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।

कृदा सुतं तंपाण ओक आ गम इन्द्रं स्वन्दीव वंसंगः ॥ १५ ॥

कर्णैर्भिर्धृष्णवा धूपद्वाजं दापि सहास्त्रिणम् ।

पिशङ्करूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमेह ॥ १६ ॥ (३५९)

[सूक्त ५८]

(ऋषिः — १-२ बृमेघः, ३-४ जमदग्निः । देवता — १-५ इन्द्रः, ३-४ सूर्यः ।)

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य मक्षत ।

वसनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥ १ ॥

४-१० देवो अथर्व. २०१२०११-७ ।

११-१३ देवो अथर्व. २०१५३११-३ ।

१४-१६ देवो अथर्व. २०१५३११-३ ।

१ इन्द्र 'सुसुपहरत्' — वतन रूपोवाले पदाधोको बननेवाला है । अगन् मरने जो सुन्दरता है वह उषकी बनार्थ है ।

२ ऊतये दधिष्ववि जुह्मसि — हम सुरक्षाके लिये प्रतिदिन उषकी जुलाते हैं ।

३ देवताः मद्रः गोदाः — धनवान्का हर्ष धन देनेवाला होता है ।

(सूक्त ५८)

(सूर्यं श्रायन्त इव) सूर्यका आश्रय लेनेके समान (इन्द्रस्य विश्वा वसन्ति इव मक्षत) इन्द्रके सब धर्मोंके हम भागी बनने । (जाते जनमाने) इस विधमें उत्पन्न हुए और उत्पन्न होनेवाले (प्रति भागं न) प्रत्येक भागको (ओजसा दीधिम) बलसे हम ध्यान करते रहते हैं ॥१॥ (अ. ८१५९१३)

अनर्शराति वसुदामुपे स्तुहि मद्रा इन्द्रस्य रातयः ।

मो अस्य कामे विघ्नतां न रोपति मनो दानाय चोदयन्

॥ २ ॥

वमहाँ असि सूर्यं वडाँदिय महौँ असि ।

महत्वेँ सतो महिमा पनस्यतेऽद्वा देव महौँ असि

॥ ३ ॥

वट् मूर्ये श्रवसा महौँ असि सुत्रा देव महौँ असि ।

महा देवानामसूर्यः पुरोहितो विश्व ज्योतिरदाम्यम्

॥ ४ ॥ (३९३)

[सूक्त ५९]

(काण्ड — १-२ मेध्यातिथिः, ३-४ घसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

उदु त्ये मधुमत्तमा गिरन्तोमास ईरते ।

मत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव

॥ १ ॥

कणा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद्धीतमानशुः ।

इन्द्रं स्तोमैर्भिर्महयन्त आपर्वः प्रियमेषासो अस्वरन्

॥ २ ॥

उदिद्वंस्य रिच्येँऽशो धनं न जिग्युषः ।

य इन्द्रो हरिवाञ्च दमन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिति

॥ ३ ॥

(अनर्शराति वसुदां उप स्तुहि) जिसके दानको कभी हानि नहीं पहुँचती, उस धनदाती स्तुति कर । (इन्द्रस्य रातयः मद्राः) इन्द्रकी दाने उत्तम है । (मनः दानाय चोदयन्) अने मनको बहु दानके लिये प्रेरित करता है इस कारण (अस्य कामे विघ्नतः) इसको इच्छाके अनुसार कार्य करनेवाले पर वह (न रोपति) श्रेय नहीं करता ॥२॥

(ऋ. ८।१९।४)

दे सूर्ये ! (वट् महौँ असि) तू निधयसे बड़ा है । हे आदिल ! (यट् महौँ असि) तू निधयसे बड़ा है । (ते सतः महः महिमा) तुम बड़े-बड़े महिमा महान् (पनस्यते) पाया जाता है । हे देव ! (अद्वा महौँ असि) तू निधयसे बड़ा है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१०।१११; अथर्व. १३।१।२९)

हे सूर्ये ! (श्रवसा वट् महौँ असि) यसे तू बड़ा है । हे देव (सुत्रा महौँ असि) तू सदा महान् है । (महा महत्वेँ) (देवानां असूर्यः पुरोहितः) तू देवोंका शक्तिसे आगे हुआ अपेक्षर है, तेरा (ज्योतिः) तेराशक्ति (अदाम्यं विश्व ज्योतिः) न दबनेवाली ऊँच व्यापक है ॥ ४ ॥

(ऋ. ८।१०।११२)

१ जाते जनिमाने प्रतिभागं न अजेसा द्धिम-
त्स्यस्य हुए तथा उत्पद्य होनेवाले प्रत्येक भागको बलसे जैसा

धारण करते हैं वैसा हम बलसे सबको धारण करेंगे । बलसे ही सबको धारणा हो सक्ती है ।

२ अनर्शराति वसुदां उप स्तुति — जिसके दानमें कभी भी कभी नहीं होती वैसा धनदाता इन्द्रको स्तुति कर ।

३ इन्द्रस्य मद्राः रातयः — इन्द्रके दान करनेवाले हैं ।

४ मन-दानाय चोदयन् — मन दानके लिये प्रेरित कर ।

५ अस्य कामे विघ्नतः न रोपति — इस इन्द्रके अनु-
कूल कार्य करनेवाले पर वह कदापि रोष नहीं करता ।

६ महान् असि — तू बड़ा है ।

७ देवानां असूर्यः पुरोहितः, अदाम्यं विश्व ज्योतिः — देवोंका वह बलवान् अपेक्षर है, उज्ज्वल तेज न दबनेवाला और चारों ओर फैला है ।

(सूक्त ५९)

१-२ देखो (अथर्व. २०।१०।१-२) (ऋ. ८।१।१५-१६)

(अस्य अंशः उत रिच्यते इत्तु) इसका धनका भाग बढता ही जाता है ना ! (जिग्युषा घनं न) जिसकी बीरके धनके समान । (यः इन्द्रः हरिवाञ्च) जो इन्द्र योंवाला है, (तं रिपः न दमन्ति) एत उसको नहीं

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशंसं दधाति यज्ञियेष्व ।

पूर्वाश्चन प्रसितयस्तारन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत्

॥ ४ ॥ (३६७)

[सूक्त ६०]

(ऋषिः — १-३ सुकक्षः, सुतकक्षो वा; ४-६ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

एवा हसिं वीर्युरेवा शूर उत स्थिरः । एवा ते राष्ट्र्यं मनः ॥ १ ॥

एवा रातिस्तुर्वीमघ विश्वेभिर्घायि घातुमिः । अघां चिदिन्द्र मे सचां ॥ २ ॥

मो पु नृक्षेर्वं तन्द्रयुर्ध्वो वाजानां पते । मरस्वां सुतस्य गोमंतः ॥ ३ ॥

एवा हस्य सुनुतां विरुष्णी गोमती मही । पृका शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते । सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥

एवा हस्य काम्या स्तोम उकथं च शंस्यां । इन्द्राय सोमपीतये ॥ ६ ॥ (३७९)

एवा सक्ते । वह (सोमिनी वृक्षं दधाति) सोमयाग करनेवालेमें शक्ति रखता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ७।३।१९२)

(मन्त्रवै सुधितं सुपेशंसं मन्त्रे) उत्तम ऊंचा और सुन्दर रूपवाला मंत्र (यज्ञियेषु वा दधाति) यहकर्मोंमें प्रयुक्त करो । (ये इन्द्रे कर्मणा भुवत्) जो इन्द्रमें कर्मोंसे आश्रित होते हैं वे (पूर्वाः प्रसितयः चन तरन्ति) बहुतेके बन्धनोंको पार करते हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ७।३।१९३)

१ जिग्गुषुः घर्जनं न अस्य अंशः उक्त् रिचयते— विजयी वीरका घन बढ़ता है उस तरह इस इन्द्रका घन बढ़ता ही जाता है । क्योंकि वह इन्द्र सदा विजयी रहता है ।

२ तं रिपः न वमन्ति— उसको शत्रु नहीं दबाते क्योंकि वह विशेष शूर है ।

३ ये इन्द्रे कर्मणा भुवत् पूर्वाः प्रसितयः तरन्ति— जो इन्द्रमें शुभ कर्मोंसे आश्रय धरते हैं, उनके सब पूर्वके बंधन पार होते हैं । यह इन्द्रका प्रभाव है ।

(सूक्त ६०)

(एव वीरयुः हि असि) ऐसा तू वीरके साथ रहनेवाला है । (शूरः उत स्थिरः एव) तू शूर और सुदृढ है । (एवा ते मनः राष्ट्र्यं) ऐसा तेरा मन आराधनीय है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९।१२८)

हे (तुर्वीमघ) बड़े घनवाले ! (विश्वेभिः घातुमिः) सब धारण करनेवालोंने (एवा रातिः घायि) तेरी देन धारण की है हे इन्द्र ! (अघां मे सचां चित्) तू अंधमेरु घाम रह ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९।१२९)

हे (वाजानां पते) धनोंके स्वामिन् ! (प्रह्ला इव) ब्रह्माके समान (तन्द्रयुः मा सु भुघः) आलसी न हो । (गोमतः सुतस्य मरस्व) इधसे मिले सोमरससे आनन्दित हो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९।१३०)

(पृका शाखा न) पक फलोंवाली शाखाकी तरह (दाशुषे) दानोंके लिये (अस्य सूनुता चिरुष्णी मही गोमती एव) इस इन्द्रकी बुद्धि दयालु, मरिचिकावाली और वही गोमौवाली होती है ॥ ४ ॥ (ऋ. ९।८।८)

हे इन्द्र ! (मावते) मेरे जैसे (दाशुषे) दानोंके लिये (ते विभूतयः ऊतयः) तेरी विभूतियों और रसाएं (एवा ते सद्यः चित् सन्ति) निःसंदेह तदहाल प्राप्त होनेवाली हैं ॥ ५ ॥ (ऋ. ९।८।९)

(सोमपीतये इन्द्राय) सोमपान करनेवाले इन्द्रके लिये (अस्य काम्या स्तोम उकथं च शंस्या एव) इसके भिय स्तोमों और गीत गाने योग्य हैं ॥ ६ ॥ (ऋ. ९।८।१०)

१ वीरयुः शूरः उत स्थिर असि— हे इन्द्र ! तू वीरोंके साथ रहनेवाला शूर और सुदृढ स्थिर रहकर सुदृढ करनेवाला है ।

२ एवा ते मनः राष्ट्र्यं— ऐसा तेरा मन आराधनीय है । ३ हे तुर्वीमघ । विश्वेभिः घातुमिः एवा रातिः घायि— हे घनवाले इन्द्र ! सब उपासकोंने तेरी दानकी धारणा की है । उपासकोंका तेरी दान शक्तिपर विश्वास है ।

४ अघां मे सचां चित्— अंध मेरा मित्र होकर तू रह ।

[सूक्त ६१]

(आषिः — १-६ गोपृक्त्वम्वस्युक्तिः । देवता — इन्द्रः ।)

तं ते मदं गृणीमामि वृषणं पृत्सु सासहिम् । उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम् ॥ १ ॥
 येन ज्योतीष्यायवे मनवे च विवेदिथ । मन्दानो अस्य वृहिषो विराजसि ॥ २ ॥
 तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु पुवन्ति पूर्वथा । वृषपत्नीरपो जेषा द्विवेदिवे ॥ ३ ॥
 तम्वाभि प्र गांयत पुरुहुतं पुरुष्टुत्म् । इन्द्रं गीभिस्तविपमा विवासत ॥ ४ ॥
 यस्य द्विवर्हसो बृहत्सहो दाधार रोदसी । गिरीरज्जो अपः स्वृष्ट्वित्यना ॥ ५ ॥
 स राजसि पुरुष्टुत् एको वृत्रार्णि जिमसे । इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥ ६ ॥ (३७९)

५ तन्द्रयः मा भुवः— आलषी न बन । उषयी होकर रह ।

६ पका शाखा न, दानुषे अस्य सूनृता विरन्शी मही गोमती एव— पक फलेसि युक्त शाखां समान दाताके लिये इसकी सुपुष्टि बड़ी लाभदायक और गौर्वे देनेवाली होती है ।

७ हे इन्द्र ! मावते दानुषे ते विभूतयः ऊतया सद्यः चित्त सन्ति— हे इन्द्र ! मेरे जैसे दाताके लिये तेरी विभूतियाँ और तेरे संरक्षण तत्काल प्राप्त होते हैं ।

(सूक्त ६१)

हे (अद्रिचः) वज्रधारी ! (ते तं मदं गृणीमसि) हम तेरे उस आनन्दकी प्रशंसा करते हैं कि जो (वृषणं) बलवान्, (पृत्सु सासहिं) युद्धोंमें विजयी, (लोककृत्नुं) रहनेके लिये आश्रय देनेवाला और (हरिश्रियं) जो सुवर्णों की शोभावाला है ॥ १ ॥ (अ. ८।१५।४)

(येन ज्योतीषि) जिसने तेज (आपवे मनवे च विवेदिथ) आशु और मनुके लिये दिया, वः (मन्दानो) व आनन्दित होकर (अस्य वृहिषो विराजसि) इस आसन पर विराजमान हो ॥ २ ॥ (अ. ८।१५।५)

(तद् अद्य) सो आज (उक्थिनः पूर्वथा अनु स्तुवन्ति) हम स्तोत्रपाठक पूर्वकी तरह स्तुति गाते हैं, व (द्विवे द्विवे वृषपत्नीः अपः जय) प्रतिदिन किसानोंके पालक जलोको जीत कर प्राप्त कर ॥ ३ ॥ (अ. ८।१५।६)

(तं उ पुरुहुतं पुरुष्टुतं) उस अनेकों द्वारा बुलाये और अनेकों द्वारा प्रशंसित (इन्द्रं) इन्द्रकी (गीभिः स्तविषं)

स्तोत्रोंसे स्तुति किये हुए की (आ विवासत) पूजा करो ॥ ४ ॥ (अ. ८।१५।९)

(यस्य द्विवर्हसः बृहत् सह) जिस द्विगुणित बलवाले इन्द्रके बंधे सामर्थ्यने (रोदसी दाधार) सुलोक और भूलोकका धारण किया है और (वृषपत्न्या) जिसकी शक्तिने (गिरीन् अजान्) पर्वतों और मैदानोंकी (अपः स्वः) जलों और तेजको धारण किया है ॥ ५ ॥ (अ. ८।१५।१२)

(स राजसि) वह तू अकेला शासन करतः है । हे (पुरुष्टुत) बहुओं द्वारा स्तुति किये गये (एकः वृत्राणि जिमसे) तू अनेक युद्धोंको मारता है । हे इन्द्र ! (जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे) विजय और यशके लिये ही वह तू करता है ॥ ६ ॥ (अ. ८।१५।३)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण बड़े हैं—

१ अद्रिचः, वृषणं, पृत्सु-सासहिं, लोककृत्नुं हरिश्रियं— वज्रधारी, बलवान्, युद्धोंमें विजयी, लोकोंके आश्रयदाता देनेवाला और सुवर्णोंकी कान्तिवाला इन्द्र है ।

२ यस्य बृहत् सहः रोदसी दाधार— जिसके बलने सुलोक और भूलोकका धारण किया है ।

३ वृषपत्न्या गिरीन् अजान् अपः स्वः— जिसके सामर्थ्यने पर्वत, मैदान, जलप्रवाह और ज्योतिष्का धारण किया है ।

४ स राजसि— वह इन्द्र तू शासन करता है ।

५ पुरुष्टुत ! एकः वृत्राणि जिमसे— हे अनेकों द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! तू अकेला ही अनेक युद्धोंको— अनेक दानुषोंको मारता है ।

६ जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे— विजय और यश प्राप्त करता है ।

[सूक्त ६२]

(ऋषिः — १-४ सोमरिः; ५ ७ नृमेघः; ८-१० गोपूकल्यश्वसूक्तिनौ । देवता — इन्द्रः ।)

वृषमु त्वाम्पूर्व्यं स्थूरं न कश्चिद्भ्रन्तोऽवृष्यवः । वार्जे चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

उप त्वा कर्मन्नुतये स तो पुत्रोग्रश्रकाम यो धृषत् ।

त्वामिद्वर्चवितारं ववूमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥ २ ॥

यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आग्निनाय तमुं व स्तुपे । सखाय इन्द्रमुतये ॥ ३ ॥

हर्ष्यं सत्पति चर्षणीसहं स हि प्मा यो अमन्दत् ।

आ तु नः स वयति गव्यमश्रुयं स्तोत्रभ्यो मघवां शतम् ॥ ४ ॥

इन्द्राय सामं गायतु विप्राय वृहते बृहत् । धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ ५ ॥

त्वामिन्द्राभिभूरंसि त्वं सूर्यमरोचयः । विश्वकर्मा विश्वदेवो महौ असि ॥ ६ ॥

विभ्राजं ज्योतिषा स्वर्गमन्त्रो रोचनं दिवः । देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥ ७ ॥

तम्भमि प्र गांयत पुरुहते पुरुष्टुतम् । इन्द्रं गोमिस्तीविपमा विवासत ॥ ८ ॥

यस्य द्विचर्हंसो बृहत्सहो दाधार रोदसी । गिरीरजौ अपः स्वर्वृषत्वना ॥ ९ ॥

स राजसि पुरुष्टुत् एको वृत्रार्णि जिघत्से । इन्द्र जैत्रांश्रवस्या च यन्तवे ॥ १० ॥ (३८९)

[सूक्त ६३]

(ऋषिः — १-३ भुवनः साधनो वा, ३ (द्वि०) मरद्वाजः; ४-६ गोतमः; ७-९ पर्यतः । देवता — इन्द्रः ।)

इमा तु कं भुवना सीपधामेन्द्रंश्च विश्वं च देवाः ।

यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीकृत्पाति ॥ १ ॥

(सूक्त ६१)

१-४ देवो अथर्व २०.११११-४ ।

(इन्द्राय साम गायत) इन्द्रके लिये सामगान करो ।

(वृहते विप्राय) बड़े शानी (धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे) धर्मका आचरण करनेवाले, शानी तथा स्तुतिके योग्यके लिये (वृहत्) बृहत् नामके साम गाओ ॥ ५ ॥

(ऋ. ८।९.८।१)

हे इन्द्र ! (त्वं अमिभूः असि) तू विजयी है, (त्वं सूर्य मरोचयः) तूने सूर्यको प्रकाशित किया है, तू (विश्वकर्मा) तू सबका बनानेवाला, (विश्वदेवः महान् असि) तू इस विश्वका देव और बना है ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।९.८।२)

(ज्योतिषा विभ्राजन्) ज्योतिषे चमकते हुए (दिवः) रोचनं स्वः अगच्छः) लौके चमकनेवाले तेजस्वी स्थानको तू पहुँचा है । हे इन्द्र ! (देवाः ते सख्याय येमिरे) देव तेरी मित्रताके लिये यत्न करते हैं ॥ ७ ॥ (ऋ. ८।९.८।३)

११ (अथर्व. भाष्य, काण्ड २०)

८-१० देवो अथर्व २०.६१।६-९ ।

इन्द्रके ये गुण हैं—

१ धर्मकृते, विपश्चिते पनस्यवे विप्राय— धर्मका आचरण करनेवाला, शानी, स्तुत्य, विद्वान् ।

२ अमिभूः विश्वकर्मा, विश्वदेवः महान् असि— तू विजयी विश्वका निर्माण करनेवाला, विश्वका उपास्य देव और बना इन्द्र है ।

३ देवाः । ते सख्याय येमिरे— सब तेरी मित्रता करना चाहते हैं ।

(सूक्त ६३)

(इन्द्रः विश्वे च देवाः) इन्द्र और सब देव तथा हम (इमा भुवना कं सीपधाम) इन भुवनोंको आनन्दयुक्त बनाकर बसायें करें । (इन्द्रः आदित्यः सह) इन्द्र आदित्यके साथ (यज्ञं) यज्ञको (नः तन्वं) हमारे शरीरको

आदित्यैरिन्द्रः सर्गणो मरुद्भिरसाकं भूत्वविता तनूनाम् ।

हृत्वार्यं देवा असुरान्पदायन्तु देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः

॥ २ ॥

प्रत्यञ्चमर्कमनयं छर्चीभिरादिस्वधार्मिपिरां पर्यपदयन् ।

अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः

॥ ३ ॥

य एक इन्द्रियते वसु मर्ताय द्राशुपे

। ईशानो अप्रतिष्कृत इन्द्रो अङ्ग ॥ ४ ॥

कदा मर्तमराघसे पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्

। कदा नः शुश्रवद्रिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ५ ॥

यश्चिद्वि त्वा बहुभ्य आ सुतावां आविवासति

। उग्रं तत्पत्यते शत्रु इन्द्रो अङ्ग ॥ ६ ॥

य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति

। येना हांसि न्यैत्रिणं तर्मीमहे ॥ ७ ॥

येना दशम्वमभिग्नुं वेपयन्तं स्वर्णिरम्

। येना समुद्रमाविधा तर्मीमहे ॥ ८ ॥

येन मिन्धु महीरपो रथो इव प्रचोदयः

। एन्यामृतस्य यादरे तर्मीमहे ॥ ९ ॥ (१९९)

(प्रजा च) और प्रजाको (चीकलपाति) समर्थ बनाव ॥ १ ॥ (ऋ १०१५०११)

(आदित्यै) आदित्यके साथ (मरुद्भिः सर्गणः इन्द्र) मरुतोंके साथ इन्द्र (अस्माक तनूना अविता भूतु) हमारे शरीरोंका रक्षक होने। (देवा असुरान् हृत्वाय) देवोंने असुरोंको मारकर (यदा आयन्) जब आये, तब (देवत्व अभिरक्षमाणा देवाः) देवोंने अपने देव नहीं रक्षा की ॥ २ ॥ (ऋ १०१५०१२)

(शचीभि प्रत्यञ्च अर्क अनयन्) अपनी शक्तिके साथ वे सूर्यका इधर लाये, (आत् इत् इयिरा स्वर्चा पर्यपदयन्) इसके पश्चात् प्रिय स्वर्षाकी उड़ाने देखा । (अया देवहितं वाज सनेम) इसका देवोंस रखे हुए बलकी उड़ाने प्राप्त करवा (सुवीरा शतहिमा मदेम) अच्छे पुनर्प्राप्तके साथ ही वर्ष आनन्दस रहे ॥ ३ ॥ (ऋ १०१५०१३)

(द्राशुपे मर्ताय) दानी मनुष्यके लिये (य एकः इत्) जो अकेला ही (वसु विदयते) धन देता है (अप्रतिष्कृत ईशान इन्द्र अग) हे प्रिय ! वही किससे पराजित न होनेवाला ईश इन्द्र ही है ॥ ४ ॥ (ऋ १०१५०१४)

हे (अग) प्रिय ! (कदा अराघस मर्ते) जब दान न देनेवाला मनुष्यको (पदा भुभ्य इव स्फुरत्) पाँसे खरकी तरह वह दबा देगा ? (इन्द्र कदा नः मिरः शुश्रवत्) इन्द्र कब हमारी स्तुतिवा सुनेगा ? ॥ ५ ॥ (ऋ १०१५०१५)

(ऋ १०१५०१६)

(यः चित् हि) जो शेर (बहुभ्यः) बहुतोंके (सुतावान् त्वा मा आविवासति) एक सोमपात्रके तरी सेवा करता है, (तत् उग्र शत्रु इन्द्र पत्यते) तब उग्र बलका सामो यह इन्द्र होता है हे (अग) प्रिय ॥ ६ ॥ (ऋ १०१५०१६)

हे इन्द्र ! (यः सोमपातम शविष्ठः मदः चेतति) जो तैरा सोमपात्र करनेसे बलशाली आनन्द प्रकट होता है, (येना अत्रिण नि हांसि) जिससे तू खानेवाले शत्रुको मारता है, (त ईमहे) उस सामर्थ्यकी हम मांग करते हैं ॥ ७ ॥ (ऋ ८१९२११)

(येन दशम्व अभिग्नु) जिससे दशम्व, अभिग्नुको (वेपयन्तं स्व नरं) शत्रुको कपाने प्रकाशके नेता बोरकी तथा (येन समुद्र आविधा) जिससे समुद्रकी सुरक्षा की (त ईमहे) वह सामर्थ्य हम मांगते हैं ॥ ८ ॥ (ऋ ८१९२१२)

(येन मिन्धु महीः अपः) जिससे मिन्धु तथा जल-प्रवाहोंको (रथान् इव) रथोंके समान (झटस्य एन्यां यातथे) सलके मार्गपर जानेके लिये (प्रचोदयः) प्रेरित किया (त ईमहे) उस शक्तिकी मांग हम करते हैं ॥ ९ ॥ (ऋ ८१९२१३)

१ इन्द्र नः यज्ञं तन्व प्रजां च वीकृपाति— इन्द्र हमारे यज्ञकी, हमारे शरीरोंकी और प्रजाकी समर्थ बनाता है ।
२ इन्द्रः अस्माक तनूनां अविता भूतु— इन्द्र हमारे शरीरोंका रक्षक बने ।
३ असुरान् हृत्वाय देवत्व अभिरक्षमाणा देवा

(ऋ १०१५०१६)

[सूक्त ६४]

(ऋषिः — १. ३ जुमेघः; ४-६ विश्वमनाः । देवता — इन्द्रः ।)

एन्द्रं नो गधि प्रियः संत्राजिदगोहाः । गिरिरिं विश्वतस्पृषुः पतिर्दिवः ॥ १ ॥
 अग्निं हि संत्य सोमपा उभे वृभूय रोदसी । इन्द्रासिं सुन्वतो वृषः पतिर्दिवः ॥ २ ॥
 त्वं हि शश्वतीनामिन्द्रं दुर्ता पुरामसिं । इन्ता दस्योर्मनीर्वृषः पतिर्दिवः ॥ ३ ॥
 श्दु मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वयो अन्धसः । एवा हि वीर स्तवते सुदावृषः ॥ ४ ॥
 इन्द्रं स्यातर्हरीणां नकिंष्टे पूर्यस्तुतिम् । उदानंशु शर्वसा न भन्दना ॥ ५ ॥
 तं वो वार्जान्तां पतिमर्हमहि श्रवस्वयः । अप्रायुभिर्वाग्भिर्वावृषेन्यम् ॥ ६ ॥ (४०४)

यदा आयन्— अग्निको मार कर देवत्वकी रक्षा करनेवाले देव अब आ गये ।

४ अया देवाहितं वाजं सनेम— इससे देवत्वसक बल प्राप्त करेंगे ।

५ सुवराः शतहिमा मदेम— उत्तम बालबच्चोंके साथ चौ वर्ष आनन्दसे हम रहेंगे ।

६ द्वायुषे मर्ताय य एकः वसु धिदयते— दाता मानवके लिये वह अकेला ही इन्द्र धन देता है ।

७ अप्रतिष्कृतः ईशानः इन्द्रः— वह किसीसे परा-जित न होनेवाला इन्द्र है ।

८ कदा अराधसं मर्ते पदा स्फुरत्— कब दान न देनेवाले मानवके पाँवसे वह दबाता है ?

९ इन्द्रः कदा नः गिरः शुभ्रवत्— इन्द्र कब हमारी प्रार्थना सुनेगा ?

१० इन्द्रः उग्रं शवः पत्यते— इन्द्र उस बल प्राप्त करता है ।

११ यः शविष्ठः मद्ः चेतति, येन अत्रिणं निर्हसि, तं ईमहे— जो सामर्थ्यवान् आनन्द प्रकट करता है, जिससे खानेवाले शत्रुको वह मारता है वह बल हम माँग रहे हैं ।

१२ येन आविष्य तं ईमहे— जिससे सुरक्षा करता है वह बल हम प्राप्त करना चाहते हैं ।

१३ येन ऋतस्य पर्यायात्पत्यते प्रसोदयः तं ईमहे— जिससे सत्य मार्ग पर जानेकी प्रेरणा वह लोगोंको देता है वह बल हम माँगते हैं ।

(सूक्त ६४)

हे इन्द्र ! (आ गधि) हमारे पास आ । तू (प्रियः) हमें प्रिय है (सत्रा जिद्व) तू सदा आँतनेवाला, (अगोहा) शत्रुको

छिपकर न रहनेवाला, (गिरिः न विश्वतः स्पृषुः) पर्वतके समान चारों ओरसे पुष्ट (दिवः पतिः) शुलोकका पति है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१।८।४)

हे (सत्य सोमपा) सबे सोमके पीनेवाले इन्द्र ! (उभे रोदसी अग्नि वभूय हि) तुम दोनों यु और भू लोकोंको पराजित करता है । हे इन्द्र ! तू (दिवः पतिः) शुलोकका पति और (सुन्वतः वृषः) सोमपाग करनेवालेका बढाने-वाला है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१।८।५)

हे इन्द्र ! (त्वं शश्वतीनां पुरां दुर्ता असि हि) तू शत्रुके सारे किलोंका तोड़नेवाला है, (दस्योः इन्ता) शत्रु-थोंको मारनेवाला, (मनोः वृषः) मनुष्योंको बढानेवाला और (दिवः पतिः) शुलोकका पालक है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१।८।६)

हे (अध्वयो) अध्वरु ! (अन्धसः मध्व मदिन्तरं वा सिञ्च इत् उ) मधुर सोमसके अधिक मोठे भागको इसमें डाल । (सुदावृषः वीरः एवा हि स्तवते) सदा शश्वक होनेवाला वीर इन्द्र इसी तरह प्रशंसित होता है ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।१।८।९)

हे (हरीणां स्यातः इन्द्र) हे घोड़ोंके स्वामी इन्द्र ! (ते पूर्यस्तुति) वेही पुरानी स्तुतिको (न किः शवसा उदानंशु) बलसे कोई नहीं पा सकता, (न भन्दना) न भलाईसे पा सकता है ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।१।८।१०)

(श्रवस्वयः) यश चाहनेवाले हम (अप्रायुभिः यडेभिः चावृषेन्यं) सतत चलनेवाले यज्ञोंसे बढानेवाले (न वाजनां पतिं) उस बलोंके स्वामी इन्द्रका (अहमहि) तुमको है ॥ ६ ॥ (ऋ. ८।१।८।१८)

[सूक्त ६५]

(ऋषिः — १-३ विश्वमना । देवता — इन्द्र ।)

एतो न्विन्द्रं स्तवाम् सखायं स्तोम्यं नरम् । कुशीर्यो विश्वां अम्यस्त्येकं इत् ॥ १ ॥

अगौरुघाय गविषे घृक्षाय दस्यं वचः । घृतात्स्वार्दीयो मधुनश्च वोचत ॥ २ ॥

यस्यामितानि वीर्याङ्गे न राधः पर्येतवे । ज्योतिर्नि विश्वमम्यस्ति दक्षिणा ॥ ३ ॥ (४०७)

[सूक्त ६६]

(ऋषिः — १-३ विश्वमना । देवता — इन्द्रः ।)

स्तुहीन्द्रं व्यश्वदन्मिं वाजिनं यमम् । अर्यो गयं महमानं वि द्वागुषे ॥ १ ॥

इन्द्रके ये गुण इव सुखं वहे ह्ये—

१ प्रियः सत्राजित् अगोष्ठाः विश्वत पृथुः दिव्य पति— इन्द्र सर्वत्र प्रिय, सर्वदा विजयी, जिनकर न रहने वाला, चारों ओरसे पुष्ट पुनोक्ता स्वामी है । 'अ-गोष्ठाः' किसी तरह जिनकर न रहनेवाला, अक्ष प्रकट होनेवाला इन्द्र है ।

२ आश्वतीनां पुरां द्वातां च अस्ति— आश्वत नग रिकोंके शत्रुके हिलोंके रोक्नेवाला है ।

३ दस्योः हन्ता— शत्रुको मारनेवाला,

४ मनोवृषः— मननशील मानवोंका सर्वधन करने-वाला है ।

५ सदावृष वीर एव स्तवते— ओ सदा बढने वाला वीर है उसकी ही प्रशंसा होती है ।

६ हरीणा स्थाता इन्द्रः— धातोंका रक्षक इन्द्र है । घोड़ोंकी पालना करनेकी विद्या वह जानता है ।

७ ते पूर्यन्सुति न किः दावसा उदानदा, न मन्दना— तेरे जैसा सुतिको कोई बलधे नहीं प्राप्त कर सकता न सुखधे प्राप्त कर सकता है । तेरी जैसी प्रशंसा प्राप्त करना किसीके सम्भव नहीं है ।

८ अथस्वयः चाजानां पतिं तं अहमहि— यद्य चाहनेके लिये हम सब बलोंके स्वामी इन्द्रकी ही अपनी सुरक्षाके लिये बुलते हैं ।

(सूक्त ६५)

हे (सखाय) हे मित्रो । (या इत् नु) आओ । (स्तोम्यं नरं स्तवाम्) सुतिके योग्य वीर इन्द्रकी स्तुति करें । (यः एकः इत्) ओ अकेला ही (विश्वाः कृष्टीः अम्यस्ति) सब मनुष्योंपर विराजता है ॥ १ ॥

(ऋ ८१४११९)

(अ-गो-रुघाय) ओ कमी गौओंको रोकता नहीं, और (गविषे) गौओंको दूँद निकालनेवाला है (घृक्षाय) वध

दुल्लभं रहनेवालेके लिये (घृतात् मधुनः च स्वार्दीयः) धी और शरदोंके अधिक साधु (दस्यं वच वोचत) सुन्दर सुतिके वचन करो ॥ २ ॥ (ऋ. ८१४१२०)

(अस्य अमितानि वीर्यां) त्रिकके अशरमित पराक्रम है, (यस्य राधः न पर्येतवे) त्रिकके धन दान धरे नहीं जाते त्रिकधी (दक्षिणा ज्योतिर् न) दक्षिण ज्योतिके समान (विश्वं अम्यस्ति) सबके ऊपर ज्योति है ॥ ३ ॥ (ऋ ८१४१२१)

१ हे सखाय ! स्तोम्यं नर स्तवाम — हे मित्रो । आओ, प्रशंसायें वीरकी हा प्रशंसा हम करते हैं, तुम सब इसमें शामिल हो जाओ ।

२ यः एक इत् विश्वाः कृष्टीः अम्यस्ति— ओ अकेला ही सब मानवोंके ऊपर रहता है ।

३ अ-गो-रुघाय गविषे घृक्षाय— ओ गौओंको रोकता नहीं, परंतु गौओंको खीबकर शत्रुओंसे रक्षा है । ओ घुल्लोभं रहता है ।

४ दस्यं वचः वोचत— उसकी स्तुति सुंदर बानीसे करो ।

५ अस्य अमितानि वीर्यां— इस इन्द्रके पराक्रम अशरमित है ।

६ यस्य राधः न पर्येतवे— त्रिकके धन धरे नहीं जाते, इतने वे अशरमित है ।

७ दक्षिणा ज्योतिर् न विश्वं अम्यस्ति— दक्षिण ज्योतिके समान उसका तेज सर्वत्र फैलता है ।

(सूक्त ६६)

(व्यश्वदत्) व्यधधी तरह (अन्मिं वाजिनं यमं) पीठा रहित, बलवान् और विधन्ता (इन्द्रं स्तुहि) इन्द्रकी स्तुति कर, ओ (द्वागुषे) दाताके (अर्यं) शत्रुका (मह-मानं गयं) बधा कर (वि) देता है ॥ १ ॥

(ऋ. ८१४१२२)

एवा नूनमुप स्तुहि वैयंश्च दशमं नवम् । सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥ २ ॥
वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम् । अहरहः शुन्ध्युः परिपदांमिव ॥ ३ ॥ (४१०)

॥ इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

[सूक्त ६७]

(ऋषिः — १-३ परुच्छेपः, ४-७ गृत्समदः । देवता — १ इन्द्रः, २ मरुत्. ३ अग्निः ।)

चनोति हि सुन्वन्क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः ।

सुन्वान इतिपासति सहस्रां वाज्यधृतः ।

सुन्वानायेन्द्रो ददात्याधुर्वं रयिं ददात्याधुर्वम् ॥ १ ॥

मो पु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सना भूवन्धुमनानि मोत जारिषुरस्मत्पुरोत जारिषुः ।

यद्वक्षित्रं युगेयुगे नव्यं घोपादमर्त्यम् ।

अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधुता यच्च दुष्टरम् ॥ २ ॥

हे (वैयंश्च) व्ययके पुत्र । (नवं दशमं) जो नववा या दसवा है तथा जो (सुविद्वांसं चरणीनां चर्कृत्यं) उत्तम विद्वान् है और प्रयत्नशील मानवोंके स्तुतिके योग्य है (एवा नूनं उप स्तुहि) इसकी निश्चयसे स्तुति कर ॥ २ ॥

(ऋ. ८।२।४।२३)

हे (वज्रहस्त) वज्र हाथमें लेनेवाले इन्द्र । तू (निर्ऋतीनां परिवृजं वेत्थ हि) आपत्तियोंका परिमार्जन करनेके उपायको जानता ही है, (परिपदां अहः अहः शुन्ध्युः इव) पाँवको लगे मलको जिस तरह प्रतिदिन शुद्ध करते हैं ॥ ३ ॥

(ऋ. ८।२।४।२४)

१ अन्वमिं वाजिनं यमं इन्द्रं स्तुहि— जिसमें लहरियोंके समान झोम नहीं, जो बलवान् और नियामक है, उस इन्द्रकी स्तुति कर । 'अन्-जमिः'— जिसमें लहरियाँ नहीं, जो शुभ्य नहीं होता, जो शान्त रहता है ।

२ दाशुपे मंहमानं अयं गयं वि— जो दाताके लिये शत्रुका बडा घर देता है । 'अयः'— अरि = शत्रु ; अयं— शत्रुका ।

३ नवं दशमं सुविद्वांसं चरणीनां चर्कृत्यं उप-स्तुहि— नवम या दशम दशक (१० वें या १०० वें वर्ष) में विद्यमान उत्तम विद्वान् और कार्यकर्ताओंमें उत्तम प्रयत्नशील को है उसकी स्तुति कर ।

४ हे वज्रहस्त ! निर्ऋतीनां परिवृजं वेत्थ— हे वज्रधारी । तू आपत्तियोंको दूर करनेका उपाय जानते हो ।

५ परिपदां अहः अहः शुन्ध्युः— पाँवपर मल लगता तो जैसा प्रतिदिन शुद्ध करते हैं वैसे प्रतिदिन प्रयत्न करनेवाले विपत्तियों दूर कर सकते हैं ।

॥ यहाँ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त ६७)

(सुन्वन् हि परीणसः क्षयं चनोति) सोमयाग करनेवाला धन युक्त घरको प्राप्त करता है । (सुन्वानः हि) सोमयाग करनेवाला ही (द्विषः अवयजति स्त) शत्रुओंका दूर करता है, (देवानां द्विषः अव) देवोंके शत्रुओंको दूर करता है । (सुन्वानः अदृतः वाज्री) सोमयाग करनेवाला शत्रुसे घेरा न जाता हुआ बलवान् बनकर (सहस्रां सिपासति इव) सहस्रों प्रकारके घनोंके भीतना चाहता है । (इन्द्रः सुन्वानाय आभुवं रयिं ददाति) इन्द्र सोमयाग करनेवालेको बहुत धन देता है, (आभुवं ददाति) पर्णत धन देता है ॥ १ ॥

(ऋ. ४।१३।१०)

(अस्मत् अभि) हमारे सामने (वः तानि पौंस्या) आपके वे पाँच कर्म (सना मा उ सु भुवन्) पुराने न हों, (उत पुमनानि मा जारिषुः) और तुम्हारे तेज जीर्ण न हों । (अस्मत् पुरः उत जारिषुः) हमारे सामने जीर्ण न हों । (यत् वः चित्रं युगे युगे नव्यं) जो आपका आश्चर्यकारक कर्म युगयुगमें नया होता रहता है, (अमर्त्यं घोवात्) वह तुम्हारे देवत्वकी घोषणा करे । हे मरुतों ! (यत्

अग्निं होतारं मन्ये दाखन्तं वसुं सुनुं सहसो जातवेदमं विप्रं न जातवेदसम् ।

य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा ।

घृतस्य विभ्राष्टिमनुं वष्टि शोचिपाजुहानस्य सर्पिषः ॥ ३ ॥

यज्ञैः संमिश्राः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामं छुभ्रासो अक्षिपुं प्रिया उत ।

आसद्यां चर्हिर्भैरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः ॥ ४ ॥

आ वक्षि देवां इह विप्र यक्षि चोशन्होतुर्नि पदा योर्निपु त्रिषु ।

प्रतिं वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिवाग्नीध्रात्तव भागस्य तृष्णुहि ॥ ५ ॥

एष स्य ते तुन्वो नृम्णावर्धनः सह ओजः प्रदिविं बाहोर्हितः ।

तुभ्यं सुतो मघवन्तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपतिपच ॥ ६ ॥

यमु पूर्वमहुंवे तंमिदं हुंवे सेदु हव्यो दुदियो नाम पत्यते ।

अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधुं पोत्रात्सोमं द्रविणोदुः पिबं ऋतुभिः ॥ ७ ॥ (४१७)

च दुष्टरं अस्मासु दिधृतं) ओ दुष्टर कर्म है वह हममें स्थापित करो, (यद् च दुष्टरं) ओ दुष्गण्य है वह हममें रखो ॥ २ ॥ (ऋ. १।१३९।८)

(अग्निं होतारं मन्ये) अग्निको मैं होता मानता हूँ । (दाखन्तं वसुं सहसः सुनुं) वह दान देनेवाला, घनवान्, बलका पुत्र (जातवेदसं) उत्तम दुष्टको जाननेवाला, (जातवेदसं विप्रं न) शान्त विरोध प्राप्त जैसा वह है । (यः ऊर्ध्वया देवाच्या कृपा स्वध्वरः देवः) जो ऊँचे देवों सामर्थ्यसे युक्त उत्तम यज्ञ करनेवाला देव है । (आ जुहानस्य सर्पिषः शोचिपा) हवन किये गये थोके तेजसे (घृतस्य विभ्राष्टि अनु वष्टि) थोका तेजस्विताको प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ (ऋ. १।१२७।१)

(यज्ञैः संमिश्राः) यज्ञोंमें लगे हुए (पृषतीभिः ऋष्टिभिः यामन्) चितकरतां थोकेयोंपर ऋष्टियोंके साथ बैठकर आनेवाले (अक्षिपु सुभ्रासः) आभूषणोंमें शोभनेवाले (उत प्रियाः) और प्यारे मित्र (भरतस्य सूनवः) आरतक पुत्रों । हे (दिवः नरः) दिव्य नेताओ ! (बाहिः आसद्य) आसनपर बैठकर (पोत्रात् सोमं आपिबत) पीताके पात्रसे सोगरसको पीओ ॥ ४ ॥ (ऋ. २।३६।२)

(देवान् इह आ वक्षि) देवोंको यहाँ ले आओ । हे (विप्र) शान्ति ! (यक्षि च) उनका यजन कर । हे

(होतः) होता । (त्रिषु योनिषु आ निपद्) तीनों स्थानोंमें बैठ । (प्रस्थितं सोम्यं मधु प्रति वीहि) तैयार किये गये थोके सोमका स्वीकार कर । (आग्नीध्रात् पिब) अग्नीध्रके पात्रसे सोम पी और (तव भागस्य तृष्णुहि) अपने भागसे तृप्त हो ॥ ५ ॥ (ऋ. २।३६।४)

(एषः स्य) यह वह (ते त्वयः नृम्णवर्धनः) तेरे शरीरका पोषण बढ़ानेवाला है, (सहः ओजः प्रदिवि बाहोः हितः) बल और सामर्थ्य सदा तेरी बाहुओंमें रखा है । हे (मघवन्) घनवान् इन्द्र ! (तुभ्यं सुतोः) यह सोमरस तेरे लिये निकाला है, (तुभ्यं आमृतः) तुम्हारे लिये मरकर रखा है । (अस्य ब्राह्मणात्) इस ब्राह्मणके पात्रसे (त्वं आ तृपत् पिब) तू तृप्ति होनेतक पी ॥ ६ ॥ (ऋ. २।३६।५)

(यं उ पूर्वं ह्यु) जिसको मैंने पहिले बुलाया था, (तं इदं ह्यु) उसको इधर समय में बुलाता हूँ । (स इत् उ हव्यः) वही बुलाने योग्य है, (द्रविः) वह दाता है, (यः नाम पत्यते) वह प्रसिद्ध रीतिसे शासन करता है । (अध्वर्युभिः सोम्यं मधु प्रस्थितं) अध्वर्युओंसे यह मधुर सोम रस तैयार किया गया है । हे (द्रविणोदः) घनके दाता । (ऋतुभिः पोत्रात् सोमं पिब) ऋतुओंके साथ पीताके पात्रसे सोम पी ॥ ७ ॥ (ऋ. २।३७।२)

[सूक्त ६८]

(ऋषिः — १-१२ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

सुरूपकृत्तुमृतये सुदुर्धामिव गोदुहे	। जुहुमसि यत्रियथि	॥ १ ॥
उपः नः सवुना गृहि सोमस्य सोमपाः पिव । गोदा इष्टेवतो मर्दः		॥ २ ॥
अर्या ते अन्तमानां विधामं सुमतीनाम् । मा नो अतिं ख्य आ गृहि		॥ ३ ॥
परिहि विश्रमस्तुमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम् । यस्ते सखिम्य आ वरम्		॥ ४ ॥
उत भुवन्तु नो निद्रो निरन्यतश्चिदारत । दधाना इन्द्र इहुवः		॥ ५ ॥
उत नः सुमगां अरिवोचेयुर्दस कृष्टयः । स्वामेदिन्द्रस्य शर्मणि		॥ ६ ॥
एमाशुमाशुवै मर यज्ञथियं नुमादनम् । पतयन्मन्दुयस्तंखम्		॥ ७ ॥
अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः । प्रावो वाजेषु वाजिनम्		॥ ८ ॥
वं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो । घनानामिन्द्र सातये		॥ ९ ॥
यो रापोऽवनिर्महान्सुपारः सुन्वतः सखा । तस्मा इन्द्राय गायत		॥ १० ॥
आ त्वेता नि पीदुतेन्द्रमभि प्र गायत । सखायु स्तोमवाहसः		॥ ११ ॥
पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् । इन्द्रं सोमे सचा सुते		॥ १२ ॥ (४१९)

(सूक्त ६८)

१-३ देशो अर्धव. २०५७।१-३ ।

(विप्रं अस्तुं परा इहि) ज्ञानी अपरात्रितके पास जा । (विपश्चितं इन्द्रं पृच्छ) ज्ञानी इन्द्रके पूछ । (ते सखिम्यः वरं आ) जो तेरे मित्रोंमें अष्ट है ॥ ४ ॥

(ऋ. १।४।४)

(नः निद्रः उत भुवन्तु) हमारे निद्रक बोलें कि (अम्यतः चित् निः आरत) वहासे निश्चल आओ (इन्द्रे इत् दुवः दधानाः) क्योंकि हम इन्द्रमें मजि रखते हो ॥ ५ ॥

(ऋ. १।४।५)

(इ दस) दर्शनियों (कृष्टयः) मनुष्य तथा (अरिः) शत्रु भी (उत नः सुमगां वोचेयुः) हमें सौभाग्यवाले कहें, तथापि (इन्द्रस्य शर्मणि इत् स्वाम) हम इन्द्रके ही आश्रयमें रहेंगे ॥ ६ ॥

(ऋ. १।४।६)

(यज्ञथियं) यज्ञकी शोभा बढ़ानेवाले, (नुमादनं) वीरोंको आनीदित करनेवाले, (पतयत् मन्दुयस्तंखं) गति करनेवाले और मित्रोंका आनंद बढ़ानेवाले (इ आशुं) इस तेजस्वी सोमको (आशुवै भर) तेजस्वी इन्द्रके लिये भर दे ॥ ७ ॥

(ऋ. १।४।७)

(इ शतक्रतो) सैध्यों कर्म करनेवाले इन्द्र । (अस्य पीत्वा) इस सोमको पीकर (वृत्राणां घनः अभवः) वृत्रोंको तु मारनेवाला हुआ है अब (वाजेषु वाजिने प्रावः) संप्रामोमें ये दाही रखा कर ॥ ८ ॥ (ऋ. १।४।८)

(इ शतक्रतो) सैध्यों कर्म करनेवाले इन्द्र । (तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः) उस तुझको संप्रामोमें बलवान बनाते हैं । हे इन्द्र ! (घनानां सातये) घनोंके दानके लिये यह हम करते हैं ॥ ९ ॥ (ऋ. १।४।९)

(यः रायः महान् अशनिः) जो घनोंका बड़ा रक्षक है, (सुन्वतः सुपारः सखा) सोमवाजीका दुःखके पार करनेवाला मित्र है (तस्मै इन्द्राय गायत) उस इन्द्रके लिये मंत्रोंका गान करो ॥ १० ॥ (ऋ. १।४।१०)

(इ स्तोमवाहसः सखायः) स्तोत्रोंके गानेवाले मित्रो । (आ तु एत) आओ, (नि पीदत) बैठो, (इदं अमि प्र गायत) इन्द्रका गायन करो ॥ ११ ॥ (ऋ. १।४।११)

(पुरूणां पुरूतमं) घनीशोमें घनो, (धार्याणाम् ईशानं) स्वीकार करने योग्य वस्तुओंके स्वामी (इन्द्रं) इन्द्रके स्तोत्र (सोमे सचा सुते) सोमरस तैयार होनेपर गति रहो ॥ १२ ॥

[सूक्त ६९]

(ऋषिः — १-१२ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

स वा नो योग आ भुवत्स राये स पुरंध्याम् । गमद्वाजैमिरा स नः	॥ १ ॥
यस्य संखे न वृष्वते हरीं समस्तु यत्रं वः । तस्मा इन्द्राय गायत	॥ २ ॥
सुतपाने सुता इमे शुचंयो यन्ति वीतये । सोमांसो दध्याशिरः	॥ ३ ॥
त्वं सुतस्य पीतये मद्या वृद्धो अजायधाः । इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो	॥ ४ ॥
आ त्वा विशन्त्याश्रवः सोमांस इन्द्र गिर्वणः । अं तं सन्तु प्रचेतसे	॥ ५ ॥
त्वां स्तोमां अवीवृधन्त्वाभुक्या अंतक्रतो । त्वां वर्धन्तु नो गिरः	॥ ६ ॥
अक्षितोतिः सनेदिमं वाजामिन्द्रः सहस्रिणम् । यस्मिन्विश्वानि पौंस्वा	॥ ७ ॥
मा नो मतां अभि द्रुहन्तनूनामिन्द्र गिर्वणः । ईशानो यवया वधम्	॥ ८ ॥
युञ्जन्ति ब्रह्ममरुषं चरन्तुं परिं तस्युषुषः । रोचन्ते रोचना द्विवि	॥ ९ ॥
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपंससा रये । शोणां घृष्णु नूवाहसा	॥ १० ॥
केतुं कुण्वन्क्रैतवे पेशो मर्या अपेससै । समुपद्गिरजायथाः	॥ ११ ॥
आदहै स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमैरिरे । दधाना नाम यज्ञियम्	॥ १२ ॥ (४४१)

(सूक्त ६९)

(सः घ नः योग आ भुवत्) वह हमारे उदोगने
 साय रहे (सः राये) वह घनेने, तथा (स पुरन्ध्यां) वह
 बही महत्वाकांक्षाओंने हमारे साय रहे (सः वाजैमिः नः
 आ गमत्) वह शक्तिशैके साय हमारे पास आ जवि ॥ १ ॥
 (ऋ. १।५।१)

(शश्रवः) यत्र (समस्तु) युद्धोने (यस्य संखे
 हरी न वृष्वते) जिसके जोत पेशोंका नही रोक सकते,
 (तस्मै इन्द्राय गायत) उस इन्द्रके गीत गाओ ॥ २ ॥
 (ऋ. १।५।४)

(इमे दध्याशिरः शुचयः सोमांसः सुताः) ये दही
 मिलाये शुद्ध चमईते हुए सोमस (सुतपाने धीतये यन्ति)
 सोम पीनेवाले इन्द्रके भागके लिये जाते हैं ॥ ३ ॥
 (ऋ. १।५।५)

(इ सुक्रतो इन्द्र) उत्तम कर्म करनेवाले इन्द्र ।
 (ज्यैष्ठ्याय) श्रेष्ठ होनेके लिये और (सुतस्य पीतये)
 सोमस पीनेके लिये (सद्यः वृद्धः अजायथाः) तत्काल
 बढा हो गया है ॥ ४ ॥ (ऋ. १।५।६)

दे (गिर्वणः इन्द्र) स्तुतिके योग्य इन्द्र । (आश्रवः
 सोमांसः त्या विशन्तु) तबिले सोम ठेरे अन्दर प्रवेष्ट करें ।
 (ते प्रचेतसे अं सन्तु) तुम अज्ञातके लिये ये कल्याण
 करनेवाले हों ॥ ५ ॥ (ऋ. १।५।७)

(स्तोमाः त्वां अवीवृधन्) स्तोत्रोने तुझे बढाया है,
 हे (अंतक्रतो) श्रेष्ठों कर्म करनेवाले इन्द्र (उक्या त्वां)
 उक्याने तेरा वर्धन किया है । (नः गिरः त्वां वर्धन्तु)
 हमारी स्तुतियां तुझे बढावें ॥ ६ ॥ (ऋ. १।५।८)

(यस्मिन् विश्वानि पौंस्वा) जिसमें करे पौंस हैं
 (इमं सहस्रिणं वाजं) वह वह सहस्रों बलेश्चे बढानेवाला
 घोसरथ (अक्षितोतिः इन्द्रः सनेत्) जिसका रक्षण कर्मा
 कम नहीं होता वह इन्द्र स्वीकार करे ॥ ७ ॥ (ऋ. १।५।९)

(गिर्वणः) प्रशंसयोग्य इन्द्र । (मतां नः तनूनां
 मा अभिद्रुहन्) नाभव हमारे शरीरोंका श्रेह न करें । (इ
 ईशानः) ईशर है (वर्धं यावय) यत्र हमसे दू हट्य
 दे ॥ ८ ॥ (ऋ. १।५।१०)

१-११ देखो अर्थ. २०।२६।४-६ ।
 १२ देखो अर्थ. २०।४।३ ।

[सूक्त ७०]

(ऋषिः — १-२० मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

वीलु चिंदारुज्जन्तुमिर्गुहा चिदिन्द्र वृद्धिभिः । अर्विन्द उस्त्रिया अतु ॥ १ ॥	
देव्यन्तो यथा मतिमच्छा विददंसुं गिरः । महामनूपत श्रुतम् ॥ २ ॥	
इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अर्विभ्युपा । मन्दु संमानवर्षसा ॥ ३ ॥	
अनवधैरभिद्युभिर्मस्रः सहस्वदर्चति । गुणैरिन्द्रस्य काभ्यैः ॥ ४ ॥	
अतः परिजम्ना गंहि दिवो वा रौचनादाधि । समस्त्रिभृज्जते गिरः ॥ ५ ॥	
इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादाधि । इन्द्रं महो वा रजसः ॥ ६ ॥	
इन्द्रमिद्राथिनो बृहदिन्द्रं मर्केमिरकिणः । इन्द्रं वापीरनूपत ॥ ७ ॥	
इन्द्र इद्वयोः सचा संमिश्र आ वचोयुजा । इन्द्रो वृज्जी हिरण्ययः ॥ ८ ॥	
इन्द्रो दीर्घाय चसस आ स्र्यै रोहयद्वि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ९ ॥	
इन्द्र वाजेषु नोऽव सुहस्रप्रधनेषु च । उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ १० ॥	
इन्द्रं वयं महाघ्न इन्द्रमर्मे हवामहे । युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥ ११ ॥	
स नो वृपन्नमं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि । अस्मभ्यमप्रतिष्कृतः ॥ १२ ॥	
तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः । न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ १३ ॥	

(सूक्त ७०)

(वीलु चित् आरुजन्तुभिः वृद्धिभिः) सुइको की तोडनेवाले और लठा ले चलनेवाले मशतोंके साथ रहनेवाले इन्द्र । (उस्त्रिया गुहा अतु अविन्द) गौवोंको गुहामें लूने प्राप्त किया ॥ १ ॥ (ऋ. १।६।५)

(देवयन्तः गिरः) देवताकी भक्ति करनेवालोंकी वाणि-योने (विददंसुं महान् भुतं) धन प्राप्त करनेवाले बड़े यशस्वी इन्द्रकी (यथा मतिं अकृच्छ अनुपत) यथासति स्तुति की है ॥ २ ॥ (ऋ. १।६।६)

३-४ देखो अथर्व. २. १।४. १-३ । (ऋ. १।६।७-८)
हे (परिजम्न) घूमनेवाले ! (अतः सा गहि) यथाधि आ । (रौचनात् दिवः वा अधि) अथवा तेजस्वी गुलोकधे आ, (अस्मिन् गिरः संस्त्रुजते) यथा इमारो स्तुतियां उत्तम रीतिसे चल रही है ॥ ५ ॥ (ऋ. १।६।९)

(इतः पार्थिवात् अधि) यदा पृथिवीसे अथवा (दिवः वा) गुलोकधे अथवा (महः रजसः वा) बड़े अन्तरीक्षसे (इन्द्रं साति इमहे) इन्द्रसे धन मांगते हैं ॥ ६ ॥ (ऋ. १।६।१०)

१२ (अथर्व. भाष्य, काण्ड २०)

७-९ देखो अथर्व २. १।३. ८।४-६ । (ऋ. १।७।१-३)

(हे उग्र इन्द्र) उग्रवीर इन्द्र । (उग्राभिः ऊतिभिः) वीरताके संरक्षणसे (सहस्रप्रधनेषु वाजेषु नः अथ) सहस्रों प्रकारके धन जिसमें मिलते हैं उन युद्धोंमें हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥ (ऋ. १।७।४)

(इन्द्रं वयं महाघने) इन्द्रको हम बड़े संधाममें (इन्द्रं अर्मे हवामहे) इन्द्रको छोटे युद्धमें भी सहायताप्य बुलाते हैं (वृत्रेषु युजे वज्रिणं) इन्द्रको वज्रसे मारनेवाले हमारे मित्र इन्द्रको हम बुलाते हैं ॥ ११ ॥ (ऋ. १।७।५)

हे (नः सत्रादावन् धुवन) हमारे लिये घरा देनेवाले बलवात् वीर । (सः) वह तू (अस्मभ्यं) हमारे लिये (अमुं चरुं मया वृधि) इस भोगको खोल दे (अप्रतिष्कृतः) तेरा प्रतिष्कार करनेवाला कोई नहीं है ॥ १२ ॥ (ऋ. १।७।६)

(वज्रिणः इन्द्रस्य) वज्रधारी इन्द्रकी (तुञ्जे तुञ्जे ये उत्तरे स्तोमाः) प्रत्येक युद्धमें जो ऊँचे स्तोत्र हैं उनमें (अस्य सुष्टुतिं न विन्धे) इसके योग्य स्तुतिको मैं प्राप्त नहीं करता ॥ १३ ॥ (ऋ. १।७।७)

वृषा युधेव वंसंगः कृष्टीरिय्योर्जसा
 य एकं चर्षणीनां वसूनामिरज्यति
 इन्द्रं वो विश्वतुस्पति हवामहे जनैभ्यः
 एन्द्रं सानसि रयि सजित्वानं सदासहम्
 नि येनं मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहे
 इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि
 वयं शूरैर्भिरस्तभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्

। ईशानो अप्रतिष्कृतः ॥ १४ ॥
 । इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥ १५ ॥
 । असाकंमस्तु केवलः ॥ १६ ॥
 । वरिष्ठमूर्तये भर ॥ १७ ॥
 । त्वोतासो न्यवेता ॥ १८ ॥
 । जयेम सं युधि स्पृशः ॥ १९ ॥
 । सासहामं पृतन्यतः ॥ २० ॥ (४६१)

(वृषा वंसंगः वृषा इव) ब्रह्मा षोडशान् रैत गोत्रोके
 हुंमने होता है वैसा जो (ओजसा कृष्टीः इत्यति) काम
 र्येसे सब मनुष्योपर रहता है १४ (अप्रतिष्कृतः ईशानः)
 प्रतिघार बिस्का नहीं होता वैसा यह ईश्वर इन्द्र है ॥ १४ ॥
 (श्र. १।७।८)

(यः एकः) जो अकेला इन्द्र (पञ्च क्षितीनां) पाँचों
 प्रकारके मानवोंका (चर्षणीनां वसूनां इत्यपति) एक
 मानवके घनोंका स्वामित्व करता है ॥ १५ ॥ (श्र. १।७।९)

१६ देवो अथर्व. २. ११. ११ । (श्र. १।७।१०)
 है इन्द्र । (सानसि) काम देनेवाले (सजित्वानं
 सदासहं रयि) विजयी, शत्रुको पराभूत करनेवाले (वरिष्ठं)
 श्रेष्ठ बनवा (कृतये वा भर) हमारी सुरक्षाके लिये लाभ
 मार दे ॥ १७ ॥ (श्र. १।८।१)

(येन मुष्टिहत्यया) जिसके मुष्टिद्वारा (वृत्रा नि
 रुणधामहे) शत्रुओंको रोक देते हैं (तथा ऊतासः
 अवेता नि) तुमसे सहायता दिये जोहैंसे हम शत्रुको रोक
 दें ॥ १८ ॥ (श्र. १।८।२)

है इन्द्र । (त्वोतासः वयं) तेरे द्वारा क्षरहित हुए हम
 (घना वज्रं वा ददीमहि) मारक वज्र पकलते हैं और
 उससे (युधि स्पृशः सं जयेम) तुमने शत्रुओंको
 भोंतिये ॥ १९ ॥ (श्र. १।८।३)

है इन्द्र । (वयं अस्तुभिः शूरैभिः) हम अन्न फेंकने-
 वाले वीरोंके साथ तथा (त्वया युजा वयं) तेरे साथ हम
 रहकर (पृतन्यतः सासहामं) घनाके साथ बड़ाई करनेवाले
 शत्रुओंको परास करेंगे ॥ २० ॥ (श्र. १।८।४)

इस सूत्रमें इन्द्रके ये गुण वर्णन किये हैं—

१ देवयन्तः गिरः विद्वत्सुं महां श्रुतं यथामति
 अच्छ अनुपत— देवत्वकी शक्तिकी इच्छा करनेवाली हमारी
 कामिनी घनी और बड़े प्रविद्ध वीर इन्द्रकी प्रशंसा करते हैं ।

० हे उग्र इन्द्र ! उग्रभिः ऊतिभिः सहस्रमघ-
 नेषु वाजेषु नः अघ— हे वीर इन्द्र । बालाके संरक्षण
 साधनेके लिये सहायके धन बड़ा निकले हैं उन दुर्बलों
 हमारी रक्षा कर । ' सहस्रमघनं वाजं '— तुमने हजारों
 प्रकारके धन निकले हैं, ये धन शत्रुसे लटनेके निकले हैं । इस
 लिये तुम्हका नाम ' धन ' भी है और ' महाधन ' भी है ।

३ वयं वृषेषु युजं वज्रिणं इन्द्रं महाधने अमं च
 हवामहे— हम शत्रुके ऊपर वज्र फेंकनेवाले इन्द्रको बडे
 और छेदे तुमने सहायताके लिये बुलाते हैं ।

४ सत्रादावन् वृषन् । अमतिष्कृतः अस्मभ्यं अमुं
 चयं अपा वृधि— हे सदा दान देनेवाले बलवान् वीर । तु
 प्रतिबंध रहित होकर हमारे लिये बह भोग खुला कर दो ।
 जिससे हम उसको प्राप्त करके उसका उपभोग करेंगे ।

५ वृषा वंसंगः वृषा इव अमतिष्कृतः ईशानः
 ओजसा कृष्टीः इत्यति— बलवान् रैत बैसा गोत्रोके
 हुंमने जाता है, उस तरह बिस्का प्रतिघार नहीं किया जा
 सकता, ऐसा ईश्वर वह इन्द्र अपनी शक्तिके शत्रुके सैनिकोंको
 पराभूत करता है ।

६ यः एकः पञ्च क्षितीनां चर्षणीनां वसूनां इ-
 ज्यति— जो अकेला वीर इन्द्र पाँचों मानवोंके घनोंका
 स्वामित्व करता है । सबके घनोंपर इसी अकेलेका अधिकार है ।

७ हे इन्द्र ! सानसि सजित्वानं सदासहं वरिष्ठं
 रयि कृतये वा भर— हे इन्द्र । कामदायक विजयी शत्रुका
 पराभव करनेवाले शक्तिशाली धनको हमारी सुरक्षाके लिये
 लाभ मार दो । धन ऐसा हो कि जो निजब देनेवाला, शत्रुका
 पराभव करनेवाला और श्रेष्ठ ही और बह हमारी रक्षा करने-
 वाला हो ।

८ येन मुष्टिहत्यया वृत्राणि रुणधामहे त्वा-
 ऊतासः अवेता नि— जिससे हम मुष्टिद्वारा शत्रुको मारते

[सूक्त ७१]

(ऋषिः — १-१२ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

महाँ इन्द्रं परश्च तु महित्वमस्तु वज्रिणे	। घौर्न प्रथिना शर्वः	॥ १ ॥
समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनिनौ	। विप्रासो वा विद्यायर्वः	॥ २ ॥
यः कुक्षिः सोमपार्वतमः समुद्र इव पिन्वते	। उर्वारापो न काकुदः	॥ ३ ॥
एवा हंस्य सुनृतां विरप्शी गोमती मही	। पक्वा शाखा न दाशुषे	॥ ४ ॥
एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मार्वते	। सद्यश्चित्सन्ति द्वाशुषे	॥ ५ ॥
एवा हंस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या	। इन्द्राय सोमपीतये	॥ ६ ॥
इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः	। महाँ अग्निशिरोजसा	॥ ७ ॥
एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने	। चक्रि विश्वानि चक्रये	॥ ८ ॥
मत्स्वा सुशिम मन्दिभि स्तोमैर्भिविश्वचर्षणे	। सचेपु सर्वनेष्वा	॥ ९ ॥
असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रतित्वामुदहासत	। अर्जोषा वृषमं पार्विम्	॥ १० ॥

हैं और तुमसे सहायता दिये घोबोके हम शत्रुको दूर करते हैं । ऐसी शक्ति हमारे पास हो ।

१ हे इन्द्र ! त्वोतासः व्ययं घना वज्रं वा ददीमहि, युधि स्पृघः सं जयेम— हे इन्द्र ! तेरे द्वारा सुश्रित हुए हम मारक वज्र पकड़ते हैं और तससे तुमसे शत्रुओंको जीतते हैं ।

१० हे इन्द्र ! अस्तामिः शूरेभिः वयं त्वया युजा पृतन्यतः सासक्षाम— हे इन्द्र ! अस्त्र फेंकनेवाले वीरोंके साथ रहकर हम तेरी सहायतासे शत्रुओंको पराभूत करेंगे ।

(सूक्त ७१)

(इन्द्रः महान् परः च तु) इन्द्र महान् है और श्रेष्ठ भी है । (वज्रिणे महित्वे अस्तु) वज्रधारी इन्द्रके लिये महत्व प्राप्त हो (योः न दावा प्रथिना) युलोकके समान उषका यश फेला है ॥ १ ॥ (ऋ. १।८।४)

(ये समोहे आशत) जो दुष्टमें लगे रहते हैं, (तोकस्य सनिनौ वा ये नरः) क्यथा पुत्रोंकी जीतमें जो व्यय रहते हैं, (विद्यायवः विप्रासः वा) जो बुद्धिके कार्ये शान्ति करते हैं (वे इन्द्रकी स्तुति करते हैं) ॥ २ ॥

(ऋ. १।८।५)

(यः सोमपानमः कुक्षिः) जो अधिक सोम पीनेवाला पेट है, (समुद्र इव पिन्वते) समुद्रके समान जो

फूलता है (काकुदः उर्वोः आपाः न) विश्वाभंसे बड़े जलप्रवाह जैसे आते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. १।८।६)

४-६ देखो अर्थ. २०।६०।४-६ ।

हे इन्द्र (वा इहि) आओ (अग्धसः विश्वेभिः सोमपर्वभिः) शूरे घोरके माणसे (मत्सि) आनन्दित हो । तु (ओजसा महान् अग्निभिः) अपना शक्तिसे बड़े शत्रुको दबानेवाला है ॥ ७ ॥ (ऋ. १।९।१)

(सुते) रथ निकालने पर (मन्दिने इन्द्राय) आनन्दित होनेवाले (विश्वानि चक्रये) सब कार्योंको करनेवाले इन्द्रके लिये (एनं मन्दिं चक्रि हं वा सृजन) इस आनन्ददायक तथा उत्साहवर्धक रथको दे दो ॥ ८ ॥

(ऋ. १।९।२)

हे (सुशिम विश्वचर्षणे) वृषमं हनुवाले और सब मनुष्योंके खासिन् इन्द्र ! (पेपु सर्वनेषु वा सच) इन मन्त्रोंमें आकर संभ्रमित हो । और (मन्दिभिः स्तोमिभिः मत्स्य) हर्ष देनेवाले स्तोत्रोंसे आनन्दित हो ॥ ९ ॥

(ऋ. १।९।३)

हे इन्द्र ! (ते गिरः असृग्रं) तेरे लिये स्तोत्र रचे हैं । (स्वा प्रति उदहासते) तेरे पास वे आते हैं (अर्जोषा वृषमं पार्विं) जैशो अशुभ शिवां बलवान् शक्तिके सर्वोषा जाती है ॥ १० ॥ (ऋ. १।९।४)

सं चोदय चित्रमर्वाग्राव इन्द्र चरेण्यम् । असदिचे विभु प्रभु ॥ ११ ॥	
अस्मान्तु तत्र चोदयेन्द्र राये रमेस्वतः । तुर्विद्युन्न यशस्वतः ॥ १२ ॥	
सं गोमदिन्द्र वाजवद्रुमे पृथु ध्रुवो बृहत् । विश्वायुर्धेसाक्षितम् ॥ १३ ॥	
अस्मे भेहि ध्रुवो बृहद्भुजं सहस्रसार्वमम् । इन्द्र ता रधिनीरिषः ॥ १४ ॥	
वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गुणन्तं ऋग्मिष्यम् । होम गन्तारमृतये ॥ १५ ॥	
सुतेसुते न्योक्तिसे बृहद्भुज एदुरिः । इन्द्राय शूपमर्चति ॥ १६ ॥ (२०३)	

॥ इति पद्योऽनुवाकः ०६ ॥

हे इन्द्र ! (चित्रं चरेण्यं राघः) विरक्षण धेष्ठ घन हमारे (अर्थात् सं चोदय) पाष भेज दो । (ते विभु प्रभु असद् इत्) तेरे पाष वह पर्याप्त और सामर्थ्यवाला है ॥ ११ ॥ (सं. १।१।५)

हे (तुर्विद्युन्न इन्द्र) बड़े तेजस्वी इन्द्र ! (रमेस्वतः यशस्वतः अस्मान्) प्रयत्नशील और यशाली हमको (तत्र राये सु चोदय) वहाँ घन प्राप्त करनेके लिये प्रेरित कर ॥ १२ ॥ (सं. १।१।६)

हे इन्द्र ! (अस्मे बृहत् पृथु ध्रुवः) हमें बड़ा विस्तृत यश दे जो (गोमत् पाजवत्) गौ आदि पशुओंके तथा बलधे पूर्ण है । (विश्वायुः अक्षितं घेहि) जो संपूर्ण आयुक्त रहनेवाला और समाप्त न होनेवाला हो ॥ १३ ॥ (सं. १।१।७)

हे इन्द्र ! (सहस्रसार्वमं पुन्नं बृहत् ध्रुवः) सहस्रों आनेद देनेवाला तेजस्वी बड़ा यश तथा (रधिनीः ताः इपः) रघाओंके साथ रहनेवाले वे अश्व (अस्मे घेहि) हमें दे ॥ १४ ॥ (सं. १।१।८)

(वसोः वसुपतिं) पनके सामी (ऋग्मिष्यं) स्तुति योग्य (ऊनये गन्तारं इन्द्रं) रक्षण करनेके लिये आनेवाले इन्द्रको । (गीर्भिः गुणन्तः होम) स्तुति करते हुए हम बुलाते हैं ॥ १५ ॥ (सं. १।१।९)

(सुते सुते) प्रत्येक धोमयागमें (बृहते ओकसे इन्द्राय) बड़े परबाले इन्द्रके लिये (प्रहत् शूप) बड़ा खोत्र (अदिः ना अर्चति इत्) भक्त गाता है ॥ १६ ॥ (सं. १।१।१०)

इस सूक्तमें इन्द्रके वे गुण वर्णन किये हैं—

१ इन्द्रः महान् परः च— इन्द्र बड़ा श्रेष्ठ है ।

२ वसिष्ठो महिषं वस्तु— वज्रधारी इन्द्रका महत्त्व प्रकट हो ।

३ द्यौः न शशः प्रथिना— दुलोकके समान उदध यश फैला है ।

४ ओजसा महान् अभिष्टः— तु अपने बलधे पशुको दबाता है ।

५ विश्वानि चक्रये चक्रिं वा असृजत्— सब पुरुषार्थ करनेवालेके लिये स्तुतिका चक्र बढाओ ।

६ सुदिम विश्वचर्षणे— उत्तम हुनुवाला, या उत्तम साधन बाँधनेवाला और मानवोंका हित करनेवाला सामी इन्द्र है ।

७ शूपमः पतिः बलवान् स्वामी ।

८ ते विभु प्रभु चित्रं चरेण्यं राघः अस्मान् अर्थात् सं चोदय— तेरे पास ब्यापक प्रभुत्व विरक्षण श्रेष्ठ घन है वह हमारे पाष भेजे ।

९ अस्मे गामत् वाजवत् बृहत् प्रभु ध्रुवो विश्वायुः अक्षितं घेहि— हमें गौबोवासा, बलवाला बड़ा श्रेष्ठ और धर्म आयुक्त रहनेवाला अस्य घन, अश्व या यश दे दो ।

१० सहस्रसार्वमं पुन्नं बृहत् ध्रुवः रधिनी इपः अस्मे घेहि— सहस्रों आनेद देनेवाला बड़ा यशस्वी तथा रघुदे साथ रहनेवाला अश्व हमें दे दो ।

॥ यदां पद्यं अनुवाक समाप्तः ॥

[सूक्त ७२]

(ऋषिः — १-३ परच्छेपः । देवता — इन्द्रः ।)

विश्वेषु हि त्वा सर्वनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक्स्वः सनिष्यवः पृथक् ।

तं त्वा नावं न पर्षणिं शूपस्य घुरि धीमहि ।

इन्द्रं न यज्ञैश्चितयन्त आयव स्तोमैर्भिरिन्द्रमायवः

॥ १ ॥

वि त्वां ततस्त्रे मिथुना अंवस्यवो ब्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः ।

यद्गव्यन्ता द्वा जना स्वर्ष्यन्तां सुपूहंसि ।

आविष्करिंक्रदृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवंम्

॥ २ ॥

उतो नो अस्या उपसो जुषेत ह्यृकस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः ।

यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिं चिकेतसि ।

आ मे अस्य वेधसा नवीयसो मग्मं ध्रुधि नवीयसः

॥ ३ ॥ (४८०)

[सूक्त ७३]

(ऋषिः — १-३ वसिष्ठः, ४-६ वसुक्तः । देवता — इन्द्रः ।)

तुभ्येदिमा सर्वना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कुपोमि । त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधांसि ॥ १ ॥

(सूक्त ७१)

(विश्वेषु सवनेषु) ६व सोम यज्ञो (त्वा समानं एकं) द्वा एकवो ही (पृथक् पृथक्) अलग अलग (वृष-मन्यवः) बलयुक्त उस्ताहवाले (स्वः सनिष्यवः) आनंद प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवाले लोग (तुञ्जते) प्रशंसित करते हैं । (तं त्वा) उस तुझको ही (पर्षणिं नावं ह्य) पार ले जानेवाली नौकाके समान मानकर (शूपस्य घुरि धीमहि) बलके केन्द्र करके तुझे ही आगे ध्यानके लिये करते हैं । (आयवः यज्ञैः चितयन्तः) मनुष्य यज्ञोंके चेतना देते हुए (इन्द्रं न) इन्द्रकी ही जैसा स्तुति करते हैं, वैसे (आयवः स्तोमैभिः इन्द्रं चितयन्तः) मनुष्य स्तोमोंके इन्द्रकी ही प्रशंसा करते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ११३११२)

(अवस्यवः मिथुना) संरक्षणकी इच्छा करनेवाले पति-पत्नीके जोड़े जब (त्वा वि ततस्त्रे) तुझे स्तुतिके उद्योग करते हैं । (गव्यस्य ब्रजस्य साता) गौवोंके बाड़ेकी बाहनेवाले, हे इन्द्र ! जब (निः सृजः सक्षन्ते) भेंट देते हैं जब (निः सृजः) तुझे भेंट देते हैं । (यत् गव्यन्ता स्वर्षन्ता द्वा जना) जब गौकी बाहनेवाले, स्वर्ग प्राप्त करनेवाले दो बनोंकी (समूहसि) दृष्टिगता करता है तब (वृषणं सचा-

भुवं घञ्जं) बलशाली साथ रहनेवाले वज्रको, (सचाभुवं) साथ रहनेवाले वज्रको तू (आविः करिष्यत्) प्रकट करता है ॥ २ ॥ (ऋ. ११३११३)

(अस्याः उपसः) इस उपाका, (उत उ नः जुषेत) वह हमें प्रेम करे, (हवीमभिः हविषः अर्कस्य बोधि) हमारे बुलावोंके साथ हवि और स्तोत्रको वह स्वीकारे । (हवीमभिः स्वर्षाता) बुलावोंके साथ स्वर्गकी प्राप्तिके लिये वह स्तोत्रको स्वीकारे । हे (वज्रिन् इन्द्र) वज्रधारी इन्द्र ! (यत् वृषा मृधः हन्तवे चिकेतसि) जब बलसे शत्रुओंको मारनेके लिये तू इच्छित्ता है वही (मे अस्य नवीयसः वेधसः मग्मं ध्रुधि) मेरे इस नवीन ऋषिके स्तोत्रको तू सुन (नवीयस्यः) नयेको तू सुन ॥ ३ ॥

(ऋ. ११३११६)

(सूक्त ७३)

हे शूर इन्द्र ! (इमा सवना) ये यज्ञ (तुभ्य इत्) तेरे लिये ही हैं । (विश्वा ब्रह्माणि) सब स्तोत्र (तुभ्यं वर्धना कुपोमि) इन्द्रारी महिमा बढ़ानेके लिये करता हूँ, (त्वं विश्वधा नृभिः हव्यः असि) तू सब प्रकारके मानवोंके द्वारा बुलाने योग्य है ॥ १ ॥ (ऋ. ८१२१७)

न चिन्तु ते मन्यमानस्य दुस्मोदंश्रुवन्ति महिमानं सुग्र । न वीर्यमिन्द्र ते न रावः ॥ २ ॥

प्र वो महे महिवृषे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुष्वम् । विशः पूर्वाः प्र चरा चर्षणिप्राः ॥ ३ ॥

यदा वज्रं हिरण्यमिदया रयं हरी यमस्य वहतो वि सूरिभिः ।

आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पतिः ॥ ४ ॥

सो चिन्तु वृष्टिर्युध्याक्षु स्वा सचां इन्द्रः श्मश्रूणि हरितामि प्रुण्यते ।

अवं वेति सुक्षयं सुते मधुदिद्वूनोति वातो यथा वनम् ॥ ५ ॥

यो वाचा विवाचो मूध्रवाचः पुरु सहस्राशिवा जघान ।

तच्चदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृषे शवः ॥ ६ ॥ (४८)

हे (दस्य उग्र इन्द्र) दर्शनीय उग्र इन्द्र । (ते मन्य-मानस्य) तेरी स्तुति होनेपर (नु चिन्तु नु) निधयसे (महिमानं उद् अश्रुवन्ति) तेरी महिमाको कोई प्राप्त नहीं होते, (न वीर्यं) तेरे पराक्रमको और (न ते रायः) न तेरे घनदानको कोई दूसरे पढ़ते हैं ॥ २ ॥ (श्र. ८।२२।८)

(यः महे महिवृषे प्र भरध्वं) आपके बड़े बड़े मूल्यके स्तोत्र करनेवालेके लिये आप दान दे दो, (प्रचेतसे सुमतिं प्र कृणुष्वम्) विशेष बुद्धिमान् इन्द्रके लिये स्तोत्र उचाराओ । (चर्षणिप्राः) प्रभ्राओंका पालनेवाला इन्द्र (पूर्वाः विशः प्र चर) पहिली प्रभ्राओंके पास उनका रक्षके लिये जाता है ॥ ३ ॥ (श्र. ८।२।१।१०)

(यदा हिरण्यं वज्रं इत्) जब सोनेके वज्रको इन्द्र धारण करता है, (अथा यमस्य रयं हरी वहतः) तब उस नियामकके रथको दो घोड़े ले जाते हैं । (वाजस्य दीर्घ-श्रवसः पतिः) बलका और बड़े यशका स्वामी (सनश्रुतः मघवा इन्द्रः) विख्यात दानी घनवान् इन्द्र (सूरिभिः आ वि तिष्ठति) नेताओंके साथ उस रथपर चढ़कर बैठता है ॥ ४ ॥ (श्र. १०।२।३।३)

(वृष्टिः चिन्तु नु) वृष्टि (युध्या) युधके समान आती है तब (इन्द्रः स्वा हरिता श्मश्रूणि सचां) इन्द्र अपने हरे श्मश्रूओंपर- सोमवहनोंपर- साथ साथ (अभि प्रुण्यते) वृष्टिके गिराता है । (सुते सुक्षयं अचवेति) सोमका रथ निकालनेपर वह उतम यक्षरथको- यक्षस्थानको- जानता है (मधु उत् धूनोति) उस मधुर रथको वह हिलाता है (यथा वातः वनं) जैसा वायु वनको हिलाता है ॥ ५ ॥ (श्र. १०।२।४।४)

(वाचा विवाचा) विद्वद् बोलनेवाले (मूध्रवाचा) अथवा मायण करनेवाले (पुरु सहस्रा अशिवाः) बहुतसे सहस्रों अश्रुम बोलनेवालोंको (यः जघान) जिसे मारा है (तत् तत् इत् पौंस्यं) वह इसका पीछ (गृणीमसि) हम प्रशंसित करते हैं, (यः) जो (पिता इव) पिताके समान (तविषीं शवः वावृषे) शकिके तथा सुक्षको बडाता है ॥ ६ ॥ (श्र. १०।२।१।५)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण वर्णन किये हैं—

१ हे दस्य उग्र इन्द्र ! ते महिमानं, वीर्यं, रायः न उत् अश्रुवन्ति— हे दर्शनीय उग्र इन्द्र ! तेरे महिमा, पराक्रम तथा घनदानकी कोई बराबरी नहीं कर सकता ।

२ चर्षणिप्राः । पूर्वाः विशः प्र चर— हे प्रभ्रासक ! तू पूर्ण प्रजाजनोंके पास जाकर, उनका निरासन करता रह ।

३ यदा हिरण्यं वज्रं, यमस्य रयं हरी वहतः, सनश्रुतः वाजस्य दीर्घश्रवसः पतिः, मघवा इन्द्रः, सूरिभिः आ वि तिष्ठति— जब सुवर्णमय वज्र धारण करता है, तब उस नियामकके रथको दो घोड़े जोते जाते हैं, तब प्रथिद बल और यशका स्वामी घनवान् इन्द्र, ज्ञानियोंके साथ उस रथपर चढ़कर बैठता है ।

४ वाचा विवाचा मूध्रवाचा पुरु सहस्रा अशिवा यः जघान तत् इत् अस्य पौंस्यं गृणीमसि, यः पिता इव तविषीं शवः वावृषे— अथलमाओं सहस्रों अश्रुम दुष्टोंको जिसे मारा वह इसका पीछ हम वर्णन करते हैं । वह पिताके समान शक्ति और सामर्थ्य बडाता है ।

[सूक्त ७४]

(ऋषिः — १-७ शुनःशेषः । देवता — इन्द्रः ।)

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव ससि ।	
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ	॥ १ ॥
शिप्रिन्वाजानां पते शर्चीवस्तव दंसना ।	
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ	॥ २ ॥
नि स्वापया मिथुदशा सस्तामधुष्यमाने ।	
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ	॥ ३ ॥
ससन्तु त्या अरांतयो बोधन्तु शूर रातयः ।	
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ	॥ ४ ॥
सर्मिन्द्र गर्दमं मृण नुवन्त पापयामुया ।	
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ	॥ ५ ॥
पताति कृण्वणाच्या दूरं वातो वनादधि ।	
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ	॥ ६ ॥
सर्वं परिक्रोशं जहि जन्मया कृकदाश्वम् ।	
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ	॥ ७ ॥ (४९९)

(सूक्त ७४)

हे (सत्य सोमपाः) सचे सोम पीनेवाले इन्द्र । (यन् चित् हिं) ओ मी (अनाशस्ता इव ससि) हम निराप जेधे हुए हैं । हे (तुवीमघ इन्द्र) बहुत धनवाले इन्द्र ! (गोषु अश्वेषु सहस्रेषु शुभ्रिषु) गोवों और घोषोंमें तथा सहस्रों तेजस्वी धनोमें (नः तू या शंसय) हमें तू चलाह युक्त बनाओ ॥ १ ॥ (ऋ. १।२९।१)

हे (शिप्रिन्वाजानां पते शर्चाधः) वषाम इनुवाले, शक्तिधारी, सामर्थ्यवान् इन्द्र । (तव दंसना) तेरे अद्भुत कर्म हे ॥ २ ॥ (ऋ. १।२९।२)

(मिथुदशा नि स्वापय) परस्पर वैरभावसे देखने-वालोंको सुनाओ, (अधुष्यमाने सस्तां) वे न जागते हुए सो जाये ॥ ३ ॥ (ऋ. १।२९।३)

(त्या मरातया सस्ता)ने शत्रु छोड़े। हे शूर ! (रातया

बोधन्तु) दान देनेवाले जायें ॥ ४ ॥ (ऋ. १।२९।४)

(अमुया पापया नुवन्त) इस पापभावसे स्मृति करनेवाले, हे इन्द्र ! (गर्दमं सं मृण) गंदेको पीस चालो ॥ ५ ॥ (ऋ. १।२९।५)

(कृण्वणाच्या दूरं पताति) कृटिल शत्रु दूर जाने (वातो वनात् अधि) वायु जैसा वनसे दूर जाय ॥ ६ ॥ (ऋ. १।२९।६)

(सर्वं परिक्रोशं जहि) सब आक्रोश करनेवाले दुष्ट नष्ट कर (कृकदाश्वं जन्मय) छिपकर मारनेवालेको पीस चाल ॥ ७ ॥ (ऋ. १।२९।७)

हे इन्द्र ! तू हमें तराहित कर, निराशाको हमसे दूर कर ।

[सूक्त ७५]

(ऋषिः — १-३ पुरुच्छेपः । देवता — इन्द्रः ।)

वि त्वां ततस्त्रे मिथुना अश्वस्यवो वृजस्यं साता गव्यस्य निःसृजः सध्वन्त इन्द्र निःसृजः ।
यद्गव्यन्ता द्वा जना स्वर्धन्तां समूहंसि ।

आविष्कारिकृद्दुषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र मचाभुवम् ॥ १ ॥

विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः ।

शासस्तमिन्द्र मर्त्यमर्यज्युं श्वसस्पते ।

महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः ॥ २ ॥

आदित्तं अस्य वीर्यस्य चार्किरुन्मर्देषु वृषभ्राशिजो यदाविथ सखीयतो यदाविथ ।

चकर्ष कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे ।

ते अन्यामन्यां नर्यं सनिष्णत श्रवस्पन्तः सनिष्णत ॥ ३ ॥ (७५६)

[सूक्त ७६]

(ऋषिः — १-८ वसुक्रः । देवता — इन्द्रः ।)

वने न वा यो न्यघायि चाकं छुचिवो स्तोमो भुरणावजीगः ।

यस्पेदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृत्तमः क्षपावान् ॥ १ ॥

(सूक्त ७५)

१ देवो अयवं २०१७२।२ (ऋ. १।१३१।३)

हे इन्द्र ! (पूरवः ते अस्य वीर्यस्य विदुः) लोग तेरे इस वीरताके धर्मको जानते हैं। हे इन्द्र ! (शारदीः पुरः अवातिरः) जो शरदके किलोका तुने नाश किया, (सासहानः अवातिरः) विजय करते हुए धनुषका नाश किया। हे (श्वसस्पते इन्द्र) बलवान् इन्द्र ! (तं अयज्युं मर्त्यं शासः) उस यज्ञ न करनेवाले मनुष्यको तुने दण्ड दिया। (महीं पृथिवीं) वही पृथिवीको और (इमाः आपः समुष्णाः) इन जलशवाहोको (अमुष्णाः) अपने आधीन कर लिया। हे (मन्दसान) आनन्दमें रहनेवाले इन्द्र ॥ २ ॥

(ऋ. १।१३१।४)

हे (वृषन्) बलवान् इन्द्र ! (ते अस्य वीर्यस्य अशिजः आत् इत् चार्किरन्) तेरे इस वीर्यके कार्यको कीर्ति प्राप्त होने गायी है। (यद् आविथ) जब तुने उनको सुरक्षा की, (सखीयतः यत् आविथ) मित्रता

बाहनेवालोको जब तुमने सुरक्षा की थी। (पृतनासु प्रवन्तवे) धैर्यमें जीतनेके लिये (पूरवः कारं चकर्ष) इनके हितके लिये पुरवार्य किया। (ते अन्यां अन्यां नये सनिष्णत) उन्होंने अन्य नदीप्रवाहको प्राप्त किया (श्रवस्पन्तः सनिष्णत) यश बाहनेवालोंने प्राप्त किया ॥ २ ॥

(ऋ. १।१३१।५)

(सूक्त ७६)

(यस्य इत्) जिसके विषयमें (नृणां नर्यः) नेताओंमें मुख्य नेता, (नृत्तमः) वीरोंमें मुख्य (क्षपावान्) पृथिवीका अधिपति (पुरुदिनेषु होता इन्द्रः) बहुत दिनतक इच्छा करनेवाला इन्द्र चाह रखता है वह (छुचिवः स्तोमः) वह शुद्ध स्तोत्र है (भुरणां) पुष्टि देनेवाले अश्विदेवों (वां अजीगः) तुम्हारे पास गया है तुमने वह किया है। (यः वने न चाकं न्यघायि) जिसने वनमें इष्ट रखा होता है उसको और जैसा ध्यान रखा होता है ॥ १ ॥

(ऋ. १०।२५।१)

प्र ते अस्या उपसः प्रापरस्या नृत्तौ स्याम नृतमस्य नृणाम् ।
 अनु विशोकः श्रुतमार्वाहन्नुत्सेन रथो यो असत्सवान् ॥ २ ॥
 कस्ते मद् इन्द्र रन्त्यो मूहुरो गिरो अम्युप्रो वि धाव ।
 कदाहो अर्वागुर्ष मा मनीषा आ त्वा अक्यासुपमं राधो अन्नैः ॥ ३ ॥
 कद् घुम्रमिन्द्र त्वावतो नृन्कया धिया करसे कद् आगन् ।
 मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्नं समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥
 प्रेरय श्रो अर्थ न पारं ये अस्य कामं जनिषा इव गमन् ।
 गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिसन्त्यन्नैः ॥ ५ ॥
 मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी दौर्भज्मनां पृथिवी काव्येन ।
 वराय ते घृतवन्तः सुतासुः स्वाग्रन्भवन्तु पीतये मधूनि ॥ ६ ॥
 आ मध्वो अस्मा असिचक्षमेन्नमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः ।
 स वावृधे वरिमन्त्रा पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च ॥ ७ ॥

(अस्याः उपसः प्र) इस उपाके (अपरस्याः प्र) और दूसरी उपाके (नृत्तौ) नाचनेमें (नृणां नृतमस्य स्याम) नौरीके वीर इन्द्रके हम हों । (यः ससवान् असत्) जो विक्रयी या बह (विशोकः रथः) तीन जमींदारोंवाला रथ (कुत्सेन) कुत्सेके साथ (शतं नून अनु आवहत्) सौ नौरीको साथ ले आवे ॥ २ ॥

(अ. १०१२९१२)

हे इन्द्र ! (कः मद् ते रन्त्यो मूत्) कौनधा आनंद तेरे लिये हर्षका कारण हुआ है ! तू (उग्रः) उग्रवीर है । (दुः गिरः अभि वि धाव) हमारे द्वारों और स्तुतियोंके पास दौडता था । (मा मनीषा कद् अर्वागु उप याहः) कब मेरा खोत्र तुझे मेरी ओर लायेगा ? (अन्नैः उपमं राधः त्वा आ शक्या) मैं हविष्याओंके साथ तेरे उत्तम घनदानको प्राप्त कर सकूँ ॥ ३ ॥ (अ. १०१२९१३)

हे इन्द्र ! (कद् उ घुम्रं त्वावतः नून) कब उत्तम रथ तेरे श्रेष्ठ शत्रुको मिलेगा ! (कया धिया करसे) किस बुद्धिसे तू कार्य करेगा ? (कद् नः आगन्) कब तू हमारे पास आवेगा ? (सत्यः मित्रः न) कब मित्रके समान, हे (उरुगाय) बड़ी गतिवाले इन्द्र ! (यत् मनीषाः असन्) जो बुद्धिवां है (भृत्या अन्ने समस्य) उनको मरणपीवणके हेतु लक्षमें रख ॥ ४ ॥ (अ. १०१२९१४)

१३ (अर्वा, माभ्य, दाह २०)

(प्रेरय) ननको प्रेरणा दे, (स्रः पारं अर्थ न) जैसा सूर्य पर स्थित लक्ष्यको पहुंचता है । (ये अस्य कामं जनिषा इव गमन्) जो इसकी इच्छाके साथ पति-पत्नीको तरह मिले हैं । हे (तुविजात इन्द्र) अनेक प्रकारके कार्य करनेवाले इन्द्र ! (ये ते) और जो वे (पूर्वीः नरः गिरः च अन्नैः प्रतिशिक्षन्ति) पूर्व वीर अपनी स्तुतियोंको अन्नोके साथ गाते हैं ॥ ५ ॥ (अ. १०१२९१५)

हे इन्द्र ! (ते मात्रे नु सुमिते) तेरे बड़े दो माप अच्छे गिने हुए हैं । (घांः पूर्वी मज्मना) जो पहिलों तेरे बचत और (काव्येन पृथिवी) तेरी प्रज्ञासे पृथिवी । (घृतवन्तः सुतासः ते वराय) धोके मिले हुए सोमरम तेरे स्वीकारके लिये हों और (मधूनि पीतये स्वाग्रान् भवन्तु) मधुर रस तेरे पीनेके लिये मांठे हों ॥ ६ ॥ (अ. १०१२९१६)

(मध्वः पूर्ण अमन्नं) मधुका पूर्ण पात्र (अस्मा इन्द्राय) इस इन्द्रके लिये (आ असिञ्चन्) मर कर रखा है । (सः हि सत्यराधाः) वही सच्चा दानो है । (ए पृथिव्या वरिमन्त्रा अभि वावृधे) वह पृथिवीकी श्रेष्ठतासे चारों ओरसे बड़ा, (पौंस्यैः च क्रत्वा नर्यः) दारुताके कर्नोसे और प्रज्ञासे बड़ मानवोंका हितकारी है ॥ ७ ॥

(अ. १०१२९१७)

व्यानलिन्द्रः पृतनाः स्वोजा आसौ यतन्ते सुरपार्यं पूर्वाः ।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भद्रया सुमत्या चोदयामि

॥ ८ ॥ (५०४)

[सूक्त ७७]

(ऋषि — १-८ वामदेवः । देवता — इन्द्रः ।)

आ सत्यो यातु मघवो ऋजीपी द्रवन्वस्य हरय उप नः ।

तस्मा इदन्धः सुपुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः

॥ १ ॥

अवं स शूराघ्नो नान्तेऽस्मिन्नो अद्य सर्वान् मन्दर्ष्ये ।

शंसात्पुक्यमुशनेव घेषाधिभित्तुपे अमुर्यापि मन्मं

॥ २ ॥

कविर्न निष्यं विदधानि साधन्वृपा यत्सेके विपिपानो अर्चात् ।

दिव इत्या जीजनत्सु कारुनह्यो चिच्चक्रुर्युनां गुणन्तः

॥ ३ ॥

स्वर्ष्यदेदि सुदशीकमूर्महि ज्योतीं ररुचुर्यदु वस्तोः ।

अन्धा तमांसि दुधिता निचक्षे नृभ्यश्कार नृत्वमो अभिष्टौ

॥ ४ ॥

(स्वोजा. इन्द्रः) शक्तिशाली इन्द्र (पृतनाः ध्यानत्, अश्रुका सनाओंको जातता है (पूर्वा अस्मै सख्याय आ यतन्ते) बहुलता प्रजाए इषका मित्रताके लिए दत्त करती है। (य भद्रया सुमत्या चोदयासे) त्रिषको तू अपनी सुमतिसे प्रेरित करता है (अस्मा पृतनासु रथ न आ तिष्ठ) इस पर युद्धमें रथपर बैठते ह उस तरह बैठ ॥ ८ ॥

(अ १०१२९१८)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण वर्णन किये हैं—

१ नृणां नर्यं नृत्वम क्षपावान्— मनुष्योंमें श्रेष्ठ, मनुष्योंका हित करनेवाला पृथिवीपती इन्द्र है।

२ य ससवान् असत् । त्रिशोक रथ शत नृन् अनु आवहत्— वह विजया या। तान उवात्तवाल उस रथमें सैकड़ों बाणोंको लाया।

३ हे उरुगाय ! यत् मनोपा असन्, भद्रया अग्ने ममस्य— हे शश्रणामी वीर, जो तारा बुद्धिया है उनका हमारे भरणपोषणके लिये अन्नमें प्रेरित कर।

४ पौंस्ये. ऋत्वा च नर्यं— पुरुषार्थों और बुद्धिसे वह मानवोंका हित करनेवाला है।

५ स्वोजाः इन्द्रः पृतनाः व्यानत्— शक्तिशाली इन्द्र शत्रुके सैनिकोंको परास्त करता है।

(सूक्त ७७)

(सत्यः ऋजीपी मघवान् आ यातु) सत्य धोमप्रिय

धनवान् इन्द्र यही आव । (अस्य हरय नः उप द्रवन्तु) इसके घोड़े हमारे पास दौड़ते आ प्राय । (तस्मै इत् सुदक्षं मन्धः सुपुमा) इसके लिये ही उद्योग बलवर्धक साम रथ निराला है । (गृणानः इह अभिपित्व करते) स्तुति करनेपर वह यहा पहुंचेगा ॥ १ ॥ (अ. ५१६११)

हे शूर ! (अद्य स्य) खोल दे [अग्ने घोड़ोंको] । (अध्वनः अग्ने न) मानो मार्गका अन्त हुआ है (नः अद्य अस्मिन् सयने मन्दर्ष्ये) हमारे आज इस यज्ञमें आनन्द मनानेके लिये । (उशना इव घेषाः) उशनाओं तरह ऋत्विज (उक्थ शंसाति) गत गता है। वह (चिकित्तुपे असुपायं मन्म) ज्ञाना बलवान् इन्द्रका वह न्यौर है ॥ २ ॥ (अ. ५१६१२)

(वृषा यत् सेके विपिपानो अर्चात्) बलवान् जब डाले धोमको पाता हुआ गता है, (कवि न निष्य विदधानि साधन्) कवि जैसा एकात्ममें यज्ञोंको करता हुआ [गता है] । (दिवः इत्या सत कारुन् जीजनत्) तुम इस तरह उगने सात खोताओंको उपास किया, (अह्ना चित् गृणन्तः वयुना चक्रुः) दिनभर स्तुति करते हुए लड़ोने दिनभर कम किये ॥ ३ ॥ (अ. ५१६१३)

(अर्केः सुदशीकं स्य यत् वेदि) स्तेनगठोंके साथ जब दशनीय तेज दाख पया, (यत् ह वस्तोः महि ज्योतिः ररुचु) जब दिनमें बड़ा ज्योतिको प्रकाशित

ववक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्युं भे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।

अतश्चिदस्य महिमा वि रेच्यभि यो विश्वा भुवना वभूव ॥ ५ ॥

विश्वानि शक्रो नर्याणि विद्वानपो रिरिचु सखिभिर्निकामैः ।

अस्मानं चिद्ये विभिर्दुर्वचोभिर्ब्रजं गोमन्तमुशिजो वि वभ्रुः ॥ ६ ॥

अपो वृत्रं वत्रिवांसं पराहन्प्रावत्ते वज्रं पृथिवी सचेताः ।

प्रार्णीसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवं छवसा शूर धृष्णो ॥ ७ ॥

अपो यदद्रिं पुरुहूत ददर्शविभ्रुवत्सरमा पूर्यं तं ।

स नो नेता वाजुमा दर्षि भूरि गोत्रा रुजन्नाङ्गिरोभिर्गृणानः ॥ ८ ॥ (५२२)

दिया, (नृत्यः विचक्षे) मानवोंके देखनेके लिये (अभिधौ नृतमः) विजयी नेताओंके अग्रने (अन्धा तमांसि दुधिता चकार) घने अन्धकारको दूर किया ॥ ४ ॥ (ऋ. ४।१६।४)

(ऋजीषी इन्द्रः अमितं ववक्ष) सामयिय इन्द्र अप-रिमित बढ गया। (महित्वा उमे रोदसी आ पप्रौ) अपने महत्वमे रखने दोनों लोकोंको मर दिया। (अतः चित् अस्य महिमा वि रेचि) इससे इसकी महिमा बढ गयी, (यः विश्वा भुवना अभि वभूव) जिसने धरे भुवनोंको परामृत किया ॥ ५ ॥ (ऋ. ४।१६।५)

(शक्रः विश्वानि नर्याणि विद्वान्) सामर्थ्यवान् इन्द्र सब मानवोंके हितके कार्य जानता है। (निकामैः सखिभिः अपः रिरिचु) अपने निष्काम मित्रों- महलोंके साथ जल-प्रवाहोंको रखने बोल दिया। (ये वचोभिः अस्मानं चित् विभिर्दुः) जिन्होंने शब्दोंसे परियोंको छिन्नभिन्न किया और (उशिजः गोमन्तं ब्रजं वि वभ्रुः) उन इच्छा करनेवाले [मशतैने] गौओंवाले बाढ़को बोल दिया ॥ ६ ॥ (ऋ. ४।१६।६)

(अपः वत्रिवांसं वृत्रं पराहन्) रखने जलोंको रोकनेवाले इन्द्रको मारा। (सचेताः पृथिवी ते वज्रं प्रावत्) चेतना युक्त प्रजावाली पृथिवीने तेरे वज्रकी रक्षा की। हे (धृष्णो शूर) शत्रुका परामव करनेवाले इन्द्र! (शवसा पतिः भवन्) सामर्थ्यसे पति होकर (समुद्रियाणि अर्णांसि प्र पेनोः) समुद्रिय जलोंको प्रवाहित किया, आगे बढ़ाया ॥ ७ ॥ (ऋ. ४।१६।७)

हे (पुरुहूत) बहुतों द्वारा प्रार्थित इन्द्र! (यत् अपः अद्रिं ददर्) जब जलोंके पहाड़को तुमने तोडा, तब (सरमा ते पूर्यं आविः भुवत्) सरमा तेरे घामने प्रकट हुई। (अंगिरोभिः गृणानः) अंगिरोभि स्तुति किया हुआ (गोत्रा रुजन्) पहाड़ोंको तोडता हुआ (सः नः नेता) वह हमारा नेता इन्द्र (भूरि वाजं आ दर्षि) बहुत बल दिखाता है ॥ ८ ॥ (ऋ. ४।१६।८)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये गुण कहे हैं—

१ चक्रितुषे असुर्याय मन्म— ज्ञानी शक्तिमानके लिये यह सूक्त है।

२ महित्वा उमे रोदसी आ पप्रौ— अपने महत्वसे याबापुण्यियोंको मर दिया।

३ अस्य महिमा वि रेचि— इसका महिमा बढ गया।

४ यः विश्वा भुवना अभि वभूव— जिसने सब भुवनोंको परामृत किया।

५ शक्रः विश्वानि नर्याणि विद्वान्— समर्थ इन्द्र मानवोंके हितके सब कार्य जानता है।

६ धृष्णो शूर! शवसा पतिः भवन्— शत्रुका परामव करनेवाले शूर! बलसे तू स्वामी, होता है।

७ गोत्रा रुजन्— पहाड़ोंको तोडा।

८ सः नः नेता भूरि वाजं आ दर्षि— वह हमारा नेता बहुर, सामर्थ्य बनाता है।

[सूक्त ७८]

(ऋषिः — १-३ शंयुः । देवता — इन्द्रः ।)

तद्गो गाय सुते सर्वा पुरुहूताय सत्वने । शं यद्रवे न शाकिने ॥ १ ॥
 न घा वसुनि यमते दानं वाजस्य गोमतः । यत्सीमुप श्रुद्भिरः ॥ २ ॥
 कुवित्स्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत् । शचीभिरप नो वरत् ॥ ३ ॥ (५१५)

[सूक्त ७९]

(ऋषिः — १-२ वसिष्ठः शकिर्वा । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिना पुत्रेभ्यो यथा ।
 शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ १ ॥
 मा नो अजाता वृजना दुराध्याः शशिवासो अवं क्रमुः ।
 त्वया चयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥ २ ॥ (५१७)

(सूक्त ७८)

(सुते) सोमम निकालनेपर (पुरुहूताय चः सत्वने) बहुतां द्वारा बुलाये गये आपके बलवान् वीरके लिये (सच्चा शं तन् माय) साथ साथ वह शान्तिप्रद या सुषदायी स्तोत्र पाओ, (यद् शाकिने गयेन) जैसा शक्तिशाली बलके लिये गाया जाता है ॥ १ ॥ (ऋ. ६।४।५।२२)

(यत् सी गिरः उप धवत्) जब वह हमारी स्तुति-योको सुनता है तब वह (गोमतः वाजस्य दानं) गोओंवाले धनके दानको तथा (वसुः घ न नियमते) धनको नहीं रोक्ता ॥ २ ॥ (ऋ. ६।४।५।२३)

(दस्युहा) शत्रुओंको मारनेवाला इन्द्र (कुवित्स्य गोमन्तं व्रजं) कुवित्सके गोओंवाले वाडेके पास (हि प्र गमत्) जायगा और (शचीभिः नः अप धरत्) अपनी शक्तियोंके हमारे लिये उमे खोलगा ॥ ३ ॥ (ऋ. ६।४।५।२४)

१ यत् सी गिरः उपध्रवत् गोमतः वाजस्य दानं वसुः नः नि यमते— जब वह इन्द्र हमारी स्तुतियोंको सुनता है तब गोओंवाले बलके दानको अथवा धनको देना वह बंद नहीं करेगा ।

२ दस्युहा गोमन्तं व्रजं प्र गमत् शचीभिः नः अप धरत्— शत्रुनाशक इन्द्र गोओंके वाडेके पास जाता है और अपनी शक्तियोंके उनको हमारे लिये खोलता है ।

(सूक्त ७९)

हे इन्द्र ! (नः क्रतुं आमर) हमारे लिये कर्तृत्वबुद्धि भर दे (यथा पिता पुत्रेभ्यः) जैसा पिता पुत्रोंको देता है । हे (पुरुहूत) बहुतां द्वारा प्रशंसित इन्द्र ! (अस्मिन्

यामनि नः शिक्ष) इस बार्द्धमे हमें शिक्षा दे (जीवा ज्योतिः अशीमहि) जीवित रहनेपर हम ज्योतिको प्राप्त करेंगे ॥ १ ॥ (ऋ. ७।३।२।२६)

(अजाता वृजना दुराध्याः) अज्ञात बुरा चाहनेवाले हमारे शत्रु (मा नः) हमें मन दबावें, (अशिवासः मा अय क्रमुः) अशुभ शत्रु हमपर आक्रमण न करे। हे शूर ! (त्वया चयं) तेरे साथ रहकर हम (शश्वतीः प्रवतः अपः) शाश्वत बहनेवाले जलप्रवाहोंको (अति तरामसि) तेर कर परे हो जाय ॥ २ ॥ (ऋ. ७।३।२।२७)

१ हे इन्द्र ! नः क्रतुं आ भर— हे इन्द्र ! हमें कर्तृत्व करनेको बुद्धि भरकर दे । जिससे हम पुण्याय प्रयत्न कर सकें ।

२ तथा पुत्रेभ्यः पिता क्रतुं— जैसा पिता पुत्रोंको कर्तृत्वशक्तिसे युक्त करता है । पिताका यह कर्तव्य है कि वह अपने पुत्रोंको कर्तृत्वशक्तिसे युक्त करे ।

३ अस्मिन् यामनि नः शिक्ष— शत्रुपर करनेके आक्रमणके विषयमें हमें योग्य और आवश्यक ज्ञान दे जिससे हम आक्रमण करके शत्रुको पराजित कर सकें ।

४ जीवा ज्योतिः अशीमहि— जीवित रहेंगे तो तेज-विता प्राप्त करेंगे ।

५ अजाता वृजना दुराध्याः अशिवासः मा अयक्रमुः— कोई अज्ञात दुष्ट दुर्जन शत्रु हमपर आक्रमण न करे ।

६ त्वया चय शश्वती प्रवतः अपः अति तरामसि— तुम्हारे साथ रहकर हम शाश्वत नीचे बहनेवाले जल-प्रवाहोंको तेर कर पर कर देंगे ।

[सूक्त ८०]

(ऋषिः — १-२ संयुः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्र ज्येष्ठं नु आ मरुँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः ।

येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओमे सुशिरा प्राः

॥ १ ॥

त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन्देवेषु ह्रमहे ।

विश्वा सु नो विथुरा पिन्दुना वसोऽमित्रात्मपहान्कृधि

॥ २ ॥ (५१९)

[सूक्त ८१]

(ऋषिः — १-२ पुरुहन्मा । देवता — इन्द्रः ।)

यद् धाव इन्द्र ते शतं शतं भूर्मीरुत स्युः ।

न त्वा वञ्चिन्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी

॥ १ ॥

आ पंप्राथ महिना वृषण्या वृषन्विश्या शविष्ठ शर्वसा ।

अस्माँ अवं मघवन् गोमति व्रजे वञ्चि चित्रार्भिरुतिभिः

॥ २ ॥ (५२१)

(सूक्त ८०)

हे इन्द्र ! (नः) हमारे लिये (ज्येष्ठं ओजिष्ठं पपुरि श्रवः) श्रेष्ठ शक्तिशाली परिपूर्ण यश (आ मर) मर दे, हे (चित्र सुशिर वज्रहस्त) अश्वरथकारक, उत्तम साधने-वाले तथा हाथमें वज्र धारण करनेवाले इन्द्र ! (येन इमे उमे रोदसी) जिससे ये दोनों यु और पृथिवीको तू (आ प्राः) मर देता है ॥ १ ॥ (ऋ. ६।४।१५)

हे राजन् ! (उग्रं चर्षणीसहं देवेषु त्वां) उग्रवीर शत्रुघेनाहो जैतनेवाल देवोंमें तुझको (ह्रमहे) हम बुलाते हैं । हे (वसो) निवासक ! (नः विश्वा विथुरा पिन्दुना) हमारे सब दुर्बलोंको मुझ बना दे, (अमित्रान् सुसहान् सुकृधि) हमारे सब शत्रुओंको सुखसे हम बर्तित देना कर ॥ २ ॥ (ऋ. ६।४।१६)

१ ज्येष्ठं ओजिष्ठं पपुरि श्रवः आ मर— श्रेष्ठ सामर्थ्यवान् परिपूर्ण यश हमें पूर्ण रीतिसे दे दो ।

२ चित्र सुशिर वज्रहस्त ! येन उमे रोदसी आ प्राः तत् आ मर— हे विलक्षण उत्तम हनु या साधनवाले वज्रधारी इन्द्र ! जिससे तू दोनों लोकोंको यशसे मर देता है वद यश हमें मरपूर मर दे ।

३ उग्रं चर्षणीसहं देवेषु त्वां ह्रमहे— उग्र शत्रु-

सेनाका परामव करनेवाले ऐसे तुझ देवोंमें अकेले देवको मैं अपनी सहायताके लिये बुलाता हूँ ।

४ हे वसो ! नः विश्वा विथुरा पिन्दुना, अमित्रान् सुसहान् सुकृधि— हे सबके निवासक । हमारे सब निर्वल मनुष्योंको बलवान् बना दो, मित्रसे हमारे शत्रुओंको जोतना हमारे लिये सुखकर होमा ।

(सूक्त ८१)

हे इन्द्र ! (यत् शतं धावः) यदि सौ शूलोक हों, (उत शतं भूर्मीः स्युः) और सौ भूमियों हों, (सहस्रं सूर्या) हजार सूर्य हों या (रोदसी) दो हों यु और पृथिवी लोक हों हे (वञ्चिन्) वञ्चधारी इन्द्र ! (त्वा जातं न न अनु अष्ट) तुझ प्रकट होनेपर कोई तारी बाराबी नहीं कर सकता ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१०।१५)

हे (वृषन् शविष्ठ) बलवान् और सामर्थ्यवान् ! (विश्वा शवसा वृषण्या महिना) धारे बलसे सामर्थ्य-युक्त महिमासे (आ पंप्राथ) तूने सबको मर दिया है । हे (मघवन्) धनवान् (वञ्चिन्) वञ्चधारी इन्द्र ! (गोमति व्रजे) गोओंवाले बहिमें (चित्रार्भिः ऊतिभिः) अद्भुत रक्षा साधनोंसे (अस्मान् अन्) हमारी सुरक्षा कर ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१०।१६)

[सूक्त ८२]

(ऋषिः — १-२ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

यदिन्द्र यावत्स्त्वमेतार्चतुहमीशीय ।

स्तोतारमिदिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय
शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे ।

॥ १ ॥

नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन

॥ २ ॥ (५१३)

[सूक्त ८३]

(ऋषिः — १-२ शयुः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रं त्रिघातुं शरणं त्रिवरुषं स्वस्तिमत् ।

छुर्दियेच्छ मघवद्भयं मह्यं च यावयां दिद्युर्मेभ्यः

॥ १ ॥

ये गव्यता मनसा शत्रुमादुभुरभिप्रमन्ति धृष्णुया ।

अघं सा नो मघवन्निद्रुं गिर्वणस्तनूपा अन्तमो भव

॥ २ ॥ (५१५)

१ हे इन्द्र ! शतं यावः शतं भूमीः सहस्रं सूर्या
स्था जातं न अनु अष्ट— हे इन्द्र ! सी घो हों या सी
भूमिया हों, या सहस्र सूर्य हों तेरे प्रकट होनेपर तेरी बराबरी
कई कर नहीं सकता । ऐसा तेरा सामर्थ्य बड़ा विशाल है ।

२ हे शयुन् ऋषिष्ठ मघवन् घञ्जिन् ! विश्वा
शवसा घृष्ण्या महिना आ पमाद्य— हे बलवान् गामर्थ्य-
शाली धनवान् वज्रधारी इन्द्र ! तू अपनी सामर्थ्ययुक्त महि-
मासे सबको मारपूर मर दिया है ।

३ गोमति मजे चित्रामिः ऊतिमिः अस्मान् अव-
गौर्वाले वाङ्मं हम रहें और बड़ा हमारी सुरक्षा तू अपने
विलक्षण सुरक्षाके साधनोंसे कर । हमें गौ मिले, और हमारा
संरक्षण भी हो ।

(सूक्त ८२)

हे इन्द्र ! (यत् यावतः त्वं) जितनेका तू (एतावत्
अर्ह ईशीय) उतनेका मैं स्वामी होऊंगा, तो (स्तोतारं
इत् दिधिषेय) स्तुति करनेवालेकी मैं आश्रय देऊं, हे
(रदावसो) धनके दाता इन्द्र ! (पापत्वाय न रासीय)
पाप करनेके लिये नहीं छोडूंगा ॥ १ ॥ (ऋ ५१३२।१८)

(दिवे दिवे महयते) प्रतिदिन स्तुति करनेवालेको
मैं (रायः आ शिक्षेयं इत्) धन देऊंगा ही (कुह
चिद् विदे) वहाँ भी वह हो । हे (मघवन्) धनवान्
इन्द्र ! (त्वत् मन्यत् आप्यं महि) तेरे सिवाय दूसरा कोई

बन्धु नहीं है, (वस्यो) धनवान् (पिता चन न अस्ति)
पिता भी तुझसे बढकर नहीं है ॥ २ ॥ (ऋ. ५१३२।१८)
(सूक्त ८३)

हे इन्द्र ! (त्रिघातु त्रिवरुषं) तीन घातुवाला, तीन
स्वर्षावाला (स्वस्तिमत् शरणं) स्वास्थ्य रखनेवाला आश्रय
स्थान (छुर्दिः) पर (मघवद्भयः च मह्यं च) धनी
लोगोंके लिये और मुझे (यच्छ) दे दो । (पश्यः दिपुं
यावय) इनसे शत्रु दूर कर दे ॥ १ ॥ (ऋ. ६।४६।१८)

(ये गव्यता मनसा) जो गौर्वाको चाहते हुए मनसे
(शक्रं वा दभुः) शत्रुको मारते हैं, और (घृष्णुया
अभि प्रमन्ति) धैर्यसे प्रहार करते हैं, हे (मघवन्
गिर्वणः इन्द्र) धनवान् स्तुतिकी सुननेवाले इन्द्र ! (अघ
नः अन्तमः तनूपाः भव स्स) हमारे शरीरोंका तू समीप
स्थित रहसक हो ॥ २ ॥ (ऋ. ६।४६।१९)

१ त्रिघातु त्रिवरुषं स्वस्तिमत् शरणं छुर्दिः मह्यं
मघवद्भयः यच्छ— तीन घातुओंका उपयोग भिसमें किया
है, तीन बड़े आश्रयस्थान जिनमें हैं, आरोग्यवर्षक ऐसा जो
स्थान है वह रहनेका पर मुझे और धनिकोंको दे दो ।

२ गव्यता मनसा शक्रं वा दभुः— गौर्वें प्राप्त करने
वाली बुद्धिसे जो शत्रुको दबाते हैं, 'घृष्णुयाः अभि
प्रमन्ति'— धैर्यसे शत्रुपर जो प्रहार करते हैं उस समय 'न'
अन्तमः तनूपाः भव'— हमारे समीप रहकर संरक्षण
करनेवाला तू हो ।

[सूक्त ८४]

(ऋषिः — १-३ मधुच्छन्दाः । देवता — इन्द्रः ।)

इन्द्रा याहि चित्रमानो सुता इमे त्वायवः । अर्षीभ्रिस्तना पूतासः ॥ १ ॥
 इन्द्रा याहि धियेपितो विप्रजृतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥
 इन्द्रा याहि तूर्तज्ञान उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नथनः ॥ ३ ॥ (५२८)

[सूक्त ८५]

(ऋषिः — १-२ प्रगाथः, ३-४ मेध्यातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

मा चिदुन्यद्वि शंसत सखायो मा रिपण्यत ।
 इन्द्रमितस्तोता वृषणं सचा सुते मुहुर्कथा च शंसत ॥ १ ॥
 अवक्रक्षिणं वृषमं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
 विद्वेषणं संवर्ननोभयंकरं मंहिष्ठमभयाविनम् ॥ २ ॥
 यच्चिद्वि त्वा जना इम नाना हवन्त ऊतये ।
 अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेहा विश्वा च वर्धनम् ॥ ३ ॥
 वि तूर्तर्पन्ते मघवन्विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
 उप क्रमस्व पुरुरूपमा मरं वाञ्छं नेदिष्ठमूर्तये ॥ ४ ॥ (५३२)

(सूक्त ८४)

(चित्रमानो इन्द्र) हे आश्चर्यकारक तेजस्वी इन्द्र !
 (आ याहि) आ, (इमे सुता त्वायवः) ये सोमरस
 घेरे लिये निकाले (अर्षीभिः तना पूतासः) और अंग-
 लियेसि छीन कर पवित्र दिये हैं ॥ १ ॥ (ऋ. १।३।५)

हे इन्द्र ! (धिया इपितः) बुद्धिसे श्रेष्ठित हुआ (विप्र-
 जृतः) ब्राह्मणोंसे चतुर्जित हुआ (सुतावतः वाघतः
 ब्रह्माणि) सोमरस निकालनेवाले स्तोत्रोंके स्तोत्रोंके (उप
 आ याहि) पान आ ॥ २ ॥ (ऋ. १।३।५)

हे (हरिवः इन्द्र) घोड़ोंवाले इन्द्र ! (तूर्तज्ञानः)
 त्वरा करता हुआ (ब्रह्माणि उप आ याहि) स्तोत्रोंके
 पाठके पास आ । (नः सुते चनः दधिष्व) हमारे सोम-
 रसमें आनन्द मान ॥ ३ ॥ (ऋ. १।३।६)

(सूक्त ८५)

हे (सखायः) मित्रो ! (अन्यस् चित् मा वि शंसत)
 किसी अन्यकी प्रशंसा न करो, (मा रिपण्यत) मत घब-
 राओ ! (सुते) सोमरस निकालने पर (सचा) साथ

बैठकर (वृषणं इन्द्र इत् स्तोत्र) सामर्थ्यवान् इन्द्रकी ही
 स्तुति करो । (मुहुः उक्था च शंसत) बारबार उच्छे ही
 स्तोत्र गाओ ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१।१)

(अवक्रक्षिणं) शत्रुको नचि फेंकनेवाले, (वृषमं)
 बलवान्, (अजुरं) बद्ध न होनेवाले, (गां न यथा)
 गौ श्रेष्ठे सभ्य अन्न देनेवाले (चर्षणीसहं) शत्रुओंका परा-
 मव करनेवाले, (विद्वेषणं) दुष्टोंका द्वेष करनेवाले (संव-
 नन-उभयंकरं) श्रेष्ठोंकी सहायता करनेवाले, ये दोनों कार्य
 करनेवाले, (मंहिष्ठं) बड़े श्रेष्ठ (उभयाविनं) दोनोंको
 मिलानेवाले इन्द्रके स्तोत्र गाओ ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१।२)

(इमे नाना जनाः) ये नाना प्रकारके लोग (ऊतये)
 सुरक्षाके लिये (यत् चित् हि त्वा हवन्ते) जो कुछ तैरी
 ही प्रार्थना करते हैं । हे इन्द्र ! (अस्माकं इदं ब्रह्म) हमारा
 यह स्तोत्र (इह ते विश्वा च वर्धनं भूतु) यहाँ तेरा
 महत्त्व बढ़ानेवाला हो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१।३)

हे (मघवन्) घनवान् इन्द्र ! (जनानां विपश्चितः
 विपः अर्यः) लोगोंके बीचमें जो शत्रु श्रेष्ठ लोग (वि

[सूक्त ८६]

(ऋषिः — १ विश्वामित्रः । देवता — इन्द्रः ।)

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनक्ति हरी सखाया सघमादे आशु ।
स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन्प्रजानन्विष्टां उप याहि सोमम्

॥ १ ॥ (५३३)

[सूक्त ८७]

(ऋषिः — १-७ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

अध्वयवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषमायं क्षितीनाम् ।
गौराद्देदीयां अब्रुवान्मिन्द्रो विश्वाहेयाति सुतसोममिच्छन्
यदधिपे प्रदिवि चार्वर्चं दिवोर्दिवे पितिमिदस वक्षि ।
उत हृदोत मनसा जुपाण उग्रविन्द्र प्रस्यितान्पाहि सोमान्
जज्ञानः सोमं सहसे पपाय प्र ते माता महिमानं उवाच ।
एन्द्रं पप्रार्थोर्वन्तरिक्षं युषा देवेभ्यो वरिवक्षकथं
यद्योषया महतो मन्यमानान्साक्षाम् तान्वाहुभिः शार्शदानान् ।
यदा नृभिर्वृत इन्द्रामियुष्यास्तं त्वयाजि सौश्रवसं जयेम

॥ १ ॥

॥ २ ॥

॥ ३ ॥

॥ ४ ॥

तत्पर्यन्ते) विशेष श्रुति गते है । उनके (उप क्रमस्व) पाष आ । (ऊतये) उनके सरक्षणके लिये (नेदिष्ठं पुरु-रूपं घार्जं) पाषवाण अनेक रथोंमें मिलनेवाला शक्तिवर्धक अन्न (आ मर) मरपूर मर दे ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।१।४)

इस सूक्तमें द्वितीय मंत्र इन्द्रके गुणोंका वर्णन करता है ।

(सूक्त ८६)

(ब्रह्मणा) ज्ञानसे (ब्रह्मयुजा) सखाया ते हरी) इसारेसे जुहनेवाले मित्र रूप दोनों घोडे (आशु) शीघ्र जानेवाले (सघमादे युनक्ति) आनेद देनेवाले रथमें बोधता है । हे इन्द्र । (स्थिरं सुखं रथं) सुदृढ सुखदायी रथपर (अ धितिष्ठन्) चढकर (प्रजानन् विष्टान्) जानता हुआ ज्ञानी तू (सोमं उप याहि) सोमके समीप आ ॥ १ ॥ (ऋ. ३।१।४)

(सूक्त ८७)

हे (अध्वयवः) अध्वयुगण । (क्षितीनां वृषमाय) सर्व मनुष्योंके मुख्य इन्द्रके लिये (दुग्धं अरुणं अंशुं) दोहे हुए गाल रसका (जुहोतन) हवन करो । (गौरात् अब्रुवानं वेदीयान्) गौर गृहसे अधिक अच्छी तरह अपने पंक्ति स्थानको जाननेवाला इन्द्र (सुतसोमं इच्छन्) सोम रस निकालनेवालेकी इच्छा करता हुआ (विश्वाहा इत् याति) प्रतिदिन उसके पास जाता है ॥ १ ॥

(ऋ. ७।१।१)

(प्रदिवि यत् चारु अन्नं दधिपे) प्रतिदिन त्रिष सुन्दर अन्नकी इच्छा तू रखता है और (दिवे दिवे अस्य पीति इत् वक्षि) प्रतिदिन इसके पान करनेकी प्रशंसा करता है । हे इन्द्र । (उत हृदा उन मनसा जुपाणः) हृदयसे और मनसे प्रीति करता हुआ और (उग्रन्) इच्छा करता हुआ तू (प्रस्यितान् सोमान् पाहि) फेलासे सोमरसको पा ॥ २ ॥ (ऋ. ७।१।१)

(जज्ञानः सोमं सहसे प्र पपाय) अन्वैते ही सोमको बलके लिये पीया या : (माता ते महिमानं उवाच) तेरी माता- आदितिनै तेरी महिमाका वर्णन किया था । हे इन्द्र । (उग्र अन्तरिक्षं वा पप्रार्थ) विस्तारमें अन्तरिक्षको तुने मर दिया और (युषा देवेभ्यः वरिवः चकथं) युद्धसे देवोंके लिये श्रेष्ठपन प्राप्त कर दिया ॥ ३ ॥ (ऋ. ७।१।१)

(यत् महतो मन्यमानान् योषय) जब तुने अपने आपको बडे माननेवालोंको युद्धमें पराजित किया, (तान् शास-दानान् वाहुभिः साक्षाम्) उन घमंठ माननेवालोंको हम अपने बाहुओंसे पराभूत करेंगे । (यत् वा) किंवा हे इन्द्र । (नृभिः वृतः अमियुष्याः) वीरोंसे घिरा हुआ तू युद्ध करता है, (तं याजि त्वया सौश्रवसं जयेम) तब युद्धको हम तेरे साथ रहकर यशस्वी रीतिसे जीवेंगे ॥ ४ ॥

(ऋ. ७।१।१)

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार ।

यदेददेवीरसंहिष्ट माया अथाभवत्केवलः सोमो अस्य ॥ ५ ॥

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत्पश्यसि चर्क्षसा सूर्यस्य ।

गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥ ६ ॥

घृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यपश्येशाथे उत पार्थिवस्य ।

घत् रयिं स्तुवते कीरये चिद्युं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥ (५४०)

[सूक्त ८८]

(ऋषिः — १-६ वामदेवः । देवता — वृहस्पतिः ।)

यस्तस्तम्भ सहसा वि जमो अन्तान् वृहस्पतिंस्त्रिपधस्यो रवेण ।

तं प्रनास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥ १ ॥

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो घृहस्पते अभि ये नस्तुले ।

पृषन्तं सुप्रमदंघमूर्ध्व घृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ २ ॥

(इन्द्रस्य प्रथमा कृतानि) इन्द्रके पहले किये हुए कर्मोंका (प्र वोचं) में वर्णन करता है (मघवा नूतना या प्र चकार) और इन्द्रे जो नवीन कर्तव्य किये हैं । (यदा अदेवीः मायाः इत् असाहिष्ट) जब अगुरोंके कपटोंको पराभूत किया (अथ अस्य केवलः सोमः अमघत्) तब केवल इतीका सोम हुआ ॥ ५ ॥ (ऋ. ७.१८.५)

(इदं विश्वं पशव्यं अभितः तव) तैरा यह सब पशुजगत् चारों ओर है । (यत् सूर्यस्य चर्क्षसा पश्यसि) जो तू सूर्यकी आंखसे देखता है (इन्द्र ! गवां एकः गोपतिः असि) हे इन्द्र ! तू गौओंका अकेला गोपालरू है, (ते प्रयतस्य वस्वः भक्षीमहि) तैरे दिये धनका हम भोग करेंगे ॥ ६ ॥ (ऋ. ७.१८.६)

७ देखो अथर्व. २.११७।१२। (ऋ. ७.१८.७)

इस सूक्तमें इन्द्रका विशेष वर्णन यह है—
१ यत् महतो मन्यमानान् योधय, तान् शाल वानान् बाहुभिः साक्षाम— जब बड़े धर्मकी वीरोंसे युद्ध हुआ, तब उनको बाहुओंसे हमने पराभूत किया ।

२ नृभिः वृताः अभियुध्याः तं आजिं त्वया सौध्र-
वसे जयेम— जब तू वीरोंके साथ युद्ध करने लगा तब उस युद्धमें तैरे साथ रहकर हम यशस्वी रीतिसे विजयी होंगे ।

३ इन्द्रस्य प्रथमा कृतानि प्र वोचं— इन्द्रके पहिले पराक्रमोंका वर्णन मैंने किया ।

४ मघवा नूतनाया प्र चकार— इन्द्रे नये पराक्रम किये उनका भी वर्णन किया ।

५ यदा अदेवीः माया असाहिष्ट— अगुरोंकी कपट-
नीतिका जब उसने परामव किया ।

६ इन्द्र ! गवां एकः गोपतिः असि, ते प्रयतस्य
घवसः भक्षीमहि— हे इन्द्र ! तू गौओंका एक स्वामी है,
तैरे दिये धनका हम भोग करेंगे ।

(सूक्त ८८)

(त्रिपधस्यः वृहस्पतिः) तीन स्थानोंमें रहनेवाले वृहस्पति-
तिने (जमः अन्तान्) पृथिवीके अन्तोंका (रवेण सहसा
वि तस्तम्भ) गर्भनाके साथ स्थिर किया । (तं मन्द्र-
जिह्वं) उस आनंदित भाषण करनेवाले वृहस्पतिकी (प्रनासः
दीध्यानाः विप्राः ऋषयः) प्राचीन ध्यान करनेवाले विशेष
ज्ञानी ऋषियोंने (पुरः दधिरे) सामने स्थापन किया ॥ १ ॥
(ऋ. ४।५.०।१)

हे वृहस्पते ! (धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तः) गतिमान्
शुभ चिन्होंसे आनंदित होनेवाले (ये नः अभि ततस्ये)
जिन्होंने हमपर दबाव डाला है, उनके (पृषन्तं) सिंचन
करनेवाले (सूर्यं अदधं ऊर्वं) गतिमान् अहिंसित और
विश्वीर्य (अस्य योनिं) ऐसे इसके उरपतिस्थानकी, हे
वृहस्पते ! (रक्षतात्) सुरक्षा कर ॥ २ ॥ (ऋ. ४।५.०।२)

बृहस्पते या परमा परावदत् आ त ऋतस्पृशो नि पैदुः ।
 तुभ्यं खाता अचता अद्रिदग्धा मध्वं श्रोतन्त्यभितो विरप्यम ॥ ३ ॥
 बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन् ।
 सप्तार्भ्यस्तुविजातो रवेण वि सुप्ररंश्मिरधमत्तमांसि ॥ ४ ॥
 स सुष्टुभा स ऋकंता गुणेन बलं रुरोज फालिगं रवेण ।
 बृहस्पतिरुस्त्रियां हव्यसूदुः कर्निक्रदुद्वावेद्यतीरुदाजत् ॥ ५ ॥
 एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविभिः ।
 बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥ (५४-)

[सूक्त ८५]

(ऋषि — १-११ ऋण । देवता — इन्द्र. ।)

अस्तैव सु प्रतर लायमस्यन्भूपन्नि प्र भरा स्तोमममै ।
 वाचा विप्रास्तरत् वाचमर्यो नि रामय जरितुः सोम इन्द्रम् ॥ १ ॥
 दोहनं गामुपं शिक्षा सरायुं प्र वोधय जरितर्जारामिन्द्रम् ।
 कोशं न पूर्णं वसुना न्यष्टमा च्यावय मघदेर्याय शूरम् ॥ २ ॥

द बृहस्पते । (या परमा) जो दूर स्थान है (ते
 ऋतस्पृशः) व सलकी स्पर्श करनेवाले (परावदत् अत
 ना निपेदु) उस दूर स्थानस आकर यहाँ बैठे हैं । (तुभ्यं
 खाता अचता) तरे लिय खादे कृषके समान (अद्रि
 दग्धा) पत्थरोंसे बूटकर निकाला (मध्वं विरप्यं
 अमितः श्रोतन्ति) मधुर रसकी नहरें चरों और बह रही
 हैं ॥ ३ ॥ (ऋ ५५०१३)

(एवा वृष्णे पित्रे विश्वदेवाय) इस तरह शक्तिमान्
 पिता विश्वदेवका (यज्ञैः नमसा हविभि विधेम) यज्ञ
 नमस्कार और हव्यसे सत्कार करें । हे बृहस्पते ! (सुप्रजा
 वीरवन्तः वयं स्याम) उत्तम प्रजा और पुत्रपौत्रोप्युक्त
 हम हों तथा हम (रयीणां पतयः) धनोंके स्वामी
 बनेंगे ॥ ६ ॥ (ऋ ५५०१६)

(सूक्त ८५)

वृत्स्वात (प्रथम) पहिले (महो ज्योतिषः परम
 द्यमान्) बड़ा ज्योतिष परम आकाशमें (जायमान)
 उत्पन्न हुआ । (सप्त-आस्यः) सात मुखवात्रा (तुवि
 जात) बहुगुण प्रकट हुआ इस (सप्तरदिम) सात
 दिग्ग वात्रन (रवेण तमांसि अघमत्) बड़े शब्दसे
 न धरारकी दूर आकाश ॥ ४ ॥ (ऋ ५५०१४)

(स सुष्टुभा) उत्तमे उत्तम स्तुतिम (स ऋकंता
 गुणेन) उत्तम स्तोत्रोंके गुणोंके (रवेण फालिगं बल
 रुराज) २ दिग्ग दुष्ट वाको गोक दिया । (बृहस्पति)
 बृहस्पतिने (हव्यसूदु उस्त्रिया) हव्यकी सूदु बनानेवाली
 (चावशती कर्निक्रदत् उदाजत) शब्द करनेवाली
 गौत्रीकी गर्जना करते हुए दौड़ दिया ॥ ५ ॥ (ऋ ५५०१५)

(अस्ता इव लाय प्रतरं सु अस्यन्) जैसा वाण
 फेंकनेवाला वाणको दूर फकता है, वैसे ऋषीका जैसा (भूपन्
 इत्) सुभूषित करता है उस तरह (अस्मै स्तोम प्र भर)
 हम इन्द्रके लिये स्तोत्र अर्पण करो । हे (विप्रा) ज्ञानियो ।
 (वाचा अर्थः वाच तरत) अपनी श्रुतवाणीसे शत्रुकी
 दुष्ट वाणीका तैर कर परे जाओ । हे (जरित) स्तुति करने
 वाले । (इन्द्र सोमो नि रामय) इन्द्रको सोममें रममाण
 करा ॥ १ ॥ (ऋ १०५२११)

(दोहनं ग गा) दोहन कालमें जैसे गौको बुलाते हैं,
 उस तरह (सखाय उप शिक्ष) मित्र इन्द्रको अपने पास
 बुलाओ । हे (जरित) स्तोम । (जार इन्द्र प्र वोधय)
 प्यार करनेवाले इन्द्रको जगानो । (पूर्णं कोश न) धनसे

किमुङ्ग त्वां मघवन्भोजमाहुः शिश्रीहि मां शिश्रयं त्वां शृणोमि ।

अर्मस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुधिदं भगमिन्द्रा भरा नः

॥ ३ ॥

त्वां जना ममसत्येर्ध्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके ।

अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सुरूपं वष्टि शूरः

॥ ४ ॥

घनं न स्पुन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीप्रान्तसोमा आसुनोति प्रयंस्वान् ।

तस्मै शत्रून्सुतुफान्प्रातरहो नि स्वर्प्रान्युवति हन्ति वृत्रम्

॥ ५ ॥

यस्मिन्वयं दधिमा संसमिन्द्रे यः शिश्रायं मघवा कर्ममस्मे ।

आराचित्सन्भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम्

॥ ६ ॥

आराच्छत्रुमयं वाघस्य दूरमुग्रो यः शर्म्यः पुरुहूत तेर्न ।

अस्मे धेहि यवमद्रोर्मदिन्द्र कृषी धियं जरित्रे वाजरत्नाम्

॥ ७ ॥

प्र यमन्तवृषसवासो अर्मन्तोवाः सोमा बहुलान्तासु इन्द्रेम् ।

नाहं द्रामानं मघवा नि यंसन्नि संवृते बहति भूरि वामम्

॥ ८ ॥

पूर्व से येतेके समान (वसुना न्युष्टं शूरं) घनके बोझसे नीचे झुके शूर इन्द्रको (मघदेवाय आ व्याधय) घन देनेके लिये हिला दो ॥ २ ॥ (ऋ. १०।४२।२)

हे (अंग मघवन्) प्रिय घनवान् इन्द्र । (किं त्वा भोजं आहुः) क्या तुझे उदार दाता बड़ेते हैं ? (मा शिश्रीहि) मुझे तीक्ष्ण कर । (त्वा शिश्रायं शृणोमि) तुझे तीक्ष्ण बनानेवाला करके सुनता हूँ । हे (शक्र) समर्थ इन्द्र ! (मम धीः अपस्वती अस्तु) मेरी बुद्धि कर्म करनेमें प्रेम रखनेवाली हो । हे इन्द्र ! (वसुधिदं भगं नः आ शर) घन देनेवाला माग्य हमारे लिये ला दे ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।४२।३)

हे इन्द्र ! (जनाः ममसत्येषु संतस्थानाः) लोग युद्धमें खड़े रहे (समीके त्वां विहयन्ते) युद्धमें तुझे डराने हैं । (अत्र यः हविष्मान्) यहाँ जो हविष्मान्नाका इतन करता है (युजं कृणुते) वह इन्द्र उषको मित्र बनाता है (असुन्वता सरय्य शूरः न वष्टि) सोम रस न निकालनेवालेके साथ शूर इन्द्र मित्रता नहीं करना चाहता ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।४२।४)

(यः प्रयंस्वान्) जो प्रयत्न करनेवाला (बहुलं स्पुन्द्रं घनं न) बड़े रथयुक्त घनही तरह (तीप्रान् सोमान् आ सुनोति) तीव्र धामात्र निकालता है (तस्मै अह्नः

प्रातः) उषके लिये दिनके खबरेके समय (सुतुकान् स्व-प्रान् शत्रून् नि युवति) उक्तम वंतामवाले और उक्तम भक्षणवाले शत्रुओंको भी वह इन्द्र दूर करता है और (वृत्रं हन्ति) वृत्रकी-धेरेवाले शत्रुको-मारता है ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।४२।५)

(यस्मिन् इन्द्रे वयं शंसं दधिम) जिस इन्द्रमें हम अपना स्तोत्र भरते या गाते हैं (यः मघवा अस्मे कर्म शिश्राय) जो इन्द्र हमारे विषयमें प्रेम रखता है, (अस्य शत्रुः आरात् चित् सन् भयतां) इसका शत्रु दूरसे भी डरे करता है, (अस्मै द्युम्ना जन्या नि नमन्तां) इसके सामने मानवाके संबन्धके सारे तेज विनम्र होकर रहेंगे ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।४२।६)

(शत्रुं आरात् शूरं) शत्रुको दूरसे दूर, हे (पुरुहूत) बहुलता द्वारा बुलाने जनेवाले इन्द्र ! (यः उग्रः शर्म्यः तेन) जो उग्रहारा उग्र बन्न है उससे (अप वाघस्य) मार कर हरा दे । हे इन्द्र ! (अस्मे यवमत् गोमत् धेहि) हमें जी और गौओंके साथ रहनेवाला घन दे । (जरित्रे धियं वाजरतां कृषि) स्तोत्राके लिये उषकी बुद्धिको अन्न और रत्नोंके युक्त कर ॥ ७ ॥ (ऋ. १०।४२।७)

(वृषसवासः यं अन्तः) बलवान् इन्द्रके अन्दर (तीवाः सोमाः बहुलान्तासः) तीव्र सोम बहुत प्रकारसे

उत् प्रहामर्तिदीवा जयति कृतमिव शुभा नि चिनोनि काले ।

यो देवकामो न धनं कृणाद्धि समिच्चं रायः सृजति स्वधार्मिः ॥ ९ ॥

गोभिष्टरेमामर्ति दुरेयां यवेन वा धुर्धं पुरुहृत् विश्वे ।

वयं राजेसु प्रथमा धनान्परिंष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥ १० ॥

वृहस्पतिर्नः परिं पातु पश्चाद्भूतोत्तरस्माद्धरादघ्रायोः ।

इन्द्रः पुरस्ताद्भुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु ॥ ११ ॥ (५७७)

[सूक्त ९०]

(ऋषिः — १-३ भरद्वाजः । देवता — वृहस्पतिः ।)

यो अद्रिभित्प्रथमजा क्रतावा वृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान् ।

द्विर्वहंजमा प्राघर्मसत्पिता न आ रोदसी वृषभो रौरवीति ॥ १ ॥

(प्र अग्नयः) गय । (मघवा दामानं न अह नि यमत्) धनवान् इन्द्र अग्ने दानको नहीं रोक्ता, (सुव्यते भूरि वाम नि वहति) होमरस निष्ठाग्नेवाले लिये बहुत धन देता है ॥ ८ ॥ (ऋ १०।४२।८)

१—१० देखो अथर्व ७।५० (५२) । ६-७,

११ देखो अथर्व ७।५१ (५३) १ ।

इय मूल में इन्द्रके ये पुत्र दिष्टाये हैं—

१ वसुना नृष्ट शूर मग्नेयाय आच्यायय— धन वान शूर इन्द्रको धन देनेके लिये प्रेरित कर ।

२ स्वा शिशयं शृणोमि— तू तीक्ष्ण करनेवाला है एसा मैं सुनता हू ।

३ वसुविद् भगं न आ भर— धनसे परिपूर्ण माग्घ हमें ला द ।

४ ममसत्येषु सन्याना जना सर्माके स्वां विद्वयन्ते— बुद्धीमें खट रहे लोग बुद्धके समय बुझे सहायतार्थ बुलाते हैं ।

५ युज कृणते— वह मित्र करता है ।

६ सुतुकान् स्वपान् (सु-अस्वान्) शशून् नि युवति— उत्तम और सतानवाले और उत्तम अश्ववाले शशु-ओंको भी वह दूर करता है ।

७ वृत्रं हन्ति— इनको मारता है, धेरनेवाले शत्रुको मारता है ।

८ अथय शशु आरात् चित् सन् भयता— इष्ट इन्द्रके शत्रु दारसे भी दनको उरते हैं ।

९ जसं घग्ना जग्या नि नमतां— इमके सामने मानकोने सारे तेजस्वना प्रदान नम्र होते हैं ।

१० हे पुरुहृत् ! य उग्र शम्भः तेन आरात् शशुं दूर अप् वाघय— हे बहुतों द्वारा बुलाये जानेवाले इन्द्र ! जो तुम्हारा उग्र वज्र है उरसे दारसे ही शत्रुको परामृत कर ।

११ अस्मै यमत् गोमत् घोहि— हमें जो और युक्त धन दे ।

१२ जरित्रे धिय वाजरतां कुधि— स्तोलाकी बुद्धीको अन्न और रसोंमें युक्त कर ।

१३ मघवा दामानं न नि यंसव— इन्द्र दनको रोक्ता नहीं ।

१४ सुव्यते भूरि वाम नि वहति— यज्ञकर्ताको बहुत उत्तम धन देता है ।

(सूक्त ९०)

(य अद्रिभित्) जो पहाड़ी किल्लोंको तोड़नेवाला, (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न, (क्रतावा) सफलसे युक्त, (हविष्मान्) हविषे युक्त (आंगिरस वृहस्पति-) आंगिरसका पुत्र वृहस्पति (द्विर्वहंजमा) दो मार्गोंवाला, (घर्मसद्) यज्ञस्थानमें रहनेवाला (नः पिता) हमारा पिता (वृषभ-) बलवान् (रोदसी आ रौरवीति) यौ और पृथक्के मध्यमें बड़ा शब्द करता है ॥ १ ॥

(ऋ ६।७३।१)

जनाय चिद्य ईर्वत उ लोके वृहस्पतिर्दुवहती चकार ।

मन्वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयं छत्रैर्मित्रान्पृस्तु साहन्

॥ २ ॥

वृहस्पतिः समजयद्वसूनि महो व्रजान्गोमतो देव एषः ।

अपः सिपासन्त्स्वंप्रतीतो वृहस्पतिर्हन्त्यमित्रंमकैः

॥ ३ ॥ (५६०)

॥ इति सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

[सूक्त ९१]

(आधिः — १-१९ अयास्यः । देवता — वृहस्पतिः ।)

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता नं क्रुतप्रजातां वृहतीमोविन्दत् ।

तुरीयं विश्वजनयद्विश्वजन्योऽयास्यं उक्थामिन्द्राय शंसन्

॥ १ ॥

क्रुतं शंसन्त क्रुतु दीर्घाना द्विवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।

विषं पदमङ्गिरसो दर्धाना यज्ञस्य धामं प्रथमं मनन्त

॥ २ ॥

(यः वृहस्पतिः देवते जनाय चित् लोके उ) वृहस्पति उक्तम लोकोके लिये सुना स्थान (देवहृती चकार) देशके आछान करनेके यत्न करता है । (वृत्राणि इन्) इत्रोंकी मारता है, (पुरः वि दर्दरीति) शत्रुके किलोरो तोडता है, (शत्रुन् जयन्) शत्रुओंको जीतता है और (अमित्रान् पृस्तु साहन्) अपानांमि अमित्रोंको पराभूत करता है ॥ २ ॥ (म. ६।७३।२)

(वृहस्पतिः वसूनि समजयत्) वृहस्पतिने 'वसू'की जीत लिया । (एष देवः महो गोमतः व्रजान्) इष देवने बड़े गौओवाले वाघोंको जीता । (अपः सिपासन्) जलोको प्राप्त करना चाहा और (स्वः) प्रजासको प्राप्त करना चाहा (अप्रतीतः वृहस्पतिः) पीछे न हटनेवाले वृहस्पतिने (मकैः अमित्रं हन्ति) रतोश्रीये-तेमोशिये-शत्रुको मारा ॥ ३ ॥ (म. ६।७३।३)

वृहस्पतिके ये गुण इस सूक्तमें कहे हैं—

१ अद्रिभित् क्रतावा धर्मसत् हविष्मान् वृषभः द्विषहृत्मा प्रथमजाः— शत्रुके किलोको तोडता है, सब-मार्गसे जानेवाला, दशम बैठनेवाला, हविर्गुण बलवान्, दोनों मार्गसे जानेवाला प्रथम उत्पन्न वृहस्पति है । द्विषहृत्मा— दो शिखावाला, दो मार्गसे जानेवाला ।

२ वृत्राणि इन्— इत्रोंको मारता है ।

३ पुरः दर्दरीति— शत्रुके किलोको तोडता है ।

४ शत्रुन् जयन्— शत्रुओंको जीतता है ।

५ अमित्रान् पृस्तु साहन्— शत्रुको युद्धमें पराभूत करा है ।

६ वृहस्पतिः वसूनि समजयत्— वृहस्पति धनोंको जीतता है ।

७ एष देवः महो गोमतः व्रजान् समजयत्— इष देवने बड़े गौओवाले वाघोंको जीता ।

८ अप्रतीतः वृहस्पतिः अकैः अमित्रं हन्ति— पीछे न हटनेवाला, वृहस्पति अपने तेजस्वी साधनोंसे शत्रुको मारता है । अकैः— हिरण, तेजस्वी शस्त्र ।

॥ यदां सप्तम अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त ९१)

(नः पिता) हमारे पिताने (इमां सप्तशीर्ष्णीं क्रुत-प्रजातां वृहतीं धियं) इस बात तिरौनालो कर्तव्य उत्पन्न हुई यही रतुतिरो (अविन्दत्) प्राप्त किया । (अयास्यः इन्द्राय उक्थं शंसन्) अयास्यने इन्द्रके लिये रतुति कहनेके समय, (विश्वजनयः) छप मानवोंका हित करनेकी इच्छासे (तुरीयं विश्व जनयत्) चतुर्थको निर्माण किया ॥ १ ॥ (ऋ. १-१५।१)

(क्रुतं शंसन्तः) कर्तव्य करनेवाले, (क्रुतु दीर्घाना) धरल रीतिसे सोचनेवाले, (असुरस्य वीराः) बलशत्रुके वीर (द्विवस्पुत्रासः) युद्धे पुत्र (विषं पदं दर्धाना)

हुसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरदमन्मयानि नहना व्यसन् ।
 बृहस्पतिरभिकनिकदुद्रा उत प्रास्तौदुचं विद्वाँ अंगायत् ॥ ३ ॥
 अत्रो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीऽमृतस्य सेतौ ।
 बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नदुद्रा आकृषि हि तिस्र आवः ॥ ४ ॥
 विमिथ्या पुरं श्रयथेमपाचीं निस्त्राणि साकष्टुधेरंकुण्वत् ।
 बृहस्पतिरुपसं सूर्यं गामकं विवेद स्तनयन्निव धीः ॥ ५ ॥
 इन्द्रो वलं रक्षितारं दुधानां करेणैव वि चकर्ता रवेण ।
 स्वेदास्त्रिमिराशिरंमिच्छमानोऽरोदयत्पणिमा गा अमुष्णात् ॥ ६ ॥
 स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिरगोषायसं वि धनसैरददः ।
 ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्धर्मस्वैदेभिर्द्रविणं व्यानिदत् ॥ ७ ॥
 ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानासं इषणयन्त धीभिः ।
 बृहस्पतिर्मिथोऽवद्यपेभिरुद्रास्त्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥ ८ ॥

अमिरस्तः) विप्रका पद धारण करनेवाला औररसोने
 (यष्टस्य घाम प्रथमं मनन्त) यज्ञके नियम प्रथम मनन
 क्रिये अथवा माने ॥ ३ ॥ (श्र. १०।६।१२)

(हुंसैः इव) हुंसोके समान (वाद्यद्भिः सखिभिः)
 बोलनेवाले मित्रोंके साथ [महतोंके साथ] (अदमन्मयानि
 नहना व्यसन्) पत्थोंके बन्धनोंकी खोलकर (बृहस्पतिः
 गा. अभिकनिकदुद्रत्) बृहस्पतिने गौओंकी और गर्जना की
 (उत प्रास्तौत्) और स्तुति की, (विद्वाँ उच्च अगा-
 यत्) जानते हुए उसने उच्च स्वरसे गायन किया ॥ ३ ॥
 (श्र. १०।६।१३)

(अत्रो द्वाभ्यां) नीचे दोनोंके साथ (पर एक या)
 और परे एकके साथ (गुहा तिष्ठन्तीऽमृतस्य सेतौ)
 गुहामें अमृतके सेतुमें रहनेवाला (तिस्र. गा.) तीन गौओंको
 (बृहस्पतिः तमसि ज्योतिः इच्छन्) बृहस्पतिने अन्ध-
 कारमें तेजकी इच्छा करके (वाचः वि आकः) प्रकट
 किया ॥ ४ ॥ (श्र. १०।६।१४)

(अपाचीं पुरं विमिथ्य) पथिमी किलेको तोड़कर (ईं
 श्रयथ) साथ रहकर (साकं त्रीणि उद्येः अकृण्वत्)
 साथ साथ तीनोंको समुद्रसे निकाला । (धीः इव स्तनयन्)
 युके समान गर्जते हुए (बृहस्पतिः) बृहस्पतिने (उपसं

सूर्यं गां) उषा, सूर्य, गाँ और (अर्के विवेद) विद्युत्को
 प्राप्त किया ॥ ५ ॥ (श्र. १०।६।१५)

(इन्द्रः दुधानां रक्षितारं वलं) इन्द्रने गौओंके रक्षण
 करनेवाले बलको (करेण इव रवेण वि चकर्त) हाथसे
 तथा गर्जनासे काटा । (स्वेदास्त्रिमिः आशिरं इच्छमानः)
 आभूषणोंवाले मरुतोंके साथ दुग्धपानकी इच्छा करनेवाले इन्द्रने
 (गाः अमुष्णात्) गौओंको छीन लिया और (पणि या
 अरोदयत्) पाणको हलाया ॥ ६ ॥ (श्र. १०।६।१६)

(सः ईं) उसने (सत्येभिः शुचद्भिः धनसै
 सखिभिः) सत्यशुचि धनसे दान करनेवाले मित्रों [महतों]
 के साथ रहकर (गो-घायसं वि अददः) गौओंको पकड़
 कर रखनेवाले [बल] को फाड़ दिया । (ब्रह्मणस्पतिः
 धर्मस्वैदेभिः वराहैः व्यभिः) ब्रह्मणस्पतिने धर्मसे स्वेद
 जिनपर आया है, ऐसे बलवान् जलवाहक [महतों] के द्वारा
 (द्रविणं व्यानिदत्) धनको प्राप्त किया ॥ ७ ॥
 (श्र. १०।६।१७)

(तं गाः इयानासः) वे गौओंके प्यार करते हुए
 (सत्येन मनसा) सच्चे मनसे (धीभिः गोपतिं इषण-
 यन्तः) और बुद्धिसे गौओंके पतिधी इच्छा करते हुए
 (बृहस्पतिः अवद्यपेभिः स्वयुग्भिः) बृहस्पतिने निर्दोष
 पान करनेवाले मित्रोंके साथ उस्त्रियाः असृजत) गौओंको
 योल दिया ॥ ८ ॥ (श्र. १०।६।१८)

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिद्धमिव नानदत्तं सुधस्यं ।

बृहस्पतिं वृषणं शूरासातौ भेरंभरे अनुं मदेम जिष्णुम् ॥ ९ ॥

यदा वाज्रमसंनद्धिश्चरूपमा दामरुक्षदुत्तराणि सद्यं ।

बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो विभ्रतो ज्योतिरासा ॥ १० ॥

सत्यामाशिषं कृणुता वयोधे कीरिं चिद्दधवधुं स्वभिरैवैः ।

पक्षा मृधो अपं भवन्तु विश्वास्तद्रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे ॥ ११ ॥

इन्द्रो मद्गा महतो अर्णवस्य वि मूर्धानमभिनदवुदस्य ।

अहन्नदिमरिणात्सप्त सिन्धुन्दैवैधीवापृथिवी प्रावर्तं नः ॥ १२ ॥ (५७०)

(संधस्ये सिद्धं नानदत्तं इव) समाने शेरके समान करनेके हुएके समान (शिवाभिः मतिभिः तं वर्धयन्तः) इस स्तोत्रोपे उसको बढाते हुए (वृषणं जिष्णुं बृहस्पतिं) बलवान् जयशील बृहस्पतिको (भेरंभरे शूरासातौ अनु मदेम) प्रबल दुन्देभे शूरोंको विजय देनेवाले सम्राममें आनन्द हो ऐसा करे ॥ ९ ॥ (श्र. १०६७१९)

(यदा विश्वरूपं वाजं असन्त्) जब उसने सब प्रकारके बलको जोता और (उत्तराणि सद्यं चां अरुक्षत्) जब वह यौमि कैके धरौंर वह चडा तब (वृषणं बृहस्पतिं वर्धयन्तः) बलशाली बृहस्पतिको बढाते हुए (आसा ज्योतिः विभ्रतो सन्तः नाना) सुखसे ज्योतिशे धारण करनेके लिये नाना प्रकारके स्तोत्र बोलने लगे ॥ १० ॥ (श्र. १०६७१०)

(आशिषं सत्यां कृणुत) आशीर्वादको मचा करो। (स्वैभिः एवैः वयोधे कीरिं चिन् हि अवय) आशु-पक्षा धारण करनेवाले अपनी गतिबोधे कविकी रक्षा करो। (विश्वा मृधः पक्षा अप भवन्तु) सब शत्रु पीछे भाग जाय। (विश्वं इन्वे रोदसी) सबके बनानेवाले यु और पृथिवी (शृणुतं) मेरा प्रार्थना सुने ॥ ११ ॥ (श्र. १०६७११)

(इन्द्रः मद्गा) इन्धने अपनी महिमामें (महतः अर्णवस्य अर्णवस्य) बड़े सागर-अन्तरिक्ष-के अर्णवका (मूर्धानं वि अभिनत्) गिरको तोडा, (अहिं अहन्) अहिंको मरा, (सप्त सिन्धुन् अरिणात्) सात नदियोंको बहाया (द्यावापृथिवी देवैः) यौ और पृथिवी सब देवोंके साथ (नः प्रावर्तं) हमारा रक्षा करे ॥ १२ ॥ (श्र. १०६७१२)

इस सूक्तमें बृहस्पति और इन्द्रके ये गण वर्णन किये हैं—
१ नः पिता इमां सप्तशीर्ष्णां क्रतुप्रजातां बृहतीं धियं अचिन्दत्— हमारा पिता-बृहस्पति-ने सात सिरों-वाली सरलनाके लिये प्रसिद्ध बड़ी बुद्धि प्राप्त की। सप्त-शीर्ष्णां धी— सात सिरोंवाली बुद्धि, कर्मशक्ति, दो आंख, दो कान, दो नाक, एक मुख मिलकर मननशक्तिके सात सिर हैं। इस सकेनकी अधिक खोज होनी चाहिये। यह पद यहाँ स्पष्ट अर्थ बतातेवाला नहीं है। इनमें जो गूडना है वह मयसमें नहीं आया है। विचारी पठक अधिक खोज करे।

इस सूक्तका ऋषि अयस्य है। अयास्य आंगिरसः अर्थात् यह अयस्यका गोत्र आंगिरस है। इस प्रथम मंत्रमें 'नः पिता' हमारा पिता ऐसा बृहस्पतिको उद्देशित करके कहता है ऐसा प्रतीत हो रहा है।

२ अयास्यः इन्द्राय उदर्यं शंसन्— अयास्य इन्द्रकी स्तुति करता है 'विश्वजन्यः तुरीयं जनयन्'— जब लोकोका हिन करनेकी इच्छासे चतुर्थ निर्माण किया। यह चतुर्थ क्या है इसका विचार विधित करना चाहिये। वह विद्वानोंका कार्य है।

३ क्रतुं शंसन्तः क्रतु दीध्यानाः असुरस्य धीराः दिवस्तुत्रासः विभ्रं पद दद्यानाः अंगिरसः यशस्य धाम प्रथमं मनन्ते— क्रतुकी प्रशंसा करनेवाले, यौधो रीतिमें विचार करनेवाले बलवान्के वीर युके पुत्र विर पद धारण करनेवाले अंगिरसोंने यज्ञता प्रथम स्थान मनन करके विधित किया। अंगिरसोंने यज्ञतां विधि प्रथम प्रकट की।

४ यावदद्विः सखिभिः अशमनयमानि नहन्ता व्यस्यन्— बोलनेवाले मित्रोंने-मन्त्रोंने-पक्षीमें बने किले तोड दिने और 'बृहस्पतिः गाः अमिकानिकन्दत्'—

[सूक्त ९२]

(ऋषिः — १-२९ प्रियमेधा; १६-०१ पुरुहन्मा । देवता — इन्द्र. ।)

आभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रं मर्चं यथां विदे । सुनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ १ ॥
 आ हरं यः ससृज्जिरेऽरुं पीरधिं वर्हिषिं । यत्राभि संनर्वा महे ॥ २ ॥
 इन्द्राय नावं आशिरं दुदुङ्गे वृजिणे मधुं । यत्सींशुपहुरे विदत् ॥ ३ ॥
 उदयद्रभ्रस्यं विष्टपं गृहमिन्द्रं गन्वहि । मध्वः पीत्वा संचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ॥ ४ ॥
 अर्चंत प्रार्चंत प्रियमेधासो अर्चंत । अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृण्वर्चंत ॥ ५ ॥

वृहस्पतिने गर्भना करके गौओंको बुलाया । अर्थात् असुरोंने गौओंको चुराकर पत्थरोंसे बने किल्लेमें रखी थीं । वृहस्पतिने मरुतोंके द्वारा वे किल्ले तोड़े और गौओंको बुलाया ।

५ अथ द्वाभ्यां पर एकया गुहा तिष्ठन्ती अनृतस्य सेतो तिस्र गाः वृहस्पतिः ज्योतिः इच्छन् व्यायः वि आकः— दो उरें एक परे ऐसी अवस्थामें गुहामें रहने-वाला असत्यवादी दुष्टके अधिकारमें तीन गौवें थीं, वृहस्पतिने ज्योतीकी इच्छा की और उन गौओंको बाहर निकाला ।

यहा प्रकाश निरणें गौवें प्रतीत हो रहें हैं । उनके पूर्व अन्धकार रहता है और प्रकाश किरण रुपी गौवें अन्धकारके कारण छिपी रहती है । उष काल होते ही अन्धकारका किला तुट जाता है और प्रकाशकी किरणें बाहर आती हैं । यह आलंकारिक वर्णन यहाँ है ऐसा प्रतीत हो रहा है ।

६ वृहस्पतिः उपस सूर्यं गां अर्कं विचेद— वृहस्पतिने उषा, सूर्य, गो (किरण) और विद्युत्को प्राप्त किया । इसमें प्रकाश किरणें गौवें है ऐसा प्रतीत होता है ।

७ इन्द्र. चलं वि चकतं, गाः अमुष्णात्, पणि आरोदयत्— इन्द्रने बलकी मारा, गौओंको बुलाया, पणिको रलाया ।

बल और पणि ये गौओंको चुरानेवाले हैं, इन्द्रने बलकी मारा, गौवें प्राप्त की और पणिको रुगया । गौवें इन्द्रने प्रसन्न की इसलिए पणि रौने लगे ।

८ म सखिभिः गो धायसं वि अर्द्ध— उन इन्द्रने अपने मित्रों-मरुतोंके द्वारा गौओंको पकड़कर रखने-वालेको मार दिया ।

९ वृषभिः द्रुचिणं वयानट्— बलवान् मरुतोंके द्वारा शत्रुसं द्रव्य प्राप्त किया । बल और पणि ये शत्रु हैं, इनकी

पराभूत करके उनका धन इन्द्रने या वृहस्पतिने अपने अर्थात् किया । शत्रुका धन लूटना यह युद्धनीतिका नियम ही है ।

१० पृषणं जिष्णु वृहस्पतिं भरे भरे शूरसातौ अनु मध्वेम्— बलवान् जीतनेवाले वृहस्पतिके प्रलेके युद्धमें जहाँ शूर पुरपोदा ही धाम होता है उस युद्धमें हम अनुमोदन करें ।

११ घृषणं वृहस्पतिं वर्धयन्तः— बलवान् वृ.स्पति की हम रतुति करके उसकी महिमाको बढ़ाते हैं ।

१२ इन्द्र महा अर्बुदस्य मूर्धानं वि अभिनत्— इन्द्रने यानी महा शक्तिसे अर्बुदके सिरको काटा ।

१३ आहः अहन्— आदिको मारा ।

१४ सप्त सिन्धून् अरिणान्— सात नदियोंको बहाया ।

शत्रुको मारा और नदियोंको बहाया । इन वर्णनोंसे ये शत्रु मेघ-या पहाड़पर पढ़नेवाला बर्ष है ऐसा प्रतीत होता है ।

(सूक्त ९०)

१-३ देवो अथर्व २०।२।४-६ (ऋ. ८।६।९।६-६)

(यद् भ्रमस्य विष्टपं गृहं) जब चमकनेवाले सूर्यके ऊँचे स्थानपर (इन्द्रः च) इन्द्र और में (उद् गम्गहि) चढे (मध्वः पीत्वा) मधुर सोमरस पीकर (सद्युः त्रिः सप्त पदे संचेवहि) हम दोनों मलाके स्थानपर तीन बार मात-२१ वर इकट्ठे हुए ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।६।१०)

(अर्चंत प्रार्चंत) उपासना करो, मूष उपासना करो । (प्रियमेधासः अर्चंत) हे प्रिय मेधा, उपासना करो (उत पुत्रकाः अर्चन्तु) छोटे बच्चे भी उपासना करें । (घृणु पुरं न अर्चन्त) वह अमेय किला है, ऐसा मानकर उपासना करो ॥ ५ ॥ (ऋ. ८।६।१०)

अवं स्वराति गर्गरो गोघा परिं सनिष्वणत् । पिङ्गा परिं चनिष्कदुदिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम् ॥ ६ ॥

आ यत्पतन्त्येन्युः सुदुघा अनपस्फुरः । अपस्फुरं गृमायत् सोममिन्द्राय पातवे ॥ ७ ॥

अपादिन्द्रो अपादिभिर्विचैं देवा अमत्सत ।

वरुण इदिह क्षयचमापौ अग्यनिपत वत्सं संशिश्वरीरिव ॥ ८ ॥

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः । अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्यो सुपिरामिव ॥ ९ ॥

यो व्यतीरकाणयत्सुर्युक्तां उप दाशुषे । तुको नेता तदिद्वर्षुषुमा यो अमुच्यत ॥ १० ॥

अतीदुं शुक्र ओहत इन्द्रो विश्वा अति द्विषः । भिनत्कनीनं ओदुनं पच्यमानं परो गिरा ॥ ११ ॥

अर्मको न कुमारकोऽर्धे तिष्ठन्नवं रथम् । स पक्षन्महिषे मृगं पित्रे माथे विमुकृतम् ॥ १२ ॥

आ त् सुंशिर दंपते रथं तिष्ठा हिरण्यथम् ।

अर्धं धृषं संचेवहि सहस्रपादमरुपं स्वस्तिगामनेहसम् ॥ १३ ॥

तं धैमित्था नमस्विन् उप स्वराजमासते । अर्थं चिदस्य सुधितं यदेतव आवर्तयन्ति द्रावजै ॥ १४ ॥

(गर्गः अत्र स्वराति) गोघा अत्र रही है, (गोघा परिं सनिष्वणत्) तंबुरेने स्वर मिलाया है, (पिङ्गा परि चनिष्कदत्) मयुर स्वरवालेने आलाप निकाले हैं (इन्द्राय ब्रह्म उद्यतम्) इन्द्रके लिये स्तोत्र गाये जा रहे हैं ॥ ६ ॥

(अ. ८।६१।९)

(यत् पच्यः सुदुघाः अनपस्फुरः) जब रंगेवाली, उषम दूध देनेवाली, न हिलनेवाली, (अनपस्फुरं आ पतन्ति) चखल न होनेवाली गाँवें आकर दूध पिताती हैं (इन्द्राय पातवे सोमं गृमायत्) इन्द्रके पानिके लिये गोमका प्रश्न करा ॥ ७ ॥

(अ. ८।६१।१०)

(इन्द्रः अपात्) इन्द्रने पीया है, (अस्मि अपात्) प्राप्तिने पीया है, (विश्वे देवाः अमत्सत) सब देवोंको आनन्द हुआ है । (वरुणः इत् इह क्षयत्) वरुण तो यही रहा है । (मापः तं अग्यनूपत) अल शब्द करते हुए वनके धमोप पहुंचा है (संशिश्वरीः वत्सं इव) गोबं जैयो बल्लेके पास आती हैं ॥ ८ ॥

(अ. ८।६१।११)

हे (वरुण ! सुदेवः असि) वरुण ! तू उषम देव है । (सप्त सिन्धवः यस्य ते काकुदं अनुक्षरन्ति) सात नदियाँ जिसकी तालुकी और चलती हैं (सूर्यो सुपिरां इव) जैसी वह खूले सुंदवाली दोगी है ॥ ९ ॥

(अ. ८।६१।१२)

(यः दाशुषे उप) जो दाशुके पास (सुयुक्तान् व्यतीरकं अफाणयत्) उषम जुके तेज दौड़नेवाले घोड़ोंको

चलाता है, (तकाः नेता) वह तेज नेता है, (तत् इत् वपुः उपमा) वह एक रूपमा देने योग्य वारका शरीर है, (यः अमुच्यत) जो कुशिके द्वारा छोड़ा जाता है । इस उषको पकड़ नहीं सकते ॥ १० ॥

(अ. ८।६१।१३)

(शक्रः इन्द्रः) सायधर्मवान् इन्द्र (विश्वाः द्विषः) सब शत्रुओंको (स्वति इत् अति ओदते) दूर करता है । (कनीनः) छोटे होते हुए उस इन्द्रने (गिरां पच्यमानं ओदनें परो भिनत्) शब्दसे पकड़नेवाला ओदुन-मेघ-को तोड़ दिया ॥ ११ ॥

(अ. ८।६१।१४)

(अर्मकः कुमारकः न नवं रथं अधि तिष्ठन्) बहुत छोटा बालक होनेपर भी वह नये रथपर चढा । (सः) उषने (पित्रे माथे) अपने पिता और माताके लिये (विमुकृतं महिषे मृगं) बड़ी शक्तिवाले मेघ बिले मृगको (पक्षन्) पकामा [काले मेघको तैयार किया] ॥ १२ ॥

(अ. ८।६१।१५)

हे (सुशिम) उषम हजुवाले इन्द्र ! हे (दम्पते) दमनशक्तिके खाभिन् ! (हिरण्यथं रथं आ तिष्ठा) सुवर्ण-मय रथपर चढ, (अथ) और पश्चात् इव (धु-क्षं सप्तस्र-पादं अरुपं) कुलुकेमें रहनेवाले सहस्रों किरणोंवाले काल (स्वस्तिगो अनेहसं सचेवहि) कल्याणमय गतिवाले निष्पाप [सूर्य] से मिलेगे ॥ १३ ॥

(अ. ८।६१।१६)

(तं स्वराजं य ई इत्या उप आसते) यह स्वराज्यही ऐसी उपासना करते हैं (नमस्विने) और उषको नमस्कार

अनु प्रत्तस्यौकसः प्रियमेघास एषाम् । पूर्वामनु प्रयति वृक्षर्वाहिपो हितप्रयस आशत ॥१५॥
यो राजा चर्पणीनां याता रथेभिरग्निगुः । विश्वासां त्रुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गुणे ॥१६॥

इन्द्रं तं शुभं पुरुहन्मन्त्रवंसे यस्य द्विता विधुर्तरि ।

हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः ॥ १७ ॥

नकिष्टं कर्मणा नशयश्चकारं सदावृधम् ।

इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वार्तमृभ्वंसमष्टं धृष्ण्वोजिसम् ॥ १८ ॥

अपारुहमृभ्रं पृतनासु सामहि यस्मिन्महीरुरुजयः ।

सं घेनवो जायमाने अनोनवुर्धावुः क्षामो अनोनवुः ॥ १९ ॥

यद् धाव इन्द्र ते शतं शतं भूर्मीरुत स्युः ।

न त्वां वज्रिन्त्सुहृष्टं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ २० ॥

आ पंप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वां शविष्टु शर्वसा ।

अस्माँ अथ मघवन्गोमंति वजे वञ्चि चित्राभिर्रुतिभिः ॥ २१ ॥ (५.३)

करते है जिससे (अस्य सुघितं अर्थ चित् पतये) जिसके शुभ अर्थको प्राप्त करनेके लिये और (दावने आवर्त-यन्ति) दान देनेके लिये उसको इधर प्रेरित करते हैं ॥ १५ ॥

(श्र. ८।६९।१०)

(वृक्ष वाहिणः) जिन्होंने आसन फलाये हैं, (हित-प्रयसः) हथिको जिन्होंने स्थापन किया है अथवा हिनकर प्रयत्न जिनके हैं, ऐसे (प्रियमेघासः) प्रियमेघोंने (एषां प्रत्नस्य ओकसः अनु) इनके पुत्रने परके अनुकूल (पूर्वां प्रयति अनु आशत) पूर्व पदातिको प्राप्त किया ॥ १५ ॥

(श्र. ८।६९।१०)

(यः चर्पणीनां राजा) जो मनुष्योंका राजा है, (अग्निगुः) जो आगे बढ़ता है, (रथेभिः याता) रथोंके जो जाता है, (विश्वासां पृतनानां त्रुता) सारी शत्रु-वेनाको जीतनेवाला (यः धृष्टहा ज्येष्ठः शृणे) जो शत्रुको मारनेवाला श्रेष्ठ है, उसकी स्तुति की जाती है ॥ १६ ॥

(श्र. ८।७०।१)

हे पुरुहन्मन ! (अवसे ते इन्द्रं शुभं) अपनी सुरक्षाके लिये इन्द्रकी स्तुति कर । (यस्य घिघर्तरि द्विता) जिसकी धारण शक्तिमें दोनों प्रकारकी व्यवस्था है, (दिवे महः सूर्यः न) वैसा सुलोहमें सूर्य है उस तरह (दर्शतः

वज्रः) दर्शनीय वज्र (हस्ताय प्रति धायि) जिसने हाथमें लिया है ॥ १७ ॥ (श्र. ८।७०।२)

(यः चकार) जिसने यह किया है, उस (सदावृधं) सदा बढ़ि करनेवाले (विश्वार्तं) सबसे प्रसंगित, (श्रुत्व-पत्सं) बड़ा कार्य करनेवाले, (धृष्णु-ओजस) विजयी पराक्रम करनेवाले, (अ-घृष्टं) निरर, (ते इन्द्रं) उस इन्द्रका (यज्ञैः कर्मणा) यज्ञोंके अथवा कर्मके (न किः नशत्) कोई नौ नाश नहीं कर सकता ॥ १८ ॥

(श्र. ८।७०।३)

(अ-पाळ्यं उभ्रं) अथय उभ्र (पृतनासु सासहिं) युद्धमें जीतनेवाला (यस्मिन् महीः उरजयः) जिसमें बड़ी बड़ी स्तुतियाँ की जाती हैं (जायमाने) जिसके जन्मके समय (घेनवः सं अनोनवुः) अनेकोंकी वाणिज्यो स्तुतियाँ की हैं, (धावः क्षामः अनोनवुः) धौ और श्रियवाने जिसकी स्तुति की ॥ १९ ॥ (श्र. ८।७०।४)

२०-२१ देखो अर्थ २०।८।१।१-२ (श्र. ८।७०।५-६)
इस सुक्तमें नीचे लिखे वर्णन विशेष मननीय है—

१ अर्चत, प्रार्थत, धृष्णु पुरं न अर्चत— उपासना करो, स्तुति करो, विजयी अथय किलेके समान उस विजयी इन्द्रकी स्तुति करो ।

२ पुत्रकाः अर्चन्तु— छोटे बालक भी अर्चना करें ।

गायनमें स्वरके साथ

३ गर्गरः अवस्वराति— बीणा खर दे रही है, गाने-वालेके स्वरके साथ बीणाका खर मिलता रहे ।

४ गोघा परि सनिष्वसत्— तंबूरा चारों ओरसे खर देता रहे । चर्मवाय स्वरसे खर मिलावे ।

५ पिंगा परि चनिष्कदत्— मधुर खरवाला आलाप निदाने और खामि खर मिलावे ।

६ इन्द्राय प्रह्ला उद्यते— इन्द्रके लिये स्तोत्र गाये जाय । इस समय बीणा, तंबूरा, मृदंग (चर्मवाय) आलाप देनेवाला इनके साथ हो । स्तोत्र ऐसे गाये जाय ।

७ गौत्रोका दूष सोमरसके साथ मिलाया जाय और पश्चात् वह पिया जाय । ' इन्द्राय पातवे सोमं सुदुघाः आप-तन्ति '— इन्द्रके पीनेके लिये सोमरसमें गोवं आती हैं, और दूष देती हैं । सोमरसमें गौत्रोका दूष मिलाया जाता है ।

८ इन्द्र, अग्नि, सब देव, वरुण इन सबने सोमरस पिया है ।
(मं. ८)

९ वरुणः सुदेवः— वरुण उत्तम देव है । ' सत-सिन्धवः अस्य काकुदे अनुस्रान्ति '— सात नदियाँ जिसके तल्लक पडुंबती हैं । सात नदियोंका जल सोमरसमें मिलाया जाता है । वह रस पिया जाता है, उसके साथ नदीजल भी ताल्लको स्पर्श करता है ।

१० सुयुक्तान् व्यतीन् अफाणयत्, तल्लः नेता, चयुः उपमा, अमुच्यत— उत्तम शिक्षित घोड़ोंकी दौड़ाता हुआ इन्द्र आता है, वह बलवान् नेता है, उसका शरीर सुंदर है, सब दुष्ट शत्रु उसके छेद देते हैं, कोई शत्रु उसके सामने नहीं ठहरता ।

११ शक्रः इन्द्रः विश्वाः द्विषः अति ओहते— सामर्थ्यवान् इन्द्र सब शत्रुओंको दूर करता है ।

१२ कनीनः गिरा पच्यमानं ओदनं परा भिनत्— इन्द्र छोटा होता हुआ भी शत्रुके पकाने जानेवाले अन्नको पूर्ण रीतिसे विनष्ट करता है । पकाना अन्न लुटता है । या भेषको विनष्ट करता है । पच्यमानं ओदनं— पकनेवाला अन्न । भेष जिससे बृष्ट होनेवाली हो ।

१३ अर्मकः नवं रथं अधि तिष्ठन्— बालकहोते हुए भी वह रथपर उत्तम रीतिसे बटकर बैठता है । बचपनसे ही वह शूर है ।

१४ सुशिप्र— उत्तम हनुवाला, उत्तम सांकवाला इन्द्र ।

१५ हिरण्ययं रथं आ तिष्ठ— सुवर्णके रथपर बैठ ।

१६ युक्षं सदस्रपादे अरुषं स्वास्तिगां अनेहसं सचेवहि— युक्तोत्तम रहनेवाले, हजारों किरणोंवाले, लाल, वरुण देनेवाली जिसकी गति है, निष्पाप सूर्यको प्राप्त करेंगे ।

१७ स्वराजं उप आसते— स्वयं तेजस्वीकी उपासना करते हैं । स्वराजकी उपासना करते हैं ।

१८ अस्य सुधितं अर्थं दावने आवर्तयन्ति— इसके उत्तम रीतिसे प्राप्त किये धनका दान करनेके लिये उसको प्रेरित करते हैं । धन उत्तम रीतिसे प्राप्त किया जाय और उसका विनियोग उत्तम दानमें हो ।

१९ वृक्तवर्हिपः हितप्रयसः प्रियमेधासः प्रतनस्य ओकस अनु पूर्वां प्रसिति अनु आशत— आसन फलकर यज्ञकी तीयारी करनेवाले प्रियमेधोंने— जिनकी यज्ञ करना प्रिय है उन्होंने पुराने धरकी पुरानी रीतिके अनुसार कार्य करना प्रारंभ किया । पूर्व पदातिके अनुषार यज्ञ करना शुरु किया ।

२० यः चर्षणीनां राजा, अधिगुः, रथेभिः याता, विश्वासां पृतनानां तनुता ज्येष्ठः वृषदा गृणे— लोणीका राजा, प्रगति करनेवाला, रथमें बैठकर जानेवाला, सब शत्रुओंका पराभव करनेवाला, सबसे धेष्ठ और वृत्रकी मारनेवाला इन्द्र है । उसकी स्तुति हो रही है ।

२१ व्यवसे तं इन्द्रं शुम्भ— अपनां क्षाक्षके लिये उस इन्द्रकी स्तुति कर ।

२२ यस्य विधर्तरि द्विता— जिसके चारण शक्तिमें दो गुण हैं । शत्रुको दूर करना और अपना संरक्षण करना ।

२३ दर्शतः वज्रः हस्ताय प्रति घायि— सुन्दर वज्र वह हाथमें लेता है ।

२४ सदाद्युधं, विश्वगूर्तं, ऋश्वपसं, घृणु-ओजसं अघृष्टं तं इन्द्रं कर्मणा न किः नशत्— सदा बडनेवाले, सर्वदा स्तुत, बडे कार्य करनेवाले, शत्रुका पराभव करनेका सामर्थ्य जिसमें है, नित्य विजयी उस इन्द्रका नाश कोई भी अपने प्रयत्नसे कर नहीं सकता ।

२५ अपाल्ढं उर्मं पृतनासु सासहिं मही उघ-जयः— अज्रेय सप्रवार, युद्धमें शत्रुका पराभव करनेवाले इन्द्रकी बडों स्तुतियाँ हो रही हैं ।

[सूक्त ९३]

(ऋषिः — १-३ प्रगाथ , ४-८ वेद्यजामय . देवता — इन्द्रः ।)

उच्चा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधौ अद्रिवः । अवं ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥	
पदा पूर्णोराधसो नि वाधस्व महो असि । नहि त्वा कश्चन प्रति ॥ २ ॥	
त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् । त्वं राजा जनानाम् ॥ ३ ॥	
ईद्वयन्तीरपस्युव इन्द्रं ज्ञातमुपासते । भेजानासः सुवीर्यम् ॥ ४ ॥	
त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः । त्वं घृपन्पृषेदसि ॥ ५ ॥	
त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्यंशुन्तरिक्षमतिरः । उद् घामस्तन्ना ओजसा ॥ ६ ॥	
त्वमिन्द्र सजोपसमर्कं विमर्षिं ग्राहोः । वज्रं शिशानं ओजसा ॥ ७ ॥	
त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वां ज्ञानान्योजसा । स विश्वा भुव आभवः ॥ ८ ॥ (६०१)	

(सूक्त ९३)

(स्तोमा त्वा उत् मदन्तु) हमारे स्तोत्र दुष्ट हैं आन-
दित करें । (अद्रि-व) वज्रधारी इन्द्र । (राध कृणुष्व)
दान देनेका विचार कर । (ब्रह्मद्विष अथ जहि) ज्ञानका
द्वेष करनेवालोंको मार डहा ॥ १ ॥ (ऋ. ८।५३।१)

(अराधस पूर्णान् पदानि वाधस्व) दान न देने-
वाग पानयोंको पात्रसे कुचल, (महान् असि) तू बडा है ।
(क चन त्वा प्रति नहि) वरिं तेरे परावर नहीं है ॥ २ ॥
(ऋ. ८।५३।२)

हे इन्द्र । (त्व सुताना ईशिषे) तू सोमरक्षोका स्वामी
है और (त्व असुताना) तू रस न निहाले सोमका भी
स्वामी है, (त्व जनाना राजा) तू प्रजाजनोका राजा
है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।५३।३)

(ईद्वयन्ती अपस्युव .) जानेवाला तथा प्रयत्नशील
[जग्याराए] (इन्द्रं उपासते) इन्द्रकी उपासना करती
हैं । (सुवीर्य भेजानास .) उसके उत्तम पराक्रममें भाग
लेती हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।१५३।१)

हे इन्द्र । (त्व बलात् सहसः ओजसः अधि जात)
तू बल, साहस और सामर्थ्यक लिये उत्पन्न हुआ है । हे
(घृपन्) शक्तिमान् इन्द्र । (त्व घृषा इद् असि) तू
नि घेदहे चउवान् है ॥ ५ ॥ (ऋ. १०।१५३।२)

हे इन्द्र । (त्व वृत्रहा असि) तू वृत्रको मारनेवाला है ।
(अन्तरिक्षं वि अतिरः) तूने अन्तरिक्षको फैलाया है ।

(आजसा घां उत् अस्तन्नाः) सामर्थ्यसे तुलोकको स्थिर
किया है ॥ ६ ॥ (ऋ. १०।१५३।३)

हे इन्द्र । (त्वं) तू (ओजसा वज्र शिशान) बल्ले
वज्रको तोड़ण करता है (सजोपसं अर्कं ग्राहोः विमर्षिं)
और अपने प्रियतेजस्वों वज्रको बाहुओंसे धारण करता है ॥ ७ ॥
(ऋ. १०।१५३।४)

हे इन्द्र । (त्व विश्वा ज्ञानानि ओजसा अभिभू-
असि) तू सब जगमपारि प्राणियोंका अपनी शक्तिके पराभव
करनेवाला है, (स. विश्वा भुव आभव .) वह तू सब
स्थानोंको घेर कर रहा है ॥ ८ ॥ (ऋ. १०।१५३।५)

इस सूक्तमें नोचि दिये वर्णन मनन करने योग्य हैं—
१ हे अद्रिष ! राधः कृणुष्व— हे वज्रधारी । दान
दनेका विचार कर ।

२ ब्रह्मद्विषः अथ जहि— ज्ञानसे द्वेष करनेवालोंको
मार ।

३ अराधस पूर्णान् पदानि वाधस्व— दान न
देनेवाले वज्रम पणियोंको पात्रसे कुचल डाल ।

४ महान् असि । कः चन त्वा प्रति नहि— तू बडा
है । कोई भी तेरे समान नहीं है ।

५ त्वं जनानां राजा— तू लोगोंका स्वामी है ।

६ ईद्वयन्तीः अपस्युव इन्द्र उपासते, सुवीर्यं
भेजानासः— गतिमान प्रयत्नशील लोग इन्द्रकी उपासना
करते हैं और इससे वे उत्तम शौर्य प्राप्त करते हैं ।

[सूक्त ९४]

(ऋषिः — १-११ कृष्णः । देवता — इन्द्रः ।)

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान् ।
 प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन ॥ १ ॥
 सुग्रामा रथः सुयमा हरीं ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गमस्तौ ।
 शीमं राजन्सुपथा यांश्चर्वाङ् वर्षीमः ते पुपुषो वृष्ण्यानि ॥ २ ॥
 एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषासं एनम् ।
 प्रत्वंक्षसं वृषभं सत्यशृष्मभेमस्मत्रा संघमादो वहन्तु ॥ ३ ॥
 एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्त्तं स्कम्भं धरुण आ वृषायसे ।
 ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृषे ॥ ४ ॥

७ हे इन्द्र ! त्वं बलात् सहसः ओजसः अधि जातः— हे इन्द्र ! तू बल, सामर्थ्य और साहसके कार्य करनेके लिये उत्पन्न हुआ है ।

८ वृषन् ! त्वं वृषा असि— हे बलवान् इन्द्र ! तू बलवान् है ।

९ त्वं वृत्र-हा असि— तू वृत्रको मारनेवाला है ।

१० अन्तरिक्षं वि अतिरः । ओजसा घां उत् अस्तम्राः— तूने अन्तरिक्ष फँसाया है और युद्धो ऊपर रिपर किया है ।

११ हे इन्द्र ! त्वं वज्रं ओजसा शिशान, सजो- पसं अर्कं वाहोः विमर्षि— हे इन्द्र ! तूने अपने वज्रको बलसे तीक्ष्ण किया और अपने श्रेय सूर्यके समान तेजस्वी वज्रको बाहुओंसे धारण किया है ।

१२ हे इन्द्र ! त्वं विश्वा जातामि ओजसा अमि मूः— हे इन्द्र ! तू सब उत्पन्न हुए प्राणियोंका परामव अपने सामर्थ्यसे करता है ।

१३ विश्वाः भुवः आमवः— तू सब स्थानोंको धर कर रहता है ।

(सूक्त ९४)

(स्वपतिः इन्द्रः) घनका स्वामी इन्द्र (मदाय आ यातु) आनन्द प्राप्त करनेके लिये यहाँ आये । (यः धर्मणा तूतुजानः तुविष्मान्) जो स्वभावसे स्वरासे कार्य करनेवाला और बलवान् है । (अपारेण महता

वृष्ण्येन) अपार बड़े बलसे (विश्वा सहांसि) सब सामर्थ्योंको बह (अति प्रत्वक्षाणः) बहुत तीव्र बना देता है ॥ १ ॥ (ऋ. १०।४।११)

हे (नृपते) मनुष्योंके स्वामी ! (ते रथः सु-स्वामा) तेरा रथ उत्तम दंड है । (ते हरी सुयमा) तेरे घोड़े उत्तम स्वाधीन रहनेवाले हैं । (गमस्तौ वज्रः मिम्यक्ष) तेरे हाथमें वज्र रहता है । हे राजन् ! (सुपथा शीमं अर्वाङ् याहि) उत्तम मार्गसे सत्वर हमारे पास इधर आ । (वपुषः ते वृष्ण्यानि वर्धामि) पानेका इच्छा करनेवाले तेरे शरीर-भावका हम वर्धन करेंगे ॥ २ ॥ (ऋ. १०।४।१२)

(उग्रासः तविषासः इन्द्रवाहः) उग्र शक्तिशाली इन्द्रको ले जानेवाले (संघमादः) साथ रहनेसे हर्षने भरे घोड़े (एनं नृपतिं उग्रं वज्रबाहुं) इस मनुष्योंके पालक उग्र वज्रके सथान बाहुवाले, (प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशृष्मं) तीक्ष्ण बलवान् सचे बलवाले (ई अस्तम्रा आ वहन्तु) इस इन्द्रको हमारे पास ले आवे ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।४।१३)

(द्रोणसाचं सचेतसं) पात्रमें रहनेवाले बुद्धिबर्धक (ऊर्जः स्कम्भं पतिं) बलके आधारस्तंभ जैसे सबके पालक सोमरसके पास (धरुणे एवा आ वृषायसे) उसके आधार स्थानमें तू वेगसे जाता है, (अजः कृष्व) बल धारण कर, (त्वे सं गृभाय) तुझमें सबका ग्रहण कर (यथा केनिपानां इनः वृषे अमि असः) जिस तरह बुद्धिमानोंका राजा उनके संवर्धनके लिये यत्न करता है ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।४।१४)

गर्मन्नुस्मे वसुन्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः । त्वमीशिषे सासिन्ना संत्सि वर्हिष्यनाघृष्या तव पात्राणि धर्मणा पृथक्प्रायन्प्रथुमा देवहृतयोऽकृष्वत श्रवस्यानि दुष्टरा । न ये शेकुर्यज्ञियां नार्वमाराहृमीमैव ते न्यविशन्तु केषयः एवैवापागपरे सन्तु दुष्टोश्चा येषां दुर्युजं आयुयुजे । इत्या ये प्रागुपरे सन्ति दावनें पुरुणि यत्र वयुनानि भोजना गिरीरञ्जात्रेजमानो अधारयद् द्यौः क्रन्ददुन्तारिक्षाणि कोपयत् । समीचोनि धिषणे विष्कभायति वृष्णाः पीत्वा मद उकथानि शंसति इमं विमर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासिं मघवं छफारुजः । अस्मिन्स्तु ते सवने अस्त्वोक्थं सुत इष्टो मघवन्त्रोध्यामगः गोमिष्टरेमार्मतिं दुरेवां यवेन क्षुषं पुरुहूत विश्वाम् । वयं राजभिः प्रथुमा घनान्यसाकेन वृजनेना जयेम बृहस्पतिर्नः परि पातु पथादुतोत्तरस्मादर्घरादघायोः । इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सरा सखिभ्यो वरिवः कृणोत	॥ ५ ॥ ॥ ६ ॥ ॥ ७ ॥ ॥ ८ ॥ ॥ ९ ॥ ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥ (६१०)
--	---

(वसुनि अस्मे वा गमन् हि) धन हमारे पास आ जाय । (आशिषं सु शंसिषं) यह आशीर्वाद मैं उत्तम रीतिसे मागता हूँ । (सोमिनः मरं वा याहि) सोमदाग करनेवालेके यज्ञमें आओ । (त्व इशिषे) तू स्वामी है । (सः अस्मिन् वर्हिषि वा सरसि) वह तू इस आसनपर बैठ । (धर्मणा तव पात्राणि अनाघृष्या) नियमसे तेरे पात्र दूसरा कोई ले नहीं सकता ॥ ५ ॥ (अ १०।४४।५)

(प्रथमा देवहृतयः पृथक् प्रायन्) हमारी पहिली प्रायनाए देवोंके पास पृथक् पृथक् गयी है । (श्रवस्यानि दुष्टरा अकृष्वत) उन्हेने यह प्राप्त करनेके लिये दुष्टर कठिन कर्म किये थे । (ये यक्षियां नाव आरुहं न शेकुः) जो यज्ञकी नौका पर चढ़नेमें समर्थ नहीं हुए (ने केषय-ईर्मा एव न्यविशन्त) वे पापी ऋणमें ही पड़े हैं ॥ ६ ॥ (अ १०।४४।६)

(एव एव अपरे दुष्टयः अपाग सन्तु) इसी प्रकार दूसरे दुर्गदिवाले नीचे ही रहेंगे, (येषां दुर्युजः अश्याः आयुयुजे) जिनके कठिनतासे जोड़े जानवाले घोड़े जोते आते हैं । (इत्या ये प्राग् उपरे दावने सन्ति) इस प्रकार जो दूसरे हैं जो दानके लिये आगे होते हैं (यत्र पुराणि

भोजना वयुनानि सन्ति) जहाँ बहुत भोग प्राप्त करनेके कर्म होते हैं ॥ ७ ॥ (अ १०।४४।७)

(अजान् रेजमानान् गिरीन् अधारयत्) जिनसे कांपते मैदानों और पर्वतोंको स्थिर किया, (द्यौः क्रन्दत्) दुलीककी रोनिवाली बनाया और (अन्तरिक्षाणि कोपयत्) अन्तरिक्षोंको प्रकृषित किया । (समीचोनि धिषणे विष्कभायति) मिले हुए द्यौ और पृथिवीको पृथक् स्थिर किया । (वृष्णाः पीत्वा मद उकथानि शंसति) बलवर्षक सोम पीकर वह आनंदमें स्तोन करता है ॥ ८ ॥ (अ १०।४४।८)

(इमं ते सुकृतं अङ्कुशं) इस तेरे अच्छे बनाये अङ्कुश-स्तोत्रको (विमर्मि) मैं धारण करता हूँ । हे (मघवन्) धनवान् इन्द्र ! (येन शफारुजः आरुजासिं) जिससे तू ख देनेवाले दुष्टोंको तू दुख देता है । (अस्मिन् सवने ते ओक्थं अस्तु) इस स्तोत्रमें तेरा निवास हो । हे (मघवन्) इन्द्र ! (सुते इष्टो) सोमसवनमें और इष्टीमें (आमगः बोधि) सवनीय भाग जो है उसे समझ ले ॥ ९ ॥ (अ १०।४४।९)

१०-११ देवों अथर्ववेद २०।१७।१०-११

इस सूक्तमें नीचे लिखे इन्द्रके वर्णन मननीय है—

[सूक्त ९५]

(ऋषिः — १ गृत्समदाः, २-४ सुदाः पंजवनः । । देवता — इन्द्रः ।)

त्रिकङ्कुकेषु महिषो यवांशिरं तुविशुष्मंस्तुपत्सोममपिबुद्धिष्णुना सुतं यथावत्सु ।
साई ममादु महि कर्म कर्तव्ये महामुरुं सेनं सध्वेवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्द्रः ॥ १ ॥
प्रो प्वस्मै पुरोदधमिन्द्राय शुपमर्चत ।

अमीकं चिदु लोककृत्संगे समस्तु वृत्रहास्माकं वोधि चोदित्वा

नमन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वत्सु

॥ २ ॥

१ यः स्वपतिः इन्द्रः धर्मणा तूत्तुजानः तुविष्णुना— जो स्वयं पालक अपने स्वभावसे त्वरासे कार्य करने-वाला और बलवान् है ।

२ अपारेण महता वृष्ण्येन विश्वा सहसि अति प्रवक्ष्णाणः— अपार बड़े सामर्थ्यसे सब बलोंके अधिक प्रबल करता है ।

३ हे नृपते ! ते रथः सुस्थामा, ते हरो सुयमा— हे मानवोंके पालक ! तेरा रथ सुदृढ और तेरे घोड़े इशारे मानसे जुट जानेवाले हैं ।

४ गमस्त्वौ वज्रः मिन्यञ्ज— तेरे हाथमें वज्र है ।

५ उग्रासः तविवासः सधमादः इन्द्रवाहः उग्रं वज्रबाहुं नृपतिं प्रत्वञ्जसं वृषमं सत्यशुष्मं असत्रा आ वहन्तु— उग्र बलवान् साथ आनन्दमें रहनेवाले इन्द्रके घोड़े उग्रवीर वज्रबाहु मनुष्य पालक तीक्ष्ण बलवान् सभ्ये साहस-वाले इन्द्रको हमारे पास ले आवें ।

६ वसूनि अस्ते आ गमन्— धन हमारे पास आये ।

७ त्वं ईशिपे— तू स्वामी है ।

८ आशीर्षं सुशंसिपे— आशीर्वाद उचित आशीर्वाद हो ।

९ अथस्थानि दुष्टरा अकृण्वत— यद्य देनेवाले दुष्टरा कर्म उन्होंने किये थे ।

१० ये यज्ञियां नाचं आरुहं न श्रेकुः, ते केपयः ईमां न्यविशन्त— जो यज्ञकी नोकपर चढ़ नहीं सकते-थे यज्ञ नहीं कर सकते- ने पापी स्वर्गमें ही रहते हैं ।

११ ये दावने सन्ति, ते पुरूषि भोजना वयुमानि सन्ति— जो दाव देते हैं उनके बहुत उपभोग मिलनेके कर्म प्राप्त होते हैं । दान देनेवाले उपभोग प्राप्त करते हैं ।

१२ अजान् रेजमान् गिरीन् अधारयत्— जिधने दिलनेवाले पर्वत और मैदान स्थिर किये । पहिले भूचाल होते थे । पाँडसे भूमि शान्त हुई और पर्वत भी स्थिर हुए ।

१३ ह्यौ क्रन्दत् । अन्तरिक्षाणि कोपयत् । समीचीने धिषणे विश्वकामायति— दुलोक गर्भना करता था, अन्तरीक्ष कुपित हुए थे । मिले थाया पृथिवीको स्तम्भ किया गया । पहिले यह सब अस्थिर थे पश्चात् स्थिर हुए ।

१४ क्षाफाकजः आरुजासि— दुःख देनेवालोंको तू दुःख देता है ।

(सूक्त ९५)

(तुविशुष्मः महिषः) बड़े सामर्थ्यवाले महाबली इन्द्र ने (यवांशिरं सोम) जीके आटेसे मिलाया सोम (त्रिक-ङ्कुकेषु अपिबत् लपत्) तीन पात्रोंमेंसे पिया और वह तृप्त हुआ (विष्णुना यया अवशत्) जो विष्णुने अपनी इच्छानुसार (सुतं) निकाला था । (महि कर्म कर्तव्ये) बड़ा काम करनेके लिये (सः ईममाद) वह इन्द्र आनन्दित हुआ । (महां उरुं पनं सत्यं देवं इन्द्रं) बड़े महिमा-वाले इस सबे इन्द्र देवको (सत्यः इन्द्रुः देवः सञ्चत्) सच्चा सोम देव प्राप्त हुआ ॥ १ ॥ (ऋ. २।२।११)

(अस्मै इन्द्रायः) इस इन्द्रके लिये (पुरोदधं श्रुपं प्र सु अर्चत उ) उग्रके रथको आगे बढ़ानेवाला बलवर्षक स्तोत्र गाओ । (अमीके संगे लोककृत् चिदु) सर्वाधिक बुद्धिमें स्थान बनानेवाला, (समस्तु वृत्रहा) दुष्टोंमें शत्रुको मारनेवाला (अस्माकं चोदिता वोधि) इन्द्र हमारा प्रेरक हो । (अन्यकेयां धन्वसु मधि ज्याका नमन्ता) अन्य शत्रुओंकी वधुष्परको बोरिमां टूट जाय ॥ २ ॥

(ऋ. १।१२।११५)

त्वं सिन्धूरवांसृजोऽधराचो अहन्नहिम् ।

अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परिं श्वजामहे

नर्मन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु

॥ ३ ॥

वि पु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः ।

अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्दुर्दिवसु

नर्मन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु

॥ ४ ॥ (६१६)

[सूक्त ९६]

(ऋषिः — १-५ पूरणः; ६-१० यक्षमनाशनः, ११-१६ रसोहा; १७-२३ विवृहाः; २४ प्रचेताः ।

देयता - १-५ इन्द्रः, ६-१० यक्षमनाशनम्; ११-१६ गर्मसंज्रावः; १७-२३ यक्षमनाशनम्; २४ दुःध्वमघ्नम् ।)

तीव्रस्याभिव्यसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरीं इह मुञ्च ।

इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन्तुभ्यमिमे सुतासः

॥ १ ॥

(त्वं सिन्धुन् अवांसृजः) तुने नदियोको बहाया ।

(अहिं अधराचः अहन्न) अहिको मार कर नीचे गिराया ।

(इन्द्र ! अशत्रुः जज्ञिषे) हे इन्द्र ! तू शत्रुरहित वत्पक्ष हुआ है । तू (विश्वं वार्यं पुष्यसि) सब स्वीकार करने योग्य धनको परिग्रह करता है । (तं त्वा परिं श्वजामहे) उस वृक्षको हम आलिप्तन देते हैं । शत्रुओंकी धनुष्योंको क्षोरियां टूट जाय ॥ ३ ॥

(ऋ. १०।१३।३।२)

(नः विश्वा अरातयः) हमारे सब शत्रुओं (अर्यः धियः वि पु नशन्त) और शत्रुओं बुद्धिमौका नाश कर ।

(शत्रवे वधं अस्ता असि) शत्रुपर शत्रु फेंकनेवाला तू है, हे इन्द्र ! (यः नः जिघांसति) जो हमें मारना चाहता है, (या ते रातिः वसु ददिः) ओ तेरा दान है वह धन देता है । शत्रुओंकी धनुष्योंकी क्षोरियां टूट जाय ॥ ४ ॥

(ऋ. १०।१३।३।३)

इस सूक्तमें इन्द्रके ये वर्णन मननीय हैं—

१ महि कर्म कर्तव्ये स्व ई ममाद्— बड़े कर्म करनेके लिये वह आनंदित होता है ।

२ अस्मै इन्द्राय पुरोरथं शयं प्र अर्चत— इस इन्द्रके लिये रथ आगे बड़े ऐसा स्तोत्र गाओ ।

३ अस्मीके संगे लोककृत्— धर्मापके युद्धमें वह हमारे लिये स्थान बना देता है ।

४ समस्तु वृत्रहा— युद्धमें शत्रुको बह मारता है ।

५ अस्माकं चोदिता— हमारा वह प्रेरक है, अच्छे कर्मका प्रेरणा वह देता है ।

६ मन्यकेषां धन्वसु अधि ज्याका नर्मन्तां— शत्रुओंके धनुष्योंपरकी क्षोरियां टूट जाय ।

७ अहिं अधराचः अहन्न— शत्रुको नीचे गिराकर मारा ।

८ इन्द्रः अशत्रुः जज्ञिषे— इन्द्र शत्रुरहित हुआ है ।

९ विश्वं वार्यं पुष्यसि— सब स्वीकाराने योग्य धनको बडाता है ।

१० नः विश्वा अरातयः अर्यः धियः वि पु नशन्त— हमारे सब शत्रु तथा शत्रुता करनेवाली सब बुद्धियां विनष्ट हो जाय ।

११ शत्रवे वधं अस्ता असि— शत्रुपर शत्रु फेंकने वाले हो ।

१२ यः नः जिघांसति— जो हमें मारता है, उसका नाश कर ।

१३ ते रातिः वसु ददिः— तेरा दान धन देता है ।

(सूक्त ९६)

(तीव्रस्य अभिव्यसः अस्य पाहि) इस तीव्र रथको पी । (सर्वरथा हरी इह वि मुञ्च) सारे रथोंके पीके यही छीज । हे इन्द्र ! (अन्ये यजमानासः त्वा मा नि रीरमन्) दूसरे यजमान वृक्ष न रममाण करे (हमें सुतासः तुभ्यं) ये रथ तेरे लिये हैं ॥ ११ (ऋ. १०।१६।११)

तुभ्यं सुतास्तुभ्यम् सोत्वासस्त्वां गिरः श्वात्पा आ ह्वयन्ति ।
 इन्द्रेदमद्य सर्वं न जुषाणो विश्वस्य विद्धौ इह पाहि सोमम् ॥ २ ॥
 य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामा सुनोति ।
 न गा इन्द्रस्तस्य परां ददाति प्रशस्तमिचारुमस्मै कृणोति ॥ ३ ॥
 अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवाञ्च सुनोति सोमम् ।
 निरन्तौ मधवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥ ४ ॥
 अश्वायन्तौ गव्यन्तौ चाजयन्तौ हवामहे त्वोर्पगन्तुवा उ ।
 आभूषन्तस्ते सुमतौ नवायां व्यमिन्द्र त्वा शुनं हुवेम ॥ ५ ॥
 मुश्वामि त्वा हविषा जीवनाय कर्मज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
 ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्मा इन्द्रामी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ ६ ॥
 यदि क्षितायुर्पदि वा परेतो यदि मुत्योरन्तिकं नीति एव ।
 तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पाशमेनं श्रुतशारदाय ॥ ७ ॥
 सहस्राक्षेण श्रुतवीर्येण श्वातयुषा हविषाहर्षिमेनम् ।
 इन्द्रो यथैनं श्रुदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ८ ॥
 श्रुतं जीव श्रुदो वर्षमानः श्रुतं हेमन्तान्छ्रुतम् वसन्तान् ।
 श्रुतं त इन्द्रो अग्निः संविता वृहस्पतिः श्वातयुषा हविषाहर्षिमेनम् ॥ ९ ॥

आहर्षिमर्षिदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः । सर्वाङ्गं सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेषविदम् ॥ १० ॥

(तुभ्यं सुताः) तेरे लिये ये सोमरस तैयार किये हैं
 (तुभ्यं उ सोत्वासः) तेरे लिये ही आगे रस निकालने
 हैं । (श्वात्पाः गिरः त्वां आ ह्वयन्ति) शीघ्रता करन-
 वानो हमारी स्तुतियां तुझे बुलाती हैं । हे इन्द्र ! (इदं अद्य
 सवर्षं जुषाणः) इस सवनके स्वाकार करता हुआ
 (विश्वस्य विद्धाव्) सबका ज्ञानो तू (इह सोमं पाहि)
 यहाँ सोम पौ ॥ २ ॥ (अ. १०।१६।०२)

(यः देवकामः) जो देवकाम (उशता मनसा
 सर्वहृदा) अमिलापावले मनधे और सब हृदयके भावधे
 (अस्मै सोमं सुनोति) इस इन्द्रके लिये सोमरस निकालता
 है, (इन्द्रः तस्य गाः न परा वदाति) इन्द्र उषवी
 गौओंको दूध नहीं करता और (अस्मै प्रशस्तं सारुं हस्
 करोति) इसके लिये सब कुछ उत्तम प्रशंसीय और सुन्दर
 बनाता है ॥ ३ ॥ (अ. १०।१६।०३)

(यः अयम् अनुस्पष्टः भवति) वह इस इन्द्रके
 लिये अनुकूल हो जाता है (यः अस्मै, रे-वान् न, सोमं
 सुनोति) जो इसके लिये, धनवानके समान, सोमरस निका-
 लता है । (मधवा अरन्तौ तं निः दधाति) इन्द्र अपने
 हाथमें सबको धारण करता है । वह (अनानुदिष्टः प्रह-
 द्विषः हन्ति) आतंक बिना ही मन्त्रद्वेषियोंको मारता है ॥ ४ ॥
 (अ. १०।१६।०४)

(अश्वायन्तः गव्यन्तः) घोड़ोंको और गौओंको चाहने-
 वाले और (चाजयन्तः) बल चाहनेवाले हम (त्वा उप
 गन्तव्ये उ हवामहे) तेरे पास जानेके लिये तुझे बुलाते
 हैं । (ते नवायां सुमतौ आभूषन्तः) तुझे नयां उत्तम
 मतमें सुभूषित करते हुए, हे इन्द्र ! (त्वा शुनं हुवेम)
 तुझे सुबुधे बुलाते हैं ॥ ५ ॥ (अ. १०।१६।०५)

१-२ देखो अर्थ. ३।११।१-४ (अ. १०।१६।११-४)
 १० देखो अर्थ. ८।१२० (अ. १०।१६।१५)

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधताम्रितः । अर्मीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥ ११ ॥
 यस्ते गर्भमर्मीवा दुर्णामा योनिमाशये । अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्कृत्वादर्मनीनशत् ॥ १२ ॥
 यस्ते हन्ति पतर्यन्तं निपत्सुं यः सरीसृपम् । जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १३ ॥
 यस्तं ऊरू विहरंस्वन्तरा दम्पती शये । योनिं यो अन्तरारोल्हि तमितो नाशयामसि ॥ १४ ॥
 यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १५ ॥
 यस्त्वा स्वमेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते । प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १६ ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां ह्रुवुकादधि ।

यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काञ्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १७ ॥

श्रीवाम्पस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनुक्पात्वि ।

यक्ष्मं दोषण्यंमंसाभ्यां चाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ १८ ॥

हृदयात्ते परिं ह्योन्नो हलींक्ष्णात्पाश्वर्याभ्याम् ।

यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीहो यक्रस्ते वि वृहामसि ॥ १९ ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।

यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ २० ॥

उरुभ्यां ते अष्टौवद्भ्यां पाणिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।

यक्ष्मं भसुद्यं श्रोणिभ्यां भासदुं भंससो वि वृहामि ते ॥ २१ ॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नाचभ्यो घमनिभ्यः ।

यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ २२ ॥

(रक्षोहा अग्निः) राक्षसोंके मारनेवाला अग्नि (ब्रह्मणा संविदानः) हमारे स्तोत्रके मिलकर (यः अर्मीवा दुर्णामा ते गर्भं योनिं आशये) जो दुर्णामा रोग तेरे गर्भ और योनिमें है (इतः याधनां) यहाथे उसको निहाल दे ॥ ११ ॥ (ऋ. १०।१६२।१)

(यः दुर्णामा अर्मीवा) जो दुष्ट नामवाला रोग (गर्भं योनिं आशये) गर्भमें तथा योनिमें रहता है (अग्निः ब्रह्मणा सह) अग्नि स्तोत्रके साथ मिलकर (ऋष्यादर्निः अर्नीनशत्) उस मातमश्रक रोगको दूर करे ॥ १२ ॥ (ऋ. १०।१६२।२)

(यः ते पतर्यन्तं हन्ति) जो तेरे प्रवेश करते हुए गर्भको मारता है, (यः निपत्सुं सरीसृपं) जो रिषर रहेको, जो हिलते हुएको (जातं यः ते जिघांसति)

जो तेरे उत्पन्न हुएको मारता है (तं इतः नाशयामसि) उसको यहाथे नष्ट करते हैं ॥ १३ ॥ (ऋ. १०।१६२।३)

(यः ते ऊरू विहरति) जो तेरे ऊरुओंको अलग अलग करता है, (दम्पती अन्तरा शये) दम्पतीके मध्यमें छेदता है, (योनिं यः अन्तरा आरोल्हि) योनिको अन्दरसे बट देता है । (तं इतो नाशयामसि) उसको यहाथे नाश करते हैं ॥ १४ ॥ (ऋ. १०।१६२।४)

(यः त्वा भ्राता पतिः भूत्वा) जो तुझे माई या पति होकर (जारः भूत्वा निपद्यते) जो जार बनकर प्राप्त होता है (यः ते प्रजां जिघांसति) जो तेरी संतानको मारना चाहता है (तं इतो नाशयामसि) उसको यहाथे विनष्ट करते हैं ॥ १५ ॥ (ऋ. १०।१६२।५)

अङ्गेऽङ्गे लोम्निःलोम्नि यस्ते पर्षाणिपर्षाणि ।

यस्मै त्वचस्यंते वयं कश्यपस्य वीवृहेण विध्वंशं वि वृहामसि ॥ २३ ॥

अपौहे मनसस्पतेऽपं काम परश्वर । परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः ॥ २४ ॥ (६४०)

॥ इति अष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥

[सूक्त १७]

(ऋषिः — १-३ ऋषिः । देवता — इन्द्रः ।)

वयमेनमिदा द्योर्षीपिमेह वज्रिणम् ।

तस्मा उ अद्य समना सुतं भूरा नूनं भूपत श्रुते ॥ १ ॥

वृकांश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति ।

सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गृहीन्द्र प्र चित्रयां चिया ॥ २ ॥

कद्रु न्वंशुस्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम् ।

केनो नु कं श्रोमतेन न शश्रुवे जुजुषुः परि वृत्रहा ॥ ३ ॥ (६४३)

[सूक्त १८]

(ऋषिः — १-२ शंभुः । देवता — इन्द्रः ।)

त्वामिद्धि हवामहे साता वाजस्य कारवः ।

त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्यति नरस्त्वां काष्ठास्वर्षतः ॥ १ ॥

(यः त्वा तमसा स्वप्नेन मोहयित्वा) जो दुष्टे
जनन रूप स्त्रये मोहित करे (निपद्यते) प्राण होता है,
(यः ते प्रजां जिघांसति) जो तेरी प्रजाको मारना चाहता
है (तं इतो नाशयामसि) उसको बहासे विनष्ट करते
हैं ॥ १६ ॥ (ऋ. १०।१६।१६)

१७-२३ देवां अपर्व. २।३३।१-७ (ऋ. १०।१६।१-३)

हे (मनसाः पते अपौहि) हे मनके स्वामी परे हट जा,
(अपक्राम, परः चर) वापस जा, दूर चला जा, (परः
निर्ऋत्या आचक्ष्व) दूर जाकर निर्ऋतिमे कइ कि (जीघतः
मनः बहुधा) जोते हुएका मन बहुत प्रकटका है ॥ २४ ॥
(ऋ. १०।१६।११)

॥ यहाँ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥

(सूक्त १७)

(वयं एनं वज्रिणं) हमने इस वज्रधारी इन्द्रको (इह
द्यः) यहाँ छल रूप (इह अपौषेम) खिलाया और
(नस्मै उ अद्य) वसके लिये आज (समना सुतं भर)
मनसे रूप निबोड कर लाया है। (नूनं श्रुते भूपत)
निधयके स्तोत्रके वसको भूषित करो ॥ १ ॥ (ऋ. १।६।१७)

(उरा-मथिः वृकः चित्) मेडोंको मारनेवाले मेडि-
केके समान (अस्य वारणः) इसका निवारक मी (वयु-
नेषु आ भूषति) अपने मार्गमें अपने आपकी सजाता है।
हे इन्द्र ! (सः नः इमं स्तोमं जुषाणः) वह तू हमारे इन
वक्त्रका खेवन करनेकी इच्छासे (प्र आ गहि) आ ॥ २ ॥
(ऋ. १।६।१८)

(कत् उ नु अस्य इन्द्रस्य) कौनसा भला इस इन्द्रका
(पौंस्यं अकृतं अस्ति) बंद कर्म किया हुआ नहीं है
(केन श्रोतमेन) जिस सुश्राव्य स्तोत्रसे (उ नु कं व
शुश्रुवे) वह विख्यात नहीं हुआ है, (वृत्रहा जुजुषुः परि)
वृत्रका मारनेवाला इन्द्र जन्मसे ही विख्यात है ॥ ३ ॥
(ऋ. १।६।१९)

(सूक्त १८)

(वाजस्य साता कारवः) धनके कामके इच्छुक स्तोत्रा-
हम- (त्वां इत् हि हवामहे) तुझे बुकते हैं । हे इन्द्र !
(त्वां सत्यति) तुझ वक्तम स्वामीको (वृत्रेषु) खेनेवाले

स त्वं नक्षिन्न वज्रहस्त धृष्णुया मह स्तवानो अद्रिवः ।

गामर्षं रथ्यमिन्द्र सं किर सत्रा वाजं न जिग्युषे

॥ २ ॥ (६४५)

[सूक्त ९९]

(ऋषिः — १-१ मेघातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

अभि त्वा पूर्वपीतिय इन्द्र स्तोमैभिरायवः ।

समीचीनासं ऋभवः समस्वरद्रा गुणन्त पूर्णम्

॥ १ ॥

अस्येदिन्द्रो वावृषे वृष्ण्यं ऋवो मदे सुतस्य विष्णावि ।

अथा तमस्य महिमानं मायवोऽनुं द्रुवन्ति पूर्वथां

॥ २ ॥ (६४७)

[सूक्त १००]

(ऋषिः — १-१ नृमेघः । देवता — इन्द्रः ।)

अथा हीन्द्र गिर्वण उपं त्वा कामान्महः संसृज्महे । उदेव यन्त उदमिः ॥ १ ॥

शत्रुओंके होनेपर, (नरः त्वां) बोर पुरुष तुमको (अर्धतः काष्ठासु) बुददौदकी छामाओंमें बुलते हैं ॥ १ ॥

(ऋ. ६।४९।१)

हे (क्षिप्र वज्रहस्त) आथर्वमय वज्र हाथमें लेनेवाले इन्द्र । हे (अद्रिवः) वज्र धारण करनेवाले ! (धृष्णुया महः स्तवानः) अपनी धर्षण शक्तिसे बड़ा स्तुति किया हुआ (सः त्वं नः) वह तू हमारे लिये (मां अर्धं रथ्यं सत्रा सं किर) गो, घोड़ा रथमें जोतने योग्य सदा दे (जिग्युषे वाजं न) विक्रयों बोरके लिये जैसा धन मिलता है ॥ २ ॥

(६।४६।२)

१ कारवः घाजस्य साताः— स्तोत्रा धनकी इच्छा करनेवाले होते हैं। घाज— बल, अन्न, धन, पशुधर्म ।

२ वृषेपु त्वां सरपतिं हवामहे— धरनेवाले शत्रुओंका घरा पदनेपर सहकार्य तुमसे करता है। क्योंकि तू उत्तम पालन करनेवाला है ।

३ नरः त्वां सरपतिं अर्धतः काष्ठासु— बोर पुरुष तुम उत्तम पालकको बुददौदकी छामोंमें बुलते हैं। क्योंकि तुम्हारे घोड़े अच्छे होते हैं, बुददौदमें वे प्रथम स्थानमें आयेगे ।

४ क्षिप्र वज्रहस्त अद्रिवः— हे विक्रयण शत्रुघरां वज्र हाथमें लेनेवाले इन्द्र ।

५ मां अर्धं रथ्यं सत्रा सः त्वं नः सं किर— गो, घोड़ा रथमें जोतने योग्य हमें दे दो ।

६ जिग्युषे वाजं न— विक्रयों बोरको धन मिलता है। विक्रय होने पर शत्रुका धन लूटा जाता है, वह विक्रयों बोरको प्राप्त होता है। बोर विक्रय मिलनेपर शत्रुका धन लूटा करते हैं।

(सूक्त ९९)

(आयवः पूर्वपीतये) मनुष्योंमें प्रथम सोम पीनेके लिये हे इन्द्र । (त्वा स्तोमिभिः अभि समस्वरन्) तेरी स्तुति स्तोत्रोंसे वां हे । (समीचीनासः ऋभवः समस्वरन्) परस्पर प्रेम रखनेवाले मनुष्योंमें उच्च स्वरसे गायन किया । (रुद्राः पूर्णं गुणन्त) रदोंने तुम पुराण पुरुषकी स्तुति की है ॥ १ ॥

(ऋ. ८।१।७)

(इन्द्रः) इन्द्रने (विष्णवि अस्य सुतस्य मदे) यज्ञमें इष्ट भोगसके हर्षमें (वृष्ण्यं शवः वावृषे इत्) अपना बीरता युक्त बल बढ़ाया । (अथा अस्य तं महिमानं) आज इष्टके उस महिमाको (पूर्वथां) पूर्वकी तरह (आयवः अनु द्रुवन्ति) मनुष्य स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

(ऋ. ८।१।८)

(सूक्त १००)

हे (गिर्वण इन्द्र) स्तुतिके योग्य इन्द्र । (अथा त्वा महः कामान्) अब तेरे पास हम अपनी बर्तों कामनाएं (उप संसृज्महे हि) भेजते हैं । (उदमिः उदा इव यन्त) जैसे अलप्रादेशे अलप्रवाह चलते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१।१०)

वार्षां स्वां युव्यामिर्वर्धन्ति शुरु ब्रह्माणि । वावृष्वांसं चिदद्रिवो दिवोदिवे ॥ २ ॥

पुञ्जन्ति हरीं इपिरस्य गार्धयोरीं रथं उरुयुगे । इन्द्रवाहां वचोयुजां ॥ ३ ॥ (६१०)

[सूक्त १०१]

(ऋषिः — १-३ मेघ्यातिथिः । देवता — अग्निः ।)

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुकृतम् ॥ १ ॥

अग्निर्मग्निं हवीमभिः सदां हवन्त विश्वर्षिम् । हव्यवाहं पुरुप्रियम् ॥ २ ॥

अग्ने देवाँ इहा वंह जज्ञानो वृक्तवर्हिषे । असि होतां न ईड्यः ॥ ३ ॥ (६५६)

[सूक्त १०२]

(ऋषिः — १-३ विश्वामित्रः । देवता — अग्निः ।)

ईळ्हेन्यो नमभ्युस्तिरस्तमांसि दर्शतः । समग्निर्रिष्यते वृषां ॥ १ ॥

वृषां अग्निः समिध्यतेऽधो न देववाहनः । तं हविष्मन्त ईळते ॥ २ ॥

वृषर्षां न्वा वृषं वृषन्वृषणः समिधीमहि । अग्ने दीद्यतं वृहत् ॥ ३ ॥ (६५६)

(युव्यामिः वाः न) जैसा नदियेके जलप्रवाह चलता है, उस तरह है (शुरु, अद्रिवः) वीर वज्रपात्री इन्द्र । (वावृष्वांसं त्वा दिवोदिवे) बहनेवाले तुझे प्रतिदिन (ब्रह्माणि अग्नि वर्धयन्ति) हमारे स्तोत्र बजाते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१८।८)

(इपिरस्य) भिय इन्द्र देवके (गार्धया) मंत्रधर्म-हके साथ (उरुयुगे रथे) बीडे जुआँवाले रथमें (वचो-युजा इन्द्रवाहा हरी) बचनसे जुड़नेवाले इन्द्रके रथमें, सीचनेवाले दो घोड़े (युञ्जन्ति) जोते जाते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१८।९)

(सूक्त १०१)

(अस्य यज्ञस्य सुकृतं) इस यज्ञको उत्तम रीतिसे करनेवाले (विश्व-वेदसं) सब धर्मके-ज्ञानके स्वामी (होतारं दूतं) देवोंको बुलानेवाले दूत (अग्नि वृणीमहे) अग्निों हम बुलते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. १।१२।१)

(विश्वर्षिम्) आज्ञाओंके स्वामी (हव्यवाहं पुरुप्रियं) हव्यको ले जानेवाले, बहुतोंको भिय (अग्नि अग्नि) अपनी आँसों हम (हवीमभिः सदा हवन्त) स्तोत्रगठोंसे सदा बुलते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. १।१२।२)

हे अग्ने ! (जज्ञानः) प्रकट होते ही तू (वृक्तवर्हिषे) आसन फैलानेवाले यज्ञमानके लिये (देवान् इहा वाह) देवोंको यहाँ ले आ । (नः ईड्यः होता असि) हमारा

स्तुति योग्य देवोंको बुलानेवाला तू ही है ॥ ३ ॥

(ऋ. १।११।३)

१ यज्ञस्य सुकृतः— यज्ञको उत्तम रीतिसे करनेवाला ।

२ विश्व-वेदः— सब धर्मोंसे, ज्ञानोंसे, युक्त । धर्मों, ज्ञानों ।

३ विश्वर्षिः— प्रजाओंका पालक ।

४ पुरुप्रियः— बहुतोंको भिय । बहुतोंको भिय बनना ।

५ देवान् इहा वाह— देवोंको यहाँ ले आ । विद्वानोंको यहाँ ले आ । देव- खेलमें कुशल, विजगीपु, व्यवहारकुशल सज्जन ।

(सूक्त १०२)

(ईळ्हेन्यः) स्तुतिके योग्य (नमभ्यः) नमस्कार करने योग्य, (तमांसि तिरः दर्शतः) अन्धकारको दूर करके स्वयं सुन्दर दीखनेवाला (वृषा) बलवान् अग्नि (रिष्यते) प्रदीप्त होता है ॥ १ ॥ (ऋ. ३।२७।१३)

(वृषः अग्निः समिध्यते) शक्तिमान् अग्नि प्रदीप्त होता है (देववाहनः अधो) देवोंको ले जानेवाले घोड़ोंकी तरह (हविष्मन्तः तं ईळते) हविषवाले ऋषिभाग्य वसुधां स्तुति करते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ३।२७।१४)

हे (वृषन् अग्ने) शक्तिमान् अग्ने ! (वृषणः वर्यं) शक्तिमान् बननेवाले हम (त्वा वृषणं) तुम बलवान्को (वृहत् दीद्यतं) और अधिक प्रकाशमानको (समिधी-महि) प्रदीप्त करते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ३।२७।१५)

[सूक्त १०३]

(ऋषिः — १ सुदीतिपुरुमीडो, २-३ मर्गः । देवता — अग्निः ।)

अग्निमीडिष्वावन्ते गाथाभिः शीरशोचिपम् ।

अग्नि राये पुरुमीडह श्रुतं नरोऽग्नि सुदीतये हृदिः

॥ १ ॥

अम् आ याद्यग्निमिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।

आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं चिहिरासदे

॥ २ ॥

अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः सुचरन्त्यध्वरे ।

ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्नि यज्ञेषु पुर्यम्

॥ ३ ॥ (६५९)

[सूक्त १०४]

(ऋषिः — १-२ मेघ्यातिथिः, ३-४ सुमेघः । देवता — इन्द्रः ।)

इमा उं त्वा पुरुवसो गिरां चैर्धन्तु या मम ।

पावकवर्णाः शुचयो विपथितोऽग्नि स्तोमैरनूपत

॥ १ ॥

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे ।

सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शर्वा यज्ञेषु विप्रराज्ये

॥ २ ॥

१ ईळेण्यः नमस्यः दर्शतः वृषा तमांसि तिरः—
स्तुल, नमस्कार योग्य, दर्शनार्थ, बलवान्, अशान्तवचनार्थो
दूर करनेवाला अग्नि है । इन गुणोंसे युक्त मनुष्य बने ।

२ वृषण- वयं वृषणं त्वा वृहत् दीद्यन समिधी-
महि— बलवान् बलनेकी इच्छा वाले हम, तुम बलवान् और
बड़े तैस्त्वोचो चमडाते हैं । बलवान् बलनेकी इच्छावाला बल
वान् तैस्त्वोचो ही अपने पाय रखे ।

(सूक्त १०३)

(अचले) अपनी सुरक्षाके लिये (शीर-शोचिपं)

तौत्र प्रधातवाले (अग्नि) अग्निधी (गाथाभिः ईळिस्व)
गाथाओंसे स्तुति कर । हे (पुरुमीडह) बहुओं द्वारा स्तुति
योग्य । (अग्नि राये) धनके लिये अग्निकी स्तुति कर, हे
(नरोः) मनुष्यो ! (सुदीतये श्रुतं अग्नि) उगम प्रधात
के लिये विख्यात अग्निकी स्तुति करो, वह इमार (छाईः)
पर ही है ॥ १ ॥

(अ. ८१ ७११५)

हे अग्ने ! (अग्निभिः आ यादि) अग्निशोकें साथ
आ । (त्वा होतारं वृणीमहे) तुझे हम होता करके
चुनते हैं । (त्वां यजिष्ठं) तुम यजनकर्ताको (चिहः
आसदे) आशयपर बैठनेके लिये (प्रयता हविष्मती)

शुद्ध हविषाली सुवा (त्वां आ अनक्तु) तुझे साथे जुड़
देवे ॥ २ ॥ (अ. ८१७११)

हे (सहस्रः सूनो अंगिरः) बलके पुत्र अंगिरा !
(अचवरं सुचः) यज्ञमें सुचार (त्वा अच्छा हि
चरन्ति) तैरे लिये समीपसे विचरती है । हम (ऊर्जः
नपातं) बलको न गिानेवाले (घृतकेशी) तैस्त्वोचो किंग
वाले (यज्ञेषु पुर्यम्) यज्ञोंमें पाईले (ई अग्नि ईमहे)
इस अग्निका प्रार्थना करते हैं ॥ ३ ॥ (अ. ८१७१२)

(सूक्त १०४)

हे (पुरुवसो) बहुत धनवान् इन्द्र ! (या मम इमाः
गिराः) जो मेरी ये स्तुतियाँ हैं वे (त्वा उ चर्धन्तु) तुझे
बढावें । (पावकवर्णाः शुचयः विपथिताः) अग्निके उगम
तैस्त्वोचो शुद्ध ज्ञानिनों (स्तोमैः अग्नि अनूपत) स्तोत्रोंसे
तैरी स्तुति की है ॥ १ ॥ (अ. ८१७१३)

(अयं) वह इन्द्र (ऋषिभिः सहस्रं सहस्कृतः)
ऋषियोंके द्वारा सहस्रगुणा अपने बलके बढाया गया (समुद्र
इव पिप्पते) समुद्रके समान फैला है (सः अस्य महिमा
सत्यः) वह इसको लहिमा सत्य है । (यज्ञेषु विप्रराज्ये
शवः गृणे) यज्ञोंमें विशेषे राज्यमें उभकी शक्तिकी स्तुति की
जाती है ॥ २ ॥ (अ. ८१७१४)

आ नो विश्वासु हव्य इन्द्रः समस्तु भूपतु । उप ब्रह्माणि सर्वानानि वृत्रहा परमज्या ऋचीपमः ॥३॥
त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् । तुविद्युन्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शर्वसो मुहः
॥ ४ ॥ (६६३)

[सूक्त १०५]

(ऋषिः — १-३ नृमेघः, ४-५ पुरुहन्मा । देवता — इन्द्रः ।)

त्वामिन्द्र प्रतूर्तिष्वामि विश्वा असि स्पृघः ।

अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥ १ ॥

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरां ।

विश्वास्ते स्पृघः श्रथयन्त मन्यवेषु वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि ॥ २ ॥

इत ऊर्ता वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम् ।

आशु जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुम्यावृधम् ॥ ३ ॥

यो राजां चर्षणीनां याता रथेभिरधिगुः ।

विश्वासां तरुता प्रतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गणे ॥ ४ ॥

इन्द्रं तं शुम्भं पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधुर्वरि ।

हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न स्यः ॥ ५ ॥ (६६८)

(विश्वास्तु समस्तु हव्यः इन्द्रः) सब संप्रामोमें सुलाने योग्य इन्द्र (नः आ भूपतु) हमारे पास अवे । (वृत्रहा) पानुकी मारनेवाला (परमज्या ऋची-समः) परम शक्ति-वाला स्तुतियोंके योग्य हमारे (ब्रह्माणि सवनानि उप) स्तोत्रों और सवनोंके पास अवे ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९।११)

(त्वं राघसां परमः दाता असि) तू धनोद्ध श्रेष्ठ दाता है, तू (सत्यः ईशान कृत् असि) सच्चा ईशान करनेवाला है, (तुविद्युन्नस्य) बड़े यज्ञवाले (महः शवसः पुत्रस्य) बड़े बलके पुत्रके (युज्याः वृणीमहे) हम सहायताएं मांगते हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।९।१२)

१ सः अस्य सत्यः महिमा—वह इस इन्द्रको महिमा सल है ।

२ यक्षेपु विप्रराज्ये शवः मृषे— यज्ञोंमें, विप्रराज्यमें उस इन्द्रके बलको प्रशंसा होती है ।

३ विश्वास्तु समस्तु हव्यः— सब युद्धोंमें सहायतायें सुलाने योग्य इन्द्र है ।

४ सत्यः ईशानकृत् असि— वह सच्चा ईशान करने-वाला है ।

(सूक्त १०५)

हे इन्द्र ! (त्वं प्रतूर्तिषु) तू संप्रामोमें (विश्वाः स्पृघः)

सब शत्रुओंके (अमि असि) पराभूत करता है, (अशस्ति-हा) बुराईको हटानेवाला (विश्व-तूः) सबको जीतनेवाला और (जनिता असि) सबका उत्पत्ति करनेवाला है, (त्वं तरुष्यतः तूर्यं) तू बिनाशक शत्रुओंको जीतनेवाला है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।८।१५)

(क्षोणी ते तुरयन्तं शुष्मं) यों और पृथिवी तेरे विजयों बलके (अनु इयतुः) अनुकूल चलते हैं । (मातरा शिशुं न) मातापिता जैसे बच्चके अनुकूल रहते हैं । (ते मन्यवेषु) तेरे कौधके सामने (विश्वाः स्पृघः श्रथयन्त) सब शत्रु डोलते पडते हैं । हे इन्द्र ! (यत् वृत्रं तूर्वसि) जब तू वृत्रको मारता है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।८।१६)

(इतः वः ऊर्ता) यद्यपि तुम्हारा संरक्षण करनेके लिये (अ-जरं) जरा रहित (प्रहेतारं) विषयां, (अप्रहितं) अपराजित (आशुं जेतारं) शीघ्र जय प्राप्त करने-वाले (हेतारं रथीतमं) आगे प्रेरित करनेवाले, बड़े रथों (अ-तूर्तं तुम्यावृधं) न जीत हुए और तुम्हेंको बढाने-वाले इन्द्रको प्राप्त करी ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।८।१७)

४-५ देखो अर्थ. २०।९२।१६-१७

[सूक्त १०६]

(ऋषिः — १-३ गोपूज्यश्वमुक्तिनी । देवता — इन्द्रः ।)

तव त्वदिन्द्रियं बृहत्तव शुभममुत क्रतुम् । वर्षं शिश्याति विपणा वर्षेण्यम् ॥ १ ॥
 तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्षति श्रवं । त्वामावुः पर्वतासश्च हिन्विरे ॥ २ ॥
 त्वां विष्णुर्वृहन्क्षयो मिथो गृणाति वरुणः । त्वां शर्षां मदुत्यन्तु मारुतम् ॥ ३ ॥ (३३)

[सूक्त १०७]

(ऋषिः — १-३ वसवः । ४-१३ वृहदिवः । १४-१५ वसवः । देवता — इन्द्रः ।)

समस्य मन्यवे विशो विशां नमन्त कृष्टयः । समुद्रार्थेव सिन्धवः ॥ १ ॥
 ओजस्रदस्य तित्विप उमे यत्समवर्तयत् । इन्द्रश्चर्मैव रेदसी ॥ २ ॥
 वि विद्मवस्य दोषतो वज्रेण सुतपर्वणा । शिरों विभेद वृष्णिनां ॥ ३ ॥

१ स्व सुस्ये इन्द्रके ये गुण वर्णन किये हैं—
 १ स्व प्रवृत्तिषु विश्वाः सृष्टः अग्नि अस्ति— वृ
 दुष्टे मे स्व सृष्टको कानना करके बनके रागा है ।
 २ अशलि-हा विश्व-वृः— दुर्गको दूर करनेवाला
 और सब सृष्टको जीवनवाला है ।
 ३ स्व तदुपपत्तः तूर्णः— विनष्ट सृष्टको अने
 वाला है ।
 ४ शोणीने सुख्यन्तं शुभं मनु ईयतुः— दास
 सुंदरी अर्थात् सब विषु तेरे विश्वी बलके अनुकूल होकर
 चलने हैं ।

५ ते मन्यवे विश्वाः सृष्टः ज्ञापयन्त— तेरे कोपके
 करने सब सृष्ट निर्दिष्ट करने हैं ।
 ६ वृषं तूर्णसि— परनेवाले सृष्टको वृ मारता है ।
 ७ वः ऊनी यजरे, प्रहेतारं, अग्रहितं, आशुं
 जेतारं, हेतारं, रथोतमे अतुं तुन्यापयधं— अपने
 संरक्षणके लिये आर आग्रहित, विजयं, पठेन हटनेवाले,
 सपर सनुया विजय करनेवाले, आगे बढ़नेकी प्रेरणा करने-
 वाले, उषम श्रेष्ठ रथो अमी पयोजित न होनेवाले, अशुंको
 बगानेवाले इन्द्रको अपने सहाय्य प्राप्त करो ।
 वीर्यो मे गुण रक्षे वाह्वे ।

(सूक्त १०६)

(तव त्वत् वृहत् इन्द्रियं) तेरे सब इन्द्रिय बलका
 (तव शुभं उत क्रतुं) तेरे धामर्षका और करनेवाला

(परेण्यं यज) तेरे श्रेष्ठ ब्रह्मा (विपणा शिश्याति)
 इसीकी दुष्टि वर्णन करती है ॥ १ ॥ (अ. ८।१५।७)
 है इन्द्र । (द्यौः तव पौंस्यं) पृथिवी वर्षके (पृथिवी
 श्रवं वर्षति) पृथिवी वर्षकी बटा रही है । (मावुः पर्व-
 तासां च) जतप्राह और पर्वत (त्वां हिन्विरे) दुष्टे
 लक्ष्याति कर रहे हैं ॥ २ ॥ (अ. ८।१५।८)
 (वृहन् क्षयः विश्वः) बड़ा आश्रय दाता विश्व, निज
 और बरण (त्वां गृणाति) ली लुप्ति करने हैं । (मारुतं
 शर्षाः) मारुतका अनुदाय (त्वां अनुमदति) तेरे साथ
 आनन्दसे रागा है ॥ ३ ॥ (अ. ८।१५।९)

(सूक्त १०७)

(अस्य मन्यवे) इसके कोपके करने (विश्वाः
 विशाः कृष्टयः) सब प्रशासन, सब हृष्टक (सं नमन्ते)
 लक्ष्मी तरह नम होकर रहते हैं । (सिन्धवः समुद्राय
 इव) नदिना समुद्रके समाने बली दुष्टकी है ॥ १ ॥
 (अ. ८।१६।१)
 (तव अस्य ओजः तित्विपः) वह इसका लक्ष्य रूप
 प्रकृत हुआ (यत् उमे रोदसी चर्म इव इन्द्रः समवर्त-
 यम्) जब दीनों दास पृथिवीकी बलके नमान इन्द्रके वज्रे
 लिये ॥ २ ॥ (अ. ८।१६।२)
 (दोषतः वृषस्य दारः) जीवनवाले इसका निज
 (वृष्णिना अतपर्वणा धजेण) बलवाले ही शिकनेवाले
 वज्रे (विव नि विभेद) दुष्टके दुष्टे कर वाला ॥ ३ ॥
 (अ. ८।१६।३)

तादिदाम् सुवनेषु ज्येष्ठं यवो जज्ञ उग्रस्त्रेवर्तुम्णः ।	
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रुननु यदेतं मर्दन्ति विश्व ऊमाः ॥ ४ ॥	॥ ४ ॥
वावृषानः शर्वसा भूयोजाः शत्रुद्रोसार्यं भियसं दधाति ।	
अव्यनद्य व्यनद्य सस्मि स ते नवन्त प्रभृता मर्देषु ॥ ५ ॥	॥ ५ ॥
त्वे क्रतुमपि पृष्यन्ति भूरि द्विषेदुते निर्भवन्पुमाः ।	
स्वादोः स्वादीपः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ६ ॥	॥ ६ ॥
यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणैरणे अनुमर्दन्ति विप्राः ।	
ओर्जापः शुष्मिन्तिस्थरमा तनुष्व मा त्वा दमन्दुरेवांसः कशोकाः ॥ ७ ॥	॥ ७ ॥
स्वया वयं शाशमहे रणेषु प्रपश्यन्तो युषेन्याति भूरि ।	
चोदयामि त् आयुषा वचोभिः सं ते शिशामि मत्संणा वपांसि ॥ ८ ॥	॥ ८ ॥
नि तर्दधिषेडवरे परं च यस्मिन्स्त्राविधावसा दुरोणे ।	
आ स्थापयत मातरं जिगुतुमते इन्वत कर्वराणि भूरि ॥ ९ ॥	॥ ९ ॥
स्तुष्व वर्ष्मन्पुरुवर्त्मानं समृञ्वाणामिनतममात्समाप्लानाम् ।	
आ दर्शति शर्वसा भूयोजाः प्र संघति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ १० ॥	॥ १० ॥
इमा मत्सं बृहदिवः कृणवदिन्द्राय श्रुपमंभियः स्वर्पाः ।	
महो गोश्रस्य क्षयति स्वराज्ञा तुरैक्षिद्विषमर्णवचर्पस्वान् ॥ ११ ॥	॥ ११ ॥
एवा महान्बृहदिवो अघर्वाधोचत्स्वां तन्वशुमिन्द्रैभुव ।	
स्वसारी मातरिभ्वरी अरिमे द्विन्वन्ति चैते शर्वसा वर्धयन्ति च ॥ १२ ॥	॥ १२ ॥
चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मानमदिशुः सूर्ये उपन् ।	
दिव्याकरोऽतिं सुमैस्तमांसि विश्वातारीदुरितानि शुक्रः ॥ १३ ॥	॥ १३ ॥
चित्रं देवानामुदग्गादनीकं सधुर्मिंसस्य वरुणस्यामेः ।	
आम्राद् धारवापिषी अन्तरिक्षं सूर्ये आत्मा जगत्तस्तस्युषंष ॥ १४ ॥	॥ १४ ॥
सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामुभ्येति पथात् ।	
यत्रा नरो देव्यन्तो युगानि वितन्वते प्रातं भद्राय भद्रम् ॥ १५ ॥ (१८६)	॥ १५ ॥ (१८६)

४-१४ देखो मयरे. ५।१।१-१२; १३।१।१४-१५

(सू. १-१।१२-०।१-९; सू. १।१।५।१-२)

(सूर्यः) सूर्य (रोषमामां उपसं सेयो) चमकती

वना देवाके (पन्नात् मभ्येति) पाठे आता है (मयरे)

१७ (अथर्व. भाष्य, ६।१४ २०)

योषां न) जैसा मनुष्य लोकें पाठे आता है। (यत्र सेव-
यत्तः नरः) जिस समय देवत्व प्राप्त करनेकी इच्छता करने-
वाले सज्जन (भद्राय भद्रं) चमकान करनेके लिये कशयाण
करनेवाले कर्म (युगानि वितन्वते) यशकर्मको पाठे
है ॥ १५ ॥ (सू. १।१।५।१)

२५

[सूक्त १०८]

(ऋषिः — १-३ नृमेघः । देवता — इन्द्रः ।)

त्वं न इन्द्रा भरुं ओजो नृम्णां शतक्रतो विचरिणे । आ वीरं पृतनापहम् ॥ १ ॥
 त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ । अघा ते सुन्नमीमहे ॥ २ ॥
 त्वां शुष्मिन्पुरुहूत वाज्रयन्तमुपं भ्रुवे शतक्रतो । स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ३ ॥ (६८३)

[सूक्त १०९]

(ऋषिः — १-३ गोममः । देवता — इन्द्रः ।)

स्वादोरित्या विंप्रवतो मध्वः पिवन्ति गौर्यैः ।
 या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ १ ॥
 ता अस्य पृथनापुत्रः सोमं श्रीणन्ति पृथ्रयः ।
 प्रिया इन्द्रस्य धेनवो वज्र हिन्वन्ति सायकं वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ २ ॥
 ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः ।
 व्रतान्यस्य सश्विरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ ३ ॥ (६९३)

(सूक्त १०८)

हे इन्द्र ! (त्वं नः ओजः आ भर) तु हमारे लिये सामर्थ्य भर दे । हे (विचरिणे शतक्रतो) कुशल संकष्टों कार्य करनेवाले इन्द्र ! (नृम्णां) गौर्य भी हमारे पास भर दे । (पृतना-सहं वीर आ भर) शत्रुओंको जीतनेवाला वीर पुत्र भी हमें दे ॥ १ ॥ (ऋ. ८।९९।१०)

हे (वसो) निवासक इन्द्र ! (त्वं हि न पिता) तु हमारा पिता है । हे शतक्रतो ! (त्वं माता बभूविथ) तु हमारी माता हुई है । (अघा ते सुन्नं इमहे) अब हम तुझसे कुछ मागते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।९९।११)

हे (शुष्मिन् पुरुहूत शतक्रतो) बलवान्, बहुतों द्वारा बुलाये गये संकष्टों कर्म करनेवाले इन्द्र ! (त्वां वाज्रयन्त उपपुत्रे) तुझ बलवानके पास मेरी प्रार्थना है कि (स न सुवीर्यं रास्व) वह तु हमें उत्तम पराक्रम करनेकी शक्ति दे ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।९९।१२)

(सूक्त १०९)

(गौर्य) गौवं (विंप्रवतः स्वादोः मध्वः) चले खादु मधुर सोम रसको (इत्या पिवन्ति) इस तरह पीता है । (या वृष्णा इन्द्रेण सयावरी) ओ बलवान् इन्द्रके

साय गमन करनेवाली (शोभसे मदन्ति) तेजस्विताके लिये आनन्दित होती है, ओ (स्वराज्य अनु वस्वी-) स्वराज्यके लिये वसती है ॥ १ ॥ (ऋ. १।८४।१०)

(ता-पृथ्रय) वे चित्तवती गौवं (स्पृथना पुत्र) शत्रु करनेका इन्द्रा करता हुई (सोमं श्रीणन्ति) सोमके साय मिलती है । (इन्द्रस्य प्रिया धेनवः) इन्द्रकी प्रिय गौवं (सायकं वज्र हिन्वन्ति) शत्रुको मारनेवाले वज्रकी श्रेष्ठ करता है जो अपने स्वराज्यके लिये वसती है ॥ २ ॥ (ऋ. १।८४।११)

(ता प्रचेतसः) वे शानी (नमसा सह) नमस्कारके साय (अस्य सपर्यन्ति) इसकी शक्ति सात्कार करती है । (अस्य पुरूणि व्रतानि) इसके बहुतसे प्रतीकों (पूर्वचित्तये सश्विरे) मुख्य ऐश्वर्यके लिये अनुसरती हैं, ओ अपने स्वराज्यके लिये वसती है ॥ ३ ॥ (ऋ. १।८४।१२)

इन मंत्रोंमें आधिकारिक वर्णन है—

१ गौर्यं स्वादोः मध्वं पिवन्ति— गौवं मधुर सोमपत्र पीता है । सोमरसमें गौआका दूध मिलाया जाता है ।

२ वृष्णाः इन्द्रेणः सयावरीः— बलवान् इन्द्रके साय जाती है । सोमरसमें गौगुण मिलने पर वह रस इन्द्र पीता

[सूक्त ११०]

(ऋषिः — १-३ ध्रुतकस्तः सुकलो वा । देवता — इन्द्रः)

इन्द्राय मद्दने सुतं परिं षोभन्तु नो गिरः । अर्कमर्चन्तु कारवः ॥ १ ॥
 यस्मिन्विश्वे अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः । इन्द्रं सुते हवामहे ॥ २ ॥
 त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमन्तव । तमिद्वर्षन्तु नो गिरः ॥ ३ ॥ (६९)

[सूक्त १११]

(ऋषिः — १३ पर्वतः । देवता — इन्द्रः ।)

यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रिव आप्तये । यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥ १ ॥
 यद्वा शक्र परावतिं समुद्रे अधि मन्दसे । अस्माकमित्सुते रणा समिन्दुभिः ॥ २ ॥
 यद्वासिं सुन्तौ वृधो यज्ञमानस्य सत्पते । उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः ॥ ३ ॥ (६९)

हे, गोदुग्ध इन्द्रके साथ रहता है। अपना गौवं इन्द्रके साथ आती है।

३ सायकं घर्जं द्विग्वन्ति— मारनेवाले वज्रको गौवं प्रेरित करती हैं। गोदुग्ध सोमरसके साथ पानिसे जो बल बढ़ता है उससे वज्र शत्रुपर फेंका जाता है। गोदुग्ध ही यह करता है अर्थात् गौ ही करती है।

गौ= गौ, दूध, दही, मक्खन, घी। इनके खाने-पानिसे जो शक्ति आती है उससे अनेक पुरुषार्थ प्रयत्न इन्द्र आदि बौर करते हैं। वे सब प्रयत्न गौके दूधसे होते हैं, इसलिये गौवं ही वे प्रयत्न करती हैं। यह एक आलंकारिक वर्णन है। गौकी प्रशंसा ही है।

वेदकी यह एक वर्णन करनेकी पद्धति है।

(सूक्त ११०)

(मद्दने इन्द्राय सुतं) रथं प्राप्त करनेकी इच्छावाले इन्द्रके लिये सोमरस तैयार किया है। (नः गिरः परि षोभन्तु) हमारी वागियां उसकी स्तुति करें। (कारवः अर्कमर्चन्तु) कर्तव्यवात् प्रकृत उस अर्चनीय इन्द्रकी स्तुति करें ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१२।१९)

(विश्वे अधिः यस्मिन् अधि) सब सोमाएँ जिसमें रहती हैं, (सप्त संसदः अधि रणन्ति) सात यज्ञस्थलाएँ जिसमें आनन्द प्राप्त करती हैं, (इन्द्रं सुते हवामहे) उस इन्द्रकी सोमपापमें हम भुलते हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१२।२०)

(देवासः) देवोंने (चेतनं यज्ञं) उत्तमना देनेवा सोमयज्ञ इन्द्रके लिये (त्रिकद्रुकेषु अरुन्त) तीन सोमपापों फैलाया है (नः गिरः तं इत् घर्जन्तु) हमारी स्तुति उस इन्द्रको बढ़ावे ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१२।१९)

(सूक्त १११)

हे इन्द्र! (विष्णवि यत् सोमं) विष्णुके पास जो सोम था, (वा यत् आप्तये त्रिते) जो आप्त्य त्रितके पास था (यत् वा प्ररुत्सु) जो मरुतके पास था (इन्दुभिः सं मन्दसे) तब सोमरसोंके तू उत्तम आनन्द प्राप्त करता है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१२।१६)

हे (शक्र) घामर्ष्यवान् इन्द्र। (यद् वा परावति समुद्रे) अथवा शक्रे समुद्रमें (अधि मन्दसे) तू आनन्द मानता है वैसा (अस्माकं सुते इत्) हमारे सोमयज्ञमें (इन्दुभिः सं रण) सोमरसोंके आनन्द उत्तम रीतिसे मान ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१२।१७)

हे (सत्पते) सत्यके पालक इन्द्र। (यत् वा) अथवा (सुन्तवः यज्ञमानस्य वृधः अस्ति) सोमपाप करनेवाले यज्ञमानथा तू संवर्धन करनेवाला है, (यस्य उक्थे वा) जिसके स्तोत्रमें- उक्थमें- (इन्दुभिः सं रण्यसि) सोमरसोंके उत्तम आनन्द प्राप्त करता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१२।१८)

[सूक्त ११२]

(ऋषिः — १-३ सुकृत्तः । देवता — इन्द्रः ।)

यदुद्य कर्षं धृत्रहनुद्गर्गा अमि ध्रुवं । सर्वं तदिन्द्र ते वशै ॥ १ ॥

यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न भंरा इति मन्यमे । उतो तत्सुत्पमित्तव ॥ २ ॥

ये सोमासः परावति ये अर्वावति सुन्धिरे । सर्वास्तां इन्द्र गच्छसि ॥ ३ ॥ (७०१)

[सूक्त ११३]

(ऋषिः — १-२ मर्गः । देवता — इन्द्रः ।)

उभयं शृणवंध न इन्द्रो अर्वागिदं वचः ।

सुत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शर्विष्ठ आ गमत् ॥ १ ॥

तं हि श्वराजं वृषमं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतः ।

उतोपमानां प्रथमा नि पीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥ २ ॥ (७०२)

[सूक्त ११४]

(ऋषिः — १-२ सोमरिः । देवता — इन्द्रः ।)

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुपां सनादसि । युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १ ॥

नर्को र्वन्तं सख्यायं विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्विः ।

यदा कृणोषिं नदुनुं समृहृस्पादित्पितेवं ह्यसे ॥ २ ॥ (७०५)

(सूक्त ११५)

पीतये आ गमत्) सोमस पीतके लिये आयेग ॥ १ ॥

(धृत्रहनु) हे इन्द्रके मानिवले । हे सर्वे । (यत् अद्य कत् च अमि उद् अगाः) जो आज तू धिरी तरह उदय हुआ है, हे इन्द्र । (तत् सर्वे ते यदो) वह सब तेरे वशमें है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१३।४)

(ऋ. ८।१३।५)

(यद् वा) धिया (प्रवृद्ध सत्पते) हे बड़े सलके पालक । (न भंरे इति मन्यसे) मैं नहीं मर्हंगा ऐसा मानता है, (उतो उ तत् तव सग्यं इत्) नि संदेह वह तेरा सल मानना है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१३।५)

(ये सोमासः परावति) जो सोमस दूर है (ये अर्वावति सुन्धिरे) जो निकट निकले हैं । हे इन्द्र । (तान् सर्वांन् गच्छसि) उन सबके पास तू जाता है ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१३।६)

(सूक्त ११६)

(उभयं) दोनों बातें हैं, (इन्द्रः अर्वाक् इदं नः वचः शृणवत् च) एक तो इन्द्र पास आकर इस हमारे वचनको सुनेगा और दूसरा (सुत्राच्या धिया) विवेक पूर्ण बुद्धिसे (शर्विष्ठः मघवा) बलवान् इन्द्र (सोम-

(धिषणे) पाँ और पृषिवाने (तं वृषमं श्वराजं) उस बलवान् स्वतंत्र शासकको (तं मोजसे) बढके शक्ति करनेके लिये उस इन्द्रको (निष्टतक्षुः) बनाया । (उतोपमानां प्रथमः) तू उनमा देने सोममें पहला होकर (नि पीदसि) बैठता है, (ते मनः सोमकामं हि) तेरा मन सोमकी इच्छा करनेवाला है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१३।२)

(सूक्त ११४)

(अ-भ्रातृव्यः) न तेरा कोई शत्रु है, (अ-नाः) न कोई नेता है, हे इन्द्र । (त्वं अनापिः) तेरा कोई मित्र भी नहीं (जनुपा सनाद् असि) जन्मसे तू कदा ऐसा ही है (युधा इत् भ्रापित्वं इच्छसे) युद्धसे तू मित्रत्व चाहता है । जो तुझे बुलाते हैं उनका तू मित्र होता है ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१३।१)

(र्वन्तं सख्याय नकिः विन्दसे) धनवान्को मित्र-ताके लिये तू नहीं प्राप्त करता, (ते सुराश्वः) तेरे द्वारा पीनेवाले शौण (पीयन्ति) विनष्ट होते हैं, (यदा नदुनुं

[सूक्त ११५]

(ऋषिः — १-२ वत्सः । देवता — इन्द्रः ।)

अहमिद्वि पितुष्परि मेघामृतस्य जग्रमं । अहं सूर्यं इवाजनि ॥ १ ॥
 अहं प्रत्नेन मन्मता गिरः शुम्भामि कण्ववत् । येनेन्द्रः शुष्मिद्वेषे ॥ २ ॥
 ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्कपयो ये चं तुष्टुवुः । ममेद्वर्षस्व सुष्टुतः ॥ ३ ॥ (७०८)

[सूक्त ११६]

(ऋषिः — १-२ मेघयातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

मा भूम निष्टया इवेन्द्र त्वदरणा इव । वनानि न प्रजहितान्यद्रिषो दुरोपासो अमन्महि ॥ १ ॥
 अमन्महीदनाशवोऽनुप्रासंश्च वृत्रहन् । सकृत्सु ते महता शूर राधसानु स्तोमं मुदीमहि ॥ २ ॥ (७१०)

[सूक्त ११७]

(ऋषिः — १-३ वसिष्ठः । देवता — इन्द्रः ।)

पिपा, सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुपाष हर्षश्चाद्रिः । सोतुर्बाहुभ्यां सुर्षतो नार्वा ॥ १ ॥
 यस्ते मद्रो युज्यश्चाहस्ति येन वृत्राणि हर्षश्च हंसि । स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥

कृपोषि) जब तू शब्द करता है तब (आत् इत् सम-
 हसि) सबको इकट्ठा करता है तब (पिता इव हृयसे)
 पिताके समान बुलाया जाता है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।२।११४)

(सूक्त ११५)

(अहं इत् हि) मैंने निश्चयसे (पितुः परि) पितासे
 (अमृतस्य मेघां जग्रम) सत्यनिष्ठ बुद्धिका ग्रहण किया है ।
 (अहं सूर्यं इव अजनि) और मैं सूर्यके समान प्रकट
 हुआ हूँ ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१।११०)

(अहं प्रत्नेन मन्मता) मैं पुराने विचारके अनुसार
 (कण्ववत् गिरः शुम्भामि) कण्वके समान अपनी वाणी-
 योंको सुशोभित करता हूँ । (येन इन्द्रः शुष्मं इत् द्वेषे)
 जिससे इन्द्र बलको धारण करता है ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१।१११)

हे इन्द्र ! (ये त्वां न तुष्टुवुः) जिन्होंने तेरी स्तुति नहीं
 की (ये च ऋषयः तुष्टुवुः) और जिन ऋषियोंने स्तुति
 की है, (मम सुष्टुतः इत् वर्षस्व) मुझमें स्तुति किया
 हुआ नू शिबको प्राप्त हो ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।१।११२)

(सूक्त ११६)

(निष्टया इव) नीबोंकी तरह (त्वद् अरणा इव)
 तुलसे दूर दिये हुआकी तरह, हे इन्द्र ! (मा भूम) हम
 मत हों । हे (अद्रिवः) वज्रपारी इन्द्र ! (प्रजहितानि

वनानि न) छोटे हुए बनोंकी तरह (दुरोपासः अम-
 न्महि) दुःखसे जलवाले बंधोंकी तरह हम न हो गये हों,
 ऐसा हम अपनेको समझते हैं ॥ १ ॥ (८।१।१३)

हे (वृत्रहन्) वृत्रको मारनेवाले ! (अनाशयः अनु-
 प्रासः च) स्फूर्तिसे कार्यन करनेवाले, न उपवीर (अमन्मा-
 इत्) हम अपने आपको समझते हैं । हे (शूर) वीर इन्द्र !
 (ते महता राधसा) तेरे बड़े दानसे (सकृत्) एक
 वीर हों (ते स्तोमं) तेरे स्तोत्रके (सु अनु मुदीमहि)
 अनुकूल रहनेमें हम आनंद मान रहे हैं ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१।१४)

(सूक्त ११७)

हे इन्द्र ! (सोमं विव) सोम पौ । (त्वा मन्तु) तुझे
 वह आनंदित करे । हे (हर्षश्च) भूरे रंगके घोड़ोंवाले इन्द्र !
 (यं ते अद्रिः सुपाष) जिस रथको तेरे लिये पत्थरने कू-
 कर निकाला है । (सुयतः अर्वा न) बाधे हुए घोड़ोंकी
 तरह (सोतुः बाहुभ्यां) रथ निकालनेवालेके बलवा-
 बाहुओंसे रथ निकाला है ॥ १ ॥ (ऋ. ७।२।११)

(यः ते मद्रः युज्यः चाहः अस्ति) जो तेरा सोम
 सुन्दर मित्र है । हे (हर्षश्च) भूरे रंगके घोड़ोंवाले इन्द्र !
 (येन वृत्राणि हंसि) जिससे तू वृत्रोंको मारता है ।
 (प्रभूवसो इन्द्र) हे बहु जानवाले इन्द्र ! (स त्वां
 ममत्तु) वह तुझे आनंदित ॥ २ ॥ (ऋ. ७।२।१२)

बोध्या सु मे मघवन्वावमेमां यां वे वसिष्ठो अर्चति प्रशंस्तिम् । इमा ब्रह्म सधमादे जुपस्य ॥ ३ ॥ (७२३)

[सूक्त ११८]

(ऋषिः — १-२ बर्गः, ३-४ मेघपातियिः । देवता — इन्द्रः ।)

शग्भ्युद्भुपु शचीपत् इन्द्र विश्वाभिरुतिभिः ।

भगं न हि त्वां यशमं वसुविदुमनुं शूर चरामसि ॥ १ ॥

पौरौ अश्वस्य पुरुकृद्रवामिस्पुत्सो देव हिरण्ययः ।

नकिर्हि दानं परिमार्घिपुत्से यद्यद्यामि तदा मर ॥ २ ॥

इन्द्रमिद्वेवतातय इन्द्रं प्रयत्युत्प्वरे ।

इन्द्रं समीके वृनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥ ३ ॥

इन्द्रो मृहा रोदसी पप्रथुच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् ।

इन्द्रं ह विश्वा भुवनानि येमिरे इन्द्रं सुवानास इन्द्रवः ॥ ४ ॥ (७२७)

[सूक्त ११९]

(ऋषिः — १ आयुः, २ धृष्टिगुः । देवता — इन्द्रः ।)

अस्तावि मन्मं पूर्यं मस्त्रेन्द्रांग वोचत । पूर्वीर्हितस्यं वृहतीरनूपत स्तोतुर्मेघा बसृक्षत ॥ १ ॥

हे (मघवन्) पन्थान् इन्द्र । (इमां मे वाच) मेरी इस स्तुतिको (सु योध) वषम रातिषे जान । (यां प्रशस्ति ते वसिष्ठ अर्चति) त्रिष तरी प्रशसाको वासिष्ठ उचाराता है, (इमा ब्रह्म सधमादे जुपस्य) इन स्तोत्रोंको धाव बैठार आनंद करनेके समय सेवन कर ॥ ३ ॥ (ऋ. ७।२।३)

(सूक्त ११८)

हे (शचीपते इन्द्र) शक्तिके स्वामी इन्द्र ! (विश्वामिः ऊतीमिः) सब संरक्षक शक्तियोध (उ सुशग्भ्य) हमें समर्थ बनाओ । (भगं न) भाग्यके पीछे लगनेके समान, हे (शूर) बोर इन्द्र ! (त्वा यशमं वसुविदं) वृष यशसी और धनवालेके (हि अनु चरामसि) अनुसार हो हम चलते हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।१।५)

(अश्वस्य पौरः) तू पौरोंको बहुत संख्यामें रखनेवाला, (गर्वा पुरस्कृत्) गौरोंको बहुत संख्यामें रखनेवाला है, हे देव ! तू (हिरण्ययः उत्सः अस्ति) सोनेका खोन है । (न किः त्वे दानं परिमार्घिपत्) तेरे दानको कोई हानि नहीं पहुंचा सकता । (यत् यत् यामि) जो जो मैं मांगता हूं (तत् वा मर) वह मुझे मर दे ॥ २ ॥ (ऋ. ८।१।५)

(देवतातये इन्द्रं इत्) यज्ञके लिये इन्द्रको, (अश्वरे प्रयति इन्द्रं) यह चादनेकेपर इन्द्रको, (समीके) युद्धमें (इन्द्रं हवामहे) इन्द्रको हम बुलाते हैं । (धनस्य सातये इन्द्रं) धनके दानके लिये इन्द्रको हम (वनिनः हवामहे) स्तोत्रागण बुलाते हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. ८।३।५)

(इन्द्रः मृहा शवः रोदसी पप्रथत्) इन्द्रने अपनी मोहमचे और शक्तिसे दों और पृथिवीको फैलाया है । (इन्द्रः सूर्यं मरोचयत्) इन्द्रने सूर्यको प्रकाशित किया । (इन्द्रः ह विश्वा भूतानि येमिरे) इन्द्रने सब भूतोंको नियममें रखा है, (इन्द्रं सुवानास इन्द्रवः) इन्द्रमें सोमरस पहुंचते हैं ॥ ४ ॥ (ऋ. ८।३।६)

(सूक्त ११९)

(पूर्यं मन्म अस्तावि) पुराना स्तोत्र पढ़ा गया, (इन्द्राय ब्रह्म वोचत) इन्द्रके लिये स्तोत्र पढ़ो । (अस्तस्य पूर्वाः वृहतीः अनूपत) इन्द्रकी शक्तीन स्तुतियां मादीं गयीं हैं । (स्तोतुः मेघाः अस्सृक्षत) स्तोत्राकी बुद्धियेसे स्तोत्र उपस्य हुए हैं ॥ १ ॥ (ऋ. ८।५।१५)

तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानुचुः ।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्द्रवः

॥ २ ॥ (७१९)

[सूक्त १२०]

(ऋषिः — १-१ देवातिथिः । देवता — इन्द्रः ।)

यदिन्द्र प्रागपागुदुङ्ग्यग्वा ह्यसे नृभिः ।
सिमां पुरू नृपुंतो अस्थानवेऽसिं प्रशर्ष तुर्वशे
यद्वा रुमं रुशमे श्यावके कृप इन्द्रं मादयसे सचा ।
कषासस्त्वा ब्रह्मंभि स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि

॥ १ ॥

॥ २ ॥ (७२१)

[सूक्त १२१]

(ऋषिः — १-२ ऋषिः । देवता — इन्द्रः ।)

अभि त्वां शूर नोनूमोऽदुग्धा इव घेनवः ।
ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः
न त्वावो अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न अनिष्यते ।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र चाजिनो गव्यन्तस्त्वा इवामहे

॥ १ ॥

॥ २ ॥ (७२३)

(तुरण्यवः विप्रासः) त्वासे कार्य करनेवाले विशेषे (घृतश्चुतं अर्कं आनुचुः) यी घृतेवाला स्तोत्र पढा है । (अस्मे रयिः पप्रथे) हमारे लिये धन पैला, (अस्मे वृष्यं शवः) हमारे लिये बीरता मुक्त बल कैला है, (अस्मे सुवानासः इन्द्रवः) हममें निशाने हुए सोमरस है ॥ २ ॥

(सत्त्वा मादयसे) साथ रहनेसे आनंद मानता है तथापि हे इन्द्र । (स्तोमवाहसः कषशासः) स्तोत्र बोलनेवाले कष (ब्रह्मभिः आ यच्छन्ति) बहुत स्तोत्रोंसे तुझे खींचते हैं, अतः (आ गहि) उनके पास आ ॥ २ ॥

(अ. ८।१।२)

(अ. ८।५।१०)

(सूक्त १२१)

१ घृतश्चुतं अर्कं आनुचुः— यी घृतेवाला स्तोत्र पढा गया । घांका हवन होनेके समय स्तोत्र पढा गया है :

(सूक्त १२०)

हे इन्द्र ! (यत् नृभिः) जब मनुष्योंके द्वारा (प्राक्, अपाक्, उदक् न्यग् वा ह्यसे) पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिणमें तू बलाया जाता है, तो भी हे (स्तोम प्रशर्ष) श्रेष्ठ बलवाले इन्द्र ! (नृपुंतः) बहुत वीरों द्वारा प्रेरित होकर भी तू (अनवे पुरू असि) अतुके लिये विशेष सहायक रहता है और वैसे ही (तुर्वशे असि) तुर्वशके लिये भी विशेष सहायक होता है ॥ १ ॥

(अ. ८।५।११)

हे शूरा इन्द्र ! (अदुग्धा घेनवः इव) न दुर्गौ गौओंके तरह (अस्य जगतः तस्थुषः) इस जगम और स्थावर जगत्के (स्वर्दृशं ईशानं) तत्रस्वा ईश्वर रूपी (त्वा अभि नोनूमः) तैसी हम स्तुति करते हैं ॥ १ ॥ (अ. ८।३।२।२२)

(त्वावान् अन्यः न) तैरे जैसा कोई दूसरा नहीं है, (न दिव्यः न पार्थिवः) न दिव्य है और न पार्थिव है, (न जातः न अनिष्यते) न हुआ और न होगा । हे इन्द्र ! हे (मघवन्) धनवान् ! (अश्वायन्तः गव्यन्तः) घोड़ों और गौओंकी प्राप्तिकी इच्छा करनेवाले हम (याजिनः) दिव्यान्न लेकर (इवामहे) तुझे बुलाते हैं ॥ २ ॥

(अ. ८।३।२।३)

(यत् वा) अथवा हम, हमम, श्यावक, रूपके हे इन्द्र !

[सूक्त १२२]

(ऋषिः — १-३ शुनचोप . देवता — इन्द्रः ।)

रेवतीर्नः सधमाद् इन्द्रे सन्तु नुविवाजाः । धुमन्तो याभिर्भदेम ॥ १ ॥
 आ घ त्वावान्नमनात् स्तोत्रभ्यो धृष्णधियानः । ऋणोरसं न चक्रयोः ॥ २ ॥
 आ यदुर्वः शतक्रतुवा कामं जरितृणाम् । ऋणोरसं न शचीभिः ॥ ३ ॥ (७१६)

[सूक्त १२३]

(ऋषि — १ * कुत्स । देवता — सूर्य ।)

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तुर्विततुं सं जमार ।
 यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्राग्री वासंस्तनुदे सिमसै ॥ १ ॥
 तन्मिषस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते धोरुपस्यै ।
 अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्वरितः सं भरन्ति ॥ २ ॥ (७१८)

[सूक्त १२४]

(ऋषिः — १-३ यामदवः ४-६ भुवन । देवता — इन्द्रः ।)

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदाबृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

(सूक्त १२०)

(सधमाद्) साय रदनेवाला (नुवि वाजा.) बहुत बकाला (न रेवती इन्द्रे) हमारा धनयुक्त रनुतिशो इन्द्रक विषयमें हो (धुमन्त) वे हमें अन्न देनेवाली हो और (याभि मदेम) त्रिनक्षे हमें आनन्द हो ॥ १ ॥

(ऋ ११३-११३)

हे (धूमन्तो) शत्रुका धर्षण करनेवाले इन्द्र! (त्वा धान्) तरे जैसा (मना आत्) स्वय मित्र बनकर (स्तोत्रभ्य धियानः) स्तोत्रार्थक पास जानेवाला (धृष्णधो अक्ष न) बर्कोक अधेक समान कोन (आ ऋणो) रहता है ॥ २ ॥

(ऋ १३-११४)

हे (दातक्रतो) सैकधो कार्य करनेवाले इन्द्र! (जरि तृणां काम युव) स्तोत्रार्थक कामनाओं और सेवाओंको (यत् आ ऋणो) दृ पूर्ण करता है, (शचीभिः अक्ष न) शक्तिशैक साथ बकला अक्ष जैसा स्थिर रहता है ॥ ३ ॥

(ऋ ११३-११५)

(सूक्त १२३)

(सूर्यस्य तत देवस्य) सूर्यका वह देवत्व है (तत् महित्व) और वह उसका महत्व है, कि जो (कर्तो

मध्या) कार्यके मध्यमें (वितत स जमार) फैले हुए धरणजातको समेट लेता है। (यदा इत् सधस्थ्यात् हरित युक्त) जब वह अपने स्थानसे घोंटोको मोड़ता है, (राश्री वासः सि असौ आ तनुते) तब राश्री सबके लिये एक बध फैला देता है ॥ १ ॥ (८ १११५५४)

(मिषस्य धरणस्य अभिचक्षे) मिष और वरुणके देखनेके लिये (सूर्य घो उपस्थे तत् रूप कृणुते) सूर्य घुंके समीप रूप बनाता है। (अस्य रुशत् पाज अनन्त अन्यत्) इसका प्रकाशमय अन त रूप एक है और (अन्यत् कृष्ण) दूसरा रूप अन्धकार है जो (हरित स भरन्ति) किरणें सर्वात् इसक पोछे भर देते हैं ॥ २ ॥

(ऋ १११५५५)

(सूक्त १२४)

(चित्रः ऊती सदाबृधः सखा) वह विलक्षण रक्षण करनेवाला सदा बढ़नेवाला मित्र इन्द्र (कया न. आ भुवद) जिस शक्तिके साथ हमारे समीप आजायगा? (कया शचिष्ठया वृता) जिस सामर्थ्यके युक्त होकर हमारे समीप आ जायगा ॥ १ ॥ (ऋ ४३१११)

कस्त्वा सत्यो मदानां महिष्ठो मत्सुदन्धसः । दृढहा चिंदाकृजे वसु	॥ २ ॥
अर्मा पृ णः सखीनामविता जरितृणाम् । श्रुते मेवास्पृतिभिः	॥ ३ ॥
इमा तु कं भुवना सीपधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः ।	
यज्ञं च नस्तन्वी च प्रजां चाद्रित्यैरिन्द्रः सह चीकृत्पाति	॥ ४ ॥
आदित्यैरिन्द्रः सर्गणो मरुद्भिरसाकं भूत्वविता तुनुनाम् ।	
हस्त्राय देवा असुरान्यदार्यन्देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः	॥ ५ ॥
श्रत्यश्चमर्कर्मनयं छर्चीभिरादितस्वघामिपिरां पर्यपश्यन् ।	
अया बालं देवहितं सनेमु मदेम शतहिमाः सुवीराः	॥ ६ ॥ (७३४)

[सूक्त १२५]

(ऋषिः — १-७ सुकीर्तिः । ४-५ अश्विनौ । देवता — इन्द्रः ।)

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व ।	
अपोदीचो अपं शूराधराचं उरौ यथा तव शर्मन्मदेम	॥ १ ॥
कुविदुङ्ग यज्ञमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियुयं ।	
इहर्हैषां कृणुहि भोजनानि ये चाहिपो नमो वृक्तिं न जग्मुः	॥ २ ॥
नहि स्थूर्यतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु ।	
ग्वयन्तु इन्द्रं सुरुषाय विप्रां अश्रापन्तो वृषणं वाजयन्तः	॥ ३ ॥

(शब्धसः मदानां महिष्ठः) सोमरसके आनंदोमिष्ठे
पेष्ठ (कः सत्यः रवा) कान्धा सखा आनंद तुम्हे (दृढहा
वसु चित् आचजे) शत्रुकं मुदह संपत्तिको तोरुनेके लिये
(मत्सुद) वत्साह देता है ॥ २ ॥ (ऋ. ४।३।१२)

(नः जरितृणां सखीनां अविता) हमारे स्तुति
करनेवाले मित्रोंका संरक्षक त् (ऊर्तिभिः श्रुते अभि सु
मवालि) संरक्षणसे ही गुना होता है ॥ ३ ॥
(ऋ. ४।३।१२)

४-६ देहो अपर्षं. २०।६३.१-३

(सूक्त १२५)

हे (मघवन् इन्द्र) घनवान् इन्द्र ! हे (अभिभूते)
विक्रयो वीर ! (प्राचः अभिप्राय मप नुदस्व) पूर्व
दिशासे हमारे शत्रुओंका दूर कर (अपाचः) पश्चिम दिशासे
शत्रुओंको दूर कर । हे शूर ! (उद्दीचिः अप) उत्तरसे दूर
कर और (अघराचः मप) दक्षिणसे भी दूर कर, (यथा

तव उरौ शर्मन् मदेम) जैसे तेरे बड़े आश्रयसे रह सकें
ऐसा कर ॥ १ ॥ (ऋ. १०।१३।११)

हे (अंग) विय इन्द्र ! (यथा यवमन्तः) जैसे बीहो बोने-
वाले किधान (यवं चित् अनुपूर्वं वियुयं) ओंको पूषत् करके
(कुवित् दानित) बहुत करके काटते हैं; (इह इह पर्यां
भोजनानि कृणुहि) जैसे यहाँ बर्हो इनके योग्यता इनके लिये
निर्माण करो (ये वरिहपः नमो वृक्तिं न जग्मुः) जो
यज्ञघ्न लाग नहीं करते ॥ २ ॥ (ऋ. १०।१३।१२)

(स्थूरिः श्रुतुथा यातं नहि अस्ति) एक घोटिका रूप
यज्ञमें जाता नहीं, (उत संगमेषु श्रवः न विविदे) और
संसर्गमें उसको यज्ञ भी नहीं मिलता, इसलिये (गःयन्तः
अश्रापयन्तः वाजयन्तः) गौंसे चाहनेवाले, घोटि चाहने-
वाले और बल चाहनेवाले (विप्राः) हम जानी (घृषणं इन्द्रं
सुरुषाय) बलवान् इन्द्रको वियतोंके लिये उसको मुलाते
हैं ॥ ३ ॥ (ऋ. १०।१३।१३)

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा । विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ४ ॥

पुत्रमिव पितरांश्विनोभेन्द्रावपुः कार्वाण्डुसनाभिः ।

यत्सुरामं व्यपिषुः शचीभिः सरस्वती त्वा मधवन्नभिष्णक् ॥ ५ ॥

इन्द्रः सुत्रामा स्वर्वा अवीभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः ।

चार्यतां द्वेषो अभयं नः कृणोत सुवीर्यस्य पतंगः स्याम ॥ ६ ॥

स सुत्रामा स्वर्वा इन्द्रो असद्वाराच्चिद्र द्वेषः सनुतयुंयोतु ।

तस्य वयं सुमर्ता यज्ञियस्यापि मूद्रे सोमनसे स्याम ॥ ७ ॥ (७४१)

[सूक्त १२६]

(ऋषि — १-२३ वृषाकपिरिन्द्राणी च । देवता — इन्द्र ।)

यि हि सोतोऽरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत ।

यत्रामंदद्रुपाकंपिर्यः पुष्टेषु मत्संस्त्रा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १ ॥

परा हीन्द्र धार्वसि वृषाकंपरति व्यथिः ।

नो अह प्र विन्दस्यन्वत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २ ॥

किमयं त्वां वृषाकंपिश्चकार हरितो मृगः ।

यसां इरस्यसीदु न्वृयो वां पुष्टिमद्रसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ३ ॥

हे (शुभस्पति अश्विनौ) शुभ कर्म करनेवाले अग्नि देवो । (युव सुराम सचा विपिपाना) शुभ दोनोने उत्तम आनंद देनेवाले सोमरसको पाकर (वासुरे नमुचौ कर्मसु इन्द्र आवत) अक्षर पुत्र नमुचिके मरनेक कर्ममे इन्द्रको सहायता को ॥ ४ ॥ (ऋ १-११३१४)

(पितरौ पुत्र इव) मातापिता जैसे पुत्रकी रम तरह (उभा अश्विना) दोनो अग्निदेव (कारवै दसनाभि इन्द्र आवधुः) बुद्धियों और कर्मोंइ इन्द्रको रक्षा करते हैं । (यत् सुराम शचीभि व्यपिष) जब उत्तम आनंद देनेवाला रम अपनी शक्तियोंइ पिशा। तब हे (मधवन्) इन्द्र । (सरस्वती त्या अभिष्णक्) सरस्वताने तेरी सवा का ॥ ५ ॥ (ऋ १-११३१५)

६-७ दशो अथर्व ७।९।१।१, ७।९।२।१

(सूक्त १२६)

इन्द्राणो (सोतो) वि असृक्षत हि) सोमका रस निकालना छोड़ दिया । (इन्द्रं देव न अमंसत) इन्द्रको

देव भी नहीं माना । (यत्र वृषाकपि अमदत्) अहं वृषाकपिने आनंद प्राप्त किया । (य पुष्टेषु मत्संस्त्रा) जो पुष्टोमें मेरा स्वामा बना देवह (इन्द्र विश्वस्मात् उत्तरः) इन्द्र सबसे अधिक श्रेष्ठ है ॥ १ ॥ (ऋ १-१०८६१)

हे इन्द्र । (परा हि धार्वसि) तू दूर भागता है । (अति व्यथि वृषाकपे) अति बुरा लेकर वृषाकपिके पास तू जाता है । (अन्यत्र सोमपीतये) दूसरे स्थानपर सोम पीनक लिये (नो अह प्र विन्दसि) नहीं मिलता । (विश्व स्मात् उत्तर इन्द्रः) सबसे इन्द्र अधिक श्रेष्ठ है ॥ २ ॥ (ऋ १-१०८६२)

(अथ हरित मृगः वृषाकपिः) इस काले पशु जैसे वृष कपिने (किं त्वां चकार) तुझे क्या किया है (यस्य अयं वा) जिसके लिये श्रेष्ठके समान (पुष्टिमद्रसु इरस्यासि इत् उ) पुष्ट करनेवाला धन तू देता है । (वि०) सबसे इन्द्र श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥ (ऋ १-१०८६३)

यमिमं त्वं वृषार्कपि प्रियमिन्द्राभिरक्षसि ।	
आ न्वंस्य जन्मिपदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः	॥ ४ ॥
प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यष्टुदुपत् ।	
शिरो न्वस्य राविपं न सुगं दुष्कृतं श्वं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः	॥ ५ ॥
न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् ।	
न मत्प्रतिन्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः	॥ ६ ॥
उवे अम्ब सुलाभिके यथैवाङ्ग भविष्यति ।	
मसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीवि हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः	॥ ७ ॥
किं सुवाहो खङ्गुरे पृथुद्यो पृथुजाघने ।	
किं शूरपति नुस्त्वमभ्यमीपि वृषार्कपि विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः	॥ ८ ॥
अचाराभिव मामयं शाराहुरभि मन्यते ।	
उताहमसि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सस्त्रा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः	॥ ९ ॥
संहोत्रं स पुरा नारी समनं वाव गच्छति ।	
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः	॥ १० ॥

हे इन्द्र ! (त्वं) तू (यं इमं वृषार्कपि) जिस इश वृष-
कपिको (प्रियं अभिरक्षसि) जिस मानकर सुरक्षित रखता
है । (वराहयुः श्वा) सुभरको चाहनेवाला कुत्ता । (अस्य
कर्णे जन्मिपदपि) इसके कानको पकड़े । (वि०) सबसे
इन्द्र श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥ (ऋ. १०।८६।४)

(मे प्रिया तष्टानि) मेरे प्रिय करके तैयार किये पदार्थ
(कपिः व्यक्ता व्यष्टुदुपत्) इस वृषकपिने स्पष्ट रीतिसे
बिगाड़ दिये (अस्य शिरोः तु राविपं) इसका शिर मैं
काहूँगे, (दुष्कृते सुगं न भुवं) दुराचारीको सुख करने-
वाली नहीं बनूँगी । (वि०) सबसे इन्द्र श्रेष्ठ है ॥ ५ ॥
(ऋ. १०।८६।५)

(न मत् स्त्री सुभसत्तरा) कोई स्त्री सुभे अधिक
श्रीभारवहती नहीं है, (न सुयाशुतरा भुवत्) न अधिक
मैगोंसे युक्त है, (न मत् प्रती क्यवीयसी) न मुझसे
बदकर उठेवाली, (न सक्थी उद्यमीयसी) न कोई अधिक
उपमाँ है । (वि०) सबसे इन्द्र श्रेष्ठ है ॥ ६ ॥
(ऋ. १०।८६।६)

(उवे अम्ब सुलाभिके) हे माता, हे उत्तम लाभवाली ।
(यथा इश भोग भविष्यसि) भिद्य ताह हे प्रिय ! होगा ।

हे (अम्ब) हे माता ! (मे मसत्) मेरा उह, (मे सक्थि,
मे सिरः) मेरी इश और मेरा शिर (वि हृष्यति इव)
सेतलसा हो रहा है । (वि०) सबसे इन्द्र श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥
(ऋ. १०।८६।७)

हे (सुवाहो) उत्तम बाहुवाली, (खंगुरे) उत्तम शेर-
लियोवाली, उत्तम हाथवाली, (पृथुद्यः) विशाल आँखवाली,
(पृथुजाघने) पृथु जंघावाली (शूरपति) वीरकी पत्नी ।
(नः वृषार्कपि किं अभ्यमीपि) हमारे वृषार्कपि पर तू
क्या कौंध करती है ? (वि०) सबसे इन्द्र श्रेष्ठ है ॥ ८ ॥
(ऋ. १०।८६।८)

(अयं शाराहः) यह धारपात करनेवाला वृषार्कपि (मां
अचारां इव अभिमन्यते) मुझे अचारा करके मानता है,
(उत अहं वीरिणी) पर मैं वीर पुत्रोंवाली (इन्द्रपत्नी)
इन्द्रकी पत्नी (मरुत्सस्त्रा) मरुतोंके साथ रहती हूँ । (वि०)
इन्द्र सबसे अधिक श्रेष्ठ है ॥ ९ ॥ (ऋ. १०।८६।९)

(नारी पुरा) स्त्री पुराने समयसे (संहोत्रं समनं
द्याव गच्छति स्म) उत्तम गन्त और उत्सवमें निधयसे
जाती है । (ऋतस्य वेधा) यज्ञहा विधान करनेवाली
(वीरिणी इन्द्रपत्नी महीयते) वीर पुत्रोंकी जन देने

इन्द्राणोमासु नारिषु सुभगांमहमश्रवम् ।	
नृह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ११ ॥	॥ ११ ॥
नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेऋते ।	
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १२ ॥	॥ १२ ॥
वृषाकपायि रेवंति सुपुत्र आदु सुस्तुपे ।	
घसंत इन्द्रं उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १३ ॥	॥ १३ ॥
उक्ष्णो हि मे पश्वदश साकं पचन्ति विश्रुतिम् ।	
उताहमग्निं पीव इदुमा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १४ ॥	॥ १४ ॥
वृषभो न तिममश्रुद्वोऽन्तर्युधेषु रोहवत् ।	
मन्धस्त इन्द्रं शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १५ ॥	॥ १५ ॥
न सेशे यस्य रम्यतेऽन्तरा सक्थ्याऽङ्गे कपृत् ।	
सेदींशे यस्य रोमशं निपेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १६ ॥	॥ १६ ॥
न सेशे यस्य रोमशं निपेदुषो विजृम्भते ।	
सेदींशे यस्य रम्यतेऽन्तरा सक्थ्याऽङ्गे कपृद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १७ ॥	॥ १७ ॥

वाली इन्द्रपत्नीकी प्रशंसा की जाती है । (वि०) सबसे इन्द्र अधिक भ्रेष्ट है ॥ १० ॥ (अ. १०।८६।१०)

(इन्द्राणो मासु नारिषु) इन्द्राणोको इन स्त्रियोंमें (यह सुभगां अश्रवं) मैंने सौमग्यवाली करके सुना है । (अस्याः अपरं चन) इसका विशेष यह है कि (अस्याः पतिः जरसा न मरते) इसका पति जरासे मरता नहीं । (वि०) सबसे इन्द्र अधिक भ्रेष्ट है ॥ ११ ॥

(अ. १०।८६।११)

हे (इन्द्राणि) इन्द्राणि । (अहं वृषाकपेः सख्युः ऋते) मैं मित्र वृषाकपिके बिना (न रारण) रमता नहीं । (यस्य इदं प्रियं अप्यं हविः देवेषु गच्छति) जिसकी यह प्रिय और पवित्र हवि देवोंमें जाती है । (वि०) सबसे अधिक भ्रेष्ट इन्द्र है ॥ १२ ॥ (अ. १०।८६।१२)

(रेवति सुपुत्रे आदु सुस्तुपे) हे पनवाली, उत्तम पुत्रवाली, उत्तम स्तुपावाली (वृषाकपायि) वृषाकपिकी पत्नी । (इन्द्रः काचित्करं उक्षणः प्रियं ते हवि घसत) इन्द्र सुखकारी वनोंको प्रिय ऐसे तैरे हविकी खावे । (वि०) सबसे अधिक भ्रेष्ट इन्द्र है ॥ १३ ॥

(अ. १०।८६।१३)

(पंचदश) पंद्रह पकानेवाले (उक्षणः विश्रुतिं साकं मे पचन्ति) बीस सोमके कंदोंको एक साथ मेरे लिये पकाते हैं । (उत अहं अग्निं आर मे उतको खाता हूं, (पीव इत्) उधसे गुष्ट बनता हूं, (मे उमा कुक्षी पृणन्ति) मेरी दोनो कोंठें भरती हैं । (वि०) सबसे अधिक भ्रेष्ट इन्द्र है ॥ १४ ॥

(अ. १०।८६।१४)

(उक्षणः श्रुंगः वृषभः न) तीखे साँगेवाला बेल जैसे (यूधेषु अन्तः रोहवत्) यूधोंमें गर्जना करता है जैसे हे इन्द्र । (मन्धः ते हृदे शं) सोमरस तेरे हृदयको आनन्द देवे (यं ते भावयु सुनोति) जिसको तेरे लिये उपसक भक्तिभावसे रस निकालता है । (वि०) सबसे इन्द्र अधिक भ्रेष्ट है ॥ १५ ॥

(अ. १०।८६।१५)

(यस्य सक्थ्या अन्तरा) जिसका सक्थियोंके मध्यमें (कपृत् रम्यते) शिशु लटकता रहता है (स न ईदो) वह सामर्थ्यवान् नहीं होता, (स इत् इदो) वही समर्थ होता है (यस्य निपेदुषः रोमशं विजृम्भते) जिसके सोनेपर रोमवाला शिशु खड़ा होता है । (वि०) सबसे इन्द्र अधिक भ्रेष्ट है ॥ १६ ॥

(अ. १०।८६।१६)

(न स ईदो) वह समर्थ नहीं होता (यस्य निपेदुषः रोमशं विजृम्भते) जिसके सोनेपर रोमवाला खड़ा है (सः

अयमिन्द्र वृषार्कपिः परस्वन्तं हते विदत् ।

असिं सुनां नवं चरुमादेधुस्यान् आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १८ ॥

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासुमार्यम् ।

पिबामि पाकसुत्वन्तोऽमि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १९ ॥

धन्वं च यत्कृन्तत्रं च कतिं स्वित्ता वि योजना ।

नेदीपसो वृषाकपेस्तमेहिं गृहो उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २० ॥

पुनरोहिं वृषाकपे सुविता कल्पयावहै ।

य एष स्वमनंशानोस्तमेपि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २१ ॥

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन ।

कंस्य पुल्वघो मृगः कर्मगं जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २२ ॥

पशुंहै नाम मानवी साकं संसूव विशतिम् ।

मद्रं मल त्वस्या अभूद्यस्या उदरमार्यपद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २३ ॥ (७६४)

इत् ईशो) वही समय होता है (यस्य सप्तपथा अन्तरा कपृत् रग्धते) जिसके सन्ध्याके वचनमें शिरन लटकता रहता है । (वि०) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ १७ ॥

(ऋ. ८।८६।१७)

हे इन्द्र ! (अयं वृषार्कपि) इस वृषार्कपिने (परस्वन्तं हतं विदत्) एक मरा हुआ प्राणी प्राप्त किया और (असिं सुनां नवं चरुं आत् ईधस्य आचितं अनः) तलवार, मूल, नया ताजा पत्रा चारल, और इन्धनका मरा हुआ गाढा प्राप्त किया । (वि०) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ १८ ॥

(ऋ. ८।८६।१८)

(दासं आर्यं विचिन्वन्) दास और आर्योंको परीक्षा करता हुआ (विचाकशत् अयं एमि) और उनको देखता हुआ यह मैं जाता हूँ । (प्राकसुत्वन्ः अमि पिबामि) शुद्धतमि निकाला हुआ सोमरस पीता हूँ । (धीरं अचाकशं) बुद्धिमानको देखता हूँ । (वि०) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ १९ ॥

(ऋ. ८।८६।१९)

(धन्व च यत् कृन्तत्रं च) मरु और उजाड़ देव (कति स्वित्ता वि योजना) कितने योजन विस्तारण हैं ? (नेदीपसः गृहान्) पाषवाले घरोंमें, हे वृषाकपे ! (अस्तं उप एहि) अपने घरको आ । (वि०) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ २० ॥

(ऋ. ८।८६।२०)

हे (वृषाकपे) वृषाकपे । (पुनः एहि) पुनः आ । (सुविता कल्पयावहै) हम दोनों तेरे लिये सुविधा बनायेंगे । (यः एषः स्वमनंशानः) ओ यह स्वमननाशक मार्ग है (पथा पुनः अस्तं एहि) उस मार्गसे पुनः घरको तू जाता है । (वि०) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ २१ ॥

(ऋ. ८।८६।२१)

हे वृषाकपे ! हे इन्द्र ! (यत् उदञ्चः) जब ऊपर तुम दोनों (गृहं आजगन्तन) अपने घरको आगये, (स्यः पुल्वघः मृगःक) बड़ पापी मृग कहाँ गया और (जनयोपनः कं अगं) लोगोंको दुःख देनेवाला कहाँ गया ? (वि०) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ २२ ॥

(ऋ. ८।८६।२२)

(पशुंहै नाम मानवी) पशु नामक मनुकी कन्याने (साकं विशति संसूव) एक साथ बीस पुत्रोंको जन्म दिया, (मद्रं मल त्वस्या अमृत्) निःसंदेह उद्यम मला हुआ (यस्याः उदरं आर्ययत्) यद्यपि उसके उदरको पीठित किया । (वि०) सबसे अधिक श्रेष्ठ इन्द्र है ॥ २३ ॥

(८।८६।२३)

यह इन्द्राणी और इन्द्रका संवाद है । पर यह समझनेमें अत्यंत कठिन है । इसमें अनेक गुण संकेत हैं जो नहीं समझमें आते । इस कारण आवश्यक होने पर ही इसका विशेष स्पष्टीकरण नहीं लिख सकते ।

॥ अथ कुन्तापसूक्तानि ॥

[सूक्त १२७]

(विलानि)

इदं जना उपं श्रुत नराशंस स्तविष्यते । पृष्टिं सहस्रां नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दग्धे ॥ १ ॥

उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वृधूमन्तो द्विर्दश । वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईपमाणा उपस्पृशः ॥ २ ॥

एष ऋषयं मामहे शतं निष्कान्दश स्रजः । त्रीणि शतान्यर्धतां सहस्रा दश गोनाम् ॥ ३ ॥

वच्यस्व रेभं वच्यस्व वृक्षे न पक्षे शकुनः । ओष्टे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न मुरिजोतिव ॥ ४ ॥

प्र रेमासो मनीषा वृषा गावं इवरेते । अमोतपुत्रका एषाममोत गा इवांसते ॥ ५ ॥

प्र रेभ धी भरस्व गोविदं वमुविदम् । देवत्रेमां वाचं श्रेणीहीपुर्नावीरस्तारम् ॥ ६ ॥

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवोऽमर्त्या अति । वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोतां परिक्षितः ॥ ७ ॥

परिच्छिन्नः क्षेममकरोत्तम आसंनमाचरन् । कुलायन्कृष्वन्कौरव्यः पतिर्वदति जाययां ॥ ८ ॥

कतरत् आ हराणि दधि मन्थां परि श्रुतम् । जायाः पतिं वि पृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ ९ ॥

(सूक्त १२७)

हे (जनाः) लोगो । (इदं उप श्रुत) यह सुनो !

(नराशंस स्तविष्यते) मनुष्यका स्तोत्र गाथा जायगा ।

हे कौरम । (रुशमेषु) रुशमो (पृष्टिं सहस्रा नवतिं च)

(एष ऋषयं) ऋषि । (मामहे शतं निष्कान्दश स्रजः)

(त्रीणि शतान्यर्धतां) तीनही दोधे, (गोनां दश)

सहस्रा) दस हजार गौवं दीं ॥ ३ ॥

हे (रेभ) स्तुति करनेवाले । (वच्यस्व वच्यस्व)

बोल-बोल । (पक्षे वृक्षे शकुनः न) जैसा पक्षे हुए वृक्षर

पक्षी बोलता है । (ओष्टे जिह्वा चर्चरीति) होठोंमें जिह्वा

जलदी जलदी चलती है (मुरिजोः इव क्षुरः न) जैव

धौबौधे तैत्र फाले ॥ ४ ॥

(वृषा गाव इव) बैल और गौओंकी तरह (रेमासः)

मनीषा प्र ईरते) स्तोत्राण्य स्तुतिको प्रेरित करते हैं ।

(पुत्रका अमा उत एषां) इनके पुत्र धामें (गाः अमा)

उन इय आसने) गौवं धामें रहनेके समान रहते हैं ॥ ५ ॥

हे (रेभ) स्तोता । (वसुविदं गोविदं) घन देने-

वाले और गौवं देनेवाले (धियं प्र भरस्व) स्तोत्रको तैयार

कर (इमां वाचं वेचन्ना कृधि) इस स्तोत्रको देवताओंके

पास गायन कर । (अस्ता वीरः इषुं न) बाम फँडने-

वाला वीर जैसा बाण फेंकता है ॥ ६ ॥

(विश्वजनीनस्य वैश्वानरस्य) सब लोगोंका हित

करनेवाले, सब जनोंके शासक (परिक्षितः राज्ञः) सुपरी-

क्षित राजाको (सुष्टुतिं वा शृणोत) उत्तम स्तुतिको सुनो

(यः देवः मर्त्या अति) जो देवकी तरह मानवोंमें श्रेष्ठ

है ॥ ७ ॥

(परिक्षित् उत्तमं आसंनं आचरन्) परिक्षितने

उत्तम रात्रिहावन पर बैठकर (नः क्षेमं अकः) हमारा

कल्याण किया । (कौरव्यः कुलायं कृष्वन्) कौरव पुत्र

अपना घर बनाता हुआ (पतिः जायया घदति) ऐसा

पति अपनी स्त्रीके कहता है ॥ ८ ॥

(कतरत् ते आ हराणि) क्या वस्तु तेरे लिये लाऊँ

(दधि मन्थं परि श्रुतं) दही, मट्ठा या रस (परि-

क्षितः राज्ञः राष्ट्रे) परिक्षित राजाके राष्ट्रमें (जाया पतिं

वि पृच्छति) स्त्री पतिसे पूछती है ॥ ९ ॥

अमीवस्वः प्र जिहति यवः पृकः पथो विलम् । जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ १० ॥
 इन्द्रः कारुमब्रुवधदुक्षिष्ठ वि चरा जनस्य । ममेद्रुग्रस्य चर्कधि सर्व हत्तं पृणादरिः ॥ ११ ॥
 इह गावः प्रजायध्वमिहाथा इह पूरुपाः । इहो सहस्रदक्षिणोऽर्षिं पूपा नि पीदति ॥ १२ ॥
 नेमा इन्द्र गावो रिपुन्मो आसां गोर्ष रीरिषत् । मासांममिन्नयुर्जन इन्द्र मा स्तेन ईशत ॥ १३ ॥
 उप नरं नोनुमसि सूक्तेन वचसा वयं भद्रेण वचसा वयम् ।
 वनादाधिष्वनो गिरो न रिष्येम कृदा चन ॥ १४ ॥ (७७८)

[सूक्त १२८]

यः समेयो विदध्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः । सूर्यं चाभुं रिशादसं तद्देवाः प्रागकल्पयन् ॥ १ ॥
 यो जाम्या अमेधयस्तघरसखायं दुधूर्पति । ज्येष्ठो यदंप्रचेत्तास्तदाहुरर्धरागिति ॥ २ ॥
 यद्भद्रस्य पूरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः । तद्विप्रो अत्रवीदुदग् तर्दन्ध्वः काम्यं वचः ॥ ३ ॥
 यश्च पणि रभुजिष्ठयो यश्च देवां अदाशुरिः । धीराणां शश्वतामहं तदपागिति शुश्रुम ॥ ४ ॥

(यः पृकः विलं परः) पृकः हुआ जो जो विलस परे हुआ है (स्वः इव नामि प्र जिहति) अर्थात् वह प्रकाशकी ओर जाता है । (परिक्षितः राज्ञः राष्ट्रे) परिक्षित राजाके राष्ट्रमें (सः जनः भद्रं पद्यते) वह मनुष्य कल्याण प्राप्त करता है ॥ १० ॥

(इन्द्रः कारुं अब्रुवधत्) इन्द्रने स्तोत्राको जगाया, कि (उक्षिष्ठ, जनं वि चर) ब्रह्म और लोगोंमें जा । (मम उग्रस्य इत् चर्कधि) मम उग्रशीर- इन्द्र- की स्तुति कर (सर्वः अरिः त इत् पूणात्) सब भक्तजन तुझे धनधे पूर्ण करेंगे ॥ ११ ॥

(इह गावः प्रजायध्वं) यहाँ गाँवें बँडें (इह अम्वाः) यहाँ घोड़े, और (इह पूरुपाः) यहाँ पुरष बँटें । (इह सहस्रदक्षिणः पूपा अपि नि पीदति) यहाँ हजार दक्षिणा देनेवाला पूषा भी बैठा है ॥ १२ ॥

हे इन्द्र ! हमारा गावः मा रिपुन्) ये गाँवें हानि न उठावें । (आसां गोपतिः मा उ रिपत्) इनका गोपालक हानि न उठावे । हे इन्द्र ! (आसां अमिन्नयुः जनः) शत्रु लोग इनपर खासित्व न करें, (स्तेनः मा ईशत) चोर इनका मालिक न बने ॥ १३ ॥

(सूक्तेन वयं नरं उप नोनुमसि) सूक्ते हम एक धीरकी स्तुति करते हैं (वयं भद्रेण वचसा) हम कल्याणकारी वचनसे स्तुति करते हैं । (नः गिरः वनः दधिष्य)

हमारा स्तुतिको सुननेकी तू इच्छा कर (कदाचन न रिष्येम) हमारा नाश कभी न हो ॥ १४ ॥

(सूक्त १२८)

(यः समेयो विदध्यः) जो समाने योग्य, जो समाजके योग्य, (यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः) जो सौपरस निहालने-वाला, यज्ञ करनेवाला पुरुष है उनको (अभुं रिशादसं सूर्यं) और इस रोगविनाशक सूर्यको (तत् देवाः प्राक् अकल्पयन्) देवोंने आगे बढनेवाला बनाया है ॥ १ ॥

(यः जाम्या अमेधयत्) जो बहनको अपवित्र बनाता है, (तत् यत् सखायं दुधूर्पति) जो मित्रकी हानि पहुँचाता है, (यत् ज्येष्ठः अप्रचेत्ताः) जो ज्येष्ठ होनेपर भी दुष्ट बित्तवाला है, (तत् अधराक् इति आहुः) उसको पतित कहते हैं ॥ २ ॥

(यत् भद्रस्य पूरुषस्य दाधृषिः पुत्रः भवति) जिस श्रेष्ठ पुरुषका पुत्र विभयो होता है, (तत् उदग् विप्रः अश्व-वीत) उसको उलत होनेवाला करके विप्रने कहा है, (तत् काम्यं वचः गन्धर्वः) वह प्रिय वचन गन्धर्वने कहा है ॥ ३ ॥

(यः च पणिः अभुजिष्ठयः) जो अनियम न भोगने-वाला बंजूस है, (यः च देवान् अदाशुरिः) जो देवोंको भी नहीं देता, (शश्वतां धीराणां तत् अपाक् इति शुश्रुम) सारे ज्ञानियोंके वह नाच है ऐसा हमने सुना है ॥ ४ ॥

ये च देवा अयंजन्ताथो ये च पराद्ददि । सूर्यो दिवंमिव गत्वाय मघवानो वि रंश्यते ॥ ५ ॥
 योनाक्ताक्षो अनभ्यक्तो अमणिषो अहिरण्यवः । अर्बह्ना ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु समिता ॥ ६ ॥
 य आक्ताक्षः सुभ्यक्तः सुमणिः सुहिरण्यवः । सुर्बह्ना ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु समिता ॥ ७ ॥
 अप्रपाणा च वेशन्ता रेवो अप्रतिदिश्ययः । अयंभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु समिता ॥ ८ ॥
 सुप्रपाणा च वेशन्ता रेवान्सुप्रतिदिश्ययः । सुयंभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु समिता ॥ ९ ॥
 परिवृक्ता च महिषी स्वस्त्या च युधिगमः । अनाशुरश्यापामी तोता कल्पेषु समिता ॥ १० ॥
 वाशता च महिषी स्वस्त्या च युधिगमः । अनाशुरश्यापामी तोता कल्पेषु समिता ॥ ११ ॥
 यद्विन्द्रादो दाशराज्ञे मानुष वि गाहयाः । विरूपः सर्वसा आमीत्सह युक्षाय कल्पते ॥ १२ ॥
 त्व वृषाक्षु मघवन्नम्रं मर्याकरो रजिम् । त्वं रौहिण व्यास्यो वि वृत्रस्वाभिन्नच्छिरः ॥ १३ ॥

(ये च देवा अयंजन्ता) जा दबोका यजन करत है । और (ये च पराद्ददि) जा दान दत है । (सूर्य दिव स्व भावाय) वे सूर्य तुल्य कर्म जाकर (मघवान वि रंशते) धनवान होकर बह दाने है ॥ ५ ॥

(य अनाक्ताक्ष) जिसके आंखमें अजन लगाया नहीं है (अनभ्यक्त) अगपर जिसने उबटना लगाया नही (अमणिः अहिरण्यवान्) जिसके शरीरपर रत्न नहीं है शरीरपर सोना भा नही, (अर्बह्ना ब्रह्मण पुत्र) जा ब्रह्मणका पुत्र दानपर भी ब्रह्मा नही है (ता उताः) ये सब (कल्पेषु समिता) कल्पोंमें समान रागते-दृग्गण्यमान गय है ॥ ६ ॥

(य आक्ताक्ष) जिसके आंखमें अजन है (स्वभ्यक्त) जिसके शरीरपर वषम उबटना लगा है (सुमणि) जिसके शरीरपर रत्न है (सुहिरण्यवान्) जिसके शरीरपर सोना है (ब्रह्मणः पुत्र सुब्रह्मा) ब्रह्मणका पुत्र होनेपर जो उत्तम ब्रह्मा हुआ है (ता उता कल्पेषु समिता) य वत्तें कल्पोंमें तुल्य-अर्थ-माना गया है ॥ ७ ॥

(वेशन्ताः अप्रपाणा) तालाब जिनमें पानेका पानी नही है (रेवान् अप्रददिः च य) धनव न दानेपर भी जा दाता नहीं है (कल्याणी कन्या अयंभ्या) सुन्दर जा न या अगम्य है (ता उता कल्पेषु समिता) ये बातें सब समान माना गया है ॥ ८ ॥

(वेशन्ताः सुप्रपाणा) तालाब पान योग्य पानात

म है, (रेवान् सुप्रददि च य) धनवान दानेपर जो उत्तम दान दता है (कल्याणी कन्या अयंभ्या) सुन्दर कन्या दानपर जा अगम्य (ता उता कल्पेषु समिता) ये सब कल्पोंमें समान माना है ॥ ९ ॥

(महिषी परिवृक्ता) जो पटरानीसगालाहुई है (स्वस्त्या च अयुधिगम) स्वयं ही नपर भा जो युद्धमें जाता गरी, (अनाशु मघ्व अयामी) जा तेज पाडा नही दा चलने वाला नहीं (ता उता कल्पेषु समिता) ये कल्पोंमें समान माने है ॥ १० ॥

(वावाता च महिषी) प्रथम पटरानी, (स्वस्त्या च युधिगम) स्वयं दानेपर जो युद्धमें जाता है (स्वाशु मघ्व सुयामी) उत्तम कल्पेवाला पेश (ता उता कल्पेषु समिता) ये सब कल्पोंमें समान है ॥ ११ ॥

दे इन्द्र ! (यन् अद् दाशराज्ञे वि गाहया) जो तू दाशराज्ञ युद्धमें घुम गया था वह (अमानुष) वह अमानुष कर्म तू न किया था । (सर्वसंघं वरुण आसीत्) सबके लिये वह आदरपाया था । (सः ह यक्ष्माय कल्पते) वह रोग दूर करनके लिय सम्य होता है ॥ १२ ॥

(त्व वृषायाह) तू मूढ़न विजय बनाता है, दे (मघ यम्) इन्द्र ! (मर्यं) मानबोका हित करनेवाले ! (रजि नम्र अकर) तूने रजिचा नम्र बनाया (त्व रौहिण व्यास्य) तूने रौहिणके टुकड़ किये, (वृत्रस्य शिर वि अभिनत्) तूने वृत्रका शिर काटा ॥ १३ ॥

यः पर्वतान्वदध्याद्यो अपो व्यंगाहयाः । इन्द्रो यो वृत्रहा महान् तस्मादिन्द्रं नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥

प्रष्टि चार्वन्तं हयोर्वाचैः श्रवसमन्ववन् । स्वस्त्यंश्च जैत्रायेन्द्रमा वह सुसजम् ॥ १५ ॥

युक्त्वा श्वेता आचैः श्रवसं हयो युञ्जन्ति दक्षिणम् ।

पूर्वतमं स देवानां विश्वदिन्द्रं महीयते ॥ १६ ॥ (७१४)

[सूक्त १२९]

एता अश्वा आ पुं वन्ते ॥ १ ॥ प्रतीपं प्रातिसुत्वन्म् ॥ २ ॥

तासामेका हरिक्रिका ॥ ३ ॥ हरिक्रिके किर्मिच्छसि ॥ ४ ॥

साधु पुत्रं हिरण्ययम् ॥ ५ ॥ काह तं परास्यः ॥ ६ ॥

यत्रामुस्तिन्नः शिशापाः ॥ ७ ॥ परित्रयः ॥ ८ ॥

पृदाकवः ॥ ९ ॥ शृङ्गं धमन्त आसते ॥ १० ॥

अयमिहागतो अर्वा ॥ ११ ॥ स इच्छक्ता संज्ञायते ॥ १२ ॥

गोमयाद् गोमतिरिव ॥ १३ ॥ पुसां कुले किर्मिच्छसि ॥ १४ ॥

पक्वौ व्रीहियवा इति ॥ १५ ॥ व्रीहियवा अघा इति ॥ १६ ॥

अजगर इवाविकाः ॥ १७ ॥ अश्वस्य वारो गोशफर्यं ते ॥ १८ ॥

श्येनपर्णा सा ॥ १९ ॥ अनामयोपजिह्विका ॥ २० ॥ (८१४)

(यः पर्वतान् व्यदधात्) त्रिधने पर्वतोंको बनाया,

(यः अपो व्यगाहयाः) जो अलप्रवाहोंमें घुस गया ।

(इन्द्रः यः महान् वृत्रहा) इन्द्र जो बड़ा वृत्रको मारने-
वाला है, हे इन्द्र ! (तस्मात् ते जमः अस्तु) इसलिये तुझे
नमस्कार है ॥ १४ ॥

(हयोः प्रष्टि धावन्तं) रथने दोनों घोड़ोंके आगे दौड़ने-
वाले । मौषैःश्रवसं अश्ववन्) रथैथवासे कहा, है (स्वस्ति
अश्व) कल्याणकारी अश्व ! (जैत्राय सुसजं इन्द्रं आ
घद्) विजयके लिये माला पहने इन्द्रको ले आ ॥ १५ ॥

(श्वेता युक्त्वा) श्वेत घोड़ियोंको जोतकर (हयोः
दक्षिणं) दो घोड़ोंके दक्षिण भागमें (अर्वाःश्रवसं
युञ्जन्ति) रथैःश्रवाको जोतते हैं । (देवानां पूर्वतमं
इन्द्रं विश्वत्सः) देवोंमें श्रेष्ठ इन्द्रको धारण करके वह
(महीयते) बड़ा कहा जाता है ॥ १६ ॥

(सूक्त १२९)

(एताः अश्वाः) ये घोड़ियां (प्रतीपं प्राति-सुत्वन्) प्रतीप
प्रतीप सुत्वन्को और (आ सुवन्ते) दौड़तां हैं ॥ १-२ ॥

(तासां एका हरिक्रिका) उनमेंसे एक कम मूरी है,
हे हरिक्रिके ! (किं इच्छसि) तू क्या चाहती है ? ॥ ३-४ ॥

१९ (अश्वर्ष, माष्य, काण्ड २०)

(साधुं हिरण्ययं पुत्रं) उत्तम सुनहरी पुत्रको ।

(का आहतं परास्यः) कहाँ उसको तूने छोड़ दिया ?
॥ ५-६ ॥

(यत्र अमूः तिन्नः शिशापाः) जहाँ वे तान शीशमके
इस हैं (परि त्रयः) तीनोंके पास ? ॥ ७-८ ॥

(पृदाकवः) सांप (शृंगं धमन्तः आसते) साँप
पुंकेते उठते हैं ॥ ९-१० ॥

(अयं अर्वा इह आपतः) यह घोड़ा यहाँ आया है,
(स इत् शक्ता संज्ञायते) वह गोवरसे जाना जाता है
॥ ११-१२ ॥

(गोमयात् गमेगतिः इव) गोवरसे गौका मार्ग जैसा
जाना जाता है, (पुसां कुले किं इच्छसि) अनुष्णोंके
कुलमें रहकर तू क्या करना चाहता है ? ॥ १३-१४ ॥

(पक्वौ व्रीहियवौ इति) पके हैं बावल और जौ ।
(व्रीहियवा अघा इति) बावल और जौ आ ॥ १५-१६ ॥

(अजगरः अविका इव) अजगर जैसा भेड़ोंकी ।
(अश्वस्य वारः ते गोशफर्यः) घोड़ेका बाल और गौका
सुर तरा है ॥ १७-१८ ॥

(श्येनपर्णा सा) वह बाज पक्षीके पंखोंवाली है,

[सूक्त १३०]

को अपावहादिमा दुग्धानि ॥ १ ॥	को असिक्न्याः पर्यः ॥ २ ॥
को अर्जुन्याः पर्यः ॥ ३ ॥	कः कार्ण्याः पर्यः ॥ ४ ॥
एतं पृच्छ कुहं पृच्छे ॥ ५ ॥	इहा कं पक्कं पृच्छे ॥ ६ ॥
यवा नोप तिष्ठन्ति कुक्षिम् ॥ ७ ॥	अकुप्यन्तः कुपायवः ॥ ८ ॥
अमणिका मणिलदः ॥ ९ ॥	देवत्वा प्रति सूर्यम् ॥ १० ॥
एनी हरिकिका हरिः ॥ ११ ॥	प्रदुद्रुमुर्मघा प्रति ॥ १२ ॥
शृंग उत्पन्ने ॥ १३ ॥	मा त्वापि सखा नो विदत् ॥ १४ ॥
वशायाः पुत्रमा यन्ति ॥ १५ ॥	इरा देवममदत् ॥ १६ ॥
अथो इयमियमिति ॥ १७ ॥	अथो इयमिति ॥ १८ ॥
अयोऽर्था अस्युरि नो भवन् ॥ १९ ॥	इयत्तिका शलाकका ॥ २० ॥ (८३५)

[सूक्त १३१]

आ भिनोति वि भिद्यते ॥ १ ॥	तस्य कर्तं निमञ्जनम् ॥ २ ॥
वरुणो याति वसुभिः ॥ ३ ॥	शतं वायोरमीशवः ॥ ४ ॥

(अनामयोपजिहिका) वह नीरोगिताकी लानेवाली है ॥ १९-२० ॥

(सूक्त १३०)

(इमा दुग्धानि कः अपावहत्) कौन इन दूधके भेड़ोंको ले गया ? (कः अर्यः यहुलिमा इयुनि) किस मर्धने बहुत इयु धारण किये ? (क असिक्न्या पर्यः) कौने काली गायके दूधका ले गया ॥ १-२ ॥

(कः अर्जुन्या पर्य) कौन छपेद गायके दूधको और (क कार्ण्या पर्य) कौन काली गायके दूधको ले गया ? ॥ ३-४ ॥

(एतं पृच्छ) इसको पछ । (कुहं पृच्छे) कहाँ पछ । (कुहाकं पक्कं पृच्छे) कहाँ किस चट्टरको पछ ? ॥ ५-६ ॥

(यवा कुक्षि न उपातिष्ठन्ति) औ पेटमें नहीं आते ।

(कुपायव अकुप्यन्त) डुर रसक कुद होते हैं ॥ ७-८ ॥

(अमणिका मणिलदः) मणिले रहित और मणिले भरित, (देव त्वा प्रति सूर्य) सूर्यके सामने देवत्व ॥ ९-१० ॥

(एनी हरिकिका हरिः) बितकवरी, हरिकिका और

भूरे रगवाली । (प्रदुद्रुमु मघा प्रति) उतम हविके पाठ दीडे ॥ ११-१२ ॥

(शृंगो उत्पन्ने) शींग उत्पन्न होने पर (मा त्वा अपि न सखा विदत्) तुम मत हमारा मित्र जाने ॥ १३-१४ ॥

(यशाया पुत्र मा यन्ति) गोके पुत्रके प्रति आते हैं, (इरा दधं अददत्) अन्नने देवको दिया ॥ १५-१६ ॥

(अथो इयं इय इति) यह यह है ऐसा कहा, (अथो इय) और यह यह ॥ १७-१८ ॥

(अथो अर्था अस्युरि न भवन्) तब हमारे घोडे सुख नहीं हुए (शलाकका इयत्तिका) शलाह इतनी ही है ॥ १९-२० ॥

(सूक्त १३१)

(आभिनोति वि भिद्यते) उठे तोरता है, उसके उठके होते हैं, (तस्य कर्तं निमञ्जनम्) उसका नाश करो ॥ १-२ ॥

(वरुणः याति वसुभिः) वरुण वसुओंके साथ जाता है । (वायोः शतं अमीशवः) वायुकी सौ लगामें हैं ॥ ३-४ ॥

शतमर्षा हिरण्ययाः	॥ ५ ॥	शतं रथा हिरण्ययाः	॥ ६ ॥
शतं कुथा हिरण्ययाः	॥ ७ ॥	शतं निष्का हिरण्ययाः	॥ ८ ॥
अर्हल कुशवर्त्तक	॥ ९ ॥	शफे न पीव ओहते	॥ १० ॥
आयर्वनेन तेदनी	॥ ११ ॥	वनिष्ठौ नाव गृह्यते	॥ १२ ॥
इदं मर्षं मण्डूरिके	॥ १३ ॥	ते वृक्षाः सह तिष्ठन्ति	॥ १४ ॥
पाकं बलिः	॥ १५ ॥	शकं बलिः	॥ १६ ॥
अश्वत्थः खंदिरो घवः	॥ १७ ॥	अरदुपर्णः	॥ १८ ॥
शयै हत इव	॥ १९ ॥	व्याप्तः पूरुषः	॥ २० ॥
अदुहभित् पीयूषम्	॥ २१ ॥	अर्घ्यर्ध्व परस्वतः	॥ २२ ॥
द्वौ च हस्तिनो हर्ता	॥ २३ ॥		

(८५४)

[सूक्त १३२]

आदलाबुंकुमेकेकम्	॥ १ ॥	अलाबुंकं निखातकम्	॥ २ ॥
कर्करिको निखातकः	॥ ३ ॥	तद् वातः उन्मथायति	॥ ४ ॥
कुलायं कृणवादिर्ति	॥ ५ ॥	उग्रं वनिषदाततम्	॥ ६ ॥
न वनिषदनाततम्	॥ ७ ॥	क एषां कर्करिं लिखत्	॥ ८ ॥
क एषां दुन्दुभिं हनत्	॥ ९ ॥	यदि हनत् कयं हनत्	॥ १० ॥

(शतं मर्षाः हिरण्ययाः) सौ सुनहरे घोडे है, (शतं रथा हिरण्ययाः) सौ रथ सुनहरे हैं । (शतं कुथाः हिरण्ययाः) सौ गदले सुनहरी हैं, (शतं निष्काः हिरण्ययाः) सौ हार सोनेके हैं । (अर्हल कुशवर्त्तक) हलके बिना कुशपर आविष्का करनेवाले ॥ ५-९ ॥

(शफे पीव न ओहते) छारमें बर्षा नहीं होती । (आयर्वनेन तेदनी) मिलानेसे भी नहीं पकड़ता ॥ १०-११ ॥

(वनिष्ठौ न अव गृह्यते) पेटमें ठहरता नहीं । (इदं मर्षं मण्डूरिके) यह मेरे लिये है मण्डूरिके ॥ १२-१३ ॥

(ते वृक्षाः सह तिष्ठन्ति) वे वृक्ष साथ बडे हैं, (पाकं बलिः) पकाया बलि है ॥ १४-१५ ॥

(शकं बलिः) शक बलि है, (अश्वत्थः खंदिरो घवः) पीपल, खैर और घवा है ॥ १६-१७ ॥

(अरदुपर्णः) अरदुका पत्ता । (शयै हत इव) मरे हुएकी तरह लेटता है ॥ १८-१९ ॥

(पूरुषः व्याप्तः) पूरुष वेरा हुआ है (अदुहन् इत् पीयूषं) अमृत हुआ ॥ २०-२१ ॥

(अर्घ्यर्धः च परस्वतः) डेढ जंगली गधा । (द्वौ च हस्तिनः हर्ता) हाथीके दो चमके ॥ २२-२३ ॥

(सूक्त १३२)

(आत् अलाबुंकं एककं) एक तुंभी केवल, (अलाबुंकं निखातकं) तुंभी-गाडी गई है ॥ १-२ ॥

(कर्करिकः निखातकः) कर्करिक गाधा गया । (तद् वातः उन्मथायति) वायु चलता है ॥ ३-४ ॥

(कुलायं कृणवात् इति) घर को ऐसा कहता है । (उग्रं आततं वनिषत्) वह उग्र फैला है ऐसा दीखेगा ॥ ५-६ ॥

(न वनिषद् अनाततं) वह न फैला हुआ नहीं पायेगा, (क एषां कर्करिं लिखत्) कौन इनमेंसे बीगाको बजायेगा ? ॥ ७-८ ॥

(क एषां दुन्दुभिं हनत्) कौन इनमें दुन्दुभिको बजायेगा, (यदि हनत् कयं हनत्) यदि बजायेगा तो कैसा बजायेगा ? ॥ ९-१० ॥

देवी हनत् कुहं हनत्	॥ ११ ॥	पर्यागारं पुनः पुनः	॥ १२ ॥
श्रीण्युष्ट्रस्य नामानि	॥ १३ ॥	हिरण्यमित्येकमत्रवात्	॥ १४ ॥
द्वे वा यशः शवः	॥ १५ ॥	नीलं शिखण्डो वा हनत्	॥ १६ ॥ ८७०

[सूक्त १३३]

विततौ किरणौ द्वौ तावा पिनेष्टि पूरुषः । दुन्दुभिमा हननाभ्यम् ।	
न वै कुमारि तच्छा ययां कुमारि मन्यसे	॥ १ ॥
मातृष्टे किरणौ द्वौ निवृतः पुरुषाद् दितिः । कोशबिले । न वै०	॥ २ ॥
निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे । रज्जुनि ग्रन्थेर्दानम् । न वै०	॥ ३ ॥
उत्तानायां शयानायां तिष्ठन्तमव गूहति । उपानहि पादम् । न वै०	॥ ४ ॥
श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवाव गूहति । उत्तराञ्जनीमांजन्याम् । न वै०	॥ ५ ॥
अवश्लक्ष्णमिव अंशदन्तलोमंवाति हृदे । उत्तराञ्जनी वर्त्मभ्याम् । न वै०	॥ ६ ॥ (८७६)

[सूक्त १३४]

इहेत्या प्रागर्पागुदगंधरागासंभ्रा उदर्भिर्यथा । अलावृनि	॥ १ ॥
इहेत्या प्रागर्पागुदगंधरागासंभ्रा उदर्भिर्यथा । वृत्साः प्रुपन्त आसते । पृषातकानि	॥ २ ॥

(देवी हनत् कुहं हनत्) देवीने बजाया, वहा बजाया, (परि-भागार पुनः पुनः) पुन पुनः पारके चारों ओर	(मध्यमे निरायच्छसि) मध्यमे निचेय देता है ॥
॥ ११-१२ ॥	(रज्जुनि ग्रन्थे. वानं) रस्सीमें प्रथी देना ॥ ० ॥ ३ ॥
(श्रीणि उपस्य नामानि) ऋत्के तान नाम हैं, (हिरण्य इति एकं अग्रणीत्) सोना एक है ऐसा उचने वहा ॥ १३-१४ ॥	(उत्तानायां शयानायां) लठे ना सोयिके लिये (तिष्ठन्ती वाव गूहति) ठहरती है या गुप्त रहती है ॥ (उपा नहि पादं) जूतेमें पांव ॥ ० ॥ ४ ॥
(द्वे वा यशः शवः) दो यश और बल ये हैं, (नील-शिखण्ड. वा हनत्) नीले धूहोवाला बजायेगा ॥ १५-१६ ॥	(श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां) प्रेमवाणी, स्नेह करने वालीमें (श्लक्ष्णं एव अत्र गूहति) प्रथ ही गुप्त रखता है ॥ (उत्तराञ्जनीं आंजन्यां) ॥ ० ॥ ५ ॥
(सूक्त १३३)	(अवश्लक्ष्णं इव अंशत्) गुप्त प्रेमके समान अष्ट होता है (हृदे अन्तः लोमं अति) हृदयमें अन्दर लोम होनेके समान ॥ (उत्तराञ्जनीं वर्त्मभ्यां) ॥ ० ॥ ६ ॥
(तौ द्वौ किरणौ विततौ) वे दो किरण फैले हैं, (पुरुषः तौ आ पिनेष्टि) पुरुष उनको पीतता है, (दुन्दुभि आ हननाभ्यं) दोलको बजानेसे दे कुमारि। (न वै तत् तथा) वह वैसा नहीं, दे कुमारि। (यया मन्यसे) वैसा तू मानती है ॥ १ ॥	(सूक्त १३४)
(ते मातृ. द्वौ किरणौ) तैी मातासे दो किरण चलने हैं, (पुरुषात् इति निवृत्त) पुरुषसे पात्र चला गया है ॥ (कोशबिले) खजाना और बिल ॥ ० ॥ २ ॥	(इह इत्या) यहाँ इस तरह (प्राक्, अपाक्, उद्गृ, अधराक्) पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिणमें (आसन्नं) बैठे हैं (यथा उद्मि) जैसे पानीके धाय (अलावृ त्वाभ्ये) ॥ १ ॥
(निगृह्य द्वौ कर्णकौ) दोनों कानोंको पकड़ कर	(वृत्साः प्रुपन्त आसते) बच्चे दरी और पीके (पृषा-तकानि) छिदरते हुए बैठते हैं ॥ २ ॥

इहेत्या प्रागपांगुदगंधरागासन्ना उदभिर्यथा । स्यालीपाको विलीयते । अश्वत्थपलाशम् ॥ ३ ॥
 इहेत्या प्रागपांगुदगंधरागासन्ना उदभिर्यथा । सा वै स्पृष्टा विलीयते । विप्रुट् ॥ ४ ॥
 इहेत्या प्रागपांगुदगंधरागासन्ना उदभिर्यथा । उष्णे लोहे न लीप्सेयाः । चमसः ॥ ५ ॥
 इहेत्या प्रागपांगुदगंधरागा शिशिक्षुं शिशिक्षते । पिपीलिकावटः ॥ ६ ॥ (८८९)

[सूक्त १३५]

सुगित्यभिर्गतः । सा ॥ १ ॥ शालित्यपकान्तः । पूर्णशुदः ॥ २ ॥ फलित्युभिष्ठितः । गोशफः ॥ ३ ॥
 वीङ्गमे देवा अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर । सुषट् मिद् गुवामस्ति प्र खुद ॥ ४ ॥
 पत्नी यदृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितुरोधामो देव । होवा विंटीमेन जरितुरोधामो देव ॥ ५ ॥
 आदित्या हं जरितराङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् ।
 तां हं जरितुर्न प्रत्यायंस्तार्मुं ह जरितुर्न प्रत्यंगृम्भन् ॥ ६ ॥
 तां हं जरितुर्न प्रत्यायन् तामुह जरितः प्रत्यंगृम्भन् ।
 अहा नेत सन्नविचेतनानि जहा नेत सन्नपुरोगवासाः ॥ ७ ॥
 उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्जविष्ठः । उतेमाशु मानं विपत्ति ॥ ८ ॥
 आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेत इदं राघः प्रतिं गृम्णीह्यङ्गिरः ।
 इदं राघो विभु प्रसु इदं राघो बृहत् पृथु ॥ ९ ॥
 देवा ददुत्वावरं तद् वो अस्तु सुचेतनम् । युष्मे अस्तु दिवोदिवे प्रत्येव गृमायत ॥ १० ॥
 त्वमिन्द्र शर्म रिणा हव्यः पारावतेभ्यः । विप्राय स्तुवते वंसुवनिं दूर श्रवसे बह ॥
 त्वमिन्द्र कपोताय च्छिन्नपक्षाय बञ्चते । श्यामाकं पकं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहु ॥ १२ ॥
 अरङ्गो वीवदीति त्रेधा बुद्धो वरत्रया । इरामह प्रशंसत्यनिरामपं सेधति ॥ १३ ॥ (८९५)

[सूक्त १३६]

यदस्या अहुं मेधाः कृषु स्थूलमुपावसत् । मुष्काविर्दस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ १ ॥
 यदा स्थुलेन पंससाणौ मुष्का उपावधीत् । विष्वञ्चावस्या वर्षतुः सिकतासिव गर्दुमौ ॥ २ ॥
 यदल्पिका स्वल्पिका कर्कन्धुकेव पद्यते । वारसन्तिकमिव तेजन् मंस आतर्यं विद्यते ॥ ३ ॥
 यद् देवासो ललामगुं प्रविष्टी मिनमाविष्णुः । सुक्थना दैदिश्यते नारीं सत्यस्याक्षि सुवो यथा ॥ ४ ॥

(स्यालीपाको विलीयते) स्यालामे पाक विलीन होता (उष्णे लोहे न लीप्सेयाः) गर्म लोहेपर तू इन्हा न
 है (अश्वत्थ-पलाश) जैसा पीपलहा पत्ता ॥ ३ ॥
 कर (चमसः) चमसकी ॥ ५ ॥

(सा वै स्पृष्टा लीयते) वह स्वयं की हुई लीन होती
 है (विप्रुट्) जैसी पानीकी नूद ॥ ४ ॥
 (शिशिक्षुं शिशिक्षते पिपीलिकावटः) न गले
 लगाना चाहतेहो गले लगाना चाहता है जैसा कीडियोंका
 बिल ३ ६ ॥

महानग्न्येष्टपव वियुक्तः क्रुदुदशो नासरन् । शक्तिं कनीना रुदु मध्यमं सक्थुघंतम् ॥ ५ ॥
 महानग्न्युत्सृखलमतिक्रामन्त्यवनीत् । यथा तव वनस्पते निम्नन्ति तथैवेति ॥ ६ ॥
 महानग्न्युर्षुते अष्टोऽधाप्यवृष्टवः । यथैव तै वनस्पते विपिनितु तथैवेति ॥ ७ ॥
 महानग्न्युर्षुते अष्टोऽधाप्यवृष्टवः । यथा दावो विदद्यत्यज्ञानि मम दक्षन्ते ॥ ८ ॥
 महानग्न्युर्षुते स्वस्व्यावेष्टित पसः । इत्थं फलस्य वृक्षस्य शूर्पं शूर्पं भजेमहि ॥ ९ ॥
 महानग्नी कृकृणाकृ शम्यंया परिं धावति । व्य न विंश यो मृगः शीर्ष्णा हरति घाणिकाम् ॥ १० ॥
 महानग्नी महानग्नि धावन्तमनु धावति । इमास्तदस्य गा रक्ष यम मामुद्रयोदुनम् ॥ ११ ॥
 सुदेवस्त्वा महानग्नी वि वाधते महतः साधु खोर्दनम् ।
 कृशित्वं पीवरी नशद्यभ्य मामुद्रयोदुनम् ॥ १२ ॥
 उशा दुग्धार्त्विनाहुतिः प्रसृजते वनकरम् । महान वै भद्रो विल्वो यम मामुद्रयोदुनम् ॥ १३ ॥
 विदेवस्त्वा महानग्नि वि वाधते महतः साधु खोर्दनम् ।
 कुमारीका पिङ्गलिका कार्यं कृत्वा प्र धावति ॥ १४ ॥
 महान वै भद्रो विल्वो महान् भद्र उदुम्बरः । महो अभितो वाधते महतः साधु खोर्दनम् ॥ १५ ॥
 यं कुमारी पिङ्गलिका कृशित्वं पीवरी लभेत् । तैलकुण्डा दिवाहुष्ठ रदन्तं शुद्धमुदरेत् ॥ १६ ॥ (१२१)

॥ इति कुन्तापसूक्तानि ॥

[सूक्त १३७]

(ऋषि — १ शिरिषिषिठि, २ बुध, ३ घामदेव ४-६ ययाति, ७-११ तिरष्ठीराक्षिरसा
 घृतानो वा १२-१४ सुकक्ष । देवता — १ अलक्ष्मीनाशनम्, २ इन्द्र, ३ दधिकारः,
 ४-६ सोम पचमान, ७-१४ इन्द्रश्च ।)

यद्वा प्राचीरजंगन्तोरौ मण्डूरघाणिकीः । हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्धुदयाश्रवः ॥ १ ॥
 कर्षुभरः कपूथमुदघातन चोदयत सुदत्त वाजसातये ।
 निष्टिग्न्यः पुत्रमा न्यावयोतय इन्द्रं सपाधं इह सोमपीतये ॥ २ ॥

(सूक्त १३७-१३६)

[सूचना— य सूक्त अत्यंत सदिग्ध और क्रिष्ट हैं । अतः इनका अर्थ यहाँ देना आवश्यक है । ज्ञा विद्वान् इनको अ छा नष्ट समझ सकते हैं । व इनका अर्थ स्पष्टाकरणक साथ लिखकर भजग ता बड़ा कृपा होगा ।]

॥ यहा कुन्तापसूक्तानि समाप्त ॥

(सूक्त १३७)

(मण्डूरघाणिकी) गाले धारण करनवाली (यत्त

ह उर प्राची अजगन्त) अब नथयवे साथ आग गयी (बुद्धुदयाश्रव सर्वे इन्द्रस्य शत्रव हता) उदुदुदो ममान इन्द्रक मुख शत्रु मारे गय ॥ १ ॥

(ऋ १-१३५५१४)
 ह (नर) मनुष्यो । (क पूव) इन्द्र सुखपूर्ण है । (वाजसातये) धनक दानके लिये (क-पूथ उदघातन) सुखदाता इन्द्रको उठाओ (चोदयत) प्रेरित करो (सुदत्त) आनादत्त करा, (निष्टिग्न्य पुत्र) अदिके पुत्रको (ऊतये) सुरक्षाक लिये (आच्यावय) नीच लोको

दुधिकाष्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः । सुरभि नो मुखी करत्र ण आयुषि तारिषत् ॥ ३ ॥
 सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय गन्दिनः । पवित्रवन्तो अक्षरन्देवान्गच्छन्त वो मदाः ॥ ४ ॥
 इन्द्रुरिन्द्राय पवत् इति देवासो अम्रुवन् । वाचस्पतिर्मखस्पते विश्वस्येशान् ओजसा ॥ ५ ॥
 सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीड्खयः । सोमः पर्तो रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ६ ॥

अर्चं द्रुप्तो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दुशभिः सहस्रैः ।

आवृत्तमिन्द्रः शक्या धर्मन्तमपस्नेहितीर्णमर्णा अघत् ॥ ७ ॥

द्रुप्तमपश्यं विपुणे चरन्तमुपहरे नद्यो अंशुमत्याः ।

नमो न कृष्णमवतस्थिवांसमिर्प्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥ ८ ॥

अघं द्रुप्तो अंशुमत्या उपस्येऽधारयत्तन्वं तित्विषाणः ।

विशो अदेवीरभ्याश्चरन्तीर्षुहस्पतिना युजेन्द्रः ससाहे ॥ ९ ॥

त्वं ह त्यत्सप्तभ्यो जायमानोऽशुभ्रभ्यो अभवः शत्रुरिन्द्र ।

गूढे धावापृथिवी अन्वविन्दो विभुमद्भ्यो भुवनेभ्यो रणं धाः ॥ १० ॥

(सवाघः) वाघा करनेवालेके सुरसाके लिये (इह इन्द्र सोमपतिये) यही इन्द्रको सोम पीनेके लिये ले आओ ॥ २ ॥

(श्र. १०१०११२)

(जिष्णोः वाजिनः दुधिकाष्णः अश्वस्य) विजयी बलवान् यही श्वेद सफेद घोड़ेको स्तुति (अकारिषं) की, (नः मुखा सुरभि करत्) हमारे मुखोंको सुगंधित करे (नः आयुषि प्रतःरिषत्) हमारी आयुओंको बढ़ावे ॥ ३ ॥

(श्र. ६१२११६)

(मधुमत्तमाः सोमाः) मीठे सोमस्य (मन्दिनः इन्द्राय सुतासः) ये आनन्द देनेवाले रस इन्द्रके लिये निकाले हैं। ये (पवित्रवन्तः अक्षरन्) छाननीके छाने गये (सः मदाः देवान् गच्छन्तु) तुम्हारे ये आनन्द देनेवाले रस देवोंको पहुँचें ॥ ४ ॥

(श्र. ११०११५)

(इन्द्रुः इन्द्राय पवते) सोम इन्द्रके लिये छाना जाता है (इति देवासः अम्रुवन्) ऐसा देवोंने कहा है। (वाचस्पतिः सर्वस्य ईशानः) वाणीका पति सबका स्वामी (ओजसा) अपनी शक्तिके (मखस्पते) यज्ञको पूर्ण करता है ॥ ५ ॥

(श्र. ११०११५)

(सहस्रधारः समुद्रः) सहस्र धाराओंवाला समुद्र (वाचं ईड्खयः) वाणीका शेरक (रयीणां पतिः) धनोंका स्वामी (सोमः) सोमस्य (इन्द्रस्य सखा) इन्द्रका मित्र (दिवे दिवे पवते) प्रतिदिन पवित्र किया जाता है ॥ ६ ॥

(श्र. ११०११६)

(दशभिः सहस्रैः) दस हजारों वृद्धके साथ (इयानः कृष्णः) अनेवाला काला (द्रुप्तः) सोमस्य (अंशुमतीं अवातिष्ठत्) तेजस्वितोमं जा ठहरा। (शक्या घमन्तं तं) शक्तिके साथ धौंकनेवाले उसको (आवत्) रखा की। (नृमणा) वीर मनवाले इन्द्रने (स्नेहितीः अप अघत्) शत्रुओंके परे फेंका ॥ ७ ॥

(श्र. ८१६११२)

(अंशुमत्याः नद्यः) अंशुमती नदीके (उपहरे विपुणे चरन्तं) तटपर विषम भागमें चलनेवाले (द्रुप्तं अपश्यं) सोमको भेने देखा। (नमः न कृष्णं) काले मेवधे तरह (अवतस्थिवांसं) नीचे रहनेवालेकी हे (वृषणः) बलवान् वीरो! (आजौ युध्यत) आप युद्धमें युद्ध करो (सः इप्यामि) ऐसा आपके विषयमें मैं चाहता हूँ ॥ ८ ॥

(श्र. ८१६११५)

(अघ) अनंतर (द्रुप्तः) सोमरसने (तित्विषाणः) तेजस्वी होकर (अंशुमत्या उपस्ये) अंशुमतिके समीप (तन्वं अधारयत्) अपने रूपको धारण किया। (इन्द्रः) इन्द्रने (शुहस्पतिना युजा) शुहस्पतिके साथ रहकर (अभ्या चरन्तीः अदेवी विशाः) युद्ध करनेवाली आशुपति सेनाका (ससाहे) पराभव किया ॥ ९ ॥

(श्र. ८१६११५)

हे इन्द्र! (त्वं आयमानः) तू प्रकट होते ही (त्यत् सप्तभ्यः अशुभ्रभ्यः) उन सात जिनके शत्रु नहीं ऐसे शत्रुओंके लिये (शत्रुः अभघाः) शत्रु हुआ। (गूढे

त्वं ह त्वदप्रतिप्रानमोजो वज्रेण वज्रिन्धृपितो जघन्थ ।

त्वं शुष्णस्यावातिरो वधेनैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्द्रः

॥ ११ ॥

तामिन्द्रे वाजयामसि महे वृत्राय हन्तये । से वृषां वृषभो भुवत्

॥ १२ ॥

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः । घुम्नी श्लोकी स सोम्यः

॥ १३ ॥

गिरा वज्रो न संभृतः सर्वलो अनपच्युतः । प्रवक्ष क्रवो अस्तृतः

॥ १४ ॥ (१२५)

[सूक्त १३८]

(ऋषिः — १-३ घासः । देवता — इन्द्रः ।)

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव । स्तोमैर्वत्सस्य वावृषे

॥ १ ॥

प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्यः । विप्रा क्रतस्य वाहसा

॥ २ ॥

कष्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्वत्सस्य साधनम् । जामि भुवत् आयुधम्

॥ ३ ॥ (१२८)

[सूक्त १३९]

(ऋषिः — १-५ शशकर्मः । देवता — अश्विनौ ।)

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्यं गन्तमवसे । प्रासै यच्छतमवृकं पूषु च्छुर्दियुतं या अरातयः ॥ १ ॥

घावापृथिवी अन्धविन्द्रः । गुप्त रहे याव। पृथिवीको तुमने प्राप्त किया । (विभुमद्भय- भुवनेभ्यः रणं घाः) व्यापक भुवनेषु आनेद दिश ॥ १० ॥ (ऋ. ८.१६।१६)

हे (वज्रिन् इन्द्र) वज्रपरी इन्द्र । (त्वं ह त्वत् अप्रनिमान प्राजाः) तूने उन अवातिम शक्तिवैः प्रष्ट किया जिस समय । घृापत वज्रेण जघन्थ । दिलेर होकर वज्रेसे शत्रुको मारा । (त्व शुष्णस्य वधेनैः अवातिरः) तूने शस्त्रे से शुष्णके मारा । (त्वं शच्येद्वत् गाः अविन्द्रः) तूने अपनी शक्तिसे गौओंको प्राप्त किया ॥ ११ ॥

(ऋ. ८.१६।१७)

(महे वृत्राय हन्तये) बड़े वृत्रको मारनेके लिये (तं इन्द्रं वाजयामसि) उस इन्द्रको हम सामर्थ्यशाली बनाते हैं । (स वृषा वृषभः भुवत्) वह बलवान् इन्द्र अधिक बलवान् बने ॥ २ ॥

(ऋ. ८.१६।१७)

(सः इन्द्रः दामने कृतः) वह इन्द्र देनेके लिये तैयार किया है (ओजिष्ठः स मदे हितः) वह शक्तिमान आनन्दमें रखा है, (घुम्नी श्लोकी स सोम्यः) वह तेजस्वी, शुभं और सोमके योग्य है ॥ १३ ॥ (ऋ. ८.१६।१८)

(गिरा वज्रो न संभृतः) शत्रुतिषे वह वज्रके समान तैयार हुआ है, (सवलाः अनपच्युतः) वह बलवान् और कर्मा पराजित न होनेवाला है (क्रवो अस्तृतः) वधक्ष

महान् और न हारनेवाला भार उठाता है ॥ १४ ॥

(ऋ. ८.१६।१९)

(सूक्त १३८)

(यः इन्द्रः ओजसा महान्) जो इन्द्र अपनी शक्तिसे महान् है, (वृष्टिमान् पर्जन्य इव) वृष्टि करनेवाले मेघके समान वह है । (वत्सस्य स्तोमैः वावृषे) वरषके स्तोत्रोंसे वह बड़ा हुआ है ॥ १ ॥

(ऋ. ८.१६।१)

(ऋतस्य पिप्रतः प्रजां) ऋतके संतान इन्द्रको (विप्राः क्रतस्य वाहसा) विप्र ऋतके स्तोत्रके घाय (यत् वह्यः प्र भरन्त) जब ऋत्विज-आमिके समान तेजस्वी- हवि देते हैं ॥ २ ॥

(ऋ. ८.१६।२)

(कष्वाः इन्द्रं) वृषोने इन्द्रको (स्तोमैः यत्सस्य साधनं यत् अक्रत) स्तोत्रोंसे यज्ञका पूर्ण करनेवाला बनाया है (जामि भुवत्) शत्रुको वे मित्र कहते हैं ॥ ३ ॥

(ऋ. ८.१६।३)

(सूक्त १३९)

हे (अश्विना) अश्विनौ । (युवं वत्सस्य अवसे) तुम दोनों वत्सको रक्षाके लिये (नूनं वा गन्तं) निधयसे आओ । (अस्मै) इसके लिये (अवृकं पूषु छुर्दिः) हिषकोंसे रहित बना पर (प्र यच्छतं) दे दो । (याः अरातयः युयुतं) जो शत्रु हों उनको दूर दुराओं ॥ १ ॥

(ऋ. ८.१६।१)